सानुवाद व्यवहारभाष्य

(श्री संघदासगणि विरचित व्यवहारभाष्य का सानुवाद संस्करण)

अप्पच्छित्ते य देइ पच्छित्तं, पच्छित्ते अइमत्तं,
आसायणा तस्स उ महती उ।
जो अप्रायश्चित में प्रायश्चित देता है अथवा प्राप्त-प्रायश्चित्त से
अधिक प्रायश्चित्त देता है, वह प्रवचन की महान् आशातना करता है।

वाचना प्रमुख
आचार्य तुलसी

प्रधान संपादक
आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक /अनुवादक
मुनि दुलहराज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णमोत्थु भगवओ महावीरस्स

सानुवाद व्यवहारभाष्य

(हिन्दी भाषा में अनूदित)

वाचना प्रमुख
गणाधिपति तुलसी

प्रधान संपादक
आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक/अनुवादक
मुनि दुलहराज

सहयोगी
मुनि राजेन्द्रकुमार
मुनि जितेन्द्रकुमार

जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं प्रकाशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं - ३४१ ३०६

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

ISBN : 81-7195-089-

सौजन्य : भाईचंद भाई मोतीचंद झवेरी की पुण्य स्मृति में
उनकी सुपुत्री जया बेन प्रणीणचंद वकील
५-बी पेराडाईज, अपार्टमेन्ट
अठवा गेट, सूरत

प्रथम संस्करण : १ जनवरी, २००४

पृष्ठ संख्या : ४५१+३६=४८७

मूल्य : ५००/- (पांच सौ रुपया मात्र)

मुद्रक : श्री वर्धमान प्रेस
नवीन शाहादरा, नई दिल्ली-३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

VYAVAHĀRA BHĀṢYA

(With Hindi Translation)

Vachanapramukh

Ganadhipati Tulsi

Chief Editor

Acharya Mahaprajna

Editor/Translator

Muni Dulaharaj

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Publishers :
Jain Vishva Bharati
Ladnun - 341 306 (Raj.)

© Jain Vishva Bharati, Ladnun

ISBN : 81-7195-089-

Courtsey : Bhaichand Bhai Motichand

First Edition : 1 January, 2004

Price : 500/-

Pages : 451+36=487

Printed by :
Shree Vardhman Press, Delhi-32

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण

पुट्ठो वि पण्णापुरिसो सुदक्खो,
आणापहाणो जणि जस्स निच्चं।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं॥

जिसका प्रज्ञापुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगमप्रधान था।
सत्ययोग में प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से॥

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं।
सज्झाय-सज्झाणरयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं॥

जिसने आगम दोहन कर-कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत सद्ध्यान लीन चिर चिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में, मेरे मन में।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशीर्वचन

मुनि की आचार व्यवस्था का निर्धारण करने वाला अनुयोग चरणकरणानुयोग है। उसका प्रमुख आगम है आचारांग। आचार में विधि-निषेध दोनों होते हैं। विधि और निषेध के दो-दो आयाम हैं–

१. उत्सर्ग मार्ग

२. अपवाद मार्ग

सामान्य मार्ग उत्सर्ग मार्ग है, विशेष मार्ग अपवाद मार्ग है।

इस विषय का मूल आगम है व्यवहार। इस विषय की व्यापक विवेचना व्यवहार भाष्य में मिलती है।

स्थानांग सूत्र में पांच प्रकार के व्यवहार बतलाए गए हैं–

१. आगम २. श्रुत ३. आज्ञा ४. धारणा ५. जीत।

श्रुत आदि चारों व्यवहारों का प्रस्तुत भाष्य में निर्देश मिलता है। प्रायश्चित्त की विशद जानकारी के लिए इसका बहुत महत्त्व है।

व्यवहार भाष्य **मुनि दुलहराज जी** एवं समणी कुसुमप्रज्ञा के द्वारा शोधपूर्ण सम्पादित है। उसका हिन्दी अनुवाद भी **मुनि दुलहराज जी** ने किया है। **मुनि दुलहराज जी** प्रारंभ से ही मेरे परिपार्श्व में रहे हैं। उन्होंने मेरी पचासों पुस्तकों का संपादन किया है। पूज्य गुरुदेव तुलसी के वाचना-प्रमुखत्व में प्रारब्ध आगम संपादन के कार्य में निरंतर संलग्न रहे हैं। इस क्षेत्र में उन्होंने बहुत निष्ठा और तन्मयता से कार्य किया है, कर रहे हैं। जीवन के आठवें दशक की संपन्नता पर इतने विशालकाय ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद कर उन्होंने पाठक को सुविधा का अनुदान दिया है। इस कार्य में मुनि राजेन्द्र कुमार और **मुनि जितेन्द्र कुमार** भी उनके सहयोगी रहे हैं। आगम को युगभाषा में प्रस्तुत करने का यह प्रयत्न साधुवादार्ह है। विश्वास है, यह पाठक के लिए बहुत उपयोगी होगा।

१ जनवरी २००४
जामनेर

–आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुति

आगमों का विभाग

प्राचीनकाल में आगमों के दो भेद विभाग थे—अंग तथा उपांग। उत्तरवर्ती काल में उनके चार विभाग किए गए—अंग, उपांग, मूल और छेद। वर्तमान में यही विभाग प्रचलित है। उनमें ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल और चार छेद तथा एक आवश्यक—ये बत्तीस आगम हैं।

व्याख्या साहित्य

आगमों पर व्याख्याएं लिखी गईं। उनमें मुख्य चार हैं—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका। दीपिका, जोड़ आदि और अनेक प्रकार भी प्राप्त होते हैं। परन्तु ये चार ही मुख्य हैं। निर्युक्तियों के पश्चात् भाष्यों का प्रणयन हुआ। भाष्यों में विशेषआवश्यकभाष्य का प्रधान स्थान है। छेद सूत्रों पर भाष्य लिखे गए। निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प—इन तीनों के भाष्य और निर्युक्तियों का सम्मिश्रण हो गया। आज यह एक अहंप्रश्न है—भाष्य गाथाओं और निर्युक्ति गाथाओं का पृथक्करण। निर्युक्तियां भी प्राकृत भाषा में पद्यमय हैं और भाष्य गाथाएं भी प्राकृत में पद्यमय हैं। हमने व्यवहारभाष्य की निर्युक्ति गाथाओं और भाष्य गाथाओं के पृथक्करण का प्रयास किया है और वह विश्व भारती से प्रकाशित 'व्यवहारभाष्य' सन् १९९६ में स्फुट रूप से परिलक्षित है। हमारे पृथक्करण के अनुसार भाष्य के साथ ५७२ गाथाएं निर्युक्ति की हैं। यह अंतिम संख्या नहीं है। हमने जिन कसौटियों के आधार पर इनका पृथक्करण किया है, वह स्वतंत्र प्रयत्न है।

भाष्य की मूल गाथाएं हैं ४६९४। इनके साथ हस्तलिखित प्रतियों तथा टीका के आधार पर भी २७ गाथाएं जुड़ी हैं। इस भाष्य के प्रणयिता हैं संघदासगणि, जिन का अस्तित्व काल है विक्रम की पांचवी-छठी शताब्दी। ये जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से पूर्ववर्ती हैं। हम इस विषय की विस्तृत चर्चा 'व्यवहारभाष्य' (मूलपाठ के संस्करण) में कर चुके है। उसमें बृहद्भूमिका तथा संपादकीय में अनेक विषयों की विशद चर्चा है। मैंने मूलपाठ उसी संस्करण से लिया है। उस संस्करण के मूलपाठ का संपादन अतिश्रमपूर्वक समणी कुसुमप्रज्ञा ने किया है। मैं भी उस संस्करण के संपादन में संलग्न रहा। हमने सम्मिलित प्रयास कर उस संस्करण को जितना उपयोगी बना सकते थे, उतना उपयोगी बनाया है। उसमें २३ परिशिष्ट हैं। इस संस्करण में विषयानुक्रम तथा गाथानुक्रम उसी से लिया है।

हिन्दी अनुवाद

मूलपाठ के संपादन के पश्चात् हिन्दी में अनुवाद करने का विचार आया। अनेक साधु-साध्वियों ने कहा कि मूलपाठ उतना उपयोगी नहीं होता, जितना अनुवाद सहित मूलपाठ उपयोगी होता है। यह स्पष्ट है कि छेदसूत्र प्रत्येक व्यक्ति के लिए पठनीय या मननीय नहीं होते। वे केवल साधु-साध्वियों के प्रायश्चित्तों से संबंधित हैं। इसलिए उनके लिए सानुवाद संस्करण ही उपयुक्त है। अनुवाद को मूलस्पर्शी रखने का प्रयत्न किया है। परन्तु यत्र-तत्र अर्थ की स्पष्टता के लिए वृत्ति के आधार पर विस्तार भी किया है। यत्र-तत्र टिप्पण भी लिखे गए हैं। विचक्षण वृत्तिकार मलयगिरि ने कुछेक श्लोकों के अर्थ-विकल्पों को विस्तार से उल्लिखित कर उनका अर्थ स्पष्ट किया है।

अंत में

मैंने पूरे भाष्य का अनुवाद 'अहिंसा यात्रा' के प्रथम वर्ष में किया है। बीदासर चातुर्मास में इसका प्रारंभ कर अहमदाबाद चातुर्मास के प्रारंभ काल में इसे पूर्ण कर लिया। जब मैंने अपनी पांडुलिपि आचार्यश्री को निवेदित की तो वे बहुत प्रसन्न हुए और अहोभाव के साथ कहा कि यह बड़ा प्रयत्न हुआ है। तुमने यह कार्य १२-१३ महिनों में संपन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर लिया, यह खुशी का विषय है। आगे बृहत्कल्प, निशीथ तथा विशेषआवश्यकभाष्य का भी अनुवाद किया जाए तो जैन आगम की बहुत बड़ी सेवा होगी, तुम यह कार्य कर सकते हो। मैंने मन ही मन यह धारणा बना ली कि मुझे गुरु के आदेशानुसार भाष्यों के अनुवाद में लग जाना है। मैं गुरुदेव का अत्यंत आभारी हूं कि उन्होंने 'अ' 'आ' से मेरी शिक्षा प्रारंभ कर मुझे इस स्थिति तक पहुंचाया। उनके प्रशिक्षण की यह आश्चर्यकारी शैली है कि वे ग्रंथ का आद्योपान्त अध्ययन न कराकर शिष्य की कर्मजा और पारिणामिकी बुद्धि को तीक्ष्ण करने का प्रयत्न करते हैं और तब शिष्य पठित या अपठित ग्रंथों को भी समझने-बूझने लग जाता है। आज मैं दीक्षा में ५५ वर्ष पूर्ण कर ५६वें वर्ष में चल रहा हूं। दीक्षा के प्रथम दिन से आज तक गुरुदेव का वरद हस्त मेरे शिर पर रहा है, है और रहेगा। श्री चरणों में वंदना.....

जब युवाचार्यश्री और महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी को यह ग्रंथ दिखाया तो युवाचार्यश्री ने मुस्कुरा कर इसकी अनुमोदना की और साध्वीप्रमुखाश्री ने यत्र-तत्र दृष्टिपात कर उत्साहवर्धक वाणी से इसकी सराहना की। दोनों विभूतियों के इस प्रमोद भाव के प्रति अंतः श्रद्धाभिव्यक्ति।

कृतज्ञता ज्ञापन

इस महान् भाष्य का अनुवाद मुझ 'अकेले' को करना था। लगभग ५ हजार श्लोक और यात्रा। यात्रा और अनुवाद कार्य का कोई ताल-मेल नहीं था। परन्तु मनोबल को शिथिल नहीं होने दिया और एक दिन वह कार्य संपूर्ति को प्राप्त हो गया। पांडुलिपि तैयार हो गई। अब.....

यह प्रश्न मेरे वश का नहीं था। इसका समाधान किया मुनि जितेन्द्रकुमारजी ने। आगे का सारा कार्य उन्होंने संभाला और रात-दिन एक कर वे इस कार्य में जुटे रहे। लगभग चार सौ पृष्ठों की फेर कॉफी तैयार हो गई। मुझे अंतिम निरीक्षण करना था। मैंने किया और उनके सुझावों के अनुसार यत्र-तत्र संशोधन-परिवर्धन भी किया। यह सारा कार्य मेरे बलबूते से बाहर था, परन्तु उन्होंने इसे मनोयोगपूर्वक संचालित कर ग्रंथ तैयार किया। मैंने देखा, इस कार्य की संलग्नता से उनकी दक्षता बढ़ी है और अन्यान्य कार्य करने का उत्साह वृद्धिंगत हुआ है।

मुनि राजेन्द्रकुमारजी मेरे अनन्य सहयोगी हैं। वे संस्कृत व्याकरण के भगीरथ कार्य में लगे हुए हैं। मेरे इस कार्य में वे कायिक सहयोग नहीं दे सके, परन्तु उनका मानसिक और वाचिक सहयोग सदा मिलता रहा है। सौ-सौ साधुवाद।

मुनि सुमेरमलजी 'सुदर्शन' तथा मुनि धनंजयजी ने समय-समय पर कार्य की सराहना कर मेरे अशिथिल श्रम-उत्साह को और अधिक प्रज्वलित किया। साधुवाद।

श्री किशन जैन के कम्प्युटर विभाग में कार्यरत श्री प्रमोद कुमार तथा सूरजभान ने मनोयोगपूर्वक इस कार्य को शीघ्र संपन्न करने में अपना श्रम लगाया है।

जलगांव (महाराष्ट्र)
मर्यादा महोत्सव
१ जनवरी २००४

—मुनि दुलहराज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रम

१,२.	व्यवहार, व्यवहारी एवं व्यवहर्त्तव्य की प्ररूपणा।
३.	ज्ञानी, ज्ञान और ज्ञेय की मार्गणा तथा 'व्यवहार' शब्द का निरुक्त।
४.	वपन एवं हार शब्द के एकार्थक।
५.	व्यवहार की परिभाषा।
६.	व्यवहार शब्द के निक्षेप।
७.	भावव्यवहार के एकार्थक।
८,९.	एकार्थकों में पांचों व्यवहारों का समवतार।
१०,१२.	जीतव्यवहार के आधार पर प्रायश्चित्त-विधि।
१३.	व्यवहारी के निक्षेप।
१४.	भावव्यवहारी का स्वरूप।
१५.	प्रायश्चित्त दाता के चार गुण।
१६.	निश्रा तथा उपश्रा शब्द की व्याख्या।
१७,१८	लौकिक व्यवहर्त्तव्य का स्वरूप।
१९.	लोकोत्तरिक व्यवहर्त्तव्य का स्वरूप।
२०-२२.	भावव्यवहर्त्तव्य का स्वरूप, प्रकार एवं उसके गुण।
२३.	प्रकारान्तर से भावव्यवहर्त्तव्य के लक्षण।
२४.	द्रव्य व्यवहर्त्तव्य के लक्षण।
२५.	अव्यवहर्त्तव्य के अन्तर्गत कुंभार का दृष्टान्त।
२६.	व्यवहर्त्तव्य के अधिकारी।
२७.	अगीतार्थ के साथ व्यवहार करने का निषेध।
२८.	गीतार्थ की व्यवहार ग्रहण संबंधी योग्यता का वर्णन।
२९,३०	उदाहरण द्वारा गीतार्थ की विशेषता का वर्णन।
३१,३२	प्रायश्चित्त के समय व्यवहर्त्तव्य का सीमा विस्तार।
३३.	अगीतार्थ को पहले उपदेश तथा बाद में प्रायश्चित्त देने का विधान।
३४.	प्रायश्चित्त के निरुक्त, भेद आदि के कथन की प्रतिज्ञा।
३५.	प्रायश्चित्त के निरुक्त।
३६.	प्रायश्चित्त के चार भेद।
३७.३८	प्रतिसेवक, प्रतिसेवना एवं प्रतिसेवितव्य का स्वरूप कथन।
३९.	प्रतिसेवना के प्रकार।
४०.	प्रतिसेवना और प्रतिसेवक का एकत्व तथा नानात्व।
४१.	मूलगूण तथा उत्तरगुण विषयक प्रतिसेवना की व्याख्या।
४२.	अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि के भेद से उत्तरगुण प्रतिसेवना के चार प्रकार।
४३.	अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि का उदाहरण द्वारा स्वरूप-कथन।
४४.	अतिक्रम आदि के लिए प्रायश्चित्त विधान।
४५.	मूलगुण प्रतिसेवना के पांच भेद।
४६.	संरंभ, समारंभ और आरंभ की परिभाषा।
४७-५०.	शुद्ध, अशुद्ध नयों का प्रतिपादन और मीसांसा।
५१.	पहले उत्तरगुण प्रतिसेवना की व्याख्या क्यों? प्रश्न और समाधान।
५२,५३.	प्रतिसेवना प्रायश्चित्त के दस भेदों का उल्लेख।
५४.	आलोचना प्रायश्चित्त का विवेचन।
५५.	आलोचना प्रायश्चित्त की इयत्ता और आलोचना किसके पास ?
५६.	आलोचना प्रायश्चित्त का पात्र।
५७-५९.	आलोचना प्रायश्चित्त कब ? कैसे ? क्यों ?
६०,६१.	प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का विवेचन।
६२.	प्रतिरूप विनय के चार प्रकार।
६३.	ज्ञान विनय के आठ प्रकार।
६४.	दर्शन विनय के आठ प्रकार।
६५.	चारित्र विनय के आठ प्रकार।
६६.	प्रतिरूप विनय के भेद, प्रभेद।
६७.	कायिक विनय के आठ प्रकार।
६८.	वाचिक विनय के चार प्रकार।
६९.	ऐहिक हितभाषी का स्वरूप।
७०.	परलोक हितभाषी का स्वरूप।
७१.	अहितभाषित्व का कथन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७२.	मितभाषिता का स्वरूप।
७३.	अपरुषभाषिता का स्वरूप।
७४.	प्रासंगिकभाषिता की सफलता।
७५.	अप्रासंगिकभाषिता का स्वरूप।
७६.	अनुविचिन्त्यभाषिता।
७७.	मानसिक विनय के दो भेद।
७८-८४.	औपचारिक विनय के सात भेद तथा उनका विस्तृत विवेचन।
८५.	स्वपक्ष और विपक्ष में किया जाने वाला लोकोपचार विनय।
८६.	प्रतिरूप विनय के भेद तथा उनका वर्णन।
८७-९०.	अनुलोमवचन का अनुपालन।
९१,९२.	प्रतिरूपकायक्रिया विनय।
९३.	विश्रामणा (शरीर चांपने) के लाभ।
९४,९५.	गुरु के प्रति अनुकूल-वर्तन के दृष्टान्त।
९६.	अप्रशस्त समिति, गुप्ति के लिए प्रायश्चित्त का विधान।
९७.	गुरु के प्रति उत्थानादि विनय न करने पर प्रायश्चित्त का उल्लेख।
९८.	प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त।
९९-१०५.	तदुभय प्रायश्चित्त का वर्णन।
१०६,१०७.	महाव्रत अतिचार सम्बन्धी तदुभयार्ह प्रायश्चित्त का कथन।
१०८,१०९.	विवेकार्ह प्रायश्चित्त।
११०.	व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित्त।
१११-११३.	कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त का विषय, परिमाण, कब और क्यों का समाधान।
११४.	उद्देश, समुद्देश आदि में कितने श्वासोच्छ्वास का प्रायश्चित्त।
११५.	पहले उद्देश तथा पश्चात् प्रस्थापना का उल्लेख।
११६.	पहले प्रस्थापना फिर उद्देश आदि का समाधान।
११७,१८.	वस्त्रादि के स्खलित होने पर नमस्कार महामंत्र का चिंतन अथवा सोलह, बत्तीस आदि श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग।
११९.	प्राणवध आदि में सौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग।
१२०.	प्राणवध आदि में २५ श्लोकों का ध्यान तथा स्त्रीविपर्यास में १०८ श्वासोच्छ्वास के कायोत्सर्ग को प्रायश्चित्त।
१२१.	उच्छ्वास का कालमान—श्लोक का एक चरण।
१२२,१२३.	कायोत्सर्ग में कौन सा ध्यान—कायिक, वाचिक या मानसिक? प्रश्न तथा उत्तर।
१२४.	कायोत्सर्ग के लाभ।
१२५,१२६.	तपोर्ह प्रायश्चित्त का कथन तथा उसके विविध प्रकार।
१२७-३४	मासिक आदि विविध प्रायश्चित्तों का विधान।
१३५.	मूल, अनवस्थित और पारंचित प्रायश्चित्त के विषय।
१३६-३९.	प्रतिसेवना प्रायश्चित्त का औचित्य।
१४०.	आरोपणा प्रायश्चित्त का कालमान।
१४१-४३.	आरोपण प्रायश्चित्त छह मास ही क्यों? धान्य पिटक का दृष्टान्त।
१४४.	किसके शासनकाल में कितना तपःकर्म?
१४५-४८.	विषम प्रायश्चित्त दान में भी तुल्य विशोधि।
१४९-१५०.	प्रतिकुंचना प्रायश्चित्त के भेद-प्रभेद।
१५१.	बृहत्कल्प और व्यवहार दोनों सूत्रों में विशेष कौन?
१५२-१५३.	दोनों के अभिधेय भेद का दिग्दर्शन तथा विविध उदाहरण।
१५५.	कल्प और व्यवहार में प्रायश्चित्त दान का विभेद।
१५५.	अभिन्न व्यंजन में भी अर्थभेद।
१५६.	शब्द-भेद से अर्थ-भेद।
१५७,१५८.	प्रायश्चित्तार्ह पुरुष।
१५९.	कृतकरण के भेद—सापेक्ष तथा निरपेक्ष। निरपेक्ष कृतकरण के तीन भेद।
१६०.	अकृतकरण के दो भेद—अनधिगत तथा अधिगत।
१६१.	प्रकारान्तर से पुरुषभेद मार्गणा।
१६२.	कृतकरण का स्वरूप।
१६३,१६४.	निरपेक्ष कृतकरण के प्रायश्चित्त का स्वरूप।
१६५-६७.	सापेक्ष कृतकरण के प्रायश्चित्त का स्वरूप।
१६८.	अकृतकरण की अधिगत विषयक प्ररूपणा।
१६९,१७०.	प्रायश्चित्तदान के भेद से आचार्य आदि के तीन भेदों का उल्लेख।
१७१.	गीतार्थ और अगीतार्थ के दोषसेवन में अंतर।
१७२.	दोष के अनुरूप प्रायश्चित्तदान का उल्लेख।
१७३.	गीतार्थ के दर्प प्रतिसेवना की प्रायश्चित्तविधि।
१७४.	अज्ञानवश अशठभाव से किए दोष का प्रायश्चित्त नहीं।
१७५.	जानते हुए दोष का सेवन करने वाला दोषी।
१७६.	तुल्य अपराध में भी प्रायश्चित्त की विषमता क्यों? कैसे?
१७७.	गीतार्थ के विषय में विशोधि का नानात्व।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७८-१८०. आचार्य आदि की चिकित्साविधि का भंडी और पोत के दृष्टांत से नानात्व का समर्थन।
१८१. चिकित्सा का सकारण निर्देश।
१८२. अकारण चिकित्सा का निषेध।
१८३. सालंबसेवी की चिकित्सा का समर्थन।
१८४-१८६. कल्प और व्यवहार भाष्य में प्रायश्चित्त तथा आलोचना विधि का भेद।
१८७. निर्देशवाचक जे. के आदि शब्दों का संकेत।
१८८. भिक्षु शब्द के निक्षेप।
१८९. 'भिक्षणशीलो भिक्षुः' निरुक्त की यथार्थता।
१९०. भिक्षु शब्द की प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति की मीमांसा।
१९१. सभी भिक्षाजीवी भिक्षु नहीं—इसका विवेचन।
१९२. सचित्त आदि लेने वाला भिक्षु कैसे ?
१९३. भिक्षु कौन ?
१९४. 'क्षुधं भिनत्ति इति भिक्षुः' इस निर्वचन की यथार्थता।
१९५. भिक्षु शब्द के एकार्थकों का निर्वचन।
१९६,१९७. मास शब्द के निक्षेप।
१९८. कालमास के प्रकार।
१९९. नक्षत्रमास आदि के दिन-परिमाण।
२००. दिनराशि की स्थापना।
२०१-२०४. अभिवर्द्धित मास का दिन-परिमाण निकालने का उपाय—अभिवर्द्धितकरण।
२०५-२०८. ऋक्ष आदि नक्षत्र मासों के विषय में विशेष जानकारी।
२०९. भावमास का प्रतिपादन।
२१०-१२. परिहार शब्द के निक्षेप एवं उनकी व्याख्या।
२१३. स्थान शब्द के निक्षेप और उनकी व्याख्या।
२१४. द्रव्य स्थान और क्षेत्र स्थान।
२१५. ऊर्ध्वादि स्थान।
२१६. प्रग्रहस्थान।
२१७. आचार्य आदि पांच प्रकार का प्रग्रह।
२१८. योध-स्थान के पांच प्रकार।
२१९,२२०. संधना-स्थान।
२२१. प्रतिसेवना के प्रकार।
२२२-२४. दर्प और कल्प-प्रतिसेवना।
२२५. कर्मोदय हेतुक तथा कर्मक्षयकरणी प्रतिसेवना।
२२६. प्रतिसेवना और कर्म का हेतुहेतुमद्भाव।
२२७. प्रतिसेवना का क्षेत्र, काल और भाव से विमर्श।
२२८-२३०. आलोचना और शल्योद्धरण के लाभ।
२३१,२३२. आलोचना के तीन प्रकार।
२३३. आलोचना महान् फलदायी।
२३४,२३५. विहार-आलोचना के भेद-प्रभेद।
२३६. आलोचना का काल-नियम।
२३७. विविध-आलोचना का स्वरूप।
२३८. ओघ-आलोचना के प्रकार।
२३९. विहार-विभाग आलोचना-विधि।
२४०-४३. आलोचना की विधि।
२४४. विहार-आलोचना का स्वरूप।
२४५. विहार आलोचना से उपसंपदा आलोचना तथा अपराध आलोचना का नानात्व।
२४६. उपसंपदा आलोचना देने का प्रशस्त और अप्रशस्त काल।
२४७. उपसंपद्यमान के प्रकार तथा आलोचना विधि।
२४८. दिनों के आधार पर प्रायश्चित्त की वृद्धि।
२४९. मुनि को गण से बहिष्कृत करने के १० कारण।
२५०-२५५. अयोग्य मुनि को गण से बहिष्कृत न करने का प्रायश्चित्त।
२५६. कलह आदि करने पर प्रायश्चित्त।
२५७-२६०. एकाकी, अपरिणत आदि दोषों से युक्त के लिए प्रायश्चित्त का विधान।
२६१,२६२. शिष्य, आचार्य तथा प्रतीच्छक के प्रायश्चित्त की विधि।
२६३,२६४. निर्गमन-आगमन के शुद्ध-अशुद्ध की चतुर्भंगी।
२६५. आचार्य और शिष्य में पारस्परिक परीक्षा।
२६६. परीक्षा के 'आवश्यक' आदि नौ प्रकार।
२६७. आचार्य द्वारा शिष्य की परीक्षा।
२६८. पंजरभग्न अविनीत की प्रवृत्तियां।
२६९. परीक्षा-संलग्न शिष्य का गुरु को आत्मनिवेदन।
२७०,२७१. परीक्षा के प्रतिलेखन आदि बिन्दुओं की व्याख्या।
२७२. उपसंपद्यमान शिष्य का दो स्थानों से आगमन।
२७३. पंजर शब्द विविध संदर्भ में।
२७४. संगृहीतव्य और असंगृहीतव्य का निर्देश।
२७५-२७७. वाचना के लिए समागत अयोग्य शिष्य की वारणा-विधि।
२७८. स्वच्छंदमति के निवारणार्थ वाग्यतना।
२७९. अलस आदि के प्रति वाग्यतना।
२८०-२८२. वाग्यतना के विषय में शिष्य का प्रश्न और सूरी का उत्तर।
२८३. प्रत्यनीक के लिए अपवाद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८४.	ज्ञान आदि के लिए उपसंपद्यमान का नानात्व।
२८५,२८६.	ज्ञान, दर्शन, चारित्र के लिए उपसंपद्यमान का नानात्व।
२८७.	विभिन्न स्थितियों में शिष्य और आचार्य दोनों को प्रायश्चित्त।
२८८.	उपसंपन्न की सारणा-वारणा।
२८९.	ज्ञानार्थ उपसंपद्यमान की प्रायश्चित्त-विधि।
२९०.	दर्शनार्थ तथा चारित्रार्थ उपसंपद्यमान की प्रायश्चित्त-विधि।
२९१.	गच्छवासी की प्राघूर्णक द्वारा वैयावृत्त्य विधि।
२९२.	वैयावृत्त्यर की स्थापना संबंधी आचार्य के दोष।
२९३.	उपसंपद्यमान क्षपक की चर्चा।
२९४.	तप से स्वाध्याय की वरिष्ठता।
२९५,२९६.	गण में एक क्षपक के रहते दूसरे के ग्रहण का विवेक।
२९७.	क्षपक की सेवा न करने से आचार्य को प्रायश्चित्त।
२९८.	प्रायश्चित्त-दान में आचार्य का विवेक।
२९९.	विशेष प्रयोजनवश छह माह पर्यन्त दोषी को प्रायश्चित्त न देने पर भी आचार्य निर्दोष।
३००,३०१.	अन्य कार्यों में व्यापृत आचार्य की यतना।
३०२.	आलोचना कैसे दी जाए?
३०३.	अपराध-आलोचना का विमर्श।
३०४.	अपराधालोचना करने वाले की मनःस्थिति जानकर उसे समझाना।
३०५.	अपराधालोचना के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।
३०६.	अप्रशस्त द्रव्य के निकट आलोचना वर्जनीय।
३०७.	अमनोज्ञ धान्यराशि आदि के क्षेत्र में आलोचना वर्जनीय।
३०८,३०९.	अप्रशस्त काल में आलोचना वर्जनीय।
३१०-३१२.	वर्जनीय नक्षत्र एवं उनमें होने वाले दोष।
३१३.	प्रशस्त क्षेत्र में आलोचना देने का विधान।
३१४.	प्रशस्त काल में आलोचना का विधान।
३१५.	आलोचनार्ह की सामाचारी।
३१६.	आलोचनीय का विमर्श।
३१७.	आलोचना के लाभ।
३१८.	आलोचनार्ह के दो प्रकार—आगमव्यवहारी, श्रुतव्यवहारी। आगमव्यवहारी के छः प्रकार।
३१९.	आलोचना में आगमव्यवहारी की श्रेष्ठता।
३२०.	श्रुतव्यवहारी कौन? उनकी आलोचना कराने की विधि।
३२१.	आलोचक की माया की परिज्ञान करने में अश्व का दृष्टान्त।
३२२.	आलोचक द्वारा तीन बार अपराध कथन का उद्देश्य। माया करने का प्रायश्चित्त भिन्न तथा अपराध का प्रायश्चित्त भिन्न।
३२३.	श्रुतज्ञानी द्वारा आलोचक की माया का ज्ञान करने का साधन।
३२४.	प्रतिकुंचक के लिए प्रायश्चित्त तथा तीन दृष्टांत।
३२५.	प्रायश्चित्त-दान में विषमता संबंधी शिष्य का प्रश्न तथा आचार्य का समाधान।
३२६.	आगम श्रुतव्यवहारी के प्रायश्चित्त।दान का औचित्य।
३२७.	तीन दृष्टान्त—गर्दभ, कोष्ठागार और खल्वाट।
३२८.	प्रायश्चित्त-दान की विविधता का हेतु अर्हद्-वचन।
३२९,३३०.	प्रतिसेवना की विषमता में भी प्रतिसेवक के भेद से तुल्यशोधि में पांच वाणिक् और पन्द्रह गधों का दृष्टान्त।
३३१.	प्रायश्चित्त भिन्न, शोधि समान।
३३२.	गीतार्थ और अगीतार्थ के विषम प्रायश्चित्त संबंधी शिष्य का प्रश्न तथा आचार्य का उत्तर।
३३३-३३५.	दंडलातिक दृष्टांत का विवरण और उसका उपनय।
३३६,३३७.	विषम प्रायश्चित्त संबंधी शिष्य का प्रश्न, आचार्य का उत्तर।
३३८.	खल्वाट के दृष्टान्त का उपनय।
३३९-३४१.	प्रतिसेवक के परिणाम के आधार पर प्रायश्चित्त और उसका फल।
३४२.	दण्ड ग्रहण करने व न करने पर साधु के लाभ-अलाभ।
३४३.	दण्ड ग्रहण करने व न करने पर गृहस्थ के लाभ-अलाभ।
३४४,३४५.	मूल विषयक शिष्य की शंका और आचार्य का विकल्प प्रदर्शन द्वारा समाधान।
३४६,३४७.	उद्घात, अनुद्घात आदि के विविध संयोगों के विकल्प।
३४८.	प्रायश्चित्त की वृद्धि-हानि विषयक चर्चा।
३४९.	प्रायश्चित्त में वृद्धि-हानि का आधार—सर्वज्ञवचन।
३५०.	बहुक के प्रकार तथा जघन्य और उत्कृष्ट बहुक के विकल्प।
३५१.	द्वारगाथा द्वारा स्थापना, संचयराशि आदि का कथन।
३५२,३५३.	स्थापनारोपण के तारतम्य का हेतु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५४.	अपरिणामक को स्थापनारोपण से प्रायश्चित्त न देने में दोष।
३५५.	अतिपरिणामक को स्थापनारोपण से प्रायश्चित्त न देने में दोष।
३५६.	चार प्रकार के स्थापना स्थान तथा आरोपणा स्थान।
३५७.	किस जघन्य स्थापना स्थान में जघन्य आरोपणा स्थान।
३५८.	जघन्य स्थापना बीस रात, दिन उत्कृष्ट स्थापना एक सौ पैंसठ दिन रात।
३५९.	जघन्य और उत्कृष्ट आरोपणा का कालमान तथा पांच-पांच दिन का प्रक्षेप।
३६०.	स्थापना तथा आरोपण में चरमान्त तक पांच-पांच की वृद्धि।
३६१.	उत्कृष्ट आरोपणा की परिज्ञान-विधि।
३६२.	आरोपणा स्थान में उत्कृष्ट स्थापना का परिज्ञान।
३६३.	प्रथम स्थान में स्थापना स्थान और आरोपणा स्थान आदि कितने ?
३६४,३६५.	संवेध संख्या जानने का उपाय।
३६६,३६७.	स्थापना तथा आरोपण के पदों का परिज्ञान।
३६८-४३१.	स्थापना एवं आरोपणा का विविध दृष्टियों से विमर्श।
४३२.	अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि के गुरु, गुरुतर का विवेक।
४३३.	प्रायश्चित्त का विधान अतिक्रम आदि के आधार पर।
४३४.	सूत्र में अभिहित सभी प्रायश्चित्त स्थविरकल्प के आचार के आधार पर।
४३५.	निशीथ का परिचय।
४३६,४३७.	निशीथ के उन्नीस उद्देशकों में प्रतिपादित दोषों का एकत्व कैसे ? प्रश्न और आचार्य का समाधान।
४३८.	दोषों के एकत्व विषयक घृतकुटक तथा नालिका दृष्टान्त।
४३९-४४२.	दोषों के एकत्व विषयक औषध का दृष्टान्त।
४४३.	चतुर्दशपूर्वी के आधार पर दोषों का एकत्व तथा प्रायश्चित्त-दान।
४४४.	नालिका से कालज्ञान की विधि।
४४५.	जाति के आधार पर दोषों का एकत्व।
४४६-४५२.	अनेक उपराधों का एक प्रायश्चित्त : अगारी एवं चोर का दृष्टांत।
४५३-४५९.	प्रायश्चित्त-दान के विविध कोण तथा मरुक का दृष्टान्त।
४६०.	छह मास से अधिक प्रायश्चित्त न देने का विधान।
४६१-४६९.	छेद और मूल कब, कैसे ?
४७०,४७१.	पिंडविशोधि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा, अभिग्रह आदि उत्तरगुणों की संख्या का परिज्ञान।
४७२.	प्रायश्चित्त वहन करने वालों के प्रकार।
४७३,४७४.	निर्गत और वर्तमान तथा संचित और असंचित प्रायश्चित्तवाहकों का परिज्ञान।
४७५.	संचय, असंचय तथा उद्घात, अनुद्घात की प्रस्थापन-विधि।
४७६, ४७७.	असंचय के तेरह तथा संचय के ग्यारह प्रस्थापना-पद।
४७८.	संचयित प्रायश्चित्त के पद।
४७९,४८०.	प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष।
४८१,४८२.	उभयतर प्रायश्चित्त में सेवक का दृष्टान्त।
४८३.	उभयतर पुरुष द्वारा वैयावृत्त्य न करने पर प्रायश्चित्त का विधान।
४८४.	उभयतर तथा परतर के प्रायश्चित्त दान में अन्तर।
४८५.	भिन्न मास आदि प्रायश्चित्त देने की विधि।
४८६,४८७.	उद्घात और अनुद्घात प्रायश्चित्त वहन करने वाले के लघु-गुरु मासिक का निर्देश।
४८८.	उद्घात और अनुद्घात के आपत्ति स्थान।
४८९-४९१.	उद्घात और अनुद्घात के प्रायश्चित्त विधि।
४९२.	अनुग्रहकृत्स्न प्रायश्चित्त।
४९३.	निरनुग्रहकृत्स्न प्रायश्चित्त।
४९४.	दुर्बल और बलिष्ठ को यथानुरूप प्रायश्चित्त।
४९५,४९६.	प्रायश्चित्त-दान का विवेक।
४९७-५००.	आत्मतर तथा परतर को प्रायश्चित्त देने की विधि।
५०१.	अन्यतर को प्रायश्चित्त देने की विधि।
५०२.	'मूल' प्रायश्चित्त किसको?
५०३,५०४.	प्रायश्चित्त विषयक-प्रश्न तथा उत्तर।
५०५-५०८.	जलकुट और वस्त्र के दृष्टान्त से शुद्धि का विवेक।
५०९-५१२.	राग-द्वेष की वृद्धि एवं हानि से प्रायश्चित्त में वृद्धि और हानि विषयक प्रश्नोत्तर।
५१३,५१४.	हीन या अधिक प्रस्थापना क्यों? आचार्य का समाधान।
५१५,५१६.	राग और द्वेष की हानि और वृद्धि का परिज्ञान कैसे ?
५१७.	निकाचना का विवरण तथा आलोचना संबंधी दन्तपुर का कथानक।
५१८.	आलोचना, आलोचनार्ह तथा आलोचक—तीनों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	समवस्थिति।
५१९,५२०.	आलोचनार्ह की योग्यता तथा गुण।
५२१,५२२.	आलोचक की योग्यता तथा गुण।
५२३.	आलोचना के दस दोष।
५२४.	प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में आलोचना करने का विधान।
५२५.	सातिरेक, बहुसातिरेक आदि सूत्रों के अनेक विकल्प।
५२६,५२७.	भिक्षाग्रहण के समय होने वाले पांच दोषों का वर्णन तथा प्रायश्चित्त।
५२८-५३४.	परस्पर संयोग से होने वाले विकल्प।
५३५-५५८.	परिहार तप की योग्यता के परीक्षण बिन्दु—पृच्छा, पर्याय, सूत्रार्थ, अभिग्रह आदि।
५५९.	परिहार तप करने वाले का वैयावृत्त्य।
५६०,५६१.	वैयावृत्त्य के तीन प्रकार तथा सुभद्रा आदि के दृष्टान्त।
५६२,५६३.	त्रिविध-अनुशिष्टि की भावना।
५६४.	आत्मोपलम्भ का स्वरूप।
५६५.	उपग्रह के दो प्रकार।
५६६.	उपग्रह का प्रवर्त्तन समस्त गच्छ में।
५६७.	समस्त गच्छ में अनुशिष्टि का प्रवर्त्तन।
५६८,५६९.	कौन आचार्य इहलोक में हितकारी और कौन परलोक में ?
५७०.	सारणा न करने वाला आचार्य समीचीन क्यों नहीं ?
५७१.	कृत्स्न प्रायश्चित्त का आरोपण।
५७२,५७३.	कृत्स्न के छह प्रकार।
५७४.	पहले किस कृत्स्न से आरोपण ?
५७५,५७६.	प्रतिसेवना और आलोचना की चतुर्भंगी।
५७७.	प्रथम पूर्वानुपूर्वी की व्याख्या।
५७८,५७९.	पूर्वोक्त चतुर्भंगी का स्पष्टीकरण।
५८०-५८४.	प्रतिकुंचना-अप्रतिकुंचना की चतुर्भंगी, व्याध, गोणी और भिक्षुकी का दृष्टान्त।
५८५.	शुद्धि का उपाय मायारहित आलोचना।
५८६.	तीन प्रकार के आचार्य और तीन प्रकार के आलोचनार्ह।
५८७-५९६.	स्वस्थानानुग तथा परस्थानानुग के आधार पर आचार्य के नौ भेद तथा प्रायश्चित्त की विविधता।
५९७,५९८.	प्रायश्चित्त देने की प्रस्थापना के भेद-प्रभेद।
५९९-६०३.	आरोपनणा के पांच प्रकारों की व्याख्या।
६०४.	प्रायश्चित्त वहन करने वालों के दो प्रकार—कृतकरण तथा अकृतकरण।
६०५.	अकृतकरण के दो भेद।
६०६.	प्रायश्चित्तवाहक के दो भेद।
६०१-६११.	कृतकरण के स्वरूप की व्याख्या।
६१२-६१६.	निरपेक्ष का एक और सापेक्ष के तीन भेद क्यों ?
६१७-६२३.	भंडी और पोत का दृष्टांत।
६२४.	पारिहारिक और अपारिहारिक की समाचारी।
६२५,६२६.	पारिहारिक कौन का समाधान।
६२७.	छलना के दो प्रकार।
६२८.	भावछलना की व्याख्या और प्रकार।
६२९-६३१.	नैषेधिकी और अभिशय्या की चर्चा।
६३२.	नैषेधिकी और अभिशय्या में निष्कारण जाने से प्रायश्चित्त।
६३३-६३८.	वसतिपालक के अभिशय्या में जाने से दोष।
६३९-६४३.	निष्कारण अभिशय्या अथवा नैषेधिकी में जाने के दोष।
६४४-६४८.	कारण से अभिशय्या में न जाने का प्रायश्चित्त।
६४९.	अभिशय्या में जाने का निषेध।
६५०.	अभिशय्या में नायक कौन ?
६५१,६५२.	अगीतार्थ को नायक क्यों और कैसे ?
६५३-६५७.	असामाचारी के दोषों का निरूपण।
६८५.	सम्यक् प्रायश्चित्त-दान का दृष्टान्तों द्वारा कथन।
६५९,६६०.	अधिक प्रायश्चित्त देने के अलाभ।
६६१.	प्रायश्चित्त उतना ही जितने से शोधि हो।
६६२-६६४.	प्रायश्चित्त न देने से हानि में व्याध का दृष्टान्त।
६६५.	प्रायश्चित्त न देने वाले आचार्य का अधःपतन।
६६६-६६९.	उचित प्रायश्चित्त देकर शोधि कराने वाले आचार्य की सुगति। अंतःपुरपालक का दृष्टान्त।
६७०.	अभिशय्या में जाने की आपवादिक विधि।
६७१-६७५.	अभिशय्या में जाने की यतना का निर्देश।
६७६.	अभिशय्या में जाने का अन्य मुनियों को निर्देश।
६७७,६७८.	प्रतिषिद्ध अभिशय्या का अपवाद तथा वृषभों की स्वीकृति।
६७९.	अभिशय्या और नैषेधिकी के भेद।
६८०.	अभिनैषेधिकी और अभिशय्या का स्वरूप।
६८१.	शय्यातर को पूछकर अभिशय्या में जाने का समय।
६८२.	आवश्यक सम्पन्न करके अभिशय्या में जाने का निर्देश।
६८३.	अभिशय्या में रात्रि में न जाने के कारणों का निर्देश।
६८४,६८५.	आवश्यक को पूर्ण कर या न कर अभिशय्या में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	जाने का विधान।
६८६-६८९.	अभिशय्या से लौटने पर करणीय कार्य।
६९०.	परिहार सामाचारी।
६९१.	भिक्षु शब्द की चालना और प्रत्यवस्थान से व्याख्या।
६९२,६९३.	वैयावृत्त्य करने में गणी, आचार्य आदि के प्रेतिषेध का कारण और समाधान।
६९४,६९५.	पारिहारिक अन्य गच्छ में क्यों जाए ? कारणों का निर्देश।
६९६-६९९.	पारिहारिक मुनि के माहात्म्य का अवबोध तथा आचार्य का कर्त्तव्य।
७००-७०२.	कार्य की प्राथमिकता में व्रण का दृष्टान्त और उपनय।
७०३,७०४.	पारिहारिक के साथ कौन जाए ?
७०५-७०८.	कारणवश पारिहारिक तप छोड़ने वाले मुनि की चर्या का निर्देश।
७०९-७११.	वाद करने का विवेक-दान।
७१२.	वाद किसके साथ ?
७१३.	जीतने के पश्चात् स्व-समय की प्ररूपणा करने का निर्देश।
७१४.	राजा यदि स्वयं वाद करने की इच्छा प्रकट करे तब मुनि का कर्त्तव्य।
७१५.	वाद किन-किन के साथ नहीं करना, इसका निर्देश।
७१६.	नलदाम का दृष्टान्त।
७१७,७१८.	वाद की सम्पन्नता के पश्चात् एक दो दिन वसति में रहने का निर्देश।
७१९-७२१.	समस्त गण का निस्तारण न कर सकने की स्थिति में आचार्य आदि पंचक का निस्तारण।
७२२,७२३.	साधुओं की निस्तारण-विधि।
७२४,७२५.	साध्वियों की निस्तारण-विधि।
७२६.	साधु-साध्वी दोनों की निस्तारण विधि।
७२७,७२८.	भिक्षु, क्षुल्लक आदि के निस्तारण का क्रम।
७२९,७३०.	भिक्षुक आदि के क्रम का कारण।
७३१-७३३.	भिक्षुकी क्षुल्लिका के क्रम का कारण।
७३४-७४२.	संयमच्युत साधु-साध्वियों का निस्तारण-क्रम।
७४३.	क्षुल्लक आदि के क्रम का प्रयोजन।
७४४-७४७.	दुर्लभ भक्त निस्तारण-विधि।
७४८,७४९.	भक्त-परिज्ञा और ग्लान।
७५०-७५४.	वृषभ, योद्धा और पोत का दृष्टान्त।
७५५.	भक्त प्रत्याख्यात व्यक्ति की सेवा के बिन्दुओं का निर्देश।
७५६-७६०.	वादी के लिए करणीय कार्यों का निर्देश।
७६१-७६७.	परिहारतप का निक्षेपण कब ? कैसे ?
७६८,७६९.	प्रतिमा-प्रतिपन्न की सामाचारी।
७७०.	दृष्टान्तों द्वारा एकाकी विहार प्रतिमा के लिए योग्य-अयोग्य की चर्चा।
७७१-७७४.	शकुनि और सिंह का दृष्टान्त तथा उपनय।
७७५,७७६.	परिकर्मकरण सामाचारी का निर्देश।
७७७.	प्रतिमाप्रतिपन्न मुनि की तप, सत्त्व आदि पांच तुलाएं।
७७८,७७९.	तपो भावना।
७८०.	सत्त्व भावना।
७८१.	सूत्र भावना।
७८२.	एकत्व भावना।
७८३.	बल भावना।
७८४.	सहस्रयोधी की कथा।
७८५,७८३.	परिकर्मित का तपस्या द्वारा परीक्षण।
७८७.	परिकर्मित का तपस्या द्वारा परीक्षण।
७८७.	बलभावना।
७८८,७८९.	प्रतिमाप्रतिपत्ति के लिए आचार्य को निवेदन।
७९०.	गृहिपर्याय और व्रतपर्याय का काल-निर्देश।
७९१,७९२.	परिकर्म के लिए अनेकविध पृच्छा।
७९३.	आत्मोत्थ, परोत्थ तथा उभयोत्थ परीषह।
७९४.	शैक्ष को एडकाक्ष की उपमा।
७९५,७९६.	देवता द्वारा आंख का प्रत्यारोपण।
७९७.	भावित और अभावित के गुण-दोष।
७९८-८०६.	प्रतिमा-प्रतिपत्ति की विधि और उसके बिन्दु।
८०७.	आचार्य आदि की प्रतिमा-प्रतिपत्ति विधि।
८०८.	प्रतिमा की समाप्ति-विधि और प्रतिमाप्रतिपन्न का सत्कारपूर्वक गण में प्रवेश।
८०९.	सत्कारपूर्वक गण में प्रवेश कराने के गुण।
८१०.	अधिकृत सूत्र का विस्तृत वाच्यार्थ।
८११.	सत्कार-सम्मान को देख अव्यक्त मुनि प्रतिमा स्वीकार करने के लिए व्यग्र।
८१२.	रानी का संग्राम के लिए आग्रह करना।
८१३.	अव्यक्त के लिए प्रतिमा का वर्जन।
८१४-८१६.	आचार्य द्वारा निषेध करने पर प्रतिमा स्वीकार करने का परिणाम और प्रायश्चित्त।
८१७,८१८.	भयग्रस्त भिक्षु द्वारा पत्थर फेंकने से होने वाले दोष तथा प्रायश्चित्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८१९. देवता कृत उपसर्ग।
८२०. बहुपुत्रा देवी का दृष्टान्त।
८२१. पुरुषबलि का दृष्टान्त।
८२२,८२३. देवताकृत अन्य उपद्रवों में पलायन करने का प्रायश्चित्त।
८२४,८२५. देवीकृत माया में मोहित श्रमण की प्रायश्चित्त।
८२६. अन्यान्य प्रायश्चित्तों का विधान।
८२७-८३१. राजा और योद्धाओं के दृष्टान्त का निगमन तथा विविध प्रायश्चित्तों का विधान।
८३२. निंदा और खिंसना के लिए प्रायश्चित्त।
८३३. अननुज्ञात अभिशय्या से निगमन, प्रतिषिद्ध।
८३४. पार्श्वस्थ, यथाछंद आदि पांचों के नानात्व कथन की प्रतिज्ञा।
८३५,८३६. पार्श्वस्थ का स्वरूप एवं उसकी प्रायश्चित्त विधि
८३७-८४३. उत्सव के बिना अथवा उत्सव में शय्यातरपिंड ग्रहण का प्रायश्चित्त।
८४४-८४६. रागद्वेष युक्तआचार्य की दुर्गन्धित तिल से तुलना।
८४७,८४८. प्रशस्ततिल का दृष्टान्त और उपनय।
८४९,८५०. पार्श्वस्थ के विविध प्रायश्चित्तों का विधान।
८५१. परिपूर्ण प्रायश्चित्त से शुद्धि।
८५२-८५६. पार्श्वस्थ के निरुक्त तथा भेद-प्रभेद।
८५७. अभ्याहृतपिंड और नियतपिंड की व्याख्या।
८५८. पार्श्वस्थ होकर संविग्नविहार का स्वीकरण।
८५९. आलोचना के लिए तत्पर होना।
८६०. यथाछंद का स्वरूप-कथन।
८६१. उत्सूत्र एवं यथाछंद का स्वरूप।
८६२-८६८. यथाछंद का स्वरूप-कथन।
८६९. अकल्पित की व्याख्या।
८७०. संभोज की व्याख्या।
८७१,८७२. यथाच्छंद की प्ररूपणा तथा उसके दोष।
८७३. पार्श्वस्थ एवं यथाछंद के मान्य उत्सव।
८७४,८७५. पार्श्वस्थ तथा यथाछंद के प्रायश्चित्त।
८७६. कुशील आदि की प्रायश्चित्त विधि।
८७७-८८०. कुशील के प्रकार और प्ररूपणा।
८८१. कौतुक आदि का प्रायश्चित्त।
८८२-८८७. अवसन्न की प्ररूपणा और भेद-प्रभेद।
८८८. अवसन्न का स्वरूप एवं संसक्त के प्रकार।
८८९,८९०. संक्लिष्ट एवं असंक्लिष्ट संसक्त का स्वरूप।
८९१-९३. गण से अपक्रमण और पुनरागमन।
८९४-९०६. भिक्षुक लिंग में देशान्तरगमन विहित तथा अन्यलिंग कब ? कैसे ?
९०७. निर्गमन एवं अवधावन के एकार्थक।
९०८,९०९. अवधावन के कारण और वेश परित्याग कब ?
९१०. लिंग-परित्याग की विधि एवं अक्षभंग का दृष्टांत।
९११,९१२. शकटाक्ष का दृष्टान्त एवं निगमन।
९१३. मुद्रा एवं चोर की दृष्टान्त।
९१४,९१५. सूत्र से संबंध जोड़ने वाली गाथाएं।
९१६,९१७. अकृत्यस्थान सेवन का विषय।
९१८,९१९. आचार्य आदि दूर होने पर आलोचना की अनिवार्यता।
९२०. आचार्य, उपाध्याय आदि पांच में से किसी एक के पास आलोचना।
९२१. आलोचना बिना सशल्य मरने पर सद्गति दुर्लभ।
९२२. प्रवृत्ति और परिणाम समन्वय।
९२३. आचार्य आदि पंचक न होने पर संघ में क्यों नहीं करना चाहिए ?
९२४,९२५. जहां राजा, वैद्य आदि पंचक न हों वहाँ वणिक् का रहना व्यर्थ।
९२६. गुणयुक्त विशाल राज्य के पांच घटक।
९२७,९२८. राजा का लक्षण।
९२९. युवराज का स्वरूप।
९३०,९३१. महत्तर और अमात्य का लक्षण।
९३२-९३४. स्त्री परवश राजा और पुरोहित का दृष्टान्त।
९३५. स्त्री की वशवर्ती पुरुषों को धिक्कार।
९३६. जहां स्त्रियां बलवान् उस ग्राम या नगर का विनाश।
९३७. स्त्री के वशवर्ती पुरुष का हिनहिनाना और अपर्व में मडंन।
९३८-९४७. गुप्तचरों के प्रकार।
९४८. कुमार का स्वरूप।
९४९. वैद्य का स्वरूप।
९५०. धनवान् का स्वरूप।
९५१. नैयतिक का स्वरूप।
९५२. रूपयक्ष का स्वरूप।
९५३. आचार्य, उपाध्याय आदि पंचक से हीन गण में रहने का निषेध।
९५४,९५५. आचार्य का स्वरूप एवं कर्त्तव्य।
९५६,९५७. उपाध्याय का स्वरूप एवं कर्त्तव्य।
९५८,९५९. प्रवर्त्तक का स्वरूप एवं कर्त्तव्य।
९६०,९६१. स्थविर का स्वरूप।
९६२. गीतार्थ का स्वरूप।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९६३.	राजा आदि पंचक से हीन राज्य की स्थिति।
९६४.	आचार्य आदिपंचक परिहीन गण में आलोचना का अभाव।
९६५,९७१.	आचार्य आदि पंचक न होने पर आलोचना एवं प्रायश्चित्त किससे ?
९७२-९७४.	आहार, उपधि आदि की गवेषण।
९७५,९७६.	प्रायश्चित्त ग्रहण करने के विविध ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक तथ्य।
९७७.	प्रायश्चित्त का वहन करते समय दूसरे प्रायश्चित्तार्ह कार्य का भी आलोचना करने का निर्देश।
९७८.	सम्बन्ध गाथा के माध्यमो से प्रायश्चित्त दान की भिन्न-भिन्न विधियों का संकेत।
९७९.	दुग, साधर्मिक एवं विहार आदि शब्दों के निक्षेप कथन की प्रतिज्ञा।
९८०-९८५.	दुग शब्द के छह निक्षेप तथा उनका विस्तार।
९८६-९९४.	साधर्मिक के बारह निक्षेप तथा उनका विस्तृत विवरण।
९९५-९९८.	विहार के चार निक्षेप एवं उनका वर्णन।
९९९-१००२.	अगीतार्थ के साथ विहार का निषेध तथा गोरक्षक-दृष्टान्त।
१००३.	द्वारगाथा द्वारा मार्ग, शैक्ष, विहार आदि द्वारों का कथन।
१००४-१००८.	अगीतार्थ के साथ विहार करने से होने वाले आत्मसमुत्थ दोषों का विस्तृत वर्णन।
१००९-१०१४.	भाव-विहार की परिभाषा और भेद-प्रभेद।
१०१५.	दो मुनियों के विहार करने में होने वाले दोष।
१०१६.	ग्लान को एकाकी छोड़ने के दोष।
१०१७-१०२०.	एकाकी ग्लान के मरने पर होने वाले दोष तथा उनका प्रायश्चित्त।
१०२१,१०२२.	शल्यद्वार का निरूपण।
१०२३,१०२४.	शिष्य द्वारा सूत्र की निरर्थकता बताना और आचार्य द्वारा समाधान।
१०२५,१०२६.	दो का विहार कब ? कैसे ?
१०२७-१०३०.	समान अपराध पर प्रायश्चित्त में भेद क्यों ?
१०३१.	दो साधर्मिकों की परस्पर प्रायश्चित्त विधि।
१०३२-१०३५.	अनेक प्रायश्चित्तभाक् साधर्मिकों की आलोचना-विधि और परंपरा।
१०३६-१०४१.	परिहारकल्पस्थित भिक्षु के प्रायश्चित्त-वहन में मृग का दृष्टान्त एवं उपनय।
१०४२-१०४६.	योद्धा एवं वृषभ का दृष्टान्त।
१०४७,१०४८.	प्रायश्चित्त वहन न कर सकने वाले मुनि की चर्या।
१०४९.	परिहारी के अशक्त होने पर अनुपरिहारी द्वारा वैयावृत्त्य का निर्देश।
१०५०.	समर्थ होने पर सेवा लेने से प्रायश्चित्त।
१०५१.	तपःशोषित मुनि को रोग से मुक्त करने का दायित्व।
१०५२.	ग्लान होने के कारणों का निर्देश।
१०५३.	गिला की व्याख्या।
१०५४-१०५६.	परिहारी का आगमन और निर्यूहणा(वैयावृत्त्य) न करने पर प्रायश्चित्त का विधान।
१०५७.	अशिव से गृही-अगृहीत के चार विकल्प।
१०५८.	अशिवगृहीत मुनि का संघ में प्रवेश होने पर हानियां।
१०५९,१०६०.	अशिवगृहीत मुनि का गांव के बाहर या उपाश्रय में एकान्त स्थान में रहने का विधान।
१०६१-१०६३.	अशिवगृहीत मुनि के साथ व्यवहार करने की सावधानियां।
१०६४.	व्यवहार के एकार्थक एवं लघु प्रायश्चित्त का प्रस्थापन।
१०६५-१०७०.	गुरुक, लघुक एवं लघुस्वक आदि तीन व्यवहारों के भेद-प्रभेद।
१०७१,१०७२.	नौवें प्रायश्चित्त प्राप्त मुनि की वैयावृत्त्य करने का निषेध, परन्तु राजवेष्टि एवं कम-निर्जरा के लिए करने का आदेश।
१०७३.	अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त का स्वरूप।
१०७४,१०७४.	पारांचित के प्रति आचार्य का कर्त्तव्य।
१०७६.	घोर प्रायश्चित्त से क्षिप्त होने वाले साधु की वैयावृत्त्य।
१०७७-१०८०.	क्षिप्तचित्तता के लौकिक एवं लोकोत्तरिक कारण।
१०८१-८५.	राग से क्षिप्त होने वाले जितशत्रु राजा के भाई की कथा।
१०८६.	तिर्यंच के भय से होने वाली क्षिप्तचित्तता।
१०८७.	अपमान से होनेवाली क्षिप्तचित्तता एवं उसकी यतना का निर्देश।
१०८८-११०५.	विभिन्न कारणों से होने वाली क्षिप्तचित्तता के निवारण के उपाय।
११०६,११०७.	परिणाम के आधार पर चारित्र के चार विकल्प।
११०८-१०१६.	राग-द्वेष के अभाव में क्षिप्तचित्त के कर्मबंध नहीं, नर्तकी का दृष्टान्त।
१११७-१०२२.	क्षिप्तचित्त मुनि के स्वस्थ होने पर प्रायश्चित्त की विधि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११२३. दीप्तचित्तता व्यक्ति की स्थिति।
११२४. दीप्तचित्तता और दीप्तचित्त में अन्तर।
११२५. मद से दीप्तचित्तता।
११२६-११३१. दीप्तचित्तता में शातवाहन राजा की दृप्तता और उसका निवारण।
११३२-११३९. लोकोत्तरिक दीप्तचित्तता के कारण एवं निवारण की विस्तृत चर्चा।
११४०-११४५. यक्षाविष्ट होने के कारणों में अनेक दृष्टान्तों का कथन।
११४६. यक्षाविष्ट की चिकित्सा।
११४७-११५१. मोह से होने वाले उन्माद की यतना एवं चिकित्सा।
११५२. वायु से उत्पन्न उन्माद की चिकित्सा।
११५३. आत्मसंचेतित उपसर्ग के दो कारण—मोहनीय कर्म का उदय तथा पित्तोदय।
११५४. तीन प्रकार के उपसर्ग।
११५५-११६२. मनुष्य एवं तिर्यञ्चकृत उपसर्ग-निवारण के विभिन्न उपाय।
११६३-११६५. गृहस्थ से कलह कर आये साधु का संरक्षण तथा उसके उपाय।
११६६,११६७. कलह की क्षमायाचना करने का विधान तथा प्रायश्चित्तवाहक मुनि के प्रति कर्त्तव्य।
११६८. इत्वरिक और यावत्कथिक तप का प्रायश्चित्त।
११६९-११७१. भक्तपानप्रत्याख्यानी का वैयावृत्य।
११७२. उत्तमार्थ (संथारा) ग्रहण करने के इच्छुक दास को भी दीक्षा।
११७३,११७४. सेवकपुरुष, अवम आदि द्वारों का कथन।
११७५-११७९. सेवकपुरुष दृष्टान्त की व्याख्या।
११८०-११९०. अभाव से दास बने पुत्र की दासत्व से मुक्ति के उपाय।
११९१-११९७. ऋणमुक्त न बने वयक्ति की प्रव्रज्या संबंधी चर्या।
११९८-१२०२. ऋणार्त्त प्रव्रजित व्यक्ति की ऋणमुक्ति : विविध उपाय।
१२०३. अनार्य एवं चोर द्वारा लूटे जाने पर साधु का कर्त्तव्य।
१२०४. अशिवादि होने पर परायत्त को भी दीक्षा तथा अनार्य देश में विहरण का निर्देश।
१२०५. अनवस्थाप्य कैसे ?
१२०६. गृहीभूत करके उपस्थापना देने का निर्देश।
१२०७. गृहीभूत करने की विधि। दाक्षिणात्यों का मतभेद।
१२०८,१२०९. गृहीभूत क्यों ?
१२१०. गृहीभूत करने की आपवादिक विधि।
१२११-१११३. अनवस्थाप्य अथवा पारांचित प्रायश्चित्त वहन करने वाले का कल्प और उसके ग्लान होने पर आचार्य का दायित्व।
१२१४,१२१५. प्रायश्चित्त वहन करने वाला यदि नीरोग है तो उसका आचार्य के प्रति कर्त्तव्य के प्रति कर्त्तव्य और गण में आने, न आने के कारण।
१२१६. ग्लान के पास सुखपृच्छा के लिए जाने के विविध निर्देश।
१२१७-१९. राजा द्वारा देश-निष्कासन का आदेश होने पर परिहार तप में स्थित ग्लान मुनि द्वारा अपनी अचिंत्य शक्ति का प्रयोग।
१२२०-१२२८. ग्लानमुनि द्वारा राजा को प्रतिबोध और देश निष्कासन की आज्ञा की निरसन।
१२२९. अगृहीभूत की उपस्थापना।
१२३०,१२३१. व्रतिनी द्वारा आचार्य मिथ्याभियोग।
१२३२,१२३३. आचार्य को गृहीभूत न करने के लिए शिष्यों की धमकी।
१२३४. दो गणों के मध्य विवाद का समाधान।
१२३७-१२३९. दूसरे को संयमपर्याय में लघु करने के लिए मिथ्या आरोप लगाने का कारण।
१२४०-१२४२. मिथ्या आरोप कैसे ? आचार्य द्वारा गवेषणा और यथानुरूप प्रायश्चित्त।
१२४३-१२४८. भूतार्थ जानने के अनेक विधियों का वर्णन।
१२४९. अभ्याख्यानी और अभ्याख्यात व्यक्ति की मनःस्थिति का निरूपण।
१२५०,१२५१. मुनि-वेश में अवधावन के कारणों की मीमांसा।
१२५२,१२५३. अवधावित मुनि की शोधि के प्रकार।
१२५४. द्रव्यशोधि का वर्णन।
१२५५,१२५६. प्रायश्चित्त के नानात्व का कारण।
१२५७. क्षेत्रविषयक शोधि।
१२५८. काल से होने वाली विशोधि।
१२५९-१२६४. द्रव्य, क्षेत्र आदि के संयोग की विशुद्धि एवं विभिन्न प्रायश्चित्त।
१२६५-१२७६. भावविशोधि की प्रक्रिया।
१२७७. सूक्ष्म परिनिर्वापण के दो भेद।
१२७८. रोहिणेय का दृष्टान्त लौकिक निर्गपण।
१२७९-१२८२. लोकोत्तर निर्वापण।
१२८३,१२८४. प्रतिसेवी और अप्रतीसेवी कैसे ?
१२८५,१२८६. महातडाग का दृष्टान्त तथा उसका निगमन।
१२८९-१२९१. गच्छ-निर्गत मुनि पुनः गण में आने का प्रतिषेध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है तो उससे उपधिग्रहण की प्रक्रिया।
१२९२-१२९७. प्रतिसेवना का विवाद और उसका निष्कर्ष।
१२९८. व्यक्तलिंग विषयक मुनि के प्रायश्चित्त का निरूपण।
१२९९,१३००. एक पाक्षिक मुनि के प्रकार।
१३०१. सापेक्ष एवं निरपेक्ष राजा का दृष्टान्त।
१३०२-१३०५. इत्वर, आचार्य, उपाध्याय की स्थापना विषयक ऊहापोह।
१३०६. श्रुत से अनेकपाक्षिक इत्वर आचार्य की स्थापना के दोष।
१३०७-१३०९. श्रुत से अनेकपाक्षिक यावत्कथित आचार्य की स्थापना के दोष।
१३१०. स्थापित करने योग्य आचार्य के चार विकल्प।
१३११-१३१२. इत्वर तथा यावत्कथिक आचार्य की स्थापना के अपवाद एवं विविध निर्देश।
१३२२-१३२४. प्रथम विकल्प में स्थापित आचार्य संबंधी निर्देश।
१३२५. लब्धि रहित को न आचार्य पद और न उपाध्याय पर आदि।
१३२६. आचार्य के लक्षणों से सहित मुनियों को दिशा-दान—आचार्य पद पर स्थापन।
१३२७. आचार्य पद पर स्थापित गीतार्थ मुनियों को उपकरण-दान।
१३२८. अनिर्मापित मुनि को गणधर पद देने पर स्थविरों की प्रार्थना।
१३२९. उसे संघाटक देने का निर्देश।
१३३०-१३३३. स्थापित आचार्य का गण को विपरिणमित करने का प्रयास और ग्वालों का दृष्टान्त।
१३३४-१३३६. गण द्वारा असम्मत मुनि को आचार्य बनाने पर प्रायश्चित्त।
१३३७. परिहारी तथा अपरिहारी के पारस्परिक संभोज का वर्जन।
१३३८-१३४२. परिहार तप का काल और परिहरण विधि।
१३४३-१३४६. परिहार कल्पस्थित मुनि का अशन पान लेने व देने का कल्प तथा अकल्प।
१३४७. संसृष्ट हाथ आदि को चाटने पर प्रायश्चित्त।
१३४८. आचार्य आदि के आदेश पर संसृष्ट हाथ आदि चाटने का विधान।
१३४९. सूपकार का दृष्टान्त।
१३५०. बचे हुए भोजन से परिवेषक को देने का परिमाण।
१३५१. सूत्र की संबंध सूचक गाथा।
१३५२-१३५६. पारिहारिक की सामाचारी आदि।
१३५७-१३६१. गण धारण कौन करे? सपरिच्छद या अपरिच्छद?
१३६२-१३६४. इच्छा शब्द के निक्षेप।
१३६५-१३६८. गण-शब्द के निक्षेप।
१३६९-१३७१. गण-धारण का उद्देश्य—निर्जरा। गणधर को महातडाग की उपमा।
१३७२. गुणयुक्त को गणधर बनाने का निर्देश।
१३७३. गणधर प्रतिबोधक आदि पांच उपमाओं से उपमित।
१३७४. प्रतिबोधक उपमा का स्पष्टीकरण।
१३७५. देशक उपमा की व्याख्या।
१३७६,१३७७. सपलिच्छन्न एवं अपलिच्छन्न के विविध उदाहरण एवं कथाएं।
१३७८. बुद्धिहीन राजकुमार की कथा।
१३७९. भावतः अपलिच्छन्न की व्याख्या।
१३८०. लघुस्रोत का दृष्टान्त।
१३८१. अगीतार्थ से गण का विनाश।
१३८२. जंबूक एवं सिंह की कथा।
१३८३,१३८४. अगीतार्थ की चेष्टाओं की नीलवर्णी सियार से तुलना एवं उपनय।
१३८५,१३८६. जंबूक की बुद्धिमत्ता एवं सिंह की पराजय।
१३८७. द्रव्य एवं भाव से अप्रशस्त उदाहरण।
१३८८,१३८९. द्रमक/भिखारी का दृष्टान्त एवं उसका निगमन।
१३९०,१३९१. ग्वाले का दृष्टान्त एवं निगमन।
१३९२. द्रव्यतः पलिच्छन्नत्व के दोष।
१३९३-१३९८. लब्धिमान् होने पर भी गण-धारण में क्षम नहीं, क्यों?
१३९९. गणधारी के गुण।
१४००. पूजा के निमित्त गण-धारण का निषेध।
१४०१. कर्मनिर्जरण के लिए गण-धारण।
१४०२-१४०५. पूजा के निमित्त गध-धारण की अनुज्ञा।
१४०६,१४०७. गण-धारण करने वाले को कितने शिष्य देय?
१४०८-१४१२. परिच्छद के भेद-प्रभेद तथा उदाहरण।
१४१३. द्रव्य-भाव परिच्छद की चतुर्भंगी।
१४१४,१४१५. भरुकच्छ में वज्रभूति आचार्य की कथा।
१४१६. द्रव्य परिच्छ का मूल है—औरस बल और आकृति।
१४१७-१४२०. अबहुश्रुत और गीतार्थ की चतुर्भंगी तथा प्रायश्चित्त कथन।
४१२१-१४२९. गणधारण के योग्य की परीक्षा-विधि।
१४३०-३३. शिष्य का प्रश्न और गुरु द्वारा परीक्षा-विधि का समर्थन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४३४-१४४१. राजकुमार के दृष्टान्त से गणधारण की योग्यता का कथन।
१४४२. गणधारण के लिए अयोग्य।
१४४३. अयोग्य को आचार्य पद देने से हानि।
१४४४-१४४६. सामाचारी में शिथिलता के प्रसंग में अंगारदाहक का दृष्टान्त।
१४४७-१४६४. गणधारण के लिए अनर्ह कौन-कौन ?
१४६५-१४६७. देशान्तर से आगत प्रव्रजति मुनियों की चर्या।
१४६८. पुरुषयुग के विकल्प।
१४६९,१४७९. सात पुरुष युग।
१४७१,७४. स्थविरों को पूछे बिना गण-धारण का प्रायश्चित्त।
१४७५,१४७६. स्वगण में स्थविर न हो तो दूसरे गण के स्थविरों के पास उपसंपदा लेने का निर्देश।
१४७७-१४७९. गणधारक उपाध्याय आदि का श्रुत परिमाण तथा अन्यान्य लब्धियां।
१४८०. आचारकुशल, प्रवचनकुशल आदि का निर्देश तथा आचारकुशल के भेद।
१४८१-१४८७. आचारकुशल की व्याख्या।
१४८८-१४९४. संयमकुशल की व्याख्या।
१४९५-१४९८. प्रवचनकुशल की व्याख्या।
१४९९-१५०५. प्रज्ञप्तिकुशल की व्याख्या।
१५०६-१५१४. संग्रहकुशल की व्याख्या।
१५१५-१५१९. उपग्रहकुशल का विवरण।
१५२०,१५२१. अक्षताचार की व्याख्या।
१५२२. क्षताचार, सबलाचार आदि पदों की व्याख्या।
१५२३. आचारप्रकल्पधर कौन ? चार विकल्प।
१५२४-१५२६. आचार्यपद-योग्य के विषय में शिष्य का प्रश्न तथा पुष्करिणी आदि अनेक दृष्टान्तों से आचार्य का समाधान।
१५२७. पुष्करिणी का दृष्टान्त।
१५२८. आचारप्रकल्प का पूर्व रूप और वर्तमान रूप।
१५२९. प्राचीनकाल में चोर विविध विद्याओं से सम्पन्न, आज उनका अभाव।
१५३०. प्राचीनकाल में गीतार्थ चतुर्दशपूर्वी, आज प्रकल्पधारी।
१५३१. प्राचीनकाल में शस्त्रपरिज्ञा से उपस्थापना, आज दशवैकालिक के चौथे अध्ययन षड्जीवनिकाय से उपस्थापना।
१५३२. पहले और वर्तमान में पिंडकल्पी की मर्यादा में अन्तर।
१५३३. पहले आचारंग से पूर्व उत्तराध्ययन का अध्ययन, अब दशवैकालिक का अध्ययन।
१५३४. पहले कल्पवृक्ष का अस्तित्व अब अन्यान्य वृक्षों की मान्यता।
१५३५. प्राचीन और अर्वाचीन गोवर्ग की संख्या में अन्तर।
१५३६. प्राचीन एवं अर्वाचीन मल्लों के स्वरूप में अन्तर।
१५३७,१५३८. प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रायश्चित्त के स्वरूप में अन्तर।
१५३९. पहले चतुर्दशपूर्वी आदि आचार्य आज युगानुरूप आचार्य।
१५४०,१५४१. त्रिवर्ष पर्यायवाला केवल उपाध्याय पद, पांच वर्ष पर्याय वाला उपाध्याय तथा आचार्य पद एवं अष्ट वर्ष पर्याय वाला सभी पद के योग्य।
१५४२. अपवाद सूत्र।
१५४३-१५४८. तत्काल प्रव्रजित को आचार्य पद क्यों ? कैसे ?
१५४९-१५५३. राजपुत्र, अमात्यपुत्र आदि की दीक्षा, उत्प्रव्रजन, पुनः दीक्षा तथा पद-प्रतिष्ठापन।
१५५४-१५६०. तत्काल प्रव्रजित राजपुत्र आदि को आचार्य बनाने के लाभ।
१५६१-१५६६. पूर्व पर्याय को त्याग पुनः दीक्षित होने वाले राजकुमार आदि को आचार्य पद देने के लाभ।
१५६७. श्रुत समृद्ध पर गुणविहीन को आचार्य पद देने का निषेध।
१५६८,१५६९. श्रुतविहीन पर लक्षणयुक्त को आचार्य पद देने की विधि।
१५७०-१५७५. स्वगण में गीतार्थ के अभाव में अध्ययन किसके पास?
१५७६. आचार्य और उपाध्याय--दो का गण में होना अनिवार्य।
१५७७. नवक, डहरक, तरुण आदि के प्रव्रज्या पर्याय की अवस्था का निर्देश।
१५७८,१५७९. अभिनव आचार्य और उपाध्याय के संग्रह का निर्देश।
१५८०-१५८७. नए आचार्य का अभिषेक किए बिना पूर्व आचार्य के कालगत होने की सूचना देने से हानियां।
१५८८. गण में आचार्य और उपाध्याय के भय से आचार-पालन में सतर्कता।
१५९९. प्रवर्तिनी की निश्रा में साध्वियों के आचार-पालन में तत्परता।
१५८९/१. स्त्री की परवशता और उसका संरक्षण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५९०,१५९१. स्त्री परवश क्यों ?
१५९२,१५९३. मुनि की गणस्थिति के लिए आचार्य, उपाध्याय अनिवार्य। साध्वी की गणस्थिति के लिए आचार्य-उपाध्याय तथा प्रवर्त्तिनी की अनिवार्यता—उत्सर्ग और अपवाद।
१५९४,१५९५. गण से अपक्रमण कर मैथुनसेवी मुनि को तीन वर्ष तक कोई भी पद देने का निषेध।
१५९६,१५९९. सापेक्ष एवं निरपेक्ष मैथुनसेवी का विस्तृत वर्णन।
१६००-१५१०. मोहोदय की चिकित्सा-विधि।
१६११-१५१४. आचार्य आदि पदों के लिए यावज्जीवन अनर्ह व्यक्तियों का दृष्टान्तों से विमर्श।
१६१५-१५२३. वेदोदय के उपशान्त न होने पर परदेशगमन तथा अन्यान्य उपाय।
१६२४-१५२७. पुनः लौटने पर गुरु के समक्ष आलोचना एवं प्रायश्चित्त।
१६२८. प्रतिसेवी मुनि को तीन वर्ष तक वंदना न करने का विधान।
१६२९-१६३३. तीन वर्ष में यदि वेदोदय उपशान्त न हो तो यावज्जीवन पद के लिए अनर्ह।
१६३४. महाव्रत के अतिचारों का प्रतिपादन। आचार्य की स्थापना का विवेक।
१६३५,१६३६. अभीक्ष्ण मायावी, मैथुनप्रतिसेवी, अवधानकारी मुनि बहुश्रुत होने पर भी आचार्यादि पद के लिए यावज्जीवन अनर्ह।
१६३७-१६३९. एकत्व बहुत्व का विमर्श।
१६४०. अशुचि कौन? मायावी।
१६४१,१६४२. अशुचि के दो भेद।
१६४३-१६४७. मायावी आदि मुनि सूरी पद के लिए अनर्ह।
१६४८. मायावी का अनाचार।
१६४९. मायावी कौन ?
१६५०-१६४५. संघ में सचित आदि के विवाद होने पर उसके समाधान की विधि।
१६५५-१६५९. संघ की घोषणा पर मुनि को अवश्य जाने का निर्देश और न जाने पर प्रायश्चित्त।
१६६०-१६६१. सचित्त के निमित्त विवाद का समाधान।
१६६२-१६६६. प्रतिपक्ष के बलवान होने पर व्यवहारछेत्ता का कर्त्तव्य।
१६६७,१६६८. संघ-मर्यादा की महानता एवं विभिन्नता।
१६६९,७४ पर्षद् का विवाद निपटाने की प्रक्रिया।
१६७५,१६७६. तीर्थंकर की आज्ञा ही प्रमाण।
१६७७-१६८१. संघ की विशेषता और उसकी सुपरीक्षित कारिता।
१६८२,१६८५. आचार्य आदि ही नहीं किन्तु संयमाराधना संसार-मुक्ति का साधन।
१६८६. संघ को शीतगृह की उपमा क्यों ?
१६८७. संघ शब्द की व्युत्पत्ति।
१६८८-१६९१. असंघ की व्याख्या और परिणाम।
१६९२. संघ में रहकर कहीं भी प्रतिबद्ध न होने का निर्देश।
१६९३. व्यवहारछेदक के दो प्रकार।
१६९४-१७०२. आचार्य के आठ अव्यवहारी एवं व्यवहारी शिष्यों का स्वरूप।
१७०३,१७०४. दुर्व्यवहारी का फल।
१७०५-१७०७. आठ व्यवहारी शिष्यों के नाम और उनके व्यवहार का सुफल।
१७०८,१७०९. युगप्रधान आचार्य के पास तीन परिपाटी ग्रहण करने वाला व्यवहारी।
१७१०-१७१२. व्यवहारकरण योग्य कौन ?
१७१३. अव्यवहारी का स्वरूप।
१७१४. राग-द्वेष रहित व्यवहार का निर्देश।
१७१५-१७१७. स्वच्छंदबुद्धि का निर्णय अश्रेयस्कर और उसका प्रायश्चित्त।
१७१८. गौरव रहित होकर व्यवहार करने का निर्देश।
१७१९-१७२५. आठ प्रकार के गौर और उनका परिणाम।
१७२६,१७२७. व्यवहार और अव्यवहार की इयत्ता और परिणति।
१७२८. गणी का स्वरूप।
१७२९. कालविभाग से दो या तीन साधु के विहार का कल्प-अकल्प।
१७३०. बृहद्गच्छ से सूत्रार्थ में हानि।
१७३१. पंचक और सप्तक से युक्त गच्छ तथा जघन्य और मध्यम गच्छ का परिमाण।
१७३२. ऋतुबद्धकाल में पंचक और वर्षाकाल में सप्तक से हीन को प्रायश्चित्त।
१७३३. उपर्युक्त गच्छ परिमाण का सूत्रार्थ से विरोध।
१७३४-१७४७. दो मुनियों के विहरण के कारणों का निर्देश एवं उनकी व्याख्या।
१७४८,१७४९. वर्षावास में वसति को शून्य न करने का निर्देश।
१७५०-१७६२. वसति को शून्य करने से होने वाले दोष तथा प्रायश्चित्त।
१७६३-१७६५. वर्षावास में दो मुनियों का साथ कैसे ?
१७६६,१७६७. वर्षावास के योग्य जघन्य और उत्कृष्ट क्षेत्र।
१७६८. वर्षावासयोग्य उत्कृष्ट क्षेत्र के तेरह गुण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७६९. अयोग्य क्षेत्र में वर्षावास बिताने से प्रायश्चित्त।
१७७०,१७७१. कीचड़युक्त प्रदेश के दोष।
१७७२. प्राणियों की उत्पत्ति वाले प्रदेश के दोष।
१७७३. संकड़ी वसति में रहने के दोष।
१७७४-१७७८. दूध न मिलने वाले प्रदेश में रहने के दोष।
१७७९. जनाकुल वसति में रहने के दोष।
१७८०. वैद्य और औषध की अप्राप्ति वाले स्थान के दोष।
१७८१. निचय और अधिपति रहित स्थान के दोष।
१७८२. अन्यतीर्थिक बहुल क्षेत्रावास से होने वाले दोष।
१७८३,१७८४. सुलभभिक्षा वाले क्षेत्र में स्वाध्याय, तप आदि की सुगमता।
१७८५. संग्रह, उपग्रह आदि पंचक का विवरण।
१७८६,१७८७. उत्कृष्ट गुण वाले वर्षावासयोग्य क्षेत्र में तीन मुनियों के रहने से होने वाले संभावित दोष।
१७८८. बालक को वसतिपाल करने के दोष।
१७८९. आचार्य के रहने से वसति के दोषों का वर्जन।
१७९०-१७९२. दो-तीन मुनियों के रहने से समीपस्थ घरों से गोचरी का विधान।
१७९३-१७९७. एक ही क्षेत्र में आचार्य और उपाध्याय की परस्पर निश्रा।
१७९८-१८००. एकाकी और असमाप्तकल्प कैसे ?
१८०१. स्थविरकृत मर्यादा।
१८०२. सूत्रार्थ के लिए गच्छान्तर में संक्रान्त होने पर क्षेत्र किसका ?
१८०३. तीन और सात पृच्छा से होने वाले क्षेत्र का आभवन।
१८०४,१८०५. अक्षेत्र में उपाश्रय की मार्गणा कैसे ?
१८०६. उपाश्रय की तीन भेद।
१८०७,१८०८. उपाश्रय-निर्धारण की विधि।
१८०९. प्रव्रज्या विषयक उपाश्रय की पृच्छा।
१८१०-१८१७. प्रव्रज्या के इच्छुक व्यक्ति को विपरिणत करने के नौ कारणों का निर्देश।
१८१८-१८२३. वर्षाकाल में समाप्तकल्प और असमाप्तकल्प वाले मुनियों की परस्पर उपसंपदा कैसे ?
१८२४. सूत्रार्थ भाषण के तीन प्रकार।
१८२५. सूत्र में कौन किससे बलवान्?
१८२६. सूत्रार्थ में कौन किससे बलवान्?
१८२७,१८२८. सूत्र से अर्थ की प्रधानता क्यों ? कारणों का निर्देश।
१८२९. सभी सूत्रों से छेद सूत्र बलीयान् कैसे ?
१८३०. मंडली-विधि से अध्ययन का उपक्रम।
१८३१. आवलिका विधि और मंडलिका विधि में कौन श्रेष्ठ?
१८३२. घोटककंडूयित विधि से सूत्रार्थ का ग्रहण।
१८३३-१८३५. समाप्तकल्प की विधि का विवरण।
१८३६-१८४३. प्रव्रज्या के लिए आए शैक्ष एवं विभिन्न मुनियों से वार्तालाप।
१८४४-१८४८. प्रव्रजित होने के बाद शैक्ष किसकी निश्रा में रहे?
१८४९. शैक्ष के दो प्रकार—साधारण और पश्चात् कृत।
१८५०,१८५१. ऋतुबद्धकाल में गणावच्छेदक के साथ एक ही साधु हो तो उससे होने वाले दोष एवं प्रायश्चित्त विधि।
१८५२. चार कानों तक ही रहस्य संभव।
१८५३. गणावच्छेदक को दो साधुओं के साथ रहने का निर्देश।
१८५४. गीतार्थ एवं सूत्र की निश्रा।
१८५५. घोटककंडूयन की तरह सूत्रार्थ का ग्रहण।
१८५६-१८६०. क्षेत्र पूर्वस्थित मुनि का या पश्चाद् आगत मुनि का।
१८६१-१८६३. पश्चात्कृत शैक्ष के भेद एवं स्वरूप।
१८६४,१८६५. गण-निर्गत मुनि संबंधी प्राचीन और अर्वाचीन विधि, भद्रबाहु द्वारा तीन वर्ष की मर्यादा।
१८६६-१८७६. विविध उत्प्रव्रजित व्यक्तियों को पुनः प्रव्रज्या का विमर्श।
१८७७-१८८८. वागन्तिक व्यवहार का स्वरूप और विविध दृष्टान्त।
१८९९. पुरुषोत्तरिक धर्म के प्रमाण का कथन।
१८९०,१८९१. ऋतुबद्ध काल में आचार्य आदि की मृत्यु होने पर निश्रा की चर्चा।
१८९२-१८९५. लौकिक उपसंपदा में राजा का उदाहरण।
१८९६,१८९७. निर्वाचित राजा मूलदेव की अनुशासन विधि।
१८९८,१८९९. लोकोत्तर सापेक्ष-निरपेक्ष आचार्य का विवरण।
१९००. उपनिक्षेप के दो प्रकार।
१९०१-१९०८. उपनिक्षेप में श्रेष्ठीसुता का लौकिक दृष्टान्त।
१९०९. परगण की निश्रा में साधुओं का उपनिक्षेप कब कैसे ?
१९१०-१९१२. साधुओं की परीक्षानिमित्त धन्य सेठ की चार पुत्रवधूओं वक्तव्यता दृष्टान्त एवं निगमन।
१९१३,१९१५. आचार्य गण का भार किसको दे ?
१९१६,१९२१. उपसंपदा के लिए अनर्ह होने पर निर्गमन और गमन के चार विकल्प।
१९२२-१९३३. अन्य मुनियों के साथ रहने से पूर्व ज्ञानादि की हानि-वृद्धि की परीक्षा विधि।
१९३४,१९३५. उपसंपन्न गच्छाधिपति के अचानक कालगत होने पर कर्त्तव्य-निदर्शन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९३६-१९४१. सापेक्ष उपनिक्षेप में राजा द्वारा राजकुमारों की परीक्षाविधि।
१९४२-१९४८. नवस्थापित आचार्य का कर्त्तव्य और मुनियों की विभिन्न कार्यों के लिए नियुक्ति।
१९४९-५१. सूत्रार्थ की वृद्धि न होने से उत्पन्न दोष और गुरु का अनुशासन।
१९५२. वृषभ द्वारा सारणा-वारणा।
१९५३-१९५५. गच्छ और गणी विषयक चार विकल्प।
१९५६. स्थविरों द्वारा सारणा-वारणा।
१९५७-१९६९. आचारप्रकल्प के सूत्रार्थ से सम्पन्न और असम्पन्न अनगार के विहार का क्रम।
१९७०-१९७९. मुनि किसके साथ रहे—इस विवेक का विस्तृत वर्णन।
१९८०-१९८२. अपान्तराल में समनोज्ञ के साथ एक रात, तीन रात अथवा अधिक रात रहने के कारणों का निर्देश।
१९८३-१९८९. वर्षावास में भिक्षा, वसति और शंका समाधान के लिए अन्यत्र गमन का विवेक।
१९९०-१९९२. आचार्य पद पर स्थापना विषयक विविध विकल्प।
१९९३-१९९८. जीवित अवस्था में पूर्व आचार्य द्वारा नए आचार्य की स्थापना, परीक्षा और राजा का दृष्टान्त।
१९९९-२००३. मरण शय्या पर स्थित आचार्य का विवरण।
२००४-२००७. अगीतार्थ का मरणासन्न आचार्य को निवेदन।
२००८,२००९. मरणासन्न आचार्य को अगीतार्थ मुनि द्वारा भय दिखाना।
२०१०. भिन्न देश से आए मुनि की अनर्हता।
२०११. वाचक और निष्पादक ही आचार्य की योग्य।
२०१२. आचार्य द्वारा अनुमत शिष्य को गण न सौंपने पर प्रायश्चित्त।
२०१३. अयोग्य मुनि द्वारा आचार्य पद न छोड़ने पर प्रायश्चित्त।
२०१४. आचार्य द्वारा अनुमत शिष्य यदि विशेष साधना पर जाए तो अन्य मुनि को निर्मापित करने की प्रार्थना।
२०१५. विशेष साधना की अपेक्षा गच्छ का परिचालन विपुल निर्जरा का कारण।
२०१६. गीतार्थ मुनियों के कथन पर यदि कोई आचार्य पद का परिहार न करे तो प्रायश्चित्त।
२०१७. आचार्य के प्रति शिष्य का अवश्यकरणीय कर्त्तव्य।
२०१८,२०१९. आचार्य और उपाध्याय का रोग और मोह के कारण अवधावन।
२०२०-२०२२. रोग से अवधावन की चिकित्सा-परिपाटी, परिपाटी के चार घटक और उनका चिकित्सा-विवेक।
२०२३-२०३०. रोग अवधावनोत्सुक मुनि की चिकित्सा-विधि।
२०३१-२०५२. भग्नव्रत की उपस्थापना और प्रायश्चित्त-विधि।
२०५३-२०५६. प्रायश्चित्त की विस्मृति के चार कारण।
२०५७-२०६२. स्मरण-अस्मरण विषयक विवरण।
२०६३,२०६४. गणापक्रमण करने वाले का विवरण।
२०६५-२०६९. 'अट्ठे लोए परिजुण्णे' सूत्र की व्याख्या।
२०७०-२०७३. सूत्रार्थ का सही अर्थ जान लेने पर गणापक्रमण।
२०७४. गुरु की आज्ञा की प्रधानता।
२०७५-२०७८. अभिनिचारिकायोग का विवरण तथा प्रायश्चित्त।
२०७९,२०८०. चरिकाप्रविष्ट द्वितीय सूत्र की व्याख्या।
२०८१. उपपात के एकार्थक।
२०८२,२०८३. मितगमन आदि का निर्देश तथा ध्रुव की व्याख्या।
२०८४. सूत्रगत 'वेउट्टिय' शब्द का भावार्थ कथन।
२०८५. कायसंस्पर्श की व्याख्या।
२०८६. स्मारणा, वारणा आदि भिक्षुभाव के घटक।
२०८७. गणमुक्त साधना करने के कुछ हेतु।
२०८८,२०८९. आचार्य की अनुज्ञा के बिना गणमुक्त होने पर प्रायश्चित्त।
२०९०. आचार्य द्वारा क्षेत्र की प्रतिलेखना।
२०९१. क्षेत्र की प्रतिलेखना न करने के दोष।
२०९२-२१०१. चरिकाप्रविष्ट आदि चार सूत्रों की निर्युक्ति। चरिका से निवृत्त विपरिणत मुनि विषयक विवरण और प्रायश्चित्त।
२१०२,२१०३. विदेश अथवा स्वदेश में दूर प्रस्थान करने की विधि।
२१०४,२१०५. उपसंपद्यमान की परीक्षा।
२१०६,२१०७. परीक्षा में अनुत्तीर्ण साधुओं का विसर्जन।
२१०८-२११२. प्रतीच्छक कितने समय तक प्रतीच्छक ?
२११३-२११६. निर्गम की अनुज्ञा और उसकी यतना।
२११७. आभवद् व्यवहार विधि तथा प्रायश्चित्त-विधि।
२११८-२१२४. आगाढ और अनागाढ़ स्वाध्याय भूमि का कालमान।
२१२५-२१२७. योग को वहन करने वाले मुनि के योग का भंग कब कैसे ?
२१२८-२१३६. योग विसर्जन का कारण और विधि।
२१३७-२१४६. निर्विकृतिक आहार-विधि तथा अन्य विवरण।
२१४७-२१४९. माया से योग विसर्जन का परिणाम।
२१५०-५७. मायावी मुनि के व्यवहार के अनेक कोण।
२१५८. नालबद्ध और वल्लीबद्ध के प्रकार और व्यक्तियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का निर्देश।

२१५८-२१६४. उपस्थापना पहले पीछे किसको ?

२१६५-२१७६. आचार्य के लिए आभाव्य शिष्य कौन ?

२१७७-२१८५. दो के विहरण की मर्यादा तथा प्रायश्चित्त आदि का विवरण।

२१८६-२१८९. रत्नाधिक का शैक्ष के प्रति कर्त्तव्य।

२१९०-२२०६. दो संख्याक भिक्षु, गणावच्छेदक आदि विषयक वर्णन।

२२०७-२२१५. आभवद् व्यवहार के भेद तथा विवरण।

२२१६-२२२९. अवग्रह के तीन भेदों का विवरण।

२२३०-२१४२. निर्गमन की चतुर्भंगी और उसका विवरण।

२२४३-२२५४. असंस्तरण में साधुओं की चतुर्भंगी आदि का वर्णन।

२२५५. काल के आधार पर अवग्रह के तीन भेद।

२२५६,२२५७. वृद्धावास का निर्वचन तथा कालमान।

२२५८-२२६३. वृद्धावास में रहने के हेतुओं का निर्देश।

२२६४-२२६८. जंघाबल की क्षीणता का अवबोध।

२२६९-२२७२. स्थविर का क्षेत्र और काल से अपराक्रम जानने का निर्देश।

२२७३-२२७५. गच्छवास को सहयोग देने की विधि।

२२७६,२२७७. वृद्धों के प्रति चतुर्विध यतना।

२२७८-२२८२. वृद्धावास के प्रति कालगत यतना।

२२८३-२२८८. वृद्धावास की वसति एवं संस्तारक यतना का निर्देश।

२२८९-२२९०. ग्लानत्व, असहायता तथा दौर्बल्य के कारण होने वाला वृद्धावास।

२२९१. अनशन-प्रतिपन्न की निश्रा में प्रतिचारक के रहने का कालमान।

२२९२-२२९७. सूत्रार्थ के निष्पादक की वृद्धावास में रहने की काल-मर्यादा।

२२९८. एक क्षेत्र में रहने के कारणों का निर्देश।

२२९९. संलेखना-प्रतिपन्न के साथ तरुण साधु के रहने की काल-मर्यादा।

२३००-२३०३. अवग्रह के तीन प्रकार एवं उनके कल्प-अकल्प की काल मर्यादा।

२३०४. साध्वियों की विहार संबंधी मर्यादा।

२३०५,२३०६. ऋतुबद्धकाल में सात तथा वर्षाकाल में नौ साध्वियों के विहार का निर्देश एवं उसके कारण।

२३०७-२३११. प्रवर्त्तिनी के कालगत होने पर आचार्य के समीप जाने की परम्परा।

२३१२. साध्वियों की प्रमादबहुलता एवं अस्थिरता की कथा।

२३१३,२३१४. नव, डहरिका तथा तरुणी की व्याख्या और प्रवर्त्तिनी बनने की अर्हता।

२३१५-२३१८. अन्यगच्छ से समागत साध्वी की विज्ञप्ति।

२३१९-२३२१. प्रकल्प अध्ययन की विस्मृति करने वाले को यावज्जीवन गण न सौंपने का निर्देश तथा प्रकल्प की विस्मृति के कारणों की खोज।

२३२२-२३२६. विद्यानाश में अजापालक, योध आदि के अनेक दृष्टान्त।

२३२७,२३२८. प्रमत्त साध्वी को गण देने, न देने का विमर्श।

२३२९. प्रमत्त मुनि को गण देने, न देने को विमर्श।

२३३०,२३३१. मथुरा नगरी में क्षपक का वृत्तान्त।

२३३२,२३३३. प्रकल्पाध्ययन नष्ट होने पर स्थविर और आचार्य की कर्त्तव्यता।

२३३४. सूत्रार्थधारक ही गणधारी।

२३३५. कृतयोगी के सूत्र-नाश का कारण।

२३३६. गण को स्वयं धारण करने का विवेक।

२३३७. कृतिकर्म का विधान और निधान का दृष्टान्त।

२३३८,२३३९. गर्व से कृतिकर्म न करने पर प्रायश्चित्त।

२३४०-२३४२. अविधि से कृतिकर्म करने पर प्रायश्चित्त।

२३४३-२३४५. कृतिकर्म की विधि।

२३४६,२३४७. स्थविरों के द्वारा कृतिकर्म करने से तरुणों को प्रेरणा।

२३४८. आलोचना किसके पास ?

२३४९-२३५५. संभोज (पारस्परिक व्यवहार) के छह प्रकार तथा विवरण।

२३५६-२३६०. सांभोजिक एवं असांभोजिक का विभाग कब ?

२३६१-२३६४. आलोचना-विधि तथा दोष।

२३६५. आर्यरक्षित तक आगमव्यवहारी अतः साध्वियों को छेदसूत्र की वाचन की परम्परा।

२३६६. आगमव्यवहारी के अभाव में साध्वियों द्वारा प्रायश्चित्तदान-विधि।

२३६७-२३७०. साध्वियों का श्रमणों के पास तथा श्रमणों का साध्वियों के पास प्रायश्चित्त लेने का विधान।

२३७३-२३७८. साध्वी का श्रमणों के पास आलोचना करने की विधि तथा दृष्टराग की चिकित्सा।

२३७९-२३८५. सांभोजिक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों की पारस्परिक सेवा कब ? कैसे ?

२३८६-२३९१. ग्लान श्रमण के वैयावृत्त्य करने वाली आर्यिका की योग्यता की बिन्दु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३९२,२३९३. श्रमण द्वारा ग्लान श्रमणी की तथा श्रमणी द्वारा ग्लान श्रमण की वैयावृत्त्य करने की विधि।
२३९४,२३९५. आगाढ प्रयोजन में द्विपक्ष वैयावृत्त्य अनुज्ञात।
२३९६. वैयावृत्त्य का सामान्य नियम।
२३९७. सूत्र से अर्थ का सम्बन्ध कैसे ?
२३९८-२४००. विपक्ष के वैयावृत्त्य से दोष।
२४०१-२४०७. औषध आदि का ग्रहण तथा वैद्य का दृष्टान्त।
२४०८. राजा के दो प्रकार—आत्माभिषिक्त और पराभिषिक्त।
२४०९. पराक्रमी राजा के चार बिंदू।
२४१०. सूत्रार्थविहीन एवं औषधविहीन आचार्य की व्यर्थता।
२४११-२४१५. औषधि आदि नियय सम्बन्धी शिष्य का प्रश्न और आचार्य का उत्तर।
२४१६-२४२२. औषध के संचय का निषेध।
२४२३. समाधि के लिए शिष्य का प्रश्न और आचार्य का उत्तर।
२४२४-२४२७. विद्या और मंत्र का संनिचय विहित।
२४२८-२४३२. गणधारी के चिकित्साज्ञान की अनिवार्यता।
२४३३,२४३४. लवसत्तमदेव का स्वरूप।
२४३५. स्वपक्ष से चिकित्सा, विपक्ष से नहीं।
२४३६. वैयावृत्त्य विषयक सूत्र और अर्थ में विपर्यास की चर्चा।
२४३७,२४३८. वैद्य के अभाव में वैयावृत्त्य किससे ?
२४३९-२४४३. दूती विद्या, आदर्श विद्या आदि द्वारा रोगनिवारण का निर्देश।
२४४४. निर्ग्रन्थ के निर्ग्रन्थी द्वारा तथा निर्ग्रन्थी के निर्ग्रन्थ द्वारा वैयावृत्त्य करने पर प्रायश्चित्त का विधान।
२४४५,२४४६. जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक के वैयावृत्त्य का विधान।
२४४९. सर्पदंश के लिए ज्ञातविधि का ज्ञान।
२४४८-२४५५. ज्ञातविधि का संज्ञान, प्रायश्चित्त तथा विविध दोषों की समापत्ति।
२४५६-२४५९. सेनापति का दृष्टान्त।
२४६०,२४६१. लोभ की समुदीरणा में रत्नस्थाल का दृष्टान्त।
२४६२-७३. ज्ञातविधिगमन के दोष तथा संयम से चालित करने के ११ उपाय।
२४७४-२४७९. उत्प्रव्रजित मुनि द्वारा होने वाले दोषों का वर्णन।
२४८०-८२. ज्ञातविधिगमन के उत्सर्ग, अपवाद तथा यतना।
२४८३. स्वाध्याय तथा भिक्षाभाव द्वारा शिष्य की परीक्षा।
२४८४,२४८५. मंदसंविग्न और तीव्रसंविग्न कौन ?
२४८६-२४८८. उपसर्ग-सहिष्णु की परीक्षा।
२४८९. स्वजनों से प्रतिबद्ध या अप्रतिबद्ध की पहचान।
२४९०-२४९३. ज्ञातविधि में जाने वाले की योग्यता और सहयोगियों की चर्चा।
२४९४. स्वज्ञातिक मुनि द्वारा धर्मकथा करने का निर्देश और विधि।
२४९५. थावच्चापुत्र का दृष्टान्त कहने का निर्देश।
२४९६,२४९९ पूर्वायुक्त और पश्चादायुक्त भोजन की व्याख्या।
२५००. भिक्षु को द्रव्यों के प्रमाण आदि का ज्ञान।
२५०१. सात प्रकार का ओदन।
२५०२. शाक, व्यञ्जन आदि का परिमाण।
२५०३. द्रव्य ग्रहण का परिमाण।
२५०४. भिक्षा-वेला का ज्ञान तथा संविग्न संघाटक।
२५०५-२५०९. ग्लान मुनि की चिकित्सा में पुरःकर्म तथा पश्चात् कर्म का विवेक।
२५१०-२५१३. ग्लान के प्रयोजन से ज्ञातविधि प्राप्त करने वाले मुनियों की यतना।
२५१४-२५१८. ज्ञातविधि प्राप्त करने के हेतु।
२५१९,२५२०. बहुश्रुत के अनेक अतिशय।
२५२१. आचार्य के पांच अतिशेषों का वर्णन।
२५२२-२५२९. आचार्य के चरण-प्रमार्जन की विधि। अविधि से करने पर दोष तथा प्रायश्चित्त।
२५३०,२५३१. आचार्य के बहिर्गमन का हेतु तथा शैक्ष का प्रश्न।
२५३२-२५३७. आचार्य के वसति के बाहर ठहरने के दोष।
२५३८-२५४१. क्या भिक्षु वसति के बाहर रह सकता है ? प्रश्न का समाधान।
२५४२-२५५२. दूसरा अतिशय—संज्ञाभूमी में गमन, निषेध और अपवाद।
२५५३-५७. लौकिक विनय बलवान् या लोकोत्तर विनय ?
२५५८,२५५९. आचार्य के संज्ञाभूमी-गमन के अवसर पर मुनियों का कर्त्तव्य।
२५६०-२५६५. आचार्य की रक्षा का दृष्टान्त द्वारा समर्थन।
२५६६. आचार्य की रक्षा के लाभ।
२५६७,२५६८. तीसरा अतिशय—अतिशायी प्रभुत्व।
२५६९—२५७१. आचार्य को भिक्षा के लिए न जाने के हेतु।
२५७२-२५९९. आचार्य को गोचरी से निवारित न करने पर प्रायश्चित्त तथा उससे होने वाले दोष।
२६००-२६०२. आचार्य द्वारा भिक्षार्थी न जाने के गुण।
२६०३-२६०६. कारणवश आचार्य का भिक्षार्थ जाने पर शिष्य का कर्त्तव्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६०७-२६०९.	गोचरचर्या संबंधी आचार्य और शिष्य का ऊहापोह।
२६१०-२६१४.	कौटुम्बिक से आचार्य की तुलना।
२६१५-२६१७.	निरपेक्ष और सापेक्ष दंडिक दृष्टान्त।
२६१८-२६२५.	आचार्य के भिक्षार्थ जाने के कारणों का निर्देश तथा भिक्षर्थ न जाने पर प्रायश्चित्त।
२६२६-२६२८.	भिक्षा की सुलभता न होने पर आचार्य किन-किन को भिक्षार्थ भेजे ?
२६२९,२६३०.	गणिपिटक पढ़ने वालों की वैयावृत्त्य से महान् निर्जरा।
२६३१.	विभिन्न आगमधरों की वैयावृत्त्य से निर्जरा की तरतमता।
२६३२.	प्रावचनी आचार्य की वैयावृत्त्य से महान् निर्जरा।
२६३३-२६३६.	भावों के आधार पर निर्जरा की तरतमता।
२६३७-२६३८.	निश्चयनय से निर्जरा का विवेचन।
२६३९.	सूत्रधर, अर्थधर एवं उभयधर की वैयावृत्त्य से निर्जरा।
२६४०-२६४६.	सूत्र और अर्थ से सूत्रार्थ श्रेष्ठ तथा शातवाहन का दृष्टान्त।
२६४७,२६४८.	अर्थमंडली में स्थित आचार्य का अभ्युत्थान विषयक गौतम का दृष्टान्त।
२६४९-२६६०.	अभ्युत्थान से व्याक्षेप आदि दोष।
२६६१-२६६४.	अभ्युत्थान के तीन कारण।
२६६५.	अभ्युतथान का क्रम।
२६६६-६९.	सापेक्ष-निरपेक्ष शिष्य के संबंध में शकट का दृष्टान्त।
२६७०,२६७१.	द्रव्य और भाव भक्ति में लोहार्य और गौतम का दृष्टान्त।
२६७२.	गुरु की अनुकम्पा और गच्छ की अनुकम्पा से तीर्थ की अव्यवच्छित्ति।
२६७३.	गुरु की गच्छ के प्रति अनुकम्पा से ही दशविध वैयावृत्त्य का समाचरण।
२६७४-२६८२.	आचार्य के पांच अन्य अतिशयों का विवरण।
२६८३.	हाथ, मुंह आदि धोने के लाभ।
२६८४.	आचार्य के योगसंधान के प्रति शिष्यों की जागरूकता।
२६८५-२६९२.	अतिशयों को भोगने में विवेक, आर्य समुद्र तथा आर्य मंगु का निदर्शन।
२६९३-२७०२.	पूर्व वर्णित पांच अतिशयों में अंतिम दो अतिशयों का वर्णन।
२७०३.	भद्रबाहु का 'महापान' ध्यान और महापान की व्युत्पत्ति।
२७०४.	आचार्य का वसति के बाहर रहने का कारण।
२७०५.	गणावच्छेदक तथा गणी के दो अतिशयों का कथन।
२७०६,२७०७.	भिक्षु के दश अतिशय।
२७०८.	सूत्राध्ययन किए बिना एकलवास करने का निषेध और उसका प्रायश्चित्त।
२७०९,२७१०.	अपठित श्रुत वाले अनेक मुनियों का एक गीतार्थ के साथ रहने का विधान।
२७११-१८.	अपठितश्रुत मुनियों का गच्छ से अपक्रमण एवं उससे होने वाले दोष।
२७१९,२७२०.	अपठितश्रुत मुनियों के एकान्तवास का विधान।
२७२१-२७२४.	एक या अनेक का एकलवास और सामाचारी का विवेक।
२७२५-२७२८.	गीतार्थनिश्रित की यतना और मुनियों के संवास की व्यवस्था।
२७२९-२७३३.	पृथक् पृथक् वसति में रहने का विधान और उसकी यतना-विधि।
२७३४-२७३८.	अपठितश्रुत मुनियों के साथ आचार्य का व्यवहार और तीन स्पर्धकों का सहयोग।
२७३९-२७४४.	एक दिन में अपठितश्रुत स्पर्धकों का शोधन और प्रायश्चित्त।
२७४५,२७४६.	बहुश्रुत को भी अकेले रहने का निषेध।
२७४७.	अभिनिर्वगड़ा के प्रकार एवं एकाकी रहने का प्रायश्चित्त।
२७४८-२७५७.	लज्जा, भय आदि के कारण पापाचरण से रक्षा।
२७५८-२७६४.	शुभ-अशुभ मनःपरिणामों की स्थिति का विभिन्न उपमाओं से निरूपण।
२७६५,२७६६.	एक लेश्यास्थान में असंख्य परिणाम-स्थानों का कथन।
२७६७.	लेश्यागत विशुद्ध भावों से मोह का अपचय।
२७६८.	शुभ परिणाम से मोह कर्म का क्षय होता है या नहीं ?
२७६९-२७७८.	एकाकी विहरण के दोष।
२७७९-२७८१.	बहुश्रुत के एकाकीवास का समर्थन।
२७८२.	बहुश्रुत के त्वग्दोष होने के कारण एकाकी रहने का विधान।
२७८३-२७८५.	त्वग्दोष के प्रकार तथा उसकी सावधानी के उपाय।
२७८६-८८.	त्वग्दोषी की आचार्य द्वारा सारणा-वारणा अन्यथा प्रायश्चित्त।
२७८९-२७९२.	त्वग्दोष संक्रमण के हेतु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७९३-२८०२. अबहुश्रुत के त्वग्दोष होने पर यतना विधि।
२८०३-२८०६. हस्तकर्म आदि से शुक्र निष्कासन।
२८०७.२८१२. शुक्र निष्कासन के विविध उपाय।
२८१३-२८१८. साध्वी के एकाकी रहने के दोष।
२८१९-२८२३. संयम भ्रष्ट साध्वी के पुनः प्रव्रजित होने की आकांक्षा।
२८२४-२८३१. संयमभ्रष्ट साध्वी को गण से विसर्जित करने की विधि।
२८३२,२८३३. इत्वरिक और यावत्कथिक दिग्बंध का कथन।
२८३४. सूत्र की संबंध गाथा।
२८३५-२८३८. गण से निर्गत भिक्षुणी का पुनः आना।
२८३९-२८४१. अन्यदेशीय वस्त्रों से प्रावृत भिक्षुणी को देखकर वृषभों का ऊहापोह।
२८४२-२८४५. साध्वियों द्वारा लब्ध वस्त्रों को गुरु को दिखाने की परम्परा और न दिखाने पर प्रायश्चित्त।
२८४६,२८४७. प्रवर्त्तिनी को गुरुतर दंड के लिए शिष्य का प्रश्न एवं आचार्य का उत्तर।
२८४८-२८५३. पति द्वारा परित्यक्त स्त्री की प्रव्रज्या और उसे पुनः गृहस्थ जीवन में लाने में परिव्राजिका की भूमिका।
२८५४-२८६०. प्रव्रज्या के पारग-अपारक की परीक्षण।
२८६१-२८६६. मायावी भिक्षुणी द्वारा छिद्रान्वेषण।
२८६७. सूत्र और अर्थ की पारस्परिकता।
२८६८. अन्य गण से आगत साध्वियों को वाचना आदि।
२८६९. आभीरी की प्रव्रज्या, विपरिणाम और उसका प्रायश्चित्त।
२८७०-२८७७. समागत निर्ग्रन्थी को गण में न लेने के कारण और प्रायश्चित्त।
२८७८-२८९१. प्राघूर्णक मुनि की विविध शंकाएं एवं उनके आधार पर विसांभोजिक करने पर प्रायश्चित्त।
२८९२-२८९५. परोक्ष में विसांभोजिक करने के दोष।
२८९६-२९०५. सांभोजिक और विसांभोजिक व्यवहार किसके साथ ?
२९०६. आगत मुनियों की द्रव्य आदि से परीक्षा और फिर सहभोज।
२९०७. ज्ञात-अज्ञात के साथ बिना आलोचना के सहभोज करने पर प्रायश्चित्त।
२९०८. ज्ञात-अज्ञात की परीक्षा आर्य महागिरी से पूर्व नहीं, बल्कि आर्य सुहस्ति के बाद।
२९०९-२९११. विभिन्न क्षेत्रों से आए मुनियों के आने पर की जाने वाली यतना।
२९१२. स्वदेशस्थ मुनियों के प्रति की जाने वाली यतना।
२९१३,२९१४. अभिनिवारिका से आगत मुनि गुरु के पास कब जाए ?
२९१५. कालवेला के अपवाद के कारण।
२९१६. कालवेला में न आने पर प्रायश्चित्त।
२९१७,२९१८. प्राघूर्णक मुनियों के आने पर तत्रस्थ मुनियों का कर्त्तव्य।
२९१९,२९२०. आगत मुनियों का तीन दिनों का आतिथ्य और भक्षाचर्या की विधि।
२९२१,२९२२. निर्ग्रन्थ सूत्र के बाद निर्ग्रन्थी सूत्र का कथन और उसकी प्रांसगिकता।
२९२३. साध्वी के परोक्षतः संबंध-विच्छेद का कथन।
२९२४-२९२८. संयतीवर्ग को विसांभोजिक करने की विधि।
२९२९. निर्ग्रन्थिनी की दीक्षा का प्रयोजन।
२९३०-२९३३. सूत्रगत प्रयोजन के बिना साध्वी को प्रव्रजित करने के दोष।
२९३४-२९४०. मुनि पुरुष को और साध्वी स्त्री को प्रव्रजित करे--इस विषयक शिष्य का प्रश्न और आचार्य का समाधान।
२९४१,२९५०. स्त्री को प्रव्रजित करने की चार तुलाएं एवं उनका विवरण।
२९५१,२९५२. साध्वी का साधु को प्रव्रजित करने का उद्देश्य।
२९५३-२९६१. क्षेत्रविकृष्ट तथा भवविकृष्ट दिशा संबन्धी विवरण तथा दृष्टान्त।
२९६२-२९६८. अन्य आचार्य के पास जाने की इच्छुक भिक्षुणी के मार्गगत दोष।
२९६९-२९७२. क्षेत्रविकृष्ट, भवविकृष्ट विषयक अपवाद।
२९७३-२९७८. निर्ग्रन्थ संबंधी क्षेत्रविकृष्ट तथा भव-विकृष्ट का विवरण।
२९७९-३००६. कलह और अधिकरण के विविध पहलू तथा उपशमन विधि।
३००७-३०१३. निर्ग्रन्थिनियों के पारस्परिक कलह के कारण एवं उपशमन विधि।
३०१४,३०१५. स्वपक्ष के द्वारा परपक्ष को स्वाध्याय के लिए उद्दिष्ट करने पर प्रायश्चित्त।
३०१६. स्तुति और स्तव की परिभाषा।
३०१७. अकाल स्वाध्याय में ज्ञानाचार की विराधना।
३०१८. कालादि उपचार के बिना विद्या की सिद्धि नहीं तथा क्षुद्र देवताओं द्वारा उपद्रव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०१९.	सूत्र देवताधिष्ठित क्यों?
३०२०,३०२१.	विद्याचक्रवर्ती का यत्किंचित् कथन विद्या क्यों? दृष्टान्त और उपनय।
३०२२,३०२३.	जिनेश्वर की वाणी के आठ गुण।
३०२४,३०२५.	अकाल में अंग पढने का निषेध।
३०२६.	अकाल में आवश्यक का निषेध क्यों नहीं ?
३०२७.	अकाल में स्वाध्याय के दोष।
३०२८-३०३१.	द्रव्य और भाव विष का कथन।
३०३२,३०३३.	श्रमण-श्रमणिओं को स्वपक्ष में ही वाचना देने का निर्देश।
३०३४-३०४४.	स्वाध्यायकरण काल तथा स्वपक्ष-परपक्ष की उद्देशन-विधि और उपवाद।
३०४५-३०४७.	साध्वी का साधु की निश्रा में स्वाध्याय करने के गुण-दोष।
३०४८.	ज्ञान और चारित्र के बिना दीक्षा निरर्थक।
३०४९,३०५०.	विशुद्धि के अभाव में चारित्र का अभाव।
३०५१-३०५३.	ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के लिए साध्वियों को पढ़ाने का निर्देश।
३०५४,३०५५.	अप्रशस्त भाव से दिए जाने वाले प्रवाचना के दोष।
३०५६-३०५८.	साधु साध्वी को प्रवाचना कब दे ?
३०५९,३०६०.	मुनि और साध्वी की परीक्षा के बिंदु।
३०६१-३०७७.	परीक्षा न करने पर होने वाले दोष और उसका प्रायश्चित्त।
३०७८-८२.	वाचना के लिए योग्य साध्वी का स्वरूप-कथन।
३०८३,३०८४.	भार्या-साध्वी आदि को वाचना देने का निषेध।
३०८५-३०९३.	कौन किसको वाचना दे ? तथा वाचना की द्रव्य आदि से यतना।
३०९४,३०९५.	गणधर साध्वियों को वाचना देते समय कैसे बैठे?
३०९६.	वाचना किनको न दे ?
३०९७.	उपाध्याय भी स्थविर की सन्निधि में वाचना दे।
३०९८,३०९९.	वाचना के समय साध्वियां कैसे बैठें ?
३१००.	स्वाध्याय-काल में स्वाध्याय करने का निर्देश।
३१०१,३१०२.	अस्वाध्याय के भेद-प्रभेद तथा दोष।
३१०३,३१०४.	अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय करने के दोष तथा राजा का दृष्टान्त।
३१०५-३११९.	अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने के हेतु उससे होने वाले दोष तथा पांच पुरुषों का दृष्टान्त।
३११०-३११३.	संयमोपघाती अस्वाध्यायिक का निरूपण।,
३११४-३११६.	औत्पातिक अस्वाध्यायिक का निरूपण।
३११७-३१२४.	देव सम्बन्धी अस्वाध्यायिक का निरूपण।
३१२५-३१३०.	व्युद्ग्रह संबंधी अस्वाध्यायिक का निरूपण।
३१३१-३१५२.	औदारिक शरीर संबंधी अस्वाध्यायिक के भेद-प्रभेद।
३१५३-३१५६.	स्वाध्याय-काल में स्वाध्याय करने का निर्देश तथा कालग्रहण की सामाचारी।
३१५७,३१५८.	काल प्रत्युपेक्षण की २४ भूमियां।
३१५९.	काल की तीन भूमियों के प्रत्युपेक्षण का निर्देश।
३१६०,३१६१.	दैवसिक अतिचार का चिन्तन।
३१६२-३१८७.	आवश्यक के बाद तीन स्तुति करने का निर्देश और तदन्तर काल प्रत्युपेक्षणा की विधि।
३१८८-३१९३.	प्रादोषिक कालग्रहण कर गुरु के पास आने की विधि और गुरु को निवेदन।
३१९४-३२१४.	काल चतुष्क की उपघात विधि।
३२१५-३२२१.	स्वाध्याय की प्रस्थापन विधि।
३२२२.	अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय करने का निषेध किन्तु वाचना की अनुमति।
३२२३-३२२७.	आत्मसमुत्थ अस्वाध्यायिक के भेद और उसकी यतना।
३२२८,३२२९.	अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय करने से दोष।
३२३०-३२३३.	शरीरगत रक्त का अस्वाध्यायिक क्यों नहीं? शिष्य का प्रश्न और आचार्य का उत्तर।
३२३४-३२३९.	राग,द्वेष,मोह वश अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय करने के दोष।
३२४०-३२४२.	साधु एवं साध्वी के परस्पर वाचना देने का प्रयोजन एवं दीक्षा पर्याय का कालमान।
३२४३,३२४४.	आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्त्तिनी का संग्रह क्यों ?
३२४५-३२५२.	साध्वियों के अवश्य संग्रह का निर्देश तथा अनेक दृष्टान्तों द्वारा समर्थन।
३२५३.	जरापाक मुनि की व्याख्या।
३२५४-३२५७.	मृत साधु की परिष्ठापन-विधि तथा उपकरणों का समर्पण।
३२५८,३२५९.	मृत परिष्ठापन में स्थण्डिल की प्रत्युपेक्षणा।
३२६०,३२६१.	प्रत्युपेक्षण न करने के दोष और प्रायश्चित्त।
३२६२-३२६४.	स्थण्डिल में परिष्ठापन के दोष।
३२६५,३२६६.	मृत के लिए वस्त्रों का विवेक।
३२६७-३२७३.	मृत के परिष्ठापन में दिशा का विवेक।
३२७४-३२७६.	परिष्ठापन करने योग्य स्थण्डिल का निर्देश।
३२७७-३२७९.	श्मशान में परिष्ठापन की विधि।
३२८०-३२८२.	सात से कम मुनि होने पर परिष्ठापन की विधि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२८३. गृहस्थों द्वारा मुनि के शव का परिष्ठापन, उसके दोष और प्रायश्चित्त।
३२८४-३२८६. मुनि द्वारा ही मुनि के शव का परिष्ठापन करने का निर्देश।
३२८७-३२९९. अकेले मुनि द्वारा शव परिष्ठापन की विधि।
३३००-३३०५. परिष्ठापन की विशेष, विधि एवं प्रायश्चित्त का विधान।
३३०६. शव को परलिंग क्यों किया जाता है ?
३३०७,३३०८. शव के उपधिग्रहण की विधि।
३३०९-३३४२. अवग्रह विषयक अवधारणा, शय्यातर कब, कैसे ?
३३४३. विधवा आदि को शय्यातर बनाने का विधान।
३३४४. विधवा और धव शब्द का निरुक्त।
३३४५,३३४६. शय्यातर से संबंधित प्रभु और अप्रभु की व्याख्या।
३३४७,३३४८. शय्यातर की अनुज्ञापना किससे ?
३३४९-३३५३. मार्ग आदि में भी अवग्रह की अनुज्ञापना। वृक्ष पडालिका आदि को शय्यातर बनाने का निर्देश।
३३५४. राज्यावग्रह का निर्देश।
३३५५,३३५६. संस्तृत, अव्याकृत और अव्यवच्छिन्न की व्याख्या।
३३५७,३३५८. पूर्वानुज्ञान अवग्रह का कालमान।
३३५९. भिक्षुभाव की व्याख्या।
३३६०-३३६२. राजा के कालगत होने पर अनुज्ञापना किसको ?
३३६३-३३६५. भद्रक को अनुज्ञापित करने पर राजा का दातव्य संबंधी प्रश्न और उत्तर।
३३६६. प्रायोग्य का स्वरूप कथन।
३३६७. भद्रक द्वारा दीक्षा की अनुज्ञा का निषेध।
३३६८. राजा को अनुज्ञापित किए बिना देश छोड़ने पर प्रायश्चित्त।
३३६९. देश छोड़ने के उपायों का निर्देश।
३३७०-७७. प्रव्रज्या के लिए अनुज्ञा-अननुज्ञा का कथन।
३३७८-८१. राजा को अनुकूल बनाने का विधान।
३३८२. साधर्मिक उवग्रह का कथन।
३३८३. गृह शब्द के एकार्थक और साधर्मिक अवग्रह के भेद।
३३८४. गृह के तीन प्रकार।
३३८५. शिष्य द्वारा शय्यासंस्तारक भूमी के लिए गुरु को निवेदन।
३३८६,३३८७. आचार्य द्वारा उस याचित भूमी की स्वीकृति।
३३८८. ऋतुबद्धकाल, वर्षावास और वृद्धावास के योग्य शय्या-संस्तारक।
३३८९-३३९४. संस्तारक के विविध, विकल्प, उनकी व्याख्या और प्रायश्चित्त।
३३९५. सूत्र का प्रवर्त्तन सकारण, कारण की जिज्ञासा।
३३९६. संस्तारक के लिए तृण ग्रहण करने की विधि।
३३९७,३३९८. जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक के लिए तृणों का परिमाण।
३३९९,३४००. ग्लान और अनशन किए हुए मुनि के संस्तारक का स्वरूप।
३४०१. अग्लान के लिए तृणमय संस्तारक का वर्जन।
३४०२. कल्प और प्रकल्प की व्याख्या।
३४०३. ऋतुबद्ध काल में तृण ग्रहण करने की यतना।
३४०४,३४०५. ऋतुबद्ध काल में फलकग्रहण की यतना और फलक के पांच प्रकार।
३४०६. यतना से गृहीत फलक का प्रायश्चित्त।
३४०७. फलक को उपाश्रय के बाहर से लाने की विधि।
३४०८. गोचराग्र के लिए जाते समय भिक्षा और संस्तारक दोनों लाने का निर्देश।
३४०९. ऋतुबद्ध काल में संस्तारक न लेने पर प्रायश्चित्त।
३४१०-३४१२. वर्षाकाल में संस्तारक ग्रहण न करने पर प्रायश्चित्त और उसके कारण।
३४१३. वर्षाकाल में फलक-संस्तारक ग्रहण की विधि।
३४१४-३४७३. वर्षाकाल में फलक के ग्रहण, अनुज्ञापना आदि पांच द्वारों का विस्तृत वर्णन।
३४७४,३४७५. वृद्धावास योग्य संस्तारक का कथन और उसका कालमान।
३४७६. सहाय रहित वृद्ध की सामाचारी।
३४७७-३४८१. दंड, विदंड आदि पदों की व्याख्या और उनका उपयोग।
३४८२. दंड आदि उपकरणों की स्थापना विधि।
३४८३. दंड आदि के स्थापना संबंधी शिष्य का प्रश्न और आचार्य का उत्तर।
३४८४-३४८८. अतिवृद्ध मुनि का उपकरणों को रखकर भिक्षा के लिए जाने का कारण और यतना का निर्देश।
३४८९-३४९१. मार्ग में स्थविर के भटक जाने पर अन्वेषण-विधि।
३४९२-३४९४. स्थविर द्वारा खोज की अन्य विधि में उपकरणों की स्थापना करने के वर्जनीय स्थानों का निर्देश।
३४९५. उपकरणों को स्थापित करने के स्थानों का निर्देश।
३४९६-३५०५. लोहकार आदि ध्रुवकर्मिक को उपकरण संभलाने तथा उसके नकारने पर उपधि प्राप्त करने की विधि।
३५०६-३५०८. शून्यगृह में आहार करने की विधि।
३५०९,३५१०. अवग्रह का अनुज्ञापन तथा अनुज्ञापक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५११-३५१७. प्रातिहारिक तथा सागारिक शय्या-संस्तारक को बाहर ले जाने की विधि और प्रायश्चित्त।
३५१८. अननुज्ञाप्य संस्तारक के ग्रहण का विधान।
३५१९. अननुज्ञाप्य शय्या-संस्तारक ग्रहण करने के दोष तथा प्रायश्चित्त।
३५२०-३५२३. दत्तविचार और अदत्तविचार अवग्रहों में तृण-फलक आदि लेने की विधि और निषेध।
३५२४. अननुज्ञात अवग्रह में रहने के दोष।
३५२५-३५३०. अननुज्ञात अवग्रह का ग्रहण किण कारणों से ?
३५३१-३५३५. वसति स्वामी को अनूकूल करने की विधि।
३५३६-३५५०. लघुस्वक उपधि के प्रकार तथा परिष्ठापित उपधि ग्रहण के दोष एवं प्रायश्चित्त।
३५५१-३५६१. पथ में विश्राम करने से मिथ्यात्व आदि दोष।
३५६२-३५६५. मार्ग में विश्राम करने का अपवाद मार्ग।
३५६६-३५६८. विश्राम के पश्चात् प्रस्थान के समय सिंहावलोकन, विस्मृत वस्तु को न लाने पर प्रायश्चित्त।
३५६९,३५७०. कैसी वस्तु विस्मृति होने पर न लाए ?
३५७१-३५७९. विस्मृत उपधि की दूसरे मुनियों द्वारा निरीक्षण विधि।
३५८०-३५८२. विस्मृत उपधि को ग्रहण करने के पश्चात् मुनि क्या करे ?
३५८३-३५९२. उपधि-परिष्ठापन की विधि तथा अनायन विधि।
३५९३. अतिरिक्त पात्र ग्रहण की विधि।
३५९४. उद्देश एवं निर्देश की व्याख्या।
३५९५. प्रमाणोपेत उपकरण धारण का निर्देश।
३५९६,३५९७. अतिरिक्त पात्र धारण के दोष, शिष्य का प्रश्न तथा समाधान।
३५९८-३६०३. अनेक मुनियों द्वारा एक ही पात्र रखने के दोष।
३६०४-३६१०. आचार्य आर्यरक्षित द्वारा मात्रक की सकारण अनुज्ञा।
३६११-३६१५. कारण के अभाव में मात्रक प्रयोग का प्रायश्चित्त।
३६१६,३६१७. अतिरिक्त पात्र ग्रहण के हेतु।
३६१८,३६१९. आभिग्रहिक मुनि के प्रकार तथा आचार्य द्वारा पात्र लाने का आदेश।
३६२०-३६२५. अतिरिक्त पात्र ग्रहण के तीन प्रकार।
३६२६. आचार्य द्वारा संदिष्ट आभिग्रहिकों की सामाचारी।
३६२७. पात्र-प्रतिलेखन।
३६२८. आनीत पात्रों की वितरण विधि।
३६२९-३६३३. पुराने पात्र ग्रहण करने के अनेक हेतु, पात्र दुर्लभता की कारण नंदी आदि पांच प्रकार के पात्रों के ग्रहण का निर्देश।
३६३४. पात्र देने वालों के दो प्रकार—एक या अनेक।
३६३५. निर्दिष्ट को पात्र न देने पर प्रायश्चित्त।
३६३६. भिक्षुणी संबंधी निर्देश्य के पांच प्रकार और विभिन्न विकल्प।
३६३७-३६४१. ग्लान आदि को पात्र न देने पर प्रायश्चित्त।
३६४२. छह प्रकार के जुंगित।
३६४३-३६५४. ग्लान आदि को पात्र आदि देने की विधि।
३६४६-३६४९. पात्र देने वाला सांभोजिक अथवा असांभोजिक प्रश्न तथा उत्तर।
३६५०,३६५१. उपकरण सांभोजिक तथा असांभोजिक कैसे ?
३६५२-३६५४. गच्छनिर्गत मुनि के संवेग प्राप्ति के तीन स्थान।
३६५५-३६५७. अवधावन करने वाले मुनि की सारणा-वारणा।
३६५८-३६६४. अवधावित मुनि का पुनः आगमन तथा उपकरण संबंधी निर्देश।
३६६५-३६७९. अगार लिंग तथा स्वलिंग में अवधावन।
३६८०-३६९५. आहार की मात्रा का विवेक, जघन्य, उत्कृष्ट मात्रा तथा अमात्य का दृष्टान्त।
३६९६-३६९९. शिष्यों को उपयुक्त आहार न देने वाले आचार्य।
३७००-३७०२. उपयुक्त आहर-ग्रहण करने की विधि।
३७०३. सागारिक पिंड संबंधी निर्देश।
३७०४. आदेश शब्द की व्याख्या।
३७०५. आदेश, दास और भृतक के पिंड की आठ सूत्रों से मार्गणा।
३७०६-३७०८. प्रातिहारी और अप्रातिहारी का वर्णन।
३७०९. भद्रक एवं प्रान्त व्यक्ति के चिन्तन में भेद।
३७१०-३७१४. सूत्रों में आज्ञा फिर अर्थ गत निषेध क्यों ?
३७१५. निसृष्ट अप्रातिहारी पिंड।
३७१६. पूर्व-संतुस्त एवं पश्चात्-संस्तुत आदि का वर्णन।
३७१७-३७२०. सागारिक दोष एवं प्रसंग दोष से भक्तपान—ग्रहण का निषेध।
३७२१-३७२३. एगचुल्ली आदि का व्याख्या।
३७२४-३७३६. साधारण शालाओं के भेद एवं उनमें भक्त ग्रहण का निषेध।
३७३७. व्यंजन ग्रहण विषयक सामाचारी।
३७३८-३७४२. गोरस, गुड़ आदि औषधियों के दो प्रकार।
३७४३-३७५७. वृक्ष आदि से संबंधित शय्यातर के अवग्रह का विवेक।
३७५८-७५. विभिन्न दृष्टियों से कल्प-अकल्प का विवेचन।
३७७६-८८. प्रतिमाओं (विशेष साधना) के विभिन्न प्रकार और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	विवरण।
३७८९-३८०२.	क्षुल्लिका एवं महल्लिका मोक प्रतिमा का स्वरूप एवं विवरण।
३८०३-३८०९.	मोकप्रतिमा सम्पन्न कर उपाश्रय में अनुसरणीय विधि।
३८१०.	मोकप्रतिमा सम्पन्न साधक के गुण।
३८११-३८१७.	दत्तियों का विवरण।
३८१८,३८१९.	उपहृत के प्रकार और विवरण।
३८२०-३८२२.	शुद्धि आदि पदों की व्याख्या।
३८२३-३८२७.	अवगृहीत के तीन प्रकार तथा व्याख्या।
३८२८-३८३०.	दीयमान प्रयोग्य तथा सहृत की व्याख्या।
३८३१-३८३६.	यवमध्यचन्द्रप्रतिमा तथा वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा का स्वरूप, दत्तिया तथा संहनन।
३८३७-४१.	प्रतिमाधारी और व्युत्सृष्ट काय।
३८४२-३८५१.	उपसर्गों के प्रकार एवं दृष्टान्तों से उनका अवबोध।
३८५२-३८६४.	अज्ञातोञ्छ के प्रकार और ग्रहण विधि।
३८६५-३८७७.	देहली का अतिक्रमण करने से उत्पन्न दोष।
३८७८-३८८०.	प्रतिमाधारी द्वारा उद्यान आदि में पिण्ड-ग्रहण की विधि।
३८८१-३८८५.	पांच प्रकार के व्यवहार की उपयोग-विधि।
३८८६.	आज्ञा के दो प्रकार।
३८८७.	आज्ञा व्यवहार की आराधना के प्रकार और उसका परिणाम।
३८८८.	व्यवहार के दो अर्थ।
३८८९.	व्यवहर्त्तव्य के दो प्रकार—आभवत् और प्रायश्चित्त।
३८९०.	आभवत् और प्रायश्चित्त व्यवहार के पांच-पांच प्रकार।
३८९१-३८९६.	क्षेत्र विषयक आभवत् और क्षेत्र प्रतिलेखना।
३८९७.	जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट क्षेत्र के गुण।
३८९८.	जघन्य क्षेत्र का स्वरूप।
३८९९.	क्षेत्र के चौदह गुण।
३९००,३९०१.	वर्षायोग्य क्षेत्र का अनुज्ञापन।
३९०२-३९१५.	क्षेत्र के अनुज्ञापन में पूर्वनिर्गत, पश्चादनिर्गत आदि।
३९१६-३९२२.	क्षेत्र यदि अपर्याप्त हो तो कौन वहां रहे और कौन न रहे ?
३९२३.	आषाढ शुक्ला दशमी को वर्षावास की मर्यादा का उल्लेख।
३९२४-३९२७.	सारूपिक आदि को अनुज्ञापित कर वसति से बाहर रहने की विधि।
३९२८-३९३१.	संविग्नबहुल काल में आषढ शुक्ला दशमी को वर्षावास की मर्यादा। वर्तमान में इस मर्यादा के अतिक्रमण के कारणों का उल्लेख।
३९३२-३९४२.	पार्श्वस्थों का स्वरूप।
३९४३-३९४९.	वर्षावास के लिए क्षेत्र की घोषणा तथा बाधाएं।
३९५०.	क्षेत्र का अन्वेषण और क्षेत्र का व्यवहार।
३९५१-३९५५.	वृषभ क्षेत्र के प्रकार तथा वहां रहने की विधि।
३९५६,३९५७.	पूर्वसंस्तुत एवं पश्चात्संस्तुत की व्याख्या तथा क्षेत्र संबंधी विचार।
३९५८-३९६०.	श्रुतसम्पत् के दो प्रकार तथा विवरण।
३९६१-३९६३.	ज्ञान अभिधारण के विविध विकल्प।
३९६४,३९६५.	माता पिता आदि निर्मिश्र वल्ली और उसके लाभ।
३९६६,३९६७.	मिश्र वल्ली के अन्तर्गत कौन-कौन ?
३९६८-३९७१.	अभिधारक के दो प्रकार और उनका विवरण।
३९७२-३९७४.	अभिधार्यमाण आचार्य के जीवित और कालगत अवस्था पर संपादनीय विधि।
३९७५.	ज्ञान, दर्शन आदि के अभिधार्यमाण का विवरण।
३९७६.	चारित्र के लिए अभिधारण करने के लाभ।
३९७७,३९७८.	अभिधार्यमाण किसकी निश्रा में ?
३९७९.	अर्थप्रदाता की बलवत्ता का कथन।
३९८०.	श्रुतसम्पत् का विवरण।
३९८१-३९९३.	सुख-दुःख उपसम्पदा का प्रतिपादन।
३९९३-९९.	मार्गोपसम्पद् का विवरण।
४०००-४००७.	विनयोपसम्पद् का विवरण।
४००८,४००९.	आभवत् व्यवहार का उपनय।
४०१०-४०१९.	प्रायश्चित्त व्यवहार के चार प्रकार।
४०२०-४०२२.	मागध आदि के दृष्टान्तों से मन से कराना तथा मन से अनुज्ञा।
४०२३,४०२४.	काया से अनुज्ञा।
४०२५-४०२७.	प्रमाद विषयक प्रायश्चित्त में नानात्व क्यों ?
४०२८.	पांच व्यवहारों के नाम।
४०२९-४०३६.	आगम व्यवहार के भेद-प्रभेद।
४०३७.	आगमतः परोक्ष व्यवहारी कौन?
४०३८.	श्रुत से व्यवहार करने वाले आगमव्यवहारी कैसे ?
४०३९.	जानने की अपेक्षा केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी की समानता।
४०४०,४०४१.	प्रत्यक्षज्ञानी और परोक्षज्ञानी में प्रायश्चित्त दान की समानता।
४०४२-४०४५.	प्रत्यक्षज्ञानी एवं परोक्षज्ञानी प्रदत्त प्रायश्चित्त में शिष्य का प्रश्न और गुरु का उत्तर।
४०४६,४०४७.	प्रत्यक्षज्ञानी एवं परोक्षज्ञानी के ज्ञान विषयक धमक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का दृष्टान्त।
४०४८-४०४९. श्रुतज्ञानी और प्रत्यक्षज्ञानी विशोधि के ज्ञाता।
४०५०-४०५३. विशोधि की विधि।
४०५४. आगमव्यवहारी के सामने आलोचना करने के गुण।
४०५५. द्रव्य पर्याय आदि से आलोचना की परिशुद्धि।
४०५६-४०६०. अज्ञान, भय आदि कारणों से प्रतिसेवना।
४०६१.४०६२. प्रतिसेवना के कारणों का आगम-विमर्श।
४०६३. आप्त की परिभाषा।
४०६४-४०६९. आगमव्यवहारी प्रायश्चित्त कब और कैसे देते हैं ?
४०७०-४०७९. आलोचनार्ह कौन ?
४०८०-४०८२. आचार्य की आठ संपदाएं तथा उनके भेद-प्रभेद।
४०८३-४०८६. आचार संपदा के चार प्रकार।
४०८७-४०९०. श्रुत संपदा के चार प्रकार।
४०९१-४०९४. शरीर संपदा के चार प्रकार।
४०९५-४०९७. वचन संपदा के चार प्रकार।
४०९८-४१०३. वाचना संपदा के चार प्रकार।
४१०४-४११५. मति संपदा के चार प्रकार।
४११६-४१२४. संग्रह परिज्ञा के चार प्रकार।
४१२५-४१२८. व्यवहार समर्थ के ३६ स्थान।
४१२९-३१३१. विनयप्रतिपत्ति के चार भेद।
४१३२-४१३९. आचार विनय के चार प्रकार तथा उनका विवरण।
४१४०-४१४२. श्रुत विनय के चार प्रकार तथा उनका विवरण।
४१४३-४१४९. विक्षेपणा विनय का विवरण।
४१५०-४१५५. दोष-निर्घातन विनय के प्रकार तथा उनका विवरण।
४१५६. छत्तीस स्थानों में कुशल ही आगमव्यवहारी।
४१५७-४१६२. आगमव्यवहारी के अन्यान्य गुण।
४१६३,४१६४. वर्तमान में आगमव्यवहारी एवं चारित्र शुद्धि का व्यच्छेद।
४१६५. चतुर्दश पूर्वधर का व्यवच्छेद।
४१६६. केवली आदि के व्यवच्छेद से क्या प्रायश्चित्त का भी व्यवछेद ?
४१६७. प्रायश्चित्त के व्यवच्छेद से चारित्र-निर्यापकों की व्यवच्छित्ति कैसे ?
४१६८-४१७१. परोक्षज्ञानी द्वारा प्रायश्चित्त देना महान् पाप, कारण का निर्देश।
४१७२. व्यवच्छित्ति के विषय में आचार्य का उत्तर।
४१७३. निशीथ, कल्प और व्यवहार का निर्यूहण नौवें पूर्व से।
४१७४. दस प्रकार के प्रायश्चित्त तथा आठ प्रायश्चित्त का विधान कब तक ?
४१७५-४१७९. प्रायश्चित्तों की यथावत् अवस्थिति में चक्रवर्ती के वर्धकिरत्न का उदाहरण।
४१८०. प्रायश्चित्त के दस प्रकार।
४१८१-४१८३. अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त चतुर्दशपूर्वी के साथ विच्छिन्न।
४१८४-४१८७. पुलाक आदि पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ तथा उनके प्रायश्चित्तों का विवरण।
४१८८-४१९३. सामायिक आदि पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ तथा उनके प्रायश्चित्तों का विधान।
४१९४-४२०३. प्रायश्चित्तों के वाहक क्यों नहीं ? धनिक का दृष्टान्त।
४२०४-४२१२. तीर्थ की अव्यवच्छित्ति का उपाय—उपयुक्त प्रायश्चित्त दान, तिल का दृष्टान्त।
४२१३,४२१४. दर्शन और ज्ञान से ही तीर्थ की रक्षा, पक्ष-विपक्ष का विवरण।
४२१५. प्रायश्चित्त के बिना चारित्र की अवस्थिति नहीं।
४२१६. चारित्र के बिना निर्वाण नहीं।
४२१७. तीर्थ और निर्ग्रन्थ अन्योन्याश्रित।
४२१८. चारित्र की धुरा : महाव्रत और समिति की आराधना।
४२१९. तीर्थ की धुरा : ज्ञान और दर्शन की आराधना।
४२४०. निर्यापकों के प्रकार एवं उनकी अव्यवच्छित्ति।
४२२१-४२२६. तीन प्रकार के अनशनों का विवरण।
४२२७-४२३०. निर्व्याघात भक्तपरिज्ञा से संबंधित द्वारों का उल्लेख।
४२३१-४२३५. भक्तपरिज्ञा के लिए गणनिस्सरण और परगणगमन के गुणों का वर्णन।
४२३६,४२३७. प्रशस्त अध्यवसायों में आरोहण का उल्लेख।
४२३८-४२५०. संलेखना के प्रकार, १२ वर्ष में की जाने वाली तपस्या का विवरण।
४२५१-४२६४. अगीतार्थ के पास अनशन करने के अनेक दोष अतः गीतार्थ की मार्गणा करने का निर्देश।
४२६५-४२६७. असंविग्न के समीप अनशन करने के दोष और प्रायश्चित्त।
४२६८-४२७२. संविग्न की मार्गणा का निर्देश।
४२७३-४२७५. अनशन में अनेक निर्यापक रखने का निर्देश।
४२७६-४२७९. अनशन की पारगामिता के लिए देवता आदि का सहयोग, तद्विषयक कंचनपुर की घटना।
४२८०,४२८१. अनशनकर्त्ता का व्याघात कैसे ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२८२-४२८४. गच्छ को पूछे बिना अनशन करने वाले आचार्य को प्रायश्चित्त तथा अनापृच्छा के दोष।

४२८५-४२९४. अनशनकर्त्ता की गच्छ, आचार्य तथा अन्य मुनियों द्वारा परीक्षा, कोंकणक तथा अमात्य का दृष्टान्त।

४२९५-४३००. अनशनकर्त्ता की शोधि का उपाय—आलोचना।

४३०१. आलोचना के गुण।

४३०२-४३१०. ज्ञान, दर्शन, चारित्र संबंधी अतिचारों की आलोचना।

४३११-४३१५. अनशनकर्त्ता के लिए प्रशस्तस्थान का निर्देश।

४३१६-४३१९. अनशनकर्त्ता के लिए प्रशस्त वसति का निर्देश।

४३२०-४३२३. अनशनकर्त्ता के लिए निर्यापकों के गुण और कर्त्तव्य।

४३२४-४३३२. अनशनकर्त्ता को चरम आहार देने के गुण।

४३३३,४३३४. चरमाहार में द्रव्य-संख्या की परिहानि।

४३३५-४३३७. अनशनकर्त्ता के प्रति प्रतिचारकों का कर्त्तव्य।

४३३८-४३३४१. प्रतिचारक और प्रतिचर्य के महान् निर्जरा कब ? कैसे ?

४३४२-४४. अनशनकर्त्ता के लिए संस्तारक का स्वरूप।

४३४५,४३४६. अनशनकर्त्ता का उद्वर्तन विषयक विवेक।

४३४७-४३५९. अनशनकर्त्ता को समाधि उत्पन्न करने के उपाय।

४३६०-४३७०. अनशनकर्त्ता द्वारा आहार-पानी मांगने पर प्रतिचारकों का कर्त्तव्य।

४३७१-४३७३. अनशनकर्त्ता को आहार के बिना समाधि न होने पर आहार देने का निर्देश।

४३७४-४३७६. कालगत अनशनकर्त्ता का चिडकरण, प्रकार और विधि।

४३७७-४३८०. भक्तपरिज्ञा अनशन में व्याघात आने पर गीतार्थ द्वारा प्रयुक्त उपाय।

४३८१-४३९०. व्याघातिम बालमरण के हेतु।

४३९१. इंगिनीमरण अनशन और पांच तुलाएं।

४३९२-४३९४. भक्तपरिज्ञा और इंगिनीमरण में अन्तर।

४३९५-४३९८. पादोपगमन (प्रायोपगमन) अनशन का स्वरूप और विधि।

४३९९. प्रायोपगमन अनशनकर्त्ता के भेदविज्ञान का चिन्तन।

४०००. प्रायोपगमन अनशनकर्त्ता के मेरु की भांति अप्रकंपध्यान।

४४०१. प्रायोपगमन अनशनकर्त्ता की अर्हता।

४४०२,४४०३. अनशनकर्त्ता के देव और मनुष्यों द्वारा अनुलोम-प्रतिलोम द्रव्यों का मुख में प्रक्षेप और उसका विवरण।

४४०४. अनशनकर्त्ता का संहरण।

४४०५. अनशनकर्त्ता की फलश्रुति।

४४०६. अनशनकर्त्ता को अनुलोम उपसर्गों में सम रहने का निर्देश।

४४०७,४४०८. पूर्वभव के प्रेम से देवता द्वारा अनशनकर्त्ता का संहरण।

४४०९-४४१३. पुरुषद्वेषिणी विभिन्न गुणकलित राजकन्या द्वारा बत्तीस लक्षणधर अनशनी का ग्रहण तथा उसके द्वारा की जाने वाली चेष्टाएं।

४४१४-४४१६. अनशनी के अचलित होने पर उस कन्या द्वारा शिला-प्रक्षेप तथा अनशनी के महान् निर्जरा।

४४१७,४४१८. मुनि सुव्रतस्वामी के शिष्य स्कन्दक का वृत्तान्त।

४४१९,४४२०. श्वापदों द्वारा खाए जाने पर तथा अग्नि से जलाए जाने पर भी पादपोपगत का अविचलन।

४४२१,४४२२. चिलातिपुत्र की सहनशीलता के समान प्रायोपगमन अनशनकर्त्ता की सहनशीलता।

४४२३-४४२९. प्रायोपगमन अनशनी के निष्प्रतिकर्म का कालायवेसी, अवंतीसुकुमाल आदि अनेक दृष्टान्तों से समर्थन।

४४३०,४४३१. आचार्य भद्रबाहु निर्यूढ पांच व्यवहारात्मक श्रुत।

४४३२,४४३३. श्रुतव्यवहारी कौन?

४४३४,४४३५. कल्प और व्यवहारी की निर्युक्ति का ज्ञाता ही श्रुतव्यवहारी।

४४३६. कल्प और व्यवहार का निर्यूहण क्यों ? श्रुत व्यवहारी का स्वरूप।

४४३७-४४३९. आज्ञाव्यवहारी का स्वरूप और विवरण।

४४४०-४४५८. दुरस्थ आचार्य के पास आलोचना करने की विधि में आज्ञाव्यवहार का निर्देश तथा शिष्य की परीक्षा-विधि।

४४५९,४४६०. आलोचना के अठारह स्थान।

४४६१-४४६७. दर्पप्रतिसेवना और कल्पप्रतिसेवना के विविध विकल्प।

४४६८-४५०२. दर्प प्रतिसेवना और कल्पप्रतिसेवना के ३४ प्रकार की आलोचना का क्रम।

४५०३-४५०६. धारणा के एकार्थक तथा उनके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ।

४५०७-४५११. धारणा व्यवहार किसके प्रति ?

४५१२-४५२०. धारणा व्यवहार प्रयोक्ता की विशेषताएं।

४५२१,४५२२. जीत व्यवहार का स्वरूप।

४५२३. जीतव्यवहार कब से ? शिष्य का प्रश्न।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४५२४,४५२५. प्रथम संहनन, चतुर्दश पूर्वधरों की व्यवच्छित्ति के साथ व्यवहार चतुष्क का लोप मानने वालों का निराकरण और प्रायश्चित्त।

४५२६,४५२७. जंबूस्वामी के निर्वाण के बाद १२ अवस्थाओं का व्यवच्छेद।

४५२८. चतुर्दशपूर्वी की व्यवच्छित्ति होने पर तीन वस्तुओं का व्यवच्छेद—प्रथम संहनन, प्रथम संस्थान, अन्तर्मूहूर्त्त में चौदह पूर्वों का परावर्तन।

४५२९,४५३०. व्यवहार चतुष्क के धारकों का विवरण।

४५३१. चौदहपूर्वी के व्यवच्छेद होने पर व्यवहार चतुष्क का व्यच्छेद मानना मिथ्या।

४५३२. तित्थोगाली में सूत्रों के व्यवच्छेद का विवरण।

४५३३-४५४९. जीत व्यवहार के विविध प्रयोग।

४५५०-४५५३. पांच प्रकार के व्यवहारों का गुणोत्कीर्तन।

४५५४-४५६६. चार प्रकार के पुरुष—अर्थकर, मानकर, उभयकर, नोउभयकर का विवरण तथा शक राजा का दृष्टान्त।

४५६७-४५७०. चार प्रकार के पुरुष—गणार्थकर आदि तथा राजा का दृष्टान्त।

४५७१,४५७२. चार प्रकार के पुरुष—गणसंग्रहकर आदि।

४५७३,४५७४. चार प्रकार के पुरुष—गणशोभकर आदि।

४५७५,४५७६. चार प्रकार के पुरुष—गणशोधिकर आदि।

४५७७-४५८०. लिंग और धर्म के आधार पर चार प्रकार के पुरुष।

४५८१-४५८४. गणसंस्थिति और धर्म के आधार पर चार प्रकार के पुरुष।

४५८५-४५८८. प्रियधर्म और दृढ़धर्म के आधार पर पुरुषों के चार प्रकार।

४५८९-४५९४. चार प्रकार के आचार्य।

४५९५,४५९६. चार प्रकार के अंतेवासी।

४५९७-४६०१. तीन प्रकार की स्थविरभूमियां।

४६०२-४६०६. तीन शैक्षभूमियां।

४६०७. परिणामक के दो प्रकार—आज्ञा परिणामक, दृष्टान्त परिणामक।

४६०८. आज्ञा परिणामक का विवरण।

४६०९. दृष्टान्त परिणामक का स्वरूप।

४६१०-४६१२. दृष्टान्त परिणामक में विविध दृष्टान्तों द्वारा श्रद्धा का उत्पादन।

४६१३-४६२४. इन्द्रियावरण और विज्ञानावरण विषयक वर्णन।

४६२५-४६२८. षड्जीवनिकाय में जीवत्व सिद्धि।

४६२९-४६३५. जड्ड के प्रकार और विवरण।

४६३६. जलमूक आदि व्यक्ति दीक्षा के अयोग्य।

४६३७-४६४४. प्रव्रजित करने के विषय में व्यक्ति विशेष का विवरण।

४६४५. प्रव्रज्या की अल्पतम वय का निर्देश।

४६४६-४६५१. आठ वर्ष से कम बालक में चारित्र की स्थिति नहीं, कारणों का निर्देश।

४६५२-४६५४. आचारप्रकल्प—निशीथ के उद्देशन का कालमान।

४६५५-४६५९. सूत्रकृतांग, स्थानांग आदि आगमों के अध्ययन की दीक्षा पर्यायकाल।

४६६०. द्वादशवर्ष पर्याय वाले मुनि को अरुणोपपात, वरुणोपपात आदि पांच देवताधिष्ठित सूत्रों का अध्ययन विहित।

४६६१,४६६२. अरुणोपपात आदि के परावर्तन से देवता की उपस्थिति।

४६६३-४६६५. तेरह वर्ष की संयम पर्याय वाले मुनि के लिए उत्थान श्रुत आदि चार ग्रंथों का अध्ययन विहित तथा इन ग्रंथों के अतिशयों का कथन।

४६६६. चौदह वर्ष के संयम पर्याय वाले मुनि के लिए स्वप्नभावना ग्रंथ का अध्ययन विहित।

४६६७. पन्द्रह वर्ष के संयमपर्याय वाले मुनि के लिए चारणभावना ग्रंथ का अध्ययन विहित और उससे चारणलब्धि की उत्पत्ति का कथन।

४६६८-४६७०. तेजोनिसर्ग आदि ग्रंथ के अध्ययन का संयम पर्याय काल और उन ग्रंथों का अतिशय।

४६७१. प्रकीर्णकों तथा प्रत्येक बुद्धों की संख्या का कथन।

४६७२,४६७३. प्रकीर्णक को पढ़ाने से विपुल निर्जरा।

४६७४. आचारांग आदि अंगों के अध्ययन की विधि।

४६७५-४६८१. दस प्रकार की वैयावृत्त्य और उनकी क्रियान्विति के तेरह पद।

४६८२,४६८३. साधर्मिक के प्रति वैयावृत्त्य का विशेष निर्देश।

४६८४-४६८८. तीर्थंकर के वैयावृत्त्य का कथन क्यों नहीं ? शिष्य का प्रश्न और आचार्य का उत्तर।

४६८९. दस प्रकार के वैयावृत्त्य से एकान्त निर्जरा।

४६९०. ज्ञाननय और चरणनय का कथन।

४६९१. नय की परिभाषा।

४६९२. ज्ञाननय और क्रियानय में शुद्धनय कौन ?

४६९३. कल्प और व्यवहार के मूल भाष्य के अतिरिक्त सारा विस्तार पूर्वाचार्य कृत।

४६९४. भाष्य के अध्ययन की निष्पत्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीठिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीठिका

१. **ववहारो ववहारी, ववहरियव्वा य जे जहा पुरिसा।**
एतेसिं तु पयाणं, पत्तेय परूवणं वोच्छं॥

व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य (जो पुरुष जिस रूप में व्यवहार करने योग्य हैं)—मैं इन तीन पदों में से प्रत्येक पद की प्ररूपणा करूंगा।

२. **ववहारी खलु कत्ता, ववहारो होति करणभूतो उ।**
ववहरियव्वं कज्जं, कुंभादितियस्स जह सिद्धी॥

व्यवहारी है कर्त्ता, व्यवहार है करणभूत और व्यवहर्त्तव्य है कार्य। जैसे कुंभ कहने से कुंभत्रिक—कुंभ, कुंभकार और मिट्टी-तीनों की सिद्धि होती है, वैसे ही व्यवहार के कथन से व्यवहार व्यवहारी और व्यवहर्त्तव्य का ग्रहण हो जाता है[1]।

३. **नाणं नाणी णेयं, अन्ना वा मग्गणा भवे तितए।**
विविहं वा विहिणा वा, ववणं हरणं च ववहारो॥

(कुंभत्रिक की भांति) अन्य त्रिक की मार्गणा यह है—ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञेय[2]।

(व्यवहार पद का निर्वचन) विविध प्रकार से अथवा अर्हत्भाषित विधि के अनुसार वपन करना—तप आदि विशेष प्रायश्चित्त देना तथा हरण करना—अतिचार आदि दोषों का अपनयन करना 'व्यवहार' है।

४. **ववणं ति रोवणं ति य, पकिरण परिसाडणा य एगट्ठं।**
हारो त्ति य हरणं ति य, एगट्ठं हीरते व त्ति॥

वपन शब्द के चार एकार्थक हैं—वपन, रोपण, प्रकिरण और परिशाटन। हरण शब्द के तीन एकार्थक हैं—हार, हरण और ह्रियते। (वपन करना-प्रदान करना। हरण करना—अपनयन करना।)

५. **अत्थी पच्चत्थीणं, हाउं एगस्स ववति बितियस्स।**
एतेण उ ववहारो, अधिगारो एत्थ उ विहीए॥

एक से अर्थात् प्रत्यर्थी से हरण कर (लेकर) दूसरे को अर्थात् अर्थी में वपन करना देना व्यवहार है। इसमें 'हरण' और 'वपन' दोनों क्रियाएं होती हैं इसलिए इसे व्यवहार कहा जाता है। व्यवहार विधिपूर्वक भी होता है और अविधिपूर्वक भी। प्रस्तुत ग्रंथ में विधिपूर्वक व्यवहार का अधिकार है—प्रयोजन है।

६. **ववहारम्मि चउक्कं, दव्वे पत्तादि लोइयादी वा।**
नोआगमतो पणगं, भावे एगट्ठिया तस्स॥

व्यवहार के चार प्रकार हैं—नाम व्यवहार, स्थापना व्यवहार, द्रव्य व्यवहार और भाव व्यवहार। द्रव्य व्यवहार है पत्र आदि पर लिखित पुस्तक। अथवा इसके तीन प्रकार हैं—लौकिक, कुप्रावचनिक तथा लोकोत्तर। नो आगमतः भाव व्यवहार के पांच प्रकार हैं—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत।

७. **सुत्ते अत्थे जीते, कप्पे मग्गे तधेव नाए य।**
तत्तो य इच्छियव्वे, आयरियव्वे य ववहारो॥

भाव व्यवहार के एकार्थक—सूत्र, अर्थ, जीत, कल्प, मार्ग, न्याय, इप्सितव्य, आचरित तथा व्यवहार।

८. **एगट्ठिया अभिहिया, न य ववहारपणगं इहं दिट्ठं।**
भण्णति एत्थेव तयं, दट्ठव्वं अंतगयमेव॥

व्यवहार के जो एकार्थक कहे गये हैं, उनमें व्यवहार पंचक (आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीत) प्राप्त नहीं है।[3] आचार्य कहते हैं कि उन एकार्थकों में ही व्यवहार पंचक द्रष्टव्य है।

९. **आगमसुताउ सुत्तेण, सूइया अत्थतो उ ति-चउत्था।**
बहुजणमाइण्णं पुण, जीतं उचियं ति एगट्ठं॥

---

१. कुंभ है कार्य, कुंभकार है कर्त्ता और चाक आदि है करण। वैसे ही व्यवहारी है प्रायश्चित्त दाता, व्यवहार है प्रायश्चित्त और व्यवहर्त्तव्य है प्रायश्चित्त लेने वाला।

२. जिससे जाना जाता है वह है ज्ञान, जो जानता है वह है ज्ञानी और जो पदार्थ जाना जाता है वह है ज्ञेय।

३. आगम व्यवहारी छह हैं—केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और नौपूर्वी।
श्रुत व्यवहारी—अवशिष्ट पूर्वधर, ग्यारह अंगधारी, कल्प व्यवहार आदि के सूत्रार्थधारी।
आज्ञा व्यवहारी—विशिष्ट गीतार्थ आचार्य क्षीणजंघाबल के कारण अथवा दूरदेशांतर के कारण आने में असमर्थ होने पर उनकी आज्ञा के अनुसार प्रायश्चित्त देना आज्ञा व्यवहार है।
धारणा व्यवहारी—अपना धारणा के आधार पर प्रायश्चित्त देना।
जीत व्यवहारी—अनेक गीतार्थ मुनियों द्वारा आचीर्ण का अनुगमन करना।
(वृत्ति पत्र ६,७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सूत्र' शब्द से आगम और श्रुत–ये दोनों व्यवहार सूचित किये गये हैं। 'अर्थ' शब्द से आज्ञा और धारणा–ये दो व्यवहार गृहीत हैं। अनेक गीतार्थ मुनियों द्वारा आचीर्ण जीत व्यवहार 'जीत' शब्द से गृहीत है।जीत और उचित–ये एकार्थक हैं।

१०. दद्दुरमादिसु कल्लाणगं, तु विगलिंदिएसऽभत्तट्ठो।
परियावण एतेसिं, चउत्थमायंबिला होंति ॥

मेंढक आदि तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों की प्राणहिंसा होने पर पांच कल्याणक, विकलेन्द्रिय (एकेन्द्रिय से चतुः इंद्रिय वाले) जीवों की हिंसा होने पर उपवास तथा मेंढक आदि की परितापना होने पर उपवास और विकलेन्द्रिय की परितापना होने पर आयंबिल का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

११. अपरिण्णा कालादिसु, अपडिक्कंतस्स निव्विगतियं तु।
निव्विगतिय पुरिमड्ढो, अंबिल खमणा य आवासे ॥

अपरिज्ञा अर्थात नवकारसी, पौरुषी आदि दिवस प्रत्याख्यान तथा आहार–पानी का वैकालिक प्रत्याख्यान न करने अथवा किये हुए प्रत्याख्यान का भंग करने तथा स्वाध्याय काल आदिका प्रतिक्रमण न करने या प्रतिक्रमण के निमित्त कायोत्सर्ग न करने पर निर्विकृति (दूध आदि विगयवर्जन) का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

आवश्यक करते समय एक कायोत्सर्ग न करने पर निर्विकृति, दो कायोत्सर्ग न करने पर पुरिमड्ढ, तीनों कायोत्सर्ग न करने पर आचाम्ल तथा आवश्यक न करने पर उपवास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१२. जं जस्स व पच्छित्तं, आयरियपरंपराए अविरुद्धं।
जोगा य बहुविकप्पा, एसो खलु जीयकप्पो उ ॥

जिस गच्छ में आचार्य परंपरा के अविरुद्ध, जो प्रायश्चित्त का विधान है तथा योग-उपधान विषयक अनेक विकल्प हैं, वह जीतकल्प या जीत व्यवहार है।[1]

१३. दव्वम्मि लोइया खलु, लंचिल्ला भावतो उ मज्झत्था।
उत्तरदव्व अगीता, गीता वा लंचपक्खेहिं ॥

१४. पियधम्मा दढधम्मा, संविग्गा चेवऽवज्जभीरू य।
सुत्तत्थ-तदुभयविऊ, अणिस्सियववहारकारी य॥

व्यवहारी के चार प्रकार हैं–नामव्यवहारी, स्थापना-व्यवहारी, द्रव्यव्यवहारी और भावव्यवहारी। द्रव्य व्यवहारी के दो प्रकार हैं–लौकिक द्रव्यव्यवहारी–लंचा-रिश्वत लेकर व्यवहार करने वाले। लोकोत्तर द्रव्यव्यवहारी–अगीतार्थ अवस्था में अर्थात् यथावस्थित व्यवहार के परिज्ञान के अभाव में व्यवहार करने वाले। यहां द्रव्य शब्द अप्रधानवाची है। इसका तात्पर्य है कि वे अप्रधानव्यवहारी हैं। अथवा गीतार्थ होने पर भी लंचा के उपजीवी होकर व्यवहार करने वाले हैं।

लौकिक भावव्यवहारी–मध्यस्थ भाव से व्यवहार करने वाले।

लोकोत्तर भावव्यवहारी–जो प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, भाव-संविग्न, पापभीरू, सूत्रविद्, अर्थविद्, तदुभयविद् तथा अनिश्रितव्यवहारी होता है,वह लोकोत्तर भावव्यवहारी है।

१५. पियधम्मे दढधम्मे, य पच्चओ होइ गीतसंविग्गे।
रागो उ होति निस्सा, उवस्सितो दोससंजुत्तो॥

प्रायश्चित्तदाता यदि प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, गीतार्थ और संविग्न होता है तो उसके प्रति विश्वास होता है।

निश्रा का अर्थ है–राग और उपश्रित(उपश्रा) का अर्थ है–द्वेष-संयुक्त।

१६. अहवा आहारादी, दाहिइ मज्झं तु एस निस्सा उ।
सीसो पडिच्छिओ वा, होति उवस्सा कुलादी वा॥

अथवा प्रायश्चित्तदाता 'यह मुझे आहार आदि लाकर देगा' इस सापेक्षता से प्रायश्चित्त देता है तो यह निश्रा है और यदि 'यह मेरा शिष्य है', 'यह प्रतीच्छक'(अन्यगण से आया हुआ) है, 'यह मेरे मातृकुल या पितृकुल का है' इस अपेक्षा का अभ्युपगम होता है, वह उपश्रा है।

१७. लोए चोरादीया, दव्वे भावे विसोहिकामा य।
जाय-मयसूतगादिसु, निज्जूढा पातगहता य॥

लौकिक व्यवहर्तव्य के दो प्रकार हैं–द्रव्य व्यवहर्तव्य और भाव व्यवहर्तव्य। चोर आदि (परदारिक, घातक, हेरिक) द्रव्य व्यवहर्तव्य हैं। ये विशोधि के इच्छुक नहीं होते। जो विशोधि के इच्छुक होते हैं वे भाव व्यवहर्तव्य हैं। जो पुरुष जन्मसूतक, मृतसूतक तथा शूद्र आदि के घरों में भोजन करने के कारण ब्राह्मणों द्वारा बहिष्कृत कर दिये हों तथा पातकहत हों अर्थात् ब्रह्महत्या, माता-पिता के घातक आदि हों (और यदि वे अपना दोष स्वीकार करते हों) तो ये सभी लौकिक द्रव्य व्यवहर्तव्य हैं।

१८. फासेऊण अगम्मं, भणाति सुमिणे गतो अगम्मं ति।
एमादि लोगदव्वे, उज्जू पुण होति भावम्मि॥

कोई ब्राह्मण अगम्य (पुत्रवधू अथवा चांडाल स्त्री) के साथ मैथुन का सेवन कर प्रायश्चित्त के समय चतुर्वेदी के समक्ष

१. अनेक आचार्यों की परंपरा में नमस्कार आदि प्रत्याख्यान न करने या उनका भंग करने पर प्रायश्चित्त है आचाम्ल। आवश्यकगत कायोत्सर्ग न करने पर पूर्वार्द्ध या एकाशन का प्रायश्चित्त है।

योगवहन –उपधानकरण में भिन्नता है। नागिलकुलवंशी मुनि आचारांग से अनुत्तरोपपातिकदशा तक केवल निर्विकृति। कल्प-व्यवहार तथा चंद्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के लिए कुछेक आचार्य आगाढ़ योग का और कुछेक अनागाढ़ योग का कथन करते हैं–यह सारा गच्छभेद से जीतकल्प है। (वृ. ८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मायापूर्वक कहता है—'मैंने स्वप्न में अगम्य स्त्री के साथ सहवास किया है' 'मैंने स्वप्न में अपेय का पान किया है' ऐसा व्यक्ति भी लौकिक द्रव्य व्यवहर्तव्य है।

जो ऋजुता से आलोचना करता है वह लौकिक भाव व्यवहर्तव्य है।

१९. परपच्चएण सोही, दव्वुत्तरिओ उ होति एमादी।
गीतो व अगीतो वा, सब्भावउवट्ठितो भावे॥

शोधि परप्रत्ययिक—आचार्य, उपाध्याय के द्वारा ही होती है।(आचार्य आदि ने मेरे दोषों को जान लिया है अतः मैं सम्यक् आलोचना करूं) ऐसा सोचकर जो ओलाचना करता है वह लोकोत्तर द्रव्य व्यवहर्तव्य है तथा जो बड़े दोष का सेवन कर आलोचना के समय उसे छोटा बना देता है अथवा स्वकृत दोष को दूसरों पर मढ़ देता है, वह भी लोकोत्तर द्रव्य व्यवहर्तव्य है।

गीतार्थ हो अथवा अगीतार्थ, यदि वह प्रायश्चित्त ग्रहण करने के लिए सद्भाव से उपस्थित है तो वह लोकोत्तर भाव व्यवहर्तव्य है।

२०. अवंकि अकुडिले यावि,कारणपडिसेवि तह य आहच्च।
पियधम्मे य बहुसुते, बितियं उवदेस पच्छित्तं॥

लोकोत्तर भाव व्यवहर्तव्य के गुण—वह अवक्र—संयत, अकुटिल-अमायावी (अक्रोधी, अमानी, अलोभी), कारण उपस्थित होने पर ही प्रतिसेवना करने वाला, कदाचित् अकारण में भी प्रतिसेवी, प्रियधर्मा(दृढधर्मा, संविग्न, पापभीरू, सूत्रार्थविद्) और बहुश्रुत। दूसरे मत के अनुसार अवक्र आदि के प्रतिपक्षी भी व्यवहर्तव्य हैं। अगीतार्थ को उपदेशपूर्वक प्रायश्चित्त दिया जाता है।

२१. आहच्च कारणम्मि य,सेवंतो अजयणं सिया कुज्जा।
एसो वि होति भावे, किं पुण जतणाएँ सेवंतो॥

कदाचित् कोई मुनि प्रयोजनवश अयतनापूर्वक प्रतिसेवना करता है, वह भी भावव्यवहर्तव्य है तो फिर यतनापूर्वक प्रतिसेवना करने वाला भावव्यवहर्तव्य क्यों नहीं होगा?

२२. पडिसेवितम्मि सोधिं, काहं आलंबणं कुणति जो उ।
सेवंतो वि अकिच्चं, ववहरियव्वो स खलु भावे॥

जो मुनि अकृत्य का सेवन करता हुआ इस आलंबन से प्रतिसेवना करता है कि 'मैं अकृत्य का प्रायश्चित्त लेकर विशोधि कर लूंगा' वह भी भावव्यवहर्तव्य होता है।

२३. अधवा कज्जाकज्जे, जताऽजतो वावि सेवितुं साधू।
सब्भावसमाउट्ठो, ववहरियव्वो हवइ भावे॥

अथवा जो मुनि प्रयोजनवश या निष्प्रयोजन भी यतनापूर्वक या अयतना से प्रतिसेवना कर सद्भाव में लौट आता है और अकृत्यकरण से प्रत्यावृत्त होकर गुरु के समीप आलोचना करता है, वह भी भावव्यवहर्तव्य है।

२४. निक्कारण पडिसेवी, कज्जे निद्धंधसो य अणवेक्खो।
देसं वा सव्वं वा, गूहिस्सं दव्वतो एसो॥

जो निष्कारण ही प्रतिसेवना करता है और तथाविध कार्य के समुत्पन्न होने पर भी करुणाहीन और अपेक्षाशून्य हो जाता है (दोष सेवन कर अनुताप नहीं करता) तथा दोष सेवन कर यह सोचता है कि मैं दोषों को देशतः अथवा सर्वतः छिपा लूंगा(कुछ दोष मात्र की आलोचना करूंगा अथवा करूंगा ही नहीं) वह भी द्रव्यव्यवहर्तव्य है।

२५. सो वि हु ववहरियव्वो, अणवत्था वारणं तदन्ने यं।
घडगारतुल्लसीलो, अणुवरतोसन्न मज्झत्ति॥

वह निष्कारण प्रतिसेवी भी द्रव्यव्यवहर्तव्य होता है क्योंकि इससे अनवस्था(बार-बार अकृत्य के सेवन) का निवारण होता है। उसे व्यवहर्तव्य देखकर अन्य मुनि भी अकृत्य से निवृत्त हो जाते हैं। जो उपदेश देने पर भी अकृत्य से उपरत नहीं होता वह कुंभकार सदृश बीच में ही दंडित करने का स्वभाववाला होता है।[1] वह व्यवहर्तव्य नहीं होता।

२६. पियधम्मो जाव सुयं, ववहारण्णा उ जे समक्खाता।
सव्वे वि जहुद्दिट्ठा, ववहरियव्वा य ते होंति॥

जो प्रियधर्मा, दृढधर्मा, संविग्न, पापभीरु, सूत्रवित्, अर्थवित् तथा सूत्रार्थविद् हैं, उन्हें व्यवहारज्ञ कहा गया है। यथोक्तस्वरूप वाले ये सभी भावव्यवहर्तव्य होते हैं।

२७. अग्गीतेणं सद्धिं, ववहरियव्वं न चेव पुरिसेणं।
जम्हा सो ववहारे, कयम्मि सम्मं न सद्दहति॥

अगीतार्थ पुरुष व्यवहर्तव्य नहीं होता क्योंकि उसके प्रति यथोचित व्यवहार करने पर भी वह उस व्यवहार पर सम्यक् श्रद्धा नहीं करता(वह यही सोचता है कि यह व्यवहार परिपूर्ण नहीं है।)

२८. दुविहम्मि वि ववहारे, गीतत्थो पट्ठविज्जती जं तु।
तं सम्मं पडिवज्जति, गीतत्थम्मी गुणा चेव॥

व्यवहार के दो प्रकार हैं—प्रायश्चित्त व्यवहार और आभवत् व्यवहार। इन दोनों में गीतार्थ को ही प्रज्ञप्ति दी जाती है क्योंकि वह उन्हें सम्यक्रूप से स्वीकार करता है। गीतार्थ में गुण ही होते हैं, अवगुण नहीं।

२९. सच्चित्तादुप्पण्णे, गीतत्था सति दुवेण्ह गीताणं।
एगतरे उ निउत्ते, सम्मं ववहारसद्दहणा॥

३०. गीतो यऽणाइयंतो, छिंद तुमं चेव छंदितो संतो।
कहमंतरं ठावेति, तित्थगराणंतरं संघं॥

१. देखें—व्यवहार भाष्य, परिशिष्ट ८, कथा २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो गीतार्थ मुनि साथ-साथ विहार कर रहे थे। उन्हें सचित्त आदि (शिष्य, उपकरण) की प्राप्ति हुई। दोनों में विवाद हुआ। व्यवहार परिच्छेद का प्रसंग उपस्थित होने पर, एक गीतार्थ ने दूसरे को गीतार्थ (व्यवहार-परिच्छेदक) नियुक्त किया जिससे सम्यक् व्यवहार की प्रतिपत्ति हो सके।

जो गीतार्थ पारस्परिक विवाद का अतिक्रमण(समापन) नहीं कर पाता वह अपने साथी गीतार्थ को कहता है–'तुम ही इस व्यवहार का परिच्छेद करो।' इस प्रकार निमंत्रित होने पर वह चिंतन करता है–इसने इस व्यवहार में प्रमाण मानकर मुझे तीर्थंकर की अविच्छिन्न संघ परंपरा में स्थापित किया है अतः लोभ आदि से व्यवहार का लोप कर मैं संघ को तीर्थंकर से अंतरित (विच्छिन्न) कैसे स्थापित कर सकता हूं?

३१. पियधम्मे दढधम्मे, संविग्गे चेव जे उ पडिवक्खा।
ते वि हु ववहरियव्वा, किं पुण जे तेसि पडिवक्खा॥

(शिष्य ने पूछा–जो प्रियधर्मा आदि यदि प्रमादी हैं तो वे व्यवहर्तव्य कैसे?)

आचार्य बोले–जो प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविग्न के प्रतिपक्षी–अप्रियधर्मा, अदृढधर्मा, असंविग्न हैं, वे भी व्यवहर्तव्य हैं तो फिर जो अप्रियधर्मा आदि के प्रतिपक्षी–प्रियधर्मा आदि हैं वे तो व्यवहर्तव्य हैं ही।

३२. बितियमुवएस अवंकादियाण जे होंति तु पडिवक्खा।
ते वि हु ववहरियव्वा, पायच्छित्ताऽऽभवंते य॥

इस विषयक दूसरा आदेश (मत) यह है–अवक्र आदि के प्रतिपक्षी जो वक्र आदि हैं वे भी आभवत् प्रायश्चित्त की अपेक्षा से व्यवहर्तव्य हैं।

३३. उवदेसो उ अगीते, दिज्जति बितिओ उ सोधि ववहारो।
गहिते वि अणाभव्वे, दिज्जति बितियं तु पच्छित्तं॥

अगीतार्थ को पहले उपदेश दिया जाता है फिर वह शोधि व्यवहार–शोधि के लिए अनाभाव्य प्रायश्चित्त लेता है। यह द्वितीय है। अनाभाव्य प्रायश्चित्त प्राप्त व्यक्ति को भी पहले उपदेश दिया जाता है और फिर उसे पहले आभाव्य प्रायश्चित्त और बाद में दान प्रायश्चित्त दिया जाता है। यह द्वितीय है।

३४. पायच्छित्तनिरुत्तं, भेदा जत्तो परूवणपुहुत्तं।
अज्झयणाण विसेसो, तदरिहपरिसा य सुत्तत्थो॥

प्रायश्चित्त के प्रतिपाद्य विषय–

१. प्रायश्चित्त का निर्वचन।

२. प्रायश्चित्त के भेद।

३. प्रायश्चित्त का निमित्तों के आधार पर प्ररूपणा-बाहुल्य।

४. कल्पाध्ययन और व्यवहाराध्ययन का नानात्व।

५. प्रायश्चित्तार्ह परिषद्।

६. सूत्रार्थ।

३५. पावं छिंदति जम्हा, पायच्छित्तं तु भण्णते तेण।
पाएण वा वि चित्तं, विसोहए तेण पच्छित्तं॥

जिससे अपराध–संचित पाप नष्ट होता है उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है। जो चित्त[1] जीव का प्रायः विशोधन करता है, वह है प्रायश्चित्त।

३६. पडिसेवणा य संजोयणा य आरोवणा य बोधव्वा।
पलिउंचणा चउत्थी, पायच्छित्तं चउद्धा उ॥

प्रायश्चित्त के चार भेद हैं–प्रतिसेवना, संयोजना, आरोपणा और परिकुंचना।

३७. पडिसेवओ य पडिसेवणा य पडिसेवितव्वगं चेव।
एतेसिं तु पयाणं, पत्तेय परूवणं वोच्छं॥

प्रतिसेवक, प्रतिसेवना और प्रतिसेवितव्य–इन तीनों में से प्रत्येक की प्ररूपणा करूंगा।

३८. पडिसेवओ सेवंतो, पडिसेवण मूलउत्तरगुणे य।
पडिसेवियव्वदव्वं, रूविव्व सिया अरूविव्व॥

प्रतिसेवक–अकल्पनीय का सेवन करने वाला।

प्रतिसेवना–मूल और उत्तरगुण विषयक अकल्पनीय का समाचरण।

प्रतिसेवितव्य–प्रतिसेवनीय रूपी अथवा अरूपी द्रव्य।[2]

३९. पडिसेवणा तु भावो,
सो पुण कुसलो व होज्जऽकुसलो वा।
कुसलेण होति कप्पो,
अकुसलपरिणामतो दप्पो॥

प्रतिसेवना के दो प्रकार हैं–द्रव्य प्रतिसेवना और भाव प्रतिसेवना। भाव प्रतिसेवना जीव का अध्यवसाय है। उसके दो भेद हैं–कुशल (ज्ञान आदि रूप) तथा अकुशल (अविरति आदि रूप)। कुशल परिणाम से की गयी प्रतिसेवना कल्पिका प्रतिसेवना और अकुशल परिणाम से की गयी प्रतिसेवना दर्पिका प्रतिसेवना कहलाती है।

४०. नाणी न विणा नाणं, णेयं पुण तेसऽणन्नमन्नं च।
इय दोण्हमणाणत्तं, भइयं पुण सेवितव्वेण॥

ज्ञान के बिना ज्ञानी नहीं होता (दोनों में एकत्व है)। इसी

---

१. चूर्णीकृत् चित्त इति जीवस्याख्येति (वृ.पत्र१५)

२. रूपी द्रव्य–प्रतिसेवनीय आधाकर्म ओदन आदि।
अरूपी द्रव्य–प्रतिसेवनीय मृषावाद के विषयरूप में आकाश आदि। (वृ. पत्र १६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार प्रतिसेवक और प्रतिसेवना में एकत्व है। ज्ञान और ज्ञानी से ज्ञेय अन्य भी है और अनन्य भी है। इसी प्रकार प्रतिसेवितव्य से प्रतिसेवक का कदाचित् अनानात्व और कदाचिद् नानात्व होता है।[1] प्रतिसेवना प्रतिसेवक का अध्यवसाय है, अतः दोनों में एकत्व है। स्त्री संबंधी प्रतिसेवना में प्रतिसेवक में नानात्व है क्योंकि स्त्री प्रतिसेवक से भिन्न है।

४१. मूलगुण-उत्तरगुणे, दुविहा पडिसेवणा समासेणं।
मूलगुणे पंचविहा, पिंडविसोहादिया इयरा॥

प्रतिसेवना संक्षेप में दो प्रकार की है—मूलगुण विषयक प्रतिसेवना तथा उत्तरगुण विषयक प्रतिसेवना। मूलगुण विषयक प्रतिसेवना के पांच प्रकार है—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रहरूप। उत्तरगुण विषयक प्रतिसेवना के पिंड-विशुद्धि आदि अनेक प्रकार हैं।

४२. सा पुण अइक्कम वइक्कमे य अतियार तह अणायारे।
संरंभ समारंभे, आरंभे रागदोसादी॥

समस्त उत्तरगुण प्रतिसेवना के चार प्रकार हैं—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। मूलगुण प्रतिसेवना के तीन प्रकार हैं—राग, द्वेष और अज्ञान।

४३. आधाकम्मनिमंतण, पडिसुणमाणे अतिक्कमो होति।
पदभेदादि वतिक्कम, गहिते ततिएतरो गिलिए॥

आधाकर्म आहार आदि का निमंत्रण स्वीकार करना अतिक्रम है। (मुनि निमंत्रण स्वीकार कर उठता है, पात्रों को व्यवस्थित कर गुरु के पास आकर भिक्षाचर्या के लिए जाने की अनुमति लेता है, यह सारा अतिक्रम है।) मुनि अपने स्थान से प्रस्थान करता है (मार्ग में चलकर घर में प्रवेश करता है और पात्र को फैलाता है) यह व्यतिक्रम है। पात्र में भोजन ग्रहण करता है (गुरु के पास आता है, भोजन मंडली में बैठकर कवल को मुंह में डालता है,पर अभी तक कवल को निगला नहीं है) यह अतिचार है। कवल को निगल जाने पर अनाचार दोष प्राप्त होता है।

४४. तिन्नि य गुरुकामा सा, विसेसिया तिण्ह व अह गुरुअंते।
एते चेव उ लहुया, विसोधिकोडीय पच्छित्ता॥

अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार ये तीनों में प्रत्येक के तप और काल से विशिष्ट मासगुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अनाचार में चार मासगुरु का प्रायश्चित्त आता है। (यह विधान अविशोधि कोटि के अतिक्रम आदि के लिए है।) विशोधिकोटिक अतिक्रम आदि के लिए लघुमास का प्रायश्चित्त है। (ये लघुमास भी क्रमशः तप और काल से विशेषित होते हैं।)

४५. पाणिवह-मुसावाए, अदत्त-मेहुण-परिग्गहे चेव।
मूलगुणे पंचविहे, परूवणा तस्सिमा होति॥

मूलगुण विषयक पांच प्रकार की प्रतिसेवना—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह। इस पंचविध प्रतिसेवना के भेद-प्रभेद की प्ररूपणा इस प्रकार है।

४६. संकप्पो संरंभो, पारितावकरो भवे समारंभो।
आरंभो उद्दवतो, सव्वनयाणं पि सुद्धाणं[2]॥

प्राणातिपात का संकल्प करना संरंभ है। दूसरों को परितप्त करने वाली प्रवृत्ति समारंभ है और प्राणव्यपरोपण करना आरंभ है। सभी अशुद्ध नयों द्वारा ये तीनों सम्मत हैं।

४७. सव्वे वि होंति सुद्धा, नत्थि असुद्धो नयो उ सद्दाणे।
पुव्वा व पच्छिमाणं, सुद्धा ण उ पच्छिमा तेसिं॥

नैगम आदि सभी सातों नय स्वस्थान अर्थात् अपनी-अपनी वक्तव्यता में शुद्ध हैं। स्वस्थान में कोई भी नय अशुद्ध नहीं है। प्रथम तीन नय—नैगम, संग्रह और व्यवहार—ये अंतिम चार नयों—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत की अपेक्षा शुद्ध हैं।

४८. वेणइए मिच्छत्तं, ववहारनया उ जं विसोहिंति।
तम्हा तेच्चिय सुद्धा, भइयव्वं होति इयरेहिं॥

नैगम, संग्रह और व्यवहार—ये तीन नय वैनयिक (मिथ्यादृष्टि) में मिथ्यात्व का विशोधन करते हैं इसलिए ये शुद्ध हैं। ऋजुसूत्र चार नयों द्वारा मिथ्यात्व—विशोधि वैकल्पिक है, होती भी है और नहीं भी होती।

४९. ववहारनयस्सायां, कम्मं काउं फलं समणुहोति।
इति वेणइए कहणं, विसेसणे माहु मिच्छत्तं॥

व्यवहारनय के मतानुसार आत्मा कर्म(शुभ-अशुभ) करती है और उनके फल का अनुभव करती है। इसलिए वैनयिक(मिथ्यादृष्टि) को मिथ्यात्व के अपनयन के लिए धर्मोपदेश दिया जाता है। विशेषण अर्थात् भेदप्रधान ऋजु सूत्र आदि नयों के अभिमत में जीव मिथ्यात्व को प्राप्त न हों, इस आशंका से धर्मोपदेश की प्रवृत्ति नहीं होती।

५०. संकप्पादी ततियं, अविसुद्धाणं तु होति उ नयाणं।
इयरे बाहिरवत्थुं, नेच्छंताया जतो हिंसा॥

अविशुद्ध नयों के अभिमत में संकल्पत्रिक (संरंभ, समारंभ

---

१. जब प्रतिसेवक हस्तकर्म आदि करता है तब प्रतिसेवक और प्रतिसेवितव्य का एकत्व होता है। जब प्रतिसेवक प्रमत्तता से हिंसा आदि में प्रवृत्त होता है तब वह प्रतिसेवितव्य से नानात्व है।

२. शुद्धाणमित्यत्र प्राकृतत्वात् पूर्वस्याकारस्य लोपो द्रष्टव्यः।
(वृ. पत्र १८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और आरंभ) सम्मत है। ऋजुसूत्र आदि शुद्ध नय बाह्य वस्तुगत हिंसा नहीं मानते। उनके मत में आत्मा ही हिंसा है, हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है।

५१. चोएइ किं उत्तरगुणा, पुव्वं बहुय-थोव-लहुयं च।
अतिसंकिलिट्ठभावो, मूलगुणे सेवते पच्छा॥

शिष्य ने पूछा—मूलगुण प्रतिसेवना से पूर्व उत्तरगुण प्रतिसेवना का कथन क्यों किया गया? आचार्य ने कहा—उत्तरगुण बहुत हैं, मूलगुण अल्प हैं। उत्तरगुणों की प्रतिसेवना लघुक—शीघ्र हो जाती है। मूलगुणों की प्रतिसेवना अतिसंक्लिष्ट भावों से होती है। इसलिए मूलगुणों की प्रतिसेवना का कथन बाद में किया है।

५२. पडिसेवियम्मि दिज्जति, पच्छित्तं इहरहा उ पडिसेहे।
तेण पडिसेवणच्चिय पच्छित्तं वा इमं दसहा॥

प्रतिसेवना होने पर प्रायश्चित्त दिया जाता है अन्यथा प्रायश्चित्त का प्रतिषेध है। इसलिए कारण में कार्य का उपचार कर प्रतिसेवना को ही प्रायश्चित्त कहा गया है। उसके दस भेद हैं।

५३. आलोयण पडिकमणे, मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे।
तव-छेय-मूल-अणवट्ठया य पारंचिए चेव॥

प्रायश्चित्त के दस प्रकार ये हैं—१. आलोचना २. प्रतिक्रमण ३. तदुभय ४. विवेक ५. व्युत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. मूल ९. अनवस्थित १०. पारांचित।

५४. आलोयण त्ति का पुण, कस्स सगासे व होति कायव्वा।
केसु व कज्जेसु भवे, गमणागमणादिएसुं तु॥

आलोचना[1] क्या है? वह किसके पास करनी चाहिए? वह किस प्रकार के कार्यों (आचरणों) में की जाये? गमनागमन आदि आवश्यक कार्यों की आलोचना की जाती है।

५५. बितिए नत्थि वियडणा, वा उ विवेगे तधा विउस्सग्गे।
आलोयणा उ नियमा, गीतमगीते य केसिंचि॥

दूसरा है प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त। इसमें आलोचना नहीं की जाती। विवेकार्ह और व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित्त में आलोचना वैकल्पिक है—कभी की जाती है और कभी नहीं। नियमतः आलोचना गीतार्थ के पास ही करनी चाहिए। कुछेक आचार्यों का अभिमत है कि गीतार्थ की अनुपस्थिति में अगीतार्थ के पास भी की जा सकती है।

५६. करणिज्जेसु उ जोगेसु, छउमत्थस्स भिक्खुणो।
आलोयणा व पच्छित्तं, गुरुणं अंतिए सिया॥

अवश्यकरणीय संयम योगों के लिए छद्मस्थ भिक्षु को गुरु के पास आलोचना प्रायश्चित्त करना चाहिए।[2]

५७. भिक्ख-वियार-विहारे, अन्नेसु य एवमादिकज्जेसु।
अविगडियम्मि अविणओ, होज्ज असुद्धे व परिभोगो॥

भिक्षाचर्या, उच्चारभूमि तथा स्वाध्यायभूमि से तथा इसी प्रकार के अन्यान्य कार्यों से लौटकर मुनि गुरु के पास आलोचना प्रायश्चित्त ग्रहण करे। आलोचना न करने पर वह अविनय तथा अशुद्ध परिभोग—इन दो दोषों का भागी होता है।

५८. अन्नं च छाउमत्थो, तधन्नहा वा हवेज्ज उवजोगो।
आलोएंतो ऊहइ, सोउं च वियाणते सोता॥

छद्मस्थ मुनि का उपयोग यथार्थ अथवा अयथार्थ भी हो सकता है। वह आचार्य आदि के पास आलोचना करता हुआ स्वयं के ही ऊहापोह के द्वारा यथार्थ अथवा अयथार्थ को जान लेता है अथवा आलोचना को सुननेवाले आचार्य आदि तथा अन्य श्रोताओं से भी शुद्धाशुद्धि की बात सुनकर स्वयं शुद्ध-अशुद्ध को जान लेता है।

५९. आसंकमवहितम्मि य, होति सिया अवहिए तहिं पगतं।
गणतत्तिविप्पमुक्के, विक्खेवे वावि आसंका॥

स्यात् शब्द के दो अर्थ हैं—आशंका और अवधारण। प्रस्तुत प्रसंग में यह शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है। नियमतः आलोचना प्रायश्चित्त आचार्य के पास करना होता है। 'स्यात्' शब्द को आशंका अर्थ में प्रयुक्त मानने पर यदि आचार्य गणतप्ति (गण की चिंता) से विप्रमुक्त हो गये हों तो उपाध्याय के पास तथा उपाध्याय के भी कोई व्याक्षेप हो तो गीतार्थ के पास और उसके अभाव में अगीतार्थ के पास आलोचना करे।

६०. गुत्तीसु य समितीसु य, पडिरूवजोगे तहा पसत्थे य।
वतिक्कमे अणाभोगे, पायच्छित्तं पडिक्कमणं॥

तीन गुप्तियों, पांच समितियों, प्रतिरूप विनयात्मक योगों तथा प्रशस्त योगों से प्रमाद होने पर तथा अतिक्रम आदि में और अनजान में अकृत्य की प्रतिसेवना करने पर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त (मिच्छामी दुक्कडं) प्राप्त होता है।

६१. केवलमेव अगुत्तो, सहसाणाभोगतो व ण य हिंसा।
तहियं तु पडिक्कमणं, आउट्टि तवो न वाऽदाणं॥

जो मुनि केवल अगुप्त अथवा असमित है, उससे

---

१. आलोचना क्या है? अवश्यकरणीय कार्य से पूर्व अथवा कार्य की समाप्ति पर अथवा कार्य करने से पूर्व भी और पश्चात् भी गुरु के समक्ष वचन से प्रकट करना। (वृ.पत्र २१)

२. 'छउमत्थस्स हवई आलोयणा, न केवलिणो इति।' (वृ.पत्र २२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहसाकार या विस्मृति के कारण कोई प्राणव्यपरोपण नहीं हुआ है फिर भी अगुप्त और असमित होने के कारण उसे प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त आता है।

यदि हिंसा के प्रसंग में अगुप्तित्व अथवा असमित्व होता है तो तपोर्ह प्रायश्चित्त आता है किंतु तपस्या का दान नहीं दिया जाता। स्थविरकल्पी मुनि यदि हिंसा के प्रसंग में मन से अगुप्त और असमित है तो भी उसे तपः प्रायश्चित्त नहीं आता और जो गच्छनिर्गत हैं—जिनकल्प आदि प्रतिपन्न हैं, वे मन से भी अगुप्त या असमित होते हैं तो उन्हें चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त आता है।

६२. पडिरूवग्गहणेणं, विणओ खलु सूइतो चउविगप्पो।
नाणे दंसण-चरणे, पडिरूव चउत्थओ होति।।

प्रतिरूप शब्द ग्रहण से चार विकल्प वाला विनय सूचित किया गया है। वे चार विकल्प हैं—ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और चौथा है प्रतिरूप विनय।

६३. काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तहा अनिण्हवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभए, अट्ठविधो नाणविणओ उ।।

ज्ञान विनय आठ प्रकार का है—

१. काल विनय	५. अनिह्नवण—विनय
२. विनय विनय	६. व्यंजन (सूत्र) विनय
३. बहुमान[1] विनय	७. अर्थ विनय
४. उपधान विनय	८. तदुभय विनय।[2]

६४. निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ।।

दर्शन विनय आठ प्रकार का है—

१. निःशंकित	५. उपबृंहण
२. निष्कांक्षित	६. स्थिरीकरण
३. निर्विचिकित्सा	७. वात्सल्य
४. अमूढ़दृष्टि	८. प्रभावना।[3]

६५. पणिधाणजोगजुत्तो, पंचहि समितीहिं तिहिं य गुत्तीहिं।
एस उ चरित्तविणओ, अट्ठविहो होति नायव्वो।।

पांच समितियों और तीन गुप्तियों के प्रणिधानयोग—चैतसिक स्वास्थ्य से युक्त होना—यह आठ प्रकार का चारित्रविनय जानना चाहिए।

६६. पडिरूवो खलु विणओ, काय-वइ-मणे तहेव उवयारे।
अट्ठ चउव्विह दुविहो, सत्तविह परूवणा तस्स।।

प्रतिरूपविनय के चार प्रकार हैं—कायिक विनय, वाचिक विनय, मानसिक विनय तथा औपचारिक विनय। इनके क्रमशः आठ, चार, दो और सात भेद हैं। उनकी प्ररूपणा की जा रही है।

६७. अब्भुट्ठाणं अंजलि-आसणदाणं अभिग्गह-किती य।
सुस्सूसणा य अभिगच्छणा य संसाहणा चेव।।

कायिक विनय के आठ प्रकार—

१. गुरु आदि के आने पर अभ्युत्थान करना।
२. पूछे जाने पर हाथ जोड़ना।
३. आसन देना।
४. अभिग्रह—गुरु के वचनों को ग्रहण कर कार्य करना।
५. कृति—कृतिकर्म—वंदना करना।
६. सुश्रूषणा—निकटता से उपासना करना।
७. सामने जाना।
८. संसाधना—गुरु के साथ जाना, पहुंचाने जाना।

६८. हित-मित-अफरुसभासी,
अणुवीइभासि स वाइओ विणओ।
एतेसिं तु विभागं,
वोच्छामि अहाणुपुव्वीए।।

वाचिक विनय के चार प्रकार—

१. हितभाषी	३. अपरुषभाषी
२. मितभाषी	४. अनुवीचिभाषी

---

१. बहुमानो नाम आंतरो भावप्रतिबंधः।
वृत्ति पत्र २५

२. ज्ञानविनय के आठों प्रकार की कथाओं के लिए देखें—व्यवहारभाष्य परिशिष्ट ८।

३. (क) निःशंकित—देशशंका से शून्य—जैसे एक भव्य और दूसरा अभव्य क्यों?
सर्वशंका से शून्य—पूरा निर्ग्रंथ प्रवचन कपोल-कल्पित है।
(ख) निष्कांक्षित—एकदेश आकांक्षा से शून्य जैसे—दिगम्बर आदि दर्शन की आकांक्षा करना अथवा सर्वकांक्षा से शून्य—जैसे सभी अन्य दर्शनों की आकांक्षा करना।
(ग) निर्विचिकित्सा—फल प्राप्ति के प्रति शंका रहित होना।
(घ) अमूढ़दृष्टि—अन्य तीर्थिकों की ऋद्धि आदि को देखकर मूढ़ न होना—सुलसा श्राविका की भांति।
(ङ.) उपबृंहण—साधार्मिकों के गुणों की प्रशंसा करना।
(च) स्थिरीकरण—संयम में अस्थिर व्यक्तियों को स्थिर करना।
(छ) वात्सल्य—समान धार्मिकों के प्रति वत्सलता।
(ज) प्रभावना—प्रवचन की विशेष प्रभावना करने वाले ये दस हैं—
अतिसेसइड्ढिधम्मकहि वादी आयरिय खवग नेमित्ति।
विज्जा-राया-गणसम्मया य तित्थं पभावेंति।।
(वृत्ति पत्र २८)

१. अतिशयज्ञानी	६. क्षपक-तपस्वी
२. ऋद्धिसम्पन्न	७. नैमित्तिक
३. धर्मकथी	८. विद्यासिद्ध
४. वादी	९. राजसम्मत
५. आचार्य	१०. गणसम्मत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं यथानुपूर्वी(क्रमशः) इनके विभाग कहूंगा।

६९. वाहिविरुद्धं भुंजति, देहविरुद्धं च आउरो कुणति।
आयासऽकाल चरियादिवारणं एहियहियं तु।।

कोई व्याधिग्रस्त मुनि व्याधि के विरुद्ध भोजन करता है, कोई ग्लान व्यक्ति शरीर के विरुद्ध कार्य करता है, कोई अपनी शक्ति का अतिक्रमण कर कार्य करता है, कोई अकालचर्या आदि करता है—जो इन कार्यों का निषेध करता है वह ऐहिक-हितभाषी है।

७०. सामायारी सीदंत चोयणा उज्जमंत संसा य।
दारुणसभाववयं चिय, वारेति परत्थहितवादी।।

जो मुनि समाचारी[1] के आचरण में शिथिल हो गये हैं, उन्हें समाचारी के पालन में प्रोत्साहित करने वाले तथा जो समाचारी के परिपालन में उद्यमशील है, उनकी प्रशंसा करने वाले तथा जो दारुण स्वभाववाले हैं, उनके स्वभाव का निवारण करने वाले मुनि परलोक हितभाषी हैं।

७१. अत्थि पुण काइ चिट्ठा, इह-परलोगे य अहियया होति।
थद्ध-फरुसत्त-नियडी, अतिलुद्धत्तं व इच्चादी।।

शिष्य ने पूछा—हितभाषी आदि में 'हित' शब्द क्यों? आचार्य ने कहा—स्तब्धता आदि कायिकी चेष्टा, परुषता(निष्ठुरता) आदि वाचिकी चेष्टा, माया आदि मानसिकी चेष्टा, अनिलुब्धता—उत्कट लोभ—ये चेष्टाएं इहलोक और परलोक में अहितकर होती हैं (अतः 'हित' विशेषण सार्थक है)।

७२. तं पुण अणुच्चसद्दं, वोच्छिण्ण मितं च भासते मउयं।
मम्मेसु अदूमंतो, सिया व परियागवयणेणं।।

वह मितभाषी वचन अनुच्चशब्द—मंदस्वर वाला, व्यवच्छिन्न—स्पष्ट, मित, मृदु, अमर्मविधी हो। किसी को शिक्षा देते समय परुष अथवा मर्मविधी वचन बोलने वाला दोषों का परिपाक अन्यापदेश—दूसरे के उदाहरण से बताएं, वह भी मितभाषी है।

७३. तं पि य अफरुस-मउयं, हिययग्गाहिं सुपेसलं भणइ।
नेहमिव उग्गिरंतो, नयण-महेहिं च विकसंतो।।

अपरुषभाषी वह होता है जो अपरुष(अनिष्ठुर), कोमल, हृदयग्राही, सुपेशल—श्रोता के मन में प्रीति उत्पन्न करने वाला वचन विकसित नयन और प्रफुल्ल वदन से बोलता हुआ ऐसा प्रतीत होता है मानो वह आंतरिक स्नेह को प्रकट कर रहा है।

७४. तं पुणऽविरहे भासति, न चेव तत्तोऽपभासियं कुणति।
जोएति तहा कालं, जह वुत्तं होइ सफलं तु।।

अनुचिन्त्यभाषी वह होता है जो प्रत्यक्ष में हित, मित और मृदु बोलता है, परोक्ष में अपभाषण—निंदात्मक वचन नहीं बोलता, वह अवसर देखकर इस प्रकार बोलता है कि बोला हुआ वचन सफल हो।

७५. अमितं अदेसकाले, भावियमवि भासियं निरुवयारं।
आयत्तो वि न गेण्हति, किमंग पुण जो पमाणत्थो।।

जो वचन प्रभूताक्षरों वाला होने पर भी यदि देश और काल से अभावित अर्थात् न देशोचित है और न कालोचित है, वह वचन निरुपकारी होने के कारण उसे आयत्त (अधीनस्थ) व्यक्ति भी ग्रहण नहीं करता तो फिर प्रमाणस्थ व्यक्ति की तो बात ही क्या?

७६. पुव्वं बुद्धीए पासित्ता, ततो वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओ व्व नेतारं, बुद्धिं अन्नेसए गिरा।।

पहले बुद्धि से समीक्षा करो, पर्यालोचन करो। तत्पश्चात् वाक्य का उच्चारण करो—बोलो। जैसा अंधा व्यक्ति नेता—स्वयं को ले जाने वाले को खोजता है, वैसे ही वाणी बुद्धि का अन्वेषण करती है, खोजती है। (ऐसा होता है अनुविचिंत्यभाषी।)

७७. माणसिओ पुण विणओ, दुविहो उ समासतो मुणेयव्वो।
अकुसलमणो निरोहो, कुसलमणउदीरणं चेव।।

मानसिक विनय संक्षेप में दो प्रकार का है—अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की उदीरणा।

७८. अब्भासवत्ति छंदाणुवत्तिया कज्जपडिकिती चेव।
अत्तगवेसण कालण्णुया य सव्वाणुलोमं च।।

कायिक विनय के सात प्रकार—

१. अभ्यासवर्तिता	५. आर्त्तगवेषणा
२. छंदोनुवर्तिता	६. कालज्ञता
३. कार्यहेतुक	७. सर्वानुलोमता
४. कृत-प्रतिकृत	

७९. गुरुणो य लाभकंखी, अब्भासे वट्टते सया साधू।
आगार-इंगिएहिं, संदिट्ठो वत्ति काऊणं।।

परमार्थलाभार्थी शिष्य सदा गुरु के समीप में रहे। वह गुरु के आकार और इंगित के द्वारा उनके अभिप्राय को जानकर अथवा उनके द्वारा संदिष्ट कार्य सम्पन्न करे। यह अभ्यासवर्तिता है।

८०. कालसभावाणुमता आहारुवही उवस्सया चेव।
नाउं ववहरति तहा, छंदं अणुवत्तमाणो उ।।

जो शिष्य गुरु के लिए कालानुमत और स्वभावानुमत आहार, उपधि और उपाश्रय को जानकर गुरु के छंद के अनुसार अनुवर्तन करता है वह छंदानुवर्ती शिष्य है।

---

१. सामाचारी के तीन प्रकार हैं—ओघ सामाचारी, दशविधचक्रवाल सामाचारी और पदविभाग सामाचारी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८१. इह-परलोगासंसविमुक्कं, कामं वयंति विणयं तु।
मोक्खाहिगारिएसुं, अविरुद्धो सो दुपक्खे वि॥

(शिष्य ने पूछा—भगवान् ने इहलोक-परलोक की आशंसा से मुक्त विनय का प्रतिपादन किया है फिर कार्यहेतुक विनय क्यों?) आचार्य ने कहा—यह अनुमत है कि तीर्थंकरों ने इहलोक और परलोक की आशंसा से विप्रमुक्त विनय का प्रतिपादन किया है। तथापि मोक्षपथ की साधना करने वालों के लिए कार्य-हेतुक विनय भी भगवद् उपदिष्ट है। (कार्यहेतुक विनय संग्रहादि कार्य के लिए किया जाता है) यह कार्य मोक्षांग है। मोक्षार्थी को यह भी करना चाहिए।) इस प्रकार यह विनय द्विपक्ष—आशंसारहित या आंशसा-सहित—में भी अविरुद्ध है।

८२. एमेव य अनिदाणं, वेयावच्चं तु होति कायव्वं।
कयपडिकिती वि जुज्जति,न कुणति सव्वत्थ तं जइ वि॥

इसी प्रकार मुनि को निदान रहित वैयावृत्य करना चाहिए। मुनि सर्वत्र निर्जरा के लिए ही कार्य नहीं करता इसलिए(यह सोचकर कि आचार्य ने ज्ञान-दर्शन और चारित्र से लाभान्वित कर मुझ अनुपकारी पर भी उपकार किया है तो मैं भी उनका विनय करूं) विनय करना कृत-प्रतिकृति विनय है।

८३. दव्वावदिमादीसुं, अत्तमणत्ते व गवेसणं कुणति।
आहारादिपयाणं, छंदम्मि उ छट्ठओ विणओ॥

द्रव्य आदि प्राप्ति का संकट होने पर[1] (आदि शब्द से क्षेत्र-संकट-कांतार आदि, काल संकट-दुर्भिक्ष आदि भाव संकट-अत्यंत ग्लानत्व) आर्त्त—रोग से पीड़ित अथवा अनार्त्त के लिए द्रव्य आदि की गवेषणा करना आर्तगवेषणा विनय है। गुरु के अभिप्राय के अनुसार आहार आदि लाकर देना कालज्ञता नामक छठा विनय है।

८४. सामायारिपरूवण, निद्देसे चेव बहुविहे गुरुणो।
एमेव त्ति तह त्ति य, सव्वत्थऽणुलोमया एसा॥

गुरु सामाचारी की प्ररूपणा करते हैं तब शिष्य 'यह ऐसा ही है'—यह कहकर उसे स्वीकृति दे और जब गुरु सामाचारी की कर्तव्यता के ज्ञापक बहुविध निर्देश दें तो शिष्य 'तहत्' कहकर तथा कार्यरूप में उन्हें परिणत कर स्वीकृति दे। यह सर्वत्र अनुलोमता विनय है।

८५. लोगोवयारविणओ, इति एसो वण्णितो सपक्खम्मि।
आसज्ज कारणं पुण, कीरति जतणा विपक्खे वि॥

अभ्यासवर्तिता आदि लोकोपचार विनय का इस प्रकार स्वपक्ष अर्थात् सुविहित मुनि के पक्ष में वर्णन किया गया है। प्रयोजन होने पर यह विनय यतनापूर्वक[2] विपक्ष अर्थात् गृहस्थ, पार्श्वस्थ आदि के प्रति भी किया जाता है।

८६. चउधा वा पडिरूवो, तत्थेगणुलोमवयणसहितत्तं।
पडिरूवकायकिरिया, फासणसव्वाणुलोमं च॥

प्रतिरूप विनय के चार प्रकार—

१. अनुलोम वचन सहितत्व—अनुलोमवचनपूर्वक कार्य करना।
२. प्रतिरूपकायक्रिया—शरीर विश्रामण।
३. संस्पर्शन—गुरु के लिए मृदु संस्पर्शन की व्यवस्था करना।
४. सर्वानुलोमता—व्यवहार विरुद्ध वचन की भी प्रतिपत्ति।

८७. अमुगं कीरउ आमं ति, भणति अणुलोमवयणसहितो उ।
तयणपसादादीहि य, अभिणंदति तं वइं गुरुणो॥

'वत्स! अमुक कार्य करो' गुरु का यह निर्देश प्राप्त कर अनुलोमवचनसहितत्व शिष्य स्वीकृति सूचक 'आम्' ऐसा कहता है और अपने मुख की प्रसन्नता आदि से गुरु के उस वचन का अभिनंदन करता है। (कहता है—गुरुदेव! आपने मुझ पर बड़ी कृपा की।)

८८. चोदयंते परं थेरा, इच्छाणिच्छे य तं वइं।
जुत्ता विणयजुत्तस्स, गुरुवक्काणुलोमता॥

आचार्य आदि स्थविर शिष्य को प्रेरणा देते हैं। उस प्रेरणात्मक वाणी के अनुसार वर्तन करने की इच्छा हो या अनिच्छा, विनय संपन्न शिष्य के लिए गुरु वचन के अनुकूल वर्तन करना ही युक्त है।

८९. गुरवो जं पभासंति, तत्थ खिप्पं समुज्जमे।
न ऊ सच्छंदया सेया, लोए किमुत उत्तरे॥

गुरु जो कहते हैं, उसके प्रति शिष्य को शीघ्र उद्यम करना चाहिए। स्वच्छंदता लोक में भी श्रेयस्कर नहीं होती तो लोकोत्तर में वह श्रेयस्कर कैसे हो सकती है?

९०. जधुत्तं गुरुनिद्देसं, जो वि आदिसती मुणी।
तस्सा वि विहिणा जुत्ता, गुरुवक्काणुलोमता॥

यथोक्त गुरु निर्देश के अनुरूप जो मुनि आदेश देता है, उसका कथन भी सूत्रोक्त से युक्त गुरु वाक्यानुलोमता है। यह अनुलोमविनय है।

---

१. टीकाकार का कथन है कि अवंती क्षेत्र में घृत दुर्लभ था। (वृत्ति पत्र ३२)

२. यतनापूर्वक अर्थात् प्रवचन की उन्नति में व्याघात करने वाले कारणों का परिहार करते हुए, संयम की अनाबाधना संपादित करते हुए। (वृत्ति पत्र ३३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९१. अद्धाणवायणाए, निण्णासणयाए परिकिलंतस्स।
सीसादी जा पाया, किरिया पादादऽविणओ तु॥

यात्रा करने, वाचना देने, निरंतर बैठे रहने से आचार्य–गुरु परिक्लांत हो जाते हैं, थक जाते हैं। उन्हें सिर से प्रारंभ कर पैर तक दबाना यह विश्रामणारूप प्रतिरूप कायक्रिया विनय है। पैरों से प्रारंभ कर सिर तक दबाना अविनय है।

९२. जत्तो व भणाति गुरू, करेति कितिकम्म मो ततो पुव्वं।
संफासणविणओ पुण, परिमउयं वा जहा सहति॥

शिष्य गुरु के कथनानुसार जिस अंग से कृतिकर्म–विश्रामणा करता है वह अविनय नहीं है क्योंकि वह गुरु के आज्ञानुरूप है। मृदुता से दबाना अथवा गुरु जितना सहन कर सके वैसे दबाना संस्पर्शना विनय है।

९३. वातादी सद्धाणं, वयंति बद्धासणस्स जे खुभिया।
खेदजओ तणुथिरया, बलं च अरिसादओ नेवं॥

बद्धासन (एक आसन में लंबे समय तक रहने) से वात, पित्त और कफ संक्षुब्ध हो जाते हैं–अपने स्थान से चलित हो जाते हैं। विश्रामणा से वे पुनः अपने स्थान पर लौट आते हैं। यात्रा और वाचना देने से होने वाली थकान दूर हो जाती है। शरीर की स्थिरता–दृढ़ता होती है। बल बढ़ता है। अर्श आदि रोग नहीं होते। (अर्श वातिक, पित्तज और श्लेष्मज होते हैं।)

९४. सेतवपू मे कागो, दिट्ठो चउदंतपंडरो वेभो।
आमं ति पडिभणंते, सव्वत्थऽणुलोमपडिलोमे॥

आचार्य ने कहा–'मैंने सफेद शरीर वाला कौआ और चार दांतों वाला सफेद हाथी देखा है'। गुरुद्वारा यह प्रतिलोम वचन (लोक विरुद्ध वचन) सुनकर भी शिष्य कहता है–आमं–हां, आपने देखा होगा। यह सर्वत्रानुलोमता विनय है।

९५. मिणु गोणसंगुलेहिं, गणेह से दाढवक्कलाइं से।
अग्गंगुलीय वग्घं, तुद डेव गडं भणति आमं॥

आचार्य कहते हैं–शिष्य! इस गोनस सर्प को अपनी अंगुलियों से नाप कर बताओ। इसकी दाढ़ाएं गिनो अथवा इसकी पीठ पर कितने वक्रवाल (चक्रवाल) हैं गिनकर बताओ। अंगुली के अग्रभाग से व्याघ्र को व्यथित करो। इस कुए को लांघो। गुरु के इन प्राणापहारी निर्देशों को सुनकर भी शिष्य स्वीकृति में कहता है–आमं–आपने ने जो कहा वैसा ही करता हूं। यह सर्वत्रानुलोमता विनय है।

९६. तत्थ उ पसत्थगहणं, परिपिट्ठण छिज्जमादि वारेति।
ओसन्नगिहत्थाण य, उट्ठाणादी य पुव्वुत्ता॥

भाष्य गाथा ६० में प्रशस्त योगों का कथन है। मुनि पीटना, छेदन करना आदि अप्रशस्त योगों का निवारण करता है तथा अवसन्न-पार्श्वस्थ आदि मुनियों और गृहस्थों के प्रति अभ्युत्थान आदि पूर्वोक्त अप्रशस्त क्रियाओं का भी निवारण करता है।

९७. जो जत्थ उ करणिज्जो, उट्ठाणादी उ अकरणे तस्स।
होति पडिक्कमियव्वं, एमेव य वाय-माणसिए॥

मुनि को अभ्युत्थान आदि जो योग जहां–जिनके प्रति करणीय होता है वह यदि वहां नहीं करता है तो वह प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त(मिच्छामि दुक्कडं) का भागी होता है। इसी प्रकार वाचिक और मानसिक प्रतिरूपयोग यथार्ह, यथास्थान न करने पर यही प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

९८. अवराहअतिक्कमणे, वइक्कमे चेव तह अणाभोगे।
भयमाणे उ अकिच्चं, पायच्छित्तं पडिक्कमणं॥

उत्तरगुण प्रतिसेवनारूप अपराध अर्थात् अतिक्रम, व्यतिक्रम तथा अनाभोग(अनजान अथवा विस्मृति)के कारण अकृत्य का सेवन करने पर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त आता है।

९९. संकिए सहसक्कारे भयाउरे आवतीसु य।
महव्वयातियारे य, छण्हं ठाणाण बज्झतो॥

मैंने प्राणातिपात आदि दोष सेवन किया या नहीं–इस प्रकार आशंका होने पर, सहसा दोष सेवन होने पर, भय और रोग के कारण तथा आपदाओं के समय दोष-सेवन होने पर तथा महाव्रतों में अतिचार, अतिक्रम या व्यतिक्रम की आशंका होने पर तदुभय(आलोचना और प्रतिक्रमण) प्रायश्चित्त आता है। यह अंतिम छह प्रायश्चित्तों के अंतर्गत नहीं है, बाह्य है।[1]

१००. हित्थो व ण हित्थो मे, सत्तो भणियं व न भणियं मोसं।
उग्गहणुण्णमणुण्णा, ततिए फासे चउत्थम्मि॥
१०१. इंदियरागद्दोसा, उ पंचमे किं गतो मि न गतो त्ति।
छट्ठे लेवाडादी, धोतमधोतं न वा मे त्ति॥
१०२. इंदियअव्वागडिया, जे अत्था अणुवधारिया।
तदुभयपायच्छित्तं, पडिवज्जति भावतो॥

मैंने प्राणी की हिंसा की या नहीं ? मैंने झूठ बोला या नहीं? तीसरे महाव्रत में मैंने अवग्रह (स्थान) की अनुज्ञा ली या नहीं ? चौथे महाव्रत में स्त्री का स्पर्श हुआ या नहीं? पांचवें महाव्रत में इंद्रिय विषयों के प्रति राग-द्वेष किया या नहीं? छठे रात्रि-भोजन-

---

१. कुछ आचार्य अनवस्थित और पारांचित को एक मानकर प्रायश्चित्तों के नौ भेद मानते हैं। प्रथम दो को छोड़कर शेष सात प्रायश्चित्तों में 'तदुभय' शेष छह से बाह्य है।

(वृत्ति पत्र ३६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरमण व्रत में लेप लगे पात्रों को धोया या नहीं ?

इस प्रकार ये दोष इंद्रियों द्वारा अप्रकट होने पर अथवा प्रकट होने पर भी उनके प्रति सम्यक् अवधारण नहीं हुआ हो तो भावतः तदुभय प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (पहले गुरु के समक्ष दोषों की आलोचना करना फिर 'मिच्छामि दुक्कडं'–यह प्रायश्चित्त लेना–यह तदुभय प्रायश्चित्त है।')

१०३. सद्दा सुता बहुविहा, तत्थ य केसुइ गतो मि रागं ति।
अमुगत्थ मे वितक्का, पडिवज्जति तदुभयं तत्थ॥

मैंने बहुत प्रकार के शब्द सुने हैं। उनमें से कुछेक शब्दों के प्रति समभाव अथवा द्वेषभाव आया या नहीं–इस प्रकार वितर्क–संदेह होने पर तदुभय प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।(यदि यह निश्चय हो कि अमुक शब्दों के प्रति राग-द्वेष आया है तो उसे तपोर्ह प्रायश्चित्त आता है।)

१०४. एमेव सेसए वी, विसए आसेविऊण जे पच्छा।
काऊण एगपक्खे, न तरति तहियं तदुभयं तु॥

इसी प्रकार शेष विषयों का आसेवन कर उनके प्रति राग-द्वेष का एकपक्ष (सदोषता या निर्दोषता) का निर्णय न कर सकने पर तदुभय प्रायश्चित्त ही प्राप्त होता है।

१०५. उवयोगवतो सहसा, भएण वा पेल्लिते कुलिंगादी।
अच्चाउरावतीसु य, अणेसियादी-गहण-भोगा॥

सावधानी से संयमपूर्वक चलते हुए सहसा या भय के कारण प्रेरित होकर कुलिंगी आदि जंतु तथा पृथिवी आदि जीव-निकाय की हिंसा हो जाये, अत्यातुर अर्थात् क्षुधा-पिपासा से अत्यंत पीड़ित होने पर, अथवा कोई आपदा उपस्थित होने पर अनेषित–अकल्पनीय आहार आदि का ग्रहण या उपभोग करने पर तदुभय प्रायश्चित्त आता है।

१०६. सहसक्कार अतिक्कम-वतिक्कमे चेव तह अतीयारे।
भवति च सद्दग्गहणा, पच्छित्तं तदुभयं तिसु वि॥

१०७. अतियारुवओगे वा, एगतरे तत्थ होति आसंका।
नवहा जस्स विसोही, तस्सुवरिं छण्ह बज्झं तु॥

महाव्रतों में सहसा अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार हो जाने पर–इन तीनों में तदुभयप्रायश्चित्त आता है। (यहां प्रश्न होता है कि मूल गाथा में महाव्रतातिचार कहा गया है, फिर यहां अतिक्रम, व्यतिक्रम कैसे ?) इसी गाथा में 'चसद्दग्गहणा' शब्द है। इस 'च' शब्द से अतिक्रम, व्यतिक्रम का भी समुच्चय किया गया है।

मैंने अतिचार किया या नहीं, इस प्रकार उपयोग के अभाव में ये तीनों में से किसी एक में भी आशंका होने पर तदुभय-प्रायश्चित्त आता है।

जिन आचार्यों के अभिमत में विशोधि–प्रायश्चित्त के नौ प्रकार (अनवस्थित और पारांचित को एक मानकर) मान्य हैं वहां 'तदुभय प्रायश्चित्त' प्रथम दो भेदों को छोड़कर शेष अंतिम छह भेदों के बाहर है। ('छण्हं ठाणाण वज्झं तु' पद से तदुभय-प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए।)

१०८. कडजोगिणा तु गहियं, सेज्जा-संथार-भत्त-पाणं वा।
अफासु-अणेसणिज्जं', नाउ विवेगो उ पच्छित्तं॥

कृतयोगी अर्थात् गीतार्थ[1] मुनि शय्या, संस्तारक, आहार, पानक आदि (शुद्ध परिणाम से) ग्रहण करता है और तत्पश्चात् किसी प्रकार से उसे ज्ञात हो जाता है कि ये वस्तुएं अप्रासुक और अनेषणीय हैं, उसे विवेक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (उसे गृहीत शय्या का परित्याग और शेष वस्तुओं का विधिपूर्वक परिष्ठापन करना होता है। ऐसा करना ही विवेक प्रायश्चित्त है।)

१०९. पउरण्ण-पाणागामे, किं साहू ण ठंति सावए पुच्छा।
नत्थि वसहि त्ति य कता, ठिएसु अतिसेसिय विवेगो॥

कुछ मुनि प्रचुर अन्न-पान उपलब्ध होने वाले गांव में गये। वसति के अभाव में वे वहां नहीं रुके। श्रावकों ने पूछा–यहां साधु क्यों नहीं ठहरते ? साधुओं ने कहा–यहां वसति (उपाश्रय) नहीं है। साधुओं के चले जाने पर श्रावकों ने एक अच्छे उपाश्रय का निर्माण करवा दिया। कुछ समय पश्चात् वे अथवा अन्य मुनि वहां आकर उसी उपाश्रय में ठहरते हैं। उपाश्रय विषयक सही जानकारी मिलने पर उन मुनियों को विवेक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है–उस उपाश्रय को छोड़ना पड़ता है।[2]

११०. गमणागमण-वियारे, सुत्ते वा सुमिण-दंसणे राओ।
नावा नदिसंतारे, पायच्छित्तं विउस्सग्गो॥

निम्न कार्यों में व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त (कायोत्सर्ग) आता है–

१. उपाश्रय से गमनागनम करने

---

१. गीतार्थ कौन ? जिस मुनि ने 'आचारचूला' के वस्त्रैषणा, पात्रैषणा, पिंडैषणा और शय्यैषणा–इन चार अध्ययनों तथा छेद सूत्रों को सूत्रतः, अर्थतः तथा तदुभयतः सम्यक् प्रकार से पढ़ लिया हो, वह गीतार्थ कहलाता है। (वृत्ति पत्र–३८)

२. वृत्तिकार ने (पत्र-३८) निम्नलिखित में विवेक प्रायश्चित्त का उल्लेख किया है–पर्वत, राहु, बादल, कुहासा और रजों के कारण सूर्य ढंक जाता है। ऐसी स्थिति में मुनि अशठभाव से सहजतया सूर्य है, अस्त नहीं हुआ है, इस बुद्धि से अशन-पान आदि ग्रहण कर ले और फिर ज्ञात हो जाये कि सूर्योदय से पूर्व अथवा सूर्यास्त के पश्चात् अशन आदि ग्रहण किया है तो उस गृहीत अशन आदि का परित्याग करना पड़ता है। यह विवेक प्रायश्चित्त है। प्रथम प्रहर गृहीत चतुर्थ प्रहर तक रखना, आधा योजन का अतिक्रमण कर अशन आदि लाना या ले जाना–इसमें भी विवेक प्रायश्चित्त आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. विचार—उच्चारादि का परिष्ठापन करने
३. सूत्र का प्रत्यावर्तन करने
४. रात्री में स्वप्न देखने
५. नौका[1] से नदी पार करने
६. पैरों से नदी-संतरण करने।

१११. भत्ते पाणे सयणासणे य, अरहंत-समणसेज्जासु।
उच्चारे पासवणे, पणवीसं होंति ऊसासा॥

आहार, पानी, शयन और आसन के लिए गमनागमन करने पर, अर्हत्शय्या (जिनालय) तथा श्रमणशय्या (उपाश्रय) में जाने-आने पर और उच्चार-प्रसवण के परिष्ठापन करने, जाने-आने—इन क्रियाओं में पच्चीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

११२. वीसमण असतिकाले, पढमालिय-वास संखडीए वा।
इरियावहियट्ठाए, गमणं तु पडिक्कमंतस्स॥

जब मुनि गामांतरगमन अथवा भिक्षाचर्या में थककर विश्राम कर रहा हो, भिक्षाकाल की प्रतीक्षा कर रहा हो, प्रातराश करने के लिए अन्यत्र शून्यगृह आदि में गया हो, वर्षा के कारण किसी आच्छन्न स्थान की गवेषणा कर वहां गया हो, किसी संखडी (जीमनवार) में जाने के लिए अन्यत्र गमन कर प्रतीक्षा कर रहा हो तब वह ऐर्यापथिकी की विशुद्धि के लिए गमनागमन का प्रतिक्रमण करता हुआ कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त करे अर्थात् पच्चीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करे।[2]

११३. एमेव सेसगेसु वि, होंति निसज्जाय अंतरा गमणं।
आगमणं जं तत्तो, निरंतर गयागयं होति॥

इसी प्रकार शेष कार्यों (शयन, आसन आदि) के लिए कहीं जाना पड़े और प्रतीक्षाकाल में निषद्या पर बैठकर केवल गमन विषयक प्रतिक्रमण करना चाहिए। पुनः उपाश्रय में आने पर आगमन संबंधी प्रतिक्रमण करना चाहिए। यदि बीच में कहीं विश्राम न करना पड़े तब गमन-आगमन का समुदित प्रतिक्रमण करना चाहिए। पच्चीस श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए।

११४. उद्देस-समुद्देसे, सत्तावीसं तहा अणुण्णाए।
अट्ठेव य ऊसासा, पट्ठवणा पडिकमणमादी॥

उद्देश, समुद्देश और अनुज्ञा[3]—इनमें सत्ताईस उच्छ्वास-प्रमाण[4] कायोत्सर्ग तथा स्वाध्याय की प्रस्थापना और काल का प्रतिक्रमण आदि करने के पश्चात् आठ उच्छ्वासप्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए।

११५. पुव्वं पट्ठवणा खलु, उद्देसादी य पच्छतो होंति।
पट्ठवणुद्देसादिसु, अणाणुपुव्वी कया किन्नु॥

पहले स्वाध्याय की प्रस्थापना की जाती है, तत्पश्चात् उद्देश आदि होते हैं। पूर्ववर्ती गाथा में पहले उद्देश आदि का कथन कर बाद में स्वाध्याय की प्रस्थापना का कथन किया गया है। यह अनानुपूर्वी (व्युत्क्रम) क्यों ?

११६. अज्झयणाणं तितयं, पुव्वुत्तं पट्ठविज्जती जेहिं।
तेसिं उद्देसादी, पुव्वमतो पच्छ पट्ठवणा॥

कुछ आचार्य अध्ययनों तथा उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा—इन तीनों की प्रस्थापना करते हैं, (पश्चात् अन्य प्रस्थापना करते हैं) उनके मत में पहले उद्देश आदि फिर प्रस्थापना—यही क्रम है।

११७. सव्वेसु खलियादिसु, झाएज्जा पंचमंगल।
दो सिलोग व चिंतेज्जा, एगग्गो वावि तक्खणं॥

बहिर्गमन के समय अथवा अन्यान्य कार्यों के प्रारंभ में वस्त्र आदि के स्खलित होने पर अथवा इसी प्रकार के अन्य अपशकुन होने पर (उनके प्रतिघात के निमित्त) पंचमंगल—नमस्कार सूत्र (अष्ट उच्छ्वासप्रमाण) का ध्यान करे। अथवा दो श्लोकों का चिंतन करे अथवा दो श्लोकों का जितने समय में चिंतन हो उतने समय तक तत्क्षण एकाग्र होकर कायोत्सर्ग करे।

११८. बितियं पुण खलियादिसु,
उस्सासा तह य होंति सोलसया।
ततियम्मि उ बत्तीसा,
चउत्थएँ न गच्छते अन्नं॥

दूसरी बार स्खलित आदि अपशकुन होने पर सोलह उच्छ्वास का और तीसरी बार होने पर बत्तीस उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करे। चौथी बार भी यदि अपशकुन हो जाये तो अपने स्थान से अन्यत्र न जाये तथा अन्य कार्य भी प्रारंभ न करे।

११९. पाणवध-मुसावादे, अदत्त-मेहुण-परिग्गहे सुमिणे।
सयमेगं ति अणूणं, ऊसासाणं भवेज्जासि॥

---

१. नौका के चार प्रकार हैं—
१. सामुद्री नौका—जिससे समुद्र तैरा जाता है।
२. उद्यानी—प्रतिस्रोतोगामिनी नौका।
३. अवयानी—अनुस्रोतोगामिनी नौका।
४. तिर्यग्गामिनी—तिरछी चलने वाली नौका।

२. श्लोक में चार चरण होते हैं। एक चरण के उच्चारण में जितना समय लगता है उतना होता है—एक उच्छ्वास काल। चतुर्विंशतिस्तव के छह श्लोकों में २४ चरण हुए और एक चरण 'चंदेसु निम्मलयरा' का मिलाकर २५ श्वासोच्छ्वास होते हैं। यह कायोत्सर्ग के २५ श्वासोच्छ्वास का कालमान है।

३. उद्देश—वाचना देना, सूत्र प्रदान करना।
समुद्देश—व्याख्या करना, अर्थप्रदान करना।
अनुज्ञा—सूत्र और अर्थ को पढ़ाने की अनुमति देना।

४. पूरे चतुर्विंशतिस्तव में अंतिम एक चरण न्यून का चिंतन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन तथा परिग्रह–स्वप्न में इनका सेवन करे, कराये और अनुमोदन करे तो पूरे सौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करे (चार बार चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान करे।)

१२०. महव्वयाइं झाएज्जा, सिलोगे पंचवीस वा।
इत्थीविप्परियासे तु, सत्तावीससिलोइओ॥

अथवा पच्चीस श्लोक प्रमाण महाव्रतों (दशवै. ४/११-१५ सूत्र) का ध्यान करें। स्वप्न में स्त्री विपर्यास होने पर सत्तावीस श्लोक (१०८ उच्छ्वास) का कायोत्सर्ग करें।

१२१. पायसमा ऊसासा, कालपमाणेण होंति नायव्वा।
एतं कालपमाणं, काउस्सग्गे मुणेयव्वं॥

कालप्रमाण से एक उच्छ्वास एक पाद (चरण) जितना होता है अर्थात् श्लोक के एक चरण के उच्चारण में जितना समय लगता है उतना है उच्छ्वास का काल है। कायोत्सर्ग में वही उच्छ्वास का कालप्रमाण है।[1]

१२२. कायचेट्ठं निरुंभित्ता, मणं वायं च सव्वसो।
वट्टति काइए झाणे सुहुमुस्सासवं मुणी॥

कायोत्सर्ग में कायचेष्टा तथा मन, वचन का सर्वात्मना निरोध कर कायोत्सर्गस्थ मुनि सूक्ष्म-उच्छ्वासवान् होकर कायिक ध्यान में संलग्न रहता है।

१२३. न विरुज्झंति उस्सग्गे, झाणे वाइय-माणसा।
तीरिए पुण उस्सग्गे, तिण्हमण्णतरं सिया॥

कायोत्सर्ग में प्रधानतः कायिक ध्यान होता है, परंतु वाचिक और मानसिक ध्यान का विरोध नहीं है। (वाङ् मनोयोग का विषयांतर से विरोध होता है।) कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर तीनों में से कोई ध्यान हो सकता है।

१२४. मणसो एगग्गत्तं, जणयति देहस्स हणति जड्डत्तं।
काउस्सग्गगुणा खलु सुह-दुहमज्झत्थया चेव॥

कायोत्सर्ग के गुण–

१. मन की एकाग्रता सधती है।
२. शरीर की जड़ता का विनाश होता है।
३. सुख-दुःख में मध्यस्थता का विकास होता है।

१२५. दंडग्गहनिक्खेवे, आवस्सियाय निसीहियाए य।
गुरुणं च अप्पणामे, पंचराइंदिया होंति॥

निम्न कार्यों के पांच अहोरात्र का तपः प्रायश्चित्त आता है–

१. दंडक को ग्रहण करते समय अथवा नीचे रखते समय भूमि का प्रमार्जन न करने पर।
२. वसति के बाहर जाते समय 'आवस्सही' और पुनः प्रवेश करते समय 'निस्सिही' का उच्चारण न करने पर।
३. गुरु को प्रणाम न करने पर (उपाश्रय में प्रवेश करते समय 'नमो क्षमणानां' न कहने पर।)

१२६. वेंटियगहनिक्खेवे, निट्ठीवण आतवा उ छायं च।
थंडिल्लकण्हभोमे, गामे राइंदिया पंच॥

निम्न क्रियाओं में विधिपूर्वक आचारण न करने पर पांच अहोरात्र का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है–

- संस्तारक की विंटलिका को लेते-रखते समय।
- विधिपूर्वक न थूकने पर
- वस्त्र आदि को धूप से छांह में और छांह से धूप में संक्रमण करते हुए।
- स्थंडिल से अस्थंडिल में अथवा अस्थंडिल से स्थंडिल में आते हुए।
- काली मिट्टी वाले प्रदेश से नीली मिट्टी वाले प्रदेश में संक्रमण करते हुए अथवा नीली भूमि से काली भूमि में संक्रमण करते हुए।
- यात्रा-पथ से ग्राम में प्रवेश करते हुए अथवा गांव से यात्रापथ में जाते हुए यदि पैरों का प्रमार्जन अथवा प्रत्युपेक्षा न करने पर।

१२७. एतेसिं अण्णतरं, निरंतरं अतिचरेज्ज तिक्खुत्तो।
निक्कारणमगिलाणे, पंच उ राइंदिया छेदो॥

पूर्व श्लोकों (१२५ तथा १२६) में पांच अहोरात्र विषयक जिन प्रायश्चित्त स्थानों का उल्लेख है यदि उनमें से किसी एक का भी निष्कारण तथा अग्लान अवस्था में निरंतर तीन बार आचरण कर लिया जाता है तो पांच अहोरात्र के संयम का छेद किया जाता है।

१२८. हरिताले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे य लोणे य।
मीसग पुढविक्काए, जह उदउल्ले तधा मासो॥

(जैसे सचित्त जल से भीगे हुए हाथ या पात्र में भिक्षा लेने पर लघुमास का प्रायश्चित्त आता है, वैसे ही)

हरिताल, हिंगुलक, मनःशिला, अंजन, नमक आदि सचित्त पृथ्वीकाय तथा मिश्रक पृथ्वीकाय (सचित्ताचित्त) से सने हुए हाथ या पात्र में भिक्षा लेने वाले मुनि को लघुमास का

---

१. प्रश्न होता है कि कायोत्सर्ग में क्या योगनिरोधात्मक ध्यान करना होता है? ध्यान के तीन प्रकार हैं–काययोगनिरोधात्मक, वाग्योग-निरोधात्मक तथा मनोयोगनिरोधात्मक। कायोत्सर्ग में तीनों प्रकार मान्य हैं। प्रधानरूप से कायिक ध्यान किया जाता है।
(वृत्ति पत्र ४२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायश्चित्त दिया जाता है।[1]

१२९. सज्झायस्स अकरणे, काउस्सग्गे तहा य पडिलेहा।
पोसहिय-तवे य तधा, अवंदणा चेइयाणं च॥

स्वाध्याय, कायोत्सर्ग तथा प्रतिलेखना न करने पर, अष्टमी आदि पर्व तिथियों में तपोयुक्त पौषध न करने पर तथा चैत्य वंदन न करने पर मासलघु प्रायश्चित्त आता है।[2]

१३०. सुत्तत्थपोरिसीणं, अकरणे मासो उ होति गुरु-लहुगो।
चाउक्कालं पोरिसि उवाइणं तस्स चउलहुगा॥

सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी न करने पर क्रमशः मासगुरु और मासलघु प्रायश्चित्त विहित है।[3] चार काल की सूत्र पौरुषी (दिन और रात के प्रथम और अंतिम प्रहर में स्वाध्याय) न करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१३१. जइ उस्सग्गे न कुणति,
तति मास निसण्णए निवण्णे य।
सव्वं चेवावासं,
न कुणति तहियं चउलहुं ति॥

मुनि प्रातः-सायं आवश्यक करते समय जितने कायोत्सर्ग नहीं करता, उसको उतने मास का प्रायश्चित्त आता है। (एक कायोत्सर्ग न करने पर एक लघुमास, दो कायोत्सर्ग न करने पर दो लघुमास और तीन कायोत्सर्ग न करने पर तीन लघुमास।) बैठे हुए या लेटे हुए तथा प्रावरण से प्रावृत होकर आवश्यक करता है तो प्रत्येक का प्रायश्चित्त एक-एक लघुमास है। सर्वथा आवश्यक का अनुष्ठान न करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१३२. चाउम्मासुक्कोसे, मासिय मज्झे य पंच उ जहन्ने।
उवहिस्स अपेहाए, एसा खलु होति आरुवणा॥

उत्कृष्ट उपधि की प्रतिलेखना न करने पर चतुर्लघुमास, मध्यम उपधि के लिए एक लघुमास और जघन्य उपधि के लिए पंचरात्रिक प्रायश्चित्त आता है।[4] यह आरोपणा प्रायश्चित्त है।

१३३. चउ-छट्ठऽट्ठमऽकरणे,
अट्ठमि-पक्ख चउमास-वरिसे य।
लहु-गुरु-लहुगा गुरुगा,
अवंदणे चेइसाधूणं॥

अष्टमी और पक्खी के दिन उपवास न करने पर क्रमशः मासलघु और मासगुरु, चातुर्मासिक बेला न करने पर चार लघुमास और सांवत्सरिक तेला न करने पर चार गुरुमास तथा इन पर्व तिथियों में चैत्यवंदन तथा अन्य उपाश्रय में स्थित मुनियों को वंदना न करने पर प्रत्येक क्रिया मासलघु का प्रायश्चित्त विहित है।

१३४. एतेसु तिठाणेसुं, भिक्खु जो वट्टती पमादेणं।
सो मासियं ति लग्गति, उग्घातं वा अणुग्घातं॥

जो मुनि अगली गाथा (१३५) में उक्त स्थानों के प्रति प्रमादवश तीन-तीन बार अतिचार का सेवन करता है, उसे उद्घातिक (लघु) अथवा अनुद्घातिक (गुरु) मासिक छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (जितने लघु-गुरुमास का तपः प्रायश्चित्त होता है उसी अनुपात में छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।)

१३५. छक्काय चउसु लहुगा, परित्तलहुगा य गुरुग साहारे।
संघट्टण परितावण, लहु-गुरुगऽतिवायणे मूलं॥

छह जीवनिकायों में से चार (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय) तथा प्रत्येक वनस्पतिकाय का संघट्टन-परितापन करने पर लघु प्रायश्चित्त तथा साधारण वनस्पतिकाय का संघट्टन-परितापन करने पर गुरु प्रायश्चित्त और द्वीन्द्रिय आदि जीवों के संघट्टन-परितापन करने पर यथायोग्य लघु अथवा

---

१. वृत्तिकार (पत्र ४४) इस विषय की विशेष जानकारी देते हुए कहते हैं—सचित्त अथवा मिश्र पृथ्वीकाय के रजःकणों से सने हुए अथवा सचित्त या मिश्र जल से आर्द्र हाथ या पात्र में भिक्षा ग्रहण करने वाले मुनि को पांच अहोरात्र का तपः प्रायश्चित्त आता है। वनस्पति के दो भेद हैं—परीत और अनंतकाय। प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं—पिष्ट, कुक्कुस और उत्कुटित। इस तीन प्रकार की सचित्त या मिश्र परीत वनस्पति से संस्पृष्ट हाथ या पात्र में भिक्षा ग्रहण करने पर लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

पुरःकर्म और पश्चात्कर्म दोषयुक्त भिक्षा ग्रहण करने पर कुछ आचार्य लघुमास और कुछ आचार्य चार लघुमास के प्रायश्चित्त का विधान करते हैं।

बृहत्कल्प की चूर्णि में पुरःकर्म और पश्चात्कर्म में चतुर्लघु का प्रतिपादन है—'उक्तं च कल्पचूर्णौ पुरकम्मपच्छाकम्मेहिं चउलहु।'

२. अष्टमी को उपवास न करने पर मासलघु, पाक्षिक उपवास न करने पर मासगुरु, चातुर्मासिक बेला न करने पर चतुर्मासलघु और सांवत्सरिक का तेला न करने पर चतुर्मासगुरु प्रायश्चित्त आता है। (वृत्ति पत्र ४५)

३. प्रश्न होता है कि क्या अर्थपौरुषी से सूत्रपौरुषी बलवान है कि दोनों के प्रायश्चित्त में गुरुलघु का भेद है ? अर्थ सूत्र के अधीन होता है। सूत्रपौरुषी यथाशक्ति सबको करनी होती है। सूत्र के अभाव में सर्वस्व का अभाव हो जाता है। (वृत्ति पत्र ४५)

४. उपधि के दो प्रकार हैं—औधिक और औपग्रहिक। औधिक उपधि के तीन प्रकार हैं—

उत्कृष्ट—पात्र और तीन कल्प (कंबल)
मध्यम—पटल, रजस्त्राण, चोलपट्ट, मात्रक आदि।
जघन्य—मुखपोतिका, पात्रकेसरिका, गोच्छग आदि।
(वृत्ति पत्र—४४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु प्रायश्चित्त तथा जीवों का अतिपातन-विनाश होने पर मूल प्रायश्चित्त आता है।[1]

१३६. पडिसेवणं विणा खलु, संजोगारोवणा न विज्जंति।
माया चिय पडिसेवा, अइप्पसंगो य इति एक्कं॥

प्रतिसेवना के बिना संयोजना और आरोपणा प्रायश्चित्त नहीं होते।[2] माया भी प्रतिसेवना है। संयोजना, आरोपणा और प्रतिकुंचना (माया) इन्हें पृथक्-पृथक् मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है, अतः एक ही प्रायश्चित्त है प्रतिसेवना। (ऐसी जिज्ञासा करने पर आचार्य कहते हैं—)

१३७. एगाधिगारिगाण वि, नाणत्तं केत्तिया व दिज्जंति।
आलोयणाविही वि य, इय नाणत्तं चउण्हं पि॥

एक ही व्यक्ति अनेक प्रकार के दोषों का आसवेन कर लेता है, वह अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों का भागी होता है। एक अधिकारी होने मात्र से एक ही प्रायश्चित्त नहीं आता। इसी प्रकार चारों—प्रतिसेवना, संयोजना, आरोपणा और प्रतिकुंचना की आलोचना विधि में भी नानात्व है। इसलिए इनका पृथक् ग्रहण किया गया है।

१३८. सेज्जायरपिंडे या, उदउल्ले खलु तहा अभिहडे य।
आहाकम्मे य तहा, सत्त उ सागारिए मासा॥

एक ही मुनि शय्यातरपिंड, उदकार्द्र, अभिहृत तथा आधाकर्मिक—इन चारों का सेवन करता है तो सभी दोषों का पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त आता है। एक शय्यातरपिंड सेवन में सबका अंतर्भाव नहीं होता। सभी का संयुक्त सात मास का संयोजना प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१३९. रण्णो आधाकम्मे, उदउल्ले खलु तहा अभिहडे य।
दसमास रायपिंडे, उग्गमदोसादिणा चेव॥

एक ही मुनि पहले राजपिंड का उपभोग कर लेता है। उसकी आलोचना किये बिना ही आधाकर्म, उदकार्द्र, अभिहृत आदि का उपभोग करता है, तो प्रत्येक का भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त विहित है। राजपिंड में उद्गम आदि दोषों की संयोजना होने पर दस मास का प्रायश्चित्त आता है।

१४०. पंचादी आरोवण, नेयव्वा जाव होंति छम्मासा।
तेण पणगादियाणं, छण्हुवरिं झोसणं कुज्जा॥

पांच अहोरात्र के प्रायश्चित्त से लेकर, छह मास पर्यंत आरोपणा प्रायश्चित्त जानना चाहिए। छह मास से पांच अहोरात्र आदि अधिक हों तो वे सब त्याज्य हैं। (चूर्णि में कहा है—छम्मासण परं जं आवज्जई तं सव्वं छंडिज्जई।)

१४१. किं कारणं न दिज्जति, छम्मासाण परतो उ आरुवणा।
भणति गुरू पुण इमणो, जं कारण झोसिया सेसा॥

शिष्य ने पूछा—भंते! छह मास से अधिक की आरोपणा क्यों नहीं दी जाती? इसका कारण क्या है? आचार्य ने कहा—जिस कारण से छह मास से अधिक का सारा प्रायश्चित्त छोड़ना होता है वह कारण यह है।

१४२. आरोवणनिप्फण्णं, छउमत्थे जं जिणेहिं उक्कोसं।
तं तस्स उ तित्थम्मी, ववहरणं धन्नपिडगं वा॥

जो तीर्थंकर छद्मस्थकाल में जितना उत्कृष्ट तप करते हैं, उनके तीर्थ में उतने की प्रमाण में आरोपणा निष्पन्न तपःकर्म का व्यवहार होता है, उससे अधिक का नहीं। धान्यपिटक—धान्य-प्रस्थक की भांति।

१४३. जो जया पत्थिवो होति, सो तदा धन्नपत्थगं।
ठाविते ऽन्नं पुरिल्लेणं, ववहरंते य दंडए॥

जो जब राजा होता है वह तब अपने राज्य में धान्यप्रस्थक स्थापित करता है। उसके स्थापित हो जाने पर यदि कोई पुरातन धान्य-प्रस्थक से व्यवहार करता है तो वह दंडित होता है।

१४४. संवच्छरं तु पढमे, मज्झिमगाणऽट्ठमासियं होति।
छम्मास पच्छिमस्स उ, माणं भणियं तु उक्कोसं॥

प्रथम तीर्थंकर के समय में उत्कृष्ट तप बारह मास का, मध्यम तीर्थंकरों के समय में आठ मास का और चरम तीर्थंकर के समय में वह तप छह मास का होता है।

१४५. पुणरवि चोएति ततो, पुरिमा चरमा य विसमसोहीया।
किह सुज्झंती ते ऊ, चोदग! इणमो सुणसु वोच्छं॥

शिष्य ने पुनः पूछा—भंते! यदि ऐसा होता है तब तो प्रथम

---

१. पृथ्वीकाय आदि का संघट्टन होने पर मास लघु, परितापन होने पर मासगुरु तथा अपद्रावण (प्राण-वियोजन) होने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है। यह एक दिवस के अपराध का प्रायश्चित्त है। दो दिन तक निरंतर संघट्टन, परितापन और अपद्रावण होने पर क्रमशः मासगुरु, चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है। निरंतर तीन दिन तक संघट्टन में चतुर्लघु, परितापन में चतुर्गुरु और अपद्रावण में षड्लघु। निरंतर चार दिन तक संघट्टन में चतुर्गुरु, परितापन, में षट्लघु और अपद्रावण में षट्गुरु। निरंतर पांच दिन तक संघट्टन में षट्लघु, परितापन में षट्गुरु और अपद्रावण में मासिक छेद। छह दिनों तक निरंतर संघट्टन में षट्गुरु, परितापन में मासिक छेद, अपद्रावण में चतुर्मासिक छेद। निरंतर सात दिन संघट्टन में मासिक छेद, परितापन में चतुर्मासिक छेद, अपद्रावण में षण्मासिक छेद। निरंतर आठ दिन तक संघट्टन में चतुर्मासिक छेद, परितापन में षण्मासिक छेद और अपद्रावण में मूल। (वृत्ति पत्र ४६)

२. प्रायश्चितं सर्वमुत्पद्यते प्रतिसेवनातो, न खलु मूलगुणप्रतिसेवना-मुत्तरगुण-प्रतिसेवनां वा विना क्वापि प्रायश्चित्तसंभवः—(पडिसेवियंमि दिज्जइ पच्छित्तं इहरहा उ पडिसेहो) इति वचनात्।
(वृ. पत्र ४७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर के और चरम तीर्थंकर के शिष्यों की शोधि विषम होगी। उनकी सर्वात्मना शुद्धि कैसे होगी ? आचार्य ने कहा—'शिष्य ! मैं कारण बताता हूं, तुम सुनो।'

१४६. कालस्स निद्धयाए, देहबलं धितिबलं च जं पुरिमे।
तदणंतभागहीणं, कमेण जा पच्छिमा अरिहा॥

प्रथम तीर्थंकर के समय में काल की स्निग्धता के कारण मनुष्यों का जो देहबल और धृतिबल था वह क्रमशः चरम तीर्थंकर तक अनंतभाग हीन होता गया (शारीरिक बल और धृतिबल की विषमता के कारण विषम प्रायश्चित्त का विधान है।)

१४७. संवच्छरेणावि न तेसि आसी,
जोगाण हाणी दुविहे बलम्मि।
जे यावि धिज्जादि अणोववेया,
तद्धम्मया सोधयते त एव॥

प्रथम तीर्थंकर के समय में शारीरिक बल और धृतिबल—दोनों उपचित होने के कारण एक संवत्सर तक तपस्या करने पर भी संयमयोगों की हानि नहीं होती थी। शेष तीर्थंकरों के समय में कालदोष के कारण मुनि धृतिबल और संहननबल से सम्पन्न नहीं होते, किंतु वे तद्धर्मता—प्रथम तीर्थंकर के मुनियों की भांति अशठता—ऋजुता आदि के कारण उनके समान ही शोधि को प्राप्त कर लेते हैं।

१४८. पत्थगा जे पुरा आसी, हीणमाणा उ तेऽधुणा।
माण भंडाणि धन्नाणं, सोधिं जाणे तहेव उ॥
१४८/१. जो जया पत्थिवो होति, सो तदा धन्नपत्थगं।
ठावितेऽन्नं पुरिल्लेणं ववहरंते य दंडए॥

प्राचीन काल में धान्य को मापने वाले जो प्रस्थक थे वे आज हीन माप वाले हो गये। जो धान्यभांड—धान्य के ढेर प्रस्थक परिमाण से मापे जाते थे, आज भी वे आज के प्रस्थक से मापे जाते हैं। इसी प्रकार प्रायश्चित्त के वैषम्य में भी अशठभाव से तपःकर्म में प्रवृत्त होने के कारण शोधि भी प्रस्थक दृष्टांत के तुल्य समझनी चाहिए।

१४९. दव्वे खेत्ते काले, भावे पलिउंचणा चउविगप्पा।
चोदग! कप्पारोवण, इहइं मणिता पुरिसजाया॥

प्रतिकुंचना (प्रतिसेवना संबंधी माया) के चार प्रकार हैं—द्रव्यविषयक, क्षेत्रविषयक, कालविषयक तथा भावविषयक। शिष्य पूछता है—कल्पाध्ययन में भी प्रायश्चित्त का विधान है और व्यवहार में भी वही है। फिर दोनों में अंतर क्या है? गुरु ने कहा—कल्पाध्ययन में प्रायश्चित्त का आरोपण है, आभवत् प्रायश्चित्त का कथन है तथा व्यवहार में दान प्रायश्चित्त का निरूपण है, आभवत् प्रायश्चित्त का कथन है। यह विशेष है। कल्पाध्ययन में प्रायश्चित्तार्ह पुरुष का कथन नहीं है और यहां व्यवहार में प्रायश्चित्तार्ह पुरुष का कथन है। यह विशेष है। इस प्रकार दोनों में अंतर है ?

१५०. सच्चित्ते अच्चित्तं, जणवयपडिसेवितं तु अद्धाणे।
सुब्भिक्खम्मि दुभिक्खे, हट्ठेण तधा गिलाणेणं॥

द्रव्य विषयक प्रतिकुंचनाः—सचित्त द्रव्य की प्रतिसेवना कर कहे कि मैंने अचित्त की प्रतिसेवना की है।

क्षेत्र विषयक प्रतिकुंचना—जनपद में प्रतिसेवना कर कहे कि मैंने मार्ग में प्रतिसेवना की है।

कालविषयक प्रतिसेवना—सुभिक्ष काल में प्रतिसेवना कर कहे कि मैंने दुर्भिक्षवेला में प्रतिसेवना की है।

भावविषयक प्रतिसेवना—हृष्ट-स्वस्थ अवस्था में प्रतिसेवना कर कहे कि मैंने ग्लान अवस्था में प्रतिसेवना की है।

१५१. कप्पम्मि वि पच्छित्तं, ववहारम्मि वि तमेव पच्छित्तं।
कप्पव्ववहाराणं, को णु विसेसो त्ति चोदेति॥

शिष्य ने पूछा—भंते! कल्प में प्रायश्चित्त का कथन है और व्यवहार में उसी प्रकार प्रायश्चित्त का विधान है फिर कल्प और व्यवहार में क्या अंतर है ?

१५२. जो अवितहववहारी, सो नियमा वट्टते तु कप्पम्मि।
इति वि हु नत्थि विसेसो, अज्झयणाणं दुवेण्हं पि॥

जो अवितथ व्यवहारी होता है, वह नियमतः अवश्य ही कल्प—आचार में वर्तमान होता है। (कल्प, व्यवहार और आचार—तीनों एकार्थक हैं।) इस प्रकार अभिधेय और अभिधान की दृष्टि से भी कल्प और व्यवहार दोनों अध्ययनों (ग्रंथों) में कोई अंतर नहीं है।

१५३. कप्पम्मि कप्पिया खलु, मूलगुणा चेव उत्तरगुणा य।
ववहारे ववहरिया, पायच्छित्तासऽभवंते य॥

कल्पाध्ययन में मूलगुण और उत्तरगुण संबंधित अतिचारों के प्रायश्चित्त का निरूपण है तथा व्यवहाराध्ययन में प्रायश्चित्त की दानविधि (देने की प्रक्रिया) का वर्णन है। कल्पाध्ययन में आभवत् प्रायश्चित्त का तथा व्यवहाराध्ययन में उनकी दानविधि का निरूपण है।

१५४. अविसेसियं च कप्पे, इहइं तु विसेसितं इमं चउधा।
पडिसेवण संजोयण, आरोवण कुंचियं चेव॥

कल्पाध्ययन अविशेषित प्रायश्चित्त का कथन है और व्यवहार में विशेषित प्रायश्चित्त का निरूपण है। जैसे—प्रायश्चित्त के चार प्रकार हैं—प्रतिसेवना, संयोजना, आरोपणा और प्रतिकुंचना।

१५५. नाणत्तं दिस्सए अत्थे, अभिन्ने वंजणम्मि वि।
वंजणस्स य भेदम्मि, कोइ अत्थो न भिज्जति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द (अभिधान) में अभिन्नता होने पर भी अर्थ (अभिधेय) में नानात्व दिखायी देता है। शब्दभेद होने पर भी अर्थभेद नहीं होता।

१५६. पढमो त्ति इंद-इंदो, बितीयओ होइ इंद-सक्को त्ति।
ततिओ गो-भूप-पसू, रस्सी चरमो घड-पडो त्ति॥

शब्द और अर्थ में भेदाभेद विषयक चार विकल्प हैं–

१. शब्द अभेद अर्थ अभेद–जैसे–इंद्र, इंद्र।

२. शब्द भेद अर्थ अभेद–जैसे–इंद्र, शक्र।

३. शब्द अभेद अर्थ भेद–जैसे–गो शब्द के भूप, पशु, रश्मि आदि अनेक अर्थ होते हैं।

४. शब्द भेद अर्थ भेद–जैसे घट, पट आदि।

१५७. वंजणेण य नाणत्तं, अत्थतो य विकप्पियं।
दिस्सते कप्पणामस्स, ववहारस्स तधेव य॥

कल्प और व्यवहार में व्यंजन (शब्द) का नानात्व दिखायी देता है। अर्थ में विकल्पित–नानात्व है। प्रायश्चित्त के दो भेद हैं–प्रतिसेवना और संयोजना। इनका तथा प्रायश्चित्तार्ह पुरुषों का उल्लेख कल्पाध्ययन में नहीं हैं। यह व्यवहार में विशेष है।

१५८. वट्टंतस्स अकप्पे, पच्छित्तं तस्स वण्णिया भेदा।
जे पुण पुरिसज्जाया, तस्सरिहा ते इमे होंति॥

जो मुनि अकल्प में वर्तमान है उसको जो प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, उसके भेद व्यवहार में वर्णित हैं। पुनः जो उस प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष के प्रकार हैं, वे ये होते हैं–

१५९. कतकरणा इतरे वा, सावेक्खा खलु तहेव निरवेक्खा।
निरवेक्खा जिणमादी, सावेक्खा आयरियमादी॥

प्रायश्चित्तार्ह के दो भेद हैं–

१. कृतकरण–बेले, तेले आदि विविध तप से अपने शरीर को परिकर्मित–भावित करने वाले।

२. अकृतकरण–बेले, तेले आदि विशेष तप से अपरिकर्मित शरीर वाले।

कृतकरण के दो प्रकार हैं–

१. सापेक्ष–गच्छवासी।

२. निरपेक्ष–संघमुक्त जैसे जिनकल्पिक, शुद्ध परिहारविशुद्धिक और यथालंदकल्पिक। आचार्य, उपाध्याय और भिक्षु–ये कृतकरण और अकृतकरण–दोनों होते हैं।

१६०. अकतकरणा वि दुविहा, अणभिगता य बोधव्वा।
जं सेवेति अभिगते, अणभिगते अत्थिरे इच्छा॥

अकृतकरण मुनि के दो प्रकार हैं–

१. अनधिगत–अगीतार्थ।

२. अधिगत–गीतार्थ।

इनके दो-दो भेद हैं–

१. स्थिर–धृति और संहनन से संपन्न।

२. अस्थिर–धृति और संहनन से हीन।

जो गीतार्थ (तथा कृतकरण और स्थिर) मुनि जिस प्रायश्चित्त स्थान का सेवन करता है उसको तदनुसार पूरा प्रायश्चित्त दिया जाता है। जो अगीतार्थ (उपलक्षण से अस्थिर तथा अकृतकरण) मुनि जिस प्रायश्चित्तस्थान का सेवन करता है, उसे आचार्य अपनी इच्छानुसार (श्रुतोपदेश के अनुसार) प्रायश्चित्त देते हैं। (परीक्षा करने पर वह यदि असमर्थ प्रतीत होता है तो उसे न्यून, न्यूनतर और न्यूनतम प्रायश्चित्त–नवकारसी देते हैं। यदि यह भी वह न कर सके तो आलोचनामात्र से उसकी शुद्धि का आपादन कर देते हैं।)

१६१. अहवा सावेक्खितरे निरवेक्खा सव्वसो उ कयकरणा।
इतरे कयाऽकया वा, थिराऽथिरा होंति गीतत्था॥

अथवा प्रायश्चित्तार्ह पुरुषों के दो प्रकार हैं–सापेक्ष और निरपेक्ष। निरपेक्ष सर्वथा कृतकरण, गीतार्थ और स्थिर होते हैं। सापेक्ष दोनों प्रकार के होते है–कृतकरण और अकृतकरण, स्थिर और अस्थिर, गीतार्थ और अगीतार्थ।

१६२. छट्ठऽट्ठमादिएहिं कयकरणा ते उ उभयपरियाए।
अभिगतकयकरणत्तं, जोगायतगारिहा केई॥

कृतकरण वे होते हैं जो गीतार्थ और अगीतार्थ–इन दोनों अवस्थाओं में बेले, तेले आदि विशेष तपस्या से अपने आपको परिकर्मित कर लेते हैं। (दीर्घकालिक तप की अर्हता प्राप्त कर लेते हैं।)

कुछ आचार्यों का अभिमत है कि जो अधिगत (गीतार्थ) होते हैं वे नियमतः कृतकरण होते हैं। क्योंकि महाकल्पश्रुत आदि के अध्ययनकाल में वे दीर्घकाल तक योगवहन करते हैं–आयतकयोगार्ह हो जाते हैं।

१६३. निव्वितिए पुरिमड्ढे, एक्कासण अंबिले चउत्थे य।
पणगं दस पण्णरसा, वीसा तह पण्णवीसा य॥
१६४. मासो लहुओ गुरुगो, चउरो मासा हवंति लहु-गुरुगा।
छम्मासा लहु-गुरुगा, छेदो मूलं तध दुगं च॥

(सापेक्ष को प्रायश्चित देते समय सापेक्षता से गुरु-लघु का चिंतन किया जाता है। उनको जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह इस प्रकार है–)

निर्विकृति (विगयवर्जन), पुरीमड्ढ (दो प्रहर), एकाशन, आचाम्ल, उपवास, लघु-गुरु अहोरात्रपंचक, लघु-गुरु अहोरात्र दशक, लघु-गुरु अहोरात्र पंचदशक, लघु-गुरु बीस अहोरात्र, लघु-गुरु पच्चीस अहोरात्र, लघु-गुरु मास, लघु-गुरु चार-मास, लघु-गुरु छह मास, छेद और मूल। अनवस्थाप्य और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारांचित–ये दो प्रायश्चित्त केवल निरपेक्ष को ही दिये जाते हैं।[1]

१६५. पढमस्स होति मूलं, बितिए मूलं च छेदो छग्गुरुगा।
जयणाय होति सुद्धो, अजयण गुरुगा तिविधभेदो॥

(सापेक्ष तीन होते हैं–आचार्य, उपाध्याय और भिक्षु।) जो आचार्य कृतकरण है, सापेक्ष है, उसको बड़े अपराध पर भी मूल प्रायश्चित्त आता है।(यदि आचार्य अकृतकरण और असमर्थ है तो उसे छेद प्रायश्चित्त आता है।) उपाध्याय यदि कृतकरण और धृतिबल से समर्थ हो तो मूल प्रायश्चित्त, अन्यथा छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उपाध्याय यदि अकृतकरण हो तो उसे गुरु-षण्मासिक का प्राश्यचित्त आता है। यदि आचार्य और उपाध्याय यतनापूर्वक प्रयोजनवश किसी प्रायश्चित्तस्थान में प्रवृत्त होते हैं तो वे शुद्ध हैं, प्रायश्चित्त के भागी नहीं है और यदि वे अयतनापूर्वक प्रायश्चित्तस्थान में प्रवृत्त होते हैं तो आचार्य को मूल या छेद तथा उपाध्याय को मूल, छेद और छह गुरुमास–ये तीनों प्रायश्चित्त प्राप्त हो सकते हैं।

१६६. सव्वेसिं अविसिट्ठा, आवत्ती तेण पढमता मूलं।
सावेक्खे गुरु मूलं, कताकते होति छेदो उ॥

१६७. सावेक्खो त्ति च काउं, गुरुस्स कडजोगिणो भवे छेदो।
अकयकरणम्मि छग्गुरु, इति अह्ढोकंतिए नेयं॥

जब सापेक्ष आचार्य आदि सबको प्रायश्चित्त प्राप्त हो तो उन्हें प्रथमरूप से मूल प्रायश्चित्त ही प्राप्त होता है, अनवस्थाप्य या पारांचित नहीं। कृतयोगी आचार्य को मूल और अकृतयोगी आचार्य को छेद प्राश्यचित्त आता है। सापेक्ष कृतयोगी गुरु अर्थात् उपाध्याय को मूल प्रायश्चित्तार्ह अपराध होने पर भी छेद ही दिया जाता है। (निरपेक्ष कृतयोगी उपाध्याय को मूल भी दिया जाता है।) अकृतकरण उपाध्याय को मूल प्रायश्चित्तार्ह अपराध में भी छह गुरुमास का प्रायश्चित्त ही आता है। (अकृतकरण छेद प्रायश्चित्त के योग्य नहीं होता) इस प्रकार अर्द्धअपक्रांति[2] की विधि से प्रायश्चित्त देने की विधि ज्ञातव्य है।

१६८. अकयकरणा तु गीता,
जे य अगीता य अकय अथिरा य।
तेसावत्ति अणंतर,
बहुयंतरियं व झोसो वा॥

अकृतकरण गीतार्थ और अगीतार्थ तथा अस्थिर कृतकरण और अकृतकरण को उतना प्रायश्चित्त दिया जाता है जितना उन्हें प्राप्त होता है। असमर्थ होने पर अनंतर(प्राप्त से न्यून) प्रायश्चित्त दिया जाता है और अधिक असमर्थ होने पर बहुअंतरित (प्राप्त से अत्यंत न्यून) प्रायश्चित्त दिया जाता है। अत्यंत असमर्थता में उसे प्रायश्चित्तों से मुक्त कर दिया जाता है। आलोचना मात्र से उसकी शुद्धि आपादित की जाती है।

१६९. आयरियादी तिविधो, सावेक्खाणं तु किं कतो भेदो।
एतेसिं पच्छित्तं, दाणं चउण्णं अतो तिविधो॥

१७०. कारणमकारणं वा, जयणाऽजयणा व नत्थिऽगीयत्थे।
एतेण कारणेणं, आयरियादी भवे तिविधा॥

शिष्य ने पूछा–सापेक्ष के आचार्य, उपाध्याय और भिक्षु–ये तीन भेद क्यों किये हैं?(जबकि आचार्य और उपाध्याय का समावेश भिक्षु में हो जाता है।) इन तीनों के आभवत् प्रायश्चित्त तथा उस प्रायश्चित्त की(समर्थ-असमर्थ की अपेक्षा से) दानविधि पृथक् होती है, अतः ये तीन भेद किये गये हैं।

यह प्रतिसेवना सकारण है या अकारण, यह यतना है और यह अयतना–यह बोध अगीतार्थ को नहीं होता। (आचार्य और उपाध्याय गीतार्थ होते हैं। भिक्षु गीतार्थ और अगीतार्थ–दोनों होते हैं। इनके प्रायश्चित्त दानविधि में अंतर होता है।) इस कारण से आचार्य आदि तीन भेद किये गये हैं।

१७१. कज्जाकज्ज जताजत, अविजाणंतो अगीतों जं सेवे।
सो होति तस्स दप्पो, गीते दप्पाऽजते दोसा॥

जो अगीतार्थ कार्य-अकार्य अथवा प्रयोजन–अप्रयोजन को तथा यतना-अयतना को न जानता हुआ प्रतिसेवना करता है वह उसकी दर्पिका प्रतिसेवना है। यदि गीतार्थ भी दर्प से प्रतिसेवना करता है तो उसे भी अगीतार्थ की भांति वही प्रायश्चित्त आता है।

१७२. दोसविभवाणुरूवो, लोए दंडो वि किमुत उत्तरिए।
तित्थच्छेदो इहरा, निराणुकंपा न य विसोही॥

लौकिक व्यवहार में भी दोष तथा विभवानुरूप दंड दिया जाता है तो लोकोत्तर व्यवहार की बात ही क्या? (लोकोत्तर व्यवहार में दोष और सामर्थ्य के अनुसार दंड का विधान है।) अन्यथा व्यवस्था के अभाव में तीर्थ का उच्छेद हो सकता है और

---

१. वृत्तिकार ने (पत्र ५४) पारांचित और अनवस्थाप्य प्रायश्चित्तार्ह पुरुषों की योग्यता विषयक जानकारी इस प्रकार दी है–
पारांचित प्रायश्चित्तवर्ती प्रायः जिनकल्पिक प्रतिरूपक होता है।
अनवस्थाप्य प्रायश्चित्तवर्ती की योग्यता–
जो संहनन और वीर्य संपन्न हो, आगमसूत्रविधि में उद्युक्त हो, निग्रहयुक्त और तपस्वी हो, जो प्रवचन के सार से सम्पन्न तथा आगमार्थ में कुशल हो। जिसमें तिल-तुष जितना भी अशुभ भाव न हो, जो निर्यूहणा के योग्य हो। जो इन गुणों से हीन हो उसे मूल आदि प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२. एक-एक आचार्य के कृतकरण के भेद से दो-दो प्रायश्चित्त विहित हैं। उन दो में से एक पहला प्रायश्चित्त वहन करता है, दूसरा उत्तरस्थान में अनुवर्तन करता है। इस प्रकार एक ही प्रायश्चित्त दो में आधा-आधा बंट जाता है। यह अर्द्धअपक्रांति प्रायश्चित्त है। इस विधि को वृत्तिकार ने यंत्र के माध्यम से विस्तार से समझाया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरनुकंपा से दिये गये प्रायश्चित्त से विशोधि भी नहीं होती।[1]

१७३. अहवा कज्जाकज्जे, जयाजयं ते य कोविदो गीतो।
दप्पाऽजतो निसेवं, अणुरूवं पावए दोसं॥

अथवा कारण-अकारण तथा यतना-अयतना को जानने वाला कोविद गीतार्थ यदि दर्प से अयतनापूर्वक प्रतिसेवना करता है तो वह भी उसके अनुरूप (दर्प अयतना निष्पन्न) प्रायश्चित्त का भागी होता है।

१७४. कप्पम्मि अकप्पम्मि य
जो पुण अविणिच्छितो अकज्जं पि।
कज्जमिति सेवमाणो,
अदोसवं सो असढभावो॥

जो कल्प्य अथवा अकल्प्य का निश्चय नहीं कर पाता, वह अकल्प्य का कल्प्य बुद्धि से सेवन करता है तो वह दोष का भागी नहीं होता। इसका हेतु उसका अशठभाव है। उसे प्रायश्चित्त नहीं आता।

१७५. जं वा दोसमजाणंतो, हेहंभूतो निसेवती।
होज्ज निद्दोसवं केण, विजाणंतो तमायरं॥

जो 'हेहंभूत'—गुण और दोष के परिज्ञान से विकल है तथा जो दोष को न जानता हुआ अशठभाव से प्रतिसेवना करता है, वह निर्दोष है। परन्तु जो जानता हुआ भी उस दोष का सेवन करता है वह निर्दोष कैसे हो सकता है?

१७६. एमेव य तुल्लम्मि वि, अवराहपयम्मि वट्टिता दो वि।
तत्थ वि जहाणुरूवं, दलंति दंडं दुवेण्हं पि॥

दो मुनि समान अपराध करते हैं फिर भी दोनों के प्रायश्चित्त में भेद रहता है। उन दोनों को यथानुरूप अर्थात् गीतार्थ, अगीतार्थ, संहनन, धृति के अनुरूप प्रायश्चित्त दिया जाता है।

१७७. एसेव य दिट्ठंतो, तिविधे गीतम्मि सोधिनाणत्तं।
वत्थुसरिसो उ दंडो, दिज्जति लोए वि पुव्वत्तं॥

गीतार्थ के तीन प्रकार हैं—बाल, तरुण और वृद्ध। इन तीनों के शोधिनानात्व—प्रायश्चित्त में नानात्व होता है। इस विषय में भी पूर्वोक्त दृष्टांत घटित होता है। समान अपराध होने पर भी तरुण गीतार्थ को प्रभूत प्रायश्चित्त और बाल तथा वृद्ध गीतार्थ को अल्प प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसका हेतु है—असामर्थ्य। लोक में भी वस्तुसदृश अर्थात् पुरुषानुरूप दंड दिया जाता है। यह पहले कहा जा चुका है।

१७८. तिविधे तेगिच्छम्मी, उज्जुग-वाउलण-साहुणा चेव।
पण्णवणमणिच्छंते, दिट्ठंतो भंडिपोतेहिं॥

आचार्य, उपाध्याय और गीतार्थ भिक्षु की चिकित्सा चल रही हो, उस चिकित्सा में व्यापृत सेवाभावी साधु को स्पष्ट बतलाना चाहिए कि यह पथ्य अथवा औषधि एषणीय है, कल्प्य है अथवा अनेषणीय है, अकल्प्य है। जो भिक्षु उस चिकित्सा-काल में भी अनेषणीय—अकल्प्य ग्रहण करना नहीं चाहता तब सेवारत भिक्षु यह प्रज्ञापना करे कि ग्लान अवस्था में मुनि अकल्प्य का सेवन कर सकता है। (फिर प्रायश्चित्त ग्रहण कर विशोधि को प्राप्त हो सकता है।) यहां भंडी (गंत्री—शंकट) और पोत (नौका) का दृष्टांत हैं।

१७९. सुद्धालंभि अगीते, अजतण करण-कहणे भवे गुरुगा।
कुज्जा व अतिपसंगं, असेवमाणे व असमाधी॥

चिकित्साकाल में अगीतार्थ भिक्षु के लिए शुद्ध भिक्षा आदि प्राप्त न होने पर जो परिचारक अयतना करता है और अगीतार्थ को उसके बारे में कहता है तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। चिकित्सा का निषेध आदि होने पर अतिप्रसंग कर सकता है अथवा अशुद्ध-सेवन का प्रतिषेध करने पर रोग वृद्धि के कारण असमाधि हो सकती है (इसलिए चिकित्सा यतना से करनी चाहिए और कहना नहीं चाहिए।)

१८०. जा एगदेसे अदढा उ भंडी,
सीलप्पए सा तु करेति कज्जं।
जा दुब्बला संठविया वि संती,
न तं तु सीलंति विसण्णदारुं॥

गंत्री का दृष्टांत—किसी गाड़ी का एक भाग अदृढ़ है, कमजोर है। उस भाग का परिशीलन—मरम्मत करने पर वह गाड़ी कार्य करने लग जाती है। जो गाड़ी सुसंस्थापित होने पर भी यदि दुर्बल है, कार्य करने में अक्षम है, उस जीर्ण काठवाली गाड़ी का परिशीलन नहीं किया जाता।

१८१. जो एगदेसे अदढो उ पोतो,
सीलप्पए सो उ करेति कज्जं।
जो दुब्बलो संठवितो वि संतो,
न तं तु सीलंति विसण्णदारुं॥

जिस नौका का एक भाग अदृढ़ है, मजबूत नहीं है, उसका परिशीलन (मरम्मत) करने पर यह नौका कार्यकर हो जाती है। जो नौका संस्थापित करने पर भी दुर्बल है, अक्षम है तो उस

---

१. कहा है 'अप्पच्छित्ते य देइ पच्छित्तं, पच्छित्ते अइमत्तं आसायणा तस्स महती उ'—जो अप्रायश्चित्त में प्रायश्चित्त देता है अथवा प्राप्त प्रायश्चित्त से अधिक प्रायश्चित्त देता है तो वह प्रवचन की महान् आशातना करता है। (वृत्ति पत्र २९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषण्ण काठवाली नौका का परिशीलन नहीं किया जा सकता।[1]

१८२. संदेहियमारोग्गं, पउणो वि न पच्चलो तु जोगाणं।
इति सेवंतो दप्पे, वट्टति न य सो तधा गीतो॥

जिस ग्लान भिक्षु को आरोग्य में संदेह हो, स्वस्थ हो जाने पर भी संयम साधना में अपनी असमर्थता ज्ञात हो, यदि यह जानते हुए भी वह अकल्प्य की प्रतिसेवना करता है तो वह दर्पिका प्रतिसेवना है। गीतार्थ मुनि को ऐसी प्रतिसेवना नहीं करनी चाहिए।

१८३. काहं अछित्तिं अदुवा अधीतं,
तवोवधाणेसु य उज्जमिस्सं।
गणं व नीइए य सारविस्सं,
सालंबसेवी समुवेति मोक्खं॥

जो ग्लान भिक्षु यह जानता है कि मैं स्वस्थ होकर, अनेक व्यक्तियों को प्रव्रजित कर तीर्थ को अविच्छिन्न करूंगा अथवा द्वादशांग का सूत्र और अर्थ से अध्ययन करूंगा, तथा तपो-विधानों में उद्यम करूंगा। मैं नीतिपूर्वक शास्त्रोक्त नीति के अनुसार गण की सारणा करूंगा। जो इन आलंबनों को आधार बनाकर चिकित्सा के लिए अकल्प्य की प्रतिसेवना करता है तो वह सालंबसेवी मुनि मोक्ष को प्राप्त होता है—

'सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं'।

पीठिका समाप्त

---

१. गंत्री और नौका के दृष्टांत का निगमन—
यदि ग्लान भिक्षु के दीर्घ आयुष्य की संभावना हो और स्वस्थ होने पर संयम-साधना करने की प्रतीति हो तो चिरकाल तक संयम परिपालन के लिए चिकित्सा करवाना उचित है। अन्यथा चिकित्सा करवाना उचित नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहला उद्देशक

१८४. दुहओ भिन्नपलंबे, मासियसोही उ वण्णिया कप्पे।
तस्स पुण इमं दाणं, भणियं आलोयणविधी य।।

कल्पाध्ययन में द्विधाभिन्न—द्रव्यतः भिन्न तथा भावतः भिन्न ताडफल के लिए मासिक प्रायश्चित्त प्रतिपादित है। इस व्यवहार सूत्र में उसी प्रायश्चित्त की दानविधि और आलोचनाविधि कही गयी है। (पुनः शब्द का तात्पर्य है कि केवल इसी मासिक प्रायश्चित्त की दानविधि और आलोचना विधि प्रतिपादित नहीं है, किंतु अन्यान्य मासिक प्रायश्चित्तों की भी दानविधि और आलोचनाविधि व्यवहाराध्ययन में प्रतिपादित है।)

१८५. एमेव सेसएसु वि, सुत्तेसुं कप्पनामअज्झयणे।
जहि मासिय आवत्ती, तीसे दाणं इहं भणियं।।

इसी प्रकार कल्पाध्ययन के शेष सूत्रों में भी जहां मासिक आपत्ति—प्रायश्चित्त का विधान है, उसकी यहां दानविधि और आलोचनाविधि प्रतिपादित है।

१८६. छट्ठअपच्छिमसुत्ते, जिण-थेराणं ठिती समक्खाया।
तधियं पि होति मासो, अमेरतो सो तु निप्फण्णो।।

छठे उद्देशक के अंतिम सूत्र में जिनकल्पिक मुनियों की तथा स्थविरकल्पिक मुनियों की स्थिति आख्यात है। उसमें अपनी-अपनी कल्पस्थिति की मर्यादा का अतिक्रमण होने पर मासलघु प्रायश्चित्त का विधान है।

१८७. जे त्ति व से त्ति व के त्ति व, निद्देसा होंति एवमादीया।
भिक्खुस्स परूवणया, जे त्ति कओ होति निद्देसो।।

'जे', 'से', 'के' आदि शब्द निर्देशवाची हैं। 'जे भिक्खु' कहने पर भिक्षु की प्ररूपणा में निर्दिष्ट भिक्षु का ग्रहण होता है।

१८८. नामं ठवणाभिक्खू, दव्वभिक्खू य भावभिक्खू य।
दव्वे सरीरभविओ, भावेण तु संजतो भिक्खू।।

भिक्षु शब्द के चार निक्षेप हैं—नामभिक्षु, स्थापनाभिक्षु, द्रव्यभिक्षु और भावभिक्षु। द्रव्यभिक्षु के दो भेद परिगृहीत हैं—ज्ञशरीर और भव्य शरीर। भावभिक्षु होता है—संयत भिक्षु, समस्त सावद्ययोगों से उपरत भिक्षु।

१८९. भिक्खणसीलो भिक्खू अण्णे वि न ते अणण्णवित्तिता।
निप्पिसितेणं णातं, पिसितालंभेण सेसा उ।।

'भिक्षणशीलो भिक्षुः'—जो भिक्षा से जीवन चलाता है वह भिक्षु है, यदि भिक्षु की यह परिभाषा मानी जाये तो अन्यान्य भिक्षाजीवी भी इसके अंतर्गत आ जाते हैं। वे यथार्थ में भिक्षु नहीं है, क्योंकि वे अनन्यवृत्ति वाले नहीं होते अर्थात् वे केवल भिक्षा-वृत्ति वाले नहीं होते।[1] यहां एक उदाहरण है। जब तक मांस नहीं मिलता तब तक मैं निःपिशित—पिशितव्रती हूं। (यह अन्यान्य भिक्षाजीवियों पर लागू होता है।)

१९०. अविहिंस बंभचारी, पोसाहिय अमज्जमंसियाऽचोरा।
सति लंभ परिच्चाई, होंति तदक्खा न सेसा उ।।

कोई कहता है—मैं अहिंसक वृत्ति हूं, जब तक मैं मृग आदि को नहीं देख लेता। कोई कहे—मैं ब्रह्मचारी हूं, जब तक मुझे स्त्री नहीं मिल जाती। कोई कहे—मैं आहारपोषधी हूं, जब तक मुझे आहार प्राप्त न हो। कोई कहे—मैं अमद्यमांसाशी हूं, जब तक मुझे मद्य और मांस प्राप्त न हो जाये। मैं अचोर हूं, जब तक मुझे चोरी का अवसर नहीं मिलता। (ये सारे पूर्व श्लोकों—मांस की अप्राप्ति में पिशितव्रती के तुल्य हैं।) जो वस्तु की प्राप्ति होने पर भी उसका परित्याग करते हैं वे ही वास्तव में तदाख्या—अहिंसक, ब्रह्मचारी आदि कहलाने के योग्य होते हैं। शेष नहीं, क्योंकि इनमें प्रवृत्तिनिमित्त का अभाव है।

१९१. अधवा एसणासुद्धं, जधा गिण्हंति साधुणो।
भिक्खं नेव कुलिंगत्था, भिक्खजीवी वि ते जदि।।

अथवा जैसे साधु एषणादोषों (तथा उद्गम-उत्पादन दोषों) से रहित शुद्ध भिक्षा ग्रहण करते हैं वैसे अन्यान्य वेशधारी मुनि भिक्षाजीवी होने पर भी उनकी भिक्षा इन दोषों से रहित नहीं होती।

---

१. शब्द के दो निमित्त होते हैं—व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त। भिक्षु का व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ है—जो भिक्षा लेता है वह भिक्षु है। उसका प्रवृत्तिनिमित्त अर्थ है—वह भिक्षु जो भिक्षणशील है अथवा नहीं। दोनों अवस्थाओं में प्रवृत्तिनिमित्त वर्तमान रहता है। वह है जो इहलोक और परलोक की आशंसा से मुक्त है, यम-नियम में व्यवस्थित है—यह प्रवृत्तिनिमित्त है। (वृत्ति. पत्र ४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९२. दगमुद्देसियं चेव, कंद-मूल-फलाणि य।
सयंगाहा परत्तो य, गिण्हंता किह भिक्खुणो।।

वे अन्यलिंगी साधु सचित्त पानी, औद्देशिक भक्त-पान, सचित्त कंद, मूल, फल आदि स्वयं ग्रहण करते हैं और दूसरों से मंगाकर लेते हैं। वे कैसे भिक्षु हो सकते हैं? (क्योंकि यहां भिक्षावृत्ति का अभाव है।)

१९३. अचित्ता एसणिच्चा य, मिता काले परिक्खिता।
जहालद्धा विसुद्धा य, एसा वित्ती य भिक्खुणो।।

जो अचित्त, एषणीय, परिमित (कवल आदि के प्रमाण से) अथवा मियकाल–परिमित काल अर्थात् दिन के तृतीय प्रहर में, परीक्षित–दायक आदि के दोष से रहित, यथालब्ध–संयोजनादि दोषरहित आहार के उपभोगकाल में विशुद्ध अर्थात् राग-द्वेष न करते हुए अंगारादि दोषों से मुक्त होकर भोजन करना–यह भिक्षु की वृत्ति है।

१९४. दव्वे य भाव भेयग, भेदण भेत्तव्वगं च तिविहं तु।
नाणादि भाव-भेयण, कम्मखुधेगट्ठयं भेज्जं।।

भेदक, भेदन और भेतव्य–इन तीनों के दो-दो प्रकार हैं–द्रव्यतः और भावतः। (द्रव्यतः जैसे–रथकार है भेदक, परशु आदि है भेदन और काष्ठ आदि द्रव्य हैं भेतव्य।) भावतः जैसे–भेदक है भिक्षु, ज्ञान आदि हैं भेदन (साधन) तथा कर्म है भेतव्य। कर्म और क्षुध–ये एकार्थक हैं।

१९५. भिंदंतो यावि खुधं, भिक्खू जयमाणगो जती होति।
तव-संजमे तवस्सी, भवं खवंतो भवंतो उ।।

जो आठ प्रकार के क्षुध (कर्म) का भेदन करता है वह है भिक्षु। जो संयम योगों में प्रयत्नवान् रहता है वह है यति। जो तपःप्रधान संयम में प्रवर्तमान होता है वह है तपस्वी और जो भवों (जन्म-मरणों) का अंत करता है वह है भवांत। (ये सारे भिक्षु के एकार्थक हैं।)

१९६. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य।
मासस्स परूवणया, पगतं पुण कालमासेणं।।

मास शब्द के छह निक्षेप हैं–नाममास, स्थापनामास, द्रव्यमास, क्षेत्रमास, कालमास और भावमास। इनकी मैं प्ररूपणा करूंगा। प्रस्तुत में कालमास का प्रसंग है।

१९७. दव्वे भविओ निव्वत्तिओ,य खेत्तम्मि जम्मि वण्णणया।
काले जहि वण्णिज्जति, नक्खत्तादी च पंचविहो।।

द्रव्यमास है एकभविक आदि मास। द्रव्यमास के दो प्रकार हैं–मूलगुण निवर्तना निवर्तित तथा उत्तरगुण निवर्तना निवर्तित।[1] जिस क्षेत्र में मास का वर्णन किया जाता है वह क्षेत्रमास है। जिस काल में मास का वर्णन किया जाता है वह कालमास है। अथवा श्रावण, भाद्रपद आदि मास है। अथवा नाक्षत्रमास आदि पांच प्रकार का है।

१९८. नक्खत्ते चंदे या, उडु आदिच्चे य होति बोधव्वा।
अभिवड्ढिते य तत्तो, पंचविधो कालमासो उ।।

कालमास के पांच प्रकार हैं–नाक्षत्रमास, चांद्रमास, ऋतुमास, आदित्यमास और अभिवर्धितमास। (ऋतुमास, कर्ममास तथा श्रावणमास–ये एकार्थक हैं।)[2]

१९९. रिक्खादी मासाणं, आणयणोवायकरणमिणमं तु।
जुगदिणरासी ठाविय, अट्ठारसयाइं तीसाइं।।
२००. ताधे हराहि भागं, रिक्खादीयाण दिणकरंताणं।
सत्तट्ठी बावट्ठी, एगट्ठी सट्ठिभागेहिं।।

इन नाक्षत्रमास आदि के दिनों का आनयन–प्राप्ति के उपाय का गणित इस प्रकार है–एक युग[3] के अहोरात्र की राशि १८३० होती है। उसको संस्थापित कर नक्षत्रमास से आदित्य मास पर्यंत (नक्षत्रमास, चंद्रमास, ऋतुमास तथा आदित्य मास) के दिनों को जानने के लिए क्रमशः ६७,६२,६१ और ६० से उस राशि में भाग देना चाहिए।

---

१. जिस जीव ने पहली बार माषभवानुगतनामगोत्रकर्मोदय से माषद्रव्य प्रायोग्य द्रव्य को ग्रहण करता है–यह मूलगुणनिवर्तित माष है। उत्तरगुणनिवर्तित चित्रलिखित माषस्तंब।

२. 'एस चेव उउमासो कम्ममासो इति वा सावनमास इति वा।'

१. नाक्षत्रमास–चंद्र अपनी चारिका करता हुआ अभिजित नक्षत्र से उत्तराषाढा नक्षत्र पर्यंत जितने काल में जाता है वह कालप्रमाण नाक्षत्रमास है। अथवा चंद्र नक्षत्रमंडल की परिक्रमा जितने समय में संपन्न करता है वह नाक्षत्रमास है।

२. चांद्रमास–युग के आदि में श्रावण मास की कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से प्रारंभ कर पौर्णमासी की परिसमाप्ति तक का कालप्रमाण चांद्रमास है अथवा चंद्रमा की चारिका की परिसमाप्ति के कारण मास भी चांद्रमास कहलाता है।

३. ऋतुमास–लोकरूढ़ी के अनुसार तीस अहोरात्र कालप्रमाण। इसे कर्ममास अथवा श्रावणमास भी कहा जाता है।

४. आदित्य के दो अयन हैं–उत्तरायन और दक्षिणायन। प्रत्येक अयन १८३ दिन का होता है। उसका छठा भाग (३०½) एक आदित्य मास कहलाता है।

५. अभिवर्धित मास–चार आदित्यमास के पश्चात् पांचवा मास अभिवर्धित मास कहलाता है। प्रत्येक संवत्सर में बारह चंद्रमास होते हैं। उससे एक मास की वृद्धि के कारण अभिवर्धित मास कहलाता है। (वृत्ति पत्र ७)

३. सूर्य का उत्तरायन तथा दक्षिणायन १८३-१८३ दिन का होता है। ऐसे पांच उत्तरायन और पांच दक्षिणायन का एक युग होता है। अतः दिनों की कुल संख्या (१८३×१०) १८३० होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०१. अभिवड्ढितकरणं पुण, ठाविय रासिं इमं तु कायव्वं।
उणयालीससताइं, पण्णट्ठाइं अणूणाइं।।
२०२. एतस्स भागहरणं, चउवीसेणं सत्तेण कायव्वं।
जे लद्धा ते दिवसा, सेसा भागा मुणेयव्वा।।

अभिवर्धित मास के दिनों को ज्ञात करने का यह गणित है–३१,६५ की राशि को[1] स्थापित कर उसे १२४ का भाग देने पर जो अंक आता है वे मास के दिन होते हैं। जो शेष अंक बचता है वह अहोरात्र का १२४वां भाग है।

जैसे ३९६५÷१२४=३१$\frac{121}{124}$। (अभिवर्धित संवत्सर के दिन होंगे–३८३$\frac{45}{62}$)।

२०३. अहवा वि तीसतिगुणे, सेसे तेणेव भागहारेणं।
मइयम्मि जं तु लब्भति, ते उ मुहुत्ता मुणेयव्वा।।

अथवा जो शेष बचा है, उसको तीस से गुणा कर उसी में १२४ का भाग देने पर जो प्राप्त होता है, वह मुहूर्तों की संख्या है।

२०४. तस्स वि जं अवसेसं, बावट्ठीए उ तस्स गुणकारो।
गुणकार-भागहारे, बावट्ठीए उ अववट्टो।।

उस मुहूर्त्त संबंधी जो अवशेष रहा है उसको बासठ से गुणन करना होता है। फिर गुणकार और भागहार में ६२ की अपवर्तना की जाती है।

२०५. दोहिं तु हिते भागे, जे लद्धा ते बिसट्ठिभागा उ।
एतेसिमागयफलं, रिक्खादीणं कमेण इमं।।

भागहार १२४ है। उसको ६२ की अपवर्तना करने पर $\frac{124}{62}$=२ हुए। दो का १२४ में भाग देने पर ६२ आये। यह मुहूर्त्त संख्या है। इन नक्षत्र आदि मासों का दिन परिमाण जानने के लिए जो भागहार है अर्थात् जो आगतफल है, वह क्रमशः इस प्रकार है।

२०६. अहरत्त सत्तवीसं, तिसत्तसत्तट्ठिभागनक्खत्ते।
चंदो उ अगुणतीसं, बिसट्ठिभागा य बत्तीसं।।

युगराशि १८३० को ६७ से भाग देने पर नक्षत्रमास का दिन प्रमाण २७ $\frac{7}{67}$ प्राप्त होता है। चांद्रमास का दिन प्रमाण है–२९$\frac{33}{62}$। उसी युगराशि को ६२ से भाजित करने पर यह संख्या प्राप्त होती है।

२०७. उडुमासे तीस दिणा, आइच्चो तीस होति अद्धं च।
अभिवड्ढितेक्कतीसा, इगवीससतं च भागाणं।।

ऋतुमास तीस दिन का, आदित्यमास साढ़े तीस दिन का तथा अभिवर्धित मास ३१ $\frac{121}{124}$ दिन प्रमाण का होता है।[2]

२०८. एक्कत्तीसं च दिणा, इगुतीसमुहुत्त-सत्तरसभागा।
एत्थं पुण अधिगारो, नायव्वो कम्ममासेणं।।

अभिवर्धित मास ३१ दिन २९$\frac{17}{62}$ मुहूर्त्त का होता है। प्रस्तुत में कर्ममास (ऋतुमास) का अधिकार है, प्रसंग है।

२०९. मूलादिवेदगो खलु, भावे जो वावि जाणओ तस्स।
न हि अग्गिनाणतोऽग्गीणाणं भावे ततोऽणण्णो।।

भावमास के दो प्रकार हैं–आगमतः भावमास और नो-आगमतः भावमास। नोआगमतः भावमास–जो मास का जीव–धान्यमाष का जीव मूल, कंद, कांड पत्र, पुष्प और फलरूप में धान्यमाष की भावायु का वेदन करता है वह है आगमतः.....वह जो माष या मास का ज्ञाता है वह है आगमतः भावमास। प्रश्न होता है यदि मास का ज्ञाता भावमास है तो अग्नि के ज्ञान से अग्नि का भाव हो जाना चाहिए। किंतु ऐसा नहीं होता। आचार्य ने कहा–मास का ज्ञान भी मास शब्द वाच्य है। ज्ञान भावात्मक है। भाव आत्मा से अनन्य है। इसलिए मास-ज्ञानोपयुक्त भावमास है।

२१०. नामं ठवणा दविए, परिरय-परिहरण वज्जणुग्गहता।
भावावण्णेऽसुद्धे, नव परिहारस्स नामाइं।।

परिहार नौ प्रकार का है–

१. नाम परिहार	६. वर्जन परिहार
२. स्थापना परिहार	७. अनुग्रह परिहार
३. द्रव्य परिहार	८. आपन्न परिहार
४. परिरय परिहार	९. शुद्ध परिहार।
५. परिहरण परिहार	

२११. कंटगमादी दव्वे, गिरि-नदिमादीण परिरयो होति।
परिहरण-धरण भोगे, लोउत्तर वज्ज इत्तरिए।।

द्रव्य परिहार–कंटक, सर्प, विष आदि द्रव्यों का परिहार।

परिरय परिहार–परिरय का अर्थ है–परिधि। पर्वत, नदी, समुद्र, अटवी आदि का परिरय होता है।

परिहरण परिहार–इसके दो प्रकार हैं–लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक परिहरण है–जैसे माता पुत्र को, भाई को छोड़ती है। लोकोत्तर के दो प्रकार हैं–धरण और भोग। धरण परिहरण–जिन उपकरणों का संगोपन करता है, प्रतिलेखन करता है, परंतु उनका परिभोग नहीं करता। परिभोग परिहरण–सौत्रिक कल्प आदि का परिभोग करता है, ओढ़ता है।

वर्ज्यपरिहरण के दो प्रकार हैं–लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक के दो भेद हैं–इत्वरिक और यावत्कथित। इत्वरिक

---

१. अभिवर्धित मास के दिन का परिमाण है–३१ $\frac{21}{100}$। इसको १२४ से गुणा करने पर (३८४४+१२१) ३९६५ की संख्या आती है।

२. ऋतुमास में युगराशि १८३० को ६१ से, आदित्यमास में ६० से तथा अभिवर्धित मास में ३९६५ को १२४ से भाजित करने पर ऊपरोक्त दिन प्रमाण आते हैं (देखें श्लोक २०१/२०२)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—सूतक के घर का दस दिन तक वर्जन करना। यावत्कथित है—चर्मकार, डोंब, छिंपा आदि यावज्जीवन वर्ज्य हैं। (लोकोत्तर वर्ज्य परिहार के भी दो प्रकार हैं—इत्वरिक—दान में अभिगम श्राद्ध वर्ज्य है। यावत्कथिक—पुरुषों में १८, स्त्रियों में बीस तथा नपुंसकों में दस वर्ज्य है।)

२१२. खोडादिभंगणुग्गह, भावे आवण्णसुद्धपरिहारो।
मासादी आवण्णे, तेण तु पगतं न अन्नेहिं।।

खोटादि का भंग[1] अनुग्रह परिहार है। भाव परिहार के दो प्रकार हैं—आपन्न परिहार तथा शुद्ध परिहार।[2] प्रस्तुत में मासिकादिक जो प्रायश्चित्त आपन्न है उसी का यहां प्रसंग है। अन्य परिहार का नहीं।

२१३. नामं ठवणा दविए, खेत्तऽद्धा, उड्ढ वसहि विरती य।
संजम-पग्गह-जोहे, अचल-गणण-संधणा भावे।।

स्थान शब्द के निक्षेप १५ हैं—

१. नामस्थान	९. संयमस्थान
२. स्थापनास्थान	१०. प्रग्रहस्थान
३. द्रव्यस्थान	११. योधस्थान
४. क्षेत्रस्थान	१२. अचलस्थान
५. अद्धा—कालस्थान	१३. गणनास्थान
६. उर्ध्वस्थान	१४. संधनास्थान
७. वसतिस्थान	१५. भावस्थान।
८. विरतिस्थान	

२१४. सच्चित्तादी दव्वे, खेत्ते गामादि अद्ध-दुविहा उ।
सुर-नारग भवठाणं, सेसाणं काय-भवठाणं।।

द्रव्यस्थान के सचित्त आदि तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। क्षेत्र—ग्राम, नगर आदि का स्थान। अद्धास्थान (कालस्थान) के दो प्रकार हैं—जीवविषयक, अजीवविषयक। अजीव की जितनी स्थिति है वह उसका कालस्थान है। जीवों की कालस्थिति दो प्रकार की है—कायस्थिति, भवस्थिति। देवता और नारक का एकभवावस्थान भवस्थिति है। शेष जीवों—तिर्यंच और मनुष्यों का कायभवस्थान होता है। कायस्थिति और भवस्थिति—यह उनका कालस्थान है।

२१५. ठाण-निसीय-तुयट्टण, उड्ढादी वसहि निवसए जत्थ।
विरती देसे सव्वे, संजमठाणा असंखा उ।।

ऊर्ध्वादि स्थान से स्थान, निषीदन और त्वग्वर्तन (शयन)—ये तीनों गृहीत हैं। स्थान का अर्थ है—कायोत्सर्ग। गृहस्थ अथवा मुनि जहां रहते हैं वह है—वसति स्थान। विरति के दो प्रकार हैं—देशविरति और सर्वविरति। यह है—देशविरति स्थान और सर्वविरति स्थान। सयंमस्थान अर्थात् ज्ञानदर्शनचारित्र का परिणामात्मक अध्यवसाय। ये असंख्य होते हैं।

२१६. पग्गह लोइय इतरे, एक्केक्को तत्थ होइ पंचविहो।
राय-जुवरायऽमच्चे, सेट्ठी पुरोहिय लोगम्मि।।

प्रग्रह का अर्थ है—लोकमान्य पुरुष। प्रग्रह के दो प्रकार हैं—लौकिक और लोकोत्तर। प्रत्येक के पांच-पांच प्रकार हैं। लौकिक प्रग्रह के पांच प्रकार हैं—राजा, युवराज, अमात्य, श्रेष्ठी और पुरोहित।

२१७. आयरिय उवज्झाए, पवत्ति-थेरे तहेव गणवच्छे।
एसो लोगुत्तरिओ, पंचविहो पग्गहो होति।।

लोकोत्तर प्रग्रह के पांच प्रकार हैं—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणावच्छेदक।

२१८. आलीढ-पच्चलीढे, वेसाहे मंडले य समपाए।
अचले निरेयकाले, गणणे एक्कादि जा कोडी।।

योधास्थान के पांच प्रकार हैं—आलीढ, प्रत्यानीढ, वैशाख, मंडल और समपाद।

अचलस्थान का अर्थ है—निरेजन काल।

गणनास्थान है—एक से कोटि पर्यंत संख्या।

२१९. रज्जुयमादि अछिन्नं, कंचुयमादीण छिन्नसंधणया।
सेढिदुगं अच्छिन्नं, अपुव्वगहणं तु भावम्मि।।

संधना के दो प्रकार हैं—द्रव्यसंधना और भावसंधना।

द्रव्यसंधना—के दो प्रकार हैं—अछिन्नसंधना—रज्जुक आदि।

छिन्नसंधना—कंचुकी आदि।

भावसंधना के भी दो प्रकार हैं—छिन्नसंधना और अछिन्नसंधना। इसमें श्रेणीद्वय—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी[3] तथा जो अपूर्वभाव का संधान करता है। यह भी अछिन्न भाव

---

१. खोटभंग, उक्कोडभंग, अक्षोटभंग—ये एकार्थक हैं। राजकुल में जो हिरण्य आदि देना होता है, वेठ करनी पड़ती है, चारभटों आदि के भोजन की व्यवस्था करनी होती है—यह खोटभंग है। राजा के अनुग्रह से यह न करना पड़े तो वह अनुग्रह परिहार है।

२. आपन्न अर्थात् प्राप्त प्रायश्चित्त का परिहार—परित्याग। अथवा प्रायश्चित्त की प्राप्ति आपन्न परिहार है।
शुद्ध परिहार—अनुत्तर धर्मों का परिहार-परिपालन।
(परिहार शब्दस्य परिभोगेऽपि वर्त्तमानत्वात्।)

३. जो उपशमश्रेणी में प्रविष्ट होता है वह अनंतानुबंधि आदि मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का उपशमन करने का ऐसा प्रयत्न करता है कि संपूर्ण मोहनीय कर्म उपशांत हो जाता है। यह होती है उपशमश्रेणी की अछिन्न संधना। क्षपकश्रेणी में भी दर्शन समक के क्षय के पश्चात् कषाय अष्टक का क्षय करने के लिए प्रवृत्त साधक कैवल्य प्राप्ति से पूर्व निवृत्त नहीं होता। अतः क्षपकश्रेणी भी अछिन्न संधना होती है।

(वृ. पत्र १३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संधना है क्योंकि इसमें भी शुभभावों की अव्यवछिन्न संधना होती है।

२२०. मीसाओ ओदइयं, गतस्स मीसगमणे पुणो छिन्नं।
अपसत्थ पसत्थं वा, भावे पगतं तु छिन्नेण।।

मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में संक्रमण होना छिन्न भावसंधान है तथा औदयिक भाव से पुनः मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक भाव में संक्रमण होना भी छिन्न भावसंधान है। अथवा छिन्न भावसंधना के दो प्रकार हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त।[1] यहां अप्रशस्त छिन्न भावसंधना का प्रसंग है।

२२१. मूलुत्तरपडिसेवा, मूले पंचविध उत्तरे दसधा।
एक्केक्का वि य दुविहा, दप्पे कप्पे य नायव्वा।।

प्रतिसेवना के दो प्रकार हैं—मूलगुणप्रतिसेवना, उत्तरगुण-प्रतिसेवना। मूलगुण प्रतिसेवना के पांच भेद हैं तथा उत्तरगुण-प्रतिसेवना[2] के दस भेद हैं। प्रत्येक के दो-दो भेद हैं। दर्प प्रतिसेवना और कल्प प्रतिसेवना।

२२२. किध भिक्खू जयमाणो, आवज्जति मासियं तु परिहारं।
कंटगपहे व छलणा, भिक्खू वि तहा विहरमाणो।।

जो आगम के अनुसार प्रयत्नवान् भिक्षु है उसे मासिक परिहार (प्रायश्चित्तस्थान) कैसे प्राप्त होता है? आचार्य कहते हैं—कंटकाकीर्ण पथ में यतनापूर्वक चलने वाले भिक्षु के भी छलना हो जाती है, कांटा चुभ जाता है वैसे ही यतमान भिक्षु के भी मासिक परिहार आ सकता है।

२२३. तिक्खम्मि उदगवेगे, विसमम्मि व विज्जलम्मि वच्चंतो।
कुणमाणो वि पयत्तं, अवसो जह पावए पडणं।।

२२४. तह समण-सुविहियाणं, सव्वपयत्तेण वी जतंताणं।
कम्मोदयपच्चइया, विराहणा कस्सइ हवेज्जा।।

अति प्रबल पानी के प्रवाह में अथवा विषम कर्दमस्थान में चलता हुआ पुरुष प्रयत्न करता हुआ भी अवश होकर गिर पड़ता है। वैसे ही सुविहित श्रमण के सर्वप्रयत्न से यतमान होते हुए भी कभी किसी कर्मोदय के निमित्त से विराधना हो सकती है।

२२५. अन्ना वि हु पडिसेवा, सा तु न कम्मोदएण जा जयतो।
सा कम्मक्खयकरणी, दप्पाऽजत कम्मजणणी उ।।

केवल कर्मोदय से ही प्रतिसवेना नहीं होती, दूसरे हेतु से भी होती है। प्रयोजनवश यतनापूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना कर्मक्षय करने वाली होती है तथा दर्प से अयतनापूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना कर्मों की जननी होती है।

२२६. पडिसेवणा उ कम्मोदएण कम्ममवि तं निमित्तागं।
अण्णोण्णहेउसिद्धी, तेसिं बीयंकुराणं च।।

प्रतिसेवना कर्मोदय से होती है (प्रतिसेवना का हेतु कर्म है) तो कर्म का हेतु भी प्रतिसेवना है। प्रतिसेवना और कर्म का परस्पर हेतुभावसिद्ध है, जैसे बीज और अंकुर का। (बीज अंकुर का हेतु है और अंकुर बीज का।)

२२७. दिट्ठा खलु पडिसेवा, सा उ कहिं होज्ज पुच्छिए एवं।
भण्णति अंतोवस्सय, बाहिं व वियारमादीसु।।

प्रतिसेवना जान ली गयी। वह (क्षेत्रतः) कैसे होती है, यह पूछने पर आचार्य कहते हैं—वह उपाश्रय में अथवा उपाश्रय के बाहर—विचारभूमी अथवा विहारभूमी आदि में जाते हुए होती है।

२२८. पडिसेविए दप्पेणं, कप्पेणं वावि अजतणाए उ।
न वि णज्जति वाघातो, कं वेलं होज्ज जीवस्स।।

दर्प से अथवा कल्प से अयतनापूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना की आलोचना कर लेनी चाहिए क्योंकि जीव का व्याघात (मृत्यु) कब हो जाये, यह जाना नहीं जा सकता।

२२९. तं न खमं खु पमातो, मुहुत्तमवि अच्छितुं ससल्लेणं।
आयरियपादमूले गंतूण समुद्धरे सल्लं।।

इसलिए प्रमाद से सशल्य होकर मुहूर्त्त भर के लिए भी रहना उचित नहीं है। किंतु आचार्य के पादमूल में जाकर शल्य को निकाल देना चाहिए, उसकी विशोधि कर लेनी चाहिए।

२३०. न हु सुज्झती ससल्लो,
जह भणियं सासणे जिणवराणं।।
उद्धरियसव्वसल्लो,
सुज्झति जीवो धुतकिलेसो।।

जिनेश्वरदेव के शासन में कहा गया है कि सशल्य व्यक्ति की विशुद्धि नहीं होती। समस्त शल्यों का उद्धार करने वाला जीव ही धुतक्लेश—कर्मजाल से शुद्ध होता है अर्थात् मुक्तात्मा बन जाता है।

---

१. जो प्रशस्त चरणभाव से अप्रशस्त चरण भाव में संक्रमण होता है वह अप्रशस्त छिन्नभावसंधान है और अप्रशस्त चरणभाव से प्रशस्त चरणभाव में संक्रमण होना प्रशस्त छिन्नभावसंधान है।

२. उत्तरगुण के दस प्रकार—दस प्रकार के प्रत्याख्यान—अनागत, अतिक्रांत, कोटिसहित, नियंत्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, सांकेतिक तथा अद्धाप्रत्याख्यान।
अथवा उत्तरगुणों के ये दस प्रकार हैं—
१. पिंडविशोधि
२-६. पांच समितियां
७. छह प्रकार का बाह्य तप
८. छह प्रकार का आभ्यंतर तप
९. बारह भिक्षु प्रतिमाएं
१०. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि से अभिग्रह-ग्रहण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३१. अहगं च सावराधी, आसो विव पत्थितो गुरुसगासं।
वइयग्गामे संखडि, पत्ते आलोयणा तिविहा।।

मुनि को यह चिंतन करना चाहिए–मैं भी सापराध हूं। (मुझे गुरु के पास जाकर प्रायश्चित लेकर शुद्ध हो जाना चाहिए।) यह सोचकर गुरु के प्रति प्रस्थित होकर वह अश्व की भांति कहीं प्रतिबद्ध न हो–व्रजिका, ग्राम अथवा संखडि के प्रति प्रतिबद्ध न होकर सीधा आचार्य के पास पहुंचे और आलोचना करे। आलोचना के तीन प्रकार हैं–विहारालोचना, उपसंपदालोचना तथा अपराधा-लोचना। (प्रस्तुत में अपराधालोचना का प्रसंग है।)

२३२. सिग्घुज्जुगती आसो, अणुयत्तति सारहिं न अत्ताणं।
इय संजममणुयत्तति, वइयादि अवंकितो साधू।।

जैसे अश्व शीघ्रगामी और ऋजुगति वाला होकर सारथी का अनुवर्तन करता है, स्वयं की इच्छा का नहीं, वैसे ही मुनि व्रजिका आदि में गमन करते हुए वक्र गति न करे किंतु संयम का ही अनुवर्तन करे अर्थात् कहीं प्रतिबद्ध न होकर सीधा आचार्य के पास ही पहुंचे।

२३३. आलोयणपरिणतो, सम्मं संपट्ठितो गुरुसगासं।
जदि अंतरा उ कालं, करेति आराहओ सो उ।।

जो मुनि आलोचना के परिणाम में परिणत होकर गुरु के पास जाने के लिए सम्यग्रूप से प्रस्थान कर लेता है और यदि वह बीच में ही कालकवलित हो जाता है, फिर भी वह आराधक है।

२३४. पक्खिय चउ संवच्छर, उक्कोसं बारसण्ह वरिसाणं।
समणुण्णा आयरिया, फड्डगपतिया य विगडेंति।।

समनोज्ञ–एक सांभोजिक आचार्य परस्पर तथा स्पर्द्धकपति आदि अपने मूल आचार्य के पास पाक्षिक आलोचना करे। वह न होने पर चातुर्मासिक, उसके अभाव में सांवत्सरिक तथा उसके अभाव में उत्कृष्ट बारह वर्षों में (दूर से आकर भी) विहार की आलोचना करे।

२३५. तं पुण ओह-विभागे, दरमुत्ते ओह जाव भिन्नो उ।
तेण परेण विभागो, संभम-सत्थादि भयणा उ।।

विहारालोचना के दो प्रकार हैं–ओघ–सामान्य और विभाग–विस्तृत। किसी गांव में साधु हैं। उन्होंने भोजन प्रारंभ कर दिया। इतने में ही अतिथि मुनि आ गये। वे वहां कुछ भोजन कर ओघ आलोचना करते हैं और मंडली में भोजन करने बैठ जाते हैं। यदि मूल गुणों में अपराध हुआ हो तो प्रायश्चित्त पंचक से भिन्न मास तक का प्रायश्चित्त लेकर साधुओं के साथ बैठते हैं। 'तेण[1] परेण विभागो'–यदि भिन्नमास से परतः मासादिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तो पृथक् भोजन करते हैं, फिर विस्तार से आलोचना करते हैं। संभ्रम (अग्नि आदि के भय से होने वाली त्वरा) तथा सार्थ आदि की स्थिति में इसकी विकल्पना है।[2]

२३६. ओहेणेगदिवसिया, विभागतो एगऽणेग दिवसा उ।
रत्तिं च दिवसतो वा, विभागतो ओघतो दिवसं।।

ओघ ओलचना नियमतः एक दैवसिकी होती है। विभाग आलोचना एक दैवसिकी अथवा अनेक दैवसिकी होती है। यह दिन में प्रारंभ कर रात्री में भी होती है क्योंकि इसमें आलोचना का विस्तार रहता है। ओघ आलोचना केवल दैवसिकी होती है। (अल्प अपराध तथा भोजनकाल की निकटता के कारण)।

२३७. विभागओ अपसत्थे, दिणम्मि रत्तिं विवक्खतो वावि।
आदिल्ला दोण्णि भवे, विवक्खतो होति ततिया उ।।

प्रथम दो आलोचनाएं–विहारालोचना और उपसंपदालोचना विस्तार से होती हैं। इनकी आलोचना अप्रशस्त (व्यतिपात आदि दोषयुक्त) दिन-रात में भी दी जा सकती है तथा विपक्षतः अर्थात् प्रशस्त दिन-रात में भी दी जा सकती है। विभाग अर्थात् विस्तार से दी जाने वाली तीसरे प्रकार की आलोचना– अपराधालोचना विपक्षतः अर्थात् प्रशस्त दिन या रात में ही दी जा सकती है।

२३८. अप्पा मूलगुणेसुं, उत्तरगुणतो विराधणा अप्पा।
अप्पा पासत्थादिसु, दाणग्गहसंपयोगोहा।।

मूलगणों की अल्प विराधना, उत्तरगुणों की अल्प विराधना, पार्श्वस्थ आदि की अल्प विराधना होने पर तथा दान-संप्रयोग और ग्रहणसंप्रयोग–इनमें ओघ आलोचना होती है।

२३९. भिक्खादिनिग्गएसुं, रहिते विगडेंति फड्डगवईओ।
सव्वसमक्खं केई, ते वीसरियं तु सारेंति।।

भिक्षा आदि के लिए साधुओं के चले जाने पर एकांत में आचार्य के पास स्पर्द्धकपति आकर आलोचना करते हैं। कुछ आचार्य कहते हैं कि वे अपने साथ समागत साधुओं के समक्ष आलोचना करते हैं, क्योंकि साथ वाले मुनि विस्मृत की स्मृति करा देते हैं।

---

१. तेण–ततः अर्थ में अव्यय है। (वृ. पत्र १७)।

२. इस गाथा का तात्पर्य है सार्थ के साथ जाते हुए मुनि सार्थ के ठहरने के स्थान पर स्थायिका करते हैं। इतने में अतिथि साधु-साध्वी आ गये। सार्थ वहां से आगे चल पड़ता है। अथवा गामांतर में गाढ़ ग्लानत्व का प्रयोजन उपस्थित हो गया। वहां प्रतीक्षा नहीं की जाती। अथवा आने वाले मास आदिक परिहारस्थान प्राप्त हैं। पात्र पृथक् नहीं है, जिससे कि वे अलग भोजन करें। तब ओघ आलोचना कर वास्तव्य साधुओं के साथ भोजन कर ले। पात्र मिलने पर पृथक् भोजन करे और विभागतः आलोचना करे। (वृ. पत्र १७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४०. मूलगुण पढमकाया, तत्थ वि पढमं तु पंथमादीसु।
पाद अपमज्जणादी, बितिए उल्लादि पंथे वा।।

आलोचना की विधि—सबसे पहले मूलगुणों के अपराध की आलोचना करे। मूलगुणों में भी सबसे पहले षट्जीवनिकाय संबंधी, उसमें भी पहले पृथ्वीकाय से संबंधित आलोचना करे। मार्ग आदि में पादप्रमार्जन न किया हो, उसकी आलोचना करे।[1] फिर अप्काय विषयक आलोचना करे। उदकार्द्र हाथ या पात्र से भिक्षा ग्रहण की हो अथवा मार्ग में अयतनापूर्वक उदक को पार किया हो आदि की आलोचना करे।

२४१. ततिए पतिट्ठियादी, अभिधारणवीयणादि वाउम्मि।
बीयादिघट्ट पंचम, इंदिय अणुवायतो छट्ठे।।

तीसरे में प्रतिष्ठितादि अर्थात् अग्नि पर परंपराधिष्ठित भक्त-पान लिया हो, उसकी आलोचना करे तदनंतर वायुकाय से संबंधित अभिधारण और बीजनादि की आलोचना करे अर्थात् गर्मी से आर्त्त होकर बाहर वायु का अभिसंधारण किया हो तथा भक्त, पान अथवा शरीर पर पंखे से हवा की हो तो उसकी आलोचना करे। तदनंतर बीज आदि के घट्टन से वनस्पति की आलोचना करे। फिर छठी काय—त्रसकाय से संबंधित अपराध की इंद्रियवृद्धि के क्रम से आलोचना करे।

२४२. दुब्भासिय हसितादी, बितिए ततिए अजाइउग्गहणं।
घट्टणपुव्वरतादी, इंदिय-आलोय मेहुण्णे।।

दूसरे मूलगुण (मृषावाद) के अपराध में दुर्भाषित अथवा हास्य से मृषावाद कहा हो तो उसकी आलोचना करे। तदनन्तर तीसरे मूलगुण (अदत्तादान) से संबंधित अयाचितग्रहण करने पर तथा चौथे मूलगुण (मैथुन) से संबंधित शरीर संघट्टन, पूर्व क्रीडित का अनुस्मरण, स्त्रियों के इंद्रिय आदि का अवलोकन से होने वाले अपराध की आलोचना करे।

२४३. मुच्छातिरित्त पंचम, छट्ठे लेवाड अगद-सुंठादी।
गुत्ति-समिती विवक्खा, अणेसिगहणुत्तरगुणेसु।।

पांचवे मूलगुण विषयक अर्थात् उपकरण विषयक मूर्च्छा तथा अतिरिक्त उपधि का ग्रहण-उपभोग होने पर उसकी आलोचना करे। छठे मूलगुण (रात्रीभोजन) के अपराध में लेपकृत पात्र रात्री में रखा हो, औषधि शुंठी आदि का परिभोग किया हो उसकी आलोचना करे। इस प्रकार मूलगुणों के अपराध की क्रमशः आलोचना कर तदनंतर उत्तरगुणविषयक गुप्ति, समिति के विपक्ष आचरण किया हो अर्थात् अनेषणीय का ग्रहण किया हो, अगुप्त अथवा असमित रहा हो, उसकी आलोचना करें।

२४४. संतम्मि वि बलविरिए, तवोवहाणम्मि जं न उज्जमियं।
एस विहारवियडणा, वोच्छं उवसंप णाणत्तं।।

बल और वीर्य—शारीरिक शक्ति और आंतरिक शक्ति होने पर भी यदि तप उपधान में उद्यम न किया हो तो उसकी भी आलोचना करे। यह विहारालोचना है। उपसंपदालोचना का भी यही स्वरूप है। उसका जो नानात्व है (उपसंपदालोचना तथा अपराधालोचना का विहारालोचना से जो नानात्व है) वह मैं कहूंगा।

२४५. एगमणेगा दिवसेसु, होति ओघे य पदविभागे य।
उपसंपयावराहे, नायमनायं परिच्छंति।।

उपसंपदालोचना और अपराधालोचना के दो-दो प्रकार हैं— ओघ और पदविभाग। ओघालोचना एक दैवसिकी और विभागालोचना एक दैवसिकी तथा अनेक दैवसिकी होती है। उपसंपद्यमान पूर्व ज्ञात है अथवा अज्ञात—इसकी परीक्षा की जाती है। (यदि वह ज्ञात है तो परीक्षा नहीं की जाती। यदि अज्ञात हो तो आवश्यक आदि पदों से परीक्षा की जाती है।)

२४६. दिव-रातो उवसंपय, अवराधे दिवसतो पसत्थमि।
उव्वातो तद्दिवसं, तिण्हं तु अतिक्कमे गुरुगा।।

उपसंपदालोचना प्रशस्त अथवा अप्रशस्त दिन या रात में दी जा सकती है। (इसमें दोष का अभाव है तथा यह पूर्वाचार्यों द्वारा अनुज्ञात है।) अपराध विषयक आलोचना प्रशस्त दिन में ही दी जा सकती है। उपसंपद्यमान शिष्य जिस दिन आया है और यदि वह परिश्रांत है, यह सोचकर आचार्य ने उसे कुछ भी नहीं पूछा तो आचार्य शुद्ध हैं। तीन दिनों का अतिक्रम कर (चौथे दिन) पूछने पर आचार्य को गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२४७. समणुण्णदुगनिमित्तं, उवसंपज्जंत होति एमेव।
अन्नमणुण्णे नवरिं, विभागतो कारणे भइयं।।

उपसंपद्यमान के दो प्रकार हैं—समनोज्ञ और असमनोज्ञ। समनोज्ञ समनोज्ञ के पास दो कारणों से उपसंपदा ग्रहण करता है—ज्ञान के लिए तथा दर्शन के लिए। उसके विहारालोचना की भांति उपसंपदालोचना होती है। भिन्नसांभोगिक अर्थात् अमनोज्ञ ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन तीन निमित्तों से उपसंपदा ग्रहण करता है। उसे ओघतः अथवा विभागतः आलोचना आती है।[2] कारण में विभागालोचना की भजना है, विकल्प है।

२४८. पढमदिणमविप्फाले, लहुओ बितिए गुरु तइए लहुया।
तेच्चिय तस्स अकधणे, सुद्धमसुद्धो विमेहिं तु।।

कोई उपसंपदा ग्रहण करने के लिए आया है। यदि गुरु

---

१. मार्ग में चलते हुए स्थंडिल से अस्थंडिल में या अस्थंडिल से स्थंडिल में, काली मिट्टी से अन्य वर्ण वाली मिट्टी में अथवा अन्य वर्ण वाली मिट्टी से काली आदि मिट्टी में पैरों का बिना प्रमार्जन किये गमन करना अथवा वायु के द्वारा आनीत सचित्त रज, सचित्त मृत्तिका से संसृष्ट हाथ या पात्र में भिक्षा ग्रहण करना।

२. यह गाथा में प्रयुक्त 'नवरिं' (नवरं) का विशेष अर्थ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले दिन उसे कुछ भी नहीं पूछते हैं तो उन्हें मासलघु का प्रायश्चित्त, दूसरे दिन न पूछने पर मासगुरु, तीसरे दिन भी न पूछने पर चार लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पूछने पर भी उपसंपद्यमान व्यक्ति यदि कुछ भी नहीं कहता है तो उसे क्रमशः ये ही प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं। उसके कथन के पश्चात् आचार्य यह विमर्श करें कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध अर्थात् उसका निर्गमन और आगमन शुद्ध है अथवा अशुद्ध।

२४९. अधिकरण-विगतिजोगे, पडिणीए थद्ध-लुद्ध-निद्धम्मे।
अलस-अणुबद्धवेरे, सच्छंदमती पयहियव्वे।।

यदि उपसंपद्यमान शिष्य में ये दोष हों तो वह परिहार करने योग्य है–

१. अधिकरण–कलहकारी	६. लुब्धता
२. विकृति-प्रतिबद्ध	७. क्रूरता
३. योगोद्वहन का भय	८. अलसता
४. प्रत्यनीकता	९. अनुबद्धवैरवाला
५. स्तब्धता	१०. स्वच्छंदमति

(इन कारणों से निगर्मन करने वाला अशुद्ध होता है।)

२५०. गिहि-संजय-अधिगरणे,
लहु गुरुगा तस्स अप्पणो छेदे।
विगतिं न देइ घेत्तुं,
भुत्तुव्वरितं च गहिते वि।।

जिस उपसंपद्यमान शिष्य ने अपने मूल स्थान से गृहस्थों से अथवा संयतों से कलह कर निर्गमन किया हो और यदि आचार्य गृहस्थ से अधिकरण करने वाले को स्वीकार करते हैं तो उनको चार लघुमास तथा संयतों से अधिकरण करने वाले को स्वीकार करते हों तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। अधिकरण कर आये हुए को पांच रात्रिदिवस का छेद प्राप्त होता है। विकृति दोष से निर्गत शिष्य कहता है–वहां आचार्य विकृति (घी आदि) लेने नहीं देते। योगवाही मुनियों द्वारा भुक्तावशेष विकृति लेने की भी आज्ञा नहीं देते।

२५१. नववज्जियावदेहो, पगतीए दुब्बलो अहं भंते!।
तब्भावितस्स एण्हिं, न य गहणं धारणं कत्तो।।

शिष्य आचार्य से कहता है–भगवन्! मेरा शरीर नए इक्षु की भांति है। (जैसे इक्षु पानी के बिना सूख जाता है, वैसे ही मेरा शरीर भी विकृति के बिना सुख जाता है।) भंते! मैं प्रकृति से दुर्बल हूं। मेरा शरीर विकृति से भावित है। उसके बिना मैं सूत्र और अर्थ का ग्रहण तथा धारण कैसे कर सकता हूं। (जो कुछ मैंने सूत्रार्थ सीखा था वह पहले से ही भूल गया। इसलिए मैंने वहां से निर्गमन किया है।)

२५२. एगंतरनिव्विगती, जोगो पच्चत्थिगो व मे तत्थ।
चुक्क-खलितेसु गेण्हति, छिद्दाणि कहेति य गुरूणं।।

उस गण में एकांतर निर्विकृतिक योग का पालन होता है। वहां का योगवहन कठिन है, इसलिए मैंने वहां से निर्गमन कर दिया। उस गच्छ में मेरा प्रत्यनीक भी है जो मेरी विस्मृत तथा स्खलित सामाचारी विषयक भूलों को ग्रहण कर मुझे खरंटित करता है तथा मेरे छिद्रों (दोषों) को गुरु को कहता है। मैंने इसीलिए वहां से निर्गमन कर डाला।

२५३. चंकमणादुट्ठाणे, कडिगहणं झाओ नत्थि थद्धेवं।
भुंजति सयमुक्कोसं, न य देंतऽन्नेसि लुद्धेवं।।

स्तब्ध–अहंकारी शिष्य कहता है–आचार्य चंक्रमण आदि करते हों तो शिष्य को अभ्युत्थान करना चाहिए। ऐसे बार-बार उठने से कमर वायु से जकड़ जाती है, स्वाध्याय, ध्यान की हानि होती है। लुब्ध शिष्य कहता है–उस गण में आचार्य जो कुछ उत्कृष्ट पदार्थ आता है वह स्वयं खा लेते है, दूसरों को नहीं देते। मेरे निर्गमन का यही कारण है।

२५४. आवस्सिया-पमज्जण, अकरणता उग्गदंड निद्धम्मो।
बालादद्धा दीहा, भिक्खाचरिया य उब्भामा।।

निष्करुण शिष्य को पूछने पर कहता है–उस गण में आवश्यक, प्रतिलेखन आदि न करने पर आचार्य उग्र दंड देते हैं। इस क्रूरता के कारण मैंने निर्गमन किया है। आलसी शिष्य कहता है–उस गण में बालमुनियों तथा वृद्धों के लिए भिक्षाचर्या का काल बहुत दीर्घ है। उद्ग्राम अथवा भिक्षा प्रतिदिन ग्रामांतरों से लानी पड़ती है। (अपर्याप्त लाने पर गुरु बार-बार भेजते हैं, खरंटना करते हैं।)

२५५. पाण-सुणगा व भुंजति, एगत्तो भंडिउं पि अणुबद्धो।
एगागिस्स न लब्भा, चलिउं थेवं पि सच्छंदो।।

अनुबद्धवैर वाला शिष्य कहता है–जिस गण से मैंने निर्गमन किया है वहां मुनि परस्पर कलह कर पाणशुनक–चांडालों के कुत्तों की भांति परस्पर लड़-झगड़ कर एकत्र होकर खा लेते हैं। स्वच्छंदमति वाला कहता है–मैं उस गण में एकाकी कहीं भी आ-जा नहीं सकता। वहां थोड़ी भी स्वच्छंदता नहीं है। इसलिए यहां आया हूं।

२५६. जइ भंडण पडिणीए, लद्धे, अणुबद्धरोस चउगुरुगा।
सेसाण होंति लहुगा, एमेव पडिच्छमाणस्स।।

जो उपसंपद्यमान शिष्य मुनियों से कलह कर आया है, साधुओं को प्रत्यनीक मानकर आया है, लोलुपतावश आया है, अनुबद्ध रोष से आया है–इन सबको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। शेष कारणों से आनेवालों को चार लघुमास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इनको उपसंपदा देने वाले आचार्य को भी इतना ही प्रायश्चित्त आता है।

२५७. एगे अपरिणए वा, अप्पाधारे य थेरए।
गिलाणे बहुरोगे य, मंदधम्मे य पाहुडे।।
२५८. एगाणियं तु मोत्तुं, वत्थादि अकप्पिएहि वा सहितं।
अप्पाधारो वायण, तं चेव य पुच्छिउं देति।।
२५९. थेरमतीवमहल्लं, अजंगमं मोत्तु आगतो गुरुं तु।
सो च परिसा व थेरा, अहं तु वट्टावओ तेसिं।।
२६०. तत्थ गिलाणो एगो, जप्पसरीरो तु होति बहुरोगी।
निद्धम्मा गुरु-आणं, न करेंति ममं पमोत्तूणं।।

(ऊपरोक्त कारणों के अतिरिक्त यदि वह इन कारणों से पूर्व गच्छ से निर्गमन कर आया हो—) आचार्य को अकेला अपरिणत अर्थात् वस्त्र आदि से अकल्पिक छोड़कर आया हो, तात्पर्य है वही वस्त्रों के उत्पादन में लब्धिमान् था। आचार्य को अल्पाधार—अर्थात् सूत्रार्थ की निपुणता से विकल कर आया हो। वह सूत्रार्थ के कथन में निपुण था। आचार्य उसी को पूछकर वाचना देते थे। वह गुरु को अत्यंत अजंगम अवस्था में छोड़कर आया है। आचार्य स्थविर पर्षद् वाले हैं और वही एकमात्र उनका वर्तापक—देखभाल करने वाला था। उस गण में एक मुनि ग्लान है, एक मुनि बहुरोगी—अनेक रोगों से ग्रस्त है। उनको छोड़कर आया है। वहां का शिष्य-समुदय निर्द्धर्मा—धर्मवासना से रहित है। मुझे छोड़कर कोई भी शिष्य गुरु की आज्ञा का अनुपालन नहीं करता। वे सभी मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। ऐसी दशा में गण से निर्गमन किया है।

२६१. एतारिसं विउसज्ज विप्पवासो न कप्पति।
सीसायरिय पडिच्छे, पायच्छित्तं विहिज्जइ।।

इस प्रकार गुरु, ग्लान आदि को एकाकी छोड़कर विप्रवास—अन्यत्र गमन करना नहीं कल्पता। उपसंपदा के लिए आने वाला वह पूर्व आचार्य का शिष्य अथवा प्रतीच्छक हो सकता है। उपसंपदा देने वाला आचार्य उसको प्रायश्चित्त दे।

२६२. एगे गिलाण पाहुड, तिण्ह वि गुरुगा उ सिस्समादीणं।
सेसे सिस्से गुरुगा, पडिच्छ लहुगा गुरू सरिसं।।

यदि शिष्य अथवा प्रतीच्छक ने गुरु को तथा ग्लान को गण में एकाकी छोड़कर गण से निर्गमन किया हो और उन्हें उपसंपदा दी जाती है तो तीनों—शिष्य, प्रतीच्छक तथा उपसंपदा देने वाले आचार्य को चार-चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। शेष कारणों (देखें गाथा २५७-२६०) से समागत शिष्य को चार गुरुमास का तथा उपसंपदा देने वाले आचार्य को भी चार गुरुमास का और प्रतीच्छक को चार लघुमास का और उसको उपसंपदा देने वाले आचार्य को भी चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२६३. सीस-पडिच्छे पाहुड, छेदो राइंदियाणि पंचेव।
आयरियस्स वि गुरुगा, दोवेते पडिच्छमाणस्स।।

यदि किसी गण में गुरु का किसी के साथ अधिकरण हो और शिष्य अथवा प्रतीच्छक वहां से निर्गमन कर आ गये हों तो उनको पांच दिन रात का छेद तथा उनको उपसंपदा देने वाले आचार्य को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२६४. एतद्दोसविमुक्कं, वइयादी अपडिबद्धमायातं।
दाऊणं पच्छित्तं, पडिबद्धं पी पडिच्छेज्जा।।

कोई शिष्य पूर्व दोषों से विमुक्त होकर व्रजिकादि में अप्रतिबद्ध होकर आता है तो उसका निर्गमन शुद्ध है। (ऐसे शिष्य को उपसंपन्न करना चाहिए।) जो व्रजिकादि में प्रतिबद्ध होकर आता है तो उसे भी प्रायश्चित्त देकर उपसंपन्न कर लेना चाहिए।

२६५. सुद्धं पडिच्छिऊणं,
अपडिच्छणे लहुग तिण्णि दिवसाणि।
सीसे आयरिए वा
पारिच्छा तत्थिमा होति।।

जिसका गण-निर्गमन शुद्ध हो उसको उपसंपदा देने के पश्चात् तीन दिनों तक उसकी परीक्षा करे। (यह देखे कि क्या यह धर्मश्रद्धा से युक्त है या नहीं।) परीक्षा न करने पर मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। शिष्य आचार्य की परीक्षा करता है और आचार्य शिष्य की परीक्षा करते हैं। परीक्षा की विधि यह है।

२६६. आवस्सग-पडिलेहण, सज्झाए भुंजणे य भासाए।
वीयारे गेलण्णे, भिक्खग्गहणे पडिच्छंति।।

आचार्य और शिष्य परस्पर इन विषयों की परीक्षा करते हैं—आवश्यक, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, भोजन, भाषा, बहिर्भूमि-गमन, ग्लान, भिक्षाग्रहण।

२६७. केई पुव्वनिसिद्धा, केई सारेति तं न सारेति।
संविग्गो सिक्ख मग्गति, मुत्तावलि मो अणाहोऽहं।।

(आवश्यक आदि पदों के आधार पर आचार्य शिष्य की परीक्षा करते हैं।) आचार्य उस नवागंतुक शिष्य की उपसंपदा से पूर्व ही अनेक शिष्यों को आवश्यक आदि पदों के दोषों के लिए निषेध कर देते हैं कि यह मत करना। जो शिष्य प्रमाद करते हैं, आचार्य उनको सम्यग् अनुष्ठान के प्रति प्रेरित करते हैं। किसी पूर्व उपसंपन्न मुनि कि वे सारणा नहीं करते। यह देखकर उपसंपद्यमान शिष्य संविग्न होकर अप्रेरित होता हुआ सोचता है—मैं अनाथ हो गया। वह आचार्य के चरणों में छिन्नमुक्तावली सदृश आंसुओं को गिराता है और शिक्षा की याचना करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६८. हीणाधियविवरीते, सति वि बले पुव्वऽठंति चोदेति।
अप्पणए चोदेती, न ममंति सुहं इहं वसितुं।।

कोई मुनि कायोत्सर्ग के सूत्रों का हीन-अधिक अथवा विपरीत उच्चारण करता है,[1] शक्ति होने पर भी पहले कायोत्सर्ग में स्थित नहीं होता, आचार्य उनको प्रेरणा देते हैं। (जिस शिष्य की परीक्षा ली जा रही है, उसे प्रमाद करते हुए भी शिक्षा नहीं देते।) तब वह यदि ऐसा सोचता है—ये आचार्य आत्मीय शिष्यों को प्रेरणा देते हैं, मुझे नहीं। अच्छा है, मैं यहीं सुखपूर्वक रहूं। (ऐसे शिष्य को उपसंपन्न नहीं करना चाहिए।)

२६९. जो पुण चोइज्जंते, दट्ठूण नियत्तए ततो ठाणा।
भणति अहं मे चत्तो, चोदेह ममं पि सीदंतं।।

जो आचार्य द्वारा दूसरों को प्रेरित होते देख स्वयं प्रमाद-स्थान से निवृत्त होकर गुरु के पास जाकर कहता है—भगवन्! आपने मुझे प्रेरणा नहीं दी। आप मुझ प्रमादी को भी शिक्षा दें।

(यह सारी आवश्यक से संबंधित परीक्षा की बात है।)

२७०. पडिलेहणसज्झाए, एमेव य हीणमधियविवरीतं।
दोसेहिं वावि भुंजति, गारत्थियढड्ढरा भासा।।

इसी प्रकार प्रतिलेखन तथा स्वाध्याय में भी हीन-अधिक-विपरीत करने पर तथा भोजन में भी दोषयुक्त विधि से भोजन करने पर आचार्य आत्मीय शिष्यों को निषेध करते हैं किंतु परीक्ष्यमाण को प्रेरणा नहीं देते, अथवा गृहस्थ की भाषा अथवा ढड्ढरभासा—स्थूल स्वरों से बोले जानेवाली भाषा बोलने पर आचार्य आत्मीय शिष्यों को प्रेरित करते हैं, परंतु उपसंपद्यमान को प्रेरित नहीं करते।

२७१. थंडिल्लसमायारिं, हावति अतरंतगं न पडिजग्गे।
अभणितो भिक्ख न हिंडति, अणेसणादी व पिल्लेई।।

जो स्थंडिल की सामाचारी का उल्लंघन करता है, असमर्थ अर्थात् ग्लान की सेवा नहीं करता, बिना कहे भिक्षाचर्या के लिए नहीं जाता, अनेषणीय आदि ग्रहण करता है (आचार्य आत्मीय मुनियों को ऐसा करने पर निवारण करते हैं, उपसंपद्यमान को नहीं।)

२७२. जतमाण परिहवंते, आगमणं तस्स दोहि ठाणेहिं।
पंजरभग्गमभिमुहे, आवस्सगमादि आयरिए।।

उपसंपद्यमान मुनि का दो स्थानों से आगमन होता है—यतमान (संविग्न) मुनियों से, परिभवद् (पार्श्वस्थ) मुनियों से। यतमान से आने वाला पंजरभग्न और परिभवद् से समागत पंजराभिमुख है। आचार्य दोनों की आवश्यकादि पदों से परीक्षा करें।(आगंता भी आचार्य की परीक्षा करे।)

२७३. पणगादिसंगहो होति, पंजरो जा य सारणऽण्णोण्णे।
पच्छित्तं चमढणाहिं, निवारणं सउणिदिट्ठंतो।।

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणावच्छेदक—इन पांचों का संग्रह पंजर कहलाता है। अथवा आचार्य आदि की परंपरा सारणा पंजर है। अथवा कठोर शब्दों से तर्जना देकर प्रायश्चित्तपूर्वक असामाचारी से निवारण करना पंजर है। इसमें शकुनि का दृष्टांत ज्ञातव्य है।[2]

२७४. ते पुण एगमणेगा, णेगाणं सारणा जधापुव्वं।
उपसंपद आउट्टे, अणउट्टे अण्णहिं गच्छे।।

उपसंपद्यमान शिष्य एक या अनेक हो सकते हैं। अनेक शिष्यों की सारणा जैसे कल्पाध्ययन में कही गयी है, वही है। एक यदि असमाचारी से आवृत्त हो जाता है तो उसकी उपसंपदा हो सकती है। यदि आवृत्त नहीं होता है तो उसे 'अन्यत्र जाओ' ऐसा कहा जाता है।

२७५. निग्गमणे परिसुद्धे, आगमणेऽसुद्ध देंति पच्छित्तं।
निग्गमणे अपरिसुद्धे, इमाइ जयणाय वारेंति।।

यदि गण-निर्गमन करने वाले का निर्गमन परिशुद्ध है और आगमन (व्रजिकादि में प्रतिबंध के कारण) अशुद्ध है तो उसे प्रायश्चित्त देकर उपसंपदा दे देनी चाहिए। किंतु जिसका निर्गमन परिशुद्ध नहीं है तो उसे उपसंपदा नहीं देनी चाहिए। उसका प्रस्तुत यतना के द्वारा वारण करना चाहिए।

२७६. नत्थी संकियसंघाडमंडली भिक्खबाहिराणयणे।
पच्छित्तऽविउस्सग्गे, निग्गमसुत्तस्स छण्णेणं।।

प्रस्तुत गाथा की अक्षरगमनिका इस प्रकार है। आगे की तीन गाथाओं में इसका विस्तार है। मेरे पास वह शास्त्र ज्ञान नहीं है। जो था वह भी शंकित हो गया है। संघाटक से उद्विग्न होकर आया हैं। हमारे गण में मंडली की व्यवस्था है। भिक्षा बाहर के प्रदेशों से लानी होती है। तत्काल प्रायश्चित दिया जाता है। यहां

---

१. हीन का अर्थ है—सूत्रों का मंद-मंद उच्चारण करना, अधिक का अर्थ है—सूत्रों का त्वरित उच्चारण करना, विपरीत का अर्थ है—प्रादोषिक कायोत्सर्ग को प्राभातिक की भांति और प्राभातिक को प्रादोषिक की भांति करना। प्राचीन परंपरा यह रही है कि सूर्यास्त होते ही बाधा न हो तो सभी मुनि आचार्य के साथ प्रतिक्रमण करें। आचार्य विशेष कार्य में व्यस्त हों, बाल-वृद्ध, ग्लान, असह तथा निषद्याधर को छोड़कर शेष मुनि सूत्रार्थ के स्मरण के लिए कायोत्सर्ग करें।
(वृ. पत्र २६)

२. जैसे पक्षी को पिंजरे में डालकर उसके स्वच्छंद विचरण को रोका जाता है वैसे ही पुरुषगच्छपंजर में सारणा की शलाका से व्यक्ति का असमाचारीरूप उन्मार्गगमन को रोका जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकृति का व्युत्सर्ग करना होता है।[1]

निग्गम सुत्तस्स छण्णेणं–जिन आगंतुक शिष्यों का परिस्थापन करना हो और वे यदि वहां से न जायें तो यह यतना है। जब उनका स्वयं भिक्षा के लिए निर्गम होता है अथवा वे रात्री में सो रहे हों तो उन्हें वहीं छोड़कर गुप्तरूप से अन्यत्र चला जाना चाहिए।

२७७. नत्थेयं मे जमिच्छसि, सुतं मया आम संकितं तं तु।
न य संकितं तु दिज्जति, निस्संकसते गवेस्साहि।।

२७८. एगागिस्स न लब्भा, वीयारादी वि जयण सच्छंदे।
भोयणसुत्ते मंडलिय, पढंते वा नियोयंति।।

२७९. अलसं भणंति बाहिं, जइ हिंडसि अम्ह एत्थ बालादी।
पच्छित्तं हाडहडं, अविउस्सग्गो तहा विगती।।

(अन्य गण में उपसंपदा ग्रहण करने वाला शिष्य अनेक कारणों से गण से निर्गमन करता है। जहां उपसंपदा ग्रहण करनी है, वहां आचार्य उसका तद् तद् दोष का उद्भावनपूर्वक यतना से निवारण करते हैं।)

ज्ञानार्थ आये हुए शिष्य को–जो शास्त्र तुम मुझसे सुनना, जानना चाहते हो वह मेरे पास नहीं है। वह कहता है–मैंने सुना है कि अमुक शास्त्र के आप ज्ञाता हैं। आचार्य तब कहते हैं–मैंने उसको सुना था, परंतु अब वह शंकित हो गया है। शंकित शास्त्र का ज्ञान नहीं दिया जा सकता, इसलिए तुम निःशंक श्रुतज्ञाता की गवेषणा करो।

स्वच्छंदमति के निवारण के लिए–हमारे गण की यह सामाचारी है कि स्थंडिलभूमि में भी एकाकी मुनि नहीं जा सकता।

अनुबद्धवैर के निवारण के लिए–हमारे गण में मुनि भोजनमंडली, सूत्रमंडली, अर्थमंडली तथा स्वाध्यायमंडली में नियोजित होते हैं। तुम ऐसा नहीं कर सकते इसलिए अन्यत्र जाओ।

अलस को कहते हैं–हमारे गण में अनेक बाल मुनि, वृद्ध मुनि आदि हैं। वे भिक्षाचर्या के लिए नहीं जाते। यदि तुम बाहर भिक्षा के लिए जा सकते हो तो यहां रहो, अन्यथा नहीं।

प्रायश्चित्त से भयभीत को कहते हैं–यहां छोटी स्खलना पर भी हाडहडं–तत्काल प्रायश्चित्त दिया जाता है, कालक्षेप नहीं किया जाता।

विकृति प्रतिबद्ध को कहते हैं–हमारे गण में योगवाही अथवा अयोगवाही–सभी विकृति का वर्जन करते हैं। (तुम दुर्बल शरीर हो। बिना विकृति के तुम्हारा शरीर-निर्वाह कठिन है।)[2]

२८०. तत्थ वि मायामोसो, एवं तु भवे अणज्जवजुतस्स।
वुत्तं च उज्जुभूते, सोही तेलोक्कदंसीहिं।।

शिष्य ने कहा–भंते! जिन शिष्यों का गण-निर्गमन अशुद्ध हैं उनका आप निषेध करते हैं। इसमें माया और मृषावाद का प्रसंग आता है। यह अनार्जव–अऋजुता है। त्रैलोक्यदर्शी तीर्थंकरों ने कहा है–ऋजुभूत की शोधि होती है। (इसलिए प्रतिषेध नहीं करना चाहिए)। आचार्य ने कहा–

२८१. एस अगीते जयणा, गीते वि करेंति जुज्जती जं तु।
विद्देसकरं इहरा, मच्छरिवादो वि फुडरुक्खे।।

पूर्वोक्त वाग्यतना अशुद्ध निर्गमन करने वाले अगीतार्थ तथा गीतार्थ–दोनों के निवारण के लिए की जाती है। गीतार्थ रुष्ट नहीं होते। जो युक्त होता है उसे करते हैं। अगीतार्थ को स्पष्टाक्षरों से अथवा रूक्षाक्षरों से कहने पर वह कथन उसके लिए विद्वेषकारी हो जाता है। वह आचार्य को मत्सरी, पक्षपाती बतलाता है।

२८२. निग्गमऽसुद्धमुवाएण, वारितं गेण्हते समाउट्टं।
अधिगरण पडिणिऽणुबद्धमेगागि जढं न सातिज्जा।।

जिस शिष्य का निर्गमन अशुद्ध है, उसका उपाय से निवारण करने पर वह यदि समावृत्त हो जाता है (वह कहता है–मैं पूर्वाचरित पापाचरण को नहीं दोहराऊंगा) तो आचार्य उसे उपसंपदा के लिए स्वीकार कर लेता है। किंतु जो अधिकरण करके आया है, जो यह कहता है उस गण में मेरा प्रत्यनीक है, जो अनुबद्धरोष वाला है, जो आचार्य को एकाकी छोड़कर आया है–आचार्य उसे स्वीकार न करे।

२८३. पडिणीयम्मिउ भयणा, गिहिम्मि आयरियमादिदुट्ठम्मि।
संजयपडिणीए पुण, न होंति उवसामिते भयणा।।

प्रत्यनीक के प्रति विकल्पना है। कोई गणनिर्गमन करने वाला यदि गृहस्थ आचार्य आदि (उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक तथा शेष भिक्षुओं) के प्रति प्रद्विष्ट है, उसके भय से

---

१. वृत्तिकार पूरी गाथा की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहते हैं–भाष्यकार ने अधिकरण, प्रत्यनीक तथा स्तब्ध–इनके विषय में कुछ भी नहीं कहा है। सूत्र और भाष्य की गति विचित्र होती है। अधिकरण विषयक यतना कल्पाध्ययन में विहित है।

२. २७६ की गाथा की वृत्ति में अन्यान्य दोषों से प्रतिबद्ध आए हुए शिष्यों की यतना इस प्रकार बतलायी है। अधिकरणकारी की यतना कल्पाध्ययन में विहित है। प्रत्यनीक को कहते है–मेरे भी प्रतीच्छक शिष्य हैं। जो तनिक प्रमाण भी नहीं सह सकते। वे मेरे पास शिकायत करते हैं और मैं दंड देता हूं अन्यथा मेरे पक्षपात का आरोप आता है। स्तब्ध को कहते हैं–हमारी यह सामाचारी है कि गुरु जब चंक्रमण आदि करते हैं। तो शिष्य को अभ्युत्थान करना चाहिए, अन्यथा दंड आता है। लोलुप को कहते हैं–उत्कृष्ट द्रव्य हम बाल, वृद्ध, अतिथि, ग्लान को देते हैं। (वृ. पत्र २९,३०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि उसने गणनिर्गमन किया है तो वह उपसंपदा ग्रहण करने योग्य है। यदि वह कहे कि उस गण में एक मुनि मेरा प्रत्यनीक है तो वह स्वीकार करने योग्य नहीं है। जो उपशांत हो जाता है, प्रत्यनीक से क्षमा याचना कर लेता है, वह नियमतः स्वीकार करने योग्य है, उसमें भजना नहीं होती।

२८४. सो पुण उवसंपज्जे, नाणट्ठा दंसणे चरित्तट्ठा।
एतेसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए।।

वह ज्ञान के लिए, दर्शन के लिए अथवा चारित्र के लिए उपसंपन्न होता है। उपसंपद्यमान इन शिष्यों में जो नानात्व है, उसे मैं यथानुपूर्वी प्रकट करूंगा।

२८५. वत्तणा संधणा चेव, गहणे सुत्तत्थ-तदुभए।
वेयावच्चे खमणे, काले आवकहादि य।।

ज्ञानार्थ और दर्शनार्थ उपसंपदा स्वीकार करने वाले सूत्र, अर्थ और तदुभय–सूत्रार्थ के लिए उपसंपन्न होते हैं। इनमें प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं–वर्तना–बार-बार अभ्यास करना, संधना–विस्मृत का पुनः संस्थापन करना तथा ग्रहण–अपूर्व का ग्रहण करना। चारित्रोपसंपदा स्वीकार करने वाले के दो प्रकार हैं–वैयावृत्त्य के निमित्त तथा क्षपणा के निमित्त। ये दोनों कालतः यावज्जीवन तथा इत्वरिक दोनों होते हैं।

२८६. दंसण-नाणे सुत्तत्थ-तदुभए वत्तणादि एक्केक्के।
उपसंपदा चरित्ते, वेयावच्चे य खमणे य।।

दर्शन और ज्ञान की उपसंपदा सूत्रनिमित्तक, अर्थनिमित्तक और तदुभय निमित्तक होती है। प्रत्येक सूत्रादि में तीन-तीन भेद हैं–वर्तना, संधना और ग्रहण। (इस प्रकार दर्शन और ज्ञान विषयक उपसंपदा नौ-नौ प्रकार की है।) चारित्र उपसंपदा दो प्रकार की है–वैयावृत्त्य विषयक, क्षपणा विषयक।

२८७. सुद्धऽपडिच्छण लहुगा, अकरेंते सारणा अणापुच्छा।
तीसु वि मासो लहुओ, वत्तणादीसु ठाणेसु।।

उपसंपद्यमान की तीन दिन तक परीक्षा करने पर यदि शुद्ध प्रतीत होता है तो उसको उपसंपदा न देने पर आचार्य को चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। उपसंपन्न व्यक्ति जिस प्रयोजन से उपसंपन्न हुआ है यदि वह नहीं करता है तो उसे मासलघु का प्रायश्चित्त आता है और यदि प्रमाद करने वाले शिष्य की सारणा नहीं करते हैं तो आचार्य को मासलघु का प्रायश्चित्त वहन करना पड़ता है।[1] अनापृच्छा से संबंधित सूत्र, अर्थ तथा तदुभय और वर्तना, संधना और ग्रहण के प्रत्येक स्थान में मासलघु आदि प्रायश्चित्त आता है।[2]

२८८. सारेयव्वो नियमा, उवसंपन्नो सि जं निमित्तं तु।
तं कुणसु तुमं भंते! अकरेमाणे विवेगो उ।।

आचार्य को उपसंपन्न शिष्य की सारणा करनी चाहिए। आचार्य शिष्य को कहते हैं–भदंत! जिस निमित्त से तुम उपसंपन्न हुए हो उसे तुम करो। यदि दो-तीन बार कहने पर भी वह शिष्य अपना कार्य नहीं करता है तो उसका विवेक–परित्याग कर देना चाहिए।

२८९. अणणुण्णमणुण्णाते, देंत पडिच्छंत भंग चउरो उ।
भंगतियम्मि वि मासो, दुहओऽणुण्णाए सुद्धो उ।।

अनापृच्छा–अननुज्ञात से संबंधित चार विकल्प हैं–

१. अननुज्ञात अननुज्ञात के साथ वर्तना आदि करता है।
२. अननुज्ञात अनुज्ञात के साथ वर्तना आदि करता है।
३. अनुज्ञात अननुज्ञात के साथ वर्तना आदि करता है।
४. अनुज्ञात अनुज्ञात के साथ वर्तना आदि करता है।

अननुज्ञात देता है और अननुज्ञात लेता है–इस विषयक ये चार भंग हैं। सूत्र, अर्थ और तदुभय–इस विकल्पत्रिक में वर्तना आदि का प्रायश्चित्त है लघुमास, अर्थविषयक गुरुमास और तदुभय का उभय प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो 'दुहतोणुण्णाए'–अर्थात् अनुज्ञात अनुज्ञात को उपसंपदा देता है, वह भंग शुद्ध है।

२९०. एमेव दंसणे वी, वत्तणमादी पदा उ जध नाणे।
वेयावच्चकरो पुण, इत्तरितो आवकहिओ य।।

जैसे ज्ञान विषयक वर्तना आदि पदों की प्रायश्चित्तविधि बतायी है वैसे ही दर्शन के विषय में जाननी चाहिए। (यह ज्ञान-दर्शन उपसंपदा है।) चारित्र उपसंपदा–वैयावृत्त्य के लिए उपसंपन्न वैयावृत्त्यकर के दो प्रकार हैं–इत्वरिक और यावत्कथित।

२९१. तुल्लेसु जो सलद्धी, अन्नस्स व वारएणऽनिच्छंते।
तुल्लेसु व आवकही, तस्सऽणुमएण च इत्तरिओ।।

वैयावृत्त्य करने वाले दो हैं–एक गच्छवासी है और दूसरा अतिथि है।

यदि दोनों कालतः तुल्य हों (इत्वरिक हों) तो जो लब्धिमान् है उससे वैयावृत्त्य कराए और जो अलब्धिक है उसे

---

१. यह प्रायश्चित्त-विधान सूत्र विषयक है। अर्थ के निमित्त उपसम्पन्न व्यक्ति प्रमाद करता है और आचार्य वर्तना आदि में उसका निवारण नहीं करता है तो वर्तना, संधना और ग्रहण तीनों में (प्रत्येक में) आचार्य को मासगुरु का प्रायश्चित्त आता है। उभय–सूत्रार्थ के विषय में वर्तना आदि तीनों स्थानों में पृथक्-पृथक् मासगुरु और मासलघु प्रायश्चित्त का विधान है। यह गाथा में अनुक्त है, फिर भी परंपरा से लिखा है (वृत्ति पत्र ३३)

२. वृत्तिकार ने अनेक विकल्पों से इसे समझाया है। सूत्र, अर्थ और तदुभय में वर्तना, संधना और ग्रहण से संबंधित जो शिष्य प्रमाद करता है, उसकी सारणा न करने पर आचार्य को प्रायश्चित्त आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्याय आदि की वैयावृत्त्य के लिए दे दे। यदि इतर की अर्थात् उपाध्याय की वैयावृत्त्य करना न चाहें तो दोनों को बारी-बारी से वैयावृत्त्य करने के लिए कहे। यदि दोनों सलब्धिक हैं तथा यावत्कथिक हैं तो कोई भी एक उपाध्याय की वैयावृत्त्य करे। यदि कोई भी न चाहे तो आगंतुक को विसर्जित कर दे। यदि दोनों सलब्धिक हैं और इत्वरिक हैं तो आगंतुक से उपाध्याय की वैयावृत्त्य कराये।

२९२. अणणुण्णाते लहुगा, अचियत्तमसाह जोग्गदाणादी।
निज्जरमहती हु भवे, तवस्सिमादीण करणे वी।।

वास्तव्य वैयावृत्त्यकर की अननुज्ञा से अथवा अनापृच्छा से यदि इत्वर आगंतुक को वैयावृत्त्य में स्थापित किया जाता है तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। वास्तव्य वैयावृत्त्यकर के प्रति अप्रीति होती है तथा आगंतुक को आचार्य के प्रायोग्य दान-श्रद्धादि कुल नहीं बताये जाते। उस आगंतुक वैयावृत्त्यकर को कहा जाता है—तुम तपस्वियों की, क्षपणों की वैयावृत्त्य करो। उसमें भी महान् निर्जरा होती है।

२९३. आवकही इत्तरिए, इत्तरियं विगिट्ठ तहऽविगिट्ठे य।
सगणामंतण खमणे, अणिच्छमाणं न तु निओए।।

उपसंद्यमान क्षपक के दो प्रकार हैं—यावत्कथिक और इत्वरिक। इत्वरिक दो प्रकार का होता है—विकृष्टतपःकारी और अविकृष्टतपःकारी।[1] दोनों प्रकार के क्षपक उपसपंदा ग्रहण करने के लिए आने पर आचार्य अपने गण को आमंत्रित कर प्रच्छन्नरूप से पूछते हैं कि क्या इनको उपसंपदा दें या प्रतिषेध कर दें? यदि गण अनुमति दे तो उन्हें उपसंपदा प्रदान करें। यदि गण न चाहे तो उनका प्रतिषेध कर दें। उपसंपन्न कर बलात् किसी को उनके वैयावृत्त्य में नियोजित न करें।

२९४. अविकिट्ठ किलम्मंतं, भणंति मा खम करेहि सज्झायं।
सक्का किलम्मितुं जे, वि विगिट्ठेणं तहिं वितरे।।

अविकृष्ट तपस्या में संलग्न मुनि को क्लांत होते देख कर आचार्य कहते हैं—तपस्या मत करो, स्वाध्याय करो। जो विकृष्ट तप करने वाले हैं, वे यदि क्लांत भी होते हैं तो आचार्य उन्हें तपस्या करने का प्रोत्साहन दें। उनका निषेध न करें।

२९४/१. बारसविहम्मि वि तवे सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
न वि अत्थि न वि होही, सज्झायसमं तवोकम्मं।।

तीर्थंकरों ने तपस्या के दो भेद बतलाएं हैं—आभ्यंतर तप और बाह्य तप। दोनों के छह-छह प्रकार हैं। स्वाध्याय के समान न कोई तप हुआ है और न कोई होगा।

२९५. अण्णपडिच्छण लहुगा, असति गिलाणोवमे अडंते य।
पडिलेहण-संथारग, पाणग तह मत्तगतिगं च।।

गण में कोई क्षपक है और आचार्य गण के साधुओं की अनुमति के बिना अन्य क्षपक को उपसंपन्न करता है तो उसे चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। दो क्षपकों के पारणक के प्रायोग्य द्रव्य न मिलने पर पारणक दिन में वह ग्लानोपम हो जाता है। अन्य मुनि अपने-अपने कार्य में व्यापृत होने के कारण उसे प्रायोग्य द्रव्य लाकर नहीं दे पाते। स्वयं लाने के लिए जाने पर अनेक दोष प्राप्त होते हैं। उस क्षपक के प्रतिदिन करने योग्य कार्य ये हैं—उभयकाल प्रतिलेखन करना, उसके संस्तारक करना, उसे उचित पानक लाकर देना तथा मात्रकत्रिक—उच्चारमात्रक, प्रस्रवणमात्रक, श्लेष्ममात्रक—उसे यथासमय समर्पित करना, परिष्ठापन करना।

२९६. दुण्हेगतरे खमणे, अण्ण पडिच्छंतऽसंथरे आणा।
अप्पत्तिय परितावण, सुत्ते हाणिऽन्नहिं वइमो।।

यदि गण में एक क्षपक है और दूसरा क्षपक के उपसंपदा के लिए आया है तो आचार्य गण की अनुमति के बिना यदि उसको उपसंपन्न करता है तो आज्ञाभंग, अनवस्था तथा मिथ्यात्व-विराधना आदि दोष उत्पन्न होते हैं। पारणक में तृप्ति न होने पर अप्रीति तथा परितापन होता है। उसका भी आचार्य को प्रायश्चित्त आता है। शिष्य यह सोचते हैं—दोनों क्षपकों के वैयावृत्त्य में व्यापृत होने के कारण सूत्र (और अर्थ) की हानि होती है। इसलिए अब हम अन्यत्र चले जाएं।

२९७. गेलण्णतुल्लगुरुगा, अडंत परितावणा सयंकरणे।
णेसणगहणागहणे, दुगट्ठ हिंडंत मुच्छा य।।

यदि क्षपक वैयावृत्त्य के अभाव में ग्लानतुल्य हो जाता है तो आचार्य को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

वह स्वयं द्विकार्थ—भक्त-पान के लिए घूमता है तथा स्वयं प्रतिलेखना आदि करता है तो आगाढ़ तथा अनागाढ़ परितापना होती है, मूर्च्छा भी हो सकती है।[2] स्वयं गोचरचर्या में घूमता हुआ वह परितप्त होकर अनेषणीय भी ग्रहण कर लेता है, एषणीय की अप्राप्ति होने पर आगाढ़ परितापना होती है। इन दोनों में प्रायश्चित्त का विधान है।

२९८. पढमदिणम्मि न पुच्छे,
लहुओ मासो उ बितिय गुरुओ य।
ततियम्मि होंति लहुगा,
तिण्हं तु वतिक्कमे गुरुगा।।

---

१. जो उपवास, बेला, तेला करता है वह अविकृष्ट तपःकारी है। जो उससे ऊपर की तपस्या करता है वह विकृष्टतपःकारी है।

२. अनागाढ़ परितापना में चतुर्लघु, आगाढ़ परितापना में चतुर्गुरु तथा मूर्च्छा में षट्लघु का प्रायश्चित्त आता है। (वृत्ति पत्र ३७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो उपसंपदा ग्रहण करने के लिए आया है उसे पहले दिन ही पूछे कि वह किस कारण से यहां आया है? पहले दिन न पूछने पर आचार्य को लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। दूसरे दिन न पूछने पर गुरुमास और तीसरे दिन भी न पूछने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। तीन दिन के पश्चात् पूछने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त विहित है।

२९९. कज्जे भत्तपरिण्णा, गिलाण राया व धम्मकहि-वादी।
छम्मासा उक्कोसा, तेसिं तु वतिक्कमे गुरुगा।।

आचार्य कुल, गण, संघ के कार्य में व्यापृत हों, भक्त-परिज्ञा करने वाले साधु के प्रयोजन से व्यस्त हों, ग्लान के प्रयोजन से रुके हों, राजा आदि के लिए धर्मकथा में लगे हों, वादी का निग्रह करने का प्रयोजन हो तो वे उत्कृष्टतः छह मास तक भी आगंतुक को न पूछे तो भी वह मान्य है। उस काल का अतिक्रम होने पर आचार्य को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३००. अन्नेण पडिच्छावे, तस्सऽसति सयं पडिच्छते रत्तिं।
उत्तरवीमंसाए, खिन्नो य निसिं पि न पडिच्छे।।

यदि आचार्य के पास कोई अन्य मुनि गीतार्थ हो तो आचार्य उसको आदेश दें कि वह आगंतुक की पृच्छा करे। यदि कोई गीतार्थ मुनि न हो तो स्वयं आचार्य रात्री में उसकी पृच्छा करे। यदि रात्री में भी किसी वादी के उत्तर के विमर्श में आचार्य खिन्न–परिश्रांत हो गये हों तो रात्रि में भी पृच्छा नहीं करतें।

३०१. दोहि तिहिं वा दिणेहिं,
जइ विज्जति तो न होति पच्छित्तं।
तेण परमणुण्णवणा,
कुलादि रण्णो व दीवेंति।।

छह मास के पश्चात् भी यदि दो-तीन दिनों में आचार्य के कार्य से निवृत्त होने की संभावना हो तो इन दिनों में आगंतुक उपसंपद्यमान को न पूछने पर भी कोई प्रायश्चित्त नहीं आता। यदि कार्य पूरा न हो तो कुल आदि को एक दिन की संभाव्यमान अनुज्ञापना करनी चाहिए। वादी विषयक कारण होतो राजा को बताना चाहिए। (आचार्य राजा को कहे कि मैं एक दिन के लिए व्यस्त रहूंगा। ऐसा न करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।)

३०२. आलोयण तह चेव य, मूलुत्तर नवरि विगडिते मं तु।
इत्थं सारण चोयण, निवेदणं ते वि एमेव।।

उपसंपद्यमान भी पूर्ववत् आलोचना करे अर्थात् पहले मूलगुणों के अतिचारों की क्रमशः आलोचना करे, फिर उत्तर-गुणों के अतिचारों की आलोचना करे। आलोचना करने के पश्चात् मुनियों को वंदना कर यह कहे–आप मेरी सारणा-चोयणा करें। उसके निवेदन करने पर वे भी प्रत्युत्तर में यही कहते हैं।

३०३. एमेव य अवराहे, किं ते न कया तहिं चिय विसोधी।
अहिकरणादी साहति, गीयत्थो वा तहिं नत्थि।।

३०४. नत्थि इहं पडियरगा, खुलखेत्त उग्गमवि य पच्छित्तं।
संकितमादी व पदे, जधक्कमं ते तह विभासा।।

इसी प्रकार अपराधालोचना के विषय में जानना चाहिए। कोई अपराधालोचक शिष्य उपसंपदा के लिए आया है। आचार्य कहते हैं–तुमने अपने गच्छ में ही अपराध की विशोधि क्यों नहीं की? वह अधिकरण आदि की बात कहता है अथवा कहता है कि वहां कोई गीतार्थ नहीं है। वहां प्रतिचारक नहीं है। वहां का खुलक्षेत्र है–मंदभिक्षा वाला क्षेत्र है। तब आचार्य कहते हैं–हमारे गण में भी उग्र प्रायश्चित्त दिया जाता है। वे उसे शंकित, संघाटक आदि पद (गाथा २७६) यथाक्रम विस्तार से बतलाते हैं। उसे उपसंपदा न दें।

३०५. दव्वादिचतुरभिग्गह, पसत्थमपसत्थए दुहेक्केक्के।
अपसत्थे वज्जेउं, पसत्थएहिं तु आलोए।।

अपराधालोचना देते समय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव–इन चारों की तथा अभिग्रह अर्थात् दिशाभिग्रह की अपेक्षा रहती है। द्रव्य आदि चारों तथा दिशा इन प्रत्येक के प्रशस्त और अप्रशस्त दो-दो प्रकार होते हैं। अप्रशस्त द्रव्य आदि तथा दिशा का परिहार कर प्रशस्त द्रव्य आदि में तथा प्रशस्त दिशा में आलोचना करनी चाहिए/देनी चाहिए।

३०६. भग्गघरे कुड्डेसु य, रासीसु य जे दुमा य अमणुण्णा।
तत्थ न आलोएज्जा, तप्पडिवक्खे दिसा तिण्णि।।

भग्नगृह, जहां कुड्यमात्र शेष हो वैसा गृह, अनमोज्ञ, धान्यराशि तथा वृक्ष के पास आलोचना न करे। अप्रशस्त दिशाओं में भी आलोचना न करे। इनके प्रतिपक्ष अर्थात् प्रशस्त द्रव्य तथा प्रशस्त तीन दिशाएं–पूर्व, उत्तर और चरंती–अर्थात् जिस दिशा में तीर्थंकर आदि विहरण कर रहे हों–इनमें आलोचना करे।

३०७. अमणुण्णधन्नरासी, अमणुण्णदुमा य होंति दव्वम्मि।
भग्गघर-रुद्द-ऊसर, पवाय दड्ढादि खेत्तम्मि।।

अप्रशस्त द्रव्य ये हैं–अमनोज्ञ धान्यराशि, अमनोज्ञ वृक्ष।

अप्रशस्त क्षेत्र ये हैं–भग्नगृह, रुद्रगृह, ऊषरभूमी, प्रपात, दग्धस्थान आदि।

३०८. निप्पत्त कंटइल्ले, विज्जुहते खार-कडुग-दड्ढे य।
अय-तउय-तंब-सीसग, दव्वे धन्ना य अमणुण्णा।।

अमनोज्ञ वृक्ष–निष्पत्र–करीर आदि, कंटकी–बदरी, बबूल आदि, विद्युत् के गिरने से भग्न, क्षाररस वाले, कटुकरसवाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा दग्ध वृक्ष। ये वर्जनीय हैं। लोह, त्रपु, तांबा, शीशा, आदि के ढेर द्रव्यतः वर्जनीय हैं। अमनोज्ञ धान्यराशि भी वर्जनीय है।

३०९. पडिकुट्ठेल्लगदिवसे, वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च।
छट्ठिं च चउत्थिं च, बारसिं दोण्हं पि पक्खाणं॥

दोनों पक्षों–(शुक्ल-कृष्णपक्ष) की प्रतिषिद्ध तिथियां वर्जनीय हैं। जैसे अष्टमी, नवमी, छठ, चतुर्थी, द्वादशी। यह कालतः वर्जनीय है, अप्रशस्त है।

३१०. संझागतं रविगतं, विड्डेरं संगहं विलंबिं च॥
राहुहतं गहभिन्नं, व वज्जए सत्तनक्खत्ते॥

वर्जनीय सात नक्षत्र–संध्यागत, रविगत, विद्वार, संग्रह, विलंबि, राहुहत, ग्रहभिन्न।[1]

३११. संझागतम्मि कलहो, होइ कुभत्तं विलंबिनक्खत्ते।
विड्डेरे परविजयो, आदिच्चगते अनिव्वाणी॥
३१२. जं संगहम्मि कीरति, नक्खत्ते तत्थ वुग्गहो होति।
राहुहयम्मि य मरणं, गहभिन्ने सोहिउग्गालो॥

इन सात नक्षत्रों के ये दोष हैं–

संध्यागत नक्षत्र में कलह, विलंबि नक्षत्र में कुभक्त की प्राप्ति, विद्वार नक्षत्र में शत्रु की विजय, रविगत नक्षत्र में असुख, संग्रह नक्षत्र में व्युद्ग्रह–संग्राम, राहुहत नक्षत्र में मरण तथा ग्रहभिन्न नक्षत्र में खून का वमन।

इन अप्रशस्त नक्षत्रों में आलोचना न करे।

३१३. तप्पडिवक्खे खेत्ते, उच्छुवणे सालि-चेइयघरे वा।
गंभीरसाणुणाए, पयाहिणावत्तउदए य॥

पूर्वोक्त अप्रशस्त क्षेत्र का प्रतिपक्ष अर्थात् प्रशस्त क्षेत्र ये हैं–इक्षुवन, शालिवन, चैत्यगृह, गंभीरस्थान, सानुनाद–प्रतिध्वनित होने वाला स्थान तथा प्रदक्षिणावर्तउदक वाली नदी अथवा सरोवर के निकट का स्थान।

३१४. उत्तदिणसेसकाले उच्चट्ठाणा गहा य भावम्मि।
पुव्वदिसि उत्तरा वा, चरंतिया जाव नवपुव्वी॥

अष्टमी आदि उक्त अप्रशस्त तिथियों के अतिरिक्त द्वितीया आदि तिथियां प्रशस्त होती हैं। (उनमें व्यतिपात आदि दोष न हो तथा प्रशस्त करण और प्रशस्त मुहूर्त्त हो–यह प्रशस्तकाल है।) भावतः प्रशस्त–ग्रह उच्चस्थानगत हों।[2] पूर्व दिशा, उत्तर दिशा तथा चरंती दिशा अर्थात् जिस दिशा में अर्हत्, केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी यावत् नौपूर्वी अथवा युगप्रधान आचार्य विहरण कर रहे हों, वह प्रशस्त दिशा है। (आलोचनार्ह इन दिशाओं के अभिमुख होकर आलोचना करे।)

३१५. निसेज्ज ऽसति पडिहारिय,
कितिकम्मं काउ पंजलुक्कुडुओ।
बहुपडिसेवऽरिसासु य,
अणुण्णावेउ निसेज्जगतो॥

वह उपसंपद्यमान शिष्य अपने नये वस्त्रों से आचार्य के लिए निषद्या तैयार करता है। स्वयं के पास कल्प न हो तो प्रातिहारिक–दूसरों से वस्त्र लेकर निषद्या तैयार करता है। फिर वह कृतिकर्म (द्वादशावर्त) वंदनक देता है। वह फिर हाथ जोड़कर ऊकडू आसन में (आचार्य के वामपार्श्व में पूर्वाभिमुख अथवा चरंती दिशा के अभिमुख होकर) बैठता है। यदि आलोचक ने अनेक प्रतिसेवनाएं की हैं और उनकी आलोचना में दीर्घकाल लगता हो तथा वह अर्श के रोग से ग्रस्त हो तो गुरु को अनुज्ञापित कर निषद्या पर स्थित होकर ही आलोचना करे।

३१६. चेयणमचित्तदव्वे, जणवयमद्धाण होति खेत्तम्मि।
दिणनिसि सुभिक्खदुभिक्खकाले भावम्मि हट्ठितरे॥

द्रव्यतः सचित्त, अचित्त (तथा मिश्र) द्रव्य अकल्पिक की प्रतिसेवना की हो, क्षेत्रतः जनपद में या मार्ग में, कालतः दिन में अथवा रात में, सुभिक्षकाल में अथवा दुर्भिक्षकाल में, भावतः हृष्टपुष्ट अवस्था में अथवा ग्लान अवस्था में, यतनापूर्वक दर्प से अथवा कल्प से की गयी प्रतिसेवना की वह आलोचना करे।

३१७. लहुयल्हादीजणणं, अप्पपरनियत्ति अज्जवं सोही।
दुक्करकरणं विणओ, निस्सल्लत्तं व सोधिगुणा॥

लघुता की वृद्धि, आह्लाद की उत्पत्ति, स्वयं के दोषों से निवृत्ति, दूसरों में आलोचनाभिमुखता से दोषों से निवृत्ति, आर्जव–ऋजुता की वृद्धि, आत्मा और चारित्र की विशोधि,

---

१. संध्यागत–सूर्य के पृष्ठस्थित नक्षत्र अथवा जिसके उदित होने पर सूर्य उदित होता है अथवा जहां रवि ठहरता है। चौदहवां या पंद्रहवां नक्षत्र।

रविगत–जहां रवि ठहरता है।

विद्वार–जैसे पूर्वद्वारिक नक्षत्र पूर्वदिशा की ओर जाने के बदले अपर दिशा की ओर जाता है तब वह विद्वारिक कहलाता है।

संग्रह–क्रूर ग्रह से आक्रांत नक्षत्र।

विलंबि–जो सूर्य द्वारा परिभुक्त होकर मुक्त हो गया है। अथवा सूर्य के आगे, पीछे या अनंतर संध्यागत नक्षत्र, अथवा सूर्यगत नक्षत्रों के पीछे से तीसरा।

राहुहत–सूर्यग्रहण अथवा चंद्रग्रहण का नक्षत्र।

ग्रहभिन्न–जिसके मध्य से ग्रह गया है वह नक्षत्र।

ये सातों नक्षत्र चंद्रयोगयुक्त हैं। ये वर्ज्य हैं। (वृत्ति पत्र ४१)

२. सूर्य का मेष, चंद्रमा का वृषभ, मंगल का मकर, बुध का कन्या, बृहस्पति का कर्कटक, शुक्र का मीन और शनैश्चर का तुला–ये ग्रहों के उच्चस्थानीय हैं। सभी ग्रहों के स्व के उच्चस्थान से सातवां स्थान नीच स्थान है। (वृ. पत्र ४१)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुष्करकारिता, चारित्रविनय की प्राप्ति, निःशल्यता– ये आलोचना अर्थात् शोधि के गुण हैं।

३१८. आगम-सुतववहारी, आगमतो छव्विहो उ ववहारी।
केवल-मणोधि-चोद्दस-दस नवपुव्वी य नायव्वो।।

आलोचनार्ह के दो प्रकार हैं–आगमव्यवहारी और श्रुत-व्यवहारी। आगमव्यवहारी के छह प्रकार हैं–केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी तथा नौपूर्वी– ये प्रत्यक्षज्ञानी होते हैं। (पूर्वों से समुत्थित ज्ञान प्रत्यक्षतुल्य है।)

३१९. पम्हुट्ठे पडिसारण, अप्पडिवज्जंतयं न खलु सारे।
जइ पडिवज्जति सारे, दुविहऽतियारं पि पच्चक्खी।।

आगमव्यवहारी दो प्रकार के हैं–प्रत्यक्षज्ञानी और अप्रत्यक्षज्ञानी। आलोचना भी दो प्रकार की होती है–मूलगुण-विषयक अतिचारों की आलोचना तथा उत्तरगुणविषयक अतिचारों की आलोचना। आलोचक यदि आलोचनीय तथ्य को भूल जाता है तो वे आगमव्यवहारी उसे याद दिला देते हैं। वे यदि यह जान जाते हैं कि यह कहने पर भी स्वीकार नहीं करेगा तो वे उसे आलोचनीय की स्मृति नहीं कराते। यदि यह जान जाते हैं कि यह कहने पर स्वीकार कर लेगा तो उसे आलोचनीय की स्मृति करा देते हैं।

३२०. कप्पपकप्पी तु सुते, आलोयावेंति ते उ तिक्खुत्तो।
सरिसत्थमपलिकुंची, विसरिसपरिणामतो कुंची।।

कल्पधर अर्थात् दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प और व्यवहार–इनके सूत्रार्थ के धारक तथा प्रकल्पधर अर्थात् निशीथ के सूत्रार्थधर (तथा महाकल्पश्रुत, महानिशीथ तथा निर्युक्ति-पीठिकाधर) ये श्रुतव्यवहारी हैं। ये आलोचक को तीन बार आलोचना करने के लिए कहते हैं। तीनों बार यदि सदृशार्थ की आलोचना की हो तो जानना चाहिए कि आलोचक अप्रतिकुंच–अमायावी है और यदि असदृश आलोचना की हो तो जानना चाहिए कि यह परिणामतः कुंची–मायावी है।[1]

३२१. तिन्नि उ वारा जह दंडियस्स पलिउंचियम्मि अस्सुवमा।
सुद्धस्स होति मासो, पलिउंचिते तं विमं चण्णं।।

जैसे दंडिक–न्यायाधिपति अपराधी को अपने अपराध का विवरण तीन बार सुनाने के लिए, यह जानने के लिए कहता है, कि यह मायावी है या नहीं, वैसे ही श्रुतव्यवहारी गुरु भी अतिचार से पीड़ित शिष्य को अपना अतिचार प्रकट करने के लिए तीन बार कहते हैं। जब उसकी माया ज्ञात हो जाती है तब उसे अश्व का दृष्टांत कहते हैं।[2] यदि वह शुद्ध है, मायावी नहीं है तो उसे एक मास का प्रायश्चित्त आता है और यदि उसने मायापूर्वक आलोचना की है तो मायानिष्पन्न गुरुमास का प्रायश्चित्त मूल प्रायश्चित्त के साथ और जुड़ जाता है।

३२२. अत्थुप्पत्ती असरिसनिवेयणे दंड पच्छ ववहारो।
इय लोउत्तरियम्मि वि, कुंचियभावं तु दंडेति।।

करण (न्यायालय) में व्यवहार अर्थ की उत्पत्ति का साधन है। न्यायाधिपति के समक्ष अपराधी बार-बार पूछने पर यदि असदृश निवेदन करता है तो माया के अपराध में वह दंडित होता है, फिर मूल अपराध के अनुसार दंड दिया जाता है। यह लौकिक विधि है।

लोकोत्तर व्यवहार में भी यदि आलोचना करने वाला मुनि माया का सहारा लेता है तो उसे पहले मायानिष्पन्न मासगुरु का दंड देते हैं फिर यथाप्राप्त मासिक आदि दंड देते हैं।

३२३. आगारेहि सरेहि य, पुव्वावर-वाहताहि य गिराहि।
नाउं कुंचियभावं, परोक्खनाणी ववहरंति।।

परोक्षज्ञानी अर्थात् श्रुतव्यवहारी आचार्य आलोचक के आकार–शरीरगतभाव, स्वर–उच्चारण तथा पूर्वापरव्याहत–पूर्वापरविसंवादिनी वाणी के द्वारा उसके कुटिलभाव को जानकर व्यवहार करते हैं–पहले माया प्रत्यय का दंड देते हैं, फिर अपराध प्रत्यय के अनुसार उसे प्रायश्चित्त देते हैं।

३२४. कुंचिय जोहे मालागारे, मेहे पलिउंचिते तिगट्ठाणा।
पंचगमा नेयव्वा, बहूहिं उक्खड्डमड्डाहिं।।

---

१. पहली बार आलोचना करने पर कहे–मैं निद्रा प्रमाद में चला गया अतः पूरी बात सुन नहीं सका, अतः पुनः आलोचना करो। दूसरी बार कहे–मैंने तुम्हारे अतिचारों की पूरी अवधारणा नहीं की। तीसरी बार आलोचना करने पर यह प्रतीत हो कि तीनों बार इसने समान अतिचारों की आलोचना की है तो जानना चाहिए कि यह अमायावी है। (वृ पत्र ४३)

२. एक राजा के पास सर्वलक्षणयुक्त एक अश्व था। उसके कारण राजा अजेय बन गया था। अन्य सामंत राजाओं ने उस अश्व के अपहरण की बात सोची। परंतु उसकी सुरक्षा देखते हुए अपहरण करना असंभव था। एक व्यक्ति ने उसको मारने का बीड़ा उठाया। उसने गुप्त रूप से एक कोमल बाण के अग्रभाग में क्षुद्रकीकंटक लगाकर एक छोटे धनुष्य से उस बाण को छोड़ा। वह बाण अश्व को लगा और उस कंटक की अग्र अणी घोड़े के शरीर में प्रविष्ट हो गयी। उसी दिन से अश्व सूखने लगा। राजा चिंतित होकर वैद्य को बुलाया। वैद्य ने अश्व का निरीक्षण कर रोग का कारण जान लिया। उसने एक साथ अनेक कर्मकरों को कहकर अश्व के पूरे शरीर पर एक साथ मिट्टी का लेप करवाया। वैद्य देख रहा था। शरीर के जिस भाग पर वह लेप पहले सूखा, वैद्य ने उस भाग से उस कंटक के शल्य को निकाल दिया। अश्व स्वस्थ होने लगा।

आचार्य ने कहा–शिष्य! तुम भी अपने हृदय को सरल बनाकर शल्य का अपनयन करो। माया मत करो। माया बड़ा शल्य है।

(वृ. पत्र ४४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिकुंचना–माया से संबंधित दृष्टांत[1]–

द्वैमासिक परिहारस्थान प्राप्त प्रतिकुंचक का दृष्टांत–कुंचिक तापस।

त्रैमासिक परिहारस्थान प्राप्त प्रतिकुंचक का दृष्टांत–योद्धा।

चतुर्मासिक परिहारस्थान प्राप्त प्रतिकुंचक का दृष्टांत–मालाकार।

पंचमासिक परिहारस्थान प्राप्त प्रतिकुंचक का दृष्टांत–मेधा।

आलोचक जब मायापूर्वक आलोचना करता है तब आचार्य उसे तीन बार आलोचना दुहराने के लिए प्रेरित करते हैं। (शिष्य ने पूछा–भंते! छहमास पर्यंत परिहारस्थान कैसे प्राप्त होता है?) आचार्य कहते हैं–तीन स्थानों से अर्थात् उद्गम, उत्पादन और एषणा संबंधी प्रतिसेवना से ये प्राप्त होते हैं।

एक मासिक परिहारस्थान से पंचमासिक परिहारस्थान पर्यंत पांच सूत्र–प्रकारों को जानना चाहिए। 'बहूहीं उक्खड्डमड्डाहिं'–का अर्थ है–बहुशः, बहुत बार, पुनः पुनः।

३२५. बहुएसु एगदाणे, रागो एक्केक्कदाण दोसो उ।
एवमगीते चोदग, गीतम्मि य अजयसेविम्मि।।

शिष्य ने कहा–भंते! आपकी प्रायश्चित्त दानविधि राग-द्वेष से मुक्त नहीं है। मासिक आदि परिहारस्थानों का बहुत बार प्रतिसेवना करने पर भी एक मासिक का ही प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार द्वैमासिक यावत् पंचमासिक परिहारस्थानों का बहुत बार प्रतिसेवना करने पर भी एक-एक द्वैमासिक यावत् एक-एक पंचमासिक प्रायश्चित्त ही आता है। क्या यह राग नहीं है? और जिन्होंने एक-एक बार ही एक मासिकी यावत् पंचमासिकी प्रतिसेवना की है, उनको भी एक-एक मासिक यावत् पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है। क्या यह द्वेष नहीं है?

आचार्य ने कहा–वत्स! प्रायश्चित्त का यह विधान अगीतार्थ और गीतार्थ प्रतिसेवक की अपेक्षा से है। गीतार्थ अयतना से प्रतिसेवना करता है तब वह इस प्रायश्चित्त का भागी होता है।[2]

३२६. जो जत्तिएण रोगो, पसमति तं देति भेसजं वेज्जो।
एवागम-सुतनाणी, सुज्झति जेणं तयं देंति।।

जो रोग जितनी औषधि से शांत होता है, वैद्य रोगी को उतनी मात्रा में भैषज्य देता है। उसी प्रकार आगमज्ञानी और श्रुतज्ञानी आचार्य गीतार्थ अथवा अगीतार्थ प्रतिसेवक को उतना प्रायश्चित्त देते हैं, जितने से उसकी विशोधि होती है।

३२७. चोदग मा गद्दभत्ति, कोट्ठारतिगं दुवे य खल्लाडा।
अद्धाणे सेवितम्मि, सव्वेसिं घेत्तु णं दिण्णं।।

पहले प्रमाण के रूप में सूत्र का उपन्यास करें। फिर प्रश्नकर्ता शिष्य के वचन का निरसन कर उसे कहे–मा–ऐसे मत बोलो। फिर मार्ग में अनेक बार मासिक परिहारस्थान के सेवन के सभी दिनों को मिलाकर एक मासिक प्रायश्चित्त के विषय में गर्दभ का दृष्टांत कहे। फिर कोष्ठागारत्रिक का और दो खल्वाटों का दृष्टांत बताए। (इस गाथा का स्पष्टार्थ अगली गाथाओं में।)

३२८. अवि य हु सुत्ते भणियं, सुत्तं विसमं ति मा भणसु एवं।
संभवति न सो हेऊ अत्ता जेणालियं बूया।।

(आचार्य कहते हैं–गीतार्थ और अगीतार्थ के आधार पर हम उचित प्रायश्चित्त देते हैं।) बहु अर्थात् निश्चितरूप से विषम प्रतिसेवनाओं में भी तुल्य प्रायश्चित्त का विधान सूत्र में है इसलिए कोई दोष नहीं है। आचार्य ने कहा–शिष्य! सूत्र विषम हैं, ऐसा मत कहो। (क्योंकि सूत्र के अर्थ के कर्त्ता वीतराग होते हैं–अत्थं भासई अरहा।) इसलिए उन में विषमता का वह हेतु (राग-द्वेष) नहीं होता जिसके कारण वे आप्त–वीतराग पुरुष-अलीक बात कहें।

३२९. कामं विसमा वत्थू, तुल्ला सोही तधा वि खलु तेसिं।
पंचवणि तिपंचखरा, अतुल्लमुल्ला य आहरणा।।

हम मानते हैं कि विषम प्रतिसेवनाओं में भी निश्चितरूप से तुल्य प्रायश्चित्त से शोधि होती है। पांच वणिकों के पास विषम मूल्यवाले पंद्रह गधे थे। यह दृष्टांत है।

३३०. विणिउत्तभंडभंडण, मा भंडह तत्थ एगु सट्ठीए।
दो तीस तिन्नि वीसग, चउ पन्नर पंच बारसगे।।

पांच बनियों ने साथ में व्यापार किया और लाभ का समांश वितरण की बात निश्चित हुई। उन्हें व्यापार में विषम मूल्य वाले १५ गधे लाभ रूप में प्राप्त हुए। अब समान वितरण के समय पांचों में कलह होने लगा। समान वितरण में एक-एक को तीन-तीन गधे मिलते, परंतु उनका मूल्य विषम था, अतः किसी को भी यह मान्य नहीं हुआ। एक समझदार मध्यस्थ व्यक्ति ने कहा–कलह मत करो। मैं समान वितरण कर दूंगा। उसने एक बनिये को साठ रुपये के मूल्य वाला एक गधा दे दिया, दूसरे को तीस-तीस रुपयों के मूल्य वाले दो गधे, तीसरे को बीस-बीस रुपयों के मूल्य वाले तीन गधे, चौथे को पंद्रह-पंद्रह रुपयों के मूल्य वाले चार गधे और पांचवे को बारह-बारह रुपयों के मूल्य वाले पांच गधे दे दिये।

---

१. देखें–व्यवहारभाष्य–कथानक परिशिष्ट।

२. एक मासिकादि पांचों प्रकार के सूत्रों में अगीतार्थ जितनी मात्रा में प्रतिसेवना करता है, उसी मात्रा में उसे पूरा प्रायश्चित्त दिया जाता है, तथा उन्हीं सूत्रों में गीतार्थ जितनी बार प्रतिसेवना करता है उसे मासिकादि स्थानों में तत् स्थानांक एक मासिक का ही प्रायश्चित्त आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३१. कुसलविभागसरिसओ,
गुरू य साधू य होंति वणिया वा।
रासभसमा य मासा,
मोल्लं पुण रागदोसा उ।।

कुशलविभाग करने वाले के तुल्य हैं गुरु (आगमव्यवहारी अथवा श्रुतव्यवहारी), वणिजतुल्य हैं साधु, रासभतुल्य हैं मास तथा मूल्य है राग-द्वेष तुल्य।

३३२. वीसुं दिण्णे पुच्छा, दिट्ठंतो तत्थ दंडलतिएण।
दंडो रक्खा तेसिं, भयजणणं चेव सेसाणं।।

गीतार्थ और अगीतार्थ को पृथक्-पृथक् विषम प्रायश्चित्त देने के विषय में शिष्य प्रश्न करता है। आचार्य कहते हैं—यहां 'दंडलातिक' का दृष्टांत है। राजा ने दंड की रक्षा की। दंडिकों को दंडित करने पर शेष व्यक्तियों में भय उत्पन्न हो गया। (इस गाथा का विस्तृत अर्थ आगे की गाथाओं में।)

३३३. दंडतिगं तु पुरातिगे, ठवितं पच्चंतपरनिवारोहे।
भत्तट्ठ तीसतीसं, कुंभग्गह आगया जे तु।।

३३४. कामं ममेदकज्जं, कयवित्तीएहि कीस मे गहितं।
एस पमादो तुज्झं, दस दस कुंभे दलह दंडं।।

एक राजा ने अपने तीन गांवों की रक्षा के लिए तीन दंडिकों—पुररक्षकों को पृथक्-पृथक् भेजा। एक बार उन पुरों को प्रत्यंत राजा ने घेर लिया। पुर-रक्षकों की खाद्य सामग्री खुट गयी तब उन्होंने अपने-अपने अधीनस्थ धान्य-कोष्ठागारों से तीस-तीस कुंभ धान्य निकाल कर निर्वाह किया। फिर प्रत्यंत राजा को जीतकर वे अपने राजा के पास आये और कहा—आपका कार्य संपादित करते हुए हमने तीस-तीस कुंभ धान्य ग्रहण किया है। राजा ने कहा—हां, वह मेरा ही कार्य था। किंतु तुम मेरे यहां आजीविका कर रहे हो, तुमको मासिकवृत्ति भी मिलती है, फिर तुमने धान्य कैसे निकाला? यह तुम्हारा प्रमाद है। इस प्रमाद के लिए तुम तीनों को दस-दस कुंभ धान्य का दंड दिया जाता है। तुम तीनों दस-दस कुंभ धान्य कोष्ठागार में पहुंचाओ। (बीस-बीस कुंभ तुम्हें माफ किया जाता है।)

३३५. तित्थगरा रायाणो, जतिणो दंडा य कायकोट्ठारा।
असिवादिवुग्गहा पुण, अजय-पमायारुहण दंडो।।

तीर्थंकर राजस्थानीय हैं। साधु दंडिक—रक्षक स्थानीय है। काय—पृथिवीकाय आदि कोष्ठागार स्थानीय हैं। अशिव आदि कारण हैं। व्युद्ग्रह स्थानीय हैं—अयतना, प्रमाद, रोधनदंड है मासिक आदि।[1]

३३६. बहुएहि वि मासेहि, एगो जइ दिज्जती तु पच्छित्तं।
एवं बहु सेवित्ता, एक्कसि विगडेमु चोदेति।।

शिष्य ने कहा—गीतार्थ मुनि ने अयतना से अनेक मासों की प्रतिसेवना की है और उसे एकवेला में आलोचना करने के कारण एक मास का ही प्रायश्चित्त दिया जाता है तो हम भी अनेक मासों का प्रतिसेवन कर एकवेला में आलोचना करेंगे, क्योंकि हमें भी तब एक मास का ही प्रायश्चित्त प्राप्त होगा।

३३७. मा वद एवं एक्कसि, विगडेमो सुबहुए वि सेवित्ता।
लब्भिसि एवं चोदग! देंते खल्लाड खडुगं वा।।

आचार्य ने कहा—शिष्य! ऐसा मत कहो कि अनेक मासिकस्थानों की प्रतिसेवना कर हम एकसाथ आलोचना करेंगे। इस प्रकार हे शिष्य! तुम महान् अपराध को प्राप्त होओगे जैसे वह खल्वाट को खडुका मारने वाला हुआ था।

३३८. खल्लाडगम्मि खडुगा, दिन्ना तंबोलियस्स एगेणं।
सक्कारेत्ता जुयलं, दिन्नं बितिएण वोरवितो।।

३३९. एवं तुमं पि चोदग! एक्कसि पडिसेविऊण मासेणं।
मुच्चिहिसी बितियं पुण, लब्भसि मूलं तु पच्छित्तं।।

एक तांबोलिक खल्वाट था। एक चारभट का पुत्र उसकी दुकान पर आता और तांबोलिक के सर पर टकोरा मारता। उस तांबोलिक ने उस लड़के का सत्कार किया और उपहारस्वरूप वस्त्रयुगल दिया। (इस लोभ से) उस लड़के ने दूसरे खल्वाट के सिर पर टकोरा मारा। उस खल्वाट ने लड़के को पकड़कर मार डाला। इसी प्रकार हे शिष्य! तुम सोचते हो कि अनेक प्रतिसेवनाओं का एक बार आलोचना कर मासिक प्रायश्चित्त लेकर मुक्त हो जाऊंगा, परंतु दूसरी बार वैसी प्रतिसेवनाएं कर आलोचना करोगे तो मूल या छेद प्रायश्चित्त प्राप्त करोगे।

३४०. असुहपरिणामजुत्तेण, सेविए एगमेग मासो तु।
दिज्जति य बहुसु एगो, सुहपरिणामो जया सेवे।।

एक मुनि अशुभ परिणामों से युक्त होकर प्रतिसेवना करता है। उसे एक मास का पूरा प्रायश्चित्त दिया जाता है। यदि कोई मुनि शुभ परिणामों से यतनापूर्वक प्रतिसेवना करता है, तो उसको अनेक मासिक प्रतिसेवनाओं में भी एक मास का ही प्रायश्चित्त आता है।

३४१. दिण्णमदिण्णो दंडो, सुह-दुहजणणो उ दोण्ह वग्गाणं।
साहूणं दिण्णसुहो, अदिण्णसोक्खो गिहत्थाणं।।

दो वर्ग हैं—साधुवर्ग और गृहस्थवर्ग। एक को दंड देना सुखजनक होता है और एक को दुःखजनक। साधु को दिया गया दंड सुखहेतुक होता है और गृहस्थ को दिया गया दंड दुःखहेतुक

१. गीतार्थ मुनि के अयतना प्रसंग के निवारण के लिए, अगीतार्थ मुनि का प्रमाद निवारण के लिए सभी प्रतिसेवित मासों की सम-विषम दिनों का संकलन कर एक मास का दंड दिया जाता है, जैसा राजा ने दंडिकों को दिया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। साधु को दंड न देना दुःख का कारण है और गृहस्थ को दंड न देना सुख का कारण है।

३४२. उद्धितदंडो साहू, अचिरेण उवेति सासयं ठाणं।
सोच्चियऽणुद्धियदंडो, संसारपवड्ढओ होति।।

३४३. उद्धियदंडगिहत्थो, असण-वसणविरहितो दुही होति।
सोच्चियऽणुद्धियदंडो, असण-वसणभोगवं होति।।

जो साधु दंड ग्रहण कर (विशोधि कर) लेता है वह शीघ्र ही शाश्वत स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। वह यदि दंड ग्रहण नहीं करता (विशोधि नहीं करता) तो वह संसार-प्रवर्तक होता है।

इसी प्रकार जो गृहस्थ दंड ग्रहण करता है वह अशन, वस्त्र रहित होकर दुःखी होता है और जो गृहस्थ दंड ग्रहण नहीं करता वह अशन, वस्त्र आदि का परिभोग करता है।

३४४. कसिणारुवणा पढमे,
बितिए बहुसो वि सेवितो सरिसा।
संजोगो पुण ततिए,
तत्थंतिमसुत्त वल्ली वा।।

प्रथम सूत्र में कृत्स्ना आरोपणा कही गयी है। इसका तात्पर्य है कि जितनी प्रतिसेवना की है, उसका पूरा प्रायश्चित्त दिया गया है, कुछ भी छोड़ा नहीं है। द्वितीय सूत्र में बहुत मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना में कुछ छोड़कर प्रथम सूत्र की भांति प्रायश्चित्त दिया गया है। तीसरे सूत्र में पंचपदगत संयोग उपदर्शित है। वल्ली की भांति[1] अंतिम संयोग सूत्र से द्विक आदि संयोग स्वतः गृहीत हो जाते हैं।[2]

३४५. जे भिक्खु बहुसो मासियाणि सुत्तं विभासियव्वं तु।
दोमासिय तेमासिय, कयाइ एगुत्तरा वुड्ढी।।

जिस भिक्षु ने बहुशः मासिक अर्थात् द्वैमासिक, त्रैमासिक (चातुर्मासिक, पंच मासिक) आदि प्रतिसेवनाएं अनेक बार की है, इसकी सूत्र से व्याख्या जान लेनी चाहिए। द्विक आदि संयोग में एकोत्तरावृद्धि करनी चाहिए।

३४६. उग्घातमणुग्घाते, मूलुत्तरदप्पकप्पतो चेव।
संजोगा कायव्वा, पत्तेगं मीसगा चेव।।

उद्घात, अनुद्घात, मूलगुण, उत्तरगुण, दर्प, कल्प—इनके (पूर्वोक्त की भांति) संयोग करने चाहिए। पुनः उद्घात आदि पदों के मिश्रक—जैसे—उद्घात-अनुद्घात-संयोगनिष्पन्न आदि।[3]

३४७. एत्थ पडिसेवणाओ,
एक्कग-दुग-तिग-चउक्क-पणगेहिं।
दस दस पंचग एक्कग,
अदुव अणेगाउ एयाओ।।

(८४३२ सूत्र संख्या हुई। वह निम्नोक्त भंगों—विकल्पों के आधार पर हुई हैं। वह भंग-परिज्ञान प्रस्तुत श्लोक में है।) इस सूत्र समूह में प्रतिसेवना के इतने ही प्रकार हैं। पांचों पदों के एक, द्विक, त्रिक, चतुष्क तथा पंचक के साथ एक, दो, तीन, चार, पांच के संयोग से ये भंग विकल्प होते हैं।

३४८. जध मन्ने बहुसो मासियाणि सेवित्तु वहती उवरिं।
तह हेट्ठा परिहायति, दुविहं तिविधं च आमं ति।।

मैं चिंतन करता हूं कि जिस प्रकार अनेक मासों की प्रतिसेवना कर कदाचित् एक मासिक प्रायश्चित्त ही आता है। कदाचित् वह प्रायश्चित्त बढ़ता जाता है, जैसे—तीव्र अध्यवसाय से द्वैमासिकी प्रतिसेवना करने वाले को त्रैमासिक यावत् षाण्मासिक का प्रायश्चित्त आ सकता है और दुष्ट अध्यवसाय से की गई प्रतिसेवना में छेद, मूल, पारांचित भी आ सकता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त का ह्रास भी होता है, जैसे—मासिक प्रतिसेवना करने पर भी भिन्न मास का प्रायश्चित्त, कदाचित् पच्चीस दिन-रात यावत् पांच दिन-रात का प्रायश्चित्त भी आता है। आचार्य कहते हैं—यह सम्मत है।

३४९. केण पुण कारणेणं, जिणपण्णत्ताणि काणि पुण ताणि।
जिण जाणंति उ ताइं, चोयग पुच्छा बहुं नाउं।।

शिष्य ने पूछा—किन कारणों से प्रायश्चित्त की वृद्धि-हानि होती है? आचार्य कहते हैं—इसमें जिनप्रज्ञप्त कारण ही मुख्य हैं। शिष्य ने पुनः पूछा—वे कारण कौन-कौन से हैं? (यदि प्रतिसेवना में राग, द्वेष, हर्ष आदि की वृद्धि-हानि के कारण प्रायश्चित्त में वृद्धि-हानि होती है तो इसको केवली आदि ही जान सकते हैं। दूसरे कैसे जान पाते हैं?) आचार्य कहते हैं—दूसरे भी उनके द्वारा उपदिष्ट श्रुतज्ञान के आधार पर जान लेते हैं अथवा तीन बार आलोचना करवाकर यथार्थ को जान जाते हैं। शिष्य ने पूछा—अनेक सूत्रों में 'बहु' शब्द का प्रयोग है। उसका क्या अर्थ है?

३५०. तिविहं च होति बहुगं, जहन्नगं मज्झिमं च उक्कोसं।
जहन्नेण तिन्नि बहुगा, उक्कोसो पंचचुलसीता।।

'बहुक' शब्द के तीन प्रकार हैं—जघन्य, मध्यम और

---

१. जैसे वल्ली का अग्रभाग खींचने पर समूची वल्ली खींच ली जाती है, वैसे ही.....।

२. द्विकसंयोग के १० भंग, त्रिकसंयोग के १० भंग, चतुष्कसंयोग के ५ भंग, पंचकसंयोग का एक भंग।

३. विकल्पों के लिए देखें वृत्ति पत्र ५५,५६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्कृष्ट। जघन्यतः बहुक है तीन मास। उत्कृष्टतः पांच सौ चौरासीमास। इनके मध्य है—मध्यमबहुक। (ये प्रायश्चित्त स्थान हैं।)

३५१. ठवणा-संचय- रासी, माणाइ पभू य कित्तिया सिद्धा।
दिट्ठा निसीधनामे, सव्वे वि तहा अणायारा।।

स्थापना, संचयराशि, प्रायश्चित्त का प्रमाण, प्रभु—प्रायश्चित्त देने वाले, प्रायश्चित्त के कितने प्रकार। निशीथ नामक अध्ययन में ये सभी प्रायश्चित्त के भेद देखे गये हैं। इतने ही नहीं, सभी अनाचार भी देखे हैं। (यह द्वार गाथा है। इस गाथा का विस्तार आगे की गाथाओं में।)

३५२. बहुपडिसेवी सो विय,गीतोऽगीतो वि अपरिणामो य।
अहवा अतिपरिणामो, तप्पच्चयकारणा ठवणा।।

प्रायश्चित्त प्रतिपत्ता पांच प्रकार के पुरुष होते हैं—गीतार्थ, अगीतार्थ, परिणामक, अपरिणामक तथा अतिपरिणामक। जो अगीतार्थ है, अपरिणामक अथवा अतिपरिणामक है, उनके प्रत्यय के लिए स्थापना-आरोपणा की विधि से छह माह का प्रायश्चित्त तक दिया जाता है।[1]

३५३. एगम्मि णेगदाणे, णेगेसु य एगदाणमेगेगं।
जं दिज्जति तं गिण्हति, गीतमगीतो य परिणामी।।

जो गीतार्थ है अथवा अगीतार्थ होते हुए भी परिणामी है उसे एक मास की प्रतिसेवना करने पर भी (राग-द्वेष-हर्ष की वृद्धि के कारण) अनेक मासों का प्रायश्चित्त दिया जाता है अथवा अनेक मासों की प्रतिसेवना करने पर (मंद अध्यवसाय के कारण) एक मास का प्रायश्चित्त दिया जाता है अथवा एक मास की प्रतिसेवना करने पर एक परिपूर्ण मास का प्रायश्चित्त दिया जाता है तो वह सम्यक्रूप से ग्रहण करता है। (उसे स्थापना-आरोपणा के प्रकार से प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता।)

३५४. बहुएसु एगदाणे, सोच्चिय सुद्धो न सेसगा मासा।
माऽपरिणामे संका, सफला मासा कता तेणं।।

अनेक मासों की प्रतिसेवना करने पर यदि एक मास का प्रायश्चित्त दिया जाता है तो अपरिणामक (अतिपरिणामक या अगीतार्थ) के मन में यह आशंका हो सकती है कि जो एकमास का प्राश्यचित्त दिया है वही शुद्ध है, शेष मास नहीं। अतः मेरी शुद्धि नहीं हुई है। यह आशंका न हो इसलिए उसे स्थापना-आरोपणा के प्रकार से सभी मासों को सफल करना चाहिए। उसे पूरा प्रायश्चित्त उस पद्धति से देना चाहिए।

३५५. ठवणामेत्तं आरोवणत्ति इति णाऽमतिपरीणामो।
कुज्जा व अतिपसंगं, बहुए सेवित्तु मा विगडे।।

अतिपरिणामक यह सोचता है कि आरोपणा प्रायश्चित्त केवल स्थापना मात्र[2] है। यह जानकर वह अतिप्रसंग करता है अर्थात् बार-बार उसी में यह सोचकर प्रवर्तित होता है कि अनेक मासों की प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त केवल एक मास ही है। अथवा वह अनेक मासों की प्रतिसेवना करके भी सभी मासों की आलोचना न करे।

३५६. ठवणा वीसिग पक्खिग, पंचिग एगाहिया य बोधव्वा।
आरोवणा वि पक्खिग, पंचिग तह पंच एगाहा।।

(स्थापना के चार स्थान—१. तीस स्थान २. तेतीस स्थान ३. ३५ स्थान ४. १७९ स्थान। आरोपणा के भी ये ही स्थान हैं।) स्थापना के प्रथम स्थान में जघन्य स्थापना बीस रात्री-दिवस, दूसरे स्थान में पाक्षिक, तीसरे स्थान में पांच दिवसात्मक, चौथे स्थान में एक दिनमात्र। आरोपणा के प्रथम स्थान में पाक्षिकी, दूसरे स्थान में पांच दिवसात्मक, तीसरे स्थान में पंच दिवसात्मिका और चौथे स्थान में एक दिन। ये सर्वजघन्य स्थापना-आरोपणा के स्थान हैं।

३५७. वीसाए अद्धमासं, पक्खे पंचाहमारुहेज्जाहि।
पंचाहे पंचाहं, एगाहे चेव एगाहं।।

बीस दिन के जघन्य स्थापना स्थान में जघन्य आरोपणा स्थान है अर्द्धमास का। पक्ष प्रमाण वाले स्थापना स्थान में जघन्य आरोपणा स्थान है पांच दिन का। पांच दिन वाले स्थापना स्थान में जघन्य आरोपणा स्थान है पांच दिन का और एक दिन के स्थापना स्थान में जघन्य आरोपणा स्थान है एक दिन का।

३५८. ठवणा होति जहन्ना, वीसं राइंदियाणि पुण्णाइं।
पण्णट्ठं चेव सयं, ठवणा उक्कोसिया होति।।

प्रथम स्थापना स्थान में जघन्य स्थापना होती है—परिपूर्ण

---

१. गीतार्थ के लिए स्थापना-आरोपणा की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह उक्तार्थग्राही होता है। अगीतार्थ यदि परिणामक है तो उसके लिए भी यह आवश्यक नहीं होता। अपरिणामक और अतिपरिणामक के लिए स्थापना-आरोपणा आवश्यक होती है।

स्थापना—जितने महीनों या दिनों की प्रतिसेवना की उन सभी को एकत्र स्थापित किया जाए। पश्चात् संक्षिप्त बीस दिन आदि की प्रतिसेवना का अंक लिखा जाए—यह स्थापना है।

आरोपणा—इनके बाद जिन अन्य मासों की प्रतिसेवना की है उन प्रत्येक मास से प्रतिसेवना के परिणामानुरूप स्तोक, स्तोकतर, विषम अथवा सम दिवसों को ग्रहण कर एकत्रित रोपण करना आरोपणा है। यह उत्कर्षतः तब तक करनी चाहिए जब तक कि स्थापना के साथ जोड़ने पर छह मास पूरे होते हों, अधिक नहीं। स्थापना और आरोपणा का एकत्र संकलन संचय कहलाता है। इसी आधार पर अपरिणामक और अतिपरिणामक को प्रायश्चित्त दिया जाता है। (वृ. पत्र ५८)

२. मात्र शब्द तुल्यवाची है (निशीथचूर्णि, व्य. वृ. पत्र ५९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीस रात-दिन (फिर पांच-पांच की वृद्धि से) तीसवीं उत्कृष्ट स्थापना होती है–१६५ दिन-रात की। (शेष मध्यम स्थापना होती है।)

३५९. आरोवणा जहन्ना, पन्नरराइंदियाइ पुण्णाइं।
उक्कोसं सट्ठिसतं, दोसु वि पक्खेवगो पंच।।

जघन्य आरोपणा होती है–पन्द्रह परिपूर्ण दिन-रात। उत्कृष्ट आरोपणा होती है–१६० दिन-रात दोनों में अर्थात् स्थापना और आरोपणा में पांच-पांच का प्रक्षेपण करना चाहिए।[1]

३६०. पंचण्हं परिवुड्ढी, ओवड्ढी चेव होति पंचण्हं।
एतेण पमाणेणं, नेयव्वं जाव चरिमं ति।।

स्थापना और आरोपणा के जघन्यपद से आरंभ कर उत्तरोत्तर पांच की परिवृद्धि से अंतिम पद तक अर्थात् तीसवें पद तक पहुंचना चाहिए। उसी प्रकार अंतिम स्थापना पद और आरोपणा पद से पांच-पांच की अपकृष्टि–हानि करते हुए पहले पद तक पहुंचना चाहिए।

३६१. जा ठवणा उद्दिट्ठा, छम्मासा ऊणगा भवे ताए।
आरोवण उक्कोसा, तीसे ठवणाय नायव्वा।।

जिस स्थापना की हम उत्कृष्ट आरोपणा जानना चाहते हैं उसे उद्दिष्टा स्थापना कहा जाता है। उतने दिन छह मास के दिनों से न्यून करने पर वह उत्कृष्ट आरोपणा उस स्थापना की जाननी चाहिए। जैसे–बीस दिनों की स्थापना की उत्कृष्ट आरोपणा जानना चाहते हैं। छह मास के १८० दिनों में से बीस दिन निकालने पर १६० दिन की उत्कृष्ट आरोपणा हुई। (उत्कृष्ट आरोपणा को जानने के लिए यही विधि है।)

३६२. आरोवण उद्दिट्ठा, छम्मासा ऊणगा भवे ताए।
आरोवणाइ तीसे, ठवणा उक्कोसिया होति।।

जिस आरोपणा की उत्कृष्ट स्थापना जानना चाहते हैं उसे उद्दिष्टा आरोपणा कहा जाता है। उतने दिन छह मास के दिनों से न्यून करने पर उस आरोपणा की उत्कृष्ट स्थापना ज्ञात होती है। जैसे–१५ दिनों की आरोपणा की उत्कृष्ट स्थापना (१८०–१५) १६५ दिनों की होती है। (यही विधि सर्वत्र है।)

३६३. तीसं ठवणाठाणा, तीसं आरोवणाय ठाणाइं।
ठवणाणं संवेधो, चत्तारिसया तु पण्णट्ठा।।

तीस स्थापनास्थान हैं और तीस आरोपणास्थान हैं। स्थापनास्थानों का आरोपणास्थानों के साथ संवेध–संयोग ४६५ होते हैं।[2]

३६४. गच्छुत्तरसंवग्गे, उत्तरहीणम्मि पक्खिवे आदी।
अंतिमधणमादिजुयं, गच्छद्धगुणं तु सव्वधणं।।

गच्छ का अंक है ३०। उत्तर अर्थात् एक से संवर्ग–गुणन करने पर ३० का अंक ही आया। उसमें एक न्यून करने पर २९ आए। उसमें आदि का एक अंक प्रक्षिप्त करें। पुनः ३० हो गये। यह अंतिम अंक स्थान है। इसमें आदि का एक मिलाने पर ३१ हुए। गच्छ का आधा करने पर १५ आये। इसको ३१ से गुणा करने पर ४६५ की संख्या प्राप्त होती है।

३६५. दो रासी ठावेज्जा, रूवं पुण पक्खिवेहि एगत्तो।
जत्तो य देति अद्धं, तेण गुणं जाण संकलियं।।

(अथवा गणित का यह दूसरा प्रकार है।) दो राशियों (गच्छों) की स्थापना करें–३०/३०। एक राशि में रूप (एक) का प्रक्षेप करें। ३१ हुए। जिस राशि से आधा होना है उसे ग्रहण करना है, यह १५ हुए। इतर राशि के साथ गुणन करने पर (३१×१५) ४६५ हुए। वह संकलित राशि होती है।

३६६. आसीता दिवससया, दिवसा पढमाण ठवणरुवणाणं।
सोधित्तुत्तरभइए, ठाणा दोण्हं पि रूवजुता।।

छह महीनों के १८० दिन होते हैं। प्रथम स्थापना और आरोपणा के दिनों को इन दिनों में से शोधित करने पर जो राशि लब्ध हो उसको उत्तर से भाजित करने पर रूपयुत स्थापना-

---

१. इसका तात्पर्य है–स्थापना की जघन्य स्थापना बीस दिन की। उसमें पंचक का प्रक्षेप करने पर दूसरी स्थापना २५ दिन की, उसमें पंचक का प्रक्षेप करने पर तीसरी स्थापना ३० दिन की, इस प्रकार पांच-पांच की वृद्धि करते हुए १६५ दिन-रात प्रमाण की तीसवीं स्थापना तक पहुंचना चाहिए। इसी प्रकार प्रथम आरोपणा स्थान पक्ष प्रमाण, इसमें पंचक का क्षेप करने पर बीस दिन प्रमाण का दूसरा, उसमें पंचक का क्षेप करने पर २५ दिन प्रमाण का तीसरा, इसी प्रकार आगे से आगे पांच-पांच का प्रक्षेप करते हुए १६० दिन प्रमाण का तीसवां आरोपणा प्रमाण प्राप्त होता है।

२. विधि–पहला स्थापना स्थान है २० दिनों का तो आरोपणा स्थान तीस दिनों का होगा। स्थापना दिनों की पांच-पांच की वृद्धि के साथ-साथ आरोपणा स्थानों में एक-एक की कमी होगी। इस प्रकार तीसवां स्थापना स्थान १६५ दिनों का होगा तब आरोपणा स्थान एक दिन का होगा। सभी आरोपणा स्थानों को मिलाने पर (३०+२९+२८+२७+२६ से लेकर एक तक) ४६५ की संख्या होगी। इसी प्रकार पहला आरोपणा स्थान १५ दिनों का तो स्थापना स्थान तीस दिनों का होगा। आरोपणा स्थानों की पांच-पांच की वृद्धि के साथ-साथ स्थापना दिनों में एक-एक की कमी होने पर तीसवां आरोपणा स्थान १६० दिन प्रमाण का तो स्थापना स्थान एक दिन का। सभी स्थापना स्थानों को मिलाने पर ४६५ की संख्या होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरोपणा के स्थान उपलब्ध होते हैं।[1]

३६७. ठवणरुवणाण तिण्हं, उत्तरं तु पंच पंच विण्णेया।
एगुत्तरिया एगा, सव्वावि हवंति अट्ठेव।।

आद्य तीन स्थापनाओं के तथा आरोपणा के पद विमर्श में उत्तर है पांच-पांच अर्थात् तीनों के पदों का यथोत्तर पांच-पांच की वृद्धि होती है। एक चौथी आरोपणा एकोत्तरवृद्धि से बढ़ती है, अतः इसके उत्तर में है एक। संपूर्ण संख्या से स्थापना और आरोपणा आठ होती है—चार स्थापना और चार आरोपणा।

३६८. तीसा तेत्तीसा वि य, पणतीसा अउणसीय सयमेव।
एते ठवणाण पदा, एवइया चेव रुवणाणं।।

चार स्थापनाओं का क्रमशः पदपरिमाण—३०+३३+३५+१७९। इतना ही आरोपणाओं का पदपरिमाण है।

३६९. ठवणारोवणदिवसे, माणा उ विसोधइत्तु जं सेसं।
इच्छितरुवणाय भए, असुज्झमाणे खिवइ झोसं।।

मान से अर्थात् छह मास के १८० दिनों में से विवक्षित स्थापना और विवक्षित आरोपणा के दिनों का विशोधन कर अर्थात् कम कर, जो शेष राशि बचती है उसमें इच्छित आरोपणा से भाग दे। यदि वह राशि पूर्णरूप से भाजित होती है, शुद्ध हो जाती है तो उसमें कुछ भी झोष—प्रक्षेप[2] की आवश्यकता नहीं होती। यदि अशुद्ध है तो सम करने के लिए कोई राशि का प्रक्षेप किया जाता है। यह अकृत्स्ना आरोपणा कहलाती है।

३७०. जेत्तियमेत्तेणं सो, सुद्धं भागं पयच्छती रासी।
तत्तियमेत्तं पक्खिव, अकसिणरुवणाइ झोसग्गं।।

जितना प्रक्षेप करने पर वह अधिकृत राशि शुद्धरूप से विभाजित हो जाती है, उतना ही उसमें प्रक्षेप करना चाहिए। यह अकृत्स्ना आरोपणा का झोष-परिमाण है।

३७१. ठवणा दिवसे माणा, विसोधइत्ताण भयह रुवणाए।
जो छेदं सविसेसो, अकसिणरुवणाए सो झोसो।।

मान अर्थात् छह महीनों के १८० स्थापना दिनों में से अधिकृत स्थापना दिनों का विशोधन करो, उतने दिन कम कर दो। विशोधन करने पर जो शेष बचता है उसको अधिकृत आरोपणा दिनों से विभाजित करो। जो छेद (जिससे विभाजित किया है) है, उसका विश्लेषण करो। यह अकृत्स्ना आरोपणा का झोष होगा।[3]

३७२. जत्थ पुण देति सुद्धं, भागं आरोवणा उ सा कसिणा।
दोण्हं पि गुणय लद्धं, इच्छियरुवणाए जदि मासा।।

जिस आरोपणा में राशि शुद्ध भाग देती है, शेष कुछ नहीं रहता, वह कृत्स्ना आरोपणा है। यह आरोपणा दो मासों से निष्पन्न होने के कारण दो से गुणन करने पर (७+७) १४ हुए। इसमें दो स्थापना-मास तथा दो आरोपणा-मास मिलाने पर १८ मास हुए।[4]

---

१. जैसे—प्रथम स्थान में प्रथम स्थापना के दिन २० और प्रथम आरोपणा के दिन १५, दोनों को मिलाने पर ३५ हुए। १८० में से इन का संशोधन करने पर १४५ हुए। उसको उत्तर अर्थात् पांच से भाग देने पर २९ अंक आये। उसको रूपयुत करने पर अर्थात् एक मिलाने पर ३० हुए। इस प्रकार प्रथम स्थान में स्थापना पद ३० तथा आरोपणा पद भी ३० हुए। दूसरे स्थान में प्रथम स्थापना दिन १५, प्रथम आरोपणा दिन ५, दोनों का संकलन २० हुआ। उसको १८० में से संशोधित करने पर १६० शेष रहे। उसको पांच का भाग देने पर ३२ अंक आये। उसको रूपयुत करने पर ३३ हुए। दूसरे स्थान में स्थापना पद ३२ तथा इतने ही आरोपणा पद हुए। तीसरे स्थान में प्रथम स्थापना दिन पांच, प्रथम आरोपणा दिन ५। दोनों को मिलाने पर १० हुए। उनको १८० से संशोधित करने पर १७० दिन और उसको ५ से भाग देने पर ३४ हुए। उसको रूपयुत करने पर ३५। तीसरे स्थान में स्थापनापद और आरोपणापद ३५-३५ हुए। चतुर्थ स्थान में प्रथम स्थापना का एक दिन, प्रथम आरोपणा का भी एक दिन। दोनों को मिलाने से २ हुए। १८० में से दो का संशोधन करने पर १७८ रहे और उसको एक का भाग देने तथा रूपयुत करने पर १७९ हुए। यही संख्या चतुर्थ स्थान के स्थापनापद और आरोपणापद की है।

२. झोषोत्ति वा समकरणत्ति वा एगट्ठं। (वृत्ति पत्र ६७)

३. जैसे—छह महीनो में १८० दिनों में से स्थापना दिन २० हैं। उनका विशोधन करने पर शेष १६० रहे। यदि पाक्षिकी आरोपणा में संचयमास जानने की इच्छा हो तो, उस राशि में १५ का भाग दिया जाता है। भाग देने पर $\frac{160}{15}$ दस शेष रहे।) छेद है १५ का। इसमें से १० निकालने पर शेष ५ रहे। यह संख्या पाक्षिकी अकृत्स्ना आरोपणा का झोष है। इसी प्रकार २५ दिन की आरोपणा के संचयमास जानना हो तो १८० दिनों में से स्थापना के २० दिन कम करने पर १६० दिन शेष रहे। इसमें २५ का भाग देने पर १० शेष रहे। छेद २५ में से १० निकालने पर शेष १५ रहे। यह २५ दिनों की आरोपणा का झोष है।

४. किसी ने पूछा—विंशिका स्थापना और विंशिका आरोपणा—यह कितने मासों की प्रतिसेवना से निष्पन्न होती है? उत्तर में कहा गया—यह १८ मासों से निष्पन्न होता है। कैसे? छह महीनों के १८० दिनों में से स्थापना के २० दिन तथा आरोपणा के २० दिन निकाल देने पर शेष १४० बचे। इस राशि को इच्छितरुवणा—अर्थात् इच्छित आरोपणा से भाग देने पर अर्थात् २० का भाग देने पर उपरितन राशि निर्लेप अर्थात् शुद्ध है, शेष कुछ भी नहीं बचा। यह विशुद्ध कृत्स्नारोपणा सात मास की प्राप्त हुई। यह आरोपणा प्रागुक्तक्रम से दो मासों से निष्पन्न होने के कारण सात को दो से गुणा करने पर १४ प्राप्त हुए इसमें दो स्थापना मास और दो आरोपणा मास मिलाने पर १८ मास हुए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३७३. दिवसा पंचहि भइया, दुरूवहीणा उ ते भवे मासा।
मासा दुरूवसहिता, पंचगुणा ते भवे दिवसा।।

(स्थापना अथवा आरोपणा के) दिनों को पांच से भाजित करने पर जो अंक आता है, उसको द्विरूपहीन अर्थात् दो से भाजित करने पर जो अंक आता है, वे मास होते हैं। मासों को द्विरूपसहित अर्थात् दो-दो मिलाकर पांच से गुणा करने पर वे दिन प्राप्त होते हैं।[1]

३७४. ठवणारोवणसहिता, संचयमासा हवंति एवइया।
कत्तो किं गहियं ति य, ठवणामासे ततो सोधे।।

स्थापना, आरोपणा सहित संचयमास (सर्वप्रायश्चित्त के संकलित मास) इतने होते हैं—ऐसी प्ररूपणा करनी चाहिए। तब शिष्य पूछता है—उस-उस स्थापना और आरोपणा के संचय मास के मध्य कहां से कितने मास लिये हैं? आचार्य कहते हैं—संचयमासों की संख्या से स्थापना मासों का शोधन करने पर ये मास प्राप्त होते हैं।

३७५. दिवसेहि जइहि मासो,निप्फण्णो भवति सव्वरुवणाणं।
ततिहि गुणिया उ मासा, ठवणदिणजुता उ छम्मासा।।

समस्त आरोपणाओं के जितने दिनों से मास निष्पन्न होता है, उतने दिनों से गुणनकरने पर तथा स्थापना दिनों से युक्त होने पर वे छह मास हो जाते हैं।[2]

३७६. रुवणाए जइ मासा, तइभागं तं करे तिपंचगुणं।
सेसं च पंचगुणियं, ठवणादिवसा जुता दिवसा।।

आरोपणा के जितने मास हैं, उस संख्या के अनुसार भाग करके, आद्यभाग को १५ से गुणन करना चाहिए। शेष भागों को ५ से गुणन करना चाहिए। फिर उनमें स्थापना दिनों को मिलाने पर षण्मासदिन होते हैं।[3]

३७७. दिवसा पंचहि भइता, दुरूवहीणा उ ते भवे मासा।
मासा दुरूवसहिता, पंचगुणा ते भवे दिवसा।।

देखें—गाथा ३७३।

३७८. जत्थ उ दुरूवहीणं, न होज्ज भागं च पंचहि न देज्जा।
तहि ठवणरुवणमासो, एगे तु दिणा तु ते चेव।।

जो स्थापना और आरोपणा में द्विरूपहीन न हो तथा जिसमें ५ का भाग न दिया जाता हो, उनमें (स्थापना-आरोपणा में) एक मास जानना चाहिए। दिन भी उतने ही है।

३७९. एक्कादिया तु दिवसा, नायव्वा जाव होंति चउदसओ।
एकातो मासातो, निप्फण्णा परतो दुगहीणा।।

एक मास से निष्पन्न एकादीय दिवस जानने चाहिए। यावत् १४ तक। इससे आगे १५ दिन वाली स्थापना-आरोपणा में द्विरूपहीन करने पर मास प्राप्त होते हैं।

३८०. जइ वा दुरूवहीणे, कतम्मि होज्जा तहिं तु आगासं।
तत्थ वि एगो मासो, दिवसा ते चेव दोण्हं पि।।

जिन दशदिन से १४ दिन पर्यंत दिनों में पांच का भाग देने पर जो लब्ध है, उसमें दो कम करने पर शून्य रहता है। वहां भी एक मास है। स्थापना-आरोपणा—इन दोनों के दिन भी वे ही है।

३८१. उक्कोसारुवणाणं, मासा जे होंति करणनिद्दिट्ठा।
ते ठवणामासजुता, संचयमासा उ सव्वेसिं।।

सभी उत्कृष्ट आरोपणाओं के जो मास होते हैं, उनको करणनिर्दिष्ट स्थापनामासों से युक्त करने पर संचयमास आते हैं।[4]

३८२. पढमा ठवणा वीसा, पढमा आरोवणा भवे पक्खे।
तेरसहिं मासेहिं, पंच उ राइंदिया झोसो।।

प्रथम स्थापना २० दिनों की तथा प्रथमा आरोपणा एक पक्ष की। यह स्थापना-आरोपणा तेरह मासों से निष्पन्न है। यह आरोपणा अकृत्स्ना है अतः इसमें पांच रात-दिन का झोष होता है।

३८३. पढमा ठवणा वीसा, बितिया आरोवणा भवे वीसा।
अट्ठारसमासेहिं, एसा पढमा भवे कसिणा।।

प्रथम स्थापना २० दिनों की तथा दूसरी आरोपणा २०

---

१. जैसे—विंशिका स्थापना के दिन २०, उसमें पांच का भाग देने पर ४ अंक आये। द्विरूपहीन करने पर दो रहे। इससे विंशिका स्थापना दो मासों से निष्पन्न हुई। इसी प्रकार पाक्षिकी आरोपणा के १५ दिन। उसमें ५ का भाग देने पर ३ अंक आए। द्विरूपहीन करने पर एक रहा। इससे पाक्षिकी आरोपणा एक मास से निष्पन्न हुई।

जैसे विंशिका स्थापना के दो मासों को द्विरूपसहित करने पर चार हुए। इसको पांच से गुणा करने पर २० हुए। ये विंशति स्थापना के दिन हैं। पाक्षिकी आरोपणा का एक मास। उसको द्विरूपसहित करने पर ३ हुए। इसको ५ से गुणा करने पर १५ हुए। यह पाक्षिकी आरोपणा के दिनों की संख्या है।

२. जैसे—प्रथम आरोपणा के १३ संचयमास हैं। उनमें से दो स्थापना मासों को निकाल देने पर ११ रहे। इनमें जो आरोपणा मास था, वह १५ दिनों से निष्पन्न होने के कारण ११ को १५ से गुणनकरने पर १६५ हुए। उसमें स्थापना के २० दिनों का प्रक्षेप करने पर १८५ की संख्या आयी। इसमें से ५ का झोष अर्थात् निकाल देने पर छह मास हो गये।

३. जैसे प्रथम स्थापना और प्रथम आरोपणा में १३ संचय- मासों में से दो स्थापनामास निकालने पर शेष ११ रहे। इसको १५ से गुणन करने पर १६५ हुए। इसमें स्थापना के २० दिनों का प्रक्षेप करने पर १८५ हुए। ५ का झोस करने पर १८० हुए।

४. जैसे—विंशिका की स्थापना तथा १६० दिवसीय आरोपणा में ३२ मास—१६० को पांच से भाग देने पर ३२ मास हुए। इसे द्विरूपहीन करने पर ३० रहे, इसमें स्थापना मास २ का प्रक्षेप करने पर ३२ हुए—यह प्रतिसेवित मासों की संख्या है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिनों की। यह स्थापना-आरोपणा १८ मासों से निष्पन्न है। यह प्रथम कृत्स्ना आरोपणा है।

३८४. पढमा ठवणा वीसा, ततिया आरोवणा उ पणुवीसा।
तेवीसा मासेहिं पक्खो तु तहिं भवे झोसो।।

प्रथम स्थापना २० दिनों की तथा तीसरी आरोपणा २५ दिनों की। यह स्थापना-आरोपणा २३ मास से निष्पन्न है। तथा इसमें झोष परिमाण है एक पक्ष का। यह भी अकृत्स्ना आरोपणा है, क्योंकि इसमें झोष है।

३८५. एवं एता गमिता, गाहाओ होंति आणुपुव्वीए।
एतेण कमेण भवे, चत्तारिसता उ पण्णट्ठा।।

इस प्रकार एतद्गमिका—इस प्रकार की गाथाएं क्रमशः अन्यान्य भी होती हैं। (जैसे—प्रथम स्थापना बीस दिनों की, चौथी आरोपणा तीस दिनों की। यह स्थापना-आरोपणा २६ मास से निष्पन्न होती है। इसमें झोष है २० रात-दिन का।) इस क्रम से ४६५ गाथाएं होती हैं।

३८६. तेत्तीसं ठवणपदा, तेत्तीसीसारोवणाय ठाणाइं।
ठवणाणं संवेहो, पंचेव सया तु एगट्ठा।।

दूसरे स्थान में स्थापनापद हैं ३३ और आरोपणा के स्थान हैं ३३। स्थापना पदों का आरोपणा के साथ संवेध ५६१ होते हैं।[1] (३३×१७=५६१)।

३८६/१. ठवणारोवण वि जुया, छम्मासा पंचभागभइया जे।
रूवजुया ठवणपया, तिसु चरिमा देसभागेक्को।।

स्थापना और आरोपणा के दिवसों से विरहित छह मासों के दिनों में पांच का भाग देने पर जो अंक लब्ध हैं, वे रूपयुत करने पर जितने होते हैं उतने ही स्थापना पद और वही गच्छ संख्या है। यह तीनों आद्य स्थानों में द्रष्टव्य है। चौथे स्थान में भी यही है। केवल उसमें एक से भाग देना होता है।[2]

३८७. पढमा ठवणा पक्खो, पढमा आरोवणा भवे पंच।
चोत्तीसामासेहिं, एसा पढमा भवे कसिणा।।

(दूसरे स्थान में) प्रथम स्थापना पाक्षिकी, प्रथम आरोपणा के ५ दिन। यह स्थापना-आरोपणा ३४ मास की प्रतिसेवना से निष्पन्न होती है। यह प्रथमा कृत्स्ना आरोपणा है।

३८८. पढमा ठवणा पक्खो, बितिया आरोवणा भवे दस उ।
अट्ठारसमासेहिं, पंच य राइंदिया झोसो।।

प्रथम स्थापना पाक्षिकी, द्वितीय आरोपणा दस दिन की। यह १८ मास की प्रतिसेवना से निष्पन्न होती है। इसमें ५ रात-दिन का झोष होता है।[3]

३८९. पढमा ठवणा पक्खो, ततिया आरोवणा भवे पक्खो।
बारसहिं मासेहिं, एसा बितिया भवे कसिणा।।

प्रथम स्थापना पाक्षिकी, तीसरी आरोपणा पाक्षिकी। यह बारह मास की प्रतिसेवना से निष्पन्न होती है। यह दूसरी कृत्स्ना आरोपणा है।[4]

३९०. एवं एता गमिता, गाहाओ होंति आणुपुव्वीए।
एतेण कमेण भवे, पंचेव सता उ एगट्ठा।।

इस प्रकार की गाथाएं आनुपूर्वी के उक्त क्रम से अन्यान्य भी होती हैं। उनकी संख्या है ५६१।[5]

३९१. पणतीसं ठवणपदा, पणतीसारोवणाइ ठाणाइं।
ठवणाणं संवेधो, छच्चेव सता भवे तीसा।।

तृतीय स्थान में स्थापनापद हैं ३५ और आरोपणा स्थान हैं ३५। स्थापनापदों के आरोपणापदों के साथ संवेध संख्या है ६३०।

---

१. देखें गाथा ३६४ तथा वृत्ति।

२. प्रथम स्थापना में प्रथम स्थान के २० दिन, प्रथम आरोपणा के १५ दिन। दोनों को मिलाने पर ३५ दिन हुए। इनका छह मास के १८० दिनों में से निकाल देने पर १४५ दिन शेष रहे। इसमें पांच का भाग देने पर २९ आए। रूपयुत अर्थात् एक मिलाने पर तीस हुए। यह प्रथम स्थान के गच्छ का अंक ३० है। द्वितीय स्थान में प्रथम स्थापना १५ दिन, प्रथम आरोपणा ५ दिन। दोनों को मिलाने पर २० दिन। इनको १८० में से निकालने पर १६०। इसमें पांच का भाग देने पर ३२। इसको रूपयुत करने पर ३२+१=३३ हुए। यह द्वितीय स्थान का गच्छांक है ३३। इसको एक से गुणन करने पर ३३ आए। १ से हीन करने पर ३३—१=३२ अंक। इसमें एक मिलाने पर पुनः ३३ हुए। यह अंतिम धन है। वह गच्छार्ध से गुणित करने पर ३३×१७=५६१ हुए।

३. जैसे स्थापना के १५, आरोपणा के १०। इनको १८० में से निकाल देने पर १५५ शेष रहे। आरोपणा के दिनों से—१० से भाग देने पर वह शुद्ध नहीं होता, क्योंकि कुछ शेष रह जाता है। इसलिए उसमें ५ प्रक्षिप्त करने पर १६० हुए। १० का भाग देने पर १६ आये। ये १६ मास हुए। स्थापना का पूर्वप्रकार से एक मास। आरोपणा के दस दिनों में ५ का भाग देने पर दो अंक आये। इनको रूपहीन अर्थात् २ कम करने पर शेष रहा शून्य। इसका एक मास। इन दोनों मासों को १६ में प्रक्षिप्त करने पर १८ मास हुए।

४. स्थापना और आरोपणा के दिनों को १८० में से निकालने पर १५० शेष रहें। इसमें आरोपणा के दिनों का १५ भाग देने पर १० मास प्राप्त हुए। स्थापना और आरोपणा का एक-एक मास प्रक्षिप्त करने पर १०+२=१२ मास हुए। किन मासों से कितना ग्रहण किया ? प्रत्येक से १५-१५ दिन। १२ मास को १५ से गुणन करने पर १८० हुए।

५. स्थापना स्थान १५। आरोपणा स्थान ५। इनमें पांच-पांच के प्रक्षेप से स्थापना का ३३वां स्थान १७५ होगा तो आरोपणा का १६५। स्थापना दिनों में पांच-पांच की वृद्धि के साथ-साथ आरोपणा में एक-एक का परिहार करने पर तैतीसवां स्थापना स्थान १७५ होगा तो आरोपणा का स्थान एक दिन का होगा। इनका समाकलन ५६१ (३३+३२+३१+३० से लेकर एक तक ५६१) होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३९२. पढमा ठवणा पंच य, पढमा आरोवणा भवे पंच।
छत्तीसामासेहिं, एसा पढमा भवे कसिणा।।

तृतीय स्थान में प्रथम स्थापना के ५ दिन और प्रथम आरोपणा के ५ दिन। यह ३६ मास की प्रतिसेवना से निष्पन्न होती है। यह प्रथम कृत्स्ना आरोपणा है।

३९३. पढमा ठवणा पंच य, बितिया आरोवणा भवे दस उ।
एगूणवीसमासेहिं, पंच तु राइंदिया झोसो।।

तृतीय स्थान में प्रथम स्थापना के ५ दिन और दूसरी आरोपणा के दस दिन। यह १९ मास की प्रतिसेवना से निष्पन्न होती है। इसमें ५ रात-दिन का झोष होता है।

३९४. पढमा ठवणा पंच य, ततिया आरोवणा भवे पक्खो।
तेरसहिं मासेहिं, पंच तु राइंदिया झोसो।।

तृतीय स्थान में प्रथम स्थापना के ५ दिन और तीसरी आरोपणा के १५ दिन। यह १३ मास की प्रतिसेवना से निष्पन्न होती है। इसमें ५ रात-दिन का झोष होता है।

३९५. एवं एता गमिता, गाहाओ होंति आणुपुव्वीए।
एतेण कमेण भवे, छच्चेव सयाइ तीसाइं।।

इस प्रकार की गाथाएं आनुपूर्वी से उक्त क्रम से अन्यान्य भी होती हैं। उनकी संख्या है ६३०।

३९६. अउणासीतं ठवणाण, सतं आरोवणा वि तह चेव।
सोलस चेव सहस्सा, दसुत्तरसयं च संवेधो।।

चौथे स्थान में स्थापनापद १७९ होते हैं और आरोपणा के पद भी उतने ही होते हैं। उनकी संवेध संख्या १६११० होती है।[1]

३९७. पढमा ठवणा एक्को, बितिया आरोवणा भवे दोन्नि।
आसीतं माससतं, एसा पढमा भवे कसिणा।।

चतुर्थ स्थान में प्रथम स्थापना और प्रथम आरोपणा एक-एक दिन की होती है। यह १८० मास की प्रतिसेवना से निष्पन्न होती है। यह प्रथम कृत्स्ना आरोपणा है।[2]

३९८. पढमा ठवणा एक्को, बितिया आरोवणा भवे दोन्नि।
एक्कानउतिमासेहिं, एक्को उ तहिं भवे झोसो।।

चतुर्थ स्थान में प्रथम स्थापना का एक दिन तथा दूसरी आरोपणा दो दिन की होती है। यह ९१ मास की प्रतिसेवना से निष्पन्न होती है। इसमें एक दिन का झोष (प्रक्षेप) होता है।[3]

३९९. पढमा ठवणा एक्को, ततिया आरोवणा भवे तिन्नि।
एगट्ठीमासेहिं, एक्को उ तहिं भवे झोसो।।

चतुर्थ स्थान में प्रथम स्थापना का एक दिन और तीसरी आरोपणा के तीन दिन। यह ६१ मास की प्रतिसेवना से निष्पन्न होती है। इसमें एक दिन का झोष (प्रक्षेप) होता है।

४००. एवं खलु गमिताणं गाहाणं होंति सोलससहस्सा।
सतमेगं च दसहियं, नेयव्वं आणुपुव्वीए।।

इस प्रकार गमिक-उत्कृरूप के वैकल्पिक गाथाएं आनुपूर्वी के क्रम से १६११० अन्यान्य गाथाएं होती हैं।

४०१. असमाहीठाणा खलु, सबला य परीसहा य मोहम्मि।
पलितोवम-सागरोवम, परमाणु ततो असंखेज्जा।।

(शिष्य ने पूछा-यह प्रायश्चित्त राशि कैसे उत्पन्न हुई?) आचार्य ने कहा-जितने असमाधि के स्थान हैं, शबल दोष हैं, परीषह हैं तथा मोहनीय के स्थान अथवा मोहनीय कर्मबंध के कारण हैं-इन असंयम स्थानों से ही इस प्रायश्चित्त राशि की उत्पत्ति होती है। (शिष्य ने पूछा-क्या असंयम के स्थान इतने ही हैं?) आचार्य ने कहा-पल्योपम तथा सागरोपम के व्यावहारिक परमाणु जितने बालाग्रों के खंड होते हैं, उनसे असंख्येय गुना अधिक असंयमस्थान हैं। कोई आचार्य कहते हैं कि उन बालाग्रों

---

१. जैसे यहां गच्छांक १७९।१८० में से प्रथम स्थापना दिन और प्रथम आरोपणा दिन-इन दो को निकालने पर १७८। इसमें एक का भाग दिया। वही १७८ की संख्या आयी। उसमें रूप-एक मिलाया। संख्या १७९ हुई। इसको एक से गुणनकरने पर वही संख्या। एक से हीन करने पर १७८ हुई। इसमें आदि का एक मिलाने पर १७९। यह अंतिम धन संख्या है। इसमें आदि का एक मिलाने पर १८०। गच्छांक विषम है। उसको सम कर आधा करने पर ९० की संख्या आई। इसको १७९ से गुणन करने पर १६११० की संख्या आती है।

२. १८० संख्या से स्थापना दिन एक तथा आरोपणा दिन एक को निकालने पर शेष १७८ रहे। इसमें एक का भाग देने पर १७८ आए। इसमें एक स्थापनामास और एक आरोपणामास का प्रक्षेप करने पर (१७८+२) १८० हुए। किस मास से कितने दिन ग्रहण किए गए, इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया कि एक-एक मास एक-एक दिन लेने पर १८० दिन (अर्थात् छहमास) हुए। इसमें भाग पूरा गया इसलिए शुद्ध है तथा अन्यान्य कृत्स्ना आरोपणाओं में प्रथम है।

३. १८० में से एक स्थापना दिन और दो आरोपणा दिनों को निकालने पर (१८०-३) १७७ दिन रहे। इसमें दो दिन की आरोपणा का भाग पूरा नहीं होता, अतः इसमें एक का झोष-प्रक्षेप करने पर १७८ हुए। इसमें दो का भाग देने पर ८९ हुए। इसमें एक स्थापना मास और एक आरोपणा मास का प्रक्षेप करने पर ९१ हुए। किस मास से कितने दिन? ९१ संचयमास से एक स्थापना मास निकालने पर ९० रहे। इसको आरोपणा के दो दिनों से गुणन करने पर ९०×२=१८० हुए। एक का झोष करने पर १७९ हुए। एक स्थापना दिन मिलाने पर १८० हुए। इससे यह ज्ञात होता है कि स्थापनीकृत मास से एक दिन तथा शेष से दो-दो दिन। इस प्रकार सारे १८० दिन हुए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के परमाणु जितने खंड होते हैं उतने असंयम-स्थान हैं।[1]

४०२. बारस अट्ठग छक्कग, माणं भणितं जिणेहि सोधिकरं।
तेण परं जे मासा, साहण्णंता परिसडंति।।

जिन अर्थात् तीर्थंकरों ने तीन प्रकार के शोधिकर प्रायश्चित्त के प्रमाण बतलाये हैं—प्रथम तीर्थंकर के समय में १२ मास, मध्यमतीर्थंकर के समय में ८ मास और अंतिम तीर्थंकर के समय में ६ मास। इनसे अधिक का प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता। इन मास-प्रमाणों से अधिक मास की प्रतिसेवना करने पर भी स्थापना-आरोपणा की विधि से संहन्यमान होकर वे मास त्यक्त हो जाते हैं। (उतने मात्र प्रायश्चित्त से ही प्रतिपद्यमान की शोधि हो जाती है।)

४०३. केवल-मणपज्जवनाणिणो य तत्तो य ओहिनाणजिणा।
चोद्दस-दस-नवपुव्वी, कप्पधर पकप्पधारी य।।
४०४. घेप्पंति च सद्देणं, निज्जुत्ती-सुत्त-पेढियधरा यं।
आणा-धारण जीते, य होंति पभुणो उ पच्छित्ते।।

प्रायश्चित्त देने के अधिकारी—

१. केवलज्ञानी २. मनःपर्यवज्ञानी ३. अवधिज्ञानीजिन ४. चतुर्दशपूर्वी ५. दशपूर्वी ६. नौपूर्वी (प्रतिपूर्ण अथवा नौवें पूर्व की तृतीय आचारवस्तु के धारक) ७. कल्पधर—बृहत्कल्प और व्यवहार के धारक ८. प्रकल्पधर—निशीथ के धारक ९. निर्युक्ति-धर १०. सूत्र-पीठिकाधर (निशीथ, कल्प और व्यवहार के प्रथम पीठिका के धारक) तथा ११. आज्ञा १२. धारणा और १३ जीत व्यवहारी।

४०५. अणुघातियमासाणं, दो चेव सता हवंति बावण्णा।
तिण्णि सया बत्तीसा, होंति य उग्घातियाणं पि।।
४०६. पंचसता चुलसीता, सव्वेसिं मासियाण बोधव्वा।
तेण परं वोच्छामी, चाउम्मासाण संखेवं।।

शिष्य ने पूछा—प्रायश्चित्त कितने हैं? आचार्य ने कहा—अर्थतः प्रायश्चित्त अपरिमित हैं। सूत्रतः उनका परिमाण यह है—निशीथ अध्ययन के प्रथम उद्देशक में अनुद्घातित (गुरु) मास का परिमाण बतलाया है—२५२ और दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवे उद्देशक में उद्घातित (लघु) मास का परिमाण है ३३२। सभी मासों का संकलन है ५८४। आगे चातुर्मासिक का संक्षेप बताऊंगा।

४०७. छच्चसता चोयाला, चाउम्मासाण होंतऽणुग्घाया।
सत्त सया चउवीसा, चाउम्मासाण उग्घाता।।
४०८. तेरससतअट्ठट्ठा, चाउम्मासाण होंति सव्वेसिं।
तेण परं वोच्छामी, सव्वसमासेण संखेवं।।

छठे, सातवें, आठवें, नौवें, दशवें और ग्यारहवें उद्देशक में अनुद्घातित चातुर्मासिक बताये हैं। उनकी एकत्र संख्या है—६४४। बारहवें से उन्नीसवें उद्देशकों में उद्घातित चातुर्मासिक का उल्लेख है। उनकी एकत्र संख्या है—७२४। समस्त चातुर्मासिक प्रायश्चित्तों की संख्या होती है—६४४+७२४ =१३६८। अब आगे मासिक, चातुर्मासिक आदि सभी प्रायश्चित्तों की संकलित संख्या बताऊंगा।

४०९. नवयसता य सहस्सं, ठाणाणं पडिवत्तिओ।
बावण्णा ठाणाइं, सत्तरि आरोवणा कसिणा।।

पूर्वोक्त मासिक आदि प्रायश्चित्त स्थानों की प्रतिपत्तियां (प्रतिपादन) १९५२ है। कृत्स्ना आरोपणा के स्थान ७० हैं।

४१०. सव्वेसिं ठवणाणं, उक्कोसारोवणा भवे कसिणा।
सेसा चत्ता कसिणा, ता खलु नियमा अणुक्कोसा।।

प्रथम स्थापना-आरोपणा के तीस स्थान हैं। उन सभी स्थानों में अंतिम आरोपणा उत्कृष्ट होती है। वह झोषविरहित होने के कारण कृत्स्ना आरोपणा होती है। उनकी सर्वसंख्या है ३०। शेष चालीस अनुत्कृष्ट आरोपणाएं कृत्स्ना हैं। इस प्रकार सत्तर कृत्स्ना आरोपणाएं हैं।

४११. वीसाए तू वीसा, चत्त असीया य तिण्णि कसिणाओ।
तीसाए पक्ख पणवीस, तीस पण्णास पणसतरी।।
४१२. चत्ताए वीस पणतीस, सत्तरी चेव तिण्णि कसिणाओ।
पणयालाए पक्खो, पणयाला चेव दो कसिणा।।
४१३. पण्णाए पण्णट्ठी, पणपण्णाए य पण्णवीसा य।
सट्ठिठवणाए पक्खो, वीसा तीसा य चत्ता य।।
४१४. सयरीए पणपण्णा, तत्तो पण्णत्तरीए पक्ख पणतीसा।
असतीए ठवणाए, वीसा पणुवीस पण्णासा।।
४१५. नउतीय पक्ख तीसा,
पणताला चेव तिण्णि कसिणाओ।
सतियाए वीस चत्ता,
पंचुत्तर पक्ख पणवीसा।।
४१६. दस्सुत्तरसतियाए, पणतीसा वीस उत्तरे पक्खो।
वीसा तीसा य तधा, कसिणाओ तिण्णि बीए य।।
४१७. तीसुत्तरपणवीसा, पणतीसा पक्खिया भवे कसिणा।
चत्तालीसा वीसा, पण्णासं पक्खिया कसिणा।।

कितने स्थापना-दिनों में	कौनसी कितनी कृत्स्ना आरोपणा
२०	तीन—२०, ४० और ८० दिन की।
३०	पांच—१५, २५, ३०, ५० तथा ७५ दिन की।

१. वृत्तिकार का कथन है कि सूक्ष्मपरमाणु अनंत होते हैं। असंयम स्थान उत्कृष्टरूप में असंख्येय लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं, अनंत नहीं। (वृत्ति पत्र ७९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४०	तीन–२०, ३५, ७० दिन की।
४५	दो– १५, ४५ दिन की।
५०	एक–६० दिन की।
५५	एक–२५ दिन की।
६०	चार–१५, २०, ३०, ४० दिन की।
७०	एक–५५ दिन की
७५	दो–१५, २५ दिन की।
८०	तीन–२०, २५,५० दिन की।
९०	तीन–१५, ३०, ४५ दिन की।
१००	दो– २०, ४० दिन की।
१०५	दो– १५, २५ दिन की।
११०	एक–३५ दिन की।
१२०	तीन–१५, २०,३० दिन की।
१३०	एक–२५ दिन की।
१३५	एक–१५ दिन की।
१४०	एक–२० दिन की।
१५०	एक–१५ दिन की।

४१८. सव्वासिं ठवणाणं, एत्तो सामण्णलक्खणं वोच्छं।
मासग्गे झोसग्गे, हीणाहीणे य गहणे य।।

अब मैं सभी स्थापनाओं और आरोपणाओं का सामान्य-लक्षण कहूंगा। प्रतिसेवितमासों का परिमाण, झोषाग्र-झोष संख्या का परिमाण तथा संचयमासों से हीन-अहीन के ग्रहण विषयक बात कहूंगा।

४१९. जति मि भवे आरोवण, ततिभागं तं करे ति-पंचगुणं।
सेसं पंचहि गुणिए, ठवणादिजुता उ छम्मासा।।

जितने भाग वाली आरोपणा हो, जैसे–पहली, दूसरी या तीसरी उसके उतने भाग करके आद्य भाग को १५ से गुणन करे। शेष समस्त भागों का संकलन कर पांच से गुणा करे। तदनंतर स्थापना के दिनों से युक्त होने पर छह मास प्राप्त होते हैं।

४२०. जति मि भवे आरुवणा,
ततिभागं तस्स पण्णरसहि गुणे।
ठवणारोवणसहिता,
छम्मासा होंति नायव्वा।।

जितने भागवाली आरोपणा हो जैसे–पहली, दूसरी या तीसरी उसके उतने भाग करके, आद्यभाग को १५ से गुणन करे। उससे स्थापना-आरोपणा के दिनों सहित होकर छह मास प्राप्त होते हैं।[1]

४२१. जेण तु पदेण गुणिता, होऊणं सो न होति गुणकारो।
तस्सुवरिं जेण गुणे, होति समो सो हु गुणकारो।।

(आरोपणा दिनों को) जिस पद से गुणन करने पर वह षण्मास परिमाण से न्यून या अधिक होता है तो वह गुणकार नहीं होता। उसके अनंतर जिससे गुणन करने पर षण्मास परिमाण के सम होता है वह है गुणकार।[2]

४२२. जतिहि गुणे आरोवण, ठवणाजुत्तो हवंति छम्मासा।
तावतियारुवणाओ, हवंति सरिसाऽभिलावाओ।।

आरोपणा के दिनों को जितने से गुणा करने पर तथा स्थापना दिवसों को मिलाने पर छहमास परिमाण (१८० दिन) होता है, वह कृत्स्ना आरोपणा है। सभी कृत्स्ना आरोपणाएं सदृश अभिलाप वाली होती हैं अर्थात् वे सभी अंक सदृश अभिलाप वाले कहलाते हैं। (जैसे पाक्षिकी आरोपणा में स्थापनापदों की भिन्नता के आधार पर १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १–ये सभी अंक सदृश आलापक वाले हैं अर्थात् छह मास

---

१. यदि एक ही भाग हो तो सभी को १५ से गुणन करे और स्थापना तथा आरोपणा के दिन मिलाए। झोष विशुद्ध वे छह मास होंगे। यदि अनेक भाग हों तो आद्यभाग को १५ से गुणन करे, शेष सबको पांच से गुणन करे। स्थापना आरोपणा के दिन मिलाने से छह मास होंगे। जैसे–२० दिन की स्थापना और १५ दिन की आरोपणा में १३ संचयमास होते हैं। उनमें से आरोपणामास और दो स्थापनामास निकालने पर दस मास रहे। वे प्रथम आरोपणा के दस मास हुए। इनको १५ से गुणन करने पर १५० हुए। ५ को झोष करने पर १४५ हुए। इसमें २० स्थापना दिवस और १५ आरोपणा दिन मिलाने पर १८० हुए। इसी प्रकार बीस दिन की स्थापना और २५ दिन की आरोपणा में २३ संचयमास, इनमें से दो स्थापना मास और तीन आरोपणा मास को निकालने पर (२३-५) १८ रहे। यह त्रिभागस्था आरोपणा है। एक-एक भाग छह-छह का हुआ। प्रत्येक भाग को १५ से गुणन करने पर(६×१५) ९० हुए। इसमें १५ का झोष होने पर ७५ रहे। शेष दोनों भागों को मिलाने पर (६+६) १२ हुए। इनको ५ से गुणन करने पर ६० हुए। इनको पूर्ण राशि में मिलाने पर (७५+६०) १३५ हुए। इसमें स्थापना दिन २० और आरोपणा दिन २५ मिलाने पर १८० हो गये।

२. जैसे पाक्षिकी आरोपणा और विंशिका स्थापना है। आरोपणा के दिनों को १० से गुणन कर स्थापना दिनों को मिलाने पर (१५×१०+२०=१७०) ये छह मास से कम हैं। ११ से गुणन करने पर अधिक होते हैं। यह गुणकार नहीं है। सम आने पर ही वह आरोपणा कृत्स्ना होती है। जैसे ३० दिन की स्थापना, पाक्षिकी आरोपणा–१५×१०+३०=१८० यह कृत्स्ना आरोपणा है। उदाहरण–पाक्षिकी आरोपणा में स्थापनादिनों की अधिकता से भिन्न-भिन्न अंक गुणकार माने जाते हैं। जैसे ४५ दिन की स्थापना में ९, ६० दिन में ८, ७५ दिन में ७, १०५ दिन में ५, १२० दिन में ४, १३५ दिन में ३, १५० दिन में २ तथा १६५ दिन में १ ये अंक गुणकार हैं अर्थात् कृत्स्ना आरोपणा के द्योतक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की संख्या के पूरक हैं।)

४२३. ठवणारोवणमासे, नाऊणं तो भणाहि मासग्गं।
जेण समं तं कसिणं, जेणऽहियं तं च झोसग्गं।।

प्रतिसेवित मास का परिमाण सुनकर इतने मास स्थापना के और इतने मास आरोपणा के जानकर संचयमासाग्र पृथक्-पृथक् रूप से आलोचना करने वाले को बताना चाहिए। आरोपणा भाग देने पर झोष के बिना शुद्ध होती है वह कृत्स्ना आरोपणा है। जिसमें दिनों को मिलाने पर छहमास परिमाण से अधिक होता है वह उतनी मात्रा में झोषाग्र—झोष परिमाण जानना चाहिए।

(जैसे विंशिका स्थापना में तथा पाक्षिकी आरोपणा में पांच—यह झोष (कम करना, त्यागना) परिमाण है।)

४२४. जत्थ उ दुरूवहीणा, न होंति तत्थ उ भवंति साभावी।
एगादी जा चोद्दस, एक्कातो सेस दुगहीणा।।

(सभी स्थापनाओं और आरोपणाओं के दिनों से मासों का उत्पादन करने के लिए उनमें पांच का भाग देना चाहिए। भाग देने पर जो अंक आये उसको नियमतः द्विरूपहीन करना चाहिए।) जहां द्विरूपहीन न हो वहां एक दिन से चौदह दिन पर्यंत स्थापना-आरोपणा स्वाभाविक रूप से एक मास से निवृत्त माननी चाहिए। शेष स्थापना-आरोपणा द्विकहीन जाननी चाहिए। क्योंकि पांच का भाग देने पर लब्धांक द्विरूपहीन स्वभाव से हो जाता है।

४२५. उवरिं तु पंचभइए जे सेसा तत्थ केइ दिवसा उ।
ते सव्वे एक्काओ, मासाओ होंति नायव्वा।।

पाक्षिकी स्थापना और पाक्षिकी आरोपणा के ऊपर अर्थात् १६ दिनों की स्थापना, आरोपणा को पांच से भाग देने पर जो शेष बचता है उसमें न कुछ जोड़ा जाता है और न निकाला जाता है। यहां एक शेष रहा। वही एक मास है।

४२६. होति समे समगहणं तह वि य पडिसेवणा उ नाऊणं।
हीणं वा अहियं वा, सव्वत्थ समं च गेण्हेज्जा।।

स्थापना और आरोपणा का दिवस परिमाण सम होने पर मास के दिन भी समान गृहीत होते हैं। फिर भी प्रतिसेवना को जानकर (अर्थात् किस मास की प्रतिसेवना कैसी थी?) दिवसों का ग्रहण कभी हीन और कभी अधिक होता है अथवा सर्वत्र समान दिनों का भी ग्रहण किया जाता है।[1]

४२७. विसमा आरुवणाओ, विसमं गहणं तु होति नायव्वं।
सरिसे वि सेवितम्मी, जध झोसो तध खलु विसुद्धो।।

सदृश प्रतिसेवना में भी स्थापना और आरोपणा परस्पर विषम दिवस वाली होने के कारण दिवसों का ग्रहण भी विषम होता है, यह जानना चाहिए। यह विषम कृत्स्नारोपणा के विषय में कहा गया है। जो आरोपणा विषम है अर्थात् अकृत्स्न है, उसमें दिवस ग्रहण करते समय जैसे झोष शुद्ध होता है, वैसा निश्चित करना चाहिए, अन्यथा नहीं।

४२८. एवं खलु ठवणातो, आरुवणाओ, विसेसतो होंति।
ताहि गुणा तावइया, नायव्व तहेव झोसा य।।

इस प्रकार स्थापना से आरोपणा विशेष होती है। आरोपणा की मास संख्या से अथवा दिवस संख्या से गुणित होने पर उतने ही संचयमास प्राप्त होते हैं। उतने ही प्रमाण का झोष होता है।[2]

४२९. कसिणा आरुवणाए, समगहणं होति तेसु मासेसु।
आरुवणा अकसिणाय, विसमं झोसो जधा सुज्झे।।

कृत्स्ना आरोपणा में दिवस-ग्रहण सम होता है। आद्य भागगत मासों में प्रत्येक में १५ दिन का ग्रहण तथा शेषभागगत मासों में सर्वत्र पांच दिन का ग्रहण किया जाता है। अकृत्स्ना आरोपणा में नियमतः विषम दिवसों का ग्रहण होता है। झोष जिस प्रकार से शुद्ध होता है उसी प्रकार से दिवस-ग्रहण किया जाता है।

४२९/१. जइ इच्छसि नाऊणं, ठवणारोवण जहाहि मासेहिं।
गहियं तद्दिवसेहिं, तम्मासेहिं हरे भागं।।

यदि तुम दिवस-ग्रहण जानना चाहते हो तो स्थापना-आरोपणा के मासों से संचयमासों को निकाल दो। फिर किस मास से कितने दिन लिये है, यह जानने के लिए छह मास के १८० दिनों में से स्थापना-आरोपणा के दिन निकाल कर उन मासों का भाग दो। जो आये वे दिन और जो शेष रहे वे दिनों के भाग।

४३०. एवं तु समासेणं, भणियं सामण्णलक्खणं बीयं।
एतेण लक्खणेणं, झोसेतव्वा व सव्वाओ।।

इस प्रकार संक्षेप में बीज की भांति सामान्य लक्षण बतलाया गया है। इस बीजकल्प लक्षण से सभी कृत्स्ना और

---

१. देखें—वृत्ति पत्र ८५,८६।

२. स्थापना के मास शुद्ध हैं। अधिकृत आरोपणा की जितनी संख्या है, उसके उतने भाग कर, प्रथम भाग को १५ से गुणा करें और शेष भागों को पांच से गुणा करें, इस प्रकार आरोपणा से दिवस परिमाण लब्ध होता है। तब इतने ही स्थापना के प्रक्षेप से छह मास पूरे होते हैं। उसके अनुसार स्थापना दिनों की स्थापना की जाती है। अतः आरोपणानुरोधिनी स्थापना होने के कारण स्थापना से आरोपणा विशेष बन जाती है। तथा संचय मासों की प्राप्ति केवल स्थापनामासों अथवा दिनों की संख्या से नहीं होती। अतः स्थापना से आरोपणा विशेष होती है। आरोपणा से भाजित करने पर जितना भाग शुद्ध नहीं होता, उतने प्रमाण का झोष होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकृत्स्ना आरोपणा का प्रक्षेप करना चाहिए।

४३१. कसिणाऽकसिणा एता, सिद्धा उ भवे पकप्पनामम्मि।
चउरो अतिक्कमादी, सिद्धा तत्थेव अज्झयणे।।

ये कृत्स्ना और अकृत्स्ना आरोपणा प्रकल्प–निशीथ नाम के अध्ययन में प्रतिपादित हैं। उसी अध्ययन में अतिक्रम आदि चारों अतिचार कहे गये हैं।

४३२. अतिक्कमे वतिक्कमे, चेव अतियारे तधा अणायारे।
गुरुओ य अतीयारो, गुरुयतरागो अणायारो।।

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार–इन चारों में अतिक्रम से व्यतिक्रम गुरुक है, व्यतिक्रम से अतिचार गुरुक है और अतिचार से अनाचार गुरुकतर है।

४३३. तत्थ भवे न तु सुत्ते, अतिक्कमादी तु वण्णिता केई।
चोदग सुत्ने सुत्ते, अतिक्कमादी उ जोएज्जा।।

शिष्य के मन में यह आशंका होती है कि सूत्र में–निशीथ अध्ययन में अतिक्रम आदि का वर्णन नहीं है। आचार्य कहते हैं–शिष्य! प्रत्येक सूत्र में अतिक्रम आदि की योजना करनी चाहिए, क्योंकि यह प्रायश्चित्तगण अतिक्रम आदि से ही होता है।

४३४. सव्वे वि य पच्छित्ता, जे सुत्ते ते पडुच्चऽणायारं।
थेराण भवे कप्पे, जिणकप्पे चतुसु वि पदेसु।।

सूत्र में जो प्रायश्चित्त कथित हैं वे सभी स्थविरकल्पिक मुनियों के अनाचार के आधार पर कहे गये हैं।[1]

जिनकल्पमुनि को चारों पदों का प्रायश्चित्त आता है, परंतु प्रायः चारों पदों का आचरण करते नहीं।[2]

४३५. निसीध नवमा पुव्वा, पच्चक्खाणस्स ततियवत्थूओ।
आयारनामधेज्जा, वीसतिमे पाहुडच्छेदा।।

प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व की आचार नामक तृतीय वस्तु (अर्थाधिकार) के बीसवें प्राभृतछेद से निशीथ अध्ययन का निर्यूहण किया गया है।

४३६. पत्तेयं पत्तेयं, पदे पदे भासिऊण अवराधे।
तो केण कारणेणं, दोसा एगत्तमावन्ना।।

निशीथ के १९ उद्देशकों के प्रत्येक सूत्र में एक-एक दोष का अपराध–प्रायश्चित्त[3] बतलाया गया है। फिर किस कारण से दोषों का एकत्व होता है?

४३७. जिणचोद्दसजातीए, आलोयणदुब्बले य आयरिए।
एतेण कारणेणं, दोसा एगत्तमावन्ना।।

जिन, चतुर्दशपूर्वधर यावत् भिन्नदशपूर्वधर, एकजातीय, आलोचना, दुर्बल आलोचक, आचार्य–इनको लक्षित कर अर्थात् इन कारणों से दोषों का एकत्व होता है।

४३८. घतकुडगो उ जिणस्सा, चोद्दसपुव्विस्स नालिया होति।
दव्वे एगमणेगे, निसज्ज एगा अणेगा य।।

'जिन' के विषय में घृतकुटक का दृष्टांत तथा चतुर्दशपूर्वी के विषय में नालिका का दृष्टांत है। एक जातीय में एक-अनेक द्रव्य विषय तथा आलोचना के विषय में एक-अनेक निषद्या का विचार है।

४३९. उप्पत्ती रोगाणं, तस्समणे ओसधे य विब्भंगी।
नाउं तिविधामयिणं, देंति तधा ओसधगणं तु।।

विभंगज्ञानी रोगों की उत्पत्ति तथा उनको शमन करने वाली औषधियों को जानकर तीन प्रकार के रोगियों (वात के रोगी, पित्त के रोगी और कफ के रोगी) को उस प्रकार की औषधियां देते हैं, जिनसे रोगोपशमन हो जाता है।

४४०. एक्केणेक्को छिज्जति, एगेण अणेग णेगहिं एक्को।
णेगेहिं पि अणेगे, पडिसेवा एव मासेहिं।।

यहां घृतकुट की चतुर्भंगी बतलायी है–

- एक घृतकुट से वातादिक एक रोग नष्ट होता है।
- एक घृतकुट से अनेक अर्थात् वातादिक तीनों रोग नष्ट होते हैं।
- अनेक घृतकुटों से एक ही वातादिक रोग नष्ट होता है।
- अनेक घृतकुटों से अनेक रोग नष्ट होते हैं।

इसी प्रकार प्रतिसेवना भी एक-अनेक मासों के प्रायश्चित्त से शुद्ध होती है।

४४१. एक्कोसहेण छिज्जंति, केइ कुविता य तिण्णि वातादी।
बहुएहिं छिज्जंति, बहूहि एक्केक्कतो वावि।।

एक ही औषधि से वात आदि तीनों रोग उपशांत हो जाते हैं। बहुत औषधियों से वातादिक अनेक रोग उपशांत होते हैं तथा एक औषधि से वातादिक एक ही रोग उपशांत होता है। इन तीन विकल्पों को ग्रहण कर लेने पर चौथा विकल्प–अनेक औषधियों से एक वातादिक रोग नष्ट होता है–भी गृहीत हो जाता है।

(इसी प्रकार केवली मासार्ह प्रतिसेवना की शुद्धि के लिए एक मास, अनेक मास की प्रतिसेवना के लिए भी एक मास अथवा अनेक मासों की प्रतिसेवना के उपशमन के लिए एक मास

---

१. सूत्र में प्रायश्चित्त का विषय अनाचार ही है। स्थविरकल्पी मुनि अतिक्रम, व्यतिक्रम और अनाचार होने पर 'मिच्छामी दुक्कडं' से भी शुद्ध हो जाता है। यह सूत्राभिहित प्रायश्चित्त का विषय नहीं है। अनाचार भी अतिक्रम आदि का अविनाभावी है। (वृ. पत्र ८८)

२. जिनकल्पिकानां पुनः चतुर्ष्वप्यतिक्रमादिषु पदेषु प्रायश्चित्तं भवति, किंत्विदं प्रायस्ते न कुर्वन्ति। (वृ. पत्र ८८)

३. अपराधे सति मासिकादिकं प्रायश्चित्तं दीयते इति उपचारतः प्रायश्चित्तान्येव अपराधपदेनोक्तानि। (वृ. पत्र ८९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा पांच रात-दिन का प्रायश्चित्त तथा पांच रात-दिन की प्रतिसेवना में एक मास अथवा अनेक मासों का प्रायश्चित्त देते हैं। आदि-आदि)

४४२. विब्भंगी व जिणा खलु, रोगी साहू य रोग अवराहा।
सोधी य ओसहाइं, तीए जिणा उ वि सोहंति।।

विभंगज्ञानी के तुल्य 'जिन', रोगीतुल्य हैं साधु, रोगतुल्य हैं अपराध, औषधतुल्य हैं प्रायश्चित्त अर्थात् शोधि। उस शोधि से 'जिन' विशोधि करते हैं। (इस प्रकार 'जिन' को लक्षित कर दोषों का एकत्व किया गया है।)

४४३. एसेव य दिट्ठंतो, विब्भंगिकतेहि वेज्जसत्थेहिं।
भिसजा करेंति किरियं, सोहेंति तधेव पुव्वधरा।।

यही दृष्टांत–घृतकुट दृष्टांत अथवा औषधलक्षण दृष्टांत चतुर्दशपूर्वी में भी योजनीय है। जैसे वैद्य विभंगज्ञानी द्वारा कृत वैद्यकशास्त्रों के आधार पर रोगापनयन की क्रिया करते हैं, वैसे ही चतुर्दशपूर्वधर यावत् अभिन्न दशपूर्वधर जिनोपदिष्ट शास्त्रों के आधार पर प्रायश्चित्त देकर अपराध की शोधि करते हैं।

४४४. नालीय परूवणता, जह तीय गतो उ नज्जते कालो।
तध पुव्वधरा भावं, जाणंति विसुज्झए जेणं।।

यहां नालिका (घटिकायंत्र) की प्ररूपणा करनी चाहिए। जैसे नालिका से जल के निकलने के आधार पर दिवस या रात्री का बीता हुआ काल (अथवा अवशिष्ट काल) जाना जाता है, वैसे ही पूर्वधर आचार्य या मुनि आलोचना करने वाले के भाव–अभिप्राय जान लेते हैं। अभिप्राय को जानकर आलोचक की जितने प्रायश्चित्त से विशोधि होती है, उसको उतना प्रायश्चित्त देते हैं।

४४५. मास-चउमासिएहिं, बहूहि वेगं तु दिज्जते सरिसं।
असणादी दव्वाओ, विसरिसवत्थूसु जं गुरुगं।।

(जाति के दो प्रकार हैं–प्रायश्चित्तकजाति तथा द्रव्यजाति) अनेक मासिक तथा चातुर्मासिक प्रतिसेवना करने वाले को भी प्रतिसेवित मासों की सदृशता के कारण एक मास अथवा चातुर्मासिक प्राश्यचित्त दिया जाता है। (यह प्रायश्चित्तक जाति का एकत्व है।)

द्रव्यजातिक एकत्व--अशन आदि द्रव्यों के आधार पर दोषों का एकत्व होता है और उसके आधार पर प्रायश्चित्त दिया जाता है।

इसी प्रकार विसदृश वस्तु–दोषों के होने पर जो गुरुतर दोष होता है उसके आधार पर सभी दोषों का एक ही प्रायश्चित्त दिया जाता है।[1]

४४६. अगारीय दिट्ठंतो, एगमणेगे य ते य अवराधा।
भंडी चउक्कभंगो, सामिय पत्ते य तेणम्मि।।

एक-अनेक अपराधों में अगारी का दृष्टांत, भंडी विषयक चार विकल्प, स्वामित्वप्राप्ति में स्तेन का दृष्टांत। (इनका विवरण श्लोक ४४८ से ४५२ में देखें।)

४४७. णीसज्ज वियडणाए, एगमणेगे य होति चउभंगो।
वीसरि उस्सण्णपदे, बिति-तति चरिमे सिया दोवि।।

निषद्या और विकटना–आलोचना की चतुर्भंगी।

एक अथवा अनेक निषद्या तथा एक अथवा अनेक आलोचना।

प्रथम भंग–एक निषद्या–एक आलोचना।

द्वितीय भंग–विस्मृति होने पर–एक निषद्या–अनेक आलोचना।

तृतीय भंग–अनेक निषद्या–एक आलोचना।

जैसे 'उस्सण्णपद' अर्थात् प्रभूतकाल तक अनेक प्रतिसेवनाएं कर एक दिन में आलोचना न कर सकने पर अनेक दिनों तक निषद्या कर आलोचना करना अथवा गुरु के कायिक-भूमि में अनेक बार जाने-आने पर अनेक निषद्या तथा एक आलोचना। चरम भंग अथवा चौथे भंग में अनेक निषद्या और अनेक आलोचना।

४४८. गावी पीता वासी, य हारिता भायणं च ते भिन्नं।
अज्जेव ममं सुहयं, करेहि पडओ वि ते नट्ठो।।
४४९. एगावराहदंडे, अण्णे य कहेतऽगारि हम्मंती।
एवं णेगपदेसु वि, दंडो लोगुत्तरे एगो।।

अगारी दृष्टांत–एक रथकार की पत्नी घर को खुला छोड़कर अपनी सहेली के घर चली गई। रथकार घर आया। सूने घर को देखकर वह कुपित हो गया। पत्नी घर आयी। रथकार घर को सूना छोड़ जाने के अपराध में पत्नी को पीटने लगा। उसने सोचा–एक अपराध के लिए यह मुझे पीट रहा है। मेरे द्वारा अन्यान्य अपराध भी हुए हैं। उन्हें जान लेने पर यह मुझे बार-बार पीटेगा। अच्छा है यह मुझे आज ही सुहृत–अच्छी तरह से पीट ले। वह पति को कहने लगी–आज बछड़े ने गाय को चूंघ लिया है। वासी कोई चुरा ले गया। तुम जिस कांस्य भाजन में भोजन करते हो, वह टूट गया। तुम्हारा वस्त्र भी कोई ले गया। जितनी उसकी पिटाई होनी थी वह एक दिन में हो गई। इसी प्रकार लोकोत्तर विषय में भी अनेक अपराधों का एक गुरुतर दंड दिया जाता है।

४५०. णेगासु चोरियासुं, मारणादंडो न सेसगा दंडा।
एवं णेगपदेसु वि, एक्को दंडो उ न विरुद्धो।।

एक चोर ने अनेक प्रकार की चोरियां कीं। एक बार उसने राजप्रासाद में सेंध लगाकर रत्नों को चुरा लिया। आरक्षकों ने

१. विस्तार के लिए देखें–वृत्ति पत्र ९१-९२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे पकड़कर राजा के समक्ष उपस्थित किया। राजा ने उसे मृत्युदंड दिया। शेष सारे दंड उसी में समा गये। इसी प्रकार लोकोत्तर में भी अनेक अपराधपदों में एक गुरुतर दंड देना विरुद्ध नहीं है।

४५१. संघयणं जध सगडं, धिती उ धोज्जेहि होंति उवणीया।
बिय तिय चरिमे भंगे, तं दिज्जति जं तरति वोढुं।।

(दुर्बल के आधार पर दोषों का एकत्व–भंडी (शकट) का दृष्टांत–चार विकल्प–

१.भंडी बलवान बैल भी बलवान। ३. भंडी दुर्बल बैल बलवान।
२. भंडी बलवान बैल दुर्बल। ४. भंडी दुर्बल बैल भी दुर्बल।

पहले विकल्प में पूरा भार डाला जा सकता है। दूसरे विकल्प में बैल जितना भार खींच सकते हैं, उतना भार डाला जाता है। तीसरे विकल्प में उतना भार डाला जाता है, जिससे भंडी टूट न जाए। चौथे विकल्प में उतना भार डाला जाता है, जिससे भंडी भी न टूटे और बैल भी उस भार को खींच सके) जैसा शकट (भंडी) वैसा संहनन, धृति धौरेय से उपमित है अर्थात् धौरेय तुल्य है। प्रायश्चित्त के चार विकल्प होते हैं–प्रथम भंग में जितना प्रायश्चित्त प्राप्त है, उतना दिया जाता है। द्वितीय भंग में धृति के अनुरूप, तृतीय भंग में संहनन के अनुरूप और चतुर्थ भंग में धृति और संहनन–दोनों के अनुरूप। दूसरे, तीसरे और चौथे विकल्प में आलोचक जितना वहन कर सकता है, उतना प्राश्यचित्त दिया जाता है।

४५२. निवमरण मूलदेवो, आसऽहिवासे व पट्ठि न तु दंडो।
संकप्पिय गुरुदंडो, मुच्चति जं वा तरति वोढुं।।

नगर का राजा मर गया। वह अपुत्र था। राज्यचिंतकों ने अश्व को अधिवासित कर नगर में छोड़ा। चोर मूलदेव चोरी करते पकड़ा गया। उसे वधस्थान की ओर ले जा रहे थे। वह अश्व मूलदेव के पास आकर रुका और उसे पीठ दी। मूलदेव राजा बन गया। वह दंडमुक्त हो गया।

एक बहुश्रुत मुनि को गुरुक दंड प्राप्त हुआ। वह आचार्य योग्य था। आचार्य कालगत हो गये। उसे आचार्य पद पर स्थापित कर दिया। वह दंडमुक्त हो गया। अथवा वह जितना दंड वहन कर सकता है, उसे वह प्रायश्चित्त दिया जाता है।

४५२/१ एगत्तं दोसाणं, दिट्ठं कम्हा उ अन्नमन्नेहिं।
मासेहिं तो घेत्तुं, दिज्जति एगं तु पच्छित्तं।।

शिष्य ने कहा–दोषों के एकत्व के विषय में जान लिया। परंतु स्थापना-आरोपणा के माध्यम से परस्पर दिनों अथवा मासों को लेकर या उन्हें निकाल कर प्रायश्चित्त क्यों देते हैं? जो आगमानुसार प्रायश्चित्त प्राप्त होता है वह क्यों नहीं देते?

४५३. चोदग पुरिसा दुविधा, गीताऽगीत-परिणामि इतरे य।
दोण्ह वि पच्चयकरणं, सव्वे सफला कता मासा।।

वत्स! पुरुष दो प्रकार के होते हैं–गीतार्थ और अगीतार्थ। अगीतार्थ के तीन प्रकार हैं–परिणामी, अपरिणामी और अतिपरिणामी। अपरिणामी और अतिपरिणामी–इन दोनों को विश्वस्त करने के लिए प्रायश्चित्त में प्राप्त सभी मासों को स्थापना-आरोपणा के विधान से सफलकर–समझाकर फिर प्रायश्चित्त दिया जाता है।

४५४. वणिमरुगनिही य पुणो, दिट्ठंता तत्थ होंति कायव्वा।
गीतत्थमगीताण य, उवणयणं तेहि कायव्वं।।

गीतार्थ और अगीतार्थ के विषय में वणिक्, मरुक और निधि के दृष्टांत कहने चाहिए। वणिक् के साथ गीतार्थ का उपनयन और मरुक का अगीतार्थ के साथ उपनयन करना चाहिए।

४५५. वीसं वीसं भंडी, वणिमरुसव्वा य तुल्लभंडीओ।
वीसतिभागं सुंकं, मरुगसरिच्छो इहमगीतो।।

एक वणिक् और मरुक–दोनों बीस-बीस शकटों में माल भरकर व्यापारार्थ निकले। सभी शकटों में समान वजन का माल था। शुल्कगृह के पास वे रुके। शौल्किक ने प्रत्येक शकट से बीसवां भाग शुल्करूप में मांगा। वणिक् ने बीस शकटों में से एक शकट शुल्करूप में दे दिया। मरुक ने प्रत्येक शकट से बीसवां-बीसवां भाग दिया। वणिक् सदृश होता है गीतार्थ और मरुक सदृश होता है अगीतार्थ।

४५६. अहवा वणिमरुगेण य, निहिलंभऽनिवेदिते वणियदंडो।
मरुए पूयविसज्जण, इय कज्जमकज्ज जतमजते।।

एक वणिक को भूमि में निधि मिली। उसने राजा को इसकी जानकारी नहीं दी। राजा ने उसे दंडित किया और निधि भी ले ली। एक मरुक को भी इसी प्रकार की निधि मिली। उसने राजा को जानकारी दी। राजा ने मरुक का सम्मान किया और निधि भी उसको दक्षिणा के रूप में दे दी। इस दृष्टांत से कार्य-अकार्य के प्रसंग में यतमान और अयतमान का उपनयन करना चाहिए। (जो कार्य में यतनाकारी होता है, वह मरुक की भांति पूजनीय होता है और वह समस्त प्रायश्चित्त से मुक्त हो जाता है। जो कार्य में अयतनाकारी और अकार्य में यतनाकारी होता है वह वणिक् की भांति दंडनीय होता है।)

४५७. मरुगसमाणो उ गुरू, पूतिज्जति मुच्चती य सव्वं से।
साधू वणिओ व जधा, वाहिज्जति सव्वपच्छित्तं।।

मरुक के समान होते हैं गुरु। वे पूजे जाते हैं तथा प्राप्त सभी प्रायश्चित्तों से उन्हें मुक्त कर दिया जाता है। जो साधु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वणिक् की भांति होते हैं उनसे सारा प्रायश्चित्त वहन करवाया जाता है।

४५८. अधवा महानिहिम्मी, जो उवयारो स एव थोवे वि।
विणयादुवयारो पुण, जो छम्मासे स मासे वि।।

अथवा महानिधि के उत्खनन में जो उपचार किया जाता है वही उपचार छोटी निधि के प्रति करना चाहिए। षण्मासिक आलोचना में जो विनयोपचार होता है वही विनयोपचार मासिक आलोचना में भी करना चाहिए। जो प्रशस्त द्रव्य आदि की विचारणा षण्मासिक में की जाती है वही विचारणा मासिक आलोचना में होनी चाहिए।

४५९. सुबहूहि वि मासेहिं, छम्मासाणं परं न दातव्वं।
अविकोवितस्स एवं, विकोविए अन्नहा होति।।

अनेक मासों की प्रतिसेवना करने पर भी छह मास से अधिक का प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए। अकोविद अर्थात् अपरिणामक, अतिपरिणामक तथा अगीतार्थ को स्थापना-आरोपणा विधि से सभी मासों को सफल कर षण्मासिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। जो कोविद अर्थात् गीतार्थ अथवा अगीतार्थ परिणामक है तो उसको प्रायश्चित्तदान अन्यथा होता है। कोविद आलोचक ने यदि छहमास से अधिक मासों की प्रतिसेवना की हो तो उन सभी मासों को छोड़कर केवल षण्मास का ही प्रायश्चित्त दिया जाता है। उसमें स्थापना-आरोपणा की विधि विहित नहीं है।

४६०. सबहूहि वि मासेहिं, छेदो मूलं तहिं न दातव्वं।
अविकोवितस्स एवं विकोविते अन्नहा होति।।

जो अकोविद अर्थात् अगीतार्थ, अपरिणामक और अतिपरिणामक है वह यदि छह महीनों से ऊपर भी अनेक मासों की प्रतिसेवना कर लेता है तो भी उसे छेद और मूल का प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए। विकोविद मुनि के लिए यह प्रायश्चित्त अन्य प्रकार का होता है। अर्थात् स्थापना-आरोपणा के बिना उसे केवल छह मास ही दिये जाते हैं।

४६१. गीतो विकोविदो खलु, कतपच्छित्तो सिया अगीतो वि।
छम्मासिय पट्ठवणाय तस्स सेसाण पक्खेवो।।

विकोविद वह है जो गीतार्थ है, कृतप्रायश्चित्त है। गुरु द्वारा जागरूक करने पर वह सम्यक् ग्रहण करता है। अकोविद इससे विपरीत होता है। वह कहने पर भी सम्यक् परिणत नहीं होता। कोविद के षण्मास की प्रस्थापना में अर्थात् छह मास का प्रायश्चित्त वहन करते समय यदि अन्य प्रतिसेवना होती है तो उसके मास या दिन छहमास के शेष महीनों में ही प्रक्षिप्त कर दिये जाते हैं। उसे षण्मास के पूर्ण होने पर तद्विषयक प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता।

४६२. मूलऽतिचारे चेतं, पच्छित्तं होति उत्तरेहिं वा।
तम्हा खलु मूलगुणे, नऽतिक्कमे उत्तरगुणे वा।।

तपः, मूल और छेद—इन प्रायश्चित्तों की उत्पत्ति कैसे होती है? मूलगुणों के अतिचार से, उत्तरगुणों के अतिचार से ये प्रायश्चित्त उत्पन्न होते हैं। इसलिए मूलगुणों और उत्तरगुणों के अनतिक्रमण से ही प्रायश्चित्तों से बचाव हो सकता है।

४६३. मूलव्वयातियारा, जदऽसुद्धा चरणभंसगा होंति।
उत्तरगुणातियारा, जिणसासण कीस पडिकुट्ठा।।
४६४. उत्तरगुणातियारा, जदसुद्धा चरणभंसगा होंति।
मूलव्वयातियारा, जिणसासण कीस पडिकुट्ठा।।
४६५. मूलगुण उत्तरगुणा, जम्हा भंसंति चरणसेढीतो।
तम्हा जिणेहि दोण्णि वि, पडिसिद्धा सव्वसाहूणं।।

शिष्य ने पूछा—यदि मूलव्रतों के अतिचार अशुद्ध हैं—चारित्र का नाश करने वाले हैं तो फिर जिनशासन में उत्तरगुणों के अतिचारों का प्रतिषेध क्यों किया गया?

और यदि उत्तरगुणों के अतिचार अशुद्ध हैं—चारित्र का नाश करने वाले हैं तो फिर जिनशासन में मूलव्रतों के अतिचारों का प्रतिषेध क्यों किया गया?

आचार्य ने कहा—मूलगुणों और उत्तरगुणों—दोनों के अतिचार चरणश्रेणी—चारित्र से भ्रष्ट कर देते हैं, अतः तीर्थंकरों ने सभी साधुओं के लिए दोनों के अतिचरण का प्रतिषेध किया है।

४६६. अग्गघातो हणे मूलं, मूलघातो य अग्गयं।
तम्हा खलु मूलगुणा, न संति न य उत्तरगुणा उ।।

तालद्रुम का अग्रघात मूल को नष्ट कर देता है और मूलघात अग्र को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार मूलगुणों का विनाश उत्तरगुणों को नष्ट कर देता है और उत्तरगुणों का विनाश मूलगुणों को नष्ट कर देता है। इसलिए तब न मूल गुण होते हैं और न उत्तरगुण। (तब शिष्य ने कहा—यदि मूल-उत्तरगुणों का परस्पर विनाश होता है तो जिनशासन में कोई संयती मूलोत्तरगुणधारी नहीं है। क्योंकि ऐसा एक भी संयती नहीं है जो मूलोत्तरगुणों में से किसी की प्रतिसेवना न की हो। एक की भी प्रतिसेवना से मूल और उत्तरगुणों का अभाव हो जाता है।)

४६७. चोदग छक्कायाणं, तु संजमो जाऽणुधावते ताव।
मूलगुण उत्तरगुणा, दोण्णि वि अणुधावते ताव।।

आचार्य कहते हैं—शिष्य! जब तक षट्जीवनिकायों के प्रति संयम की अनुपालना है तब तक मूलगुण और उत्तरगुण—दोनों की अनुपालना है, दोनों उसके पीछे चलते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४६८. इत्तरिसामाइय छेद संजम तह दुवे नियंठा य।
बउस-पडिसेवगाओ, अणुसज्जंते य जा तित्थ।।

जब तक मूलगुणों और उत्तरगुणों का अस्तित्व है, जब तक इत्वरिक सामायिक और छेदोपस्थापनीय संयम है, तब तक दो प्रकार के निर्ग्रन्थ–बकुश और प्रतिसेवक हैं। (मूलगुणों की प्रतिसेवना से प्रतिसेवक तथा उत्तरगुणों की प्रतिसेवना से बकुश का अस्तित्व रहता है।) जब तक तीर्थ है तब तक बकुश और प्रतिसेवक निर्ग्रन्थों का अस्तित्व है।

४६९. मूलगुणदतिय-सगडे, उत्तरगुण मंडवे सरिसवादी।
छक्कायरक्खणट्ठा, दोसु वि सुद्धे चरणसुद्धी।।

मूलगुण विषयक दो दृष्टांत हैं–दृति और शकट। उत्तरगुण विषयक दृष्टांत है–मंडप पर सरसों आदि। षट्जीवनिकाय की रक्षा से ही मूलगुण और उत्तरगुण शुद्ध होते हैं। दोनों के शुद्ध होने पर चरणशुद्धि होती है।

दृति का दृष्टांत–एक दृति–(मशक) में पानी भरा हुआ है। उसके पांच द्वार हैं। यदि एक द्वार भी खोल दिया जाए तो दृति रिक्त हो जाती है। इसी प्रकार एक महाव्रत के भ्रंश से समस्त चारित्र का भ्रंश हो जाता है। 'एकव्रतभंगे सर्वव्रतभंगः'। कुछ आचार्य मानते हैं कि चौथा महाव्रत टूटने पर तत्काल चारित्र नष्ट हो जाता है। शेष महाव्रतों में बार-बार दोष लगाने से चारित्र-भ्रंश होता है।

शकट के मूल अंग हैं–दो चक्के, उद्धी और अक्ष। उत्तर अंग हैं–कील आदि अन्य अंग। शकट के मूल अंग मूलगुण के समान हैं और उत्तर अंग उत्तरगुण के समान। शकट का एक मूलांग टूटने पर शकट भारवाही नहीं होता। उत्तरांगों के टूटने पर वह कुछ काल तक भारवाही हो सकता है। इसी प्रकार साधु का एक मूलगुण नष्ट होने पर वह अष्टादशशीलांगसहस्र के भार को वहन नहीं कर सकता। उत्तरगुणों के खंडन से प्रायश्चित्त लेकर वह शुद्ध होता जाता है।

एक व्यक्ति ने एरंड का मंडप बनाया। उस पर सौ-पचास सरसों के दाने आदि डालने से वह टूटता नहीं और यदि उस पर अधिक भार डाला जाये तो वह टूट जाता है और महती शिला डाली जाए तो तत्काल वह गिर जाता है। उसी प्रकार चारित्र का मंडप दो-चार उत्तरगुणों के अतिचारों से टूटता नहीं। परंतु मूलगुणों के एक अतिचार से वह तत्काल टूट जाता है।

४७०. पिंडस्स जा विसोधी, समितीओ भावणा तवो दुविधो।
पडिमा अभिग्गहा वि य, उत्तरगुण मो वियाणाहि।।

पिंडविशोधि, समितियां, भावना (महाव्रतों की), दो प्रकार का तप, प्रतिमाएं (भिक्षु की १२), अभिग्रह–इन सबको उत्तरगुण जानो।

४७१. बायाला अट्ठेव य, पणुवीसा बार बारस उ चेव।
दव्वादि चउरभिग्गह, भेदा खलु उत्तरगुणाणं।।

पिंडविशोधि के ४२ प्रकार, समितियां आठ, भावनाएं पच्चीस, तप के बारह भेद, अभिग्रह के द्रव्य आदि चार भेद–ये उत्तरगुणों के भेद हैं।

४७२. निग्गयवट्टंता वि य, संचइता खलु तहा असंचइता।
एक्केक्काए दुविधा, उग्घात तहा अणुग्घाता।।

जो निर्ग्रंथ प्रायश्चित्त का वहन करते हैं वे दो प्रकार के हैं–निर्गत और वर्तमान। वर्तमान के दो प्रकार हैं–संचयिता और असंचयिता। इन दोनों के दो-दो भेद हैं–उद्घात (लघु) और अनुद्घात (गुरु)।

४७३. छेदादी आवण्णा, उ निग्गता ते तवा उ बोधव्वा।
जे पुण वट्टंति तवे, ते वट्टंता मुणेयव्वा।।

४७४. मासादी आवण्णे, जा छम्मासा असंचयं होति।
छम्मासाउ परेणं, संचइयं तं मुणेयव्वं।।

जो छेद आदि प्रायश्चित्त को प्राप्त हैं वे निर्गत हैं अर्थात् वे तप से निर्गत हैं। जो तपोर्ह प्रायश्चित्त में हैं वे वर्तमान है। एक मास से षट्मास पर्यंत प्रायश्चित्त स्थान असंचयित तथा षट्मास से अधिक प्रायश्चित्त संचयित कहलाता है।

४७५. मासादि असंचइए, संचइए छहि तु होति पट्ठवणा।
तेरसपदऽसंचइए, संचए एक्कारसपदाइं।।

असंचयित प्रायश्चित्तस्थान की प्रस्थापना मास आदि की है। संचयित प्रायश्चित्तस्थान की प्रस्थापना षट्मास की है। असंचयित प्रस्थापना के तेरह पद हैं और संचयित के ग्यारह पद हैं।

४७६. तवतिग छेदितिगं वा, मूलतिगं अणवट्ठाणातिगं च।
चरमं च एक्कसरयं, पढमं तववज्जियं बितियं।।

असंचय में उद्घात मासादिक प्राप्त प्रायश्चित्त वाले के १३ पद–तपःत्रिक, छेदत्रिक, मूलत्रिक, अनवस्थाप्यत्रिक तथा चरम पारांचित। ये तेरह पद हैं। यह पहला असंचयपद है। दूसरा है संचयपद। वह आदि के दो तपों से वर्जित है।[1]

४७७. बितियं संचइयं खलु, तं आदिपएहि दोहि रहियं तु।
छम्मासतवादीयं, एक्कारसपदेहि चरमेहिं।।

दूसरा पद है संचयित। वह प्रथम दो पदों–तपों से रहित होता है। उसमें पहला है–षण्मास का तप। चरम में वह एकादश

१. असंचय में–पहली बार उद्घात मास, दूसरी बार उद्घात चतुर्मास, तीसरी बार उद्घात षण्मास, चौथी से छठी बार छेद, सातवीं से नौवीं बार मूल, दसवीं से बारहवीं बार अनवस्थाप्य और अंतिम तेरहवीं बार पारांचित। इसी प्रकार अनुद्घाति असंचय में भी ये ही १३ पद वक्तव्य हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदवाला होता है।

४७८. छम्मासतवो छेदादियाण, तिग तिग तहेक्क चरमं वा।
संवट्टितावराधे, एक्कारसपया उ संचइए।।

जो संवर्तित (पिंडीभूत) अपराध वाला संचयित है, उसमें ११ पद होते हैं—षण्मासिक तप, तीन बार छेद, तीन बार मूल, तीन बार अनवस्थाप्य और एक चरम अर्थात् पारांचित।

(बहुत मासों की प्रतिसेवना में स्थापना-आरोपणा विधि से उन मासों से दिनों का ग्रहण कर छह मास निष्पन्न किया जाता है। यह है संचयित संवर्तित अपराध। इस प्रकार उद्घात संचयित के ११ पद हैं। अनुद्घात के भी ये ही ग्यारह प्रकार हैं।)

४७९. पच्छित्तस्स उ अरहा, इमे उ पुरिसा चउव्विहा होंति।
उभयतर आततरगा, परतरगा अण्णतरगा य।।

ये चार प्रकार के पुरुष प्रायश्चित्तार्ह होते हैं—उभयतरक, आत्मतरक, परतरक तथा अन्यतरक।

उभयतरक—जो स्वयं तप वहन करते हुए भी आचार्य आदि की वैयावृत्य करते हैं।

आत्मतरक—प्राप्त तपोर्ह प्रायश्चित्त वहन करते हैं, अपना ही कल्याण करते हैं।

परतरक—जो स्वयं तप करने में असमर्थ हैं, किंतु आचार्य आदि का वैयावृत्य करते हैं।

अन्यतरक—जो तप और वैयावृत्य करने में समर्थ हैं किंतु कोई एक ही कार्य करते हैं—तप अथवा वैयावृत्य।

४८०. आततर-परतरे या, आततरे अभिमुहे य निक्खित्ते।
एक्केक्कमसंचइए, संचइ उग्घातऽणुग्घाते।।

आत्मतर और परतर की संयुक्त संज्ञा है उभयतर। जो आत्मतर-परतर—दोनों होते हैं वे प्रायश्चित्त वहन करने के अभिमुख होते हैं। जो परतर अथवा अन्यतर होते हैं वे जब तक वैयावृत्य करते हैं तब तक दोनों का प्रायश्चित्त निक्षिप्त होता है, स्थगित होता है। संचयित और असंचयित दोनों अभिमुख और निक्षिप्त—दोनों प्रकार के होते हैं। ये प्रत्येक उद्घात और अनुद्घात—इस प्रकार दो-दो प्रकार के होते हैं।

४८१. जह मासओ उ लद्धो, सेवयपुरिसेण जुयलयं चेव।
तस्स दुवे तुट्ठीओ, वित्ती य कया जुयलयं च।।

जैसे एक सेवकपुरुष को राजा ने एक स्वर्ण माषक की वृत्ति निर्धारित की तथा वस्त्रयुगल दिया। उस पुरुष पर राजा की दो तुष्टियां हुईं—वृत्ति मिली तथा वस्त्रयुगल मिला।

४८२. एवं उभयतरस्सा, दो तुट्ठीओ उ सेवगस्सेव।
सोही य कता मे त्ती, वेयावच्चे निउत्तो य।।

इसी प्रकार उभयतर के सेवक पुरुष की भांति दो तुष्टियां होती हैं। वह मानता है—प्रायश्चित्त से मेरी शोधि हुई और वैयावृत्य में नियुक्त होने के कारण महान् निर्जरा होगी।

४८३. सो पुण जइ वहमाणो, आवज्जति इंदियादिहि पुणो वि।
तं पि य से आरुभिज्जइ, भिन्नादी पंचमासंतं।।

उभयतर व्यक्ति प्रायश्चित्त वहन करता हुआ तथा वैयावृत्य करता हुआ यदि इंद्रियों के अतिक्रमण आदि से पुनः प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है तो वह भिन्नमासादि प्रायश्चित्त का आरोहण करता है अर्थात् समस्त मासों का परिग्रह अर्थात् पांच मास पर्यंत का परिग्रह भिन्नमास में समा जाता है।

४८४. तवबलितो सो जम्हा, तेण र अप्पे वि दिज्जते बहुगं।
परतरओ पुण जम्हा, दिज्जति बहुए वि तो थोवं।।

उभयतरक व्यक्ति तप और संहनन से बलिष्ठ होता है। इसलिए उसे अल्प प्रायश्चित्त स्थान में भी बहुत प्रायश्चित्त दिया जाता है। जो परतर है उसे बहुक प्रायश्चित्तस्थान में भी अल्प प्रायश्चित्त दिया जाता है।

४८५. वीसऽट्ठारस लहु-गुरु, भिन्नाणं मासियाण आवण्णो।
सत्तारस पण्णारस, लहुगुरुगा मासिया होंति।।

उभयतरक निर्ग्रंथ यदि पूर्वस्थापित उद्घात, अनुद्घात प्रायश्चित्त का वहन करता हुआ तथा वैयावृत्य करता हुआ अल्प या बहुत प्रायश्चित्त स्थान को प्राप्त होता है तब यथासंख्य उद्घात प्रायश्चित्त को वहन करता हुआ बीस बार तक उसे लघुभिन्न मास का प्रायश्चित्त दिया जाता है और अनुद्घात प्रायश्चित्त वहन करने वाले को १८ बार गुरु भिन्न मासिक का प्रायश्चित्त दिया जाता है। उसके पश्चात् बार-बार प्रतिसेवना करने वाले उद्घात प्रायश्चित्त के वाहक मुनि को १७ बार लघु मासिक तथा अनुद्घात प्रायश्चित्त के वाहक को १५ बार गुरु मासिक दिया जाता है।

४८६. उग्घातियमासाणं, सत्तरसेव य अमुच्चयंतेणं।
णेयव्व दोण्णि तिण्णि य, गुरुगा पुण होंति पण्णरसा।।

४८७. सत्त-चउक्का उग्घातियाण पंचेव होंतऽणुग्घाता।
पंच लहुगा उ पंच उ, गुरुगा पुण पंचगा तिण्णि।।

उद्घातित प्रायश्चित्त वहन करने वाला यदि मासिकानंतर बार-बार प्रतिसेवना करता है तो १७ बार की प्रतिसेवना तक दो-दो मास का और उसके अनंतर बार-बार प्रतिसेवना करता है तो बारह बार तक तीन-तीन मास का प्रायश्चित्त आता है।

अनुद्घातित प्रायश्चित्त वहन करने वाले को गुरु मासानंतर बार-बार प्रतिसेवना करने पर १५ बार दो-दो गुरु मास तथा उसके पश्चात् १५ बार तीन-तीन गुरु मास का प्रायश्चित्त आता है। उद्घातित के सप्त चतुष्क, अनुद्घातित के पांच चतुष्क, लघु पांच मास पांच बार तथा गुरु पांच मास तीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बार होते हैं।[1]

४८८. उक्कोसा उ पयाओ, ठाणे ठाणे दुवे परिहवेज्जा।
एवं दुगपरिहाणी, नेयव्वा जाव तिण्णेव।।

उत्कृष्ट का अर्थ है—उद्घात में २० भिन्नमास। यहां से प्रारंभ कर स्थान-स्थान में जो उत्कृष्ट है उस अपेक्षा से अनुद्घात में दो-दो को घटाये। यह द्विक परिहानि तब तक ज्ञातव्य है जब तक उद्घातगत पंचक की उत्कृष्ट अपेक्षा से अनुद्घात में तीन आयें।

(जैसे उद्घात के २० भिन्नमास में अनुद्घात के द्विक परिहानि से १८ मास रहे। उद्घात में १७ होने पर अनुद्घात में १५। इसी प्रकार उद्घात चतुर्मास के सात होने पर अनुद्घात के ५ और उद्घात के पांच मास होने पर अनुद्घात के ३।)

४८९. अट्ठट्ठ उ अवणेत्ता, सेसा दिज्जंति जाव तु तिमासो।
जत्थट्ठगावहारो, न होज्ज तं झोसए सव्वं।।

प्रत्येक से आठ-आठ का अपनयन कर शेष प्रायश्चित्त दे। ऐसा तब तक करे जब तक त्रैमासिक न हो। (इसका तात्पर्य यह है—२० बार उद्घात भिन्नमास प्राप्त हुए। इनमें से आठ मास निकाल दिये। शेष १२ दिये जाते हैं। वे भी स्थापना-आरोपणा की विधि से षट्मास कर दिये जाते हैं। १८ अनुद्घात भिन्नमास प्राप्त हुए। आठ निकाल देने पर १० रहे। इनको भी स्थापना-आरोपणा की विधि से षट्मास कर दिये जाते हैं। शेष छोड़ दिये जाते हैं।) जहां अष्टकापहार अर्थात् अष्टक की झोषणा न हो वहां सबका परित्याग कर दे। कुछ भी प्रायश्चित्त न दे। (जैसे चार महीने या पंचमासिक में अष्टकापहार नहीं होता, वहां उसका परिहार कर दे।)

४९०. बारस दस नव चेव य, सत्तेव जहन्नगाइ ठाणाइं।
वीसऽट्ठारस सत्तर, पन्नर ठाणाण बोधव्वा।।

बीस, अठारह, सतरह और पंद्रह स्थानों के ये बारह, दस, नौ और सात—जघन्य स्थान हैं। (जैसे बीस स्थानों में से आठ का अपहार करने पर बारह, अठारह में से आठ का अपहार करने पर दस, सतरह में से आठ का अपहार करने पर नौ और पंद्रह में से आठ का अपहार करने पर सात रह जाते हैं।)

४९१. पुणरवि जे अवसेसा, मासा जेहिं पि छण्हमासाणं।
उवरिं झोसेऊणं, छम्मासा सेस दायव्वा।।

आठ का अपहार करने पर पुनः छह मास से अधिक जो मास हैं, उनका झोष कर केवल शेष छह मास का ही प्रायश्चित्त दिया जाता है।

४९२. छहि दिवसेहि गतेहिं, छण्हं मासाण होंति पक्खेवो।
छहि चेव य सेसेहिं, छण्हं मासाण पक्खेवो।।

छह दिन बीत जाने पर छह मास का प्रक्षेप होता है। छह दिन शेष रहने पर छह मास का प्रक्षेप होता है।[2]

४९३. एवं बारसमासा, छद्दिवसूणा तु जेट्ठपट्ठवणा।
छद्दिवसगतेऽणुग्गह, निरणुग्गह छाग ते खेवो।।

निरनुग्रहकृत्स्न के दो आदेश—छह दिन न्यून बारह मास का प्रायश्चित्त देना ज्येष्ठ प्रस्थापना है। षण्मासिक तप प्रायश्चित्त का छह दिनों तक पालन किया और इसी बीच षण्मासिक प्रायश्चित्त और आ गया। इस षण्मासिक तप का छह दिवसीय अनुपालित तप में समाप्त कर दिया जाता है। यह अनुग्रहकृत्स्न है। छह मासिक प्रायश्चित्त में छह दिन शेष है। इसी बीच अन्य षण्मासिक प्रायश्चित्त आ जाता है तो शेष बचे छह दिनों को छोड़कर पूरा षण्मासिक तप के प्रायश्चित्त का वहन करना निरनुग्रहकृत्स्न है।

४९४. चोदेति रागदोसे, दुब्बलबलिते य जाणते चक्खू।
भिण्णे खंधग्गिम्मि य, मासचउम्मासिए चेडे।।

शिष्य ने आचार्य से कहा—आप राग-द्वेष से ग्रस्त हैं। दुर्बल के ऊपर आपका राग है और बलिष्ठ के प्रति आपका द्वेष है, इसलिए आप एक को अनुग्रहकृत्स्न प्रायश्चित्त देते हैं और एक को निरनुग्रहकृत्स्न प्रायश्चित्त देते हैं। आप एक ओर से आंख बंद करते हैं और दूसरी ओर से आंख खोलते हैं। एक को आप सानुग्रह प्रायश्चित्त देकर जीवित रखते हैं और एक को निरनुग्रह प्रायश्चित्त देकर मार डालते हैं।

आचार्य ने कहा—भिन्न अर्थात् नवोदित अग्नि काठ आदि को जलाने में असमर्थ होकर शीघ्र बुझ जाती है, वैसे ही दुर्बल व्यक्ति भी अधिक प्रायश्चित्त से धृति, संहनन के बिना टूट जाता है।

---

१. तात्पर्य है कि उद्घात प्रायश्चित्त वहन करने वाला यदि त्रैमासिकानन्तर बार-बार प्रतिसेवना करता है तो सात बार लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। उसके बाद पांच बार लघु पांच मास। अनुद्घातित प्रायश्चित्त वहन करने वाले को त्रैमासिकानंतर पुनः प्रतिसेवना करने पर पांच बार गुरु चार मास और फिर तीन बार पांच गुरु मास प्रायश्चित्त दिया जाता है।

२. पूर्व प्रस्थापित छह मास का प्रायश्चित्त है। छह दिन बीत चुके हैं। इसी मध्य छह मास का और प्रायश्चित्त आ जाता है तो पूर्व के पांच मास और २४ दिनों का झोष हो जाता है और ये छह मास उसमें निक्षिप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार छह दिन शेष रहने पर जो छह मास का अन्य प्रायश्चित्त आ जाता है तो छह दिनों का झोष होता है। यह धृति, संहनन से दुर्बल मुनि की अपेक्षा से अनुग्रहकृत्स्न का आदेश मित्रवाचक-क्षमाश्रमण का है। रक्षित गणिक्षमाश्रमण का यह आदेश है कि जिसने छह मास का प्रायश्चित्त पूर्णरूप से पालन किया है, केवल छह दिन शेष रहे हैं और इसी बीच छह मास का प्रायश्चित्त और आ गया है तो इन छह मासों का अंतर्भाव छह दिन में कर शेष समस्त प्रायश्चित्त का झोष कर दिया जाता है। ये अनुग्रहकृत्स्न के दो आदेश हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे स्कंधाग्नि—बड़े काष्ठ से उत्पन्न अग्नि अन्यान्य बड़े-बड़े काष्ठ को भस्म कर डालती है, वैसे ही बलिष्ठ व्यक्ति बड़े प्रायश्चित्त से विषण्ण नहीं होता। इसी प्रकार एक मास के बच्चे को चार मास के बच्चे का आहार दिया जाये तो वह अजीर्ण रोग से ग्रस्त हो जाता है और यदि चार मास के बच्चे को मासिक बच्चे जितना आहार दिया जाये तो वह उससे निर्वाह नहीं कर सकता। इसी प्रकार यदि दुर्बल को बलिष्ठ प्रायश्चित्त दिया जाये तो वह सूख जाता है और यदि बलिष्ठ को दुर्बल प्रायश्चित्त दिया जाये तो उसकी शुद्धि नहीं होती। अतः यह राग-द्वेष नहीं है। योग्यतानुरूप प्रवृत्ति करना न्यायसंगत है।

४९५. सत्त चउक्का उग्घातियाण पंचेव होंतऽणुग्घाता।
पंच लहु पंच गुरुगा, गुरुगा पुण पंचगा तिण्णि॥

४९६. सत्तारस पण्णारस, निक्खेवा होंति मासियाणं तु।
वीसऽट्ठारस भिन्ने, तेण परं निक्खिवणता उ॥

पूर्व प्रस्थापित उद्घातित प्रायश्चित्त वहन करने वाले मुनि को, उस अंतराल में यदि अन्य प्रायश्चित्त आ जाए तो उसे इस विधि से प्रायश्चित्त दें—२० बार भिन्नमास, फिर १७ बार लघुमास, फिर ७ बार मासचतुष्टय, ५ लघुमास, ३ बार पांच गुरुमास आदि।

इसी प्रकार पूर्वप्रस्थापित अनुद्घातित प्रायश्चित्त वहन करने वाले की प्रायश्चित्त विधि यह है। १८ बार भिन्नमास, १५ बार लघुमास, पांच चतुष्कमास, ५ बार लघुमास, ५ बार गुरुमास तथा तीन बार पांच गुरुमास आदि।

(श्लोक में प्रयुक्त निक्षेप-निक्षेपणता का अर्थ है—प्रायश्चित्तदान।)

४९७. आततरमादियाणं, मासा लहु गुरुग सत्त पंचेव।
चउ-तिग-चाउम्मासा, तत्तो उ चउव्विहो भेदो॥

आत्मतरक तथा परतरक को प्रायश्चित्त देने की विधि—आत्मतरक मुनि जो पूर्वप्रस्थापित उद्घात प्रायश्चित्त वहन कर रहा है उसको सात बार लघुमास, तत्पश्चात् चार बार लघु चारमास, फिर चार प्रकार का भेद—छेद, मूल, अनवस्थाप्य तथा पारांचित। जो पूर्वप्रस्थापित अनुद्घात का वहन कर रहा है उसको पांच बार गुरुमास, फिर तीन बार गुरुचतुर्मास फिर यथोक्त चार प्रकार का भेद।

४९८. सत्त उ मासा उग्घातियाण, छच्चेव होंतऽणुग्घाया।
पंचेव य चतुलहुगा, चतुगुरुगा होंति चत्तारि॥

परतरक मुनि यदि पूर्व प्रस्थापित उद्घात का वहन करता है तो उसे सात बार लघुमासिक, फिर पांच बार चतुर्गुरुक फिर तीन बार छेद, तीन बार मूल, तीन बार अनवस्थाप्य और एक बार पारांचित और अनुद्घात वहन करने वाले को छह बार गुरुमासिक, फिर चार बार चतुर्गुरुक, फिर तीन बार छेद, फिर तीन बार मूल, फिर तीन बार अनवस्थाप्य, फिर एक बार पारांचित।

४९९. आवण्णो इंदिएहि, परतरए झोसणा ततो परेण।
मासलहुगा य सत्त उ, छच्चेव य होंति मासगुरू॥

५००. चउलहुगाणं पणगं, चउगुरुगाणं तहा चउक्कं च।
तत्तो छेदादीयं, होति चउक्कं मुणेयव्वं॥

परतरक मुनि वैयावृत्त्य करता हुआ यदि इंद्रिय आदि से थोड़ा या बहुत प्रायश्चित्त प्राप्त करता है तो उसका परित्याग कर दिया जाये। वैयावृत्त्य के पश्चात् पूर्व निक्षिप्त प्रायश्चित्त का वहन करते हुए यदि वह बार-बार प्रतिसेवना करता है तो उसे सात बार लघुमास दिया जाता है और अनुद्घात प्रायश्चित्त वहन करने वाले को छह बार गुरुमास दिया जाता है। उद्घात प्रायश्चित्त को वहन करने वाले को सात बार लघुमास देने के पश्चात् भी वह बार-बार दोष लगाता है तो उसे पांच बार चार लघुमास का प्रायश्चित्त देना चाहिए। अनुद्घात को चार बार चार गुरुमास देना चाहिए। उसके पश्चात् दोनों को छेद आदि चारों प्रायश्चित्त देने चाहिए।

५०१. तं चेव पुव्वभणियं, परतरए नत्थि एगखंधादी।
दो जोए अचयंते, वेयावच्चट्ठया झोसो॥

जैसे अन्यतरक के संदर्भ में कहा गया कि एक कंधे से एक साथ दो कापोतियों का वहन नहीं हो सकता उसी प्रकार परतरक के विषय में जानना चाहिए। दो योगों—तपःकरण और वैयावृत्त्य-करण—का एक साथ वहन नहीं हो सकता, अतः प्राप्त प्रायश्चित्त का वैयावृत्त्य करने के लिए परित्याग कर दिया जाता है।

५०२. तवऽतीतमसद्दहिए तवबलिए चेव होति परियागे।
दुब्बलअपरीणामे, अत्थिर अबहुस्सुते मूलं॥

जो तप से अतीत हो गया है अर्थात् छह मास के तपः-प्रायश्चित्त से भी शुद्ध नहीं होता, उसे मूल दिया जाता है। तप से शुद्धि होती है इस पर जो श्रद्धा नहीं करता उसे भी मूल दिया जाता है। जो तपोबलिक है और तपस्या करने के गर्व से बार-बार प्रतिसेवना करता है उसे भी मूल दिया जाता है। जिसको अपने श्रमण-पर्याय का गर्व है, उसके छेद का भय नहीं है उसे भी मूल दिया जाता है। जो दुर्बल है, अपरिणामी है, अस्थिर है तथा अबहुश्रुत है—इन सबको मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

५०३. जध मन्ने एगमासियं, सेविऊण एगेण सो उ निग्गच्छे।
तध मन्ने एगमासियं, सेविऊण चरमेण निग्गच्छे॥

५०३/१. जध मन्ने एगमासियं,
सेविऊण एगेण सो उ निग्गच्छे।
तध मन्ने एगमासियं,
सेविऊण भिन्नेण निग्गच्छे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिष्य ने कहा—भंते! मैं यह मानता हूं कि एक मासिक परिहारस्थान का सेवन कर एक मास के प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाता है और मैं यह भी मानता हूं कि मासिक परिहारस्थान का सेवन कर चरम अर्थात् पारांचित प्रायश्चित्त से शुद्ध होता है। अथवा वह मासिक परिहारस्थान का सेवन कर भिन्नमास के प्रायश्चित्त से शुद्ध होता है। इसका हेतु क्या है?

५०४. जिणनिल्लेवणकुडए, मासे अपनिकुंचमाणे सट्ठाणं।
मासेण विसुज्झिहिती, तो देंति गुरूवदेसेणं॥

जिन—केवली यावत् नौपूर्वधर पर्यंत मुनि अपराधनिष्पन्न मासिकादि को जानकर उसकी विशुद्धि के निमित्त प्रायश्चित्त देते हैं। जैसे—निर्लेपक—रजक जितने कुटक—जलभृत घड़ों से वस्त्र की शुद्धि होती है, वैसा करता है, वैसे ही वे जिन जितना अपेक्षित है उतना प्रायश्चित्त देकर शोधि करते हैं। जो निर्ग्रंथ मास की प्रतिसेवना कर, अमाया से आलोचना करता है, उसको स्वस्थान मास का ही प्रायश्चित्त दिया जाता है। यदि द्वैमासिकादि प्रायश्चित्तार्ह अध्यवसायों से मासिक प्रतिसेवना की है तो केवली उसे उतना प्रायश्चित्त देते हैं जितने से उसकी विशोधि होती है तथा श्रुतव्यवहारी गुरूपदेश से अधिक प्रायश्चित्त भी देते हैं।

५०५. एगुत्तरिया घडछक्कएण, छेदादि होंति निग्गमणं।
एतेहि दोसवुड्ढी, उप्पत्ती रागदोसेहिं॥

एकोत्तरिका घट से वृद्धि करते हुए घटषट्क पर उसकी परिसमाप्ति कर देनी चाहिए। छेद आदि निर्गमन (बाहर जाकर वस्त्र धोने) के तुल्य होते हैं। राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाली दोषों की वृद्धि मास आदि के प्रायश्चित्त तथा छेद आदि के प्रायश्चित्त—इन दो स्थापनाओं से छिन्न हो जाती है। (इस गाथा का विस्तृत अर्थ अगली गाथाओं में)

५०६. अप्पमलो होति सुची, कोइ पडो जलकुडेण एगेण।
मलपरिवुड्ढीय भवे कुडपरिवुड्ढीय जा छ त्तू॥

यदि वस्त्र अल्पमल वाला है तो वह एक जलकुट से शुद्ध हो जाता है। मल की वृद्धि के साथ-साथ जलकुट की भी वृद्धि होती है और वह वृद्धि छह जलकुटों तक हो सकती है।

५०७. तेण परं सरितादी, गंतुं सोधेंति बहुतरमलं तु।
मलनाणत्तेण भवे, आदंचण-जत्त-नाणत्तं॥

जो वस्त्र अत्यंत मलिन है उसको नदी, कूप, तालाब पर जाकर धोया जाता है, उसकी शोधि की जाती है। मल के नानात्व से आदंचन[1] तथा प्रयत्नों का नानात्व होता है।

५०८. बहुएहि जलकुडेहिं,बहूणि वत्थाणि काणि वि विसुज्झे।
अप्पमलाणि बहूणि वि, काणिइ सुज्झंति एगेणं॥

कुछेक बहुत मलवाले अनेक वस्त्र अनेक जलकुटकों से साफ होते हैं और कुछेक अल्पमल वाले बहुत सारे वस्त्र एक जलकुट से साफ हो जाते हैं।

५०९. जध मन्ने दसमं सेविऊण, निग्गच्छते तु दसमेण।
तध मन्ने दसमं सेविऊण एगेण निग्गच्छे॥

शिष्य ने कहा—मैं ऐसा मानता हूं कि दसवें प्रायश्चित्त की प्रतिसेवना कर दसवें पारांचित प्रायश्चित्त से विशोधि को प्राप्त होता है और यह भी मानता हूं कि दसवें पारांचित जितनी प्रतिसेवना कर नौवें अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाता है। (आचार्य ने कहा— ऐसा होता है। इस गाथा से सारे अधोमुख विकल्प वाले सूचित हैं। दसवें की प्रतिसेवना कर मूल से, छह मासिक यावत् एक मासिक प्रायश्चित्त से भी शुद्ध हो सकता है। आदि-आदि।)

५१०. जध मन्ने बहुसो मासियाणि सेवित्तु एगेण निग्गच्छे।
तध मन्ने बहुसो मासियाइ सेवित्तु बहूहि निग्गच्छे॥

शिष्य कहता है—मैं ऐसा भी मानता हूं कि बहुत बार मासिक परिहारस्थानों का सेवन कर एकमास के प्रायश्चित्त से शोधि हो सकती है और यह भी मानता हूं कि बहुत बार मासिक परिहारस्थानों का सेवन कर बहुत मासिक प्रायश्चित्तों से शोधि हो सकती है।

(आचार्य कहते हैं—हां, ऐसा होता है। प्रतिसेवना में राग-द्वेष की वृद्धि-हानि से ऐसा हो सकता है।)

५११. एगुत्तरिया घडछक्कएण, छेदादि होंति निग्गमणं।
एतेहि दोसवुड्ढी, उप्पत्ती रागदोसेहिं॥

एकोत्तरिका जलकुट की वृद्धि से छह जलकुटों तक मलिन-मलिनतर वस्त्रों की शोधि होती है और अतिमलिन वस्त्रों को निर्गमन कर—नदी, तालाब आदि पर धोकर शुद्ध करना होता है। इसी प्रकार कुछेक अपराधों की शुद्धि मासिक यावत् षण्मासिक तपः प्रायश्चित्त से हो जाती है। निर्गमनतुल्य होते हैं छेद आदि। अर्थात् अति अपराध होने पर छेद आदि प्रायश्चित्तों से ही शोधि हो सकती है। राग-द्वेष के कारण ही दोषों की वृद्धि होती है और कर्मोपचय की उत्पत्ति होती है। जैसे-जैसे राग-द्वेष की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे ही प्रायश्चित्त की भी वृद्धि होती है और जैसे-जैसे राग-द्वेष की हानि होती है, वैसे-वैसे ही प्रायश्चित्त की भी हानि होती है।

५१२. जिणनिल्लेवणकुडए, मासे अपलिकुंचमाणे सट्ठाणं।
मासेण विसुज्झिहिती, तो देंति गुरूवदेसेणं॥

देखें—गाथा ५०४

---

१. आदंचन—गोमूत्र, खार आदि का प्रक्षेप।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५१३. पत्तेयं पत्तेयं, पदे पदे मासिऊण अवराधे।
तो केण कारणेणं, हीणब्भहिया व पट्ठवणा॥

सूत्रगत पद-पद में प्रत्येक अपराध (प्रायश्चित्त) की बात कहकर किस कारण से हीन अथवा अभ्यधिक प्रस्थापना (प्रायश्चित्त) देते हैं? (जैसे–स्तोक प्रायश्चित्तस्थान में बहुत, बहुत में स्तोक अथवा सर्वथा झोष–यह क्यों?) आचार्य कहते हैं–

५१४. मणपरमोधिजिणाणं, चउदस दस पुव्वियं च नवपुव्विं।
थेरेव समासेज्जा, ऊणऽब्भहिया च पट्ठवणा॥

प्रस्थापना (प्रायश्चित्त) की न्यूनाधिकता का आधार है प्रायश्चित्तदाता। मनःपर्यवज्ञानी, परमावधिज्ञानी, जिन अर्थात् केवलज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर, दसपूर्वी, नौपूर्वी तथा स्थविर–ये प्रायश्चित्त देते हैं। मनःपर्यवज्ञानी से नौपूर्वी पर्यंत–ये प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रतिसेवना करने वाले के राग-द्वेष के अध्यवसायों की हानि-वृद्धि को जानकर राग-द्वेष के अनुरूप हीनाधिक प्रायश्चित्त देते हैं। तथा स्थविर आलोचक के बाह्यलिंग के आधार पर ऐसा करते हैं।

५१५. हा दुट्ठु कतं हा दुट्ठु अणुमयं मे त्ति।
अंतो अंतो डज्झति, पच्छातावेण वेवंतो॥

आलोचक के बाह्य लिंग ये हैं–प्राणातिपात आदि कार्य स्वयं करके, दूसरों से कराकर तथा उसका अनुमोदन कर वह कहता है–हाय! मैंने यह अशोभन कार्य किया, कराया और अनुमोदन किया। वह इस प्रकार पश्चात्ताप से कांपता हुआ मन ही मन जलता है। (स्थविर उसके पश्चात्ताप से राग-द्वेष की हानि को जानकर तदनुरूप प्रायश्चित्त देते हैं।)

५१६. जिणपण्णत्ते भावे, असद्दहंतस्स तस्स पच्छित्तं।
हरिसमिव वेदयंतो, तधा तधा वड्ढते उवरिं॥

जो जिनेश्वर देव द्वारा प्रज्ञप्त भावों पर श्रद्धा नहीं करता तथा दोष का सेवन कर निधिलाभ की भांति हर्ष का वेदन करता है, जैसे-जैसे हर्ष बढ़ता है वैसे-वैसे उसका प्रायश्चित्त भी ऊपर-ऊपर बढ़ता जाता है।

५१७. एत्तो निकायणा मासियाण, जध घोसणं पुहविपालो।
दंतपुरे कासी या, आहरणं तत्थ कायव्वं॥

इन अनंतरोदित सूत्रों में मासिक आदि की निकाचना[1] कही गयी है। यहां धनमित्र का उदाहरण ज्ञातव्य है। जैसे दंतपुर के राजा ने घोषणा करवाई कि हाथी दांत कोई न खरीदे और जो अपने घर में हों वे समर्पित कर दें।[2]

५१८. आलोयणारिहालोयओ य आलोयणाय दोसविधी।
पणगातिरेग जा पणवीस, पंचमसुत्ते अध विसेसो॥

आलोचनार्ह, आलोचक तथा आलोचना की दोषविधियां–दोषों का भेद–इन सबका कथन करना चाहिए। इस पांचवें सूत्र में यह विशेष है कि पंचातिरेक अर्थात् पांच दिन-रात के अतिरेक से पच्चीस दिन-रात तक वाच्य है।

(इसका तात्पर्य है कि सूत्र में चातुर्मासिक, पंचमासिक की जो सातिरेकता कही है, वह ५, १०, १५, २० अथवा २५ दिनों की जाननी चाहिए।)

५१९. आलोयणारिहो खलु, निरावलावी उ जह उ दढमित्तो।
अट्ठहि चेव गुणेहिं इमेहि जुत्तो उ नायव्वो॥

आलोचनार्ह निरपलापी–नियमतः अपरिस्रावी होता है। जैसे दृढ़मित्र अपरिस्रावी था। वह इन आठ गुणों से युक्त होना चाहिए।

५२०. आयारवं आधारवं, ववहारोव्वीलए पकुव्वी य।
निज्जवगऽवायदंसी, अपरिस्सावी य बोधव्वो॥

वे आठ गुण ये हैं–

१. आचारवान्–ज्ञान आदि पांच आचारों का धारक।

२. आधारवान्–आलोचक के द्वारा आलोच्यमान पूरे विषय को धारण करने वाला।

३. व्यवहारवान्–आगम आदि पांच व्यवहारों का सम्यक् व्यवहरण करने वाला।

४. अपव्रीडक–आलोचक को लज्जा से मुक्त करने वाला।

५. प्रकुर्वी–जो आलोचक को सम्यक् प्रायश्चित्त देकर विशोधि करता है।

६. निर्यापक–जो आलोचक को प्रायश्चित्त वहन करवाने में समर्थ होता है।

७. अपायदर्शी–जो आलोचक को इहलोक, परलोक के अपायों को बताने में समर्थ होता है।

८. अपरिस्रावी–आलोचित विषय को गुप्त रखने में समर्थ।

५२१. आलोएंतो एत्तो, दसहि गुणेहिं तु होति उववेतो।
जाति-कुल-विणय-नाणे, दंसण-चरणेहि संपण्णो॥

५२२. खंते दंते अमायी य, अपच्छतावी य होति बोधव्वे।
आलोयण ए दोसे, एत्तो वोच्छं समासेणं॥

आलोचक इन दस गुणों से युक्त होना चाहिए–

१. जातिसंपन्न
२. कुलसम्पन्न
३. विनयसम्पन्न
४. ज्ञानसम्पन्न

---

१. निकाचना–जो मास आदि की प्रतिसेवना की है, उसकी जब तक आलोचना नहीं की जाती तब तक वह अनिकाचित है और आलोचना कर लेने पर वह निकाचित हो जाती है।

२. देखें–व्यवहारभाष्य कथाभाग।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. दर्शनसम्पन्न ८. दांत
६. चारित्रसम्पन्न ९. अमायी
७. क्षमाशील १०. अपश्चात्तापी

अब मैं आलोचना के दोषों को संक्षेप में कहूंगा।

५२३. आकंपयित्ता अणुमाणयित्ता,जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं वा।
छण्णं सद्दाउलगं, बहुजण अव्वत्त तस्सेवी॥

आलोचना के दस दोष–

१. आलोचनाचार्य की आराधना करना।
२. मृदु प्रायश्चित्त देनेवाले आचार्य का अनुमान करना।
३. केवल दृष्टमात्र अपराध की आलोचना करना।
४. स्थूल अपराध की आलोचना करना।
५. केवल सूक्ष्म अपराध की आलोचना करना।
६. प्रच्छन्नरूप से आलोचना करना।
७. शब्दाकुल अर्थात् बाढ स्वर से आलोचना करना।
८. बहुत लोगों के बीच आलोचना करना।
९. अव्यक्त–अगीतार्थ के समक्ष आलोचना करना।
१०. तत्सेवी–गुरु ने जिस दोष का सेवन किया है, उसी का सेवन कर उसी गुरु के पास आलोचना करना।

५२४. आलोयणाविधाणं, तं चेव उ दव्व-खेत्त-काले य।
भावे सुद्धमसुद्धे, ससणिद्धे सातिरेगाइं॥

आलोचना विधान भी वही पूर्वोक्त ज्ञातव्य है। आलोचना प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में देनी चाहिए। प्रतिसेवित दो प्रकार का होता है–शुद्ध और अशुद्ध। (जो शुद्ध भाव से यतना से प्रतिसेवित होता है वह शुद्ध और जो अशुद्धभाव से अयतनापूर्वक प्रतिसेवित होता है वह अशुद्ध है।) अशुद्ध को प्रायश्चित्त मासिक आदि और जो सस्निग्ध है अर्थात् सस्निग्ध हाथ और मात्रक से आहार आदि लेता है उसको सातिरेक प्रायश्चित्त आता है।

५२५. पणगेणऽहिओ मासो, दसपक्खेणं च वीसभिण्णेणं।
संजोगा कायव्वा, गुरु-लघुमासेहि य अणेगा॥

पांच रात-दिन से अधिक एक मास का प्रायश्चित्त अथवा दस रात-दिन से अधिक अथवा १५ रात दिन से अधिक, अथवा बीस रात-दिन से अधिक अथवा भिन्नमास–अर्थात् २५ रात-दिन से अधिक मास का प्रायश्चित्त आता है। उसके गुरु, लघु और गुरु-लघु मिश्र मासों के आधार पर अनेक संयोग (विकल्प) होते हैं।

५२६. ससणिद्ध बीयघट्टे, काएसुं मीसएसु परिठविते।
इत्तर-सुहुम-सरक्खे, पणगा एमादिया होंति॥

सस्निग्ध हाथ या पात्र में भिक्षा लेना, बीज संघट्टन कर देने वाले के हाथ से भिक्षा लेना, सचित्त अथवा मिश्र परित्तकाय पर परिस्थापित भिक्षा लेना, अनंतर परित्तकाय पर स्थापित लेना, सूक्ष्म प्राभृतिका ग्रहण करना, सरजस्क हाथ या मात्रक से भिक्षा लेना–इन स्थानों में आद्य अपराध में पंचक ही होता है।

५२७. ससणिद्धमादि अहियं, पारोक्खी सोच्च देंति अहियं तु।
हीणाहियतुल्लं वा, नाउं भावं तु पच्चक्खी॥

आलोचक के मुख से शय्यातरपिंड आदि से अधिक सस्निग्ध हाथ, पात्र आदि का अपराध सुनकर पारोक्षी अर्थात् श्रुतव्यवहारी पांच आदि दिनों से अधिक एक मास का प्रायश्चित्त देता है। प्रत्यक्षज्ञानी आलोचक की प्रतिसेवना का भाव जान कर प्रतिसेवना से हीन, अधिक या तुल्य प्रायश्चित्त देते हैं।

५२८. एत्थ पडिसेवणाओ,
एक्कग-दुग-तिग-चउक्क-पणगेहिं।
छक्कग-सत्तग-अट्ठग-
नव-दसगेहिं अणेगा उ॥

यहां प्रतिसेवनाओं के अनेक विकल्प संगृहीत हैं, जैसे–एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ, दस आदि। इसका तात्पर्य है कि दस पदों के एक, दो, तीन आदि संयोगों से जितने विकल्प होते हैं उतनी ही संख्या है प्रतिसेवना की। वे अनेक सूत्रों में बताये गये हैं।

५२९. करणं एत्थ उ इणमो, एक्कादेगुत्तरा दस ठवेउं।
हेट्ठा पुण विवरीयं, काउं रूवं गुणेयव्वं॥

यहां एक, दो आदि संयोग में भंग संख्या जानने की विधि यह है–एक आदि से एकोत्तर दस की स्थापना करें–उसके नीचे विपरीत राशि की स्थापना कर एक से दस का गुणाकार करे। जैसे–

स्थापना :

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१

५३०. दसहि गुणेउं रूवं, एक्केण हितम्मि भागे जं लद्धं।
तं पडिरासेऊणं, पुणो वि नवहिं गुणेयव्वं॥

दस से गुणाकार कर एक का भाग देने पर लब्धांक दस ही हुए। यह प्रतिराशि है। ये एक के संयोग से होने वाले दस भंग हैं। फिर नौ से गुणा करना चाहिए।

५३१. दोहि हरिऊण भागं, पडिरासेऊण तं पि जं लद्धं।
एतेण कमेणं तु, कायव्वं आणुपुव्वीए॥

फिर नौ को दस से गुणन करने पर ९० हुए और इसमें दो का भाग देने पर ४५ हुए। ये द्विकसंयोग से होने वाले भंग हैं। यह प्रतिराशि है। इसी क्रम से आनुपूर्वीपूर्वक भंगों का विमर्श करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५३२. उवरिमगुणकारेहिं, हेट्ठिल्लेहिं व भागहारेहिं।
जा आदिमं तु ठाणं, गुणितेमे होंति संजोगा॥

उपरीतन अंक गुणकार हैं और नीचे के अंक भागहार हैं। (देखें ५२९)। प्रतिराशि का क्रमशः गुणन करना चाहिए। जो आदिम अंकस्थान है उससे गुणन करने पर सांयोगिक भंगों की गणना ज्ञात होती है। जैसे–

५३३. दस चेव य पणताला, वीसालसतं च दो दसहिया य।
दोण्णि सया बावण्णा, दसुत्तरा दोण्णि य सता उ॥

५३४. वीसालसयं पणतालीसा, दस चेव होंति एक्को य।
तेवीसं च सहस्सं, अदुव अणेगा उ णेगाओ॥

एक संयोग के दस भंग, द्विक संयोग के ४५ (देखें ५३१) त्रिक संयोग के १२० (४५×८÷३=१२०), चतुष्क संयोग के २१० (१२०×७÷४=२१०), पंचक संयोग के २५२ (२१०×६÷५=२५२), षट्क संयोग के २१० (२५२×५÷६ =२१०), सप्तक संयोग के १२० (२१०×४÷७=१२०), अष्टक संयोग के ४५ (१२०×३÷८=४५), नवक संयोग के १० (४५×२÷९=१०), दशक संयोग का एक। इन भंगों की कुल संख्या १०२३ होती है। अथवा और अनेक ज्ञातव्य हैं।

५३४/१. कोडिसयं सत्तऽहियं, सत्ततीसं च होंति लक्खाइं।
एयालीससहस्सा, अट्ठसया अहिय तेवीसा॥

प्रतिसेवनाओं की कुल संख्या–

१०७ करोड़, ३७ लाख, ४१ हजार और ८२३ होती है।

५३५. जच्चिय सुत्तविभासा, हेट्ठिल्लसुतम्मि वण्णिता एसा।
सच्चिय इहं पि नेया, णाणत्तं ठवणपरिहारे॥

जो पूर्व सूत्रों में सूत्र विभाषा वर्णित है वही यहां भी ज्ञातव्य है। स्थापना परिहार यहां पूर्वसूत्रों से विशेष है। अर्थात् यहां परिहारतप का वर्णन है।

५३६. को भंते! परियाओ, सुत्तत्थाभिग्गहो तवोकम्मं।
कक्खडमकक्खडे वा, सुद्धतवे मंडवा दोण्णि॥

परिहारतप की योग्यता को जानने के लिए कुछ बिंदु– भदंत! आप कौन हैं, यह पूछना चाहिए। उसका संयम पर्याय, सूत्र और अर्थ का ज्ञान, अभिग्रह, तपःकर्म आदि की जानकारी करनी चाहिए। यदि कर्कशतप का अभ्यासी है तो उसे परिहारतप दिया जाता है और यदि अकर्कशतप का अभ्यासी है तो उसे शुद्ध तप दिया जाता है। यहां दो मंडपों–एरंड निष्पन्न और शिलानिष्पन्न–का दृष्टांत है।

५३७. सगणम्मि नत्थि पुच्छा, अन्नगणा आगतं तु जं जाणे।
अण्णातं पुण पुच्छे, परिहारतवस्स जोग्गट्ठा॥

यदि परिहारतप का ग्रहणेच्छु स्वगण का है तो पृच्छा की आवश्यकता नहीं है। यदि अन्यगण से आया हुआ ज्ञात है तो उसके प्रति कोई पृच्छा नहीं होती। जो अज्ञात है उसकी परिहारतप की योग्यता को जानने के लिए पृच्छा की जाती है।

५३८. गीतमगीतो गीतो, अहं ति किं वत्थु कासवसि जोग्गो।
अविगीते त्ति य भणिते, थिरमथिर तवे य कयजोग्गो॥

कोई आलोचना करने के लिए उपस्थित हुआ है। उसे पूछा जाता है–तुम गीतार्थ हो अथवा अगीतार्थ? वह यदि कहे कि मैं गीतार्थ हूं, तो उसे पुनः पूछा जाता है–तुम क्या वस्तु हो? अर्थात आचार्य, उपाध्याय, वृषभ आदि में कौन हो? उसे पुनः पूछा जाता है–तुम कौनसी तपस्या के योग्य हो? यदि आगंतुक कहे कि मैं अविगीत–अगीतार्थ हूं। उसे पुनः पूछा जाता है–तुम स्थिर हो अथवा अस्थिर? स्थिर का तात्पर्य है धृति और संहनन से बलवान्। यदि वह कहे–मैं अस्थिर हूं तो उसे पुनः पूछा जाता है– क्या तुम तप में कृतयोगी हो? यदि वह कहे–कृतयोगी हूं तो उसे परिहारतप के योग्य माना जाए अन्यथा शुद्ध तप के योग्य माना जाये।

५३९. गिहिसामन्ने य तहा, परियाओ दुविह होति नायव्वो।
इगतीसा वीसा वा, जहन्न उक्कोस देसूणा॥

पर्याय के दो प्रकार हैं–गृहस्थपर्याय और श्रामण्यपर्याय। अथवा जन्मपर्याय और दीक्षापर्याय। जन्मपर्याय जघन्यतः उनतीस वर्ष का और दीक्षापर्याय जघन्यतः बीस वर्ष का। दोनों की उत्कृष्ट स्थिति है–देशोन पूर्वकोटि वर्ष।

५४०. नवमस्स ततियवत्थू, जहन्न-उक्कोस-ऊणगा दसओ।
सुत्तत्थऽभिग्गहा पुण, दव्वादि तवोरयणमादी॥

जघन्यतः सूत्र और अर्थ की सीमा है–नौवें पूर्व की आचारनामक तृतीय वस्तु पर्यंत और उत्कृष्ट सीमा है–कुछ न्यून दशपूर्व (क्योंकि परिपूर्ण दशपूर्वी को परिहार तप नहीं दिया जाता। उनके लिए पांच प्रकार का स्वाध्याय ही महान् कर्म निर्जरा का हेतु है।) चार प्रकार का अभिग्रह–द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः। तप हैं रत्नावलि, कनकावलि, सिंह-विक्रीडित आदि।

५४१. एतगुणसंजुयस्स उ, किं कारण दिज्जते तु परिहारो।
कम्हा पण परिहारो, न दिज्जती तव्विहूणस्स॥

शिष्य ने पूछा–भंते! जो इन गुणों से युक्त हो उसे परिहार तप क्यों दिया जाता है तथा जो इन गुणों से विहीन होता है उसे परिहार तप क्यों नहीं दिया जाता?

५४२. जं मायति तं छुब्भति, सेलमए मंडवे न एरंडे।
उभयबलियम्मि एवं, परिहारो दुब्बले सुद्धो॥

आचार्य दो मंडपों का उदाहरण देते हुए कहते हैं–वत्स! शैल मंडप पर वह सब कुछ प्रक्षिप्त किया जाता है जो उस पर समा जाता है। किंतु एरण्ड मंडप पर वैसा नहीं किया जाता। इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार जो धृति और शरीर संहनन से बलिष्ठ है, गीतार्थ आदि गुणयुक्त है, उसे परिहार तप दिया जाता है। जो धृति और संहनन से दुर्बल है, उसे शुद्धतप दिया जाता है।

५४३. अविसिट्ठा आवत्ती, सुद्धतवे चेव तह य परिहारे।
वत्थुं पुण आसज्जा, दिज्जति इतरो व इतरो वा॥

अविशिष्ट—तुल्य आपत्ति (दोष) होने पर भी एक को शुद्ध-तप और एक को परिहारतप दिया जाता है। वस्तु अर्थात् पुरुष, धृति, संहनन आदि की अपेक्षा से एक को परिहारतप और दूसरे को शुद्धतप दिया जाता है।

५४४. वमण-विरेयणमादी, कक्खडकिरिया जधाउरे बलिते।
कीरति न दुब्बलम्मी, अह दिट्ठंतो तवे दुविधो॥

जो रोगी शरीर से बलवान् है उसको वमन, विरेचन आदि कर्कश क्रियाएं कराई जाती हैं और जो दुर्बल है, उसे ये क्रियाएं नहीं कराई जाती। यह दृष्टांत दोनों प्रकार के तप—परिहारतप और शुद्धतप में घटित होता है।

५४५. सुद्धतवो अज्जाणं, ऽगीयत्थे दुब्बले असंघयणे।
धिति-बलिते य समन्नागत सव्वेसिं पि परिहारो॥

परिहारतपयोग्य अपराध में भी आर्यिकाओं को शुद्धतप ही देना चाहिए, परिहारतप नहीं, क्योंकि वे धृति-संहनन से दुर्बल तथा पूर्वज्ञान से विकल होती हैं। जो अगीतार्थ है, दुर्बल हैं, जो असंहनन अर्थात् प्रारंभ के तीन संहननों में से किसी एक को प्राप्त नहीं है, उसे भी शुद्धतप ही देना चाहिए। जो धृतियुक्त और बलिष्ठ हैं तथा प्रारंभ के तीन संहननों में से एक संहनन से समन्वागत हैं—इन सबको परिहारतप देना चाहिए।

५४६. विउसग्गजाणणट्ठा, ठवणाभीतेसु दोसु ठवितेसु।
अगडे नदी य राया, दिट्ठंतो भीयआसत्थो॥

साधुओं को ज्ञापित करने अथवा निरुपसर्ग के लिए परिहारतप देने से पूर्व कायोत्सर्ग किया जाता है। फिर कल्पस्थित और अनुपारिहारिक की स्थापना की जाती है। दोनों की स्थापना करने पर वह पारिहारिक कदाचित् भयभीत हो जाए तो उसे कूप, नदी और राजा के दृष्टांत से आश्वस्त करें।[1]

५४७. निरुवस्सग्गनिमित्तं, भयजणणट्ठाय सेसगाणं च।
तस्सऽप्पणो य गुरुणो, य साहए होति पडिवत्ती॥

परिहार तप के प्रारंभ में कायोत्सर्ग करने के दो कारण हैं—
१. निरुपसर्ग के निमित्त अर्थात् परिहारतप निर्विघ्नरूप से सम्पन्न हो।
२. शेष साधुओं के मन में भय पैदा करने के लिए कि अमुक ने यह अपराध किया इसलिए उसे यह महाघोर परिहारतप प्राप्त हुआ है, अतः ऐसा अपराध नहीं करना चाहिए।

कायोत्सर्ग करने के पश्चात् परिहारतप स्वीकार करने वाले को तथा गुरु को अनुकूल शुभ तिथि आदि में उसकी प्रतिपत्ति होती है।

५४८. कप्पट्ठितो अहं ते, अणुपरिहारी य एस ते गीतो।
पुव्विं कतपरिहारो, तस्सऽसतितरो वि दढदेहो॥

जब तक तुम्हारा यह कल्पपरिहार समाप्त न हो तब तक मैं तुम्हारे लिए कल्पस्थित हूं। (वंदन, वाचना आदि में कल्पभाव में स्थित हूं, परिहार्य नहीं हूं, शेष परिहार्य हैं।) यह गीतार्थ मुनि कृतपारिहारिक न हो तो दृढसंहनन वाले गीतार्थ को अनुपारिहारिक स्थापित किया जाता है।

५४९. एस तवं पडिवज्जति,
न किंचि आलवति मा य आलवह।
अत्तट्ठचिंतगस्सा,
वाघातो मे ण कायव्वो॥

आचार्य समस्त संघ को एकत्रित कर कहते हैं—यह साधु परिहारतप स्वीकार कर रहा है। यह किसी से आलाप नहीं करेगा, तुम भी इसके साथ आलाप मत करना। यह आत्मार्थ-चिंतक—केवल अपने विषय में ही सोचता है। तुम कोई व्याघात मत करना।

५५०. आलावण पडिपुच्छणं, परियट्टट्ठाण वंदणग मत्ते।
पडिलेहण संघाडग, भत्तदाण संभुंजणा चेव॥

प्रस्तुत दश पदों से गच्छ ने इसका परिहार किया है और इसने भी गच्छ को इन दश पदों के द्वारा परिहार किया है—

१. आलापन	६. मात्रक
२. प्रतिपृच्छना	७. प्रेतिलेखन
३. परिवर्तना	८. संघाटक
४. उत्थापन	९. भक्तदान
५. वंदना	१०. सहभोजन

ये दस बातें न यह तुम्हारे साथ करेगा और न तुम भी इसके साथ कर सकोगे।

५५१. संघाडगा उ जाव उ, लहुओ मासो दसण्ह उ पदाणं।
लहुगा य भत्तदाणे संभुजण होंतऽणुग्घाता॥

उपरोक्त दस पदों में से आठवें पद 'संघाटक' का

१. कोई कूप में गिर गया। मेंढ पर खड़े लोग कहते हैं— डरो मत। हम रज्जू लेकर आए हैं। तुम्हें बाहर निकाल देंगे। वह आश्वस्त हो जाता है। कोई नदी में गिर गया। अनुस्रोत में बहा जा रहा है। अत्यंत भयग्रस्त है। तट पर खड़े लोग उसे आश्वस्त करते हैं और वह भयमुक्त हो जाता है। कोई राजा किसी पर रुष्ट जो जाता है। वह भयग्रस्त होकर हताश हो जाता है। कोई आकर कहता है—डरो मत। राजा को मैं सही स्थिति बताऊंगा। राजा अन्याय नहीं करेगा। वह आश्वस्त हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिक्रमण होने पर गच्छवासी को प्रत्येक पद के लिए मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। भक्तपान देने पर चार लघुमास तथा सहभोजन करने पर अनुद्घात चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

५५२. संघाडगा उ जाव उ, गुरुगो मासो दसण्ह उ पयाणं।
भत्तपयाणे संभुजणे य परिहारिगे गुरुगा॥

पारिहारिक को इन पदों के अतिक्रमण पर आने वाला प्रायश्चित्त आलापन से संघाटक तक के आठ पदों का अतिक्रमण होने पर प्रत्येक पद का गुरुमास। यदि वह गच्छवासी मुनियों को भक्त-पान देता-लेता है तथा उनके साथ भोजन करता है तो प्रत्येक के चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

५५३. कितिकम्मं च पडिच्छति,
परिण्ण पडिपुच्छणं पि से देति।
सो चिय गुरुमुवचिट्ठति,
उदंतमवि पुच्छितो कहए॥

यदि पारिहारिक कृतिकर्म—गुरु को वंदन करता है तो गुरु भी वंदना करते हैं। उसे परिज्ञा—प्रत्याख्यान कराते हैं। यदि वह सूत्रार्थ के विषय में पूछता है तो उसका उत्तर भी देते हैं। वह पारिहारिक गुरु के आने पर उठता है। गुरु यदि उसे शारीरिक स्वास्थ्य के विषय में पूछते हैं तो वह बताता है।

५५४. उट्ठेज्ज निसीएज्जा, भिक्खं हिंडेज्ज भंडगं पेहे।
कुविय-पियबंधवस्स व, करेति इतरो वि तुसिणीओ॥

पारिहारिक यदि ऊठ-बैठ नहीं सकता और वह यदि आनुपारिहारिक को कहें तो आनुपारिकहारिक उसको उठाता है, बिठाता है। वह यदि भिक्षा ग्रहण करने में असमर्थ हो, अथवा भिक्षा में घूमने में अशक्त हो, भंडक की प्रत्युपेक्षा न कर सकता हो, तो अनुपारिहारिक ये सब क्रियाएं उसी प्रकार मौन भाव से करता है जैसे कोई व्यक्ति कुपित प्रियबंधु की क्रियाएं करता है।

५५५. अवसो व रायदंडो, न एवमेवं तु होति पच्छित्तं।
संकर-सरिसवसगडे, मंडववत्थेण दिट्ठंता॥

अवश व्यक्ति को भी राजदंड वहन करना होता है, इस न्याय से प्रायश्चित्त वहन करना उचित नहीं है। (प्रायश्चित्त केवल चारित्र की विशोधि के लिए वहन करना चाहिए।) शिष्य कहता है—प्रभूत प्रायश्चित्त वहन करना उचित है, परंतु थोड़े से प्रायश्चित्त का क्या वहन करना? आचार्य यहां संकरतृण[1], शकट[2], मंडप[3] पर सरसों तथा वस्त्र[4] का दृष्टांत देते हैं।

५५६. अणुकंपिता च चत्ता, अहवा सोधी न विज्जते तेसिं।
कप्पट्ठगभंडीए, दिट्ठंतो धम्मया सुद्धो॥

समान अपराध में एक को अनुकंपित कर शुद्धतप देना और एक को परित्यक्त कर परिहारतप देना यह राग और द्वेष है। अथवा यह मानना चाहिए कि उनकी शोधि नहीं होती। यदि परिहारतप से शुद्धि होती है तो शुद्धतप से नहीं होती और यदि शुद्धतप से शुद्धि होती है तो परिहारतप की कर्कशता व्यर्थ हो जाती है। आचार्य यहां बालकों की गाड़ी[5] का दृष्टांत देते हैं। शुद्धि धर्म से होती है। शुद्धतपस्वी और परिहारतपस्वी—दोनों धर्म से शुद्ध होते हैं।

५५७. जो जं काउ समत्थो, सो तेण विसुज्झते असढभावो।
गूहितबलो न सुज्झति, धम्म-सभावो त्ति एगट्ठं॥

जो मुनि जिस तपस्या को करने में समर्थ है, वह उसको अशठभाव से करता हुआ विशोधि को प्राप्त होता है। जो अपनी शक्ति का गोपन करता है, उसकी शुद्धि नहीं होती। धर्म और स्वभाव एकार्थक हैं।

५५८. आलवणादी उ पया, सुद्धतवे तेण कक्खडो न भवे।
इतरम्मि उ ते नत्थी, कक्खडओ तेण सो होति॥

शुद्ध तप में आलपन आदि दसों पद हैं, अतः वह कर्कश नहीं है। इतर अर्थात् परिहारतप में ये पद नहीं है, अतः वह कर्कश है।

५५९. तम्हा उ कप्पट्ठितं, अणुपरिहारिं च तो ठवेऊणं।
कज्जं वेयावच्चं किच्चं तं वेयाविच्चं तु॥

इसलिए कल्पस्थित और अनुपारिहारिक—दोनों की

---

१. संकरतृण—एक सारणि से खेत में पानी दिया जा रहा था। उसमें संकरतृण तिरछा अटक गया। उसको निकाला नहीं गया। अन्यान्य तृण भी वहां लग गये और अब सारणि का पानी अवरुद्ध हो गया, खेत सूख गया।

२. शकट—गाड़ी पर छोटे-छोटे पत्थर डाले गये। उनका अपनयन नहीं किया। एक दिन बड़ा पत्थर डाला और शकट टूट गया।

३. सर्षप—एरंड मंडप पर सरसों के दानें डाले। उनको नहीं हटाया। सरसों के दानों के भार से वह मंडप ध्वस्त हो गया।

४. वस्त्र—साफ वस्त्र पर गिरने वाले कर्दम बिंदुओं को न धोने पर, एक दिन वह वस्त्र अत्यंत मलिन होकर त्याज्य हो जाता है।
इसी प्रकार इन सबकी भांति दोष को अल्प समझ प्रायश्चित्त न लेने पर पूरा चारित्र ही नष्ट हो जाता है।

५. कप्पट्ठगभंडी—बालक अपनी छोटी गाड़ी से खेलते हैं, अपना कार्य करते हैं। वे बड़ी गाड़ी का काम नहीं कर सकते। यदि बड़ी गाड़ी वहन करने योग्य भार को छोटी गाड़ी में डाल दिया जाए तो वह टूट जाती है। इसी प्रकार बड़ी गाड़ी से छोटी गाड़ी का काम नहीं लिया जा सकता। यदि लिया जाता है तो वह पलिमंथु है। इससे कार्य सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार शुद्धतप वाले की शुद्धतप से शोधि होती है। उसे यदि परिहारतप दे दिया जाए तो वह भग्न हो जाता है। और यदि परिहारतप वाले को शुद्धतप दिया जाए तो उसकी पूरी शोधि नहीं होती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थापना कर वैयावृत्त्य कराना चाहिए। दोनों को यथायोग्य वैयावृत्त्य करना चाहिए।

५६०. वेयावच्चे तिविधे, अप्पाणम्मि य परे तदुभए य।
अणुसट्ठि उवालंभे, उवग्गहे चेव तिविधम्मि॥

वैयावृत्त्य तीन प्रकार का होता है—अनुशिष्टि, उपालम्भ और अनुग्रह। प्रत्येक के तीन-तीन भेद और हैं—आत्मविषयक, परविषयक और उभयविषयक।

५६१. अणुसट्ठीय सुभद्दा, उवलंभम्मि य मिगावती देवी।
आयरिओ दोसु उवग्गहो य सव्वत्थ वायरिओ॥

अनुशिष्टि के विषय में सुभद्रा का और उपालंभ के विषय में मृगावती देवी का तथा द्रव्य और भाव—इन दो प्रकार के उपग्रह के विषय में आचार्य का उदाहरण है। अथवा सर्वत्र अनुशिष्टि, उपालंभ और उपग्रह के विषय में आचार्य का उदाहरण है।

५६२. दंडसुलभम्मि लोए, मा अमतिं कुणसु दंडितो मि त्ति।
एस दुलभो हु दंडो, भवदंडनिवारओ जीव!॥
५६३. अवि य हु विसोधितो ते, अप्पणायार मइलितो जीव!।
इति अप्प परे उभए, अणुसट्ठि थुतित्ति एगट्ठा॥

यह लोक दंड-सुलभ है। इसमें प्रायश्चित्त प्राप्त कर यह कुमति मत करो कि मैं दंडित हुआ हूं। हे जीव! प्रायश्चित्त स्वरूप वाला यह दंड भवदंड का निवारक होता है। यह दुर्लभ है। हे जीव! तुम्हारी आत्मा अनाचार से मलिन है। वह प्रायश्चित्त से विशोधित होता है। इसलिए अपने लिए, पर के लिए तथा उभय के लिए अनुशिष्टि का अनुगमन करना चाहिए। अनुशिष्टि और स्तुति एकार्थक हैं।

५६४. तुमए चेव कतमिणं, न सुद्धकारिस्स दिज्जते दंडो।
इह मुक्को वि न मुच्चति, परत्थ अह होउवालंभो॥

हे आत्मन्! तुमने ही तो यह दंडस्थान (प्रायश्चित्तस्थान) आपादित किया है, इसलिए यह प्रायश्चित्त दिया जा रहा है। जो शुद्धकारी है उसको दंड नहीं दिया जाता। प्रायश्चित्त न लेकर अथवा उसका पालन न कर वह इहभव में मुक्त हो जाने पर भी परभव में मुक्त नहीं हो सकता। 'इसलिए प्रमादापन्न प्रायश्चित्त गुणबुद्धि से अवश्य करना चाहिए'—यह यहां आत्मोपालंभ होता है। इसी प्रकार परोपालंभ और उभयोपालंभ होता है।

५६५. दव्वेण य भावेण य, उवग्गहो दव्वे अण्णपाणादी।
भावे पडिपुच्छादी, करेति जं वा गिलाणस्स॥

उपग्रह दो प्रकार से होता है—द्रव्य से, भाव से। पारिहारिक अथवा अनुपारिहारिक असमर्थ होने पर अन्न-पान लाकर देना द्रव्यतः उपग्रह है। भावतः उपग्रह है—सूत्र अथवा अर्थ विषयक प्रतिपृच्छा करना। अथवा ग्लान की समाधि के लिए की जाने वाली क्रिया।

५६६. परिहारऽणुपरिहारी, दुविहेण उवग्गहेण आयरिओ।
उवगेण्हति सव्वं वा, सबालवुड्ढाउलं गच्छं॥

पारिहारिक और अनुपारिहारिक—ये दोनों द्विविध उपग्रह—द्रव्य से और भाव से आचार्य द्वारा उपगृहीत होते हैं। आचार्य बालवृद्धाकुल समस्त गच्छ को द्रव्य और भाव—इन दोनों उपग्रहों से उपगृहीत करते हैं।

५६७. अधवाऽणुसट्ठुवालंभुवग्गहे कुणति तिन्नि वि गुरू से।
सव्वस्स वि गच्छस्सा, अणुसट्ठादीणि सो कुणति॥

अथवा आचार्य उस पारिहारिक मुनि के प्रति अनुशिष्टि, उपालंभ और अनुग्रह—इन तीनों का यथार्ह उपयोग करते है। केवल पारिहारिक मुनि की ही नहीं करते, समस्त गण में अनुशासन आदि तीनों का प्रयोग करते हैं।

५६८. आयरिओ केरिसओ, इहलोए केरिसो व परलोए।
इहलोएऽसारणिओ, परलोए फुडं भणंतो उ॥

इहलोक में हितकारी आचार्य कैसा होता है और परलोक में हितकारी आचार्य कैसा होता है?

जो आचार्य समस्त साधुओं के भक्त-पान-वस्त्र आदि की पूर्ति करता है, परंतु जो सारणा-वारणा नहीं करता वह इहलोक का हितकारी है, परलोक का नहीं। जो आचार्य सारणा-वारणा करता है परंतु वस्त्र, भक्त-पान आदि की पूर्ति नहीं करता केवल स्फुट बोलता है, वह परलोक का हितकारी है, इहलोक का नहीं। (जो भक्त-पान की पूर्ति भी करता है और सारणा भी करता है वह इलहोक और परलोक दोनों में हितकारी है। जो दोनों नहीं करता, वह न इहलोक का हितकारी है और न परलोक का।)

५६९. जीहाए विलिहंतो, न भद्दओ जत्थ सारणा नत्थि।
दंडेण वि ताडेंतो, स भद्दओ सारणा जत्थ॥

जहां सारणा नहीं है, केवल वाणी से आनंदित करता है वह आचार्य भद्रक नहीं होता। जहां सारणा है और आचार्य दंड से भी शिष्यों को ताडित करता है, वह भद्रक है, समीचीन है।

५७०. जह सरणमुवगयाणं, जीवियववरोवणं नरो कुणति।
एवं सारणियाणं, आयरिओ असारओ गच्छे॥

कोई व्यक्ति शरण में आए हुए व्यक्ति का प्राणव्यपरोपण करता है, मार डालता है, वैसे ही जो आचार्य सारणीय—प्रमाद आदि से व्यावर्तन के इच्छुक मुनियों की सारणा नहीं करता, वह भी एकांत अहितकारी होता है।

५७१. एवं पि कीरमाणे, अणुसट्ठादीहि वेयवच्चे उ।
कोवि य पडिसेवेज्जा, सेविय कसिणेऽऽरुहेयव्वे॥

इस प्रकार अनुशिष्टि आदि त्रिविध वैयावृत्त्य करता हुआ भी कोई प्रतिसेवना कर प्रायश्चित्त स्थान प्राप्त हो जाता है, उसमें भी कृत्स्न आरोपणा करनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५७२. पडिसेवणा य संचय, आरुवणअणुग्गहे य बोधव्वे।
अणुघातनिरवसेसं, कसिणं पुण छव्विहं होति॥
५७३. पारंचि सतमसीतं छम्मासारुवणछद्दिणगतेहिं।
कालगुरुनिरंतरं व, अणूणमधियं भवे छट्ठं॥

कृत्स्न के छह प्रकार हैं—प्रतिसेवना कृत्स्न, संचयकृत्स्न, आरोपणाकृत्स्न, अनुग्रहकृत्स्न, अनुद्घातकृत्स्न और निरवशेषकृत्स्न।

१. प्रतिसेवनाकृत्स्न—दूसरे के इससे आगे प्रतिसेवना के स्थान की असंभाव्यता।

२. संचयकृत्स्न—१८० मास का। इससे अधिक संचय नहीं होता।

३. आरोपणाकृत्स्न—छह मास की। भगवान् महावीर के तीर्थ में इससे अधिक आरोपणा नहीं होती।

४. अनुग्रहकृत्स्न—छह मास का प्रायश्चित्त वहन करते हुए के छह दिन बीते हैं। इसके बीच छह मास का और प्रायश्चित्त प्राप्त हो गया। तब पूर्व के पांच मास २४ दिन का प्रायश्चित्त जो शेष रहा, वह समस्त छोड़ दिया जाता है और जो नया छह मास का प्रायश्चित्त प्राप्त हुआ है, उसको वहन करना।

५. अनुद्घातकृत्स्न—कालगुरु अर्थात् गुरुमास आदि अथवा निरंतर प्रायश्चित्त दान। (इसके तीन प्रकार हैं—कालगुरु, तपोगुरु, उभयगुरु।)

कालगुरु—ग्रीष्म आदि कर्कश काल में प्रायश्चित्त देना।

तपोगुरु—निरंतर तेले-तेले की तपस्या देना।

उभयगुरु—ग्रीष्म आदि में निरंतर प्रायश्चित्त देना।

६. निरवशेषकृत्स्न—जो प्रायश्चित्त प्राप्त है उसको पूर्णरूप से, न न्यून और न अधिक, देना।

५७४. एत्तो समारुभेज्जाऽणुग्गह कसिणेण चिण्णसेसम्मि।
आलोयणं सुणेत्ता, पुरिसज्जातं च विण्णाय॥

छह प्रकार के कृत्स्नों में से जिस कृत्स्न के अंतर्गत प्रायश्चित्त प्राप्त हुआ है, उसको वहन करते समय उसकी आलोचना को सुनकर तथा उस पुरुषजात की स्थिति को जानकर जो प्रायश्चित्त आचीर्ण करने के पश्चात् शेष रहा है, उसमें अनुग्रहकृत्स्न का समारोप करना चाहिए।

५७५. पुव्वाणुपुव्वि दुविधा, पडिसेवणाय तधेव आलोए।
पडिसेवण आलोयण, पुव्वं पच्छा य चउभंगो॥

पूर्वानुपूर्वी (अनुपरिपाटी) के दो प्रकार हैं—प्रतिसेवना विषयक तथा आलोचना विषयक। प्रतिसेवना और आलोचना में पूर्व-पश्चात् पदों के आधार पर चार विकल्प होते हैं—

१. पूर्वानुपूर्वी से प्रतिसेवित, पूर्वानुपूर्वी से आलोचित।

२. पूर्वानुपूर्वी से प्रतिसेवित, पश्चादनुपूर्वी से आलोचित।

३. पश्चाद् अनुपूर्वी से प्रतिसेवित, पूर्वानुपूर्वी से आलोचित।

४. पश्चाद् अनुपूर्वी से प्रतिसेवित, पश्चादनुपूर्वी से आलोचित।

५७६. पुव्वाणुपुव्वि पढमो, विवरीते बितिय ततियए गुरुगो।
आयरियकारणा वा, पच्छा पच्छा व सुण्णो उ॥

पूर्वानुपूर्वी प्रतिसेवना-आलोचना में प्रथम भंग है। दूसरा और तीसरा भंग इससे विपरीत है। इनमें यथाप्राप्त प्रायश्चित्त के साथ-साथ मायानिष्पन्न गुरुमास अधिक दिया जाता है। प्रश्न होता है—पश्चाद् प्रतिसेवित, पूर्व आलोचित—यह तीसरा भंग कैसे संभव होता है? आचार्य आदि के प्रयोजन से अन्य ग्राम जाने का इच्छुक मुनि आचार्य को निवेदन करता है—अमुक कारण से मैं अमुक काल तक विकृति का सेवन करना चाहता हूं—यह पूर्व आलोचना और पश्चात् प्रतिसेवना है। अथवा यह तृतीय भंग शून्य है—पश्चात् अर्थात् प्रतिसवेना से पूर्व आलोचना शून्य ही होती है।

५७७. पच्छित्तऽणुपुव्वीए, जयणा-पडिसेवणाय अणुपुव्वी।
एमेव वियडणाए, बितिय-ततियमादिणो गुरुगो॥

प्रायश्चित्त की अनुपूर्वी से अर्थात् प्रायश्चित्त की अनुपरिपाटी से, जो यतनापूर्वक प्रतिसेवना की वह प्रतिसेवना की अनुपूर्वी तथा जिस प्रकार प्रतिसेवना की है उसी प्रकार आलोचना करना यह है आलोचना की अनुपूर्वी। दूसरे और तीसरे भंग में जो प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, वह नियमतः दिया जाता है। केवल मायावी को एक गुरुमास अधिक दिया जाता है।

५७८. पुव्वं गुरूणि पडिसेविऊण, पच्छा लहूणि सेवित्ता।
लहुए पुव्वं कधयति, मा मे दो देज्ज पच्छित्ते॥

प्रतिसेवी पहले गुरु अर्थात् मासलघु आदि की प्रतिसेवना कर फिर लघु अर्थात् लघुपंचक आदि की प्रतिसेवना करता है। वह आलोचना के समय पहले लघु की आलोचना करता है फिर गुरु की। वह यह सोचता है—यदि मैं पहले गुरु प्रतिसेवना की बात कहूंगा तो आचार्य मुझे दो प्रायश्चित्त—अयतनानिष्पन्न तथा प्रतिसेवनानिष्पन्न—देंगे। इसलिए वह पहले लघु प्रतिसेवना का कथन करता है।

५७९. अधवाऽजतपडिसेवि, त्ति नेव दाहिंति मज्झ पच्छित्तं।
इति दो मज्झिमभंगा, चरिमो पुण पढमसरिसो उ॥

अथवा आचार्य यतना से प्रतिसेवना करने वाला जानकर मुझे प्रायश्चित्त नहीं देंगे (या स्वल्प प्रायश्चित्त देंगे।) ये दो मध्यम भंग (दूसरा और तीसरा) मायावी के होते हैं। चरम भंग (चौथा विकल्प) प्रथम सदृश होता है। (जैसी प्रतिसेवना वैसी आलोचना, माया नहीं होती।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५८०. पलिउंचण चउभंगो, वाहे गोणी य पढमतो सुद्धो।
तं चेव य मच्छरिते, सहसा पलिउंचमाणे उ॥
५८१. खरंटणभीतो रुट्ठो, सक्कारं देति ततियए सेसं।
भिक्खुणि वाधि चउत्थे, सहसा पलिउंचमाणो उ॥

प्रतिकुंचन के प्रसंग में चतुर्भंगी। व्याध, गोणी और भिक्षुकी का दृष्टांत। व्याध का दृष्टांत जो प्रथम भंग में दिया था, वही दूसरे भंग में, किंतु स्वामी का सहसा मत्सरित होना। व्याध का मांस-दान में प्रतिकुंचना करना। इसका स्पष्टार्थ यह है—

प्रतिकुंचन के चार भंग ये हैं—

१. अप्रतिकुंचित में अप्रतिकुंचन।

२. अप्रतिकुंचित में प्रतिकुंचन।

३. प्रतिकुंचित में अप्रतिकुंचन।

४. प्रतिकुंचित में प्रतिकुंचन।

व्याध का दृष्टांत—एक वेतनभोगी व्याध मांस लेकर यह सोचकर चला कि सारा मांस स्वामी को देना है। जाते ही स्वामी ने उसका आदर-सत्कार किया और बैठने के लिए कहा। उसने सारा मांस दे दिया।

इसी प्रकार कोई प्रतिसेवी अपने समस्त अपराधों की आलोचना करने का चिंतन कर आचार्य के पास आता है और यदि आचार्य उसका आदर-सत्कार करते हैं और अच्छे शब्दों से व्यवहार करते हुए कहते हैं—तुम धन्य हो, संपुण्य हो। प्रतिसेवना दुष्कर नहीं है, किंतु उसकी सम्यक् आलोचना करना दुष्कर है। वह प्रतिसेवी संतुष्ट होकर अपना पूरा अपराध आचार्य के समक्ष प्रकट कर देता है। यह प्रथम भंग शुद्ध है। क्योंकि चिंतनवेला में भी अप्रतिकुंचनभाव था और आलोचना के समय भी अप्रतिकुंचन भाव था।

दूसरे भंग में भी व्याध अप्रतिकुंचनभाव से अर्थात् सारा मांस स्वामी को देने की भावना से आया। स्वामी ने पूर्वापर का विचार किये बिना ही अंटसंट कह कर व्याध में मत्सरभाव पैदा कर दिया। खरंटना से भयभीत होकर व्याध रुष्ट हो गया। उसने मांस को छुपा लिया। सारा मांस स्वामी को नहीं दिया। यह दूसरे भंग का उपनय है। इसी प्रकार आचार्य यदि आलोचक की आलोचना से पूर्व खरंटना करता है तो आलोचक अपना पूरा अपराध नहीं बताता।

तीसरे भंग में स्वामी व्याध को सत्कार देता है तब वह व्याध सारा मांस स्वामी को दे देता है। इसी प्रकार प्रतिसेवी भी सत्कार-सम्मानपूर्वक पूछे जाने पर सारा दोष बता देता है।

चौथा भंग—व्याध यह सोचकर निकला कि सारा मांस नहीं देना है। स्वामी ने उसकी खरंटना की। उसने मांस को छुपा लिया। इसी प्रकार आलोचक भी पूरी आलोचना न कर माया करता है।

५८२. अपलिउंचिय पलिउंचियम्मि य चउरो हवंति भंगा उ।
वाहे य गोणि भिक्खुणि, चउसु वि भंगेसु दिट्ठंतो॥

अप्रतिकुंचित-प्रतिकुंचित के चार भंग होते हैं—(देखें गाथा ५८०)। व्याध, गोणी और भिक्षुणी—ये तीनों दृष्टांत चारों भंगों में होते हैं।

५८३. पढम-ततिएसु पूया, खिंसा इतरेसु पिसिय-पय-खोरे।
एमेव उवणओ खलु, चउसु वि भंगेसु वियडेंते॥

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त पिसिय शब्द मांस के लिए, पय शब्द दूध के लिए तथा खोर शब्द खोरक—गोल भाजन विशेष के वाचक हैं। ये तीनों व्याध, गोणी और भिक्षुणी से क्रमशः संबंधित हैं। पहले और तीसरे भंग में पूजा और दूसरे तथा चौथे भंग में खिंसा—खरंटना। इसी प्रकार चारों भंगों को आलोचना करने वालों के साथ संबंधित करना चाहिए।

५८४. इस्सरसरिसो उ गुरू, वाधो साधू पडिसेवणा मंसं।
णूमणता पलिउंचणं, सक्कारो वीलणा होति॥

स्वामी के सदृश हैं गुरु, व्याध सदृश हैं साधु, प्रतिसेवना सदृश है मांस, स्थगन सदृश है प्रतिकुंचना, सत्कार सदृश है व्रीडना—लज्जापादन।

५८५. आलोयण सि य पुणो, जा एसाऽकुंचिया उभयतो वि।
सच्चेव होति सोही, तत्थ य मेरा इमा होति॥

जो आलोचना उभयतः अर्थात् संकल्पकाल में तथा आलोचनाकाल में अप्रतिकुंचित होती है वही तात्त्विकी शुद्धि होती है। उसमें आचार्य और शिष्य की यह मर्यादा—सामाचारी है।

५८६. आयरिए कह सोधी, सीहाणुग-वसभ-कोल्हुगाणूए।
अधवा वि सभावेणं, निमंसुगे मासिगा तिण्णि॥

आचार्य के पास जब आलोचक शिष्य आलोचना करता है तब शुद्धि कैसे होती है? आलोचनार्ह आचार्य के तीन प्रकार हैं—सिंहानुग, वृषभानुग तथा क्रोष्टानुग। (आचार्य के अभाव में वृषभ और गीतार्थ भिक्षु से भी आलोचना ली जा सकती है।) ये तीनों—आचार्य, वृषभ और भिक्षु स्वभावतः सिंहानुग, वृषभानुग अथवा क्रोष्टानुग हो सकते हैं। उनकी यथायोग्य निषद्या न करने पर तीन प्रकार के प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं। जैसे—सिंहानुग आचार्य की यथायोग्य निषद्या न करने पर एक मासिक, वृषभानुग आचार्य की यथायोग्य निषद्या न करने पर द्विमासिक तथा क्रोष्टानुग आचार्य की यथायोग्य निषद्या न करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है। यहां निःश्मश्रुक राजा का दृष्टांत है—एक निःश्मश्रुक राजा था। एक नापित उसके पास वेतन पर रहता था। राजा को निःश्मश्रुक समझकर वह काम नहीं करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। राजा ने उसको निष्कासित कर दिया। इसी प्रकार जो निषद्या नहीं करता वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। दूसरा नापित रखा गया। वह सातवें-सातवें दिन राजा के पास आता। राजा ने उसको वृत्ति दी, संतुष्ट किया। इसी प्रकार जो निषद्या करता है वह विनीतरूप से ख्यात होता है।

५८७. सट्ठाणाणुग केई, परठाणाणुग य केइ गुरुमादी।
स निसिज्जाए कप्पो, पुच्छ निसेज्जा च उक्कुडुओ॥

कुछ गुरु आदि अर्थात गुरु, वृषभ और भिक्षु स्वस्थानानुग होते हैं और कुछ परस्थानानुग होते हैं। सुंदर निषद्या में स्थित आचार्य, कल्प पर स्थित वृषभ तथा पादप्रोंछनक निषद्या में स्थित अथवा रजोहरण निषद्या में स्थित अथवा उत्कटुक आसन में स्थित भिक्षु ये सब स्वस्थानानुगत होते हैं।

५८७/१. सीहाणुगस्स गुरुणो,
सीहाणुग-वसभ-कोल्हुगाणूए।
वसभाणुयस्स सीहे,
वसभाणुय कोल्हुयाणूए॥

५८७/२. अधवा वि कोल्हुयस्सा,
सीहाणुग वसभ-कोल्लुए चेव।
आलोयंताऽऽयरिए,
वसहे भिक्खुम्मि चारुवणा॥

५८८. मासो दोन्नि उ सुद्धो, चउलहु लहुआ य अंतिमो सुद्धो।
गरुया लहुया लहुओ, भेदा गणिणो नवगणिम्मि॥

आलोचनार्ह आचार्य के पास आलोचना करने वाले आचार्य के नौ भेद हैं–(वृषभ और भिक्षु के भी ये ही नौ प्रकार हैं।)

१. सिंहानुग आचार्य के पास सिंहानुग बनकर आलोचना करने वाला।

२. सिंहानुग आचार्य के पास वृषभानुग बनकर आलोचना करने वाला।

३. सिंहानुग आचार्य के पास क्रोष्टानुग बनकर आलोचना करने वाला।

४. वृषभानुग आचार्य के पास सिंहानुग बनकर आलोचना करने वाला।

५. वृषभानुग आचार्य के पास वृषभ होकर आलोचना करने वाला।

६. वृषभानुग आचार्य के पास क्रोष्टानुग बनकर आलोचना करने वाला।

७. क्रोष्टानुग आचार्य के पास सिंहानुग होकर आलोचना करने वाला।

८. क्रोष्टानुग आचार्य के पास वृषभानुग होकर आलोचना करने वाला।

९. क्रोष्टानुग आचार्य के पास क्रोष्टानुग होकर आलोचना करने वाला।

इनके प्रायश्चित्त का विधान क्रमशः इस प्रकार है–

प्रथमभंग मासलघु, दूसरा-तीसरा भंग–मासगुरु, चौथा भंग चार लघुमास, पांचवा भंग मासलघु, छठा भंग गुरुमास, सातवां भंग चार गुरुमास, आठवां भंग चार लघुमास तथा नौवां भंग एक लघुमास।

५८९. दोहि वि गुरुगा एते, गुरुम्मि नियमा तवेण कालेणं।
वसभम्मि य तवगुरुगा, कालगुरू होंति भिक्खुम्मि॥

नौ भंगों में आलोचक आचार्य के लिए कथित प्रायश्चित्त दो प्रकार से गुरु होते हैं–तप से तथा काल से। आलोचक वृषभों के लिए ये ही प्रायश्चित्त तप से गुरु और काल से लघु होते हैं। आलोचक भिक्षुओं के लिए ये ही प्रायश्चित्त काल से गुरु और तप से लघु होते हैं।

५९०. लहुगा लहुगो सुद्धो, गुरुगा लहुगो य अंतिमो सुद्धो।
छल्लहु चउलहु लहुओ, वसभस्स तु नवसु ठाणेसु॥

सिंहानुग आदि तीन प्रकार के आलोचनार्ह वृषभ के समक्ष पूर्वोक्त नौ प्रकार के आलोचक आचार्यों के यथाक्रम यह प्रायश्चित्त है–

सिंहानुग वृषभ के समक्ष सिंहानुगता से आलोचना करने वाले आचार्य को चार लघुमास, वृषभ की तरह आलोचना करने वाले को लघुमास तथा क्रोष्टानुग की तरह आलोचना करने वाले को केवल तप। वृषभानुग के समक्ष सिंहानुगता से आलोचना करने वाले आचार्य को चार गुरुमास, वृषभानुगता से आलोचना करने वाले को लघुमास तथा क्रोष्टानुगता से आलोचना करने वाले को केवल तप। क्रोष्टानुगत वृषभ के समक्ष सिंहानुगता से आलोचना करने वाले आचार्य को छह लघुमास, वृषभानुगता से आलोचना करने वाले को चार लघुमास तथा कोष्टानुगता से आलोचना करने वाले को एक लघुमास।

५९१. दोहि वि गुरुगा एते, गुरुम्मि नियमा तवेण कालेणं।
वसभम्मि य तवगुरुगा, कालगुरू होंति भिक्खुम्मि॥

आलोचना करने वाले आचार्य के लिए ये प्रायश्चित्त दो स्थानों से गुरु होते हैं–तप तथा काल से। आलोचक वृषभ के लिए तप से गुरु और काल से लघु तथा आलोचक भिक्षु के लिए काल से गुरु और तप से लघु होते हैं।

५९२. चउगुरु चउलहु सुद्धो,
छल्लहु चउगुरुग अंतिमो सुद्धो।
छग्गुरु चउलहु लहुओ,
भिक्खुस्स तु नवसु ठाणेसु॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलोचनार्ह सिंहानुग भिक्षु के समक्ष आलोचना करने वाले आचार्य के लिए विहित प्रायश्चित्त–सिंहानुगता से चार गुरुमास, वृषभानुगता से चार लघुमास तथा क्रोष्टानुगता से शुद्ध।

वृषभानुग भिक्षु के समक्ष–सिंहानुगता से छह लघुमास, वृषभानुगता से चार गुरुमास, क्रोष्टानुगता से शुद्ध।

क्रोष्टानुग भिक्षु के समक्ष–सिंहानुगता से छह गुरुमास, वृषभानुगता से चार लघुमास तथा क्रोष्टानुगता से एक लघुमास। उत्कटुक स्थिति में आलोचना करने वाला शुद्ध। तीनों प्रकार के भिक्षुओं के पास आलोचना करने वाले आलोचक वृषभ नौ प्रकार के होते हैं।

५९३. दोहि वि गुरुगा एते, गुरुम्मि नियमा तवेण कालेणं।
वसभम्मि य तवगुरुगा, कालगुरू होंति भिक्खुम्मि॥

ये प्रायश्चित्त आचार्य के प्रति दोनों ओर से–तप से और काल से गुरु होते हैं, वृषभ के प्रति तप से गुरु और काल से लघु तथा भिक्षुओं के प्रति तप से लघु और काल से गुरु होते हैं।

५९४. सव्वत्थ वि सट्ठाणं, अमुंचमाणस्स मासियं लहुयं।
परठाणम्मि य सुद्धो, जइ उच्चतरे भवे इतरो॥

आलोचना करता हुआ भी यदि स्वस्थान[1] को नहीं छोड़ता तो सर्वत्र अर्थात् आचार्यत्व, वृषभत्व, भिक्षुत्व स्थान में प्रायश्चित्त है मासिक लघु। इसका तात्पर्य है आलोचनार्ह सिंहानुग आचार्य के पास सिंहानुग होकर ही आलोचना करता है तथा वृषभानुग के समक्ष वृषभानुग होकर ही आलोचना करता है तथा क्रोष्टानुग के समक्ष क्रोष्टानुग होकर ही आलोचना करता है–इन तीनों स्थानों में प्रत्येक का प्रायश्चित्त है मासिक लघु। यदि इतर अर्थात् आलोचनार्ह उच्चतरानुग हो तो आलोचना करने वाला नीचतरानुग होकर आलोचना करता है तो वह शुद्ध है।

५९५. चउगुरुगं मासो या, मासो छल्लहुग चउगुरू मासो।
छग्गुरु छल्लहु चउगुरु, बितियादेसे भव सोही॥

सिंहानुग के समक्ष सिंहानुग बनकर आलोचना करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त। सिंहानुग के समक्ष वृषभानुग बनकर आलोचना करने पर मासलघु। सिंहानुग के समक्ष क्रोष्टानुग बनकर आलोचना करने पर मासलघु। वृषभानुग के समक्ष सिंहानुग बनकर आलोचना करने पर छह लघुमास। वृषभानुग के समक्ष वृषभानुग बनकर आलोचना करने पर चार गुरुमास। वृषभानुग के समक्ष क्रोष्टानुग बनकर आलोचना करने पर लघुमास। क्रोष्टानुग के समक्ष सिंहानुग बनकर आलोचना करने पर छह गुरुमास। क्रोष्टानुग के समक्ष वृषभानुग बनकर आलोचना करने पर छह लघुमास। क्रोष्टानुग के समक्ष क्रोष्टानुग बनकर आलोचना करने पर चार गुरुमास। यह सदृश आसन पर बैठकर आलोचना करने का प्रायश्चित्त है। उत्कटुक होकर आलोचना करना शुद्ध है।

५९६. सव्वत्थ वि समासणे, आलोएंतस्स चउगुरू होंति।
विसमासण नीयतरे अकारणे अविहिए मासो॥

सर्वत्र–सिंहानुग, वृषभानुग तथा क्रोष्टानुग के सम आसन पर बैठकर आलोचना करने वाले को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। विषम आसन पर नीचे बैठकर आलोचना करता है तो उसे लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यह बिना कारण बैठने पर तथा आलोचना काल में अप्रमार्जना आदि के होने पर प्रत्येक के लिए यह प्रायश्चित्त विहित है।

५९७. मासादी पट्ठविते, जं अण्णं सेवती तगं सव्वं।
साहणिऊणं मासा, छद्दिज्जंते परे झोसो॥

प्रायश्चित्तकरण की प्रस्थापना करने के बाद यदि आलोचक दूसरे मास आदि की प्रतिसेवना करता है तो सबको एकत्र मिलाकर उसे छहमास का प्रायश्चित्त दिया जाता है। उसके ऊपर के प्रायश्चित्त का झोष–परित्याग कर दिया जाता है।

५९८. दुविहा पट्ठवणा खलु, एगमणेगा य होतऽणेगा य।
तवतिग परियत्ततिगं, तेरस ऊ जाणि य पदाणि॥

प्रायश्चित्त प्रस्थापना दो प्रकार की होती है–एक और अनेक। अनेक प्रस्थापना ये हैं–तपःत्रिक अर्थात् तपःस्थान तीन हैं–पहला तपःस्थान–एक मासिक तपःस्थान, दूसरा तपः-स्थान–द्वैमासिक से चतुःमासिक तपःस्थान तथा तीसरा तपःस्थान पंचमासिक षण्णमासिक तपःस्थान।

परिवर्तत्रिक अर्थात् प्रव्रज्यापर्याय का परिवर्तन करने वाले त्रिक–छेदत्रिक, मूलत्रिक तथा अनवस्थाप्यत्रिक तथा एक पारांचित। तपःत्रिक, परिवर्तत्रिक के नौ भेद तथा पारांचित–ये अनेक प्रस्थापना के तेरह पद हैं।

५९९. पट्ठविता ठविता या कसिणाकसिणा तहेव हाडहडा।
आरोवण पंचविहा, पायच्छित्तं पुरिसजाते॥

आरोपणा के पांच प्रकार हैं–प्रस्थापिता, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना तथा हाडहडा। यह पुरुष के लिए पांच प्रकार का आरोपणा प्रायश्चित्त है।

६००. पट्ठविता य वहंते, वेयावच्चट्ठिता ठवितगा उ।
कसिणा झोसविरहिता, जहि झोसो सा अकसिणा उ॥

जो आरोपित प्रायश्चित्त वहन करता है वह प्रस्थापिता आरोपणा है। वैयावृत्त्य करते हुए जो आरोपिता प्रायश्चित्त वहन

१. स्वस्थान के दो अर्थ है–स्वोचित उपवेशन स्थान तथा सदृश स्थान अर्थात् आचार्य, वृषभ अथवा भिक्षु के साथ उसी तरह का स्थान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है, वह स्थापित कर दिया जाता है, जब तक वैयावृत्त्य की परिसमाप्ति नहीं हो जाती। यह स्थापनिका आरोपणा है। कृत्स्ना आरोपणा वह है जिसमें झोष नहीं होता है। अकृत्स्ना आरोपणा वह है जिसमें कुछ झोष होता है। हाडहडा आरोपणा के तीन प्रकार हैं—सद्योरूपा स्थापिता और प्रस्थापिता। (इनका वर्णन अगले श्लोक में है।)

६०१. उग्घातमणुग्घातं, मासादि तवो उ दिज्जते सज्जं।
मासादी निक्खित्ते, जं सेसं तं अणुग्घातं॥

जो उद्घात—लघु, अनुद्घात—गुरु मासिक आदि तपः प्रायश्चित्त आता है और तत्काल सारा दे दिया जाता है। वह सद्योरूपा हाडहडा आरोपणा है। जो मासिक आदि प्रायश्चित्त को वैयावृत्त्य आदि के कारण निक्षिप्त कर दिया जाता है, फिर शेष उद्घात अथवा अनुद्घात प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, तब वह सारा प्रायश्चित्त अनुद्घात दिया जाता है। वह स्थापिता हाडहडा आरोपणा है।

६०२. छम्मासादि वहंते, अंतरे आवण्ण जा तु आरुवणा।
सा होति अणुग्घाता, तिन्नि विगप्पा तु चरिमाए॥

कोई आलोचक षाण्मासिक आदि तप का वहन कर रहा है और बीच में ही दूसरा प्रायश्चित्त प्राप्त हो जाता है तो उसे अनुद्घात की जो आरोपणा की जाती है वह प्रस्थापिता हाडहडा आरोपणा है। ये चरम हाडहडा के तीन विकल्प हैं।

६०३. सा पुण जहन्न-उक्कोस-
मज्झिमा होति तिन्नि तु विगप्पा।
मासो छम्मासा वा,
अजहन्नुक्कोस जे मज्झे॥

अथवा हाडहडा आरोपणा के तीन विकल्प ये हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। गुरुमास जघन्य है, छह गुरुमास उत्कृष्ट तथा इन दोनों के मध्य में जो मास हैं वे मध्यम हैं।

६०३/१. एगूणवीसति विभासितस्स हत्थादिवायणं तस्स।
आरोवणरासिस्स तु, वहंतगा होंतिमे पुरिसा॥

'जो भिक्षु हस्तकर्म करता है' इस सूत्र से प्रारंभ कर निशीथ के १९वें उद्देशक के अंतिम 'वाचनासूत्र' पर्यंत जो प्रायश्चित्त राशि कही गई है, उसको वहन करने वाले ये निम्नोक्त पुरुष होते हैं।

६०४. कयकरणा इतरे या, सावेक्खा खलु तहेव निरवेक्खा।
निरवेक्खा जिणमादी, सावेक्खा आयरियमादी॥

६०५. अकतकरणा वि दुविधा,
अणभिगता अभिगता य बोधव्वा।
जं सेवेति अभिगते,
अणभिगते अत्थिरे इच्छा॥

६०६. अहवा साविक्खितरे,
निरवेक्खा नियमसा उ कयकरणा।
इतरे कताऽकता वा,
थिराऽथिरा नवरि गीयत्था॥

६०७. छट्ठट्ठमादिएहिं, कयकरणा ते उ उभयपरियाए।
अभिगतकयकरणत्तं, जोगायतगारिहा केई॥
देखें—गाथा १५९, १६०, १६१, १६२।

६०८. सव्वेसिं अविसिट्ठा, आवत्ती तेण पढमता मूलं।
सावेक्खे गुरुमूलं, कताकते होति छेदो उ॥
देखें—गाथा १६६।

६०९. पढमस्स होति मूलं, बितिए मूलं च छेद छग्गुरुगा।
जतणाय होति सुद्धो, अजयण गुरुगा तिविधभेदो॥
देखें—गाथा १६५।

६१०. सावेक्खो त्ति च काउं, गुरुस्स कडजोगिणो भवे छेदो।
अकयकरणम्मि छग्गुरु, इति अड्ढोकंतिए नेयं॥

६११. अकयकरणा उ गीता,
जे य अगीता य अकय अथिरा य।
तेसावत्ति अणंतर,
बहुयंतरियं व झोसो वा॥

६१२. आयरियादी तिविधो, सावेक्खाणं तु किं कतो भेदो।
एतेसिं पच्छित्तं, दाणं चउण्णं अतो तिविधो॥

६१३. कारणकमारणं वा, जतणाऽजतण व नत्थिऽगीयत्थे।
एतेण कारणेणं, आयारियादी भवे तिविधा॥

६१४. कज्जाऽकज्ज जताऽजत, अविजाणंतो अगीतो जं सेवे।
सो होइ तस्स दप्पो, गीते दप्पाजते दोसा॥

६१५. दोसविभवाणुरूवो, लोए दंडो वि किमुत उत्तरिए।
तित्थुच्छेदो इहरा, निराणुकंपा न वि य सोही॥
देखें गाथा—१६७ से १७२।

६१६. तिविधे तेगिच्छम्मी, उज्जुग-वाउलण-साहणा चेव।
पण्णवणमणिच्छंते, दिट्ठंतो भंडिपोतेहिं॥

६१७. सुद्धालंभि अगीते, अजयणकरणकधणे भवे गुरुगा।
कुज्जा व अतिपसंगं, असेवमाणे व असमाधी॥

६१८. जा एगदेसे अदढा उ भंडी,
सीलप्पए सा करेति कज्जं।
जा दुब्बला संठविता वि संती,
न तं तु सीलेंति विसपण्णदारुं॥

६१९. जो एगदेसे अदढो उ पोतो,
सीलप्पए सो उ करेति कज्जं।
जो दुब्बलो संठवितो वि संतो,
न तं तु सीलंति विसण्णदारुं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखें—गाथा १७८ से १८१।

६२०. निव्वितिए पुरिमड्ढे, एक्कासण अंबिले चउत्थे य।
पण दस पण्णरसे या, वीसा तत्तो य पणुवीसा॥

६२१. मासो लहुगो गुरुगो, चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य।
छम्मासा लहु-गुरुगा, छेदो मूलं तध दुगं च॥

देखें—गाथा १६३, १६४।

६२२. एसेव गमो नियमा, मासा-दुमासादिगा तु संजोगा।
उग्घातमणुग्घाए, मीसम्मि य सातिरेगे य॥

यही विकल्प नियमतः मास, द्विमास आदि समस्त संयोगों में तथा उद्घात, अनुद्घात, मिश्र तथा सातिरेक मिश्र के विषय में जानना चाहिए।

६२३. एसेव गमो नियमा, समणीणं दुगविवज्जितो होति।
आयरियादीण जहा, पवित्तिणिमादीण वि तधेव॥

जो विकल्प श्रमणों के लिए कहे गये हैं वे ही विकल्प नियमतः श्रमणियों के लिए हैं। इनमें दो का वर्जन है—पारांचित और अनवस्थाप्य। श्रमणियों को यह प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर भी उनको यह नहीं दिया जाता। उन्हें परिहारतप का प्रायश्चित्त भी नहीं दिया जाता। जैसे आचार्य आदि के तीन भेद हैं, वैसे ही प्रवर्तिनी आदि के भी तीन भेद हैं—प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी तथा भिक्षुणी। आचार्य स्थानीय है प्रवर्तिनी, उपाध्याय स्थानीय है गणावच्छेदिनी तथा भिक्षु स्थानीय है भिक्षुणी। जैसे आचार्य आदि विषयक प्रायश्चित्त है वही प्रवर्तिनी आदि के विषय में जानना चाहिए।

६२४. परिहारियाण उ विणा, भवंति इतरेहि वा अपरिहारी।
मेरावसेसकधणं, इति मिस्सगसुत्तसंबंधो॥

पारिहारिक अपारिहारिक के बिना नहीं होते और अपारिहारिक पारिहारिक के बिना नहीं होते। पारिहारिक की मेरा—सामाचारी पूर्व सूत्र में बताई जा चुकी है। इस सूत्र में अवशिष्ट अपारिहारिक की मेरा का कथन है। यह मिश्रक सूत्र का पूर्व सूत्र के साथ संबंध है।

६२५. पुव्वंसि अप्पमत्तो, भिक्खू उववण्णितो भदंतेहिं।
एक्के दुवे व होज्जा, बहुया उ कहं समावण्णा॥

शिष्य कहता है—भदंत! आपने पहले कल्प अध्ययन में भिक्षु को अप्रमत्त के रूप में वर्णित किया है। फिर इनको परिहार-तप का प्रायश्चित्त कैसे आ सकता है? एक, दो हो सकते हैं, परंतु बहुतों को पारिहारिकतप कैसे प्राप्त हो सकता है?

६२६. चोदग बहुउप्पत्ती, जोधा व जधा तधा समणजोधा।
दव्वच्छलणे जोधा, भावच्छलणे समणजोधा॥

आचार्य ने कहा—वत्स! परीसहों को सहन न करने के कारण परिहारतप की प्राप्ति में बहुतों को होती है अतः पारिहारिकों के बाहुल्य की उत्पत्ति स्वाभाविक है। जैसे—रणभूमि में प्रविष्ट योद्धा छले जाते हैं वैसे ही श्रमणयोद्धा भी प्रमाद से छले जाते हैं। छलना दो प्रकार की होती है—द्रव्यछलना और भावछलना। द्रव्यछलना में योद्धा का उदाहरण है और भावछलना में श्रमणयोद्धा का उदाहरण है।

६२७. आवरिता वि रणमुहे, जधा छलिज्जंति अप्पमत्ता वि।
छलणा वि होति दुविहा, जीवंतकारी य इतरी य॥

आवृत्त—सन्नद्ध और अप्रमत्त योद्धा भी रणमुख—मोर्चे पर प्रतिभटों से छले जाते हैं। वह छलना दो प्रकार की है—जीवितांतकरी तथा इतरी—परितापनाकरी।

६२८. मूलगुण-उत्तरगुणे, जयमाणा वि हु तधा छलिज्जंति।
भावच्छलणाय जती, सा वि य देसे य सव्वे य॥

मूलगुण और उत्तरगुणों में यतमान मुनि भी योद्धा की भांति उसी प्रकार भावछलना से छले जाते हैं। भावछलना के दो प्रकार हैं—देशतः और सर्वतः। (जिससे तपोर्ह प्रायश्चित्त प्राप्त होता है वह देशतः भावछलना है और जिससे मूल प्रायश्चित्त आता है वह सर्वतः भावछलना है।)

६२९. एवं तू परिहारी, अप्परिहारी य हुज्ज बहुया उ।
तेगेंतो व निसीहिं, अभिसेज्जं वावि चेतेज्जा॥

इस प्रकार बहुत पारिहारिक और अपारिहारिक हो जाते हैं। वे एकांत में नैषेधिकी तथा अभिशय्या में जाने की इच्छा करते हैं।

६३०. ठाणं निसीहिय त्ति य, एगट्ठं जत्थ ठाणमेवेगं।
चेतेंति निसि दिया वा, सुत्तत्थनिसीहिया सा तु॥

६३१. सज्झायं काऊणं, निसीहियातो निसिं चिय उवेंति।
अभिवसिउं जत्थ निसिं, उवेंति पातो तई सेज्जा॥

स्थान और नैषेधिकी एकार्थक हैं। जहां केवल 'स्थान' ही स्वाध्याय निमित्तक होता है, जहां रात-दिन साधु सूत्रार्थ के लिए जाते हैं वह सूत्रार्थ नैषेधिकी है। जिस नैषेधिकी में दिन में स्वाध्याय कर दिन में और रात्री में स्वाध्याय कर रात्री में ही वसति में आ जाते हैं वह अभिनैषेधिकी कहलाती है। जहां दिन में अथवा रात्री में वहीं रहकर प्रातः वसति में आते हैं उसे अभिशय्या (अभिनिषद्या) कहा जाता है।

६३२. निक्कारणम्मि गुरुगा,कज्जे लहुगा अपुच्छणे लहुओ।
पडिसेहम्मि य लहुया, गुरुगमणे होंतऽणुग्घाता॥

जो निष्कारण अभिशय्या अथवा अभिनैषेधिकी में जाते हैं उन्हें चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। जो कार्य उत्पन्न होने पर वहां जाते हैं तो उन्हें चार लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कार्य समुत्पन्न होने पर भी जो बिना पूछे जाते हैं तो उन्हें एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। जो स्थविरों द्वारा निषेध करने पर भी जाते हैं तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु–आचार्य अभिशय्या अथवा अभिनैषेधिकी में जाते हैं तो उन्हें अनुद्घात चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

६३३. तेणादेस गिलाणे झामण इत्थी नपुंस मुच्छा य।
ऊणत्तणेण दोसा, हवंति एते उ वसधीए।

समर्थ वसतिपाल भिक्षु के वसति को छोड़कर अभिशय्या आदि में जाने से ये दोष उत्पन्न होते हैं। वसति को सूनी देखकर उसमें चोर घुस सकते हैं। आगंतुक अतिथि मुनियों का योगक्षेम नहीं हो सकता। ग्लान को असमाधि उत्पन्न हो सकती है। वसति में अग्नि प्रज्वलित हो सकती है, कोई उसे जला सकता है। वसति में कामविह्वल स्त्री-नपुंसक आ सकते हैं। किसी को मूर्च्छा आ सकती है। (इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए देखें–गाथा ६३४ से ६३७)।

६३४. दुविधाऽवहार सोधी, एसणघातो य जा य परिहाणी।
आएसमविस्सामण, परितावणता य एक्कतरे॥

अपहार (अपहरण) के दो प्रकार हैं–साधुओं का अपहार तथा उपधि का अपहार। दोनों प्रकार के अपहार में शोधि–प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[1] उपकरण, पात्र आदि के अपहार से एषणा की घात तथा सूत्रार्थ (सूत्रपौरुषी और अर्थ पौरुषी) की परिहानी होती है। वसतिपाल तथा साधुओं के अभिशय्या आदि में चले जाने पर जो अतिथि मुनि आते हैं, उनकी विश्रामणा नहीं होती और तब उनको अनागाढ़ अथवा आगाढ़ परितापना होती है। इसका भी वसतिपाल को अथवा अन्यान्य साधुओं को प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अथवा जब एक्कतर–अकेला एक वसतिपाल ही रहता है और अनेक अतिथि मुनि आ जाते हैं, और वह अकेला उनकी विश्रामणा करता है, तब भी उसे परितापना होती है। उस निमित्त से भी प्रायश्चित्त आता है।

६३५. आदेसमविस्सामण, परितावण तेसऽवच्छलत्तं च।
गुरुकरणे वि य दोसा, हवंति परितावणादीया॥

अतिथि मुनियों की विश्रामणा न करने पर वे परितापना का अनुभव करते हैं तथा अवात्सल्यकरण से प्रायश्चित्त आता है। जब कोई नहीं रहता तब गुरु स्वयं उनका वात्सल्य करते हैं। गुरु के भी परितापना आदि अनेक दोष होते हैं।[2]

६३६. सयकरणमकरणे वा, गिलाण परितावणा य दुहओ वि।
बालोवधीण दाहो, तदट्ठ अण्णे वि आलित्ते॥

ग्लान को दो प्रकार की परितापना होती है। यदि वह स्वयं उद्वर्तन आदि करता है अथवा नहीं करता है तो भी उसे परिताप होता है। इसके निमित्त भी प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वसति में आग लग जाने पर बाल मुनियों का तथा उपधि का दाह हो सकता है। उस उपधि को तथा बाल मुनियों को वसति से बाहर निकालने के लिए कोई अन्य व्यक्ति वसति में प्रवेश करता है तो कदाचित् वह भी जल सकता है। इसलिए उभयनिमित्तक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

६३७. इत्थी नपुंसगा वि य, ओमत्तणतो तिहा भवे दोसा।
अभिघात पित्ततो वा, मुच्छा अंतो व बाहिं व॥

वसति में थोड़े साधु हैं यह सोचकर स्त्रियां या नपुंसक वहां वसति में आ सकते हैं। उनके कारण तीन प्रकार के दोष हो सकते हैं–आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ तथा उभयसमुत्थ।[3]

वसति के बाहर या भीतर रहते हुए भी किसी प्रकार के अभिघात से तथा पित्त के प्रकोप से मूर्च्छा हो सकती है। उसके निमित्त से भी प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

६३८. जत्थ वि य ते वयंती,
अभिसेज्जं वा वि अभिणिसीधिं वा।
तत्थ वि य इमे दोसा,
होंति गयाणं मुणेयव्वा॥

जहां भी जो मुनि अभिशय्या और नैषेधिकी में (निष्कारण) जाते हैं वहां भी इन जाने वालों के ये दोष होते हैं।

६३९. वीयार तेण आरक्खि, तिरिक्खा इत्थिओ नपुंसा य।
सविसेसतरे दोसा, दप्पगयाणं हवंतेते॥

जो दर्पगत अर्थात् निष्कारण अभिशय्या आदि में जाते हैं, उन मुनियों के ये विशेष दोष होते हैं–विचारभूमि, स्तेन, आरक्षिक, तिर्यंच, स्त्रियां तथा नपुंसक।

(इनकी विस्तृत व्याख्या अगली गाथाओं में)

६४०. अप्पडिलेहियदोसा, अविदिन्ने वा हवंति उभयम्मि।
वसधीवाघातेण य, एंतमणिंते य दोसा उ॥

अप्रत्युपेक्षित विचारभूमि में जाने से ओघनिर्युक्ति में निर्दिष्ट

---

१. यदि स्तेन एक साधु का अपहार–अपहरण करते हैं तो वसतिपाल को मूल, दो का अपहार करने पर अनवस्थाप्य और तीन का अपहार करने पर पारांचित प्रायश्चित्त आता है। जघन्य उपधि के अपहार में पांच रात-दिन, मध्यम उपधि के अपहार में मासलघु और उत्कृष्ट उपधि के अपहार में चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त है।

२. गुरु जब स्वयं अतिथि मुनियों की सेवा में व्यापृत होते हैं तब शरीर की सुकुमारता के कारण अनागाढ़ अथवा आगाढ़ परितापना होती है। रोग से आक्रांत हो सकते हैं। सूत्रार्थहानि होती है। धर्मदेशना का व्याघात होता है। लोगों में यह अवर्णवाद होता है कि शिष्य कितने अविनीत हैं।

३. स्त्री को देखकर साधु का स्वयं क्षुब्ध होना–आत्मसमुत्थ दोष है। स्त्री आदि साधुओं को क्षुब्ध करती हैं यह परसमुत्थदोष है। स्वयं क्षुब्ध होना तथा स्त्री आदि को क्षुब्ध करना यह उभयसमुत्थदोष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारे दोष उत्पन्न होते है। शय्यातर के द्वारा अननुज्ञात विचार-भूमि में उभय अर्थात् उच्चार-प्रस्रवण करने पर शय्यातर वसति का व्यवच्छेद कर देता है। अभिशय्या से रात्री में मूल वसति में आते हुए मुनि के श्वापद आदि के कारण अनेक दोष प्राप्त हो सकते हैं तथा न आने पर भी दोषापत्ति होती है, क्योंकि अप्रत्युपेक्षित स्थान में रहने से संयमविराधाना हो सकती है।

६४१. सुण्णाइ गेहाइ उवेंति तेणा,
आरक्खिया ताणि य संचरंति।
तेणो त्ति एसो पुररक्खितो वा,
अन्नोन्नसंका अतिवायएज्जा॥

शून्य घर में चोर आते हैं इसलिए आरक्षिक वहां बार-बार आते-जाते हैं। अभिशय्या में पूर्व प्रविष्ट साधु को चोर समझकर अथवा अभिशय्या में पहले चोर घुस गया हो और फिर कोई साधु प्रवेश करता है तो उसे आरक्षिक समझकर—इस प्रकार अन्योन्य की आशंका से चोर अथवा आरक्षिक उस मुनि की हत्या कर सकते हैं।

६४२. दुगुंछिता वा अदुगुंछिता वा,
दित्ता अदित्ता व तहिं तिरिक्खा।
चउप्पया वाल सिरीसवा वा,
एगो व दो तिण्णि व जत्थ दोसा॥

चतुष्पद तिर्यंच दो प्रकार के होते हैं—जुगुप्सित तथा अजुगुप्सित। ये दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं—दृप्त तथा अदृप्त। व्याल, सरीसृप आदि भी तिर्यंच होते हैं। तिर्यंचों से एक, दो, तीन दोष होते हैं।

(एक दोष—आत्मविराधना, दो दोष—आत्मविराधना तथा संयमविराधना, तीन दोष—आत्मविराधना, संयमविराधना तथा उभयविराधना।)

६४३. संगारदिन्ना व उवेंति तत्था,
ओहा पडिच्छंति निलिच्छमाणा।
इत्थी नपुंसा च करेज्ज दोसे,
तस्सेवणट्ठा व उवेंति जे उ॥

मुनि को अभिशय्या अथवा नैषेधिकी में गया देखकर लोगों को यह आशंका होती है कि ये किसी स्त्री द्वारा दिये गये संकेत के आधार पर यहां आये हैं। अथवा ये स्त्रियां अथवा नपुंसक इनका ओघ—मुख देखते हुए प्रतीक्षा कर रहे हैं। ये मुनि उन स्त्रियों तथा नपुंसकों का सेवन करने के लिए आये हैं। वे लोग अभिघात, अवर्णवाद आदि दोषों की उद्भावना करते हैं।

६४४. कप्पति उ कारणेहिं अभिसेज्जं गंतुमभिनिसीधिं वा।
लहुगाओ अगमणम्मि, ताणि य कज्जाणिमाइं तु॥

कारण उत्पन्न होने पर अभिशय्या तथा नैषेधिकी में जाना कल्पता है। यदि वहां न जाए तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। वे कारण ये हैं—

६४५. असज्झाइय पाहुणए, संसत्ते वुट्ठिकाय सुयरहसे।
पढमचरमे दुगं तू, सेसेसु य होति अभिसेज्जा॥

वसति में अस्वाध्यायिक हो, अतिथि मुनियों के आ जाने से वसति संकरी हो गयी हो, वसति प्राणियों से संसक्त हो गयी हो, वसति में पानी चू रहा हो, श्रुतरहस्य अर्थात् छेदश्रुत के व्याख्याता चले गये हों। प्रथम अर्थात् अस्वाध्यायिक में तथा चरम अर्थात् श्रुतरहस्य—इन दो के कारण अभिशय्या तथा नैषेधिकी में जाना चाहिए। शेष कारणों से अभिशय्या में जाना चाहिए।

६४६. छेदसुत-विज्जमंता, पाहुड-अविगीत-महिसदिट्ठंतो।
इति दोसा चरमपदे, पढमपदे पोरिसीभंगो॥

वसति में छेदसूत्रों की वाचना देने पर अपरिणामक अथवा अतिपरिणामक शिष्य सुन सकता है। विद्या, मंत्र आदि कोई निर्धर्मा व्यक्ति सुन सकता है। योनिप्राभृत आदि की वाचना देते समय निर्धर्मा व्यक्ति सुनकर उसका दुरुपयोग कर सकता है। इस विषय में महिष का दृष्टांत है।[1] वसति में चरमपद—श्रुतरहस्य की वाचना देने से ये दोष उत्पन्न होते हैं तथा प्रथमपद—अस्वाध्यायिक में पौरुषीभंग होने का दोष उत्पन्न होता है। (पौरुषीभंग से प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।)

६४७. अतिसंघट्टे हत्थादिघट्टणं जग्गणे अजिण्णादी।
दोसु य संजमदोसा, जग्गण उल्लोवहीया वा॥

अतिसंकीर्ण वसति में यदि अनेक मुनियों का निवास होता है तो दिन में ज्यों-त्यों रह जाते हैं। परंतु रात्री में मुनियों का अतिसंघट्टन होता है। परस्पर हाथों का घट्टन होना है। इससे जागरण होता है। जागने से अजीर्ण आदि रोग होते हैं।

वसति प्राणियों से संसक्त हो गयी हो अथवा वसति में पानी चू रहा हो—इन दोनों में असंयम तथा संयमविराधना का दोष लगता है। वसति में पानी चूने के कारण उपधि गीले हो जाते हैं। रात्री में जागना पड़ता है, नींद नहीं आती।

६४८. दिट्ठं कारणगमणं, जइ उ गुरू वच्चती ततो गुरुगा।
ओराल इत्थि पेल्लण, संका पच्चत्थिया दोसा॥

कारण में अभिशय्या आदि में जाने की बात उपलब्ध है। यदि इन कारणों से गुरु—आचार्य अभिशय्या आदि में गमन करते हैं तो उनको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। (शिष्य ने पूछा—गुरु के गमन में क्या दोष है?) आचार्य कहते हैं—आचार्य प्रायः उदारशरीर वाले होते हैं। अभिशय्या आदि में जाने

१. देखें—व्यवहारभाष्य, परिशिष्ट ८, कथा सं. ३५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर स्त्रियां उन्हें उत्पीड़ित कर सकती हैं। शय्यातर को शंका हो सकती है। प्रतिवादी आदि प्रत्यर्थिक उनको असहाय देखकर उनका विनाश कर सकता है। आचार्य के गमन के ये दोष हैं।

६४९. गुरुकरणे पडियारी, भएण बलवं करेज्ज जे रक्खं।
कंदप्प-विग्गही वा, अचियत्तो ठाणदुट्ठो वा॥

जो आचार्य के करणविषय (शरीरविषय) के प्रतिचारक हैं, विश्रामक हैं, जो भयनिवारक हैं, बलवान होने के कारण जो आचार्य आदि की रक्षा करने में समर्थ हैं, जो कंदर्पशील हैं, जो विग्रहकारी हैं, जो अप्रीतिकर हैं, जो स्थानदुष्ट हैं—इनको वसति को छोड़कर अभिशय्या आदि में नहीं जाना चाहिए।

६५०. गंतव्व गणावच्छो, पवत्ति थेरे य गीतभिक्खू य।
एतेसिं असतीए, अग्गीते मेरकहणं तु॥

यदि अस्वाध्यायिक आदि कारण उत्पन्न होने पर साधुओं को अभिशय्या आदि में जाना हो तो वे गणावच्छेदक के नेतृत्व में जाएं। उनके अभाव में प्रवर्तक, उसके अभाव में स्थविर, उसके अभाव में गीतार्थ भिक्षु के नेतृत्व में वहां जायें। इन सबके अभाव में अगीतार्थ की निश्रा में जाएं। उसको मर्यादा—सामाचारी का कथन करे।

६५१. मज्झत्थोऽकंदप्पी, जो दोसे लिहति लेहओ चेव।
केसु य ते सीएज्जा, दोसेसुं ते इमे सुणसु॥

अगीतार्थ नायक मध्यस्थ हो तथा अकंदर्पी हो। यदि उसकी नेश्रा में आए हुए मुनि उसकी अवहेलना करें तो वह एक लेखक की भांति उनके दोषों को मन में लिखे।

आचार्य कहते हैं—वे मुनि किन दोषों में विषण्ण होते हैं, वे ये हैं। इनको तुम सुनो।

६५२. थेर-पवत्ती गीता, ऽसतीए मेरं कहंतऽगीयत्थे।
भयगोरवं च जस्स उ, करेंति सयमुज्जओ जो य॥

स्थविर, प्रवर्तक, गीतार्थ के अभाव में अगीतार्थ को यह सामाचारी बतला कर भेजा जाता है। वह अगीतार्थ ऐसा हो कि अन्य साधु उसका भय मानते हों तथा उसका यथोचित सम्मान करते हों। वह स्वयं उद्युक्त—अप्रमादी हो।

६५३. पडिलेहणऽसज्झाए, आवस्सग दंड विणय राइत्थी।
तेरिच्छ वाणमंतर, पेहा नहवीणि कंदप्पे॥

असमाचारीरूप दोष—प्रतिलेखन में, अस्वाध्याय में, आवश्यक दंडक आदि में, विनय में, राज्ञी विषयक, स्त्री विषयक, तिर्यंचों में, वानमंतर में, रथयात्रा आदि की प्रेक्षा में, नखवीणिका में, कंदर्प में। (इनका विवरण अग्रिम गाथाओं में।)

६५४. पडिलेहण सज्झाए, न करेंति हीणऽहियं च विवरीतं।
सेज्जोवहि-संथारे, दंडगउच्चारमादीसु॥

कुछ मुनि मूलतः प्रतिलेखना और स्वाध्याय नहीं करते। यदि करते हैं तो हीन-अधिक अथवा विपरीत रूप से करते हैं। इसी प्रकार वे शय्या, उपधि, संस्तारक, दंडक तथा उच्चारादिक भूमि की प्रतिलेखना नहीं करते अथवा हिनाधिक अथवा कालातिक्रांत में करते हैं।

६५५. न करेंताऽऽवासं वा, हीणहियनिविट्ठ पाउय निसण्णा।
दंडग्गहादि विणयं, रायणियादीण न करेंति॥

६५६. रायं इत्थिं तह अस्समादि वंतर रधे य पेहेंति।
तध नक्खवीणियादी, कंदप्पादी व कुव्वंति॥

आवश्यक मूलतः नहीं करते, हीन अथवा अधिकरूप में करते हैं, बैठकर, प्रावृत्त होकर अथवा सोकर आवश्यक करते हैं। दंड ग्रहण करते, रखते समय प्रतिलेखना नहीं करते। रत्नाधिक मुनियों का विनय नहीं करते। बाहर जाते हुए राजा की सवारी को, स्त्री को तथा अश्व आदि को, मार्ग से निकलते हुए व्यन्तर रथों को देखते हैं तथा कालप्रत्युपेक्षणा नहीं करते, नखों से वीणावादन करते हैं तथा कंदर्प आदि करते हैं।

६५७. एतेसु वट्टमाणे, अट्ठिय पडिसेहिए इमा मेरा।
हियए करेति दोसे, गुरुय कहिते स ददे सोधिं॥

इन क्रियाओं में प्रवर्तमान साधुओं को अगीतार्थ नायक यदि प्रतिषेध करने पर भी वे साधु इन क्रियाओं से विरत नहीं होते, तो यह मेरा—समाचारी है। वह नायक इन दोषों को हृदय में लिखकर गुरु को निवेदन करता है और तब गुरु उन साधुओं को शोधि—प्रायश्चित्त देते हैं।

६५८. अतिबहुयं पच्छित्तं, अदिन्न वाहे य रायकन्ना उ।
ठाणासति पाहुणए, न उ गमणं मास कक्करणे॥

शिष्य कहता है—अत्यधिक प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए। उससे व्रतपरिणाम की हानि होती है। आचार्य कहते हैं—आलोचना के अनुरूप प्रायश्चित्त न देने से शल्य का उद्धरण नहीं होता। इसमें व्याध का दृष्टांत है। शिष्य के प्रायश्चित्तस्थानों को जानता हुआ भी आचार्य यदि प्रायश्चित्त नहीं देता, उस अदत्त-प्रायश्चित्त-आचार्य के राजकन्या—अंतःपुरपालक का दृष्टांत वाच्य है। संकीर्ण वसति में प्राघूर्णक मुनियों के आ जाने पर उत्सर्गतः अभिशय्या आदि में न जाए। यदि कुछेक मुनियों को भेजना पड़े और वे जाने में हिचकिचाहट दिखाये तो उन्हें लघुमास का प्रायश्चित्त दे।

६५९. अति वेढिज्जति भंते! मा हु दुरुव्वेढओ भवेज्जाहि।
पच्छित्तेहि अकंडे, निद्दयदिण्णेहि भज्जेज्जा॥

शिष्य कहता है—भंते! अत्यधिक दिए जाने वाले प्रायश्चित्तों से वह वेष्टित हो जाता है, घिर जाता है। उन प्रायश्चित्तों का वहन कर, निर्वेष्टक हो जाना, अत्यंत कष्टप्रद है। अकांड अर्थात् जहां-तहां पग-पग पर निर्दयता से दिए गए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायश्चित्तों से वह टूट जाता है, उसका परिणाम नष्ट हो जाता है।

६६०. तं दिज्जउ पच्छित्तं, जं तरती सा य कीरती मेरा।
जा तीरति परिहरिउं, मोसादि अपच्चओ इहरा॥

इसलिए उतना प्रायश्चित्त दें जितना वह वहन कर सके तथा मर्यादा ऐसी करें जिसका वह पालन कर सके। प्रभूत प्रायश्चित्त देने पर गुरु और शिष्य दोनों को मृषादोष लगता है तथा शिष्य में अप्रत्यय भी उत्पन्न होता है।

६६१. जो जत्तिएण सुज्झति, अवराधो तस्स तत्तियं देति।
पुव्वामियं परिकहितं, घड-पडादिएहि नाएहि॥

शिष्य के इस आक्षेप पर आचार्य कहते हैं—शिष्य! जो अपराध जितने प्रायश्चित्त से शुद्ध होता है, उतनी मात्रा में ही प्रायश्चित्त दिया जाता है। घट, पट आदि दृष्टांतों से यह तथ्य पहले ही बताया जा चुका है।

६६२. कंटगमादिपविद्धे, नोद्धरति सयं न भोइए कहति।
कमढीभूत वणगते, आगलणं खोभिता मरणं॥

एक व्याध जंगल में गया। पैर कांटों आदि से बींध गये। न उसने स्वयं कांटे निकाले और न घर जाकर पत्नी से कहा। दूसरे दिन उन्हीं पैरों वन में गया। एक हाथी पीछे दौड़ा। व्याध कमठीभूत (स्तब्ध, जड़ीभूत) हो गया। हाथी को निकट आया जानकर वह क्षुब्ध हो गया। वह विकल होकर नीचे गिर पड़ा। हाथी द्वारा कुचले जाने पर वह मर गया।

६६३. बितिओ सयमुद्धरती, अणुद्धिए भोइयाय णीहरति।
परिमद्दण दंतमलादि पूरण धाडण पलातो व्व॥

दूसरा व्याध जंगल में गया। उसके पैर कांटों से बींध गये। उसने स्वयं उन काटों को निकाला। जिनको वह निकाल नहीं सका, अपनी पत्नी से कहकर निकलवाए। फिर कांटों के वेधस्थानों का अंगूठे से मर्दन किया, दांतों और कानों के मल से उन वेधस्थानों को भरा। पैर ठीक हो गये। दूसरी बार वन में गया। हाथी के द्वारा देखे जाने पर भी—पीछा करने पर भी वह पलायन कर घर पहुंच गया।

६६४. वाहत्थाणी साधू, वाहि गुरू कंटकादि अवराधा।
सोही य ओसधाइं, पसत्थनातेणुवणओ उ॥

व्याधस्थानीय साधु, व्याधी (व्याध की पत्नी) स्थानीय गुरु, कंटकादि स्थानीय अपराध, औषधि (दंतमल आदि) स्थानीय शोधि। व्याध संबंधी दो दृष्टांतों में से प्रशस्त व्याध-दृष्टांत से उपनय करना चाहिए।

६६५. पडिसविते उवेक्खति, न य णं उव्वीलते अकुव्वंतं।
संसारहत्थिहत्थं, पावति विवरीतमितरो उ॥

इतर अर्थात् आचार्य भी यदि प्रतिसेवना करने वालों की उपेक्षा करते हैं, जो प्रायश्चित्त का वहन नहीं करने वालों की ताड़ना-प्रताड़ना नहीं करते, वे आचार्य पद के विपरीत फल—संसाररूपी हस्तिहस्त अर्थात् दुस्तर संसार को प्राप्त होते हैं।

६६६. आलोयणालोयण, गुणा य दोसा य वण्णिया एते।
अयमन्नो दिट्ठंतो, सोहिमदेंते य देंते य॥

आलोचना के गुण और अनालोचना के दोषों का वर्णन किया गया है। जो शोधि—प्रायश्चित्त नहीं देते अथवा देते हैं, उनसे संबंधित यह दूसरा दृष्टांत है।

६६७. निज्जूहादि पलोयण, अवारण पसंग अग्गदारादी।
धुत्तपलायण निवकहण दंडणं अन्नठवणं च॥

राजा की कन्याएं गवाक्ष आदि स्थानों से अवलोकन करती थीं। कन्यान्तःपुरपालक उनका वारण नहीं करता था। वे कन्याएं अग्रद्वार आदि स्थानों पर स्वेच्छा से घूमती थीं। एक बार किसी धूर्त्त व्यक्ति के साथ पलायन कर गईं। राजा को वृत्तांत बताया गया। राजा ने उस अंतःपुरपालक को दंडित किया और दूसरे कन्यांतःपुरपालक को वहां रखा।

६६८. निज्जूहगतं दट्ठुं, बितिओ अन्नो उ वाहरित्ताणं।
विणय करेति तीसे, सेसमयं पूयणा रण्णा॥

अन्य दूसरे कन्यान्तःपुरपालक ने एक बार एक राजकन्या को गवाक्ष में देखा, उसे बुलाकर विनय—उपालंभ देते हुए शिक्षा दी। यह देखकर शेष सभी कन्याओं के मन में भय उत्पन्न हो गया। राजा ने उस अंतःपुरपालक की पूजा अर्थात् सत्कार-सम्मान किया। इस दृष्टांत का यह उपनय है—

६६९. राया इव तित्थयरा, महत्तर गुरू तु साधु कन्नाओ।
ओलोयण अवराहा, अपसत्थपसत्थगोवणओ॥

राजास्थानीय तीर्थंकर, महत्तर (कन्यान्तःपुरपालक) स्थानीय गुरु, कन्या स्थानीय साधु, अवलोकन स्थानीय अपराध। यहां अप्रशस्त तथा प्रशस्त कन्यातःपुरपालक दोनों से उपनय करना चहिए।[1]

६७०. असज्झाइए असंते, ठाणासति पाहुणागमे चेव।
अन्नत्थ न गंतव्वं, गमणे गुरुगा तु पुव्वुत्ता॥

अस्वाध्यायिक न होने पर, प्राघूर्णक साधुओं के आगमन से वसति में स्थान का अभाव होने पर भी अन्यत्र अर्थात् अभिशय्या आदि में न जाए। वहां जाने पर पूर्वोक्त चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

६७१. वत्थव्वा वारंवारएण, जग्गंतु मा य वच्चंतु।
एमेव य पाहुणए, जग्गण गाढं अणुव्वाए॥

१. जो आचर्य प्रमादी शिष्यों का वारण नहीं करता, प्रायश्चित्त नहीं देता, वह नष्ट हो जाता है, प्रथम कन्यांतःपुरपालक की भांति। जो प्रमादी शिष्यों को प्रमाद से निवारण करता है, अपराध के योग्य प्रायश्चित्त देता है वह पूजित होता है, दूसरे कन्यांतःपुरपालक की भांति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(इस स्थिति में यह यतना दी जा सकती है।) वहां के वास्तव्य साधु बारी-बारी से जागते रहें। (यदि यह संभव न हो तो) जो प्राघूर्णक साधु अधिक परिश्रांत न हुए हों उन्हें इसी प्रकार बारी-बारी से जागरण के लिए कहे किंतु अभिशय्या आदि में गमन न करे।

६७२. एमेव य संसत्ते, देसे अगलंतए य सव्वत्था।
अम्हवहा पाहुणगा, उवेंति रिक्का उ कक्करणा॥

इसी प्रकार प्राणीसंसक्त उपाश्रय में जिस प्रदेश में वह असंसक्त हो, तथा जहां पानी न चूता हो, वैसे प्रदेश में यतनापूर्वक रहे। यदि वसति सर्वत्र संसक्त हो अथवा पानी चू रहा हो तो अभिशय्या में जाया जा सकता है। यह कहना कि ये प्राघूर्णक रिक्त हैं, हमारे वध के लिए आये हैं, यह कक्करण भाषा है।

६७३. बितियपयं आयरिए, निद्दोसे दूरगमणऽणापुच्छा।
पडिसेहिय गमणम्मी, तो तं वसभा बला नेंति॥

आचार्य विषयक यह द्वितीय पद अर्थात् अपवाद पद है। क्षेत्र या स्थान निर्दोष है, अभिशय्या दूर है, वहां दूरगमन और अनापृच्छा तथा प्रतिषेधित स्थान के गमन में यदि वृषभ मुनि आचार्य को बलात् ले जायें तो आचार्य वहां जाते हैं।

६७४. जत्थ गणी न वि णज्जति,
भद्देसु य जत्थ नत्थि ते दोसा।
तत्थ वयंतो सुद्धो,
इयरे वि वयंति जयणाए॥

जहां 'ये आचार्य हैं', ऐसी पहचान नहीं होती, जहां भद्रक लोगों में अपवाद नहीं होता, जहां स्त्री आदि समुत्थ दोष नहीं होते, वैसी अभिशय्या में जाते हुए आचार्य शुद्ध हैं। दूसरे भी जो यतनापूर्वक जाते है, वे भी शुद्ध हैं।

६७५. वसधीय असज्झाए, सण्णादिगतो य पाहुणे दट्ठुं।
सोउं च असज्झायं, वसधिं उवेंति भणति अन्ने॥

६७६. दीवेध गुरूण इमं, दूरे वसही इमो वियालो य।
संथार-काल-काइयभूमी पेहट्ठ एमेव॥

वसति में अस्वाध्यायिक है, स्वयं संज्ञाभूमि में गया है, प्राघूर्णक साधुओं को आते देखकर, अथवा संज्ञाभूमि में गया हुआ वह सुनता है कि वसति में अस्वाध्यायिक हो गया है तो वह गुरु को बिना पूछे ही अभिशय्या में चला जाता है और जो वसति में जा रहे हैं उन्हें कहता है—तुम गुरु को निवेदित कर देना कि वसति से अभिशय्या दूर है और यह विकाल वेला है अतः आपको बिना पूछे ही मैं संस्तारक भूमि, कालभूमि तथा कायिकीभूमि की प्रेक्षा के लिए अभिशय्या में गया हूं।

६७७. एमेव य पडिसिद्धे, सण्णादिगतस्स किंचि पडिपुच्छा।
तं पि य होढा असमिक्खिऊण पडिसेहितो जम्हा॥

इसी प्रकार गुरु ने किसी साधु को अभिशय्या में जाने का निषेध कर दिया। वह साधु संज्ञा आदि भूमि में गया और पूर्ववत् स्थिति आ गयी तो वह किसी वृषभ को पूछ लेता है। यह भी गुरु को पूछने जैसा है। वृषभ कहता है—असमीक्षा के कारण तुम्हारा प्रतिषेध हुआ है, इसलिए गुरु कुछ कहेंगे तो हम उनको विश्वास दिला देंगे।

६७८. जाणंति व णं वसभा, अधवा वसभाण तेण सब्भावो।
कहितो न मेत्थ दोसो, तो णं वसभा बला नेंति॥

वृषभ स्वयं उसे जानते हैं अथवा उसने वृषभों को यथार्थ बात बता दी और कहा—मेरा कोई दोष नहीं है। यह सुनकर वृषभ उसे बलात् अभिशय्या में ले जाते हैं।

६७९. अभिसेज्ज अभिनिसीहिय,
एक्केक्का दुविध होंति नायव्वा।
एगवगडाय अंतो,
बहिया संबद्धऽसंबद्धा॥

अभिशय्या और अभिनैषेधिकी—प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—वसति के परिक्षेप के भीतर तथा एक बाहर। प्रत्येक अभिशय्या संबद्ध तथा असंबद्ध—दो प्रकार की होती है।

६८०. जा सा तु अभिनिसीधिय,
सा नियमा होति तू असंबद्धा।
संबद्धमसंबद्धा,
अभिसेज्जा होति नायव्वा॥

जो अभिनैषेधिकी होती है, वह नियमतः असंबद्ध होती है। अभिशय्या संबद्ध और असंबद्ध—दोनों प्रकार की जाननी चाहिए।

६८१. धरमाणच्चिय सूरे, संथारुच्चार-कालभूमीओ।
पडिलेहितऽणुग्गविते, वसभेहि वयंतिमं वेलं॥

अभिशय्या के शय्यातर की आज्ञा लेकर सूर्यास्त से पूर्व अभिशय्या में संस्तारक, उच्चार तथा कालभूमि की प्रत्युपेक्षा कर उसी वेला में पुनः वसति में लौट आते हैं।

६८२. आवस्सगं तु काउं, निव्वाघातेण होति गंतव्वं।
वाघातेण तु भयणा, देसं सव्वं वऽकाऊणं॥

वसति में आचार्य के साथ आवश्यक कर निर्व्याघात होने पर पुनः अभिशय्या में जाएं। व्याघात होने पर गमन की भजना है। वह यह है—देशतः आवश्यक न करके अथवा सर्वतः आवश्यक न करके।

६८३. तेणा सावय वाला, गुम्मिय आरक्खि ठवण पडिणीए।
इत्थि-नपुंसग-संसत्त-वास-चिक्खल्ल-कंटे य॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याघात कौन-कौन से हैं—स्तेन, श्वापद, व्याल, गौल्मिक[1], आरक्षक, स्थापना—कहीं यह नियम हो कि सूर्यास्त के पश्चात् सड़कों पर कोई न घूमे, प्रत्यनीक—घात करने के लिए गुप्तस्थान में स्थित व्यक्ति, स्त्री तथा नपुंसक, प्राणियों से संसक्त मार्ग, वर्षा, पंकिल मार्ग, कंटकाकीर्ण मार्ग—इन व्याघात के कारणों से देशतः अथवा सर्वतः आवश्यक किये बिना ही अभिशय्या में चले जाते हैं।

६८४. थुतिमंगलकितिकम्मे,काउस्सग्गे य तिविधकितिकम्मे।
तत्तो य पडिक्कमणे, आलोयण अकयकितिकम्मे॥

स्तुतिमंगल, कृतिकर्म, तीन प्रकार का कायोत्सर्ग, कायोत्सर्ग के पूर्व किया जाने वाला कृतिकर्म, प्रतिक्रमण, आलोचना तथा पुनः कृतिकर्म—ये सब न करना या अधूरे करना देशतः आवश्यक न करना कहलाता है।

६८५. काउस्सग्गमकाउं, कितिकम्मालोयणं जहण्णेणं।
गमणम्मि उ एस विधी, आगमणम्मी विहिं वोच्छं॥

कायोत्सर्ग बिना किये अर्थात् समस्त आवश्यक किये बिना अभिशय्या में जाने की विधि यह है। मुनि जघन्यतः कृतिकर्म अर्थात् सभी मुनियों को वंदना कर तथा आलोचना कर फिर अभिशय्या में जाए। अभिशय्या से लौटने की विधि बतलाऊंगा।

६८६. आवस्सगं अकाउं, निव्वाघाएण होति आगमणं।
वाघायम्मि उ भयणा, देसं सव्वं च काऊणं॥

निर्व्याघात होने पर आवश्यक किये बिना ही अभिशय्या से वसति में आगमन होता है। आकर गुरु के साथ आवश्यक करते हैं। व्याघात होने पर यह विकल्प है—देशतः अथवा सर्वतः आवश्यक करके आना होता है।

६८७. काउस्सग्गं काउं, कितिकम्मालोयणं पडिक्कमणं।
कितिकम्मं तिविहं वा, काउस्सग्गं परिण्णाय॥

देशतः आवश्यक की सीमा—एक, दो, तीन कायोत्सर्ग करना, फिर कृतिकर्म, फिर आलोचना और प्रतिक्रमण, तदनंतर तीन कृतिकर्म, फिर कायोत्सर्ग तथा प्रत्याख्यान करना—यह देशतः आवश्यक है।

६८८. थुतिमंगलं च काउं, आगमणं होति अभिनिसेज्जाओ।
बितियपदे भयणा ऊ गिलाणमादीसु कायव्वा॥

प्रत्याख्यान के बाद स्तुति-मंगल कर अभिशय्या से प्रत्यागमन होता है। (गुरु के समीप ज्येष्ठ मुनि आलोचना कर प्रत्याख्यान ग्रहण करता है। फिर शेष मुनि आलोचना-प्रत्याख्यान तथा वंदनक देते हैं।) अपवाद में ग्लान आदि विषयक भजना है।

६८९. गेलण्णवास महिया, पदुट्ठ अंतेपुरे निवे अगणी।
अधिगरण हत्थिसंभम, गेलण्ण निवेयणा नवरिं॥

ग्लान के कारण, वर्षा, मिहिका, मार्ग में प्रद्विष्ट बैठा हो, राजा का अंतःपुर बाहर निकला हो, राजा ने यह घोषणा करवाई हो—कोई पुरुष सड़कों पर न घूमे, अथवा राजा की सवारी आ रही हो, मार्ग में आग लगी हो, कलह हो गया हो, हस्तीसंभ्रम—हाथी आलान तोड़कर निकल गया हो—इन कारणों से अभिशय्या से मूल वसति में नहीं आते। इनमें आगाढ़ ग्लानत्व हो जाने पर गुरु को निवेदन करना चाहिए।

६९०. परिहारो खलु पगतो, अदिन्नगं वावि पावपरिहारं।
सक्खेत्तनिग्गमो वा, भणितो इमगं तु दूरे वि॥

प्रस्तुत में परिहार का ही प्रसंग है। पूर्व सूत्र में यह कहा गया था कि स्थविरों द्वारा अननुज्ञात अभिशय्या अथवा नैषेधिकी में जाता है तो वह परिहार को प्राप्त होता है। पूर्व सूत्र में प्रत्यासन्न अभिशय्या विषयक चर्चा थी। प्रस्तुत में दूर निर्गमन की बात है।

६९१. पडिहारियगहणेणं,
भिक्खुग्गहणं ति होति किं न गतं।
किं च गिहीण वि भण्णति,
गणि-आयरियाण पडिसेधो॥

पारिहारिक के ग्रहण से क्या भिक्षु का ग्रहण नहीं हो जाता? क्या गृहस्थों के भी पारिहारिकत्व होता है? (इसलिए भिक्षु का ग्रहण निरर्थक है।) आचार्य कहते हैं—गणी और आचार्य का[2] प्रतिषेध करने के लिए भिक्षु का ग्रहण किया गया है।

६९२. वेयावच्चुज्जमणे, गणि-आयरियाण किण्णु पडिसेधो।
भिक्खुपरिहारिओ वि हु, करेति किमुतायरियमादी॥

शिष्य कहता है—वैयावृत्त्य में उद्यम करने के प्रसंग में गणी और आचार्य का प्रतिषेध क्यों किया गया? पारिहारिक भिक्षु भी संघवैयावृत्त्य करता है तो फिर आचार्य आदि क्यों नहीं करते?

६९३. जम्हा आयरियादी, निक्खिविऊणं करेति परिहारं।
तम्हा आयरियादी, वि भिक्खुणो होंति नियमेणं॥

आचार्य आदि जब परिहारतप का वहन करते हैं तब उतने काल तक वे अपने पद से मुक्त होकर नियमतः भिक्षु की भूमिका में आ जाते हैं।

६९४. परिहारिओ उ गच्छे, सुत्तत्थविसारओ सलद्धीओ।
अन्नेसिं गच्छाणं, इमाइ कज्जाइ जायाइं॥

६९५. अकिरिय जीए पिट्ठण, संजमबद्धे य लब्भऽलब्भंते।
भत्तपरिण्णगिलाणे, संजमऽतीते य वादी य॥

---

१. ये सामूहिक रूप से नगर में घूमते हैं। ये आरक्षकों से विशेष होते हैं।

२. गणी का अर्थ है—गच्छाधिपति और आचार्य का अर्थ है—अनुयोगाचार्य—उपाध्याय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गच्छ में पारिहारिकतप वहन करने वाला एक मुनि सूत्रार्थ-विशारद तथा अनेक लब्धियों से सम्पन्न है। उसको अन्य गच्छों में सूत्रार्थ की प्रतिपृच्छा के निमित्त अथवा ये प्रयोजन उपस्थित हो जाने पर भेजा जाता है। वे प्रयोजन ये हैं—

१. अक्रियावादी वाद करना चाहता है।

२. राजा प्रद्विष्ट हो गया है।

३. साधुओं की पिटाई होती है।

४. संयम से च्युत करता है।

५. साधुओं को बंधन में डाल देता है।

६. साधुओं को वहां भक्त-पान का लाभ होता भी है, नहीं भी होता?

७. किसी मुनि ने भक्तप्रत्याख्यान कर लिया है।

८. कोई आचार्य आदि ग्लान हो गये हैं।

९. कई मुनि संयमातीत—उत्प्रव्रजित हो गये हैं।

१०. प्रबल वादी प्रस्तुत हुआ है।

६९६. न वि य समत्थो वन्नो, अहयं गच्छामि निक्खिवय भूमिं।
सरमाणेहि य भणियं, आयरिया जाणगा तुज्झं॥

वादी के निग्रह के प्रसंग में अथवा अन्य प्रयोजनों के प्रसंग में आचार्य सोचते हैं—इस पारिहारिक मुनि के अतिरिक्त कोई दूसरा मुनि प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है, अथवा वह पारिहारिक स्वयं कहता है—मैं ही उस प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ हूं, अतः मैं वहां जाता हूं। तब आचार्य—'यह मुनि परिहारतप का वहन कर रहा है यह स्मरण कर उसे कहते हैं—मुने! तुम अपनी पारिहारकतप की भूमिका को, प्रयोजन को सिद्ध कर लौट कर आने तक, निक्षिप्त करो—स्थगित करो।' यदि वह स्थगित करता है तो स्थगित कराए और यदि वह कहे—'मैं यह प्रायश्चित्त भी वहन कर लूंगा और साथ ही साथ प्रयोजन भी सिद्ध कर लूंगा' तब आचार्य उसको कहे—जहां तुम जा रहे हो, वहां के आचार्य जो कहे वह करो।

६९७. जाणंता माहप्पं, कहेंति सो वा सयं परिकधेति।
तत्थ स वादी हु मए, वादेसु पराजितो बहुसो॥

आचार्य उस पारिहारिक मुनि का माहात्म्य—शक्ति को जान कर स्वयं कहते हैं—उस वादी का निग्रह करने में तुम ही समर्थ हो, दूसरा कोई नहीं, अथवा वह पारिहारिक स्वयं यह बात कहते हुए बताता है कि मैंने उस वादी को अनेक बार वादों में पराजित किया है।

६९८. चोएति कहं तुब्भे, परिहारतवं गतं पवण्णं तु।
निक्खिविउं पेसेहा, चोदग! सुण कारणमिणं तु॥

शिष्य आचार्य से पूछता है—भंते! जिस मुनि ने परिहारतप स्वीकार किया है, जो उसका वहन कर रहा है, उसको परिहारतप को निक्षिप्त कर अन्यत्र कैसे भेज सकते हैं? क्यों भेजते हैं? आचार्य कहते हैं—वत्स! तुम इसका कारण सुनो।

६९९. तिक्खेसु तिक्खकज्जं, सहमाणेसु य कमेण कायव्वं।
न य नाम न कायव्वं कायव्वं वा उवादाए॥

अनेक प्रकार के तीक्ष्ण—प्रधान कार्यों में जो तीक्ष्णतर—प्रधानतर कार्य है उसको पहले करना चाहिए। जो शेष सहमान कार्य हैं उनको क्रमशः करना चाहिए। उनको करना ही नहीं, यह बात नहीं है, किंतु उनकी प्राथमिकता-अप्राथमिकता को सोच कर उनका संपादन करना चाहिए।

७००. वणकिरियाए जा होति, वावडा जर-धणुग्गहादीया।
काउमुवद्दवकिरियं, समेंति तो तं वणं वेज्जा॥

७०१. जह आरोग्गे पगतं, एमेव इमं पि कम्मखवणेणं।
इहरा उ अवच्छल्लं, ओभावण तित्थहाणी य॥

चिकित्सक व्रणक्रिया प्रारंभ करते है, परंतु बीच में यदि ज्वर, धनुग्रह (वातविशेष) आदि का उपद्रव सामने आ जाते हैं तो चिकित्सक पहले इन उपद्रवों को शांत करने की क्रिया करते हैं और तदंतर मूल व्रण का शमन करते हैं। जैसे वैद्यक्रिया में जिससे आरोग्य होता है उसको पहले करते हैं, शेष का शमन बाद में किया जाता है। इसी प्रकार मोक्षानुष्ठान में जिस क्रिया से कर्मक्षय शीघ्र होता है, उसको पहले किया जाता है। परिहारतप का निक्षेप कर परिहारी पहले संघकार्य करता है अन्यथा अवात्सल्य प्रत्ययिक, अवधावन या अपभ्राजन प्रत्ययिक तथा तीर्थहानि प्रत्ययिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

७०२. अप्परिहारी गच्छति, तस्सऽसतीए व जो उ परिहारी।
उभयम्मि वि अविरुद्धे, आयरहेतुं तु तग्गहणं॥

यदि प्रयोजन सिद्ध करने में अपारिहारिक मुनि समर्थ हो तो वह जाता है। उसके अभाव में पारिहारिक मुनि जाता है। दोनों का जाना अविरुद्ध है। सूत्र में जो पारिहारिक का ग्रहण किया गया है वह आदरसूचित करने के हेतु से है। जहां पारिहारिक जाते हैं वहां सदा अपारिहारिक को भी जाना चाहिए, यह इससे ख्यापित होता है।

७०३. संविग्गणुण्णजुतो, असती अमणुण्णमीसपंथेण।
समणुण्णेसुं भिक्खं, काउं वसतेऽमणुण्णेसुं॥

पारिहारिक मुनि जब प्रस्थित होता है तब उसके साथ एक संविग्न मुनि और एक मनोज्ञ मुनि को सहायक के रूप में देना चाहिए। मनोज्ञ मुनि के अभाव में अमनोज्ञ मुनि भी सहायक हो सकता है। इस प्रकार वह मिश्र—साधर्मिक-असाधर्मिक से युक्त पथ से जाए। वह पारिहारिक समनोज्ञों में भिक्षा कर समनोज्ञों में रहता है। यहां इस विषयक चार भंग हैं—

१. मनोज्ञों में भिक्षा कर मनोज्ञों में रहना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. मनोज्ञों में भिक्षा कर अमनोज्ञों में रहना।
३. अमनोज्ञों में भिक्षा कर मनोज्ञों में रहना।
४. अमनोज्ञों में भिक्षा कर अमनोज्ञों में रहना।

(गाथा के उत्तरार्ध में प्रथम भंग का पूर्वार्द्ध और अंतिम भंग का उत्तरार्द्ध लिया है।)

७०४. एमेव य संविग्गेऽसंविग्गे चेव एत्थ संजोगा।
पच्छाकड साभिग्गह, सावग-संविग्ग पक्खी य॥

जिस प्रकार संविग्न सांभोगिक तथा असांभोगिक की चतुर्भंगी के आधार पर भिक्षावसति का निरूपण दिया गया है, इसी प्रकार संविग्न अथवा असंविग्न सांभोगिक के प्रसंग में भिक्षावसति के संयोग जानने चाहिए। इसी प्रकार असंविग्न सांभोगिक पश्चात्कृत साभिग्रह और निरभिग्रह श्रावकों में, यदि उनमें भी संभव न हो तो संविग्नपाक्षिक और असंविग्नपाक्षिक श्रावकों में प्रत्येक के चार-चार संयोग करने चाहिए। (यह गाथा का अक्षरार्थ है। विस्तार के लिए देखें वृत्ति पत्र ७३,७४।)

७०५. आहारोवहि-झाओ, सुंदरसेज्जा वि होति हु विहारो।
कारणतो तु वसेज्जा, इमे उ ते कारणा होंति॥

यहां आहार और उपधि अच्छे प्राप्त होते हैं। यहां स्वाध्याय का निर्वहन सुखपूर्वक होता है। यहां की शय्या–वसति सुंदर है–यदि इस प्रत्यय से विहार होता है, जाना होता है तो वहां रहना नहीं कल्पता। यदि कारणवश वहां रहना पड़े तो वे कारण ये हैं–

७०६. उभतो गेलण्णे वा, वास नदी सुत्त अत्थ पुच्छा वा।
विज्जानिमित्तगहणं, करेति आगाढपण्णे वा॥

वही पारिहारिक मुनि जाता हुआ ग्लान हो जाता है अथवा अन्य ग्लान की परिचर्या के लिए वहां रहना पड़े, वर्षा पड़ रही हो, बीच में नदी का पूर आ गया हो, या सूत्र और अर्थ की पृच्छादान के निमित्त, विद्या तथा निमित्तविद्या के ग्रहण के निमित्त उतने दिन तक रहता है, कुछेक मुनि आगाढ़योग में प्रविष्ट हैं, उनके आचार्य कालगत हो गए हों, उनको वाचना देने तक वहां रहे, या ऐसा कोई ग्रंथ प्राप्त हो गया जिसको पढ़ने से प्रज्ञावान् होता है–इन कारणों से वह वहां रह सकता है।

७०७. वहमाण अवहमाणो, संघाडेगेण वा असतिं एगो।
असती मूलसहाए, अन्ने वि सहायए देंति॥

संघकार्य के लिए प्रस्थित पारिहारिक मुनि परिहारतप को वहन करता हुआ अथवा अवहन करता हुआ संघाटक के एक साधु के साथ जाए। यदि संघाटक का साधु न हो तो अकेला जाए। मूल सहायक अर्थात् प्रारंभ से ही कोई सहायक न होने पर दूसरे आचार्य भी उसे सहायक देते हैं।

७०८. मोत्तूण भिक्खवेलं, जाणियं कज्जाइ पुव्वभाणियाइं।
अप्पडिबद्धो वच्चति, कालं थामं च आसज्ज॥

वह प्रस्थित पारिहारिक मुनि भिक्षावेला को छोड़कर जो संघकार्य पहले कहे गए हैं, उनकी संपन्नता के लिए कहीं भी प्रतिबद्ध न होता हुआ विहारोचित काल और स्वयं के सामर्थ्य के अनुसार परिव्रजन करता है।

७०९. गंतूणं य सो तत्थ, पुव्वं संगेण्हते ततो परिसं।
संगिण्हिऊणं परिसं, करेति वादं समं तेण॥

वहां गंतव्य पर पहुंच कर वह मुनि सबसे पहले परिषद् को आत्मीय करता है। परिषद् का संग्रहण कर वह वाद के इच्छुक व्यक्ति के साथ वाद करता है।

७१०. अबंभचारी एसो, किं नाहिति कोट्ठ एस उवगरणं।
वेसित्थीय पराजित, निव्विसयपरूवणा समए॥

वाद करने से पूर्व वह निमित्तविद्या के बल से वादी के स्वरूप को जानकर उसके आने से पहले परिषद् में कहता है–यह वादी अब्रह्मचारी है। परिषद् में किसी ने पूछा–आपने यह कैसे जाना ? तब वह कहता है–यह वादी जिस कोष्ठक में ठहरा हुआ है वहां इसके उपकरण संगोपित हैं। यह अमुक वेश्या के साथ द्यूतक्रीडा में पराजित हो गया था तब इसके वस्त्र उसने ग्रहण कर लिये थे। सभ्य वहां गये और मुनि के कथनानुसार सारा यथार्थ देखा। राजा को कहने पर राजा द्वारा देश से निष्कासित करने की प्ररूपणा और मुनि द्वारा स्वसिद्धांत की प्ररूपणा–इन दो तथ्यों का निरूपण आगे के श्लोकों में।

७११. जो पुण अतिसयनाणी, सो जंपती एस भिन्नचित्तो त्ति।
को णेण समं वादो, दट्ठुं पि न जुज्जते एस॥

जो अतिशयज्ञानी होता है, वह कहता है–यह वादी भिन्नचित्त अथवा भिन्नव्रत है। इसके साथ कौन वाद करेगा? इसको देखना भी उचित नहीं है।

७१२. अज्जेण भव्वेण वियाणएण,
धम्मप्पतिण्णेण अलीयभीरुणा।
सीलंकुलायारसमन्नितेण,
तेणं समं वाद समायरेज्जा॥

जो आर्य है, भव्य है, विज्ञ है अर्थात् वाद का ज्ञाता है, धर्मप्रतिज्ञ है, अलीकभीरू अर्थात् सत्यवादी है, शीलाचार से युक्त है तथा कुलाचार से समन्वित है–ऐसे के साथ वाद करना चाहिए।

७१३. परिभूयमति एतस्स, एतदुत्तं न एस णे समओ।
समएण विणिग्गहिते, गज्जति वसभोव्व परिसाए॥

मैंने वादी की मति को पराभूत करने के लिए (तीन राशि–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव, अजीव और नो-जीव) यह प्ररूपणा की थी। यह हमारा सिद्धांत नहीं है। यदि परवादी स्वसिद्धांत से विनिगृहीत हो जाता है तो वह वादी परिषद् में वृषभ की तरह गर्जना करता है।

७१४. अणुमाणेउं रायं, सण्णातग गेण्हमाण विज्जादी।
पच्छाकडे चरित्ते, जधा तधा नेव सुद्धो उ॥

यदि राजा कहे–मेरे साथ वाद करो तब उसे अनुमानयेत्–अनुकूल वचनों से प्रतिबोध दे। यदि न माने तो राजा के स्वजनों से कहकर वाद की वर्जना करे। यदि न माने तो विद्या आदि का प्रयोग कर उसका निग्रह करे। यह भी कारगर न हो तो चारित्र के विषय में स्वयं पश्चात्कृत होकर अर्थात् स्वलिंग का त्यागकर गृहलिंग को स्वीकार कर, ऐसा करे जिससे वह राजा वाद न करे। प्रवचन की रक्षा के लिए इतना करने पर भी वह शुद्ध है।

७१५. अत्यवतिणा निवतिणा, पक्खवता बलवया पयंडेण।
गुरुणा नीएण तवस्सिणा य सह तज्जए वादं॥

अथवा राजा को कहे–अर्थपति, नृपति, नृपवर्गीय पक्षवाले, बलवान्, प्रचंड–तीव्ररोषवाले, गुरु, नीच, तपस्वी–इन सबके साथ वाद का वर्जन करे–(ऐसा नीतिकार कहते हैं।)

७१६. नंदे भोइय खण्णा, आरक्खिय घडण गेरु नलदामे।
मूतिंग गेह डहणा, ठवणा भत्ते सपुत्त सिरा॥

नंद राजा के भोजिकों–सैनिकों तथा स्वजनों को चाणक्य ने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। तब वे चंद्रगुप्त के आरक्षिकों के साथ मिलकर नगर को उपद्रुत करने लगे। तब चाणक्य ने गेरुक वस्त्रधारी परिव्राजक का रूप बनाया और मकोड़ों के घर को जलाने में प्रवृत्त नलदाम जुलाहे को आरक्षक पद पर स्थापित किया। उसने नंद के सभी भोजिकों को भोजन के लिए आमंत्रित किया और जब वे सभी अपने पुत्रों के साथ वहां आ गए तब उन सबके सिर काट डाले।[1]

७१७. समतीतम्मि तु कज्जे, परे वयंतम्मि एग दुविहं वा।
संवासो न निसिद्धो, तेण परं छेदपरिहारो॥

प्रयोजन की पूर्ति हो जाने पर उस मुनि को दूसरे कहते हैं कि एकरात्री अथवा दोरात्री का संवास निषिद्ध नहीं है। वह वहां यदि एक-दो रात से अधिक रहता है तो उसे छेद अथवा परिहारतप का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

७१८. सुत्तत्थपाडिपुच्छं, करेंति साधू तु तस्समीवम्मि।
आगाढम्मि य जोगे, तेसि गुरू होज्ज कालगतो॥

उस मुनि के पास साधु सूत्रार्थ की प्रतिपृच्छा करते हैं अथवा आगाढ़योग में व्यवस्थित साधुओं के आचार्य अथवा अन्य निस्तारक कालगत हो गया हो तो उन साधुओं के आगाढ़योग की परिसमाप्ति तक तथा सूत्रार्थ की प्रतिपृच्छा तक वहां रह सकता है।

७१९. बंधाणुलोमयाए, उक्कमकरणं तु होति सुत्तस्स।
आगाढम्मि य कज्जे, दप्पेण वि ते भवे छेदो॥

सूत्र का बंधानुलोमता से उत्क्रमण भी होता है। यदि आगाढ़ कार्य के उपस्थित होने पर भी वह दर्प से नहीं जाता है तो उसे छेद प्रायश्चित्त ही आता है, परिहारतप नहीं।

७२०. आयरिए अभिसेगे, भिक्खू खुड्डे तहेव थेरे य।
गहणं तेसिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि॥

यदि वह प्रस्थित मुनि प्रद्विष्ट राजा से समस्त संघ का निस्तार नहीं कर सकता तो वह इन पांचों का निस्तार अवश्य करें– १. आचार्य–गच्छाधिपति।

२. अभिषेक–आचार्य पद के योग्य, सूत्रार्थ का ज्ञाता।

३. भिक्षु।

४. क्षुल्लक।

५. स्थविर।

इन पांचों का ग्रहण संयोगगम (संयोगप्रकार) से है। वह मैं कहूंगा। यदि पांचों का निस्तरण न कर सके तो स्थविर को छोड़ कर चारों का, चारों का निस्तरण न कर सके तो स्थविर और क्षुल्लक को छोड़ कर तीन का, तीन का निस्तरण न कर सके तो आचार्य और अभिषेक इन दो का और दो का निस्तरण न कर सके तो आचार्य का करे।

७२१. तरुणे निप्फन्नपरिवारे, लद्धिजुत्ते तहेव अब्भासे।
अभिसेयम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा॥

आचार्य के ये पांच गम (विकल्प) हैं–अर्थात् निस्तरण के विकल्प हैं–तरुण, निष्पन्न, सपरिवार, लब्धिसंपन्न तथा निकट। अभिषेक के निष्पन्न को छोड़कर शेष चार गम हैं। शेष अर्थात् भिक्षु, क्षुल्लक तथा स्थविर के आचार्यवत् पांच-पांच गम होते हैं।

७२२. तरुणे बहुपरिवारे, सलद्धिजुत्ते तधेव अब्भासे।
एते वसभस्स गमा, निप्फन्नो जेण सो नियमा॥

वृषभ के ये चार गम हैं–तरुण, बहुपरिवार, सलब्धियुक्त तथा निकट। वह नियमतः निष्पन्न ही होना है।

७२३. तरुणे निप्फन्ने या, बहुपरिवारे सलद्धि अब्भासे।
भिक्खू खुड्डा थेराण, होंति एते गमा पंच॥

भिक्षु, क्षुल्लक और स्थविर के ये पांच गम होते हैं–तरुण, निष्पन्न, बहुपरिवार, सलब्धिक और निकट।

७२४. पवत्तिणि अभिसेगपत्त, थेरि तह भिक्खुणी य खुड्डी य।
गहणं तासिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि॥

साध्वियों के निस्तारण के विकल्प–

१. पूरे कथानक के लिए देखें–व्यवहारभाष्य, कथा परिशिष्ट, कथा नं.४०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवर्तिनी, अभिषेका (प्रवर्तिनी पदयोग्य), भिक्षुणी, क्षुल्लिका और स्थविरा—इन पांचों प्रकार की साध्वियों का संयोगगम—संयोग से होने वाला विकल्प बताऊंगा।

७२५. तरुणी निप्फन्नपरिवारा,
सलद्धिया जा य होति अब्भासे।
अभिसेयाणं चउरो,
सेसाणं पंच चेव गमा॥

प्रवर्तिनी के ये पांच विकल्प—तरुणी, निष्पन्न, सपरिवारा, लब्धिसंपन्ना तथा निकट। अभिषेका के निष्पन्नरहित चार गम तथा शेष के पांच-पांच गम होते हैं। (साधु-साध्वी—दोनों वर्गों के निस्तारण की विधि)—

७२६. आयरिय गणिणि वसभे,कमसो गहणं तहेव अभिसेया।
सेसाण पुव्वमित्थी, मीसगकरणे कमो एस॥

आचार्य और प्रवर्तिनी के मध्य पहले आचार्य का फिर प्रवर्तिनी का और प्रवर्तिनी और ऋषभ के मध्य पहले प्रवर्तिनी का फिर ऋषभ का। अभिषेक और अभिषेका के मध्य पहले अभिषेक का और पश्चात् अभिषेका का। शेष में पहले स्त्री पश्चात् पुरुष। मिश्रकरण अर्थात् साधु-साध्वी के मध्य निस्तारण का यह क्रम है।

७२७. भिक्खू खुड्डग थेरे, अभिसेगे चेव तध य आयरिए।
गहणं तेसिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि॥

भिक्षु, क्षुल्लक, स्थविर, अभिषेक तथा आचार्य—इन पांचों के निस्तारकरण के संयोगगम मैं कहूंगा।

७२८. तरुणे निप्फन्नपरिवारे, सलद्धिए जे य होंति अब्भासे।
अभिसेयम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा॥

तरुण, निष्पन्न, सपरिवार, सलब्धिक तथा निकट—ये पांच गम भिक्षु के हैं। अभिषेक के चार गम तथा शेष—क्षुल्लक, स्थविर तथा आचार्य के गम भिक्षु की भांति पांचे-पांच हैं।

७२९. असहंते पच्चत्तरणम्मी मा होज्ज सव्वपत्थारो।
खुड्डो भीरऽणुकंपो, असहो घातस्स थेरो य॥
७३०. गणि आयरिया उ सहू, देहवियोगे तु साहस विवज्जी।
एमेव भंसणम्मि वि, उदिण्णवेदो त्ति नाणत्तं॥

राजा द्वारा पिट्टन के प्रसंग में भिक्षुक के क्रम का कारण—राजा द्वारा पीटे जाने पर कुछेक भिक्षु उसको सहन न करते हुए प्रत्यास्तरण—सामने होकर लड़ने लग जाते हैं। इससे राजा रुष्ट जा जाता है और तब सर्वप्रस्तार अर्थात् समस्त संघ उपद्रवग्रस्त हो सकता है। ऐसा न हो, इसलिए पहले भिक्षुक का ग्रहण किया गया है। क्षुल्लक भिरू और अनुकंप्य होता है। स्थविर घात-प्रहार को सहन नहीं कर सकता। गणी और आचार्य घात को सहन करने में समर्थ होते हैं। वे देहवियोग होने पर भी साहसविवर्जी अर्थात् अविमृश्यकारी प्रवृत्ति नहीं करते।

इसी प्रकार भ्रंशन—संयम से च्युत करने के प्रसंग में भी भिक्षुक आदि का यही क्रम जान लेना चाहिए। भिक्षुक उदीर्णवेद वाला भी हो सकता है, इसलिए नानात्व है।

७३१. भिक्खुणी खुड्डी थेरी, अभिसेगा य पवत्तिणी चेव।
करणं तासिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि॥

भिक्षुणी, क्षुल्लिका, स्थविरा, अभिषेका तथा प्रवर्तिनी—इनका निस्तारक्रम के योगगम मैं कहूंगा।

७३२. तरुणी निप्पफन्नपरिवारा,
सलद्धिया जा य होति अब्भासे।
अभिसेयाए चउरो,
सेसाणं पंच चेव गमा॥

तरुणी, निष्पन्ना, सपरिवारा, सलिब्धका तथा निकट—ये पांच गम साध्वी के हैं। अभिषेका साध्वी के गम निष्पन्ना के अतिरिक्त चार गम तथा शेष के पांचों गम होते हैं।

७३३. पंतावणमीसाणं, दोण्हं वग्गाण होति करणं तु।
पुव्वं तु संजतीणं, पच्छा पुण संजताण भवे॥

जहां पंतावण—पिट्टण का प्रसंग हो और मिश्रकवर्ग—साधु-साध्वी दोनों हो तो पहले भिक्षुणी वर्ग का निस्तारकरण फिर भिक्षुक वर्ग का निस्तारकरण करना चाहिए। (जैसे—भिक्षु और भिक्षुणी में पहले भिक्षुणी, क्षुल्लक और क्षुल्लिका में पहले क्षुल्लिका, स्थविर और स्थविरा में पहले स्थविरा, अभिषेक और अभिषेका में पहले अभिषेका तथा आचार्य और प्रवर्तिनी में पहले प्रवर्तिनी का।)

७३४. भिक्खू खुड्डे थेरे, अभिसेगायरिय संजमे पडुप्पन्ने।
करणे तेसिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि॥

संयम में वर्तमान भिक्षु, क्षुल्लक, स्थविर, अभिषेक और आचार्य—इनके संयमच्यावन से निस्तारणकरण का यह संयोगगम कहूंगा।

७३५. तरुणे निप्फन्नपरिवारे, सलद्धिए जे य होति अब्भासे।
अभिसेयम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा॥

तरुण, निष्पन्न, सपरिवार, सलब्धिक तथा जो निकट हैं—ये पांच गम हैं। अभिषेक के चार तथा शेष चार के पांच-पांच गम हैं।

७३६. अपरिणतो सो जम्हा, अन्नं भावं वएज्ज तो पुव्विं।
अपरीणामो अधवा, न वि नज्जति किंचि काहीइ॥

जो भिक्षु संयम से अपरिणत होकर अन्यभाव अर्थात् उत्प्रव्रजन करना चाहता है उसे पहले उत्प्रव्रजन कराए। अथवा यह स्पष्ट ज्ञात नहीं हो पाता कि यह अपरिणत होकर कुछ भी कर सकता है, जिससे पूरा संघ उपद्रवग्रस्त हो जाए। इसलिए उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले निस्तारण कर देना चाहिए। शेष पूर्ववत्।

७३७. भिक्खुणि खुड्डी थेरी,
अभिसेग पवत्तिणि संजमे पडुपण्णे।
करणं तासिं इणमो,
संजोगगमं तु वोच्छामि॥

७३८. तरुणी निप्फन्नपरिवारा
सलद्धिया जा य होति अब्भासे।
अभिसेगाए चउरो,
सेसाणं पंच चेव गमा॥

संयम में वर्तमान भिक्षुणी, क्षुल्लिका, स्थविरा, अभिषेका तथा प्रवर्तिनी—इनके निस्तारणकरण का यह संयोगगम कहूंगा।

तरुणी, निष्पन्ना, सपरिवारा, सलब्धिका, तथा जो निकट हो—ये भिक्षुणी के पांच गम हैं। अभिषेका के चार और शेष सबके पांच-पांच गम हैं।

७३९. खुड्डे थेरे भिक्खू, अभिसेगायरिय भत्तपाणं तु।
करणं तेसिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि॥

७४०. तरुणे निप्फन्नपरिवारे, सलद्धिए जे य होति अब्भासे।
अभिसेयम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा॥

राजा द्वारा निरुद्ध भक्तपान के प्रसंग में—क्षुल्लक, स्थविर, भिक्षुक, अभिषेक और आचार्य—इनका भक्तपान राजा द्वारा निरुद्ध कर देने पर इनके निस्तारणकरण के संयोगगम को मैं कहूंगा।

तरुण, निष्पन्न, सपरिवार, सलब्धिक तथा निकट—ये क्षुल्लक के पांच गम हैं। अभिषेक में चार और शेष सभी में पांच-पांच गम हैं।

७४१. खुड्डिय थेरी भिक्खुणि, अभिसेग पवत्तिणी भत्तपाणं तु।
करणं तासिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि॥

७४२. तरुणी निप्फन्नपरिवारा,
सलद्धिया जा य होति अब्भासे।
अभिसेगाए चउरो,
सेसाणं पंच चेव गमा॥

साध्वी का निस्तारण क्रम—क्षुल्लिका, स्थविरा, भिक्षुणी, अभिषेका तथा प्रवर्तिनी—इनके भक्तपान संबंधी निस्तारणकरण का यह संयोगगम मैं कहूंगा।

तरुणी, निष्पन्ना, सपरिवारा, सलब्धिका, जो निकट हो—ये क्षुल्लिका के पांच गम हैं। अभिषेका के चार तथा शेष के पांच-पांच गम हैं।

७४३. अणुकंपा जणगरिहा, तिक्खखुधो तेण खुड्डओ पढमं।
इति भत्तपाणरोहे, दुल्लभभत्ते वि एमेव॥

प्रश्न होता है कि भक्त-पाननिरोध के प्रसंग में क्षुल्लक आदि के क्रम का प्रयोजन क्या है?

क्षुल्लक का प्रथम निस्तारण करने से उसके प्रति अनुकंपा प्रदर्शित होती है। यदि पहले आचार्य आदि का निस्तारण किया जाता है तो जनगर्हा होती है। क्षुल्लक की भूख तीक्ष्ण होती है, इसलिए उसका निस्तारण पहले, फिर स्थविर, फिर भिक्षुक, फिर अभिषेक और फिर आचार्य, क्योंकि भूख सहने में ये उत्तरोत्तर सक्षम होते हैं। दुर्लभभक्त के प्रसंग में भी यही क्रम है।

७४४. खुड्डे थेरे भिक्खू, अभिसेगायरिय दुल्लभं भत्तं।
करणं तेसिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि॥

७४५. तरुणे निप्फन्नपरिवारे, सलद्धिए जे य होति अब्भासे।
अभिसेयम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा॥

७४६. खुड्डिय थेरी भिक्खुणि, अभिसेयपवित्ति दुल्लभं भत्तं।
करणं तासिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि॥

७४७. तरुणी निप्फन्नपरिवारा,
सलद्धिया जा य होति अब्भासे।
अभिसेयाए चउरो,
सेसाणं पंच चेव गमा॥

दुर्भिक्ष के समय निस्तारण विधि—क्षुल्लक, स्थविर, भिक्षु, अभिषेक तथा आचार्य। दुर्लभभक्त (दुर्भिक्ष) के प्रसंग में इनके निस्तारणकरण में यह संयोगगम मैं कहूंगा।

तरुण, निष्पन्न, सपरिवार, सलब्धिक, जो पास हो, ये क्षुल्लक के पांच गम है। अभिषेक में चार तथा शेष में पांच-पांच गम हैं।

क्षुल्लिका, स्थाविरा, भिक्षुणी, अभिषेका तथा प्रवर्तिनी—इनके दुर्लभभक्त के प्रसंग में निस्तारण—कारण में यह संयोगगम में कहूंगा।

तरुणी, निष्पन्न, सपरिवारा, सलब्धिका तथा जो निकट हो—ये क्षुल्लिका के पांच गम हैं। अभिषेका के चार और शेष सभी के पांच-पांच गम हैं।

७४८. परिण्णाय गिलाणस्स य,
दोण्ह वि कतरस्स होति कायव्वं।
असतीय गिलाणस्स य,
दोण्ह वि संते परिण्णाए॥

दो मुनि हैं—एक भक्तप्रत्याख्यात है और एक ग्लान है। दोनों में किसका वैयावृत्त्य करना चाहिए। शक्ति हो तो दोनों का, शक्ति न हो तो ग्लान का वैयावृत्त्य करना चाहिए। दोनों का वैयावृत्त्य करते हुए भक्तप्रत्याख्यात का विशेष वैयावृत्त्य करना चाहिए।

७४९. सावेक्खो उ गिलाणो,
निरवेक्खो जीवितम्मि उ परिण्णी।
इति दोण्ह वि कायव्वे,
उक्कमकरणे करे असहू॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्लान जीवन के प्रति सापेक्ष होता है और भक्तप्रत्याख्यानी निरपेक्ष होता है। यदि दोनों का वैयावृत्त्य करने में असमर्थ हो तो उत्क्रमकर अर्थात् भक्तप्रत्याख्यानी का उल्लंघन कर ग्लान का वैयावृत्त्य करना चाहिए।

७५०. वसभे जोधे य तहा, निज्जामगविरहिते जहा पोते।
पावति विणासमेवं, भत्तपरिण्णाय संमूढो॥

(यह क्यों कहा गया कि भक्तप्रत्याख्यानी का विशेष वैयावृत्त्य करना चाहिए?) इसका कारण यह है—जैसे सारथि रहित वृषभ, सेनापति रहित योद्धा तथा निर्यामक रहित पोत विनाश को प्राप्त हो जाते हैं वैसे ही योग्य निर्यामक के अभाव में भक्तप्रत्याख्यानी संमूढ़ होकर विनष्ट हो जाता है।

७५१. नामेण वि गोत्तेण य, विपलायंतो वि सावितो संतो।
अवि भीरू वि नियत्तति, वसभो अप्फालितो पहुणा॥

वृषभ का दृष्टांत—सारथि रहित वृषभ अपने प्रतिवृषभ से पराजित होकर पलायन कर रहा हो और यदि प्रभु—सारथि उसको नाम और गोत्र से शापित—पुकारता है तथा स्वामी उसको प्रेम से पुचकारता है, उसके स्कंध-प्रदेश पर हाथ फेरता है तो भीरु वृषभ भी प्रतिवृषभ के साथ लड़ने के लिए लौट आता है। इसी प्रकार निर्यामक के द्वारा प्रोत्साहित होने पर मंद परिणाम वाला भक्तप्रत्याख्यानी भी तीव्र परिणामयुक्त हो जाता है।

७५२. अप्फालिया जह रणे, जोधा भंजंति परबलाणीयं।
गीतजुतो उ परिण्णी, तध जिणति परीसहाणीयं॥

योद्धा का दृष्टांत—रण में स्वामी द्वारा प्रोत्साहित और प्रशंसित होने पर योद्धा शत्रु सेना का नाश कर देते हैं, इसी प्रकार सम्यक निर्यामक के योग से भक्तप्रत्याख्यानी परिषहरूपी सेना को जीत लेता है।

७५३. सुनिउणनिज्जामगविरहियस्स पोतस्स जध भवे नासो।
गीतत्थविरहियस्स उ, तहेव नासो परिण्णिस्स॥

पोत का दृष्टांत—जैसे सुनिपुण निर्यामक से रहित पोत विनाश को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही गीतार्थ निर्यामक से रहित भक्तप्रत्याख्यानी भी विनष्ट हो जाता है।

७५४. निउणमतिनिज्जामगो, पोतो जह इच्छितं वए भूमिं।
गीतत्थेणुववेतो, तह य परिण्णी लहति सिद्धिं॥

जैसे निपुणमति वाला निर्यामक अपने प्रवहण को यथेष्ट स्थान पर ले जाता है वैसे ही गीतार्थ निर्यामक के सहयोग से भक्तप्रत्याख्यानी सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

७५५. उव्वत्तणा य पाणग, धीरवणा चेव धम्मकहणा य।
अंतो बहि नीहरणं, तम्मि य काले णमोक्कारो॥

निर्यामक का कार्य है कि वह भक्तप्रत्याख्यानी को उद्वर्तन (पार्श्व परावर्तन) कराए। उसे पानक दे। उसको धीरापणा—धैर्य बंधाता रहे, धर्म का कथन करता रहे। उसे बाहर ले जाना, भीतर लाना आदि करे। मरणकाल में उसे नमस्कार मंत्र का संबल दे।

७५६. जोच्चिय भेसिज्जंते, गमओ सो चेव भंसियाणं पि।
हेट्ठा अकिरियवादी, भणितो इणमो किरियवादी॥

जो चारित्रभ्रष्ट होने के प्रसंग में गम बताए हैं, वे ही उत्प्रव्रजित होने वाले मुनियों के लिए है। जो पहले अक्रियावादी अर्थात् परवादी के विषय में गम बतलाएं हैं वे ही गम यहां क्रियावादी के विषय में समझने चाहिए।

७५७. वादे जेण समाधी, विज्जागहणं च वादि पडिवखो।
न सरति विक्खेवेणं, निव्विसमाणो तहिं गच्छे॥

वाद करने वाले मुनि को जिससे समाधि उत्पन्न हो वह सारा कार्य करना चाहिए।[1] उसे वादी-विद्याओं की प्रतिपक्षीभूत विद्याओं का ग्रहण कराना चाहिए। व्याक्षेपों के कारण आचार्य के यह स्मृतिपटल पर न हो कि यह मुनि परिहारतप का वहन कर रहा है, अथवा विद्या, निमित्त आदि आचार्य की स्मृति में न हों तो वह निर्विशमाण परिहारी ही वहां जाए।

७५८. वाया पोग्गललहुया, मेधा उज्जा य धारणबलं च।
तेजस्सिता य सत्तं, वायामइमम्मि संगामे॥

स्पष्टवाणी, शरीर की लघुता, मेधा, ऊर्जा, धारणाबल, तेजस्विता, सत्व—ये वाग्मय संग्राम में उपयोगी होते हैं।

७५९. तत्थ गतो वि य संतो, पुरिसं थामं च नाउ तो ठवणा।
साधीणमसाधीणे, गुरुम्मि ठवणा असहुणो उ॥

वहां जाकर भी वह पहले प्रतिवादी पुरुष को देखे, अपने स्थाम—शक्ति को जाने। यदि स्वयं को समर्थ माने तो परिहारतप का निक्षेप न करे और यदि असमर्थ माने तो परिहारतप का निक्षेप कर दे। यदि गुरु स्वाधीन—सन्निहित हों तो गुरु से परिहारतप का निक्षेप कराए और यदि अस्वाधीन—असन्निहित हों तो स्वयं उसका निक्षेप करे।

७६०. कामं अप्पच्छंदो, निक्खिवमाणो तु दोसवं होति।
तं पुण जुज्जति असढे, तीरितकज्जे पुण वहेज्जा॥

जो निष्कारण ही अपनी स्वतंत्र बुद्धि से परिहारतप का निक्षेप करता है, वह अत्यंत दोषवान् होता है। यदि अशठभाव से उसका निक्षेप किया जाता है तो कार्य समाप्ति पर उसका वहन

१. वृत्तिकार के अनुसार ब्राह्मी आदि के प्रयोग से वाक्पटुता, शरीर-जाड्यापहारी औषधियों के प्रयोग से शरीर की लघुता, दूध तथा प्रणीत आहार के भोजन से मेधा का विकास तथा धारणाबल बढ़ता है। घृत के प्रयोग से ऊर्जा तथा पटुता तथा देश या सर्वस्नान तथा वस्त्रादिभूषा से तेजस्विता तथा प्रतिपक्षविद्या ग्रहण से महान् मानसिक अवष्टम्भ प्राप्त होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना चाहिए।

७६१. सरमाणो जो उ गमो, अस्सरमाणे वि होति एमेव।
एमेव मीसगम्मि वि, देसं सव्वं च आसज्ज॥

सूत्र के तीन प्रकार हैं—स्मरणसूत्र, अस्मरणसूत्र और मिश्रकसूत्र। स्मरण सूत्र में जो गम है वैसा ही अस्मरण में है और उसी प्रकार का गम मिश्रकसूत्र में भी है। तीनों सूत्रों में देश या सर्व से वहन, निक्षेपण और झोष कहा गया है।

७६२. विज्जानिमित्त उत्तरकहणे अप्पाहणा य बहुगा उ।
अतिसंभम तुरति विणिग्गयाण दोण्हं पि विस्सरितं॥

विद्याओं को ग्रहण कराने के निमित्त, प्रतिवादिविषयक उत्तरकथन में तथा अनेक संदेश देने के कारण आचार्य अतिसंभ्रम में तथा प्रातिहारिक वादी मुनि भी संभ्रम के कारण वहां से शीघ्र प्रस्थान कर देता है। वह और आचार्य—दोनों परिहारतप के निक्षेपण की बात भूल जाते हैं।

७६३. पुव्वं सो सरिऊणं, संपत्थित विज्जमादिकज्जेहिं।
जस्स पुणो विस्सरियं, निव्विसमाणो तधिं पि वए॥

पहले उसको यह स्मृति होती है कि मुझे परिहारतप का निक्षेप कर जाना है, परंतु प्रस्थानकाल में विद्या आदि ग्रहण करने के कार्यों में व्याकुल होने के कारण वह भूल जाता है, तो वह निर्विशमान होकर जाता है।

७६४. देसं वा वि वहेज्जा, देसं च ठवेज्ज अहव झोसेज्जा।
सव्वं वा वि वहेज्जा, ठवेज्ज सव्वं व झोसेज्जा॥

तीनों सूत्रों में कहा गया है कि ऐसी स्थिति में परिहारतप के देश का अथवा सर्व का वहन, निक्षेपण अथवा झोष कर सकता है।

७६५. निक्खिव न निक्खिवामी, पंथेच्चिय देसमेव वोज्झामि।
असहू पुण निक्खिवते झोसंति मुएज्ज तवसेसं॥

विशेष कार्य के लिए भेजने के प्रसंग में आचार्य पारिहारिक को कहते हैं—तुम अभी परिहारतप का निक्षेप कर दो, छोड़ दो। वह कहता है—मैं उसका निक्षेप नहीं करूंगा। मार्ग में ही उसके एक देश का वहन कर लूंगा। मैं समर्थ हूं। यदि वह असमर्थ हो तो वह उसका निक्षेप कर दे। अथवा आचार्य उस पर कृपाकर शेष तप का झोष कर देते हैं, उसे उससे मुक्त कर देते हैं।

७६६. एमेव य सव्वं पि हु, दूरद्धाणम्मि तं भवे नियमा।
एमेव सव्वदेसे, वाहणझोसा पडिनियत्ते॥

इसी प्रकार सारा बाह्य, निक्षेपणीय और झोषणीय नियमतः दीर्घमार्ग के प्रसंग में होता है। मुनि के प्रतिनिवृत्त होने पर देश का अथवा सर्व का बाह्य और झोष होता है। यदि जाते समय देश का निक्षेप किया है तो लौट आने पर देश तप का वहन करना पड़ता है और यदि सर्व का निक्षेप किया है तो प्रतिनिवृत्त होने पर सर्व का वहन करना पड़ता है। अथवा उसके लौटने पर आचार्य प्रसन्न होकर पारिहारिक द्वारा निक्षिप्त देशतः या सर्वतः परिहारतप से उसे मुक्त कर देते हैं।

७६७. वेयावच्चकराणं, होति अणुग्घातियं पि उग्घातं।
सेसाणमणुग्घाता, अप्पच्छंदो ठवेंताणं॥

(तीर्थंकरों ने कहा है) वैयावृत्त्य करने वालों के झोष होता है, अनुद्घातित को उद्घातित कर दिया जाता है। शेष मुनियों को उद्घातित प्राप्त होने पर भी उन्हें अनुद्घातित प्रायश्चित्त दिया जाता है। जो वैयावृत्त्य नहीं करते तथा स्वच्छंदता से परिहारतप का निक्षेप करते हैं, वे यदि उद्घातित का वहन करते रहे हों तो उन्हें अनुद्घातित दिया जाता है और यदि अनुद्घातित परिहारतप का निक्षेप किया है तो उन्हें उपरितन प्रायश्चित्त दिया जाता है।

७६८. निग्गमणं तु अधिकितं, अणुवत्तति वा तवाधिकारो उ।
तं पुण वितिण्णगमणं, इमं तु सुत्तं उभयधा वि॥

पूर्वसूत्र में निर्गमन की अपेक्षा से कथन किया गया था। प्रस्तुत में भी वही निर्गमन कहा जाता है तथा पूर्वसूत्र के तपोधिकार की यहां अनुवृत्ति है। पूर्वसूत्र में वितीर्ण निर्गमन की अनुज्ञा थी। इस सूत्र में उभय अर्थात् वितीर्ण तथा अवतीर्ण का कथन है।

७६९. संथरमाणाणं विधी, आयारदसासु वण्णितो पुव्विं।
सो चेव य होति इहं, तस्स विभासा इमा होति॥

जो सूत्रोक्त विधि से प्रतिमा को स्वीकार करने की योग्यता तथा उसके परिपालन की क्षमता प्राप्त कर लेता है, वह संस्तरन् कहलाता है। उसकी विधि—सामाचारी आचारदशा—दशाश्रुतस्कंध के भिक्षु प्रतिमाध्ययन में पूर्व वर्णित है। यहां भी वही सामाचारी है। उसका विवरण यह है।

७७०. घरसउणि सीह पव्वइय,
सिक्ख परिकम्मकरण दो जोधा।
थिरकरणेगच्छखमदुग,
गच्छारामा ततो णीति॥

गृहशकुनी, सिंह, प्रव्रजन, शिक्षा, परिकर्मकरण, दो योद्धा, स्थिरीकरण, एकाक्ष, क्षपणद्वय—ये उदाहरण वक्तव्य हैं। वह गच्छाराम से निर्गमन करता है।

७७१. वासगगतं तु पोसति, चंचूपूरेहि सउणिया छावं।
वारेति तमुड्डंतं, जाव समत्थं न जातं तु॥

शकुनि दृष्टांत—जैसे पक्षिणी नीडगत अपने बच्चे का अपनी चोंच को भर-भर कर पोषण करती है तथा जब तक वह पूर्ण समर्थ नहीं हो जाता तब तक उसे नीड से बाहर उड़ने—जाने से रोकती है।

७७२. एमेव वणे सीही, सा रक्खति छावपोयगं गहणे।
खीरमिउपिसियचव्विय, जा खायइ अट्ठियाइं पि॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७७३. मारितममारितेहि य तं तीरावेति छावएहिं तु।
वण-महिस-हत्थि-वग्घाण पच्चलो जाव सो जातो॥

सिंह का दृष्टांत—इसी प्रकार गहन वन में सिंहनी अपने अत्यंत लघु शावक की रक्षा करती है तथा स्तनपान द्वारा तथा मृदुचर्वित मांस से उसका तब तक पोषण करती है जब तक वह हड्डियां खाने न लगे। वह सिंहीशावक वनमहिष आदि के शावकों का व्यापादन कर सके या नहीं, वह सिंहनी उसको इतना समर्थ बना देती है कि वह स्वयं वनमहिष, हाथी, व्याघ्र आदि को मारने में समर्थ हो जाता है।

७७४. अकतपरिकम्ममसहं, दुविधा सिक्खा अकोविदमपत्तं।
पडिवक्खेण उवमिमो, सउणिग-सीहादि छावेहिं॥

जो मुनि अकृतपरिकर्मा है, असमर्थ है, दोनों प्रकार की शिक्षाओं—ग्रहण और आसेवन में अकोविद है, जो श्रुत और वय से अव्यक्त है ऐसे मुनि को प्रतिपक्ष अर्थात् असंजातपक्ष वाले शकुनि, सिंह आदि के शावकों की उपमा से उपमित किया गया है।[1]

७७४/१. पव्वज्जा सिक्खावय,
अत्थग्गहणं च अणियतो वासो।
निप्फत्ती य विहारो,
सामायारी ठिती चेव॥

प्रव्रज्या[2], शिक्षापद, अर्थग्रहण, अनियतवास, निष्पत्ति, विहार, सामाचारी, स्थिति। यह द्वारगाथा है।

७७४/२. पव्वज्जा सिक्खावय,अत्थग्गहणं तु सेसए भयणा।
सामायारिविसेसो, नवरं वुत्तो उ पडिमाए॥

जो प्रतिमा स्वीकार करना चाहता है उसके लिए ये तीन द्वार—प्रव्रज्या, शिक्षापद तथा अर्थग्रहण—नियमतः होते हैं। शेष द्वारों की भजना है। सामाचारी विशेष का कथन दशाश्रुतस्कंध के भिक्षुप्रतिमा अध्ययन में प्रतिपादित है।

७७५. गणहरगुणेहिं जुत्तो, जदि अन्नो गणहरो गणे अत्थि।
नीति गणातो इहरा, कुणति गणे चेव परिकम्मं॥

यदि गण में गणधर के गुणों से युक्त कोई अन्य गणधर हो तो उसे गण में स्थापित कर गण से बाहर जाकर परिकर्म करे। अन्यथा गण में रहकर ही परिकर्म करे।

७७६. जह वि हु दुविधा सिक्खा,
आइल्ला होति गच्छवासम्मि।
तह वि य एगविहारे,
जा जोग्गा तीय भावेति॥

यद्यपि गच्छवास में आद्य दोनों प्रकार की शिक्षाएं होती हैं। फिर भी एकाकीविहार के योग्य जो शिक्षा है उससे आत्मा को भावित करता है।

७७७. तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य।
तुलना पंचधा वुत्ता, पडिमं पडिवज्जतो॥

जो प्रतिभा को स्वीकार करना चाहता है उसकी ये पांच तुलाएं हैं—तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व तथा बल। (वह इन पांचों से अपने-आपको तोले।)

७७८. चउभत्तेहिं तिहिं उ छट्ठेहिं अट्ठमेहि दसमेहिं।
बारस-चउदसमेहि य, धीरो धितिमं तुलेतऽप्पं॥

तपोभावना—मुनि तीन बार चतुर्थभक्त—उपवास करे, फिर तीन बार बेला, तीन बार तेला, तीन बार चोला, तीन बार पंचोला, तीन बार छह दिन का तप यावत् छह मास के तप से वह धीर और धृतिमान मुनि अपनी आत्मा को तोले।

७७९. जह सीहो तह साधू, गिरि-नदि सीहो तवोधणो साधू।
वेयावच्चऽकिलंतो, अभिन्नरोमो य आवासे॥

जैसे सामान्यतः गुफा में रहने वाला सिंह गिरिनदी में तैरने का अभ्यास करता है वैसे ही गच्छवासी तपस्या करने के अभ्यास में प्रवृत्त तपोधन मुनि आत्मवैयावृत्त्यकर होता है। आत्मवैयावृत्त्य में अक्लांत मुनि अवश्यकरणीय योगों में अभिन्नरोमा होता है, रोममात्र भी क्लेश नहीं पाता।

७८०. पढमा उवस्सयम्मी,बितिया बाहि ततिया चउक्कम्मि।
सुण्णघरम्मि चउत्थी, पंचमिया तह मसाणम्मि॥

सत्त्वभावना के अभ्यास का क्रम—पहली सत्त्वभावना उपाश्रय में, दूसरी उपाश्रय के बाहर, तीसरी—चौराहे में, चौथी शून्यगृह में और पांचवीं श्मशान में की जाती है।

७८१. उक्कतितोवत्तियाइं, सुत्ताइं सो करेति सव्वाइं।
मुहुत्तपोरिसीए, दिणे य काले अहोरत्ते॥

सूत्रभावना—वह परिकर्मकारी साधु सभी सूत्रों को अनुक्रम और व्युत्क्रम से परावर्तन करने में समर्थ होता है।[3] (वह

---

१. जैसे उड़ने में असमर्थ शकुनि पोत यदि नीड से बाहर निकलता है तो काक, ढंक आदि पक्षियों से मारा जाता है। सिंह शावक जो क्षीराहारी है, वह यदि स्वतंत्र रूप से गुहा से बाहर आता है तो वह वनमहीष, व्याघ्र आदि से उपद्रुत होता है। वैसे ही जो मुनि अकृतपरिकर्मा आदि है वह यदि गच्छ से निकलकर एकाकी विहारप्रतिमा को स्वीकार करता है तो वह भी आत्मविराधना और संयमविराधना को प्राप्त होता है।

२. प्रव्रज्या के दो प्रकार हैं— धर्मश्रवणतः—धर्म के श्रवण से विरक्त होकर प्रव्रज्या लेना तथा अभिसमन्वागत—अर्थात् जाति- स्मृति आदि से प्रेरित होकर प्रव्रज्या लेना।

३. वह मुनि नौवें पूर्व की आचार नामक तीसरी वस्तु पूर्वोक्त प्रकार से परावर्तन करता है। उससे कालावबोध होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालपरिमाण के अवबोध के निमित्त ऐसा करता है।) वह उच्छ्वास-निःश्वास परिमाण से मुहूर्त्त, मुहुर्त्त से अर्द्ध पौरुषी, उससे पौरुषी, फिर दिन और अहोरात्र के काल को जान लेता है।

७८२. अण्णो देहाओऽहं, णाणत्तं जस्स एवमुवलद्धं।
सो किंचि आहिरिक्कं, न कुणति देहस्स भंगे वि॥

एकत्वभावना—'मैं देह से अन्य हूं'—इस प्रकार जिस परिकर्म करने वाले मुनि को आत्मा से देह का नानात्व उपलब्ध हो जाता है, भेदज्ञान हो जाता है, वह शरीर के नाश होने पर किंचिद् भी उत्त्रास नहीं करता।

७८३. एमेव य देहबलं, अभिक्खआसेवणाए तं होति।
लंखण-मल्ले उवमा, आसकिसोरे व्व जोग्गविते॥

इसी प्रकार बलभावना से देह को इस प्रकार भावित करना चाहिए कि वह क्षीण न हो। बार-बार तप आदि भावनाओं के अभ्यास से वे भावनाएं सिद्ध होती हैं और शरीरबल बढ़ता है। इसमें तीन उपमाएं हैं—लंखक, मल्ल और अश्वकिशोर।[१] परिकर्मा की परीक्षा में दो योद्धाओं का निदर्शन है।

७८४. पज्जोयमवंतिवति खंडकण्ण सहस्समल्ल पारिच्छा।
महकाल छगल सुरघड, तालपिसाए करे मंसं॥

अवंतीपति प्रद्योत के खंडकर्म नामक मंत्री था। एक बार सहस्रयोधी (हजार के साथ लड़ने वाला) मल्ल ने राजा के पास वृत्ति की याचना की। मंत्री ने उसके साहस की परीक्षा के निमित्त उसे एक छाग और एक सुराघट देते हुए कहा—आज महाकाल श्मशान में जाकर मांस का भोजन कर लेना। वह सहस्रयोधी वहां गया। छाग को मारा, मांस पकाया और खाने के लिए बैठा। कुछ खाकर सुरा पी रहा था। इतने में ही तालपिशाच ने आकर मांस के लिए हाथ पसारा। उसने अभीत रहकर उस पिशाच को मांस दिया और स्वयं ने भी भरपेट मांस खाया। राजा को विश्वास हो गया कि यह भयरहित है, सहस्रयोधी है।

७८५. न किलम्मति दीघेण वि,
तवेण न वि तासितो वि बीहेति।
छण्णे वि ठितो वेलं,
साहति पुट्ठो अवितधं तु॥

७८६. पुरपच्छसंथुतेहिं, न सज्जती दिट्ठिरागमादीहिं।
दिट्ठी-मुहवण्णेहि य, अब्भत्थबलं समूहं ति॥

जो दीर्घ तपस्या से भी क्लांत नहीं होता, वह तपःपरिकर्मित है। जो किसी से त्रस्त होने पर भी डरता नहीं, वह सत्वपरिकर्मित है। जो मेघाच्छन्न आकाश अथवा भीतर में बैठा हुआ भी पूछे जाने पर काल का सही परिमाण बता देता है, वह सूत्रभावना परिकर्मित है। जो माता-पिता आदि पूर्वसंस्तुत तथा भार्या, श्वसुर आदि पश्चात् संस्तुत व्यक्तियों को दृष्टिराग आदि अर्थात् स्निग्ध या आसक्त दृष्टि से तथा अवलोकन और स्फारित मुखवर्ण से नहीं देखता वह एकत्वभावना परिकर्मित है। अब अध्यात्मबल का कथन करते हैं।

७८७. उभओ किसा किसदढो,
दढो किसो यावि दोहि वि दढो य।
बितिय-चउत्थ पसत्था,
धितिदेहसमस्सिया भंगा॥

बल के प्रसंग में चतुर्भंगी—

१. उभयतो कृश अर्थात् शरीर से भी कृश तथा धृति से भी कृश।

२. शरीर से कृश, धृति से दृढ़।

३. शरीर से दृढ़, धृति से कृश।

४. शरीर से दृढ़, धृति से दृढ़।

दूसरा और चौथा भंग प्रशस्त है क्योंकि दूसरे भंग में धृति की दृढ़ता है और चौथे भंग में शरीर और धृति—दोनों दृढ़ हैं।

७८८. सुत्तत्थझरियसारा, कालं सुत्तेण तु सुट्ठु नाऊणं।
परिजिय परिकम्मेण य, सुट्ठु तुलेऊण अप्पाणं॥

७८९. तो विण्णवेंति धीरा, आयरिए एगविहरणमतीया।
परियागसुतसरीरे, कतकरणा तिव्वसद्धागा॥

जो मुनि सूत्रार्थ के झरण अर्थात् परिवर्तना से सारभूत हो गए हैं वे सूत्र-परिकर्म से काल का सम्यक् अवबोध कर अपने द्वारा अभ्यस्त तपः आदि परिकर्मों से अपनी आत्मा को सम्यक् रूप से तोल लेते हैं और जो गृहस्थ और प्रव्रज्यापर्याय में, श्रुत के विषय में तथा शरीर के विषय में कृतकरण हैं, जो प्रवर्धमान श्रद्धा वाले हैं तथा जो एकाकीविहार प्रतिमा को स्वीकार करना चाहते हैं, वे धीर—महासत्त्व वाले पुरुष आचार्य को एकाकीप्रतिमा की साधना की अनुज्ञा देने के लिए निवेदन करते हैं।

७९०. एगूणतीसवीसा, कोडी आयारवत्थु दसमं च।
संघयणं पुण आदिल्लगाण तिण्हं तु अन्नतरं॥

पर्याय के दो प्रकार हैं—गृहीपर्याय और व्रतपर्याय। गृहीपर्याय जघन्यतः उनतीस वर्ष का हो और व्रतपर्याय जघन्यतः बीस वर्ष का हो और दोनों पर्याय उत्कृष्टतः देशोनपूर्वकोटि के हों[२], जघन्यतः नौवें पूर्व की तृतीय आचारवस्तु यावत् श्रुत, उत्कर्षतः दसवें पूर्व तक का श्रुत तथा आदि के तीन संहननों में से कोई संहनन हो तो

---

१. नट अभ्यास करते-करते रस्सी पर भी नृत्य करने लगता है। मल्ल प्रतिदिन के अभ्यास से प्रतिमल्ल को जीतने में समर्थ हो जाता है। अश्वकिशोर पहले-पहले हाथी की निकटता से डरता है। फिर अभ्यासवश संग्राम में हाथी आदि से भी पराभूत नहीं होता।

२. पूर्वकोट्यायुष्क मनुष्य की अपेक्षा से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह मुनि एकाकीप्रतिमा स्वीकार कर सकता है।

७९१. जइ विऽसि तेहववेओ, आतपरे दुक्करं खु वेरग्गं।
आपुच्छणा विसज्जण, पडिवज्जण गच्छसमवायं॥

जब मुनि एकलविहार की अनुज्ञा के लिए आचार्य को निवेदन करता है तब आचार्य उसके स्थिरीकरण के लिए पूछते हैं—शिष्य! यद्यपि तुम तपः आदि परिकर्म से युक्त हो, फिर भी आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ अथवा उभयसमुत्थ परिषहों के प्रति वैराग्य—राग-द्वेष का निग्रहण दुष्कर होता है। इसलिए मैं तुम्हें पुनः पूछ रहा हूं। यदि पृच्छा करने पर ज्ञात हो कि वह सम्यक् कृतपरिकर्मा है तो उसे विसर्जन—एकलप्रतिमा की आज्ञा दे। अनुज्ञात कर देने पर गच्छ को एकत्रित कर प्रतिमा की प्रतिपत्ति करे।

७९२. परिकम्मितो वि वुच्चति,
किमुत अपरिकम्म मंदपरिकम्मा।
आतपरोभयदोसेसु,
होति दुक्खं खु वेरग्गं॥

परिकर्मित मुनि को भी पूछा जाता है कि तुम अपरिकर्मा हो अथवा मंदपरिकर्मा। क्योंकि आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ अथवा उभयसमुत्थ दोषों के प्रति वैराग्य—राग-द्वेषशमनरूप प्रवृत्ति होना कष्टप्रद होता है।

७९३. पढम-बितियादलाभे, रोगे पण्णादिगा य आताए।
सीउण्हादी उ परे, निसीहियादी उ उभए वि॥

प्रथम-द्वितीय परीषह अर्थात् भूख और प्यास, अलाभ, रोग, प्रज्ञा आदि—ये परीषह आत्मसमुत्थ हैं। शीत-उष्ण आदि परीषह परसमुत्थ हैं तथा नैषेधिकी आदि परीषह उभयसमुत्थ हैं।

७९४ एतेसुप्पण्णेसुं, दुक्खं वेरग्गभावणा काउं।
पुव्वं अभावितो खलु, जध सेहो एलगच्छो उ॥

जो पूर्व में अभावित है, उसके लिए एडकाक्ष शैक्ष की भांति समुत्पन्न परीषहों के प्रति वैराग्य भावना—राग-द्वेष की निग्रहण-भावना करना कष्टप्रद होता है।

७९५. परिकम्मणाय खवगो, सेह बालमोडि सो तध ठाति।
पाभातियउवसग्गे, कतम्मि पारेति सो सेहो॥
७९६. पारेहि तं पि भंते!, देवयअच्छी चवेडपाडणया।
काउस्सग्गाऽऽकंपण, एलगस्सपदेस निव्वित्ती॥

एक परिकर्मा क्षपक एकलविहारप्रतिमा में स्थित था। एक अपरिकर्मा शैक्ष मुनि भी हठात् क्षपक की भांति प्रतिमा में स्थित हो गया। एक देवता ने आधी रात में प्राभातिक वेला का आभास कराकर उपसर्ग किया और वह शैक्ष प्रतिमा को सम्पन्न कर जाते-जाते उस क्षपक से कहा—भंते! तुम भी प्रतिमा को सम्पन्न करो, प्रभात हो चुका है। तब देवता ने उसे एक चपेटा मारा। उसकी आंखें बाहर आ गिरीं। तब उस क्षपक मुनि ने शैक्ष के प्रति अनुकंपा के वशीभूत होकर देवता की आराधना के लिए कायोत्सर्ग किया। देवता ने तब सद्य व्यापादित एडक की सप्रदेश—सजीव आंखों की निवृत्ति—निष्पत्ति कर उसके लगा दी।

७९७. भावितमभवितागं, गुणा गुणण्णा इय त्ति तो थेरा।
वितरंति भावियाणं, दव्वादि सुभे य पडिवत्ती॥

परिकर्म से भावित मुनि के गुणों तथा अभावित मुनि के अगुणों को आचार्य जानते हैं। वे गुणज्ञ स्थविर—आचार्य पृच्छा के बाद भावित मुनियों को प्रतिमाप्रतिपत्ति कराते हैं। यह प्रतिपत्ति शुभ द्रव्य आदि में दी जाती है।

७९८. निरुवस्सग्गनिमित्तं, उस्सग्गं वंदिऊण आयरिए।
आवस्सियं तु काउं, निरवेक्खो वच्चए भगवं॥

प्रतिमा ग्रहण करने वाला मुनि निरुपसर्ग के लिए कायोत्सर्ग करता है। प्रतिमा स्वीकार कर आचार्य को वंदना करता है, फिर आवश्यकी करके, निरपेक्ष होकर वह वहां से चल पड़ता है।[1]

७९९. परिजितकालामंतण, खामण तव-संजमे य संघयणा।
भत्तोवधिनिक्खेवे, आवण्णो लाभगमणे य॥

परिचितश्रुतकाल, आमंत्रण, क्षामण, तप, संयम, संहनन, भक्त, उपधि, निक्षेप, आपन्न—प्राप्त, लाभ तथा गमन—विहार—यह द्वार गाथा है। (इसका विवरण ८०० से ८०६ तक की गाथाओं में)।

८००. परिचियसुओ उ मग्गसिरमादि
जा जेट्ठ कुणति परिकम्मं।
एसोच्चिय सो कालो,
पुणरेति गणं उवग्गम्मि॥

परिचितश्रुत मुनि मृगशिर महीने से प्रारंभ कर ज्येठ मास तक परिकर्म करता है। यह प्रतिमा स्वीकार करने वाले के परिकर्म का उत्कृष्ट काल है। वह उपाग्र अर्थात् समीपवर्ती आषाढ़ मास में वर्षाकालयोग्य उपधि लेने के लिए पुनः अपने गण में आता है।

८०१. जो जति मासे काहिति, पडिमं सो तत्तिए जहण्णेण।
कुणति मुणी परिकम्मं, उक्कोसं भावितो जाव॥

जो मुनि जितने मास की प्रतिमा का वहन करेगा, वह जघन्यतः उतने मास तक परिकर्म करता है। परिकर्म का उत्कृष्ट काल है—जितने काल में परिपूर्ण रूप से आगमोक्त विधि से भावित होता है उतना काल।

८०२. तव्वरिसे कासिंची, पडिवत्ती अन्नहिं उवरिमाणं।
आइण्णपतिण्णस्स तु, इच्छोए भावणा सेसे॥

१. आचार्य अपने संपूर्ण संघ के साथ उसका अनुगमन करते हैं। नगर के बाहर तक जाकर वे वहां एकटक प्रतिमाधारी मुनि को जाते हुए तब तक देखते रहते हैं जब तक वह आंख से ओझल न हो जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछेक प्रतिमाओं की उसी वर्ष (जिस वर्ष में परिकर्म किया) प्रतिपत्ति हो जाती है। उपरोक्त जो प्रतिमाएं हैं (पांच मासिकी आदि) उनका परिकर्म अन्य वर्ष में और प्रतिपत्ति भी अन्य वर्ष में होती है। जिसने प्रतिमाओं का पहले आचरण कर लिया, वह चाहे तो उनके लिए परिकर्म करे या न करे। शेष अर्थात् जिसने जिस प्रतिमा का आचरण नहीं किया, उसको उसके प्रति परिकर्म करना ही होता है।

८०३. आमंतेऊण गणं, सबालवुड्ढाउलं खमावेत्ता।
उग्गतवभावियप्पा, संजम पढमे वे बितिए वा॥

वह पारिहारिक मुनि आबालवृद्धाकुल संघ को आमंत्रित कर क्षमायाचना करता है। वह उग्रतप से अपनी आत्मा को भावित करता है। (प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से) वह मुनि (मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासनवर्ती हो तो) प्रथम चारित्र अर्थात् सामायिक चारित्र को और यदि (प्रथम य अंतिम तीर्थंकर के शासनवर्ती हो तो) दूसरा—छेदोपस्थानीय चारित्र में होता है।

८०४. पग्गहियमलेवकडं, भत्तजहण्णेण नवविधो उवही।
पाउरणवज्जियस्स उ, इयरस्स दसादि जा बारा॥

वह अलेपकृत भक्तपानक लेता है। सात पिण्डैषणाओं में प्रथम तीन का वर्जन कर शेष चार में से किसी भी पिण्डैषणा का ग्रहण कर सकता है। जो प्रावरणवर्जी है (प्रावरण लेने का अभिग्रह है) उसके जघन्यतः नौ प्रकार की उपधि होती है। दूसरे के वह दस या बारह प्रकार की होती है।[1]

८०५. वसहीए निग्गमणं,
हिंडंतो सव्वभंडमादाय।
न य निक्खिवति जलादिसु,
जत्थ से सूरो वयति अत्थं॥

वसति से बाहर निर्गमन करने पर अपने समस्त भांड—उपकरणों को लेकर घूमे। कहीं उनका निक्षेप न करे। जाते हुए जहां भी जल, स्थल, कानन आदि में सूर्यास्त हो वहीं कायोत्सर्ग में स्थित हो जाए अथवा ऐसे ही ठहर जाए। एक पैर भी आगे न बढ़े।

८०६. मणसा वि अणुग्घाया, सच्चित्ते यावि कुणति उवदेसं।
अच्चित्तजोग्गगहणं, भत्तं पंथो य ततियाए॥

मन, वचन और काया से उसे जो भी प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं, वे सारे अनुद्घात गुरु होते हैं। सचित्त का लाभ अर्थात् प्रव्रजित होने वाले का लाभ हो तो उसे वह केवल उपदेश ही दे, प्रव्रजित न करे। जो अचित्त अर्थात् भक्त-पान का लाभ हो तो वह उसे ग्रहण करे। विहार तीसरे प्रहर में करे।

८०७. एमेव गणायरिए, गणनिक्खिवणम्मि नवरिं नाणत्तं।
पुव्वोवहिस्स अहवा, निक्खिवणपुव्वगहणं तु॥

प्रतिमा प्रतिपत्ति की जो विधि भिक्षुक के लिए कथित है वही विधि गणावच्छेदी, आचार्य तथा उपाध्याय के लिए है। उसमें नानात्व यही है कि गणावच्छेदी अपने गणावच्छेदित्व का निक्षेपण कर देता है। आचार्य अन्य गणधर को स्थापित कर प्रतिमा स्वीकार करता है। अथवा यह नानात्व है—गणावच्छेदी और आचार्य पूर्वगृहीत उपधि का निक्षेप कर अन्य उपधि को ग्रहण करते हैं।

८०८. तिरियमुब्भाम णियोग, दरिसणं साधु सण्णि वप्पाहे।
दंडिग भोइग असती, सावगसंघो व सक्कारं॥

प्रतिमा सम्पन्न कर भिक्षु उद्भ्रामक नियोग—जहां अनेक भिक्षाचार आते-जाते हों, उस ग्राम में जाता है और साधु अथवा संज्ञी—सम्यदृष्टि श्रावक को अपनी प्रतिमा सम्पन्न की बात कहता है। तब आचार्य राजा को यह बात कहकर उसका सत्कार कराते हैं। राजा के अभाव में भोजिक—नगरनायक, उसके अभाव में श्रावकवर्ग, अथवा साधु-संघ से उसका सत्कार करवाते हैं और पूर्ण ठाट-बाट के साथ उसको गच्छ में प्रवेश करवाते हैं।

८०९. उवभावणा पवयणे, सद्धाजणणं तहेव बहुमाणो।
ओहावणा कुतित्थे, जीतं तह तित्थवुड्ढी य॥

प्रवेश-सत्कार से प्रवचन की उद्भावना होती है, अनेक साधुओं में श्रद्धा पैदा होती है तथा अन्यान्य व्यक्तियों में बहुमान का भाव उद्भूत होता है। कुतीर्थ की अपभ्राजना—हीलना होती है। प्रतिमा अनुष्ठान की समाप्ति पर मुनि की सत्कार-पूजा करना जीतकल्प है। वह तीर्थ की वृद्धि का कारण बनता है।

८१०. एतेण सुत्त न गतं, सुत्तनिवातो इमो उ अव्वत्ते।
उच्चारितसरिसं पुण, परूवितं पुव्व भणितं पि॥

पूर्व में जो परिकर्म आदि विषय प्रतिपादित किया गया वह तीन सूत्रों में व्याख्यात नहीं है। वह विषय इन सूत्रों में नहीं है। वह सूत्रनिपात अव्यक्त विषयक था। प्रश्न होता है—यह विषय कहां से आया? समाधान में कहा गया—'उच्चारिय सरिसं' अर्थात् पूर्व में आचारदशा में भिक्षुप्रतिमा के संदर्भ में जो प्ररूपित था, उसी का सदृश अनुगमन किया गया है।[2]

---

१. नौ प्रकार की उपधि—१. पात्र २. पात्रबंध ३. पात्रस्थापन ४. पात्रकेसरिका ५. पटल ६. रजस्त्राण ७. गोच्छग ८. मुखवस्त्रिका ९. रजोहरण। १०-१२. तीन सौत्रिक कल्प।

२. जैसे सूत्र का एक खंड है—'एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए'—यह व्यक्त-अव्यक्त दोनों के लिए समानरूप से लागू होता है। यद्यपि सकलसूत्रनिपात अव्यक्त विषयक है, फिर भी इस सूत्रखंड के आधार पर व्यक्त विषयक परिकर्म की बात कहना अनुचित नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८११. आगमणे सक्कारं, कोई दट्ठूण जातसंवेगो।
आपुच्छण पडिसेहण, देवी संगामतो णीति॥

प्रतिमा संपन्न कर गण में आगमन पर उस भिक्षु का सत्कार देखकर किसी भिक्षु आदि के मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वह आचार्य से पूछता है—मैं भी एकलविहारप्रतिमा स्वीकार करना चाहता हूं। आचार्य उसको अयोग्य मानकर प्रतिषेध करते हुए एक देवी—रानी का उदाहरण कहते हैं जो राजा के द्वारा प्रतिषेध करने पर भी संग्राम में गई और शत्रु-राजा ने उसका अपहरण कर उसे मार डाला।

८१२. संगामे निवपडिमं, देवी काऊण, जुज्झति रणम्मि।
बितियबले नरवतिणा, नातुं गहिता धरिसिता य॥

एक रानी राजा का आकार धारण कर संग्राम में लड़ने गई। शत्रु सेना के नरपति ने जान लिया कि यह कोई स्त्री युद्ध कर रही है। उसके राजपुरुषों ने उसे पकड़ लिया और उसकी अवहेलना कर मार डाला।

८१३. दूरे ता पडिमाओ, गच्छविहारे वि सो न निम्माओ।
निग्गंतुं आसन्ना, नियत्तइ लहुय गुरू दूरे॥

वैसे अव्यक्त भिक्षु के प्रतिमा—स्वीकार की बात तो दूर रही, वह गच्छविहार—गच्छ की समाचारी में भी निष्णात नहीं है। यदि प्रतिषेध करने पर भी वह गच्छ से निकल कर निकटता से शीघ्र ही लौट आता है तो उसका प्रायश्चित्त है एक लघुमास और यदि दूर जाकर लौटता है तो उसका प्रायश्चित्त है एक गुरुमास।

८१४. सच्छंदो सो गच्छा, निग्गंतूणं ठितो उ सुण्णघरे।
सुत्तत्थसुण्णहियओ, संभरति इमेसिमेगागी॥
८१५. आयरिय-वसभसंघाडए य कंदप्प मासियं लहुयं।
एगाणिय सुण्णघरे, अत्थमिते पत्थरे गुरुगा॥

जो भिक्षु स्वच्छंद मति से गच्छ से निकल कर शून्यगृह आदि में कायोत्सर्ग में स्थित हो जाता है, वह सूत्रार्थ से शून्य हृदय वाला मुनि एकाकी होने के कारण आचार्य, वृषभ अथवा संघाटक मुनियों की स्मृति करता है तथा गच्छ में रहते हुए जिन-जिन मुनियों के साथ कंदर्प—हास्यक्रीडा की उनकी स्मृति करता है। उसे एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि शून्यगृह में एकाकी रहता हुआ दिन में भयभीत होता है तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त तथा सूर्यास्त के बाद डर कर पत्थर आदि ग्रहण करता है तो उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

८१६. पत्थर छुहए रत्ती, गमणे गुरुलहुग दिवसतो होंति।
आतसमुत्था एते, देवयकरणं तु वोच्छामि॥

यदि वह भिक्षु रात्री में डरकर शून्यगृह आदि में पत्थरों को एकत्रित करता है, अथवा रात्रि में ही गच्छ में लौट आता है तो उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। जो भय के कारण दिन में भी पत्थरों का संग्रह करता है अथवा गच्छ में लौट आता है तो उसे चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। ये आत्मसमुत्थ दोष कहे गए हैं। देवताकरण दोषों को मैं आगे कहूंगा।

८१७. पत्थरमणसंकप्पे, मग्गण दिट्ठे य गहित खित्ते य।
पडित परितावित मए, पच्छित्तं होति तिण्हं पि॥
८१८. मासो लहुओ गुरुगो, चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य।
छम्मासा लहु गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च॥

यदि भिक्षु भय के वशीभूत होकर पत्थर लेने का मानसिक संकल्प करता है तो लघुमास, प्रस्तर की मार्गणा करने पर गुरुमास, यह पत्थर ग्राह्य है—इस बुद्धि से अवलोकन करने पर चार लघुमास, पत्थर हाथ में लेने पर चार गुरुमास, मार्जार आदि पर फेंकने पर छह लघुमास, मार्जार आदि को पत्थर की मार लगने पर छह गुरुमास, अत्यंत परितापित होने पर छेद, मृत्यु को प्राप्त हो जाने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यह भिक्षु के लिए इस प्रसंग का प्रायश्चित्त है।

गणावच्छेदी के लिए—प्रस्तर के मनःसंकल्प में गुरुमास, मार्गणा में चार लघुमास, ग्राह्य बुद्धि से देखने पर चार गुरुमास, ग्रहण करने पर छह लघुमास, फेंकने पर छह गुरुमास, मार्जार आदि पर पत्थर गिरने पर छेद, गाढ परिताप होने पर मूल, मर जाने पर अनवस्थाप्य—ये प्रायश्चित्त हैं।

आचार्य के लिए—मनः संकल्प में चार लघुमास, मार्गणा में चार गुरुमास, ग्राह्यबुद्धि से देखने पर छह लघुमास, ग्रहण में छह गुरुमास, फेंकने पर छेद, घात्य पर गिरने से मूल, गाढ परिताप होने पर अनवस्थाप्य और मर जाने पर पारांचित प्रायश्चित्त आता है।

८१९. बहुपुत्ति पुरिसमेहे,
उदयग्गी जड्ड सप्प चउलहुगा।
अच्छण अवलोग नियट्ट,
कंटग गेण्हण दिट्ठे य भावे य॥

बहुपुत्री, पुरुषमेध, उदक, अग्नि, हाथी और सर्प—इनको देखकर पलायन करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। अच्छण—प्रतीक्षा, अवलोकन, निवर्तन, कंटकग्रहण, दृष्ट तथा भाव—इनमें यथायोग्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (यह द्वार गाथा है। व्याख्या अगली गाथाओं में।)

८२०. बहुपुत्तत्थी आगम, दोसूवलेसु तु थालि-विज्झवणं।
अण्णोण्णं पडिचोयण, वच्च गणं मा छले पंता॥

एक देव बहुपुत्री स्त्री का रूप बनाकर आया। दो उपलों पर स्थाली—पकाने का बर्तन रखकर, नीचे अग्नि प्रज्वलित कर दी। बर्तन नीचे गिर पड़ा। अग्नि बुझ गयी। वहीं अव्यक्तमुनि कायोत्सर्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में स्थित था। उसने देखा। परस्पर वार्तालाप हुआ। देवता ने कहा—गच्छ में लौट जाओ। अन्यथा कोई प्रांत देवता तुम्हें ठग लेगा।[1]

८२१. ओवाइयं समिद्धं महापसुं देमु सज्जमज्जाए।
एत्थेव ता निरिक्खह, दिट्ठे वाडुं व समणो वा॥

एक अव्यक्त मुनि दुर्गा के मंदिर पर कायोत्सर्ग में स्थित हो गया। एक पुरुष देवी की मनौति करते हुए बोला—यदि मेरा मनोरथ पूरा हो जायेगा तो मैं महापशु (पुरुष) की बलि दूंगा। उसका मनोरथ सिद्ध हो गया। उसने सोचा—देवी को महापशु चढाएं। उसने अपने आदमियों को महापशु की गवेषणा के लिए भेजा। उन्होंने वहां मुनि को देखा। उन्होंने कहा—इसकी बली दी जाए। यह सुनकर वह मुनि भय से पलायन कर जाता है, अथवा यह कहता है—मैं श्रमण हूं तो उसे चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

८२२. उदगभएण पलायति, पवति व रोहए सहसा।
एमेव सेसएसु वि, भएसु पडिकार मो कुणति॥

जो उदक के भय से पलायन कर जाता है, अथवा पानी में तैरता है, अथवा सहसा वृक्ष पर चढ़ जाता है, उसे चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार शेष सभी प्रकार के भय-प्रसंगों में प्रतिकार करता है तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

८२३. जेट्ठज्ज पडिच्छाही, अहं पि तुब्भेहि समं वच्चामि।
इति सुकलुणमालत्तो, मुज्झति सेहो अथिरभावो॥

कायोत्सर्ग समाप्त कर विहार करते हुए प्रतिमाधारी मुनि को भिक्षुणी का वेश बनाकर आया हुआ देवता कहता है—ज्येष्ठार्य! मैं तुम्हारे साथ चलूंगी। कुछ प्रतीक्षा करो। (मैं पैरों से कांटा निकाल लेती हूं।) वह शेक्ष मुनि उसके करुण वचनों को सुनकर मोहित हो जाता है और तब उसके भाव अस्थिर हो जाते हैं। प्रायश्चित्त पूर्ववत्।

८२४. अच्छति अवलोएति य, लहुगा पुण कंटगो मे लग्गो त्ति।
गुरुगा निवत्तमाणे, तह कंटगमग्गणे चेव॥

यदि वह मुनि 'मेरे कांटा लगा है' यह भिक्षुणी की बात सुनकर प्रतीक्षा करता है तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि उस का अवलोकन करता है तो वही प्रायश्चित्त। यदि वह गच्छ से निर्गत होकर दूर जाकर लौट आता है तथा भिक्षुणी के पांव में लगे कांटे की मार्गणा करता है तो प्रायश्चित्त है चार गुरुमास।

८२५. कंटगपायग्गहणे, छल्लहु छग्गुरुग चलणमुक्खेवे।
दिट्ठम्मि वि छग्गुरुगा, परिणयकरणे य सत्तट्ठे॥

यदि वह मुनि भिक्षुणी के कांटे लगे पैर को पकड़ता है तो छह लघुमास, यदि वह पैर को ऊंचा उठाता है तो छह गुरुमास और यदि योनि दिखती है तो छह गुरुमास और योनि दर्शन के पश्चात् यदि प्रतिसेवना के लिए भाव परिणत होता है तो छेद तथा प्रतिसेवना करने पर मूल—यह भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। गाथा में प्रयुक्त 'सत्तट्ठे' की व्याख्या।

गणावच्छेदी के लिए द्वितीय प्रायश्चित्त चार लघुमास से प्रारंभ कर सप्तम प्रायश्चित्त अनवस्थाप्य तक का है। आचार्य के लिए चतुर्गुरु से प्रारंभ कर आठवें पारांचित प्रायश्चित्त तक का विधान है।

८२६. लहुगा य दोसु दोसु य, गुरुगा छम्मास लहु गुरुच्छेदो।
भिक्खु गणायरियाणं, मूलं अणवट्ठ पारंची॥

भिक्षु की दो क्रियाओं—प्रतीक्षा और अवलोकन में चार लघुमास, दो क्रियाओं—निवर्तन और कंटकमार्गणा में चार गुरुमास, कंटकग्रहण और पादग्रहण—इन दो में छह लघुमास, पादोत्क्षेप और योनिदर्शन में छह गुरुमास, प्रतिसेवनाभिप्राय में छेद, प्रतिसेवना में मूल प्रायश्चित्त।

गणावच्छेदी के प्रसंग में—प्रतीक्षा में चार लघुमास, अवलोकन और निवर्तन—प्रत्येक में चार गुरुमास, कंटकमार्गणा और कंटकग्रहण—प्रत्येक में छह लघुमास, संयती के पादग्रहण में छह गुरुमास, पादोत्पाटन तथा सागारिकदर्शन—प्रत्येक में छेद, प्रतिसेवनाभिप्राय में मूल और प्रतिसेवना में अनवस्थाप्य।

आचार्य के प्रसंग में—प्रतीक्षा और अवलोकन प्रत्येक में चार गुरुमास, निवर्तन और कंटकमार्गणा प्रत्येक में छह लघुमास, कंटकग्रहण और पादग्रहण—प्रत्येक में छह गुरुमास, पादोत्पाटन में छेद, सागारिकदर्शन में मूल, प्रतिसेवनाभिप्राय में अनवस्थाप्य और प्रतिसेवना में पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

८२७. आसन्नातो लहुगो, दूरनियत्तस्स गुरुतरो दंडो।
चोदग संगामदुगं, नियट्ट खिंसंतऽणुग्घाया॥

८२८. दिट्ठं लोए आलोगभंगि वणिए य अवणिए नियत्तो।
अवराधे नाणत्तं, न रोयए केण तो तुज्झं॥

जो संयती के निकट प्रदेश से लौट आता है तो उसे लघु दंड अर्थात् चार लघुमास का दंड दिया जाता है और जो दूर से लौट आता है उसको गुरुतर दंड अर्थात् अनुद्घातित चार गुरुमास का दंड आता है। आचार्य का यह कथन सुनकर शिष्य ने संग्रामद्विक का दृष्टांत देते हुए कहा जो संग्राम से निवृत्त होना है उसकी खिंसना—हीलना होती है। होना यह चाहिए कि जो संयती प्रदेश के निकट से लौट आता है उसे गुरुतर दंड और दूर से प्रतिनिवृत्त होता है उसे लघु दंड आना चाहिए। क्योंकि लोक व्यवहार में भी

१. पूरे कथानक के लिए देखें—व्यवहारभाष्य, कथापरिशिष्ट।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह देखा जाता है कि जो योद्धा शत्रु की विशाल सेना को देखकर भयग्रस्त हो जाता है और लौट आता है, जो युद्ध में जाकर व्रणित होकर आता है और जो युद्ध कौशल से अव्रणित रहकर प्रतिनिवृत्त होता है–इन तीनों योद्धाओं के अपराध में नानात्व है। भंते! आपको मेरी बात रुचिकर क्यों नहीं लगती?

८२९. अक्खयदेहनियत्तं, बहुदुक्खभएण जं समाणेह।
एयं महं न रोयति, को ते विसेसो भवे एत्थ॥

८३०. एसेव व दिट्ठंतो, पुररोधे जत्थ वारितं रण्णा।
मा णीह तत्थ णिंते, दूरासन्ने य नाणत्तं॥

आचार्य बोले–शिष्य! जो योद्धा बहुदुःख–मरण के भय से भयभीत होकर अक्षतदेह रणभूमि से लौट आया है, उसके साथ जो तुम तुलना करते हो, यह मुझे नहीं रुचता। शिष्य बोला–भंते! इस विषय में आपका विशेष दृष्टांत क्या है? तब आचार्य ने कहा–वत्स! तुम्हारे द्वारा उपन्यस्त दृष्टांत शत्रुसेना द्वारा नगर को चारों ओर से घेर लेने पर कैसे लागू होगा? राजा ने यह घोषणा करवादी कि कोई नगर के बाहर न जाए। एक व्यक्ति नगर के बाहर गया और निकटता से ही लौट आया। दूसरा व्यक्ति नगर के बाहर दूर तक जाकर प्रतिनिवृत्त हुआ। इन दोनों के अपराध में नानात्व है, वैसे ही इस विषय में भी जानो। (क्योंकि संयती के निकट प्रदेश से लौट आने वाले का भावदोष अल्प होना है और संयती के दूर प्रदेश से आने वाले का भावदोष अधिक होता है। इसलिए दोनों के अपराध में तथा प्रायश्चित्त में नानात्व है।)

८३१. सेसम्मि चरित्तस्सा, आलोयणता पुणो पडिक्कमणं।
छेदं परिहारं वा, जं आवण्णे तयं पावे॥

८३२. एवं सुभपरिणामं, पुणो वि गच्छम्मि तं पडिनियत्तं।
जो हीलति खिंसति वा, पावति गुरुए चउम्मासे॥

प्रतिमाप्रतिपन्न के चारित्रविराधना होने पर भी चारित्र का सर्वथा नाश नहीं होता, चारित्र शेष रहता है। वह पुनः आलोचना और प्रतिक्रमण करता है। उसे छेद अथवा परिहार प्रायश्चित्त जो दंडस्वरूप आता है वह उसे स्वीकार करता है। वह मुनि आलोचना आदि कर शुभपरिणामों से युक्त होकर गच्छ में लौट आता है और उसकी कोई हीलना, खिंसना करता है तो उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

८३३. उत्ता वितिण्णगमणा, इदाणिमविदिण्ण निग्गमे सुत्ता।
पडिसिद्धमवत्तस्स व, इमेसु सव्वेसु पडिसिद्धं॥

पहले सूत्रों में अभिशय्या आदि में वितीर्णगमन अर्थात् अनुज्ञातगमन की बात कही गई है। प्रस्तुत सूत्रों में अवितीर्णगमन अर्थात् अननुज्ञातगमन का प्रतिषेध किया गया है। पहले वाले सूत्रों में अव्यक्त का निर्गमन प्रतिषिद्ध था। इनमें व्यक्त-अव्यक्त सभी का निर्गमन प्रतिषिद्ध है।

८३४. पासत्थ अहाछंदो, कुसील ओसन्नमेव संसत्तो।
एतेसिं नाणत्तं, वोच्छामि अधाणुपुव्वीए॥

पार्श्वस्थ, यथाच्छंद, कुशील, अवसन्न तथा संसक्त–इनमें जो नानात्व है, वह मैं यथानुपूर्वी से कहूंगा।

८३५. गच्छम्मि केइ पुरिसा, सउणी जह पंजरंतरनिरुद्धा।
सारण-पंजर-चइया, पासत्थगतादि विहरंति॥

जैसे पिंजरे में निरुद्ध पक्षी कष्ट पाता है, वैसे ही गच्छ में कई पुरुष (मुनि) सारणारूपी पिंजरे से निकलकर पार्श्वस्थ आदि के रूप में विहरण करते हैं।

८३६. तेसिं पायच्छित्तं, वोच्छं ओघे य पदविभागे य।
ठप्पं तु पदविभागे, ओहेण इमं तु वोच्छामि॥

पार्श्वस्थ आदि का सामान्यरूप से तथा पदविभाग–कालादि के आधार पर प्रायश्चित्त कहूंगा। पदविभाग के आधार पर जो प्रायश्चित्त आता है, वह अभी स्थाप्य है अर्थात् आगे कहूंगा। ओघ अर्थात् सामान्यरूप से प्रायश्चित्त का कथन करूंगा।

८३७. ऊसववज्ज कदाई, लहुओ लहुया अभिक्खगहणम्मि।
ऊसवकदाइ लहुगा, गुरुगा य अभिक्खगहणम्मि॥

उत्सव के बिना यदि कभी शय्यातर पिंड आदि लिया हो तो एक लघुमास का और यदि बार-बार लिया हो तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उत्सव पर शय्यातर आदि पिंड लेने पर चार लघुमास और बार-बार लेने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त है।

८३८. चउ-छम्मासे वरिसे,
कदाइ लहु गुरुग तह य छग्गुरुगा।
एतेसु चेवऽभिक्खं,
चउगुरु तह छग्गुरुच्छेदो॥

यदि चार मास में कभी शय्यातरपिंड लिया हो तो चार लघुमास, छह मास में कभी लिया हो तो चार गुरुमास, वर्षभर में कभी लिया हो तो छह गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। इन्हीं चारमास, छहमास, वर्षभर में बार-बार लिया हो तो क्रमशः चार गुरुमास, छह गुरुमास तथा छेद का प्रायश्चित्त आता है।

८३९. एसो उ होति ओघे, एत्तो पदविभागतो पुणो वोच्छं।
चउत्थमासे चरिमे ऊसववज्जं जदि कदाइ॥

८४०. गेण्हति लहुओ लहुया, गुरुया इत्तो अभिक्खगहणम्मि।
चउरो लहुया गुरुया, छग्गुरुया ऊसवविवज्जा॥

यह सारा ओघतः प्रायश्चित्त है। अब आगे पुनः पदविभाग से प्रायश्चित्त का कथन करूंगा। यदि उत्सववर्ज चार महीनों में कभी शय्यातरपिंड लेने पर एक लघुमास, छह महीनों में कदाचित् लेने पर चार लघुमास तथा वर्ष में कदाचित् लेने पर चार गुरुमास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रायश्चित्त है। चार महीनों, छह महीनों तथा वर्ष में बार-बार लेने पर क्रमशः चार लघुमास, चार गुरुमास तथा छह गुरुमास का प्रायश्चित्त है।

८४१. उस्सव कदाइगहणे, चउरो लहुगा छग्गुरुगा।
एवं अभिक्खगहणे, छग्गुरु चउ छग्गुरुच्छेदो॥

उत्सव में चार महीने, छह महीने अथवा वर्ष में कभी शय्यातरपिंड लेने पर क्रमशः यह प्रायश्चित्त है—चार लघुमास, चार गुरुमास तथा छह गुरुमास। इसी काल में बार-बार लेने पर क्रमशः यह प्रायश्चित्त है—छह गुरुमास, चार गुरुमास और छेद तथा छह गुरुमास और छेद।

८४२. ऊसववज्ज न गेण्हति, निब्बंधो ऊसवम्मि गेण्हति उ।
अज्झोयरगादीया, इति अहिगा ऊसवे सोही॥

लोग सोचते हैं—उत्सव रहित दिनों में यह साधु भिक्षा नहीं लेता। उत्सव में भी यह अत्यंत आग्रह करने पर लेता है। इसको पर्याप्त देना चाहिए। अतः इसमें अध्यवपूरक आदि दोष संभव होते हैं। इसलिए उत्सव में अधिकतर प्रायश्चित्त दिया जाता है।

८४३. एवं उवट्ठियस्सा, पडितप्पिय साधुणो पदं हसति।
चोदेति राग-दोसे, दिट्ठंतो पण्णगतिलेहिं॥

इस प्रकार शय्यातरपिंड आदि का प्रतिसेवन कर उपस्थित मुनि, जिसने साधुओं को भक्त-पान द्वारा प्रतितर्पित कर दिया है, उसके प्रतिसेवन का पद—प्रायश्चित्त कम हो जाता है।[1]

शिष्य आचार्य को कहता है—इस प्रकार आप राग-द्वेष से ग्रस्त हैं। इस पर पन्नकतिलों का दृष्टांत है।

८४४. जो तुम्हं पडितप्पति, तस्सेगट्ठाणगं तु हासेह।
वड्ढेह अपडितप्पे, इति रागद्दोसिया तुब्भे॥

शिष्य कहता है—प्रभो! जो आपको प्रतितर्पित करता है उसके प्रायश्चित्त के एक स्थान को आप ह्रस्व कर देते हैं और जो प्रतितर्पित नहीं करता उसके एक स्थान को आप बढ़ा देते हैं। यह आपकी प्रवृत्ति राग-द्वेषयुक्त है।

८४५. इहरह वि ताव चोदग! कडुयं तेल्ल तु पन्नगतिलाणं।
किं पुण निंबतिलेहिं, भावितयाणं भवे खज्जं॥

हे शिष्य! पन्नकतिल—दुर्गंधतिलों का तेल कटुक ही होगा। उन तिलों को निम्बतिलों[2] (निंब-कुसुमों) से भावित कर देने पर भी क्या उनका तेल खाने के योग्य हो जाता है? कभी नहीं।

८४६. एवं सो पासत्थो, अवण्णवादी पुणो य साधूणं।
तस्स य महती सोधी, बहुदोसो सोत्थ भो चेव॥

इस प्रकार उस पार्श्वस्थ सामाचारी का पालन करने वाले तथा साधुओं का अवर्णवाद बोलने वाला साधु के शोधि—प्रायश्चित्त महान् होता है, क्योंकि वह बहुत दोषों का आसेवन करने वाला होता है।

८४७. जह पुण ते चेव तिला, उसिणोदग धोत खीरउव्वक्का।
तेसिं जं तेल्लं तू, तं घयमंडं विसेसेति॥

उन्हीं पन्नकतिलों को यदि गर्म पानी से धोकर फिर कुछ समय तक दूध में भिगोकर रखा जाए और पश्चात् उनसे जो तेल निकाला जाए वह घृतमांड अर्थात् घृतसार से भी विशेष होता है।

८४८. कारण संविग्गाणं, आहारादीहि तप्पितो जो उ।
नीयावत्तणुतावी, तप्पक्खिय वण्णवादी य॥
८४९. पावस्स उवचियस्स वि, पडिसाडण मो करेति एवं तु॥
सव्वासिरोगिउवमा, सरदे य पडे अविधुयम्मि॥

जो पार्श्वस्थ मुनि कारण अर्थात् अशिव, अवमौदर्य आदि समय में संविग्न मुनियों को आहार आदि से तर्पित करता है, उनको वंदना करता है, प्रतिसेवना के प्रति अनुतापी होता है, संविग्नपाक्षिक होता है तथा उन मुनियों की श्लाघा करता है—इस प्रकार वह पार्श्वस्थरूप से उपचित पाप का परिशाटन कर देता है। यहां सर्वाशीरोगी तथा अविधूत शारदीय पट की उपमा है।

८५०. पण्णे य थंते किमिणे, य अणुवातं च ठितो उल्लो य।
केण वि से वातपुट्ठेण, बुभुलइयं मुणेऊणं॥

पन्नगतिल, स्थापित, दुरभिगंध, अनुन्नात, स्थित तथा आर्द्र किसी वातस्पृष्ट से, बहुभक्षी जानकर।

(इसमें तीन उपमाएं—दृष्टांत हैं। पन्नगतिलों का दृष्टांत गाथा ८४५ तथा ८४७ में आ चुका है। प्रस्तुत है सर्वाशीरोगी और शारदीय पट का दृष्टांत।)

दो प्रकार के रोगी हैं—एक है सर्वाशीरोगी अर्थात् बहुभक्षकरोगी और दूसरा है—असर्वाशीरोगी अर्थात् अल्पभक्षक रोगी। सर्वाशीरोगी की चिकित्सा कर्कश पद्धति से करने पर ही वह रोग-मुक्त हो सकता है और असर्वाशीरोगी की चिकित्सा अल्प क्रिया से संपन्न हो जाती है।

दो शारदीय वस्त्र हैं। एक वस्त्र को ऐसे स्थान पर रखा जाता है जहां वह प्रतिदिन वायु के द्वारा धुना जाता है और दूसरा वस्त्र वैसे स्थान पर नहीं रखा जाता। कालक्रम से जब वे दोनों वस्त्र मलिन होते हैं तब वायु से निरंतर विधूत वस्त्र का मैल अल्प प्रयत्न से छूट जाता है और दूसरे वस्त्र का मैल बहुत प्रयत्न से छूटता है।

(इसी प्रकार जो पार्श्वस्थ है, साधुओं का अवर्णवाद बोलने वाला है वह महान् प्रायश्चित्त से ही शुद्ध हो सकता है, इसलिए उसे पूरा प्रायश्चित्त दिया जाता है और दूसरा पार्श्वस्थ मुनि जो

१. यदि तीन मास का प्रायश्चित्त आया हो तो उसमें से एक कम कर देते हैं। यदि दो मास का प्रायश्चित्त हो तो एक कम कर देते हैं।

२. वृत्ति पत्र १०९ : निंबतिलैः—तिला इव सूक्ष्मत्वात् निंबतिलाः कुसुमानि....निंबकुसुमैः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुओं को प्रतर्पित करता है, वर्णवाद बोलता है, उसके प्रायश्चित्त में ह्रास भी किया जाता है।)

८५१. थोवं भिन्नमासादिगाउ, य राइंदियाइ जा पंच।
सेसेसु पदं हसती, पडितप्पिय एतरे सकलं॥

स्तोक अर्थात् भिन्नमास से प्रारंभ कर यावत् पांच रात-दिन के प्रायश्चित्त से मुक्त हो जाता है। भिन्नमास से ऊपर के प्राप्त-प्रायश्चित्त में जो शेष है, वह साधुओं को प्रतर्पित करने पर छूट जाता है। इतर अर्थात् जो साधुओं को प्रतर्पित नहीं करता उसको परिपूर्ण प्रायश्चित्त दिया जाता है।

८५२. दुविहो खलु पासत्थो, देसे सव्वे य होति नायव्वो।
सव्वे तिन्नि विकप्पा, देसे सेज्जातरकुलादी॥

पार्श्वस्थ दो प्रकार के होते हैं—देशतः और सर्वतः। सर्वतः पार्श्वस्थ के तीन विकल्प हैं और देशतः पार्श्वस्थ वह है जो शय्यातरकुल की प्रतिसेवना करता है।

८५३. दंसण-नाण-चरित्ते-तवे य अत्ताहितो पवयणे य।
तेसिं पासविहारी, पासत्थं तं वियाणाहि॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा प्रवचन में जो हृतात्मा अर्थात् सम्यग् योगवान नहीं है, जो ज्ञान आदि के पार्श्व—तट पर विहरण करता है वह पार्श्वस्थ है। (यह सर्वतः पार्श्वस्थ का पहला विकल्प है।)

८५४. दंसण-नाण-चरित्ते, सत्थो अच्छति तहिं न उज्जमति।
एतेणउ पासत्थो, एसो अन्नो वि पज्जाओ॥

जो दर्शन, ज्ञान, और चारित्र में स्वस्थ—अपने आप में रहता है परंतु उनमें उद्यम नहीं करता, पुरुषार्थ नहीं करता, इसलिए वह पार्श्वस्थ होता है। यह भी अन्य पर्याय है (यह दूसरा विकल्प है।)

८५५. पासो त्ति बंधणं ति य, एगट्ठं बंधहेतवो पासा।
पासत्थिय पासत्थो, अन्नो वि एस पज्जाओ॥

पाश और बंधन एकार्थक हैं। जितने भी बंध के हेतु हैं वे पाश हैं।[1] जो पाश में स्थित हैं वह है पाशस्थ। यह भी उसका एक पर्याय है।

८५६. सेज्जायरकुलनिस्सित,ठवणकुलपलोयणा अभिहडे य।
पुव्विं पच्छासंथुत, णितियग्गपिंडभोइ य पासत्थो॥

जो शय्यातरकुल, निश्रितकुल, स्थापनाकुल का आहार लेता है, जो संखडी आदि का प्रलोकन करता रहता है, अभिहृत, पूर्वसंस्तुत तथा पश्चात् संस्तुत, नित्यपिंड तथा अग्रपिंड का भोजी होता है वह देशतः पार्श्वस्थ है।

८५७. आइण्णमणाइण्णं, निसीधऽभिहडं च णो निसीहं च।
सामावियं च नियतं, निकायण निमंतणा लहुगो॥

अभ्याहृत के दो प्रकार हैं—आचीर्ण और अनाचीर्ण। अनाचीर्ण के दो प्रकार हैं—निशीथ अभ्याहृत और नोनिशीथ अभ्याहृत। स्वाभाविक के तीन प्रकार हैं—नियत, निकाचित तथा निमंत्रित। ये सब लेने वाला देशतः पार्श्वस्थ है। तीनों का प्रायश्चित्त है एक-एक लघुमास।[2]

८५८. संविग्गजणो जड्डो, जह सुहिओ सारणाए चइओ उ।
वच्चति संभरमाणो, तं चेव गणं पुणो एति॥

संविग्न जन हाथी की तरह होता है। संविग्न मुनि सुखपूर्वक रह रहा था। वह स्मारणा को सहन न करता हुआ गण को छोड़कर पार्श्वस्थ विहार में चला गया। वहां वह संविग्न जीवन की स्मृति करता हुआ पुनः उसी गण में लौट आता है।

८५८./१. किह पुण एज्जाहि पुणो,
जध वणहत्थी तु बंधणं चतितो।
गंतूण वणं एज्जा,
पुणो वि सो चारिलोभेणं॥

८५८/२. एवं सारणवतितो, पासत्थादीसु गंतु सो एज्जा।
सुद्धो वि चारिलोभो, सारणमादीणवट्ठाए॥

वह मुनि पुनः गण में कैसे आता है? जैसे हाथी नगर के बंधन से मुक्त होकर वन में चला जाता है। फिर वह चारि के लोभ में पुनः नगर में आ जाता है। इसी प्रकार वह मुनि स्मारणा को सहन न करके पार्श्वस्थ आदि में चला जाता है, परंतु चारिलोभ (संविग्न जीवन की स्मृति और सत्कार आदि के लोभ) से पुनः शुद्धरूप में लौट आता है।

८५८/३. आलोइयम्मि सेसं,
जति चारित्तस्स अत्थि से किंचि।
तो दिज्जति तव-छेदो,
अध नत्थि ततो से मूलं तु॥

जब वह आलोचना के लिए तत्पर होता है और यदि उसमें चारित्र किंचित् भी शेष हो तो उसे तप अथवा छेद का प्रायश्चित्त दिया जाता है और यदि चारित्र है ही नहीं तो उसे मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

८५९. अत्थि य सि सावसेसं, जइ नत्थी मूलमत्थि तव-छेदा।
थोवं जति आवण्णो, पडितप्पिय साहुणं सुद्धो॥

---

१. आचीर्ण—तीन गृहांतर से लाया हुआ। अनाचीर्ण—तीन घरों के पर से लाया हुआ। निशीथ अभ्याहृत—साधु के अविदित अभ्याहृत, नोनिशीथ अभ्याहृत—साधु के विदित आनीत। कारण अथवा निष्कारण—इनको लेने वाला देशतः पार्श्वस्थ है।

प्रथम समागत श्रमण या अन्य को जो अग्रपिंड दिया जाता है वह है स्वाभाविक। जो भूतिकर्म आदि के कारण चातुर्मास पर्यंत प्रतिदिन निबद्धीकृतरूप में जो दिया जाता है वह है निकाचित। जो प्रतिदिन निमंत्रण पुरस्सर दिया जाता है वह है निमंत्रित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह मुनि जब आलोचना के लिए उपस्थित होता है तब आचार्य को देखना चाहिए कि उसका चारित्र सावशेष है अथवा नहीं। यदि नहीं है तो उसको मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए और यदि है तो उसे तप अथवा छेद प्रायश्चित्त देना चाहिए और यदि है तो उसे स्तोक प्रायश्चित्त आता हो और वह साधुओं को प्रतितर्पित करता हो तो, वह उसी से शुद्ध हो जाता है। उसे प्रायश्चित्त-मुक्त कर दिया जाता है।

८६०. उस्सुत्तमायरंतो, उस्सुत्तं चेव पण्णवेमाणो।
एसो उ अधाछंदो, इच्छाछंदो त्ति एगट्ठा॥

जो उत्सूत्र का आचरण करता है और दूसरों को उत्सूत्र की प्ररूपणा करता है तो वह यथाच्छंद कहलाता है। इच्छा और छंद एकार्थक शब्द हैं।

८६१. उस्सुत्तणुवदिट्ठं, सच्छंदविगप्पियं अणणुवादी।
परतत्तिपवित्ते तिंतिणे य इणमो अहाछंदो॥

जो तीर्थंकर आदि द्वारा अनुपदिष्ट है, जो अपनी मति से प्रकल्पित है, जो सिद्धांत के साथ घटित नहीं होता वह उत्सूत्र कहलाता है। जो उत्सूत्र का आचरण और प्ररूपण करता है वही यथाच्छंद नहीं होता, किंतु जो परतत्तिप्रवृत्त अर्थात् गृहस्थ के कार्यों में प्रवृत्त होता है, तनतनाहट करता रहता है, वह भी यथाच्छंद होता है।

८६२. सच्छंदमतिविगप्पिय, किंची सुहसायविगतिपडिबद्धो।
तिहि गारवेहि मज्जति, तं जाणाहि य अधाछंदं॥

जो लोलुपता के कारण अपनी स्वच्छंद मति से कुछ प्ररूपणा कर किंचित् सुख आस्वादन के लिए विकृति (विगय) में प्रतिबद्ध होकर, तीन गौरवों—ऋद्धि, रस और सात—में मद करता है, उसको भी यथाच्छंद जानना चाहिए।

८६३. अहछंदस्स परूवण, उस्सुत्ता दुविध होति नायव्वा।
चरणेसु गतीसुं जा, तत्थ य चरणे इमा होति॥

८६४. पडिलेहण मुहपोत्तिय रयहरण-निसेज्ज-मत्तए पट्टे।
पडलाइ चोल उण्णादसिया पडिलेहणा पोत्ते॥

यथाच्छंद मुनि की उत्सूत्र प्ररूपणा दो प्रकार की जाननी चाहिए—चारित्र विषयक तथा गति विषयक। चारित्र विषयक प्ररूपणा इस प्रकार है—जो मुखवस्त्रिका है वही प्रतिलेखनीया—पात्रकेसरिका है, रजोहरण की दो निषद्याओं के बदले एक ही निषद्या हो, पात्र और मात्रक दो क्यों, एक ही हो अर्थात् जो पात्र है वही मात्रक हो और जो मात्रक है वही पात्र हो, दिन में जो चोलपट्ट हो रात्रि में वही संस्तारक का उत्तरपट्ट हो, चोलपट्ट ही (दुगुना, तिगुना कर) पटलक के रूप में काम लिया जाए, रजोहरण की दशाएं ऊन से क्यों सूत की बनाई जाएं तथा प्रतिलेखना-पोत अर्थात् प्रतिलेखना करते समय एक कपड़ा बिछाकर उस पर प्रतिलेखित सारे उपकरण रखे, फिर उपाश्रय के बाहर जाकर प्रतिलेखना करे।

८६५. दंतच्छिन्नमलित्तं, हरियठित पमज्जणा य णिंतस्स।
अणुवादि अणणुवादी, परूवणा चरणमादीसु॥

हाथ-पैर के नखों को दांतों से काटे, पात्र पर लेप न करे, हरियाली पर प्रतिष्ठित भक्तपान ग्राह्य है, यदि आच्छन्न प्रदेश में प्रमार्जना की जाती है तो बाहर खुले आकाश में भी प्रमार्जन करे। इस प्रकार यथाच्छंद मुनि चरणविषयक अनुपातिनी और अननुपातिनी प्ररूपणा करता है।

८६६. अणुवाति त्ती णज्जति, जुत्तीपडितं तु भासए एसो।
जं पुण सुत्तावेयं, तं होही अणणुवाइ त्ति॥

यथाच्छंद जब कहता है तब यदि यह प्रतीत होता है कि यह युक्तिसंगत बात कह रहा है तो वह अनुपातिनी प्ररूपणा है और जो सूत्र के विपरीत होती है वह अननुपातिनी प्ररूपणा है।

८६७. सागारियादि पलियंकनिसेज्जासेवणा य गिहिमत्ते।
निग्गंथिचिट्ठणादी, पडिसेहो मासकप्पस्स॥

सागारिक आदि अर्थात् शय्यातरपिंड तथा स्थापनाकुल आदि का पिंड ग्रहण करना, पर्यंक तथा गृहनिषद्या का सेवन करना, गृहस्थ के पात्र में भोजन करना तथा निर्ग्रन्थिनी के उपाश्रय में बैठना-उठना—इन सब प्रवृत्तियों में कोई दोष नहीं है। मासकल्प का प्रतिषेध भी व्यर्थ है—यह यथाच्छंद की प्ररूपणा का अंश है।

८६८. चारे वेरज्जे या, पढमसमोसरण तह य नितिएसु।
सुण्णे अकप्पिए या, अण्णाउंछे य संभोए॥

यथाच्छंद कहता है—चतुर्मास में जब वर्षा न हो तब विहार करने में कोई दोष नहीं है। वैराज्य में जाना, प्रथम समवसरण अर्थात् प्रथम वर्षाकाल में वस्त्र, पात्र आदि लेना, नित्यवास करना, वसति को शून्य कर जाना, अकल्पित अर्थात् अगीतार्थ शैक्ष द्वारा लाया गया अज्ञातोञ्छ का परिभोग करना—इन सब क्रियाओं में कोई दोष नहीं है। सभी पांच महाव्रतधारी मुनि सांभोगिक हैं।

८६८/१. सागारियपिंडे को दोसो, फासुए ठवण चेव पलियंके।
गिहिनिसेज्जाए को दोसो, उवसंतेसु गुणाहिओ॥

८६८/२. गिहिमत्तेणुड्डाहो, निग्गंथीचिट्ठणादि को दोसो।
जस्स तु तधियं दोसो, होही तस्सण्णठाणेसु॥

८६८/३. पडिसेधो मासकप्पे, तिरियादी उ बहुविधो दोसो।
सुत्तत्थपारिहाणी, विराधणा संजमातो य॥

८६८/४. वेरज्जे चरंतस्स, को दोसो चत्तमेव देहं तु।
फासुयपढमोसरणे, को दोसो णितियपिंडे य॥

८६८/५. सुण्णाए वसधीए, उवघातो किन्नु होति उवधिस्स।
पाणवधादि असंते, अधव असुण्णा वि ऊहम्मे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागारिकपिंड–शय्यातरपिंड ग्रहण करने में, स्थापनाकुलों में प्रवेश करने में, पर्यंक का परिभोग करने में–इनमें क्या दोष है। घरों में निषद्या करने पर धर्मश्रवण से प्रभूत गुण उत्पन्न होते हैं।

गृही के पात्र में भोजन करने से प्रवचन का उड्डाह नहीं होता। निर्ग्रंथियों के उपाश्रय में बैठने से कौनसा दोष है? वहां बैठने से जो दोष होते हैं वे तो अन्य स्थानों में बैठने से भी हो सकते हैं।

मासकल्प का प्रतिषेध क्यों? तिर्यंच आदि का बहुविध दोष होता है। सूत्र और अर्थ की परिहानि होती है तथा संयम की विराधना होती है। वैराज्य में विहरण करने में कौनसा दोष है? मुनि ने यथार्थरूप में देह को छोड़ ही दिया। प्रथम समवसरण (प्रथम वर्षावास) में प्रासुक वस्त्र, पात्र लेने में क्या दोष है? नित्यवास में नित्यपिंड लेने में क्या दोष है?

शून्य वसति में यदि उपधि का उपघात न हो तथा प्राणवध आदि न हो तो वसति को शून्य करने में क्या दोष है? वसति को अशून्य करने पर भी उपघात हो सकता है।

८६९. किंवा अकप्पिएणं गहियं फासुं तु होति अब्भोज्जं।
अन्नाउंछं को वा, होति गुणो कप्पिते गहिते॥

अकल्पिक–अगीतार्थ द्वारा गृहीत प्रासुक भक्त-पान अभोज्य कैसे हो जाता है और कल्पिक द्वारा गृहीत उञ्छ भोज्य कैसे हो जाता है? कल्पिक द्वारा गृहीत में कौन सा गुण उत्पन्न हो जाता है?

८७०. पंचमहव्वयधारी, समणा सव्वे वि किं न भुंजंति।
इय चरणवितथवादी, एत्तो वोच्छं गतीसुं तु॥

सभी पांच महाव्रतधारी श्रमण क्या भोजन नहीं करते? सभी सांभोगिक हैं। इस प्रकार चरणविषयक वितथवादी यथाच्छंद बताया गया। अब गतिविषयक वितथवादी यथाच्छंद का कथन करूंगा।

८७१. खेत्तं गतो उ अडविं, एक्को संचिक्खती तहिं चेव।
तित्थकरो त्ति य पियरो, खेत्तं पुण भावतो सिद्धी॥

गति (मनुष्य गति आदि) विषयक वितथ प्ररूपणा–एक कृषक के तीन पुत्र थे। एक खेत में जाता। एक जंगल में यत्र-तत्र घूमता रहता, एक घर पर ही बैठा रहता है। पिता के मर जाने पर सबको समान संपत्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार तीर्थंकर पितृस्थानीय हैं, क्षेत्रफल है भावतः सिद्धिगमन। तुम्हारे द्वारा–अन्य श्रमणों द्वारा उपार्जित सिद्धि में हमारा भी संभाग है। (ऐसे यथाच्छंद कहता है।)

८७२. जिणवयणसव्वसारं, मूलं संसारदुक्खमोक्खस्स।
सम्मत्तं मइलेत्ता, ते दुग्गतिवड्ढगा होंति॥

वे यथाच्छंदी मुनि जिन वचन के सर्वसारभूत तथा सांसारिक दुःख के विमोचक मूल कारणभूत सम्यक्त्व को मलिन कर दुर्गति को बढ़ाने वाले होते हैं।

८७३. सक्कमहादीया पुण पासत्थे ऊसवा मुणेयव्वा।
अधछंद ऊसवो पुण, जीए परिसाय उ कधेति॥

पार्श्वस्थ के ये उत्सव माने जाते हैं–इंद्रमह, रुद्रमह आदि। यथाच्छंद के वे उत्सव होते हैं जो वह परिषद् में कहता है।

८७४. जधि लहुगो तधि लहुगा,
जधि लहुगा चउगुरू तधिं ठाणे।
जधि ठाणे चउगुरुगा,
छम्मासा ऊ तहिं जाणे॥

८७५. जधियं पुण छम्मासा, तहि छेदो छेदठाणए मूलं।
पासत्थे जं भणियं, अहछंद विवड्ढियं जाणे॥

पार्श्वस्थ के जहां एक लघुमास का प्रायश्चित्त है वहां यथाच्छंद के चार लघुमास, जहां चार लघुमास हैं वहां यथाच्छंद के चार गुरुमास, जहां चार गुरुमास हैं वहां यथाच्छंद के छह गुरुमास, जहां छह गुरुमास हैं वहां यथाच्छंद के छेद, जहां छेद वहां मूल। पार्श्वस्थ के लिए जो प्रायश्चित्त का विधान है वहां यथाच्छंद को उससे प्रवर्धित प्रायश्चित्त आता है।[1]

८७६. पासत्थे आरोवण, ओहविभागेण वण्णिता पुव्वं।
सच्चेव निरवसेसा, कुसीलमादीण णेयव्वा॥

पहले पार्श्वस्थ के प्रायश्चित्त का ओघ तथा विभाग से आरोपणा का वर्णन किया गया था। वही प्रायश्चित्त विधान कुशील आदि के लिए निरवशेष जानना चाहिए।

८७७. एत्तो तिविधकुसीलं, तमहं वोच्छामि आणुपुव्वीए।
दंसण-नाण-चरित्ते, तिविध कुसीलो मुणेयव्वो॥

८७८. नाणे नाणायारं, जो तु विराधेति कालमादीयं।
दंसणे दंसणायारं, चरणकुसीलो इमो होति॥

मैं कुशील के तीन प्रकारों को क्रमशः कहूंगा। दर्शनकुशील, ज्ञानकुशील और चारित्रकुशील–ये तीन प्रकार के कुशील होते हैं। जो काल आदि ज्ञानाचार की विराधना करता है वह ज्ञानकुशील और जो दर्शनाचार की विराधना करता है वह दर्शन कुशील होता है। चरणकुशील यह होता है–

८७९. कोउगभूतीकम्मे, परिणाऽपसिणे निमित्तमाजीवी।
कक्क-कुरुया य लक्खण, उवजीवति मंत-विज्जादी।

१. पूछा गया कि यथाच्छंद को अधिक प्रायश्चित्त क्यों? वृत्तिकार कहते हैं कि कुप्ररूपणा अतिदोषवाली होती है। पार्श्वस्थत्व तीन में होता है–भिक्षु, गणावच्छेदक तथा आचार्य। यथाच्छंदत्व केवल भिक्षु में ही होता है। अतः पार्श्वस्थ विषयक सूत्र त्रिसूत्रात्मक और यथाच्छंदविषयक केवल एकस्वरूप होता है। (वृत्ति पत्र ११६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो कौतुक, भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, आजीवी—जाति आदि से जीविका चलानेवाला, कल्क, कुरुक, लक्षणविद्या तथा मंत्र और विद्या से जीवन यापन करता है वह मुनि चरणकुशील होता है।[1]

८८०. जाती कुले गणे या, कम्मे सिप्पे तवे सुते चेव।
सत्तविधं आजीवं, उवजीवति जो कुसीलो सो॥

जो जाति, कुल, गण, कर्म, शिल्प, तप तथा श्रुत—इन सात प्रकार के आजीव के आधार पर जीवन चलाता है वह कुशील होता है।

८८१. भूतीकम्मे लहुओ, लहु गुरुग निमित्त सेसए इमं तु।
लहुगा य सयंकरणे, परकरणे होंतऽणुग्घाता॥

भूतिकर्म का प्रायश्चित्त है एक लघुमास, अतीत निमित्त कथन का चार लघुमास, वर्तमाननिमित्त कथन का चार गुरुमास का प्रायश्चित्त है। शेष कौतुक आदि का यह प्रायश्चित्त है—स्वयं करने पर चार लघुमास, दूसरों से कराने पर अनुद्घात चार गुरुमास। मूलकर्म का प्रायश्चित्त है मूल।

८८२. दुविधो खलु ओसण्णे, देसे सव्वे य होति नायव्वो।
देसासण्णो तहियं, आवासादी इमो होति॥

अवसन्न के दो प्रकार हैं—देशतः और सर्वतः। देशावसन्न आवश्यक आदि के प्रसंग में इस प्रकार है।

८८३. आवस्सग-सज्झाए पडिलेहण-झाण-भिक्ख भत्तट्ठे।
आगमणे निग्गमणे, ठाणे य निसीयण तुयट्टे॥

८८४. आवस्सगं अणियतं, करेति हीणातिरित्तविवरीयं।
गुरुवयणे य नियोगो, वलाति इणमो उ ओसन्नो॥

आवश्यक, स्वाध्याय, प्रतिलेखन, ध्यान, भिक्षा, भक्तार्थ, आगमन, निर्गमन, स्थान, निषीदन, त्वग्वर्तन (शयन) आदि क्रियाएं विधिपूर्वक नहीं करता तथा जो आवश्यक अनियतकाल में तथा हीन, अतिरिक्त या विपरीतरूप में करता है, जो गुरु के कथन के अनुसार प्रवृत्ति न कर अंटसंट बोलकर उससे प्रतिकूल क्रिया करता है, वह देशावसन्न होता है।

८८५. जध उ बइल्लो बलवं, भंजति समिलं तु सो वि एमेव।
गुरुवयणं अकरेंतो, वलाति कुणती च उस्सोढुं॥

जैसे बलवान बैल जुए को तोड़ देता है, वैसे ही वह शिष्य गुरुवचन के अनुसार प्रवृत्ति न कर, उनको अंटसंट बोलकर रुष्टहोकर प्रवृत्ति करता है, वह देशावसन्न होता है।

८८६. उउबद्धपीढफलगं, ओसन्नं संजयं वियाणाहि।
ठवियग-रइयगभोई, एमेया पडिवत्तिओ॥

जो पीढफलक के बंधनों को खोलकर प्रतिलेखन नहीं करता अथवा अपने बिछौने को सदा बिछाए रखता है, उस मुनि को सर्वतः अवसन्न जानना चाहिए तथा जो स्थापित और रचित आहार का उपभोग करता है, ये सर्वतो अवसन्न की प्रतिपत्तियां हैं, पहचान हैं।

८८७. सामायारी वितहं, कुणमाणो जं च पावए जत्थ।
संसत्तो च अलंदो, नडरूवी एलगो चेव॥

अवसन्न मुनि सामाचारी को अन्यथा करता है। उसे स्वस्थान निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। संसक्त मुनि अलिंद, नट तथा एडक की भांति होता है।

८८८. गोभत्तालंदो विव, बहुरूवनडोव्व एलगो चेव।
संसत्तो सो दुविधो, असंकिलिट्ठो व इतरो य॥

संसक्त मुनि गोभक्तयुक्त अलिंद की भांति, बहुरूपी नट की भांति तथा एडक की भांति होता है।[2] उसके दो प्रकार हैं—असंक्लिष्ट तथा संक्लिष्ट।

८८९. पासत्थ-अधाछंदे, कुसील-ओसण्णमेव संसत्ते।
पियधम्मो पियधम्मे, असंकिलिट्ठो उ संसत्तो॥

वह संसक्त मुनि पार्श्वस्थ में मिलकर पार्श्वस्थ, यथाच्छंद में यथाच्छंद, कुशील में कुशील, अवसन्न में अवसन्न तथा संसक्त में संसक्त बन जाता है। वह प्रियधर्मा में मिलकर प्रियधर्मा बन जाता है। यह असंक्लिष्ट संसक्त का स्वरूप है।

८९०. पंचासवप्पवत्तो, जो खलु तिहि गारवेहि पडिबद्धो।
इत्थि-गिहिसंकिलिट्ठो, संसत्तो सो य नायव्वो॥

जो पांच आस्रवों में प्रवृत्त है, तीन गौरवों में तथा स्त्रियों और गृहस्थों में प्रतिबद्ध है—वह संक्लिष्ट संसक्त होता है।

८९१. देसेण अवक्कंता, सव्वेणं चेव भावलिंगा उ।
इति समुदिता तु सुत्ता, इणमन्नं दव्वतो विगते॥

भावलिंग के प्रसंग में देश से अपक्रांत अथवा सर्वतः अपक्रांत—इनका समुदित सूत्रों में प्रतिपादन किया जा चुका है।

---

१. कौतुक—इंद्रजाल, जादू आदि। भूतिकर्म—ज्वर आदि में राख आदि मंत्रित कर देना। प्रश्नाप्रश्न—स्वप्नविद्या से फल बताना। निमित्त—अतीत का कथन करना। आजीवी (देखें गाथा ८८०)। कल्क—प्रसूति आदि रोगों में क्षारपातन अथवा शरीर पर लोध्र आदि का उद्वर्तन। कुरुक—अर्धस्नान अथवा पूर्णस्नान। लक्षण विद्या—पुरुषलक्षण, स्त्रीलक्षण आदि का ज्ञान।

२. जैसे अलिंद—बड़े बर्तन में गोभक्त अर्थात् कुक्कुस, ओदन आदि मिला दिया जाता है, वह संसक्त कहलाता है। इसी प्रकार संसक्त मुनि पार्श्वस्थ में पार्श्वस्थ की भांति और संविग्न में संविग्न की भांति एकरूप हो जाता है। वह संसक्त नट की भांति बहुरूपी होता है, अनेक रूप धारण कर लेता है। जैसे एडक लाक्षा रस में निमग्न होकर लालवर्ण वाला तथा गुलिकाकुंड में निमग्न होकर नीले वर्ण वाला हो जाता है, वैसे ही संसक्त पार्श्वस्थ के संसर्ग से पार्श्वस्थ, संविग्न के संसर्ग से संविग्न जैसा बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह अन्य सूत्र द्रव्य लिंग से वियुक्त के विषय का है।

८९२. कंदप्पा परलिंगे, मूलं गुरुगा य गरुलपक्खम्मि।
सुत्तं तु भिक्खुगादी, कालक्खेवो व गमणं वा॥

कंदर्प के कारण परलिंग करने पर मूल, गरुडादिरूप परलिंग करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। (शिष्य ने कहा—सूत्र में परलिंगकरण अनुज्ञात है और निर्युक्ति में उसका प्रायश्चित्त है। यह क्यों? आचार्य कहते हैं—निर्युक्ति के अनुसार कंदर्प के कारण परलिंगकरण निषिद्ध है।) सूत्र में कालक्षेप करने तथा गमन के प्रसंग में भिक्षुक, परिव्राजक आदि परलिंग करने की अनुज्ञा है।

८९२/१. कंदप्पा लिंगदुगं, जो कुणइ तस्स होइ मूलं तु।
गुरुगा उ गरुलपक्खे, अद्धंसे चोलपट्टे य॥
८९२/२. लहुगा संजतिपाते, सीसदुवारी य लहुयतो खंधे।
चोदेत फलं सुत्ते, सुत्तनिवातो उ कारणितो॥

कंदर्पवश जो मुनि दो प्रकार का लिंग करता है उसे मूल प्रायश्चित्त तथा गरुडादिरूप परलिंग करने पर उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। मुनि गृहस्थ की भांति वस्त्र आधे कंधे पर रखता है तो उसे एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। शिष्य प्रश्न करता है सूत्र में परलिंगकरण अनुज्ञात है। निर्युक्तिकार ने उसका प्रतिषेध किया है। यहां सूत्र का निपात कारणिक है।

८९३. खंधे दुवार संजति, गरुलद्धंसे य पट्ट लिंगदुवे।
लहुओ लहुओ लहुया, तिसु चउगुरु दोसु मूलं तु॥

यदि कंदर्प के कारण परलिंग करके मुनि वस्त्र को गृहस्थ की भांति कंधे पर रखता है तो एक लघुमास, दुवार—गोपुच्छिका की भांति धोती की लांग लगाता है तो एक लघुमास, संयती की तरह प्रावृत होता है तो चार लघुमास, गरुड आदि रूप बनाता है तो चार गुरुमास, यदि स्कंधार्ध पर वस्त्र रखता है तो चार गुरुमास, गृहस्थ की भांति कटिपट्ट बांधता है तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा कंदर्प से लिंगद्विक अर्थात् गृहलिंग और परपाषंडलिंग करने पर प्रत्येक में मूल प्रायश्चित्त आता है।

८९४. असिवादिकारणेहिं, रायपदुट्ठे व होज्ज परलिंगं।
कालक्खेवनिमित्तं, पण्णवणट्ठा व गमणट्ठा॥

अशिव आदि कारणों के उपस्थित होने पर तथा राजा के कुपित हो जाने पर कालक्षेप करने के निमित्त, प्रज्ञापनार्थ तथा अनार्य आदि देश के मध्य में गमन के निमित्त परलिंग किया जा सकता है।

८९५. जं जस्स अच्चितं तस्स, पूयणिज्जं तमस्सिया लिंगं।
खीरादिलद्धिजुत्ता, गमेंति तं छन्नसामत्था॥

जिस राजा का जो पूजनीय लिंग है, उसका आश्रय लेकर अर्थात् वैसा लिंग धारण कर अपने सामर्थ्य—स्वरूप को आच्छादित रखकर वे क्षीराश्रवलब्धि आदि से संपन्न मुनि राजा को उपशांत कर देते हैं।

८९६. कलासु सव्वासु सवित्थरासु,
आगाढपण्हेसु य संथवेसु।
जो जत्थ सत्तो तमणुप्पविस्से,
अव्वाहतो तस्स स एव पंथा॥

सभी कलाओं का विस्तृत ज्ञान रखने वाला, आगाढ प्रश्न—अत्यंत गूढ़ प्रश्नों का ज्ञाता तथा अनेक परिचयों से सम्पन्न मुनि राजा जिस कला आदि में अत्यंत अनुरक्त हो, उसमें राजा को प्रवेश कराए, उसके समक्ष उसका प्रवेदन करे। यही उसके उपशमन का अव्याहत मार्ग है।

८९७. अणुवसमंते निग्गम, लिंगविवेगेण होति आगाढे।
देसंतरसंकमणं, भिक्खुगमादी कुलिंगेण॥

यदि राजा उपशांत न हो तो लिंग का परित्याग कर गृहस्थ-लिंग में देश से निर्गमन कर दे। अत्यंत रोष के कारण यदि राजा न छोड़े तो भिक्षुक आदि का वेश बनाकर देशांतर संक्रमण कर दे।

८९८. आरियसंकमणे परिहरेंति दिट्ठम्मि जा तु पडिवत्ती।
असतीय पविसणं थूभियम्मि गहियम्मि जा जतणा॥

आर्यदेश में संक्रमण, लिंगियों के आश्रयस्थानों का परिहार, किसी द्वारा देखे जाने पर अधिकृत लिंगानुशासन की प्रतिपत्ति, स्वतंत्र स्थान के अभाव वे आश्रम में प्रवेश, स्तूप आदि, अभक्ष्य गृहीत होने पर यतना का निर्देश। (इस गाथा की विस्तृत व्याख्या गाथा ८९९ से ९०४ तक)।

८९९. आरिय-देसारियलिंगसंकमो एत्थ होति चउभंगो।
बितिचरमेसुं अन्नं, असिवादिगतो करे लिंगं॥

आर्यदेश में संक्रमण करना पड़े तो स्वलिंग में करे।

उसके चार विकल्प हैं—

१. आर्यदेश में आर्यदेश के मध्य से गमन।
२. आर्यदेश में अनार्यदेश के मध्य से गमन।
३. अनार्यदेश में आर्यदेश के मध्य से गमन।
४. अनार्यदेश में अनार्यदेश के मध्य से गमन।

अशिवादि के कारण संक्रमण करे तो दूसरे, तीसरे तथा चौथे विकल्प में गृहस्थलिंग में अथवा जिस देश के मध्य से गमन करता है वहां जो लिंग प्रसिद्ध हो उस लिंग में गमन करे।

९००. परिहरति उग्गमादी, विहारठाणा य तेसि लिंगीणं।
अप्पुव्वेसा गमितो, आयरियत्तेतरो इमं तु॥

वह परलिंग वेशधारी मुनि उद्गम आदि दोषों का तथा उन लिंगियों के स्थान का परिहार करे। अपूर्वस्थानों में गया हुआ मुनि आचार्यत्व—उन लिंगियों के ग्रंथों की व्याख्या करता है अथवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतर–उनके आगमों में अकुशल होने पर वह यह करता है–

९०१. मोणेण जं च गहियं, तु कुक्कुडं उभयतो वि अविरुद्धं।
पच्चयहेउपणामो, जिणपडिमाओ मणे कुणति॥

वह मौन व्रत को धारण कर लेता है। जो कुक्कुड आदि विद्याएं गृहीत हैं तथा जिनका प्रयोग साधुचर्या तथा लिंगीचर्या–दोनों में अविरुद्ध है, वह करे। पृथक् स्थान की प्राप्ति न होने पर उन लिंगियों के आश्रयस्थल में रहने की स्थिति में उनके प्रत्यय–विश्वास के लिए स्तूप अथवा बुद्ध आदि की प्रतिमा को प्रणाम करने का प्रसंग आने पर जिन प्रतिमा को मन में कर प्रणाम करता है।

९०२. भावेति पिंडवातित्तणेण, घेत्तुं च वुच्चति अपत्ते।
कंदादिपोग्गलाण य, अकारगमहं ति पडिसेधो॥

वह पिंडपातित्व–भिक्षावृत्ति से जीवन यापन करता है। वह अपने पात्र में भिक्षा लेकर अन्यत्र जाकर उसका उपभोग करता है। यदि (दानशाला आदि में) देने वाला सचित्त कंद आदि तथा पुद्गल–मांस देना चाहे तो उसे कहे–मेरे लिए ये अकारक–अनुपयोगी हैं, इस प्रकार उनका प्रतिषेध करे।

९०३. बितियपयं तु गिलाणो,निक्खेव चंकमणादि कुणमाणो।
लोयं वा कुणमाणो, कितिकम्मं वा सरीरादी॥

मांस विषयक अपवाद पद यह है–यदि निक्षेप–प्रतिलेखन करता हुआ, चंक्रमण करता हुआ, लोच करता हुआ अथवा शरीर से विश्रामणा और कृतिकर्म करता हुआ मुनि ग्लान हो जाए तो पुद्गल–मांस से जीवन चलाए।

९०४. अह पुण रूसेज्जाही, तो घेत्तु विगिंचते जधा विहिणा।
एवं तु तहिं जतणं, कुज्जाही कारणागाढे॥

यदि मुनि यह जाने कि कंद आदि तथा पुद्गल लेने का निषेध करने पर दानदाता रुष्ट हो जायेंगे तो उन्हें ग्रहण करलें। ग्रहण कर उक्त विधिपूर्वक उनका परिष्ठापन कर दे। आगाढ कारण में भी वह इस प्रकार की यतना करे।

९०५. इति कारणेसु गहिते, परलिंगे तीरिते तहिं कज्जे।
जयकारी सुज्झति विगडणाय इतरो जमावज्जे॥

इस प्रकार अशिवादि कारणों से गृहीत परलिंग के समय जो मुनि यतनावान् रहा है, अब कार्य के पूर्ण हो जाने पर वह केवल विकटना–आलोचना मात्र से शुद्ध हो जाता है। जो उस काल में यतनाकारी नहीं रहा उसे अयतना-प्रत्ययिक प्राप्त प्रायश्चित्त दिया जाता है।

९०६. एगतरलिंगविजढे, इति सुत्ता वण्णिता तु जे हेट्ठा।
उभयजढे अयमन्नो, आरंभो होति सुत्तस्स॥

पूर्व सूत्रों में एकतरलिंग परित्याग का वर्णन किया गया था। यह सूत्र का अन्य आरंभ उभयलिंग परित्याग विषयक है।

९०७. निग्गमणमवक्कमणं, निस्सरण-पलायणं च एगट्ठं।
लोट्टण-लुठण-पलोट्टण, ओहाणं चेव एगट्ठं॥

निर्गमन, अपक्रमण, निस्सरण तथा पलायन–ये एकार्थक हैं। लोटन, लुठन, प्रलोटन तथा अवधावन–ये एकार्थक हैं।

९०८. विसयोदएण अधिगरणतो व चइतो व दुक्खसेज्जाए।
इति लिंगस्स विवेगं, करेज्ज पच्चक्खपारोक्खं॥

कोई विषयोदय–मोह के प्रबल उदय से, कलह के कारण अथवा दुःखशय्या से त्याजित–इन कारणों से लिंग (प्रव्रज्यालिंग) का परित्याग करता है। प्रश्न है कि वह यह साधुओं के प्रत्यक्ष करे अथवा परोक्ष करे?

९०९. अंतो उवस्सए छड्डणा उ, बहि गाम मज्झ पासे वा।
बितियं गिलाणलोए, कितिकम्मसरीरमादीसु॥

अवधावन काल में लिंग का परित्याग उपाश्रय के मध्य में, अथवा उपाश्रय के बाहर अथवा गांव के बीच में अथवा गांव के पास करे। लिंग के परित्याग में अपवादपद यह है–ग्लानलोक के शरीर गत विश्रामणा आदि तथा कृतिकर्म करते हुए खरंटना आदि के भय से एकांत में लिंग का परित्याग किया जाता है।

९१०. उवसामिते परेण व, सयं च समुवट्ठिते उवट्ठवणा।
तक्खणचिरकालेण य, दिट्ठंतो अक्खभंगेण॥

दूसरे द्वारा उपशांत किए जाने पर अथवा स्वयं उपशांत हो जाने पर, तत्काल अथवा दीर्घकाल के पश्चात् गुरु के पास समुपस्थित होने पर उस मुनि की उपस्थापना करनी चाहिए। उपस्थापना के बिना पुनः गण में प्रवेश नहीं देना चाहिए। शिष्य ने पूछा–पुनः उपस्थापना क्यों? आचार्य ने अक्षभग्न का दृष्टांत दिया।[1]

९११. मूलगुण-उत्तरगुणे, असेवमाणस्स तस्स अतियारं।
तक्खण उवट्ठियस्स उ, किं कारण दिज्जते मूलं॥

मूलगुण तथा उत्तरगुण विषयक कोई भी अतिचार का सेवन न करने वाले तथा तत्काल पुनः लौटकर उपस्थित होने वाले मुनि को मूल प्रायश्चित्त देने का कारण क्या है?

९१२. सेवउ मा व वयाणं, अतियारं तध वि देंति से मूलं।
विगडासवा जलम्मि उ, कहं तु नावा न वुड्डेज्जा॥

आचार्य ने कहा–वह मुनि व्रतों के (महाव्रतों के) अतिचारों का सेवन करे या न करे उसे मूल प्रायश्चित्त ही दिया जाता है। क्योंकि उसने भावतः चारित्र का भंग कर दिया है। जैसे विकटाश्रव–अतिप्रकट छिद्रोंवाली नौका क्या जल में डूब नहीं जाती?

१. एक शकट का अक्ष–धुरा टूट गई। नियमतः उसके स्थान पर नया अक्ष ही काम आ सकता है। इसी प्रकार साधु का भाव-अक्ष भग्न हो जाने पर उपस्थापनारूप भावाक्ष धारण कराया जाता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९१३. चोरिस्सामि त्ति मतिं, जो खलु संधाय फेडए मुद्दं।
अहियम्मि वि सो चोरो, एमेव इमं पि पासामो॥

'मैं चुरा लूंगा' इस मति की भावना से कोई मुद्रा को तोड़ देता है, परंतु किन्हीं कारणों से वह चुरा नहीं सकता फिर भी वह चोर है। इसी प्रकार हम उस मुनि को उपस्थापना योग्य देखते हैं।

९१४. अतियारे खलु नियमेण, विगडणा एस सुत्तसंबंधो।
किंचि न तेणाचिण्णं, दोन्नि वि लिंगा जढा जेणं॥

जिसने द्रव्यलिंग और भावलिंग—दोनों का परित्याग किया है, उसने क्या आचीर्ण नहीं किया? अतिचार होने पर नियमतः आलोचना देनी होती है—यह सूत्रसंबंध है।

९१५. अहवा हेट्ठाणंतरसुत्ते, आलोयणा भवे नियमा।
इहमवि हु जं निमित्तं, उल्लट्टो तस्स कायव्वो॥

अथवा अधस्तनानन्तर सूत्र में द्रव्यभावलिंग के परित्याग से नियमतः आलोचना आती है—यह प्रतिपादित है। यहां भी जिस निमित्त से अकृत्य का प्रतिसेवन किया है, उसका प्रत्यवर्त कर देना चाहिए। वह आलोचना के बिना नहीं होता।

९१६. अन्नतरं तु अकिच्चं, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।
मूल च सव्वदेसं, एमेव य उत्तरगुणेसु॥

मूलगुण अथवा उत्तरगुण विषयक कोई भी अकृत्य दो प्रकार का होता है—सर्वथा मूलगुण का उच्छेदक अथवा देशतः उच्छेदक। इसी प्रकार सर्वथा उत्तरगुण का उच्छेदक अथवा देशतः उच्छेदक।

९१७. अहवा पणगादीयं, मासादी वावि जाव छम्मासा।
एयं तवारिहं खलु, छेदादि चउण्ह वेगतरं॥

अथवा पंचकादिक—पांच रात-दिन आदि का प्रायश्चित्त स्थान वाला अकृत्य, अथवा मास आदि यावत् छह मास का प्रायश्चित्त स्थानवाला अकृत्य अथवा तपोर्ह तथा चार में से कोई एक—छेदार्ह, मूलार्ह, अनवस्थाप्यार्ह और पारांचितार्ह—प्रायश्चित्त स्थानवाला अकृत्य का सेवन करना। यह सारा अकृत्य स्थान का प्रकारांतर है।

९१८. तं सेविऊणऽकिच्चं विगडेयव्वं कमेणिमेणं तु।
सगुरुकुलमादिएणं, जाव उ अरहंतसक्खीयं॥

उस अकृत्य का सेवन कर इस क्रम से उसकी आलोचना करे। स्वकीय आचार्य, उपाध्याय आदि के पास यावत् किसी की प्राप्ति न होने पर अरिहंत की साक्षी से आलोचना करे।

९१९. आउयवाघातं वा, दुल्लभगीतं व एसकालं तु।
अपरक्कममासज्ज व, सुत्तमिणं तु दिसा जाव॥

अकृत्य की आलोचना के समय सोचता है—आयुष्य का व्याघात है, एष्यत्काल में गीतार्थ मुनि की प्राप्ति दुर्लभ है, पराक्रम की क्षीणता है—आलोचक की इन अवस्थाओं के आधार पर यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है, यावत् दिशादि सूत्र तक।

९२०. सुत्तमिणं कारणियं, आयरियादीण जत्थ गच्छम्मि।
पंचण्हं होतऽसती, एगो च तहिं न वसितव्वं॥

यह अधिकृत सूत्र कारणिक है अर्थात् कारण में एकाकी विहार विषयक है। जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक, प्रवर्तक और स्थविर—इन पांचों में से एक भी नहीं है तो उस गण में नहीं रहना चाहिए।

९२१. एवं असुभ-गिलाणे, परिण्णकुलकज्जमादि वग्गे उ।
अण्ण सति ससल्लस्सा, जीवितघाते चरणघातो॥

इस प्रकार आचार्य आदि पांच में से एक अशुभ अर्थात् मृतकस्थापन में लगा है, एक ग्लान की सेवा में व्यग्र है, एक अनशनकारी की सेवा में है, एक कुलकार्य में व्यस्त है। एक अंतिम अवस्था में है—इस प्रकार आलोचना देने वालों के अभाव में आलोचक यदि सशल्य मृत्यु को प्राप्त करता है तो उसके चरण का व्याघात होता है।

९२२. एवं होती विरोधो, आलोयणपरिणतो य सुद्धो य।
एगंतेण पमाणं, परिणामो वी न खलु अम्हं॥

पहले कहा गया था कि जो आलोचना करने में परिणत है वह शुद्ध है और अभी कहा गया कि सशल्य मरने वाले का चारित्र नष्ट हो जाता है—इन दोनों में विरोध है। आचार्य ने कहा—हमारे मत में एकांततः परिणाम ही प्रमाण नहीं है।

९२३. चोदग किं वा कारण, पंचण्हऽसती न तत्थ वसितव्वं।
दिट्ठंतो वाणियए, पिंडिय अत्थे वसिउकामे॥

शिष्य ने पूछा—क्या कारण है कि आचार्य आदि पांच से विरहित गच्छ में नहीं रहना चाहिए? आचार्य बोले—इस विषय में धन को एकत्रित कर एक स्थान में बसने की इच्छावाले वणिक् का दृष्टांत है।

९२४. तत्थ न कप्पति वासो, आधारा जत्थ नत्थि पंच इमे।
राया वेज्जो धणिमं, नेवइया रूवजक्खा य॥

९२५. दविणस्स जीवियस्स व, वाघातो होज्ज जत्थ णत्थेते।
वाघाते चेगतरस्स, दव्वसंघाडणा अफला॥

वणिक् ने सोचा—जहां इन पांचों का आधार प्राप्त नहीं है वहां मुझे नहीं रहना है। वे पांच ये हैं—राजा, वैद्य, धनाढ्य व्यक्ति, नीतिकार तथा रूपयक्ष—धर्मपाठक। क्योंकि ये पांच नहीं होते वहां धन और जीवितव्य का व्याघात हो जाता है। वैद्य के अभाव में जीवितव्य का व्याघात हो जाता है और राजा आदि के बिना धन का व्याघात होता है। धन और जीवन दोनों में से किसी एक का व्याघात होता है तो द्रव्यसंघाटन—द्रव्योपार्जन विफल हो जाता है, क्योंकि उसके परिभोग की असंभाव्यता है।

९२६. रण्णा जुवरण्णा वा, महयरग अमच्च तह कुमारेहिं
एतेहिं परिग्गहितं, वसेज्ज रज्जं गुणविसालं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा, युवराजा, महत्तर, अमात्य तथा कुमार—इन पांचों से परिगृहीत राज्य विशाल गुणों वाला होता है। ऐसे राज्य में निवास करना चाहिए।

९२७. उभओ जोणीसुद्धो, राया दसभागमेत्तसंतुट्ठो।
लोगे वेदे समए, कतागमो धम्मिओ राया॥
९२८. पंचविधे कामगुणे, साहीणे भुंजते निरुव्विग्गे।
वावारविप्पमुक्को, राया एतारिसो होति॥

राजा वह होता है—जो उभययोनिशुद्ध—मातृपक्ष और पितृपक्ष से शुद्ध हो, जो प्रजा से दशवें भाग मात्र को ग्रहण कर संतुष्ट हो जाता हो, जो लोकाचार में समस्त दार्शनिकों के सिद्धांतों में, समय—नीतिशास्त्र में पारगामी हो, जो धार्मिक हो, जो अपने अधीनस्थ पांच प्रकार के कामगुणों का निरुद्विग्न होकर उपभोग करता हो, जो व्यापार से विप्रमुक्त हो—ऐसा होता है राजा।

९२९. आवस्सयाइ काउं, जो पुव्वाइं तु निरवसेसाइं।
अत्थाणी मज्झगतो पेच्छति कज्जाइं जुवराया॥

युवराज वह है जो प्राथमिकरूप से आवश्यक कार्यों (प्रातःकालीन कार्यों) को संपूर्णरूप से सम्पन्न करता है, तथा आस्थानिका—राजसभा के बीच जाकर सारे कार्यों को देखता है, चिंतन करता है।

९३०. गंभीरो मद्दवितो, कुसलो जो जातिविणयसंपन्नो।
जुवरण्णाए सहितो, पेच्छइ महतरओ॥

महत्तर वह होता जो गंभीर है, जो मार्दवोपेत है, कुशल है, जाति और विनय संपन्न है, जो युवराज के साथ राज्यकार्यों को देखता है, चिंतन करता है।

९३१. सजणवयं च पुरवरं, चिंतंतो अच्छई नरवतिं च।
ववहारनीतिकुसलो, अमच्चो एयारिसो अधवा॥

अमात्य वह है जो व्यवहारकुशल और नीतिकुशल हो, जो पूरे जनपद सहित नगरों तथा नगरपति के हितचिंतन में रत रहता हो अथवा राजा को भी शिक्षा देने में समर्थ हो जैसे—

९३२. राय पुरोहितो वा, संगिल्लाउ नगरम्मि दो वि जणा।
अंतेउरे धरिसिया, अमच्चेण खिंसिता दो वि॥

राजा और पुरोहित दोनों संबंधी या मित्र थे। दोनों नगर में ही रहते थे। अंतःपुर अर्थात् पत्नियों से दोनों अवहेलित थे। अमात्य ने दोनों की खिंसना की। (विस्तृत अर्थ आगे की गाथाओं में।)

९३३. छंदाणुवत्ति तुब्भं, मज्झं वीमंसणा निवे खलिणं।
निसिगमण मरुगथालं, धरेति भुंजंति ता दो वि॥

राजा की पत्नी ने पुरोहित की पत्नी से कहा—तुम्हारा पति तुम्हारी आज्ञा में चलता है अथवा मेरा पति—इसकी परीक्षा करने पर ही ज्ञात हो सकता है। परीक्षा के निमित्त राजा की पत्नी ने राजा के लगाम लगा, उस पर बैठ रात्री में पुरोहित के घर गई। पुरोहित की पत्नी ब्राह्मणी ने अपने पति के सिर पर भोजन की थाली रख दी। राजा की पत्नी और ब्राह्मणी दोनों भोजन करने लगीं।[1]

९३४. पडिवेसिय रायाणो, सोउमिणं परिभवेण हसिहिंति।
थीनिज्जितो पमत्तो, त्ति णाउ रज्जं पि पेलेज्जा॥

अमात्य ने राजा और पुरोहित को शिक्षा देते हुए कहा—सीमांतवर्ती शत्रु राजा आपकी यह घटना सुनकर आपके परिभव से हसेंगे। इतना ही नहीं, राजा स्त्री द्वारा निर्जित है, वशीभूत है, प्रमत्त है, यह जानकर वे राज्य भी ले लेंगे।

९३५. धित्तेसिं गामनगराणं, जेसिं इत्थी पणायिगा।
ते यावि धिक्कया पुरिसा, जे इत्थीणं वसंगता॥

धिक्कार है उस ग्राम और नगर को जिनकी प्रनायिका एक स्त्री है। वे पुरुष भी धिक्कार के योग्य हैं जो स्त्री के वशवर्ती हैं।

९३६. इत्थीओ बलवं जत्थ, गामेसु नगरेसु वा।
सो गामं नगरं वापि, खिप्पमेव विणस्सति॥

जिन गावों तथा नगरों में स्त्रियां बलवान् होती हैं, वे गांव और नगर शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं।

९३७. इत्थीओ बलवं जत्थ, गामेसु नगरेसु वा।
अणस्सा जत्थ हेसंति, अपव्वम्मि य मुंडणं॥

उन गांवों और नगरों में स्त्रियां बलवान् होती हैं, जहां अनश्व हिनहिनाते हैं और अपर्व में मुंडन होता है।

९३८. सूयग तहाणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव।
पुरिसा कतवित्तीया, वसंति सामंतरज्जेसुं॥
९३९. सूयिग तहाणुसूयिग, पडिसूयिग सव्वसूयिगा चेव।
महिला कयवित्तीया, वसंति सामंतरज्जेसु॥

सामंत राज्यों (पड़ोसी राज्यों) में चार प्रकार के पुरुषों तथा महिलाओं को मासिक वृत्ति पर रखा जाता है। वे चार प्रकार ये हैं—सूचक, अनुसूचक, प्रतिसूचक तथा सर्वसूचक।[2]

९४०. सूयग तहाणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव।
पुरिसा कयवित्तीया, वसंति सामंतनगरेसु॥
९४१. सूयिग तहाणुसूयिग, पडिसूयिग सव्वसूयिगा चेव।
महिला कयवित्तीया, वसंति सामंतनगरेसु॥

---

१. पूरी कथा के लिए देखें—व्यवहार भाष्य, परिशिष्ट ८, कथा नं. ४७।

२. सूचक सीमांतराज्य के अंतःपुरपालक से मैत्री कर रहस्य ज्ञात करता है। अनुसूचक नगर के भीतर गुप्तचरी करता है। प्रतिसूचक नगरद्वार पर गुप्तचरी करता है। सर्वसूचक बार-बार अपने नगर में जाते हैं, लौट आते हैं। सूचक अनुसूचक को कहता है, अनुसूचक प्रतिसूचक को और प्रतिसूचक सर्वसूचक को बताता है। वह अमात्य को कहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९४२. सूयग तहाणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव।
पुरिसा कयवित्तीया, वसंति नियगम्मि रज्जम्मि॥
९४३. सूयिग तहाणुसूयिग, पडिसूयिग सव्वसूयिगा चेव।
महिला कयवित्तीया, वसंति नियगम्मि रज्जम्मि॥
९४४. सूयग तहाणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव।
पुरिसा कयवित्तीया, वसंति नियगम्मि नगरम्मि॥
९४५. सूयिग तहाणुसूयिग, पडिसूयिग सव्वसूयिगा चेव।
महिला कयवित्तीया, वसंति नियगम्मि नगरम्मि॥
९४६. सूयग तहाणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव।
पुरिसा कयवित्तीया, वसंति अंतेउरे रण्णो॥
९४७. सूयिग तहाणुसूयिग, पडिसूयिग सव्वसूयिगा चेव।
महिला कयवित्तीया, वसंति अंतेउरे रण्णो॥

इसी प्रकार सभी सामंतनगरों, अपने राज्य में, अपने नगर में तथा राजा के अंतःपुर में सूचक, अनुसूचक, प्रतिसूचक तथा सर्वसूचक—ये चारों प्रकार के पुरुष और महिलाएं मासिक वृत्ति पर नियुक्त होती हैं। इनका कार्य ९३८,९३९ श्लोक के टिप्पण में है।

९४८. पच्चंते खुब्भंते, दुद्दंते सव्वतो दमेमाणो।
संगामनीतिकुसलो, कुमार एतारिसो होति॥

कुमार ऐसा होता है जो सीमांतवर्ती प्रजा को क्षुब्ध करने वाले दुर्दांत शत्रुओं का सभी दिशाओं में दमन करने वाला और संग्रामनीति में कुशल हो।

९४९. अम्मापितीहि जणियस्स, तस्स आतंकपउरदोसेहिं।
वेज्जा देंति समाधिं, जहिं कता आगमा होंति॥

माता-पिता द्वारा जनित आतंक—रोगों से जो प्रचुर दोष उत्पन्न होते हैं, उनसे ग्रस्त पुरुषों को वैद्यक शास्त्रों के पारगामी वैद्य समाधिस्थ कर देते हैं, नीरोग कर देते हैं।

९५०. कोडिग्गसो हिरण्णं,मणि-मुत्त-सिल-प्पवाल-रयणाइं।
अज्जय-पिउ-पज्जामय, एरिसया होंति धणमंता॥

जिनके पास परदादा, दादा और पिता द्वारा अर्जित कोटि-संख्यांक हिरण्य, मणि, मुक्ता, शिला, प्रवाल, रत्न आदि होते हैं, वे धनवान होते हैं।

९५१. सणसत्तरमादीणं, धन्नाणं कुंभकोडिकोडीओ।
जेसिं तु भोयणट्ठा, एरिसया होंति नेवतिया॥

जिनके पास भोजनार्थ और दानार्थ सण आदि सतरह प्रकार के धान्यों की कुंभकोटि-कोटियां हों वह नैयतिक होता है।[1]

९५२. भंभीय मासुरुक्खे, माढरकोडिण्णदंडनीतीसु।
अधऽलंचऽपक्खगाही, एरिसया रूवजक्खा तु॥

भंभी, मासुवृक्ष, माढर द्वारा प्रणीत नीति शास्त्र तथा कौंडिन्य द्वारा रचित दंडनीति में कुशल हो तथा जो रिश्वत न लेता हो और पक्षग्राही न हो वह रूपयक्ष अर्थात् मूर्तिमान् धर्म जैसा है।

९५३. तत्थ न कप्पति वासो, गुणागरा जत्थ नत्थि पंच इमे।
आयरिय-उवज्झाए, पवित्ति-थेरे य गीतत्थे॥

मुनि को भी उस गण में नहीं रहना चाहिए जहां गुणों के आकर ये पांच पुरुष न हों—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गीतार्थ।

९५४. सुत्तत्थतदुभएहिं उवउत्ता नाण-दंसण-चरित्ते।
गणतत्तिविप्पमुक्का, एरिसया होंति आयरिया॥
९५५. एगग्गया य झाणे, वुड्ढी तित्थगरअणुकिती गुरुया।
आणाथेज्जमिति गुरू, कयरिणमोक्खो न वाएति॥

जो सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ से सहित हों, जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र में उपयुक्त हों, गणतप्ति—गणचिंता से विप्रमुक्त हों, जिनकी ध्यान में एकाग्रता सधी हुई हो, जिनकी अर्थ-पटुता वृद्धि को प्राप्त हो, जो तीर्थंकरानुकृति वाले हों, जो गुरुतायुक्त हों, जो आज्ञास्थैर्य के संपादन वाले हों—वे इन हेतुओं से ऋण-मुक्त हो जाते हैं, इसलिए वे सूत्र की वाचना नहीं देते, केवल अर्थ ही वाचना देते हैं।

९५६. सुत्तत्थतदुभयविऊ, उज्जुत्ता नाण-दंसण-चरित्ते।
निप्फादगसिस्साणं, एरिसया होंतुवज्झाया॥

जो सूत्र, अर्थ और तदुभय के ज्ञाता हों, जो ज्ञान-दर्शन और चारित्र में उद्यमशील हों, जो शिष्यों के निष्पादक हों (उनको सूत्र की वाचना देने वाले हों) वे उपाध्याय होते हैं।

९५७. सुत्तत्थेसु थिरत्तं, रिणमोक्खो आयतीयपडिबंधो।
पाडिच्छा मोहजओ, तम्हा वाए उवज्झाओ॥

उपाध्याय शिष्यों को इसलिए वाचना देते हैं कि उनके स्वयं सूत्र और अर्थ में स्थिरता आ जाती है। वाचना देने से ऋणमोक्ष होता है। भविष्य में आचार्य पद का अप्रतिबंध होता है। वे आचार्य पद योग्य हो जाते हैं। प्रातीच्छक शिष्य (गणांतर से आए हुए) अनुगृहीत होते हैं। वाचना प्रदान से मोहजय सधता है।

९५८. तव-नियम-विणयगुणनिहि,
पवत्तगा नाण-दंसण-चरित्ते।
संगहुवग्गहकुसला,
पवत्ति एतारिसा होंति॥
९५९. संजम-तव-नियमेसुं, जो जोग्गो तत्थ तं पवत्तेंति।
असहू य नियत्तेंती, गणतत्तिल्ला पवत्तीओ॥

प्रवर्ती अथवा प्रवर्तक वह होता है जो तप, नियम, विनय—

---

१. सतरह प्रकार के धान्य—शालि, यव, कोद्रव, व्रीहि, रालक, तिल, मूंग, माष, चवला, चना, तुवरी, मसूरक, कुलत्थ, गेहूं, निष्पाव, अतसी तथा सण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन गुणों का निधान है, इन गुणों का प्रवर्तक है, ज्ञान-दर्शन और चारित्र में सतत उपयोग रखता है, जो संग्रहकुशल और उपग्रह (उपकार) कुशल है, जो शिष्य तप, संयम और नियम–इनमें से जो जिसके योग्य हो उसमें उसको प्रवर्तित करता है, असमर्थ का निवर्तन करता है तथा गणतप्ति में प्रवृत्त रहता है। ये प्रवर्तक के गुण हैं।

९६०. संविग्गो मद्दवितो, पियधम्मो नाण-दंसण-चरित्ते।
जे अट्ठे परिहायति, ते सारेंतो हवति थेरो॥

स्थविर वह होता है जो संविग्न, मार्दवित तथा प्रियधर्मा है। जो शिष्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र के उपादेय अर्थ–अनुष्ठानों में कमी कर रहा हो, उसको उन अनुष्ठानों में स्थिर करता है वह स्थविर होता है।

९६१. थिरकरणा पुण थेरो, पवत्ति वावारितेसु अत्थेसु।
जो जत्थ सीदति जती, संतबलो तं पचोदेति॥

प्रवर्तक के द्वारा प्रवर्तित क्रियाओं को संपादित करने में शक्ति होते हुए भी जो साधु उनको करने में खिन्न होता है, उसको स्थविर अत्यंत प्रेरित करता है, शिक्षा देता है। स्थिर करने के कारण ही वह स्थविर कहलाता है।

९६२. उद्धावणा पधावण, खेत्तोवधिमग्गणासु अविसादी।
सुत्तत्थतदुभयविऊ, गीयत्था एरिसा होंति॥

गीतार्थ का स्वरूप–जो संघकार्य के लिए उद्धावन–सदा तत्पर तथा प्रधावन–कार्य को शीघ्र संपादित करने में संलग्न रहता है, जो क्षेत्र की मार्गणा (क्षेत्र प्रत्युपेक्षा) तथा उपधि की मार्गणा (उपधि की प्राप्ति) में विषाद का अनुभव नहीं करता, जो सूत्र, अर्थ और तदुभय का ज्ञाता होता है, वह गीतार्थ है।

९६३. जध पंचकपरिहीणं, रज्जं डमर-भय-चोर-उव्विग्गं।
उग्गहितसगडपिडगं, परंपरं वच्चते सामिं॥

९६४. इय पंचकपरिहीणे गच्छे आवन्नकारणे साधू।
आलोयणमलभंतो, परंपरं वच्चते सिद्धे॥

जैसे राजा आदि पंचक से परिहीन राज्य में डमर–स्वदेश में उत्पन्न विप्लव, भय–शत्रुसेना से उत्पन्न भय तथा चोरों के उपद्रव से उद्विग्न होकर वहां रहने वाला व्यक्ति शकट–पिटक (बोरिया बिस्तर) को बांधकर अपने परंपरक स्वामी के पास चला जाता है, वैसे ही आचार्य आदि पंचक से परिहीन गच्छ से प्रायश्चित्त प्राप्त साधु आलोचना प्राप्त न करता हुआ पूर्वोक्त आयुव्याघात आदि कारणों से प्रेरित होकर परंपर अर्थात् अन्यसांभोगिक आदि के पास क्रमशः जाए यावत् सिद्धपुत्र के पास जाए।

९६५. आयरिए आलोयण, पंचण्हं असति गच्छबहिया जो।
वोच्चत्थे चउलहुगा, अगीयत्थे होंति चउगुरुगा॥

आचार्य के पास आलोचना करनी चाहिए। उनके अभाव में क्रमशः उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर य गणावच्छेदक के पास करनी चाहिए। गच्छ में आचार्य आदि पंचक का अभाव हो तो बाहर भी इसी क्रम से आचोलना करनी चाहिए। इस क्रम का व्यत्यय करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि अगीतार्थ के पास आलोचना करता है तो चार गुरुमास का प्रायश्चित है।

९६६. संविग्गे गीयत्थे, असती पासत्थमादि सारूवी।
गीतत्थे अब्भुट्ठित,असति मग्गणं व देसम्मि॥

९६७. खेत्ततो दुवि मग्गेज्जा, जा चउत्थ सत्त जोयणसताइं।
बारससमा उ कालतो उक्कोसेणं विमग्गेज्जा॥

९६८. एवं पि विमग्गंतो, जति न लभेज्जा तु गीत-संविग्गं।
पासत्थादीसु ततो, विगडे अणवट्ठितेसुं पि॥

९६९. तस्सऽसति सिद्धपुत्ते, पच्छकडे चेव होतिऽगीयत्थे।
आवकधाए लिंगे, तिण्हा वि अणिच्छिइत्तिरियं॥

वह आलोचना संविग्न, गीतार्थ के पास करे। उसके अभाव में पार्श्वस्थ गीतार्थ तथा सारूपी गीतार्थ के पास करे। जिसके पास आलोचना करे उनको अभ्युत्थापन–वंदनक दे। इन सबके न मिलने पर देश में उनकी मार्गणा–गवेषणा करे। क्षेत्रतः दो, चार, सात योजन शत तक गवेषणा करे। कालतः उत्कृष्टरूप में १२ वर्षों तक उन आलोचनार्हों की मार्गणा करे। इतनी गवेषणा करने पर भी यदि वे प्राप्त न हों तो गीतार्थ संविग्न तथा गीतार्थ पार्श्वस्थ आदि के पास तथा अनवस्थित के पास आलोचना करे। उसकी प्राप्ति न होने पर सिद्धपुत्र, पश्चात्कृत तथा अगीतार्थ को यावज्जीवन लिंग धारण करा कर आलोचना करे। यदि वे यावज्जीवन लिंग धारण करना न चाहे तो इत्वरिक लिंग धारण कराकर आलोचना करे।

९७०. असतीय लिंगकरणं, सामाइयइत्तरं च कितिकम्मं।
तत्थेव य सुद्धतवो, सुह-दुक्ख गवेसती सो वि॥

पार्श्वस्थ आदि का अभ्युत्थान न होने पर पश्चात्कृत में इत्वर सामायिक का आरोपण कर तथा इत्वरकालिक लिंग समर्पित कर, कृतिकर्म कर उसके पास आचोलना करनी चाहिए। वहीं प्रायश्चित्त रूप में प्राप्त शुद्ध तप का वहन करता हुआ, आलोचना देने वाले के सुख-दुख की गवेषणा करता रहता है।

९७१. लिंगकरणं निसेज्जा, कितिकम्ममणिच्छतो पणामो य।
एमेव देवयाए, नवरं सामाइयं मोत्तुं॥

पश्चात्कृत में इत्वरकालिक सामायिक का आरोपण कर, इत्वर कालिक लिंग समर्पित कर, निषिद्या की रचना कर फिर वंदनक दिया जाता है। यदि वह वंदनक की वांछा नहीं करता तो उसको प्रणाममात्र कर आलोचना करे। इसी प्रकार देवता के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समक्ष आलोचना करे। उनमें सामायिक का आरोपण और लिंग समर्पण नहीं करना चाहिए।

९७२. आहार-उवधि-सेज्जा, एसणमादीसु होति जतितव्वं।
अणुमोयण कारावण, सिक्खत्ति पयम्मि सो सुद्धो॥

पूर्ववर्ती श्लोक (९७०) में 'गवेसणा जाव सुहदुक्खे' कहा गया, उसकी व्याख्या इस प्रकार है। वह आहार, उपधि और शय्या की एषणा में यतनावान् रहे। यदि उस आलोचनार्ह के लिए कोई आहार आदि का उत्पादन करता है तो उसका अनुमोदन करना चाहिए तथा शुद्ध आहार आदि न मिलने पर श्रावकों से उसका यतनापूर्वक उत्पादन करवाना चाहिए। वह अपवाद पद में उसके पास आसेवन शिक्षा ग्रहण करता हुआ शुद्ध है।

९७३. चोदति से परिवारं, अकरेमाणें भणाति वा सद्धे।
अव्वोच्छित्तिकरस्स उ, सुतभत्तीए कुणह पूयं॥

सबसे पहले वह आलोचनार्ह के परिवारजनों को जो वैयावृत्त्य आदि नहीं करते उनको प्रेरित करता है। यदि वे नहीं करते और स्वयं को शुद्ध आहार आदि की प्राप्ति नहीं होती है तो वह श्रावकों को कहकर उसका संपादन कराता है। वह लोगों को कहता है—प्रवचन की अव्यवच्छित्ति करने के कारण उस आलोचनार्ह मुनि की, श्रुतभक्ति से प्रेरित होकर आहार संपादन आदि से उसकी पूजा करें।

९७४. दुविधाऽसतीय तेसिं, आहारादी करेति सव्वं से।
पणहाणीय जयंतो, अत्तट्ठाए वि एमेव॥

परिवार का अभाव दो प्रकार का होता है—विद्यमान अभाव और अविद्यमान अभाव। इन दोनों का अभाव होने पर वह आलोचक आलोचनार्ह को कल्पिक अथवा अकल्पिक आहार आदि सभी का यतनापूर्वक संपादन करता है। वह पंचकहानि से यतमान अर्थात् अपरिपूर्ण मासिक प्रतिसेवना में गुरु-लघु का चिंतन कर, पांच दिन-रात अथवा दस दिन-रात की परिहानि वाले प्रायश्चित्त स्थान की प्रतिसेवना यतनापूर्वक करता हुआ वैयावृत्त्य में संलग्न रहता है। तथा कारण के समुत्पन्न होने पर स्वयं के लिए भी पंचकहानि से यतनावान् रहता है।

९७४/१.तेसिं पि य असतीए, ताधे आलोए देवयसगासे।
कितिकम्मनिसेज्जविधी, तधाति सामाइयं णत्थि॥

उन सबके अभाव में आलोचक देवता के समक्ष आलोचना करे। इस प्रसंग में न कृतिकर्म की विधि, न निषद्या की विधि तथा न सामायिक समर्पण की विधि विहित है।

९७५. कोरंटगं जधा भावितट्ठमं पुच्छिऊण वा अन्नं।
असति अरिहंत-सिद्धे, जाणंतो सुद्धो जा चेव॥

भरुकच्छ में कोरंटक उद्यान में अर्हत् मुनि सुव्रत अनेक बार पधारे थे। वहां तीर्थंकर तथा गणधरों ने अनेक मुनियों को अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त दिये थे। उन सबको वहां के देवता ने सुना था। इसलिए आलोचना करने वाला मुनि वहां जाए, तेले की तपस्या कर उस सम्यक्त्वभावित देवता की आराधना करे। देवता के प्रत्यक्ष होने पर उसके समक्ष आलोचना करे। वह यथार्ह प्रायश्चित्त देगा। यदि कोई अन्य देव वहां उत्पन्न हो गया हो तो वह कहेगा—मैं महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर को पूछकर प्रायश्चित्त दूंगा। इन सबके अभाव में प्रायश्चित्तदान विधि का ज्ञाता आलोचक अरिहंत और सिद्धों को वंदना कर स्वयं आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण कर ले। इस प्रकार प्रायश्चित्त लेने वाला भी शुद्ध ही है।

९७६. सोधीकरणा दिट्ठा, गुणसिलमादीसु जाहि साधूणं।
तो देंति विसोधीओ, पच्चुप्पण्णा व पुच्छंति॥

गुणशील आदि उद्यानों में जिन देवताओं ने तीर्थंकर तथा गणधरों को प्रायश्चित्तार्ह मुनियों को दिए जाने वाले शोधिकरण अर्थात् प्रायश्चित्तों को देखा है, सुना है, वे देवता स्वयं प्रायश्चित्त का कथन करते हैं और जो देवता अभी उत्पन्न हुए हैं वे महाविदेह में तीर्थंकरों को पूछकर साधुओं को प्रायश्चित्त का कथन करते हैं।

पहला उद्देशक समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा उद्देशक

९७७. अब्भुट्ठियस्स पासम्मि, वहंतो जदि कयाइ आवज्जे।
अत्थेणेव उ जोगो, पढमाओ होति बितियस्स॥

कोई पार्श्वस्थ आदि प्रायश्चित्त तप वहन करने की दृष्टि से आया है, और कदाचिद् उसे अन्य तपोर्ह प्रायश्चित्त आ गया उसकी भी उसको आलोचना करनी चाहिए। उस आलोचना का इस अध्ययन में प्रतिपादन है। यह प्रथम उद्देशक का दूसरे उद्देशक के साथ अर्थतः संबंध स्थापित होता है।

९७८. अधवा एगस्स विधी, वुत्तो णेगाण होति अयमन्नो।
आइण्णविगडिते वा, पट्ठवणा एस संबंधो॥

अथवा पहले एक की प्रायश्चित्तदानविधि कही गई है। अब अनेक की प्रायश्चित्तदानविधि कही जा रही है अथवा जो आचीर्ण है उसकी आलोचना करने पर प्रस्थापना प्रायश्चित्त आता है। यह संबंध है।

९७९. दो साहम्मिय छब्बारसेव लिंगम्मि होति चउभंगो।
चत्तारि विहारम्मि उ, दुविहो भावम्मि भेदो उ॥

द्विक शब्द के छह निक्षेप और साधर्मिक शब्द के बारह निक्षेप हैं। लिंग की चतुर्भंगी, विहार शब्द के चार निक्षेप तथा भाव के दो भेद हैं।

९८०. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य होति बोधव्वे।
भावे य दुगे एसो, निक्खेवो छव्विहो होति।

द्विक शब्द के छह निक्षेप--नामद्विक, स्थापनाद्विक, द्रव्यद्विक, क्षेत्रद्विक, कालद्विक तथा भावद्विक।

९८१. चित्तमचित्तं एक्केक्कगस्स जे जत्तिया उ दुगभेदा।
खेत्ते दुपदेसादी, दुसमयमादी उ कालम्मि॥

द्रव्यद्विक के दो प्रकार हैं--सचित्त और अचित्त। इनमें प्रत्येक के जितने द्विकभेद होते हैं वे सभी ग्राह्य हैं। क्षेत्रद्विक जैसे-- द्विप्रदेशावगाढ़ क्षेत्र आदि। कालद्विक जैसे--द्विसमयादिक काल।

९८२. भावे पासत्थमियरं, होति पसत्थं तु णाणि-णोणाणे।
केवलियछउम णाणे, णोणाणे दिट्ठि-चरणे य॥

भावद्विक के दो प्रकार हैं--प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त दो प्रकार का है--ज्ञान और नोज्ञान। ज्ञान विषयक द्विक--केवलिक और छाद्मस्थिक। नोज्ञान विषयक द्विक--दृष्टि (सम्यक्त्व) तथा चरण (चारित्र)।

९८३. एक्केक्कं पि य तिविहं, सट्ठाणे नत्थि खइय अतियारो।
उवसामिएसु दोसुं अतियारो होज्ज सेसेसु॥

एकैक अर्थात् दर्शन और चारित्र प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं--क्षायिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक। क्षायिक ज्ञान, दर्शन और चारित्र के स्वस्थान में कोई अतिचार नहीं होता। औपशमिक-भाव में वर्तमान दो में अर्थात् दर्शन और चारित्र में स्वस्थान में अतिचार नहीं होता। शेष अर्थात् क्षायोपशमिक भाव में स्वस्थान और परस्थान--दोनों स्थानों में अतिचार हो सकता है।

९८३/१. भावे अपसत्थ-पसत्थगं च दुविधं तु होति णायव्वं।
अविरय-पमायमेव य, अपसत्थं होति दुविधं तु॥

९८३/२. णाणे णोणाणे या, होति पसत्थम्मि ताव दुविधं तु।
णाणे खओवसमितं, खइयं च तहा मुणेयव्वं॥

९८३/३. णोणाणे विय दिट्ठी,
चरणे एक्केक्कयं तिधा मुणेयव्वं।
मीसं तधोवसमितं,
खइयं च तधा मुणेयव्वं॥

९८३/४. णाणादीसुं तीसु वि,सट्ठाणे णत्थि खइय अतिचारो।
उवसामिए वि दोसुं, दिट्ठी चरणे य सट्ठाणे॥

भावद्विक के दो प्रकार हैं--प्रशस्त और अप्रशस्त। अविरत और प्रमाद--ये अप्रशस्त भावद्विक के दो प्रकार हैं। प्रशस्त भावद्विक के दो प्रकार हैं--ज्ञान और नोज्ञान। ज्ञान के दो प्रकार हैं--क्षायोपशमिक और क्षायिक। नोज्ञान द्विक के दो प्रकार हैं--दृष्टि और चारित्र। प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं--क्षायोपशमिक, औपशमिक तथा क्षायिक।

क्षायिक ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र के स्वस्थान में कोई अतिचार नहीं होता। औपशमिक भाव के दो में अर्थात् दर्शन और चारित्र में स्वस्थान में अतिचार नहीं होना।

(इन चारों गाथाओं का कथन पूर्ववर्ती गाथाओं में आ चुका है।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९८४. सट्ठाणपरट्ठाणे, खओवसमितेसु तीसु वी भयणा।
दंसण-उवसम-खइए, परठाणे होति भयणा उ॥

क्षायोपशमिक भाव वाले ज्ञान, दर्शन और चारित्र–तीनों में स्वस्थान अथवा परस्थान में अतिचार की भजना है। औपशमिक और क्षायिक दर्शन तथा चारित्र में स्वस्थान में अतिचार नहीं होता, परस्थान में अतिचार की भजना है।

९८५. दव्वदुए दुपदेणं, सच्चित्तेणं च एत्थ अहिगारो।
मीसेणोदइएणं, भावम्मि वि होति दोहिं पि॥

प्रस्तुत में द्रव्यद्विक और भावद्विक का अधिकार है। द्रव्यद्विक में सचित्त से तथा उसमें भी द्विपद अर्थात् साधर्मिक द्वय तथा क्षायोपशमिक तथा औदयिक–इन दोनों भावों का यहां प्रसंग है।

९८६. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य पवयणे लिंगे।
दंसण-नाण-चरित्ते, अभिग्गहे भावणाए य॥

साधर्मिक के बारह निक्षेप–

१. नामसाधर्मिक	७. लिंगसाधर्मिक
२. स्थापनासाधर्मिक	८. दर्शनसाधर्मिक
३. द्रव्यसाधर्मिक	९. ज्ञानसाधर्मिक
४. क्षेत्रसाधर्मिक	१०. चारित्रसाधर्मिक
५. कालसाधर्मिक	११. अभिग्रहसाधर्मिक
६. प्रवचनसाधर्मिक	१२. भावनासाधर्मिक

९८७. नामम्मि सरिसनामो, ठवणाए कट्ठकम्ममादीसु।
दव्वम्मि जो उ भविओ, साधम्मि सरीरगं जं च॥

नामसाधर्मिक–सदृश नाम वाले दो व्यक्ति। स्थापना-साधर्मिक–काष्ठकर्म आदि में स्थापित मूर्ति आदि। द्रव्य साधर्मिक जो भव्य अर्थात् भावी है तथा साधार्मिक का निष्प्राण शरीर।

९८८. खेत्ते समाणदेसी, कालम्मि तु एक्ककालसंभूतो।
पवयणसंघेकतरो, लिंगे रयहरण-मुहपोत्ती॥

क्षेत्रसाधर्मिक–समान देश वाले जैसे–सौराष्ट्र सौराष्ट्र का। कालसाधर्मिक–एककाल में उत्पन्न। प्रवचनसाधर्मिक जैसे–संघ का कोई घटक–श्रमण-श्रमणी, श्रावक या श्राविका। लिंगसाधर्मिक–रजोहरण, मुखवस्त्रिका युक्त।

९८९. दंसण-नाणे-चरणे,
तिग पण-पण तिविधि होति व चरित्तं।
दव्वादी तु अभिग्गह,
अह भावण मो अणिच्चादी॥

दर्शनसाधर्मिक तीन प्रकार के, ज्ञान साधर्मिक पांच प्रकार के, चारित्रसाधर्मिक तीन (अथवा पांच) प्रकार के होते हैं। अभिग्रह साधर्मिक–द्रव्य आदि का अभिग्रह करने वाले दो व्यक्ति। भावनासाधर्मिक–अनित्य आदि भावना करने वाले दो व्यक्ति।

९९०. साहम्मिएहि कहितेहि, लिंगादी होति एत्थ चउभंगो।
नामं ठवणा दविए, भाव विहारे य चत्तारि॥

साधर्मिकों के कथन के पश्चात् उनकी लिंग के साथ चतुर्भंगी होती है। विहार संबंधी चार निक्षेप ये हैं–नामविहार, स्थापनाविहार, द्रव्यविहार और भावविहार।

९९१. लिंगेण उ साहम्मी, नोपवयणतो य निण्हगा सव्वे।
पवयणसाधम्मी पुण, न लिंग दस होंति ससिहागा॥

९९२. साधू तु लिंग पवयण,णोभयतो कुतित्थ-तित्थयरमादी।
उववज्जिऊण एवं, भावेतव्वो तु सव्वे वी॥

लिंगप्रवचन से चतुर्भंगी–

१. लिंग से साधर्मिक प्रवचन से नहीं–सभी निन्हव।

२. प्रवचन से साधर्मिक न लिंग से–शिखा–चोटी रखने वाले दस प्रकार के श्रावक।[1]

३. प्रवचन से साधर्मिक लिंग से भी साधर्मिक–मुनि।

४. न प्रवचन से साधर्मिक और न लिंग से साधर्मिक।

इस प्रकार इनके आधार पर सभी का वर्णन करना चाहिए।

९९३. एमेव य लिंगेणं, दंसणमादीसु होंति भंगा उ।
भइएसु उवरिमेसुं, हेट्ठिल्लपदं तु छड्डेज्जा॥

इसी प्रकार लिंग साधर्मिक के साथ दर्शन साधर्मिक आदि के भंग भी होते हैं। भावना साधर्मिक पर्यंत सभी उपरितन साधर्मिकों के भंग कह देने पर अधस्तनपद को छोड़ दें। फिर उसके आगे का पद ग्रहण करें।[2] जैसे–लिंगसाधर्मिक के दर्शन साधर्मिक के साथ भंग कर दर्शन के ज्ञान आदि से भंग करने चाहिए।

९९४. पत्तेयबुद्धनिण्हव, उवासाए केवली य आसज्ज।
खइयादिए य भावे, पडुच्च भंगे तु जाएज्जा॥

प्रत्येक बुद्ध, निन्हव, उपासक और केवली की अपेक्षा से तथा क्षायिक भावों के आश्रय से पूर्वोक्त भंगों (प्रवचन साधर्मिक, लिंगसाधर्मिक) को योजित करें। जैसे–

१. प्रवचन से साधर्मिक नहीं, लिंग से साधर्मिक–प्रत्येकबुद्ध, केवली।

२. लिंग से साधर्मिक, प्रवचन से नहीं–निन्हव।

---

१. दर्शन, व्रत आदि प्रतिमाओं को धारण करने वाले दस प्रकार के श्रावक सशिखाक होते हैं। ये दस प्रकार के श्रावक प्रवचन से साधर्मिक होते हैं, लिंग से नहीं। ग्यारहवीं प्रतिमा वाले श्रमणभूत होते हैं, मुंडित होते हैं।

२. वृत्तिकार ने भंगों का विस्तार से वर्णन किया है। (पत्र ५,६)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. प्रवचन से साधर्मिक, लिंग से नहीं—श्रावक।

प्रवचन से साधर्मिक, न दर्शन से—आदि की योजना क्षायोपशमिक दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि की अपेक्षा से योजनीय हैं।

९९५. नामं ठवणा दविए, भावे य चउव्विहो विहारो उ।
विविधपगारेहि रयं, हरती जम्हा विहारो उ॥

विहार के चार प्रकार हैं—नामविहार, स्थापनाविहार, द्रव्यविहार और भावविहार। जो विविध प्रकार से कर्मरजों का हरण करता है, वह है विहार अर्थात् भावविहार।

९९६. आहारादीणट्ठा, जो य विहारो अगीत-पासत्थे।
जो यावि अणुवउत्तो, विहरति दव्वे विहारो उ॥

जो आहार आदि के लिए अगीतार्थ तथा पार्श्वस्थ मुनियों के साथ विहरण करता है अथवा जो अनुपयुक्त होकर विहरण करता है—यह द्रव्यविहार है।

९९७. गीतत्थो तु विहारो, बितिओ गीतत्थनिस्सितो होति।
एत्तो ततियविहारो, नाणुण्णातो जिणवरेहिं॥

गीतार्थ मुनि का विहार तथा गीतार्थ मुनि की निश्रा में होने वाला विहार—ये दो ही भावविहार हैं। जिनेश्वर ने तीसरे विहार की अनुज्ञा नहीं दी है।

९९८. जिणकप्पितो गीतत्थो, परिहारविसुद्धिओ वि गीयत्थो।
गीयत्थे इड्ढिदुगं, सेसा गीयत्थनिस्साए॥

जिनकल्पिक गीतार्थ होता है। परिहारविशुद्धिक भी गीतार्थ है। गच्छ में गीतार्थविषयक ऋद्धिद्विक है—आचार्य और उपाध्याय। शेष प्रवर्तक, स्थविर और गणावच्छेदक—ये गीतार्थ-निश्रित होते हैं।[1]

९९९. चोदेइ अगीयत्थे, किं कारण मो निसिज्झति विहारो।
सुण दिट्ठंतं चोदग!, सिद्धकरं तिण्ह वेतेसिं॥

शिष्य प्रश्न करता है—आर्य! अगीतार्थ के विहार का निषेध क्यों किया गया? आचार्य कहते हैं—वत्स! गीतार्थ, अगीतार्थ तथा गीतार्थनिश्रित विहार—इन तीनों में जो सिद्धिकर विहार है, उस विषयक तुम दृष्टांत सुनो।

१०००. तिविधे संगेल्लम्मी, जाणंते निस्सिते अजाणंते।
पाणंधि छित्तकुरुणे, अडवि जले सावए तेणा॥

एक नगर में संगिल्ल—गायों के समुदाय की रक्षा के लिए तीन प्रकार के रक्षक नियुक्त हुए—जानकार, निश्रित (दूसरे जानकार के आश्रय में काम करने वाला) तथा अजानकार। जानकार और दूसरे जानकार की निश्रा में गायों की रक्षा करने वाला—दोनों अपने कार्य में सफल थे। तीसरा अजानकार था। वह पाणंधि—खेतों के मध्य से आने-जाने का मार्ग नहीं जानता था। गायें धान के खेतों में आती-जाती धान को चर जाती। खेत के स्वामी उससे क्षेत्रकुरुण—खेत में हुई फसल की हानि वसूल करते। वह सुरक्षित स्थानों की अजानकारी के कारण गायों को अटवी में ले जाता, नदी प्रदेश में ले जाता तथा ऐसे स्थानों पर ले जाता जहां श्वापद—सिंह, व्याघ्र आदि रहते हों अथवा जहां चोरों की अवस्थिति हो। ये सारे आपत्ति के स्थान हैं। गायें नष्ट हो गईं।

१००१. एते सव्वे दोसा, जो जेण उ निस्सितो य परिहरति।
निवडइ दोसेसुं पुण अयाणतो नियमया तेसु॥

जो जानकार है तथा जो उसकी निश्रा में रहता है वह इन सारे दोषों का परिहार कर लेता है। जो अजानकार है वह नियमतः इन दोषों में फंस जाता है।

१००२. एवं उत्तरियम्मि वि, अयाणतो निवडई तु दोसेसुं।
मग्गाईसु इमेसू, ण य होती निज्जराभागी॥

अजानकार व्यक्ति इन मार्गों को पार कर जाने पर भी दोषों में फंस जाता है। वह निर्जरा का भागी नहीं होता।

१००३. मग्गे सेहविहारे, मिच्छत्ते एसणादि विसमे य।
सोधी गिलाणमादी, तेणा दुविधा व तिविधा वा॥

मार्ग, शैक्ष, विहार, मिथ्यात्व, एषणा, विषम, शोधि तथा ग्लान आदि के विषय में दोष होते हैं। दो प्रकार के अथवा तीन प्रकार के चोरों से भी दोष होते हैं। (यह द्वार गाथा है। इसका विस्तार अगली गाथाओं में है।)

१००४. मग्गं सद्दव रीयति, पाउस उम्मग्ग अजतणा एवं।
सेहकुलेसु य विहरति, नऽणुवत्तति ते ण गाहेति॥

मुनि द्रवचारी होकर मार्ग में, प्रावृड् में तथा उन्मार्ग में अज्ञतया अथवा अयतनापूर्वक जाता है तो संयमविराधना तथा आत्मविराधना होती है। वह शैक्ष (अभिनव व्रतधारी) कुलों में जाता है, उनको अनुवर्तित नहीं करता—धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा को वृद्धिंगत नहीं करता, उनको श्रावकधर्म का ग्रहण नहीं करवाता (यह उसका दोष है।)

१००५. दसुदेसे पच्चंते, वइगादि विहार पाणबहुले य।
अप्पाणं च परं वा, न मुणति मिच्छत्तसंकंतं॥

वह दस्युदेश—चौरदेश में, प्रत्यंत—म्लेच्छ देश में विहार करता है। व्रजिकादि में, प्राणिबहुल प्रदेश में विहार करता है तो संयमविराधना होती है। वह स्वयं को तथा पर को मिथ्यात्व-संक्रांत नहीं जानता (वह संसारप्रवर्धक होता है।)

१००६. आहार-उवधि सेज्जा, उग्गमउप्पायणेसणकडिल्ले।
लग्गति अवियाणंतो, दोसे एतेसु सव्वेसु॥

१. आचार्य और उपाध्याय—ये दो स्थान नियुक्त हैं। शेष सारे स्थान अनियुक्त हैं। वे गीतार्थ भी हो सकते हैं और अगीतार्थ भी। अतः गीतार्थ की निश्रा से विहार करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह आहार, उपधि, शय्या–वसति के ग्रहण आदि में उद्गम, उत्पादन तथा एषणा दोषों को न जानता हुआ तथा कडिल्ल–महागहन को न जानता हुआ सभी दोषों से संलग्न हो जाता है।

१००७. मूलगुण उत्तरगुणे आवण्णस्स य न याणाई सोहिं।
पडिसिद्ध त्ति न कुणति, गिलाणमादीण तेगिच्छं॥

जो मूलगुण और उत्तरगुण विषयक प्रतिसेवना में प्रायश्चित्त प्राप्त व्यक्ति की शोधि को नहीं जानता वह प्रायश्चित्तदान में विसंवादी होता है। वह ग्लान आदि की चिकित्सा को प्रतिषिद्ध समझकर नहीं करता। (इसके अनेक दोष प्राप्त होते हैं)।

१००८. अप्पसुतो त्ति व काउं, वुग्गाहेउं हरंति खुड्डादी।
तेणा सपक्ख इतरे, सलिंगगिहि अन्नहा तिविधा॥

स्तेन दो प्रकार के होते हैं–स्वपक्षस्तेन तथा परपक्षस्तेन। स्तेनों के तीन प्रकार और हैं–स्वलिंगस्तेन, गृहस्थ तथा उनसे अतिरिक्त भिक्षुक आदि। स्वपक्षस्तेन दो प्रकार के होते हैं–गीतार्थ और पार्श्वस्थ आदि। शिष्य को अल्पश्रुत जानकर गीतार्थ उसका अपहरण कर लेते हैं। पार्श्वस्थ आदि क्षुल्लक मुनि को बहका कर ले जाते हैं।

१००९. एते चेव य ठाणे, गीतत्थो निस्सितो उ वज्जेति।
भावविहारो एसो, दुविहो तु समासतो भणितो॥

इन स्थानों का गीतार्थ तथा गीतार्थ निश्रित मुनि वर्जन करता है। यह दो प्रकार का भावविहार संक्षेप में कहा गया है।

१०१०. सो पुण होती दुविधो, समत्तकप्पो तधेव असमत्तो।
तत्थ समत्तो इणमो, जहण्णमुक्कोसतो होति॥

१०११. गीतत्थाणं तिण्हं, समत्तकप्पो जहन्नतो होति।
बत्तीससहस्साइं, हवंति उक्कोसओ एस॥

भावविहार के दो प्रकार और हैं–समाप्तकल्प तथा असमाप्तकल्प। समाप्तकल्प के दो भेद हैं–जघन्य तथा उत्कृष्ट। तीन गीतार्थ मुनियों का विहार जघन्य समाप्तकल्प और बत्तीस हजार गीतार्थों का विहार उत्कृष्ट समाप्तकल्प है।

१०१२. तिण्ह समत्तो कप्पो, जहण्णतो दोन्नि ऊ जया विहरे।
गीतत्थाण वि लहुगो , अगीत गुरुगा इमे दोसा॥

तीन गीतार्थों का जघन्य समाप्तकल्प होता है और यदि दो गीतार्थ विहार करते हैं तो लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। दो अगीतार्थ विहार करते हैं तो गुरुमास का प्रायश्चित्त है। दो के विहरण में ये दोष हैं।

१०१३. दोण्हं विहरंताणं सलिंग-गिहिलिंग-अन्नलिंगे य।
होति बहुदोसवसही, गिलाणमरणे य सल्ले य॥

दो मुनियों के विहरण में स्वलिंग, गृहलिंग तथा अन्यलिंग संबंधी अनेक दोष संभव होते हैं। वसति संबंधी अनेक दोष हो सकते हैं। दो मुनियों में से एक ग्लान हो जाने पर उसे अकेला छोड़कर भिक्षा के लिए जाना होता है। मरण हो सकता है। उसमें शल्य रह जाता है।

१०१४. एगस्स सलिंगादी, वसहीए हिंडतो य साणाही।
दोसा दोण्ह वि हिंडंतगाण वसधीय होंति इमे॥

एक मुनि कार्यवश बाहर जाता है तब वसति को एकांत समझकर स्वलिंगिनी का उपपात हो सकता है। श्वान आदि का उपद्रव हो सकता है। यदि दोनों मुनि वसति को सूनी छोड़कर बाहर जाते हैं तो ये दोष संभव होते हैं।

१०१५. मिच्छत्त बडुग चारण,
भडे य मरणं तिरिक्ख-मणुयाणं।
आदेस-वाल-निक्केयणे य
सुण्णे भवे दोसा॥

वसति को सर्वथा शून्य कर चले जाने पर शय्यातर को अप्रीति के कारण मिथ्यात्व हो सकता है। बटुक, चारण और भट–इनका उपद्रव हो सकता है। तिर्यंच और मनुष्य की उसमें मृत्यु हो सकती है। शय्यातर उस रिक्त वसति को आने वाले प्राघूर्णक मुनियों को रहने के लिए दे देता है। पूर्व मुनियों के आने पर कलह हो सकता है। शून्य वसति में व्याल–सर्प आदि का उपद्रव होता है। उसमें स्थित नवप्रसूता कुत्ती आदि को निष्कासित करने पर संयमात्मविराधना हो सकती है। ये सारे दोष वसति को सूनी करने से होते हैं।

१०१६. गेलण्णसुण्णकरणे, खद्धाइयणे गिलाणअणुकंपा।
साणादी य दुगुंछा, तस्सट्ठगतम्मि कालगते॥

ग्लान को शून्य कर अर्थात् अकेला कर जाने पर, ग्लान पर अनुकंपा कर गृहस्थ आदि उसको प्रचुरमात्रा में भोजन करा देने पर उसे वमन आदि हो सकता है। वमन को खाने के लिए श्वान आदि आते हैं। यह देखकर लोगों को जुगुप्सा होती है। ग्लान के लिए औषध आदि लाने के लिए उसको अकेला छोड़कर मुनि बाहर गया हो और वह ग्लान कालगत हो जाए तो ये दोष होते हैं।

१०१७. गिहि-गोण-मल्ल-राउल, निवेदणा पाण कड्ढणुड्डाहे।
छक्कायाण विराधण, झामित मुक्के य वावण्णे॥

वसति में मुनि के कालगत हो जाने पर गृहस्थ उसे ले जाते हैं अथवा बैल, मल्ल आदि उसका निष्कासन करते हैं। राजा को निवेदन करने पर राजा उसके निष्कासन की व्यवस्था करता है अथवा चांडालों से उसको निकाला जाता है। इस प्रकार मृतमुनि को घसीटकर निकालने पर उड्डाह होता है। उसका अग्निदाह करने पर अथवा अस्थंडिल में वैसे ही डाल देने पर छह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काय की विराधना होती है। ग्लान का शरीर कहीं-कहीं व्यापन्न–कुथित हो जाने पर अयतना से जीवों की विराधना हो सकती है।

१०१८. गोण निवे साणेसु य, गुरुगा सेसेसु चउलहू होंति।
उड्डाहो त्ति च काउं, निवबज्जेसुं भवे लहुगा॥

बैल, राजा आदि के द्वारा मुनि के मृत कलेवर को निष्कासित करने तथा श्वान द्वारा ग्लान के वमन को खाने से चार गुरुमास का और शेष सभी स्थानों में चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। नृप का वर्जन कर शेष स्थानों में उड्डाह होने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१०१९. बिंति य मिच्छादिट्ठी, कत्तो धम्मो तवो व एतेसिं।
इहलोगे फलमेयं, परलोए मंगुलतरागं॥

उड्डाह इस प्रकार होता है–मिथ्यादृष्टि पुरुष कहते हैं–इनके धर्म और तप कहां हैं? इस प्रकार का निष्कासन इहलोक का फल है तो परलोक में तो इससे भी अशुभतर फल होगा।

१०२०. जदि एरिसाणि पावंति,दिक्खिया खु अम्ह दिक्खाए।
पव्वज्जाभिमुहाणं, पुणरावत्ती भवे दुविधा॥

(इस प्रकार विडंबना होते देखकर) लोग सोचते हैं–यदि दीक्षित व्यक्ति भी इस प्रकार की विडंबना पाते हैं तो फिर हमें दीक्षा से क्या प्रयोजन–इस प्रकार प्रव्रज्याभिमुख–दीक्षित होने के अभिलाषी व्यक्तियों की भावना बदल जाती है। यह बदलाव द्रव्यतः और भावतः दो प्रकार से होता है।

१०२१. वालेण विप्परद्धे, सल्ले वाघातमरणभीतस्स।
एवं दुग्गतिभीते, वाघातो सल्लामोक्खट्ठा॥

एक सर्प ने पुरुष का पीछा किया। वह मरणभय से भीत होकर दौड़ा। एक कांटा चुभा। उसके दौड़ने में व्याघात आ गया। वहां रुका। सर्प ने आकर डस लिया। इसी प्रकार दुर्गति गमन से भीत के लिए तथा मोक्ष के प्रयोजन से चलने वाले पुरुष के लिए शल्य–अपराध एक व्याघात है।

१०२२. मरिउं ससल्लमरणं, संसाराडविमहाकडिल्लम्मि।
सुचिरं भमंति जीवा, अणोरपारम्मि ओतिण्णा॥

जो सशल्यमरण मरता है वह अत्यंत गहन तथा आर-पार से रहित संसाररूपी अटवी में चिरकाल तक भ्रमण करता है।

१०२३. जम्हा एते दोसा, तम्हा दोण्हं न कप्पति विहारो।
एयं सुत्तं अफलं, अह सफलं निरत्थओ अत्थो॥

दो के विहार करने पर ये दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिए दो को विहार करना नहीं कल्पता। शिष्य ने पूछा–दो का विहार असंभव होने पर यह प्रस्तुत सूत्र अफल–व्यर्थ है। यदि सफल है तो अर्थतः प्रतिषेध करने पर अर्थ निरर्थक हो जाएगा।

१०२४. मा वद सुत्तनिरत्थं, न निरत्थगवादिणो भवे थेरा।
कारणियं पुण सुत्तं, इमे य ते कारणा होंति॥

आचार्य बोले–शिष्य! यह मत कहो कि सूत्र निरर्थक है क्योंकि स्थविर निरर्थकवादी नहीं होते। यह सूत्र कारणिक–अर्थात् कारणों के प्रसंग में प्रवृत्त है। वे कारण ये होते हैं।

१०२५. असिवे ओमोदरिए, रायासंदेसणे जतंता वा।
अज्जाण गुरुनियोगा, पव्वज्जा णातिवग्ग दुवे॥

अशिव–देवकृत उपद्रव, अवमौदर्य-दुर्भिक्ष, राजा के प्रद्विष्ट होने पर, आचार्य के द्वारा भेजे जाने पर, यतमान–ज्ञान-दर्शन के निमित्त, आचार्य को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने, गुरु के नियोग से अथवा प्रव्रज्याभिमुख को स्थिर करने के लिए, ज्ञातिवर्ग के लिए दो का विहार अनुज्ञात है।

१०२६. समगं भिक्खग्गहणं,निक्खमण-पवेसणं अणुण्णवणं।
एगो कधमावण्णो, एगोत्थ कहं न आवण्णो॥

दो विहार करते हैं और दोनों एक साथ भिक्षाग्रहण, निष्क्रमण, प्रवेश और अनुज्ञापन करते हैं तो फिर एक प्रायश्चित्तस्थान को प्राप्त होता है और एक नहीं–ऐसा क्यों?

१०२७. एगस्स खमणभाणस्स, धोवणं बहिय इंदियत्थेहिं।
एतेहिं कारणेहि, आवण्णो वा अणावण्णो॥

आचार्य कहते हैं–एक के उपवास है, वह उपाश्रय में रहता है और एक भिक्षा के निमित्त जाता है। एक पात्र धोने के लिए उपाश्रय से बाहर गया है और एक उपाश्रय में है। वे दोनों एकाकी हैं। वे इंद्रिय विषयों में राग-द्वेष के कारण प्रायश्चित्तस्थान को प्राप्त हो सकते हैं। इन कारणों से एक प्रायश्चित्तस्थान को प्राप्त होता है और एक नहीं।

१०२८. तुल्ले वि इंदियत्थे,सज्जति एगो विरज्जती बितिओ।
अज्झत्थं खु पमाणं, न इंदियत्था जिणा बेंति॥

दोनों के इंद्रियार्थ विषयक राग-द्वेष तुल्य होने पर भी एक उनमें आसक्त होता है और एक उनमें विरक्त होता है। जिनेश्वर कहते हैं प्रायश्चित्त की प्राप्ति-अप्राप्ति में अध्यात्म–आंतरिक परिणाम प्रमाण है, इंद्रियार्थ नहीं।

१०२९. मणसा उवेति विसए, मणसेव य सन्नियत्तसतेसु।
इति वि हु अज्झत्थसमो, बंधो विसया न उ पमाणं॥

प्राणी मन से, अंतःकरण से विषयों को प्राप्त करता है, आसक्त होता है और मन से ही उनसे विरक्त होता है। इस प्रकार अध्यात्मानुरूप बंध होता है। इसमें विषय प्रमाण नहीं है।

१०३०. एवं खलु आवण्णे, तक्खण आलोयणा तु गीतम्मि।
ठवणिज्जं ठवइत्ता, वेयावडियं करे बितिओ॥

इस प्रकार जिस एक मुनि को प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, वह तत्काल गीतार्थ के पास आलोचना करे। दोनों यदि गीतार्थ हों तो एक स्थापनीय को स्थापित कर जिसको प्रायश्चित्तस्थान प्राप्त हुआ हो वह परिहारतप स्वीकार करे और दूसरा उसकी वैयावृत्त्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करे। (वही आनुपारिहारिक है।)

१०३१. बितिए निव्विस एगो, निव्विट्ठेतेण निव्विसे इतरो।
एगतरम्मि अगीते, दोसु व सगणेतरो सोधी॥

दूसरे सूत्र में दोनों गीतार्थ प्रायश्चित्त प्राप्त हैं। एक परिहारतप स्वीकार करता है, दूसरा अनुपारिहारिक होता है। परिहारतप पूर्ण होने पर वह अनुपारिहारिक हो जाता है और पूर्व का आनुपारिहारिक परिहारतप में संलग्न हो जाता है। यदि दोनों में से कोई एक अगीतार्थ होता है तो वह विशुद्ध तप स्वीकार करता है। यदि दोनों अगीतार्थ हों तो स्वगण में अथवा परगण में गीतार्थ के पास शोधि–प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं।

१०३२. एमेव ततियसुत्ते, जदि एगो बहुगमज्झ आवज्जे।
आलोयण गीतत्थे, सुद्धे परिहार जध पुव्विं॥

इसी प्रकार तीसरे सूत्र में यह प्रतिपादित है कि यदि बहुत मुनियों के बीच एक प्रायश्चित्तस्थान को प्राप्त होता है तो वह गीतार्थ के पास तत्काल आलोचना करे। यदि आलोचक अगीतार्थ है तो उसे शुद्ध तप और यदि गीतार्थ है तो उसे पूर्वोक्त विधि से परिहारतप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१०३३. सरिसेसु असरिसेसु व,
अवराधपदेसु जदि गणो लग्गे।
बहुयकतम्मि वि दोसो त्ति
होति सुत्तस्स संबंधो॥

गण–साधु समुदाय यदि सदृश अथवा असदृश अपराध-पदों में संलग्न होता है, वह दोषभाक् है। बहुत मुनियों द्वारा किए जाने पर भी दोष दोष ही है। यह प्रस्तुत सूत्र का संबंध-वाक्य है।

१०३४. सव्वे वा गीतत्था, मीसा व जहन्न एग गीतत्थो।
परिहारिय आलवणादि भत्तं देंत व गेण्हंता॥

१०३५. लहु गुरु लहुगा गुरुगा,
सुद्धतवाणं च होति पण्णवणा।
अध होंति अगीतत्था,
अन्नगणे सोधणं कुज्जा॥

गण के सभी मुनि गीतार्थ हों अथवा गीतार्थमिश्र–गीतार्थ-अगीतार्थ हों अथवा उनमें जघन्यतः एक ही गीतार्थ हो। यदि वह गीतार्थ प्रायश्चित्तस्थान को प्राप्त होता है, और शेष सारे अगीतार्थ होते हैं तो वह अन्य गण में जाकर अपना शोधन करे, प्रायश्चित्त ग्रहण करे। पारिहारिक प्रायश्चित्त वहन करने वाले मुनि के साथ यदि अन्य मुनि आलापनादिक करते हैं तो उन्हें चार लघुमास का, उसे भक्त–आहार देते हैं तो चार गुरुमास का और उससे भक्त ग्रहण करते हैं तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो अगीतार्थ मुनि प्रायश्चित्तस्थान को प्राप्त है उसे परिहारतप नहीं दिया जाता, शुद्ध तप दिया जाता है। शुद्ध तप और परिहारतप के योग्य कौन होते हैं उनकी प्रज्ञापना करनी चाहिए।

१०३६. परिहारियाधिकारे, अणुवत्तंते अयं विसेसो उ।
आवण्ण दाण संथरमसंथरे चेव नाणत्तं॥

यहां पारिहारिक का अधिकार अनुवर्तित है। उसमें यह विशेष है। परिहारतप के प्रायश्चित्त को प्राप्त मुनि को परिहारतप देने पर उसका वहन करते हुए अथवा न करते हुए अन्य प्रतिसेवना कर लेने पर प्राप्त प्रायश्चित्त को वहन करने की विधि दो सूत्रों में प्ररूपित है। यही पूर्वसूत्र से इसका नानात्व है, विशेष है।

१०३७. उभयबलं परियागं, सुत्तत्थाभिग्गहे य वण्णेत्ता।
न हु जुज्जति वोत्तुं जे, जं तदवत्थो वि आवज्जे॥

इससे पूर्व पारिहारिक के धृति-संहननरूप उभय बल का, पर्याय का (गृही–मुनि पर्याय), सूत्रार्थ के परिमाण का तथा अभिग्रह का भी वर्णन किया जा चुका है। अतः अब यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि परिहारतप प्राप्त व्यक्ति भी प्रायश्चित्त-स्थान को प्राप्त होता है।

१०३८. दोहि वि गिलायमाणे, पडिसेवंते मएण दिट्ठंतो।
आलोयणायऽफरुसे, जोधे वसभे य दिट्ठंतो॥

प्रथम दो परीषहों (क्षुत् और पिपासा) से ग्लान होता हुआ मुनि अनेषणा आदि की प्रतिसेवना कर लेता है। इसमें मृग का दृष्टांत है। उसकी आलोचना करते हुए उसको अपरुष भाषा बोलनी चाहिए। यहां योद्धा तथा वृषभ का दृष्टांत जानना चाहिए।

१०३९. गिम्हेसु मोक्खितेसुं, दट्ठुं वाहं गतो जलोतारे।
चिंतेति जदि न पाहं, तोयं तो मे धुवं मरणं॥

१०४०. पिच्चा मरिउं पि सुहं, कयाइ व सचेट्ठतो पलाएज्जा।
इति चिंतेउं पाउं, नोल्लेउं तो गतो वाहं॥

ग्रीष्म ऋतु। एक व्याध बाण छोड़ने का इच्छुक सरोवर पर बैठा था। एक मृग पानी पीने जलावतार पर गया। उसने व्याध को देखा। उसने सोचा, 'यदि मैं पानी नहीं पीता हूं तो प्यास के कारण निश्चित ही मेरी मृत्यु हो जाएगी। पानी पीकर मरना सुखकर है। यह भी संभव है, कदाचित् पानी पीने के बाद मैं सचेष्ट होकर पलायन कर जाऊं।' यह सोचकर उसने पानी पीया और व्याध के देखते-देखते वेग से पलायन कर गया।

१०४१. मिगसामाणो साधू, दगपाणसमा अकप्पपडिसेवा।
वाहोवमो य बंधो, सेविय तो तं पणोल्लेति॥

मृग के समान है साधु, पानी पीने के समान है अकल्प की प्रतिसेवना, व्याध के समान है बंध (कर्मबंध)। अकल्प की प्रतिसेवना कर मृग की भांति पानी पीकर कर्मबंध को प्रेरित करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०४२. परबलपहारचइया, वायासरतोदिता य ते पहुणा।
परपच्चूहअसत्ता, तस्सेव भवंति घाताए॥
१०४३. नामेण य गोत्तेण व, पसंसिया चेव पुव्वकम्मेहिं।
भग्गवणिया वि जोधा, जिणंति सत्तुं उदिण्णं पि॥

जो योद्धा शत्रुसेना के प्रहारों से घबराकर रणस्थली को छोड़कर लौट आते हैं, उनको उनका स्वामी वाक्बाणों से ताड़ित करता है। वे योद्धा (वाक्बाणों से अत्यंत पीड़ित होकर) शत्रु के विघ्न को मिटाने में असमर्थ होते हुए भी अपने ही राजा के व्याघात के लिए होते है। और जो राजा रणभूमि से घबरा कर आए हुए योद्धाओं के नाम और गोत्र के आधार पर तथा पूर्वकृत कार्यों के आधार पर प्रशंसा करता है, वे योद्धा शत्रुओं के प्रहारों से भग्न और व्रणित होने पर भी प्रबल शत्रु को जीत लेते हैं।

१०४४. इय आउरपडिसेवंत, चोदितो अधव तं निकायंतो।
लिंगारोवणचागं, करेज्ज घातं च कलहं वा॥

कोई आतुर अर्थात् परीषह से पराजित व्यक्ति प्रतिसेवना करता है और दूसरा उसको न करने की प्रेरणा देता है अथवा जब वह मुनि प्रतिसेवना की निकाचना–आलोचना करता है तब उसको परुषभाषा में कुछ कहता है तो वह आलोचक मुनि लिंग तथा आरोपणा–प्रायश्चित्त का त्याग कर देता है अथवा प्रेरक की घात कर देता है, कलह करता है।

१०४५. जं पि न चिण्णं तं तेण, चमढियं पेल्लितं वसभराए।
केदारेक्कदुवारे, पोयालेणं निरुद्धेणं॥

एक खेत के चारों ओर परिक्षेप था, प्रवेश का एक ही द्वार था। एक सांड उसमें चला गया। खेत के स्वामी ने द्वार बंद कर सांड को भीतर निरुद्ध कर उसको पीटने लगा। जो खेत की फसल सांड द्वारा नहीं कुचली गई, वह भी इधर-उधर भागते सांड ने कुचल कर नष्ट कर दी।

१०४६. तणुयम्मि वि अवराधे, कतम्मि अणुवाय चोदितेणेवं।
सेसचरणं पि मलियं, अपसत्थ-पसत्थबितियं तु॥

इसी प्रकार थोड़े अपराध पर भी अनुपाय से प्रेरणा देने पर वह मुनि शेष चारित्र को भी मलिन कर डालता है। वृषभ का यह अप्रशस्त दृष्टांत है। दूसरा प्रशस्त दृष्टांत भी हैं।[1]

१०४७. तेणेव सेवितेणं, असंथरंतो वि संथरो जातो।
बितिओ पुण सेवंतो, अकप्पियं नेव संथरति॥

पूर्व सूत्र में यह कहा गया था कि प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त वहन करने में असमर्थ होते हुए भी वह उसको वहन करने में समर्थ हो गया। दूसरे सूत्र में यह कहा गया है कि अकल्पिक प्रतिसेवना कर उसका प्रायश्चित्त वहन करने में समर्थ नहीं होता।

१०४७/१. जं से अणुपरिहारी,
करेति तं जइ बलम्मि संतम्मि।
न निसिद्धति जा
सातिज्जणा तु तहियं तु सट्ठाणं॥

उस पारिहारिक मुनि की वैयावृत्त्य के निमित्त जो क्रियाएं अनुपारिहारिक करता है, यदि शक्ति होने पर भी पारिहारिक उसका निषेध नहीं करता, वह स्वादना है, अनुमोदना है। उसका स्वस्थान प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१०४८. एमेव बितियसुत्ते, नाणत्तं नवरऽसंथरंतम्मि।
करणं अणुपरिहारी, चोदग! गोणीय दिट्ठंतो॥

पूर्व सूत्र में जो उभयबल की बात कही गई है, वही दूसरे सूत्र में भी वक्तव्य है। विशेष यही है कि यदि अकल्पिक प्रतिसेवना से भी संस्तरण नहीं होता है तो जो पारिहारिक कहता है वैसे ही अनुपारिहारिक करता है। यहां वत्स! गोणी का दृष्टांत है।

१०४९. पेहाभिक्खग्गहणे, उट्ठेंत निवेसणे य धुवणे य।
जं जं न तरति काउं, तं तं से करिति बितिओ तु॥

अनुपारिहारिक के करने योग्य कार्य–प्रेक्षा–भांड का प्रत्युपेक्षण, भिक्षाग्रहण करना, पारिहारिक को उठाना, बिठाना, पात्र आदि धोना। जो जो कार्य पारिहारिक नहीं कर सकता, उन कार्यों को दूसरा अर्थात् अनुपारिहारिक करता है।

१०५०. जं से अणुपरिहारी, करेति तं जइ बलम्मि संतम्मि।
न निसेहइ सा सातिज्जणा उ तहियं तु सट्ठाणं॥

देखें गाथा १०४७/१ का अनुवाद।

१०५१. तवसोसियस्स वातो,
खुभेज्ज पित्तं व दो वि समगं वा।
सन्नग्गिपारणम्मी,
गेलन्नमयं तु संबंधो॥

तप (परिहारतप) से शोषित शरीर में वायु क्षुब्ध हो सकती है, पित्त क्षुब्ध हो सकता है अथवा दोनों साथ-साथ उभर सकते हैं। इससे जठराग्नि मंद हो जाती है। तपस्या का पारणा करने पर ग्लानत्व हो सकता है। यही सूत्र का संबंध है।

१०५२. पढमबितिएहि न तरति, गेलण्णेणं तवो किलंतो वा।
निज्जूहणा अकरणं, ठाणं च न देति वसधीए॥

पहले तथा दूसरे परीषह (क्षुत्-पिपासा) को सहन न कर सकने के कारण ग्लान हो गया हो अथवा तपस्या से क्लांत हो गया हो, निर्यूहना–वैयावृत्त्य न करने पर अथवा वसति में स्थान न देने पर–ये सारे ग्लानि के कारण हैं।

---

१. खेत के स्वामी ने खेत में सांड को शालि खाते देखा। वह द्वार के एक ओर खड़ा होकर पत्थरों से सांड को आहत किया। सांड आहत होकर द्वार से बाहर निकल गया। फसल बच गई। आचार्य को भी आलोचक शिष्य को उपाय से प्रेरित करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०५३. निववेट्ठिं च कुणंतो जो कुणती एरिसा गिला होति।
पडिलेहुट्ठवणादी, वेयावडियं तु पुव्वुत्तं॥

जो नृपवेष्टि—राजवेठ की भांति वैयावृत्त्य करता है, ऐसी होती है गिला—ग्लानि अर्थात् इससे ग्लानि होती है। प्रतिलेखन, उत्थापन आदि रूप वैयावृत्त्य का कथन पहले किया जा चुका है।

१०५४. परिहारियकारणम्मि,
आगमनिज्जूहणम्मि चउगुरुगा।
आणादिणो य दोसा,
जं सेवति तं च पाविहिति॥

किसी कारणवश पारिहारिक के आगमन पर यदि उसका निर्यूहण किया जाता है तो निर्यूहण करने वाले को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उसे आज्ञा आदि दोष प्राप्त होते हैं तथा जिन-जिन कारणों से प्रातिहारिक प्रतिसेवना करता है, उनका भी प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१०५५. कालगतो से सहाओ, असिवे राया व बोहिय भए वा।
एतेहिं कारणेहि, एगागी होज्ज परिहारी॥
१०५६. तम्हा कप्पठितं से, अणुपरिहारिं व ठावित करेज्जा।
बितियपदे असिवादी, अगहितगहितम्मि आदेसो॥

पारिहारिक का सहायक कालगत हो गया हो, अशिव (क्षुद्र देव उपद्रव) हुआ हो, राजा प्रद्विष्ट हो गया हो, म्लेच्छों का भय उत्पन्न हो गया हो—इन कारणों से पारिहारिक अकेला हो जाता है। उसके आगमन पर (समस्त गच्छ के समक्ष) कल्पस्थित तथा अनुपारिहारिक की स्थापना कर प्रायश्चित्त का परिज्ञान कराना चाहिए। अशिव आदि के अपवाद में अगृहीत और गृहीत के विषय में यह आदेश है, चतुर्भंग्यात्मक प्रकार है।

१०५७. गहितागहिते भंगा,
चउरो न उ विसति पढम-बितिएसु।
इच्छाय ततियभंगे,
सुद्धो उ चतुत्थओ भंगो॥

गृहीत और अगृहीत विषयक चार भंग हैं—
१. गच्छ अशिव से गृहीत है, पारिहारिक नहीं।
२. पारिहारिक गृहीत है, गच्छ नहीं।
३. पारिहारिक और गच्छ—दोनों गृहीत हैं।
४. पारिहारिक और गच्छ—दोनों गृहीत नहीं हैं।

इनमें से प्रथम और द्वितीय भंग में प्रवेश न करे। तृतीय भंग में इच्छा से प्रवेश करे, चतुर्थभंग शुद्ध है।[1]

१०५८. अतिगमणे चउगुरुगा, साहू सागारि गाम बहि ठंति।
कप्पट्ठ सिद्ध सण्णी, साहु गिहत्थं व पेसेति॥

इन विकल्पों का अतिक्रमण कर प्रवेश करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त, ऐसे प्रतिषिद्ध प्रवेश से एक साधु की भी मृत्यु हो जाने पर पारांचित प्रायश्चित्त, शय्यातर की मृत्यु हो जाने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसलिए पारिहारिक गांव के बाहर रहे। वहां यदि कल्पस्थक, सिद्धपुत्र, श्रावक, साधु अथवा गृहस्थ को देखे तो उसके साथ संदेश भेजे (कि तुम गांव में साधुओं को कहो कि बाहर मुनि तुमसे मिलना चाहता है।)

१०५९. गंतूण पुच्छिऊणं, तस्स य वयणं करेंति न करेंति।
एगाभोगण सव्वे, बहिठाणं वारणं इतरे॥

संदेश पाकर ग्रामस्थ साधु आकर उस पारिहारिक मुनि को पूछते हैं। जब वह कहता है—मैं अशिव से ग्रस्त हूं तो वे उसके ग्राम प्रवेश के कथन के अनुसार करते भी हैं और नहीं भी करते। उसको सदृश अथवा विसदृश अशिव के अनुसार उसको स्थापित कर एक मुनि उसका आभोगन—प्रतिजागरण करता है और शेष सारे साधु उसके प्रायोग्य औषध आदि की याचना करते हैं। यदि उस अशिव गृहीत मुनि को वसति में लाने पर शय्यातर को अप्रीति होती हो तो उस मुनि को गांव के बाहर अथवा वसति से दूर रखे। अन्य कोई उस मुनि का योगक्षेम पूछकर वसति में आना-जाना करे तो उसका वारण करे। (तुम वहां जाकर आते-जाते हो तो अशिव का यहां भी संक्रमण हो सकता है।)

१०६०. वोच्छिन्नघरस्सऽसती, पिहद्दुवारे वसंति संबद्धे।
एगो तं पडिजग्गति, जोग्गं सव्वे वि झोसंति॥

व्यवच्छिन्न उपाश्रय के अभाव में विभिन्न द्वार वाले संबद्ध उपाश्रय में एक द्वार पर पारिहारिक को स्थापित कर दे। एक मुनि उसकी परिचर्या करे और शेष मुनि उसके प्रायोग्य औषधि आदि की मार्गणा करें।

१०६१. सागारियअचियत्ते, बहि-पडियरणा तधा वि नेच्छंते।
अदिट्ठे कुणति एगो, न पुणो त्ति य बेंति दिट्ठम्मि॥

यदि ग्रामस्थ उपाश्रय के शय्यातर में अप्रीति हो जाए तो पारिहारिक को गांव के बाहर दूसरे स्थान में रखे और एक मुनि उसकी प्रतिचर्या में रहे। यह भी यदि शय्यातर को इष्ट न हो तो शय्यातर को अज्ञात रखकर एक मुनि उसकी परिचर्या करे। यदि शय्यातर देख ले या ज्ञात कर ले तो उसे कहे—अब नहीं जाऊंगा।

१०६२. बहुपाउग्गउवस्सय, असती वसभा दुवेऽहवा तिण्णि।
कइतवकलहेणऽण्णहि, उप्पायण बाहि संछोभो॥

१. प्रथम भंग में पारिहारिक के तथा द्वितीय भंग में वास्तव्य मुनियों के अनर्थ हो सकता है। यदि पारिहारिक और गच्छ—दोनों समान अशिव से गृहीत हैं तो प्रवेश करे। यदि विसदृश हो तो प्रवेश न करे। ऐसा करने पर दोनों में से किसी का भी अनर्थ हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(यदि शय्यातर को अत्यंत अप्रीति हो जाए और अन्य वसति की याचना करनी पड़े तो) बहुत साधुओं के प्रायोग्य उपाश्रय के अभाव में दो या तीन वृषभ मुनि कपटपूर्वक कलह कर (कलह-व्याज से) अन्य वसति में चले जाते हैं। वहां रहकर ये पारिहारिक की परिचर्या करते हैं। दूसरे मुनि भी औषधि आदि का उत्पादन (याचना) कर बाहर पारिहारिक के संक्षोभ–समीप में भेज देते हैं।

१०६३. ते तस्स सोधितस्स य उव्वत्तण संतरं व धोवेज्जा।
अच्छिक्कोवधि पेहे, अच्चितलिंगेण जो पउणो॥

वे कलह-व्याज से अन्य वसति में गए मुनि उस शोधित–प्रायश्चित्त प्राप्त (पारिहारिक) मुनि का उद्वर्तन करते हैं। सांतर–एक वस्त्र से अंतरित कर उसके वस्त्रों का प्रक्षालन करते हैं, उसकी उपधि अस्पृष्ट होने पर भी उसकी प्रत्युपेक्षणा करते हैं। अर्चितलिंग (राजप्रद्वेष के कारण जो लिंग धारण किया है) में उस पारिहारिक की तब तक परिचर्या करते हैं जब तक वह स्वस्थ नहीं हो जाता।

१०६४. ववहारो आलोयण, सोही पच्छित्तमेव एगट्ठा।
थोवो उ अधालहुसो, पट्ठवणा होति दाणं तु॥

व्यवहार, आलोचना, शोधि और प्रायश्चित्त एकार्थक हैं। यथालघु अर्थात् स्तोक, प्रस्थापना अर्थात् प्रस्थापयितव्य, दान अर्थात् देना। यथालघुस्वक व्यवहार की प्रस्थापना करनी चाहिए।

१०६५. गुरुगो गुरुगतरागो, अधागुरूगो य होति ववहारो।
लहुसो लहुसंतरागो, अहालहूसो य ववहारो॥

१०६६. लहुसो लहुसतरागो अहालहूसो य होति ववहारो।
एतेसिं पच्छित्तं, वोच्छामि अधाणुपुव्वीए॥

व्यवहार के तीन प्रकार हैं–गुरुक, लघुक और लघुस्वक। गुरुक के तीन प्रकार हैं–गुरुक, गुरुतरक तथा यथागुरुक। लघुक के तीन प्रकार हैं–लघुक, लघुतरक, यथालघुक। लघुस्वक के तीन प्रकार हैं–लघुस्व, लघुस्वतरक तथा यथालघुस्वक। इन प्रायश्चित्तों का यथानुपूर्वी वर्णन करूंगा।

१०६७. गुरुगो य होति मासो, गुरुगतरागो भवे चउम्मासो।
अहगुरुगो छम्मासो, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती॥

गुरुक व्यवहार का परिमाण है एक मास का प्रायश्चित्त, गुरुतरक का चार मास का तथा यथागुरुक का छह मास का परिमाण है। यह गुरुक व्यवहार की त्रिविध प्रायश्चित्त-प्रतिपत्ति है।

१०६८. तीसा य पण्णवीसा, वीसा पण्णरसेव य।
दस पंच य दिवसाइं, लहुसगपक्खम्मि पडिवत्ती॥

लघुक व्यवहार तीस दिवस परिमाण, लघुतरक पचीस दिवस, यथालघुक बीस दिवस परिमाण प्रायश्चित्त। लघुस्वक पंद्रह दिन परिमाण, लघुस्वतरक दस दिन, यथालघुस्वक पांच दिन परिमाण प्रायश्चित्त। (ये तीनों प्रकार के व्यवहारों के प्रायश्चित्तों की प्रतिपत्तियां हैं।)

१०६९. गुरुगं च अट्ठमं खलु, गुरुगतरागं च होति दसमं तु।
अहगुरुग दुवालसमं, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती॥

गुरुक व्यवहार मास परिमाणवाला होता है। वह अष्टम (तेले) की तपस्या से, चतुर्मास परिमाणवाला होता है गुरुतरक व्यवहार, वह दसम (चोले) की तपस्या से, यथागुरुक व्यवहार छहमास का होता है, वह बारह (पंचोले) की तपस्या से पूरा हो जाता है।

१०७०. छट्ठं च चउत्थं वा, आयंबिल-एगठाण-पुरिमड्ढं।
निव्वितिगं दायव्वं, अधालहुसगम्मि सुद्धो वा॥

लघुक व्यवहार (तीस दिन परिमाण) षष्ट (बेले) की तपस्या से, लघुतरक व्यवहार चतुर्थ (उपवास) की तपस्या से, यथालघुक व्यवहार आचाम्ल करने से पूरा हो जाता है। लघुस्वक व्यवहार एकस्थान करने से, लघुतरस्वक पूर्वार्ध करने से, यथालघुस्वक निर्विकृतिक करने से पूरा हो जाता है। इस प्रकार आलोचना देने से शुद्धि होती है।

१०७१. पच्छित्तं खलु पगतं, निज्जूहणठाणुवत्तते जोगो।
होति तवो छेदो वा, गिलाण तुल्लाधिगारं वा॥

पूर्वसूत्र से प्रस्तुत सूत्र का संबंध यह है–प्रायश्चित्त का अधिकार चल रहा है। निर्यूहणस्थान का अनुवर्तन है। पूर्व में तपोर्ह प्रायश्चित्तप्राप्त का सूत्र कहा गया था। यह छेदार्ह प्रायश्चित्तप्राप्त का सूत्र है। अथवा पूर्व सूत्र में प्रायश्चित्त वहन में ग्लान होने वाले की विधि कही गई है। प्रस्तुत में भी उसी का तुल्य अधिकार है।

१०७२. सगणे गिलायमाणं , कारण परगच्छमागयं वा वि।
मा हु न कुज्जा निज्जूहगो त्ति इति सुत्तसंबंधो॥

पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त मुनि स्वगण में ग्लानि का अनुभव करता हुआ अथवा अन्य कारणों से परगण में आ जाने पर भी वह निर्यूहित–निष्कासित है ऐसा सोचकर उसकी वैयावृत्त्य न करे ऐसा नहीं है, किंतु उसकी वैयावृत्त्य अवश्य करे। पूर्वसूत्र के साथ इसका यह संबंध है।

१०७३. अणवट्ठो पारंची, पुव्वं भणितं इमं तु नाणत्तं।
कायव्व गिलाणस्स तु, अकरणे गुरुगा य आणादी॥

अनवस्थाप्य और पारांचित के विषय में पूर्व अर्थात् कल्पाध्ययन में कहा जा चुका है। उसमें यह विशेष है। ग्लान की वैयावृत्त्य करनी चाहिए। वैयावृत्त्य न करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्व, विराधना आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०७४. आलोयणं गवेसण,आयरिओ कुणति सव्वकालंपि।
उप्पण्णकारणम्मी, सव्वपयत्तेण कायव्वं॥

पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त मुनि क्षेत्र के बाहर स्थित है। आचार्य को चाहिए कि वे उसका अवलोकन करे, उसके प्रायोग्य भक्त-पान की गवेषणा करे। जब तक पारांचित अवस्था का काल है तब तक सदा करे। उसके कारण उत्पन्न हो जाने पर सर्वप्रयत्न से आचार्य उसकी देखभाल करे।

१०७५. जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणई पमादेणं।
आरोवणा तु तस्सा, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा॥

यदि आचार्य किसी प्रमादवश उसकी उपेक्षा करते हैं तो उनको पूर्वनिर्दिष्ट आरोपणा प्रायश्चित्त (चार लघुमास) देना चाहिए।

१०७६. घोरम्मि तवे दिन्ने, भएण सहसा भवेज्ज खित्तो उ।
गेलन्नं वा पगतं, अगिलाकरणं च संबंधो॥

घोर तप का प्रायश्चित्त देने पर भय से सहसा मुनि क्षिप्तचित्त हो जाता है, ग्लान हो जाता है। उसको ग्लान मानकर अग्लान भाव से उसका वैयावृत्त्य करना चाहिए। यह पूर्व सूत्र से संबंध है।

१०७७. लोइय लोउत्तरिओ, दुविहो खित्तो समासतो होति।
कह पुण हवेज्ज खित्तो, इमेहि सुण कारणेहिं तु॥

संक्षेप में क्षिप्त दो प्रकार का होता है—लौकिक और लोकोत्तरिक। शिष्य ने पूछा—क्षिप्तचित्त कैसे होता है? आचार्य कहते है—वत्स! सुनो, इन कारणों से होता है।

१०७८. रागेण वा भएण व, अधवा अवमाणितो नरिंदेणं।
एतेहिं खित्तचित्तो, वणियादि परूविया लोगे॥

राग से अथवा भय से अथवा राजा के द्वारा अपमानित होने पर—इन कारणों से क्षिप्तचित्त होता है। लोक में वणिग् आदि को उदाहरण के रूप में प्ररूपित किया है।

१०७९. भयतो सोमिलबडुओ,सहसोत्थरितो व संजुगादीसु।
धणहरणेण पहूण व, विमाणितो लोइया खित्तो॥

भय से सोमिल ब्राह्मण, संग्राम तथा शत्रुसेना का आक्रमण होने पर सहसा भयाक्रांत होने से तथा स्वामी अथवा राजा के द्वारा धन का अपहरण किए जाने पर अपमानित होने के कारण क्षिप्तचित्त हो जाता है। ये लौकिक उदाहरण हैं।

१०८०. रागम्मि रायखुड्डो, जड्डादि तिरिक्ख चरग वादम्मि।
रागेण जहा खित्तो, तमहं वोच्छं समासेणं॥

राग से क्षिप्तचित्त हुआ राजपुत्र, हाथी आदि तिर्यंचों को देखकर भय से क्षिप्तचित्त हो जाना अथवा चरक के साथ वाद में पराजित हो गया—इस अपमान से व्यक्ति क्षिप्तचित्त हो जाता है। राग से जैसे राजपुत्र क्षिप्तचित्त हो गया, वह मैं संक्षेप में कहूंगा।

१०८१. जितसत्तुनरवतिस्स उ,
पव्वज्जा सिक्खणा विदेसम्मि।
काऊण पोतणम्मी
सव्वायं निव्वुतो भगवं॥

१०८२. एगो य तस्स भाया, रज्जसिरिं पयहिऊण पव्वइतो।
भाउगअणुरागेणं, खित्तो जातो इमो उ विधी॥

जितशत्रु राजा की प्रव्रज्या संपन्न हुई। शिक्षण प्रवृत्त हुआ। कालांतर में वे विदेश में पोतनपुर में गए। वहां भलीभांति वाद कर, विजय प्राप्त कर निवृत्त हो गए, मुक्तिगामी हो गए। उनका एक भाई राज्यश्री का परित्याग कर प्रव्रजित हुआ। उसने ज्येष्ठभाई को कालगत जानकर, भाई के अनुराग के कारण क्षिप्तचित्त हो गया। यह विधि है उसको स्वस्थचित्त करने की।

१०८३. तेलोक्कदेवमहिता, तित्थगरा नीरया गता सिद्धिं।
थेरा वि गता केई, चरणगुणपभावणा धीरा॥

(उसको उपदेश देना चाहिए कि) तीनों लोक के देवों द्वारा पूजित तीर्थंकर नीरज—कर्ममल से रहित होकर सिद्धिगति को प्राप्त हो गए। कई चरणगुणप्रभावक तथा धीर स्थविर भी सिद्धगति को प्राप्त हो गए। (तो फिर अन्य व्यक्तियों की तो बात ही क्या?)

१०८४. न हु होति सोइयव्वो, जो कालगतो दढो चरित्तम्मि।
सो होति सोइयव्वो, जो संजमदुब्बलो विहरे॥

जो चारित्र में दृढ़ रहकर कालगत होता है वह शोचनीय—शोक करने योग्य नहीं होता। वह शोचनीय होता है जो संयम में दुर्बल होकर विहरण करता है, मरता है।

१०८५. जो जह व तह व लद्धं, भुंजति आहार-उवधिमादीयं।
समणगुणमुक्कजोगी, संसारपवड्ढगो भणितो॥

जो मुनि जहां जैसे-तैसे मिले आहार और उपधि आदि का उपभोग करता है, जिसके योग श्रमणगुणों से मुक्त हैं, उसे संसार को बढ़ाने वाला कहा है।

१०८६. जड्डादी तेरिच्छे, सत्थे अगणी य थणियविज्जू य।
ओमे पडिभेसणता, चरगं पुव्वं परूवेउं॥

हाथी आदि पशुओं को देखकर, शस्त्र, अग्नि आदि को देखकर, मेघ के गर्जारव को सुनकर, बिजली को देखकर कोई क्षिप्तचित्त हो जाता है तो प्रतिकार के रूप में उस क्षिप्तचित्त मुनि से अति लघु मुनि द्वारा हाथी आदि को डराने की क्रिया करानी चाहिए। यदि वादपराजय के कारण क्षिप्तचित्तता है तो चरक को पूर्व प्रज्ञापित कर उसके मुख से शिष्य के विजय की बात प्रगट करानी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०८७. अवधीरितो व गणिणा,
अहवण सगणेण कम्हिइ पमाए।
वायम्मि वि चरगादी,
पराजितो तत्थिमा जतणा॥

गुरु द्वारा उपालब्ध होने पर अथवा किसी प्रमाद पर स्वगच्छ द्वारा अपमानित होने पर अथवा चरक आदि परतीर्थिकों के साथ वाद में पराजित होने पर, क्षिप्तचित्तता हो सकती है। उस प्रसंग में यह यतना है।

१०८८. कण्णम्मि एस सीहो,
गहितो अध धाडितो य सो हत्थी।
खुड्डुलतरगेण तु मे,
ते वि य गमिया पुरा पाला॥

आचार्य पहले ही हस्तिपाल, सिंहपाल आदि को सारी बात समझाकर उनको हाथी और सिंह के साथ उपाश्रय में आने को कहते हैं। लघुतर मुनि को सिंह का कान पकड़ने और दूसरे को हाथी को धाटित करने—उस पर चढ़ने-उतरने के लिए कहते हैं। फिर आचार्य क्षिप्तचित्त को कहते है—देखो, इस छोटे मुनि ने भी सिंह को पकड़ लिया, इसने हाथी को धाटित कर लिया। (तुम भय खाते हो। क्या तुम इनसे भी भीरु हो गए।)

१०८९. सत्थऽग्गिं थंभेउं, पणोल्लणं णस्सते य सो हत्थी।
थेरीचम्मविकड्ढण, अलातचक्कं च दोसुं तु॥

जो शस्त्र अथवा अग्नि से क्षिप्तचित्त हुआ हो, तब शस्त्र और अग्नि का विद्या से स्तंभन कर पैरों से कुचलना चाहिए। जो हाथी से क्षिप्तचित्त हुआ हो उसे दिखाना चाहिए कि देखो, हाथी पलायन कर रहा है। जो मेघ के गर्जन से भयग्रस्त हुआ है, उसको कहते हैं—यह स्थविरों द्वारा खींचे गए सूखे चमड़े की आवाज है। (उसे उस क्रिया का शब्द सुनाते हैं।) अग्नि और विद्युत् के कारण हुए क्षिप्तचित्त दोनों मुनियों को अलातचक्र दिखाते हैं।

१०९०. एतेण जितो मि अहं, तं पुण सहसा न लक्खियं णेण।
धिक्कयकइतवलज्जावितेण पउणो ततो खुड्डो॥

जो वाद में पराजय होने के कारण क्षिप्तचित्त हुआ है, उसके समक्ष उस एक वादी चरक को बुलाकर कहलवाया जाता है—मैं इन मुनि से वाद में हार गया था। इसको उसका सहसा भान नहीं हुआ। यह सुनकर लोगों को धिक्कार का बहाना कर उसे लज्जित करना चाहिए। इस यतना से मुनि स्वस्थचित्त हो जाते हैं।

१०९१. तह वि य अठायमाणे,
संरक्खमरक्खणे य चउगुरुगा।
आणादिणो य दोसा,
जं सेवति जं च पाविहिति॥

यदि इस यतना से भी क्षिप्तचित्तता का निवर्तन नहीं होता है तो उसका संरक्षण करना चाहिए। संरक्षण न करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञा—अनवस्था-मिथ्यात्व विराधना के दोष उत्पन्न होते हैं। असंरक्षित होता हुआ वह क्षिप्तचित्त मुनि जिसका प्रतिसेवन करता है और जो अनर्थ प्राप्त करता है, उसके निमित्त भी प्रायश्चित्त है।

१०९२. छक्कायाण विराधण, झामण तेणाऽतिवायणं चेव।
अगडे विसमे पडिते, तम्हा रक्खंति जतणाए॥

वह असंरक्षित क्षिप्तचित्त षट्काय की विराधना, अग्नि को बुझाना, चोरी करना, स्वयं य अन्य को नीचे गिराना, कूप अथवा अन्य विषम स्थान में गिरना—ये क्रियाएं कर सकता है। इसलिए यतनापूर्वक उसका संरक्षण करना चाहिए।

१०९३. सस्सगिहादीणि डहे, तेणे अहवा सयं व हीरेज्जा।
मारण पिट्टणमुभए, तद्दोसा जं च सेसाणं॥

वह धान्यगृह आदि में आग लगा सकता है। वह स्वयं चोरी कर सकता है अथवा दूसरा कोई चुरा सकता है। वह किसी को मार सकता है, पीट सकता है अथवा दोनों कर सकता है। अथवा स्वयं को मार-पीट सकता है। उसके इन दोषों के कारण दूसरे भी उसको मार-पीट सकते हैं तथा शेष साधुओं को भी इन आघातों का भागीदार होना पड़ता है।

१०९४. महिड्ढिए उट्ठनिवेसणा य,
आहार-विगिंचणा-विउस्सग्गो।
रक्खंताण य फिडिते,
अगवेसणे होंति चउगुरुगा॥

इस स्थिति में महर्द्धिक अर्थात् नगर और गांव के रक्षक को कहना चाहिए। उस क्षिप्तचित्त को ऐसे मृदु बंधन से बांधना चाहिए जिससे वह सुखपूर्वक स्वयं उठ सके, बैठ सके। उसे यथायोग्य आहार देना चाहिए। उसके उच्चार-प्रस्रवण का परिष्ठापन करना चाहिए। यदि ज्ञात हो कि यह देवताकृत उपद्रव है तो देवता की आराधना के लिए कायोत्सर्ग कर देवता के कथनानुसार उपाय करना चाहिए। इस प्रकार क्षिप्तचित्त का संरक्षण करने पर भी वह भाग जाए तो उसकी गवेषणा करनी चाहिए। गवेषणा न करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१०९५. अम्हं एत्थ पिसाओ, रक्खंताणं पि फिट्टति कयाई।
सो हु परिक्खेयव्वो, महिड्ढियाऽऽरक्खिए कधणा॥

महर्द्धिक को जाकर कहे—हमारे इस उपाश्रय में एक पिशाच—ग्रथिल मुनि है। हम उसकी रक्षा करते हैं। फिर भी वह कभी-कभी यहां से निकल जाता है। उसकी रक्षा करनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०९६. मिउबंधेहि तधा णं, जमेंति जह सो सयं तु उट्ठेति।
उव्वरगसत्थरहिते, बाहि कुडंगे असुण्णं च॥

तथा उस क्षिप्तचित्त मुनि को मृदु बंधनों से इस प्रकार बांधते हैं कि वह स्वयं उठ-बैठ सके। उसे ऐसे अपवरक में रखते हैं जिसमें कोई शस्त्र न हो। उस अपवरक के द्वार को बाहर से कुडंग—बांस की खचपियों से बांध दे। उसे शून्य सा कर दे।

१०९७. उव्वरगस्स उ असती,
पुव्वखतऽसती य खम्मते अगडो।
तस्सोवरिं च चक्कं,
न छिवति जह उप्फिडंतो वि॥

अपवरक के अभाव में पहले खोदे हुए निर्जल कूप में तथा उसके अभाव में नये कूप को खोदकर (जलरहित) उसमें उस क्षिप्तचित्त मुनि को रखे। फिर उस को ढकने के लिए उस पर एक चक्र रखे जिससे वह उछलकर भी बाहर न निकल सके।

१०९८. निद्ध-महुरं च भत्तं, करीससेज्जा य नो जधा वातो।
दिव्वियधातुक्खोभे, नातुस्सग्गे ततो किरिया॥

(यदि वह वातरोग से ग्रस्त हो तो) उसे स्निग्ध और मधुर आहार दिया जाए। उसके लिए करीषमयी शय्या की जाए[1] जिससे कि उसे वायु का प्रकोप न हो। उस क्षिप्तचित्त का दैविक प्रकोप है अथवा धातु का क्षोभ है, यह जानने के लिए कायोत्सर्ग कर देवता की आराधना करे। देवता जैसा कहे वैसी क्रिया करे।

१०९९. अगडे पलाय मग्गण, अन्नगणा वा वि जे न सारक्खे।
गुरुगा य जं च जत्तो, तेसिं च निवेयणाकरणं॥

कूप में रक्षित क्षिप्तचित्त मुनि यदि पलायन कर जाए तो उसकी खोज करनी चाहिए। आसपास में जो अन्य गण हों तो उनको भी ज्ञात करना चाहिए कि हमारा एक मुनि, जो क्षिप्तचित्त था, चला गया है। वह यदि मिले तो उसका संरक्षण करें। यदि उसकी गवेषणा नहीं की जाती है तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा उस क्षिप्तचित्त के द्वारा की गई विराधना का प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।

११००. छम्मासे पडियरिउं, अणिच्छमाणेसु भुज्जतरगो वा।
कुल-गण-संघसमाए, पुव्वगमेणं निवेदेज्जा॥

पूर्वोक्त प्रकार से छह मास तक उसकी परिचर्या करे। उससे भी यदि ठीक न हों तो विशेष परिचर्या करनी चाहिए। यदि मुनि सघन परिचर्या करनी न चाहे तो कुल, गण और संघ का समवाय करके पूर्वगम अर्थात् कल्पोक्तप्रकार से उन्हें निवेदन करना चाहिए। फिर उनकी आज्ञानुसार वर्तन करना चाहिए।

११०१. रण्णो निवेदितम्मि, तेसिं वयणे गवेसणा होति।
ओसधवेज्जासंबंधुवस्सए तीसु वी जतणा॥

द्वार गाथा—राजा को निवेदन। उनके वचन से गवेषणा। औषध, वैद्य, संबंधी, उपाश्रय। तीनों में यतना। (विवेचना आगे के श्लोकों में।)

११०२. पुत्तादीणं किरियं, सयमेव घरम्मि कोइ कारेज्जा।
अणुजाणंते य तहिं इमे वि गंतुं पडियरंति॥

कोई व्यक्ति क्षिप्तचित्त मुनि स्वयं का पुत्र आदि हो तो वह उसकी क्रिया—चिकित्सा घर पर ही करा देता है। उन स्वजनों को कहने पर वे यदि उस बात को स्वीकार कर लेते हैं तो उस क्षिप्तचित्त मुनि को वहां ले आते हैं। वहां ले आने पर वे गच्छवासी मुनि भी उसकी प्रतिचर्या करते हैं।

११०३. ओसध वेज्जे देमो, पडिजग्गह णं तहिं ठितं चेव।
तेसिं च णाउ भावं, न देंति मा णं गिही कुज्जा॥

यदि स्वजन ऐसा कहे—औषध और वैद्य की व्यवस्था हम करेंगे यदि मुनि को यहीं लाकर आप प्रतिचर्या करें। यदि यह ज्ञात हो जाए कि स्वजनों की भावना विपरीत है तो वे मुनि को वहां नहीं लाते, यह सोचकर की ये स्वजन मुनि को गृहस्थ न बना लें।

११०४. आहार-उवहि-सेज्जा,
उग्गम-उप्पायणादिसु जतंता।
वातादी खोभम्मि वि,
जयंति पत्तेगमिस्सा वा॥

(११०१ श्लोक में) तीनों की यतना इतना कहा है। इसका तात्पर्य है कि आहार, उपधि और शय्या में यतना करे। इन तीनों के विषय में उद्गम, उत्पादन आदि दोषों के प्रति प्रयत्नवान् रहे। वायु आदि का क्षोभ होने पर प्रत्येक अर्थात् सांभोगिक तथा असांभोगिक से मिश्र होकर भी पूर्वोक्त यतना से परिचर्या करे।

११०५. पुव्वद्दिट्ठो य विधी, इह वि करेंताण होति तह चेव।
तेगिच्छम्मि कयम्मि य, आदेसा तिन्नि सुद्धो वा।

पूर्व उद्दिष्ट विधि के अनुसार प्रस्तुत क्षिप्तचित्त के प्रसंग में भी वही प्रतिपादित है। उसकी चिकित्सा करने पर प्रायश्चित्त संबंधी तीन आदेश हैं—गुरुक, लघुक तथा लघुस्वक। इनमें तीसरा आदेश सूत्रोपदिष्ट है, प्रमाण है। अथवा वह शुद्ध है प्रायश्चित्तभाक् नहीं है।

११०६. चउरो य होंति भंगा, तेसिं वयणम्मि होति पण्णवणा।
परिसाए मज्झम्मी, पट्ठवणा होति पच्छित्ते॥

चारित्र की वृद्धि-हानि के आधार पर उसके चार भंग होते हैं। भंगों के वचनों के आधार पर परिषद् के बीच प्रज्ञापना होती है। (यदि शुद्धिमात्र निमित्तक प्रायश्चित्त देना होता है तो!) लघुस्वक प्रायश्चित्त की प्रस्थापना होती है।

---

१. यह शय्या ऊष्ण होती है। उससे वात और श्लेष्म का अपहार होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११०७. वड्ढति हायति उभयं, अवट्ठियं च चरणं भवे चउधा।
खइयं तहोवसमियं, मीसमहक्खाय खित्तं च॥

चार भंग ये हैं—

१. चारित्र की वृद्धि होती है, हानि नहीं होती।

२. चारित्र की हानि होती है, वृद्धि नहीं होती।

३. चारित्र की वृद्धि-हानि—दोनों होती हैं।

४. चारित्र अवस्थित रहता है।

क्षायिक चारित्र की वृद्धि होती है, औपशमिक चारित्र की हानि होती है। क्षायोपशमिक चारित्र की वृद्धि-हानि—दोनों होती हैं। यथाख्यात चारित्र अवस्थित रहता है। उसी प्रकार क्षिप्तचित्त का चारित्र अवस्थित होता है। इसका कारण है राग-द्वेष का अभाव। इसलिए वह प्रायश्चित्तभाक् नहीं होता।

११०८. कामं आसवदारेसु, वट्टितो पलवित बहुविधं च।
लोगविरुद्धा य पदा, लोगुत्तरिया य आइण्णा॥

११०९. न य बंधहेतुविगलत्तणेण कम्मस्स उवचओ होति।
लोगो वि एत्थ सक्खी, जह एस परव्वसो कासी॥

यह अनुमत है कि क्षिप्तचित्त मुनि आश्रवद्वारों में प्रवर्तित हुआ है। उसने बहुविध प्रलाप किए हैं। उसने लोकविरुद्ध और लोकोत्तरविरुद्ध पदों का आचरण किया है, फिर भी वह बंध के हेतुभूत राग-द्वेष से विकल है इसलिए उसके कर्मों का उपचय नहीं होता। इसमें लोग भी साक्षी हैं। वे कहते हैं—इसने सब कुछ परवशता में किया है।

१११०. रागद्दोसाणुगता, जीवा कम्मस्स बंधगा होंति।
रागादिविसेसेण य, बंधविसेसो वि अविगीतो॥

राग-द्वेष से अनुगत प्राणी ही कर्म-बंधक होते हैं। राग आदि की विशेषता (तारतम्य) से ही बंध-विशेष होता है— ऐसा कहा गया है।

१११२. कुणमाणी वि य चेट्ठा, परतंता नट्टिया बहुविहा उ।
किरियाफलेण जुज्जति, न जधा एमेव एतं पि॥

जैसे (यंत्रकाष्टमयी) नर्तकी परतंत्रता के कारण बहुविध चेष्टाएं करती हुई भी क्रियाफल—कर्म से नहीं बंधती वैसे ही क्षिप्तचित्त कर्मों से नहीं बंधता।

१११२. जदि इच्छसि सासेरी, अचेतणा तेण से चओ नत्थि।
जीवपरिग्गहिया पुण, बोंदी असमंजसं समता॥

शिष्य ने कहा—यदि आप यह चाहते हैं—मानते हैं कि वह यंत्रमयी नर्तकी अचेतन होने के कारण उसके कर्मों का उपचय नहीं होता किंतु शरीर (क्षिप्तचित्त का) जीवपरिगृहीत—सचेतन है, उसके कर्मोपचय संभव है। नर्तकी के दृष्टांत से जो समता की है वह असामंजस्यपूर्ण है।

१११३. चेतणमचेतणं वा, परतंतत्तेण दो वि तुल्लाइं।
न तया विसेसितं एत्थ, किंचि भणती सुण विसेसं॥

आचार्य ने कहा—चेतन हो या अचेतन, परतंत्रता में दोनों तुल्य हैं। शिष्य ने पूछा—आपने यहां दोनों में कुछ भी विशेष नहीं बताया। आचार्य ने कहा—मैं कुछ विशेष बताता हूं, वह सुनो।

१११४. नणु सो चेव विसेसो, जं एगमचेतणं सचित्तेगं।
जध चेतणे विसेसो, तह भणसु इमं णिसामेह॥

एक अचेतन है और सचेतन है—यही विशेष है। (जो सचेतन होकर भी परतंत्रता से क्रिया करता है, वह अचेतन ही है) शिष्य बोला—भंते! आप ऐसा कहें कि चेतन में कर्मबंध की विशेषता होती है। आचार्य बोले—तुम यह सुनो।

१११५. जो पेल्लितो परेणं हेऊ, वसणस्स होति कायाणं।
तत्थ न दोसं इच्छसि, लोगेण समं तहा तं च॥

जो दूसरों द्वारा प्रेरित होकर षड्जीवनिकायों के व्यसन—संघट्टन, परितापन आदि का हेतु बनता है उसमें तुम दोष नहीं देखते। क्योंकि लोगों में यही देखा जाता है। जैसे वह निर्दोष होता है, वैसे ही वह क्षिप्तचित्त भी निर्दोष है।

१११६. पासंतो वि य काये, अपच्चलो अप्पगं विधारेउं।
जह पेल्लितो अदोसो, एमेव इमं पि पासामो॥

जैसे दूसरों द्वारा प्रेरित जीव अपने आपको संस्थापित करने (रोकने) में असमर्थ होकर पृथ्वीकाय आदि की विराधना को देखता हुआ भी, करता हुआ भी अदोष होता है वैसे ही हम क्षिप्तचित्त मुनि को देखते हैं।

१११७. गुरुगो गुरुगतरागो, अधागुरूगो य होति ववहारो।
लहुगो लहुयतरागो, अहालहूगो य ववहारो॥

१११८. लहुसो लहुसतरागो, अधालहूसो य होति ववहारो।
एतेसिं पच्छित्तं वोच्छामि अधाणुपुव्वीए॥

१११९. गुरुगो य होति मासो, गुरुगतरागो भवे चउम्मासो।
अहगुरुगो छम्मासो, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती॥

११२०. तीसा य पण्णवीसा, वीसा पण्णरसेव य।
दस पंच य दिवसाइं, लहुसगपक्खम्मि पडिवत्ती॥

११२१. गुरुगं च अट्ठमं खलु, गुरुगतरागं च होति दसमं तु।
अहगुरुगं बारसमं, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती॥

११२२. छट्ठं च चउत्थं वा, आयंबिल-एगठाण-पुरिमड्ढं।
निव्वितिगं दायव्वं, अधालहुसगम्मि सुद्धो वा॥

देखें गाथा १०६५ से १०७०।

११२३. एसेव गमो नियमा, दित्तादीणं पि होति नायव्वो।
जो होइ दित्तचित्तो, सो पलवतिऽनिच्छियव्वाइं॥

यही गम (प्रकार) दीप्तचित्त के लिए नियमतः जानना चाहिए। उसमें विशेष यह है कि दीप्तचित्त व्यक्ति अनीप्सित बहुत प्रलाप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। (क्षिप्तचित्त तो मौन भी रहता है।)

११२४. इति एस असम्माणो, खित्तोऽसम्माणतो भव दित्तो।
अग्गी व इंधणेहिं, दिप्पति चित्तं इमेहिं तु॥

क्षिप्तचित्त होने का एक कारण है—असम्मान और दीप्तचित्त होने का कारण है विशिष्ट सम्मान की प्राप्ति। जैसे ईंधन से अग्नि दीप्त होती है वैसे ही दीप्तचित्त का मन इन कारणों से दीप्त होता है।

११२५. लाभमदेण व मत्तो, अधवा जेऊण दुज्जए सत्तू।
दित्तम्मि सातवाहण, तमहं वोच्छं समासेणं॥

लाभमद से मत्त अथवा दुर्जय शत्रुओं को जीत लेने पर व्यक्ति दीप्तचित्त हो जाता है। दीप्त विषयक दृष्टांत है राजा सातवाहन का। उसको मैं संक्षेप में कहूंगा।

११२६. मथुरा दंडाऽऽणत्ती,
निग्गत सहसा अपुच्छिउं कतर।
तस्स व तिक्खा आणा,
दुधा गता दो वि पाडेउ॥

अक्षरार्थ का विवरण—राजा सातवाहन ने दंडनायक को मथुरा ग्रहण के लिए आज्ञा दी। वे दंडनायक कौन सी मथुरा ग्रहण करनी है, यह पूछे बिना ही सहसा वहां से चल पड़े। राजा की आज्ञा तीक्ष्ण—कठोर थी। तब दंडनायक ने अपनी सैन्य टुकड़ी को दो भागों में विभक्त कर, एक को दक्षिण मथुरा की ओर और दूसरी को उत्तर मथुरा की ओर भेजा। दोनों मथुराओं पर अधिकार कर वे आए।[1]

११२७. सुतजम्म महुरपाडण, निहिलंभनिवेयणा जुगव दित्तो।
सयणिज्जखंभकुड्डे, कुट्टेइ इमाइ पलवंतो॥

पुत्रोत्पत्ति, दोनों मथुराओं का पतन तथा निधि का लाभ—ये तीनों वृतांत राजा सातवाहन को एक साथ निवेदित किए गये। अतिहर्ष के कारण राजा दीप्तचित्त हो गया। अब वह शयनीय, स्तंभ और भींत को पीटता हुआ यह प्रलाप करने लगा—

११२८. सच्चं भण गोदावरि! पुव्वसमुद्देण साधिता संती।
सातावणकुलसरिसं, जदि ते कूले कुलं अत्थि॥
११२९. उत्तरतो हिमवंतो, दाहिणतो सातवाहणो राया।
समभारभरक्कंता, तेण न पल्हत्थए पुढवी॥
११३०. एताणि य अन्नाणि य, पलवियवं सो अभाणियव्वाइ।
कुसलेण अमच्चेणं, खरगेणं सो उवाएण॥

हे गोदावरी नदी! तुम पूर्व समुद्र से मर्यादित की गई हो (वहां तक तुम्हारा फैलाव है।) तुम सही-सही बताओ कि तुम्हारे तट पर सातवाहन राजा के कुल जैसा कोई कुल है?

उत्तर दिशा में हिमवंत पर्वत है और दक्षिण दिशा में सातवाहन राजा है। इसीलिए समान भार से भाराक्रांत पृथ्वी उलटती नहीं (यदि मैं सातवाहन दक्षिण में न होऊं तो पृथ्वी का संतुलन नहीं रह सकता। वह उलट जाएगी।)

इस प्रकार वह अन्य अकथनीय प्रलाप करने लगा। कुशल अमात्य खरक ने उपाय से उसे प्रतिबोध दिया।

११३१. विद्दवितं केणं ति य, तुब्भेहिं पायताडणा खरए।
कत्थ त्ति मारितो सो, दुट्ठ त्ति य दंसणे भोगा॥

राजा चिल्लाने लगा, ये स्तंभ आदि किसने नष्ट किए हैं? खरक अमात्य ने कहा—तुमने। राजा ने कुपित होकर उसे पैरों से ताड़ित किया। एक दिन राजा ने पूछा—अमात्य कहां है? लोगों ने कहा—उसे मार डाला। राजा ने सोचा, मैंने यह ठीक नहीं किया। राजा स्वस्थ हो गया। अमात्य को लाकर राजा को दिखाया। राजा ने विपुल भोगसामग्री दी।

११३२. महज्झयण भत्त खीरे,
कंबलग-पडिग्गहे फलग सड्ढे।
पासादे कप्पड्डे,
वादं काऊण वा दित्तो॥

मैंने महान् अध्ययन सीख लिया। मुझे उत्कृष्ट भक्त, क्षीर, कंबल, पात्र, फलक, श्रावक, प्रासाद (उपाश्रय), शिष्य—ये मुझे प्राप्त हुए हैं तथा वाद में मैंने विजय प्राप्त की है—इन सबके लाभ से हर्षित होकर दीप्तचित्त हो जाता है।

११३३. पुंडरियमादियं खलु, अज्झयणं कड्ढिऊण दिवसेणं।
हरिसेण दित्तचित्तो, एवं होज्जहि कोई उ॥

एक दिन में पौंडरीकादि अध्ययन मैंने पढ़ लिया—कोई इस हर्ष से दीप्तचित्त हो जाता है।

११३४. दुल्लभदव्वे देसे, पडिसेधितगं अलद्धपुव्वं वा।
आहारोवधिवसधी, अहुण विवाहो व कप्पट्ठो॥

जो जिस प्रदेश में दुर्लभ द्रव्य हो, जो और किसी को प्राप्त न हुआ हो उसका उपभोग कर कोई दीप्तचित्त हो जाता है। इसी प्रकार आहार, उपधि, वसति तथा तत्काल विवाहित ईश्वरपुत्र को शिष्यरूप में प्राप्तकर कोई दीप्तचित्त हो जाता है।

११३५. दिवसेण पोरिसीय व, तुमए ठवियं इमेण अद्धेण।
एतस्स नत्थि गव्वो, दुम्मेधतरस्स को तुज्झं॥

जो पढ़ने के मद से दीप्तचित्त हुआ है, उसके प्रति यह यतना है—उसके दूसरे मुनि को खड़ाकर कहा जाता है, तुमने एक दिन में अथवा एक प्रहर में पौंडरीक आदि अध्ययन पढ़ा है, परंतु इसने आधे दिन में अथवा अर्द्ध प्रहर में उसको अर्थसहित सीख लिया है। इसको कोई गर्व नहीं है। तुम इससे मंदबुद्धि हो, फिर तुमको गर्व कैसा?

---

१. पूरे कथानक के लिए देखें—व्यवहारभाष्य, परिशिष्ट ८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११३६. तद्दव्वस्स दुगुंछण, दिट्ठंतो भावणा असरिसेण।
पगयम्मि पण्णवेत्ता, विज्जादिविसोहि जा कम्मं॥

जो उत्कृष्ट द्रव्य की प्राप्ति से दीप्तचित्त हुआ है, उसके सामने उस द्रव्य की जुगुप्सा करनी चाहिए अथवा असदृश से उसके दृष्टांत की भावना करनी चाहिए। प्रकृत की प्रज्ञापना, विद्या आदि का प्रयोग, विशोधि तथा कार्मण का प्रयोग। (इस गाथा की व्याख्या अगले श्लोकों में।)

११३७. उक्कोस बहुविधीयं, आहारोवगरणफलगमादीयं।
खुड्डेणोमतरेणं, आणीतोभामितो पउणो॥

उत्कृष्ट आहार बहुत प्रकार का होता है। उपकरण, फलक आदि के भी अनेक भेद-प्रभेद हैं। (इन सबकी श्रावक को प्रज्ञापित कर अथवा विद्या आदि के प्रयोग से संपादित कर) इन सब वस्तुओं को क्षुद्र क्षुल्लक मुनि लाया है, ऐसा दिखाकर उस दीप्तचित्त मुनि की अपभ्राजना करनी चाहिए। वह स्वस्थ हो जाता है।

११३८. आदिट्ठ सड्ढकहणं, आउट्टा अभिणवो य पासादो।
कतमेत्ते य विवाहे, सिद्धादिसुता कइतवेणं॥

उस दीप्तचित्त के समक्ष उसके द्वारा अदृष्टपूर्व श्रावक का कथन करना। वैसे श्रावक एकत्रित होकर उसके सामने आकर कहते हैं–इस क्षुल्लक मुनि ने हमें प्रज्ञापित किया, इसलिए हमने यह अभिनव प्रासाद इसको दिया है। कपट से सिद्धपुत्र आदि के पुत्र को लाकर कहना चाहिए–इसका सद्य विवाह हुआ है, यह व्रत स्वीकार करना चाहता है। इससे उस दीप्तचित्त मुनि की अपभ्राजना होती है।

११३९. चरगादि पण्णवेउं, पुव्वं तस्स पुरतो जिणार्वेति।
ओमतरागेण ततो, पगुणति ओभामितो एवं॥

चरक आदि परवादी को पहले ही प्रज्ञापित कर उस वादाभिमानी मुनि के पास लाकर अवमतर मुनि से वाद में चरक पर विजय कराते हैं। फिर अन्य मुनि उस चरक की अपभ्राजना करते हैं। यह देखकर वह दीप्तचित्त मुनि स्वस्थ हो जाता है।

११४०. पोग्गलअसुभसमुदओ, एस अणागंतुको दुवेण्हं पि।
जक्खावेसेणं पुण, नियमा आगंतुगो होति॥

दोनों अर्थात् क्षिप्तचित्त तथा दीप्तचित्त मुनि के जो पीड़ा का हेतु अशुभपुद्गलों का समुदाय है वह आगंतुक नहीं है, स्वशरीरसंभवी है किंतु जो यक्षावेश के कारण पीड़ा होती है वह अशुभ पुद्गल समूह नियमतः आगंतुक होता है।

११४१. अहवा भयसोगजुतो,चिंतद्दण्णो व अतिहरिसितो वा।
आविस्सति जक्खेहिं, अयमन्नो होति संबंधो॥

अथवा भय और शोकयुक्त तथा चिंता से पीड़ित व्यक्ति क्षिप्तचित्त होता है। अतिहर्ष से दीप्तचित्त होता है। यक्षाविष्ट सूत्र भी क्षिप्त-दीप्तसूत्र के अंतर्गत है–यह पूर्व सूत्र से अन्य संबंध प्रज्ञापित करता है।

११४२. पुव्वभवियवेरेणं, अहवा रागेण रंगितो संतो।
एतेहि जक्खविट्ठो, सेट्ठी सज्झिलग वेसादी॥

पूर्वभव के वैर अथवा राग से रंजित होने पर व्यक्ति यक्ष से आविष्ट होता है। इन दो कारणों से यक्षाविष्ट, जैसे–श्रेष्ठी, भाई, द्वेष्या पत्नी। (विवरण आगे)

११४३. सेट्ठिस्स दोन्नि महिला,
पिया य वेस्सा य वंतरी जाता।
सामन्नम्मि पमत्तं,
छलेति तं पुव्ववेरेणं॥

एक सेठ के दो पत्नियां थीं। एक प्रिय थी और दूसरी अप्रिय। अप्रिय पत्नी मरकर व्यंतरी हुई। सेठ प्रव्रजित हो गया। वह व्यंतरी छिद्र देखने लगी। एक बार मुनि श्रामण्य में प्रमत्त हुआ। व्यंतरी ने पूर्वभव के वैर से उसको ठग लिया।

११४४. जेट्ठगभाउगमहिला, अज्झोवण्णाउ होति खुड्डलए।
धरमाण मारितम्मी, पडिसेहे वंतरी जाया॥

एक गांव में दो भाई रहते थे। बड़े भाई की पत्नी छोटेभाई के प्रति आसक्त हो गई। वह बोला–जब तक बड़े भाई जीवित हैं, मैं कुछ नहीं कर सकता। पत्नी ने पति को मार डाला। छोटे भाई ने प्रतिषेध कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। वह पत्नी मर कर व्यंतरी हुई।

११४५. भतिया कुडुंबिएणं, पडिसिद्धा वाणमंतरी जाया।
सामन्नम्मि पमत्तं, छलेति तं पुव्ववेरेणं॥

एक भृतिका–कर्मकरी कौटुम्बिक के प्रति आसक्त हो गई। कौटुम्बिक ने प्रतिषेध कर डाला। वह कर्मकरी मरकर व्यंतरी बनी। कौटुम्बिक प्रव्रजित हो गया। श्रामण्य में उसको प्रमत्त देखकर, पूर्वभविक वैर के कारण उसको छल लिया।

११४६. तस्स य भूततिगिच्छा, भूतरवावेसणं सयं वावि।
णीउत्तमं तु भावं, नाउं किरिया जधापुव्वं॥

भूत से आविष्ट मुनि के भूत की भावना नीच है अथवा उत्तम यह स्वयं जानकर अथवा पूर्व अभिहित कायोत्सर्ग के द्वारा देवता की आराधना कर उसके कथनानुसार क्रिया करे–भूत- चिकित्सा करे।

११४७. उम्माओ खलु दुविधो, जक्खावेसो य मोहणिज्जो य।
जक्खावेसो वुत्तो, मोहण इमं तु वोच्छामि॥

उन्माद दो प्रकार का होता है–यक्षावेश (यक्षावेशहेतुक) तथा मोहनीय (मोहनीय कर्मोदय हेतुक)। यक्षावेश हेतुक उन्माद का कथन किया जा चुका है। मोहोदय से होने वाले उन्माद का कथन करूंगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११४८. रूवंगिं दट्ठूणं, उम्मादो अहव पित्तमुच्छाए।
कह रूवं दट्ठूणं, हवेज्ज उम्मायपत्तो तु॥

किसी रूपांगी रमणी को देखकर उन्माद होता है अथवा पित्तमूर्च्छा से उन्माद होता है। रूप को देखकर कोई कैसे उन्मादप्राप्त होता है—यह शिष्य ने पूछा। आचार्य कहते हैं—

११४९. दट्ठूण नडिं कोई, उत्तरवेउव्वियं मयणमत्तो।
तेणेव य रूवेण उ, उड्ढम्मि कतम्मि निव्विण्णो॥

कोई एक उत्तरवैकुर्विक—अत्यंत सजीधजी अलंकृत नटनी को देखकर उन्मत्त हो गया। उसी नटनी को स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करने पर, उसे देखकर वह उससे विरक्त हो जाता है। उसका उन्माद समाप्त हो जाता है।

११५०. पण्णविता य विरूवा, उम्मंडिज्जंति तस्य पुरतो तु।
रूववतीय तु भत्तं, तं दिज्जति जेण छड्डेति॥

कोई नटी विरूप होती है। उसे पहले ही प्रज्ञापित कर दिया जाता है। उसको मंडित अवस्था में देखकर जो उन्मत्त हुआ था, उसके समक्ष उस के सारे मंडन निकाल दिए जाते हैं। उसकी विरूपता को देखकर उस व्यक्ति का उन्माद मिट जाता है। यदि वह नटी स्वभावतः रूपवती है तो उसे भक्त—मदनफल मिश्रित आदि पेय दिया जाता है। उससे उसे वमन होता है। यह देखकर उन्मत्त का उन्माद अपसृत हो जाता है।

११५१. गुज्झंगम्मि उ वियडं, पज्जावेऊण खडियमादीणं।
तद्दायणा विरागो, होज्ज जधासाढभूतिस्स॥

यदि किसी को स्त्री के गुह्यांग विषयक उन्माद हो तो स्त्री को क्षरक आदि का मद्य पिलाकर सुला दी जाए। उसके मुंह की लार से उसका सारा शरीर खरंटित हो जाता है। तब उस उन्मत को लाकर उसका बीभत्सरूप दिखाया जाता है। उसे देखकर विराग हो जाता है। जैसे आषाढभूति को हुआ था।

११५२. वाते अब्भंगसिणेहपज्जणादी तहा निवाते य।
सक्करखीरादीहि य, पित्ततिगिच्छा उ कातव्वा॥

वायु के निमित्त होने वाले उन्माद में शरीर पर तैल का मर्दन किया जाता है तथा स्नेह—घृतपान कराया जाता है तथा उसे निवातगृह में बिठाया जाता है। पित्त के निमित्त से होने वाले उन्माद में शर्करा, क्षीर आदि से उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

११५३. मोहेण पित्ततो वा, आयासंचेयओ समक्खातो।
एसो उ उवस्सग्गो, इमो तु अण्णो परसमुत्थो॥

मोह के उदय से अथवा पित्त के कारण जो उपसर्ग होता है उसे आत्मसंचेतित अर्थात् आत्मा के द्वारा आत्मा को किया हुआ उपसर्ग कहा गया है। यह दूसरा पर-समुत्थ उपसर्ग है।

११५४. तिविहे य उवस्सग्गे, दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य।
दिव्वो उ पुव्वभणितो, माणुस-तिरिए अतो वोच्छं॥

उपसर्ग के तीन प्रकार हैं—दिव्य, मानुषिक और तैरश्च। दिव्य उपसर्ग के विषय में पहले कहा जा चुका है। मानुषिक और तैरश्च उपसर्ग के विषय में आगे कहूंगा।

११५५. विज्जाए मंतेण व, चुण्णेण व जोइतो अणप्पवसो।
अणुसासणा लिहावण, खमगे महुरा तिरिक्खादी॥

जो मुनि विद्या से अथवा मंत्र से अथवा चूर्ण से संयोजित होने पर अनात्मवश हो गया है तो उसके प्रति अनुशासना—यतना है। आलेखित किया जाता है। क्षपक मथुरा में। तिर्यंचों का उपसर्ग। (व्याख्या आगे)

११५६. विज्जा मंते चुण्णे, अभिजोइय बोहिगादिगहिते वा।
अणुसासणा लिहावण, महुरा खमगादि व बलेण॥

विद्या, मंत्र अथवा चूर्ण से अभियोजित होने पर अथवा बोधिक—चारों से गृहीत होने पर पूर्ववत् अनुशासना करनी चाहिए। कुत्ती की योनि का आलेखन कर दिखाने से विराग होता है। चोरों द्वारा गृहीत होने पर मथुरा में क्षपक की भांति बलप्रयोग से निवारण करना चाहिए।

११५७. विज्जादऽभिजोगो पुण,
दुविहो माणुस्सिओ य दिव्वो य।
तं पुण जाणंति कधं,
जदि नामं गिण्हते तेसिं॥

विद्या आदि का अभियोग दो प्रकार का होता है—मानुषिक और दैविक। इसको कैसे जाना जाता है? वह उन्मत्त व्यक्ति देव और मनुष्य के बीच जिसका नाम ग्रहण करता है, कहता है, उसे विद्या आदि का अभियोगकर्त्ता जानना चाहिए।

११५८. अणुसासितम्मि अठिते, विद्देसं देंति तह वि य अठंते।
जक्खीए कोवीणं, तस्स उ पुरतो लिहावेंति॥

अनुशासित करने पर भी उन्माद नहीं मिटता है तो विद्वेष उत्पन्न करते हैं। यदि उससे भी परिहार न होने पर यक्षिणी की योनि को विद्या के प्रयोग से उसके सम्मुख आलेखित किया जाता है। उसकी योनि को देखकर वह विरक्त हो जाता है।

११५९. विसस्स विसमेवेह, ओसधं अग्गिमग्गिणो।
मंतस्स पडिमंतो उ, दुज्जणस्स विवज्जणा॥

विष की औषधि विष ही है। अग्नि का अग्नि और मंत्र का प्रतिमंत्र प्रतिकार है तथा दुर्जन का प्रतिकार है उसका परित्याग।

११६०. जदि पुण होज्ज गिलाणो,
निरुज्झमाणो ततो सि तेगिच्छं।
संवरितमसंवरिता,
उवालभंते निसिं वसभा॥

यदि विद्या आदि से अभियोजित मुनि उसके सम्मुख जाता हुआ निरुद्ध होता है तो वह ग्लान हो जाता है। उस मुनि की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिकित्सा संवृत (गुप्तरूप से) अथवा असंवृत रूप से की जाती है। असंवृत चिकित्सा में वह विद्या रात्री में प्रत्यक्ष होती है तब वृषभ मुनि उसे उपालंभ देते हैं (डराते हैं, पीटते हैं), जब तक कि वह मुनि को नहीं छोड़ती।

११६१.थूममह सड्ढि समणी, बोधियहरणं य निवसुताऽऽतावे।
मज्झेण य अक्कंदे, कतम्मि जुद्धेण मोएति॥

मथुरा में स्तूपमह के अवसर पर श्राविकाएं श्रमणियों के साथ गईं। चोर उनका अपहरण कर, जहां राजपुत्र क्षपक धूप में आतापना ले रहा था, उसके सामने से उनको ले जाने लगे। स्त्रियों ने आक्रंदन किया। क्षपक ने चोरों के साथ युद्ध कर सभी स्त्रियों को मुक्त करा दिया।

११६२. गामेणारण्णेण व, अभिभूतं संजतं तु तिरिएणं।
थद्धं पकंपितं वा, रक्खेज्ज अरक्खणे गुरुगा॥

ग्राम अथवा अरण्य में पशुओं द्वारा अभिभूत अथवा स्तब्ध अथवा प्रकंपित होते हुए मुनि की रक्षा करनी चाहिए। रक्षा नहीं करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

११६३. अभिभवमाणो समणं,
परिग्गहो वा सि वारितो कलहो।
उवसामेयव्व ततो,
अह कुज्जा दुविधभेदं तु॥

कोई गृहस्थ साधु का अभिभव कर रहा है, उसके साथ कलह कर रहा है। गृहस्थ के स्वजन उसे निवारित करने पर भी वह कलह करता है तो मुनियों को उस कलह का उपशमन करना चाहिए। उपशांत न करने पर वह गृहस्थ दो प्रकार से अनिष्ट कर सकता है—संयमभेद अथवा जीवितभेद।

११६४. संजमजीवितभेदे, सारक्खण साधुणो य कायव्वं।
पडिवक्खनिराकरणं, तस्स ससत्तीय कायव्वं॥

संयमभेद अथवा जीवितभेद के प्रसंग में साधु का संरक्षण करना चाहिए तथा उस साधु के जो प्रतिपक्ष हैं उनका स्वशक्ति से निराकरण करना चाहिए।

११६५. अणुसासण भेसणया, जा लद्धी जस्स तं न हावेज्जा।
किं वा सति सत्तीए, होति सपक्खे उवेक्खाए॥

पहले उसको कोमलवचनों से अनुशासन—समझाना चाहिए। न मानने पर भय दिखाना चाहिए। इतना करने पर भी यदि वह कलह से उपरत नहीं होता है तो जो जिसके पास लब्धि हो उसका प्रयोग करना चाहिए। क्या शक्ति के होने पर कोई स्वपक्ष की उपेक्षा करेगा?

११६६.अधिकरणम्मि कतम्मि,खामित समुवट्ठितस्स पच्छित्तं।
तप्पढमता भएण व, होज्ज किलंतो च वहमाणो॥

अधिकरण—कलह कर, क्षमायाचना कर समुपस्थित साधु को प्रायश्चित्त दिया जाता है। प्रारंभ में उस मुनि को भय होता है कि मैं प्रायश्चित्त का वहन कैसे करूंगा अथवा प्रायश्चित्त का वहन करता हुआ वह क्लांत होकर ग्लान हो सकता है।

११६७. पायच्छित्ते दिन्ने, भीतस्स विसज्जणा किलंतस्स।
अणुसट्ठिवहंतस्स उ, भयेण खित्तस्स तेगिच्छं॥

प्रायश्चित्त देने पर जो भीत होकर ग्लान हो जाता है तो उसके प्रायश्चित्त को विसर्जित कर दिया जाता है, छोड़ दिया जाता है। यदि वह प्रायश्चित्त वहन करता हुआ क्लांत होता है तो उसे अनुशिष्टि—शिक्षा दी जाती है फिर भी वह भय और क्लांति से क्षिप्तचित्त हो जाने पर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

११६८. पच्छित्तं इत्तरिओ, होति तवो वण्णितो उ जो एस।
आवकहिओ पुण तवो, होति परिण्णा अणसणं तू॥

पूर्व सूत्रों में जो प्रायश्चित्तरूप तप वर्णित है वह इत्वरिक होता है। यह जो परिज्ञारूप तप अनशन है वह यावत्कथिक होता है।

११६९. अट्ठं वा हेउं वा, समणस्स उ विरहिते कहेमाणो।
मुच्छाय विवडियस्स उ, कप्पति गहणं परिण्णाए॥

साधु एकांत में श्रमण—आचार्य को प्रयोजन और हेतु कहता हुआ, बताता हुआ मूर्च्छा से विपतित आत्मा को स्वस्थ करने के लिए परिज्ञा ग्रहण कर सकता है।

११७०. गीतत्थाणं असती, सव्वऽसतीए व कारणपरिण्णा।
पाणग-भत्तसमाधि, कहणा आलोग धीरवणा॥

जिसने गीतार्थ मुनियों के अभाव में अथवा सभी साधुओं के अभाव में (एक भी साधु न रहने से) कारणवश परिज्ञा का प्रत्याख्यान कर लिया, उसे पानक-भक्त संबंधी समाधि देनी चाहिए। उसे धर्मकथना तथा आलोचना करानी चाहिए। उसे धीरापन अर्थात् धैर्य रखने की बात बतानी चाहिए।

११७१. जदि वा न निव्वहेज्जा,
असमाधि वा से तम्मि गच्छम्मि।
करणिज्जंऽणत्थगते,
ववहारो पच्छ सुद्धो वा॥

यदि वह गृहीत परिज्ञा का निर्वहन नहीं कर सकता, अथवा उसके उस गच्छ में असमाधि है, इस स्थिति में अन्यत्र जाने पर जो कर्तव्य है, वह करना चाहिए, फिर उसे व्यवहार— प्रायश्चित्त देना चाहिए। यदि वह स्वगच्छ की असमाधि मात्र से अन्यत्र जाता है तो वह शुद्ध है, प्रायश्चित्तभाक् नहीं है।

११७२. वुत्तं हि उत्तमट्ठे, पडियरणट्ठा व दुक्खरे दिक्खा।
एतो य तस्समीवं, जदि हीरति अट्ठजायमतो॥

कहा गया है (कल्पाध्ययन में) कि उत्तमार्थ—परिज्ञा स्वीकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने के इच्छुक द्व्यक्षर—दास को दीक्षा दी जा सकती है। अथवा परिचर्या के निमित्त उसे दीक्षित किया जा सकता है। पश्चात् कोई अन्य प्रयोजन होने पर, जिस मुनि ने उस दास को दीक्षित किया है, उसके पास से उसे हटाकर अन्य प्रयोजन में संयुक्त कर दिया जाता है।

११७३. अत्थेण जस्स कज्जं, संजातं एस अट्ठजातो तु।
सो पुण संजमभावा, चालिज्जंतो परिगिलाति॥

प्रयोजन के निमित्त जिसका कार्य हुआ है वह है अर्थजात। वह संयमभाव से चालित होने पर परिग्लान होता है।

११७४. सेवगपुरिसे ओमे, आवन्न अणत्त बोहिगे तेणे।
एतेहिं अट्ठजातं, उप्पज्जति संजमठितस्स॥

सेवक पुरुष के विषय में, दुर्भिक्ष में, दासत्व आने पर, कर्ज देने वाले द्वारा गृहीत होने पर, म्लेच्छों द्वारा अथवा चोरों द्वारा अपहृत होने पर—इन कारणों से संयम में स्थित मुनि के भी प्रयोजनजात उत्पन्न होता है। (विवरण अगली गाथाओं में)

११७५. अपरिग्गहगणियाए, सेवगपुरिसो उ कोई आलत्तो।
सा तं अतिरागेणं, पणयइ तओ अट्ठजाता य॥

११७६. सा रूविणि त्ति काउं, रण्णाऽऽणीता तु खंधवारेण।
इतरो तीय विउत्तो, दुक्खत्तो सो उ निक्खंतो॥

११७७. पच्चागता य सोउं, निक्खंतं बेति गंतु णं तहिय।
बहुयं मे उवउत्तं, जदि दिज्जति तो विसज्जामि॥

एक अपरिग्रही गणिका एक सेवक पुरुष से बातचीत कर उसे अपने घर ले आई। वह एक विशेष प्रयोजन से उसके प्रति अत्यधिक रागरक्त होकर उसे प्रसन्न रखने लगी। वह अत्यंत रूपवती गणिका है, ऐसा जानकर राजा ने उसे अपने स्कंधावार के साथ ले लिया। वह सेवक गणिका से वियुक्त होने पर दुःखी हो गया। तब वह निष्क्रमण कर प्रव्रजित हो गया। वह गणिका राजा के साथ लौट आई। उसने सुना कि सेवक निष्क्रमण कर प्रव्रजित हो गया है। वह गणिका तब साधुओं के उपाश्रय में जाकर बोली—इस सेवक ने मेरे प्रभूत धन का उपभोग किया है। वह धन यदि मुझे लौटा दिया जाए तो मैं इसे यहीं छोड़ दूंगी, अन्यथा साथ ले जाऊंगी।

११७८. सरभेद वण्णभेदं, अंतद्धाणं विरेयणं वावि।
वरधणुग-पुस्समूती, कुसलो सुहुमे य झाणम्मि॥

११७९. अणुसट्ठिं उच्चरती गमेंति णं मित्त-णायगादीहिं।
एवं पि अठायंते, करेंति सुत्तम्मि जं वुत्तं॥

ऐसी स्थिति में आचार्य गुटिका प्रयोग से स्वरभेद तथा वर्णभेद करें। उसे अंतर्धान कर दें, कहीं अन्यत्र भेज दें। उसे विरेचन आदि देकर ग्लान बना दें। उसे वरधनु की भांति मृतकवेश करा दें। अथवा पुष्यभूति आचार्य की भांति सूक्ष्मध्यान में कुशल कर दें अथवा गणिका के मित्र-ज्ञातिजनों से गणिका को अनुशिष्टि दें—समझाएं। इतना करने पर भी यदि गणिका नहीं मानती है तो सूत्र के कथनानुसार कार्य कर देना चाहिए अर्थात् उसे छोड़ देना चाहिए।

११८०. सकुडंबो निक्खंतो, अव्वत्तं दारगं तू निक्खिविउ।
मित्तस्स घरो सोच्चिय, कालगतो तोऽवमं जाय॥

११८१. तत्थ अणाढिज्जंतो, तस्स य पुत्तेहि सो ततो चेडो।
घोलंतो आवण्णो, दासत्तं तस्स आगमणं॥

एक व्यक्ति अपने अव्यक्त पुत्र को मित्र के घर पर रखकर—संभलाकर सकुटुम्ब प्रव्रजित हो गया। वह मित्र भी कालगत हो गया। तत्पश्चात् दुर्भिक्ष हुआ। मित्र के पुत्रों ने उस बालक को स्वीकार नहीं किया, उसे प्रेम नहीं दिया। वह बालक इधर-उधर घूमता था। वह एक गृही के घर दासरूप में रह गया। उसका मुनि पिता एक बार वहां आया।

११८२. अणुसासकहण ठवितं, भीसणववहार लिंग जं जत्थ।
दूराऽऽभोग-गवेसण, पंथे जतणा य जा जत्थ॥

(उस बालक को दासत्व से मुक्त करने के लिए मुनि-पिता क्या करे?) पहले अनुशासन, फिर धर्मकथन, फिर प्रव्रजित होते समय स्थापित द्रव्य, फिर भयोत्पादन, राजकुल में व्यवहार—शिकायत, जहां जो लिंग—वेश पूजित हो उसका ग्रहण, दूर देश के निधान का आभोग, गवेषणा करना, गवेषणा-मार्ग की यतना, जो जहां यतना हो उसका परिपालन। (इसका पूरा विवरण आगे की गाथाओं में।)

११८३. नित्थिण्णो तुज्झ घरे, रिसिपुत्तो मुंच होहिती धम्मो।
धम्मकहपसंगेणं, कधणं थावच्चपुत्तस्स॥

मुनि-पिता दासत्व प्राप्त पुत्र के स्वामी को कहे—तुम्हारे घर में रहते हुए यह ऋषिपुत्र सारे दुर्भिक्ष को पार कर गया है, अब तुम इसको मुक्त कर दो, धर्म होगा। इस अनुशासना के पश्चात् उसे धर्मकथा के प्रसंग में स्थापत्यापुत्र (थावच्चापुत्त) की कथा कहे।

११८४. तह वि अठंते ठवितं, भीसणववहार निक्खमंतेण।
तं घेत्तूणं दिज्जति, तस्सऽसतीए इमं कुज्जा॥

इतना करने पर भी स्वामी न माने तो निष्क्रमण करते समय जो धन स्थापित किया था, उसे लेकर उसे दे अथवा उसे भय दिखाए अथवा राजा के समक्ष शिकायत करे। यदि ये उपाय कारगर न हों तो इस प्रकार करे।

११८५. नीयल्लगाण तस्स व, भेसण ता राउले सयं वावि।
अविरिक्का मो अम्हे, कहं व लज्जा ण तुज्झं ति॥

११८६. ववहारेण य अहयं, भागं घेच्छामि बहुतरागं भे।
अच्चियसलिंगं व करे, पण्णवणा दावणट्ठाए॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनिपिता अपने स्वजनों को डराए, बुरा-भला कहे और उन्हें कहे कि हमने प्रव्रज्या ग्रहण कर लीं परंतु धन का विभाग नहीं किया था। तुमको लज्जा क्यों नहीं आई कि मेरा पुत्र दासत्व को प्राप्त हुआ। मैं स्वयं राजकुल में जाऊंगा। वहां मुकदमा कर मैं संपत्ति का अत्यधिक भाग लूंगा। इस प्रकार भी समाधान न होने पर जहां जो वेश पूजनीय है, वैसा वेश करे। उस वेश को पूजने वाले विशेष अनुयायियों को बालक की मुक्ति के लिए प्रज्ञापित करे।

११८७. पुट्ठा व अपुट्ठा वा, चुतसामिनिधिं कधिंति ओहादी।
घेत्तूण जावदट्ठो, पुणरवि सारक्खणा जतणा॥

पूछने पर या न पूछने पर अवधिज्ञानी आदि विशिष्ट ज्ञानी उस मुनिपिता को च्युतस्वामिक निधि के विषय में बताते हैं। उसमें से जितना प्रयोजन हो उतना धन निकालकर, पुनः उस निधि का संरक्षण, करना चाहिए। लौटते हुए यतना करनी चाहिए।

११८८. सोऊण अट्ठजातं, अट्ठं पडिजग्गते उ आयरिओ।
संधाडगं च देती, पडिजग्गाति णं गिलाणं पि॥

प्रयोजन के निमित्त जाते साधु की बात सुनकर आचार्य उस प्रयोजन के प्रति जागरूक हो जाते हैं। उसके साथ यदि दूसरा मुनि नहीं है तो उसे मुनि का साथ देते है। ग्लान होने पर उसकी उपेक्षा नहीं करते, उसके प्रति जागृत रहते हैं। उचित चिकित्सा कराते हैं।

११८९. काउं निसीहियं अट्ठजातमावेदणं गुरूहत्थे।
दाऊण पडिक्कमते, मा पेहंता मिगा पस्से॥

(लौटते समय की यतना) लौटता हुआ वह मुनि अन्यगण में प्राघूर्णक होता है। वहां नैषेधिकी कर, गुरु को प्रयोजन के विषय में निवेदन करे तथा निधि को गुरु के हाथ में देकर वहां चला जाए। वे मृग की भांति अगीतार्थ मुनि उसके पास कुछ भी न देखकर उस निधि को गुरु के हाथ में देखते हैं।

११९०. सण्णी व सावगो वा, केवतिओ देज्ज अट्ठजातस्स।
पच्चुप्पण्णनिहाणे कारणजाते गहणसोधी॥

जहां संज्ञी अथवा श्रावक हो तो उसे सारी बात कहे। जो नया निधान गृहीत है उसमें से प्रयोजन के लिए जितना भाग देना चाहे वह कारण में ग्रहण करने पर भी शुद्ध है, प्रायश्चित्त- भाक् नहीं है।

११९१. थोवं पि धरेमाणो, कत्थति दासत्तमेति अदलंतो।
परदेसम्मि वि लब्भति, वाणियधम्मे ममेस त्ति॥

कहीं कोई व्यक्ति थोड़ा ऋण भी न चुका पाने के कारण दासत्व को प्राप्त हो जाता है। कदाचित् वह परदेश चला जाता है। वहां स्वदेशवासी कोई वणिक् के जाने पर वह मिल जाता है। 'वणिक्धर्म यह है कि परदेश में गए वणिक् अपने आत्मीय को पा जाते हैं।' वहां का स्वामी कहता है—यह मेरा दास है। मैं इसे मुक्त नहीं करूंगा।

११९२. नाहं विदेस आहरणमादि विज्जा य मंत-जोगा य।
निमित्ते य रायधम्मे, पासंड गणे धणे चेव॥

मैं वह नहीं हूं। मैं विदेश में उत्पन्न हूं। उदाहरण आदि। विद्या, मंत्र, योग, निमित्त, राजा, धर्म, पाषंड, गण, धन आदि। (यह द्वार गाथा है। विवरण आगे की गाथाओं में।)

११९३. सारिक्खतेण जंपसि, जातो अण्णत्थ ते वि आमं ति।
बहुजणविण्णायम्मि उ, थावच्चसुतादिआहरण॥

मैं तो अन्यत्र जन्मा हूं। तुम सादृश्य के कारण ऐसा कह रहे हो। वहां के वासी भी कहते है—हां, यह ठीक है। बहुजन-विज्ञात होने पर पूर्वोक्त बात न कहकर स्थापत्यापुत्र आदि का उदाहरण कहना चाहिए।

११९४. विज्जादी सरभेदण, अंतद्धाणं विरेयणं वावि।
वरधणुग-पुस्समूति, गुलिया सुहुमे य झाणम्मि॥

विद्या, मंत्र, योग, अंतर्धान, विरेचन, वरधनु की भांति मृतवेष, पुष्यमित्र आचार्य की भांति सूक्ष्मध्यान के द्वारा तथा गुटिका के द्वारा अन्य प्रयोगों से उस मुनि का संरक्षण करना चाहिए।

११९५. असतीए विण्णवेंति, रायाणं सो वि होज्ज अह भिन्नो।
तो से कहेज्ज धम्मो, अणिच्छमाणे इमं कुज्जा॥

इन प्रयोगों के अभाव में राजा को निवेदन करना चाहिए। यदि राजा भी उन प्रतिपक्षियों द्वारा व्युद्ग्राहित हो गया हो तो उसे धर्म की बात कहनी चाहिए। यदि वह धर्म की बात मानना न चाहे तो इस प्रकार करे--

११९६. पासंडे व सहाए, गेण्हति तुज्झं पि एरिसं होज्जा।
होहामो य सहाया, तुब्भं पि जो व गणो बलियो॥

अन्य पाषंडियों की सहायता ले। उन्हें कहे—तुम्हारे लिए भी ऐसा प्रयोजन हो सकता है। तब हम तुम्हारे सहायक बनेंगे। अथवा जो गण बलवान् हो उसका सहयोग ले।

११९७. एतेसिं असतीए, संता व जदा ण होंति उ सहाया।
ठवणा दूराभोगण, लिंगेण व एसितुं देंति॥

इन सबके अभाव में तथा संत भी जब सहायक न हों तब निष्क्रमण के समय जो धन स्थापित किया था, वह देकर उसे मुक्त कराए। दूराभोग—दूर देश के अस्वामिक निधान का आभोग, अर्चित लिंग धारण कर धन की एषणा करे और उसे दे।

११९८. एमेव अणत्तस्स वि, तवतुलणा नवरि एत्थ नाणत्तं।
जं जस्स होति भंडं, सो देति ममंतिगो धम्मो॥

इसी प्रकार जो ऋण से पीड़ित है उसकी मुक्ति के लिए भी प्रयत्न करना चाहिए। दासत्वप्राप्त और ऋणार्त्त में कुछ नानात्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। वह यह है—तप से तुलना करनी चाहिए। उसे कहना चाहिए जो जिसके पास भांड होता है, देय होता है, वह वही देता है। हम तो तपोधन हैं। हमारे पास तप है—धर्म है। तुम धर्म लो।

११९९. जो णेण कतो धम्मो, तं देउ ण एत्तियं समं तुलति।
हाणी जावेगाहिं, तावइयं विज्जथंभणता॥

तब वह कहता है—जो इस व्यक्ति ने धर्म किया है, वह हमें दो। तब साधु कहते हैं—(ऋण मोचन) इतने धर्म के साथ तुलित नहीं होता। तब वह कहता है—एक वर्ष या दो-चार वर्ष का धर्म कम दे दो। इसने जितना लिया है, उसके बराबर तोला जाए उतना धर्म दे सकते हैं। जब वे तोलने के लिए तत्पर हों तब विद्या से तुला का स्तंभन कर देना चाहिए।

१२००.जदि पुण नेच्छेज्ज तवं,वाणियधम्मेण ताधि सुद्धो उ।
को पुण वाणियधम्मो, सामुद्दे संभवे इणमो॥

१२०१. वत्थाणाऽऽभरणाणि य, सव्वं छड्डित्तु एगविंदेण।
पोतम्मि विवण्णम्मि, वाणियधम्मे हवति सुद्धो॥

१२०२. एवं इमो वि साधू, तुज्झं नियगं च सार मोत्तूणं।
निक्खंतो तुज्झ घरे, करेउ इण्हं तु वाणिज्जं॥

यदि वह तप लेना स्वीकार न करे तब कहे—यह वणिक्धर्म के अनुसार शुद्ध है। तब वह पूछता है—वणिक्धर्म क्या है? समुद्र में संभ्रम होने पर यह धर्म है।

समुद्र के प्रवास में प्रवहण के विपन्न होने की स्थिति में वणिक् वस्त्र, आभरण आदि सभी वस्तुओं को छोड़कर अकेला उत्तीर्ण हो जाता है—यह वणिक्धर्म के अनुसार शुद्ध है। इसी प्रकार यह साधु अपना सार तुम्हारे घर में रखकर निष्क्रांत हुआ था। इसे भी पोतवणिक् की भांति निर्व्रण कर दो।

१२०३. बोधियतेणेहि हिते, विमग्गणा साधुणो नियमसा उ।
अणुसासणमादीओ एसेव कमो निरवसेसो॥

बोधिक अथवा चोरों के द्वारा साधु का अपहरण कर देने पर नियमतः साधुओं को उसकी मार्गणा अनुशासन आदि पूर्वोक्त पूरे क्रम से करनी चाहिए।

१२०४. तम्हा अपरायत्ते, दिक्खेज्ज अणारिए य वज्जेज्जा।
अद्धाणअणाभोगा, विदेस असिवादिसुं दो वि॥

इसलिए अपरायत्त (स्वाधीन) व्यक्ति को दीक्षित करे और अनार्य देशों का वर्जन करे। मार्ग में प्रवास करते हुए परायत्त अथवा अजानकारी के कारण विदेशवासी को भी प्रव्रजित कर सकता है। अशिव आदि कारण उपस्थित होने पर दोनों—परायत्त की दीक्षा और अनार्य देशगमन भी कर सकता है।

१२०५. अट्ठस्स कारणेणं, साधम्मियतेणमादि जदि कुज्जा।
इति अणवट्ठे जोगो, नवमातो यावि दसमस्सा॥

पूर्वोक्त प्रकार से उत्पादित अर्थ को साधर्मिक के कारण चोरी कर ले तो उसे अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त आता है। यह अनवस्थाप्य योग है—पूर्व सूत्र से संबंध है। नौवें अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के पश्चात् दसवें प्रायश्चित्त पारांचित का प्रसंग होता है।

१२०६. अणवट्ठो पारंचिय, पुव्वं भणिया इमं तु नाणत्तं।
गिहिभूतस्स य करणं, अकरण गुरुगा य आणादी॥

अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त पहले कहे जा चुके हैं। यह उनमें विशेष कथन है। गृहीभूत करना। जो गृहीभूत किए बिना उपस्थापना देता है, उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्व आदि दोष भी उत्पन्न होते हैं।

१२०७. वरनेवत्थं एगे, ण्हाणविवज्जमवरे जुगलमेत्तं।
परिसामज्झे धम्मं, सुणेज्ज कधणा पुणो दिक्खा॥

स्नान आदि का वर्जन कर वेश मात्र पहनाना अच्छा है—यह कुछ आचार्यों का अभिमत है। कुछ आचार्य कहते हैं—वस्त्रयुगल मात्र पहनाना पर्याप्त है। वह परिषद् के मध्य आकर कहता है—मैं धर्म सुनना चाहता हूं। आचार्य उसे धर्म कहते हैं। फिर वह दीक्षा के लिए प्रार्थना करता है।

१२०८. ओभामितो न कुव्वति, पुणो वि सो तारिसं अतीचारं।
होति भयं सेसाणं, गिहिरूवे धम्मता चेव॥

(शिष्य ने पूछा—ऐसा क्यों किया जाता है?) आचार्य कहते हैं—ऐसी अपभ्राजना—तिरस्कृति करने पर वह पुनः वैसा अतिचार नहीं करता। शेष मुनियों में भी भय उत्पादित हो जाता है। गृहस्थरूप धर्मता—धर्म से अनपेत होता है, इसलिए यह रूप किया जाता है।

१२०९. किं वा तस्स न दिज्जति,गिहिलिंगं जेण भावतो लिंगं।
अजढे वि दव्वलिंगे, सलिंग पडिसेवणा विजढं॥

उसको गृहिलिंग क्यों नहीं दिया जाता जिसके द्रव्यलिंग का परित्याग नहीं किया है किंतु स्वलिंग में रहते हुए प्रतिसेवना की है। वास्तव में उसने भावतः लिंग को परित्यक्त कर दिया है।

१२१०. अग्गिहिभूतो कीरति, रायणुवत्तिय पदुट्ठ सगणो वा।
परमोयावणइच्छा, दोण्ह गणाणं विवादो वा॥

गृहस्थीभूत किए बिना उपस्थापना देने के ये कारण हैं—
१. राजा की अनुवृत्ति—आज्ञा से
२. स्वगण प्रदुष्ट हो जाने पर
३. बलात् दूसरों द्वारा मुक्त कराने की स्थिति में
४. इच्छापूर्ति के लिए
५. दो गणों में विवाद हो जाने पर।

१२११. ओलोयणं गवेसण, आयरिओ कुणति सव्वकालं पि।
उप्पण्णे कारणम्मि सव्वपयत्तेण कायव्वं॥

जिन आचार्य से मुनि ने अनवस्थाप्य अथवा पारांचित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायश्चित्त प्राप्त किया है, वे आचार्य प्रायश्चित्त वहन के संपूर्ण काल तक उसका प्रतिदिन अवलोकन–दर्शन करते हैं, गवेषणा करते हैं। विशेष कारण–ग्लानत्व आदि होने पर आचार्य सर्वप्रयत्न से उसकी देखभाल करते हैं।

१२१२. जो उ उवेहं कुज्जा आयरिओ केणई पमादेण।
आरोवणा उ तस्सा, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा॥

आचार्य किसी प्रमादवश उसकी उपेक्षा करते हैं तो उन्हें पूर्वनिर्दिष्ट आरोपणा प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह प्रायश्चित्त है चार गुरुमास।

१२१३. आहरति भत्तपाणं, उव्वत्तणमादियं पि से कुणति।
सयमेव गणाधिवती, अध अगिलाणो सयं कुणति॥

प्रायश्चित्तवाहक मुनि के लिए गणाधिपति आचार्य स्वयं भक्तपान लाते है, उसका उद्वर्तन आदि करते हैं। जब वह अग्लान–स्वस्थ हो जाता है तब वह सारे कार्य स्वयं करता है, आचार्य से नहीं करवाता।

१२१४. उभयं पि दाऊण सपाडिपुच्छं,
वोढुं सरीरस्स य वद्धमाणिं।
आसासइत्ताण तवो किलंतं,
तमेव खेत्तं समुवेंति थेरा॥

आचार्य अपने शिष्यों को सूत्र और अर्थ की वाचना देकर, उनके प्रश्नों का समाधान कर, प्रायश्चित्तवाहक मुनि के पास आकर शरीर विषयक वर्तमान की जानकारी प्राप्त करते हैं। यदि प्रायश्चित्तवाहक तप से क्लांत हुआ है तो उसे आश्वस्त कर आचार्य अपने क्षेत्र–स्थान पर आ जाते हैं।

१२१५. गेलण्णेण व पुट्ठो, अभिणवमुक्को ततो व रोगातो।
कालम्मि दुब्बले वा, कज्जे अण्णे व वाघातो॥

आचार्य निम्नोक्त कारणों से प्रायश्चित्तवाहक के पास नहीं भी जा सकते–आचार्य रोग से स्पृष्ट हो गए हों, रोग से अभी-अभी मुक्त हुए हों, अथवा उस काल में शरीर दुर्बल हो अथवा अन्य कार्य के कारण व्याघात उत्पन्न हो गया हो।

१२१६. पेसेति उवज्झायं, अन्नं गीतं व जो तहिं जोग्गो।
पुट्ठो व अपुट्ठो वा, स वावि दीवेति तं कज्जं॥

स्वयं आचार्य न जा सकने की स्थिति में उपाध्याय अथवा वहां जाने योग्य अन्य गीतार्थ को वहां भेजे। प्रायश्चित्तवाहक के पूछने पर अथवा न पूछने पर आचार्य के अनागमन का कारण उसे बताए।

१२१७. जाणंता माहप्पं, सयमेव भणंति एत्थ तं जोग्गो।
अत्थि मम एत्थ विसओ,अजाणते सो व ते बेंति॥

यदि आचार्य का आगमन विशेष प्रयोजन से न हुआ हो और प्रायश्चित्तवाहक मुनि के पास जाने वाले उपाध्याय अथवा गीतार्थ मुनि उसके माहात्म्य को जानते हों तो स्वयं उससे कहते हैं–इस प्रयोजन के लिए तुम योग्य हो। यदि वे उसकी शक्ति को नहीं जानते तो वह स्वयं कहता है–यह मेरा विषय है।

१२१८. अच्छउ महाणुभागो, जधासुहं गुणसयागरो संघो।
गुरुगं पि इमं कज्जं, मं पप्प भविस्सते लहुगं॥

यह सैंकड़ों गुणों का आकर तथा अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न संघ यथासुख स्थिर रहे। मेरे द्वारा यह गुरुक–बड़ा कार्य भी लघु हो जायेगा। मैं इस प्रयोजन को सहजतया साध लूंगा।

१२१९. अभिधाणहेतुकुसलो, बहूसु नीराजितो विदुसभासु।
गंतूण रायभवणे, भणाति तं रायदारिद्धं॥
१२२०. पडिहाररूवी भण रायरूविं,
तं इच्छते संजतरूवि दट्ठुं।
निवेदयित्ता य सह पत्थिवस्स,
जहिं निवो तत्थ तयं पवेसे॥

वह अभिधानहेतु कुशल–शब्द और हेतु के प्रयोग में कुशल अनेक विद्वत्सभाओं में अर्चित और पूजित मुनि राजभवन में जाकर द्वारपाल से कहता है–हे प्रतिहाररूपिन्! तुम राजरूपी (नृप) के पास जाकर कहो कि एक संयतरूपी (मुनि) आपको देखना चाहता है। द्वारपाल राजा के पास जाकर निवेदन करता है। फिर राजा की अनुमति से जहां राजा स्थित है वहां मुनि का प्रवेश कराता है।

१२२१. तं पूयइत्ताण सुहासणत्थं,
पुच्छिंसु रायाऽऽगतकोउहल्ले।
पण्हे उराले असुते कदाई,
स यावि आइक्खति पत्थिवस्स॥
१२२२. जारिसग आयरक्खा, सक्कादीणं न तारिसो एसो।
तुह राय! दारपालो, तं पि य चक्कीण पडिरूवी॥

राजा मुनि की पूजा कर उन्हें शुभ आसन पर बिठाता है। राजा के मन में कुतूहल उत्पन्न हुआ और उसने उदार–गंभीर तथा कभी भी न पूछे–सुने हुए अनेक प्रश्न मुनि को पूछे। मुनि ने राजा के सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा–हे राजन्! मैंने तुम्हारे द्वारपाल को प्रतिहाररूपी कहा। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे शक्र आदि के आरक्षक होते हैं वैसे यह द्वारपाल नहीं है इसलिए यह प्रतिहाररूपिन् है, द्वारपाल के सदृश है। मैंने आपको राजरूपिन् इसलिए कहा कि जैसे चक्रवर्ती होता है वैसे आप नहीं हैं। आप चक्रवर्ती के प्रतिरूप मात्र हैं।

१२२३. समणाणं पडिरूवी, जं पुच्छसि राय तं कधमहं ति।
निरतीयारा समणा, न तहाहं तेण पडिरूवी॥

राजन्! तुम मुझे पूछते हो कि मैं श्रमण प्रतिरूपी कैसे हूं? सुनो, श्रमण निरतिचार होते हैं, मैं वैसा नहीं हूं, इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणप्रतिरूपी हूं।

१२२४. निज्जूढो मि नरीसर!
खेत्ते वि जतीण अच्छिउं न लभे।
अतियारस्स विसोधिं,
पकरेमि पमायमूलस्स॥

नरेश्वर! प्रमाद मूल के अतिचार का मैं विशोधन कर रहा हूं, इसलिए संघ से निष्कासित हूं। यतियों के क्षेत्र में—साथ में मैं रह भी नहीं सकता। इसलिए श्रमणप्रतिरूप हूं।

१२२५. कधणाऽऽउट्टण
आगमणपुच्छणं दीवणा य कज्जस्स।
वीसज्जियं ति य मया,
हासुस्सलितो भणति राया॥

राजा द्वारा पूछे गए सभी प्रश्नों का उत्तर देने पर राजा मुनि के प्रति आवर्तन—भक्तिभाव से भर जाता है। राजा ने तब मुनि से राजभवन में आने का कारण पूछा। मुनि ने अपने आगमन का प्रयोजन बताया। राजा प्रहृष्ट होकर बोला—'मैंने तुम्हें तुम्हारे प्रयोजन से मुक्त कर दिया है।' (वह प्रयोजन क्या था?)

१२२६. वादपरायणकुवितो, चेइयतद्दव्वसंजतीगहणे।
पुव्वुत्ताण चउण्ह वि, कज्जाण हवेज्ज अण्णतरं॥
१२२७. संघो न लभति कज्जं, लद्धं कज्जं महाणुभागेणं।
तुज्झं तु विसज्जेमी, सो वि य संघो त्ति पूएति॥

वाद के पराजय से राजा कुपित हो गया हो अथवा चैत्य—जिनायतन उसके द्वारा अवष्टब्ध हो, अथवा चैत्यद्रव्य के ग्रहण में अथवा संयती द्वारा ग्रहण करने पर अथवा पूर्वोक्त—कल्पाध्ययन में कथित चारों कार्यों में से किसी भी कार्य की उत्कलना संघ प्राप्त नहीं कर सका किंतु इस प्रायश्चित्तवाहक महानुभाग ने प्राप्त कर लिया। राजा बोला—मुने! तुम्हारे प्रभाव से मैं पूर्वग्राह को विसर्जित करता हूं। मुनि कहता है—मैं तो किञ्चित्मात्र हूं। संघ महान् है। राजा संघ की पूजा करता है।

१२२८. अब्भत्थितो व रण्णा,
सयं वि संघो विसज्जयति तुट्ठो।
आदी मज्झऽवसाणे,
स यावि दोसो धुतो होति॥

राजा संघ से प्रार्थना करता है अथवा संघ स्वयं संतुष्ट होकर मुनि को प्रायश्चित्त से मुक्त कर देता है। बिना गृहस्थीभूत किए उसे उपसंपदा दे दी जाती है। आदि, मध्य और अवसान में होने वाले सारे दोष कृपा से धुत हो जाते हैं—प्रकंपित हो जाते हैं।

१२२९. सगणो य पदुट्ठो सो, आवण्णो तं च कारणं नत्थि।
एतेहि कारणेहिं, अगिहिब्भूते उवट्ठवणा॥

स्वगण प्रद्विष्ट था, अतः किसी कारण से इसने पारांचित प्रायश्चित्त से गृहीभूत अवस्था प्राप्त की। यहां न प्रद्वेष है और न कोई कारण है। इसलिए अगृहस्थीभूत की उपस्थापना की जाती है।

१२३०. ओहासणपडिसिद्धा, बहुसयणा देज्ज छोभगं वतिणी।
तं चावण्ण अन्नत्थ, कुणह गिहीयं ति ते बेंति॥
१२३१. ते नाऊण पदुट्ठे, मा होहिति तेसि गम्मतरओ त्ति।
मिच्छिच्छा मा सफला,होहिति तो सो अगिहिभूतो॥

एक साध्वी के प्रव्रज्या प्रतिपन्न बहुत स्वजन थे। एक बार उसने आचार्य से कुछ याचना की। आचार्य के प्रतिषेध करने पर उसने आचार्य पर झूठा आरोप लगाया। आचार्य तज्जनित प्रायश्चित्त का वहन अन्यत्र गण में करने गए। वे संयती के स्वजन कहने लगे—इनको गृहस्थीभूत करो। उस गण के आचार्य ने इन स्वजनों को प्रद्विष्ट जानकर, इनके द्वारा वह गम्य न हो, उनकी मिथ्या इच्छा सफल न हो यह सोचकर उनको अगृहीभूत अवस्था में ही उपसंपन्न कर लिया।

१२३२. सोउ गिहिलिंगकरणं, अणुरागेणं भणंतऽगीतत्था।
मा गिहियं कुणह गुरुं, अध कुणह इमं निसामेह॥
१२३३. विद्धंसामो अम्हे, एवं ओभावणा जइ गुरुणं।
एतेहिं कारणेहिं, अगिहिब्भूते उवट्ठवणा॥

आचार्य को गृहलिंगी करने की बात सुनकर, अगीतार्थ मुनि अनुराग से कहते हैं—हमारे गुरु को गृहीक मत करो। यदि करोगे तो यह स्पष्ट सुन लो—यदि गुरु का ऐसा तिरस्कार हुआ तो हम सब यहां से उत्क्रमण कर देंगे। इन कारणों से उनकी अगृहीभूत अवस्था में ही उपस्थापना की जाती है।

१२३४. अण्णोण्णेसु गणेसुं, वहंति तेसि गुरवे अगीताणं।
ते बेंति अण्णमण्णं, किह काहिह अम्ह थेर त्ति॥
१२३५. गिहिभूते त्ति य वुत्ते, अम्हे वि करेमु तुज्झ गिहिभूतं।
अगिहि त्ति दोन्नि वि मए, भणंति थेरा इमं दो वी॥
१२३६. न विसुज्झामो अम्हे,अगिहिभूतो य तधावऽणिच्छेसु।
इच्छा सिं पूरिज्जति, गणपत्तियकारगेहिं तु॥

दो गण हैं। दोनों के साधु अगीतार्थ हैं। दोनों गण के गुरु प्रायश्चित्तस्थान पात्र हैं। वे दोनों प्रायश्चित्त वहन करने के लिए एक-दूसरे के गण में चले गए। दोनों गण के साधु परस्पर कहने लगे—हमारे स्थविर (गुरु) को क्या करोगे? एक गण वाले यदि कहते हैं कि हम तुम्हारे गुरु को गृहीभूत करेंगे तो दूसरे गण वाले भी कहेंगे—हम भी तुम्हारे गुरु को गृहीभूत करेंगे। यह विवाद होने पर दोनों गण के साधु अगीतार्थ साधुओं को कहते हैं—हम दोनों स्थविरों (गुरुओं) को अगृहीभूत ही उपस्थापित करेंगे। यह सुनकर दोनों स्थविर कहते हैं—अगृहीभूत होकर हमारी विशोधि नहीं होगी, इसलिए हमें गृहीभूत करो। वे अगृहीभूत अवस्था में उपस्थापित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होना नहीं चाहते थे फिर भी गणप्रीतिकारक महान् स्थविर मुनि ने दोनों गण के साधुओं की इच्छापूर्ति करते हुए दोनों स्थविरों को अगृहीभूत अवस्था में ही उपस्थापित कर दिया।

१२३७. पुव्वं वतेसु ठविते, रायणियत्तं अविसहंत कोई।
ओमो भविस्सति इमो, इति छोभगसुत्तसंबंधो॥

दो में से एक व्यक्ति व्रतों में पहले उपस्थापित होता है और दूसरा बाद में। पूर्व उपस्थापित रत्नाधिक होता है। पश्चात् उपस्थापित कोई उसको सहन नहीं कर सकता। वह तब उसका छिद्रान्वेषण कर उस पर मिथ्या आरोप यह सोचकर लगाता है कि ऐसा करने से यह मेरे से छोटा हो जाएगा। यह सूत्रसंबंध है।

१२३८. पत्तियपडिवक्खो वा, अचियत्तं तेण छोभगं देज्जा।
पच्चयहेतुं च परे, सयं च पडिसेवितं भणति॥

प्रीतिक का प्रतिपक्ष है अप्रीतिक। अप्रीति के कारण किसी पर मिथ्या आरोप लगाया जाता है। दो साधु साथ विहरण करते हुए एक ने प्रतिसेवना की। वह आलोचना करते समय आचार्य को विश्वास दिलाने के लिए कहता है—मैंने स्वयं इस साधु के साथ-साथ प्रतिसेवना की है। उस साधु पर मिथ्या आरोप लगाता है।

१२३९. रायणियवाएणं, खलियमिलिय पेल्लणाय उदएण।
देउलमेधुण्णम्मि य, अब्भक्खाणं कुडंगम्मि॥

रत्नाधिकवाचक—मैं रत्नाधिक हूं इस गर्व से जो अवमरात्निक मुनि को 'तुम सामाचारी में स्खलित होते हो, सूत्रों के पदों को मिलाकर उच्चारित करते हो', इस प्रकार ताड़ित करता है, कषायोदय से उसको पीड़ित करता है तब वह अवमरात्निक मुनि उसको लघु करने की बात सोचकर उस पर मिथ्या आरोप लगाते हुए कहता है—इसने देवकुल अथवा कुडंग में (परिव्राजिका के साथ) मैथुन की प्रतिसेवना की है।

१२४०. जेट्ठज्जेण अकज्जं, सज्जं अज्जाघरे कतं अज्ज।
उवजीवितोऽत्थ भंते! मए वि संसट्ठकप्पो त्थ॥

वह आचार्य से कहता है—भंते! ज्येष्ठार्य ने आज अभी आर्यागृह (मंदिर) में अकार्य किया है। भंते! मैंने भी उनके संसर्ग से संसृष्टकल्प—मैथुन की प्रतिसेवना की है।

१२४१. अधवा उच्चारगतो, कुडंगमादी कडिल्लदेसम्मि।
तत्थ य कतं अकज्जं, जेट्ठज्जेणं सह मए वि॥

अथवा मैं कुडंग आदि के गहन प्रदेश में उच्चार के लिए गया। वहां ज्येष्ठार्य के साथ मैंने भी अकार्य किया है।

१२४२. तम्मागते वताइं, दाहामो देंति वा तुरंतस्स।
भूतत्थे पुण णाते, अलियनिमित्तं न मूलं तु॥

जब वह आचार्य को आलोचना देने के लिए निवेदन करता है तब आचार्य कहते हैं—ज्येष्ठार्य के आने पर हम व्रत— आलोचना देंगे। यदि वह आलोचना के लिए त्वरा करता है तो उसे आलोचना दे दी जाती है। भूतार्थ—यथार्थ ज्ञात होने पर, जिसने मिथ्या कहा था उसे मृषावादप्रत्ययिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, मूल प्रायश्चित्त नहीं।

१२४३. चरिया-पुच्छण-पेसण,
कावालि तवो य संघो जं भणति।
चउभंगो हि निरिक्खी,
देवय तहियं विही एसो॥

(द्वार गाथा) चरिका—परिव्राजिका को पूछने के लिए वृषभों को भेजना। कापालिक वेशकरण। तप—कायोत्सर्ग से देवता को आहूत कर पूछना। अथवा संघ को एकत्रित करना। निरीक्षकों की चतुर्भंगी। यह यथार्थ को जानने की विधि है। (व्याख्या अगली गाथाओं में)

१२४४. आलोइयम्मि निउणे,
कज्जं से सीसते तयं सव्वं।
पडिसिद्धम्मि य इतरो,
भणाति बितियं पि ते नत्थि॥

ज्येष्ठार्य आचार्य के पास आया और यथार्थरूप से आलोचना कर लेने के पश्चात् आचार्य उसको तीन बार आलोचना कराने का कारण बताते हुए अवमरात्निक साधु के द्वारा कही गई सारी बात उसे कहते हैं। जब वह मैथुन प्रतिसेवना का प्रतिषेध करता है तब वह अवमरात्निक कहता है—ज्येष्ठार्य! अब तुम्हारे दूसरा व्रत भी नहीं है, क्योंकि तुम असत्य कह रहे हो।

१२४५. दोण्हं पि अणुमतेणं, चरिया वसेभेहि पुच्छिय पमाणं।
अन्नत्थ वसभ तुब्भे, जा कुणिमो देवउस्सग्गं॥

दोनों साधुओं की अनुमति से आचार्य वृषभों को चारिका—परिव्राजिका के पास पूछने के लिए भेजते हैं। वह जो कहे, वह प्रामाणिक होगा। वृषभ परिव्राजिका को पूछकर आचार्य के पास आकर सारी बात बता देते हैं। जब एक कहता है कि चारिका ने झूठ कहा है तब आचार्य दोनों मुनियों को कहते हैं—तुम दोनों वसति में जाकर रहो। हम आज रात्री में देवता की आराधना करने के लिए कायोत्सर्ग करेंगे।

१२४६. अट्ठिगमादी वसभा, पुव्विं पच्छा व गंतु निसिसुणणा।
आवस्सग आउट्टण सब्भावे वा असब्भावे॥

वृषभ अस्थिक—कापालिक आदि का वेश बनाकर पहले अथवा पश्चात् उस वसति में चले जाते हैं जहां दोनों मुनि रहने गये हैं। रात्री में वे वृषभ नींद का बहाना कर दोनों मुनियों का पारस्परिक उल्लाप सुनते हैं। आवश्यक करते समय भावप्रत्यावर्तन में सद्भाव अथवा असद्भाव जान लिया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२४७. सेहो त्ति मं भाससि निच्चमेव,
बहूण मज्झम्मि व किं कधेसि।
आभासमाणण परोप्परं वा,
दिव्वाणमुस्सग्ग तवस्सि कुज्जा॥

(पूछे जाने पर कि तुमने मेरे ऊपर मिथ्या आरोप क्यों लगाया) वह कहता है—जेष्ठार्य! तुम प्रतिदिन मुझे शैक्ष (दुष्टशैक्ष) कहते थे। (इसलिए मिथ्या आरोप लगाया।) ज्येष्ठार्य उसको कहते हैं—तुमने बहुत लोगों के मध्य मेरे पर आरोप क्यों लगाया? यदि वे दोनों परस्पर बातचीत न करते हों तब यथार्थ ज्ञात न हो सकने के कारण तपस्वी क्षपक देवताराधना के लिए कायोत्सर्ग करे। (देवता के कथन के आधार पर सम्यग्वादी कौन और मिथ्यावादी कौन—यह जानले।)

१२४८. किंचि तधा तह दिस्सति, चउभंगे, पंतदेवता भद्दा।
अन्नीकरेति मूलं, इतरे सच्चप्पतिण्णा तु॥

किसी भी प्रकार से यथार्थ ज्ञात न होने पर संघ को एकत्रित कर समस्या रखी जाती है। एक कहता है मैंने प्रतिसेवना नहीं की और दूसरा कहता है—हम दोनों ने प्रतिसेवना की है, तब गीतार्थ चतुर्भंगी इस प्रकार कहते हैं—

१. किंचित् तथाभाव तथाभाव से दीखता है।
२. किंचित् तथाभाव अन्यथाभाव से दीखता है।
३. किंचित् अन्यथाभाव तथाभाव से दीखता है।
४. किंचित् अन्यथाभाव अन्यथाभाव से दीखता है।

प्रांतदेवता अथवा भद्रदेवता अन्यथाभूत सद्वस्तु को अन्यथा कर देते हैं। व्यवहार—प्रायश्चित्तदान आदि सत्यप्रतिज्ञ होते हैं। इसलिए रत्नाधिक ने जो कहा—मैंने प्रतिसेवना नहीं की, वह प्रमाणतः शुद्ध है। वह प्रायश्चित्तभाक् नहीं होता। अवमरात्निक ने कहा—मैंने प्रतिसेवना की, उसे मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१२४९. छोभगदिण्णो दाउं, व छोभगं सेविउं व तदकिच्चं।
सच्चाओ व असच्चं, ओहावणसुत्तसंबंधो॥

मिथ्या आरोप आ जाने पर लज्जावश मुनि गण से अवधावन करना चाहता है। अभ्याख्यानदाता भी ज्ञात हो जाने पर लज्जित होकर अवधावन करता है। अथवा अकृत्य का सेवन कर, ज्ञात हो जाने के भय से अवधावन करता है। यह पूर्वसूत्र के साथ संबंध-सूत्र है। अथवा पूर्व में संयम का प्रतिपादन है और प्रस्तुत में अवधावन के प्रसंग में असंयम का निरूपण है। यह दूसरे प्रकार से सूत्र-संबंध है।

१२५०. सो पुण लिंगेण समं, ओहावेमो तु लिंगमधवा वि।
किं पुण लिंगेण समं, ओधावि इमेहि कज्जेहिं॥

कोई लिंग के साथ अवधावन करता है और कोई लिंग को छोड़कर अवधावन करता है। शिष्य पूछता है—लिंग के साथ क्यों अवधावन करता है? आचार्य कहते हैं—इन कार्यों (कारणों) से वह लिंग के साथ अवधावन करता है।

१२५१. जदि जीविहिति भज्जाइ,
जइ वा वि धणं धरति जति व वोच्छंति।
लिंगं मोच्छं संका,
पविट्ठ तत्थेव उवहम्मे॥

यदि भार्या आदि जीवित हों, यदि मेरी संपत्ति अवस्थित हो, अथवा परिवार वाले कहेंगे तो मैं लिंग को छोड़ दूंगा, अन्यथा नहीं। मैं उत्प्रव्रजन करूं या नहीं—इस आशंका में प्रवेश कर वह रात्री में वहीं रह जाए।

१२५२. गच्छम्मि केइ पुरिसा, सीदंते विसयमोहियमतीया।
ओधावंताण गणा, चउव्विहा तेसिमा सोही॥

गच्छ में कुछ व्यक्ति इंद्रिय विषयों से मोहित मतिवाले होकर दुःख पाते हैं। जो गच्छ से अवधावन करते हैं उनके चार प्रकार की शोधि—प्रायश्चित्त आता है।

१२५३. दव्वे खेत्ते काले, भावे सोही उ तत्थिमा दव्वे।
राया जुवे अमच्चे, पुरोहित-कुमार-कुलपुत्ते॥

वे चार प्रकार ये हैं—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः। द्रव्यतः शोधि—राजा, युवराज, अमात्य, पुरोहित, कुमार और कुलपुत्र आदि विषयक।

१२५४. एतेसिं रिद्धीओ, दट्ठुं लोभाउ सन्नियत्तंते।
पणगादीया सोधी, बोधव्वा मासलहुगं ता॥

इनकी ऋद्धि को देखकर उस उत्प्रव्रजित मुनि का धर्म के लोभ से निवर्तित होने पर उसकी शोधि—प्रायश्चित्त लघुमास पर्यंत जानना चाहिए।

(राजा को देखकर निवर्तन करने पर पांच रात-दिन के प्रायश्चित्त से शोधि, युवराज के विषय में दस रात-दिन, अमात्य के विषय में १५ रात-दिन, पुरोहित के विषय में बीस रात-दिन, कुमार के विषय में २५ रात-दिन और कुलपुत्र के विषय में लघुमास का प्रायश्चित्त है।)

१२५५. चोदेती कुलपुत्ते, गुरुगतरं राइणो उ लहुगतरं।
पच्छित्तं किं कारण, भणंति सुण चोदग! इमं तु॥

शिष्य पूछता है—भंते! कुलपुत्र की ऋद्धि को देखकर निवर्तित होने वाले को गुरुकतर प्रायश्चित्त और राजा की ऋद्धि को देखकर निवर्तित होने वाले को लघुकतर प्रायश्चित्त कहा है, इसका कारण क्या है? आचार्य कहते हैं—वत्स! इसका कारण सुनो।

१२५६. दीसति धम्मस्स फलं,
पच्चक्खं तत्थ उज्जमं कुणिमो।
इड्ढीसु पतणुवीसुं,
व सज्जते होति णाणत्तं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म का यह साक्षात् फल दीख रहा है। हम भी धर्म में उद्यम करें। इस प्रकार महान् और अल्प ऋद्धि में भी आसक्ति होती है। इसलिए प्रायश्चित्त में नानात्व है।

१२५७. खेत्ते निवपधनगरद्दारे उज्जाणं परेण सीमतिक्कंते।
पणगादी जा लहुगो, एतेसु उ सन्नियत्तंते॥

क्षेत्र संबंधी मर्यादा और प्रायश्चित्त—वह उत्प्रव्रजित मुनि यदि राजमार्ग से लौट आता है तो प्रायश्चित्त है पांच रात-दिन, नगर द्वार से लौट आने पर दस रात-दिन, उद्यान से लौट आने पर १५ दिन-रात, सीमा से पहले लौट आने पर २० अहोरात्र, सीमा से लौट आने पर भिन्नमास और सीमा का अतिक्रमण कर लौट आने पर मासलघु का प्रायश्चित्त विहित है।

१२५८. पढमदिणनियत्तंते, लहुओ दसहि सपदं भवे काले।
संजोगो पुण एत्तो, दव्वे खेत्ते य काले य॥

काल संबंधी शोधि—उत्प्रव्रजित मुनि यदि पहले दिन निवर्तित हो जाता है तो लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार दस दिनों में लौटने पर क्रमशः स्वपद दसवां प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[1] यह काल विषयक शोधि है। अब आगे द्रव्य, क्षेत्र और काल के साथ जो संयोग है वह कहूंगा।

१२५९. दव्वस्स य खेत्तस्स य,संजोगे होति सा इमा सोधी।
रायाणं रायपधे, दट्ठुं जा सीमतिक्कंते॥

१२६०. पणगादी जा मासो, जुवरायं निवपधादि दट्ठूणं।
दसराइंदिवमादी, मासगुरू होति अंतम्मि॥

द्रव्य और क्षेत्र के संयोग में यह विशोधि होती है। राजा आदि को राजपथ पर देखकर निवृत्त होने पर पांच रात-दिन का प्रायश्चित्त यावत् सीमातिक्रांत पर निवृत्त होने पर क्रमशः मासलघु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। युवराज को राजपथ आदि पर देखकर निवृत्त होने पर दस रात-दिन से लेकर यावत् क्रमशः अंत में मासगुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१२६१. सचिवे पण्णरसादी, लहुगं तं वीसमादि उ पुरोधे।
अंतम्मि उ चउगुरुगं, कुमार भिन्नादि जा छ तू॥

सचिव—अमात्य को राजपथ आदि में देखकर निवृत्त होने पर १५ दिन-रात के प्रायश्चित्त से क्रमशः चार लघुमास पर्यंत प्रायश्चित्त। पुरोहित से संबंधित के लिए बीस दिन-रात से अंत में चतुर्गुरुमासपर्यंत। कुमार को देखकर निवृत्त होने पर भिन्न मास से प्रारंभ कर यावत् क्रमशः षट्लघुमास पर्यंत।

१२६२. कुलपुत्ते मासादी, छग्गुरुगं होति अंतिमं ठाण।
एत्तो उ दव्वकाले, संजोगमिमं तु वोच्छामि॥

कुलपुत्र को देखकर निवृत्त होने पर मासलघु प्रायश्चित्त क्रमशः अंतिम स्थान छह गुरुमास तक होता है। अब आगे द्रव्य और काल के संयोग से होने वाली विशोधि कहूंगा।

१२६३. रायणं तद्दिवसं, दट्ठूण नियत्ति होति मासलहुं।
दसदिवसेहिं सपदं, जुवरण्णादी अतो वोच्छं॥

राजा को देखकर उसी दिन प्रतिनिवर्तन करने पर मासलघु, क्रमशः दस दिनों में आने पर स्वपद से दसवां प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अब युवराज आदि के संबंध में बताऊंगा।

१२६४. मासगुरू चउलहुया, चउगुरु-छल्लहू छग्गुरुगमादी।
नवहिं अट्ठहि सत्तहि, छहि पंचहि चेव चरमपदं॥

इसी प्रकार युवराज, अमात्य, पुरोहित, कुमार और कुलपुत्र को देखकर उसी दिन निवर्तन करने पर यथाक्रम मासगुरु, चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षट्लघु तथा षट्गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा यथाक्रम नौ, आठ, सात, छह और पांच दिनों के अंतराल से निवृत्त होने पर चरमपद अर्थात् पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१२६५. इति दव्व खेत्त काले,
भणिता सोधी उ भाव इणमण्णा।
दंडिग भूणग संकंत,
विवण्णे भुंजणे दोसु॥

इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र और काल के आधार पर शोधि का कथन किया, अब इनसे भिन्न भावतः शोधि का कथन इस प्रकार है। दंडित, भूणक (राजपुत्र), संक्रांत, पत्नी के मरने पर, दो पुरुषों या स्त्रियों के साथ भोजन करना—भावतः शोधि है। (इनका विवरण अगली गाथाओं में।)

१२६६. दंडित सो उ नियत्ते, पुत्तादि मते व चउलहु होंति।
संकंत मताए वा, भोईए चउगुरू होंति॥

१२६७. अह पुण भुंजेज्जाही, दोहि तु वग्गेहि तत्थ समगं तु।
इत्थीहिं पुरिसेहिं व, तहिं य आरोवणा इणमा॥

उत्प्रव्रजन कर जिनके लिए वह प्रस्थित हुआ है, वह सुनता है कि उसके कुछ मनुष्य राजा द्वारा दंडित हुए हैं अथवा पुत्र आदि मृत्यु को प्राप्त हो गए है। यह सुनकर वह निवर्तन करता है तो उसका प्रायश्चित्त है चार लघुमास। पत्नी अन्य पुरुष के साथ चली गई है अथवा मर गई है—यह सुनकर निवर्तन करने पर प्रायश्चित्त है चार गुरुमास। वहां जाकर वह यदि दोनों वर्गों—स्त्रीवर्ग और पुरुषवर्ग के साथ भोजन करता है तो उसे यह आरोपणा प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

---

१. दूसरे दिन निवर्तित होने पर मासगुरु, तीसरे दिन चतुर्मास लघु, चौथे दिन चतुर्मास गुरु, पांचवें दिन छहमास लघु, छठे दिन छहमास गुरु, सातवें दिन छेद, आठवें दिन मूल, नौवें दिन अनवस्थाप्य और दसवें दिन पारांचित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२६८. लहुगा य दोसु दोसु य,
गुरुगा छम्मास लहु-गुरुच्छेदो।
निक्खिवणम्मि य मूलं,
जं चऽन्नं सेवते दुविधं॥

१२६९. पुरिसे उ नालबद्धे, अणुव्वतोवासए य चउलहुगा।
एयासुं चिय थीसुं, अनालसम्मे य चउगुरुगा॥

१२७०. अणालदंसणित्थीसु, दिट्ठाभट्ठपुरिसे य छल्लहुगा।
दिट्ठ त्ति पुम अदिट्ठो, मेहुणभोईय छग्गुरुगा॥

१२७१. अदिट्ठआभट्ठासुं थीसुं संभोइ संजती छेदो।
अमणुण्णसंजतीए, मूलं थीफाससंबंधो॥

यदि वह नालबद्ध मिथ्यादृष्टि तथा अणुव्रतोपासक—इन दो पुरुषों के साथ भोजन करता है तो प्रायश्चित्त है—चार लघुमास और यदि वह नालबद्ध मिथ्यादृष्टि तथा अणुव्रतोपासिका—इन दो स्त्रियों के साथ भोजन करता है तो प्रायश्चित्त है—चार गुरुमास। अनालबद्ध मिथ्यादृष्टि पुरुष और अणुव्रतोपासक पुरुष के साथ भोजन करता है तो प्रायश्चित्त है—चार गुरुमास। अनालबद्ध दर्शनमात्र श्राविका तथा पूर्वदृष्ट आभाषित पुरुष के साथ भोजन करने पर षट्लघु तथा पूर्वदृष्ट आभाषित स्त्री और अदृष्ट आभाषित पुरुष के साथ और वेश्या, भार्या—इन चारों के साथ भोजन करने पर षट्गुरु का प्रायश्चित्त आता है।

अदृष्ट तथा आभाषित स्त्रियों के साथ तथा सांभोजिक साध्वी के साथ भोजन करने पर छेद और असांभोजिक साध्वी के साथ भोजन करने तथा स्त्रीस्पर्श में मूल प्रायश्चित्त का विधान है।

१२७२. अधवा वि पुव्वसंथुत, पुरिसेहिं सद्धि चउलहू होंति।
पुरसंथुतइत्थीए, पुरिसेतर दोसु वी गुरुगा॥

१२७३. पच्छासंथुतइत्थीए, छल्लहु मेहुणिया छग्गुरुगा।
समणुण्णेतर संजति, छेदो मूलं जधाकमसो॥

अथवा पूर्व संस्तुत पुरुष तथा पूर्वसंस्तुत स्त्री के साथ भोजन करने पर चार लघुमास का और पुरुषेतर पुरुष तथा स्त्री के साथ भोजन करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। पश्चात्संस्तुत स्त्री के साथ भोजन करने पर छह लघुमास का तथा वेश्या के साथ भोजन करने पर छह गुरुमास का, समनोज्ञ संयती के साथ भोजन करने पर छेद तथा अमनोज्ञ संयती के साथ भोजन करने पर मूल का प्रायश्चित्त आता है।

१२७४. अहव पुरसंथुतेतर, पुरिसित्थीओ य सोयवादीसु।
समणुण्णेतरसंजति, अद्धोकंतीय मूलं तु॥

अथवा पूर्वसंस्तुत तथा पश्चात् संस्तुत पुरुष तथा स्त्रियों के साथ, शौचवादियों के साथ, मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ संयतियों के साथ भोजन करने से अर्द्ध-अपक्रांति की विधि से उसे मूल प्रायश्चित्त आता है।

१२७५. थीविग्गह-किलिबं वा, मेधुणकम्मं च चेतणमचेतं।
मूलोत्तरकोडिदुगं, परित्तऽणंतं च एमादी॥

स्त्रीविग्रह—स्त्री शरीर तथा नपुंसक के साथ प्रतिसेवना करने पर, हस्तकर्म करने पर, सचित्त अथवा अचित्त की प्रतिसेवना करने पर, मूलगुण की प्रतिसेवना अथवा उत्तरगुण की प्रतिसेवना करने पर, उद्गमकोटि अथवा विशुद्धकोटिक की प्रतिसेवना अथवा परित्तकाय अथवा अनंतकाय। अथवा तिर्यग्योनिक, मानुषिक के साथ मैथुन प्रतिसेवना की हो—ये सारे द्विक हैं।

१२७६. एतेसिं तु पदाणं, जं सेवति पावती तमारुवणं।
अन्नं च जमावज्जे, पावति तं तत्थ तहियं तु॥

उपरोक्त पदों के साथ प्रतिसेवना करने पर आरोपणा निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ संयमविराधना-प्रत्ययिक प्रायश्चित्त भी वहां प्राप्त होता है।

१२७७. तत्तो य पडिनियत्ते, सुहुमं परिनिव्ववेंति आयरिया।
भरितं महातलागं, तलफलदिट्ठंतचरणम्मि॥

जब वह मुनि लौट आता है तब आचार्य सूक्ष्म—कोमल उपाय से उसे सांत्वना देते हुए शांत करते हैं। चारित्र के विषय में भरित महातडाग, तालफल का दृष्टांत। (देखें १२८५ गाथा)

१२७८. अमिलायमल्लदामा,
अणिमिसनयणा य नीरजसरीरा।
चउरंगुलेण भूमिं,
न छिवंति सुरा जिणो कहति॥

जिनेश्वर कहते हैं कि देवताओं की पुष्पमालाएं म्लान नहीं होतीं। उनके नेत्र अनिमेष होते हैं—वे पलकें नहीं झपकाते। उनका शरीर निर्मल होता है। उनके चरण भूमि का स्पर्श नहीं करते, वे भूमि से चार अंगुल ऊपर रहते हैं।

१२७९. सुहुमा य कारणा खलु, लोए एमादि उत्तरे इणमो।
मिच्छद्दिट्ठीहि कता, किण्णु हु भे तत्थ उवसग्गा॥

इस प्रकार की सूक्ष्म कारण—यातनाएं हैं। लोकोत्तर में ये यातनाएं इस प्रकार हैं—क्या मिथ्यादृष्टि लोगों ने वहां तुम्हें उपसर्ग किए थे?

१२८०. अवि सिं धरति सिणेहो,पोराणो आओ निप्पिवासाए।
इति गारवमारुहितो, कधेति सव्वं जहावत्तं॥

मैं संभावना करता हूं कि वहां के लोगों का तुम्हारे प्रति पुराना स्नेह है। मेरी सेवा करने की उनकी पिपासा आज भी वैसे ही है। इस प्रकार गौरवत्व आरोपित होने पर वह जो-जो हुआ वह सारा बता देता है, कह देता है।

१२८१. एवं भणितो संतो, उत्तुइओ सो कधेति सव्वं तु।
जं णेण समणुभूतं, जं वा से तं कयं तेहिं॥

इस प्रकार कहने पर वह गर्वित होकर सारी बात कह देता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है जो स्वयं उसने अनुभव किया है अथवा मिथ्यादृष्टि लोगों ने जो किया है।

१२८२. ण्हाणादीणि कताइं, देह वते मज्झ बेति तु अगीतो।
पुव्वं च उवस्सग्गा, किलिट्ठभावो अहं आसी॥

यदि वह अगीतार्थ हो तो वह कहता है—मैंने स्नान आदि भी किए थे तथा उपसर्ग होने से पूर्व ही मेरे परिणाम क्लिष्ट हो गए थे, फिर मेरे में विशुद्ध परिणाम आ गए थे, इसलिए आप मेरे में व्रतों का आरोपण करें।

१२८३. वेसकरणं पमाणं, न होति न य मज्जणं णऽलंकारो।
सातिज्जितेण सेवी, अणणुमतेणं असेवी तु॥

आचार्य तब कहते हैं—वत्स! वेश करना, मज्जन करना, अलंकार पहनना, प्रतिसेवना अथवा अप्रतिसेवना का प्रमाण नहीं है। जो स्नान आदि का अनुमोदन करता है वह प्रतिसेवी है और जो अनुमोदन नहीं करता वह अप्रतिसेवी है।

१२८४. जो सो विसुद्धभावो, उप्पण्णो तेण ते चरित्तप्पा।
धरितो निमज्जमाणी, जले व नावा कुविंदेण॥

जो तुम्हारे में विशुद्धभाव उत्पन्न हुआ था, उससे तुम्हारी चारित्र आत्मा अवस्थित रह गई। जैसे जल में डूबती हुई नौका को नाविक बचा लेता है।

१२८५. जध वा महातलागं, भरितं भिज्जंतमुवरि पालीयं।
तज्जातेण निरुद्धं, तक्खणपडितेण तालेण॥

एक बड़ा तालाब वर्षा के पानी से पूरा भर गया। तालाब की ऊपरीतन पाल टूटने लगी। उसी समय तालवृक्ष का एक फल उसी प्रदेश—स्थान में आकर गिरा और उससे पानी बहना निरुद्ध हो गया।

१२८६. एवं चरणतलागं, णातय उवसग्गवीचिवेगेहिं॥
भिज्जंतु तुमे धरियं धिति-बलवेरग्गतालेणं॥

इसी प्रकार ज्ञातियों के उपसर्गरूपी लहरों के वेग से टूटते हुए चारित्ररूपी तालाब की पालि को धृतिबल और वैराग्यरूपी तालफल ने बचा लिया।

१२८७. पडिसेहियगमणम्मी, आवण्णो जेण तेण सो पुट्ठो।
संघाडतिहे वोच्छो, उवधिग्गहणे ततो विवदो॥

प्रतिषिद्धगमन (उत्प्रव्रजन) करने तथा जिन कारणों से उसने प्रतिसेवना की, उनसे वह कर्मबंध से स्पृष्ट हुआ है। जो उसके साथ संघाटक—दो मुनि गए थे उनकी तीन दिन तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। फिर उनकी उपधि को ग्रहण कर लेना चाहिए। विवाद करने पर····· (इस गाथा के उत्तरार्ध की व्याख्या आगे)

१२८८. एगाह तिहे पंचाहए य ते बेंति णं सहायाणं।
वच्चामोऽणिच्छंते, भणंति उवहिं ता देहि॥

एक दिन में, तीन दिन में अथवा पांच दिन तक प्रतीक्षा करने पर भी वह मुनि लौटना नहीं चाहता तो सहायक उसको कहते हैं—चलो, हम कितने दिन तक प्रतीक्षा करें। यदि वह चलना न चाहे तो उसे कहें—उपधि तो हमें दे दो।

१२८९. न वि देमि त्ति य भणिते,
गएसु जदि सो ससंकितो सुवति।
उवहम्मति निस्संके,
न हम्मए अपडिबज्झंते॥

'मैं उपधि भी नहीं दूंगा' यह कहने पर, सहायकों के चले जाने पर भी वह सशंकित सोता है तब उस उपधि का हरण कर लेना चाहिए। यदि वह निःशंकित होकर सोता है (यह सोचकर कि मुझे निश्चित ही उत्प्रव्रजन करना है) तब उपधि का हरण न करे। यदि वह अप्रतिबध्यमान होकर लौट आता है तो भी उपधि का हरण न करे।

१२९०. संवेगसमावन्नो,
अणुवहतं घेत्तु एति तं चेव।
अध होज्जाहि उवहतो,
सो वि य जदि होज्ज गीतत्थो॥

१२९१. तो अन्नं उप्पायंते, चोवहयं विगंचिउं एति।
अप्पडिबज्झंते तू, सुचिरेण वि हू न उवहम्मे॥

वह मुनि संवेग को प्राप्तकर उपधि को अनुपहत अवस्था में लेकर आता है। यदि उपधि उपहत हो जाए और वह मुनि गीतार्थ हो तो उस उपहत उपधि का परिष्ठापन कर अन्य उपधि को लेकर आता है। कहीं भी प्रतिबंध न करने पर चिरकाल में भी उपधि का उपहनन नहीं होता।

१२९२. गंतूण तेहि कथितं, स यावि आगंतु तारिसं कहए।
तो तं होति पमाणं, विसरिसकथणे विवादो उ॥

उस उत्प्रव्रजन करने वाले मुनि के साथ गए हुए दोनों मुनि आचार्य के पास आकर सारी बात बताते हैं। वह उत्प्रव्रजित मुनि भी आकर वैसा ही कथन करता है तो वह बात प्रामाणिक मानी जाती है और यदि विसदृश कथन होता है तो दोनों में विवाद हो जाता है।

१२९३. अधवा बेंति अगीता, मज्जणमादीहि एस गिहिभूतो।
तं तु न होति पमाणं, सो चेव तहिं पमाणं तु॥

अथवा वे अगीतार्थ मुनि आचार्य को कहते हैं—यह मज्जन आदि के कारण गृहीभूत हो गया है। (वह कहता है—मैंने मज्जन आदि नहीं किया। स्वजनों ने बलात् करा दिया। मैं स्नान आदि के प्रति आसक्त भी नहीं हुआ।) यह सुनकर आचार्य अगीतार्थ मुनियों को प्रमाण नहीं मानते, उस मुनि को ही प्रमाण मानते हैं।

१२९४. पडिसेवि अपडिसेवी, एवं थेराण होति उ विवादो।
तत्थ वि होति पमाणं, स एव पडिसेवणा न खलु॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थविर कहते हैं—यह प्रतिसेवी है। वह कहता है—मैंने प्रतिसेवना नहीं की। इस प्रकार स्थविरों के साथ विवाद हो जाता है। प्रतिसेवना के विषय में भी वही मुनि प्रमाण होता है, प्रतिसेवना नहीं।

१२९५. मज्जण-गंधपरियारणादी जह नेच्छत्तो अदोसा य।
अणुलोमा उवसग्गा एमेव इमं पि पासामो॥

अनुलोम—अनुकूल उपसर्ग जैसे मज्जन, गंधवास, परिचारणा आदि हैं, उनका बलात्कार से उपभोग करने वाला दोष का भागी नहीं होता, वैसे ही अवधावित मुनि के मज्जन आदि को हम मानते हैं, वह निर्दोष है।

१२९६. जध चेव य पडिलोमा, अपदुस्संतस्स होंतऽदोसा य।
एमेव य अणुलोमा, होंति असातिज्जणे अफला॥

इसी प्रकार प्रतिलोम—प्रतिकूल उपसर्गों के प्रति अद्विष्टभाव वाले मुनि के वे अदोष के लिए होते हैं। इसी प्रकार अननुमत अनुकूल उपसर्ग भी अफल होते हैं।

१२९७. साहीणभोगचाई, अवि महती निज्जरा उ एयस्स।
सुहुमो वि कम्मबंधो, न होति तु नियत्तभावस्स॥

जो अपने स्वाधीन भोगों का त्याग करता है उसके महान् निर्जरा होती है। अवधावन से प्रतिनिवृत्त भाव वाले मुनि के सूक्ष्म कर्मबंध भी नहीं होता।

१२९८. निक्खित्तम्मि उ लिंगे, मूलं सातिज्जणे य ण्हाणादी।
दिण्णेसु य होति दिसा दुविधा वि वतेसु संबंधो॥

यदि मुनिलिंग निक्षिप्त—परित्यक्त हो जाता है तो उसे मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा जो स्नान आदि का अनुमोदन करता है उसको भी मूल प्रायश्चित्त आता है। उनको व्रत दे देने पर दोनों दिशा—आचार्यत्व तथा उपाध्यायत्व दिया जा सकता है। यह प्रस्तुत सूत्र का पूर्व सूत्र से संबंध है।

१२९९. दुविहो य एगपक्खी, पव्वज्जसुते य होति नायव्वो।
सुत्तम्मि एगवायण, पव्वज्जाए कुलिव्वादी॥

एक पाक्षिक के दो प्रकार हैं—प्रव्रज्या एकपाक्षिक तथा श्रुत एकपाक्षिक। श्रुतविषयक एकपाक्षिक वाचना—समान वाचना। प्रव्रज्या एकपाक्षिक—एक कुलवर्ती।

१३००. सकुलिव्वओ पव्वज्जाओ,
पक्खिओ एगवायणसुतम्मि।
अब्भुज्जयपरिकम्मे,
मोहे रोगे व इत्तरिओ॥

प्रव्रज्यापाक्षिक है—स्वकुलसंभवी। श्रुतपाक्षिक है— एक वाचना वाला। अभ्युद्यत विहार तथा परिकर्म (संलेखना)—अभ्युद्यत मरण स्वीकार करने के इच्छुक आचार्य-उपाध्याय—ये यावत्कथिक दिक् हैं और मोहचिकित्सा तथा रोग चिकित्सा करने के इच्छुक आचार्य-उपाध्याय इत्वरिक दिक् हैं।

१३०१. दिट्ठंतो जध राया, सावेक्खो खलु तधेव निरवेक्खो।
सावेक्खो जुगनरिंद, ठवेति इय गच्छुवज्झायं॥

दृष्टांत जैसे राजा। राजा दो प्रकार का होता है—सापेक्ष और निरपेक्ष। सापेक्ष राजा युवराज को अपने जीवनकाल में ही स्थापित कर देता है। निरपेक्ष राजा युवराज की स्थापना नहीं करता। इसी प्रकार जो आचार्य गच्छोपाध्याय (गच्छनायक) की स्थापना अपने जीवनकाल में कर देता है, वह गच्छसापेक्ष आचार्य है।

१३०२. गणधरपाउग्गाऽसति पमादअट्ठावि एव कालगते।
थेराण पगासेंति, जावऽन्नो ण ठावितो तत्थ॥

गच्छ में गणधर प्रायोग्य मुनि के न होने पर अथवा प्रमादवश गणधर की स्थापना न करने पर आचार्य कालगत हो जाए तो इत्वर आचार्य तथा उपाध्याय की स्थापना की जाती है। स्थविरों को यह प्रकाशित करते हैं कि जब तक मूल आचार्य अथवा उपाध्याय के पद पर अन्य की स्थापना न की जाए तब तक ही ये तुम्हारे आचार्य और उपाध्याय रहेंगे।

१३०३. पव्वज्जाय कुलस्स य, गणस्स संघस्स चेव पत्तेयं।
समयं सुतेण भंगा, कुज्जा कमसो दिसाबंधो॥

दिशाबंध अर्थात् आचार्यपद पर अथवा उपाध्यायपद पर स्थापित करते समय प्रव्रज्या, कुल, गण, संघ—इन प्रत्येक का श्रुत के साथ क्रमशः भंग करें।[1]

१३०४. आणादिणो य दोसा, विराहणा होति इमेहि ठाणेहिं।
संकितअभिणवगहणे, तस्स व दीहेण कालेण॥

स्थापित करने वाले को आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं तथा इन स्थानों से संघ की विराधना होती है, भेद होता है। सूत्र और अर्थ के प्रति शंकित होने पर तथा अभिनव मुनि का ग्रहण करने पर तथा स्थापित करने वाला दीर्घकाल से आने पर, शंका होने पर। (व्याख्या आगे।)

१३०५. परिकम्मं कुणमाणो,
मरणस्सऽब्भुज्जयस्स व विहारो।
मोहे रोगचिगिच्छा,
ओहावेंते य आयरिए॥

---

१. (१) प्रव्रज्या से एक पाक्षिक श्रुत से भी।
(२) प्रव्रज्या से एक पाक्षिक न श्रुत से
(३) प्रव्रज्या से नहीं, श्रुत से।
(४) न प्रव्रज्या से और न श्रुत से।
इसी प्रकार कुल, गण, संघ के साथ श्रुत की भंगचतुष्टयी करनी चाहिए। इन भंगों में प्रथम भंगवर्ती को इत्वर अथवा यावत्कथिक रूप में स्थापित किया जा सकता है। उसके अभाव में तृतीय भंगवर्ती को। यदि द्वितीय और चतुर्थ भंगवर्ती को स्थापित किया जाता है तो स्थापित करने वाले को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभ्युद्यत मरण–पादपोपगमन अनशन स्वीकार करने वाला यदि परिकर्म–संलेखना कर रहा हो उसको अथवा अभ्युद्यत-विहार–जिनकल्प को स्वीकार करने वाला परिकर्म–तपोभावना आदि कर रहा हो उसको यावत्कथिक आचार्य के रूप में स्थापित किया जा सकता है। मोहचिकित्सा तथा रोग चिकित्सा कराने वाले अथवा अवधावन करने वाले आचार्य को इत्वर आचार्य के रूप में स्थापित किया जा सकता है।

१३०६.दुविध तिगिच्छं काऊण,आगतो संकियम्मि कं पुच्छे।
पुच्छंति व कं इतरे, गणभेदो पुच्छणा हेउं॥

दोनों प्रकार की चिकित्सा–मोह चिकित्सा तथा रोग-चिकित्सा कराकर, लंबे समय के बाद आया है, उसे सूत्र और अर्थ विषयक शंका हो जाती है, अब वह किसको पूछे? इत्वर आचार्यपद पर स्थापित आचार्य को पूछने पर गणभेद होता है। क्योंकि उसकी वाचना भिन्न है, वह अनेकपाक्षिक है।

१३०७. न तरति सो संधेउं, अप्पाहारो व पुच्छिउं देति।
अन्नत्थ व पुच्छंते, सच्चित्तादी उ गेण्हंति॥

वह श्रुत से अनेकपाक्षिक इत्वर आचार्य विस्मृत आलापकों का संधान नहीं कर सकता। वह अल्पाधार होता है। वह दूसरों को पूछकर आलापक देता है। अन्यत्र गणांतर में जाकर पूछता है। वे गणांतरवर्ती आचार्य सचित्त आदि ग्रहण करते हैं।

१३०८. सुततो अणेगपक्खिं,एते दोसा भवे ठवेंतस्स।
पव्वज्जऽणेगपक्खिय, ठवयंत भवे इमे दोसा॥

श्रुत से अनेकपाक्षिक इत्वर अथवा यावत्कथिक आचार्य की स्थापना करने पर अनन्तरोक्त दोष होते हैं। इसी प्रकार प्रव्रज्या से अनेकपाक्षिक इत्वर अथवा यावत्कथित आचार्य को स्थापित करने पर ये दोष होते हैं।

१३०९. दोण्ह वि बाहिरभावो, सच्चित्तादीसु भंडणं नियमा।
होति स गणस्स भेदो, सुचिरेण न एस अम्ह त्ति॥

प्रव्रज्या से अनेकपाक्षिक इत्वर अथवा यावत्कथिक आचार्य की स्थापना करने पर आचार्य की तथा गच्छवर्ती साधुओं–दोनों के बहिर्भाव अध्यवसाय होता है–दोनों एक दूसरे को आत्मीय नहीं मानते। ऐसी स्थिति में स्थापित आचार्य तथा गच्छवर्ती साधुओं के मध्य सचित्त आदि (शिष्य आदि) ग्रहण करने पर नियमतः कलह होता है। चिरकाल के बाद भी एक दूसरे को परकीय मानने के कारण गण का भेद हो जाता है।

१३१०. अन्नतरतिगिच्छाए,
पढमाऽसति ततियभंगमित्तिरियं।
ततियस्सेव तु असती,
बितिओ तस्साऽसति चउत्थो॥

इत्वरिक आचार्य मोहचिकित्सा अथवा रोगचिकित्सा कराने गए हैं तो प्रथम भंगवर्ती की स्थापना करे। उसके अभाव में तृतीय भंगवर्ती की, उसके भी अभाव में दूसरे भंगवर्ती की तथा उसके अभाव में चतुर्थभंगवर्ती की स्थापना करे।[1]

१३११. पगतीए मिउसहावं, पगतीए सम्मतं विणीतं वा।
णाऊण गणस्स गुरुं, ठावेंति अणेगपक्खिं पि॥

चतुर्थभंगवर्ती कैसा हो?–प्रकृति से जो मृदु स्वभाव वाला, प्रकृति से जो गण के लिए सम्मत हो, विनीत हो–यह जानकर अनेकपाक्षिक को भी गण के गुरुरूप में स्थापित करते हैं।

१३१२. साधारणं तु पढमे,
बितिए खेत्तम्मि ततिय सुह-दुक्खे।
अणभिज्जंते सीसे,
सेसे एक्कारसविभागा॥

चतुर्थभंगवर्ती का आभवन व्यवहार–प्रथम वर्ष में साधारण–जो प्राप्त होता है, वह उसका होता है। दूसरे वर्ष में उसके क्षेत्र में जो प्राप्त होता है वह गच्छवर्ती साधुओं का होता है। तीसरे वर्ष में सुख-दुख उपभोग प्राप्त होते है, वे गच्छवर्ती साधुओं के, चौथे आदि वर्षों में सारा गणधर का होता है। स्थापित आचार्य के पास जो नहीं पढते उनका यह आभवन व्यवहार है। शेष जो पढते हैं उनके ग्यारह विभाग आभवनव्यवहार के होते हैं।

१३१३. पुव्वद्दिट्ठं तस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवाययंतस्स।
संवच्छरम्मि पढमे, पडिच्छए जं तु सच्चित्तं॥
१३१४. पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, पडिच्छए जं तु होति सच्चित्तं।
संवच्छरम्मि बितिए, तं सव्वं पवाययंतस्स॥
१३१५. पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, सीसम्मि, जं तु होति सच्चित्तं।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं गुरुस्स आभवति॥
१३१६. पुव्वद्दिट्ठं तस्सा पच्छुद्दिट्ठं पवाययंतस्स।
संवच्छरम्मि बितिए,सीसम्मि तु जं व सच्चित्तं॥
१३१७. पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, सीसम्मि जं तु होति सच्चित्तं।
संवच्छरम्मि ततिए, तं सव्वं पवाययंतस्स॥
१३१८. पुव्वुद्दिट्ठं, तस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवाययंतस्स।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं सिस्सिणीए तु॥
१३१९. पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, सिस्सिणिए जं तु होति सच्चित्तं।
संवच्छरम्मि बितिए, तं सव्वं पवाययंतस्स॥
१३२०. पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं पडिच्छियाए उ जं तुं सच्चित्तं।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं पवाययंतस्स॥

(१) प्रतीच्छक (दूसरे गण से अध्ययन के लिए आकर इस गण में उपसंपन्न हुआ है) के पूर्वोद्दिष्ट (आचार्य पद के स्थापना से पूर्व) प्रथम वर्ष में जो सचित्त आदि प्राप्त होता है वह उसी का

१. भंगों के लिए देखें–१३०३ गाथा का नं. १ का टिप्पण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। (२) दूसरे वर्ष में जो सचित्त प्राप्त होता है वह प्रवाचक का होता है। (३) जो प्रतीच्छक पूर्व उद्दिष्ट है अथवा पश्चात् उद्दिष्ट है, दूसरे वर्ष में जो सचित्त प्राप्त होता है वह सारा प्रवाचक का होता है। (४) जो शिष्य पूर्ण उद्दिष्ट है अथवा पश्चात् उद्दिष्ट है उसमें जो सचित्त का लाभ होता है वह प्रथम वर्ष में शिष्य के होता है। (५) दूसरे संवत्सर में जो सचित्त का लाभ होता है वह पूर्व उद्दिष्ट शिष्य का होता है और (६) पश्चात् उद्दिष्ट में जो लाभ होता है वह प्रवाचक का होता है। (७) तीसरे संवत्सर में पूर्व-पश्चात् उद्दिष्ट शिष्य के जो सचित्त का लाभ होता है, वह सारा प्रवाचक का होता है। (८) पहले संवत्सर में पूर्व उद्दिष्ट शिष्या के जो सचित्त का लाभ होता है वह उसी शिष्या का होता है। (९) पश्चात् उद्दिष्ट शिष्या के फिर जो लाभ होता है—वह उसी शिष्या का होता है। (१०) दूसरे संवत्सर में पूर्व उद्दिष्ट अथवा पश्चात् उद्दिष्ट शिष्या के जो सचित्त का लाभ होता है वह सारा प्रवाचक का होता है। (११) पहले संवत्सर में पूर्व उद्दिष्ट अथवा पश्चात् उद्दिष्ट प्रतीच्छकी शिष्या के जो सचित्त आदि का लाभ होता है। वह सारा प्रवाचक का होता है।

१३२१. जम्हा एते दोसा, दुविहे उ अपक्खिए तु ठवितम्मि।
तम्हा उ ठवेयव्वो, कमेणिमेणं तु आयरिओ॥

इसलिए दो प्रकार के अपाक्षिक अर्थात् श्रुतपक्षरहित तथा प्रव्रज्यापक्षरहित को आचार्य स्थापित करने पर ये सारे दोष उत्पन्न होते हैं। अतः आचार्य की स्थापना इस क्रम से करनी चाहिए।

१३२२. एतस्सेगदुगादी, निप्फण्णा तेसि बंधति दिसाओ।
संपुच्छण-ओलोयण, दाणे मिलितेण दिट्ठंतो॥

प्रथम भंगवर्ती को आचार्य पद पर स्थापित करने पर उसके एक-दो आदि शिष्य निष्पन्न होते हैं। उनको दिशाबंध अर्थात आचार्यत्व,उपाध्यायत्व के रूप में बांध देते हैं, पद देते हैं। संप्रच्छन, अवलोकन, दान, मिलित दो गोपालों का दृष्टांत। (विवरण आगे की गाथाओं में।)

१३२३. गीतमगीता बहवो, गीतत्थसलक्खणा उ जे तत्थ।
तेसिं दिसाउ दाउं,वितरति सेसे जहरिहं तु॥

गच्छ में अनेक साधु गीतार्थ और अगीतार्थ होते हैं। उनमें जो लक्षणयुक्त गीतार्थ होते हैं, उनको दिशा—आचार्य-उपाध्याय पद देकर शेष साधुओं को यथायोग्य वितरण करते हैं।

१३२४. मूलायरि राइणिओ, अणुसरिसो तस्स होउवज्झाओ।
गीतमगीता सेसा, सज्झिलगा होंति सीसाहा॥

मूल आचार्य रात्निक होते हैं। उनके अनुसदृश अनेक उपाध्याय होते हैं। शेष साधु जो गीतार्थ और अगीतार्थ होते हैं। वे उसके साथी शिष्य होते हैं।

१३२५. राइणिया गीतत्था, अलद्धिया धारयंति पुव्वदिसं।
अपहुव्वंत सलक्खण, केवलमेगे दिसाबंधो॥

जो साधु रत्नाधिक हैं, गीतार्थ हैं किंतु लब्धिसंपन्न नहीं हैं वे पूर्वदिशा अर्थात् पूर्वाचार्यप्रदत्त दिशा—अनुरत्नाधिक को धारण करते हैं। (वे आचार्यपद अथवा उपाध्यायपद प्राप्त नहीं कर सकते।) यदि साधु-परिवार में केवल एक ही साधु आचार्य के योग्य हो तो उसको दिशाबंध—आचार्यपद पर आरोपित किया जा सकता है।

१३२६. सीसे य पहुव्वंतं, सव्वेसिं तेसि होति दायव्वा।
आपहुप्पंतेसुं पुण, केवलमेगे दिसाबंधो॥

यदि शिष्य वर्ग में प्रत्येक साधु लक्षणोपेत हो तो सभी को दिशाबंध देना चाहिए। यदि न हो तो जो लक्षणोपेत है केवल उसी एक को दिशाबंध देना चाहिए।

१३२७. अच्चित्तं च जहरिहं, दिज्जति तेसुं च बहुसु गीतेसु।
एस विधी अक्खातो, अग्गीतेसुं इमो उ विधी॥

जो अनेक गीतार्थ पद पर स्थापित हों तो अचित्त— उपकरण आदि यथायोग्य सबको देना चाहिए। यह गीतार्थ के लिए विधि है। अगीतार्थ के प्रति निम्नोक्त विधि है।

१३२८. अरिहं व अनिम्माउं, णाउं थेरा भणंति जो ठवितो।
एतं गीतं काउं, देज्जाहि दिसिं अणुदिसिं वा॥

जो साधु आचार्यपद योग्य होने पर अभी तक सूत्र और अर्थ में अनिर्मापित है यह जानकर तत्काल गणधर के रूप में स्थापित को कहते हैं—इस मुनि को गीतार्थ बनाकर दिशा अथवा अनुदिशा देना—आचार्य अथवा उपाध्याय बनाना।

१३२९. सो निम्माविय ठवितो,
अच्छति जदि तेण सह ठितो लद्धं।
अह न वि चिट्ठति तहियं,
संघाडो तो सि दायव्वो॥

जिस गणधर ने साधु को निर्मापित कर आचार्य पद पर स्थापित कर दिया, वह आचार्य यदि उसके साथ ही रहता है तो अच्छा है। यदि नहीं रहता है तो उसे संघाट—दो साधु और देने चाहिए।

१३३०. पेसेति गंतुं व सयं व पुच्छे,
संबंधमाणो उवधिं च देती।
सज्झंतिया सिं च समल्लिया वि,
सच्चित्तमेवं न लभे करेंतो॥

जहां वह निर्मापित और स्थापित आचार्य विहरण करता है वहां वह गणधर वृत्तांतवाहक मुनियों को भेजता है अथवा समय-समय पर स्वयं जाकर उनका योगक्षेम पूछता है। वह उन शिष्यों को अपना बनाने के लिए कभी-कभी उपधि देता है। जो स्वाध्याय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के निमित्त वहां रह रहे हैं उनको अपना बनाता है। परंतु इतना करने पर भी उसे उन सचित्त शिष्यों का लाभ नहीं होता।

१३३१. गोवालगदिट्ठंतं, करेंति जध दोन्नि भाउगा गोवा।
रक्खंती गावीओ, पिहप्पिहा असहिया दो वि॥

१३३२. गेलण्णे एगस्स उ, दिण्णा गोणी उ ताहि अन्नस्स।
इय नाऊणं ताहे, सहिया जाया दुवग्गा वि॥

यहां गोपाल का दृष्टांत दिया जाता है। दो ग्वाले भाई-भाई थे। दोनों साथ में न रहकर पृथक्-पृथक्रूप से गायों की रक्षा करते थे। एक भाई ग्लान हो गया तब गोस्वामी ने उसकी गायों को दूसरे ग्वाले को सौंप दिया। अब उसे वेतन-लाभ होना रुक गया। यह द्रव्यहानि जानकर दोनों साथ हो गये। द्रव्यहानि रुक गई।

१३३३. एवं दोण्णि वि अम्हे, पिहप्पिहा तह वि विहरिमो समयं।
वाघाते अण्णोण्णे, सीसा व परं च न भयंति॥

स्थापित आचार्य और गणधर दोनों परस्पर कहते हैं--यद्यपि हम दोनों पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी साथ में विहरण करते हैं तो कोई व्याघात होने पर हमारे परस्पर ज्ञान आदि की हानि नहीं होगी तथा शिष्य दूसरे गण में नहीं जायेंगे।

१३३४. असरिसपक्खिगठविते, परिहारो एस सुत्तसंबंधो।
काऊण व तेगिच्छं, सातिज्जियआगते सुत्तं॥

असदृशपाक्षिक (द्वितीय भंगवर्ती अथवा चतुर्थ-भंगवर्ती) को आचार्य पद पर स्थापित करने पर परिहारतप का प्रायश्चित्त आता है। यह पूर्वसूत्र के साथ संबंध-सूत्र है। जो रोग- चिकित्सा कराकर मनोज्ञ आहार आदि का आस्वादन लेकर आने वाले को परिहारतप का प्रायश्चित्त आता है। यह सूत्र का दूसरे प्रकार से संबंध-सूत्र है।

१३३५. अहवा गणस्स अप्पत्तियं तु ठावेति होति परिहारो।
ऐसो त्ति ण एसो त्ति व, ठविज्जते भंडणं सगणे॥

अथवा गणधर कहता है--यह साधु आचार्य पद पर स्थापित करने योग्य नहीं है, यह योग्य है। इस प्रकार वह स्वगण में कलह कर गण के अप्रीतियुक्त साधु को स्थापित करता है तो उसे परिहारतप का प्रायश्चित्त आता है। (यह तीसरे प्रकार का सूत्र-संबंध है।)

१३३६. परिहारो वा भणितो, न तु परिहारम्मि वण्णिता मेरा।
ववहारे वा पगते, अह ववहारो भवे तेसिं॥

परिहार के विषय में कहा गया, किंतु परिहार-विषयक मर्यादा का वर्णन नहीं किया गया। (यह चौथे प्रकार का सूत्र-संबंध है।) व्यवहार का प्रसंग है, अतः उनके व्यवहार का कथन किया जाता है।

१३३७. कारणिगा मेलीणा, बहुगा परिहारिगा भवेज्जाही।
अप्परिहारियभोगो, परिहारि न भुंजति वहंतो॥

अनेक कारणिक पारिहारिक एकत्र मिलने हैं। वहां अपारिहारिकों का परस्पर संभोज होता है किंतु जो पारिहारिक तप का वहन करने वाला है उसका पारिहारिकों के साथ भी संभोज नहीं होता।

१३३८. गिम्हाणं आवण्णो, चउसु वि मासेसु देंति आयरिया।
पुण्णम्मि मासवज्जण, अप्पुण्णे मासियं लहुयं॥

किसी साधु को ग्रीष्मऋतु (ऋतुबद्धकाल) में एक मास से लेकर छह मास पर्यंत परिहारतप का प्रायश्चित्त प्राप्त हुआ है तो वर्षा ऋतु में आचार्य उसको चारमास का परिहारतप प्रायश्चित्त देते हैं। जिसे छहमास का परिहारतप प्रायश्चित्त आया है उस काल के पूर्ण होने पर एक मास तक एक साथ भोजन का वर्जन है। अंतराल में यदि उसके साथ भोजन किया जाता है तो एक लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१३३९. पणगं पणगं मासे, वज्जेज्जति मास छण्हमासाणं।
न य भद्द-पंतदोसा, पुव्वुत्तगुणा ततो वासो॥

परिहारतप के प्रत्येक मास में पांच-पांच दिनों का वर्जन होने पर षट्मासिक परिहारतप में एक मास भोजन आदि का वर्जन होता है। प्रश्न होता है कि ऋतुबद्धकाल और वर्षाकाल के तप में यह अंतर क्यों? आचार्य कहते हैं--ऋतुबद्धकाल में भद्रकृत दोष--उद्गमादि दोष तथा प्रांतदोष--दीर्घकाल तक रहने से होने वाले दोष होते हैं। वर्षाकाल के पूर्वोक्त (कल्पाध्ययन में प्रतिपादित) गुण प्राप्त होते हैं।

१३४०. वासासू बहुपाणा, बलिओ कालो चिरं न ठायव्वं।
सज्झाय-संजम-तवे, धणियं अप्पा नियोतव्वो॥

वर्षा ऋतु में प्राणियों की बहुलता होती है, इसलिए भिक्षाचर्या दीर्घ नहीं होती। काल बलिक होता है, (स्निग्ध होने के कारण तप करने वालों के लिए बलोपष्टंभनक होता है) तथा दीर्घकाल तक एक ही स्थान में रहने के कारण स्वाध्याय, संयम और तप में आत्मा को अत्यधिक नियोजित किया जा सकता है।

१३४१. मासस्स गोण्णणामं, परिहरणा पूतिनिव्वलणमासो।
तत्तो पमोयमासो, भुंजणवज्जण न सेसेहिं॥

षाण्मासिक परिहारतप का वहन करने के पश्चात् एक मास का परिहार करना होता है। उस मास के गुणनिष्पन्न दो नाम हैं--'पूतिनिर्वलनमास' तथा 'प्रमोदमास।'[1] उस मास में केवल

१. पूतिनिर्वलन--पूति का अर्थ है--दुरभिगंध। उसका निर्वलन अर्थात् उसका छूट जाना। प्रमोदमास अर्थात् प्रमोद का हेतुभूत मास। चारित्र की पूति एक मास तक नहीं छूटती। अतः भोजन का वर्जन करना होता है। पारिहारिक तप की कालावधि पूर्ण करने वाला दूसरों के साथ एक मास तक आलापन आदि कर सकता है। उससे प्रमोद होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोजन का वर्जन होता है, शेष आलापन आदि का वर्जन नहीं होता।

१३४२. दिज्जति सुहं च वीसुं, तवसोसियस्सय जं बलकरं तु।
पुणरवि य होति जोग्गो,अचिरा दुविहस्स वि तवस्स॥

जब वह पृथक् भोजन करता है तब तपस्या से शोषित उसके शरीर को देखकर सभी मुनि सुखपूर्वक उसे बलवर्धक आहार देते हैं। वे यह सोचते हैं कि यह मुनि शीघ्र ही दोनों प्रकार के तप—परिहारतप तथा शुद्धतप को वहन करने में पुनः योग्य हो जाएगा।

१३४३. एसा वूढे मेरा, होति अवूढे अयं पुण विसेसो।
सुत्तेणेव निसिद्धे होति अणुण्णा उ सुत्तेण॥

जो परिहारतप का वहन करता है, उसकी मर्यादा पूर्वसूत्र में प्रतिपादित है। जो वहन नहीं करता उसके लिए प्रस्तुत सूत्र में यह विशेष मर्यादा है। सूत्र से निषिद्ध उसी सूत्र से अनुज्ञात भी होती है।

१३४४. किह तस्स दाउ किज्जति,
चोदग! सुत्तं तु होति कारणियं।
सो दुब्बलो गिलायति,
तस्स अवाएण देंतेवं॥

शिष्य प्रश्न करता है कि परिहारकल्पस्थित को अशन आदि देना कैसे कल्पता है? आचार्य कहते है—वत्स! यह सूत्र कारणिक के प्रसंग में प्रवृत्त है। वह दुर्बल होने के कारण रोगग्रस्त होता है। इस उपाय से उसे आहार आदि दिया जाता है।

१३४५. तवसोसियस्स मज्झो, ततो व तब्भावितो भवे अधवा।
थेरा णाऊणेवं, वदंति भाएहि तं अज्जो॥

१३४६. परिमित असती अण्णो,
सो वि य परिभायणम्मि कुसलो उ।
उच्चूरपउरलंभे,
अगीतवामोहणनिमित्तं॥

परिहारकल्पस्थित तपःशोषित शरीर वाले मुनि के मन में विकृति खाने की इच्छा उत्पन्न हो जाए अथवा पहले से ही उसका शरीर विकृति से भावित रहा हो, परिमित विकृति-लाभ होने पर, अन्य परिभाजनकुशल (दान-प्रदान में कुशल) मुनि की अविद्यमानता में, उस परिभाजनकुशल परिहारतप में संलग्न भिक्षु की स्थिति को स्वयं जानकर उस पर अनुग्रह कर स्थविर कहते है—आर्य! तुम मुनियों को भोजन परोसो। अथवा विकृति आदि नानाविध पदार्थों का प्रचुर लाभ होने पर अगीतार्थ मुनियों के व्यामोह को दूर करने के लिए वे स्थविर उस परिहारतपः स्थित साधु को कहते है—आर्य! तुम साधुओं को परिभाजित करो—आहार का दान-प्रदान करो।

१३४७. परिभाइयसंसट्ठे, जो हत्थं संलिहावइ परेण।
फुसति व कुड्डे छड्डे, अणणुण्णाए भवे लहुओ॥

आचार्य की अनुज्ञा से साधु को आहार देने पर हाथ संश्लिष्ट होते हैं, उनको दूसरे को चटाने पर, लिप्त हस्त से भींत आदि का स्पर्श करने पर अथवा काष्ट से उस लेप को निकालने पर अथवा अननुज्ञात अवस्था में स्वयं हाथ को चाटने पर—इन सब क्रियाओं में एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१३४८. कप्पति य विदिण्णम्मी, चोदगवयणं च सेससूवस्स।
एवं कप्पति उप्पायणं च कप्पट्ठिती चेसा॥

अनुज्ञा देने पर वह हाथ को चाट सकता है। शिष्य का प्रश्न है कि परिहारतप वाले को विकृति का अनुज्ञापन कैसे? आचार्य कहते हैं—शेष सूपकार की भांति। इसी प्रकार आचार्य को ग्लान को तृप्त करने के लिए अनुज्ञा देना कल्पता है। यह कल्पस्थिति है।

१३४९. एवतियाणं भत्तं करेहि, दिण्णम्मि सेसयं तस्स।
इय भोइय पज्जत्ते, सेसुव्वरियं च देंतस्स॥

एक सूपकार को आदेश दिया—तुम इतने चावलों का भक्त बनाओ और इतने व्यक्तियों को भोजन कराओ। उतने व्यक्तियों को भोजन देने के पश्चात् जो शेष सामग्री (भक्त) बचता है वह सूपकार का होता है। इसी प्रकार आचार्य के आदेशानुसार पर्याप्त मुनियों को भोजन कराने के पश्चात् जो शेष बचता है वह पारिहारिक को देते हैं।

१३५०. दव्वप्पमाणं तु विदित्तु पुव्वं, थेरा सि दापंति तयं पमाणं।
जुत्ते वि सेसं भवती जहा उ, उच्चूरलंभे तु पकामदाणं॥

आचार्य पहले द्रव्य प्रमाण को जानकर उस पारिहारिक को वह द्रव्य-प्रमाण दिखा दे। उपयुक्त प्रमाण में द्रव्य का नियोजन होने पर भी नाना प्रकार के द्रव्यों की प्राप्ति के कारण शेष बचता ही है। तब प्रकामदान अर्थात् जिसको जितना चाहे उसे उतना दे—ऐसी आचार्य की अनुज्ञा होती है।

१३५१. आदाणाऽवसाणेसु, संपुडितो एस होति उद्देसो।
एगाहिगारियाणं, वारेति अतिप्पसंगं वा॥

यह उद्देशक आदि और अंत में संपुटित है अर्थात् आदि और अंत में दो-दो सूत्र साधर्मिकाधिकार के प्रतिपादक हैं। अथवा एकाधिकारिक जो-जो सूत्र हैं, उनमें अतिप्रसंग का वारण करता है। यह इसका पूर्व सूत्र से संबंध है।

१३५२. सपडिग्गहे परपडिग्गहे, य बहि पुव्व पच्छ तत्थेव।
आयरिय-सेहऽभिग्गह, समसंडासे अहाकप्पो॥

पारिहारिक वसति के बाहर भिक्षा के लिये जाता हुआ पहले अपने पात्र में अपने लिए, फिर परपात्र में आचार्य के लिए अथवा एक ही पात्र में दोनों के लिए भिक्षा लाता है। आचार्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शैक्ष–पारिहारिक, समक–एक ही पात्र में भोजन। संडास द्वारा उपलक्षित।[1] यथाकल्प। (व्याख्या आगे)

१३५३. कारणिय दोन्नि थेरा, सो व गुरू अधव केणई असहू।
पुव्वं सयं तु गेण्हति, पच्छा घेत्तुं च थेराणं॥

दोनों–आचार्य और पारिहारिक कारणिक–रोगग्रस्त हो गए। शेष साधु देशांतर में चले गए। वे दोनों एकत्र स्थित हैं। आचार्य स्थविर होने के कारण अथवा रुग्ण होने के कारण भिक्षाचर्या नहीं कर सकते। उनका सहायक मुनि परिहारतप प्रतिपन्न है। ऐसी स्थिति में यह सामाचारी है। पहले पारिहारिक अपने लिए अपने पात्र में भिक्षा लाए, पश्चात् स्थविर के पात्र में स्थविरों के योग्य भिक्षा लेने जाए अथवा पहले स्थविरों के लिए और पश्चात् स्वयं के लिए भिक्षा लेने जाए।

१३५४. जइ एस समाचारी किमट्ठसुत्तं इमं तु आरद्धं।
सपडिग्गहेतरेण व, परिहारी वेयवच्चकरे॥

शिष्य ने पूछा–यदि यह सामाचारी है कि पारिहारिक अपने लिए अपने पात्र में तथा इतर–अर्थात् आचार्य के लिए आचार्य के पात्र में भिक्षा लाए, क्योंकि वह अपने आचार्य का वैयावृत्यकर होता है, तो फिर इस सूत्रद्वय का आरंभ–प्रतिपादन क्यों?

१३५५. दुल्लभदव्वं पडुच्च, व तवखेदितो समं वसति काले।
चोदग ! कुव्वंति तयं, जं वुत्तमिहेव सुत्तम्मि॥

आचार्य कहते हैं–दुर्लभ द्रव्य की अपेक्षा से अथवा तप से खिन्न पारिहारिक की अपेक्षा से अथवा वसति में भिक्षाकाल समान होने से–इन तीन कारणों से सूत्र में जो कहा है वत्स! वैसा किया जाता है।

१३५६. पास उवरिव्व गहितं, कालस्स दवस्स वावि असतीए।
पुव्वं भोत्तुं थेरा, दलंति समगं च भुंजंति॥

(पात्र आदि धोने के लिए) द्रव अर्थात् पानी का अभाव होने पर, पारिहारिक मुनि अपने एक ही पात्र के एक ओर आचार्य के लिए तथा दूसरी ओर स्वयं के लिए अथवा स्वयं के योग्य नीचे और आचार्य के लिए ऊपर भिक्षा लेता है। ऊपर जो भिक्षा आचार्य के लिए गृहीत है, उसे स्थविर पहले खा लेते हैं, शेष पारिहारिक को देते हैं अथवा दोनों का भोजनकाल क्रमशः नहीं है तो दोनों साथ में भोजन कर लेते हैं। यह यथाकल्प–यथावस्थित सामाचारी है।

दूसरा उद्देशक समाप्त

---

१. अलर्क–रोगी कुत्ते के काटने पर उसी का मांस खाने से व्यक्ति निरोग हो जाता है। एक व्यक्ति को ऐसे कुत्ते ने काट खाया किंतु वह मांस खाना नहीं चाहता था। उसने सोचा–मैं कुत्ते के मांस के हाथ कैसे लगाऊं। तब उसने संडासी से मांस का टुकड़ा लिया और अपने मुंह में डाल दिया। इसी प्रकार पारिहारिक मुनि द्वारा स्थविर के लिए लाया गया आहार स्थविर मानो घृणा करते हुए उसे खा लेते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीसरा उद्देशक

१३५७. तेसिं चिय दोण्हं पी, सीसायरियाण पविहरंताणं।
इच्छेज्ज गणं वोढुं, जदि सीसो एस संबंधो॥

आचार्य और शिष्य केवल दो साथ हैं। वे विहार कर रहे हैं। यदि शिष्य गण को धारण करने की इच्छा करता है तो उसकी विधि यह है। यही पूर्वसूत्र से इस सूत्र का संबंध है।

१३५८. तेसिं कारणियाणं, अन्नं देसं गता य जे सीसा।
तेसिमागंतु कोई, गणं धरेज्जाह वा जोग्गो॥

अथवा आचार्य और पारिहारिकशिष्य कारणवश अकेले रह रहे हैं और जो शिष्य अन्य देशों में गए थे, उनमें से कोई योग्य शिष्य आकर गण को धारण करता है, तो उसकी विधि यह है। यही पूर्वसूत्र से इस सूत्र का संबंध है।

१३५९. थेरे अपलिच्छन्ने, अपलिच्छन्ने सयं पि चग्गहणा।
दव्वाऽछन्नो थेरो, इतरो सीसो भवे दोहिं॥

स्थविर अर्थात् आचार्य अपरिच्छद–शिष्य परिवार से रहित है। भिक्षु भी स्वयं अपरिच्छद है। स्थविर द्रव्यतः अपरिच्छद है, किंतु भावतः सूत्र आदि से सपरिच्छद है। किंतु वह भिक्षु द्रव्यतः और भावतः अपरिच्छद है।

१३६०. नोकारो खलु देसं, पडिसेहयती कयाइ कप्पेज्जा।
ओसन्नम्मि उ थेरे, सो चेव परिच्छओ तस्स॥

'नोकार' देश प्रतिषेधक शब्द है। कदाचित् वैसा करना कल्पता भी है। सपरिच्छद आचार्य के अवसन्न होने पर, कालगत होने पर, जो शिष्य गण को धारण करता है, आचार्य का परिच्छद उसका हो जाता है।

१३६१. भिक्खू इच्छा गणधारए, अपव्वाविते गणो नत्थि।
इच्छातिगस्स अट्ठा, महातलागेण ओवम्मं॥

भिक्षु गण को धारण करने की इच्छा करता है। जो स्वयं दूसरों को प्रव्राजित नहीं करता, उसके गण नहीं होता। रत्नत्रयी के लिए गण को धारण करना चाहिए। (पूजा-सत्कार के लिए नहीं।) यहां महातालाब की उपमा है।

१३६२. जो जं इच्छति अत्थं, नामादी तस्स सा भवति इच्छा।
नाममि जं तु इच्छा, इच्छति नामं च जस्सिच्छा॥

जो जिस नाम आदि अर्थ की अभिलाषा करता है, वह उसकी इच्छा होती है। इच्छा के छह निक्षेप हैं–नामेच्छा, स्थाछनेच्छा, द्रव्येच्छा, क्षेत्रेच्छा, कालेच्छा तथा भावेच्छा। जो जिस नाम की इच्छा करता है वह नामेच्छा है अथवा जिसका नाम इच्छा है, वह नामेच्छा है।

१३६३. एमेव होति ठवणा, निक्खिप्पति इच्छते व जं ठवणं।
सामित्तादी जधसंभवं तु दव्वादि जं भणसु॥

नामेच्छा की भांति ही स्थापनेच्छा होती है। इच्छा का जिसमें निक्षेप किया जाता है, वह स्थापनेच्छा होती है। यथासंभव स्वामित्व आदि के प्रकारों से द्रव्येच्छा, क्षेत्रेच्छा तथा कालेच्छा कहनी चाहिए।[1]

१३६४. भावे पसत्थमपसत्थिया य अपसत्थियं न इच्छामो।
इच्छामो य पसत्थं, नाणादीयं तिविधइच्छं॥

भाव इच्छा के दो प्रकार हैं–प्रशस्त और अप्रशस्त। अप्रशस्त इच्छा की कामना नहीं करते। ज्ञान, दर्शन और चारित्र विषयक जो इच्छा है वह प्रशस्त इच्छा है। हम उसकी इच्छा करते हैं।

१३६५. नामादि गणो चउहा,
दव्वगणो खलु पुणो भवे तिविधो।
लोइय-कुप्पावणिओ,
लोगुत्तरिओ य बोधव्वो॥

नाम आदिरूप गण चार प्रकार का होता है–नामगण, स्थापनागण, द्रव्यगण और भावगण। द्रव्यगण के दो प्रकार हैं–आगमतः और नोआगमतः। नोआगमतः के तीन प्रकार हैं–ज्ञशरीर, भव्यशरीर और तदव्यतिरिक्त। तदव्यतिरिक्त के तीन प्रकार हैं–लौकिक, कुप्रावचनिक तथा लोकोत्तरिक।

---

१. स्वामित्व से द्रव्येच्छा–पुत्र प्राप्ति की कामना, करण से–मद्य पीने से कामेच्छा, अधिकरण से–कोमल शय्या पर बैठने से कामेच्छा आदि। क्षेत्र-काल अचेतन हैं। अतः स्वामित्व की इच्छा नहीं होती। करण से क्षेत्रेच्छा–सुंदर क्षेत्र में क्रीडनेच्छा, वपनेच्छा। अधिकरण से–घर में स्थित व्यक्ति में भोगेच्छा, कामेच्छा। गुरुकुल में रहने से सम्यग् अनुष्ठानेच्छा। कालेच्छा–करण से–यौवन में धनेच्छा, भोगेच्छा। अधिकरण से–हेमंत की रात्री में शीत से पीड़ित होकर सूर्योदय की इच्छा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३६६. सच्चित्तादिसमूहो, लोगम्मि गणो उ मल्लपोरादी।
चरगादिकुप्पवयणो, लोगोत्तरओसन्नऽगीताणं॥

लौकिक द्रव्यगण है–सचित्तादि समूह–सचित्तसमूह, अचित्तसमूह तथा मिश्रसमूह। सचित्तसमूह–मल्लगण, पौरगण आदि। अचित्तसमूह–शस्त्रगण। मिश्रसमूह–स्वर्णालंकृत मल्लगण आदि। कुप्रावचनिक द्रव्यगण–चरकादिगण। लोकोत्तरिक द्रव्यगण–अवसन्न गीतार्थकों का गण।

१३६७. गीतत्थ उज्जुयाणं, गीतपुरोगामिणं चऽगीताणं।
एसो खलु भावगणो, नाणादितिगं च जत्थत्थि॥

उद्युक्त–संयम में प्रवर्तमान गीतार्थों का समूह अथवा गीतपुरोगामी अर्थात् गीतार्थनिश्रित अगीतार्थों का समूह–यह नोआगमतः भावगण है। अथवा जहां ज्ञानादिकत्रय है वह भावगण है।

१३६८. भावगणेणऽहिगारो, सो उ अपव्वाविए न संभवति।
इच्छातियगहणं पुण, नियमणहेतुं तओ कुणति॥

प्रस्तुत में भावगण का अधिकार है। भावगण अप्रव्राजित के संभव नहीं होता। इच्छात्रिक का ग्रहण नियमन के रूप में किया जाता है।

१३६९. किं नियमेति निज्जरनिमित्तं न उ पूयमादिअट्ठाए।
धारेति गणं जदि पहु, महातलागेण सामाणो॥

नियमन क्या? निर्जरा के निमित्त से ही कोई गण को धारण करता है, पूजा आदि के लिए नहीं। वह प्रभु–आचार्य महातडाग के समान होता है।

१३७०. तिमि-मगरेहि न खुब्भति,जहंबुनाधो वियंभमाणेहिं।
सोच्चिय महातलागो, पफुल्लपउमं च जं अन्नं॥

जैसे समुद्र मच्छ, मकर आदि के प्रकोपों से क्षुब्ध नहीं होता वही समुद्र है। उसी की विवक्षा से महातडाग कहा है। अथवा समुद्र से जो अन्य प्रफुल्लित पद्मों वाला महासरोवर है, वह भी महातडाग है।

१३७१. परवादीहि न खुब्भति, संगिण्हंतो गणं च न गिलाति।
होती य सदाभिगमो, सत्ताण सरोव्व पउमड्ढो॥

जो परवादियों से क्षुब्ध नहीं होता, जो गण को धारण करता हुआ ग्लान नहीं होता तथा जो पद्माढ्य सरोवर की भांति प्राणियों के लिए सदाभिगम होता है वह समर्थ होता है।

१३७२. एतगुणसंपउत्तो, ठाविज्जति गणहरो उ गच्छमि।
पडिबोधादीएहि य, जइ होति गुणेहि संजुत्तो॥

जो इन गुणों से संप्रयुक्त होता है, उसको गच्छ में गणधर के रूप में स्थापित करना चाहिए। जब वह प्रतिबोध आदि गुणों से संयुक्त होता है तभी वह अन्य गुणों से युक्त होता है।

१३७३. पडिबोहग देसिय सिरिघरे य निज्जामगे य बोधव्वे।
तत्तो य महागोवो, एमेता पडिवत्तिओ॥

प्रतिबोधक, देशक–मार्गदर्शी, श्रीगृहिक, निर्यामक तथा महागोप–ये पांच प्रतिपत्तियां–उपमाएं हैं। (व्याख्या आगे के श्लोकों में।)

१३७४. जह आलित्ते गेहे, कोई पसुत्तं नरं तु बोधेज्जा।
जरमरणादिपलित्ते, संसारघरम्मि तध उ जिए॥

१३७५. बोहेति अपडिबुद्धे, देसियमादी वि जोएज्जा।
एयगुणविप्पहूणे, अपलिच्छन्ने य न धरेज्जा॥

जैसे चारों ओर से जलते हुए घर में गाढ़ निद्रा में सोए हुए मनुष्य को जगाता है वैसे ही जरा, मरण आदि के भय से पीड़ित जीव जो संसारगृह में प्रसुप्त हैं, उनको प्रतिबोध देकर जगाता है, जो अप्रतिबुद्ध को प्रतिबुद्ध करता है, वह प्रतिबोधक होता है। देशक आदि दृष्टांतों की भी पूर्ववत् योजना करनी चाहिए।[1] इन गुणों से जो रहित है तथा जो शिष्यपरिवार अथवा सूत्र आदि से रहित है, उसको गणधर के रूप में गण स्थापित न करें।

१३७६. दोहि वि अपलिच्छन्ने, एक्केक्केणं वऽपलिच्छन्ने य।
आहरणा होंति इमे, भिक्खुम्मि गणं धरंतम्मि॥

जो भिक्षु द्रव्यतः और भावतः–दोनों प्रकार के परिच्छन्नों से रहित होता है अथवा एक-एक छरिच्छद से रहित होता है और वह गण को धारण करता है तो उसके लिए ये उदाहरण होते हैं।

१३७७. भिक्खू कुमार विरए, झामणपंती सियालरायाणो।
वित्तत्थजुद्ध असती, दमग भतग दामगादी या॥

जो द्रव्य-भाव परिच्छद से रहित भिक्षु गण को धारण करता है, उसके ये उदाहरण हैं–कुमार, विरय (लघु स्रोत), झामण–वनदवाग्नि, पंक्ति, श्रृगालराज, वित्रस्त सिंह के साथ युद्ध का अभाव। दमक, भृतक, दामक आदि के दृष्टांत।

---

१. वह इस प्रकार है–मार्गदर्शी वह होता है जो ग्राम, नगर आदि में पहुंचने में सीधे-सरल और सुरक्षित मार्ग को दिखाता है। इसी प्रकार ज्ञान आदि की विराधना न करता हुआ जो गच्छ को वृद्धिंगत करता है, वह गणधर होता है।

श्रीगृहिक वह होता है जो श्रीघर में रखे हुए रत्नों आदि की सुरक्षा करता है। इसी प्रकार गणधर वह होता है जो गण में रत्नत्रयी की रक्षा करता है।

निर्यामक वह होता है जो अपने जलयान को शीघ्र और सुरक्षित रूप में समुद्र के पार ले जाता है। इसी प्रकार गणधर भी स्वयं को तथा संपूर्ण गच्छ को संसारसमुद्र से पार ले जाने का प्रयत्न करता है।

महागोप अपनी गायों को हिंस्रपशुओं से, विषम प्रदेशों से बचाता हुआ सुरक्षित रूप से अपने-अपने स्थान में पहुंचा देता है। इसी प्रकार गणधर भी अपने गण को अस्थानों से तथा प्रमाद से बचाता हुआ स्वस्थान अर्थात् आत्मस्थान में स्थापित करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३७८. बुद्धिबलपरिहीणो, कुमार पच्चंतडमरकरणं तु।
अप्पेणेव बलेणं, गेण्हावण सासणा रण्णा॥

एक राजकुमार बुद्धिबल से परिहीन था। देश के प्रत्यंत भाग में डमर–विप्लव हुआ। शत्रु राजा ने अल्प सैनिकों को भेजकर राजकुमार को पकड़ लिया। उस पर अनुशासन कर उसका विनाश कर डाला।

१३७९. सुत्तत्थअणुववेतो, अगीतपरिवार गमणपच्चंतं।
परतित्थिगओभावण, सावग सेहादवण्णो उ॥

जो भिक्षु सूत्र और अर्थ से असंपन्न है, अगीतार्थ मुनियों के परिवार से युक्त है वह प्रत्यंत देश में गमन करता है, वहां परतीर्थिकों से पराजित होता है। श्रावक तब उसकी विडंबना करते हैं और शिष्य भी विपरिणत हो जाते हैं। इससे शासन का अवर्णवाद होता है।

१३८०. वणदवसत्तसमागम, विरए सीहस्स पुंछ डेवणया।
तं दिस्स जंबुगेण वि, विरए छूढा मिगादीया॥

एक बार अटवी में वनाग्नि लग गयी। सभी प्राणी एक वियरय (लघु स्रोत वाले जलाशय) के पास एकत्रित हो गए। वहां एक सिंह भी आया था। सिंह ने अन्य वनचर प्राणियों से कहा–सभी मेरी पूंछ पकड़ ले। सभी ने पूंछ पकड़ ली। वह सिंह कूदा। वियरय को लांघ गया। पुनः एक बार दवाग्नि का प्रकोप होने पर वियरय के पास प्राणी एकत्रित हुए। एक सियार ने पहले सिंह को कूदते देखा था। उसने भी सभी प्राणियों को पूंछ पकड़ने के लिए कहा। सभी ने वैसा ही किया। उसने वियरय को लांघने के लिए छलांग लगाई। उसके साथ सभी मृग आदि प्राणी उस वियरय में गिरकर मर गए।

१३८१. अद्धाणादिसु एवं, दट्ठुं सव्वत्थ एव मण्णंतो।
भवविरयं अग्गीतो, पाडेतऽन्ने वि पवडंतो॥

मार्ग आदि में अपवाद की प्रतिसेवना करते हुए गीतार्थ को देखकर अगीतार्थ मुनि मानता है कि सर्वत्र यही आचरणीय है। वह अगीतार्थ स्वयं भवरूपी वियरय में गिरता है और दूसरों को भी गिराता है, उनके पतन का हेतु बनता है।

१३८२. जंबुगकूवे चंदे, सीहेणुत्तारणाय पंतीए।
जंबुगसपंतिपडणं, एमेव अगीतगीताणं॥

रात्रि की वेला में एक कूपतट पर अनेक सियार एकत्रित हुए। उन्होंने कुए में झांक कर देखा। पानी में चंद्रमा का प्रतिबिम्ब देखकर सिंह से कहा–कुएं से चंद्रमा को निकालो। सिंह बोला–सभी पंक्तिबद्ध होकर मेरी पूंछ पकड़ लो। सभी सियार पूंछ के सहारे कुए में उतरे। सिंह ने एक ही झटके में सबको ऊपर ला दिया। इसी प्रकार एक सियार ने भी अन्य सियारों को पंक्तिबद्ध कर, अपनी पूंछ पकड़ाई। ज्यों ही वह कूदा, वह स्वयं अपने साथियों के साथ कुए में जा गिरा। इसी प्रकार अगीतार्थ भी स्वयं नष्ट होकर दूसरों का भी विनाश करता है।

१३८३. नीलीराग खसद्दुम, हत्थी सरभा सियाल तरच्छा उ।
बहुपरिवार अगीते, विज्जुयणोभावणपरेहिं॥

एक सियार नीलीराग के कुंड में गिर पड़ा। वह नीले रंग का हो गया। हाथी, शरभ, सियार, तरक्ष आदि के पूछने पर उसने कहा–मैं खसद्रुम नामक मृगराज हूं। जब उसका असलीरूप सामने आया तब वह मार डाला गया। इसी प्रकार बहुत परिवार वाले अगीतार्थ के साथ विहरण करता हुआ स्वयं को बहुजन- विश्रुत ख्यापित करता है, वह भी दूसरों से तिरस्कृत होता है।

१३८४. सेहादी कज्जेसु व, कुलादिसमितीसु जंपउ अयं तु।
गीतेहि विस्सुयं तो, निहोडणमपच्चतो सेहे॥

शैक्षकादि कार्यों में तथा कुल, गण, संघ के समवाय में श्रावक या सिद्धपुत्र कहते हैं–यही बहुश्रुत है। यही व्यवहार का निर्णय करे। जब गीतार्थ मुनियों ने यह सुना तो उन्होंने उसके निर्णय को बदल कर उसका तिरस्कार किया। शैक्ष आदि को भी उसके प्रति अप्रत्यय–अविश्वास हो गया।

१३८५. एक्केक्के एगजाती, पतिदिणसम एव कूवपडिबिंबं।
सीहे पुच्छण एज्जण, कूवम्मि य डेव उत्तरणं॥
१३८६. एमेव जंबुगो वी, कूवे पडिबिंबमप्पणो दिस्स।
डेवणय तत्थ मरणं, समुयारो गीतऽगीताणं॥

सभी वन्य पशुओं ने मिलकर यह निर्णय किया कि अपनी-अपनी वारी के अनुसार प्रतिदिन एक पशु सिंह के भक्ष्य के रूप में वहां चला जाए। आज एक शशक की वारी थी। वह देरी से पहुंचा। सिंह के पूछने पर उसने कहा–रास्ते में एक कूप है। उसमें एक सिंह रहता है। उसने मुझे रोक लिया। यह सुनकर वह सिंह उस कूप पर आया और गर्जना की। प्रतिध्वनि सुनकर वह कूप में कूद पड़ा। वहां किसी सिंह को न देखकर पुनः छलांग लगाकर ऊपर आ गया।

इसी प्रकार एक सियार कूप में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसमें कूद पड़ा। पुनः ऊपर आने में असमर्थ होकर वहीं मृत्यु को प्राप्त हो गया। समवतार–उपनय यह है। सिंह के समान होता है गीतार्थ और सियार के समान होता है अगीतार्थ।

१३८७. एते य उदाहरणा, दव्वे भावे अपलिच्छन्नम्मि।
दव्वेणऽपलिच्छन्ने, भावेऽपलिछण्ण होंति इमे॥

ये पांचों उदाहरण द्रव्य से और भाव से अपरिच्छद आचार्य के विषय के हैं। (यह प्रथम भंगवर्ती आचार्य के हैं।) दूसरे भंग में द्रव्य से अपरिच्छद और भाव से परिच्छद होते हैं तथा तीसरे भंग में द्रव्य से परिच्छद और भाव से अपरिच्छद होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३८८. दमगे वइया खीर घड़ि, खट्ट चिंता य कुक्कुडिप्पसवो।
धणपिंडण, समणेरिं ऊसीसग भिंदण घडीए॥

एक द्रमक–भिखारी था। व्रजिका–गोकुल में गया। वहां उसको दूध से भरा घड़ा मिला। वह घर गया और अपने मंचक के सिरहाने उसे रखकर सो गया। वह अब चिंतन करने लगा–दूध को बेचकर मुर्गियां खरीदूंगा। उनके प्रसव से अनेक मुर्गियां *होंगी। उन्हें बेचूंगा। मेरे पास पर्याप्त धन होने पर समानकुल* अथवा अन्य कुल की कन्या से विवाह करूंगा। जब वह मेरे सिरहाने से मंचक पर चढ़ेगी तब मैं पैर से प्रहार करूंगा। उसने उस समय सचमुच प्रहार किया और वह दूध का घड़ा फूट गया।

१३८९. पव्वावइत्ताण बहू य सिस्से,
पच्छा करिस्सामि गणाहिवच्चं।
इच्छाविगप्पेहि विसूरमाणो,
सज्झायमेवं न करेति मंदो॥

अनेक शिष्यों को प्रव्राजित कर कोई भिक्षु यह सोचता है कि मैं पश्चात् गणाधिपतित्व करूंगा, इस प्रकार वह मंद भिक्षु इच्छा-विकल्पों के वशीभूत होकर स्वाध्याय न करता हुआ पूर्व-गृहीत सूत्रार्थों को विस्मृत कर देता है।

१३९०. गावीओ रक्खंतो, घेच्छं भत्तीय पड्डिया तत्तो।
वड्ढंतो गोवग्गो, होहिंति य वच्छिगा तत्थ॥
१३९१. तेसिं तु दामगाइं करेमि मोरंगचूलियाओ य।
एवं तु ततियभंगे, वत्थादी पिंडणमगीतो॥

एक ग्वाला गायों को चराता था। उसने सोचा–गायों को चराने से जो धन मिलेगा उससे नई ब्याई हुई गाय खरीदूंगा। उसका परिवार बढ़ेगा। मेरे पास बड़ा गोवर्ग हो जाएगा। उसमें अनेक बछड़े होंगे। मैं उनके लिए दामक तथा मयूरांग-चूलिका–आभरण विशेष बनाऊंगा। यह सोचकर उसने सारा धन खर्च कर आभूषण बना डाले। इस प्रकार तृतीय भंगवर्ती अगीतार्थ आचार्य का वस्त्र आदि का पिंडन (एकत्रीकरण) जानना चाहिए।

१३९२. ताणिं बहूणिं पडिलेहयंतो,
अद्धाणमादीसु य संवहंतो।
एमेव वासं मतिरित्तगं से,
वातादी खोभो य सुते य हाणी॥

वह द्रव्यतः परिच्छन्न आचार्य उन अत्यधिक वस्त्रों का प्रतिलेखन करता हुआ, मार्ग आदि में उनको वहन करता हुआ क्लांत होता है तथा अत्यधिक श्रम के कारण उसके वायु आदि का क्षोभ होता है तथा सूत्रार्थ की हानि होती है।

१३९३. चोदेति न पिंडेति य, कज्जे गेण्हति य जो सलद्धीओ।
तस्स न दिज्जति किं गणो, भावेउ जो य ऽसंच्छन्नो॥

शिष्य प्रश्न करता है कि वह भिक्षु लब्धिसंपन्न है परंतु भाव से परिच्छद रहित है। वह वस्त्रों को पहले एकत्रित नहीं करता किंतु प्रयोजन होने पर वस्त्र-ग्रहण करता है तो उसे गण का भार क्यों नहीं दिया जाता?

१३९४. चोदग! अप्पभु असती, पूयापडिसेध निज्जरतलाए।
सतं से अणुजाणाति, पव्वविते तिण्णि इच्छा से॥

हे शिष्य! भावतः अपरिच्छन्न अप्रभु होता है। *उसके गण नहीं होता। पूजा के लिए गणधारण का प्रतिषेध। निर्जरा के लिए* गणधारण। तालाब का दृष्टांत। सौ शिष्य का परिवार। उनमें से कितने? जघन्यतः प्रव्राजित तीन शिष्य। आचार्य की इच्छा। (पूरी व्याख्या अगले श्लोकों में।)

१३९५. भण्णति अविगीतस्स हु,
उवगरणादीहि जदि वि संपत्ती।
तह वि न सो पज्जत्तो,
करीलकाउव्व वोढव्वो॥

आचार्य शिष्य के आक्षेप का उत्तर देते हुए कहते हैं–विशिष्ट गीतार्थ मुनि के बिना उस नूतन आचार्य के पास उपकरण आदि की पर्याप्त संपत्ति होने पर भी वह गणभार को वहन करने में वैसे ही समर्थ नहीं होता जैसे करील (बांस विशेष) की कापोती भार वहन करने में असमर्थ होती है।

१३९६. न य जाणति वेणइयं कारावेउं न यावि कुव्वंति।
ततियस्स परिभवेणं, सुत्तत्थेसुं अपडिबद्धा॥

वह न दूसरों से विनय करा सकता है और न स्वयं विनय करता है। उसके शिष्य सूत्रार्थ से अप्रतिबद्ध होकर अपना परिभव ही मानते हैं। तीसरा भंगवर्ती ऐसा आचार्य गणधारण करने योग्य नहीं होता।

१३९७. बियभंगे पडिसेहो, जं पुच्छसि तत्थ कारणं सुणसु।
जई से होज्ज धरेज्जं, तदभावे किण्णु धारेउं॥
१३९८. तं पि य हु दव्वसंगहपरिहीणं परिहरंति सेहादी।
संगहरिते य सगलं, गणधारित्तं कहं होति?॥

आचार्य कहते हैं–वत्स! तुम पूछते हो कि द्वितीय भंगवर्ती के गणधारण का प्रतिषेध क्यों? तुम उसका कारण सुनो। यदि उसके पास गण (शिष्य संपदा) न हो तो वह गण के अभाव में क्या धारण करेगा?

जो द्रव्यसंग्रह से परिहीन है वह निश्चित ही शैक्ष आदि मुनियों द्वारा त्यक्त हो जाता है। संग्रह के बिना परिपूर्ण गणधारित्व कैसे हो सकता है?

१३९९. आहारवत्थादिसु लद्धिजुत्तं,
आदेज्जवक्कं च अहीणदेहं।
सक्कारभज्जम्मि इमम्मि लोए,
पूयंति सेहा य पिहुज्जणाय॥

जो भिक्षु आहार, वस्त्र आदि की लब्धि से युक्त है, जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदेयवाक्य है, जो परिपूर्ण देहवाला है, जो लोक में सत्कार-भाक्—विद्वज्जनपूज्य है, जो मतिमान् है, शैक्ष जिसकी पूजा करते हैं, सामान्य लोग भी जिसको बहुमान देते हैं, वह गणधारण योग्य होता है।

१४००. पूयत्थं णाम गणो, धरिज्जते एव ववसितो सुणय।
आहारोवहिपूयाकारण न गणो धरेयव्वो॥

जो इस विचार के साथ गण को धारण करता है कि मेरी पूजा होगी तो शिष्य! तुम सुनो। आहार, उपधि और पूजा-प्राप्ति के लिए गण को धारण नहीं करना चाहिए।

१४०१. कम्माण निज्जरट्ठा, एवं खु गणो भवे धरेयव्वो।
निज्जरहेतुववसिता, पूयं पि च केइ इच्छंति॥

केवल कर्मों की निर्जरा के लिए गण को धारण किया जाता है। कुछ स्थविरकल्पिक निर्जरा के हेतु से गण को धारण करने के लिए दृढ़ निश्चय करते हैं, परंतु साथ-साथ पूजा की भी इच्छा करते हैं।

१४०२. गणधारिस्साहारो, उवकरणं संथवो य उक्कोसो।
सक्कारो सीसपडिच्छगेहि गिहि-अन्नतित्थीहिं॥

गणधारी का आहार, उपकरण तथा संस्तव उत्कृष्ट होता है। शिष्यों, प्रतिच्छकों, गृहस्थों तथा अन्यतीर्थिकों से उसे सत्कार प्राप्त होता है।

१४०३. सुत्तेण अत्थेण य उत्तमो उ,
आगाढपण्णेसु य भावितप्पा।
जच्चन्वितो वा वि विसुद्धभावो,
संते गुणेवं पविकत्थयंतो॥

यह सूत्र और अर्थ से उत्तम—परिपूर्ण है, यह आगाढ़प्रज्ञा वाले शास्त्रों में व्यापृत होता है, यह भावितात्मा है, यह जात्यान्वित है—अच्छे कुल में उत्पन्न है, यह विशुद्धभाव से युक्त है—इस प्रकार उसके विद्यमान गुणों की सभी उत्कीर्तना करते हैं, श्लाघा करते हैं।

१४०४. आगम्म एवं बहुमाणितो हु,
आणाथिरत्तं च अभावितेसु।
विणिज्जरा वेणइयाय निच्चं,
माणस्स भंगो वि य पुज्जयंते॥

जो ऐसे आचार्य की पूजा करते हैं, उससे आगम बहुमानित होते हैं, भगवत् आज्ञा की अनुपालना होती है, अभावित शिष्यों में स्थिरत्व आता है, विनय के निमित्त से होने वाली कर्म-निर्जरा नित्य होती है, अहंकार का भंग होता है।

१४०५. लोइयधम्मनिमित्तं, तडागखाणावितम्मि पदुमादी।
न वि गरहिताणि भोत्तुं एमेव इमं पि पासामो॥

लौकिक धर्म के निमित्त कोई तालाब खुदवाता है। उस तालाब में पद्म आदि हो जाते हैं। जहां पानी सूख जाता है वहां धान्य की बुवाई करता है और जब उस धान्य का उपभोग किया जाता है तो वह लोकगर्हित नहीं माना जाता। इसी प्रकार जो निर्जरा के लिए गण धारण करता है और वह उसके पूजा का हेतु बनता है तो वह दोषावह नहीं होता।

१४०६. संतम्मि उ केवइओ, सिस्सगणो दिज्जती ततो तस्स।
पव्वाविते समाणे, तिण्णि जहन्नेण दिज्जंति॥

पूर्व आचार्य के शिष्य-परिवार के होने पर जिसको गणधारण की अनुज्ञा दी गई हो, उसको कितने शिष्य दिए जाते हैं? प्रव्रजित शिष्यगण होने पर जघन्यतः उसे तीन शिष्य दिए जाते हैं।

१४०७. एगो चिट्ठति पासे, सण्णा आलित्तमादि कज्जट्ठा।
भिक्खादि वियार दुवे, पच्चयहेउं च दो होउं॥

एक शिष्य आचार्य के पास रहता है। उसका आचार्य के साथ संज्ञाभूमि में जाना, आचार्य किसी को बुलाए तो उसको ले आना आदि कार्य करता है। दो मुनि भिक्षा लाने अथवा विचारभूमि—बहिर्भूमी में जाने के निमित्त अथवा सूत्रार्थ के संवाद प्रत्यय के निमित्त दो का होना आवश्यक है।

१४०८. दव्वे भावपलिच्छद, दव्वे तिविहो उ होति चित्तादी।
लोइय लोउत्तरिओ, दुविधो वावार जुत्तितरो॥

परिच्छद के दो प्रकार हैं—द्रव्यतः और भावतः। द्रव्य-परिच्छद के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। इस तीन प्रकार के द्रव्य परिच्छद के प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—लौकिक और लोकोत्तरिक। यह दो प्रकार का है—व्यापारयुक्त तथा व्यापारअयुक्त।

१४०९. दो भाउगा विरिक्का, एक्को पुण तत्थ उज्जतो कम्मे।
उचितमतिभत्तदाणं, अकालहीणं च परिवुड्ढी॥
१४१०. कतमकतं न वि जाणति, न य उज्जमते सयं न वावारे।
भतिभत्तकालहीणे, दुग्गहियकिसीय परिहाणी॥

दो भाई थे। दोनों अलग-अलग रहते थे। उनमें एक कृषिकर्म में उद्युक्त रहता था। वह अपने कर्मकरों को पूरा मूल्य चुकाता और अकालहीन अर्थात् परिपूर्ण भक्त देता था। इस प्रकार उसके कृषि की वृद्धि होती गयी।

दूसरा भाई कृषिकर्म किया या नहीं किया—इसको नहीं जानता था। वह न स्वयं कृषिकार्य में उद्युक्त होता था और न कर्मकरों को उसमें व्यापृत करता था। वह कर्मकरों की भृति और भोजन कालहीन अर्थात् अपरिपूर्ण देता था। इस प्रकार उसकी कृषि दुर्गृहीत होने के कारण परिहीन हो गई।

१४११. जो जाए लद्धीए, उववेतो तत्थ तं नियोएति।
उवकरणसुते अत्थे, वादे कहणे गिलाणे य॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४१२. जध जध वावारयते, जधा य वावारिता न हीयंति।
तध तध गणपरिवुड्ढी, निज्जरवुड्ढी वि एमेव॥

जो भिक्षु जिस लब्धि से सम्पन्न है आचार्य उसको उसी में नियोजित करते हैं। जो उपकरणों की प्राप्ति में लब्धिमान् है, जो सूत्रपाठ में अथवा अर्थग्रहण में लब्धिधारी है, जो वाद और धर्मकथा में प्रवीण है तथा जो ग्लान की सेवा में निपुण है—उनको तद्-तद् विषय में नियोजित करना जिससे कि उन-उन प्रवृत्तियों की हानि भी नहीं होती और गण की परिवृद्धि भी होती है और इसी प्रकार निर्जरा भी बढ़ती है।

१४१३. दंसण-नाण-चरित्ते, तवे य विणए य होति भावम्मि।
संजोगे चउभंगो, बितिए नायं वइरभूती॥

भावतः परिच्छद का लक्षण—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और विनय से युक्त। द्रव्य और भाव परिच्छद के संयोग से चतुर्भंगी होती है। द्वितीयभंग का उदाहरण है—वज्रभूति का।

१४१४. भरुयच्छे नहवाहण देवी पउमावती वइरभूती।
ओरोह कव्वगायण, कोउय निव पुच्छ देविगमो॥

१४१५. कत्थ त्ति निग्गतो सो, सयमासण एस चेव चेडिकधा।
विप्परिणाममदाणं, विरूवपरिवाररहिते य॥

भरुकच्छ में नभोवाहन राजा। देवी का नाम पद्मावती। वहां आचार्य वज्रभूति का आगमन। अंतःपुर में उनका काव्यगान हुआ। रानी के मन में आचार्य को देखने का कौतुक। राजा को पूछकर रानी आचार्य की वसति पर गई। रानी ने पूछा—आचार्य कहां है? प्रत्युत्तर मिला—बाहर गए हैं। स्वयं आसन लेकर आना। दासी ने कहा—यही आचार्य वज्रभूति है। रानी विपरिणत हो गई। साक्षात् उसने उपहार नहीं दिया। वे आचार्य विरूप और शिष्य परिवार से रहित थे।[1]

१४१६. मूलं खलु दव्यपलिच्छदस्स सुंदेरमोरसबलं च।
आकितिमतो हि नियमा,सेसा वि हवंति लद्धीओ॥

द्रव्य परिच्छद का मूल है सौंदर्य तथा औरसबल। जो आकृतिमान् होता है नियमतः उसके शेष लब्धियां भी हो जाती हैं।

१४१७. जो सो उ पुव्वभणितो,
अपभू सो उ अविसेसितो तहियं।
सो चेव विसेसिज्जति,
इहइं सुत्ते य अत्थे य॥

जो पहले अप्रभु कहा है वह वहां भी अविशेषितरूप से ही कहा है। प्रस्तुत प्रसंग में जो सूत्र और अर्थ में प्रभु है, उसकी विशेषता कही है।

१४१८. अबहुस्सुतऽगीतत्थे दिट्ठंता सप्पसीसवेज्जसुते।
अत्थविहूण धरेंते, मासा चत्तारि भारियया॥

अबहुश्रुत और अगीतार्थ के संयोग से चतुर्भंगी होती है—

१. अबहुश्रुत अगीतार्थ। ३. बहुश्रुत अगीतार्थ
२. अबहुश्रुत गीतार्थ ४. बहुश्रुत गीतार्थ।

प्रथम तीन भंगवर्ती मुनि गण को धारण करता है तो उसके लिए दो दृष्टांत हैं—सर्पशीर्षक और वैद्यसुत।[2] जो अर्थविहीन तथा सूत्रविहीन मुनि गण को धारण करता है, उसको चार भारिया अर्थात् चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१४१९. अबहुस्सुते अगीतत्थे, निसिरए वावि धारए व गणं।
तद्देवसियं तस्स उ, मासा चत्तारि भारियया॥

अबहुश्रुत अथवा अगीतार्थ भिक्षु को गण सौंपा जाता है अथवा वह स्वयं धारण करता है तो उसको तद्दैवसिक (उत्कृष्टतः सात रात-दिन के निमित्त से) चार भारिया मास—चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१४२०. सत्तरत्तं तवो होति, ततो छेदो पधावती।
छेदेणऽछिन्नपरियाए, ततो मूलं ततो दुगं॥

अन्य सात दिन-रात गण को सौंपे जाने पर अथवा धारण करने से तप, उसके बाद छेद, यदि पर्याय छिन्न नहीं होता है तो मूल फिर प्रायश्चित्त द्विक अर्थात् अनवस्थाप्य और पारांचित आता है।

१४२१. जो सो चउत्थभंगो, दव्वे भावे य होति संच्छण्णो।
गणधारणम्मि अरिहो, सो सुद्धो होति नायव्वो॥

जो चतुर्थभंगवर्ती भिक्षु है अर्थात् जो द्रव्य और भाव से परिच्छद सहित है, वह गणधारण के लिए योग्य है। वह शुद्ध होता है।

१४२२. सिद्धस्स य पारिच्छा, खुड्डय थेरे य तरुणखग्गूडे।
दोमादिमंडलीए, सुद्धमसुद्धे ततो पुच्छा॥

शुद्ध की परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा के विषय हैं—क्षुल्लक, स्थविर, तरुण, खग्गूड—स्वभाव से वक्राचारवाला, दो आदि मंडलियों—यदि इन परीक्षाओं में वह उत्तीर्ण हो जाता है तो शुद्ध है अन्यथा अशुद्ध है। फिर शिष्य पूछता है। आचार्य का प्रतिवचन है—

१४२३. उच्चफलो अह खुड्डो, सउणिच्छावो व पोसिउं दुक्खं।
पुट्ठो वि होहिति न वा, पलिमंथो सारमंतस्स॥

(परीक्षा के निमित्त पहले क्षुल्लक को सौंपते हुए आचार्य कहते हैं—इसको दोनों प्रकार की शिक्षाएं दो) वह सोचता है—यह क्षुल्लक उच्चफल अर्थात् चिरकाल के बाद फल देगा, उपकारी

---

१. पूरे कथानक के लिए देखें—व्यवहारभाष्य कथा परिशिष्ट।

२. इन दोनों दृष्टांतों को कल्पाध्ययन से जानना चाहिए। (वृ. पत्र)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनेगा। इसका पोषण करना शकुनि के शावक की भांति कष्टप्रद होता है। यह पुष्ट होकर भी मेरा होगा या नहीं, कौन जानता है। इसकी सारणा-वारणा करने वाले के सूत्रार्थ का महान् व्याघात होगा। (ऐसा सोचने वाला व्यक्ति गणधारण के लिए अयोग्य है।)

१४२४. पुट्ठो वासु मरिस्सति, दुराणुयुत्ते न वेत्थ पडिगारो।
सुत्तत्थपारिहाणी, थेरे बहुयं निरत्थं तु॥

यदि स्थविर सौंपा जाता है तो वह सोचता है—यह पुष्ट किए जाने पर भी शीघ्र मर जाएगा। वृद्ध होने के कारण यह दुरनुवर्त्य है। इससे कोई प्रतिकार—प्रत्युपकार नहीं होगा। मेरे सूत्र और अर्थ की हानि होगी। स्थविर को शिक्षा देना बहुत निरर्थक होता है। (ऐसा सोचने वाला गणधारण के अयोग्य होता है।)

१४२५. अहियं पुच्छति ओगिण्हते बहुं किं गुणो मि रेगेणं।
होहिति य विवद्धंतो, एसो हु ममं पडिसवत्ती॥

तरुण को देने पर वह सोचता है—यह अधिक पूछता है और अत्यधिक ग्रहण करता है। इससे मेरा क्या लाभ होगा? मेरे सूत्रार्थ की विस्मृति होगी। निश्चित ही यह बढ़ता हुआ मेरा प्रतिद्वंद्वी ही होगा।

१४२६. कोधी व निरुवगारी, फरुसो सव्वस्स वामवट्टो य।
अविणीतो त्ति च काउं, हंतुं सत्तुं च निच्छुभती॥

खग्गूडको देने पर—यह क्रोधी है, निरुपकारी है, परुषभाषी है, सभी के लिए प्रतिकूल आचरण करने वाला है, अविनीत है—यह सोचकर शत्रु की भांति उसको मारपीट कर निकाल देता है। ऐसा व्यक्ति भी गणधारण करने में अनर्ह होता है।

१४२७. वत्थाहारादीभि य, संगिण्हऽणुवत्तए य जो जुयलं।
गाहेति अपरितंतो, गाहण सिक्खावए तरुणं॥
१४२८. खरमउएहिऽणुवत्तति, खग्गूडं जेण पडति पासेण।
देमो विहार विजढो, तत्थोड्डणमप्पणा कुणति॥

जो युगल को अर्थात् क्षुल्लक और स्थविर को वस्त्र, आहार आदि से वश में कर अपने विचारों के अनुसार चलाता है तथा तरुण मुनि को स्वयं अपरितप्त रहकर जो ग्राह्य है उसको ग्रहण करवाता है, तथा आसेवन शिक्षा से उसको शिक्षित करता है। खग्गूड के प्रति जो परुष और मृदु वाक्यों से ऐसा अनुवर्तन करता है कि वह उसके पाश में बंध जाता है, जो 'विहारविजढ' है अर्थात् विहार करना नहीं चाहता, 'इसको विहार कराऊंगा' यह कहकर उसे स्वयं स्वीकार करता है। वह भिक्षु गणधारण के योग्य होता है।

१४२९. इय सुद्धसुत्तमंडलि, दाविज्जति अत्थमंडली चेव।
दोहिं पि असीदंते, देति गणं चोदए पुच्छा॥

इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण भिक्षु शुद्ध होता है, गणधारण के योग्य होता है। उसे सूत्रमंडली और अर्थमंडली का दायित्व दिया जाता है। वह यदि दोनों मंडलियों में विषादग्रस्त नहीं होता, उसे मूल आचार्य गण का भार देते हैं। शिष्य प्रश्न करता है—

१४३०. चोदेति भाणिऊणं, उभयच्छन्नस्स दिज्जति गणो त्ति।
सुत्ते य अणुण्णातं, भगवं! धरणं पडिच्छन्ने॥
१४३१. अरिहाऽणरिहपरिच्छं, अत्थेणं जं पुणो परूवेध।
एवं होति विरोधो, सुत्तत्थाणं दुवेण्हं पि॥

पहले यह कहा गया था कि जो द्रव्य और भाव—दोनों परिच्छदों से युक्त होता है उसे गण दिया जाता है। भगवन्! जो द्रव्य और भाव—दोनों परिच्छदों से युक्त होता है उसी को गणधारण की अनुज्ञा सूत्र में दी गई है। आप अर्थ का आश्रय लेकर अर्ह और अनर्ह की परीक्षा की प्ररूपणा करते हैं। इस प्रकार सूत्र और अर्थ—दोनों में विरोध आता है।

१४३२. संति हि आयरियबितिज्जगाणि
सत्थाणि चोदग! सुणेहि।
सुत्ताणुण्णातो वि हु,
होति कदाई अणरिहो तु॥
१४३३. तेण परिच्छा कीरति, सुवण्णगस्सेव ताव निहसादी।
तत्थ इमो दिट्ठंतो, रायकुमारेहि कायव्वो॥

शिष्य! मेरी बात सुनो। आचार्य द्वितीयक शास्त्र हैं।[1] सूत्र में अनुज्ञात भी कोई कदाचित् अनर्ह होता है। इसलिए परीक्षा की जाती है। जैसे ताप, निकष आदि से स्वर्ण की परीक्षा की जाती है, वैसे सूत्रानुज्ञात की भी परीक्षा की जाती है। वहां यह राजकुमारों का दृष्टांत देना चाहिए।

१४३४. सूरे वीरे सत्तिय, ववसायि थिरे चियाग-धितिमंते।
बुद्धी विणीयकरणे, सीसे वि तधा परिच्छाए॥
१४३५. निब्भयओरस्सबली, अविसायि पुणो करेति संठाणं।
न विसम्मति देती, अणिस्सितो चउहाऽणुवत्ती य॥

जो शूर—निर्भय होता है, वीर—औरसबलयुक्त होता है, सात्विक—अहंकारशून्य होता है, व्यवसायी—उद्यमशील होता है, दुःख में भी विषादग्रस्त नहीं होता, कदाचित् व्यवसायविकल होकर भी पुनःसंस्थान करता है—स्वोचित व्यवसाय करता है, स्थिर—उद्यम करता हुआ विश्रांत नहीं होता, चियाग—दानरुचि होता है, देता है, धृतिमान्—दूसरों पर आश्रित नहीं होता, बुद्धिमान्—बुद्धिचतुष्टय से सहित होता है, विनय—विनयशील होता है, करण—राजा के कर्त्तव्य को करने में कुशल होता है, जो बड़ों का अनुवर्तक होता है—इन गुणों से सहित राजकुमार का राज्याभिषेक किया जाता है।

१. वे आचार्य द्वितीयक शास्त्र हैं जो आचार्य परंपरा से प्राप्त संप्रदायविशेष से आकलित हैं। (वृत्ति)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४३६. परवादी उवसग्गे, उप्पण्णे सूर आवइं तरति।
अद्धाणे तेणमादि, ओरस्सबलेण संतरति॥

परवादी, उपसर्ग तथा आपत्ति के आने पर जो सूर–अभय होता है वह इन सबका पार पा जाता है। मार्ग में चोरों को अपने औरसबल से जीत लेता है।

१४३७. अब्भुदए वसणे वा, अखुब्भमाणो उ सत्तिओ होति।
आवति कुलादिकज्जेसु, चेव ववसायवं तरति॥

१४३८. कायव्वमपरितंतो, काउं वि थिरो अणाणुतावी तु।
थोवा तो विदलंतो, चियाग य वंदणसीलो उ॥

अभ्युदय अथवा कष्ट दशा में अक्षुब्ध रहने की जिसमें शक्ति होती है, प्राप्त कुल, संघ आदि के कार्यों में जो व्यवसायवान्–उद्यमशील होता है, जो करणीय को करने में स्थिर होता है–परितप्त नहीं होता, जो कार्य करने के बाद अननुतापी होता है, जो थोड़े से थोड़ा देता हुआ भी दानशील होता है तथा जो वंदनशील होता है–ऐसा व्यक्ति गण को धारण कर सकता है।

१४३९. उवसग्गे सोढव्वे, झाए किच्चेसु यावि धितिमंतो।
बुद्धिचउक्कविणीतो, अधवा गुरुमादिविणितो उ॥

जो उन उपसर्गों की ओर ध्यान देता है, जो उसे सहन करने हैं, करणीय कार्य को करने में जो धृतिमान् होता है–विषादग्रस्त नहीं होता, जो चारों प्रकार की बुद्धि में निपुण होता है अथवा जो गुरु के प्रति विनीत होता है।

१४४०. दव्वादी जं जत्थ उ,जम्मि व किच्चं तु जस्स वा जं तु।
किच्चति अहीणकालं, जितकरण-विणीय एगट्ठा॥

जहां जिसके लिए जो द्रव्य आदि उपयोगी है तथा जिसके लिए जो कृत्य करणीय है उसको जितकरण–विनीत व्यक्ति ठीक समय पर अथवा समय का अतिक्रम किए बिना करता है। जितकरण और विनीत–दोनों शब्द एकार्थक हैं।

१४४१. एवं जुत्तछरिच्छा, जुत्तो वेतेहि एहि उ अजोग्गो।
आहारादि धरेंतो, तिंतिणिमादीहि दोसेहिं॥

वह युक्तपरीक्षा से युक्त होने पर भी इन कथ्यमान दोषों से अयोग्य भी हो सकता है। जो आहार, उपधि, पूजा के निमित्त गण को धारण करता है तथा तिन्तिण आदि दोषों से युक्त होता है वह अयोग्य है।

१४४२. बहुसुत्ते गीतत्थे, धरेति आहार-पूयणट्ठाई।
तिंतिणि-चल-अणवट्ठिय, दुब्बलचरणा अजोग्गा उ॥

जो बहुसूत्र और गीतार्थ होने पर भी आहार, पूजा आदि के लिए गण को धारण करता है, जो तिंतिण स्वभाव वाला होता है, जो चलचित्त और अनवस्थित तथा दुर्बलचारित्रवाला होता है–ये सब गण धारण के अयोग्य हैं।

१४४३. एवं परिक्खितम्मी, पत्ते दिज्जति अपत्ति पडिसेहो।
दुपरिक्खितपत्ते पुण, वारिय हावेंतिमा मेरा॥

इस प्रकार परीक्षा करने पर जो पात्र होता है उसको गण का भार दिया जाता है तथा अपात्र का प्रतिषेध किया जाता है। यदि दुःपरीक्षित पात्र को गण सौंपा जाता है तो गण के सदस्य शिथिल हो जाते हैं। वे सामाचारी की हानि करते हैं। वहां यह मर्यादा करनी चाहिए अर्थात् इस विधि का प्रयोग करना चाहिए।

१४४४. दिट्ठो व समोसरणे, अधवा थेरा तहिं तु वच्चंति।
परिसा य घट्ठ-मट्ठ चंदणखोडी खरंटणया॥

(पूर्वोक्त विधि यह है–) आचार्य समवसरण–साधुओं के एकत्रित हुए स्थान में जाते हैं। अथवा स्थविर उस गच्छ में जाते हैं। वहां वे मुनि-परिषद् में घृष्ट, पुष्ट मुनियों को देखकर चंदनखोडि के दृष्टांत से उनकी खरंटना करते है।

१४४५. इंगालदाह खोडी, पविसे दिट्ठ उ वाणिएणं तु।
जो मुल्लं आणयते, इंगालड्ढय सा दड्ढा॥

१४४६. इय चंदणरयणनिभा, पमायतिक्खेण परसुणा भेत्तुं।
दुविध पडिसेवि सिहिणा, ति-रयण खोडी तुमे दड्ढा॥

एक इंगालदाहक (कोयला बनाने वाला) गोशीर्षचंदन का गट्टर लेकर गांव में प्रवेश कर रहा था। एक वणिक् ने उसे देखा। उसने सोचा–अभी यह ज्यादा मूल्य मांगेगा। जब यह जलाने लगेगा तब मैं कोयले का मूल्य चुकाकर खरीद लूंगा। वणिक् मूल्य लाने घर गया। इतने में ही उस अंगारदाहक ने उस गोशीर्षचंदन के गट्टर को जला दिया।[1] इसका उपनय है–आचार्य कहते है–हे शिष्य! इस प्रकार तुमने चंदनरत्न के सदृश रत्नत्रयीरूप खोडी–गट्टर को प्रमाद के तीक्ष्ण परशु से छिन्न-भिन्न कर मूलगुणप्रतिसेवना और उत्तरगुणप्रतिसेवना–इन दो प्रतिसेवनारूप अग्नि से जला डाला है।

(यदि इस प्रकार वारित करने पर वह निवर्तित हो जाता है तो उसे प्रायश्चित्त देकर स्थविरों के वर्त्तापक के रूप में स्थापित करना चाहिए। यदि निवर्तित न हो तो उससे गण का भार ले लेना चाहिए।)

१४४७. एतेण अणरिहेहिं, अण्णे इय सूइया अणरिहा उ।
के पुण ते इणमो ऊ, दीणादीया मुणेयव्वा॥

ऐसे व्यक्ति अनर्ह होते हैं। अन्य व्यक्ति भी अनर्ह के रूप में सूचित किए गए हैं। वे कौन से हैं? यह पूछने पर आचार्य कहते हैं–आगे कहे जाने वाले दीन आदि अनर्ह जानने चाहिए।

१४४८. दीणा जुंगित चउरो, जातीकम्मे य सिप्पसारीरे।
पाणा डोंबा किणिया, सोवागा चेव जातीए॥

जो दीन हैं, चार प्रकार के जुंगिक हैं–जाति से, कर्म से,

१. पूरे कथानक के लिए देखें–व्यवहार भाष्य, कथा परिशिष्ट ८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिल्प से तथा शरीर से, वे सारे अनर्ह हैं।

जाति से जुंगिक–

पाण–जो गांव या नगर में घर के अभाव में गांव या नगर के बहिर्भाग में रहते हैं।

डोंब–जो गीत गाकर जीवन चलाते हैं।

किणिक–जो वादित्रों को मढते हैं। वध्य के आगे-आगे वाद्य बजाते हैं।

श्वपाक–चांडाल, जो कुत्तों को पका कर खाते हैं।

१४४९. पोसग-संवर-नड-लंख वाह-मच्छंध-रयग-वग्गुरिया।
पडगारा य परीसह, सिप्प-सरीरे य वोच्छामि॥

कर्म से जुंगिक–

पोषक–स्त्री, कुक्कुट, मयूर आदि का पोष करने वाले।

संवर–स्नानिक, शौधक।

नट–नट विद्या के जानकार।

लंख–बांस आदि पर नृत्य करने वाले।

व्याध–शिकारी।

मत्स्यबंध–मच्छीमार।

रजक–धोबी।

वागुरिक–मृगजाल से जीविका करने वाले।

शिल्प से जुंगिक–

पटकार–चर्मकार।

परीषह–नापित।

अब मैं शरीर से जुंगिक के विषय में कहूंगा।

१४५०. हत्थे पादे कण्णे, नासे उट्ठेहि वज्जियं जाणे।
वामणग मडभ कोढिय, काणा तध पंगुला चेव॥

हाथ, पैर, कान, नासिका, होठ–इन अवयवों से वर्जित व्यक्ति शरीर-जुंगिक होता है, जैसे–

वामनक–हीन हाथ-पैर आदि से युक्त।

मडभ–कुब्ज।

कोढी–कुष्टव्याधि से ग्रस्त

काना–एकाक्षी।

पंगुल–पादशक्ति से विकल।

१४५१. दिक्खेउं पि न कप्पति, जुंगिता कारणे वि अदोसा वा।
अण्णायदिक्खिते वा, णाउं न करेंति आयरिए॥

चारों प्रकार के जुंगिक दीक्षा के लिए भी अकल्पनीय हैं। तथाविध कारण उत्पन्न होने पर निर्दोष को दीक्षा दी जा सकती है। अज्ञात अवस्था में यदि जुंगिक को दीक्षित कर दिया जाता है, फिर ज्ञात होने पर उनको आचार्य नहीं बनाया जाता।

१४५२. पच्छा वि होंति विकला, आयरियत्तं न कप्पती तेसिं।
सीसो ठावेतव्वो, काणगमहिसो व निण्णम्मि॥

दीक्षा के पश्चात् भी कई मुनि अंग-विकल हो जाते हैं। उनको भी आचार्य बनाना नहीं कल्पता। आचार्य पद पर रहते अंगविकल हो जाने पर उन्हें चाहिए कि वे अपने शिष्य को स्थापित करें तथा स्वयं को गुप्त रखें, जैसे काणक (चुराई हुई) महीष को निम्नप्रदेश–गुप्त वनगहन में रखा जाता है।

१४५३. गणि अगणी वा गीतो, जो व अगीतो वि आगितीमंतो।
लोगे स पगासिज्जति, हावेंति न किच्चमियरस्स॥

जो गणी है अथवा जो अगणी है अथवा जो गीतार्थ है अथवा जो अगीतार्थ है, परंतु आकृतिमान् है, उसे लोगों के समक्ष आचार्य के रूप में प्रकाशित किया जाता है। किंतु इतर अर्थात् जुंगिक आचार्य को लोगों के समक्ष प्रकाशित नहीं किया जाता और उनका (जुंगिक आचार्य का) सारा कृत्य उचित रूप से संपादित किया जाता है, उसकी हानि नहीं की जाती।

१४५४. एते दोसविमुक्का, वि अणरिहा होंतिमे तु अण्णे वि।
अच्चाबाधादीया, तेसि विभागो उ कायव्वो॥

इन दोषों से विप्रमुक्त मुनि भी गण धारण के लिए अनर्ह होते हैं तथा दूसरे भी अनर्ह होते हैं, जैसे–आबाधा वाले–उनका पृथक् रूप से वर्णन करना चाहिए।

१४५५. अच्चाबाध अचायंते, नेच्छती अप्पचिंतए।
एकपुरिसे कहं निंदू, कागबंझा कधं भवे?॥

अत्याबाध, अशक्त, इच्छारहित तथा आत्मचिंतक–ये चारों पुरुष अनर्ह माने जाते हैं तथा ये भी अनर्ह होते हैं–एकपुरुष, निंदू, काकी तथा वंध्या। शिष्य ने पूछा ये कैसे होते हैं?

१४५६. अच्चाबाहो बाधं, मन्नति बितिओ धरेउमसमत्थो।
ततिओ न चेव इच्छति, तिण्णि वि एते अणरिहा उ॥

५६. अत्याबाध वह होता है जो गच्छ के उपग्रह को बाधा मानता है। दूसरा गण को धारण करने में स्वयं को असमर्थ मानता है। तीसरा गण को धारण करना नहीं चाहता। ये तीनों अनर्ह होते हैं।

१४५७. अब्भुज्जतमेगतरं, पडिवज्जिस्सं ति अत्तचिंतो उ।
जो वा गणे वसंतो, न वहति तत्ती उ अन्नेसिं॥

आत्मचिंतक वह होता है जो यह मानता है कि मैं अभ्युद्यतविहार–जिनकल्प अथवा यथालंदकल्प धारण करूंगा। अथवा जो गण में रहता हुआ भी अन्य मुनियों की चिंता को वहन नहीं करता, वह भी आत्मचिंतक है।

१४५८. एवं मग्गति सिस्सं, पणट्ठे मरंति विद्धसंते वा।
सत्तमयस्स वि एवं, नवरं पुण ठायते एगो॥

(पूर्व के चार व्यक्ति ५६, ५७) तथा पांचवां व्यक्ति है एक-पुरुष। वह एक शिष्य की मार्गणा करता है। निंदू वह होता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसके शिष्य मर जाते हैं अथवा पलायन कर जाते हैं। काकी तुल्य वह होता है जो केवल एक ही को प्रव्रज्या दे सकता है दूसरे को प्रव्रजित करने की उसमें लब्धि नहीं होती। वन्ध्या तुल्य वह होता है जिसके कोई शिष्य होता ही नहीं।

१४५९. अधवा इमे अणरिहा, देसाणं दरिसणं करेंताणं।
जे पव्वावित तेणं, थेरादि पयच्छति गुरूणं॥

अथवा ये अनर्ह होते हैं—कोई मुनि देश-दर्शन के लिए गया। वहां उसने अनेक स्थविर आदि को प्रव्रजित किया। वह मूल स्थान पर आकर उन दीक्षित मुनियों को गुरु के चरणों में समर्पित कर देता है।

१४६०. थेरा अणरिहे सीसे, खग्गूडे एगलंभिए।
उक्खेवग इत्तिरिए पंथे कालगते - ति या॥

जो स्थविरों को, अनर्ह शिष्यों को, खग्गूडों को तथा एकलंभिकों को आचार्य को समर्पित कर देता है, जो शिष्यों का उत्क्षेपक होता है, जो आचार्य के शिष्यों को इत्वरिक बनाता है अथवा जो गुरुसंबंधी शिष्यों को मार्ग में कालगत हो गए ऐसा कहता है—ये सब अनर्ह होते हैं। (इसकी व्याख्या अगली गाथाओं में।)

१४६१. थेरा उ अतिमहल्ला अणरिहा उ काण-कुंटमादीया।
खग्गूडा य अवस्सा, एगालंभी पधाणो उ॥

१४६२. तं एगं न वि देती, अवसेसे देति सो गुरूणं तु।
अधवा वि एगदव्वं, लभंति ते देति तु गुरूणं॥

वे स्थविर जिनकी अवस्था बहुत बड़ी है, अनर्ह अर्थात् काना, कुंटग—हाथ आदि से रहित, खग्गूड—स्वच्छंद, एकलंभी अर्थात् प्रधान शिष्य को अपने पास रखकर शेष अविशेष शिष्यों को गुरु को समर्पित कर देता है। अथवा जो एकलाभिक अर्थात् भक्त प्राप्ति कर लेते हैं, पर वस्त्रादि नहीं अथवा वस्त्र आदि प्राप्त कर लेते हैं भक्त आदि नहीं, ऐसे शिष्यों को गुरु को दे देते हैं और जो उभयलब्धि होते हैं, उन्हें अपने पास रख लेता है।

१४६३. उक्खेवेणं दो तिन्नि, व उवणेति सेसमप्पणो गिण्हे।
आयरियाणित्तिरियं, बंधति दिसमप्पणो व कइं॥

उत्क्षेपक वह होता है जो देश-दर्शन के समय प्रव्रजित व्यक्तियों में से दो-तीन शिष्यों को गुरु को समर्पित कर देता है तथा शेष को स्वयं रख लेता है। जो इत्वरिक होते हैं उन्हें आचार्य को सौंप देता है, आचार्य की दिशा में उनको बांध देता है। उनको कहता है—जब तक तुम आचार्य के पास रहो तब तक उनके हो, शेषकाल में तुम मेरे शिष्य होओगे। उत्क्षेपक और इत्वरिक करने वाला—दोनों अनर्ह होते हैं।

१४६४. पंथम्मि य कालगता, पडिभग्गा वावि तुम्हे जे सीसा।
एते सव्वअणरिहा, तप्पडिवक्खा भवे अरिहा॥

देश-दर्शन कर आनेवाला भिक्षु आचार्य से निवेदन करता है—भंते! आपके सारे शिष्य मार्ग में कालगत हो गए अथवा कुछ घर चले गए। मेरे द्वारा प्रव्रजित ये स्थविर आदि सारे शिष्य अनर्ह हैं। इनके प्रतिपक्ष जो मुनि हैं वे अर्ह हैं।

१४६५. एसा गीते मेरा, इमा उ अपरिग्गहाणऽगीताणं।
गीतत्थ-पमादीण व, अपरिग्गहसंजतीणं च॥

यह उपरोक्त मर्यादा गीतार्थों के लिए हैं तथा यह मर्यादा अपरिग्रहों, अगीतार्थों, तथा गीतार्थ प्रमादी और अपरिग्रह-साध्वियों के लिए हैं। (तात्पर्य आगे की गाथाओं में।)

१४६६. गीतत्थमगीतत्थे, अज्जाणं खुड्डए उ अन्नेसिं।
आयरियाण सगासे, अमुयत्तणेण तु निप्फण्णो॥

गीतार्थ, अगीतार्थ तथा आर्यिका द्वारा दीक्षित क्षुल्लक—ये तीनों अन्य आचार्यों के सामीप्य को न छोड़ते हुए निष्पन्न हो जाते हैं—सूत्र, अर्थ तथा सूत्रार्थ से अवगत हो जाते हैं।

१४६७. सीस पडिच्छे होउं, पुव्वगते कालिए य निम्माओ।
तस्सागयस्स सगणं, किं आभव्वं इमं सुणसु॥

उपरोक्त तीनों अन्य आचार्य के प्रतीच्छकरूप शिष्य होकर पूर्वगत अथवा कालिकश्रुत में प्रवीण हो जाते हैं। उनके अपने गण में आने पर आभाव्य क्या होता है? आचार्य कहते हैं—तुम सुनो।

१४६८. सीसो सीसो सीसो, चउत्थगं पि पुरिसंतरं लभति।
हेट्ठा वि लभति तिण्णी, पुरिसजुगं सत्तहा होति॥

शिष्य, उसका शिष्य, उस शिष्य का शिष्य तथा चौथा पुरुषांतर भी पुरुषयुग होता है। अधस्तात् तीन भी पुरुषयुग होते हैं। इस प्रकार सात पुरुषयुग होते हैं। ये सातों पुरुषयुग उसे प्राप्त होते हैं।

१४६९. मूलायरिए वज्जित्तु, उवरि सगणो उ हेट्ठिमे तिन्नि।
अप्पा य सत्तमो खलु, पुरिसजुगं सत्तधा होति॥

मूल आचार्य को छोड़कर उपरितन स्वगण (इससे तीन पुरुषयुग) तथा नीचे के तीन पुरुषयुग उसे प्राप्त होते हैं। आत्मा—स्वयं सप्तम पुरुषयुग होता है। इस प्रकार पुरुषयुग सात प्रकार का होता है।[1]

---

१. आत्मीय आचार्य को छोड़कर उसका सारा शिष्य परिवार—एक पुरुषयुग। पितामह को छोड़कर उसका सारा शिष्य परिवार—दूसरा पुरुषयुग। प्रपितामह का सारा शिष्य परिवार—तीसरा पुरुषयुग। (ये तीन उपरितन)। गुरुभ्रातृ प्रव्राजित शिष्य परिवार—चौथा पुरुषयुग। भ्रातृत्व प्रव्राजित शिष्य परिवार—पांचवा पुरुषयुग। भ्रातृप्रव्राजित शिष्यों द्वारा प्रव्रजित शिष्य परिवार—छठा पुरुषयुग। (ये तीन अधस्तन) स्वयं द्वारा प्रव्राजित पुत्रस्थानीय, उनके द्वारा प्रव्राजित पौत्रस्थानीय, उनके द्वारा प्रव्राजित प्रपौत्रस्थानीय—यह सारा समुदाय एक पुरुषयुग। इन सबको मिलाने पर सात पुरुषयुग होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४७०. अधवा न लभति उवरिं,
हेट्ठिच्चिय लभति तिण्णि तिण्णेय।
तिण्णि तल्लाभ-परलाभ,
तिण्णि दासक्खरे णातं॥

अथवा आभवन शिष्य को उपरितन तीन पुरुषयुग प्राप्त नहीं होते। अधस्तन तीन पुरुषयुग ही उसे प्राप्त होते हैं। पूर्वभणित अधस्तन तीन पुरुषयुगों से अन्यान्य भी अधस्तन तीन पुरुषयुगों का परलाभ-त्रय तथा पुत्र-पौत्र लक्षणवाला आत्मलाभ—सभी मिलाकर सात पुरुषयुग—उसके आभाव्य होते हैं। इसमें दास और खर का उदाहरण ज्ञातव्य है—'मेरे दास ने गधा खरीदा है। वह दास मेरा है इसलिए गधा भी मेरा है।'

१४७१. दुहओ वि पलिच्छन्ने, अप्पडिसेधो त्ति मा अतिपसंगा।
धारेज्ज अणापुच्छा गणमेसो सुत्तसंबंधो॥

जो आचार्य द्विधा—द्रव्यतः और भावतः परिच्छदों से सहित है उसके गणधारण करने का कोई प्रतिषेध नहीं है। स्थविरों को पूछकर गणधारण करने की बात अतिप्रसंग न हो जाए इसलिए स्थविरों के बिना पूछे ही गणधारण करने का प्रतिषेध है। यह सूत्रसंबंध है।

१४७२. काउं देसदरिसणं, आगतऽठवितम्मि उवरता थेरा।
असिवादिकारणेहिं, व ठावितो साधगस्सऽसती॥
१४७३. सो कालगते तम्मि उ,
गते विदेसम्मि तत्थ व अपुच्छा।
थेरे धारेति गणं,
भावनिसट्ठं अणुग्घाता॥

देश-दर्शन कर भिक्षु आया। उसने देखा कि स्थविर आचार्य अपने पद पर किसी को स्थापित किए बिना कालगत हो गए हैं। अशिवादि के कारणों से अथवा साधक के अभाव के कारण आचार्य पद दिया नहीं जा सका और जो योग्य है वह विदेश में है, वह भावनिसृष्ट—आचार्य द्वारा अनुज्ञात होने पर भी स्थाविरों को बिना पूछे यदि गण को धारण करता है तो उसे अनुद्घात अर्थात् चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१४७४. सयमेव दिसाबंधं, अणणुण्णाते करे अणापुच्छा।
थेरेहि य पडिसिद्धो, सुद्धा लग्गा उवेहंता॥

जो भिक्षु पूर्व आचार्य द्वारा अनुज्ञात होने पर भी स्थविरों को पूछे बिना स्वयं दिग्बंध (आचार्यपद ग्रहण करना) कर लेता है तो स्थविरों को प्रतिषेध करना चाहिए। यदि प्रतिषेध करने पर भी वह निवर्तित नहीं होता है तो स्थविर शुद्ध है तथा वह चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त का भागी होता है। यदि स्थविर उपेक्षा करते हैं तो वे उपेक्षा प्रत्ययिक चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

१४७५. सगणे थेरा ण संति, तिगथेरे वा तिगं उवट्ठाति।
सव्वाऽसति इत्तिरिय, धारेति न मेलितो जाव॥

स्वगण में स्थविर न हों तो त्रिक—कुल, गण और संघ के स्थविरों को पूछे। उनके पास जाकर कहे—आप मुझे आचार्यत्व की अनुज्ञा दें। यदि तीनों के स्थविर न मिलें तो स्वयं गण की इत्वरिक (अल्पकालिक आचार्यत्व की) दिशा को धारण करे, जब तक वह कुल आदि स्थविरों के द्वारा गण को प्राप्त न कर ले।

१४७६. जे उ अधाकप्पेणं, अणणुण्णातम्मि तत्थ साहम्मी।
विहरंति तमट्ठाए, न तेसि छेदो न परिहारो।

जो साधर्मिक मुनि यथाकल्प अर्थात् श्रुतोपदेश से सूत्र और अर्थ की प्राप्ति के लिए अनुज्ञात गच्छ में विहरण करते हैं, उन्हें प्रायश्चित्त स्वरूप न छेद आता है और न परिहार। (क्योंकि वे श्रुतोपदेश से सूत्र तथा अर्थ के लिए वहां उपसंपन्न हुए हैं, विषय लोलुपतावश नहीं।)

१४७७. भावपलिच्छायस्स उ, परिमाणट्ठाय होतिमं सुत्तं।
सुतचरणे उ पमाणं, सेसो य हवंति जा लद्धी॥

भाव परिच्छद के परिमाण का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र है। इससे श्रुत और चरण से प्रमाण कहा गया है। शेष जो आचार्य और उपाध्याय की लब्धियां होती हैं उनका भी प्रतिपादन किया जाता है।

१४७८. एक्कारसंगसुत्तत्थधारया नवमपुव्वकडजोगी।
बहुसुत-बहुआगमिया, सुत्तत्थविसारदा धीरा॥
१४७९. एतग्गुणोववेता, सुतनिघसा णायगा महाणस्स।
आयरिय-उवज्झाए, पवत्ति थेरा अणुण्णाता॥

जो ग्यारह अंगों के सूत्रार्थ धारक हैं, जो नवमपूर्व के धारक हैं (समस्त पूर्वसूत्र के धारक), कृतयोगी, बहुश्रुत, बहुत आगमों के अवधारक, सूत्रार्थविशारद, धीर अर्थात् चार प्रकार की बुद्धियों से अन्वित—इन गुणों से जो सहित हैं, जो श्रुतनिघर्ष (स्वसमय और परसमय के परीक्षक) हैं, जो नायक हैं—स्वगच्छवर्ती मुनियों के स्वामी हैं, महाजन अर्थात् समस्त संघ के आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर तथा गणावच्छेदी द्वारा अनुज्ञात हैं।

१४८०. आचारकुसल-संजम-पवयण-पण्णत्ति-संगहोवगहे।
अक्खुयअसबलऽभिन्न ऽसंकिलिट्ठायारसंपण्णे॥

आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल, उपग्रहकुशल तथा अक्षताचारसम्पन्न, अशबलाचारसम्पन्न, असंक्लिष्टाचारसंपन्न—इन शब्दों की व्याख्या १४८८/१ से १५२२ तक।

१४८१. अब्भुट्ठाणे आसण, किंकर अब्भासकरणमविभत्ती।
पडिरूवजोगजुंजण, नियोगपूजा जधाकमसो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४८२.अफरुस-अणवल-अचवलकुक्कुयमदंभगोमसीभरगा।
सहित-समाहित-उवहितगुणनिधि आयारकुसलो॥

अभ्युत्थान, आसन, किंकर, अभ्यासकरण, अविभक्ति, प्रतिरूपयोगयोजन, नियोग, पूजा—यथाक्रमशः। अपरुष, अणवलया, अचपल, अकुक्कुय, अदंभक, असीभरक, सहित, समाहित, उपहित, गुणनिधि, आचारकुशल। (इनकी व्याख्या ८३ से ८८ तक)

१४८३. अब्भुट्ठाणं गुरुमादी, आसणदाणं च होति तस्सेव।
गोसे व य आयरिए, संदिसहे किं करोमि त्ति॥

१४८४. अब्भासकरणधम्मुज्जुयाण अविभत्तसीसपाडिच्छे।
पडिरूवजोग जह पेढियाय जुंजण करेति धुवं॥

१४८५. पूयं जधाणुरूवं, गुरुमादीणं करेति कमसो उ।
ल्हादीजणणमफरुसं, अणवलया होतऽकुडिलत्तं॥

१४८६. अचवलथिरस्स भावो, अप्फंदणया य होति अकुयत्तं।
उल्लावलालसीभर, सहिता कालेण नाणादी॥

१४८७. सम्मं आहितभावो, समाहितो उवहितो समीवम्मि।
नाणादीणं तु ठितो, गुणनिहि जो आगर गुणाणं॥

१४८८. आयारकुसल एसो, संजमकुसलं अतो उ वोच्छामि।
पुढवादिसंजमम्मी, सत्तरसे जो भवे कुसलो॥

गुरु आदि के आने पर जो अभ्युत्थान करता है, उन्हें आसन देता है, प्रातःकाल ही आचार्य को निवेदन करता है—भंते! आप मुझे आदेश दें, मैं क्या करूं? धर्म के तत्वों के प्रति आत्मा की निकटता का अभ्यास करता है, शिष्य और प्रतिच्छक का विभाग नहीं करता, जैसे पीठिका में प्रतिरूपविनयाधिकार में प्रतिपादित है, वैसे ही योगों का ध्रुव व्यापरण करता है, गुरु आदि की यथानुरूप क्रमशः पूजा करता है, अपरुष अर्थात् प्रह्लादजनक वाणी बोलता है, अणवलया—अकुटिल होता है, अचपल अर्थात् स्थिर रहता है, अकौत्कुच्य—अस्पंद रहता है, असीभरक—जो बोलता हुआ दूसरों पर थूक नहीं उछालता, सहित—ज्ञान आदि के उचित काल से अन्वित होता है, जो स्वोचित तप आदि से समाहित होता है, जो उपहित अर्थात ज्ञान आदि के समीप स्थित है, जो गुणनिधि अर्थात् गुणों का आकर है, वह आचारकुशल है। अब मैं संयमकुशल की बात बताऊंगा। जो पृथ्वी आदि के संयम में कुशल होता है वह संयमकुशल होता है।

१४८८/१. पुढवि-दग-अगणि मारुय-
वणस्स-बि-ति-चउ-पणिंदि-अज्जीवो।
पेहुप्पेह-पमज्जण,
परिठवण मणो वई काए॥

सतरह प्रकार का संयम—पृथ्वीकायसंयम, अप्कायसंयम, अग्निकायसंयम, वायुकायसंयम, वनस्पतिकायसंयम, द्वीन्द्रिय-त्रिन्द्रिय-चतुन्द्रिय-पचेंन्द्रियसंयम, अजीवसंयम, प्रेक्षासंयम, उपेक्षासंयम, प्रमार्जनासंयम, परिष्ठापनासंयम, मनःसंयम, वचनसंयम, कायसंयम।

१४८९. अधवा गहणे निसिरण,
एसण-सेज्जा-निसेज्ज-उवधी य।
आहारे वि य सतिमं,
पसत्थजोगे य जुंजणया॥

१४९०. इंदिय-कसायनिग्गह,
पिहितासव जोग झाणमल्लीणो।
संजमकुसलगुणनिधी,
तिविधकरण भाव सुविसुद्धो॥

अथवा ग्रहण, निक्षेपण, एषणा, शय्या, निषद्या, उपधि, आहार में भी स्मृतिमान्, प्रशस्त योगों के व्यापरण— इंद्रिय निग्रह, कषाय निग्रह, पिहिताश्रव, योग, ध्यान, आलीन, संयमकुशल, गुणनिधि, त्रिविधकरणभाव से विशुद्ध। (इन दोनों गाथाओं की व्याख्या आगे की चार गाथाओं में।)

१४९१. गेण्हति पडिलेहेउं, पमज्जिउं तह य निसिरए यावि।
उवउत्तो एसणाएं, सेज्ज-निसेज्जोवहाहारे॥

१४९२. एतेसुं सव्वेसुं, जो ति ण पम्हुस्सते तु सो सतिमं।
जुंजति पसत्थमेव तु, मण-भासा-काय-जोगं तु॥

१४९३. सोतिंदियादियाणं निग्गहणं चेव तह कसायाणं।
पाणातिवाइयाणं, संवरणं आसवाणं च॥

१४९४. झाणेऽपसत्थ एयं, पसत्थझाणे य जोगमल्लीणो।
संजमकुसलो एसो, सुविसुद्धो तिविधकरणेणं॥

जो प्रतिलेखन पूर्वक वस्तु ग्रहण करता है, प्रमार्जनपूर्वक निक्षेपण करता है, जो एषणा, शय्या, निषद्या, उपधि और आहार में उपयुक्त रहता है, इन सभी संयमस्थानों को जो विस्मृत नहीं करता, सदा स्मृतिमान रहता है, जो मन, भाषा (वाणी), तथा काय के प्रशस्त योगों में प्रवृत्ति करता है, जो श्रोत्रेन्द्रिय आदि का निग्रहण करता है तथा जो कषायों का निग्रह करता है, जो प्राणातिपात आदि का संवरण करता है, आस्रवों का संवरण करता है, अप्रशस्त ध्यान का परिहार कर प्रशस्त ध्यान के योग में आलीन रहता है, वह संयमकुशल है, त्रिविधकरण और भाव से विशुद्ध है।

१४९५. सुत्तत्थहेतुकारण, वागरणसमिद्धचित्तसुतधारी।
पोराणदुद्धरधरो, सुतरयणनिधाणमिव पुण्णो॥

१४९६. धारिय-गुणिय समीहिय,
निज्जवणा विउलवायणसमिद्धो।
पवयणकुसलगुणनिधी,
पवयणऽहियनिग्गहसमत्थो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनकुशल वह होता है जो सूत्र और अर्थ को हेतु–कारण (अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक) से व्याकृत करने में समृद्ध है तथा चित्त–आश्चर्यभूत श्रुत को धारण करता है, जो पौराण और दुर्द्धर अर्थों को धारण करने में समर्थ होता है, जो श्रुतरत्न रूपी निधान से प्रतिपूर्ण है, जिसने प्रवचन को धारणा का विषय बनाया है, उसे गुणित अर्थात् बहुत बार परावर्तित किया है, उसे समीहित–पूर्वापर संबंध से जाना है, उसका निर्यापण–निर्दोष-रूप से निश्चित किया है, जो विपुल वाचना से समृद्ध है, जो प्रवचन में कुशल तथा उसके गुणों की निधि है, जो प्रवचन से आत्महित करने में समर्थ तथा प्रवचन का अहित करने वालों का निग्रह करने में समर्थ होता है।

१४९७. नयभंगाउलयाए, दुद्धर इव सद्दो होति ओवम्मे।
धारियमविप्पणट्ठं, गुणितं परिवत्तियं बहुसो॥
१४९८. पुव्वावरबंधेणं, समीहितं वाइयं तु निज्जवितं।
बहुविधवायणकुसलो, पवयणअहिए य निग्गिण्हे॥

नय और भंगों से अत्यंत गहन होने के कारण जो प्रवचन दुर्द्धर होता है–सामान्य व्यक्ति उसे समझ नहीं पाता। यहां 'इव' शब्द उपमा में प्रयुक्त है। जो ऐसे प्रवचन को अविनष्टरूप में धारण करता है, जिसने ऐसे प्रवचन को गुणित अर्थात् बहुत बार परावर्तित किया है, जिसने उसको समीहित–पूर्वापरसंबंध से सम्यक् जान लिया है, जिसने प्रवचन को वाचित अर्थात् आक्षेप-परिहारपूर्वक गुरु के पास निर्यापित अर्थात् निर्णीत अर्थ से ज्ञानगत कर लिया है, तथा जो अनेक प्रकार की वाचनाओं में कुशल है और प्रवचन का अहित करने वालों का निग्रह करने में समर्थ है, वह प्रवचनकुशल कहलाता है।

१४९९. लोगे वेदे समए, तिवग्गसुत्तत्थगहितपेयालो।
धम्मत्थ-काम-मीसग, कधासु कहवित्थरसमत्थो॥
१५०० जीवाजीवा बंधं, मोक्खं गतिरागतिं सुहं दुक्खं।
पण्णत्तीकुसलविद्, परवादिकुदंसणे महणो॥

जिसने लौकिक, वैदिक तथा सामयिक–इस त्रिवर्ग के सूत्रार्थ के परिमाण को ग्रहण कर लिया है, जो धर्मकथा, अर्थकथा, कामकथा और मिश्रकथा का विस्तार से कथन करने में समर्थ है तथा जो जीव, अजीव, बंध, मोक्ष, गति, आगति, सुख-दुःख की प्ररूपणा में कुशल तथा परवादियों के कुदर्शन का मथन करने में समर्थ है, वह प्रज्ञप्तिकुशल होता है।

१५०१. पण्णत्तीकुसलो खलु, जह खुड्डगणी मुरुंडराईणं।
पुट्ठो कध न वि देवा, गतं पि कालं न याणंति॥
१५०२. तो उट्ठितो गणधरो, राया वि य उट्ठितो ससंभंतो।
अध खीरासवलद्धी, कधेति सो खुड्डगगणी उ॥
१५०३. जाहे य पहरमेत्तं, कथियं न य मुणति कालमध राया।
तो बेति खुड्डगगणी, रायाणं एव जाणाहि॥
१५०४. जध उट्ठितेण वि तुमे, न वि णातो एत्तिओ इमो कालो।
इय गीत-वादियविमोहिया उ देवा न जाणंति॥
१५०५. अब्भुवगतं च रण्णा, कधणाए एरिसो भवे कुसलो।
ससमयपरूवणाए, महेति सो कुसमए चेव॥

एक बार मुरुंड राजा ने प्रज्ञप्तिकुशल क्षुल्लकगणी से पूछा–'भंते!' बीते हुए काल को देवता क्यों नहीं जानते? प्रश्न पूछने के साथ ही गणधर क्षुल्लकगणी अपने आसन से उठे। गणी को खड़े देखकर राजा भी संभ्रांत होकर खड़ा हो गया। क्षुल्लकगणी क्षीराश्रवलब्धि से सम्पन्न थे। वे व्याख्यान देने लगे। एक प्रहर बीत गया। राजा एक प्रहर के कथन-काल को जान नहीं सका। तब क्षुल्लकगणी ने राजा से कहा–जैसे तुम खड़े-खड़े एक प्रहरकाल को नहीं जान पाए, उसी प्रकार देवता भी गीत-नृत्य वादित्र आदि में मूढ़ होकर प्रभूत काल को नहीं जान पाते। राजा ने गणी के कथन को स्वीकार किया और जान लिया कि कथन करने में–प्रज्ञप्ति में ऐसा कुशल भी होता है। जो स्वसमय की प्ररूपणा में तथा कुसमय के मथने में कुशल होता है वह प्रज्ञप्तिकुशल कहलाता है।

१५०६. दव्वे भावे संगह, दव्वे तू उक्ख हारमादी तु।
साहिल्लादी भावे, परूवणा तस्सिमा होति॥

संग्रह के दो प्रकार हैं–द्रव्यसंग्रह और भावसंग्रह। उक्ष–बैल तथा आहार आदि का संग्रह द्रव्यसंग्रह है। भाव विषयक संग्रह है–साहाय्य आदि का। उसकी यह प्ररूपणा है।

१५०७. साहिल्ल वयण-वायण-
अणुभासण-देस-कालसंसरणं।
अणुकंपणमणुसासण,
पूयणमब्भंतरं करणं॥
१५०८. संभुंजण संभोगे, भत्तोवधिअन्नमन्नसंवासो।
संगहकुसलगुणनिधी, अणुकरणकरावणनिसग्गो॥

साहिज्ज–सहायकृत्यकरण वचन, वाचना, अनुभाषण, देश-काल संस्मरण, अनुकंपन, अनुशासन, पूजन, अभ्यंतरकरण, संभोग से संभोजन, भक्त, उपधि, अन्योन्यावास, संग्रहकुशल गुणनिधि अनुकरण–कारापण निसर्ग। (इन शब्दों की व्याख्या अगली गाथाओं में।)

१५०९. वयणे तु अभिग्गहियस्स, केणती तस्स उत्तरं भणति।
वायणाए किलंते उ, गुरुम्मी वायणं देती॥
१५१०. साधूणं अणुभासति, आयरिएणं तु भासिते संते।
सारेताऽऽयरियाणं, देसे काले गिलाणादी॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५११. दुक्खत्ते अणुकंपा, अणुसासण भज्जमाणरुट्ठे वा।
जो वा जहुत्तकारी, अणुसासणकिच्चमेतं तु
१५१२. पूयण अधागुरूणं, अब्भंतर दोण्ह उल्लवेंताणं।
ततियं कुणती बहिया, बेति गुरूणं च तं इट्ठो॥
१५१३. संभुंजण संभोगेण, भुज्जते जस्स कारगं भत्तं।
तं घेत्तुमप्पणागं, देती एमेव उवहिं पि॥
१५१४. अणुकरणं सिव्वण लेवणादि,अणुभासणा तु दुम्मेधो।
एरिस तस्स निसग्गो, जं भणियं एरिससभावो॥

वचन विषयक–किसी ने अभिग्रह अर्थात् मौनव्रत ले लिया है। उस स्थिति में किसी के प्रश्न पूछने पर जो उसका उत्तर देता है, वह वचनसंग्रहकुशल है। वाचना देते हुए गुरु क्लांत होने पर स्वयं साधुओं को वाचना देना, आचार्य के बोलने के पश्चात् बोलना, ग्लान आदि की दृष्टि से देश-काल के अनुसार आचार्य को स्मृति दिलाना, दुःखार्त्त के प्रति अनुकंपा रखना, जो मुनि संयम से च्युत हो रहे हों उन पर अनुशासन करना, अथवा जो यथोक्तकारी नहीं होता उस पर अनुशासन करते हुए कहना कि यह तुम्हारे लिए अकृत्य है, यथाक्रम गुरुजनों की पूजा करना, अभ्यंतरकरण अर्थात् दो मुनि परस्पर महत्वपूर्ण विचार-विमर्श कर रहे हों और तीसरा उसे सुन रहा हो तो उसे बाहर करना अथवा जो स्वयं को इष्ट हो वह भीतर जाकर गुरु को कहना।

जो सांभोगिकों के साथ भोजन करता है, अथवा जो जिसका कारक–उपकारक होता है, वह भक्त–आहार आदि स्वयं लाकर उसको देता है, इसी प्रकार उपधि भी स्वयं लाकर उसको देता है। अनुकरण अर्थात् मुनि को सीवन, लेपन आदि करते देखकर कहता है–इच्छाकार से मैं यह तुम्हारा कार्य कर दूंगा। वह स्वयं उस कार्य को करता है अथवा दूसरों से भी कहकर वह मंद मुनि के लिए कार्य करवाता है। यह उसका निसर्ग स्वभाव है। ऐसे स्वभाव वाला होता है संग्रहकुशल।

१५१५. बाला सहु वुड्ढेसुं संत तवकिलंतवेयणातंके।
सेज्ज-निसेज्जोवधि-पाणमसण-भेसज्जुवग्गहिते॥
१५१६. दाण-दवावण-कारावणेसु, करणे य कतमणुण्णाए।
उवहितमणुवहितविधी, जाणाहि उवग्गहं एयं॥

बाल, असह, वृद्ध, श्रांत, तपःक्लांत, वेदना, आतंक, शय्या, निषद्या, उपधि, पानक, अशन, भेषज, औपग्रहिक–इनको देना, दिलाना, कराना, कृत-अनुज्ञात, उपहित, अनुपहित विधि को जानना–इन सब उपग्रहों को जानता है। (इनकी व्याख्या अगले श्लोकों में।)

१५१७. बालादीणं तेसिं, सेज्जनिसेज्जोवधिप्पदाणेहिं।
भत्तऽन्नपाण-भेसजमादीहि उवग्गहं कुणति॥
१५१८. देति सयं दावेति य, करेति कारावए य अणुजाणे।
उवहित जं जस्स गुरुहिं, दिण्णं तं तस्स उवणेति॥
१५१९. अणुवहितं जं तस्स उ, दिन्नं तं देति सो उ अन्नस्स।
खमासमणेहि दिण्णं, तुब्भं ति उवग्गहो एसो॥

इन बाल, असमर्थ, वृद्ध आदि को शय्या, निषद्या, उपधि देने तथा भक्त, अन्न, पान, भैषज आदि देकर उपग्रह करता है, स्वयं उनको ये सारी चीजें देता है, दिलाता है, स्वयं वैयावृत्त्य आदि करता है अथवा दूसरों से करवाता है तथा करने वाले का अनुमोदन करता है यह उपग्रह है। तथा गुरु ने जिसको जो दिया है, उसको वह देता है, यह उपहित विधि है। जिसको जो दिया है उसको वह गुरु की आज्ञा से दूसरों को यह कहकर देता है कि क्षमाश्रमण ने तुमको यह दिया है। यह अनुपहितविधि है। यह उपग्रह है। ऐसा मुनि उपग्रहकुशल होता है।

१५२०. आधाकम्मुद्देसिय, ठविय रइय कीय कारियच्छेज्जं।
उब्भिण्णाऽऽहडमाले, वणीमगाऽऽजीवग निकाए॥
१५२१. परिहरति असण-पाणं,सेज्जोवधिपूति-संकितं मीसं।
अक्खुतमसबलमभिन्नऽसंकिलिट्ठमावासए जुत्तो॥

जो आधाकर्मिक, औद्देशिक, स्थापित, रचित– पात्र में आहार रखकर उसके चारों ओर बहुविध व्यंजन सजाना, क्रीत–खरीदा हुआ, कारित, आच्छेद्य–भृतक आदि के आहार का छेदन कर देना, उद्भिन्न–पात्र के स्थगितमुख को खुलाकर लेना, आहृत, मालापहृत, वनीपक पिंड, आजीवन–जाति आदि जता कर लेना, निकाचित–इतना देना है–इस प्रकार प्रतिज्ञाबद्ध कर लेना–जो इस प्रकार के अन्न-पान, शय्या, उपधि तथा पूति, शंकित और मिश्रजात का परिहार करता है और आवश्यक में युक्त होता है वह अक्षताचार, अशबलाचार, अभिन्नाचार तथा असंक्लिष्ट आचार वाला होता है। अथवा जो स्थापित आदि का परिहार करता है वह अक्षताचार, जो अभ्याहृत आदि का परिहारी होता है वह अशबलाचार, जात्योपजीवी का परिहारी अभिन्नाचार तथा दोष परिहारी असंक्लिष्टाचार वाला होता है।)

१५२२. ओसन्न खुयायारो, सबलायारो, य होति पासत्थो।
भिन्नायारकुसीलो, संसत्तो संकिलिट्ठो उ॥

जो अवसन्न–आवश्यक आदि में अनुद्यमी होता है वह क्षताचार होता है, जो उद्गम आदि भोजी पार्श्वस्थ शबलाचार होता है, जो जात्यादि से जीवन चलाता है वह कुशील मुनि भिन्नाचार होता है जो स्थापितभोजी होता है वह संसक्त और जो संक्लिष्ट होता है वह संक्लिष्टाचार होता है।

१५२३. तिविधो य पकप्पधरो, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव।
सुत्तधरवज्जियाणं, तिग-दुगपरिवड्ढणा गच्छे॥

प्रकल्पधर के तीन प्रकार हैं–सूत्रतः, अर्थतः तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदुभयतः। प्रकल्पधारियों की यह चतुर्भंगी है—

१. सूत्रधर नोअर्थधर २. नोसूत्रधर अर्थधर ३. सूत्रधर अर्थधर ४. नोसूत्रधर नोअर्थधर।

पहले भंगवर्ती 'सूत्रधर नोअर्थधर' को वर्जित कर तीसरे तथा दूसरे भंगवर्ती मान्य हैं।

१५२४. पुव्वं वण्णेऊणं, दीहं परियागसंघयणसद्धं।
दसपुव्वीए धीरे, मज्जाररडिय परूवणया॥

शिष्य ने पूछा—भंते! पहले आचार्यपद योग्य के लिए दीर्घश्रामण्य पर्याय, विशिष्ट संहनन, उत्तम श्रद्धा, दशपूर्व का ज्ञान तथा धीर—बुद्धिचतुष्टय से युक्त ऐसा वर्णन किया था। (अब जो यह प्ररूपणा की जाती है कि त्रिवर्ष पर्यायवाला आचार-प्रकल्पधर तथा पंचवर्ष पर्यायवाला दशाकल्पव्यवहारधर उपाध्याय हो सकता है।) यह प्ररूपणा मार्जाररटित प्ररूपणा के समान है।[1]

१५२५. पुक्खरिणी आयारे, आणयणा तेणगा य गीतत्थे।
आयारम्मि उ एते, आहरणा होंति नायव्वा॥

आचार्य विषयक ये चार उदाहरण ज्ञातव्य हैं— पुष्करिणी, आचारप्रकल्पानयन, स्तेनक तथा गीतार्थ।

१५२६. सत्थपरिण्णा छक्कायअधिगमं पिंड उत्तरज्झाए।
रुक्खे व वसभ गावे, जोधा सोही य पुक्खरिणी॥

शस्त्रपरिज्ञा षट्कायाधिगम, पिंड, उत्तराध्ययन, वृक्ष, वृषभ, गौ, गोधा, शोधि तथा पुष्करिणी। (सभी मिलाने पर ४+९=१३ उदाहरण हुए।)

१५२७. पुक्खरिणीओ पुव्विं,जारिसया तो ण तारिसा एण्हिं।
तह वि य ता पुक्खरिणी, हवंति कज्जा य कीरंति॥

प्राचीनकाल में जैसी पुष्करिण्यां थीं आज वैसी नहीं हैं, फिर भी उन पुष्करिणियों से कार्य किए जाते हैं।

१५२८. आयारपकप्पे ऊ, नवमे पुव्वम्मि आसि सोधी य।
तत्तो च्चिय निज्जूढो, इधाणितो एण्हि किं न भवे?॥

नौवें पूर्व के आचार प्रकल्प से शोधि होती थी, वहीं से निर्यूढ आचारांग का आचारप्रकल्प है। क्या उससे शोधि नहीं होती?

१५२९. तालुग्घाडिणी ओसावणादि, विज्जाहि तेणगा आसि।
एण्हिं ताउ न संती, तधावि किं तेणगा न खलु॥

प्राचीनकाल में चोरों के पास तालोद्घाटिनी, अवस्वापिनी विद्याएं होती थीं। आज वे विद्याएं नहीं हैं, फिर भी क्या आज चोर नहीं हैं?

१५३०. पुव्विं चोद्दसपुव्वी एण्हि जहण्णो पकप्पधारी उ।
मज्झिमगकप्पधारी, कह सो उ न होति गीतत्थो॥

प्राचीन काल में चतुर्दशपूर्वी गीतार्थ होता था। आज जघन्य प्रकल्पधारी अथवा मध्यम प्रकल्पधारी होता है। क्या वह गीतार्थ नहीं होता?

१५३१. पुव्विं सत्थपरिण्णा, अधीत-पढिताइ होउवट्ठवणा।
एण्हिं छज्जीवणिया, किं सा उ न होउवट्ठवणा॥

पहले आचारांग के अंतर्गत जो शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन है, उसको अर्थतः तथा सूत्रतः पढ़ लेने पर उपस्थापना दी जाती थी। तो क्या आज वह उपस्थापना दशवैकालिकान्तर्गत षड्जीवनिका को अर्थतः और सूत्रतः पढ लेने पर नहीं दी जा सकती?

१५३२. बितियम्मि बंभचेरे, पंचमउद्देस आमगंधम्मि।
सुत्तम्मि पिंडकप्पी, इह पुण पिंडेसणा एसो॥

प्राचीनकाल में आचारांग के दूसरे अध्ययन के पांचवें ब्रह्मचर्याख्य उद्देशक के 'आमगंधी' सूत्र को अर्थतः तथा सूत्रतः पढ़ लेने पर मुनि पिंडकल्पी होता था। आज दशवैकालिक के अंतर्भूत पिंडैषणा को पढ़ लेने पर पिंडकल्पी हो जाता है।

१५३३. आयारस्स उ उवरिं, उत्तरझयणाणि आसि पुव्विं तु।
दसवेयालिय उवरिं, इयाणि किं ते न होंति उ॥

प्राचीन काल में आचारांग के पश्चात् उत्तराध्ययन पढ़ा जाता था, आज दशवैकालिक के पश्चात् उत्तराध्ययन पढ़ा जाता है। क्या वे वैसे नहीं होते?

१५३४. मत्तंगादी तरुवर, न संति एण्हिं न होंति किं रुक्खा।
महजूहाहिव दप्पिय, पुव्विं वसभाण पुण एण्हिं॥

पूर्व में मत्तंग आदि तरुवर (कल्पवृक्ष) होते थे, आज वे नहीं हैं तो क्या आज अन्यान्य वृक्ष नहीं होते? पूर्वकाल में महायूथाधिपति दर्पिक वृषभ होते थे। आज वैसे नहीं हैं।

१५३५. पुव्विं कोडीबद्धा जूहाओ नंदगोवमादीणं।
एण्हिं न संति ताइं, किं जुहाइं न होंती उ॥

प्राचीनकाल में नंद, गोप आदि के कोटिबद्ध गायों के यूथ थे। आज इतने बड़े यूथ नहीं हैं, फिर भी क्या गायों के यूथ नहीं होते?

१५३६.साहस्सी मल्ला खलु,महपाणा पुव्वि आसि जोहाओ।
ते तुल्ला नत्थेण्हिं, किं ते जोधा न होंती उ॥

प्राचीनकाल में महाप्राण सहस्रमल्ल योधा होते थे। आज उनके तुल्य योधा नहीं हैं, फिर भी क्या आज योधा नहीं होते?

---

१. जैसे मार्जारि पहले जोर से बोलती है और फिर धीरे-धीरे बोलने लगती है। इसी प्रकार आपने भी आचार्यपदयोग्य की बड़ी-बड़ी विशेषताएं बतलाकर अब बहुत कम विशेषताओं पर आ गए। आचार्य ने कहा—ठीक है। पहले जो कहा वह यथोक्तन्याय के आधार पर कहा था और अब कालानुरूप प्ररूपणा की जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५३७.पुव्विं छम्मासेहिं, परिहारेणं व आसि सोधी तु।
सुद्धतवेणं निव्वितियादी एण्हिं वि सोधी तु॥

पूर्वकाल में छह माह के परिहारतप से अथवा शुद्धतप से शोधि होती थी। आज निर्विकृतिक आदि से शोधि होती है।

१५३८. किध पुण एवं सोधी,
जह पुव्विल्लासु पच्छिमासुं च।
पुक्खरिणीसुं वत्थादियाणि
सुज्झंति तध सोधी॥

निर्विकृतिक आदि से शोधि कैसे हो सकती है? आचार्य ने कहा—जैसे प्राचीनकाल की पुष्करिणियों में वस्त्र आदि शुद्ध होते थे, आज भी पुष्करिणियों में वे शुद्ध होते है, इसी प्रकार शोधि पूर्वकाल की भांति आज भी होती है।

१५३९. एवं आयरियादी, चोद्दसपुव्वादि यासि पुव्विं तु।
एण्हिं जुगाणुरूवा, आयरिया होंति नायव्वा॥

प्राचीनकाल में आचार्य आदि चतुर्दशपूर्वी होते थे। आज युगानुरूप आचार्य होते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

१५४०. तिवरिसएगट्ठाणं, दोन्नि य ठाणा उ पंचवरिसस्स।
सव्वाणि विकिट्ठो पुण, वोढुं वा एति ठाणाइं॥

त्रिवर्ष श्रमण पर्याय वाले के लिए एक स्थान—उपाध्याय लक्षणवाला, पंचवर्ष पर्यायवाले के लिए दो स्थान—आचार्य और उपाध्याय अनुज्ञात हैं। विकृष्ट अर्थात् आठ वर्ष पर्याय वाला सभी स्थानों का वहन करने में समर्थ होता है। (वे स्थान हैं—उपाध्यायत्व, आचार्यत्व, गणित्व, प्रवर्तित्व, स्थविरत्व तथागणावच्छेदित्व।)

१५४१. नोइंदिइंदियाणि य, कालेण जियाणि तस्स दीहेण।
कायव्वेसु बहूसु य, अप्पा खलु भावितो तेणं॥

जो दीर्घ श्रमण पर्याय (अष्टवर्षीय पर्याय) वाला होता है वह इंद्रियों और नोइंद्रिय पर विजय प्राप्त कर लेता है। बहुत कर्त्तव्यों में उसकी आत्मा भावित होती है। इसलिए सभी स्थान उसके लिए अनुज्ञात हैं।

१५४२. उस्सग्गस्सऽववादो, होति विवक्खो उ तेणिमं सुत्तं।
नियमेण विकिट्ठो पुण, तस्सासी पुव्वपरियाओ॥

उत्सर्ग सूत्र का विपक्ष होना है अपवाद सूत्र। इसलिए इस अपवादसूत्र का कथन है। नियमतः जिसका पूर्व पर्याय विकृष्ट अर्थात् बीस वर्ष का था, उसे जिस दिन वह प्रव्रज्या लेता है, उसी दिन उपाध्याय अथवा आचार्य के रूप में उद्दिष्ट किया जा सकता है।

१५४३. चोदेति तिवासादी, पुव्वं वण्णेउ दीहपरियागं।
तद्दिवसमेव एण्हिं, आयरियादीणि किं देह॥

शिष्य ने पूछा—भंते! पहले आपने त्रिवर्षीय दीर्घ श्रमण-पर्याय का वर्णन कर—कथन कर अब यह कहते हैं कि प्रव्रज्या लेने के दिन ही मुनि को आचार्यत्व आदि का भार दिया जा सकता है, यह कैसे?

१५४४. भण्णति तेहि कयाइं, वेणइयाणं तु उवधिभत्तादी।
गुरुबालासहुमादी, णेगपगारा उवग्गहिता॥

आचार्य कहते हैं—शिष्य! वे आचार्य आदि पदयोग्य वैनयिकों के लिए उपधि और भक्त का उत्पादन कर चुके हैं। तथा गुरु, बाल, असहाय आदि का अनेक प्रकार से उपग्रह कर चुके हैं।

१५४५. ताइं पीतिकराइं, असई अदुव त्ति होंति थेज्जाइं।
वेसिय अणवेक्खाए, जिम्ह जढाइं तु विस्संभो॥

उन्होंने अनेक कुलों को एक बार ही नहीं किंतु अनेक बार प्रीतिकर किया है अथवा निरपेक्षतया उन कुलों को विशेष एषणीय बनाया है, उन्हें मायारहित तथा विश्वसनीय बनाया है।

१५४६. सव्वत्थअविसमत्तेण, कारगो होति सम्मुदी नियमा।
बहुसो य विग्गहेसुं, अकासि गणसम्मुदिं सो उ॥

उन्होंने उन कुलों को सभी प्रयोजनों के लिए अविषमतया प्रयोजनकारी बनाया है। अनेक विग्रहों में उन कुलों को गण के अनुकूल बनाया है तथा स्वयं भी गण-विग्रहों का उपशमन कर अनुकूल वातावरण का निर्माण किया है।

१५४७. थिरपरिचियपुव्वसुतो, सरीरथामावहार विजढो उ।
पुव्विं विणीतकरणो, करेति सुत्तं सफलमेयं॥

वह स्थिर है। उसके पूर्वश्रुत परिचित है। वह शारीरिक शक्ति का अपलाप नहीं करता। वह पूर्वपर्याय में विनीतकरण—अर्थात् संयमयोगों में मन-वचन-काया को लगाए रखता है। ऐसा मुनि ही इस सूत्र को सफल करता है।

१५४८. किह पुण तस्स निरुद्धो,
परियाओ होज्ज तद्दिवसतो उ।
पच्छाकड सावेक्खो,
सण्णातीहिं बलाणीतो॥

उस मुनि का पूर्व पर्याय निरुद्ध कैसे हुआ और कैसे तद्दिवसभावी पर्याय हुआ? इसका समाधान है कि वह गच्छ-सापेक्ष मुनि स्वजनों से बलात् लाया गया था।

१५४९. पव्वज्ज अप्पपंचम, कुमारगुरुमादि उवधि ते नयणं।
निज्जंतस्स निकायण, पव्वइते तद्दिवसपुच्छा॥

एक राजकुमार अपने चार मित्रों—अमात्यपुत्र, पुरोहितपुत्र, सेनापतिपुत्र तथा श्रेष्ठीपुत्र के साथ प्रव्रजित हुआ। आचार्य ने सभी को गुरु आदि पद पर स्थापित कर दिया। राजकुमार को आचार्यपद पर, अमात्यपुत्र को उपाध्यायपद पर, पुरोहितपुत्र को स्थविरपद पर, श्रेष्ठीपुत्र को गणावच्छेदी के रूप में तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेनापतिपुत्र को प्रवर्तकपद पर स्थापित कर दिया।

एक दिन राजा, पुरोहित आदि ने आकर सूरी से माया-कपटपूर्वक वचन कहकर पांचों को अपने साथ ले गए। जब पांचों जाने लगे तब सूरी ने उनको निकाचन–नियम दिलाते हुए कहा–सम्यक्त्वपूर्वक नियम में अप्रमत्त होकर रहना। पांचों पुत्रों को उनके स्वजन साथ ले गए। शिष्य ने आचार्य से पूछा–पांचों के पुनः प्रव्रजित होने पर जिस दिन उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की थी, उसी दिन उनको आचार्य आदि पद कैसे दे दिया?

१५५०. पियरो व तावसादी, पव्वइउमणा उ ते फुरावेंति।
ठविता रायादीसुं, ठाणेसुं ते जधाकमसो॥

(उनको ले जाने का प्रकारांतर) उन पांचों के माता-पिता तापस रूप में प्रव्रजित होना चाहते हैं–इस माया से उनके स्वजन उनका अपहरण कर लेते हैं और फिर राजा उनको यथाक्रम अपने-अपने स्थान पर स्थापित कर देते हैं। (राजकुमार को राजा के रूप में, अमात्यपुत्र को अमात्य के रूप में आदि-आदि।)

१५५१. नीता वि फासुभोजी, पोसधसालाए पोरिसीकरणं।
धुवलोयं च करेंती, लक्खणपाढे य पुच्छंती॥

१५५२. जो तत्थऽमूढलक्खा, रितुकाले तीय एक्कमेक्कं तु।
उप्पाएऊण सुतं, ठावित ताधे पुणो एंति॥

राजपुत्र आदि को घर ले जाने पर भी वे प्रासुकभोजी, पौषधशाला में प्रतिदिन सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी करने वाले, लोच अवश्य करने वाले, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले थे। माता-पिता द्वारा पुत्रोत्पत्ति की प्रेरणा पाकर वे लक्षण-पाठकों को पूछते कि किस महिला के ऋतुकाल में गर्भ रह सकता है? जो महिला ऋतुकाल में अमूढलक्षवाली अर्थात् ऋतुकाल की ज्ञात्री होती उस-उस अपनी महिला में एक-एक बार बीज वपन करते। इस प्रकार अपना-अपना पुत्र उत्पादित कर, वे प्रव्रज्या के लिए पुनः आचार्य के पास आ जाते हैं। (प्रव्रजित हो जाते हैं)

१५५३. अब्भुज्जतमेगतरं, पडिवज्जिउकाम थेरऽसति अन्ने।
तद्दिवसमागते ते, ठाणेसु ठवेंति तेसेवं॥

जिस दिन वे पांचों पुनः प्रव्रजित हुए उसी दिन स्थविर आचार्य किसी एक अभ्युद्यत विहार–जिनकल्पिक अथवा यथालंदिक को स्वीकार करने के इच्छुक होते हैं तथा दूसरा कोई समर्थ गणधर न होने के कारण उसी दिन आए हुए राजकुमार आदि को आचार्यत्व आदि के रूप में स्थापित करते हैं। तब शिष्य पुनः वही पृच्छा करता है।

१५५४. कह दिज्जति तस्स गणो,तद्दिवसं चेव पव्वतियगस्स।
भण्णति तम्मि य ठविते, होंती सुबहू गुणा उ इमे॥

उसी दिन प्रव्रजित व्यक्ति को गण का भार कैसे दिया जाता है? आचार्य कहते हैं–उसको स्थापित करने से ये प्रभूतगुण निष्पन्न होते है।

१५५५. साधू विसीयमाणे, अज्जा गेलण्ण भिक्ख उवगरणे।
ववहारइत्थियाए, वादे य अकिंचणकरे य॥

१५५६. एते गुणा भवंती, तज्जाताणं कुडुंबपरिवुड्ढी।
ओहाणं पि य तेसिं, अणुलोमुवसग्गतुल्लं तु॥

विषादग्रस्त साधु स्थिर हो जाते हैं। आर्यिकाएं भी स्थिर हो जाती हैं। ग्लान को औषधप्राप्ति सुलभ हो जाती है। भिक्षा और उपकरणों की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। स्त्रियों के अर्थात् साध्वियों के अपहृत होने पर व्यवहार–न्याय प्राप्त हो सकता है। वाद में अपराजय होता है। साधुओं के प्रत्यनीक व्यक्ति अकिंचित्कर हो जाते हैं। कुटुंब अर्थात् गण की परिवृद्धि होती है। उन व्यक्तियों (राजपुत्र आदि) का अवधावन– उत्प्राव्रजन भी अनुलोमोपसर्ग तुल्य होता है।[1]

१५५७. साहूणं अज्जाण य, विसीदमाणाण होति थिरकरणं।
जदि एरिसा वि धम्मं, करेंति अम्हं किमंग पुणो॥

जो साधु और आर्यिकाएं विषादग्रस्त होती हैं, उनका स्थिरीकरण होता है। राजकुमार आदि को प्रव्रजित देखकर अन्यान्य लोग सोचते हैं कि जब ऐसे ऐश्वर्य संपन्न लोग भी धर्म करते हैं तो हमारे जैसे प्राणियों के लिए तो क्या? हमें सदा धर्म का समाचरण करना चाहिए।

१५५८. किं च भयं गोरव्वं, बहुमाणं चेव तत्थ कुव्वंति।
गेलण्णोसहिमादी, सुलभं उवकरण-भत्तादी॥

राजकुमार आदि के आचार्य बनने पर लोग उनका भय मानते हैं तथा गौरव और बहुमान करते हैं। ग्लान के लिए औषध आदि तथा उपकरण और भक्त सुलभ होते हैं।

१५५९. संजतिमादी गहणे, ववहारे होति दुप्पधंसो उ।
तग्गोरवा उ वादे, हवंति अपराजिता एव॥

संयती आदि का अपहरण कर लेने पर व्यवहार– राजकार्य में राजकुमार आदि दुष्प्रधृष्य होते हैं। उनके गौरव के कारण अन्यान्य साधु वाद में अपराजित ही होते है।

१५६०. पडिणीय अकिंचकरा, होंति अवत्तव्वअट्टजाते य।
तज्जायदिक्खिएणं, होति विवड्ढी वि य गणस्स॥

साधुओं के प्रत्यनीक व्यक्ति अकिंचित्कर होते हैं। प्रयोजन होने पर अर्थ–धन की याचना करनी नहीं होती, वह अवक्तव्य होती है, स्वतः पूरी हो जाती है। राजा आदि से संबंधित (राजकुमार आदि) व्यक्ति के दीक्षित होने पर गण की विवृद्धि

१. किसी व्यक्ति ने साधु के प्रति अनुकूल उपसर्ग उत्पन्न किया। साधु ने सोचा–इस उपसर्ग से मुक्त होने का एक ही मार्ग है कि मैं इसकी प्रतिसेवना करूं। वह तब अशठभाव से प्रतिसेवना में प्रवृत्त होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है।

१५६१. अपवदितं तु निरुद्धे, आयरियत्तं तु पुव्वपरियाए।
इमओ पुण अववादो, असमत्तसुयस्स तरुणस्स॥

पूर्वपर्याय के निरुद्ध होने पर आचार्यत्व अपवादस्वरूप अनुज्ञात है। असमाप्तश्रुत तरुण मुनि को आचार्यत्व अपवादस्वरूप अनुज्ञात है। यह पूर्वसूत्र से इस सूत्र का संबंध है।

१५६२. तिण्णी जस्स य पुण्णा,
वासा पुण्णेहि वा तिहि उ तं तु।
वासेहि निरुद्धेहिं,
लक्खणजुत्तं पसंसंति॥

व्रतपर्याय के तीन वर्ष पूर्ण होने पर अथवा पूर्ण न होने पर अथवा निरुद्ध होने पर भी (आचार्य के कालगत हो जाने पर) असमाप्तश्रुत लक्षणयुक्त ही गणधर के रूप में स्थापित होता है। लोग उसकी ही प्रशंसा करते हैं।

१५६३. किं अम्ह लक्खणेहिं, तव-संजमसुट्ठियाण समणाणं।
गच्छविवड्ढिनिमित्तं, इच्छिज्जति सो जहा कुमरो॥

शिष्य ने कहा—हम तप-संयम में सुस्थित श्रमणों के लिए लक्षणों से क्या प्रयोजन? आचार्य ने कहा—गच्छ की विवृद्धि के लिए लक्षणयुक्त गणधर ही इष्ट होता है। जैसे राज्य की विवृद्धि के लिए लक्षणयुक्त कुमार ही इष्ट होता है।

१५६४. बहुपुत्तओ नरवती, सामुद्दं भणति कं ठवेमि निवं।
दोस-गुण एगऽणेगे, सो वि य तेसिं परिकधेति॥

एक राजा के अनेक पुत्र हैं। वह सामुद्रिक शास्त्रवेत्ता से पूछता है—मैं किस राजकुमार को राजा के रूप में स्थापित करूं। तब वह शास्त्रविद् राजकुमारों के एक या अनेक गुण-दोष बताता है।

१५६५. निद्धूमगं च डमरं, मारी-दुब्भिक्ख-चोर-पउराइं।
धण-धन्न-कोसहाणी, बलवति पच्चंतरायाणो॥

ये दोष हैं—१. निधूर्मक—इसके प्रभाव से राज्य में चूल्हा जलना ही नहीं। २. डमर—राज्य स्वदेशोत्थ विप्लवमय रहता है। ३. मारि ४. दुर्भिक्ष ५. चोरप्रचुर ६. धनहानि ७.धान्य-हानि ८. कोशहानि तथा ९. प्रत्यन्त राजा बलवान् होंगे। किसी राजकुमार में एक, किसी में अनेक और किसी में सारे दोष हैं।

१५६६. खेमं सिवं सुभिक्खं, निरुवस्सग्गं गुणेहि उववेतं।
अभिसिंचंति कुमारं, गच्छे वि तयाणुरूवं तु॥

ये गुण हैं—१. क्षेम २. शिव ३. सुभिक्ष ४. निरुपसर्ग—कोई एक गुण से, कोई अनेक गुणों से और कोई सभी गुणों से युक्त हैं। राजा उस राजकुमार का अभिषेक करता है जो दोषों रहित तथा गुणों से युक्त हो। उसी प्रकार गच्छ में भी तथानुरूप मुनि को गणधरपद पर नियुक्त किया जाता है।

१५६७. जह ते रायकुमारा सलक्खणा जे सुहा जणवयाणं।
संतमवि सुतसमिद्धं, न ठवेंति गणे गुणविहूणं॥

जैसे लक्षणयुक्त राजकुमार को राजा के रूप में स्थापित करने पर वह जनपदों के लिए कल्याणकारी होता है वैसे ही आचार्य भी श्रुतसमृद्ध शिष्य को गणधरपद पर स्थापित करते हैं, गुणविहीन शिष्य को नहीं।

१५६८. लक्खणजुत्तो जइ वि हु,
समिद्धो सुतेण तह वि तं ठवए।
तस्स पुण होति देसो,
असमत्तो पकप्पणामस्स॥

जो श्रुतसमृद्ध न होने पर भी लक्षणयुक्त है उस शिष्य को आचार्यरूप में स्थापित किया जाता है। उसके केवल प्रकल्प अर्थात् निशीथ का एक देशमात्र असमाप्त होता है।

१५६९. देसो सुत्तमधीतं, न तु अत्थो अत्थतो व असमत्ती।
सगणे अणरिहगीताऽसतीय गिण्हेज्जिमेहिंतो॥

जो प्रकल्प को केवल सूत्रतः अथवा केवल अर्थतः पढ़ता है अथवा अर्थतः पूरा समाप्त नहीं करता, वह प्रकल्प का देशतः अध्येता है। स्वगण में गीतार्थ होने पर भी अनर्ह हैं— आचार्यपद योग्य नहीं हैं अथवा गण में गीतार्थ नहीं है तो इनमें से (वक्ष्यमाण में से) गीतार्थ को ग्रहण करे।

१५७०. संविग्गमसंविग्गे, सारूविय-सिद्धपुत्तपच्छण्णे।
पडिकंत अब्भुट्ठिते, असती अन्नत्थ तत्थेव॥

संविग्न, असंविग्न, सारूपिक (मुनिरूपधारी), प्रच्छन्न सिद्धपुत्र (पश्चात्कृत सिद्धपुत्र), जो असंयम से प्रतिक्रांत तथा संयम के प्रति अभ्युत्थित हैं, उनके अभाव में अन्यत्र अथवा वहीं। (इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में।)

१५७१. सगणे व परगणे वा, मणुण्ण अण्णेसि वा वि असतीए।
संविग्गपक्खिएसुं, सरूवि-सिद्धेसु पढमं ति॥

वह अपने गण के गीतार्थ के पास अथवा परगण के मनोज्ञ सांभोगिक के पास अथवा असांभोगिक के पास तथा उसके अभाव में संविग्न पाक्षिकों के पास, उनके अभाव में स्वरूपी सिद्धपुत्रों से (अध्ययन करे।)

१५७२. मुंडं व धरेमाणे, सिहं च फेडंतऽणिच्छससिहे वि।
लिंगेण मसागरिए, वंदणादीणि न हावेंति॥

जो पश्चात्कृत लिंगतः गृहस्थ हैं, उनको अन्यत्र ले जाकर मुंडन कराकर, उनकी चोटी काटकर, यदि वे चोटी कटाना नहीं चाहते तो उनको सशिखाक रखकर, श्रमणलिंग देकर, उनके प्रति विनय आदि की हानि न करते हुए उनके पास पढ़े।

१५७३. आहार-उवधि-सेज्जा-एसणमादीसु होति जतितव्वं।
अणुमोदण-कारावण, सिक्ख त्ति पदम्मि तो सुद्धो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके पास पढ़ते हुए वह मुनि आहार, उपधि, शय्या आदि की एषणा आदि में यतनावान् रहे। वह अनुमोदन, करण–कारापण के दोष से लिप्त नहीं होता। 'मैं इसके पास शिक्षा ग्रहण करता हूं'–यह द्वितीय पद–अपवाद स्वरूप है। अतः वह शुद्ध है।

१५७४. चोदति से परिवारं अकरेमाणं भणाति वा सड्ढे।
अव्वोच्छित्तिकरस्स हु, सुतभत्तीए कुणह पूयं॥,

वह उसके परिवार, जो विनय आदि नहीं करता, को प्रज्ञापित करता है अथवा किसी श्रावक को कहता है कि श्रुतभक्ति से प्रेरित होकर तुम अव्यवच्छित्ति करने वाले इस अध्ययनरत मुनि की पूजा करो।

१५७५. दुविधाऽसतीय तेसिं, आहारादी करेति से सव्वं।
पणहाणीय जतंतो, अत्तट्ठाए वि एमेव॥

दोनों प्रतिपरिवारक के अभाव में वह स्वयं आहार आदि की व्यवस्था करे। वह उनके आहार आदि के लिए पंचक परिहानि से यतना करता है तथा स्वयं के लिए भी उसी प्रकार यतना करता है।

१५७६. आयरियाणं सीसो, परियाओ वा वि अधिकितो उस।
सीसाण केरिसाणं व, ठाविज्जति सो तु आयरिओ॥

पूर्वसूत्र में आचार्य-स्थापनीय की बात कही गई थी। ऐसे आचार्य के शिष्य होते हैं। पूर्वसूत्र में पर्याय अधिकृत था। प्रस्तुत सूत्र में भी यही पर्याय अधिकृत है। कैसे शिष्य को आचार्य पद पर स्थापित किया जाए–यह इस सूत्र में प्रतिपादित है।

१५७७. तेवरिसो होति नवो, आसोलसगं तु डहरगं बेंति।
तरुणो चत्ता सत्तरुण, मज्झिमो थेरओ सेसो॥

तीन वर्ष के मुनि-पर्याय वाला श्रमण 'नव', जन्म- पर्याय के चौथे वर्ष से पंद्रह वर्ष की संपूर्ति तक 'डहरक', जन्म के सोलहवें वर्ष से चालीस वर्ष की अवस्था तक 'तरुण', इकचालीसवें वर्ष से उनहत्तर वर्ष की उम्र तक 'मध्यम' तथा सत्तर वर्ष की उम्र से आगे तक 'स्थविर' कहलाता है।

१५७८. अणवस्स वि डहरगतरुणगस्स नियमेण संगहं बेंति।
एमेव तरुणमज्झे, थेरम्मि य संगहो नवए॥

अनवक (प्रव्रज्यापर्याय से त्रिवर्षोत्तीर्ण), डहरक और तरुण–ये सभी नियमतः अभिनव स्थापित आचार्य और उपाध्याय के संग्रह कहे जाते हैं। इसी प्रकार नवक, डहरक, तरुण, मध्यम तथा स्थविर भी नियमतः अभिनव स्थापित आचार्य और उपाध्याय के संग्रह माने जाते हैं।

१५७९. वा खलु मज्झिमथेरे, गीतमगीते य होति नायव्वं।
उद्दिसणा उ अगीते, पुव्वायरिए उ गीतत्थे॥

अनवक, मध्यम और स्थविर–ये सभी दोनों प्रकार के होते हैं–गीतार्थ और अगीतार्थ। अगीतार्थ की उद्देशना होती है अर्थात् जो मध्यम अथवा स्थविर त्रिवर्षपर्यायोत्तीर्ण होने पर भी गीतार्थ हैं तो वे नियमतः अभिनव स्थापित आचार्य के शिष्य होते हैं और जो गीतार्थ मध्यम अथवा स्थविर हैं, वे पूर्वाचार्य के शिष्य होते हैं।

१५८०. नवडहरगतरुणगस्स,विधीय वीसुंभियम्मि आयरिए।
पच्छन्ने अभिसेओ, नियमा पुण संगहट्ठाए॥

आचार्य के कालगत हो जाने पर (उसका प्रकाशन न करते हुए) नये शिष्यों अथवा छोटे अथवा तरुण शिष्यों के संग्रहण के लिए विधिपूर्वक निश्चितरूप से प्रच्छन्न प्रदेश में अन्य गणधर (आचार्य) का अभिषेक करना चाहिए।

१५८१. आयरिए कालगते, न पगासेज्जऽट्ठविते गणहरम्मि।
रण्णो व्व अणभिसित्ते, रज्जे खोभो तधा गच्छे॥

विधि यह है–दूसरे आचार्य की स्थापना किए बिना पूर्व आचार्य के कालगत हो जाने की बात को प्रकाशित नहीं करनी चाहिए। राजा कालगत हो जाने पर तब तक यह बात प्रकाशित नहीं की जाती जब तक अन्य राजा अभिषिक्त नहीं हो जाता। क्योंकि नए राजा का अभिषेक न होने पर राज्य-क्षोभ हो सकता है। वैसे ही गच्छ में भी क्षोभ हो सकता है।

१५८२.अणाधोऽधावण सच्छंद,खित्त-तेणे सपक्खपरपक्खे।
लतकंपणा य तरुणोऽसारण माणावमाणे य॥

गच्छक्षोभ जैसे–आचार्य को कालगत सुनकर कुछ मुनि अपने को अनाथ समझकर गच्छ से अवधावन कर लेते हैं, कुछ मुनि स्वच्छंद हो जाते हैं, कुछ क्षिप्तचित्त हो जाते हैं, स्वपक्ष और परपक्ष के चोर जागृत हो जाते है। मुनि लता की भांति कांपने लग जाते हैं। तरुण मुनि आचार्य की पिपासा से अन्यत्र चले जाते हैं। संयमयोगों में शिथिल मुनियों की असारणा होती है। कुछ स्थविर मान-अपमान का चिंतन करते हैं।

१५८३. जायामो अणाहो त्ति, अण्णहि गच्छंति केई ओधावे।
सच्छंदा व भमंती, केई खित्ता व होज्जाही॥

'हम अनाथ हो गए' यह सोचकर कुछ मुनि दूसरे गच्छ में चले जाते हैं और कुछ अवधावन–संयम से च्युत हो जाते हैं, कुछ मुनि स्वच्छंद होकर घूमने लग जाते हैं, कुछ क्षिप्तचित्त हो जाते हैं।

१५८४. पासत्थ-गिहत्थादी, उन्निक्खावेज्ज खुड्डगादी उ।
लता व कंपमाणा उ, केई तरुणा उ अच्छंति॥

स्वपक्ष में पार्श्वस्थ आदि, परपक्ष में गृहस्थ आदि क्षुल्लक आदि को संयमच्युत कर गण से निकलने के लिए बाध्य कर देते हैं। कुछ तरुण मुनि परीषहों से लता की भांति कंपित होते हुए गच्छ में रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५८५. आयरियपिवासाए, कालगतं सोउ ते वि गच्छेज्जा।
गच्छेज्ज धम्मसद्धा, व केइ सारेंतगस्सऽसती॥

कुछ तरुण मुनि आचार्य को कालगत सुनकर आचार्य की पिपासा अर्थात् आचार्य के बिना ज्ञान-दर्शन-चरित्र का लाभ नहीं होता, इस पिपासा से भी अन्यत्र चले जाते हैं। सारणा करने वाले के अभाव में धर्मश्रद्धा भी मंद हो जाती है, मुनि गच्छान्तर में चले जाते हैं।

१५८६. माणिता वा गुरूणं, थेरादी तत्थ केइ तू नत्थि।
माणं तु ततो अण्णो, अवमाणभया व गच्छेज्जा॥

कुछ स्थविर मुनि सोचते हैं—हम सदा गुरु द्वारा मान्य रहे हैं, अब कोई अन्य हमें मान देने वाला नहीं है। अतः अपमान के भय से वे अन्यत्र चले जाते हैं।

१५८७. तम्हा न पगासेज्जा, कालगतं एयदोसरक्खट्ठा।
अण्णम्मि ववट्ठविते, ताधि पगासेज्ज कालगंत॥

इसलिए इन दोषों की रक्षा के लिए आचार्य के कालगत होने की बात प्रकाशित न करे। अन्य गणधर (आचार्य) की स्थापना कर देने पर पूर्व आचार्य के कालगत होने की बात प्रकाशित करे।

१५८८. दूरत्थम्मि वि कीरति, पुरिसे गारव-भयं सबहुमाणं।
छंदे य अवट्टंती, चोदेउं जे सुहं होति॥

पुरुष अर्थात् आचार्य या उपाध्याय दूरस्थ रहने पर भी स्वपक्ष-परपक्ष वाले श्रमणियों के प्रति गौरव, भय तथा बहुमान प्रदर्शित करते हैं। जो श्रमणी प्रवर्तिनी के अनुशासन में नहीं चलती उस पर आचार्य और उपाध्याय के भय से सहजरूप में अनुशासन किया जा सकता है। (आचार्य-उपाध्याय के संग्रहण में यह गुण है।)

१५८९. मिधोकहा झड्डर-विड्डरेहि,
कंदप्पकिड्डा बुकसत्तणेहिं।
पुव्वावरत्तेसु य निच्चकालं,
संगिण्हते णं गणिणी सधीणा॥

प्रवर्तिनी के अभाव में आर्यिकाएं परस्पर भक्तकथा आदि करने लग जाती हैं, वे कुंटल-विंटल आदि कंदर्पक्रीडा तथा बकुशत्व—शरीर तथा उपकरणों की विभूषा करने लग जाती हैं। प्रवर्तिनी उन स्वाधीन आर्यिकाओं का सदा पूर्व तथा अपररात्री में निग्रह करती हैं।

१५८९/१. जाता पितिवसा नारी, दिण्णा नारी पतिव्वसा।
विहवा पुत्तवसा नारी, नत्थि नारी सयंवसा॥

जन्मते ही नारी (बालिका) पिता के वश में, परिणीत होने पर पति के वश में तथा विधवा होने पर पुत्र के वश में होती है। इस प्रकार नारी कभी स्ववशा नहीं होती।

१५९०. जातं पिय रक्खंती,
माता-पिति-सासु-देवरादिण्णं।
पिति-भाति-पुत्त-विहवं,
गुरु-गणि-गणिणी य अज्जं पि॥

जन्मते ही नारी की रक्षा माता-पिता करते हैं। विवाह के पश्चात् सास-ससुर-देवर-पति आदि रक्षा करते हैं। विधवा होने पर पिता, भ्राता, पुत्र आदि उसकी रक्षा करते हैं। इसी प्रकार आर्यिका की रक्षा आचार्य-गणी-उपाध्याय तथा प्रवर्तिनी—ये करते हैं।

१५९१. एगाणिया अपुरिया सकवाडं परघरं तु नो पविसे।
सगणे व परगणे वा, पव्वतिया वी तिसंगहिता॥

विवाहिता एकाकिनी नारी पति आदि पुरुष के साथ के बिना सकपाट परघर में प्रवेश नहीं करती। इसी प्रकार प्रव्रजित आर्यिका जो त्रिसंगृहीत अर्थात् आचार्य, उपाध्याय तथा प्रवर्तिनी द्वारा संगृहीत होने पर स्वगण अथवा परगण में एकाकिनी नहीं जाती।

१५९२. आयरिय-उवज्झाया, सततं साहुस्स संगहो दुविहो।
आयरिय-उवज्झाया, अज्जाण पवत्तिणी ततिया॥

साधु के सतत संग्रह—संग्राहक दो प्रकार का होता है—आचार्य और उपाध्याय। आर्यिकाओं का संग्राहक आचार्य, उपाध्याय तथा तीसरी प्रवर्तिनी होती है।

१५९३. बितियपदे सा थेरी,
जुण्णा गीता य जदि खलु भविज्जा।
आयरियादी तिण्ह वि,
असतीय न उद्दिसावेज्जा॥

अपवाद पद में वह आर्यिका यदि स्थविरा, जीर्ण—चिरकाल प्रव्रजित है तथा गीतार्थ है तो आचार्य आदि तीनों के अभाव में भी उसके लिए किसी संग्राहक को उद्दिष्ट करने की आवश्यकता नहीं होती।

१५९४. नवतरुणो मेहुण्णं, कोई सेवेज्ज एस संबंधो।
अब्बंभरक्खणादिव्व, संगहो एत्थ विसए व॥

कोई नव, तरुण आदि मुनि (संयम से उत्प्रव्रजित होकर) मैथुन सेवन करले और पुनः प्रव्रजित हो जाए (उसको आचार्यत्व आदि उद्दिष्ट कैसे किया जाता है, उसकी विधि इस सूत्र में है।) यही सूत्र के साथ संबंध है। अथवा अब्रह्म की रक्षा के निमित्त आचार्य आदि का संग्रह किया जाता है, यह पूर्वसूत्र में प्रतिपादित किया था। इस सूत्र में वही संग्रह प्रतिपादित है।

१५९५. अपरीयाए वि गणो, दिज्जति वुत्तं ति मा अतिपसंगा।
सेवियमपुण्णपज्जय, दाहिंति गणं अतो सुत्तं॥

पहले कहा गया था कि अपर्याय (पूर्ण मुनिपर्याय के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभाव) में भी गण का भार दिया जाता है, यह सुनकर अतिप्रसंग का निवारण करने के लिए अपूर्ण पर्यायवाले को भी गण देंगे—इस अभिप्राय का यह सूत्र है।

१५९६. दुविधो साविक्खितरो,
निरवेक्खोदिण्ण जातऽणापुच्छा।
जोगं च अकाऊणं,
जो व स वेसादि सेवेज्जा॥

मैथुन का सेवन करने वाले दो प्रकार के होते हैं— सापेक्ष और निरपेक्ष। निरपेक्ष वह होता है जो वेद के उदीर्ण होने पर गुरु को बिना पूछे जाता है, अथवा जो योग—यतनायोग को बिना किए जाता है अथवा जो वेश्या आदि का सेवन करता है। ये तीन प्रकार के निरपेक्ष होते हैं।

१५९७. सावेक्खो उ उदिण्णो,
आपुच्छ गुरुं तु सो जदि उवेहं।
तो गुरुणा उ भवंती,
सो व अणापुच्छ जदि गच्छे॥

सापेक्ष वह होता है जो वेद के उदीर्ण होने पर गुरु को पूछता है। यदि पूछने में गुरु की उपेक्षा करता है, उसको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। जो साधु गुरु को बिना पूछे जाता है, उसको भी चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१५९८. अधवा सइ दो वा वी, आयरिए पुच्छ अकडजोगी वा।
गुरुगा तिण्णि उ वारे, तम्हा पुच्छेज्ज आयरिए॥

अथवा जो आचार्य को एक बार या दो बार पूछता है तो भी प्रायश्चित्त आता है। जो अकृतयोगी—जो यतनायोग किए बिना जाता है तब भी चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसलिए आचार्य को तीन बार पूछे।

१५९९. बंधे या घाते य पमारणेसु,
दंडेसु अन्नेसु य दारुणेसु।
पमत्तमत्ते पुण चित्तहेउं,
लोए व पुच्छंति उ तिण्णि वारे॥

राजा किसी को बंधन, घात, प्रमारण अथवा दारुण दंडों से दंडित करने का आदेश दे देता है तो लौकिक व्यवहार में भी उस आदेश को क्रियान्वित करने से पूर्व राजा को तीन बार पूछा जाता है क्योंकि संभव है राजा ने प्रमाद में अथवा मत्त अवस्था में वैसा आदेश दे दिया हो और बाद में चित्त प्रशांत हो गया हो और तब वह पूछ सकता है कि उस अपराधी को क्यों मार डाला?

१६००. आलोइयम्मि गुरुणा, तस्स तिगिच्छा विधीय कायव्वा।
निव्वीतिगमादीया, नायव्व कमेणिमेणं तु॥

शिष्य द्वारा आलोचना कर लेने के पश्चात् गुरु उस वेदोदीर्ण शिष्य की विधिपूर्वक चिकित्सा करे। वह चिकित्सा निर्विकृतिक आदि के क्रम से वक्ष्यमाण विधि के अनुसार जाननी चाहिए।

१६०१. निव्विति ओम तव वेय, वेयावच्चे तधेव ठाणे य।
आहिंडणा य मंडलि, चोदगवयणं च कप्पट्ठी॥

प्रारंभ में उस शिष्य को निर्विकृतिक तप कराना चाहिए। उससे यदि वेदोपशमन न हो तो अवमौदर्य, उपवास आदि तप, वैयावृत्त्य कराना, स्थान—ऊर्ध्वस्थान आदि, फिर विहार आदि कराना, यदि वह बहुश्रुत हो तो सूत्रमंडली, अर्थमंडली में नियुक्ति करनी चाहिए। इस स्थिति में जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उस शिष्य को मंडली क्यों दी जाती है? आचार्य यहां कुलवधू का दृष्टांत देते हैं।[1]

१६०२. एवं पि अठायंते, अट्ठाणादेक्कमेक्क तिगवारा।
वज्जेज्ज सचित्ते पुण, इमे उ ठाणे पयत्तेणं॥

यदि इन उपायों से भी वेदोपशमन नहीं होता है तो उसे स्थविरों के साथ अस्थान में, एक-एक में तीन-तीन बार, अचित्त योनि, सचित्त योनि। सचित्त में इन वक्ष्यमाण स्थानों का प्रयत्नपूर्वक वर्जन करे। (पूरी व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

१६०३. सदेससिस्सिणि सज्झंतिया
सिस्सिणि कुल-गणे य संघे य।
कुलकन्नगा य विधवा,
वधुका य तधा सलिंगेण॥

सचित्त विषयक परिहार—समान देश-जाति की शिष्यिणी, सज्जंतिया—स्वहस्तदीक्षित शिष्यिणी, समान कुल, गण, संघवर्तिनी कुलकन्यका, विधवा, वधूकी—लघुकुलवधू—इनका परिहार करना चाहिए अन्यथा प्रायश्चित्त आता है तथा स्वलिंग से सेवन से प्रायश्चित्त आता है।

१६०४. लिंगम्मि उ चउभंगो, पढमे भंगम्मि होति चरमपदं।
मूलं चउत्थभंगे, बितिए ततिए य भयणा उ॥

लिंग विषयक चतुर्भंगी इस प्रकार है—१. स्वलिंग से स्वलिंग के साथ २. स्वलिंग से अन्य लिंग के साथ ३. अन्य लिंग से स्वलिंग के साथ ४. अन्य लिंग से अन्य लिंग के साथ। प्रथम भंगवाले के चरमपद का प्रायश्चित्त अर्थात् पारांचित प्रायश्चित्त आता है, चतुर्थ भंग वाले के मूल प्रायश्चित्त तथा दूसरे भंग वाले के प्रायश्चित्त की भजना है। (देखें आगे)

१६०५. सलिंगेण सलिंगे, सेवते चरिमं तु होति बोधव्वं।
सलिंगेणऽन्नलिंगे, देवी कुलकन्नगा चरिमं॥

जो स्वलिंग से स्वलिंगी के साथ मैथुन सेवन करता है उसे चरम—पारांचित प्रायश्चित्त आता है, यह जानना चाहिए।

१. देखें—व्यवहारभाष्य कथा परिशिष्ट।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वलिंग से अन्य लिंगी अर्थात् देवी–राजा की अग्रमहिषी के साथ अथवा कुलकन्यका के साथ मैथुन सेवन करता है तो चरम प्रायश्चित्त अर्थात् पारांचित प्रायश्चित्त आता है।

१६०६. नवमं तु अमच्चीए, विधवीय कुलच्चियाय मूलं तु।।
परलिंगे य सलिंगे, सेवंते होति भयणा उ।।

अमात्य स्त्री के साथ मैथुन सेवन करने से नौवां अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त आता है। विधवा तथा कुलवधू के साथ मैथुन सेवन करने से मूल प्रायश्चित्त तथा परलिंग से स्वलिंगी के साथ मैथुन सेवन करने में भजना है।

१६०७. सदेससिस्सिणीए, सज्झंती कुलच्चियाए चरमं तु।
नवमं गणच्चियाए, य संघच्चियाए मूलं तू।।

समान देशोद्भव तथा शिष्यिणी, भगिनी तथा समान-कुलवर्तिनी के साथ मैथुन सेवन करने से चरम प्रायश्चित्त–पारांचित प्रायश्चित्त, समानगणवर्तिनी के साथ मैथुन सेवन करने से नौवां अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त तथा समान संघवर्तिनी के साथ मैथुन सेवन करने से मूल प्रायश्चित्त आता है (यह तीसरे भंग वाले के संदर्भ की भजना है।)

१६०८. परलिंगेण परम्मि उ, मूलं अहवा वि होति भयणा उ।
एतेसिं भंगाणं, जतणं वोच्छामि सेवाए।।

परलिंग से परलिंगी के साथ मैथुन सेवन करने से मूल प्रायश्चित्त आता है अथवा इन भंगों में भजना होती है। इन भंगों में जिस भंग में सेवन करने का निर्देश है, उस सेवन की यतना कहूंगा।

१६०९. तत्थ तिगिच्छाय विही, निव्वितीयमादियं अतिक्कंते।
उवभुत्तथेरसहितो, अट्ठाणादीसु तो पच्छा।।

वेदोदीर्ण मुनि की उस चिकित्सा विधि में निर्विकृतिक आदि अतिक्रांत होने पर उसके पश्चात् उपभुक्तभोगी स्थविरों के साथ अस्थानादि में वह रहता है।

१६१०. अट्ठाण सद्द हत्थे, अच्चित्ततिरिक्ख भंगदोच्चेणं।
एग-दु-तिण्णि वारा, सुद्धस्स उवट्ठिते गुरुगा।।

अस्थान–वेश्यापाटक में जहां परिचारणा के शब्द सुनाई देते हैं, अथवा हस्तकर्म के द्वारा, अथवा अचित्त तिर्यक्योनि में एक, दो, तीन बार मैथुनकर्म करके अथवा द्वितीय भंग–स्वलिंग से अन्यलिंगी के साथ एक, दो, तीन बार मैथुनकर्म का सेवन कर उपशांत वेद होकर पुनः मैथुनकर्म न करने के लिए अभ्युत्थित शिष्य के चार गुरुमास का प्रायश्चित्त है।

१६११. एमेव गणायरिए निक्खिवणा नवरि तत्थ नाणत्तं।
अयपालग-सिरिघरिए, जावज्जीवं अणरिहा उ।।

इसी प्रकार गणावच्छेदक तथा आचार्य-उपाध्याय के अनिक्षेपणा संबंधी सूत्रों में नानात्व है। अजापालक तथा श्रीगृहिक दृष्टांत के अनुसार गणावच्छेदक, आचार्य तथा उपाध्याय–ये यावज्जीवन आचार्य आदि के पद के अनर्ह होते हैं।

१६१२. अइयातो रक्खंतो, अयवालो दट्ठु तित्थजत्ती उ।
कहिं वच्चह तित्थाणि, बेति अहगं पि वच्चामि।।
१६१३. छड्डेऊण गतम्मी,
सावज्जादीहि खइत-हित नट्ठा।
पच्चागतो व दिज्जति,
न लभति य भतिं न वि अयाओ।।

एक अजापालक बकरियों की रक्षा करता था। एक दिन उसने तीर्थयात्रियों को देखा। उसने उनको पूछा–कहां जा रहे हो? उन्होंने कहा–हम तीर्थयात्रा करने जा रहे हैं। उसने कहा–मैं भी चलता हूं। वह बकरियों को छोड़कर उनके साथ चला गया। उसके चले जाने पर कुछ बकरियों को हिंस्र पशुओं ने खा लिया, कुछ को चोर उठा ले गए और कुछ वहां से भाग गईं। वह तीर्थयात्रा से लौटा। उससे बकरियों का मूल्य लिया गया, उसे भृति नहीं मिली और पुनः बकरियों की रक्षा का भार नहीं दिया।

१६१४. एवं सिरिघरिए वी, एवं तु गणादिणो अणिक्खित्ते।
जावज्जीवं न लभति, तप्पत्तीयं गणं सो उ।।

इसी प्रकार श्रीगृहीक भी।[1] इसी प्रकार गण आदि का अनिक्षेपण किए बिना मैथुन समाचरण प्रत्यय से उसे यावज्जीवन तक गण का उत्तरदायित्व नहीं मिलता। (वह गणावच्छेदिकत्व, आचार्यत्व, उपाध्यायत्व को प्राप्त नहीं होता।)

१६१५. जा तिन्नि अठायंते, सावेक्खो वच्चते उ परदेसं।
तं चेव य ओधाणं, जं उज्झति दव्वलिंगं तु।।

यदि अपवाद स्वरूप तीन बार स्त्री का सेवन करने पर भी वेदोदय उपशांत नहीं होता, तब वह स्वअपेक्षा से परदेश में गमन करता है। इसी अवधावन से वह द्रव्यलिंग का परित्याग करता है।

१६१६. एमेव बितियसुत्ते, बियभंगनिसेवियम्मि वि अठंते।
ताधे पुणरवि जयती, निव्वीतियमादिणा विधिणा।।

इसी प्रकार (भिक्षु मैथुनसूत्र की तरह) द्वितीय सूत्र अर्थात् भिक्षु के अवधावन सूत्र में द्वितीय भंग से मैथुन सेवित करने पर भी यदि वेदोदय उपशांत नहीं होता तब उसके उपशमन के लिए पुनः निर्विकृतिक आदि की विधि से यतना करता है।

१६१७. जदि तह वी न उवसमे, ताधे जतती चउत्थभंगेणं।
पुव्वुत्तेणं विधिणा, निग्गमणे नवरि नाणत्तं।।

यदि पूर्वोक्त विधि से वेदोदय का उपशमन नहीं होता है तो चतुर्थभंग में पूर्वोक्त विधि से पुनः मैथुन का सेवन कर, पुनः

१. देखें–व्यवहारभाष्य कथानक परिशिष्ट नं. ८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्विकृतिक की विधि अपनाने पर भी यदि वेदोदय उपशांत नहीं होता है तो परदेशगमन कर देना चाहिए।

१६१८. उम्मत्तो व पलवते, गतो व आणेत्तु बज्झते सिढिलं।
भावित वसभा मा णं, बंधह नासेज्ज मा दूरं॥

वह उन्मत्त की भांति प्रलाप करता है। कहीं चला जाता है तो वृषभ मुनि उसे लाकर शिथिल बंधन से बांध देते हैं। वह अन्य साधुओं को यह प्रतीति करा देता है कि वह उन्मत्त है। वे वृषभ मुनियों को कहते हैं—इसको मत बांधो। बंधन के उद्वेग से यह दूर न भाग जाए।

१६१९. गुरु आपुच्छ पलायण, पासुत्तमिगेसु अमुगदेसं ति।
मग्गण वसभाऽदिट्ठे, भणंति मुक्का मु सेसस्स॥

जब मृग अर्थात् बाल, शैक्ष आदि मुनि सो जाते हैं तब वह 'मैं अमुक देश में जाता हूं'—यह आचार्य को पूछकर चला जाता है। वृषभ उसकी खोज करते हैं। जब वह नहीं दिखता (मिलता) तब वे कहते हैं—हम उसको खोजने के शेष कार्यों से— आयास आदि से मुक्त हो गए।

१६२०. विहरण वायण खमणे वेयावच्चे गिहत्थधम्मकधा।
वज्जेज्ज समोसरणं, पडिवयमाणो हितट्ठीओ॥

(परदेश जाते हुए उसको इन स्थानों का परिहार करना चाहिए।) वह हितार्थिक मुनि अपने विहरण के स्थानों का, वाचना के स्थानों का तथा जहां क्षपकत्व किया है, जिन गच्छों में वैयावृत्त्य किया, जहां गृहस्थ अवस्था में रहा, जहां धर्मकथा की, जहां समवसरण किया—इन स्थानों में रहा—इन सबका वर्जन करे।

१६२१. गंतूण अन्नदेसं, वज्जित्ता पुव्ववण्णिते देसे।
लिंगविवेगं काउं, सड्ढि किढी पण्णवेत्ताणं॥

पूर्व वर्णित (गाथा १६२०) स्थानों का वर्जन कर, अन्यदेश में जाकर, लिंग का परित्याग कर (गृहस्थलिंग को स्वीकार कर), सड्ढि—अविरत सम्यग्दृष्टिका स्त्री को संभोग के लिए एकांत स्थान में ले जाए।

१६२२. पण पण्णिगादि किड्ढिसु,
किंचि अदेंतो उ अहव अदसादी।
अपया य अंतो छग्गुरु,
बाहि तू चउगुरु निसेगे॥

१६२३. सपया अंतो मूलं, छेदो पुण होति बाहिरनिसेगे।
अणुपुव्विं पडिसेवति, वज्जंत सदेसमादीओ॥

पंचपण्यिका—पांच कपर्दिकाओं में प्रतिसेवना करने वाली स्त्री तथा अन्य एकांत स्थान में प्रतिसेवना के लिए ले जाई जाने वाली स्त्री के साथ कुछ भी न देते हुए अथवा बिना किनारी के वस्त्र देकर अथवा अन्य प्रकार के वस्त्र देकर उसके साथ प्रतिसेवना करे। वह संतान सहित अथवा संतान रहित भी हो सकती है। यदि वह व्यक्ति ग्राम के अंतर् शुक्रनिषेक—संभोग करता है तो उसे छह गुरुमास का तथा ग्राम के बहिर् संभोग करता है तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि वह स्त्री संतान सहित होती है, उसके साथ ग्राम के अंतर् संभोग करता है तो मूल तथा ग्राम के बहिर् संभोग करता है तो छेद प्रायश्चित्त आता है। अथवा समानदेशीया शिष्यणी का वर्जन कर प्रागुक्त के साथ आनुपूर्वी से प्रतिसेवना करता है, वह भी प्रायश्चित्तभाक् होता है।

१६२४. फासुयपडोयारेण, न यऽभिक्खनिसेव जाव छम्मासा।
चउगुरु छम्मासाणं, परतो मूलं मुणेयव्वं॥

इस प्रकार वह वहां रहता हुआ प्रासुकप्रत्यवतार—अप्रासुक स्नान, आहार आदि का वर्जन करता है तथा बार-बार प्रतिसेवना नहीं करता और यदि छह मास के भीतर-भीतर गण में आता है तो उसे चार गुरुमास का तथा छह मास के पश्चात् आता है तो मूल प्रायश्चित्त आता है।

१६२५. आगंतुं अन्नगणं, सोधिं काऊण वूढपच्छित्तो।
सगणे गणमुब्भामे, दरिसेती ताधि अप्पाणं॥

वह मोहचिकित्सा से निवृत्त होकर अन्य गण में शोधि करे—अर्थात् प्रायश्चित्त को वहन करे। वह उद्भ्रामक भिक्षाचरों के ग्राम में स्वगण संबंधी साधुओं को स्वयं की उपस्थिति दिखाता है।

१६२६. बेति य लज्जाए अहं, न तरामि गंतु गुरुसमीवम्मि।
न य तत्थ जं कतं मे, निग्गमणं चेव सुमरामि॥

वह उन्हें कहता है—मै लज्जावश गुरु के समीप नहीं जा सकता। मैंने वहां जो किया उसकी स्मृति नहीं करता, केवल मुझे निर्गमन की ही स्मृति है।

१६२७. तेहि निवेदिए गुरुणो, गीता गंतूण आणयंति तयं।
मिगपुरतो य खरंटण, वसभ निवारेंति मा भूतो॥

वे मुनि गुरु के पास जाकर निवेदन करते हैं। गुरु गीतार्थ मुनियों को भेजकर उसे बुला लेते हैं। गुरु शैक्ष आदि मुनियों के समक्ष उसकी खरंटणा करते हैं। तब वृषभ मुनि उस अपराध करने वाले मुनि को निवारित करते हुए कहते हैं—मुने! पुनः ऐसा मत करना।

१६२८. कत्थ गतो अणपुच्छा, साधु किलिट्ठा तुमं विमग्गंता।
मा णं अज्जो वंदह, तिण्णि उ वरिसाणि दंडो से॥

वे वृषभ मुनि उसे पूछते हैं—तुम गुरु को बिना पूछे कहां चले गए थे? तुम्हें खोजने का प्रयत्न करने वाले साधुओं को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत क्लेश सहना छड़ा।[1] आचार्य उसे दंडित करते हुए अपने मुनियों से कहते हैं—'आर्यो! इस मुनि को तीन वर्ष तक कोई वंदना न करे। यह इसके लिए दंड है।'

१६२९. तिण्हं समाण पुरतो, होतऽरिह पुणो वि निव्विकारो उ।
जावज्जीवमणरिहा, इणमन्ने तू गणादीणं॥

यदि वह तीन वर्षों के बाद निर्विकार हो जाता है तो गणावच्छेदकत्व आदि पदों के लिए योग्य हो जाता है। जो अनिक्षिप्तपदवाले होकर प्रतिसेवना करते हैं, वे यावज्जीवन तक गणावच्छेदकत्वादि पद के लिए अनर्ह होते हैं।

१६३०. पढमोऽनिक्खित्तगणो,
बितिओ पुण होति अकडजोगि त्ति।
ततिओ जम्म सदेसे
चउत्थ उ विहारभूमीए॥

१६३१. पंचम निक्खित्तगणो, कडजोगी जो भवे सदेसम्मि।
जदि सेवंति अकरणं, पंचण्ह वि बाहिरा होंति॥

पहला है अनिक्षिप्तगण वाला, दूसरा है अकृतयोगी, तीसरा है जन्म संबंधी स्वदेश में अकृत्यसेवी, चौथा है विहारभूमी में अकार्यसेवी, पांचवां है निक्षिप्तगण वाला कृतयोगी होकर भी स्वदेश में अकार्यसेवी—ये जो अकरण अर्थात् मैथुन का सेवन करते हैं, ये पांचों प्रकार के व्यक्ति आचार्य आदि पांचों पदों से बहिर् हो जाते हैं।

१६३२. आयरियमादियाणं पंचण्हं जज्जियं अणरिहा उ।
चउगुरु य सत्तरत्तादि, जाव आरोवण धरेंतो॥

आचार्यत्व आदि पांचों पदों के लिए जो यावज्जीवन तक अनर्ह हो जाता है, उसको यदि गण दिया जाता है और जो सात रात तक उस गण को धारण करता है, उसको चार गुरुमास का आरोपणा प्रायश्चित्त आता है।

१६३३. अधव अणिक्खित्तगणादिएसु
चउसुं पि सोलसउ भंगा।
चरिमे सुत्तनिवातो,
जावज्जीवऽणरिहा सेसा॥

अथवा अनिक्षिप्तगण (अकृतयोगी, स्वदेश में अकृतसेवी तथा विहारभूमी में अकृत्यकारी) आदि इन चार पदों के सोलह भंग होते हैं। चरम भंग में सूत्रनिपात अर्थात् भिक्षुसूत्र और निक्षिप्तसूत्र का अवकाश है। शेष १५ भंगों में वर्तमान मुनि अनर्ह होते हैं।

१६३४. वतअतिचारे पगते, अयमवि अण्णो य तस्स अतियारो।
इत्तिरियमपत्तं वा, वुत्तं इदमावकहियं तु॥

पूर्व सूत्रों में व्रत के अतिचारों का अधिकार था। यह भी व्रत का अन्य अतिचार है। पूर्व सूत्रों में इत्वरिक अपात्र का कथन किया गया। इन सात सूत्रों में यावत्कथित अपात्र का उल्लेख है।

१६३५. अधवा एगधिगारो उद्देसो ततियओ य ववहारो।
केरिसओ आयरिओ, ठाविज्जति केरिसो णे त्ति॥

अथवा व्यवहार सूत्र के तीसरे उद्देशकाधिकार में कैसे आचार्य को स्थापित करे और कैसे को नहीं—यह प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र सप्तक है।

१६३६. अधवा दीवगमेतं, जध पडिसिद्धो अभिक्खमाइल्लो।
सागारिसेवि एवं, अभिक्खओधाणकारी य॥

अथवा यह सूत्र सप्तक दीपक है। (पूर्व सूत्रोक्त अधिकारी का उद्दीपन करता है।) जैसे इस सूत्रसप्तक से बहुत बार माया करने वाले, मैथुन प्रतिसेवी तथा बार-बार अवधावन करने वाले को यावज्जीवन आचार्यत्व आदि पदों का प्रतिषेध है।

१६३७. एगत्त-बहुत्ताणं, सव्वेसिं तेसि एगजातीणं।
सुत्ताणं पिंडेणं, वोच्छं अत्थं समासेणं॥

एकत्व, बहुत्व आदि संबंधी इन सभी एक जातीय सूत्रों का पिंडितरूप से संक्षेप में अर्थ कहूंगा।

१६३८. एगत्तियसुत्तेसुं, भणिएसुं किं पुणो बहुग्गहणं।
चोदग! सुणसू इणमो, जं कारण मो बहुग्गहणं॥

एकत्विक—एक वचन से कहे गए सूत्रों का बहुग्रहण क्यों? यह शिष्य ने पूछा तब आचार्य ने कहा—वत्स! बहुग्रहण का यह कारण तुम मुझसे सुनो।

१६३९. लोगम्मि सतमवज्झं होतमदंडं सहस्स मा एवं।
होही उत्तरियम्मि वि, सुत्ता उ कया बहुकए वि॥

लोक में (अनेक व्यक्तियों द्वारा अकृत्य का सेवन करने पर यह न्याय प्रचलित है।) शत लोग अवध्य होते हैं, सहस्र लोग अंदण्ड्य होते हैं, इसी प्रकार लोकोत्तर में ऐसा न हो इसलिए (चार) सूत्र बहुवचन में प्रकृत हैं।

१६४०. कुलगणसंघप्पत्तं, सच्चित्तादी उ कारणागाढं।
छिद्दाणि निरिक्खंतो, मायी तेणेव असुईओ॥

जो सचित्त आदि विषयक व्यवहार (विवादास्पद प्रश्न) कुलप्राप्त, गणप्राप्त अथवा संघप्राप्त है[2], वह आगाढ़ कारण माना जाता है। (आहार आदि के उपग्रह में वर्तमान इस व्यवहार का छेदन मैं करूं) इस बुद्धि से जो दूसरों के छिद्र देखता है वह

१. तब वह कहता है—भगवन्! मैं गण से क्यों निकला? कहां गया? मुझे कुछ भी याद नहीं है। कर्मों का उपशमन होने पर जब मैं स्वस्थ हुआ तभी जान पाया कि मैं गण से बाहर निकल गया हूं।

२. जो सचित्त आदि विषयक विवादास्पद व्यवहार कुल द्वारा समाहित करना होता है वह कुलप्राप्त कहा जाता है। इसी प्रकार गणप्राप्त और संघप्राप्त व्यवहार होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मायावी उसी माया के कारण अशुचि होता है।

१६४१. दव्वे भावे असुई, भावे आहारवंदणादीहिं।
कप्पं कुणति अकप्पं, विविहेहि य रागदोसेहिं॥

अशुचि के दो प्रकार हैं–द्रव्यतः और भावतः। भावतः अशुचि वह है जो आहार, वंदना, आदि में अत्यंत आसक्त है तथा द्रव्यतः अशुचि वह है जो विविध रागद्वेष से कल्प्य को अकल्प्य कर देता है।

१६४२. दव्वे भावे असुई, दव्वम्मी विट्ठमादिलित्तो उ।
पाणतिवायादीहि उ, भावम्मि उ होति असुईओ॥

अशुचि के दो प्रकार ये हैं–द्रव्य से तथा भाव से। जो विष्ठा, मूत्र, श्लेष्म आदि से लिप्त होता है वह द्रव्य से अशुचि है। जो प्राणातिपात आदि से अशुचि होता है, वह भावतः अशुचि है।

१६४३. तप्पत्तीयं तेसिं, आयरियादी न देंति जज्जीवं।
के पुण ते भिक्खु इमे, अबहुस्सुतमादिणो होंति॥

माया आदि के कारण भिक्षु को यावज्जीवन आचार्यत्व आदि पद नहीं दिए जाते। वे भिक्षु कौन है? वे ये हैं–गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, अबहुश्रुत आदि।

१६४४. अबहुस्सुते य ओमे, पडिसेवते अयतोऽप्पचिंते य।
निरवेक्ख-पमत्त माई, अणरिहे जुंगिते चेव॥

अबहुश्रुत, अवम, प्रतिसेवक, अयत्नावान्, आत्म-चिंतक, निरपेक्ष, प्रमत्त, मायावी, अनर्ह और जुंगिक–ये आचार्य पद के लिए अनर्ह होते हैं। (व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

१६४५. अबहुस्सुतो पकप्पो, अणधीतोमो तु तिवरिसारेणं।
निक्कारणो वि भिक्खू, कारण पडिसेवओ जो उ॥

१६४६. अब्भुज्जतनिच्छियओ,
अप्पचिंतो निरवेक्ख-बालमादीसु।
अन्नतरपमायजुतो,
असच्चरुइ होति माई तु॥

१६४७. अवलक्खणा अणरिहा, अच्चाबाधादिया य जे वुत्ता।
चउरो य जुंगिता खलु, अच्चंति य भिक्खुणो एते॥

अबहुश्रुत–जिसने आचार-प्रकल्प का अध्ययन नहीं किया है।

अवम–जिसकी प्रव्रज्या के तीन वर्ष अभी नहीं बीते हैं।

प्रतिसेवक–जो भिक्षु निष्कारण प्रतिसेवना करता है और कारण में अयतनापूर्वक प्रतिसेवना करता है।

आत्मचिंतक–अभ्युद्यतमरण का जिसने निश्चय कर लिया है।

निरपेक्ष–जो बाल आदि मुनियों के प्रति चिंतारहित होता है।

प्रमत्त–जो पांचों प्रकार के प्रमादों में से किसी प्रमाद से युक्त होता है।

मायावी–जिसकी असत्य में (अथवा असंयम में) रुचि होती है।

अनर्ह–जिसमें आचार्य के लक्षण न हो तथा पूर्वोक्त अत्याबाध आदि गुण न हो।

जुंगिक–चारों प्रकार के जुंगिक (जाति से, कर्म से, शिल्प से तथा शरीर से)।

ये भिक्षु आचार्यत्व आदि पदों के लिए अत्यंत अनर्ह होते हैं।

१६४८. अधवा जो आगाढं, वंदणआहारमादि संगहितो।
कप्पं कुणति अकप्पं, विविहेहि य रागदोसेहिं॥

१६४९. मायी कुणति अकज्जं, को माई जो भवे मुसावादी।
को पुण मोसावादी, को असुई पावसुतजीवी॥

अथवा जो वंदन, आहार आदि से अत्यंत संगृहीत है–आसक्त है तथा जो विविध प्रकार से राग-द्वेष के वशीभूत होकर कल्प्य को अकल्प्य कर देता है। (वह अनर्ह होता है।)

शिष्य ने पूछा–ऐसा अकार्य कौन करता है? आचार्य कहते हैं–मायावी ऐसा करता है। मायावी कौन? जो मृषावादी होता है। मृषावादी कौन होता है? जो अशुचि है वह मृषावादी होता है। अशुचि कौन होता है? जो पापजीवी[1]–पापश्रुत से जीविका चलाता है वह अशुचि होता है।

१६५०. किह पुण कज्जमकज्जं, करेज्ज आहारमादिसंगहितो।
जह कम्हिइ नगरम्मी, उप्पण्णं संघकज्जं तु॥

शिष्य ने पूछा–आहार आदि से संगृहीत मुनि कार्य को अकार्य अथवा अकार्य को कार्य कैसे करता है? आचार्य ने कहा–जैसे किसी नगर में संघकार्य (सचित्तादि विषयक व्यवहार) उत्पन्न हुआ।

१६५१. बहुसुत-बहुपरिवारो, य आगतो तत्थ कोई आयरिओ।
तेहि य नागरगेहिं, सो तु निउत्तो तु ववहारो॥

एक बार उस नगर में अपने बहुशिष्य परिवार के साथ आचार्य वहां आए। वहां के नागरिकों ने अर्थात् संघ ने आचार्य को उस व्यवहार के समाधान के लिए नियुक्त किया।

१६५२. नाएण छिण्ण ववहार,कुल-गण-संघेण कीरति पमाणं।
तो सेविउं पवत्ता, आहारादीहि य कज्जिया॥

आचार्य ने व्यवहार का न्याययुक्त समाधान दिया। कुल, गण और संघ ने उसको प्रमाण माना। उसके अनुसार आहार आदि के कार्यार्थी उसका सेवन करने लगे अर्थात् वैसा करने लगे।

१. पापजीवी–कौटल आदि शास्त्रोपजीवी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६५३. तो छिंदिउं पवत्तो, निस्साए तत्थ सो उ ववहारं।
पच्चत्थीहिं नायं, जह छिंदइ एस निस्साए॥

वह आचार्य उस नगर में पक्षपात से व्यवहार का समाधान करने लगा। उसके प्रत्यर्थियों ने जान लिया कि यह निश्रा–पक्षपात से व्यवहार का समाधान देता है।

१६५४. को णु हु हवेज्ज अन्नो, जो नाएणं नएज्ज ववहारं।
अध अन्नयसमवाओ, घुट्ठो वा तो य तत्थ विदू॥

उन्होंने सोचा–कौन दूसरा ऐसा गीतार्थ हो सकता है जो न्याय से व्यवहार का समाधान दे सकता हो? एक बार संघ-समवाय ने यह घोषणा करवाई। घोषणा को सुनकर एक विद्वान मुनि (सूत्रार्थ तदुभयविद्) वहां आया।

१६५५. घुट्ठम्मि संघकज्जे, धूलीजंघो वि जो न एज्जाही।
कुल-गण-संघसमाए, लग्गति गुरुगे चउम्मासे॥

संघकार्य की घोषणा हो जाने पर उस कार्य के लिए योग्य मुनि चाहे फिर उसके पैर धूलिधूसरित ही क्यों न हो (तत्काल कहीं से विहरण कर आया हो) यदि उस ओर प्रस्थित नहीं होता है, कुल, गण और संघसमवाय के लिए नहीं जाता है तो उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त लगता है–प्राप्त होता है।

१६५६. जं काहिंति अकज्जं, तं पावति सति बले अगच्छंतो।
अन्नहि ताव ओधाणमादी जं कुज्ज तं पावे॥

शक्ति होने पर भी जो मुनि उस संघकार्य के लिए नहीं जाता है तो व्यवहरार्थी जो अकार्य करेंगे उस विषयक प्रायश्चित्त भी उसको प्राप्त होगा तथा अपमान के वशीभूत होकर अवधावन आदि अन्य प्रवृत्ति भी हो सकती है।

१६५७. तम्हा तु संघसद्दे, घुट्ठे गंतव्व धूलिजंघेणं।
धूलीजंघनिमित्तं, ववहारो उट्ठितो सम्मं॥

इसलिए संघकार्य की घोषणा हो जाने पर धूलिजंघ- मुनि को भी वहां तत्काल जाना चाहिए। उस धूलिजंघमुनि के निमित्त से व्यवहार सम्यग्रूप से समाहित हो सकता है।

१६५८. तेण य सुतं जहेसो, तेल्ल-घतादीहि संगिहीतो उ।
कज्जाइ नेइ वितधं, माई पावोवजीवी उ॥

आते हुए धूलिजंघमुनि ने यह सुन लिया कि यहां का व्यवहारच्छेत्ता तैल, घृत आदि से संग्रहीत हैं। वह मायावी और पापोपजीवी है। वह कार्यों को उत्सूत्र की ओर ले जाता है।

१६५९. सो आगतो उ संतो, वितधं दट्ठूण तत्थ ववहारं।
समएण निवारेती, कीस इमं कीरति अकज्जं॥

वह धूलिजंघमुनि वहां आता है और व्यवहार को वितथ–अन्यथा देखता है। उसका वह सिद्धांत से निवारण करता हुआ कहता है–यह अकार्य क्यों कर रहे हो?

१६६०. निद्ध-महुरं निवातं, विणीतमविजाणएसु जंपंतो।
सच्चित्तखेत्तमीसे, अत्थधर निहोडणं विधिणा॥

सचित्तनिमित्तव्यवहार, क्षेत्रनिमित्तव्यवहार तथा मिश्र-निमित्तव्यवहार के प्रति दुर्व्यवहारी जो हैं तथा जो नहीं जानते उनके ज्ञान के निमित्त वह अर्थधर मुनि विधिपूर्वक निवारण करते हुए कहता है–व्यवहार स्निग्ध है अर्थात् तैल-घृत आदि से संगृहीत हैं, वे वितथ व्यवहार कर रहे हैं। इसी प्रकार जो गुड, शर्करा आदि से संगृहीत हैं उन्हें कहता है व्यवहार मधुर है। जो निर्वात उपाश्रय आदि से प्रतिबद्ध हैं, उन्हें कहता है, व्यवहार निर्वात है और जो कृतिकर्म, विनय आदि से संगृहीत हैं, उन्हें कहता है व्यवहार विनीत है। इस प्रकार कहता हुआ वह उनका निवारण करता है।

१६६१. एवं चेव य सुत्तं, उच्चारेउं दिसं अवहरंति।
अप्पावराह आउट्ट, दाण इतरे तु जज्जीवं॥

इस प्रकार निवारण कर तथा सूत्रसमक का उच्चारण कर दिशा–आचार्यत्वादिक पद उनसे अपहृत कर लेते हैं। जो अन्य अपराध वाले प्रत्यावृत्त होते हैं, उन्हें पुनः दिशा दे दी जाती है और जो बहुदोषी होते हैं, वे प्रत्यावृत्त होने और न होने पर भी यावज्जीवन वह दिशा नहीं दी जा सकती है।

१६६२. एवं ताव बहूसुं, मज्झत्थेसुं तु सो उ ववहरति।
अह होज्ज बली इतरो, तो बेति तु तत्थिमं वयणं॥

१६६३. रागेण व दोसेण व, पक्खग्गहणेण एक्कमेक्कस्स।
कज्जम्मि कीरमाणे, किं अच्छति संघमज्झत्थो॥

इस प्रकार वह अर्थधर मुनि बहुत मध्यस्थों के होने पर वैसे व्यवहार का प्रयोग करता है। वहां दुर्व्यवहारी बलवान् हो सकते है। वहां अन्यथा व्यवहारच्छेद होने पर वह इस प्रकार कहता है–राग से एक का पक्ष ग्रहण कर तथा द्वेष से एक का पक्ष ग्रहण न कर, एक-एक का जो कार्य किया जाता है क्या वह संघ मध्यस्थभाव में रह सकता है?

१६६४. रागेण व दोसेण व, पक्खग्गहणेण एक्कमेक्कस्स।
कज्जम्मि कीरमाणे, अण्णो वि भणेउ ता किंचि॥

राग से अथवा द्वेष से एक-एक का पक्ष ग्रहण कर किए जाने वाले कार्य के विषय में दूसरा भी कुछ कहे।

१६६५. बलवंतो सव्वं वा, भणाति अण्णो वि लभति को एत्थ।
वोत्तुं जुत्तमजुत्तं, उदाहु न वि लब्भतेऽण्णस्स॥

व्यवहार के विषय में सभी बलवान् हैं। वह कहता है– इस संघसमवाय में कौन ऐसा है जो व्यवहार से युक्त अथवा अयुक्त कहने में समर्थ हो अथवा अन्य कोई ऐसा नहीं है?

१६६६. जदि बेंती लब्भते वि, वोत्तु तुमं जं तु जाणसी जुत्तं।
तो अणुमाणेऊणं, बेति तहिं नायतो सो उ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि कहे कि दूसरा भी है। तब उसे कहा जाता है—तुम जो जानते हो वह कहो। इस प्रकार कहने पर वह परिषद् को अनुमान्य कर अर्थात् सम्यक्रूप से क्षमायाचना कर न्यायपूर्वक वह कहता है—

१६६७. संघो महाणुभागो, अहं च वेदेसिओ इहं भयवं।
संघसमितिं न जाणं, तं भे सव्वं खमावेमि॥

संघ महान् अनुभाग अर्थात् अचिन्त्यशक्ति संपन्न होता है। भगवन्! मैं यहां वैदेशिक हूं। मैं संघसमिति—संघ-मर्यादा को नहीं जानता। अतः मैं सर्वरूपेण आप से क्षमायाचना करता हूं।

१६६८. देसे देसे ठवणा, अण्णऽण्णा अत्थ होंति समितीणं।
गीयत्थेहाइण्णा, अदेसिओ तं न जाणामि॥

गीतार्थ मुनियों द्वारा संघमर्यादाओं की स्थापना देश-देश में भिन्न-भिन्न होती है। मैं अदेशिक हूं। मैं उस संघमर्यादा को नहीं जानता।

१६६९. अणुमाणेउं संघं, परिसग्गहणं करेति तो पच्छा।
किह पुण गेण्हति परिसं, इमेणुवायेण सो कुसलो॥

इस प्रकार वह संघ को अनुमान्य कर—सम्यग् क्षमायाचना कर फिर वह परिषद् का ग्रहण करता है। शिष्य ने पूछा—वह पर्षद् को ग्रहण कैसे करता है? आचार्य कहते हैं—वह कुशल होता है। इस उपाय से वह परिषद् को ग्रहण करता है।

१६७०. पारिसा ववहारी या, मज्झत्था रागदोसनीहूया।
जइ होंति दो वि पक्खा, ववहरिउं तो सुहं होति॥

जो परिषद् व्यवहार्य है उसमें दोनों पक्ष राग-द्वेष के अकरण से मध्यस्थ होती है। वहां व्यवहार का प्रवर्तन सुखपूर्वक होता है।

१६७१. ओसन्नचरणकरणे, सच्चव्ववहारया दुसद्दहिया।
चरणकरणं जहंतो, सच्चव्ववहारयं पि जहे॥

जो मुनि चरण-करण में शिथिल हो गया है, उसकी सत्यव्यवहारकारिता दुःश्रद्धेय बन जाती है। जो चरण-करण का त्याग कर देता है, वह सत्यव्यवहारिता को छोड़ देता है।

१६७२. जइया णेणं चत्तं, अप्पणतो नाण-दंसण-चरित्तं।
ताधे तस्स परेसुं, अणुकंपा नत्थि जीवेसु॥

जिसने जब अपने ज्ञान-दर्शन और चारित्र का त्याग कर डाला तब उसके मन में दूसरे जीवों के प्रति अनुकंपा नहीं होती।

१६७३. भवसतसहस्सलद्धं जिणवयणं भावतो जहंतस्स।
जस्स न जातं दुक्खं, न तस्स दुक्खं परे दुहिते॥

जिसके लाखों जन्मों के पश्चात् प्राप्त जिनवचन को भावतः—यथार्थरूप में छोड़ने पर भी दुःख नहीं होता, उसको दूसरों के दुःखी होने पर दुःख नहीं होता।

१६७४. आयारे वट्टंतो, आयारपरूवणा असंकियओ।
आयारपरिब्भट्ठो, सुद्धचरणदेसणे भइओ॥

जो आचार के पालन में वर्तमान है, उसकी आचार विषयक प्ररूपणा अशंकनीय होती है। जो आचारभ्रष्ट है उसकी शुद्धचरणप्ररूपणा में विकल्प होता है—वह शुद्ध भी हो सकती है और अशुद्ध भी।

१६७५. तित्थगरे भगवंते, जगजीववियाणए तिलोगगुरू।
जो न करेति पमाणं, न सो पमाणं सुतधराणं॥

१६७६. तित्थगरे भगवंते, जगजीववियाणए तिलोगगुरू।
जो उ करेति पमाणं, सो उ पमाणं सुतधारणं॥

जो जगज्जीवविज्ञापक (सर्वज्ञ), त्रिलोकगुरु तीर्थंकर भगवान् को प्रमाण नहीं मानता, वह श्रुतधरों के लिए प्रमाण नहीं होता। जो तीर्थंकर भगवान् को प्रमाण मानता है, वह श्रुतधरों के लिए प्रमाण होता है।

१६७७. संघो गुणसंघातो, संघायविमोयगो य कम्माणं।
रागद्दोसविमुक्को, होति समो सव्वजीवाणं॥

संघ गुणसंघात्मक होता है। वह कर्म-संघात का विमोचक है। जो राग-द्वेष से मुक्त होता है वह सभी जीवों के प्रति सम होता है।

१६७८. परिणामियबुद्धीए उववेतो होति समणसंघो उ।
कज्जे निच्छयकारी, सुपरिच्छियकारगो संघो॥

श्रमणसंघ पारिणामिक बुद्धि से युक्त होता है। संघ कार्य करने में निश्चयकारी होता है। संघ परीक्षितकारी होता है।

१६७९. किह सुपरिच्छियकारी,
एक्कसि दो तिण्णि वावि पेसविते।
न वि उक्खिवए सहसा,
को जाणति नागतो केणं॥

संघ सुपरीक्षितकारी कैसे होता है? संघ समवाय प्रत्यर्थी को बुलाता है। किसी कारणवश उसके न आने पर संघ एक बार, दो बार, तीन बार पुरुष को भेजकर उसे बुलाता है। उसके न आने पर सहसा संघ उसको संघबाह्य नहीं कर देता क्योंकि संघ सोचता है कि पता नहीं वह क्यों नहीं आया?

१६८०. नाऊण परिभवेणं, नागच्छंते ततो उ निज्जुहणा।
आउट्टे ववहारो, एवं सुविणिच्छकारी उ॥

यह जानकर कि वह परिभव के भय से नहीं आ रहा है तो उसका संघ से निष्कासन कर देना चाहिए। यदि वह पुनः आवृत्त (संघ में आता है) होता है तो उसे व्यवहार—प्रायश्चित्त देना चाहिए। इस प्रकार संघ सुनिश्चितकारी होता है।

१६८१. आसासो वीसासो, सीतघरसमो य होति मा भाहि।
अम्मापितीसमाणो, संघो सरणं तु सव्वेसिं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण संघ आश्वास है—आश्वासनकारी है, विश्वास है, शीतगृह के समान है, माता-पिता के समान है। वह सबके लिए शरण है। तुम भयभीत मत होओ।

१६८२. सीसो पडिच्छओ वा, आयरिओ वा न सोग्गती नेति।
जे सच्चकरणजोगा, ते संसारा विमोएंति॥

शिष्य, प्रतीच्छक अथवा आचार्य सुगति को प्राप्त नहीं कराते। जो सत्यकरणयोग—संयमानुकूल प्रवृत्ति करने वाले हैं वे संसार से विमुक्त करते हैं।

१६८३. सीसो पडिच्छओ वा, आयरिओ वावि एते इहलोए।
जे सच्चकरणजोगा, ते संसारा विमोएंति॥

शिष्य, प्रतीच्छक अथवा आचार्य—ये सारे इहलोक के लिए हैं। परलोक के लिए सत्यकरणयोगयुक्त व्यक्ति होते हैं। वे संसार से विमुक्त करते हैं।

१६८४. सीसो पडिच्छओ वा,
कुल-गण-संघो न सोग्गतिं नेति।
जे सच्चकरणजोगा,
ते संसारा विमोएंति॥

शिष्य, प्रतीच्छक अथवा कुल गण, संघ—ये सुगति को प्राप्त नहीं कराते। जो सत्यकरणयोगयुक्त होते हैं, वे संसार से विमुक्त करते हैं।

१६८५. सीसो पडिच्छओ वा, कुल-गण-संघो व एते इधलोए।
जे सच्चकरणजोगा, ते संसारा विमोएंति॥

शिष्य, प्रतीच्छक अथवा कुल, गण, संघ—ये इहलोक के लिए हैं। जो सत्यकरणयोगयुक्त होते हैं, वे संसार से विमुक्त करते हैं।

१६८६. सीसे कुलव्विए व गणव्विय संघव्विए य समदरिसी।
ववहारसंथवेसु य, सो सीतघरोवमो संघो॥

शिष्यों, कुल-गण-संघ संबंधी मुनियों—इनमें से किसी के व्यवहार उपस्थित होने पर सबके प्रति संघ समदर्शी होता है। इसी प्रकार पूर्वसंस्तुत अथवा पश्चात्संस्तुत मुनियों का दूसरों के साथ व्यवहार उपस्थित होने पर संघ समदर्शी होता है। अतः वह संघ शीतगृहतुल्य होता है।

१६८७. गिहिसंघातं जहित्तुं, संजमसंघातगं उवगए णं।
णाण-चरण-संघातं, संघायंतो हवति संघो॥

गृहस्थों के संघात का परित्याग कर संयमियों के संघात को प्राप्त होकर व्यक्ति ज्ञान और चारित्र के संघात को संघातित करता है, आत्मसात् करता है। संघ ज्ञान और चारित्र का संघात करने के कारण संघ कहलाता है।

१६८८. नाण-चरणसंघातं, रागद्दोसेहि जो विसंघाए।
सो संघाते अबुहो, गिहिसंघातम्मि अप्पाणं॥

जो ज्ञान और चारित्र के संघात को राग-द्वेष से विसंघात करता है, उसका विघटन करता है वह मूर्ख गृहस्थों के संघात में स्वयं को मिलाता है। परमार्थतः वह संघ नहीं है।

१६८९. नाण-चरणसंघातं, रागद्दोसेहि जो विसंघाते।
सो भमिही संसारे, चउरंगंतं अणवदग्गं॥

जो ज्ञान और चारित्र के संघात को राग-द्वेष से विसंघात करता है, विघटित करता है, वह चातुरंत संसार में अनंतकाल तक परिभ्रमण करता है।

१६९०. दुक्खेण लभति बोधिं, बुद्धो वि य न लभते चरित्तं तु।
उम्मग्गदेसणाए, तित्थगरासायणाए य॥

उन्मार्ग देशना तथा तीर्थंकर की आशातना के कारण उसे बोधि की प्राप्ति दुःखपूर्वक होती है, कष्टसाध्य होती है। उसको बोधि प्राप्त हो जाने पर भी उसे चारित्र का लाभ नहीं होता।

१६९१. उम्मग्गदेसणाए, संतस्स य छायणाय मग्गस्स।
बंधिति कम्मरयमलं, जरमरणमणंतकं घोरं॥

उन्मार्ग की देशना के कारण सन्मार्ग का आच्छादन होता है। उससे अनंत जन्म-मरण का कारणभूत घोर कर्मरजोमल का बंधन होता है। (इसीलिए बोधि तथा ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति नहीं होती।)

१६९२. पंचविधं उवसंपय, नाऊणं खेत्तकालपव्वज्जं।
तो संघमज्झयारे, ववहरियव्वं अणिस्साए॥

पांच प्रकार की उपसंपदाओं (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा वैयावृत्त्य) को तथा क्षेत्र, काल और प्रव्रज्या को जानकर मध्यस्थभाव से संघ में व्यवहार करना चाहिए।

१६९३. उस्सुत्त ववहरंतो, तु वारितो नेव होति ववहारो।
बेति जदि बहुस्सुतेहि, कतो त्ति तो भण्णती इणमो॥

कोई उत्सूत्र व्यवहार की स्थापना करता है और कोई भी उसका निवारण इसलिए नहीं करता कि वह बहुश्रुत द्वारा कृत है तो यह कहा जाता है—

१६९४. तगराए नगरीए, एगायरियस्स पास निप्फण्णा।
सोलस सीसा तेसिं, अव्ववहारी उ अट्ठ इमे॥

तगरा नगरी में एक आचार्य अपने सोलह निष्पन्न शिष्यों के साथ थे। उनमें आठ शिष्य व्यवहारी और आठ अव्यवहारी थे। वे अव्यवहारी आठ शिष्य ये थे। (इस गाथा में उनके नामों का उल्लेख नहीं है, उनके दोषों का निरूपण है।)

१६९५. मा कित्ते कंकडुकं, कुणिमं पक्कुत्तरं च चव्वाइं।
बहिरं च गुंठसमणं, अंबिलसमणं च निद्धम्मं॥

इनकी प्रशंसा मत करो। वे दोष ये हैं—कांकटुक, कुणय, पक्व, उत्तर, चार्वाक, बधिर, गुंठ के समान, अम्ल के समान, निर्धर्मा। (इनकी व्याख्या अगली गाथाओं में।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६९६. कंकडुओ विव मासो, सिद्धिं न उवेति जस्स ववहारो।
कुणिम नहो व न सुज्झति,दुच्छेज्जो जस्स ववहारो॥
१६९७. फलमिव पक्कं पडए, पक्कस्सऽहवा न गच्छते पागं।
ववहारो तज्जोगा, ससिगुत्तसिरिव्व सन्नासे॥
१६९८. पक्कुल्लोव्व भया वा, कज्जं पि न सेसया उदीरेंति।
पाएण आहतो त्ति व, उत्तर सोवाहणेणं ति॥
१६९९. रोमंथयते कज्जे, चव्वागी नीरसं च विसनेत्तं।
कहिते कहिते कज्जे, भणाति बधिरो व न सुतं मे॥
१७००. मरहट्ठलाडपुच्छा, केरिसया लाडगुंठ साधिंसु।
पावार भंडिछुभणं, दसिया गणणे पुणो दाणं॥
१७०१. गुंठाहि एवमादीहि, हरति मोहित्तु तं तु ववहारं।
अंबफरिसेहि अंबो, न ताणि सिद्धिं तु ववहारं॥

कांकटुक–कोरडू उडद पकाने पर भी नहीं पकता वैसे ही जिसका व्यवहार सिद्ध नहीं होता, वह कांकटुक है।

कुणप–शव का मांस नख के समान तुच्छ होता है, वैसे ही इस व्यक्ति का व्यवहार दुर्च्छेद्य होता है, निर्मल नहीं होता।

पक्व–इसका व्यवहार पके हुए फल की भांति नीचे गिर जाता है अथवा उसके योग से व्यवहार पकता नहीं। जैसे चाणक्य के संन्यास लेने पर शशिगुप्त–चंद्रगुप्त की लक्ष्मी। अथवा जिसके 'पक्व' इस उल्लाप के भय से शेष व्यक्ति कार्य का भी कथन नहीं करते।

उत्तर–छलवचनों से उत्तर देना। एक व्यक्ति ने किसी को लात से मारा। पूछने पर कहता है–मैंने नहीं मारा। जूते युक्त पैर ने प्रहार किया है।

चार्वाकी–जैसे वृषभ का लिंग नीरस होने पर भी दूसरा वृषभ उसको चाटता है वैसे ही जो कार्य का रोमांथ–चबाए हुए को चबाना–इस प्रकार निष्फल करता है, वह चार्वाकी होता है।

बधिर–जो कार्य के लिए कहे जाने पर बधिर की भांति कहता है–मैंने सुना ही नहीं।

गुंठ–एक महाराष्ट्र देशवासी ने लाटदेशवासी से पूछा–लाटदेशवासी किस प्रकार के गुंठ–मायावी होते हैं। उसने कहा–बताऊंगा। दोनों साथ-साथ चल रहे थे। महाराष्ट्रिक ने अपना कंबल उतार कर गाड़ी पर रख दिया। लाटदेशवासी ने उस कंबल की फलियां गिन ली। कंबल के स्वामित्व के विषय में दोनों में विवाद हुआ। महाराष्ट्रिक ने राजकुल में शिकायत की। लाट ने कहा–यदि कंबल इसका है तो यह बताए कि कंबल की फलियां कितनी हैं? महाराष्ट्रिक बता नहीं सका। लाट ने बता दिया। कंबल उसको दे दिया।

इस प्रकार माया आदि से मोहित कर जो प्रस्तुत व्यवहार का हरण करता है, उसका अपलाप करता है वह गुंठ समान होता है।

अम्ल–अम्लस्पर्श युक्त वचनों के कारण जो अम्लसदृश होता है, उसके वचनों से व्यवहार सिद्ध नहीं होता।

१७०२. एते अकज्जकारी, तगराए आसि तम्मि उ जुगम्मि।
जेहि कता ववहारा, खोडिज्जंतऽण्णरज्जेसु॥

उस समय में उस गण में तगरा नगर में ये कांकटुक आदि आठ प्रकार के अकार्यकारी अव्यवहारी शिष्य थे। उनके द्वारा कृत व्यवहार अन्य राज्यों में अवांछनीय माने जाते थे।

१७०३. इहलोए य अकित्ती, परलोए दुग्गती धुवा तेसिं।
अणाणाय जिणिंदाण, जे ववहारं ववहरंति॥

जो जिनेंद्र की अनाज्ञा से व्यवहार का व्यवहरण करते हैं (स्थापित कर उसका क्रियान्वयन करते हैं) उनकी इहलोक में अकीर्ति और परलोक में निश्चयरूप से दुर्गति होती है।

१७०४. तेण न बहुस्सुतो वी, होति पमाणं अणायकारी तु।
नाएण ववहरंतो, होति पमाणं जहा उ इमे॥

इसलिए बहुश्रुत होकर भी जो अन्यायकारी होता है, वह प्रमाण नहीं होता। जो न्याय से व्यवहार करता है, वह प्रमाण होता है जैसे वक्ष्यमाण मुनि।

१७०५. किसेहि पूसमित्तं, वीरं सिवकोट्ठगं व अज्जासं।
अरहन्नग धम्मण्णग, खंदिल गोविंददत्तं च॥
१७०६. एते उ कज्जकारी, तगराए आसि तम्मि उ जुगम्मि।
जेहि कया ववहारा, अक्खोभा अण्णरज्जेसु॥
१७०७. इहलोगम्मि य कित्ती, परलोगे सोग्गती धुवा तेसिं।
आणाए जिणिंदाणं, जे ववहारं ववहरंति॥

इनकी प्रशंसा करो–पुष्यमित्र, वीर, शिवकोष्टक, आर्य आस, अर्हन्नक, धर्मान्वग, स्कन्दिल और गोपेन्द्रदत्त। उस युग में तगरा नगर में ये आठ कार्यकारी–सुव्यवहारी मुनि थे। उनके द्वारा कृत व्यवहार–स्थापित व्यवहार अन्य राज्यों में अक्षोभ्य थे–अचलित थे। जो जिनेंद्रदेव की आज्ञा से व्यवहार का व्यवहरण करते हैं उनकी इहलोक में कीर्ति और परलोक में निश्चितरूप से सुगति होती है।

१७०८. केरिसओ ववहारी आयरियस्स उ जुगप्पहाणस्स।
जेण सगासेग्गहितं, परिवाडीहिं तिहि असेसं॥

शिष्य ने पूछा–व्यवहारी कैसा होता है? आचार्य ने कहा–जिसने युगप्रधान आचार्य के पास तीन परिपाटियों से समस्तश्रुत–व्यवहार आदि का ग्रहण कर लिया है, वह व्यवहारी होता है।

१७०९. सुयपारायणं पढमं, बितियं पदुब्भेदयं।
तइयं च निरवसेसं, जदि सुज्झति गाहगो॥

तीन परिपाटियां ये हैं–पहली है श्रुत का पारायण, दूसरी है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदोद्भेदक—पदार्थ कथन का पारायण और तीसरी है—निरवशेष का पारायण अर्थात् संपूर्ण श्रुत का पारायण। ग्राहक अर्थात् शिष्य इन तीन परिपाटियों से शुद्ध हो जाता है—निःशेष सूत्रार्थ का पारगामी हो जाता है।

१७१०. गाहगआयरिओ ऊ,पुच्छति सो जाणि विसमठाणाणि।
जति निव्वहती तहियं, ति तस्स हिययं ततो सुज्झे॥

ग्राहक का एक अर्थ है—आचार्य। वे शिष्य को श्रुत के जिन विषमस्थानों के विषय में पूछते हैं और शिष्य यदि उनका निर्वहन करता है—उन स्थानों के हृदय को, अभिप्राय को सम्यग्रूप से जानता है, तो वह शुद्ध है—अर्थात् व्यवहारकरण-योग्य है।

१७११.अहवा गाहगो सोसो, तिहि परिवाडीहि जेण निस्सेसं।
गहितं गुणितं अवधारितं च सो होति ववहारी॥

अथवा ग्राहक का दूसरा अर्थ है—शिष्य। जिस शिष्य ने तीन परिपाटियों से संपूर्ण श्रुत का ग्रहण कर लिया, फिर उनका अनेक बार गुणित—अभ्यास कर लिया, फिर उनका अवधारण कर लिया, उनके हृदय को आत्मस्थ कर लिया, वह व्यवहारी होता है।

१७१२. पारायणे समत्ते, थिरपरिवाडी पुणो उ संविग्गे।
जो निग्गतो वितिण्णो, गुरुहिं सो होति ववहारी॥

पारायण के समाप्त होने पर जो संविग्न आचार्य के समीप स्थिर-परिपाटी हुआ है तथा गुरु द्वारा अनुज्ञात होने पर विहरण करता है, वह व्यवहारी होता है।

१७१३. पडिणीय-मंदधम्मो, जो निग्गतो अप्पणो सकम्मेहिं।
न हु तं होति पमाणं, असमत्तो, देसनिग्गमणे॥

जो मुनि प्रत्यनीक है—स्व-पर के लिए प्रतिकूल है, मंदधर्मा है, जो स्वच्छंदता से अपने कार्य के लिए विहरण करने लगता है, वह प्रमाण नहीं होता। वह देश-निर्गमन के लिए असम्मत होता है।

१७१४. आयरियादेसऽवधारितेण अत्थेण गुणियक्खरिएण।
तो संघमज्झयारे, ववहरियव्वं अणिस्साए॥

इसलिए संघ में उस अर्थ से व्यवहार करना चाहिए, जिस श्रुतार्थ को उसने आचार्य के कथन से अवधारित किया है, अनेक बार उसका प्रत्यावर्तन (गुणित) किया है, अक्षरित—स्थिर किया है। इस प्रकार से व्यवहार को वह अनिश्रा—राग-द्वेष से मुक्त होकर करे।

१७१५. आयरियअणादेसा, धारिय-सच्छंदबुद्धिरइएण।
सच्चित्तखेत्तमीसे, जो ववहरते न सो धण्णो॥

जो सचित्तव्यवहार, क्षेत्रव्यवहार तथा मिश्रव्यवहार के प्रसंग में आचार्य के उपदेश के बिना, स्वच्छंद बुद्धि से रचित—कल्पित विचारों से व्यवहार करता है, वह धन्य नहीं है, श्रेयस्कर नहीं है।

१७१६. सो अभिमुहेति लुद्धो, संसारकडिल्लगम्मि अप्पाणं।
उम्मग्गदेसणाए, तित्थगरासायणाए य॥

वह लुब्ध व्यक्ति उन्मार्ग की प्ररूपणा से तथा तीर्थंकर की आशातना से अपनी आत्मा को संसाररूपी अटवी के अभिमुख करता है।

१७१७. उम्मग्गदेसणाए, संतस्स य छायणाय मग्गस्स।
ववहरिउमचायंते, मासा चत्तारि भारीया॥

उन्मार्ग की देशना तथा सही मार्ग को आच्छादित करने वाले मुनि को व्यवहार की स्थापना न कर सकने के कारण चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१७१८. गारवरहितेण तहिं ववहरियव्वं तु संघमज्झम्मि।
को पुण गारव इणमो, परिवारादी मुणेयव्वो॥

संघ में गौरवरहित होकर व्यवहार करना चाहिए। शिष्य ने पूछा—गौरव क्या है? आचार्य ने कहा—वह परिवार आदि विषयक होता है।

१७१९. परिवार-इड्ढि-धम्मकहि-वादि-खमगो तहेव नेमित्ती।
विज्जा राइणियाए, गारवो त्ति अट्ठहा होति॥

गौरव आठ प्रकार का है—

१. परिवार का गौरव
२. ऋद्धि का गौरव
३. धर्मकथी होने का गौरव
४. वादी होने का गौरव
५. क्षपक—तपस्वी होने का गौरव
६. नैमित्तिक होने का गौरव
७. विद्या का गौरव
८. रत्नाधिक होने का गौरव।

१७२०. बहुपरिवार-महिड्ढी, निक्खंतो वावि धम्मकहि वादी।
जदि गारवेण जंपेज्ज, अगीतो भण्णती इणमा॥

यदि अगीतार्थ मुनि गौरव के वशीभूत होकर यह कहता है कि मैं बहुपरिवारी हूं, मैंने महर्द्धिक अवस्था में अभिनिष्क्रमण किया है, मैं धर्मकथी हूं, मैं वादी हूं आदि (इसलिए मुझे प्रमाण माना जाए) तो उसे इस प्रकार कहना चाहिए—

१७२१. जत्थ उ परिवारेणं, पयोयणं तत्थ भणिहह तुज्झे।
इड्ढीमंतेसु तधा, धम्मकहा वादिकज्जे वा॥
१७२२. पवयणकज्जे खमगो, नेमित्ती चेव विज्जसिद्धे य।
रायणिए वंदणगं, जहि दायव्वं तहि भणेज्जा॥

जो परिवार का गौरव करता है उसे कहना चाहिए—आर्य! जहां कहीं परिवार से प्रयोजन होगा वहां हम तुमको बुलायेंगे। इसी प्रकार ऋद्धि का गौरव करने वाले को भी समझाए। तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मकथी से कहे—राजा आदि को धर्म कहने के अवसर पर तुमको याद करेंगे। वादी से कहे—परवादी का निग्रह करने के अवसर पर तुमको भेजेंगे। क्षपक को कहे—जब प्रवचन—संघकार्य के लिए देवता के आह्वान का प्रसंग आएगा तब तुमको बुलाएंगे। नैमित्तिक तथा विद्यासिद्ध को कहे—संघकार्य के समय तुमको बुलाएंगे। रात्निक को कहे—पाक्षिक आदि जब वंदनक दातव्य होगा तब तुमको कहेंगे।

१७२३. न हु गारवेण सक्का, ववहरिउं संघमज्झयारम्मि।
नासेति अगीतत्थो, अप्पाणं चेव कज्जं तु॥

संघ के गौरव के वशीभूत होकर व्यवहार को स्थापित नहीं किया जा सकता। अगीतार्थ मुनि दुर्व्यवहार करता हुआ स्वयं का तथा कार्य का नाश करता है।

१७२४. नासेति अगीयत्थो, चउरंगं सव्वलोए सारंगं।
नट्ठम्मि उ चउरंगे, न हु सुलभं होति चउरंगं॥

अगीतार्थ समस्त लोक में सारभूत चतुरंग—मानुषत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयम का नाश कर डालता है। चतुरंग का नाश हो जाने पर पुनः चतुरंग की प्राप्ति सुलभ नहीं होती।

१७२५. थिरपरिवाडीएहिं, संविग्गेहिं अणिस्सियकरेहिं।
कज्जेसु जंपियव्वं अणुयोगियगंधहत्थीहिं॥

जो स्थिरपरिपाटीयुक्त हैं, जो संविग्न तथा अनिश्रित-कारी हैं तथा जो अनुयोगधरगंधहस्ती हैं, कार्य उपस्थित होने पर उनको कहना चाहिए।

१७२६. एयगुणसंपउत्तो, ववहरती संघमज्झयारम्मि॥
एयगुणविप्पमुक्के, आसायण सुमहती होति॥

इन गुणों से जो संप्रयुक्त हैं वह संघ में व्यवहार की स्थापना करता है। जो इन गुणों से विप्रयुक्त होता है और व्यवहार करता है तो सुमहती आशातना होती है।

१७२७. आगाढमुसावादी, बितिय तईए य लोवितवते तु।
माई य पावजीवी, असुईलित्ते कणगदंडे॥

आगाढ में अर्थात् कुलकार्य में, गणकार्य में, संघकार्य में, मृषा बोलनेवाला दूसरे और तीसरे व्रत का लोप करता है। वह मायावी पापजीवी होता है। जैसे अशुचि से लिप्त कनकदंड स्पर्श करने योग्य नहीं होता, वैसे ही ऐसा मुनि यावज्जीवन आचार्यत्व आदि पदों पर स्थापित नहीं हो सकता।

तीसरा उद्देशक समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथा उद्देशक

१७२८. एतद्दोसविमुक्कको, होति गणी भावतो पलिच्छन्नो।
दव्वपलिच्छागस्स उ, परिमाणट्ठा इमं सुत्तं॥

तीसरे उद्देशक में कहे गए दोषों से जो विप्रमुक्त होता है वह गणी (आचार्य, उपाध्याय, गणवच्छेदक) होता है। वह नियमतः भावतः परिच्छन्न (सूत्रार्थ तथा तदुभयोपेत) होता है। प्रस्तुत सूत्र द्रव्यतः परिच्छन्न (परिवार, वस्त्रादिक से संपन्न) के परिमाण का बोधक है।

१७२९. आदिमसुत्ते दोण्णि वि,
भणिया ततियस्स इह पुणं तेसिं।
कालविभागविसेसो,
कत्थ दुवे कत्थ वा तिण्णि॥

तीसरे उद्देशक के आदिम सूत्र में दो साधर्मिकों के विहरण की बात कही। उन के कालविभाग विशेष की बात कही जाती है। कहां दो और कहां तीन साधुओं के विहार की कल्प-अकल्प विधि का प्रतिपादन किया जा रहा है।

१७३०. पारायणे समत्ते, व निग्गतो अत्थतो भवे जोगो।
बहुकायव्वे गच्छे, एगेण समं बहिं ठाति॥

सूत्र और अर्थ तथा तदुभय का पारायण समाप्त हो जाने पर, वह एक मुनि के साथ गच्छ से निर्गत होकर बाहर रह सकता है क्योंकि गच्छ में बहुत वैयावृत्त्य आदि करना होता है और उससे सूत्रार्थ स्मरण में विघ्न आता है।

अन्य सूत्रों के साथ भी अर्थतः योग संबंध है।

१७३१. पणगो व सत्तगो वा, कालदुवे खलु जहण्णतो गच्छो।
बत्तीसती सहस्सो, उक्कोसो सेसओ मज्झो॥

कालद्विक—ऋतुबद्ध काल में तथा वर्षाकाल में गण का क्रमशः जघन्य परिमाण पांच और सात का है। दोनों काल में उत्कृष्ट संघ का परिमाण बत्तीस हजार तथा शेष गच्छ मध्यम परिमाण वाला होता है।[1]

१७३२. उडुवासे लहु लहुगा, एते गीते अगीत गुरु गुरुगा।
अकययुताण बहूण वि, लहुओ लहुया वसंताणं॥

ऋतुबद्धकाल में गीतार्थ मुनि यदि पांच साधुओं से कम संख्या में विहरण करते हैं तो एक लघुमास का प्रायश्चित्त तथा वर्षाकाल में सात से कम के साथ विहरण करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। अगीतार्थ मुनि के लिए एक गुरुमास तथा चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। जो अकृतश्रुत हैं अर्थात् जिन्होंने सूत्रार्थ तथा तदुभय का सम्यग् ग्रहण नहीं किया है वे यदि बहुत मुनियों के साथ भी विहरण करते हैं तो ऋतुबद्ध-काल में एक लघुमास और वर्षाकाल में चार लघुमास के प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

१७३३. एवं सुत्तविरोहो, अत्थे वा उभयतो भवे दोसो।
कारणियं पण सुत्तं, इमे य तहिं कारणा होंति॥

शिष्य कहता है—इस प्रकार गच्छ-परिमाण की बात कहना सूत्र, अर्थ और तदुभय से विरोध आता है, दोष होता है। आचार्य कहते हैं—यह कारणिक सूत्र है। वे कारण ये हैं—

१७३४. संघयणे वाउलणा, नवमे पुव्वम्मि गमणमसिवादी।
सागर जाते जयणा, उडुबद्धाऽऽलोयणा भणिता॥

संहनन, व्याकुलना, नौवें पूर्व (का स्मरण), अशिव आदि में गमन, सागर तुल्य नौवां पूर्व, जातकल्प में यतना, ऋतुबद्धकाल में, आलोकना—ये कारण कहे गए हैं। (व्याख्या अगली गाथाओं में।)

१७३५. आयरिय-उवज्झाया, संघयणा धितिय जे उ उववेया।
सुत्तं अत्थो व बहुं, गहितो गच्छे य वाघातो॥

आचार्य और उपाध्याय वज्रऋषभनाराच संहनन से तथा वज्रकुड्य समान धृति से युक्त हैं। उन्होंने सूत्र और अर्थ को प्रभूत रूप में ग्रहण किया है परंतु गच्छ में सूत्रार्थ के स्मरण का व्याघात होता है।

१७३६. धम्मकहि महिड्ढीए, आवास-निसीहिया य आलोए।
पडिपुच्छवादिगहणे, रोगी तह दुल्लभं भिक्खं॥
१७३७. वाउलणे सा भणिता, जह उद्देसम्मि पंचमे कप्पे।
नवम दसमा उ पुव्वा, अभिणवगहिया उ नासेज्जा॥

---

१. ऋतुबद्धकाल में जघन्यतः आचार्य के साथ एक साधु और गणावच्छेदक के साथ दो साधु—इस प्रकार पांच। वर्षाकाल में जघन्यत आचार्य के साथ दो साधु और गणावच्छेदक के साथ तीन साधु—इस प्रकार सात। भगवान् ऋषभ के ज्येष्ठ गणधर पुंडरीक के बत्तीस हजार साधु-साध्वियों का गच्छ था—यह उत्कृष्ट संख्या है। शेष परिमाण वाला गच्छ मध्यम होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मकथी होने के कारण बार-बार धर्मकथा करना व्याकुलना है। महर्द्धिक व्यक्तियों में विशेष धर्मकथा करना, आने-जाते मुनियों द्वारा की जाने वाली आवश्यिकी, नैषेधिकी का सम्यक् निरीक्षण करना, मुनियों की आलोचना सुनना, प्रतिपृच्छा करने वाले मुनियों को समाधान देना, वादी का निग्रह करना, ग्लान व्यक्तियों की आलोचना श्रवण से, भिक्षा की दुर्लभता के कारण—ये सारे व्याकुलना के कारण हैं। कल्पाध्ययन के पांचवें उद्देशक में व्याकुलना का विस्तृत कथन है।

अभिनवरूप में गृहीत नौवें-दसवें पूर्व की यदि सतत स्मारणा न की जाए तो वे नष्ट हो जाते हैं, विस्मृत हो जाते हैं।

१७३८. असिवादिकारणेणं,उम्मुगणायं ति होज्ज जा दोण्णि।
सागरसरिसं नवमं, अतिसयनयभंगगुविलत्ता॥

अशिव—मारि आदि कारणों के उत्पन्न होने पर दो मुनियों का साथ विहार अनुज्ञात है। यहां उल्मुक का उदाहरण जानना चाहिए। (जैसे उल्मुक अनेक एकत्रित होकर जलती है, वैसे ही मारि आदि भी एक को चपेट में नहीं लेती, अनेक मुनि उसकी चपेट में आते हैं।) नौवां-दसवां पूर्व सागरतुल्य तथा अतिशय नय और विकल्पों से गहन हैं। (अनेक मुनियों के बीच उनका परावर्तन नहीं हो सकता, अतः दो मुनियों का साथ विहार अनुज्ञात है।)

१७३९. पाहुडविज्जातिसया, निमित्तमादी सुहं च पतिरिक्के।
छेदसुतम्मि व गुणणा, अगीतबहुलम्मि गच्छम्मि॥

योनिप्राभृत, विद्यातिशय (आकाशगामिनी आदि विद्याओं), निमित्त आदि (योग, मंत्र आदि) का परावर्तन एकांत प्रदेश में सुखपूर्वक हो सकता है। अगीतार्थबहुल गच्छ में छेदसूत्रों का गुणन—परावर्तन भी नहीं किया जा सकता। (क्योंकि कुछ मुनि उसको सुनकर विपरिणत हो सकते हैं।)

१७४०. कयकरणिज्जा थेरा, सुत्तत्थविसारया सुतरहस्सा।
जे य समत्था वोढुं, कालगताणं उवहिदेहं॥
१७४१. एय गुणसंपउत्ता, कारणजातेण ते दुयग्गा वि।
उउबद्धम्मि विहारो, एरिसयाणं अणुण्णातो॥

जो कृतकरणीय हैं, स्थविर हैं, सूत्रार्थविशारद हैं, सूत्र रहस्यों के ज्ञाता हैं, जो एक मुनि के कालगत हो जाने पर उसकी उपधि और निर्जीव शरीर को वहन करने में समर्थ हैं—जो इन गुणों से संप्रयुक्त हैं, वे किसी कारणवश दो के साथ विहार करते हैं। इस प्रकार के आचार्य अथवा उपाध्याय का ऋतुबद्ध-काल में विहार अनुज्ञात है।

१७४२. जातो य अजातो वा, दुविधो कप्पो उ होति नायव्वो।
एक्केक्को वि य दुविहो, समत्तकप्पो य असमत्तो॥

कल्प दो प्रकार का ज्ञातव्य है—जात और अजात। दोनों के दो-दो भेद हैं—समाप्तकल्प और असमाप्तकल्प।

१७४३. गीतत्थो जातकप्पो, अगीतो खलु भवे अजातो उ।
पणगं समत्तकप्पो, तदूणगो होति असमत्तो॥

जातकल्प है गीतार्थ और अजातकल्प है अगीतार्थ। समाप्तकल्प अर्थात् परिपूर्णसहाय। वह जघन्यतः पांच मुनियों का होता है ऋतुबद्धकाल में और वर्षाकाल में सात परिमाण-वाला होता है। पांच या सात से न्यून होता है असमाप्तकल्प अर्थात् अपरिपूर्णसहाय।

१७४४. अहवा जातसमत्तो, जातो चेव उ तहेव असमत्तो।
अज्जातो य समत्तो, अज्जातो चेव असमत्तो॥

इसकी चतुर्भंगी इस प्रकार है—

१. जातकल्प भी समाप्तकल्प भी।
२. जातकल्प असमाप्तकल्प।
३. अजातकल्प समाप्तकल्प।
४. अजातकल्प असमाप्तकल्प।

(इनमें प्रथम भंग शुद्ध है। शेष में यतना करनी चाहिए।)

१७४५. तेसिं जयणा इणमो,
भिक्खग्गह निक्खमप्पवेसे य।
अणुण्णवणं पि य समगं,
बेंति य गिहि देज्ज ओधाणं॥

उनकी यतना यह है—एक ही समय में भिक्षाग्रहण के लिए निष्क्रमण और प्रवेश तथा एक ही समय में अनुज्ञापन। वे शय्यातर के पास आकर एकसाथ कहते हैं—उपाश्रय का उपधान—स्थगन दे।

१७४६. उडुबद्धे अविरहितं, एतं जं तेहि होति साधूहिं।
कारेति कुणति व सयं, गणी वि आलोयणमभिक्खं॥

ऋतुबद्धकाल में आने-जाने वाले साधुओं से वह स्थान अविरहित होता है। गणी—आचार्य दोनों की अवलोकना—गवेषणा पुनः-पुनः दूसरे या तीसरे दिन स्वयं करते हैं अथवा दूसरों से कराते हैं।

१७४७. एतेहि कारणेहिं, हेमंते घिंसु अप्पबीयाणं।
धितिदेहमकंपाणं, कप्पति वासो दुवेण्हं पि॥

इन व्याकुलना आदि कारणों से हेमंत तथा ग्रीष्म ऋतु में आत्मद्वितीय आचार्य अथवा उपाध्याय को धृति और देह से अकंपमान होने के कारण वास कल्पता है, दो-दो से रहना कल्पता है।

१७४८. नियमा होति असुण्णा,
वसधी नयणे य वण्णिता दोसा।
दुस्संचर बहुपाणा,
वासावासे वि उच्छेदो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्षावास में नियमतः वसति अशून्य होनी चाहिए। उपधि को साथ ले जाने से कल्पाध्ययन में दोष वर्णित हैं। (वसति को शून्य कर जाने पर गाय आदि उसको तोड़ सकती है, भट आदि आकर वहां अड्डा जमा सकते हैं।) इस स्थिति में ग्रामांतर जाना पड़ता है। वहां के मार्ग दुःसंचर हैं, मार्ग बहुत प्राणियों से संकुल हो गए हैं। शय्यातर उनको अनुकूल न मानकर उनके द्रव्यों का व्युच्छेद कर डालता है। ये दोष संभव हैं अतः वसति को शून्य नहीं करना चाहिए।

१७४९. वासण दोण्ह लहुगा, आणादिविराधणा वसधिमादी।
संथारग उवगरणे, गेलण्णे सल्लमरणे य॥

(इसलिए आचार्य और उपाध्याय को वर्षाकाल में जघन्यतः स्वयं सहित तीन मुनियों से रहना चाहिए।)

यदि वर्षाकाल में दो रहते हैं तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग का दोष प्राप्त होता है तथा वसति आदि की विराधना होती है। संस्तारक, उपकरण तथा ग्लान और शल्यमरण विषयक अनेक दोष होते हैं। (व्याख्या अगली गाथाओं में।)

१७५०. सुण्णं मोत्तुं वसहिं, भिक्खादी कारणओ जदि दो वि।
वच्चंत ततो दोसा, गोणादीया हवंति इमे॥

यदि दोनों भिक्षा आदि के कारण वसति को शून्य कर जाते हैं तो गौ आदि के निमित्त से ये दोष होते हैं।

१७५१. गोणे साणे छगले, सूगर-महिसे तहेव परिकम्मे।
मिच्छत्तबडुगमादी, अच्छते सलिंगमादीणि॥

गौ, कुत्ता, छगल, सूकर, महिष, गृहस्थ द्वारा परिकर्म, मिथ्यात्वी बटुकों आदि का प्रवेश, यदि एक मुनि जाता है और एक वसति में ही रहता है तो स्वलिंग प्रतिसेवना आदि का प्रसंग। (व्याख्या आगे के श्लोको में।)

१७५२. गोणादीय पविट्ठे, धाडंतमधाडणे भवे लहुगा।
अधिकरणवसधिभंगा तह पवयण-संजमे दोसा।

गाय आदि का वसति में प्रवेश कर लने पर यदि वहां उपस्थित मुनि उसको बाहर निकालने के लिए ताड़ित-प्रताड़ित करता है तो उसे चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि धाड़ित नहीं करता है तो अधिकरण दोष संभव है तथा वसति का भंग और प्रवचन तथा सयंम में दोष लगता है।

१७५३. दुक्खं ठितेसु वसधी, परिकम्मं कीरति त्ति इति नाउं।
भिक्खादिनिग्गतेसुं, सअट्ठमीसं विमं कुज्जा॥

गृहस्थ सोचते हैं—साधुओं के वसति में रहते वसति का परिकर्म करना कष्टप्रद होता है, यह सोचकर, जब मुनि भिक्षा आदि के निमित्त बाहर चले जाते हैं तब वे स्वार्थ—अपनी वसति को बलिष्ठ बनाने के लिए तथा मिश्र—मुनि भी सुखपूर्वक स्वाध्याय आदि कर सकेंगे—इस निमित्त से वसति का परिकर्म करते हैं। जैसे—

१७५४ उच्छेव बिलट्ठगणे, भूमीकम्मे समज्जणाऽऽमज्जे।
कुड्डण लिंपणं दूमणं, च एयं तु परिकम्मं॥

वसति के ढहते हुए भाग को ठीक करने के लिए ईंट आदि लगाना, बिलों को ढांकना, भूमीकर्म अर्थात् विषय भूमी को सम करना, गोबर आदि से लीपना, भींतों को लीपना, उनको चूने आदि से पोतना—यह सारा परिकर्म है।

१७५५. जदि ढक्किंतोच्छेवा, तति मास बिलेसु गुरुग सुद्धेसु।
पंचेदियउद्दाते, एक-दुग-तिगे उ मूलादी॥

जितने स्थानों पर ईंटें आदि लगायी गईं, उतने ही लघुमासों का प्रायश्चित्त आता है। शुद्ध अर्थात् पंचेन्द्रिय प्राणी रहित बिलों का स्थगन करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त, बिल-स्थगन से एक-दो-तीन पंचेन्द्रिय प्राणियों का व्याघात होने पर मूल आदि प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (एक पंचेन्द्रिय का व्याघात होने पर मूल, दो का व्याघात होने पर अनवस्थाप्य तथा तीन का व्याघात होने पर पारांचित प्रायश्चित्त आता है।)

१७५६. भूमीकम्मादीसु उ, फासुगदेसे उ होति मासलहू।
सव्वम्मि लहुगा अफासुएण देसम्मि सव्वे य॥

वसति का देशतः भूमीकर्म यदि प्रासुक जल आदि से किया गया है तो प्रत्येक का एक लघुमास का प्रायश्चित्त, तथा संपूर्ण में प्रत्येक का चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। अप्रासुक जल आदि से देशतः तथा सर्वतः करने पर प्रत्येक का चार लघुमास का प्रायश्चित्त है।

१७५७. सोच्चा गत त्ति लहुगा,
अप्पत्तिय गुरुग जं च वोच्छेदो।
बडु-चारण-भडमरणे,
पाहुण निक्केयणा सुण्णे॥

जब शय्यातर यह सुनता है कि मुनि वसति से चले गए और यदि उसके मन में अप्रीति नहीं होती है तो उसका प्रायश्चित्त है चार लघुमास तथा अप्रीति उत्पन्न होने पर प्रायश्चित्त है चार गुरुमास। यदि द्रव्य का व्यवच्छेद हुआ हो तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। शून्य वसति में बटुक, चारण, भट आदि आकर रह सकते हैं। कोई मनुष्य वहां आकर मर सकता है। प्राघूर्णक मुनि शय्यातर की अनुज्ञा से वहां रह सकते हैं, फिर उनको निकालना कठिन होता है। (कोई तिरश्ची अथवा मानुषी वहां शून्य वसति में प्रसव कर सकती है। उसका निष्कासन भी दोषयुक्त होता है।) ये शून्य वसति के दोष हैं।

१७५८. अह चिट्ठिति तत्थेगो, एगो हिंडति य उभयहा दोसा।
सल्लिंगसेवणादी, आउत्थ परे उभयतो वा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि दो मुनियों में से एक वसति में रहता है और एक घूमता है तो दोनों ओर से दोषों की संभावना है। दोष है—स्वलिंग आदि की प्रतिसेवना, जो तीन प्रकार की है—आत्मोत्थ, परोत्थ, उभयोत्थ।

१७५९. सुण्णे सगारि दट्ठुं, संथारे पुच्छ कत्थ समणा उ।
सोउं गय त्ति लहुगा, अप्पत्तिय छेद चउगुरुगा॥

शून्य वसति को देखकर शय्यातर पूछता है—श्रमण कहां गए? श्रमण गए—ऐसा सुनकर उसके मन में अप्रीति न हो तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त तथा अप्रीति हो जाने पर और द्रव्य आदि का व्यवच्छेद होने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१७६०. कप्पट्ठग संथारे, खेलणं लहुगो तुवट्ट गुरुगो उ।
नयणे दहणे चउलहु, एत्तो उ महल्लए वोच्छं॥

संस्तार अर्थात् उपाश्रय में यदि बालक खेलता है तो एक लघुमास और यदि सोता है तो एक गुरुमास तथा चोर उसका अपहरण कर लेता है अथवा आग लगने से वह जल जाता है तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। आगे बड़े व्यक्ति के त्वग्वर्तनादि के विषय में बताऊंगा।

१७६१. तुवट्ट नयणे दहणे, लहुगा गुरुगा हवंतऽणायारे।
अह उवहम्मति उवधि, त्ति घेत्तुं हिंडति मासलहू॥
१७६२. उल्ले लहुग गिलाणादिगा य सुण्णे ठवेंति चउलहुगा।
अणरक्खितोवहम्मति, हडे व पावेंति जं जत्थ॥

कोई पुरुष शून्य वसति में आकर सो जाता है अथवा उपकरणों को ले जाता है या जला डालता है तो प्रत्येक क्रिया के लिए चार लघुमास का और वहां अनाचार का सेवन करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। उपधि का कोई उपहनन करेगा—ऐसा सोचकर मुनि यदि उनको साथ लेकर भिक्षा आदि के लिए घूमता है तो एक लघुमास और यदि वह उपधि वर्षा आदि के कारण भीग जाती है तो चार लघुमास, ग्लान आदि के निमित्त उस शून्य वसति में गृहस्थ आदि को स्थापित करने पर चार लघुमास, साथ न ले जाने पर उस अरक्षित उपधि का कोई उपहनन आदि कर लेता है तो उस निमित्तक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१७६३. गेलण्णमरणसल्ला, बितिउद्देसम्मि वण्णिता पुव्वं।
ते चेव निरवसेसा, नवरं इह इं तु बितियपदं॥

ग्लान्य और सशल्यमरण के विषय में दूसरे उद्देशक में विस्तार से पहले बताया जा चुका है। वे यहां संपूर्णरूप से व्यक्तव्य हैं। उनके विषय का द्वितीय पद—अपवाद यहां बताया जा रहा है।

१७६४. असिवादिकारणेहिं, अहवा फिडिता उ खेत्तसंकमणे।
तत्तियमेत्ता व भवे, दोण्हं वासासु जयण इमा॥

अशिवादि कारणों से अथवा क्षेत्र संक्रमण करते मार्ग से भटक गए। (कुछ संयमच्युत हो गए, कुछ कालगत हो गए।) उनने ही अवशिष्ट रहे अर्थात् दो ही रहे। इस प्रकार वर्षा ऋतु में दो ही साथ रहे। उनके लिए वर्षा ऋतु की यतना इस प्रकार है।

१७६५. एगो रक्खति वसधिं,
भिक्ख वियारादि बितियतो याति।
संथरमाणेऽसंथर,
निद्दोस्सुवरिं ठवित्तुवहिं॥

एक मुनि वसति की रक्षा करता है और दूसरा भिक्षा के लिए तथा बहिर् भूमी आदि में जाता है। यदि पर्याप्त आहार आदि की प्राप्ति हो जाती है तो यह विधि है। अन्यथा दोनों मुनि भिक्षा के लिए घूमते हैं। यदि वसति भयरहित हो तो वे अपनी उपधि को ऊपरी भाग में रखकर बांध दें।

१७६६. सुत्तेणेवुद्धारो, कारणियं तं तु होति सुत्तं ति।
कप्पो त्ति अणुण्णातो, वासाणं केरिसे खेत्ते॥

तीन मुनियों के विहार की अनुज्ञा सूत्र से ही ज्ञात होती है। परंतु वह सूत्र भी कारणिक—अशिव आदि कारणों से निष्पन्न है। वर्षा ऋतु में कैसे क्षेत्र में तीन मुनियों का विहार कल्पता है, यह यहां अनुज्ञात है।

१७६७. महती वियारभूमी, विहारभूमी य सुलभवित्ती य।
सुलभा वसही य जहिं, जहण्णयं वासखेत्तं तु॥

जघन्य वर्षाक्षेत्र वह है—जहां महती विचारभूमी अर्थात् बहिर्गमनभूमी है, जहां महती विहारभूमी—भिक्षानिमित्त परिभ्रमणभूमी है तथा जहां भिक्षावृत्ति और वसति की प्राप्ति सुलभ है।

१७६८. चिक्खल्ल पाण थंडिल,
वसधी-गोरस-जणाउलो वेज्जो।
ओसधनिययाऽहिवती,
पासंडा भिक्ख-सज्झाए॥

वर्षाकाल के उत्कृष्ट क्षेत्र के १३ गुण हैं—

१. जहां कीचड़ अधिक न हो।
२. जहां सम्मूर्च्छनज प्राणियों की अधिक उत्पत्ति न हो।
३. स्थंडिल भूमीयां अनेक हों।
४. वहां रहने के लिए अनेक वसतियां हों।
५. दूध की प्राप्ति सुलभ हो।
६. कुल जनाकुल हो।
७. वैद्य की उपलब्धि।
८. औषध की प्राप्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. निचय–धान्यों की प्रचुर उत्पत्ति।
१०. राजा अनुकूल हो।
११. पाषण्डों की अल्पता।
१२. भिक्षा की सुलभता।
१३. स्वाध्याय का प्रचुर अवकाश।

१७६९. पाणा थंडिल वसधी,
अधिपति पासंड भिक्ख-सज्झाए।
लहुगा सेसे लहुगो,
केसिंची सव्वहिं लहुगा॥

इन गुणों से विरहित क्षेत्र में वर्षावास करने पर प्रायश्चित्त आता है। जहां अत्यधिक सम्मूर्छनज प्राणियों की उत्पत्ति हो, जहां स्थंडिल भूमी सुलभ न हो, जहां अनेक वसतियां न हों, जहां का राजा अनुकूल न हो, जहां पाषंड अधिक रहते हों, जहां भिक्षा सुलभ न हो, जहां स्वाध्याय बाधित होता हो–ऐसे स्थान में वर्षावास करने पर प्रत्येक दोष के लिए चार-चार लघुमास का प्रायश्चित्त है। शेष कीचड़ आदि प्रत्येक के लिए एक-एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। कुछ आचार्य मानते हैं कि सभी दोषों में प्रत्येक के लिए चार-चार लघुमास का प्रायश्चित्त है।

१७७०. नीसिरण कुच्छणागार, कंटका सिग्ग आयभेदो य।
संजमतो पाणादी, आगाह निमज्जणादीया॥

कीचड़युक्त प्रदेश से होने वाले दोष–वह वहां फिसल सकता है। पैरों की अंगुलियों के बीच वाले भाग सड़ सकते हैं, कीचड़ में रहे हुए कंकड़ तथा शूलें चुभ सकती हैं। अतिश्रम हो सकता है–ये सारे आत्मभेद–आत्मविराधना के कारण हैं। प्राणियों का हनन होता है तथा अगाध कीचड़ में निमज्जन आदि हो सकता है।

१७७१. धुवणे वि होंति दोसा, उप्पीलणादि य बाउसत्तं च।
सेधादीणमवण्णा, अधोवणे चीरनासो वा॥

शरीर और उपकरणों पर लगे कर्दम को धोने से प्राणियों का उत्पीड़न तथा बाकुशिकत्व–ये दोष होते हैं। न धोने से शैक्षमुनियों की अवज्ञा तथा वस्त्र का नाश होता है।

१७७२. मूइंगविच्छुगादिसु, दो दोसा संजमे य सेसेसु।
नियमा दोस दुगुंछिय, अथंडिल निसग्ग धरणे य॥

प्राणियों की उत्पत्ति वाले प्रदेश से होने वाले दोष–चींटियों तथा बिच्छुओं और शेष प्राणियों (सम्मूर्च्छनज) की उत्पत्ति वाले क्षेत्र से दो दोष संभव हैं–आत्मविराधना और संयमविराधना। स्थंडिल के अभाव में अस्थंडिल में अथवा जुगुप्सित स्थंडिल में मल-मूत्र विसर्जित करने पर नियमतः संयमविराधना आदि दोष होते हैं। उनको विसर्जित न करने पर आत्मविराधना आदि दोष होते हैं।

१७७३. वसहीय संकुडाए, विरल्ल अविरल्लणे भवे दोसा।
वाघातेण व अण्णाऽसतीय दोसा उ वच्चंते॥

संकडी वसति में यदि भीगे वस्त्र फैलाए जाते हैं तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और न फैलाने पर भी अनेक दोष होते हैं। यदि वसति एक ही हो, दूसरी न हो तो वसति का व्याघात होने पर अन्यत्र जाना पड़ता है। क्षेत्र संक्रमण से संयम तथा आत्मविराधना का दोष होता है।

१७७४. अतरंत बालवुड्ढा, अभाविता चेव गोरसस्सऽसती।
जं पाविहिंति दोसं, आहारमएसु पाणेसु'।

असहाय और अभावित बाल और वृद्ध दूध के अभाव में अपने आहारमय प्राणों को धारण करने में असमर्थ होते हैं। उन्हें (आगाढ़, अनागाढ़ परितापनादिक) दोष प्राप्त होता है। (उसका सारा प्रायश्चित्त आचार्य को आता है।)

१७७५. नणु भणिय रसच्चाओ, पणीयरसभोयणे य दोसा उ।
किं गोरसेण भंते ! भण्णति सुण चोयग ! इमं तु॥

सूत्र में रसत्याग की बात कही है तथा प्रणीतरस- भोजन के दोष बताए हैं। अतः भंते! दूध की बात क्यों की जाती है? शिष्य के यह पूछने पर आचार्य ने कहा–शिष्य! तुम सुनो मैं जो कहता हूं।

१७७६. कामं तु रसच्चागो, चतुत्थमंगं तु बाहिरतवस्स।
सो पुण सहूण जुज्जति, असहूण य सज्जवावत्ती॥

रसत्याग का सिद्धांत अनुमत है तथा यह बाह्यतप का चौथा भेद है। जो समर्थ हैं उनके लिए यह उपयुक्त है और जो असमर्थ हैं उनके लिए यह रसत्याग व्यापत्ति–मृत्यु का कारण बनता है।

१७७७. अगिलाय तवोकम्मं, परक्कमे संजतो त्ति इति वुत्तं।
तम्हा उ रसच्चाओ, नियमातो होति सव्वस्स॥

आगमों में कहा गया है कि संयतमुनि अग्लान भाव से तपःकर्म में पराक्रम करे। इसलिए सभी के लिए रसत्याग का नियम नहीं होता।

१७७८. जस्स उ सरीरजवणा, रिते पणीयं न होति साहुस्स।
सो वि य हु भिण्णपिंडं, भुंजउ अहवा जधसमाधी॥

जिस मुनि का शरीर-यापन प्रणीतरस के सेवन के बिना नहीं होता वह भिन्नपिंड अर्थात् घृतमिश्रित गलितपिंड खाए अथवा जिससे समाधि हो वह भोजन करे।

१७७९. चउभंगो अजणाउल, कुलाउले चेव ततियतो भंगो।
भोइयमादि जणाउल, कुलाउलमडंबमादीसु॥

जनाकुल और कुलाकुल की चतुर्भंगी में तीसरा भंग है–न जनाकुल-कुलाकुल। भोजिक आदि से जनाकुल और कुलाकुल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है मडंब आदि स्थानों में।[1]

१७८०. वेज्जस्स ओसधस्स व,
असतीय गिलाणतो व जं पावे।
वेज्जसगासे निंतो,
आणेंतो चेव जे दोसा॥

उस क्षेत्र में वैद्य और औषधि का अभाव होने पर ग्लान व्यक्ति जो परितापना पाता है, उस निमित्तक सारा प्रायश्चित्त आचार्य को आता है। अन्य क्षेत्र में ग्लान को वैद्य के पास ले जाने, लाने में परितापन तथा अनेक दोष होते हैं। तन्निमित्तक प्रायश्चित्त भी आचार्य को आता है।

१७८१. नेचइया पुण घन्नं, दलंति असारा य अंचितादीसु।
अधिवम्मि होति रक्खा, निरंकुसेसु बहू दोसा॥

जिस क्षेत्र में नैचयिक–धान्य व्यापारी हों, वे दरिद्र व्यक्तियों को तथा राजपूज्य व्यक्तियों को धान्य देते हैं। वहां भिक्षा सुलभ होती है। जहां का अधिपति–राजा अनुकूल हो, वहां रक्षा होती है। निरंकुश क्षेत्र में रहने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

१७८२. पासंडभावितेसुं, लभंति ओमाण मो अतिबहूसु।
अवि य विसेसुवलद्धी, हवंति कज्जेसु उ सहाया॥

जो क्षेत्र अति बहुल पाषंडों से भावित है वहां साधुओं का अपमान होता है। (जहां पाषंड लोग अत्यधिक रहते हैं वहां भिक्षा भी सुलभ नहीं होती।) यह भी संभावित है कि अन्य पाषंडियों से विशेषोपलब्धि भी होती है तथा लोग अनेक कार्यों में सहायक बनते हैं।

१७८३. नाण-तवाण विवद्धी,
गच्छस्स य संपया सुलभभिक्खे।
न य एसणाय घातो,
नेव य ठवणाय भंगो उ॥

सुलभभिक्षा वाले स्थान में रहने से ज्ञान और तपस्या की विशेष वृद्धि होती है। गच्छ की संपदा बढ़ती है, एषणा का घात नहीं होता तथा स्थापना (मासकल्प अथवा वर्षाकल्प) का भंग नहीं होता।

१७८४. वायंतस्स उ पणगं, पणगं च पडिच्छतो भवे सुत्तं।
एगग्गं बहुमाणो, कित्ती य गुणा य सज्झाए॥

जो सूत्र की वाचना देता है और जो प्रतीच्छक है–सुनता है–दोनों के पांच-पांच गुणों का लाभ होता है। एकाग्रता, बहुमान तथा कीर्ति–ये स्वाध्याय के गुण हैं।

१७८५. संगहुवग्गहनिज्जर, सुतपज्जवजायमव्ववच्छित्ती।
पणगमिणं पुव्वुत्तं, जे चायहितोपलंभादी॥

संग्रह, उपग्रह, निर्जरा, श्रुतपर्यवजात, अव्यवच्छित्ति–यह पंचक अथवा पूर्वोक्त आत्महितोपलंभ आदि पंचक।[2]

१७८६. एवं ठिताण पालो, आयरिओ सेस मासियं लहुयं।
कप्पाट्ठिनीलकेसी, आयसमुत्था परे उभए॥

इस प्रकार वर्षाकाल में तीन मुनियों की स्थिति में दो मुनि भिक्षा के निमित्त चले जाते हैं। तब एक मुनि जो वसतिपालरूप में पीछे रहता है उसको आचार्य स्थापित करना चाहिए। शेष अर्थात् आचार्य व्यतिरिक्त वसतिपाल की स्थापना करने पर एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि तरुण श्रमण को वसतिपाल के रूप में स्थापित किया जाता है तो कप्पट्ठी–बालिका तथा नीलकेशी–तरुणी स्त्री के साथ प्रतिसेवना से आत्मसमुत्थ तथा परसमुत्थ दोष उत्पन्न होते हैं।

१७८७. तरुणे वसहीपाले, कप्पट्ठिसलिंगमादि आउभया।
दोसा उ पसज्जंती, अकप्पिए दोसिमे अण्णे॥

तरुण श्रमण के वसतिपाल होने पर तरुणी बालिका की भांति स्वलिंग आसेवन, गृहिलिंग आसेवन रूप आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ दोषों का प्रसंग आता है। अकल्पिक अर्थात् बालक आदि के विषय में ये अन्य दोष होते हैं।

१७८८. बलि धम्मकहा किड्डा,
पमज्जणा वरिसणा य पाहुडिया।
खंधार अगणिभंगे,
मालवतेणा य णाती य॥

यदि बालक मुनि को वसतिपाल के रूप में स्थापित किया जाता है तो ये दोष आते हैं–(१) बलिदोष (२) धर्मकथा (३) क्रीडा (४) प्रमार्जना (५) आवर्षण (६) प्राभृतिका (७) स्कंधावार (८) अग्नि (९) मालवस्तेनों का भय (१०) ज्ञातिजन। (इन सारे उपायों से बालक मुनि को भयभीत कर उसका अपहरण कर लेते हैं अथवा उपधि का अपहरण कर लेते हैं।)

१७८९. तम्हा पालेति गुरू, पुव्वं काऊण सरीरचिंतं तु।
इहरा आउवधीणं, विराधणा धरेंतमधरेंते॥

---

१. चतुर्भंगी–(१) जनाकुल-कुलाकुल (२) जनाकुल न कुलाकुल (३) न जनाकुल पर कुलाकुल और (४) न जनाकुल और न कुलाकुल। पहले में बहुत कुल, बहुत मनुष्य। दूसरे में थोड़े कुल, बहुत मनुष्य। तीसरे में बहुत कुल, मनुष्य कम तथा चौथे में न बहुत कुल और न बहुत मनुष्य। पहला और दूसरा भंग भोजिक आदि अनेक जनों से आकीर्ण होने के कारण जनाकुल होता है। मडंब आदि स्थानों में कुलाकुल माना गया है। वृत्तिकार ने मडंब में अठारह हजार कुल माने हैं–मडम्बे अष्टादशकुलसहस्राणि।

२. (१) संग्रह–शिष्य आदि का संग्रह (२) उपग्रह (३) निर्जरा (४) श्रुतपर्यवजात–श्रुतज्ञान के नये-नये पर्यायों की अवगति (५) तीर्थ की अव्यवच्छित्ति अथवा (१) आत्महितोपलंभ (२) परहितोपलम्भ (३) उभयहितोपलंभ (४) एकाग्रता तथा (५) बहुमान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए गुरु वसति की रक्षा करते हैं। वे पहले शरीर चिंता से निवृत्त हो जाते हैं। यदि वे संज्ञा को धारण करते हैं तो आत्मविराधना होती है। यदि संज्ञा को धारण न कर पात्र आदि में व्युत्सर्जन करते हैं तो उड्डाह होता है। बाहर जाते हैं तो उपधि की विराधना—अपहरणरूप होती है।

१७९०. जदि संघाडो तिण्ह वि,पज्जत्ताणीति तो गुरु न नीति।
अह न वि आणे ताहे, वसधी आलोग हिंडणया॥

यदि संघाटक (दो मुनि) आचार्ययुक्त तीनों के लिए पर्याप्त आहार आदि ले आते हैं तो गुरु भिक्षा के लिए नहीं जाते। यदि पर्याप्त आहार नहीं लाते हैं तो वसति के पास वाले घरों में गुरु जाते हैं।

१७९१. आसण्णेसुं गेण्हति, जत्तियमेत्तेण होति पज्जत्तं।
जावइए णं ऊणं, इतराणीयं तु तं गिण्हे॥

वे निकटवर्ती गृहों से उतना आहार लेते हैं जितने से पूर्ति हो जाती है। यदि वह पर्याप्त नहीं होता है तो जितना न्यून है उतना मात्र दूसरों द्वारा लाया हुआ ग्रहण करते हैं।

१७९२. सव्वे वप्पाहारा, भवंति गेलण्णमादि दोसभया।
एवं जतंति तहियं, वासावासे वसंता उ॥

रोग आदि के दोषों के भय से सभी अल्पाहार करते हैं। इस प्रकार वे वर्षाकाल में वर्षायोग्य उस क्षेत्र में रहते हुए यतना करते हैं।

१७९२/१ एमेव य गणवच्छे, अप्पचउत्थस्स होति वासासु।
नवरं दो चिट्ठंति, दो हिंडित संथरे इयरे॥

इसी प्रकार गच्छवास में वर्षाऋतु में स्वयं सहित चार मुनि होते हैं। उनमें से दो मुनि वसति में रहते हैं और दो मुनि भिक्षाचर्या में घूमते हैं और पर्याप्त भिक्षा ले आते हैं।

१७९३. इति पत्तेया सुत्ता, पिंडगसुत्ता इमे पुण गुरूणं।
दुप्पभिई तिप्पभिई, बहुत्तमिह मग्गणा खेत्ते॥

पूर्वोक्त सूत्र प्रत्येक हैं—प्रत्येकभावी हैं। ये दो पिंडक-सूत्र हैं—गुरु (आचार्य आदि) विषयक सूत्र हैं। इनमें बहुत अर्थात् दो आदि, तीन आदि के विहरण करने की बात है। इन सूत्रों का उद्देश्य है—क्षेत्र की मार्गणा करना।

१७९४. हेट्ठा दोण्ह विहारो, भणितो किं पुण इयाणि बहुयाणं।
एगक्खेत्तठिताणं, तु मग्गणा खेत्त अक्खेते॥

पूर्व सूत्र में दो मुनियों के साथ विहार का कथन है। प्रस्तुत में आचार्य आदि बहुतों का कथन क्यो? आचार्य ने कहा— एक क्षेत्र में स्थित उनके लिए किसका क्षेत्र होता है और किसका अक्षेत्र—इसकी मार्गणा इन सूत्रों में दी गई है।

१७९५. उडुबद्धसमत्ताणं, उग्गह एग दुग पिंडियाणं पि।
साधारणपत्तेगे, संकमति पडिच्छए पुच्छा॥

समाप्तकल्प वाले एक-दो पिंडित होने वाले आचार्यों के ऋतुबद्धकाल में उनके अवग्रह होता है, शेष असमाप्तकल्पिकों का नहीं होता। प्रत्येक का होनेवाला साधारण क्षेत्र भी प्रतिच्छकों से हटकर उनके हो जाता है। प्रतिच्छकों को उपसंपदा नहीं दी जाती, उनकी पृच्छा मात्र कर सकते हैं।

१७९६. अप्पबितियप्पततिया, ठिताण खेत्तेसु दोसु दोण्हं तु।
उडुबद्ध होति खेत्तं, गमणागमणं जतो अत्थि॥

एक ही क्षेत्र में आत्मद्वितीय—आचार्य तथा उपाध्याय अथवा आत्मतृतीय—आचार्य, उपाध्याय तथा गणावच्छेदक हैं। इन दोनों वर्गों के लिए ऋतुबद्धकाल में क्षेत्र का आभाव्य होता है। क्योंकि इन दोनों वर्गों में परस्पर उपसंपन्न होने के कारण गमनागमन है।

१७९७. खेत्तनिमित्तं सुहदुक्खतो व सुत्तत्थकारणे वावि।
असमत्ते उवसंपय, समत्त सुहदुक्खयं मोत्तुं॥

असमाप्तकल्प वालों के क्षेत्रनिमित्तक, सुख-दुःख-निमित्तक तथा सूत्रार्थ निमित्तक उपसंपदा होती है। समाप्त-कल्पवालों के सुखदुःखनिमित्तक को छोड़कर शेष कारणों से उपसंपदा होती है।

१७९८. पडिभग्गेसु मतेसु व,
असिवादी कारणेसु फिडिता वा।
एतेण तु एगागी,
असमत्ता वा भवे थेरा॥

शेष साधु जो व्रतों से भग्न हो गए हों, मृत्यु को प्राप्त हो गए हों अथवा अशिव आदि कारणों से अलग-थलग हो गए हों—इन कारणों से स्थविर एकाकी अथवा समाप्तकल्प हो जाते हैं।

१७९९.एग-दुगपिंडिता वि हु,
लभंति अण्णोण्णनिस्सिया खेत्तं।
असमत्ता बहुया वि हु,
न लभंति अणिस्सिया खेत्तं॥

एक पिंडित अथवा द्विकपिंडित अन्योन्यनिश्रित होने के कारण क्षेत्र प्राप्त करते हैं। किंतु असमाप्तकल्पवाले अनेक होने पर भी अनिश्रित होने के कारण क्षेत्र प्राप्त नहीं करते।

१८००. जदि पुण समत्तकप्पो,दुहा ठिता तत्थ होज्ज चउरन्ने।
चउरो वि अप्पभूते, लभंति दो ते इतरनिस्सा॥

एक क्षेत्र में समाप्तकल्प में पांच मुनि हैं। संकरी वसति के कारण वे दो स्थानों में स्थित हैं। एक में दो मुनि और दूसरे में तीन मुनि। उसी क्षेत्र की अन्य वसति में चार मुनि एक साथ ठहरे हुए हैं। वह क्षेत्र इनके लिए अप्रभव—आभाव्य नहीं होता। वह क्षेत्र उनके लिए आभाव्य है जो दो स्थानों पर (एक में दो मुनि और दूसरे में तीन मुनि) रहते हैं, क्योंकि वे परस्पर निश्रित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८०१. एगागिस्स उ दोसा, असमत्ताणं च तेण थेरेहिं।
एस ठविता उ मेरा, इति व हु मा होज्ज एगागी॥

एकाकी के तथा असमाप्तकल्पिकों के अनेक दोष होते हैं, इसलिए स्थविरों ने मर्यादा स्थापित की है। यह भी कारण है कि क्षेत्र के अनाभाव्य होने से कोई मुनि एकाकी तथा असमाप्त-कल्पिक न हो।

१८०२. दोमादि ठिता साधारणम्मि सुत्तत्थकारणा एक्कं।
जदि तं उवसंपज्जे, पुव्वठिता वावि संकंतं॥

दो आदि मुनियों के गच्छ एक ही क्षेत्र में एक साथ रह रहे हैं। वह क्षेत्र साधारणतया उनके लिए आभाव्य है। इनमें से एक गच्छ के मुनियों को सूत्रार्थ के कारण से दूसरे उपसंपन्न करते हैं, पूर्वस्थित मुनि आगत गच्छ को उपसंपन्न करते हैं तो जिसके पास उपसंपन्न होते हैं, वह क्षेत्र उसमें संक्रांत हो जाता है, वह क्षेत्र उसका हो जाता है।

१८०३. पुच्छाहि तीहि दिवसं,सत्तहि पुच्छाहि मासियं हरति।
अक्खेत्तुवस्सए पुच्छमाण दूरावलिय मासो॥

तीन पृच्छाओं के कारण एक दिन तथा सात पृच्छाओं के कारण एक मास तक वह क्षेत्र उसके लिए आभाव्य होता है। अक्षेत्र में स्थित मुनियों से उपाश्रय विषयक मार्गणा करनी चाहिए। (वह आगे की जाएगी) यदि पूछने पर वह अपना उपाश्रय दूर अथवा निकट अथवा आवलिकाप्रविष्ट (अथवा मांडलिक या पुष्पावकीर्ण) बताता है तो उसका प्रायश्चित्त है एक लघुमास।

१८०४. ण्हाणऽणुयाण अद्धाण,
सीसे कुल गण चउक्क संघे य।
गामादिवाणमंतर,
महे व उज्जाणमादीसु॥

१८०५. इंदक्कील मणोग्गाह, जत्थ राया जहिं व पंच इमे।
अमच्च-पुरोहिय-सेट्ठि, सेणावति-सत्थवाहो य॥

प्रतिभा के स्नान के निमित्त, रथयात्रा के निमित्त, अध्वशीर्ष (आपदाबहुल मार्ग में), कुलसमवाय में, गणसमवाय में, चतुष्कसंघ समवाय में, ग्राममह, नगरमह, वानमंतरमह, उद्यानमह, इंद्रकीलमह आदि स्थानों में सकलमनोग्राह राजा अथवा ये पांच हों—अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी, सेनापति और सार्थवाह— वहां चले जाने पर मुनियों का साथ में रहना—वह साधारण वसति होती है। (वह पूर्वस्थित मुनियों की आभव्य होती है।)

१८०६. पुप्फावकिण्ण मंडलियावलिय
उवस्सया भवे तिविधा।
जो अब्भासे तस्स उ,
दूरे कहंत न लभे मासो॥

उपाश्रय के तीन प्रकार हैं—पुष्पावकीर्णक, मंडलिका-बद्ध तथा आवलिकास्थित। मुनि जा रहा है। उससे पूछा—उपाश्रय कहां है? (मुनि ने कहा—क्यों पूछ रहे हो? उसने कहा—मैं प्रव्रज्या लेना चाहता हूं।) इस प्रकार पूछने पर जो निकट उपाश्रय को दूर बतलाता है, अथवा दूर को निकट बतलाता है तो उसे लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है और उसे वह शिष्य नहीं मिलता।

१८०७. किह पुण साहेयव्वा, उद्दिसियव्वा जहक्कमं सव्वे।
अध पुच्छति संविग्गे, तत्थ व सव्वे व अद्धा वा॥

शिष्य ने पूछा—उपाश्रय के विषय में कैसे बोलना चाहिए? आचार्य ने कहा—सभी उपाश्रयों को यथाक्रम उद्दिष्ट करना चाहिए, कहना चाहिए। यदि वह संविग्न और तपस्वी मुनियों के विषय में पूछे तो उसे यथार्थ उत्तर देना चाहिए। यथार्थ उत्तर न देने पर प्रायश्चित्त आता है। उसे वह शिष्य नहीं मिलता। जहां सभी या आधे मुनि संविग्न होते हैं तो वह पृच्छक जहां जाता है, उसका वह आभाव्य होता है।

१८०८. मोत्तूण असंविग्गे, जे जहियं ते उ साहती सव्वे।
सिद्धम्मि जेसि पासं, गच्छति तेसिं न अन्नेसिं॥

असंविग्न मुनियों को छोड़कर शेष सभी मुनियों के विषय में वह यथार्थ रूप में बताता है। कहने के पश्चात् वह पृच्छक जिनके पास जाता है, उनका वह शिष्य होता है, दूसरों का नहीं।

१८०९. नीयल्लगाण व भया, हिरिव त्ति असंजमाधिकारे वा।
एमेव देसरज्जे, गोमेसु य पुच्छकधणं तु॥

यदि वह प्रव्रजित होने वाला पृच्छक उस क्षेत्र में अपने ज्ञातिजनों के भय से अथवा लज्जावश अथवा वह क्षेत्र असंयमाधिकरण होने के कारण वह वहां प्रव्रजित होना नहीं चाहता, इसलिए दूसरे देश, राज्य या ग्राम विषयक पृच्छा करता है तो उसे यथार्थ कथन करना चाहिए।

१८१०. अहवा वि अण्णदेसं, संपट्ठियगं तगं मुणेऊणं।
माया-नियडिपधाणो, विप्परिणामो इमेहिं तु॥

अथवा अन्यदेश के लिए प्रस्थित उस दीक्षित होने वाले व्यक्ति को जानकर वह माया और निकृति प्रधान मुनि इन वक्ष्यमाण वचनों से उसे विपरिणत करने के लिए कहता है—

१८११. चेइय साधू वसही, वेज्जा व च संति तम्मि देसम्मि।
पडिणीय सण्णि साणे, विहारखेत्ताऽहिगो मग्गो॥

जिस देश में तुम जाना चाहते हो वहां न चैत्य है, न साधु हैं, न वसति है और न वैद्य हैं। वहां प्रत्यनीक हैं। वहां संज्ञी अर्थात् दान आदि देने वाले श्रावक नहीं हैं। वहां कुत्तों का बाहुल्य हैं। वहां न विचारभूमी है और न विहारयोग्य क्षेत्र हैं। वहां अत्यधिक मार्ग हैं। (इस प्रकार वह उसको विपरिणत करना चाहता है।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८१२. वंदण पुच्छा कहणं, अमुगं देसं वयामि पव्वइउं।
नत्थि तहि चेइयाइं, दंसणसोधी जतो हुज्जा॥

वह प्रस्थित व्यक्ति उस मुनि को वंदना करता है। तब वह मुनि पूछता है—तुम किस देश में जाओगे? तब वह कहता है— मैं प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए अमुक देश में जा रहा हूं। तब मुनि कहता है—वहां चैत्य नहीं हैं, जिनसे दर्शनशोधि हो सके।

१८१३. पूया उ दट्ठुं जगबंधवाणं,
साहू विचित्ता समुवेंति तत्थ।
चागं च दट्ठूण उवासगाणं,
सेहस्स वी थिरइ धम्मसद्धा॥

उसने पूछा—चैत्य से दर्शनशोधि कैसे होती है? मुनि ने कहा—चैत्य में जगद्बांधव तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की पूजा को देखने के लिए विचित्र-भव्य, भव्यतर साधु आते हैं। मूर्ति को देखकर तथा उपासकों के त्याग को देखकर, दूसरों की तो बात कही क्या, शैक्ष की भी धर्मश्रद्धा होती है।

१८१४. न संति साहू तहियं विवित्ता,
ओसण्णकिण्णो खलु सो कुदेसो।
संसग्गिहज्जम्मि इमम्मि लोए,
सा भावणा तुज्झ वि मा भवेज्जा॥

वह कहता है—वहां रहने वाले साधु एकांततः संविग्न नहीं हैं। वह कुदेश अवसन्न साधुओं से आकीर्ण है। यह लोक (प्रदेश) संसर्गीहार्य है—वहां रहने वाला संसर्ग से वैसा ही बन जाता है। तुम वहां जाओगे, वहां तुम्हारी भी अवसन्न भावना न हो जाए इसलिए वहां मत जाओ।

१८१५. सेज्जा न संती अहवेसणिज्जा
इत्थीपसू-पंडगमादिकिण्णा।
आउत्थमादीसु य तासु निच्चं,
ठायंतगाणं चरणं न सुज्झे॥

वहां वसतियां नहीं हैं अथवा एषणीय वसतियां प्राप्त नहीं होतीं। जो हैं वे भी स्त्री, पशु, पंडक आदि से आकीर्ण हैं। स्वयं के लिए कृत उन वसतियों में नित्य रहने पर चरण की शुद्धि नहीं रहती।

१८१६. वेज्जा तहिं नत्थि तहोसहाइं,
लोगो य पाएण सपच्चणीओ।
दाणादि सण्णी य तहिं न संती,
साणेहि किण्णो सह लूसएहिं॥

वहां न वैद्य हैं और न औषधियां हैं। वहां के प्रायः लोग प्रत्यनीक—विरोधी हैं। वहां दान आदि देने वाले संज्ञी— श्रावक नहीं हैं। वह प्रदेश कुत्तों और चौरों से व्याप्त है।

१८१७. अणूवदेसम्मि वियारभूमी,
विहारखेत्ताणि य तत्थ नत्थी।
साहूसु आसण्णठितेसु तुज्झं,
को दूरमग्गेण मडप्फरो ते॥

जहां तुम जा रहे हो वह अनूपदेश है, सजल देश है। वहां विचारभूमी नहीं है। वहां विहारयोग्य क्षेत्र भी नहीं है। यहां साधु तुम्हारे निकटस्थ हैं, फिर दूर मार्ग से जाने का तुम्हारा यह मडप्फर—गमनोत्साह क्यों है?

१८१८. वासासुं अमणुण्णा, असमत्ता जे ठिता भवे वीसुं।
तेसिं न होति खेत्तं, अह पुण समणुण्णय करेंति॥
१८१९. तो तेसिं होति खेत्तं,को उ पभू तेसि जो उ रायणिओ।
लाभो पुण जो तत्था, सो सव्वेसिं तु सामण्णो॥

वर्षाकाल में अमनोज्ञ और असमाप्तकल्प वाले मुनि एक ही क्षेत्र में पृथक्-पृथक रहते हैं। उनके लिए वह क्षेत्र आभाव्य नहीं होता। इसलिए वे परस्पर समनोज्ञता और उपसंपदा स्वीकार करते हैं। तब वह क्षेत्र उनके लिए आभाव्य हो जाता है। जो रात्निक मुनि है, वही उनका प्रभु—स्वामी होता है। उस क्षेत्र में जो लाभ होता है वह सामान्यरूप से सबका होता है।

१८२०. अहव जइ वीसु वीसुं,
ठिता उ असमत्तकप्पिया होज्जा।
अण्णो समत्तकप्पी,
एज्जाही तस्स तं खेत्तं॥

अथवा जहां असमाप्तकल्पिक मुनि पृथक्-पृथक् रहते हैं वहां यदि कोई समाप्तकल्पी मुनि का आगमन होता है तो वह क्षेत्र उसका हो जाता है, पूर्व स्थित मुनियों का नहीं।

१८२१. अहवा दोण्णि व तिण्णि व,समगं पत्ता समत्तकप्पी उ।
सव्वेसिं तो तेसिं,तं खेत्तं होति साधारणं॥

अथवा वहां यदि दो-तीन समाप्तकल्पी एक साथ आ जाते हैं तो वह क्षेत्र उन सभी के लिए सामान्यरूप से आभाव्य हो जाता है।

१८२२. अपुण्णकप्पो व दुवे तओ वा,
जं काल कुज्जा समणुण्णयं तु।
तक्कालपत्तो य समत्तकप्पो,
साधारणं तं पि हु तेसि खेत्तं॥

दो, तीन अपूर्णकल्प वाले मुनि जिस समय में समनोज्ञता स्वीकार कर लेते हैं, उस समय यदि कोई समाप्त-कल्पी मुनि वहां आता है तो सभी के लिए सामान्यरूप से वह क्षेत्र आभाव्य हो जाता है।

१८२३. साधारणट्ठितिाणं, जो भासति तस्स तं भवति खेत्तं।
वारग तद्दिण पोरिसि, मुहुत्त भासे उ जो ताहे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस क्षेत्र में सामान्यरूप से स्थित मुनियों में से जो मुनि सूत्र और अर्थ की वाचना देना है, वह क्षेत्र उसके लिए आभाव्य होता है। यदि वे वारी-वारी से वाचना देते हों तो जिस दिन पौरुषी अथवा मुहूर्त भर के लिए वाचना देते हैं तो उतने समय तक वह क्षेत्र उनका होता है।

१८२४. आवलिया मंडलिया, घोडग कंडूइतए व भासेज्जा।
सुत्तं भासति सामाइयादि जा अट्ठसीतिं तु॥

सूत्रार्थ की वाचना के तीन प्रकार हैं–

१. आवलिका–विच्छिन्नरूप से एकांत में होने वाली मंडली।

२. मंडलिका–स्वस्थान में होने वाली।

३. घोटककंडूयित–वारी-वारी से परस्पर पृच्छा।

सामयिक (आवश्यक) आदि सूत्र से लेकर दृष्टिवादगत अस्सी सूत्रों तक वाचना देना। (इसमें उत्तरोत्तर वाचनाचार्य का आभाव्य क्षेत्र होता है।)

१८२५. सुत्ते जहुत्तरं खलु, बलिया जा होति दिट्ठिवाओ त्ति।
अत्थे वि होति एवं, छेदसुतत्थं नवरि मोत्तुं॥

सूत्रों की दृष्टिवाद तक यथोत्तर बलिष्ठता होती है वैसे ही अर्थ की यथोत्तर बलिष्ठता होती है, छेदसूत्रार्थ को छोड़कर। अर्थात् अर्थाचार्यों में छेदसूत्रार्थाचार्य प्रज्ञावान् होता है।

१८२६. एमेव मीसगम्मि वि, सुत्ताओ बलवगो पगासो उ।
पुव्वगतं खलु बलियं, हेट्ठिल्लत्था किमु सुयातो॥

इसी प्रकार मिश्रक अर्थात् सूत्रार्थरूप में सूत्र से बलवान् होता है प्रकाश–अर्थ का प्रकाश। यदि पूर्वगत अपने से नीचे वाले आगमों के अर्थ से बलवान् है तो फिर वह उनके सूत्रों से बलवान् क्यों नहीं होगा? होगा ही।

१८२७. परिकम्मेहि य अत्था, सुत्तेहि य जे य सूइया तेसिं।
होति विभासा उवरिं, पुव्वगतं तेण बलियं तु॥

परिकर्म के सूत्रों से जो अर्थ सूचित होते हैं उनकी विभाषा अर्थात् विवरण पूर्वों में होता है। इसलिए पूर्वगत बलीयान् है।

१८२८. तित्थगरत्थाणं खलु, अत्थो सुत्तं तु गणहरत्थाणं।
अत्थेण य वंजिज्जति, सुत्तं तम्हा उ सो बलवं॥

अर्थ तीर्थंकरस्थान हैं अर्थात् तीर्थंकरों द्वारा अभिहित हैं। सूत्र गणधरस्थान हैं अर्थात् गणधरों द्वारा संदृब्ध हैं। अर्थ से सूत्र की अभिव्यंजना होती है, इसलिए सूत्र से अर्थ बलवान् होता है।

१८२९. जम्हा उ होति सोधी, छेदसुयत्थेण खलितचरणस्स।
तम्हा छेदसुयत्थो, बलवं मोत्तूण पुव्वगतं॥

स्खलित चारित्र वाले मुनि की शोधि छेदसूत्रार्थ से होती है, इसलिए छेदसूत्रार्थ पूर्वगत को छोड़कर शेष सभी सूत्रार्थों से बलीयान् है। (यह सारा कथन आवलिका के अनुसार किया गया है।)

१८३०. एमेव मंडलीय वि, पुव्वाहिय नट्ठ धम्मकह-वादे।
अधव पइण्णग सुत्ते, अधिज्जमाणे बहुसुते वि॥

इसी प्रकार मंडलिका में भी ज्ञातव्य है। मंडलिका कहां होती है–पूर्व अधीत श्रुत के विस्मृत हो जाने पर धर्मकथा में, वादशास्त्रों में अथवा बहुश्रुत द्वारा प्रकीर्णकश्रुत अध्ययन में।

१८३१. छिण्णाछिण्णविसेसो, आवलियाए उ अंतए ठाति।
मंडलीय सट्ठाणं, सच्चित्तादीसु संकमति॥

आवलिका और मंडलिका में विशेष यह है कि आवलिका छिन्न होती है और मंडलिका अच्छिन्न। आवलिका में उपाध्याय अंतर्–विविक्त प्रदेश में बैठता है और मंडलिका में वह स्वस्थान पर बैठता है। सचित्त आदि का लाभ पाठयिता में संक्रामित हो जाता है।

१८३२. दोण्हं तु संजताणं, घोडगकंडूइयं करेंताणं।
जो जाहे जं पुच्छति, सो ताधि पडिच्छओ तस्स॥

घोटककंडूयित (की भांति) करने वाले दो संयत मुनि जो जब जिस मुनि को प्रश्न करता है तब वह उसका प्रतीच्छक हो जाता है। दूसरा प्रतीच्छ्य है। जब तक उसका प्रतीच्छ्य होता है तब तक उसका आभवन होता है।

१८३३. एवं ताव समत्ते, कप्पे भणितो विधी उ जो एस।
एत्तो समत्तकप्पो, वोच्छामि विधिं समासेण॥

यह विधि असमाप्त कल्प के लिए कही गई है। आगे संक्षेप में समाप्तकल्प की विधि बताऊंगा।

१८३४. गणिआयरियाणं तो, खेत्तम्मि ठिताण दोसु गामेसु।
वासासु होति खेत्तं, निस्संचारेण बाहिरतो॥

गणी और आचार्य पृथक्-पृथक् दो गांवों के मध्यक्षेत्र में स्थित हैं। वर्षाऋतु में वह क्षेत्र उनका आभवन क्षेत्र है, बाहर निःसंचार होने के कारण।

१८३५. वासासु समत्ताणं, उग्गह एगदुगपिंडिताणं पि।
साधारणं तु केसिं, वोच्छं दुविहं च पच्छकडं॥

वर्षाकाल में एक में पिंडित अथवा दो-तीन में पिंडित समाप्तकल्प वालों का अवग्रह होता है। साधारण शैक्ष का जो आभवन होता है वह मैं कहूंगा तथा दो प्रकार के पश्चात्कृत के विषय में बताऊंगा।

१८३६. अक्खेत्त जस्सुवट्ठति, खेत्ते व समट्ठिताण साधारे।
वायंतियववहारे, कयम्मि जो जस्सुवट्ठाति॥

अक्षेत्र अर्थात् प्रतिमास्नान आदि के प्रयोजन से एकत्रित मुनियों में से जो शैक्ष जिसके पास उपसंपन्न होता है, वह उसका होता है। अथवा किसी क्षेत्र में एक साथ समाप्तकल्प मुनि स्थित हैं, उस सामान्य क्षेत्र में जो परस्पर बातचीत करके प्रविष्ट हुए हैं, उस स्थिति में जो शैक्ष जिसके पास उपसंपन्न होता है, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका होता है।

१८३७. साधारणट्ठिताणं, सेहे पुच्छंतुवस्सए जो उ।
दूरत्थं पि हु नियगं, साहती उ तस्स मासगुरू ॥

कोई शैक्ष मार्गगत किसी मुनि को साधारण क्षेत्र स्थित उपाश्रय के विषय मं पूछता है तो वह मुनि (स्वार्थवश) अपने दूरस्थ अपाश्रय को अथवा निकटस्थ उपाश्रय को बताता है तो वह एक गुरुमास के प्रायश्चित्त का भागी होता है।

१८३८. सव्वे उद्दिसियव्वा, अह पुच्छे कतर एत्थ आयरिओ।
बहुस्सुय तवस्सि व पव्वायगो य तत्थ वि तहेव॥

उस मुनि को चाहिए वह यथाक्रम सभी उपाश्रयों तथा अमुक उपाश्रय में अमुक आचार्य हैं और अमुक उपाश्रय में अमुक आचार्य हैं, यह बताए। यदि वह शैक्ष पूछे कि कौन आचार्य बहुश्रुत है, कौन तपस्वी है और कौन प्रव्राजक है तो उसे पूर्ववत् यर्थाथ बात कहे। अन्यथा कहने वाला प्रायश्चित का भागी होता है।

१८३९. सव्वे सुतत्था य बहुस्सुया य,
पव्वायगा आयरिया पहाणा।
एवं तु वुत्ते समुवेति जस्स,
सिट्ठे विसेसे चउरो य किण्हा॥

यदि सभी आचार्य श्रुतार्थ से सम्पन्न हैं, सभी बहुश्रुत हैं, सभी प्राव्राजक हैं, तो जो अचार्य जिसमें प्रधान हो उसका यथार्थ निरूपण करे। इस प्रकार यथार्थ कहने पर वह शैक्ष जिसके पास जाकर उपसंपन्न होता है, वह उसी का होता है। यदि वह मुनि अपने आचार्य को विशिष्ट बताता है तो उसे चार कृत्स्न अर्थात् चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१८४०. धम्ममिच्छामि सोउं जे, पव्वइस्सामि रोइए।
कहणा लद्धितोऽहीणो, जो पढमं सो उ साहति॥

वह शैक्ष आचार्य के पास आकर कहता है—'मैं धर्म सुनना चाहता हूं। धर्म मुझे रुचिकर लगेगा तो प्रव्रजित हो जाऊंगा।' उसको वह मुनि पहले धर्म सुनाए जो कथनलब्धि से संपन्न हो।

१८४१. पुणो वि कहमिच्छंते, तत्तुल्लं भासते परो।
एवं तु कहिते जस्स, उवट्ठायति तस्स सो॥

यदि वह शैक्ष पुनः धर्मकथा सुनना चाहे तो पहले वाले धर्मकथक के तुल्य दूसरा धर्मकथा करे। इस प्रकार धर्मकथा को सुनकर वह जिसके पास उपसंपन्न होता है, उसी का वह शिष्य होता है।

१८४२. अणुवसंते च सव्वेसिं, सलद्धिकहणा पुणो।
रायणियादि उवसंतो, तस्स सो मा य नासउ॥

इस प्रकार सभी के पास धर्म कथा सुनने के पश्चात् भी वह उपशांत नहीं होता तो रात्निक मुनि से धर्म कथा सुनाए। जिसके द्वारा वह उपशांत होता है, उसी का वह हो जाता है। इतना आयास इसलिए किया जाता है कि वह अनुपशांत रहकर संसार में नष्ट न हो जाए, संसार का परिभ्रमण न करे।

१८४३. जं जाणह आयरियं, तं देह ममं ति एव भणितम्मि।
जदि बहुया ते सीसा, दलंति सव्वेसिमेक्केक्कं॥

'जिनको तुम आचार्य जानते हो, उन्हें मुझे दिखाओ'—ऐसा कहने पर यदि शिष्य के रूप में वहां उपस्थित अनेक होते हैं तो वे सभी एक-एक कर अपनी सम्मति देते हैं और परस्पर सम्मति से उसे किसी एक आचार्य को सौंप देते हैं।

१८४४. रायणिया थेराऽसति, कुल-गण-संघे दुगादिणो भेदो।
एमेव वत्थ-पाए, तालायर सेवगा भणिता॥

यदि एक ही शिष्य (शैक्ष) हो तो जो रत्नाधिक है उसको समर्पित कर देते हैं। यदि सभी रत्नाधिक हों तो स्थविर को, सभी स्थविर हों तो जिसके शिष्य न हो उसको। यदि सभी स्थविरों के शिष्य न हो तो कुलस्थविर को, अथवा गणस्थविर को अथवा संघस्थविर को। दो प्रभृति आदि शिष्यों के विभाग के विषय में जानना चाहिए। इसी प्रकार तालाचर, सेवक आदि से दान में प्राप्त वस्त्र, पात्र आदि के विषय में जानना चाहिए। (इसकी विस्तृत व्याख्या आगे के श्लोकों में।)

१८४५. रायणियस्स उ एगं, दलंति तुल्लेसु थेरगतरस्स।
तुल्लेसु जस्स असती, तहावि तुल्ले इमा मेरा॥

एक ही शिष्य हो तो उसे रात्निक को सौंप देना चाहिए। यदि सभी समान रत्नाधिक हों तो उन तुल्य रत्नाधिकों में जो स्थविर हो उसको, स्थविर भी यदि समान हों तो जिसके शिष्य न हो उसको, यदि शिष्याभाव के कारण सभी तुल्य हों तो यह मर्यादा है।

१८४६. साकुलगा कुलथेरे, गण-थेर गणिव्वएयरे संघे।
रायणिय थेर असती, कुलादिथेराण वि तहेव॥

यदि सभी समान कुलवाले हों तो कुल स्थविर को, अथवा गणस्थविर को, इतर गण वाले हों तो संघस्थविर को। रत्नाधिक स्थविर के अभाव में कुल आदि स्थविरों को। यह एक के अभाव की स्थिति पर करना होता है।

१८४७. साधारणं व काउं, दोण्ह वि सारेंत जाव अण्णो उ।
उप्पज्जति सिं सेहो, एमेव य वत्थपत्तेसु॥

उस शैक्ष को साधारणरूप से शिष्य बनाकर, फिर दो आचार्य या मुनि उस शैक्ष की सार-संभाल करते हैं जब तक की दूसरा शिष्य प्राप्त नहीं हो जाता। इसी प्रकार वस्त्र, पात्र के विषय में जानना चाहिए।

१८४८. चोदेति वत्थपाया, कप्पंते वासवासि घेत्तुं जे।
जह कारणम्मि सेहो, तह तालचरादिसु वत्थाइं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिष्य जिज्ञासा करता है कि क्या वर्षावास में वस्त्र-पात्र लेना कल्पता है? आचार्य ने कहा—जैसे कारण से[1] शैक्ष कल्पता है, वैसे ही तालचर आदि से दान में प्राप्त वस्त्र आदि कल्पता है।

१८४९. साधारणो अभिहितो, इयाणि पच्छाकडस्स अवयारो।
सो उ गणावच्छेइय, पिंडगसुत्तम्मि भण्णिहिती॥

साधारण शैक्ष विषयक मर्यादा बताई जा चुकी है। अब पश्चात्कृत का अवतार—प्रस्ताव है। उसके विषय में गणावच्छेदकपिंडसूत्र में कहा जाएगा।

१८५०. एमेव गणावच्छे, एगत्त-पुहत्त दुविधकालम्मि।
जं एत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं॥

इसी प्रकार गणावच्छेदक से संबंधित दोनों कालों के पृथक्त्व और एकत्व के सूत्र जानने चाहिए। उनमें जो नानात्व है, उसे मैं संक्षेप में बताऊंगा।

१८५१. जह होति पत्थणिज्जा, कप्पट्ठी नीलकेसि सव्वस्स।
तध चेव गणावच्छो, किं कारण जेण तरुणो उ॥

जैसे कप्पट्ठी—बालिका और नीलकेशी—तरुणी स्त्री सबके लिए प्रार्थनीय होती है, उसी प्रकार गणावच्छेदक भी। शिष्य ने पूछा—क्या कारण है? इसका कारण है कि गणावच्छेदक तरुण है।

१८५२. दोण्हं चउकण्णरहं, भवेज्ज-छक्कण्ण मो न संभवति।
सिद्धं लोके तेण उ, परपच्चयकारणा तिन्नि॥

लोक में यह प्रसिद्ध है कि दो व्यक्तियों के अर्थात् चार कानों वाली बात रहस्य रह सकती है। तीन व्यक्तियों अर्थात् छह कानों की बात रहस्य नहीं रह सकती। इसीलिए दूसरों में विश्वास पैदा करने के लिए तीन मुनियों का विहार सम्मत है।

१८५३. जयणा तत्थुडुबद्धे,
समभिक्खाऽणुण्ण निक्खम पवेसा।
वासासु दोन्नि चिट्ठे,
दो हिंडेऽसंथरे इतरे॥

ऋतुबद्धकाल में यह यतना है—साथ में भिक्षा, साथ में अनुज्ञा, साथ में निष्क्रमण और साथ में प्रवेश। वर्षाकाल की यतना यह है—दो मुनि भिक्षा के लिए घूमे और दो मुनि वसति में रहे। यदि पर्याप्त भिक्षा प्राप्त न हो तो दूसरों द्वारा आनीत भिक्षा में से ग्रहण करे।

१८५४. एमेव बहूणं पी, जहेव भणिता उ आयरियसुत्ते।
जाव उ सुतोवसंपद, नवरि इमं तत्थ नाणत्तं॥

इसी प्रकार बहुत्व के विषय में भी ऋतुबद्ध और वर्षाकाल में जानना चाहिए। तथा जैसे आचार्य के सूत्र में बहुत्व विषयक निर्देश है—भावना है—वैसे ही श्रुतोपसंपद् तक जाननी चाहिए। उसमें निम्न विषयक यह नानात्व है।

१८५५. साधारणट्ठितासुं, सुत्तत्थाई परोप्परं गिण्हे।
वारंवारेण तहिं, जह आसा कंडुयंते वा॥

यदि सभी द्विवर्ग, त्रिवर्ग समाप्तकल्प वाले मुनि एक ही क्षेत्र में रहते हैं, वह साधारण क्षेत्र है। वहां अश्व कंडूयति की भांति बारी-बारी से वे परस्पर सूत्रार्थ लेते हैं तो सूत्रार्थ के प्रदाता का वह क्षेत्र आभाव्य होता है।

१८५६. अह पुव्वठिते पच्छा, अण्णो एज्जाहि बहुसुते खेत्ते।
सो खेत्तुवसंपन्नो, पुरिमल्लो खेत्तिओ तत्थ॥

जिस क्षेत्र में पहले से ही साधु स्थित हैं और बाद में कोई बहुश्रुत मुनि उस क्षेत्र में आता है तो पूर्व स्थित मुनियों की अनुमति से वह क्षेत्र उपसंपन्न हो जाता है, क्षेत्रस्वामी पूर्ववर्ती ही होता, पश्चात्वर्ती नहीं।

१८५७. खेत्तिओ जइ इच्छेज्जा, सुत्तादी किंची गेण्हिउं।
सीसं जइ मेधावी, पेसे खेत्तं तु तस्सेव॥

क्षेत्र स्वामी यदि आगंतुक मुनि के पास किंचिद् सूत्र आदि लेना चाहता हो और वह अपना मेधावी शिष्य को उसके पास भेजता है तो वह क्षेत्र पूर्वस्थित का होता है, पश्चात् आगत का नहीं।

१८५८. असती तव्विधसीसेऽणिक्खित्तगणे उ वाए संकमति।
अहवावि अगीतत्थे, निक्खिवती गुरुग न य खेत्तं॥

उस प्रकार का शिष्य न होने पर गीतार्थ में गण का निक्षेप न करने पर पश्चात् आगत के पास वाचना लेता है तो वह क्षेत्र उसमें संक्रमित हो जाता है। यदि अगीतार्थ शिष्य में गण का निक्षेप करता है, उसका प्रायश्चित्त है चार गुरुमास। क्षेत्र भी उसका नहीं होता, वह पश्चात् आगत वाचक का होता है।

१८५९. अध निक्खिवती गीते, होही खेत्तं तु तो गणस्सेव।
तस्स पुण अत्तलाभो, वायंत न निग्गतो जाव॥

यदि गीतार्थ शिष्य में गण का निक्षेप करता है और फिर आगत मुनि से वाचना लेता है तो क्षेत्र गण का ही होता है, वाचक का नहीं। उस वाचक का आत्मलाभ क्षेत्र आदि का तब तक है जब तक वह वाचना देता है, वहां से निर्गत हो जाने पर वह लाभ गण में संक्रांत हो जाता है।

१८६०. आगंतुगो वि एवं, ठवेंत खेत्तोवसंपदं लभति।
साधारणे य दोण्हं, एसेव गमो य नायव्वो॥

आगंतुक मुनि भी इस प्रकार गण में शिष्य को स्थापित कर क्षेत्रोपसंपदा को प्राप्त करता है। साधारण क्षेत्र में दो आचार्य हों

१. कारण है—यदि शैक्ष पूर्व में उपस्थापित हो गया हो, तथा आचार्य उसको अव्यवच्छित्तिकारक मानते हों तो वर्षावास में उसे शिष्यरूप में स्वीकार किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो पूर्वोक्त विकल्प ही जानना चाहिए।

१८६१. साधारणो अभिहितो, इयाणि पच्छाकडं तु वोच्छामि।
सो दुविधो बोधव्वो, गिहत्थ सारूविओ चेव॥

साधारण के विषय में बताया जा चुका है। अब पश्चात्कृत के विषय में बताऊंगा। पश्चात्कृत के दो प्रकार हैं– गृहस्थ और सारूपिक।[1]

१८६२. असिहो ससिहगिहत्थो, रयहरवज्जो उ होति सारूवी।
धारेति निसिज्जं तू, एगं ओलंबगं चेव॥

गृहस्थ दो प्रकार का होता है–सशिख–शिखायुक्त और अशिख–शिखारहित। (जो केशों को धारण करता है वह शिखायुक्त होता है और जो मुंड होता है वह शिखारहित होता है।) जो रजोहरण से रहित होता है वह अशिखा है। सारूपिक एक निषद्या, एक निषद्योपेत रजोहरण तथा एक अवलंबक–दंड रखता है।

१८६३. गिहिलिंगं पडिवज्जति, जो ऊ तद्दिवसमेव जो तं तु।
उवसामेती अण्णो, तस्सेव ततो पुरा आसी॥

जो श्रामण्य को छोड़ गृहिलिंग को स्वीकार कर लेता है और उसी दिन दूसरे से उपशांत होकर पुनः व्रतग्रहणाभिमुख होता है तो जिसने उपशांत किया है उसी का वह आभाव्य होता है, मूल आचार्य का नहीं। यह विधि पहले प्रचलित थी। (लिंग का परित्याग कर देने पर तीन वर्षों के बीतने पर आभवन पर्याय परिपूर्ण होता है, पहले नहीं। यह मर्यादा किसने की?)

१८६४. एण्हिं पुण जीवाणं, उक्कडकलुसत्तणं वियाणेत्ता।
तो भद्दबाहुणा ऊ, तेवरिसा ठाविता ठवणा॥

आजकल के प्राणियों की उत्कट कलुषता को जानकर आचार्य भद्रबाहु ने (आचार्यत्व ग्रहण की) त्रैवार्षिकी मर्यादा की।

१८६५. परलिंग निण्हवे वा, सम्मद्दंसण जढे तु संकंते।
तद्दिवसमेव इच्छा, सम्मत्तजुए समा तिण्णि॥

परलिंग दो प्रकार का होता है–गृहिलिंग और परतीर्थिक-लिंग। वह भग्नचारित्री सम्यग्दर्शन से विकल व्यक्ति परतीर्थिक-लिंग अथवा निह्नवों के मध्य चला जाता है और उसी दिन जिसके पास प्रव्रजित होना चाहता है वह उसी का आभाव्य होता है और यदि सम्यक्त्वयुक्त होकर परलिंग आदि में जाता है तो तीन वर्ष पूर्ण होने पर ही उसकी पूर्व पर्याय टूटती है।

१८६६. एमेव देसियम्मि वि, समासितेणं तु समणुसिट्ठम्मि।
ओसण्णेसु वि एवं, अच्चाइण्णे न पुण एण्हिं॥

इसी प्रकार उत्प्रव्रजित किसी देशिक व्यक्ति को समान-भाषा वाला व्यक्ति अनुशिष्टि देता है तो अनुशिष्टि देने वाले का वह आभाव्य होता है। अवसन्न व्यक्ति के लिए भी यही विधि है। जो कषायों से अत्याकीर्ण है, उसके लिए यह व्यवस्था नहीं है। उसके लिए तीन वर्षों का काल है।

१८६७. सारूवी जज्जीवं, पुव्वयरियस्स जे य पव्वावे।
अपव्वविय सच्छंदो, इच्छाए जस्स सो देति॥

सारूपिक यावज्जीवन के लिए पूर्वाचार्य का आभाव्य होता है। वह जितने व्यक्तियों को प्रव्रजित करता है वे भी पूर्वाचार्य के आभाव्य होते हैं। जिनको उसने प्रव्रजित नहीं किया है उनके लिए उसकी आत्मेच्छा है। जिसको वह इच्छा से उन्हें देता है, उनके वे आभाव्य होते हैं।

१८६८. जो पुणे गिहत्थमुंडो, अधवा मुंडो उ तिण्ह वरिसाणं।
आरेणं पव्वावे, सयं च पुव्वायरिय सव्वं॥

जो गृहस्थमुंड (क्षुरमुंड) हैं अथवा मुंड हैं (लोचद्वारा)–ये दोनों प्रकार के मुंड सारूपिक से भिन्न हैं, अतः तीन वर्षों से पूर्व जिनको प्रव्रजित करता है वे तथा स्वयं तीन वर्षों के पूर्ण होने तक पूर्वाचार्य के आभाव्य होते हैं।

१८६९. अपव्वित सच्छंदा, तिण्हं उवरिं तु जाणि पव्वावे।
अपव्वविताणि जाणि य,सो वि य जस्सिच्छते तस्स॥

जिनको तीन वर्षों से पूर्व प्रव्रजित नहीं किया उनको अपनी इच्छा से जिनको देता है, वे उनके आभाव्य होते है। तीन वर्ष पूर्ण होने के पश्चात् जितने व्यक्तियों को प्रव्रजित करता है अथवा अप्रव्रजित हैं वे सब तथा स्वयं भी अपनी इच्छा से जिसके पास प्रव्रजित होना चाहता है उसके पास प्रव्रजित होता है।

१८७०. गंतूणं जदि बेती, अहयं तुज्झं इमाणि अन्नस्स।
एयाणि तुज्झ नाहं, दो वी तुज्झं दुवेण्हस्स॥

तीन वर्ष की मर्यादा पूर्ण होने पर वह पूर्वाचार्य के पास जाकर यदि कहता है–मैं आपके पास प्रव्रजित होना चाहता हूं। ये जो मेरे द्वारा प्रव्रजित हैं ये किसी दूसरे आचार्य के पास प्रव्रजित होना चाहते हैं। अथवा ये आपके पास और मैं दूसरे आचार्य के पास, अथवा दोनों आपके पास अथवा दोनों दूसरे आचार्य के पास।

१८७१. छिण्णम्मि उ परियाए, उवट्ठियंते हु पुच्छिउं विहिणा।
तस्सेव अणुमतेणं, पुव्वदिसा पच्छिमा वावि॥

तब आचार्य तीन वर्ष काल को अतिक्रांत जानकर उसको उपसंपन्न करते हैं तथा उसको पूछकर विधि से दूसरों को भी उपस्थापना देते हैं। उसकी अनुमति अर्थात् इच्छा से उनको पूर्व दिशा अथवा पश्चिम दिशा देते हैं अर्थात् यदि वे पूर्वाचार्य को चाहते हैं तो उनके पास और अन्य आचार्य को चाहते हैं तो उनके पास उपस्थापना दिलाई जाती है। (उपस्थापना के विषय में उनकी इच्छा ही प्रमाण होती है।)

१. समानं रूपं सरूपं, तेन चरतीति सारूपिकः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८७२. संविग्गमुद्दिसंते, पडिसेहं तस्स संथरे गुरुगा।
किं अम्हं तु परेणं, अधिकरणं जं तु तं तेसिं॥

जो अपने आत्मीय गुरु को संविग्न रूप में प्रकाशित करता है और दूसरे के पास प्रव्रजित होना चाहता है तो प्रव्रज्या देने वाला वह आचार्य कहता है—हमें दूसरे से क्या प्रयोजन। जो जिसका अधिकरण है वह उसी का हो, इस प्रकार प्रतिषेध करने पर उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। यह संस्तरण (?) होने पर प्रायश्चित्त है।

१८७३. एवं खलु संविग्गेऽसंविग्गे वारणा न उद्दिसणा।
अब्भुवगत जं भणती, पच्छ भणंते न से इच्छा॥

अपने गुरु को संविग्न बताने के विषय में पूर्व श्लोक में कहा गया। जो अपने गुरु को असंविग्न बतलाता है उसका प्रतिषेध करना चाहिए और उसे प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए। यदि वह कहे—मैं पूर्वाचार्य को संविग्न अथवा असंविग्न नहीं कहता किंतु अब जिसको स्वीकार कर रहा है उसके प्रति कहता हूं—आप ही मेरे आचार्य हैं, तो उसे प्रव्रज्या दे देनी चाहिए। प्रव्रजित होने के पश्चात् यदि वह कहे—मैं पूर्वाचार्य का हूं, आपका नहीं। उसकी इच्छा के अनुसार वैसा नहीं होता। वह वर्तमान में प्रव्रज्या देनेवाले का ही है।

१८७४. एमेव निच्छिऊणं, उट्ठितो पच्छ तेसिमाउट्टो।
इतरेहि व रोसवितो, सच्छंद दिसं पुणो न लभे॥

उपरोक्त रूप से निश्चय कर प्रव्रजित होने पर भी जो बाद में पूर्वाचार्य के प्रति आवृत्त हो जाता है अथवा दूसरों द्वारा रुष्ट होकर कहता है—मैं पूर्वाचार्य का ही हूं, आपका नहीं, वह स्वच्छंद दिशा को प्राप्त नहीं करता अर्थात् वह पूर्वाचार्य का नहीं होता।

१८७५. अण्णाते परियाए,
पुण्णे न कधेज्ज जो समुट्ठंतो।
लज्जाय मा व घेच्छिति,
मा व न दिक्खेज्जिमा भयणा॥

अज्ञात रहकर वह पर्याय के पूर्ण हो जाने पर भी पुनः प्रव्रज्या के लिए उपस्थित होकर लज्जावश अथवा मुझे कोई ग्रहण न कर ले अथवा मुझे पश्चात्कृत जानकर दीक्षित न करे—इन भजना—विकल्पों से वह अपने आपको प्रगट नहीं करता।

१८७६. णाते व जस्स भावो, न नज्जते तस्स दिज्जते लिंगं।
दिण्णम्मि दिसिं नाहिति, कालेण व सो सुणंतो वा॥

यदि पश्चात्कृत के रूप में वह ज्ञात हो जाता है, किंतु उसके भावों की जानकारी नहीं होती, फिर भी उसे लिंग दिया जा सकता है। उसको लिंग दे देने पर उसकी दिशा (पूर्वाचार्य) काल के बीतने पर अथवा परंपरा से सुनकर जान ली जाएगी। (फिर उसको जहां लगे वहां वह जा सकता है।)

१८७७. अधवा अण्णऽण्णकुला,
पडिभज्जिउकाम समण समणी य।
अणुसिट्ठा परे न ठिता,
करेंति वायंतववहारं॥

अथवा अन्यान्यकुल में उत्पन्न श्रमण-श्रमणी अपने-अपने गच्छ से विलग होने के इच्छुक हो गए। उन्हें अनुशिष्टि देने पर भी वे स्थिर नहीं हुए और वे वागन्तिक व्यवहार करते हैं। (वाणी से यह निश्चय कर लेते हैं कि हम विवाह में बद्ध होंगे। हमारे जो संतानें होंगी और जब हम पुनः प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे तब पुरुष संतान होगी वह मेरी और जो स्त्री संतान होगी वह तुम्हारी अथवा दोनों मेरी अथवा तुम्हारी। वे ही उनकी आभाव्य होती है।)

१८७८. अध न कतो तो पच्छा तेसिं अब्भुट्ठिताण ववहारो।
गोणी आसुब्भामिग, कुडुंबि खरए य खरिया य॥

यदि उन्होंने वागन्तिक व्यवहार नहीं किया हो और वे प्रव्रज्या के लिए उपस्थित होते हैं तो व्यवहार—भंडन होता है। इसमें गाय, अश्व, उद्भ्रामिका, कौटुम्बिक, खरखरिका दृष्टांत हैं।

१८७९. गोणीणं संगेल्लं, उब्भामइला य नीत परदेसं।
तत्तो खेत्ते देवी, रण्णो अभिसेचणे चेव॥

गायों का समूह, उद्भ्रामिका को परदेश ले जाना, क्षेत्र में बीज, राजा की रानी का अभिसेचन आदि।

१८८०. संजइइत्त भणंती, संडेणऽण्णस्स जं तु गोणीए।
जायति तं गोणिवतिस्स होति एवम्ह एताइं ॥

श्रमणी के समानकुल वाले कहते हैं—अन्य व्यक्ति के सांड से गायों के जो अपत्य होते हैं वे सब गोपति—गायों के स्वामी के होते हैं, न कि सांड के स्वामी के। (इसी प्रकार ये अपत्य श्रमणी से संबंधित होंगे।)

१८८१. बेंतितरे अम्हं तू, जध वडवाए उ अण्णआसेणं।
जं जायति मोल्लम्मी, अदिण्ण तं आसिगस्सेव॥

श्रमण के समानकुल वाले कहते हैं—ये अपत्य हमारे होंगे जैसे बिना मूल्य दिए अन्य व्यक्ति के अश्व से वडवा—घोड़ी से होने वाले अपत्य अश्वस्वामी के होंगे। (इसी प्रकार ये अपत्य श्रमण संबंधी होंगे।)

१८८२. जस्स महिलाय जायति, उब्भामइलाय तस्स तं होति।
संजतिइत्त भणंती, इतरे बेंती इमं सुणसु॥

श्रमणी के समानकुल वाले कहते है—जिस कुलटा स्त्री से जो अपत्य होता है वह उसका होता है। दूसरे कहते हैं—तुम यह सुनो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८८३. तेणं कुडुंबितेण उब्भामइलेण दोण्ह वी दंडो।
दिण्णो सावि य तस्सा, जाया एवम्ह एताइं॥

जिससे कुलटा स्त्री के अपत्य पैदा हुआ उस कौटुम्बिक के राजकुल में जाने पर राजा ने दोनों को दंडित किया। वह स्त्री भी तब उसकी हो गई। इसी प्रकार ये भी हमारे ही होंगे।

१८८४. पुणरवि य संजतित्ता, बेंती खरियाय अण्णखरएणं।
जं जायति खरियाधिवस्स, होति एवम्ह एताइं॥

पुनः श्रमणी के समानकुल वाले कहते हैं—गधी के अन्य व्यक्ति के गधे से जो अपत्य होते हैं, वह सब गधी के स्वामी के होते हैं। इसी प्रकार ये सब हमारे हैं।

१८८५. गोणीणं संगेल्लं, नट्ठं अडवीय अण्णगोणेणं।
जायाइ वत्थगाइं, गोणाहिवतीउ गेण्हंति॥

गायों का एक समूह जंगल में चला गया। वहां अन्य व्यक्ति के सांड से बछड़े हुए। उन सबको गायों का स्वामी ग्रहण करता है। (इसी प्रकार ये सब हमारे हैं। ऐसा श्रमणीवर्ग वालों के कहने पर—)

१८८६.उब्भामिय पुव्वुत्ता, अहवा नीता उ जा परविदेसं।
तस्सेव उ सा भवती, एवं अम्हं तु आभवती॥

श्रमणसत्क वाले कहते हैं—पूर्वोक्त उदभ्रामिका— कुलटा के अपत्य हुआ अथवा उसे परदेश ले जाया गया, वह उसी की होती है, उसी प्रकार ये अपत्य भी हमारे ही होते हैं।

१८८७. इतरे भणंति बीयं, तुब्भं तं नीयमन्नखेत्तं तु।
तं होति खेत्तियस्सा, एवं अम्हं तु एताइं॥

दूसरे अर्थात् संयतीसत्क वाले कहते हैं—तुम्हारे बीजों को अन्य क्षेत्र में जाकर बो दिए। उनसे उत्पन्न फसल उस क्षेत्रस्वामी की होती है। इसी प्रकार ये हमारे हैं।

१८८८. रण्णो धूयातो खलु, न माउछंदा उ ताउ दिज्जंति।
न य पुत्तो अभिसिच्चति, तासिं छंदेण एवम्हं॥

राजा की पुत्रियां माताओं—रानियों की इच्छा से नहीं दी जातीं और न उनकी इच्छा से पुत्र का राज्याभिषेक किया जाता है। यह सब राजा की इच्छा से किया जाता है। (इसलिए ये हमारे है—ऐसा संयतसत्क वाले कहते हैं।)

१८८९. एमादि उत्तरोत्तर, दिट्ठंता बहुविधा न उ पमाणं।
पुरिसोत्तरिओ धम्मो, होति पमाणं पवयणम्मि॥

इस प्रकार उत्तरोत्तर अनेक प्रकार के दिए जाने वाले दृष्टांत प्रमाण नहीं होते। प्रवचन में (जैन शासन में) पुरुषोत्तरिक धर्म ही प्रमाण है। (इसलिए सारे अपत्य पुरुषसत्क को ही मिलते हैं।)

१८९०. आयरियउवज्झायम्मि,
अधिकिते अधिकिते य कालम्मि।
निस्सोवसंपय त्ति य,
एगट्ठमयं तु संबंधो॥

पूर्वसूत्र आचार्य और उपाध्याय से अधिकृत थे तथा काल—ऋतुबद्ध तथा वर्षाकाल अधिकृत था। प्रस्तुत सूत्र आचार्य-उपाध्याय के ऋतुबद्ध काल में मरण होने से संबंधित है। निश्रा और उपसंपद् एकार्थक हैं। यह पूर्वसूत्र से संबंध है।

१८९१. अधवा एगतरम्मि उ,
आयरियगणिम्मि वावि आहच्च।
वीसुंभूते गच्छंति,
फड्डगं फड्डगा व गणं॥

अथवा आचार्य या गणी—उपाध्याय—इन दोनों में से किसी एक का अकस्मात् मरण हो जाने पर गच्छ वाले स्पर्द्धक रूप में हो जाते हैं अथवा स्पर्द्धक गण में चले जाते हैं।

१८९२. लोगे य उत्तरम्मी, उवसंपद लोगिगी उ रायादी।
राया वि होति दुविधो, सावेक्खो चेव निरवेक्खो॥

उपसंपदा के दो प्रकार हैं। लोक में होने वाली लौकिक और उत्तर में अर्थात् लोकोत्तर में होने वाली लोकोत्तरिकी। लौकिक उपसंपदा राजा आदि की होती है। (राजा के मरने पर युवराज उपसंपद्य होता है। युवराज भी अंत में दूसरे को स्थापित करता है।) राजा दो प्रकार का होता है—सापेक्ष तथा निरपेक्ष।

१८९३. जुवरायम्मि उ ठविते, पया उ बंधंति आयतिं तत्थ।
नेव य कालगतम्मी खुब्भंति पडिवेसिय नरिंदा॥

युवराज की स्थापना कर देने पर प्रजा आयति—उत्तरकालिकी श्रद्धा को उसके प्रति बांध देती है। युवराज की स्थापना किए बिना राजा का अकस्मात् निधन हो जाने पर पड़ौसी राजा राज्य को क्षुब्ध करने लग जाते हैं।

१८९४. पच्छन्नराय तेणे, आत-परो दुविध होति निक्खेवो।
लोइय-लोगुत्तरिओ, लोगुत्तर ठप्पितर वोच्छं॥

(निरपेक्ष राजा वह होता है जो राज्य और प्रजा के भविष्य की अपेक्षा नहीं रखता।) उसके कालगत हो जाने पर, दूसरे को राजा के रूप में स्थापित न करने तक उसे प्रच्छन्न रखना होता है। कभी चोर को भी राजा बनाना होता है। उसका निक्षेपण दो प्रकार का होता है—स्वयं का तथा दूसरे का। इन दोनों में प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—लौकिक और लोकोत्तरिक। लोकोत्तरिक स्थाप्य है। उसके विषय में आगे बताऊंगा।

१८९५. निरवेक्खे कालगते,भिन्नरहस्सा तिगिच्छऽमच्चो य।
अहिवास आस हिंडण, वज्झो त्ति य मूलदेवो उ॥

निरपेक्ष राजा कालगत हो गया। दो व्यक्ति भिन्नरहस्य थे—इस तथ्य को जानते थे। वे थे—चिकित्सक और अमात्य। राजा की खोज के लिए एक अश्व को अधिवासित कर गांव में घुमाया। चोर मूलदेव वध्य था। उसे ले जाया जा रहा था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८९६. आसस्स पट्ठिदाणं, आणयणं हत्थचालणं रण्णो।
अभिसेग भोइ परिभव, तण-जक्ख निवायणं आणा॥

उस अश्व ने मूलदेव को पीठ दी (पीठ पर बिठा लिया)। मूलदेव को वहां लाया गया जहां राजा मृत पड़ा था। वहां बैठे हुए वैद्य और अमात्य ने मृत राजा के हाथ को ऊपर उठाकर हिलाया और मूलदेव को राजा के रूप में अभिषिक्त कर दिया। मूलदेव राजा बन गया। कुछ भोजिक उसका पराभव करने लगे। एक दिन राजा मुकुट में तृणशूक लगाकर आस्थान मंडप में आया। लोग उपहास करने लगे। यक्ष देव ने उन उपहासकर्ताओं का विनाश कर डाला। तदनंतर शेष सभी उसकी आज्ञा स्वीकारने लगे।[1]

१८९७. जक्खऽतिवातियसेसा, सरणगता जेहि तोसितो पुव्वं।
ते कुव्वंती रण्णो, अत्ताण परे य निक्खेवं॥

यक्षातिपात से जो बचे थे वे मूलदेव की शरण में आ गए तथा जिन्होंने पहले मूलदेव को संतुष्ट किया था उन्होंने स्वयं को तथा दूसरों को राजा के सुपुर्द कर लिया, सभी समर्पित हो गए।

१८९८. पुव्वं आयतिबंधं, करेति सावेक्ख गणधरे ठविते।
अट्ठविते पुव्वत्ता, दोसा उ अणाहमादीया॥

सापेक्ष आचार्य पहले ही गणधर को स्थापित कर आयतिबंध कर लेता है–शिष्यों को कह देता है–यह आचार्य है। अब इसकी आज्ञा में चलना है। जो आचार्य गणधर की पहले स्थापना नहीं करता, उससे पूर्वोक्त दोष–अनाथ आदि का आरोप आता है।

१८९९. आसुक्कारोवरते, अट्ठविते गणहरे इमा मेरा।
चिलिमिलि हत्थाणुण्णा, परिभव सुत्तत्थहावणया॥

अपने गणधर स्थापित किए बिना कोई आचार्य शीघ्रघाती रोग से कालगत हो जाता है तो उस स्थिति में यह मर्यादा है–चिलिमिलि–यवनिका के अंदर कालगत आचार्य का हाथ ऊपर कर स्थाप्यमान गणधर का मुख दिखाते हैं। जो उस अभिनव स्थापित आचार्य का परिभव करते हैं, उन्हें सूत्र और अर्थ की वाचना नहीं दी जाती। उनके वह हानि होती है।

१९००. दंडेण उ अणुसट्ठा, लोए लोगुत्तरे य अप्पाणं।
उवनिक्खिवंति सो पुण, लोइय लोगुत्तरे दुविहो॥

लौकिक और लोकोत्तरिक प्रसंग में यथार्थ विनय न करने पर दंड से अनुशासित होते हैं और तब वे स्वयं का उपनिक्षेप–समर्पण करते हैं। उपनिक्षेपण दो प्रकार का होता है–लौकिक और लोकोत्तरिक। ये दोनों दो-दो प्रकार के होते है–आत्मोपनिक्षेप तथा परोपनिक्षेप।

१९०१. जह कोई वणिगो तू, धूयं सेट्ठिस्स हत्थे निक्खिविउं।
दिसिजत्ताए गतो त्ति, कालगतो सो य सेट्ठीओ॥

१९०२. सेट्ठिस्स तस्स धूता,वणियसुतं घेत्तु रण्णो समुवगता।
अहयं एस सही मे, पालेयव्वा उ तुब्भेहिं॥

१९०३. इति होउ त्ति य भणिउं, कण्णा अंतेउरम्मि तुट्ठेणं।
रण्णा पक्खित्ताओ, भणिता वाहरिउ पाला उ॥

१९०४. जध रक्खह मज्झ सुता, तहेव एया उ दोवि पालेह।
तीए वि ते उ पाले, विण्णविय विणीतकरणाए॥

१९०५. जध कन्ना एयातो, रक्खह एमेह रक्खह ममं पि।
जह चेव ममं रक्खह, तह रक्खहिमं सहिं मज्झ॥

१९०६. इय होउ अब्भुवगते, अह तासिं तत्थ संवसंतीणं।
कालगतमहत्तरिया, जा कुणती रक्खणं तासिं॥

१९०७. सविकारातो दट्ठुं, सेट्ठिसुया विण्णवेति रायाणं।
महतरित दाणनिग्गह, वणियागम रायविण्णवणं॥

१९०८. पूएऊण विसज्जण,सरिसकुलदाण उ दोण्ह वी भोगो।
एमेव उत्तरम्मि वि, अवत्तराइंदिए हुवमा॥

एक कोई वणिक् अपनी एकाकी पुत्री को अपने मित्रश्रेष्ठी के हाथों सौंपकर दिग्यात्रा (परदेश) चला गया। कालांतर में वह मित्रश्रेष्ठी भी कालगत हो गया। उसके घर में भी एक ही पुत्री थी। मूल वणिक् की पुत्री अपनी सखी मित्रश्रेष्ठी की पुत्री को लेकर राजा के पास उपस्थित होकर बोली–राजन्! आपको मेरी और मेरी इस सखी का पालन–संरक्षण करना है। राजा ने कहा–ठीक है, ऐसा ही करूंगा। संतुष्ट होकर राजा ने उन दोनों कन्याओं को अंतःपुर में रख दिया और अंतःपुरपालिका को बुलाकर कहा–जैसे तुम मेरी कन्याओं का संरक्षण कर रही हो, वैसे ही इन दोनों कन्याओं का भी संरक्षण करना। राजाज्ञा को सुनकर महत्तरिका ने विनयपूर्वक कहा–देव! मैं इनका भी पूरा पालन करूंगी। तब मूल वणिक् की पुत्री ने अंतःपुरपालिका से कहा–जैसे तुम इन राजकन्याओं का संरक्षण करती हो वैसे ही मेरा संरक्षण करना। जैसे मेरा संरक्षण करेंगी वैसे ही मेरी इस सखी का भी संरक्षण करना। अंतःपुरपालिका के स्वीकार कर लेने पर वे दोनों अंतःपुर में चली गईं। उनको वहां रहते कुछ काल बीता। जो महत्तरिका उनका संरक्षण करती थी वह कालगत हो गई। कोई संरक्षिका न होने के कारण कन्याएं पथभ्रष्ट होने लगीं। यह देखकर मूल वणिक्-पुत्री ने राजा को निवेदन किया कि अन्य महत्तरिका की नियुक्ति करें। दूसरी महत्तरिका की नियुक्ति हो गई। उसने कन्याओं का निग्रह किया। सब ठीक हो गया। देशांतर से वणिक् लौट आया। उसने राजा से निवेदन किया–देव! मैं पुत्री को घर ले जाना चाहता हूं। राजा ने दोनों कन्याओं को सत्कार विसर्जित कर घर भेज दिया। सेठ ने दोनों कन्याओं का समानकुल में संबंध कर विवाह कर डाला और दोनों

१. पूरे कथानक के लिए देखें–व्यवहारभाष्य कथा परिशिष्ट।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को विपुल भोग-सामग्री दी। (यह लौकिक संरक्षण की बात है।) इसी प्रकार लोकोत्तर में भी अव्यक्त संयमी का अन्यत्र निक्षेपण आवश्यक होता है, जब तक कि वह व्यक्त नहीं हो जाता।

१९०९. एते अहं च तुब्भं वत्तीभूतो सयं तु धारेति।
जसपच्चया उराला, मोक्खसुहं चेव उत्तरिए॥

आचार्य निक्षेपण के समय कहता है—ये मेरे साधु तथा मैं—हम सब तुम्हारे पास हैं। निक्षेपण कर तब तक वहां रहता है जब तक व्यक्त नहीं हो जाता। व्यक्त हो जाने पर वहां से निर्गमन कर स्वयं गण को धारण कर लेता है। इसका लौकिक फल है—उदार यश विस्तृत होता है तथा विश्वास पनपता है। लोकोत्तर फल है—मोक्षसुख की प्राप्ति।

१९१०. सावेक्खो पुण पुव्वं, परिक्खते जध धणो उ सुण्हाओ।
अणियतसहाव परिहाविय भुत्ता छड्डिया वुड्ढा॥

सापेक्ष आचार्य पहले अपने साधुओं की परीक्षा करते हैं, जैसे धनश्रेष्ठी ने अपनी अनियत स्वभाववाली पुत्रवधुओं की परीक्षा की थी। पहली ने प्राप्त चावल के दाने त्यक्त—फेंक दिए। दूसरी ने खा लिए। तीसरी ने उतने मात्र ही सुरक्षित रखे और चौथी ने उनको बढ़ाया।[1]

१९११. ओमेऽसिवमतरंते, य उज्झिउं आगतो न खलु जोग्गो।
कितिकम्ममारभिक्खादिएसु भुत्ता उ भुत्तीए॥

जो आचार्य दुर्भिक्ष अथवा अशिव—इन स्थितियों में साधुओं को छोड़कर अथवा असहाय साधुओं को छोड़कर आया है वह योग्य नहीं होता। जिसने कृतिकर्म, भारवहन, भिक्षाचर्या आदि क्रियाओं में तथा स्वस्वार्थ के लिए साधुओं का उपयोग किया परंतु उनका सम्यक् पालन नहीं किया, वह भी योग्य नहीं होता।

१९१२. न य छड्डितो न भुत्ता, नेव य परिहाविया न परिवूढा।
ततिएणं ते चेव उ, समीव पच्चाणिता गुरुणो॥

तीसरे प्राकर का मुनि वह है जिसने अपने पास समर्पित साधुओं को न छोड़ा, न उनका अपने स्वार्थ के लिए उपयोग किया, न उनको परिहापित—कठोर वचन से हानि पहुंचाई और न उनको बढ़ाया। किंतु सभी को गुरु के समीप लाकर अर्पित कर दिया।

१९१३. उवसंपाविय पव्वाविता य अण्णे य तेसि संगहिता।
एरिसए देति गणं, कामं ततियं पि पूएमो॥

चौथे प्राकर का मुनि वह है जिसने अनेक व्यक्तियों को उपसंपन्न किया, अनेक व्यक्तियों को प्रव्रजित किया तथा अन्य अनेक व्यक्तियों का संग्रहण किया। आचार्य ऐसे व्यक्ति को गण देते हैं। अतिशय रूप से हम तीसरे प्रकार के मुनि की भी पूजा करते हैं, प्रशंसा करते हैं।

१९१४. तम्मि गणे अभिसित्ते, सेसगभिक्खूण अप्पनिक्खेवो।
जे पुण फड्डगवतिया, आतपरे तेसि निक्खेवो॥

ऐसे मुनि का गण के आचार्य पद पर अभिसिक्त होने पर शेष भिक्षुओं का आत्मनिक्षेप होता है। जो स्पर्धक पति होते हैं उनका आत्मतः तथा परतः—दोनों प्रकार का निक्षेप होता है। (स्पर्धक पति का आत्मतः और उनके आश्रित साधुओं का परतः।)

१९१५. एवं कालगते तू, ठविते सेसाणं आयनिक्खेवो।
फड्डगवतियाणं पुण, आयपरो होति निक्खेवो॥

इस प्रकार निरपेक्ष आचार्य के कालगत होने पर तथा दूसरे को आचार्य स्थापित कर देने पर शेष गणान्तर्वर्ती मुनियों का आत्मनिक्षेप होता है। स्पर्धकपतियों के आत्मपरोपनिक्षेप होता है।

१९१६. उवसंपज्जण अरिहे, अविज्जमाणम्मि होति गंतव्वं।
गमणम्मि सुद्धऽसुद्धे चउभंगो होति नायव्वो॥

उपसंपदा के योग्य न होने पर अन्यत्र जाना पड़ता है। वहां गमन करने में शुद्ध-अशुद्ध के संयोग से चतुर्भंगी जाननी चाहिए—

१. निर्गमन में शुद्ध तथा गमन में भी शुद्ध।
२. निर्गमन में शुद्ध, गमन में अशुद्ध।
३. निर्गमन में अशुद्ध, गमन में शुद्ध।
४. निर्गमन में अशुद्ध, गमन में भी अशुद्ध।

१९१७. असतीए वायगस्स, जं वा तत्थत्थि तम्मि गहितम्मि।
संघाडो एगो वा, दायव्वो असति एगागी॥

वाचक के अभाव में अथवा जिसके पास जो श्रुत था उतना ग्रहण कर लेने पर, वह विशेष श्रुत-ग्रहण के लिए अन्यत्र जाता है तो उसे एक संघाटक देना चाहिए। संघाटक न होनेपर वह एकाकी गमन करे।

१९१८. अध सव्वेसिं तेसिं, नत्थि उ उवसंपयारिहो अन्नो।
सव्वे घेत्तुं गमणं, जत्तियमेत्ता व इच्छंति॥

उस गच्छ के सभी साधुओं में कोई उपसंपदार्ह नहीं है तब सबको साथ ले गमन करे। अथवा जितने साधु जाना चाहें, उनको साथ लेकर जाए।

१९१९. एवं सुद्धे निग्गम, गच्छे वइयादि अपडिबज्झंतो।
संविग्गमणुण्णेहिं, तेहि वि दायव्व संघाडो॥

इस प्रकार शुद्ध निर्गम वाला मुनि व्रजिका आदि में प्रतिबंध न करता हुआ जाए। यदि अंतराल में संविग्न मनोज्ञ मुनि मिल जाएं तो उनके साथ गमन करे। उनको भी संघाटक देना चाहिए।

१. पूरे कथानक के लिए देखें—व्यवहारभाष्य कथापरिशिष्ट।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९२०. एगं व दो व दिवसे, संघाडट्ठाय सो पडिच्छेज्जा।
असती एगागी तो जतणा उवही न उवहम्मे॥

एक, दो दिन तक संघाटक की प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि न मिले तो एकाकी गमन करे। उसमें यतना करनी चाहिए। (वह निशीथ में बताई जा चुकी है।) उससे उपधि का उपहनन नहीं होता।

१९२१. एसो पढमो भंगो, एवं सेसा कमेण जोएज्जा।
आसन्नुज्जयठाणं, गच्छे दारा य तत्थ इमे॥

(पूर्व में कथित चार भंगों में) यह पहला भंग है। इसी प्रकार शेष भंगों की भी क्रमशः संयोजना करनी चाहिए। इस प्रकार गमन करते समय आसन्न उद्यतविहारी मुनियों के स्थान पर जाए। वहां परीक्षा के लिए ये द्वार हैं–

१९२२. पारिच्छहाणि असती, आगमणं निग्गमो असंविग्गे।
निवेदण जतण निसट्ठं, दीहखद्धं परिच्छंति॥

परीक्षा हानि, असति, आगमन, निर्गम, असंविग्न निवेदन, यतना, विसृष्ट, दीर्घखद्धं–दीर्घकाल तक प्रतीक्षा। (यह द्वार गाथा है। प्रत्येक शब्द की व्याख्या आगे की अनेक गाथाओं में १९२३ से १९८२ तक)।

१९२३. पासत्थादिविरहितो, काहियमादीहि वावि दोसेहिं।
संविग्गमपरितंतो, साहम्मियवच्छलो जो उ॥

१९२४. अब्भुज्जतेसु ठाणं, परिच्छिउं हायमाणए मोत्तुं।
केसु पदेसुं हाणी, वुड्ढी वा तं निसामेहि॥

वह स्थान पार्श्वस्थ आदि से विरहित, काथिकत्व आदि दोषों से विप्रमुक्त, संविग्न, अपरित्रांत– अपरिश्रांत, साधर्मिक-वात्सल–युक्त है या नहीं। इस प्रकार अभ्युद्यतविहारी मुनियों के स्थान की परीक्षा कर हीयमान स्थान को छोड़कर रहे। शिष्य ने पूछा–हानि-वृद्धि किन-किन स्थानों में देखनी चाहिए? आचार्य ने कहा–मैं बताता हूं। सुनो।

१९२५. तव-नियम-संजमाणं, जहियं हाणी न कप्पते तत्थ।
तिगवुड्ढी तिगसोही, पंचविसुद्धी सुसिक्खा य॥

जहां तप, नियम तथा संयम की हानि हो वहां रहना नहीं कल्पता। जहां त्रिकवृद्धि–ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो, जहां त्रिकशोधि–आहार, उपधि और शय्या की शोधि हो, जहां पंचविशोधि–पार्श्वस्थ आदि पांच स्थानों की विशुद्धि हो, जहां सुशिक्षा का वर्तन हो, वहां रहना चाहिए।

१९२६. बारसविधे तवे तू, इंदिय-नोइंदिए य नियमे उ।
संजमसत्तरसविधे, हाणी जहियं तहिं न वसे॥

जहां बारह प्रकार के तप में, इंद्रिय-नो इंद्रिय विषयक नियमों में तथा सतरह प्रकार के संयम में हानि होती हो, वहां नहीं रहना चाहिए।

१९२७. तव-नियम-संजमाणं, एतेसिं चेव तिण्ह तिगवुड्ढी।
नाणादीण व तिण्हं, तिगसुद्धी उग्गमादीणं॥

इन तीनों–तप, नियम और संयम–इस त्रिक की वृद्धि अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र–इस त्रिक की वृद्धि तथा त्रिक-शुद्धि अर्थात् उद्गम आदि की शुद्धि अर्थात् आहार, उपधि और शय्या की शुद्धि हो, वहां रहना चाहिए।

१९२८. पासत्थे ओसण्णे, कुसीले-संसत्त तह अहाछंदे।
एतेहि जो विरहितो, पंचविसुद्धो हवति सो उ॥

पंचविशुद्ध अर्थात् जो स्थान पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाच्छंद से शून्य हो वह पंचविशुद्ध स्थान होता है।

१९२९. पंच य महव्वयाइं, अहवा वी नाण-दंसण-चरित्तं।
तव-विणओ वि य पंच उ, पंचविधुवसंपदा वावि॥

पंचविशुद्ध–पांच महाव्रतों अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा विनय–ये पांच अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा वैयावृत्त्य के भेद से पांच प्रकार की उपसंपदा इन पंचकों से विशुद्ध।

१९३०. सोभणसिक्खसुसिक्खा,
सा पुण आसेवणे य गहणे य।
दुविधाए वि न हाणी,
जत्थ य तहियं निवासो उ॥

शोभना शिक्षा सुशिक्षा–जो शिक्षा व्यक्ति को शोभित करती है, वह सुशिक्षा है। उसके दो प्रकार हैं–आसेवन शिक्षा और ग्रहण शिक्षा। जहां इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं की हानि नहीं होती वहां निवास करना उचित है।

१९३१. एतेसुं ठाणेसुं सीदंते चोदयंति आयरिया।
हावेंति उदासीणा, न तं पसंसंति आयरिया॥

जहां आचार्य इन स्थानों (तपः आदि के) में उदासीन रहने वाले शिष्यों को उनकी पालना के लिए प्रेरित करते हैं, वह निवासयोग्य होता है। जहां आचार्य उदासीन रहकर सामाचारी की उपेक्षा करते हैं, उस गण की आचार्य प्रशंसा नहीं करते। वह गण उपसंपदा ग्रहण करने योग्य नहीं होता।

१९३२. आयरिय-उवज्झाया, नाणुण्णाता जिणेहि सिप्पट्ठा।
नाणे चरणे जोगा, पावगा उ तो अणुण्णाता॥

तीर्थंकरों ने शिल्पशिक्षा के लिए आचार्य और उपाध्याय को अनुज्ञा नहीं दी है। जो शिक्षा ज्ञानयोग और चरणयोग को प्राप्त कराने वाली हो, जो ज्ञान और चरण की वृद्धि करने वाली हो उस शिक्षा के लिए वे अनुज्ञात हैं।

१९३३. नाण-चरणे निउत्ता, जा पुव्व परूविया चरणसेढी।
सुहसीलठाणविजढे, निच्चं सिक्खावणा कुसला॥

जो आचार्य या मुनि ज्ञान और चारित्र में नियुक्त हैं–सतत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्यमशील हैं, जो पूर्व अर्थात् कल्पाध्ययन में कृतिकर्म सूत्र में प्ररूपित चरणश्रेणी में स्थित हैं, जिन्होंने सुखशील--पार्श्वस्थ आदि के स्थान को छोड़ दिया है तथा जो शिक्षापना में कुशल हैं--जो ग्रहण और आसेवन शिक्षा देने में कुशल हैं--ऐसे आचार्यों के पास उपसंपदा ग्रहण करनी चाहिए।

१९३४. जेण वि पडिच्छिओ सो,
कालगतो सो वि होति आहच्च।
सो वि य सावेक्खो वा,
निरवेक्खो वा गुरू आसी॥

जिसके पास वह प्रतीच्छित हुआ है अर्थात् शिष्य परिवार सहित उपसंपन्न हुआ है, वह भी कदाचित् कालगत हो जाए, वह गुरु भी सापेक्ष अथवा निरपेक्ष हो सकता है।

१९३५. सावेक्खो सीसगणं, संगह कारेति आणुपुव्वीए।
पाडिच्छ आगते त्ति व, एस वियाणे अह महल्लो॥

सापेक्ष गुरु अपने शिष्यगण को नवस्थापित गणधर के प्रति आनुपूर्वी के कथन से संग्राहित करता है। (उन्हें कहता है--पहले सुधर्मा, फिर जंबू, फिर प्रभव...यावत् आज हम हैं।) गण महान् वृद्धिंगत हो गया है। अतः मैंने अमुक को गणधर स्थापित किया है। इसको मेरे स्थान पर जानें। ज्ञान, दर्शन आदि की प्रतीच्छा के निमित्त आए हुए शिष्यों को भी यही बात कहता है।

१९३६. जह राया व कुमारं, रज्जे ठावेउमिच्छते जं तु।
भड जोधे वेति तगं, सेवह तुब्भे कुमारं ति॥
१९३७. अहयं अतीमहल्लो, तेसिं वित्ती उ तेण दावेति।
सो पुण परिक्खिऊणं, इमेण विहिणा उ ठावेति॥

जैसे कोई राजा जिस कुमार को राज्य में स्थापित करना चाहता है, उसके प्रति भटों और योद्धाओं को कहता है--अब तुम अमुक कुमार की सेवा करना। मैं अत्यंत बूढा हो गया हूं। यह कहकर वह कुमार से उनकी वृत्ति दिलाता है। उस कुमार की इस विधि से परीक्षा करने के पश्चात् उसे राज्य में स्थापित किया जाता है।

१९३८. परमन्न भुंज सुणगा, छड्डण दंडेण वारणं बितिए।
भुंजति देति य ततिओ, तस्स उ दाणं न इतरेसिं॥

(एक राजा के तीन पुत्र थे। 'किसको युवराज बनाऊं' इस चिंतन से उसने परीक्षा करनी चाही। उसने तीनों को भोजन के लिए बुलाया।) तीनों के सामने तीन थालों में परमान्न परोसा। वे खाने लगे। इतने में ही कुत्ते आ गए। कुत्तों को देख एक राजकुमार भय से पलायन कर गया। दूसरा राजकुमार दंडे से कुत्तों का वारण करता हुआ खाने लगा। तीसरा राजकुमार कुछ कुत्तों को खाने के लिए डालता और स्वयं भी खाता। उसको राजदान मिला, दूसरों को नहीं।

१९३९. परबलपेल्लिउ नासति,
बितिओ दाणं न देति तु भडाणं।
न वि जुज्जंते ते ऊ,
एते दो वी अणरिहाओ॥

पहला राजकुमार शत्रुसेना से आक्रांत होकर राज्य से पलायन कर जाता है। दूसरा राजकुमार भटों को कुछ भी नहीं देता। इस स्थिति में वे भट शत्रुसेना से युद्ध नहीं करते। ये दोनों राज्याधिकार के अयोग्य हैं।

१९४०. ततिओ रक्खति कोसं,
देति य भिच्चाण ते य जुज्झंति।
पालेतव्वो अरिहो,
रज्जं तो तस्स तं दिण्णं॥

तीसरा राजकुमार कोश--भांडागार की रक्षा करता है, भटों को यथायोग्य देता है, अतः वे भट शत्रुसेना से युद्ध करते हैं। वह राज्य के पालन में समर्थ है, यह सोचकर राजा ने उसको राज्य दे दिया।

१९४१. अभिसित्तो सद्धाणं, अणुजाणे भडादि अहियदाणं च।
वीसुंभिय आयरिए, गच्छे वि तयाणुरूवं तु॥

उसको युवराज के रूप में अभिषिक्त करने पर सभी सेवक उसके पास आकर अपने-अपने कार्य-स्थान का निवेदन करते हैं। वह राजा सभी को अपने-अपने स्थान की अनुज्ञा दे देता है। वह भटों आदि को अधिकदान--पारितोषिक आदि देता है। आचार्य के कालगत हो जाने पर गच्छ में तृतीय राजकुमार के अनुरूप आचार्य की स्थापना करता है।

१९४२. दुविधेण संगहेणं, गच्छं संगिण्हते महाभागो।
तो विण्णवेंति ते वी, तं चेव ठाणयं अम्हं॥

वह अभिनव स्थापित आचार्य गच्छ को दो प्रकार के संग्रहों--द्रव्यसंग्रह और भावसंग्रह से संग्रहण--पुष्ट करता है। तब सभी मुनि उसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमें हमारा स्थान दें।

१९४३. उवगरण बालवुड्ढा, खमग गिलाणे य धम्मकधि वादी।
गुरुचिंत वायणा-पेसणेसु कितिकम्मकरणे य॥

आचार्य द्वारा स्थान के विषय में पूछने पर एक साधु कहता है--मैं उपकरण उत्पादक था। दूसरा कहता है--मैं बाल और वृद्ध की वैयावृत्त्य करने वाला था। तीसरा कहता है--मैं क्षपक का वैयावृत्त्यकर, चौथा कहता है--मैं ग्लान का वैयावृत्त्यकर, कोई कहता है--मैं धर्मकथी था। अपर कहता है--मैं वादी था। एक कहता है--गुरुचिंता अर्थात् गुरु के कार्य में नियुक्त था। एक कहता है--मैं वाचना देने में नियुक्त था। एक कहता है--मैं यत्र-तत्र भेजा जाता था, एक कहता है--मैं कृतिकर्म करने में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियुक्त था।

१९४४. एतेसुं ठाणेसुं, जो आसि समुज्जतो अठवितो वि।
ठवितो वि य न विसीदति, स ठावितुमलं खलु परेसिं॥

उपरोक्त कथित इन स्थानों पर अस्थापित होने पर भी जो समुद्यत रहता था, वह इन स्थानों पर स्थापित होने पर कभी विषादग्रस्त नहीं होता। आचार्य इन स्थानों पर दूसरों को भी स्थापित कर सकता है।

१९४५. एवं ठितो ठवेती, अप्पाण परस्स गोविसो गावो।
अठितो न ठवेति परं, न य तं ठवितं चिरं होति॥

इस प्रकार इन स्थानों में स्थित होकर स्वयं को अथवा दूसरों को स्थापित करता है, जैसे गोवृष—सांड गायों को। स्वयं अस्थित होकर दूसरों को उनमें स्थापित नहीं करता क्योंकि इस प्रकार स्थापित करने पर वह चिरकालिक नहीं होता।[1]

१९४६. पउरतणपाणियाइं, वणाइ रहियाइ खुड्डजंतूहिं।
नेति वि सो गोणीओ, जाणति व उवट्ठकालं च॥

जैसे सांड क्षुद्रप्राणियों से रहित तथा प्रचुर तृण-पानी वाले वन में गायों को ले जाता है तथा उपस्थानकाल—लौटने के समय को जान कर अपने स्थान पर गायों को ले जाता है। (वैसे ही आचार्य गच्छ को अपनी प्रवृत्ति में नियोजित कर उसका पालन करता है।)

१९४७. जह गयकुलसंभूतो, गिरिकंदर-विसम-कडगदुग्गेसु।
परिवहति अपरितंतो, नियसरीरुग्गते दंते॥

जैसे गजकुल में उत्पन्न हाथी गिरीकंदराओं में, विषमकटक और दुर्गों में अपरिश्रांत होता हुआ अपने शरीर में उद्गत दांतों का परिवहन करता है, वैसे ही आचार्य—

१९४८. इय पवयणभत्तिगतो, साहम्मियवच्छलो असढभावो।
परिवहति साधुवग्गं, खेत्तविसमकालदुग्गेसु॥

जो प्रवचन की भक्ति में तत्पर, साधर्मिक वात्सल्य-परायण, अमायावी होता है वह साधुवर्ग को विषम क्षेत्र तथा विषम काल तथा दुर्भिक्ष, मारी आदि रूप दुर्गों से परिवहन करता है, उनका संरक्षण करता है।

१९४९. जत्थ पविट्ठो जदि तेसु, उज्जता होउ पच्छ हावेंति।
सीसे आयरिए वा, परिहाणी तत्थिमा होंति॥

जिस गच्छ में सशिष्यपरिवार से वह प्रविष्ट हुआ था, वहां यदि वे साधु पहले सामाचारी में उद्यत थे, पश्चात् वे तथा आचार्य उस सामाचारी का विनाश करते हैं तो वहां यह हानि होती है—

१९५०. पडिलेह दिय तुयट्टण,
निक्खिव आदाण विणय-सज्झाए।
आलोग ठवण मंडलि,
भासा गिहमत्त सेज्जतरो॥

उपकरणों का प्रतिलेखन नहीं करते, दिन में सोते हैं, उपकरणों के निक्षेप और ग्रहण करते समय प्रत्युपेक्षण तथा प्रमार्जन नहीं करते, विनय तथा स्वाधाय नहीं करते, संखडी की प्रतीक्षा करते हैं, स्थापनाकुलों में जाते हैं, मंडली सामाचारी का पालन नहीं करते, गृहस्थों के बर्तनों में आहार आदि लाते हैं, शय्यातर का पिंड खाते हैं।

१९५१. एमादी सीदंते, वसभा चोदेंति चिट्ठति ठितम्मि।
असती थेरा गमणं, अच्छति ताहे पडिच्छंतो॥

इन क्रियाओं में शिथिल साधुओं को अथवा आचार्य को वृषभ मुनि शिक्षा देते हैं। शिक्षा को ग्रहण कर साधुवर्ग अथवा गुरु अपनी क्रियाओं में स्थित हो जाते हैं तो वह सशिष्यपरिवार से आया हुआ भी वहीं रह जाता है। यदि ऐसा न हो तो तब तक वहां रहे जब तक कि स्थविर (कुलस्थविर अथवा संघस्थविर) का आगमन न हो। उनकी प्रतीक्षा करे। (उनको निवेदन करे। फिर भी वे मुनि और गुरु यतमान न हों तो वहां से निर्गमन कर दें।)

१९५२. गुरवसभगीतऽगीते, न चोदेति गुरुगमादि चउलहुओ।
सारेति सारवेति य, खरमउएहिं जहावत्थुं॥

वृषभ अर्थात् आचार्य सामाचारी में शिथिल हुए आचार्य अथवा मुनियों को यथायोग्य कठोर या मृदुवचनों से स्वयं शिक्षा देता है अथवा उनसे शिक्षा दिलवाता है जिससे उन मुनियों का शैथिल्य दूर हो। ऐसा न करने पर प्रायश्चित्त इस प्रकार है—यदि वृषभ गुरु आदि को प्रेरित नहीं करता तब चार गुरुमास का, वृषभ को प्रेरित नहीं करता तो चार लघुमास, गीतार्थ अथवा अगीतार्थ को प्रेरित नहीं करता तो एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१९५३. गच्छो गणी य सीदति,
बितिए न गणी तु ततिय न वि गच्छो।
जत्थ गणी अवि सीयति,
सो पावतरो न पुण गच्छो॥

गच्छ कष्ट पाता है, गणी कष्ट पाता है।
गच्छ कष्ट पाता है, गणी नहीं।
गच्छ कष्ट नहीं पाता, गणी कष्ट पाता है।

---

१. स्थापित मुनि सोचते हैं कि यदि वैयावृत्त्य का फल है तो फिर आचार्य ने स्वयं को उसमें क्यों नहीं लगाया? वैयावृत्त्य के फल को जानने वाले अविनीत या मूर्ख मुनि ऐसा सोचते हैं, कहते हैं—तुमने इतना फल जानते हुए भी वैयावृत्त्य आदि में स्वयं को क्यों नहीं नियोजित किया?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न गच्छ कष्ट पाता है और न गणी।

इस चतुर्भंगी में पहले और तीसरे भंग में गणी कष्ट पाता है, यह पापतर है। दूसरे भंग में गच्छ कष्ट पाता है, गणी नहीं। यह पापतर नहीं है। इसका कारण अगली गाथा में–

१९५४. आयरिए जतमाणे, चोदेतुं जं सुहं हवति गच्छो।
तम्मि उ विसीदमाणे, चोदणमियरे कधं गिण्हे॥

जब आचार्य यतमान होते हैं तो वे गच्छ को सुखपूर्वक प्रेरित कर सकते हैं। आचार्य के विषादग्रस्त होने पर अन्य साधु शिक्षा किससे ग्रहण करें। (इसलिए प्रथम और तृतीय भंग पापतर हैं क्योंकि इसमें आचार्य का प्रतिभय नहीं रहता।)

१९५५. आसण्णाद्वितेसु उज्जएसु जहित सहसा न तं गच्छं।
मा दूसेज्ज अदुट्ठे, दूरतरं वा पणासेज्जा॥

उद्यतविहारी मुनि आसन्नप्रदेश में स्थित होने के कारण सहसा वह उस गच्छ को नहीं छोड़ता, क्योंकि वह सोचता है कि दोषयुक्त मुनि अदोषी मुनियों को दूषित न कर दें तथा जो दूर गए हुए हैं उनका भी ये विनाश न कर दें।

१९५६. कुलथेरादी आगम, चोदणता जेसु विप्पमादंति।
चोदयति तेसु ठाणं, अठितेसु तु निग्गमो भणितो॥

जब तक कुलस्थविर (गणस्थविर या संघस्थविर) का आगमन न हो तब तक वह आगंतुक शिष्यपरिवृत आचार्य प्रतीक्षा करे। उनके आगमन के बाद गच्छ की बात निवेदित करे। तब वे स्थविर जिन स्थानों में जो मुनि प्रमाद करते हैं, उन्हें प्रमादमुक्त होने की प्रेरणा देते हैं। वे यदि प्रमाद से मुक्त होकर संयमस्थान में स्थित हो जाते हैं तो वह वहीं रह जाता है। यदि वे सामाचारी में स्थित नहीं होते हैं तो उसका गच्छ से निर्गमन हो सकता है, ऐसा गणधरों ने कहा है।

१९५७. कप्पसमत्ते विहरति, असमत्ते जत्थे होंति आसण्णा।
साधम्मि तहिं गच्छे, असतीए ताहि दूरं पि॥

जिस मुनि ने कल्प समाप्त कर लिया है–निशीथ सूत्र का सूत्रतः और अर्थतः अध्ययन कर लिया है वह स्वयं विहरण कर सकता है। जिनके कल्प समाप्त नहीं हुआ है वे आसन्नक्षेत्रवर्ती साधर्मिक जहां हों वहां जाएं। यदि वे आसन्न न हों तो दूर भी जा सकते हैं।

१९५८. वइयादीए दोसे, असंविग्ग यावि सो परिहरंतो।
के उ असंविग्गा खलु, नियवादीय मुणेयव्वा॥

परिव्रजन करते हुए वह व्रजिका आदि दोषों का परिहार करता हुआ तथा असंविग्नों को छोड़ता हुआ जाए। असंविग्न कौन? नित्यवासी आदि असंविग्न होते हैं।

१९५९. णितियादीए अधच्छंद, वज्जित पविस दाण गहणे य।
लहुगा भुंजण गुरुगा, संघाडे मास जं चण्णं॥

दूरमार्ग से जाता हुआ मुनि यथाच्छंदवर्जित नैत्यादिक के आश्रय में प्रवेश करता है,उनको भक्तादि देता-लेता है तो प्रवेश करने, दान देने और लेने–प्रत्येक में चार-चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। इनके साथ भोजन करने पर चार गुरुमास का, उनके संघाटक के साथ घूमने पर एक लघुमास का प्रायश्चित्त विहित है। उस संघाटक द्वारा अकल्पिक का ग्रहण होता है, उसका भी प्रायश्चित्त आता है।

१९६०. एते चेव य गुरुगा, पच्छित्ता होंति तू अधाछंदे।
अमणुण्णेसुं मासो, संभुंजण होंति चउगुरुगा॥

यथाच्छंद के प्रसंग में वे सारे प्रायश्चित्त गुरुक हो जाते है। अमनोज्ञ के प्रसंग में प्रवेश, दान और ग्रहण एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा उनके साथ भोजन करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१९६१. संविग्गेगंतरिया, पडिच्छ संघाडए असति एगो!
साहम्मिएसु जतणा, तिण्णि दिण पडिच्छ सज्झाए॥

संविग्नैकांतरित अर्थात् असंविग्न के आश्रय में जाने पर, यदि वह एकाकी हो तो संघाटक की प्रतीक्षा करे। संघाटक न मिलने पर वह अकेला जाए। जाते हुए मार्ग में यदि साधर्मिक हों तो उनके साथ रहे। तीन दिन तक संघाटक की प्रतीक्षा करे। यह प्रतीक्षा स्वाध्याय आदि के लिए की जाती है। यह साधर्मिकों की यतना है।

१९६२. बहिगाम घरे सण्णी, सो वा सागारिओ उ बहि अंतो।
ठाण-निसेज्ज-तुयट्टण, गहितागहितेण जागरणा॥

संविग्न और समनोज्ञ मुनियों के आवास के अभाव में ग्राम के बाहर, शून्यगृह में, श्रावक के घर में रहे। यदि वह श्रावक सागारिक हो–अगारिसहित हो तो घर के भीतर अथवा बाहर पृथक् कुटीर में रहे। उसके अभाव में अमनोज्ञ संविग्न के स्थान में अथवा अमनोज्ञ असंविग्न के स्थान में, उसके अभाव में नैत्यिक–असंविग्न के स्थान में रहे तो यह यतना है–वहां कायोत्सर्ग, निषद्या, शयन करना आदि में। उपकरणों को लेकर या न लेकर जागरण करे। (यह द्वार गाथा है। इसकी व्याख्या अगली गाथाओं में।)

१९६३. वसधी समणुण्णाऽसति, गामबहिं ठाति से निवेदेउं।
अनिवेदितम्मि लहुगो, आणादिविराधणा चेव॥

समनोज्ञों की वसति के अभाव में वह अमनोज्ञों को निवेदन कर गांव के बहिर्भाग में रहता है। निवेदन न करने पर प्रायश्चित्त है एक लघुमास का तथा आज्ञा आदि (आत्म-विराधना, संयमविराधना) की विराधना होती है।

१९६४. गेलण्णे न काहिती, कोधेणं जं च पाविहिति तत्थ।
तम्हा उ निवेदेज्जा, जतणाए तेसिमाए उ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह कदाचित् ग्लान हो जाए। अनिवेदन के कारण कुपित वहां रहने वाले मुनियों से वह कुछ भी ग्लानकृत्य नहीं पा सकता। इसलिए इस यतना से निवेदन करना चाहिए।

१९६५. तुब्भं अहेसि दारं, उस्सूरो त्ती जुताए एवं तु।
न य नज्जति सत्थो वी, चलिहिति किं केत्तियं वेलं॥

जब मैं आया तब तुम्हारे उपाश्रय का द्वार बंद था। तब मैंने सोचा, अभी सूर्योदय नहीं हुआ है इसलिए मैं पृथक् उपाश्रय में ठहर गया। मैं नहीं जानता कि सार्थवाह भी कब किस वेला में चलेगा।

१९६६. साहुसगासे वसिउं, अतिप्पियं मज्झ किं करेमि त्ति।
सत्थवसो हं भंते!, गोसे मे वहेज्जह उदंतं॥

भंते! साधुओं के पास रहना मुझे अत्यंतप्रिय है परंतु क्या करूं, मैं सार्थ के वशवर्ती हूं, इसलिए प्रातः मेरा संरक्षण वहन करें।

१९६७. एवं न ऊ दुरुस्से, अह बाहिं होज्ज पच्चवाता उ।
ताधे सुण्णघरादिसु, वसति निवेदेज्ज तह चेव॥

इस प्रकार यतना से निवेदन कर ग्राम के बाहर अतिदूर न रहे। दूर रहने से विपत्तियां हो सकती हैं। उसी प्रकार विधि से निवेदन कर शून्यगृह आदि में रहता है।

१९६८. अधुणुव्वासिय सकवाड
निब्बिलं निच्चलं वसति सुण्णे।
तस्साऽसति सण्णिघरे,
इत्थीरहिते वसेज्जा वा॥

शून्यगृह (वसति) वह है जो अभी-अभी उजड़ा है जो सकपाट है, जो बिलों से रहित और निश्चल है। उसके न मिलने पर जो श्रावक स्त्रीरहित हो तो उसके घर में निवास करे।

१९६९. सहिते वा अंतो बहि, बहि अंतो वीसु घरकुडीए वा।
तस्साऽसति नितियादिसु, वसेज्ज उ इमाए जतणाए॥

यदि श्रावक स्त्रीसहित हो तो उसके घर के अंदर या बाहर एकांत में रहे। उस गृहस्थ के घर की कुटीर में रहे। उसके अभाव में नैत्यिक आदि के उपाश्रयों में इस यतना से निवास करे।

१९७०. नितियादि उवहि भत्ते, सेज्जा सुद्धा य उत्तरे मूले।
संजतिरहिते कालेऽकाले सज्झायऽभिक्खं च॥

जो नैत्यिक आदि उत्तरगुणों-मूलगणों से शुद्ध शय्या, शुद्ध उपधि, शुद्ध भक्तपान की गवेषणा करते हैं उनके साथ रहे। वह स्थान संयतियों (साध्वियों) से रहित हो। वे दो प्रकार की हैं—कालचारिणी तथा अकालचारिणी। कालचारिणी वे हैं जो पाक्षिक आदि में आती हैं और अकालचारिणी वे हैं जो बार-बार स्वाध्याय के निमित्त आती हैं। (यदि रहना ही पड़े तो कालचारिणी संयतियों वाले उपाश्रय में रहे।)

१९७१. सेज्जुवधि-भत्तसुद्धे, संजतिरहिते य भंग सोलसओ।
संजति अकालचारिणि, सहिते बहुदोसला वसधी॥

शय्याशुद्ध, उपधिशुद्ध, भक्तशुद्ध और संयतिरहित— इन चार पदों के प्रतिपक्षी पदों के साथ सोलह भंग होते हैं।[1] अकालचारिणी संयतियों की वसति बहुत दोष वाली होती है।

१९७२. सागारि-तेणा-हिम-वास दोसा,
दुसोहिता तत्थ उ होज्ज सेज्जा।
वत्थण्णपाणाणिव तत्थ ठिच्चा,
गिण्हंति जोग्गाणुवभुंजते वा॥

वसति के बिना सागारिक और चोरों का भय रहता है। हिमपात और वर्षा से संयम और आत्मविराधना के दोषों का प्रसंग रहता है। अतः शय्या, उपधि और भक्त—इन तीनों में शय्या दुःशोध्य होती है, कष्ट से प्राप्त होती है। शय्या में स्थित मुनि योग्य वस्त्र, अन्न, पान ग्रहण करते हैं और उनका उपभोग करते हैं।

१९७३. आहारोवधिसेज्जा, उत्तरमूले असुद्ध सुद्धे य।
अप्पतरदोसपुव्विं, असतीय महंतदोसे वि॥

उत्तरगुण तथा मूलगुण विषय में आहार, उपधि और शय्या शुद्ध है अथवा अशुद्ध—इनकी विकल्प—चिंता में प्रागुक्त सोलह भंगों में जो अल्पतर दोष वाला है पहले उसमें रहना चाहिए। उसके अभाव में महान् दोष वाले में रहा जा सकता है।

१९७४. पढमाऽसति बितियम्मि वि,
तहियं पुण ठाति कालचारीसु।
एमेव सेसएसु वि,
उक्कमकरणं पि पूएमो॥

पूर्वोक्त सोलह भंगों में यदि प्रथम भंग का अभाव हो तो दूसरे विकल्प में कालचारिणी संयतिसहित वसति में रहे। इसी प्रकार शेष भंगों में जहां-जहां संयतिसहितपद हो वहां-वहां कालचारिणी संयतिसहित वसति में रहे। इसमें उत्क्रमकरण—अकालचारिणी संयतिसहित वसति की भी उपादेयता के कारण पूजा करते हैं—प्रशंसा करते हैं।

१९७५. सेज्जं सोहे उवधिं, भत्तं सोहेति संजतीरहिते।
पढमो बितिओ संजतिसहितो पुण कालचारिणिओ॥

शय्या, उपधि और भक्त का शोधन तथा संयतिरहित—यह

१. शय्याशुद्ध, उपधिशुद्ध, भक्तशुद्ध तथा संयतिरहित— यह पहला भंग है। शय्याशुद्ध, उपधिशुद्ध, भक्तयुद्ध तथा संयतिसहित—यह दूसरा भंग है। इस प्रकार सोलह भंग करने चाहिए। जहां-जहां संयति का भंग है वहां-वहां कालचारिणी संयति सहित उपाश्रय में रहा जा सकता है, अकालचारिणी संयति सहित उपाश्रय में नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम भंग है। द्वितीय में संयतिसहित। संयतियां कालचारिणी हो तो वस्तव्य हैं।

१९७६. आदियणे कंदप्पे, वियालओरालिय वसंतीणं।
नितियादी छद्दसहा, संजोएमो अहाछंदो॥

अकालचारिकणी के लक्षण—जो भक्तपान का आदान (तथा दान) करती हैं, जो कंदर्प के निमित्त आती हैं, जो अत्यधिक विकाल वेला तक वहां रहती हैं—यह उनका अकालचारित्व जानना चाहिए। इसी प्रकार नैत्यिक आदि का सोलह प्रकार का संयोग है, वहां रहा जा सकता है, सर्वत्र नहीं, यथाच्छंद को छोड़कर।

१९७७. ठिय निसिय तुयट्टे वा, गहितागहिते य जग्ग सुवणं वा।
पासत्थादीणेवं नितिए मोत्तुं अपरिभुत्ते॥

पार्श्वस्थों के उपाश्रय में रहना हो तो उपकरणों को ग्रहण कर ऊर्ध्वस्थित रहे। न रह सके तो जागता हुआ बैठ जाए। वैसे भी न रह सके तो लेट जाए। यदि तीनों अवस्था में नींद की आशंका हो तो उपकरणों को पास रखकर, बैठे-बैठे या लेट कर जागता हुआ रहे। यदि जागरण अशक्य हो तो उपकरण सहित अथवा उपकरण रहित अवस्था में लेट जाए। यह पार्श्वस्थों के उपाश्रय में बरती जाने वाली यतना है। नित्यवासियों के उपाश्रय में रहना हो तो उनके द्वारा परिभुक्त प्रदेश को छोड़कर अपरिभुक्त प्रदेश में जागता हुआ अथवा सोता हुआ रहे।

१९७८ एमेव अधाछंदे, पडिहणणा झाण-अज्झयण कण्णा।
ठाणठितो वि निसामे, सुण आहरणं च गहितेणं॥

पार्श्वस्थों के उपाश्रय की भांति ही यथाच्छंद विषयक यतना जाननी चाहिए। शक्ति हो तो यथाच्छंद के वचनों का प्रतिहनन करे। अन्यथा ध्यान कर ले अथवा अध्ययन या परावर्तन करें। अथवा कानों को स्थगित करे दे। दूरतर स्थान में स्थित होने पर भी यदि सुनाई दे तो यथाच्छंद को कहे—तुम आहरण—दृष्टांत सुनो। यह सारा गृहीतउपकरण होकर कहे।

१९७९. जध कारणे निगमणं, दिट्ठं एमेव सेसगा चउरो।
ओमे असंथरंते, आयारे वइयमादीहिं॥

जैसे कारणवश निर्गमन देखा गया है, उसी प्रकार शेष चार द्वार (असंविग्न को निवेदन, यतना आदि) जैसे आचार-प्रकल्प में दुर्भिक्ष, व्रजिका आदि में, यदि पर्याप्त लाभ न हो तो, जाए।

१९८०. समणुण्णेसु वि वासो,एगनिसिं किमु व अण्णमोसण्णे।
असढो पुण जतणाए, अच्छेज्ज चिरं पि तु इमेहिं॥

समनोज्ञों के उपाश्रय में भी एक रात का निवास कल्पता है तो फिर अन्य—असांभोगिक तथा अवसन्न के उपाश्रयों की तो बात ही क्या? अशठ मुनि यतनापूर्वक इन कारणों से चिरकाल तक भी रह सकता है।

१९८१. वासं खंधार नदी, तेणा सावय वसेण सत्थस्स।
ऐतिहि कारणेहिं, अजतणजतणा य नायव्वा॥

कारण ये हैं—वर्षा गिर रही हो, स्कंधावार आ-जा रहा हो, नदी पूर्णरूप से बह रही हो, चोरों का तथा हिंस्र पशुओं का भय हो, सार्थवाह के वश गमन हो रहा हो—इन कारणों से चिरकाल तक भी रहा जा सकता है। वहां रहते यतना तथा अयतना ज्ञातव्य है।

१९८२. दोसा उ ततियभंगे, गणंगणिता य गच्छभेदो य।
सुयहाणी कायवधो, दोण्णि वि दोसा भवे चरिमे॥

तीसरे भंग में दो दोष हैं—गाणंगणिकता तथा गच्छभेद होना। चरम भंग में भी दो दोष हैं—श्रुतहानि और कायवध।

१९८३. एमेव य वासासुं, भिक्खे वसधीय संक नाणत्तं।
एगाह चउत्थादी, असती अन्नत्थ तत्थेव॥

इसी प्रकार वर्षा संबंधी सूत्र जानने चाहिए। केवल भिक्षा में, वसति में तथा शंका में नानात्व है। अन्यत्र जाना चाहिए। उपवास से, बेले से, तेले से। अन्यत्र गमन के अभाव में वहीं वर्षावास करना चाहिए। (यह द्वार गाथा है। व्याख्या आगे।)

१९८४. अपरीमाण पिहब्भावे, एगत्ते अवधारणे।
एवं सद्दो उ एतेसुं, एगत्ते तु इहं भवे॥

'एवं' शब्द अपरिमाण, पृथक्भाव, एकत्व, अवधारण—इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत प्रसंग में वह एकत्व के अर्थ में प्रयुक्त है।

१९८५. एगत्तं उउबद्धे, जधेव गमणं तु भंगचउरो य।
तध चेव य वासासुं, नवरि इमं तत्थ नाणत्तं॥

एकत्व के अर्थ में एवं शब्द। जैसे ऋतुबद्ध काल में गच्छांतर में गमन संबंधी चार भंग हैं। (जैसे शुद्ध का शुद्धगमन आदि) वैसे ही वर्षाकाल में जानना चाहिए। केवल उनमें यह नानात्व है।

१९८६. पउरण्णपाणगमण, इहरा परिताव एसणाघातो।
खेत्तस्स य संकमणे, गुरुगा लहुगा य आरुवणा॥

जो गच्छ प्रचुर अन्नपान वाले क्षेत्र में स्थित हो वहां जाना चाहिए, अन्यथा परिताप होता है और उससे एषणाघात का प्रसंग आता है। वहां पर्याप्त न मिलने पर क्षेत्र-संक्रमण होता है। वर्षावास में क्षेत्र-संक्रमण करने पर चार गुरुमास का आरोपणा प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा वर्षारात्र—भाद्रपद और आश्विन में क्षेत्र-संक्रमण करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१९८७. वारग जग्गण दोसा, जागरियादी हवंति अन्नासु।
तेणादि संक लोए, भाविणमत्थं व पासंति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस गच्छ में वसति संकरी हो वहां उपसंपन्न नहीं होना चाहिए क्योंकि वहां बारी-बारी से जागना होता है। उससे अजीर्ण आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। अन्य वसति में जाने पर सागारिक आदि दोष होते हैं।

यदि वहां से क्षेत्र-संक्रमण करते हैं तो लोगों में चोर आदि की शंका होती है और लोग ऐसा सोचते हैं कि ये साधु भावी उत्पात की आशंका कर समय से पहले ही यहां से चले जा रहे हैं। (जैसे अगले वर्ष यहां धान्योत्पत्ति नहीं होगी।)

१९८८. आसण्णखेत्तभावित, भक्खादि परोप्परं मिलंतेसु।
जा अट्ठमं अभावित, माणं अडंत बहू पासे॥

आसन्न क्षेत्र में गच्छ हो तो वहां जाना चाहिए। परक्षेत्र से भिक्षादि के निमित्त आए हुए साधुओं से मिलकर अपांतराल में जो भावित ग्राम हो वहां जाए। भिक्षा के लिए घूमता हुआ न जाए। बहुत सारे अभावित लोग उसे भिक्षा के लिए घूमते हुए न देखे इसलिए वह भक्तार्थ से यावत् अष्टमभक्त कर वहां जाए।

१९८९. पायं न रीयति जणो, वासे पडिवत्तिकोविदो जो य।
असतोवबद्धदूरे, य अच्छते जा पभायम्मि॥

प्रायः लोग वर्षाकाल में गमन नहीं करते। जो प्रतिपत्ति-कोविद होते हैं वे इसके अनेक कारण बतला सकते हैं। अन्यत्र गमन की स्थिति न हो तथा वर्षा एक बार रुक गई हो अथवा सतत पडती हो और दूर जाना पड़े तो वहीं वर्षारात्र बिताकर प्रभातवेला में वहां से जाए।

१९९०. आयरियत्ते पगते, अणुयत्तंते तु कलकरणम्मि।
अत्थे सावेक्खो वा, वुत्तो इमओ वि सावेक्खो॥

पूर्वसूत्र में आचार्यत्व प्रकृत था तथा अनुवर्तमान कालकरण भी। प्रस्तुत सूत्र में भी उसी का कथन होगा। अथवा पूर्वसूत्र में अर्थतः सापेक्ष कहा है, प्रस्तुत सूत्र में भी सापेक्ष का कथन है। यही प्रस्तुत सूत्र के साथ संबंध है।

१९९१. अतिसयमरिट्ठतो वा, धातुक्खोभेण वा धुवं मरणं।
नाउं सावेक्खगणी, भणंति सुत्तम्मि जं वुत्तं॥

श्रुतज्ञानातिशय से अथवा अरिष्टदर्शन से अथवा धातुक्षोभ से निश्चित मरण को जानकर सापेक्ष आचार्य सूत्र में जो कहा गया है वह कहते हैं।

१९९२. अन्नतर उवज्झायादिगा उ गीतत्थपंचमा पुरिसा।
उक्कसण माणणं ति य, एगट्ठं ठावणा चेव॥

आचार्य की मृत्यु के पश्चात् उपाध्याय से गीतार्थपंचम तक के किसी भी योग्य (उपाध्याय, प्रवर्तक, गणावच्छेदक, गणी तथा गीतार्थभिक्षु) पुरुष का उत्कर्षण करे—आचार्यरूप में स्थापित करे। उत्कर्षण, मानन और स्थापन—एकार्थक हैं।

१९९३. पुव्वं ठावेति गणे, जीवंतो गणधरं जहा राया।
कुमरे उ परिच्छित्ता, रज्जरिहं ठावए रज्जे॥

अपने जीवनकाल में ही आचार्य पहले ही गण में गणधर की स्थापना कर देते हैं जैसे राजा राजकुमारों की परीक्षा कर राज्यार्ह राकुमार को राज्य में स्थापित करता है।

१९९४. दहिकुड अमच्च आणत्ति, कुमारा आणयण तहिं एगो।
पासे निरिक्खिऊणं, असि मंति पवेसणे रज्जं॥

राजा के अनेक पुत्र थे। उनकी परीक्षा करने के निमित्त उसने कुछ दही के भरे घड़े मंगाकर एक स्थान पर रखवा दिए। अमात्य को वहां बिठा दिया। फिर राजकुमारों को वहां बुलाकर कहा—जाओ, एक-एक दही का घड़ा ले आओ। राजकुमार वहां गए और घटवाहक किसी सेवक को न देखकर स्वयं एक-एक घड़ा उठाकर ले आए। एक कुमार गया। उसने आमत्य को वहां बैठे देखा। राजकुमार ने अमात्य से कहा—एक घट उठाओ और मेरे साथ चलो। अमात्य ने आनाकानी की। राजकुमार ने म्यान से तलवार निकालते हुए कहा—घड़ा ले चलो, अन्यथा शिरच्छेद कर दूंगा। अमात्य ने घट उठाया। राजकुमार राजा के पास उसे ले आया। राजा ने उस राजकुमार को शक्तिशाली समझकर उसे राजा के रूप में स्थापित कर दिया।

१९९५. दसविधवेयावच्चे नियोग कुसलुज्जयाणमेवं तु।
ठावेति सत्तिमंतं, असत्तिमंते बहू दोसा॥

इसी प्रकार आचार्य भी दस प्रकार के वैयावृत्त्य में उद्यमशील मुनियों में जो शक्तिमान होता है उसे गणधर के रूप में नियोजित करते हैं। अशक्तिमान को गणधर स्थापित करने पर अनेक दोष होते हैं।

१९९६. दोमादी गीतत्थे, पुव्वुत्तगमेण सति गणं विभए।
मीसे व अणरिहे वा, अगीतत्थे वा भएज्जाहि॥

कालगत आचार्य ने दो-चार गीतार्थ शिष्यों का निर्माण किया था। किसको आचार्य बनाए! पूर्वोक्तगम अर्थात् तीसरे उद्देशक में कथित प्रकार से गण का विभाजन करे और सबको पृथक्-पृथक् गण दे। मिश्र जैसे गीतार्थ और अगीतार्थ, अर्ह और अनर्ह, अगीतार्थों में भी आचार्यलक्षणयुक्त तथा लक्षणरहित—इन सबका विभाजन करे।

१९९७. गीताऽगीता मिस्सा, अधवा अत्थस्स देस गहितो तू।
तत्थ अगीत अणरिहा, आयरियत्तस्स होंती उ॥

मिश्र कैसे? कुछ गीतार्थ हैं, कुछ अगीतार्थ—ये मिश्र हैं। इसी प्रकार कुछ श्रुतार्थ के देश के ज्ञाता है, कुछ नहीं—ये मिश्र हैं। अथवा जो अगीतार्थ हैं वे कुछ आचार्यत्व के लिए अनर्ह होते हैं और कुछ अर्ह—ये मिश्र हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९९८. कहमरिहो वि अणरिहो,
किण्णु हु असमिक्खकारिणो थेरा।
ठावेंति जं अणरिहं,
चोदग ! सुण कारणमिणं तु॥

शिष्य कहता है—जो अर्ह था वह अनर्ह कैसे हो गया? किंतु मैं वितर्कणा करता हूं कि स्थविर असमीक्ष्यकारी हैं जो अर्ह को भी अनर्ह स्थापित कर देते हैं। आचार्य कहते है—शिष्य! तुम इसका कारण सुनो।

१९९९. उप्पियण भीतसंदिसण अदेसिए चेव फरुससंगहिते।
वायागनिप्फायग अण्णसीस इच्छा अधाकप्पो॥

यह द्वार गाथा है। इसके नौ द्वार हैं—

१. बार-बार श्वास लेना	६. वाचक-निष्पादक
२. भीतसंदेशन	७. अन्य शिष्य
३. अदेशिक	८. इच्छा
४. परुष	९. यथाकल्प
५. संग्रह	

(इनकी व्याख्या २०००-२०१७ तक की गाथाओं में)

२०००. सन्निसेज्जागतं दिस्स, सिस्सेहि परिवारितं।
कोमुदीजोगजुत्तं वा, तारापरिवुडं ससिं॥
२००१. गिहत्थपरतित्थीहिं, संसयत्थीहि निच्चसो।
सेविज्जंतं विहंगेहिं, सरं वा कमलोज्जलं॥
२००२. खग्गूडे अणुसासंतं, सद्धावंतं समुज्जते।
गणस्स अगिला कुव्वं संगहं विसए सए॥
२००३ इंगितागारदक्खेहिं, सदा छंदाणुवत्तिहिं।
अविकूलितनिद्देसं, रायाणं व अणायगं॥
२००४. उप्पन्नगारवे एवं, गणि त्ति परिकंखितो।
उप्पियंते गणिं दिस्स, अगीतो भासते इमं॥
२००५. अलं मज्झ गणेणं ति, तुब्भे जीवह मे चिरं।
किमेतं तेहि पुट्ठो उ, दिज्जते मे गणो किल॥

सुंदर शय्या पर उपविष्ट, शिष्यों से परिवृत आचार्य मानो आकाश में कार्तिकी पौर्णमासी के योग से युक्त ताराओं से परिवृत चंद्रमा की भांति शोभित हो रहे थे।

जैसे कमलों से परिमंडित सरोवर पक्षियों (हंसों) से सेवित होता है वैसे ही आचार्य गृहस्थों, जिज्ञासुओं तथा परतीर्थिकों से सदा सेवित होते हैं।

आचार्य कुस्वभाववालों पर अनुशासन करते हुए, जो संयम में समुद्यत हैं उनमें श्रद्धा बढ़ाते हुए, गच्छ की अगिला—निर्जरा के लिए 'सए विसए'—अपनी शक्ति के अनुसार संग्रह करते हुए, इंगिताकारकुशल, छंदानुवर्ती तथा सदा अखंडित निर्देश वाले शिष्यों-अनुयायियों से परिवृत वे आचार्य अनायक राजा अर्थात् सार्वभौम राजा (चक्रवर्ती) की भांति शोभित होते हैं।

यह देखकर किसी अगीतार्थ मुनि में यह गौरव उत्पन्न हुआ कि मैं भी गणी बनूं। वह आचार्य बनने की आकांक्षा करने लगा। बार-बार आचार्यत्व का श्वास लेने वाला वह अगीतार्थ यह कहता है—गणनायकत्व से मुझे क्या? तुम सब चिरकाल तक जीवित रहो। अगीतार्थ के ये वचन सुनकर गच्छवासी मुनि कहते हैं—तुम ऐसा क्यों कहते हो? यह पूछने पर वह कहता है—क्षमाश्रमण मुझे गणभार देना चाहते हैं, इसलिए मैंने यह कहा।

२००६. अट्ठाविते व पुव्वं तु, गीतत्था उप्पियंतए।
आमं दाहामु एतस्स, सम्मतो एस अम्ह वि॥
२००७. गीतत्थो य वयत्थो य, संपुण्णसुहलक्खणो।
सम्मतो एस सव्वेसिं, साधू ते ठावितो गणे॥

पूर्व गणधर की स्थापना किए बिना म्रियमाण आचार्य को धीरे-धीरे बार-बार श्वास लेते देखकर गीतार्थ मुनि सोचता है, (आचार्य ने निर्देश नहीं दिया कि अमुक को गणधर बनाना है, अतः मुझे उपाय से काम लेना होगा।) सोचकर वह गच्छवासी मुनियों को सुनाते हुए कहता है—हां, हम इसीको (जैसे क्षमाश्रमण ने चाहा है) गणधर पद पर स्थापित करेंगे। यह मुनि हमारे लिए भी सम्मत है, गीतार्थ और वयस्थ है तथा संपूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त है, सभी साधुओं के लिए मान्य है। क्षमाश्रमण! आपने इसी को गणधर पद पर स्थापित किया है।

२००८. असमाहियकरणं ते, करेमि जइ मे गणं ण ऊ देसि।
इति गीते तु अगीते, संदिसए गुरु ततो भीतो॥

कोई अगीतार्थ मुनि मरणासन्न आचार्य को कहता है—यदि तुम मुझे गण नहीं दोगे—आचार्य पद पर नियुक्त नहीं करोगे तो मैं तुम्हारा असमाधिमरण हो ऐसा उपाय करूंगा। उससे भयभीत होकर गीतार्थ आचार्य गीतार्थ मुनियों को बताते हुए कहते हैं—'मैंने इसको गण दे दिया है।'

२००९. आमं ति वोत्तु गीतत्था, जाणंता तं च कारणं।
कयट्ठे तं तु निज्जूहे, अतिसेसी य संवसे॥

गीतार्थ मुनि उस कारण को जानते हुए कहते हैं—अच्छा, जैसी आपकी इच्छा। आचार्य के मरणकृत्य से कृतार्थ होकर गीतार्थ मुनि उसका निग्रह करते हैं—उसे निष्कासित कर देते हैं। अतिशयज्ञानी यह जानते हैं कि यह निर्दोष है। गुरुजन उसे अपने पास रख लेते हैं।

२०१०. अरिहो वऽणरिहो होति, जो उ तेसिमदेसिओ।
तुल्लदेसी व फरुसो, मधुरोव्व असंगहो॥

अर्ह भी अनर्ह हो जाता है जो तत्कालभावी साधुओं के लिए अदेशिक होता है। (जैसे कुडुक्कदेश मे उत्पन्न आचार्य सिंधु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि देश में उत्पन्न मुनियों के लिए अदेशिक होता है।) तुल्यदेशीय मुनि पहले गणधरपद के लिए इष्ट था परंतु वह परुषभाषी हो गया। वह पहले अर्ह था, पश्चात् अनर्ह हो गया। पहले जो गणधर पद के लिए इष्ट था, वह मधुरभाषी होने पर भी असंग्रहशील था। दूसरा मधुर और संग्रहशील है। उसी का उत्कर्षण होता है।

२०११. वायंतगनिप्फायग, चउरो भंगा तु पढमगो गज्झो।
ततिओ तु होति सुण्णो, अण्णेण व सो पवाएति॥

वाचक और निष्पादक–इन दो पदों के संयोग से चार भंग होते हैं (जैसे–१. वाचक भी निष्पादक भी, २. वाचक न निष्पादक ३. न वाचक केवल निष्पादक ४. न वाचक न निष्पादक।) इनमें प्रथम भंग ग्राह्य है। तृतीय भंग शून्य होता है। (क्योंकि वाचना के अभाव में निष्पादक नहीं हो सकता।) यदि वह स्वयं वाचना नहीं देता, दूसरों से दिलवाता है तो वह भी ग्राह्य है।

२०१२. असती व अन्नसीसं, ठावेंति गणम्मि जाव निम्मातो।
एसो चेव अणरिहो, अहवा वि इमो ससिस्सो वि॥

आचार्य मरणासन्न हैं। स्वयं का कोई शिष्य गणधरपद योग्य न हो तो दूसरे के शिष्य को गण में गणधररूप में स्थापित करते हैं और उसको कहते हैं जब तक मेरा शिष्य योग्यरूप में निर्मित न हो जाए तब तक तुम गणधर पद पर रहो। (योग्य होने पर तुम उस पद को छोड़ देना।) वह भी गणधर पद के लिए अनर्ह प्रमाणित हुआ। अथवा स्वशिष्य भी अनर्ह रहा। जैसे–

२०१३. जो अणुमतो बहूणं, गणधर अचियत्त दुस्समुक्किट्ठो।
दोसा अणिक्खिवंते, सेसा दोसं च पावेंति॥

जो शिष्य बहुत मुनियों द्वारा अनुमत हो जाता है, उसे गणधर स्थापित करना चाहिए। जो अप्रीतिकर है, पूर्व स्थापित है, और जिसे पद से हटाना दुष्कर है, उसे कहना चाहिए–तुम गणधर पद का निक्षेप कर दो। यदि वह पद का निक्षेप नहीं करता है तो दोष–प्रायश्चित्त आता है (छेद, परिहार, सप्तरात्र तप), जो शेष उसकी अनुशासना में रहते हैं, वे भी प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। (छेद, परिहार सप्तरात्र।)

२०१४. अब्भुज्जतमेगतरं, ववसितुकाममि होति सुत्तं तु।
ते बेंति कुणसु एक्कं, गीतं पच्छा जहिच्छाते॥

आचार्य के कालगत हो जाने पर गणधरपदयोग्य शिष्य अभ्युद्यतविहार (जिनकल्प साधना) अथवा अभ्युद्यतमरण स्वीकार करने का मन बना लेता है तो मूलसूत्र के कथनानुसार उसी को कहा जाता है–तुम गणधरपद पर रहकर किसी एक को गीतार्थ–गणधरपद योग्य करके, पश्चात् जो तुमको इष्ट हो वह करो।

२०१५. निम्माऊणं एगं, इमं पि मे निज्जराय दार तु।
निक्खिव न निक्खिवामी, इत्थं इतरे तु खुब्भंति॥

एक का निर्माण करने के पश्चात् उसने सोचा–यह गच्छ का परिपालन भी निर्जरा का द्वार है। गण के गीतार्थ मुनि उसे कहते हैं–तुम गणधरपद का निक्षेप कर दो। वह कहता है–मैं नहीं छोड़ूंगा। इस प्रकार कहने पर गच्छवासी गीतार्थ क्षुब्ध हो जाते हैं। वे कहते हैं–

२०१६. दुसमुक्कट्ठं निक्खिव, भणंत गुरुणा अणुट्ठितं तह य।
एमेव अण्णसीसे, निक्खिवणा गाहिते नवरिं॥

तुम्हारा गणधरपद दुःसमुत्कृष्ट–कष्टदायी है। तुम उसका निक्षेप कर दो। इस प्रकार कहने वालों को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। वह अन्यशिष्य का निर्माण करता हुआ उसी गणधरपद पर बना रहता है तो कोई प्रायश्चित्त नहीं। बिना निर्माण किए यदि निक्षेप करता है तो उसे प्रायश्चित्त आता है इसलिए अन्यशिष्य का निर्माण करने के पश्चात् गणधरपद की निक्षेपणा करनी चाहिए। इस प्रकार करने पर उसे छेद, परिहार अथवा सप्तरात्र तप का प्रायश्चित्त नहीं आता।

२०१७. आवस्सग सुत्तत्थे, भत्ते आलोयणा उवट्ठाणे।
पडिलेहण कितिकम्मं, मत्तग संथारगतिगं च॥

(जो अपने गच्छ के साधु अथवा प्रतीच्छक को पहले गणधररूप में स्थापित किया था, उनके प्रति–)

आवश्यक करते समय विनय न करना, सूत्रार्थ उनके पास न लेना, आचार्य प्रायोग्य भक्त न देना, उनसे आलोचना न लेना, आचार्य के उपकरणों के प्रतिलेखन के लिए तत्पर न रहना, कृतिकर्म न करना, मात्रक प्रस्तुत न करना, तीन संस्तारक-भूमीयां न देना–ये सारे कार्य प्रायश्चित्तार्ह हैं।

२०१८. गेलण्णम्मि अधिकते, अठायमाणे सिया तु ओधाणं।
भवजीवियमरणा वा, संजमजीवा इमं होति॥

पूर्वसूत्र में ग्लानत्व का अधिकार था। ग्लानत्व निवर्तित न होने पर संयम से अवधावन–पलायन हो सकता है। पूर्व सूत्र में भवजीवितमरण का प्रतिपादन था। प्रस्तुत सूत्र में संयमजीवित-मरण का प्रतिपादन है। यह सूत्रसंबंध है।

२०१९. मोहेण व रोगेण व, ओधाणं भेसयं पयत्तेणं।
धम्मकथानिमित्तेण, अणाधसाला गवेसणता॥

अवधावन के दो कारण हैं–मोह अथवा रोग। मोहविषयक यतना तीसरे उद्देशक में कही जा चुकी है। रोग से होने वाले अवधावन के प्रसंग में प्रयत्नपूर्वक भेषज देना चाहिए। वह औषधि धर्मकथा के द्वारा, निमित्तकथन के द्वारा उत्पादित करनी चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो अनाथशाला में औषधि की गवेषणा होनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०२०. मोहेण पुव्वभणितं, रोगेण करेंतिमाए जतणाए।
आयरियकुलगणे वा, संघे व कमेण पुव्वुत्तं॥

मोहविषयक तथ्य पहले कहे जा चुके हैं। यदि रोग से अवधावन का प्रसंग हो तो पूर्वोक्त विधि से औषध प्राप्त करे तथा इस कथ्यमान यतना से उसका निवारण करना होता है। यतना यह है—प्रासुक औषध-भेषज प्राप्त हो तो उससे और यदि प्राप्त न हो तो अप्रासुक सामग्री से भी उसकी चिकित्सा करनी होती है।

चिकित्सा कौन करवाएं? इसका क्रम यह है—आचार्य, कुल, गण और संघ—इस परिपाटी से चिकित्सा करवाएं।

२०२१. छम्मासे आयरिओ, कुलं तु संवच्छराणि तिन्नि भवे।
संवच्छरं गणो खलु, जावज्जीवं भवे संघो॥

आचार्य छह मास पर्यंत उस रोगी की चिकित्सा करवाए। यदि रोग शांत न हो तो 'कुल' तीन वर्ष तक चिकित्सा का भार संभाले, फिर 'गण' एक संवत्सर तक चिकित्सा कराए। फिर भी यदि रोग उपशांत न हो तो 'संघ' यावज्जीवन उसकी चिकित्सा कराए। (जो मुनि भक्तप्रत्याख्यान नहीं कर सकता उसके लिए यह विधि है।)

२०२२. अधवा बितियादेसो, गुरुवसभे भिक्खुमादि तेगिच्छं।
जहरिह बारसवासा, तिछक्कमासा असुद्धेणं॥

अथवा दूसरा आदेश (मत) यह है—गुरु उस रोगी मुनि की यावज्जीवन तक, वृषभ बारह वर्षों तक तथा भिक्षु अठारह महीनों तक चिकित्सा कराए। चिकित्सा में प्राथमिकता प्रासुक सामग्री को देनी चाहिए। यदि वह उपलब्ध न हो तो अशुद्ध अर्थात् अप्रासुक सामग्री का भी उपयोग किया जा सकता है।

२०२३. पयत्तेणोसधं से, करेंति सुद्धेण उग्गमादीहिं।
पणहाणीय अलंभे, धम्मकहाहिं निमित्तेहिं॥

रोगी की औषध-चिकित्सा प्रयत्नपूर्वक उद्गमादि दोषों से शुद्ध वस्तुजात से करनी चाहिए। शुद्ध की उपलब्धि न होने पर 'पांच दिन रात की परिहानि' से यावत् चार गुरुमास के प्रायश्चित्त वाले अशुद्ध उपाय से भी चिकित्सा करनी चाहिए। इससे भी यदि औषध प्राप्त न हो तो धर्मकथा से अथवा निमित्त के प्रयोग से भी औषध की प्राप्ति करनी चाहिए।

२०२४. तह वि न लभे असुद्धं, बहिठिय सालाहिवाणुसट्ठादी।
नेच्छंते बहिदाणं, सलिंगविसणेण उड्डाहो॥

इन उपायों से अशुद्ध—अकल्प्य औषध भी प्राप्त न हो तो अनाथशाला या आरोग्यशाला के बाहर रहकर औषध प्राप्त करे। न मिलने पर अनाथशाला आदि के स्वामी पर अनुशासन कर औषध की याचना करे। यदि वे बहिःस्थित व्यक्तियों को औषधदान न करे तो (उनके पूजनीय साधु के वेश में प्रवेश कर औषध प्राप्त करे।) स्वलिंग से प्रवेश करने पर प्रवचन का उड्डाह होता है।

२०२५. पणगादी जा गुरुगा, अलब्भमाणे बहिं तु पाउग्गे।
बहिठित सालगवेसण, तत्थ पभुस्साणुसट्ठादी॥

पंचकादि प्रायश्चित्त की परिहानि से यावत् चार गुरुमास प्रायश्चित्तार्ह प्रायोग्य औषध यदि बाहर प्राप्त न हो तो आरोग्य-शाला के बाहर रहकर औषध की गवेषणा करे। यदि प्राप्त न हो तो उस शाला के स्वामी पर अनुशासन (धर्मकथा) आदि का प्रयोग करे।

२०२६. असती अच्चियलिंगे,
पविसण पतिभाणवंत वसभाओ।
जदि पडिवत्तियकुसला,
भावेंति नियल्लगत्तं से॥

अन्य उपायों से औषध की प्राप्ति न हो तो अनाथालय के स्वामी द्वारा पूजित वेष में भीतर प्रवेश करे। प्रतिभावान्—उत्तर देने में समर्थ वृषभ मुनि अपने लिंग में स्वामी के पास जाकर बातचीत करते हैं और अन्यवेश में प्रविष्ट उस मुनि से भी वार्तालाप करते हैं। प्रतिपत्तिकुशल—परप्रतिपादनदक्ष वे वृषभ उस शाला के स्वामी के साथ आत्मीयता स्थापित करते हैं। वहां भी वे सैद्धांतिक रूप में उस गृहीतलिंग मुनि के साथ इस प्रकार बात करते हैं कि वह शाला-स्वामी आकृष्ट हो जाता है।

२०२७. अधव पडिवत्तिकुसला, तो तेण समं करेंति उल्लावं।
पभवंतो वि य सो वी, वसभे उ अणुत्तरीकुणति॥

अथवा वे प्रतिपत्तिकुशल मुनि शालास्वामी के साथ परस्पर उल्लाप करते हैं और गृहीतलिंग वाला मुनि भी उसी प्रकार उसको भावित करता है। वह वृषभों से उत्तर सुनना चाहता है। इस प्रकार वह शाला-स्वामी निरुत्तर होकर कहता है—

२०२८. तो भणति कलहमित्ता, तुब्भे वहेज्जह मे उदंतं ति।
ते वी य पडिसुणंती, एवं एगाय छम्मासा॥

आप मेरे कलहमित्र हैं।[1] मेरे कथन को, प्रार्थना को आप वहन करें, स्वीकार करें। वृषभ उसकी प्रार्थना स्वीकार कर लेते हैं। शाला-स्वामी के साथ आत्मीयता हो जाती है। औषध प्राप्ति सुलभ हो जाती है। इस प्रकार एक अनाथशाला से छहमास तक चिकित्सा हो सकती है।

२०२९. छम्मासा छम्मासा, बितिए ततियाय एव सालाए।
काऊ अट्ठारस ऊ, अपउण ताहे विवेगो उ॥

इसी प्रकार छह-छहमास की चिकित्सा दूसरी और तीसरी अनाथशाला से कराने पर १८ मास तक चिकित्सा करा ली जाती है। यदि इतने पर भी रोगी स्वस्थ नहीं होता है तो रोगी को

१. कलहानंतरं (सिद्धांतोल्लापे पराजितः सन्) यानि जातानि मित्रानि तानि कलहमित्राणि। (वृत्ति)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भक्तविवेक (अनशन) करना उचित होता है।

२०३०. गुरुणो जावज्जीवं, फासुयअप्फासुएण तेगिच्छं।
वसभे बारसवासा, अट्ठारस भिक्खुणो मासा॥

अथवा आचार्य की प्रासुक अथवा अप्रासुक द्रव्यजात से भी यावज्जीवन चिकित्सा कराई जाती है। वृषभ की बारह वर्ष तक तथा भिक्षु की अठारह मास तक चिकित्सा कराई जाती है।

२०३१. ओहाविय भग्गवते, होति उवट्ठा पुणो उवट्ठंते।
उक्कसणा वा पगता, इमा वि अण्णा समुक्कसणा॥

यदि अवधावित मुनि भग्नव्रत होकर पुनः उपस्थापना के लिए तत्पर होता है तो उसको उपस्थापित करना चाहिए। पूर्वसूत्र से उत्कर्षणा प्रकृत थी। प्रस्तुतसूत्र में अन्य समुत्कर्षणा का कथन है। यह सूत्रसंबंध गाथा है।

२०३२. संभरण अवट्ठावण,
तिण्णि उ पणगा हवंति उक्कोसा।
माणणिज्ज पितादी उ,
तेसऽसती छेद परिहारो॥

उपस्थापना के विषय में संस्मरण जैसे यह उपस्थापयितव्य है। यदि उस उपस्थापयितव्य व्यक्ति के माननीय पिता, ज्येष्ठ भ्राता अथवा स्वामी कोई उपस्थापना लेने का इच्छुक हो तो जघन्यतः पांच दिन और उत्कर्षतः पंद्रह दिन तक उसको प्रतीक्षा कराई जा सकती है। यदि इस अवधि में उसकी उपस्थापना नहीं होती है तो प्रायश्चित्त स्वरूप छेद या परिहार प्राप्त होता है। यदि उसके माननीय पिता आदि नहीं हैं तो उसे यदि पांच-चार दिनों में उपस्थापित नहीं किया जाता है तो छेद अथवा परिहार प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२०३३. अच्छउ ता उद्ववणा, पुव्वं पव्वावणादि वत्तव्वा।
अडयाल पुच्छ सुद्धे, भण्णति दुक्खं खु सामण्णं॥

उपस्थापना की बात तो दूर, पहले प्रव्राजन आदि की वक्तव्यता वक्तव्य है। पंचकल्प अथवा निशीथ में ४८ पृच्छा वाले को शुद्ध कहा है। उसके सम्मुख यह कहा जाता है—श्रामण्य का परिपालन अतिकष्टप्रद होता है। उसमें—

२०३४. गोयर अचित्तभोयण,सज्झायमणहाण-भूमिसेज्जादी।
अब्भुवगतम्मि दिक्खा, दव्वादीसुं पसत्थेसुं॥

यावज्जीवन गोचरचर्या से अचित्त भोजन प्राप्त करना होता है, स्वाध्याय, अस्नान, भूमीशय्या आदि का पालन करना पड़ता है—श्रामण्य के इन नियमों को स्वीकार करने पर दीक्षा दी जाती है। दीक्षा प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र और भाव में संपन्न होती है।

२०३५. लग्गादी व तुरंते, अणुकूले दिज्जते उ अहजायं।
सयमेव तु थिरहत्थो, गुरू जहण्णेण तिण्णट्ठा॥

यदि लग्न आदि शीघ्र समाप्त होने वाले हों तो अनुकूल लग्न में दीक्षा शीघ्र समाप्त की जाती है। दीक्षार्थी को सनिषद्या रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि दी जाती है। यदि गुरु स्थिरहस्त होते हैं तो वे स्वयं जघन्यतः तीन मुष्टि में सारा लोच कर लेते हैं।

२०३६. अण्णो वा थिरहत्थो, सामाइयतिगुणमट्ठगहणं च।
तिगुणं पादक्खिण्णं, नित्थारग गुरुगुणविवड्ढी॥

आचार्य यदि स्थिरहस्त न हों और दूसरा कोई स्थिरहस्त हो तो वह सारा लोच करता है। फिर तीन बार सामायिकपाठ का उच्चारण करते हैं। (उसका अर्थ ग्रहण भी करवाते हैं।) फिर तीन बार प्रदक्षिणा करवाते हैं। तीसरी प्रदक्षिणा में गुरु अनुज्ञा देते हैं—शिष्य! तुम निस्तारक बनो। तुम गुरुगुणों की विवृद्धि करो।

२०३७. फासुयआहारो से, अणहिंडंतो य गाहए सिक्खं।
ताहे उ उवट्ठावण, छज्जीवणियं तु पत्तस्स॥

फिर प्रव्राजित शिष्य को प्रासुक आहार दिया जाता है। भिक्षा के लिए उसको न भेजते हुए उसको ग्रहण और आसेवन शिक्षा देते हैं। फिर षड्जीविनिका अध्ययन प्राप्त उस मुनि को उपस्थापना दी जाती है।

२०३८. अप्पत्ते अकहित्ता,
अणभिगतऽपरिच्छ अतिक्कमे वा से।
एक्केक्के चउगुरुगा,
चोयग ! सुत्तं तु कारणियं॥

अप्राप्त, अकथन, अनधिगत, अपरीक्षा, उसका अतिक्रम—प्रत्येक के लिए चार-चार गुरुमास का प्रायश्चित्त। शिष्य की जिज्ञासा। आचार्य ने कहा—यह सूत्र कारणिक है। (यह निर्युक्ति गाथा है। इसकी व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

२०३९. अप्पत्ते तु सुतेणं, परियागमुवट्ठवेंत चउगुरुगा।
आणादिणो य दोसा, विराहणा छण्ह कायाणं॥

श्रुत अर्थात् षड्जीवनिकापर्यंत जिसने प्राप्त नहीं किया है अथवा जिसने श्रामण्य पर्याय (जघन्य छह मास और उत्कृष्ट बारह वर्ष की) प्राप्त न की हो—ऐसे व्यक्ति को उपस्थापना देने वालों को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसके अतिरिक्त आज्ञा आदि का दोष (तथा उसको भिक्षा के लिए भेजने से) षट्जीवनिकाय की विराधना होती है।

२०४०. सुत्तत्थं अकहित्ता जीवाजीवे य बंधमोक्खं च।
उट्ठवणे चउगुरुगा, विराहणा जा भणितपुव्वं॥

सूत्रार्थ—षड्जीवनिका पर्यंत सूत्र और अर्थ को बताए बिना, तथा जीव, अजीव, बंध और मोक्ष का ज्ञान कराए बिना उपस्थापना देने वाले को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा पूर्व कथित विराधना का भी प्रसंग आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०४१. अणधिगतपुण्णपावं, उवट्ठवेंतस्स चउगुरू होंति।
आणादिणो य दोसा, मालाए होति दिट्ठंतो॥

पुण्य और पाप के अजानकार को उपस्थापना देने वाले को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। आज्ञा आदि दोष होते हैं। यहां माला का दृष्टांत है—(एक लकड़ी में शूलों का प्रक्षेप कर सुगंधित फूलों की माला को आरोपित करने पर लोग उसकी निंदा करते हैं। वैसे ही पुण्य-पाप के अज्ञाता में व्रतारोपण भी निंदा का कारण बनता है।)

२०४२. उदउल्लादि परिच्छा, अहिगय नाऊण तो वते देंति।
एक्केक्कं तिक्खुत्तो, जो न कुणति तस्स चउगुरुगा॥

उदकार्द्र आदि से परीक्षा। वृषभ उस उपसंपन्न मुनि के साथ गोचराग्र के लिए जाते हैं और स्वयं जल से आर्द्र हाथों से या पात्र से भिक्षा ग्रहण करते हैं तब वह यदि कहता है—यह सूत्र में निषिद्ध है, आप कैसे ले रहे हैं? तब मानना चाहिए कि यह सूत्रार्थ से परिणत है। यह जानकर गुरु उसे व्रत देते हैं। एक-एक व्रत का तीन-तीन बार उच्चारण करते हैं। जो ऐसा नहीं करता उसको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२०४३. उच्चारादि अथंडिल, वोसिर ठाणादि वावि पुढवीए।
नदिमादि दगसमीवे, सागणि निक्खित्त तेउम्मि॥

२०४४. वियणऽभिधारण वाते, हरिए जह पुढविए तसेसुं च।
एमेव गोयरगते, होति परिच्छा उ काएहिं॥

षट्काय की यतना विषयक परीक्षा—उच्चार आदि का अस्थंडिल में व्युत्सर्जन, कायोत्सर्ग आदि सचित्त पृथ्वी पर करना, नदी तथा उदक के समीप और अग्निप्रदेश में उच्चार आदि करना, वात विषय में बीजन (पंखे) को धारण करना, हरितकाय पर उठना-बैठना, त्रसकायिक जीवों पर व्युत्सर्ग करना, बैठना आदि—इसी गोचराग्र पर गए हुए की षट्काय-विषयक परीक्षा होती है। इन सबका यदि वह वारण करता है तो मानना चाहिए कि उसमें सूत्रार्थ परिणत हुआ है।

२०४५. दव्वादिपसत्थवया,
एक्केक्क तिगं तु उवरिमं हेट्ठा।
दुविधा तिविधा य दिसा,
आयंबिल निव्विगितिया वा॥

व्रतों का आरोपण प्रशस्त द्रव्य आदि के निकट करना चाहिए। व्रतों का उच्चारण तीन-तीन बार करना चाहिए। मूल से आरंभ कर उपरितन तक व्रत का उच्चार करे। साधु की दो दिशाएं हैं—आचार्य और उपाध्याय। साध्वी की तीन दिशाएं हैं—आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी। उपस्थापना के पश्चात् तप कराया जाता है—आचाम्ल अथवा निर्विकृतिक।

२०४६. पिय-पुत्त खुड्ड थेरे, खुड्डगथेरे अपावमाणम्मि।
सिक्खावण पण्णवणा, दिट्ठंतो दंडियादीहिं॥

पिता-पुत्र दोनों सूत्रार्थ प्राप्त हैं तो दोनों को युगपद उपस्थापित कर देना चाहिए। पुत्र यदि अप्राप्त है और पिता प्राप्त है तो स्थविर की उपस्थापना करनी चाहिए। यदि पुत्र सूत्रादि से प्राप्त है और पिता सूत्रादिक को अभी प्राप्त नहीं है तो स्थविर का प्रयत्नपूर्वक शिक्षापण करना चाहिए। शिक्षापण न होने पर उसको प्रज्ञापना देते हुए दंडिक—राजा आदि का दृष्टांत कहना चाहिए।

(एक राजा राज्यभ्रष्ट हो गया। वह अपने पुत्र के साथ दूसरे राज्य में चला गया। वह राजा इस पुत्र से संतुष्ट होकर उसको राजा बनाना चाहा। क्या पिता उसका अनुमोदन नहीं करेगा? वैसे ही हे स्थविर! तुम्हारा यह पुत्र महाव्रतों को प्राप्त करना चाहता है। क्या तुम इसको मान्य नहीं करोगे?)

२०४७. थेरेण अणुण्णाते उवट्ठऽणिच्छे व ठंति पंचाहं।
ति पणमणिच्छे उवरिं, वत्थुसहावेण जाहीयं॥

स्थविर द्वारा अनुज्ञात होने पर पुत्र की उपस्थापना कर देनी चाहिए। यदि स्थविर की अनुज्ञा न हो तो पांच दिन तक रुक जाना चाहिए। यदि स्थविर तीन दिनपंचक तक अनुज्ञा न दे तो क्षुल्लक को उपस्थापना दे दे। अथवा उस क्षुल्लक को और प्रतीक्षा कराए। वस्तु का स्वभाव है कि क्षुल्लक की उपस्थापना हो जाने पर स्थविर अहंकार से ग्रस्त होकर उत्निष्क्रमण कर दे।

२०४८. दो थेर खुड्ड थेरे, खुड्डग वोच्चत्थ मग्गणा होति।
रण्णो अमच्चमादी, संजतिमज्झे महादेवी॥

दो स्थविर अपने पुत्रों के साथ प्रव्रजित हुए। दोनों स्थविर सूत्रार्थ को प्राप्त हो गए, पुत्र नहीं हुए। दोनों स्थविरों को उपस्थापना दे दी जाती है। यदि दोनों क्षुल्लक सूत्रार्थ को प्राप्त हो गए और स्थविर नहीं हुए तो पूर्वकथित विधि के अनुसार पंद्रह दिन तक प्रतीक्षा आदि करनी चाहिए। कदाचित् दोनों स्थविर और एक क्षुल्लक सूत्रार्थ को प्राप्त हो जाएं तो उपस्थापना में विपर्यय होता है। अतः मार्गणा करनी होती है। राजा और अमात्य आदि साथ-साथ प्रव्रजित हुए और सूत्रार्थ को प्राप्त हो गए हों तो दोनों को साथ उपस्थापना दी जाती है। यदि राजा प्राप्त है और अमात्य नहीं है तो राजा को उपस्थापना दी जाती है। यदि अमात्य प्राप्त और राजा नहीं है तो पूर्ववत् प्रतीक्षा तथा शिक्षापना।

इसी प्रकार माता और पुत्री तथा महादेवी और अमात्य-पत्नी के विषय में जानना चाहिए। विस्तार के लिए टीका द्रष्टव्य है।

२०४९. दो पत्त पिता-पुत्ता, एगस्स उ पुत्त पत्त न उ थेरा।
गहितो व सयं वितरति, राइणिओ होतु एस वि य॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिता-पुत्र के दो युगल प्रव्रजित हुए। एक युगल में पुत्र सूत्रार्थ को प्राप्त हो गया, पिता नहीं। आचार्य अथवा वृषभ ने उसे प्रज्ञापना दी। स्थविर यदि स्वयं अनुज्ञा देता है तब क्षुल्लक को उपस्थापना दी जाती है। यदि स्थविर न चाहे तो उसे राजा के दृष्टांत से प्रज्ञापना दी जाती है। उसे समझाया जाता है कि देखो, पिता-पुत्र का वह युगल रत्नाधिक हो गया, वैसे ही तुम्हारा पुत्र भी रत्नाधिक हो जाएगा। ऐसा होने पर तुम्हारे लाभ ही है।

२०५०. राया रायाणो वा, दोण्णि वि समपत्त दोसु पासेसु।
ईसर-सेट्ठि-अमच्चे, निगमे घडाकुल दुए खुड्डे॥

एक राजा और एक राजराजा—दोनों एकसाथ प्रव्रजित हुए। दोनों ने सूत्रार्थ प्राप्त कर लिया। दोनों एक साथ उपसंपन्न कर गुरु के दोनों पार्श्व में स्थापित होते हैं। इसी प्रकार दो राजे, दो श्रेष्ठी, दो अमात्य, दो निगम—वणिक्, दो गोष्टी सदस्य, दो कुल एक साथ प्रव्रजित हों तो पूर्वविधि है। दोनों क्षुल्लक एक साथ प्रव्रजित हुए। साथ में सूत्रार्थ को प्राप्त हुए। दोनों को साथ ही रत्नाधिक करना चाहिए।

२०५१. समगं तु अणेगेसुं, पत्तेसुं अणभिजोगमावलिया।
एगतो दुहतो ठविता, समराइणिया जधासन्नं॥

अनेक व्यक्तियों का एक साथ सूत्रार्थ प्राप्त करने पर, एक साथ उपस्थाप्यमान उनके सथ गुरु को अभियोग नहीं करना चाहिए—जैसे इधर बैठो, उधर बैठो आदि। किंतु एक पार्श्व में अथवा दोनों पार्श्वों में जैसे स्थित हों, वे वैसे ही स्थित रहें। उनमें जो जैसे गुरु के आसन्न हो, वह ज्येष्ठ, जो उभयतो समश्रेणी में स्थित हैं, वे समरत्नाधिक हैं।

२०५२. ईसिं अवणय अंतो, वामे पासम्मि होति आवलिया।
अभिसरणम्मि य वुड्ढी, ओसरणे सो व अण्णो वा॥

उन उपस्थाप्यमान व्यक्तियों की आवलिका गुरु के वामपार्श्व में इषद् अवनत होकर स्थित है। यदि वह गुरु के समीप आगे की ओर बढ़ती है तो जानना चाहिए कि गच्छ की वृद्धि होगी। यदि पीछे की ओर अभिसरण करती है तो जानना चाहिए कि उपस्थाप्यमान अथवा अन्य उन्निष्क्रमण करेंगे।

२०५३. दप्पेण पमादेण व, वक्खेवेण व गिलाणतो वावि।
एतेहि असरमाणे, चउव्विहं होति पच्छित्तं॥

आचार्य अथवा उपाध्याय कल्पाक भिक्षु को उपस्थापना देना इन कारणों से भूल जाते हैं। वे कारण हैं—दर्प से, प्रमाद से, व्याक्षेप से अथवा ग्लान्यत्व से। उनके लिए चार प्रकार का प्रायश्चित्त विहित है।

२०५४. वायामवग्गणादिसु, दप्पेण अणुद्धवेंति चउगुरुगा।
विकधादिपमादेण व, चउलहुगा होंति बोधव्वा॥

व्यायाम, वल्गन आदि में व्यापृत होकर दर्प से उपस्थापना नहीं देने पर चार गुरुमास का तथा विकथा आदि प्रमाद के कारण उपस्थापना न देने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२०५५. सिव्वण-तुण्णण-सज्झाया-
झाण-लेवादि दाण कज्जेसुं।
वक्खेवे होति गुरुगो,
गेलण्णेण तु मासलहू॥

सीने, तुनने, स्वाध्याय, ध्यान, पात्रलेप आदि के दानकार्य में व्यापृत होना व्याक्षेप है। इससे उपस्थापना न देने पर एक गुरुमास का तथा ग्लानत्व के कारण उपस्थापना न देने पर एक लघु मास का प्रायश्चित्त है।

२०५६. धम्मकधा इड्ढिमतो, वादे अच्चुक्कडे व गेलण्णे।
बितियं चरमपदेसुं, दोसुं पुरिमेसु तं नत्थि॥

जो ऋद्धिमान् व्यक्तियों को धर्मकथा कहने में व्यापृत है, वाद में निग्रह करने के लिए शास्त्राभ्यास कर रहा है, अत्युत्कट ग्लानत्व हो इन कारणों से यदि उपस्थापना नहीं दी जाती हो तो कोई प्रायश्चित्त नहीं आता। द्वितीयपद अर्थात् अपवाद पद। दोनों चरमपदों—व्याक्षेप और ग्लानत्व लक्षणवालों में अपवाद पद है। प्रथम दो में नहीं है।

२०५७. सरमाणे पंचदिणा, असरमाणे वि तत्तिया चेव।
कालो त्ति व समयो त्ति व, अद्धा कप्पो त्ति एगट्ठं॥

स्मरण करते हुए भी पांच दिन और स्मरण न रहने पर भी पांच दिन—इस प्रकार दस दिन का कल्प है। काल, समय, अद्धा तथा कल्प एकार्थक हैं। (यह उपस्थापना देने का काल है।)

२०५८. जाहे सुमरति ताहे, असाहगं रिक्खलग्ग दिणमादी।
बहुवक्खेवम्मि य गणे, सरियं पि पुणो वि विस्सरति॥

जब उपस्थापित करने की स्मृति हो और नक्षत्र लग्न आदि साधक न हों तथा गण में बहुत विक्षेप हो तो स्मृत भी पुनः विस्मृत हो जाता है। यह स्मरण और अस्मरण की स्थिति बनती है।

२०५९. दसदिवसे चउगुरुगा, दसेव उ छल्लहु-छग्गुरू चेव।
तत्तो छेदो मूलं, अणवट्ठप्पो य पारंची॥

यदि दस दिन का अतिक्रमण होता है तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। उसके बाद दस दिन का अतिक्रमण होने पर छह लघुमास का तथा और दस दिन का अतिक्रमण होने पर छह गुरुमास का, उसके पश्चात् दस दिन के अतिक्रमण में छेद फिर एक-एक दिन के अतिक्रम में मूल, अनवस्थाप्य तथा पारांचिक प्रायश्चित्त दिया जाता है।

२०६०. एसादेसो पढमो, बितिए तवसा अदम्ममाणम्मि।
उभयबलदुब्बले वा, संवच्छरमादि साहरणं॥

प्रस्तुत कथित आदेश पहला है। दूसरे आदेश के अनुसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप का प्रायश्चित्त दिया जाता है। तप से अदम्यमान तथा धृति और शरीर से दुर्बल होने के कारण संवत्सर तप यावत् उसके आचार्यत्व का हरण कर लिया जाता है।

२०६१. एते दो आदेसा, मीसगसुत्ते हवंति नायव्वा।
पढमबितीएसुं पुण, सुत्तेसु इमं तु नाणत्तं॥

मिश्रकसूत्र विषयक ये दो आदेश ज्ञातव्य हैं। प्रथम और द्वितीय सूत्र में यह नानात्व है।

२०६२. चउरो य पंच दिवसा चउगुरू छ एव होति छेदो वि।
तत्तो मूलं नवमं, चरमं पि य एगसरगं तु॥

प्रथम आदेश के अनुसार विवक्षित कल्पाक हो जाने पर यदि चार दिनों का अतिक्रम होता है तो चार गुरुमास का तथा आगे चार-चार दिन के अतिक्रम में छह लघु, छह गुरु। इसी प्रकार प्राप्त छेद भी वक्तव्य है। फिर एक-एक दिन के अतिक्रम से मूल फिर नौवां अनवस्थाप्य और चरम पारांचित प्रायश्चित्त है। दूसरे आदेश के अनुसार पांच दिन के अतिक्रम से उपरोक्त प्रायश्चित्त का विधान है।

२०६३. कीस गणो मे गुरुणो,
हितो त्ति इति भिक्खु अन्नहिं गच्छे।
गणहरणेण कलुसितो,
स एव भिक्खू वए अण्णं॥

'मेरे गुरु के गण का हरण क्यों किया गया, यह सोचकर कोई भिक्षु अन्य गण में चला जाए।' अथवा जिसके गण का हरण कर लिया गया है वह भिक्षु गणहरण से कलुषित मन वाला होकर अन्य गण की उपसंपदा स्वीकार कर ले।

२०६४. पव्वावितोऽगीतेहि, अन्नहि गंतूण उभयनिम्मातो।
आगम्म सेससाहण, ततो य साधू गतोऽण्णत्थ॥

२०६५. तत्थ वि य अन्नसाधुं, अटे त्ती अहिज्जमाण साधूणं।
बेती मा पढ एवं, किं तिय अत्थो न होएवं॥

कोई अगीतार्थ आचार्य से प्रव्राजित हुआ। वह अन्यत्र गण में जाकर उभयतः—सूत्र और अर्थ से निर्मित हो गया। फिर वह स्वगण में आकर सूत्रार्थ को हस्तगत करने के लिए बिखरे हुए साधुओं को पुनः आचार्य के समीप ले आता है और उनको सूत्रार्थ से परिपूर्ण कर देता है। वहां से एक मुनि किसी कारणवश अन्य गच्छ में गया। वहां उसने एक अन्य मुनि को आचारांग का पाठ 'अट्टे लोए परिजुण्णे' पाठ में आए हुए अट्टे शब्द के स्थान पर 'अटे' शब्द को पढ़ते सुनकर उसको कहा—ऐसे मत पढ़ो। उसने पूछा—क्यों? तब इसने कहा—इसका कोई अर्थ नहीं होता। इस प्रकार यह विसंवाद होता है।

२०६६. अत्थो वि अत्थि एवं, आम नमोक्कारमादि सव्वस्स।
केरिस पुण अत्थो ती, बेती सुण सुत्तमट्ट त्ति॥

अध्येता ने पूछा—क्या इस सूत्र का भी कोई अर्थ है। उसने कहा—हां, इसका भी अर्थ है तथा समस्त नमस्कार आदि सूत्र का भी अर्थ है। अध्येता ने पूछा—इसका अर्थ क्या है? उसने कहा—सुनो। फिर वह यथावस्थित सूत्र का उच्चारण करता है—अट्टे लोऐ परिनुण्णे। इसकी व्याख्या इस प्रकार है—

२०६७. अट्टे चउव्विधे खलु, दव्वे नदिमादि जत्थ तणकट्ठा।
आवत्तंते पडिया, अहव सुवण्णादियावट्टे॥

आर्त्त के चार प्रकार हैं—नामार्त्त, स्थापनार्त्त, द्रव्यार्त्त और भावार्त्त। द्रव्यार्त्त है नदी आदि। उसमें गिरे हुए तृण काष्ठ आदि आवर्तन करते हैं। अथवा सुवर्ण आदि आवर्तन करते हैं।

२०६८. अहवा अत्तीभूतो, सच्चित्तादीहि होति दव्वेहिं।
भावे कोहादीहिं, अभिभूतो होति अट्टो उ॥

अथवा जो सचित्त आदि द्रव्यों से आर्त्तीभूत है, वह द्रव्यार्त्त है। जो क्रोध आदि से अभिभूत होता है, वह भावार्त्त है।

२०६९ परिजुण्णो उ दरिद्दो, दव्वे धणरयणसारपरिहीणो।
भावे नाणादीहि, परिजुण्णो एस लोगो उ॥

जो धन, रत्न, सार आदि से परिहीन दरिद्र है वह द्रव्यतः परिजीर्ण है और जो ज्ञान आदि से परिजीर्ण होता है वह भावतः परिजीर्ण है। यह सारा लोक ऐसा ही है।

२०७०. एवं सिद्धे अत्थे, सो बेती कत्थ मे अधीयं ति।
अमुगस्स सन्निगासे, अहगं पी तत्थ वच्चामि॥

२०७१. सो तत्थ गतोऽधिज्जति,
मिलितो सज्झंतिएहि उब्भामे।
पुट्ठो सुत्तत्था ते,
सरंति निस्साय कं विहरे॥

इस प्रकार अर्थ सिद्ध हो जाने पर उसने पूछा—भंते! आपने यह कहां पढ़ा है। उसने कहा—मैंने अमुक आचार्य के पास अध्ययन किया है। तब उस अध्येता ने कहा—मैं भी वहां जाऊं। वह वहां गया और अध्ययन करने लगा। एक बार वह उद्भ्रामक भिक्षा के निमित्त गांव में गया। वहां कुछ सहाध्यायी मिले। उन्होंने पूछा—जहां तुम हो क्या वहां सूत्रार्थों का स्मरण होता है? तुम किसकी निश्रा में विहरण कर रहे हो?

२०७२. अमुगं निस्साऽगीतो, विहरति कप्पेण गीतसिस्सस्स।
अहमवि य तस्स कप्पा, जं वा भगवं उवदिसंति॥

वह कहता है—मैं अमुक अगीतार्थ आचार्य की निश्रा में रहता हूं। फिर वे पूछते हैं—तुम किस गीतार्थ शिष्य की निश्रा में रह रहे हो? उसने कहा—वहां जो गीतार्थ है, उसके कल्प में सारा गण विहरण करता है। मैं भी उसी के कल्प में रह रहा हूं। जैसे वे आज्ञा देते हैं, वैसे मै करता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०७३. रायणियस्स ऊ गणो,गीतत्थोमस्स विहरती निस्सा।
जो जेण होति महितो, तस्साणादी न हावेमि॥

रत्नाधिक का गण अवम गीतार्थ की निश्रा में रहता है। मैं भी उसकी निश्रा में रहता हूं। उस गण में जो जिस गुण से पूजित होता है, मैं उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

२०७४. इति खलु आणा बलिया,
आणासारो य गच्छवासो उ।
मोत्तुं आणापाणुं,
सा कज्जा सव्वहिं जोगे॥

गुरु की आज्ञा बलवती होती है। आज्ञासार है गच्छवास। आन-प्राण को छोड़कर सारी प्रवृत्तियों में गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिए।

२०७५. अहवा तदुभयहेउं, आइण्णो सो बहुस्सुत गणो उ।
उस्सूरभिक्खखेत्ते, चइयाणं चारिया जोगो।

अथवा वह बहुश्रुत का गण सूत्रार्थ, तदुभयनिमित्त, बहुत प्रातिच्छिकों से आकीर्ण है। उस क्षेत्र में उत्सूर—बहुत परिभ्रमण करने के पश्चात् भिक्षावेला मिलती है और रूक्ष भोजन प्राप्त होता है। उस क्षेत्र को छोड़ने वाले मुनियों के चरिकायोग होता है। यही इस सूत्र का प्रतिपाद्य है।

२०७६. पंचाहग्गहणं पुण, बलकरणं होति पंचहि दिणेहिं।
एग-दुग-तिण्णि-पणगा, आसज्ज बलं विभासाए॥

(चरिकायोग में) पांच दिनों का ग्रहण इसलिए किया गया है कि पांच दिनों में पुनः बल की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार एक, दो, तीन दिनपंचकों के विकल्प से जब तक बल प्राप्त हो वह करे।

२०७७. उवसंपज्जमाणेण, जा दत्ताऽऽलोयणा पुरा॥
अवसण्णेहि आगम्म, पडिक्कंतो उ भावतो॥

२०७८. जा याणुण्णवणा पुव्वं, कता साधम्मि उग्गहे।
संभावणाय सालंदं, जा भावो अणुवत्तती॥

अन्य गण से आकर उपसंपद्यमान को जो पहले आलोचना दी है, वही रहेगी। पूर्व में अवसन्न मुनियों से आकर भावतः प्रतिक्रांत किया है वही प्रतिक्रमण रहेगा। साधर्मिक के अवग्रह की जो अनुज्ञापना पूर्व में की है, वही रहती है। जब तक भाव अनुवर्तित रहता है तब तक उक्त काल तक ही नहीं, किंतु चिरकाल तक अवग्रह आदि की अनुज्ञापना रहती है।

२०७९. परं ति परिणते भावे, परिभूतो तु सो पुणो।
नवोवसंपदाए व, तत्थाऽऽलोए पडिक्कमे॥

सूत्र में 'परं चउराय पंचरायातो' ऐसा पाठ है। इसमें प्रयुक्त 'पर' शब्द की अर्थवत्ता विशेष है। 'गच्छ से मैं निष्क्रमण करूं', इस भाव से परिणत होने पर वह गच्छ से परिभूत हो जाता है। यदि वह पुनः नई उपसंपदा के लिए (चार-पांच दिन में) आता है तो उसे नये उपसंपन्न व्यक्ति की भांति स्थविरों के पास आलोचना—प्रतिक्रमण करना चाहिए।

२०८०. जइ पुण किं वावण्णो, तत्थ तु आलोइउं उवट्ठाति।
विप्परिणम्मि भावे, एमेव अविप्परिणयम्मि॥

विपरिणत भाव के कारण किंचित् प्रायश्चित्तस्थान प्राप्त हुआ है तो आचार्य के पास आलोचना करने के लिए उपस्थित होता है। इसी प्रकार अविपरिणत भाव में भी जानना चाहिए।

२०८१. उववातो निद्देसो, आणा विणओ य होंति एगट्ठा।
तस्सट्ठाए पुणरवि, मितोग्गहो वासगाणुण्णा॥

उपपात, निर्देश, आज्ञा और विनय—ये एकार्थक शब्द हैं। भिक्षुत्व के लिए पुनः मितावग्रह की अनुज्ञा है।

२०८२. मितगमणं चेट्ठणतो, मितभासि मितं च भोयणं भंते।
मज्झ धुवं अणुजाणह, जा य धुवा गच्छमज्जाया॥

भंते! मितगमन, मितअवस्थान, मितभाषण तथा मित-भोजन की आप मुझे ध्रुव अनुज्ञा दें। ध्रुव गच्छमर्यादा की भी अनुज्ञा दें। (यहां ध्रुव का अर्थ है—अवश्य करणीय।)

२०८३. निययं च तहावस्सं, अहमवि ओधायमादि जा मेरा।
निच्चं जाव सहाए, न लभामि इधाऽऽवसे ताव॥

(ध्रुव, नियत और नैत्यिक—ये तीनों शब्द एकार्थक होने पर भी भिन्नार्थक हैं। ध्रुव का एक अर्थ है—अवश्यकरणीय। वह ऊपर बताया जा चुका है।) उसके शेष दो अर्थ ये हैं—नियत और नैत्यिक। नियत का अर्थ है—अवश्य, निश्चित। जब तक अवधावन की मर्यादा है अर्थात् जब तक अवधावन न करूं तब तक मैं निश्चितरूप से अवश्यकरणीय को अन्यथा नहीं करूंगा। नित्य का अर्थ है—जब तक कोई सहायक न मिले तब तक मैं यहां (गण में) रहूंगा।

२०८४. दिवसे दिवसे वेउट्टिया उ पक्खे व वंदणादीसु।
पट्ठवणमादिएसुं, उववाय पडिच्छणा बहुधा॥

दिवस-दिवस अर्थात् प्रतिदिन, पाक्षिक के दिन, वंदन आदि के समय स्वाध्याय आदि की प्रस्थापना में बहुत प्रकार से उपपात प्रतीच्छन की अनुज्ञा लेता है।

२०८५. अब्भुवगते तु गुरुणा,
सिरेण संफुसति तस्स कमजुगलं।
कितिकम्ममादिएसु य,
निंतमणिंते य जे फासा॥

गुरु जब इसको स्वीकार कर लेते हैं तब शिष्य उनके चरणयुगल का सिर से स्पर्शन करता है—प्रणाम करता है। फिर कहता है—कृतिकर्म आदि क्रियाओं के लिए आते-जाते जो कायस्पर्श होता है उसकी आप आज्ञा दें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०८६. भिक्खूभावो सारण, वारण पडिचोदणं जधापुव्वं।
तह चेव इयाणिं पी, निज्जुत्ती सुत्तफासेसा॥

भिक्षुभाव का अर्थ है–सारणा, वारणा तथा प्रतिचोदना (निष्ठुर शिक्षापण)। जैसे भिक्षुभाव–पहले था वैसे ही आज भी है।[1] अब सूत्रस्पर्शिका निर्युक्ति कही जा रही है।

२०८७. आकिण्णो सो गच्छो,
सुह-दुक्खपडिच्छएहि सीसेहिं।
दुब्बल-खमग-गिलाणे,
निग्गम संदेसकहणे य॥

सुख-दुःख के लिए उपसंपन्न प्रतीच्छक तथा शिष्यों से वह गच्छ आकीर्ण था। उनमें कुछ साधु दुर्बल हो गए। जो तपस्वी थे वे भी दुर्बल हो गए। ग्लान भी दुःख पाते हैं। इन कारणों से वे निर्गमन करना चाहते हैं। जिनको निर्गम की आज्ञा देते हैं, आचार्य उनको संदेश देते हैं।

२०८८. अहमवि एहामो ता, अण्णत्थ इहेव मं मिलिज्जाह।
अतिदुब्बले य नाउं, विसज्जणा नत्थि इतरेसिं॥

आचार्य कहते हैं–तुम सब जहां जाओगे मैं भी यहां से वहां आ जाऊंगा अथवा अन्यत्र तुम सब आकर मेरे से मिल लेना। आचार्य अतिदुर्बल मुनियों को जानकर उनको अन्यत्र जाने की आज्ञा दे। किंतु दूसरे मुनि जो निष्कारण निर्गमन करना चाहते हों उनको विसर्जना–निर्गमन की आज्ञा नहीं देनी चाहिए।

२०८९. तं चेव पुव्वभणितं,आपुच्छण मास दोच्चऽणापुच्छा।
उवजोग बहिं सुणणा,साधू सण्णी गिहत्थेसु॥

निर्गमन यदि आचार्य को बिना पूछे किया जाता है तो प्रायश्चित्त है एक लघुमास। जो पृच्छा पहले की है उसी को लेकर गमनकाल में दूसरी बार पृच्छा करनी चाहिए। क्योंकि जब पहले पूछा गया था तब आचार्य अनुपयुक्त थे, फिर उपयुक्त होकर उन्होंने बहिर् जाते हुए सुना अथवा किसी साधु, श्रावक अथवा गृहस्थ से ज्ञात हुआ कि वहां अनेक दोषों की संभावना है। इसलिए आचार्य को दूसरी बार पूछना चाहिए।

२०९०. नाऊण य निग्गमणं,
पडिलेहण सुलभ-दुल्लभं-भिक्खं।
जे य गुणा आपुच्छा,
जे वि य दोसा अणापुच्छा॥

साधुओं का निर्गमन जानकार आचार्य को चाहिए कि वे उस क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए अन्य साधुओं को वहां भेजे और यह ज्ञात करें कि वहां भिक्षा सुलभ है अथवा दुर्लभ। जो गुण दूसरी बार की पृच्छा में होते हैं, वे ही गुण प्रतिलेखना में है और जो दोष दूसरी बार न पूछने में होते है, वे ही दोष अप्रतिलेखना में हैं।

२०९१. पच्चंत सावयादी, तेणा दुब्भिक्ख तावसीओ य।
नियगपदुट्ठद्धाणा, फेडणा य हरियपण्णी य॥

क्षेत्र की प्राग्प्रत्युपेक्षणा न करने पर होने वाले दोष–प्रत्यंत–सीमावर्ती म्लेच्छ उपद्रव करने में तत्पर हैं। मार्ग में श्वापद तथा चोरों का भय है। उस क्षेत्र में दुर्भिक्ष्य है, वहां तापसियां अत्यंत मोहग्रस्त होने के कारण ब्रह्मचर्य का आघात करने के लिए तत्पर रहती हैं, स्वजन अपने नवप्रव्रजित मुनि को घर ले जाते हैं, कोई प्रद्वेषी वहां कार्यरत है, कदाचित् वह देश उजड़ गया हो, वहां जो पहले वसति थी, वह उखड़ गई हो, वहां हरितपन्नी–अर्थात् सदा दुर्भिक्ष रहने के कारण लोग हरित का ही भक्षण करने वाले हैं।[2]

२०९२. अण्णत्थ तत्थ विपरिणते या गेलण्णे होति चउभंगो।
फिडिता गतागतेसु य, अपुण्ण पुण्णेसु वा दोच्चं॥

अन्यत्र वहां विपरिणत होने पर ग्लानत्व की चतुर्भंगी होती है। स्फिटित–विपरिणत, गतागत करने पर जितने काल को अधिकृत किया है उसके अपूर्ण या पूर्ण होने पर, यदि दूसरी बार अवग्रह का अनुज्ञापन।

(यह निर्युक्ति गाथा है–इसकी पूर्ण व्याख्या अगली गाथाओं में।)

२०९३. अवरो परस्स निस्सं,
जदि खलु सुह-दुक्खिया करेज्जाहि।
अब्भंतरा उ सेहं,
लभति गुरू पुण न लभती तु॥

(चरिका में प्रविष्ट अथवा चरिका से निवृत्त होने वाले विपरिणत होकर) परस्पर सुखदुःखित की निश्रा करते हैं। जितनी कालावधि की है, उसके भीतर अर्थात् उसके पूर्ण होने पर अथवा पूर्ण न होने पर जो शैक्ष आदि का लाभ करते हैं, वह भी उन्हीं का होता है, गुरु को उसका लाभ नहीं मिलता।

२०९४. गेलण्णे चउभंगो, तेसिं अहवा वि होज्ज आयरिए।
दोण्हं पी होज्जाही, अहव न होज्जाहि दोण्हं पि॥

ग्लान विषयक चतुर्भंगी यह है–

१. ग्लान विपरिणतों का होता है, आचार्य का नहीं।

---

१. विस्मृत अर्थ में स्मारणा होती है। अनाचार का प्रतिषेध करना वारणा है। स्खलित को पुनः मार्ग पर लाने के लिए शिक्षापण प्रतिचोदना है।

२. हरितपण्णी का दूसरा अर्थ है–उस देश में राजा दंड देकर उन व्यक्तियों के घर से देवता की बलि के लिए पुरुष की मांग करता है। जिस घर का पुरुष प्रव्रजित होकर भिक्षा के लिए प्रविष्ट है उसके घर पर आर्द्रवृक्ष की शाखा का चिह्न कर दिया जाता है। जो इस संकेत को नहीं जानता वह वहां जाने पर विनष्ट हो जाता है। (वृत्ति)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. ग्लान आचार्य का होता है, विपरिणतों का नहीं।
३. दोनों का होता है ग्लान।
४. दोनों का नहीं होता ग्लान।

२०९५. आयरिय अपेसंते, लहुओ अकरेंत चउगुरू होंति।
परितावणादि दोसा, तेसि अप्पेसणे एवं॥

पहले भंग में ग्लान विपरिणतों का होता है, आचार्य का नहीं। परंतु यदि आचार्य उसकी गणेषणा के लिए साधु-संघाटक को नहीं भेजते तो उनको लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि जानेवाले ग्लानकृत्य नहीं करते तो जाने वालों को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त है तथा परितापना आदि में भी प्रायश्चित्त आता है।

दूसरे भंग में ग्लान आचार्य का होता है, उनका नहीं। यदि वे विपरिणत मुनि ग्लान की गवेषणा आदि नहीं करते तो पूर्वोक्त सारा प्रायश्चित्त गम्य है।

२०९६. अहवा दोण्ह वि होज्जा,
ऽसंथरमाणेहि तह वि गविसणया।
तं चेव य पच्छित्तं,
असंथरंता भवे सुद्धा॥

तीसरे भंग में ग्लान दोनों का होता है। दोनों ग्लान की गवेषणा आदि करे। न करने पर पूर्ववत् प्रायश्चित्त। चतुर्थभंग में ग्लान दोनों का नहीं होता। उस स्थिति में गवेषणा आदि न करने पर भी दोनों शुद्ध हैं।

२०९७. हट्ठेणं न गविट्ठा,
अतरंत न ते य विप्परिणया उ।
तत्थ वि न लभति सेहे,
लभति कज्जे विपरिणया वि॥

हृष्ट होकर भी गवेषणा न करने पर तथा स्वयं असमर्थ होते हुए भी विपरिणत न होकर जो शैक्ष आदि उनको प्राप्त होता है, वह गुरु का नहीं होता। गुरु किसी कार्य में व्याकुल होने के कारण उनकी गवेषणा नहीं की। दूसरे विपरिणत होकर जो कुछ सचित्त आदि प्राप्त करते हैं, वह उनको नहीं मिलता, किंतु वह आचार्य को प्राप्त होता है।

२०९८. लद्धुं अविप्परिणते, कधेंति भावम्मि विप्परिणयम्मि।
इति मायाए गुरुगो, सच्चित्तादेसगुरुगा वा॥

अविपरिणतभाव में प्राप्तकर उसको विपरिणमित कर कहते हैं—इसको हमने विपरिणतभाव में प्राप्त किया है। उनको मायानिष्पन्न एक गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। सचित्त की प्राप्ति की हो तो चार गुरुमास तथा अन्य परम्परा के अनुसार उसका प्रायश्चित्त है—अनवस्थाप्य।

२०९९. सुहदुक्खिया गविट्ठा, सो चेव या उग्गहो य सीसा य।
विप्परिणमंतु मा वा, अगविट्ठेसुं तु सो न लभे॥

जो सुखदुःखित (सुखदुःखोपसंपन्नक) थे आचार्य ने उनकी गवेषणा की। उनका वही अवग्रह है। वे शिष्य यदि विपरिणत हो जाते हैं, यदि विपरिणत नहीं भी होते, उन्होंने जो उत्पादित किया है, वह उन्हीं को प्राप्त होता है, आचार्य को नहीं। यदि आचार्य गवेषणा नहीं करते तो जो प्राप्त होता है वह आचार्य को नहीं, उन्हीं को मिलता है।

२१००. विप्परिणतम्मि भावे, लद्धं अम्हेहि बेंति जइ पुट्ठा।
पच्छा पुणो वि जातो, लभंति दोच्चं अणुण्णवणा॥

यदि पूछने पर वे कहते हैं कि विपरिणतभाव में हमने यह प्राप्त किया है, वह उन्हीं का होता है, आचार्य का नहीं। पश्चात् पुनः भाव होने पर दूसरी बार अवग्रह की अनुज्ञापना करनी चाहिए। उसमें जो प्राप्त होता है वह आचार्य का है, उनका नहीं।

२१०१. आगतमणागताणं, उडुबद्धे सो विधी तु जा भणिता।
अद्धाणसीसगामे, एस विहीए ठिय विदेसं॥

आगत—चरिका से निवृत्त तथा अनागत—चरिका में प्रविष्ट मुनियों के लिए ऋतुबद्ध काल में पूर्वोक्त विधि है। प्रस्तुत विधि विदेश में जाने के इच्छुक अर्धशीर्षकग्राम—मार्गगत मध्यवर्ती गांव में स्थित के लिए है।

२१०२. सत्थेणं सालंबं, गतागताण इह मग्गणा होति।
तत्थऽण्णत्थ गिलाणे, लहु-गुरु-लहुगा चरिम जाव॥

जो सार्थ के साथ सालंब रूप में गए हैं अथवा नहीं गए हैं उनके लिए आभव्य और अनाभव्य की मार्गणा होती है। इसमें ग्लान विषयक चतुर्भंगी होती है—

१. अन्यत्र अर्थात् अर्धशीर्षकग्राम में स्थित का ग्लान आभाव्य होता है, तत्र अर्थात् आचार्य के पास में स्थित का नहीं।
२.आचर्य के पासवालों का होता है, उनका नहीं।
३. दोनों के पासवालों का होता है।
४. दोनों के पासवालों का नहीं होता।

आचार्य यदि उनकी गवेषणा नहीं करते तो लघुमास, ग्लान का कृत्य न करने पर चार गुरुमास, परितापना आदि में चार लघुमास से अंतिम पारांचित प्रायश्चित्त तक प्राप्त होता है।

२१०३. पुण्णे व अपुण्णे वा, विपरिणतेसु जा होतऽणुण्णवणा।
गुरुणा वि न कायव्वा, संकालद्धे विपरिणते उ॥

(विदेश जाते समय आगमन की जितनी कालावधि का संकेत किया था) उसके पूर्ण होने पर अथवा पूर्ण न होने पर यदि वे विपरिणत हो गए हों तो आने पर अवग्रह की पुनः अनुज्ञापना करनी चाहिए। (यदि वे लौटकर कहें कि अवधि के पूर्ण होने पर शैक्ष की प्राप्ति हुई है तो) गुरु को उसमें शंका नहीं करनी चाहिए कि अपूर्ण अवधि में प्राप्त शैक्ष के लोभ के वशीभूत होकर ये विपरिणत हुए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१०४. पारिच्छनिमित्तं वा, सब्भावेणं च बेति तु पडिच्छे।
उवसंपज्जितुकामे, मज्झं तु अकारगं इहइं॥

२१०५. अण्णं गविसह खेत्तं, पाउग्गं जं च होति सव्वेसिं।
बालगिलाणादीणं, सुहसंथरणं महाणस्स॥

जो प्रतीच्छक उपसंपदा के लिए उपस्थित हुए हैं, उनकी परीक्षा करने अथवा सद्भाव के निमित्त से गुरु उनको कहता है—आर्य! इस क्षेत्र में प्राप्त भक्तपान आदि मेरे लिए अकारक हैं—प्रायोग्य नहीं है। इसलिए दूसरे क्षेत्र की गवेषणा करो जहां सभी अर्थात् बाल, ग्लान आदि मुनियों के लिए तथा इस महान् गण में सुखपूर्वक निस्तार के लिए उपयुक्त हो।

२१०६. कतसज्झाया एते, पुव्वं गहितं पि नासते अम्हं।
खेत्तस्स अपडिलेहा, अकारका तो विसज्जेति॥

इस आदेश को सुनकर यदि वे यह कहें—आपके ये शिष्य स्वाध्याय कर चुके हैं, इनको भेजें। यदि हम जाएंगे तो हमने जो पहले ग्रहण किया है, वह भी विनष्ट हो जाएगा। इस प्रकार उन क्षेत्र के अप्रत्युपेक्षकों, विनय आदि के अकारकों को विसर्जित कर देना चाहिए।

२१०७. सव्वं करिस्सामु ससत्तिजुत्तं,
इच्चेवमिच्छंत पडिच्छिऊणं।
निद्देसबुद्धीय न यावि भुंजे,
तं वाऽगिला पूरयते सि इच्छं॥

गुरु के आदेश को सुनकर जो यह कहे—'अपनी अपनी शक्ति के अनुसार हम सब करेंगे' उनको प्रतीच्छक के रूप में रखें। उनका उपभोग निर्देश की बुद्धि से न करे, किंतु वे जिस इच्छा से उपसंपन्न होना चाहते हैं उनकी उस इच्छा को आगिला—निर्जरा बुद्धि से पूरी करे।

२१०८. निट्ठितमहल्लभिक्खे, कारण उवसग्गऽगारिपडिबंधो।
पढमचरिमाइ मोत्तुं, निग्गम सेसेसु ववहारो॥

निष्ठित, महती, भिक्षा, कारण, उपसर्ग, आगारी का प्रतिबंध, इनमें प्रथम और चरम कारण को छोड़कर शेष कारणों से निर्गमन करने पर होने वाले आभवत् व्यवहार के विषय में कहूंगा। (इसकी व्याख्या अगली गाथाओं में।)

२१०९. सम्मत्तम्मि सुते तम्मि, निग्गमो तस्स होति इच्छाए।
मंडलि महल्लभिक्खे, जह अन्ने सो वि जावए॥

श्रुत का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उसका निर्गम अपनी इच्छा से होता है। महती भक्तमंडली में तथा दुर्लभ भिक्षा की स्थिति में जैसे दूसरे मुनि जीवन यापन करते हैं, उसी प्रकार से उसको करना चाहिए। (इस यापना को सहन न करने पर निर्गमन होता है तथा सूत्रमंडली में चिरकाल से प्राप्त होने वाले आलापक को सहन न करने से निर्गमन होता है।)

२११०. कारणे असिवादिम्मि, सव्वेसिं होति निग्गमो।
दंसमादि उवसग्गे, सव्वेसिं एवमेव तू॥

अशिव आदि कारणों से सभी का निर्गमन होता है। इसी प्रकार दंश-मशक के उपसर्ग में भी सभी का निर्गमन होता है।

२१११. नीयल्लएहि उवसग्गो, जदि गच्छंति नेतरे।
निग्गच्छति ततो एगो, पडिबंधो वावि भावतो॥

अपने स्वजनों द्वारा उपसर्ग उपस्थित करने पर गण के अन्य साधु निर्गमन नहीं करते, किंतु वह एकाकी प्रातीच्छिक निर्गमन कर देता है। यदि भावतः अपने स्वजनों के प्रति गहरा प्रतिबंध होता है तो निर्गमन कर देता है।

२११२. आतपरोभयदोसेहि, जत्थऽगारीय होज्ज पडिबंधो।
तत्थ न संचिट्ठेज्जा, नियमेण तु निग्गमो तत्थ॥

यदि अगारी—स्त्री का स्व-पर तथा उभय दोषात्मक प्रतिबंध हो तो मुनि वहां न रहे। नियमतः वहां से वह निर्गमन कर दे।

२११३. पढमचरिमेसऽणुण्णा, निग्गम सेसेसु होति ववहारो।
पढमचरिमाण निग्गम, इमा उ जयणा तहिं होति॥

उपरोक्त कथित (८वीं गाथा) कारणों में प्रथम और चरम कारण में निर्गमन की अनुज्ञा है। शेष कारणों में निर्गमन करने पर आभवद् व्यवहार होता है तथा प्रथम और चरम कारण में निर्गमन करने पर यह वक्ष्यमाण यतना होती है।

२११४. सरमाणे उभए वी, काउस्सग्गं तु काउ वच्चेज्जा।
पम्हुट्ठे दोण्ह वि ऊ, आसन्नातो नियट्टेज्जा॥

प्रथम और चरम कारण में दोनों—आचार्य और प्रातीच्छक को विधि की स्मृति होने पर प्रातीच्छक कायोत्सर्ग कर निर्गमन कर दे। यदि प्रातीच्छक भूल जाए तो आचार्य उसको स्मृति कराए। यदि दोनों भूल जाएं और प्रातीच्छक निर्गमन कर दे तो आसन्न प्रदेश से, जहां स्मृति हो जाए, वहां से लौट आए और कायोत्सर्ग करे।

२११५. दूरगतेण तु सरिए साधम्मिं दट्ठु तस्सगासम्मि।
काउस्सग्गं काउं, जं लद्धं तं च पेसेति॥

यदि दूर चले जाने पर याद आए तो साधर्मिक को देखकर उसके पास जाकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग से पूर्व जो सचित्त आदि की उपलब्धि हुई हो, उसे आचार्य के पास भेज दें।

२११६. पढमचरमाण एसो, निग्गमणविही समासतो भणितो।
एत्तो मज्झिमल्लाणं, ववहारविधिं तु वोच्छामि॥

प्रथम और चरम कारण से निर्गमन करने वालों की यह संक्षिप्त विधि कही है। आगे मध्यमकारणों से निर्गमन करने वालों की व्यवहारविधि कहूंगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२११७. सज्झायभूमि वोलंते, जाए छम्मास पाहुडे।
सज्झायभूमि दुविधा, आगाढा चेवऽणागाढा॥

स्वाध्याय भूमी का अर्थ है–प्राभृत–इष्ट श्रुतस्कंध का योग। आगाढ़ योग उत्सर्गतः छह मास का होता है। स्वाध्याय-भूमी के दो प्रकार हैं–आगाढ़ तथा अनागाढ़। अथवा योग के दो प्रकार हैं–आगाढ़ तथा अनागाढ़।

२११८. जहण्णेण तिण्णि दिवसा,
णागाढुक्कोस होति बारस तु।
एसा दिट्ठीवाए,
महकप्पसुतम्मि बारसगं॥

अनागाढ़ स्वाध्यायभूमी का जघन्य काल तीन दिन का (नंदी आदि के अध्ययन में) और उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का होता है। यह उत्कृष्टकाल दृष्टिवाद के महाकल्पश्रुत की अपेक्षा से है।[1]

२११९. सकंतो य वहंतो, काउस्सग्गं तु छिन्नउवसंपा।
अकयम्मी उस्सग्गो, जा पढती तं सुतक्खंधं॥
२१२०. ता लाभो उद्दिसणायरियस्स जदि वहति वट्टमाणिं से।
अवहंतम्मि उ लहुगा, एस विधी होइऽणागाढे॥

योग का वहन करता हुआ,गणांतर में संक्रमण करते समय उपसंपदा छिन्न हो गई है, ऐसा मानकर कायोत्सर्ग करके व्रजन करे। यदि वह बिना कायोत्सर्ग किए जाता है और वह वहां जब तक उस श्रुतस्कंध को पढ़ता है, उस काल में जो कुछ सचित्त आदि का लाभ होता है वह उद्देशनाचार्य का होता है, यदि वह अन्यत्र जाने वाले शिष्य का वर्तमान में संरक्षण वहन करता है। यदि वह वहन नहीं करता है तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यह विधि अनागाढ़ योग की है।

२१२१. आगाढो वि जहन्नो, कप्पिगकप्पादि तिण्णऽहोरत्ता।
उक्कोसो छम्मासो, वियाहपण्णत्तिमागाढे॥

आगाढ़ योग भी जघन्यतः तीन अहोरात्र का होता है–कल्पिका-कल्पिका आदि का, उत्कृष्टतः छह मास का होता है–व्याख्याप्रज्ञप्ति का।

२१२२. तत्थ वि काउस्सग्गं,आयरियविसज्जितम्मि छिन्ना तु।
संसरमसंसरं वा, अकाउस्सग्गं तु भूमीए॥

आगाढ योग में भी आचार्य द्वारा विसर्जित किए जाने पर उपसंपदा छिन्न हो जाती है। इसकी स्मृति कर निर्गमन करने वाला मुनि कायोत्सर्ग करे। स्मृति न रहने पर आचार्य उसको स्मृत कराए। यदि कायोत्सर्ग किए बिना निर्गमन करता है तो उस भूमी–आगाढ़ योग में जो कुछ प्राप्त करता है वह उद्देशनाचार्य का होता है।

२१२३. तीरित अकते उ गते, जावन्नं न पढते उ ता पुरिमा।
आसन्नाउ नियत्तति, दूरगती वावि अप्पाहे॥

आगाढ योग के पूर्ण होने पर, बिना कायोत्सर्ग किए निर्गमन करता है तथा वहां जाकर जब तक अन्य श्रुत नहीं पढ़ता तब तक जो कुछ प्राप्त करता है वह पूर्वाचार्य का होता है। निर्गमन कर चले जाने पर यदि आसन्न प्रदेश में जाने पर कायोत्सर्ग न करने की स्मृति आती है तो वह निवर्तन कर दे। यदि दूर जाने पर स्मृति हो तो साधर्मिकों के पास जाकर कायोत्सर्ग कर आचार्य के पास संदेश भेज दे कि मैंने अमुक के पास कायोत्सर्ग कर लिया है।

२१२४. अतोसविते पाहुडे, णिंते छेदा पडिच्छ चउगुरुगा।
जो वि य तस्स उ लाभो, तं पि य न लभे पडिच्छंतो॥

प्राभृत–श्रुतस्कंध के पूर्ण होने पर आचार्य को भक्ति-बहुमानपूर्वक संतुष्ट किए बिना यदि कोई निर्गमन करता है तो उसे प्रायश्चित्त स्वरूप 'छेद' आता है। जो उसको पढ़ाता है उसको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। निर्गत मुनि को जो कुछ सचित्त आदि का लाभ होता है, वह पूर्वतन आचार्य का होता है न स्वयं का होता है और न प्रतीच्छक का अर्थात् पढ़ाने वाले का होता है।

२१२५. तत्थ वि या अच्छमाणे, गुरुलहुया सव्वभंग जोगस्स।
आगाढमणागाढे, देसे भंगे उ गुरु-लहुओ॥

वहां गच्छ में रहता हुआ यदि आगाढ योग का सर्वतः भंग करता है तो चार गुरुमास का, अनागाढ योग का सर्वतः भंग करने पर चार गुरुमास का अथवा चार लघुमास का तथा आगाढ़ योग का देशतः भंग करने पर एक गुरुमास का तथा अनागाढ़ योग का देशतः भंग करने पर एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२१२६. आयंबिलं न कुव्वति, भुंजति विगती उ सव्वभंगो उ।
चत्तारि पगारा पुण, होंति इमे देसभंगम्मि॥
२१२७. न करेति भुंजिऊणं, करेति काउं सयं च भुंजति उ।
वीसज्जेह ममंतिय, गुरु-लहुमासो विसिट्ठो उ॥

जो प्रास आचाम्ल नहीं करता, विकृति खाता है, यह योग का सर्वभंग है। देशतः भंग के ये चार प्रकार हैं–

१. कायोत्सर्ग किए बिना विकृति का भोग करता है।
२. विकृति का भोगकर कायोत्सर्ग करता है।
३. स्वयं कायोत्सर्ग कर विकृति का भोग करता है।
४. गुरु से पूछता है–आप मुझे संदिष्ट करें कि मैं विकृति का भोग करूं।

इन सबमें लघुमास का प्रायश्चित्त है तथा यथायोग तप

१. यह अल्पप्रज्ञ व्यक्तियों की अपेक्षा से कहा गया है। प्राज्ञ व्यक्तियों के लिए तो इसका कालमान एक वर्ष का ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और काल से विशिष्ट होने पर गुरुमास का विधान है।[1] ये अनागाढ़ योग के देशभंग के चार प्रकार हैं–

२१२८. एक्केक्के आणादी, विराधणा होति संजमायाए।
अहवा कज्जे उ इमे, दट्ठुं जोगं विसज्जेज्जा॥

उपरोक्त प्रत्येक प्रकार में आज्ञा आदि की विराधना होती है तथा स्वयं के संयम की भी विराधना होती है। अथवा इन वक्ष्यमाण कार्यों को देखकर योग का विसर्जन करे। (इनमें देशतः सर्वतः भंग नहीं होता।)

२१२९. दट्ठु विसज्जण जोगे, गेलण्णं वय महामहड्ढाणे।
आगाढ नवगवज्जण, निक्कारण कारणे विगती॥

ग्लान को देखकर व्रजिका, महामह, अध्वा–इनके लिए योग का विसर्जन करे। आगाढ़ योग में नौ विकृतियों का वर्जन, निष्कारण, कारण, विकृति। (यह निर्युक्ति गाथा है। इसकी व्याख्या अगली गाथाओं में।)

२१३०. जोगे गेलण्णम्मि य, आगाढियरे य होति चउभंगो।
पढमो उभयागाढो, बितिओ ततिओ य एक्केणं॥

योग और ग्लानत्व–प्रत्येक के आगाढ़ और अनागाढ की अपेक्षा से चतुर्भंगी इस प्रकार है–

१. आगाढ़योग और आगाढ़ग्लानत्व।
२. आगाढ़योग और अनागाढ़ग्लानत्व।
३. अनागाढ़योग और आगाढ़ग्लानत्व।
४. अनागाढ़योग और अनागाढ़ग्लानत्व।

पहला भंग उभय आगाढ है। दूसरे तीसरे भंग में एक-एक आगाढ़ है।

२१३१. उभयम्मि वि आगाढे, दड्ढे पक्कुद्धरेहि तिण्णि दिणे।
मक्खेंति अठायंते, पज्जंत धरे दिणे तिन्नि॥

दोनों अर्थात् योग और ग्लानत्व आगाढ़ होने पर, आगाढ़ योग वहन करने वाला आगाढ़ ग्लान को तीन दिन तक जले हुए अर्थात् पक्कान्नोद्धरित तैल या घृत से मालिश करता है। यदि इससे ग्लानत्व दूर नहीं होता है तो जहां पक्कान्न पकाया जाता है वहां पर्यंत भाग में ग्लान को तीन दिन तक बिठाया जाता है। वहां पुद्गलों की गंध से स्वस्थता हो सकती है।

२१३२. जत्तियमेत्ते दिवसे, विगतिं सेवति न उद्दिसे तेसु।
तह वि य अठायमाणे, निक्खिवणं सव्वहा जोगो॥

जितने दिनों तक वह विकृति का सेवन करता है, उतने दिनों तक सूत्र का उद्देशन नहीं दिया जाता। फिर भी यदि ग्लानत्व दूर नहीं होता है तो योग का सर्वथा निक्षेपण कर देना चाहिए।

२१३३. जदि निक्खिप्पति दिवसे, भूमीए तत्तिए उवरि वड्ढे।
अपरिमितं तुद्देसो, भूमीए उवरितो कमसो॥

जितने दिनों के लिए योग का निक्षेप किया था उतने दिन भूमी (स्वाध्याय) में बढ़ादे। यदि उद्देशक अपरिमित हो तो स्वाध्याय में उसका अतिवाहन करे। उसके बाद क्रमशः सूत्रपाठ के अनुसार वहन करे।

२१३४. गेलण्णमणागाढे, रसवति नेहोव्वरे असति पक्का।
तह वि य अठायमाणे, आगाढतरं तु निक्खिवणा॥

अनागाढ़ ग्लानत्व में रसवती में शालनकादि में जो घी बचता है उससे म्रक्षण करना चाहिए। फिर भी यदि ग्लानत्व नहीं मिटता है तो शतपाक आदि, पक्व घृत-तैल आदि म्रक्षण के लिए दिए जाते हैं। उनसे भी ग्लानत्व नहीं मिटता है तो ग्लानत्व को आगाढ़ मानकर योग का सर्वथा निक्षेप कर देना चाहिए। यह द्वितीय भंग है।

२१३५. तिण्णि तिगेगंतिरते, गेलण्णागाढ निक्खिव परेणं।
तिण्णि तिगा अंतरित चउत्थभंगे व निक्खिवणा॥

अनागाढ़योग और आगाढ़ ग्लानत्व में तीन दिनों के तीन त्रिकों को एकान्तरित करे और इनसे भी यदि ग्लानत्व उपशांत न हो तो फिर योग का निक्षेप कर दे। यह तीसरा भंग है। इसी प्रकार चौथे भंग में भी तीन दिनों के तीन त्रिकों को एकांतरित करे। यदि ग्लानत्व शांत न हो तो योग का निक्षेप कर दे।[2]

२१३६. वइया अजोगि जोगी, व अदढ अतरंतगस्स दिज्जंते।
निव्विगितियमाहारो, अंतरविगतीय निक्खिवणं॥

यदि ग्लान अदृढ़ है, व्रजिका-गोकुल में जाने में असमर्थ है तो उसे अयोगवाही अथवा अनागाढ़ योगवाही साथ में दिया जाता है। वहां वे निर्विकृतिक आहार करते हैं। यदि प्रतिदिन वह प्राप्त नहीं होता है तो अंतरित विकृति ग्रहण करने के लिए

---

१. प्रथम प्रकार में प्रायश्चित्त है–तपस्या से मासलघु अर्थात् अष्टम आदि और काल से गुरु अर्थात् ग्रीष्मकाल में।
दूसरे प्रकार में मासलघु तपस्या से गुरु तथा काल से लघु।
तीसरे प्रकार में तपस्य से मासलघु अर्थात् चतुर्थ आदि तथा काल से गुरु अर्थात् वसंत आदि में।
चौथे प्रकार में तपस्या तथा काल में लघु।
नोटः आगाढ़ योग में अपूर्ण में विसर्जन की अनुज्ञा नहीं होती।

२. तीसरे भंग में प्रथम तीन दिन विकृतिग्रहण, चौथे दिन निर्विकृति, पांचवे, छठे और सातवें दिन विकृतिग्रहण, आठवें दिन निर्विकृति, नौवें दिन विकृति। यदि रोग शांत न हो तो दसवें दिन योग का निक्षेपण।
चौथे भंग में पहले दिन विकृतिग्रहण, दूसरे दिन निर्विकृति, तीसरे दिन विकृति, चौथे दिन निर्विकृति। इस प्रकार एकांतरित विकृति-निर्विकृति कराए। रोग शांत न हो तो दसवें दिन योग का निक्षेप कर दें। (वृत्ति)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्ग करते हैं। यदि प्रतिदिन विकृति ही प्राप्त होती है तो वे योग का निक्षेप कर देते हैं।

२१३७. आयंबिलस्सऽलंभे, चउत्थमेगंगियं च तक्कादी।
असतेतरमागाढे, निक्खिवणुद्देस तह चेव॥

जिस दिन आचाम्ल करना हो और उस दिन यदि उसके प्रायोग्य आहार न मिले तो उपवास करे। यदि उपवास न कर सके तो तक्र लेकर आचाम्ल करे। उसके साथ अनागाढ़-योगवाही हो तो इतर अर्थात् आगाढ़योगवाही दे। उनके प्रायोग्य आहार न मिले तो योग का निक्षेप कर दे। निक्षेप करने के पश्चात् श्रुत का उद्देश पूर्ववत् हो सकता है।

२१३८.जदि निक्खिप्पति दिवसे, भूमीए तत्तिए उवरि वड्ढे।
अपरिमितं तुद्देसो, भूमीए उवरितो कमसो॥

जितने दिनों के लिए योग का निक्षेप किया था, उतने दिन स्वाध्यायभूमी में बढ़ादे। यदि उद्देशक अपरिमित हो तो स्वाध्याय में उसका अतिवाहन करे। उसके बाद क्रमशः सूत्रपाठ के अनुसार वहन करे।

२१३९. सक्कमहादीएसु व, पमत्त मा तं सुरा छले ठवणा।
पीणिज्जंतु व अदढा, इतरे उ वहंति न पढंति॥

शक्रोत्सव आदि में अनागाढ़योगवाही योग का निक्षेप कर देते हैं। इसका कारण है कि उस समय प्रमत्त हुए मुनि को देवता छल न लें। दूसरी बात है कि जो अदृढ़ हैं वे उन दिनों अपने आपको विकृति के भोग से तृप्त कर लें, इसलिए योग का निक्षेपण किया जाता है। जो आगाढ़योगवाही हैं वे योग का वहन करते हैं। वे न उद्देश देते हैं और न पढ़ते हैं।

२१४०. अद्धाणम्मि जोगीणं, एसियं सेसगाण पणगादी।
असतीय अणागाढे, निक्खिव सव्वाऽसती इतरे ॥

मार्ग में जाते हुए जो एषित–प्रासुक आहार प्राप्त हो वह योगवाहियों को दे और शेष मुनियों को 'पंचक की परिहानि' से आहार दे। यदि योगवाहियों के लिए वह प्रासुक आहार पर्याप्त न हो तो अनागाढ़योगवाही योग का निक्षेप कर दे। यदि प्रासुक आहार सर्वथा न मिले तो इतर–आगाढ़योगी योग का निक्षेप कर दे।

२१४१. आगाढम्मि उ जोगे,विगतीओ नवविवज्जणीया उ।
दसमाय होति भयणा, सेसग भयणा वि इतरम्मि॥

आगाढ़ योग में सभी नौ विकृतियां वर्जनीय हैं। दसवीं विकृति की भजना है–विकल्प है। अनागाढ़योग में शेष विकृतियों की भी भजना है–वे वैकल्पिक हैं।

२१४२. निक्कारणे न कप्पंति, विगतीओ जोगवाहिणो।
कप्पंति कारणे भोत्तुं, अणुण्णाया गुरूहि उ॥

योगवाही निष्कारण विकृति का उपभोग नहीं कर सकते। कारण में गुरु द्वारा अनुज्ञात होने पर विकृति का उपभोग करना कल्पता है।

२१४३. विगतीकए ण जोगं, निक्खिवए अदढे बले।
स भावतो अनिक्खित्ते, निक्खित्ते वि य तम्मि उ॥

जो संहनन से दृढ़ होने पर भी शरीर से दुर्बल होता है वह योग का निक्षेप करता है, विकृति के लिए नहीं। उसका योग-निक्षेपण भी भावतः अनिक्षेपण ही है।

२१४४. विगतिकते ण जोगं निक्खिवे दढ-दुब्बले।
से भावतो अनिक्खित्ते, उववातेण गुरूण उ॥

जो शरीर से बलवान होने पर भी संहनन से अदृढ़ है वह योग का निक्षेप करता है, विकृति के लिए नहीं। उसके द्वारा योग का निक्षेपण करने पर भी वह योग भावतः अनिक्षिप्त ही है क्योंकि वह निक्षेपण गुरु-आज्ञा[1] से किया गया है।

२१४५. सालंबो विगतिं जो उ, आपुच्छित्ताण सेवए।
स जोगे देसभंगो उ, सव्वभंगो विवज्जए।

जो सावलंब होकर, गुरु को पूछकर विकृति का सेवन करता है, वह योग का देशभंग है। योग का सर्वभंग विपर्यय करने पर होता है अर्थात् बिना आलंबन और गुरु को पूछे बिना विकृति का सेवन करने पर होता है।

२१४६. जह कारणे असुद्धं, भुंजंतो न उ असंजतो होति।
तह कारणम्मि जोगं, न खलु अजोगी ठवेंतो उ॥

जैसे कारण में अशुद्ध आहार करने पर भी असंयत नहीं होता, वैसे ही कारण में योग का स्थगन करने पर भी वह अयोगी नहीं होता।

२१४७. अण्णो इमो पगारो, पडिच्छयस्स उ अहिज्जमाणस्स।
माया-नियडीजुत्तो, ववहार सचित्तमादिम्मि॥

अध्येता प्रतीच्छक के लिए यह अन्य प्रकार भी है। सचित्त आदि के विषय में माया और विकृतियुक्त व्यवहार करता है, जैसे–

२१४८. उप्पण्णे उप्पण्णे, सच्चित्ते जो उ निक्खिवे जोगं।
सव्वेसिं गुरुकुलाणं उवसंपद लोविता तेण॥

जो सचित्त का लाभ होने पर योग का निक्षेप करता है, वह सभी गुरुकुलों के श्रुतोपसंपद् का लोप करता है।

२१४९. बहिया य अणापुच्छा, विहीय आपुच्छणाय मायाए।
गुरुवयणे पच्छकडो, अब्भुवगम तस्स इच्छाए॥

बहिर्, अनापृच्छा, विधि (ज्ञातविधि), पृच्छा माया से, गुरुवचन से पराजित, अभ्युपगम, उसकी इच्छा से। (व्याख्या अगली गाथाओं में।)

---

१. ये एकार्थक हैं–उपपात, निर्देश, आज्ञा, विनय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१५०. अहिज्जमाणे उ सचित्तं, उप्पण्णं तु जया भवे जोगो।
निक्खिप्पंतं भंते !, कज्जं मे किंचि बेती तु॥

अध्येता शिष्य के जब-जब सचित्त आदि का लाभ होता है तब-तब वह आचार्य के पास जाकर कहता है—भंते! मेरा किंचित् प्रयोजन है। मेरे योग का आप निक्षेपण कराएं।

२१५१. बहिया व अणापुच्छा, उब्भामे लभिय सहमादी तु।
नेति सय पेसवेति व, आसन्नठिताण तु गुरूणं॥

बहिर् उद्भ्रामक भिक्षा में शैक्ष आदि का लाभ होने पर अपने अध्ययन कराने वाले को पूछे बिना शैक्ष को निकट प्रदेश में स्थित अपने गुरु के पास स्वयं ले जाता है अथवा दूसरों के साथ वहां भेजता है—

२१५२. अहवुप्पण्णे सच्चित्तादी मा मे य एतहंच्छिन्ती।
मायाए आपुच्छति, नायविधिं गंतुमिच्छामि॥

अथवा सचित्त आदि का लाभ होने पर वह सोचता है—मेरा यह लाभ गुरु न ले लें, ऐसा सोचकर वह मायापूर्वक गुरु से पूछता है—भंते! मैं ज्ञातविधि—स्वजनवर्ग को उपासना कराने जाता हूं।

२१५३. पव्वावेउं तहियं, नालमणाले य पत्थवे गुरुणो।
आगंतुं च निवेदति, लद्धा मे नालबद्ध त्ति॥

वहां जाकर वह नालबद्ध[1] अथवा अनालबद्ध व्यक्तियों को प्रव्रजित कर गुरु के पास भेज देता है, फिर अपने अध्यापयिता के पास आकर निवेदन करता है कि मैंने नालबद्धों को प्रव्रजित कर गुरु के पास भेज दिया है।

२१५४. ण्हाणादिसु इहरा वा, दट्ठुं पुच्छा कया सि पव्वविता।
अमुएण अमुगकालं, इह पेसवियाणिता वावि॥

जिनेश्वरस्नान आदि के समवसरण पर अथवा अन्यत्र मिले हुए उन नये-नये मुनियों को देखकर आचार्य पूछते हैं—तुम कब कहां प्रव्रजित हुए हो? वे कहते हैं—अमुक आचार्य ने, अमुक काल में हमें प्रव्रजित किया है। वे स्वयं हमें यहां लेकर आए हैं अथवा अमुक व्यक्ति के साथ हमें यहां भेजा है।

२१५५. सो तु पसंगऽणवत्था, निवारणट्ठाय मा हु अण्णो वि।
काहिति एवं होउं, गुरुयं आरोवणं देति॥

आचार्य ने यह सुना और सोचा कि दूसरा भी ऐसा न करे अतः इस प्रसंग के अनवस्था को रोकने के लिए वे गुरुक-आरोपणा—गुरुमास आदि का प्रायश्चित्त देते हैं।

२१५६. अब्भुवगतस्स सम्मं,
तस्स उ पणिवइय वच्छला कोवि।
वितरति तच्चिय सेहे,
एमेव य वत्थपत्तादी॥

जो अपनी भूल को सम्यग्रूप से स्वीकार कर लेता है, कोई प्रणिपातवत्सल आचार्य उन शैक्ष मुनियों को उसको सौंप देते हैं। इसी प्रकार प्राप्त वस्त्र-प्रात्र आदि भी उसको सौंप देते हैं।

२१५७. एवं तु अहिज्जंते, ववहारो अभिहितो समासेण।
अभिधारेंते इणमो, ववहारविधिं पवक्खामि॥

इस प्रकार अध्येता का व्यवहार संक्षेप में कहा गया है। अभिधारक की जो व्यवहारविधि है, उसको मैं कहूंगा।

२१५८. जं होति नालबद्धं, धाडियणाती व जो व तल्लाभं।
भोएहिति विमग्गंतो, छव्विह सेसेसु आयरिओ॥

जो नालबद्ध और धाडितज्ञाती (नालबद्ध व्यक्तियों से दीक्षित) का लाभ हुआ है, वे चिह्न की मार्गणा करते हुए अभिधारक के पास जाते हैं। वे छह (माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्र, दुहिता) अभिधारक के आभाव्य होते हैं और शेष श्रुतगुरु—आचार्य के आभाव्य होते हैं।

२१५९. उवसंपज्जते जत्थ, तत्थ पुट्ठो भणाति तू।
वयचिंधेहि संगारं, वण्ण सीते यऽणंतगं॥

जहां उपसंपन्न किया जाता है, वहां पूछा जाता है—तुम यहां क्यों आए हो? वह कहता है—आपके पास जो दीक्षित हुए हैं उनको मैंने संकेत किया था कि मैं शीतकाल में उपसंपदा ग्रहण करूंगा। उनका यह वय है, शरीर का वर्ण यह है, शीतकाल प्रायोग्य वस्त्र ऐसा था। ये चिह्न संकेत के प्रमाण हैं।

२१६०. नालबद्धा उ लब्भंते, जया तमभिधारए।
जे यावि चिंधकालेहिं, संवतंति उवट्ठिता॥

जब उस उपसंपद्यमान का अभिधारण किया जाता है तब पूर्व उपस्थापित नालबद्ध प्रव्रजित मुनि उसे प्राप्त होते हैं। जो चिह्न और काल से संवादित हैं वे भी उसे प्राप्त होते हैं।

२१६१. अण्णकाले वि आयाता, कारणेण उ केण वि।
ते वि तस्साभवंती उ, विवरीयायरियस्स उ॥

जो किसी कारण से अन्यकाल में आए हैं, वे भी उसी के होते हैं। इससे विपरीत अर्थात् कारण के बिना आने पर वे आचार्य के होते हैं।

---

१. नालबद्ध— इसका अर्थ है वल्लीबद्ध। वल्ली दो प्रकार की होती है—अनंतरा और सांतरा। अनंतरा वल्ली में ये छह व्यक्ति समाविष्ट होते हैं—माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्र और पुत्री। सांतरा वल्ली यह है—माता की माता, माता का पिता, भ्राता और भगिनी अथवा दादा, दादी, दादा का भाई और भगिनी। अथवा भाई का पुत्र और पुत्री। अथवा बहिन का पुत्र और पुत्री। अथवा पुत्र का पुत्र और पुत्री। अथवा पुत्री का पुत्र और पुत्री।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१६२. विप्परिणयम्मि भावे, जदि भावो सिं पुणो वि उप्पण्णो।
ते होंतायरियस्स उ, अधिज्जमाणे य जो लाभो॥

संकेत के पश्चात उपसंपद्यमान व्यक्तियों के भाव विपरिणत हो जाते हैं, पुनः किसी कारणवश वे भाव सम्यक् हो जाते हैं। तब पूर्व उपस्थित वे अध्येता व्यक्ति आचार्यसत्क होते हैं, वह लाभ आचार्य को मिलता है।

२१६३. जे यावि वत्थपातादी, चिंधेहि संवयंति उ।
आभवंती उ ते तस्सा, विवरीयायरियस्स उ॥

जो वस्त्र, पात्र आदि चिह्नों के संवादी होते हैं, वे उसके होते हैं और जो संवादी नहीं होते, विपरीत होते हैं, वे आचार्य के होते हैं।

२१६४. नालबद्धे उ लब्भंते, जया तमभिधारए।
जो य लाभो तहिं कोइ, वल्लीसंतरणं तेण॥

नालबद्ध पुरुषों का लाभ उस अभिधारक को प्राप्त होता है। उसके द्वारा जो सचित्त आदि का कोई लाभ होता है वह सान्तरवल्ली होती है। (?)

२१६५. आभवंताधिगारे उ, वट्टंते तप्पसंगता।
आभवंता इमे वण्णे, सुहसीलादि आहिता॥

आभवद् अधिकार के होने पर उसके प्रसंग में ये आभवंत सुखशील आदि कहे गए हैं।

२१६६. सुहसीलऽणुकंपातट्ठिते, य संबंधि खमग गेलण्णे।
सच्चित्तेसऽसिहाओ, पकट्ठए धारए उ दिसा॥

सुखशीलता से, अनुकंपा से, आत्मस्थित का, स्वसंबंधी का, स्वजाति का, क्षपक का, ग्लान का, सचित्त, सशिखाक, प्रकर्षयति धारण करता है, दिशा। (यह द्वार गाथा है। इसकी व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

२१६७. सुहसीलताय पेसेति, कोई दुक्खं खु सारवेउं जे।
देति उ आतट्ठीणं, सुहसीलो दुट्ठसीलो त्ति॥

साधुओं की सार-संभाल कष्टप्रद होती है, यह सोचकर कोई सुखशील साधु किसी मुनि को दूसरों के पास भेजता है अथवा कोई सुखशील मुनि आत्मार्थियों को 'यह मुनि दुःखशील है', ऐसा कहकर उसको देता है--

२१६८. तणुगं पि नेच्छए दुक्खं, सुहमाकंखए सदा।
सुहसीलतए वावी सायागारवनिस्सितो॥

जो तनिक भी दुःख नहीं चाहता, सदा सुख की आकांक्षा करता है, वह सुखशीलता से सातागौरव में निश्रित होकर साधुओं को ग्रहण करता है, वे सभी आचार्य के होते हैं।

२१६९. एमेव य असहायस्स, देति कोइ अणुकंपयाए उ।
नेच्छति परमातट्ठी, गच्छा निग्गंतुकामो वा॥

२१७०. पेसवे सो उ अन्नत्थ, सिणेहा णातगस्स वा।
खमए वेयवच्चट्ठा, देज्ज वा तहि कोति तु॥

इस प्रकार कोई अनुकंपा से असहाय को साधु देता है। कोई आत्मार्थी दूसरे को नहीं चाहता अथवा कोई गच्छ से निर्गमन करने का इच्छुक आत्मार्थी जहां वह जाएगा, वहां किसी साधु को भेजता है, स्नेहवश स्वजन के लिए साधु भेजता है। अथवा क्षपक के वैयावृत्त्य के लिए किसी साधु को देता है।

२१७१. पेसेति गिलाणस्स व, अधव गिलाणे सयं अचायंतो।
पेसंतस्स उ असिहो, ससिहो पुण पेसितो जस्स॥

ग्लान के लिए साधु को भेजता है अथवा स्वयं ग्लान जो जाने पर कुछ भी कार्य न कर सकने की स्थिति में स्वयं शिष्य बनाता है--ये सारे आचार्य के आभाव्य होते हैं। सशिखाक को भेजा जाता है तो वह जिसके लिए भेजा जाता है, उसका आभाव्य होता है। यदि अशिखाक भेजा जाता है तो वह भेजने वाले का आभाव्य होता है।

२१७२. चोदेती कप्पम्मी, पुव्वं भणितं तु पेसितो जस्स।
ससिहो व असिहो वा, असंथरे सो तु तस्सेव॥

यहां प्रश्न होता है कि पहले बृहत्कल्पसूत्र में कहा गया है कि सशिखाक अथवा अशिखाक जिसको भेजा जाता है, असंस्तरण की स्थिति में वह उसी का आभाव्य होता है--फिर यह उपरोक्त कथन कैसे ?

२१७३. भण्णति पुव्वुत्तातो, पच्छा वुत्तो विही भवे बलवं।
कामं कप्पेऽभिहितं, इह असिहं दाउ न लभति तु॥

समाधान के रूप में कहा जाता है कि पूर्वोक्त विधि से पश्चादुक्त विधि बलवान होती है। इसलिए यद्यपि कल्प में कहा गया है फिर भी अशिखाक दाता का आभाव्य नहीं होता।

२१७४. संविग्गाण विधी एसो, असंविग्गे न दिज्जते॥
कुलिच्चो व गणिच्चो वा, दिण्णं पि तं तु कट्ठए॥

यह दानिविधि संविग्नों की बताई गई है। असंविग्न को नहीं दिया जाता। यदि दिया भी जाता है तो वह कुलसत्क अथवा गणसत्क का होता है।

२१७५. खित्तादी आउरे भीते, अदिसत्थी व जं दए।
सच्चित्तादी कुलादीओ, भुज्जो तं परिकट्ठए॥

क्षिप्त आदि, आतुर, भीत तथा अदिसत्थी (दिशा को अप्राप्त) को जो सचित्त आदि देते हैं वह प्रायः कुल आदि का सत्क होता है। (यह सारा प्रतीच्छकों के लिए कहा गया है।)

२१७६. नालबद्धे अनाले वा, सीसम्मि नत्थि मग्गणा।
दोक्खरक्खरदिट्ठंता, सव्वं आयरियस्स उ॥

स्वदीक्षित शिष्य के लिए यह नालबद्ध है, अनालबद्ध है, ऐसी मार्गणा नहीं होती। वे जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह सारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य का आभाव्य होता है। यहां द्व्यक्षर—दास तथा खर का दृष्टांत है। मेरे दास ने गधा खरीदा। दास भी मेरा और गधा भी मेरा।

२१७७. चारियसुत्ते भिक्खू, थेरो वि य अधिकितो इहं तेसिं।
दोण्ह वि विहरंताणं, का मेरा लेसतो जोगो॥

चारिका सूत्र में भिक्षु और स्थविर का अधिकार था। प्रस्तुत सूत्र में दोनों के विहरण संबंधी क्या मर्यादा है इसका कथन है। यह सामान्यतः पूर्वसूत्र के साथ इस सूत्र का योग है।

२१७८. साहम्मियत्तणं वा, अणुयत्तति होतिमे वि साधम्मी।
उवसंपया व पगता, इहं पि उवसंपया तेसिं॥

अथवा प्रस्तुत सूत्र में साधर्मिकत्व का अनुवर्तन है—यह भी संबंध है। शैक्ष और रात्निक—दोनों साधर्मिक हैं। साधर्मिक के प्रस्ताव से यह तीसरे प्रकार से संबंध योग है। पूर्ववत् प्रस्तुत सूत्र में शैक्ष और रत्नाधिक की उपसंपदा के विषय में कहा गया है, यह भी पूर्वसूत्र से संबंध योग है।

२१७९. साधम्मि पडिच्छन्ने, उवसंपय दोण्ह वी पलिच्छेदो।
वोच्चत्थ मासलहुओ, कारण असती सभावो वा॥

शैक्ष और रत्नाधिक दोनों सह विहरण करते हैं। शैक्ष सपरिच्छन्न—परिवारसहित है। दोनों भावपरिच्छन्न युक्त हैं। शैक्ष रत्नाधिक को उपसंपदा दे। शैक्ष रत्नाधिक के आगे और रत्नाधिक शैक्ष के आगे आलोचना करे। विपर्यास होने पर दोनों को मासलघु का प्रायश्चित्त। ग्लानत्व आदि कारण होने पर सहायक के अभाव में सहायक न भी दे। अथवा आत्मीय बना देने के स्वभाव के कारण सहायक न भी दे। (इनकी व्याख्या आगे।)

२१८०. सज्झंतियंतवासिणो, दो वि भावेण नियमसो छन्नो।
रायणिए उवसंपय, सेहतरगेण य कायव्वो॥

वे दोनों मुनि एक ही गुरु के अंतेवासी हैं तथा सह-अध्यायी हैं। वे दोनों नियमतः भाव से परिच्छन्न हैं। शैक्षतर जो द्रव्य परिच्छन्न हैं, वह रत्नाधिक को उपसंपन्न करे।

२१८१. आलोइयम्मि सेहेण, तस्स विगडे उ पच्छराइणिओ।
इति अकरणम्मि लहुगो, अवरोवर गव्वतो लहुगा॥

पहले शैक्ष रत्नाधिक के समक्ष आलोचना करे। फिर रत्नाधिक शैक्ष के समक्ष आलोचना करे। यह न करने पर दोनों को लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि दोनों गर्विष्ठ हो जाते हैं तो दोनों को लघुमास का प्रायश्चित्त लेना होता है।

२१८२. एगस्स उ परिवारो, बितीए रायणियत्तवादो य।
इति गव्वो न कायव्वो, दायव्वो चेव संघाडो॥

एक का (शैक्ष का) द्रव्य परिवार है और एक का रात्निकत्ववाद है—अर्थात् यह रत्नाधिक है—यह प्रवाद है। दोनों को गर्व नहीं करना चाहिए। शैक्ष रत्नाधिक को संघाटक दे—मुनि को भेजकर सहयोग दे।

२१८३. पहाभिक्खकितीओ, करेंति सो यावि ते पवाएति।
न पहुप्पंते दोण्ह वि, गिलाणमादीसु च न देज्जा॥

शैक्ष के शिष्य रत्नाधिक के वस्त्रों की प्रतिलेखना करते हैं, भिक्षा लाकर देते हैं, कृतिकर्म करते हैं। रत्नाधिक भी उनको प्रवाचना देता है, सूत्रों का श्रवण करवाता है। वे शिष्य ग्लान आदि के प्रयोजन में व्यापृत होकर सेवा करने में समर्थ नहीं होते। अथवा वे दो ही हों तो रत्नाधिक को कोई साधु न दे।

२१८४. अत्तीकरेज्जा खलु जो विदिण्णे,
एसो वि मज्झंति महंतमाणी।
न तस्स ते देंति बहिं तु नेउं,
तत्थेव किच्चं पकरेंति जं से॥

जो भेजे हुए साधुओं को अपना बना लेता है तथा जो महामानी यह कहता है—यह शैक्ष भी मेरा है। उन साधुओं को उस स्थान से बाहर ले जाने नहीं देता, वे उसका कार्य वहीं स्थित रहकर करते हैं।

२१८५. वारंवारेण से देंति, न य दावेंति वायणं।
तह वि भेदमिच्छंत, अविकारी तु कारए॥

अथवा बारी-बारी से एक-एक साधु को सुश्रूषणा के लिए देता है, भेजता है, वाचना नहीं दिलाता। फिर भी वह दुःस्वभाव के कारण गणभेद करना चाहता है। इसलिए जो अविकारी होता है, उसको भेजकर उसका कार्य कराया जाता है।

२१८६. रायणियपरिच्छन्ने, उवसंप पलिच्छओ य इच्छाए।
सुत्तत्थकारणा पुण, पलिच्छदं देंति आयरिया॥

यदि रात्निक परिच्छन्न, परिवारोपेत है,वह शैक्ष को अपनी इच्छा से उपसंपदा तथा परिच्छद दे। आचार्य भी सूत्रार्थ के कारण उपसंपदा तथा परिच्छद देते हैं।

२१८७. सुत्तत्थं जदि गिण्हति, तो से देंति पलिच्छदं।
गहिते वि देंति संघाडे, मा से नासेज्ज तं सुतं॥

जिससे सूत्रार्थ ग्रहण करता है उसे परिच्छद देता है। सूत्रार्थ ग्रहण कर लेने पर भी संघाटक देते हैं जिससे कि वह भिक्षाचर्या आदि के व्याक्षेप से वह गृहीत श्रुत नष्ट न हो जाए।

२१८८. अबहुस्सुते न देती, निरुवहते तरुणए य संघाडं।
घेत्तूण जाव वच्चति, तत्थ उ गोणीय दिट्ठंतो॥

अबहुश्रुत तथा निरुपहत (स्वस्थ) तरुण को संघाटक नहीं दिया जाता तथा जो प्रदत्त साधुओं को विपरिणत कर, साथ लेकर चला जाता है, उसको भी संघाटक नहीं देते। यहां गाय का दृष्टांत मननीय है—

२१८९. साडगबद्धा गोणी, जध तं घेत्तुं पलाति दुस्सीलो।
इय विप्परिणामेंते, न देज्ज संते वि हु सहाए॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाय जंगल में भाग गई। उसको ग्वाला शाटक से बांध कर ला रहा था। बीच में ही वह दुःशील गाय शाटक के साथ पुनः भाग गई। इस प्रकार जो मुनि प्रदत्त साधुओं को विपरिणत कर देता है, उसको, अपने पास सहायक होने पर भी, सहायक न दे।

२१९०. संखऽहिगारा तुल्लाधिगारिया
एस लेसतो जोगो।
आयरियस्स व सिस्सो,
भिक्खु अभिक्खू अह तु भिक्खू॥

पूर्वसूत्र में तथा वर्तमान सूत्र में संख्याधिकार से तुल्याधिकारता होने से यह लेशतः सूत्र संबंधयोग है। पूर्वसूत्र में आचार्य के दो प्रकार के शिष्य भिक्षु और अभिक्षु[1] गृहीत थे। प्रस्तुत सूत्र में भिक्षु का प्रसंग है।

२१९१. एमेव सेसएसु वि, गुणपरिवड्ढीय ठाणलंभो उ।
दुप्पभिई खलु संखा, बहुओ पिंडो तु तेण परं॥

इसी प्रकार गणावच्छेदक और आचार्य से संबंधित सूत्रों का संबंध है। गणावच्छेदक और आचार्य के सूत्र में गुणपरिवृद्धि से स्थानलाभ होता है। (भिक्षु गुणाधिकता से गणावच्छेदक के स्थान को प्राप्त करता है और गणावच्छेदक गुणाधिकता से आचार्य का स्थान प्राप्त करता है।) दो आदि संख्या बहुक होती है। तदनंतर पिंड होती है। (इसका तात्पर्य है कि द्विसंख्या वाले सूत्रत्रयी के पश्चात् बहुसंख्यासूत्र और तदनंतर पिंड सूत्र का कथन है।)

२१९२. संभोइयाण दोण्हं, खेत्तादी पेहकारणगताणं।
पंते समागताणं, भिक्खूण इमा भवे मेरा॥

दो सांभोगिक आचार्यों के भिक्षु क्षेत्रादि की प्रेक्षा करने गए। वे मार्ग में मिल गए। अब एक ही मार्ग से उन्हें जाना है। उनकी यह मर्यादा है–

२१९३. भिक्खुस्स मासियं खलु,
पलिच्छणाणं च सेसगाणं तु।
चउलहुगऽपलिच्छण्णे,
तम्हा उवसंपया तेसिं॥

भिक्षु के मासिक प्रायश्चित्त,परिच्छन्न और शेषक, अनुपसंपद्यमान अपरिच्छन्न के चार लघुमास, इसलिए उनके परस्पर उपसंपदा। (व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

२१९४. दो भिक्खूऽगीतत्था,गीता एक्को व होज्ज उ अगीते।
राइणियपलिच्छन्ने, पुव्वं इतरेसु लहुलहुगा॥

दो भिक्षु अगीतार्थ हैं, अथवा एक गीतार्थ है और एक अगीतार्थ। भावतः परिच्छन्न रत्नाधिक पहले आचोलना करे। फिर इतर अर्थात् अगीतार्थ आलोचना करे। ऐसा न करने पर रत्नाधिक को मासलघु और इतर को चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२१९५. दोसु अगीतत्थेसुं,
अधवा गीतेसु सेहतर पुव्वं।
जदि नालोयति लहुगो,
न विगडे इयरो वि जदि पच्छा॥

दो अगीतार्थ अथवा गीतार्थ भिक्षुओं के मध्य जो शैक्ष है वह पहले रत्नाधिक के समक्ष आलोचना (विहारालोचना) नहीं करता तथा रत्नाधिक भी पश्चात् शैक्ष के समक्ष आलोचना (विहारालोचना) नहीं करता तो मासलघु का प्रायश्चित्त आता है।

२१९६. रायणिए गीतत्थेण, राइणिए चेव विगडणा पुव्विं।
देति विहारविगडणं, तो पच्छा राइणियसेहे॥

रत्नाधिक गीतार्थ है। शैक्ष अगीतार्थ है। तो शैक्ष पहले उसको आलोचना दे। फिर रत्नाधिक शैक्ष को आलोचना दे।

२१९७. सेहतरगे वि पुव्वं, गीयत्थे दिज्जते पगासणया।
पच्छा गीतत्थो वि हु, ददाति आलोयणमगीतो॥

यदि शैक्षतरक गीतार्थ है तो भी पहले रत्नाधिक उसको आलोचना (दोनों प्रकार की) देता है। फिर शैक्षतरक अगीतार्थ रत्नाधिक को आलोचना (विहारालोचना) देता है, अपराधालोचना नहीं।

२१९८. अवराहविहारपगासणा य दोण्णि व भवंति गीतत्थे।
अवराहपयं मोत्तुं पगासणं होतऽगीतत्थे॥

गीतार्थ मुनि के समक्ष अपराधप्रकाशना और विहार-प्रकाशना–दोनों की जाती हैं। अपराधपद को छोड़कर शेष का प्रकाशन अगीतार्थ के समक्ष किया जाता है। (अगीतार्थ अपराधालोचना के अनर्ह होता है।)

२१९९. भिक्खुस्सेगस्स गतं,
पलिच्छण्णाण इदाणि वोच्छामि।
दव्वपलिच्छाएणं,
जहण्णेण अप्पततियाणं॥

एक भिक्षु का प्रसंग समाप्त हो गया। अब मैं द्रव्यपरिच्छह से परिच्छन्न भिक्षुओं, जो जघन्य आत्मतृतीय होते हैं, की बात कहूंगा।

२२००. तेसिं गीतत्थाणं, अगीतमिस्साण एस चेव विधी।
एत्तो सेसाणं पि य, वोच्छामि विधी जधाकमसो॥

उन आत्मतृतीय भिक्षुओं, फिर वे गीतार्थ हों, अगीतार्थ हो अथवा मिश्र हों, उनकी पूर्वोक्त विधि ही है। अब आगे यथाक्रम शेष भिक्षुओं की विधि कहूंगा।

---

१. अभिक्षु अर्थात् गणावच्छेदक, उपाध्याय अथवा आचार्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२०१. सेसो तू भण्णंती, अप्पबितीया उ जे जहिं केई।
गीतत्थमगीतत्थे, मीसे य विधी उ सो चेव॥

अनेक भिक्षुओं में कई आत्मद्वितीय हैं। उनमें जो शेष गीतार्थ, अगीतार्थ अथवा मिश्र हैं, उनके लिए वही आलोचना विषयक पूर्वोक्त विधि है।

२२०२. संजोगा उ च सद्देण, अधिगता जध य एग दो चेव।
एगो जदि न वि दोण्णी, अवगच्छे चउलहूओ से॥

'च' शब्द से संयोग अधिगत अर्थात् सूचित है। जैसे–एक ओर एक भिक्षु है, दूसरी ओर दो भिक्षु हैं। वहां चाहिए कि वह एक भिक्षु आत्मद्वितीय के पास उपसंपदा ले ले। यदि वह एक भिक्षु दो के पास उपसंपदा नहीं लेता है तो चार लघुक का प्रायश्चित्त आता है।

२२०३. पच्छा इतरे एगं, जदि न वि उवगच्छ मासियं लहुयं।
जत्थ वि एगो तिण्णी, न उवगमे तत्थ वा लहुगा॥

एक के उपसंपन्न होने पर पश्चात् दूसरे दो भी उपसंपन्न हो जाते हैं। उपसंपन्न न होने पर उन दोनों को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है। जिस विकल्प में एक ओर एक भिक्षु और दूसरी ओर तीन भिक्षु हों यदि वे परस्पर उपसंपन्न नहीं होते हैं तो लघुक प्रायश्चित्त आता है।

२२०४. एमेव अप्पबितिओ, अप्पतईयं तु जइ न उवगच्छे।
इयरेसि मासलहुयं, एवमगीते य गीते य॥

इसी प्रकार आत्मद्वितीय और आत्मतृतीय भी यदि उपसंपन्न नहीं होते हैं तो वे चतुर्लघु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। दूसरे जो उपसंपदा नहीं लेते उन्हें मासलघुक प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार अगीतार्थ और गीतार्थ के विषय में जानना चाहिए।

२२०५. मीसाण एग गीतो, होंति अगीता उ दोन्नि तिण्णी वा।
एगं उवसंपज्जे, ते उ अगीता इहर मासो॥

मिश्रक में एक गीतार्थ है और दूसरे दो या तीन अगीतार्थ हैं। जो अगीतार्थ हैं वे एक के पास उपसंपन्न हो जाएं। अन्यथा लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२२०६. सो वि य जदि न वि इतरे,
तस्स वि मासो उ एव सव्वत्थ।
उवसंपया य तेसिं,
भणिता अण्णोण्णनिस्साए॥

वह एक भी यदि उपसंपद्यमान दूसरों को उपसंपन्न नहीं करता उसके भी एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। सर्वत्र यह जानना चाहिए कि अन्योन्य निश्रा से उनकी उपसंपदा का कथन किया गया है।

२२०७. अण्णोण्णनिस्सितागं, अग्गीताणं पि उवगहो तेसिं।
गीतपरिग्गहिताणं, इच्छाए तेसिमो होति॥

अन्योन्यनिश्रित उन अगीतार्थों का गीतार्थपरिगृहीत अवग्रह–आभवनव्यवहार होता है। वह दो प्रकार का है–इच्छा से तथा सूत्रोक्त।

२२०८.इच्छिति-पडिच्छितेणं,खेत्ते वसधीय दोण्ह वी लाभो।
अच्छं न होति उग्गह, निक्कारण कारणे दोण्हं॥

इच्छित-प्रतीच्छिक आभवनव्यवहार इच्छा से होने वाला आभवनव्यवहार है।[1] यह मार्ग में विहरण करते हुए मुनियों के होता है। एकसाथ क्षेत्र में जाने तथा वसति को प्राप्त करने पर लाभ दोनों का होता है। यदि निष्कारण वहां स्थित हो, अवग्रह उनका होता है, पश्चाद् प्राप्त का नहीं। कारण में स्थित होने पर अवग्रह दोनों का होता है।

२२०९. समयपत्ताण साधारणं तु दोण्हं पि होति तं खेत्तं।
विसमं पत्ताणं पुण, इमा उ तहि मग्गणा होति॥

एक साथ दोनों यदि क्षेत्र को प्राप्त करते हैं तो वह क्षेत्र दोनों का होता है। विषमकाल में प्राप्त करने पर उस क्षेत्र की यह मार्गणा है–

२२१०. पडियरते व गिलाणं, सयं गिलाणाउरे व मंदगती।
अपत्तस्स वि एतेहिं, उग्गहो दप्पतो नत्थि॥

ग्लान की प्रतिचर्या करने, स्वयं ग्लान हो जाने, आतुर हो जाने अथवा मंदगति होने–इन कारणों से क्षेत्र को समकाल प्राप्त न होने पर भी उसका अवग्रह होता है। दर्प से निष्कारण स्थित मुनियों का अवग्रह नहीं होता।

२२११. एमेव गणावच्छे, पलिछण्णाणं व सेसगाणं तु।
पलिछन्ने ववहारो, दुविधो वागंतिओ नाम॥

गणावच्छेदक, एक तथा बहुत परिच्छन्न और शेष के लिए भी भिक्षु की भांति ही विधि वक्तव्य है। परिच्छन्न अर्थात् परस्पर उपसंपन्न मुनियों का आभवनव्यवहार दो प्रकार का होता है–सूत्रोक्त तथा वागन्तिक–अर्थात् वाणी से होने वाला परिच्छेद–पार्थक्य।

२२१२. पहगाम चित्तऽचित्तं, थीपुरिसं बाल-वुड्ढ-सत्थादी।
इच्छाए वा देती, जो जं लभइ भवे बितिओ॥

वागन्तिक आभवनव्यवहार का स्वरूप–जो मार्ग में प्राप्त हो वह हमारा और जो गांव में मिले वह तुम्हारा। जो सचित्त मिले वह तुम्हारा और अचित्त मिले वह हमारा, दीक्षार्थी स्त्री तुम्हारी और दीक्षार्थी पुरुष हमारा, बालदीक्षार्थी तुम्हारा और

---

१. इच्छित-प्रतीच्छित आभवनव्यवहार का अर्थ है–वाणी से स्थापित व्यवहार, जैसे–मार्ग में जो लाभ होगा वह हमारा और नगर में जो होगा वह तुम्हारा। जो सचित्त का लाभ होगा वह हमारा और अचित्त का तुम्हारा। अथवा जिसको जो प्राप्त होगा वह उसका आदि आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृद्धदीक्षार्थी हमारा, जो सार्थ में लभ्य हो वह तुम्हारा और असार्थ में मिले वह हमारा, अथवा कोई इच्छा से दे वह जिसे प्राप्त हो वह उसका। यह व्यवहार का एक प्रकार है। दूसरा है—सूत्रोक्त व्यवहार। इसको भिक्षुक के व्यवहार की भांति ही जानना चाहिए।

२२१३. समगीतागीता वा, गीतत्थपरिग्गहे य सति कज्जे।
असमत्ताण वि खेत्तं, अपहू पच्छा समत्तो वि॥

गीतार्थ, अगीतार्थ अथवा गीतार्थपरिगृहीत—गीतार्थ की निश्रा में रहने वाले यदि एक साथ क्षेत्र को प्राप्त हुए हों तो वह क्षेत्र उन सबका आभाव्य होता है। कार्यवश साथ में न आ सकने वाले अगीतार्थों का भी वह आभाव्य क्षेत्र होता है। पश्चात् आने वाले गीतार्थ उस क्षेत्र के प्रभु—स्वामी होते हैं।

२२१४. समपत्तकारणेणं, खेत्ते वसधीय दोण्ह वी लाभो।
रातिणिय होति उग्गह, गीतत्थसमम्मि दोण्हं पि॥

जो एकसाथ क्षेत्र में अथवा वसति में आए हों या कारणवश पश्चात् आए हों तो लाभ दोनों का होता है। रत्नाधिक का अवग्रह होता है। दोनों समान गीतार्थ हों तो साधारण अवग्रह दोनों का होता है।

२२१५. एमेव बहूणं पी, पिंडे नवरोग्गहस्स उ विभागो।
किं कतिविह कस्स कम्मि, केवइयं वा भवे कालं॥

इस प्रकार बहुत सारे भिक्षुओं के सूत्र जानने चाहिए। पिंडक सूत्र का भी यही अर्थ है। केवल उसमें अवग्रह का विभाग कहना चाहिए। उसके ये पहलू हैं—किं—क्यों? कतिविध—कितने प्रकार का? कस्स—किसके? कम्मि—किस में? कितने काल तक का अवग्रह होता है?

२२१६. किं उग्गहो त्ति भणिए, उग्गहतिविधो उ होति चित्तादी।
एक्केक्को पंचविधो, देविंदादी मुणेयव्वो॥

शिष्य के पूछने पर कि अवग्रह क्या है? आचार्य कहते हैं—अवग्रह के चित्त आदि तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। प्रत्येक को देवेंद्र आदि के भेद से पांच-पांच प्रकार का जानना चाहिए।[1]

२२१७. कस्स पुण उग्गहो त्ती, परपासंडीण उग्गहो नत्थि।
निण्होसन्ने संजति, अगीते य गीत एक्के वा॥

अवग्रह किसके—इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि परपाषंडियों का अवग्रह नहीं होता। निन्हव, अवसन्न (गीतार्थ से अपरिगृहीत) संयतियों, अगीतार्थ, गीतार्थ की निश्रा के रहित, एकाकी गीतार्थ—इन सबका अवग्रह नहीं होता।

२२१८. ओसण्णाण बहूण वि, गीतमगीताण उग्गहो नत्थि।
सच्छंदियगीताणं, असमत्त अणीसगीते वि॥

बहुत गीतार्थ या अगीतार्थ जो अवसन्न हैं, जो स्वच्छंदिक गीतार्थ हैं, जो असमाप्तकल्प वाले हैं, जो गीतार्थ के निश्रित नहीं हैं, उनके अवग्रह नहीं होता।

२२१९. एवं ता सावेक्खे, निरवेक्खाणं पि उग्गहो नत्थि।
मोत्तूण अधालंदे, तत्थ वि जे गच्छपडिबद्धा॥

ये अवग्रह संबंधी विचार सापेक्ष अर्थात् स्थविरकल्पिक मुनियों के लिए हैं। निरपेक्ष अर्थात् जिनकल्पिक आदि के अवग्रह नहीं होता। यथालंद मुनियों को छोड़कर जो गच्छप्रतिबद्ध हैं उनके अवग्रह होता है, दूसरों के नहीं।

२२२०. आसन्नतरा जे तत्थ, संजता सो व जत्थ नित्थरति।
तहियं देंतुवदेसं, आयपरं ते न इच्छंति॥

जो गच्छनिर्गत हैं उनके पास कोई मुनि बनने जाता है तो वे उसको प्रव्रजित नहीं करते किंतु जो निकट में संयतमुनि-आचार्य हैं उनके पास जाकर प्रव्रजित होने का उपदेश देते हैं। अथवा वे अपने ज्ञानबल से जान लेते हैं कि इसका निस्तरण कहां होगा। वे तब दूरस्थ आचार्य के पास जाकर उसे प्रव्रजित होने का उपदेश देते हैं। वे आत्मपर अर्थात् स्वगच्छ अथवा परगच्छ—ऐसा विभाग नहीं चाहते।

२२२१. अगीत समणा संजति, गीतत्थपरिग्गहाण खेत्तं तु।
अपरिग्गहाण गुरुगा, न लभति सीसेत्थ आयरिओ॥

जो गीतार्थ परिगृहीत अगीतार्थ श्रमण अथवा श्रमणियां हैं उनके क्षेत्र का अवग्रह होता है। जो श्रमण, श्रमणियां गीतार्थपरिगृहीत नहीं है उनके चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। उनका जो आचार्य है उसको स्वदीक्षित शिष्य भी प्राप्त नहीं होते।

२२२२. गीतत्थागत गुरुगा, असती एगाणिए वि गीतत्थे।
समुसरण नत्थि उग्गह, वसधीय उ मग्गणऽक्खेत्ते॥

जो स्वयं अगीतार्थ हैं, गीतार्थ की निश्रा से रहित हैं, वे यदि गीतार्थ के आने पर उपसंपदा नहीं लेते हैं तो चार गुरुक का प्रायश्चित्त आता है। उपसंपदार्ह गीतार्थ के आने पर, वह कारणवश एकाकी हो गया है तो उस गीतार्थ के भी क्षेत्र आभाव्य होता है। जितने दिन संघ का समवसरण होता है, उतने दिन अवग्रह नहीं होता। अक्षेत्र में वसति की मार्गणा में अवग्रह होता है।

२२२३. सेसं सकोसजोयण, पुव्वग्गहितं तु जेण तस्सेव।
समगोग्गह साधारं, पच्छागत होति अक्खेत्ती॥

शेष सकोशयोजन क्षेत्र अवग्रह होता है। जिसके पूर्व अवगृहीत कर लिया है, वह उसी का होता है। कभी समक ही उसका अवग्रह किया हो, वह साधारण क्षेत्र उसी का होता है और जो पश्चात् आगत है, वह अक्षेत्र होता है, अर्थात् उसका

१. अवग्रह के पांच प्रकार—देवेंद्र अवग्रह, राज अवग्रह, मांडलिक अवग्रह, शय्यातर अवग्रह, साधर्मिक अवग्रह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आभाव्य क्षेत्र नहीं होता।

२२२४. अण्णागते कहंतो, उवसंपण्णो तहिं च ते सव्वे।
संकंतं तु कहंती, साधारण तस्स जो भागो॥

कोई बहुश्रुत आचार्य पश्चात् आया है और वे सभी पूर्वस्थित उसके पास उपसंपन्न हो जाते हैं तब वह अवग्रह उस आचार्य में संक्रांत हो जाता है। पूर्वस्थित में से कोई एक उस आचार्य के पास उपसंपन्न होता है, तो अवग्रह का उसका भाग संक्रांत होता है, सबका नहीं।

२२२५. निक्खित्तगणाणं वा, तेसिं वि य होति तं तु खेत्तं तु।
खेत्तभया वा कोई माइट्ठाणेण सुण एवं॥

कोई आचार्य अपने गण का निक्षेप कर (गीतार्थ शिष्य को सौंप कर) आगंतुक के पास उपसंपन्न हो जाता है तब वह क्षेत्र निक्षिप्त गण वालों का होता है। क्षेत्र संक्रांत होने के भय से मातृस्थान—माया से कोई इस प्रकार सुनता है।

२२२६. कुड्डेण चिलिमिणीए, अंतरितो सुणति कोई माणेणं।
अधवा चंकमणीयं, करेंत पुच्छागमो तत्थ॥

कोई भींत अथवा चिलिमिलिका से अंतरित होकर कोई मानपूर्वक—क्षेत्रगर्व से अथवा चंक्रमिका करता हुआ सुनता है अथवा कोई ऐसा न भी सुने फिर भी पृच्छागम तो हो ही सकता है, पृच्छा करनी चाहिए।

२२२७. पुच्छाहि तीहि दिवसं,सत्तहि पुच्छाहि मासियं हरति।
अधवा विसेसमन्नो, इमो तु तहियं अहिज्जंते॥

तीन पृच्छाओं से एक दिन का और सात पृच्छाओं से एक मास के लाभ का अपहरण कर लिया जाता है अर्थात् इस कालावधि में जो लाभ होता है वह 'कथयन' (आगंतुक बहुश्रुत) का होता है, दूसरे का नहीं। अथवा यह अन्य विशेष उस अध्यापक का होता है।

२२२८. जदि निक्खिविऊण गणं,उवसंपाएऽहवा वि सीसं तु।
तो तेसिं चिय खेत्तं, वायंतो लाभ खेत्तबहिं॥

यदि गीतार्थ को गण देकर उस आगंतुक के पास उपसंपदा ग्रहण करता है अथवा शिष्य को भेजता है तो पूर्वस्थित मुनियों का ही वह क्षेत्र आभाव्य होता है। वाचना देने वाले के लिए क्षेत्र के बाहिर् आभाव्य क्षेत्र होता है।

२२२९. अह बेती वायंतो, लाभो णो नत्थि हं ति वच्चामो।
इतरेहि य सो रुद्धो, मा वच्चसु अम्ह साधारं॥

अथवा वाचक कहता है—यहां हमारे कोई लाभ नहीं है अतः हम अन्यत्र जाते हैं। यह सुनकर दूसरे मुनि उसे रोकते हुए कहते हैं—तुम यहां से मत जाओ। तुम्हारा और हमारा यह क्षेत्र साधारणरूप से होगा।

२२३०. निग्गमणे चउभंगो, निट्ठित सुहदुक्खयं जदि करेंति।
निट्ठित पधावितो वा, रुद्धो पच्छा य वाघातो॥

निर्गमन संबंधी चतुर्भंगी, निष्ठित, सुखदुःख के निमित्त उपसंपन्न होते हैं, निष्ठित, प्रधावित अथवा रुद्ध, पश्चात् व्याघात। (यह द्वार गाथा है। इसकी व्याख्या आगे के श्लोकों में।)

२२३१. वत्थव्व णेंति न उ जे, ऊ पाहुण पाहुणाण इतरो वा।
उभयं च नोभयं वा, चउभयणा होति एवं तु॥

निर्गमन की चतुर्भंगी—

१. आगंतुकभद्रक न वास्तव्यभद्रक।
२. वास्तव्यभद्रक न आगंतुकभद्रक।
३. आगंतुकभद्रक तथा वास्तव्यभद्रक।
४. न आगंतुकभद्रक न वास्तव्यभद्रक।

प्रथम भंग के अनुसार वास्तव्य निर्गमन करते हैं, न प्राघूर्णक। दूसरे भंग के अनुसार प्राघूर्णक निर्गमन करते है, वास्तव्य नहीं। तीसरे भंग के अनुसार दोनों निर्गमन नहीं करते और चौथे भंग के अनुसार दोनों निर्गमन करते हैं। इस प्रकार चतुर्भजना—चतुर्भंगी होती है।

२२३२. आगंतु भद्दगम्मी, पुव्वठिता गंतु जइ पुणो एज्जा।
तम्मि अपुण्णे मासे, संकमति पुणो वि सिं खेत्तं॥

यदि आगंतुक नियोक्ता हो और पूर्वस्थित मुनि वहां से विहार कर यदि उसी क्षेत्र में एक मास के पूर्ण होने से पहले ही वहां लौट आते हैं तो उनके वह क्षेत्र संक्रांत हो जाता है—उनके लिए वह क्षेत्र आभाव्य हो जाता है।

२२३३. वत्थव्वभद्दगम्मी, संघाडग जतण तह वि उ अलंभे।
आगंतुं णेंति ततो, अच्छति उ पवायगो नवरं॥

वास्तव्यभद्रक यदि नियोक्ता हो और आगंतुकभद्रक को पर्याप्त न मिलता हो तो वास्तव्यभद्रक का एक संघाटक उनके साथ भिक्षा के लिए घूमता है। फिर भी अलाभ हो तो आगंतुकों का चतुर्भाग निर्गमन कर लेता है। उससे भी यदि संस्तरण न हो तो चतुर्भाग की विधि से आगंतुक तथा वास्तव्य मुनि निर्गमन करते हैं। केवल एक प्रवाचक वहां रहता है जो वास्तव्यों को वाचना देता है। उसका संस्तरण न होने पर वह भी अपने शिष्यों के साथ निर्गमन कर देता है। यदि उस समय वास्तव्य मुनि कहते हैं—मत जाओ। यह क्षेत्र दोनों का साधारण रूप से आभाव्य होगा। यदि जाकर वे एक मास के भीतर लौट आते हैं तो वह क्षेत्र उनमें आभाव्यतया संक्रमित हो जाता है।

२२३४. सुहदुक्खितो समत्ते, वाएंतो निग्गतेसु सीसेसु।
वाइज्जंतो वि तधा, निग्गतसीसो समत्तम्मि॥

शिष्यों के निर्गत हो जाने पर भी प्रवाचक श्रुत के पूर्ण होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर सुख-दुःख निमित्त से उपसंपदा देने के कारण वह क्षेत्र प्रवाचक का होता है। अथवा शिष्यों के निर्गत हो जाने पर जो अभी वाचना दे रहा है, श्रुतस्कंध के समाप्त हो जाने पर वह क्षेत्र उसका आभाव्य होता है।

२२३५. दोण्ह वि विणिग्गतेसुं, वाएंतो तत्थ खेत्तिओ होति।
तम्मि सुए असमत्ते, समत्त तस्सेव संकमति॥

सभी शिष्यों के निर्गमन कर देने पर केवल दो वहां रहते हैं तो जब तक श्रुत समाप्त नहीं होता तब तक प्रवाचक क्षेत्रिक होता है। श्रुत के समाप्त हो जाने पर वह क्षेत्र पूर्वस्थित मुनियों में संक्रांत हो जाता है।

२२३६. संथरे दो वि न णिंति, तेहिं उववाइया तु जदि सीसा।
लाभो नत्थि महं ति य, अहव समत्ते पधावेज्जा॥

दोनों (आगंतुक तथा पूर्वस्थित) के संस्तरणा होती है तो निर्गमन नहीं होता है। यदि पूर्वस्थित मुनियों ने अनेक शिष्यों का उत्पादन किया है तो आगंतुक सोचता है—मेरे कोई लाभ नहीं है, यह सोचकर वह वहां से चला जाता है। अथवा श्रुत के समाप्त होने पर चला जाता है।

२२३७. जदि वायगो समत्ते, णिंतो तु पडिच्छितेहि रुंभेज्जा।
असिवादिकारणे वा, न णिंत लाभो इमो होति॥

यदि श्रुत के समाप्त होने पर वाचक निर्गमन करता है तब प्रतीच्छक उसको रोकते हैं अथवा निर्गत होकर अशिव आदि कारणों से निर्गमन नहीं करता तो उसको यह लाभ होता है—

२२३८. आयसमुत्थं लाभं, सीसपडिच्छेहि सो लभति रुद्धो।
एवं छिण्णुववाते, अछिण्ण सीसा गते दोण्हं॥

प्रातीच्छिकों द्वारा निर्गमन अवरुद्ध किए जाने पर जो लाभ स्वयं को होता है, शिष्य और प्रातीच्छिकों द्वारा लब्ध भी आत्मसमुत्थ लाभ स्वयं को मिलता है। इस प्रकार छिन्न—समाप्त श्रुतस्कंध आदि में आभवन होता है। श्रुत के असमाप्त स्थिति में शिष्यों के ग्रामांतर जाने-आने पर दोनों के लाभ होता है।

२२३९. एवं ता उडुबद्धे, वासासु इमो विधी हवति तत्थ।
खेत्तपडिलेहगा तू, पवट्टिया तेण अन्नत्थ॥
२२४०. जा तुब्भे पेहेहा, ताधेतेसिं इमं तु सारेमि।
तं च समत्ते तेसिं, वासं व पबद्धमालग्गं॥
२२४१. निग्गंतूण न तीरति, चउमासे तत्थ लाभमायगतं।
लभते वोच्छिण्णेवं, कुव्वंति गिलाणगस्स वि य॥

यह आभवन व्यवहार की विधि ऋतुबद्ध काल की है। वर्षाकाल की विधि यह है—दो आचार्य साधारण क्षेत्र में स्थित थे। एक आचार्य ने दूसरे के पास उपसंपदा ग्रहण कर ली। उसने वहीं चातुर्मास स्थापित कर लिया। दूसरे वाचनाचार्य ने क्षेत्र प्रतिलेखकों को अन्यत्र भेजा और कहा—तुम क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा कर आओ तब तक मैं इन आचार्यों को यह श्रुत और अर्थ समझाता हूं। उनका वह श्रुत समाप्त हो गया। इतने में ही वर्षा बरसने लगी। न तो प्रत्युपेक्षक लौटकर आए और न वाचनाचार्य वर्षा के कारण वहां से जाने में समर्थ हुए। वहां वे चातुर्मास तक आत्मगतलाभ प्राप्त करते हैं। श्रुत के व्यवच्छिन्न (समाप्त) होने पर वाचनाचार्य ग्लान हो गए तो ग्लान का ही आभवनव्यवहार होता है। दोनों आचार्यों के आत्मसमुत्थ लाभ होता है।

२२४२. अध पुण अच्छिण्णसुते, ते आया बेंतिमे न तुब्भे तु।
अम्हे खेत्तं देमो, साधारण तम्मि तेसिं तु॥

अथ श्रुतस्कंध आदि समाप्त नहीं हुआ है, वे प्रत्युपेक्षक भी आ गए हैं तब वाचनाचार्य दूसरे आचार्य से कहते हैं—हम यहां से निर्गमन करना चाहते हैं। तब वे कहते हैं—तुम यहां से मत जाओ। हम आपको क्षेत्र देंगे। ऐसा कहने पर वह क्षेत्र दोनों का होता है।

२२४३. असंथरण णिंतऽणिंते, चउभंगो होति तत्थ वि तधेव।
एवं ता खेत्तेसुं, इणमन्ना मग्गणविधादी॥

असंस्तरण की स्थिति में निर्गमन करने वाले तथा निर्गमन न करने वाले साधुओं की चतुर्भंगी होती है।[1] इस चतुर्भंगी में पूर्ववत् ही आभवनव्यवहार होता है। क्षेत्र संबंधी मार्गणा की जाती है। प्रस्तुत में यह अन्य मार्गणाविधि आदि है। आदि शब्द से दिग्वारण का ग्रहण किया गया है।

२२४४. अद्धाणादिसु नट्ठा, अणुवट्ठविता तहा उवट्ठविया।
अगविट्ठा य गविट्ठा, निप्फण्णा धारणदिसासु॥

मार्ग आदि में गण से बिछुड़ने वाले साधु दो प्रकार के होते हैं—अनुपस्थापित और उपस्थापित। इन दोनों के दो-दो प्रकार हैं—गवेषित और अगवेषित। जो निष्पन्न और उपस्थापित हैं उनका दिग्वारण नहीं, दूसरों का दिग्वारण करना चाहिए।

२२४५. संभममहंतसत्थे, भिक्खायरिया गता व ते नट्ठा।
सिग्घगतिपरिरएण व, आउरतेणादिएसुं वा॥

बिछुड़ने के ये कारण हैं—संभ्रम हो जाने पर, महान् सार्थ के साथ आगे पीछे रह जाने पर, सार्थ का साथ छोडकर भिक्षाचर्या के निमित्त इधर-उधर जाने पर पृथक् रह जाना, सार्थ के साथ शीघ्रगति से न चल सकने के कारण, मार्गगत नदी के परिरय—थोड़े पानी में उतर कर पार करने की चिंता में सार्थ से पीछे रह जाना अथवा आतुर—पहले तथा दूसरे परीषह से बाधित होकर क्लांत हो जाना, चोर आदि के भय से पथच्युत हो जाना—इन सभी कारणों से साधु मार्ग में गणच्युत हो जाते हैं।

१. १. वास्तव्य साधुओं का चतुर्भाग की विधि से निर्गमन, न वाचनाचार्य का। २. वाचनाचार्य का, न वास्तव्य का। ३. दोनों का ४. दोनों का नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२४६. गवेसऊ मा व कतव्वया जे,
स एव तेसिं तु दिसा पुरिल्ला।
गवेसमाणो लभते ऽणुबद्धे,
अणाढिता संगहिता तु जेणं॥

जो कृतव्रत हैं—उपस्थापित हैं, उनकी प्रव्राजनाचार्य गवेषणा करे या न करे, फिर भी उनकी पुरातनीय दिग् होती है। प्रव्राजनाचार्य गवेषणा करते हैं। वे नहीं मिलते। चिरकाल के बाद मिलने पर भी वे उसी के होते हैं जिसने उनकी अनादरभाव से गवेषणा की है तथा संग्रहण किया है, वे उसी के शिष्य होते हैं।

२२४७. गवेसिए पुव्वदिसा, अगविट्ठे तु पच्छिमा।
अणुवट्ठविते एवं, अभिधारेंते उ इणमन्ना॥

जो अनुपस्थापित हैं, उनके गणभ्रष्ट हो जाने पर प्रव्राजनाचार्य यदि गवेषणा करते हैं तो उनकी पूर्वदिक्—प्रव्राजनाचार्यदिक् होती है। अगवेषणा करने पर पश्चिमदिक्—जिसने उनका संग्रहण किया उनके हो जाते है। इसी प्रकार अनुपस्थापित की मार्गणा होती है। जो अन्य क्षेत्र में गए हुए आचार्य को अभिधारण कर चलता है, उसकी मार्गणा यह है—

२२४८. अभिधारेंतो वच्चति, वत्त-अवत्तो व वत्त एगागी।
जं लभति खेत्तवज्जं, अभिधारेज्जंत तं सव्वं॥

जो अभिधारण करता है वह व्यक्त—गीतार्थ है अथवा अव्यक्त—अगीतार्थ, जो व्यक्त है, एकाकी है, वह जो प्राप्त करता है वह सारा अभिधार्यमाण का होता है। क्षेत्र एकाकी का नहीं होता।

२२४९. अव्वत्ते ससहाये, परखेत्तविवज्जलाभ दोण्हं पि।
सव्वो सो मग्गिल्लो, जाव न निक्खिप्पए तत्थ॥

जो अव्यक्त है, वह सहायक के साथ अन्य क्षेत्रवर्ती आचार्य के पास जाता है तो परक्षेत्रवर्ज—अभिसंधार्यमाण आचार्य जिस क्षेत्र में हैं उसको छोड़कर, जो दोनों को लाभ होता है, वह सारा पूर्व आचार्य का आभाव्य होता है, तब तक जब तक वह गण का निक्षेप नहीं करता।

२२५०. निक्खित्तनियत्ताणं, खेत्तं यो लाभ होति वाएंते।
तस्स वि य जाव न णीति, लाभो सो ऊ पवायंते॥

(अव्यक्त का) निक्षेप कर निवृत्त होने वाले के क्षेत्रगत (पांच गव्यूत प्रमाण) जो लाभ होता है वह वाचक का आभाव्य होता है। जब तक निक्षिप्त व्यक्ति वहां से निर्गमन नहीं करता तब तक जो कुछ लाभ होता है वह वाचक का होता है।

२२५१. अहवा आयरिओ वी, निक्खित्तगणागतो उ आउत्थं।
वायंत देति लाभं, जं खेत्तीओ तओ णीसो॥

अथवा कोई आचार्य अपने गण का गीतार्थ शिष्य में निक्षेपण कर यहां आकर उपसंपदा ग्रहण करता है, उसके जो आत्मोत्थ लाभ होता है, उसे वाचक को देता है। वह क्षेत्रिक होने के कारण उस आत्मसमुत्थ लाभ का स्वामी नहीं होता, ऐसा नहीं है।

२२५२. आरब्भसुत्ता सरमाणगा तू,
जा पिंडसुत्तं इणमंतिमं तु।
एमेव वच्चो खलु संजतीणं,
वोच्छिन्नमीसेसु अयं विसेसो॥

'आयरिय उवज्झाए सरमाणे'—इस प्रारंभ सूत्र से पिंडसूत्र पर्यंत जो मुनियों के लिए विधि कही गई है वही विधि साध्वियों के लिए है। उसमें व्यवच्छिन्न और मिश्र से संबंधित विधि यह है।

२२५३. वोच्छिन्ने उ उवरते, गुरुम्मि गीताण उग्गहो तासिं।
दोण्ह बहूण व पिंडे कुलिच्चमन्नं जमभिधारे॥

व्यवच्छिन्न का अर्थ है—गुरु के कालगत हो जाने पर यदि वे साध्वियां कुलसक्त दूसरे आचार्य को अभिधारण कर लेती हैं तो दो या अधिक संख्या में पिंडरूप में अर्थात् गीतार्थ साध्वियों के पिंडरूप में स्थित होने पर भी उनका अवग्रह नहीं होता। (स्वतंत्र संयतियों के अवग्रह नहीं होता।)

२२५४. मीसो उभयगणावच्छेए, तत्थ समणीण जो लाभो।
सो खलु गणिणो नियमा, पुव्वठिता जाव तत्थऽण्णा॥

मिश्र अर्थात् उभयगणावच्छेदक की उपस्थिति में साध्वियों को जो लाभ होता है वह नियमतः पूर्वस्थित गणी का होता है। यह तब तक जब तक कि दूसरे गणी वहां न आ जाएं। (अन्य गणी के आ जाने पर वह लाभ उनका हो जाता है।)

२२५५. केवतिकालं उग्गह, तिविधो उउबद्ध वास वुड्ढे य।
मास-चउमासवासे, गेलण्णे सोलमुक्कोसो॥

शिष्य ने पूछा—कितने काल का होता है अवग्रह? आचार्य ने कहा—अवग्रह तीन प्रकार का होता है—ऋतुबद्ध काल का, वर्षाकाल का तथा वृद्धावास का। ऋतुबद्धकाल में एक मास का, वर्षाकाल में चार मास का तथा ग्लानत्व के कारण उत्कृष्ट अवग्रह सोलह मास का होता है। (कुछ आचार्य इसे सोलह वर्ष का मानते हैं।)

२२५६. वुड्ढस्स उ जो वासो, वुड्ढिं व गतो तु कारणेणं तु।
एसो उ वुड्ढवासो, तस्स उ कालो इमो होति॥

वृद्ध व्यक्ति का जो वास होता है वह वृद्धवास है अथवा वृद्ध व्यक्ति का वास रोग के कारण लंबा हो गया हो वह वृद्धवास कहलाता है। उसका कालमान यह होता है—

२२५७. अंतो मुहुत्तकालं, जहन्नमुक्कोसपुव्वकोडीओ।
मोत्तुं गिहिपरियागं, जं जस्स उ आउगं तित्थे॥

वृद्धवास जघन्यतः अंतर्मुहूर्तकाल का तथा उत्कृष्टः (नौ वर्ष न्यून) पूर्वकोटि का। (यह भगवान् ऋषभ के तीर्थ का उत्कृष्ट कालमान है।) शेष तीर्थंकरों के तीर्थ में जितना उत्कृष्ट आयु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण होता है उसमें नववर्ष के गृहस्थपर्याय को छोड़कर उतना उत्कृष्ट वृद्धावासकाल होता है।

२२५८. विज्जा कया चारिय लाघवेण,
तत्तो तवो देसितसिद्धिमग्गो।
अहाविहिं संजम पालइत्ता,
दीहाउणो वुड्ढवासस्स कालो॥

कृतविद्या, चरित—घूमना, लाघव से रहना, फिर तप, सिद्धिमार्ग की देशना, यथाविधि संयम का पालन करना, दीर्घायुष वृद्धवास का काल। (इसकी व्याख्या अगली गाथाओं में।)

२२५९. सुत्तागम बारसमा, चरियं देसाण दरिसणं तु कतं।
उवकरण-देह-इंदिय, तिविधं पुण लाघवं होति॥

विद्या अर्थात् सूत्रागम। बारह वर्षों तक सूत्रागम (सूत्र, अर्थ तथा तदुभय) का अध्ययन किया। फिर चरित—देशदर्शन के लिए बारह वर्ष घूमे। तीन प्रकार के लाघव—उपकरणलाघव, देहलाघव, इंद्रियलाघव का अभ्यास किया।[1]

२२६०. चउत्थछट्ठादि तवो कतो उ,
अव्वोच्छित्तीय होति सिद्धिपहो।
सुत्तविहीए संजम,
वुड्ढो अह दीहमाउं च॥

चतुर्थ, षष्ठ आदि तपस्या की। शासन की अव्यवच्छित्ति के लिए सिद्धिपथ—मोक्षमार्ग की देशना दी। सूत्रविधि से संयम का पालन किया। वह वृद्ध हो गया। आयुष्य दीर्घ हो गया।

२२६१. अब्भुज्जतमचएंतो,अगीतसिस्सो व गच्छपडिबद्धो।
अच्छति जुण्णमहल्लो, कारणतो वा अजुण्णो वी॥

वह अभ्युद्यतविहार (जिनकल्प अथवा अनशन) करने में असमर्थ है। उसके शिष्य अगीतार्थ हैं, इसलिए वह गच्छ-प्रतिबद्ध है, गच्छ के परिपालन में प्रवृत्त है। वह अत्यंत जीर्ण हो जाने के कारण वृद्धवास करता है। अथवा अजीर्ण होने पर भी कारणवश वृद्धवास करता है।

२२६२. जंघाबले च खीणे, गेलण्णऽसहायता व दुब्बल्ले।
अहवावि उत्तमट्ठे, निप्फत्ती चेव तरुणाणं॥
२२६३. खेत्ताणं च अलंभे, कतसंलेहे य तरुणपडिकम्मे।
एतेहिं कारणेहिं, वुड्ढावासं वियाणाहि॥

उसका जंघाबल क्षीण हो गया है, वह ग्लान हो गया है अथवा दूसरे के ग्लान हो जाने पर, वह असहाय हो गया है, दुर्बलता से पीड़ित है, अथवा उत्तमार्थ—आमरण अनशन स्वीकार कर लिया है, अथवा तरुण मुनियों की सूत्र और अर्थ से निष्पत्ति करनी हो, अथवा संयम को वृद्धिंगत करने वाले क्षेत्रों की अप्राप्ति होने पर, संलेखना स्वीकार करने पर, तरुणप्रतिकर्म—तरुण मुनि की बलवृद्धि के लिए—इन कारणों से वृद्धावास किया जा सकता है। (इन गाथाओं की संपूर्ण व्याख्या २२९९ गाथाओं तक)

२२६४. दुण्णि वि दाऊण दुवे, सुत्तं दाऊण अत्थवज्जं च।
दोण्णी दिवड्ढमेगं, तु गाउयं तीसु अणुकंपा॥

दो पौरुषियों—सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी को देकर अथवा केवल सूत्रपौरुषी को देकर अथवा केवल अर्थपौरुषी को देकर—दो गव्यूति तक जाकर भिक्षावेला से पूर्व आ जाता है वह सपराक्रम है, जंघाबल से क्षीण नहीं है। जो इन तीनों प्रकारों में डेढ़ गव्यूति तक आ-जा सकते हों उनकी अनुकंपा यह है।

२२६५. खेत्तेण अद्धजोयण, कालेणं जाव भिक्खवेला उ।
खेत्तेण य कालेण य, जाणसु सपरक्कमं थेरं॥

जो कालतः अर्थात् प्रातःकाल से यावत् भिक्षावेला तक, क्षेत्रतः—अर्धयोजन (गव्यूतिद्वय) तक जा सकता है उसको क्षेत्र और काल से सपराक्रम स्थविर जानना चाहिए।

२२६६. जो गाउयं समत्थो, सूरादारब्भ भिक्खवेला उ।
विहरउ एसो सपरक्कमो, न विहरे उ तेण परं॥

जो सूर्योदय से आरंभ कर भिक्षावेला तक गव्यूत तक जाने में समर्थ हो वह सपराक्रम है, वह विहरण करे। जो इतने समय में गव्यूत प्रमाणक्षेत्र तक नहीं जा सकता, वह विहरण न करे।

२२६७. वीसामण उवगरणे, भत्ते पाणेऽवलंबणे चेव।
गाउय दिवड्ढदोसुं, अणुकंपे सा तिसुं होति॥

जहां-जहां मध्य में विश्राम करने के लिए ठहरता है, वह करे। उसके उपकरणों को वहन करे, भक्तपान लाकर दे, हाथ आदि का अवलंबन दे। 'च' शब्द से उसके गमनागमन का विवेक रखे। यह अनुकंपा गव्यूत, डोढ़ गव्यूत, दो गव्यूत तक विहरण करने वाले तीनों प्रकार के स्थविरों के लिए है।

२२६८. अधवा आहारुवधी, सेज्जा अणुकंप एस तिविधा उ।
पढमालिदाणविस्सामणादि, उवधी य वोढव्वे॥

अथवा अनुकंपा के तीन प्रकार हैं—आहारविषयक, उपधिविषयक तथा शय्याविषयक। आहारविषयक—प्रातराश लाकर देना, शय्याविषयक—मार्ग में विश्राम कराना, उपधि-विषयक—उपधि को वहन करना।

२२६९. खेत्तेण अद्धगाउय, कालेण य जाव भिक्खवेला उ।
खेत्तेण य कालेण य, जाणसु अपरक्कमं थेरं॥

जो कालतः अर्थात् सूर्योदय से भिक्षावेला तक, क्षेत्रतः अर्ध गव्यूत तक जा सकता है, उसे क्षेत्र और काल से अपराक्रम

१. उपकरणलाघव—न अतिरिक्त उपकरण लेना और जो है उसका सूत्रविधि से परिभोग करना। शरीरलाघव—न अतिकृश और न अतिस्थूल। इंद्रियलाघव—इंद्रियजयी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थविर जानना चाहिए।

२२७०. अण्णो जस्स न जायति,
दोसो देहस्स जाव मज्झण्हो।
सो विहरति सेसो पुण,
अच्छति मा दोण्ह वि किलेसो॥

प्रातःकाल से मध्याह्न तक विहरण करने से शरीर में कोई अन्य दोष (भ्रमी आदि) न हो तो वह विहरण करे। शेष दो सहायक व्यक्ति वहीं रह जाएं क्योंकि उन दोनों को क्लेश न हो जाए।

२२७१. भमो वा पित्तमुच्छा वा, उद्धसासो व खुब्भति।
गतिविरए वि संतम्मि मुच्छादिसु न रीयति॥

विहरण न करने पर भी भ्रमी, पित्तनिमित्तकमूर्च्छा, ऊर्ध्व-श्वास क्षुब्ध हो जाए तो वह विहरण न करे। (वृद्धावास करे।)

२२७२. चउभागे-तिभागद्धे, सव्वेसिं गच्छतो परीमाणं।
संतासंतसतीए, वुड्ढावासं वियाणाहि॥

गच्छगत सभी साधुओं का सद्भाव-असद्भाव के आधार[1] पर परिभ्रमण कर उसमें से चतुर्थभाग, त्रिभाग अथवा अर्द्धभाग परिमाण साधुओं को वृद्धावास स्वीकार करने वाले मुनि को सहायक के रूप में देना चाहिए। इस प्रकार वृद्धावास को ससहाय जानना चाहिए।

२२७३. अट्ठावीसं जहण्णेण, उक्कोसेण सतग्गसो।
सहाया तस्स जेहिं तु, उड्डवणा न जायति॥

गच्छगत साधुओं का जघन्य परिमाण है—अठावीस और उत्कृष्ट परिमाण है—शताग्रशः अर्थात् सौ से बत्तीस हजार पर्यंत। वृद्धावास वाले को २८ का चतुर्भाग अर्थात् सात सहायक देने चाहिए। उनकी भी उपस्थापना—नित्य वसति नहीं होती, सदा साथ रहना नहीं होता।

२२७४. चत्तारि सत्तगा तिण्णि,
दोण्णि एक्को व होज्ज असतीए।
संतासती अगीता,
ऊणा तु असंतओ असती॥

सद्भाव परिमाण अर्थात् २८ साधुओं के परिमाण वाले संघ के सात-सात के चार सप्तक हुए। प्रत्येक सप्तक एक-एक मास तक वृद्ध की सेवा करता है। इस प्रकार तीन मास में पुनः वारी आती है। यदि सद्भाव अर्थात् २८ के अभाव में (२१ हों) तो तीन सप्तक, चौदह हों तो दो सप्तक बारी-बारी से सेवा में भेजे जाते हैं। यदि एक ही सप्तक हो तो वह सदा वृद्ध की परिपालना में रहे। अगीतार्थ मुनियों का सद्भाव होने पर भी वह असद्भाव ही है, क्योंकि वे वृद्ध के सहायक नहीं होते। असद्भाव न्यून का अर्थ है—स्वभाव से न्यून।

२२७५. दो संघाडा भिक्खं, एक्को बहि दो य गेण्हते थेरं।
आलित्तादिसु जतणा, इहरा परिताव-दाहादी॥

(वृद्ध को सात सहायक क्यों?) दो संघाटक भिक्षा के लिए घूमते हैं। एक साधु वसति के बाहर रक्षक के रूप में रहता है। दो साधु स्थविर के पास रहते हैं। वसति के आदीप्त आदि होने पर यतना हो सकती है। अन्यथा वृद्ध के परिताप, दाह आदि हो सकते हैं।

२२७६. आहारे जतणा वुत्ता, तस्स जोग्गे य पाणए।
निवाय मउए चेव, छवित्ताणेसणादिसु॥

वृद्ध के योग्य आहार, पानक, निवात उपाश्रय, मृदुछवित्राण—वस्त्र इनकी एषणा करे। इनका अलाभ होने पर पंचक परिहानि से ऐषणा करे। यह चतुर्विध यतना है।

२२७७. वुड्ढावासे जतणा, खेत्ते काले वसही संथारे।
खेत्तम्मि नवगमादी, परिहाणी एक्कहिं वसही॥

वृद्धावास में (प्रकारांतर) चार प्रकार की यतना इस प्रकार है—क्षेत्र, काल, वसति और संस्तारक। क्षेत्र आदि में नवक की आदि में एकैक विभाग की परिहानि से एक विभाग में रहा जा सकता है।[2]

२२७८. भागे भागे मासं, काले वी जाव एक्कहिं सव्वं।
पुरिसेसु वि सत्तण्हं, असतीए जाव एक्को उ॥

ऋतुबद्धकाल में एक-एक विभाग में एक-एक मास रहे तथा वसति, भिक्षा आदि सब एक ही भाग में ग्रहण करे। सहायक पुरुषों में सात के अभाव में यावत् एक पुरुष भी सहायक हो तो भले हो।

२२७९. पुव्वभणिता तु जतणा, वसही भिक्खे वियारमादी य।
सच्चेव य होइ इहं, वुड्ढावासे वसंताणं॥

वसति, भिक्षा तथा विचारभूमी के विषय में जो यतना, पहले अर्थात् ओघनिर्युक्ति, कल्पाध्ययन में कही गई है वही वृद्धावास में रहने वालों के लिए है।

२२८०. धीरा कालच्छेदं, करेंति अपरक्कमा तहिं थेरा।
कालं वा विवरीयं, करेंति तिविहा तहिं जतणा॥

अपराक्रमी—जंघाबल से परिहीन धीर स्थविर वृद्धावास में

---

१. सद्भाव—गण में अनेक मुनि हैं, वे केवल अगीतार्थ हों तो उनका होना न होना समान है। असद्भाव अर्थात् गण में अधिक मुनि नहीं हैं।

२. क्षेत्र के नौ भाग कर, एक भाग में वसति ग्रहण कर वहीं संस्तारक, भिक्षा आदि ग्रहण करता हुआ शेष आठ भागों का परिवर्जन करता है। इस प्रकार ऋतुबद्धकाल के ८ मासों में प्रतिमास एक-एक भाग में रहता हुआ, शेष आठ भागों का परिवर्जन करता है। वर्षाऋतु के चार मासों में नौवें विभाग में वसति आदि ग्रहण कर शेष आठ विभागों का परिहार करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालच्छेद करते हैं अर्थात् ऋतुबद्धकाल में प्रतिमास एक-एक वसति में रहते है, वर्षा में चार मास तक एक वसति में रहते हैं। वे काल को विपरीत नहीं करते अर्थात् ऋतुबद्धकाल में वर्षाकिल्प और वर्षाकाल में ऋतुबद्धकल्प नहीं करते। ऋतुबद्ध-काल में तीन प्रकार की यतना होती है।

२२८१. अव्विवरीतो नामं, काल उवट्ठाण दोसपरिहाणी।
असती वसधीए पुण, अव्विवरीतो उवट्ठे वि॥

अविपरीत काल करने से उपस्थान–नित्यवास के दोष का परिहार होता है। वसति आदि के अभाव में उपस्थ–एक ही वसति में सतत रहने पर भी अविपरीत आचरण करे, यतना करे।

२२८२. तिविधा जतणाहारे, उवही सेज्जासु होति कायव्वा।
उग्गमसुद्धा तिण्णि वि, असतीए पणगपरिहाणी॥

तीन प्रकार की यतना–आहार, उपधि तथा शय्या (वसति) के प्रसंग में उद्गम, उत्पादन और एषणाशुद्धि से तीनों का ग्रहण करे। इनके अभाव में पंचक परिहानि से उनका उत्पादन करे।

२२८३. सेलियकाणिट्ठधरे, पक्केट्ठामेय पिंडदारुघरे।
कडितं कडगतणघरे, वोच्चत्थे होति चउगुरुगा।

वसति के ये प्रकार हैं–

१. शैलिक–पत्थर की ईंटों से निर्मित।
२. काणेष्ट–लोह की ईंटों से निर्मित।
३. पक्वेष्ट–पकाई हुई ईंटों से निर्मित।
४. आमेय–अपक्व ईंटों से निर्मित।
५. पिंडगृह–गारे से निर्मित।
६. दारुगृह–लकड़ी से निर्मित।
७. कटितगृह–कटकगृह–बांस से निर्मित।
८. तृणगृह–तृण से निर्मित।

इतने प्रकार होते हुए प्रथम प्रकार में रहे। उसके अभाव में दूसरे। उसके अभाव में तीसरे····· इस प्रकार की वसति ग्रहण करे। इसमें विपर्यास करने पर चार गुरुक मास का प्रायश्चित्त आता है।

२२८४. कोट्टिमघरे वसंतो, आलित्तम्मि वि न डज्झती तेण।
सेलादीणं गहणं, रक्खति य निवातवसधी उ॥

कोटिय (शिला आदि से निर्मित बद्धभूमी) गृह में रहने वाला मुनि, उस घर में आग लग जाने पर भी उससे वह जलता नहीं। अथवा निवात वसति शीत आदि से रक्षा करती है, इसलिए भी शैल आदि का ग्रहण किया गया है।

२२८५. थिरमउयस्स उ असती,
अप्पडिहारिस्स चेव वच्चंति।
बत्तीसजोयणाणि वि,
आरेण अलब्भमाणम्मि॥

स्थिर और मृदु अप्रतिहार्य संस्तारक ग्रहण करना चाहिए। उसके अभाव में वसति का जो निवेशनगृह हो उससे लाना चाहिए। वहां भी न मिलने पर (स्वग्राम, परग्राम, एककोश यावत्) बत्तीस योजन दूर तक जाकर लाना चाहिए।

२२८६. वसधिनिवेसण साही, दूराणयणं पि जो उ पाउग्गो।
असतीय पाडिहारिय, मंगलकरणम्मि नीणेंति॥

सर्वप्रथम वसति में ही संस्तृत संस्तारक की गवेषणा करे। न मिलने पर वसति के निवेशनगृह में, फिर वाटक में। वहां भी न मिलने पर प्रायोग्य संस्तारक दूर से भी (३२ योजन उत्कृष्ट) लाना चाहिए। इतने पर भी अप्रतिहार्य संस्तारक न मिलने पर प्रतिहार्य संस्तारक जो मंगलकरण के निमित्त किसी गृह में लाया गया हो तो उसे लाना चाहिए।

२२८७. ओगाली फलगं पुण, मंगलबुद्धीय सारविज्जंतं।
पुणरवि मंगलदिवसे, अच्चितमहितं पवेसेंति॥

ओगाली (उगाल) फलक अर्थात् चंपकवृक्ष की लकड़ी से निर्मित पट्ट का मंगलबुद्धि से लोग संरक्षण करते हैं। मुनि स्थविर के लिए वैसा ही पट्ट प्रतिहार्य के रूप में ले आते हैं। मंगलदिन में उसे पुनः लौटा देते हैं तथा पुनः मंगलदिन में अर्चित और पूजित उस चंपकपट्ट को अपनी वसति में ले आते हैं।[1]

२२८८. पुव्वम्मि अप्पिणंती, अण्णस्स व वुड्ढवासिणो देंति।
मोत्तूण वुड्ढवासिं, आवज्जति चउलहू सेसे॥

वृद्धावास के पूर्ण हो जानेपर वह पट्ट मूल गृहस्वामी को समर्पित कर देते हैं अथवा अन्य वृद्धवासी को संभला देते हैं। यदि वृद्धवासी को छोड़कर दूसरे मुनियों को देते हैं तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है।

२२८९. पडियरति गिलाणं वा,
सयं गिलाणो वि तत्थ वि तधेव।
भावितकुलेसु अच्छति,
असहाए रीयतो दोसा॥

१. उस समय यह परंपरा थी कि लोग दादी-परदादी या नानी-परनानी की परंपरा से प्राप्त चंपकवृक्ष के पट्ट का मंगलबुद्धि से संरक्षण करते थे। वे उत्सव के दिनों में उसकी अर्चा-पूजा करते थे, फूल आदि चढ़ाते थे। उस पट्ट का उपभोग कोई नहीं करता था। मुनि वैसे पट्ट की याचना करते हुए कहते–हमारे आचार्य स्थविर हैं। यह पट्ट हमें पाडिहारिय रूप में दें। संयमी मुनि पूज्य देवताओं के भी पूज्य होते हैं। फिर आपके लिए तो क्या? तब गृहस्वामी कहता है–आप सच कह रहे हैं। पट्ट आप ले जाएं, परंतु उत्सव के दिन इसे लौटाना होगा, जिससे कि हम पूजा-अर्चना कर सकें। पुनः आप इसको ले जा सकेंगे। साधु उस पट्ट को ले आते हैं और उत्सव के दिन पुनः लौटा देते हैं तथा उत्सव बीतने पर पुनः वसति में उसे ले आते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि ग्लान की प्रतिचर्या करनी हो अथवा स्वयं ग्लान हो गया हो तो वृद्धावास होता है। उस स्थिति में भी वही (क्षेत्र, काल, वसति, संस्तारक संबंधी) यतना है। संविग्न मुनियों द्वारा भावित कुलों में वह सहायहीन रहता है। यदि वह विहरण करता है तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

२२९०. ओमादी तवसा वा, अचायतो दुब्बलो वि एमेव।
संतासंतसतीए, बलकरदव्वे य जतणा उ॥

अवम–दुर्भिक्ष आदि के कारण, तपस्या आदि से दुर्बल हो जाने पर, इसी प्रकार भिक्षा का सद्भाव–अंत-प्रांत होने के कारण तथा असद्भाव–भिक्षा का सर्वथा अभाव हो जाने पर दुर्बलता के कारण विहार न कर सकने पर, क्षीणजंघाबल होने पर एक स्थान पर रहता है। उसकी यतना है–बल बढ़ाने वाले द्रव्यों की प्राप्ति कराना।

२२९१. पडिवण्ण उत्तमट्ठे, पडियरगा वा वसंति तन्निस्सा।
आयपरे निप्फत्ती, कुणमाणो वावि अच्छेज्जा॥

जिसने उत्तमार्थ–अनशन स्वीकार कर लिया है, उसकी निश्रा में प्रतिचारक रहते हैं। (यह भी एकत्र लंबे समय तक रहने का कारण है।) स्वयं और पर की सूत्रार्थतदुभय से निष्पत्ति करते हुए वृद्धावास में रह सकता है।

२२९२. संवच्छरं च झरए, बारसवासाइ कालियसुतम्मि।
सोलस य दिट्ठिवाए, एसो उक्कोसतो कालो॥

कालिकश्रुत का ग्रहणकाल है–बारह वर्ष और परावर्तन-काल है–एक वर्ष। दृष्टिवाद का ग्रहणकाल है–सोलह वर्ष। यह एकत्रावस्थान का उत्कृष्टकाल है।

२२९३. बारसवासे गहिते, उ कालियं झरति वरिसमेगं तु।
सोलस उ दिट्ठिवाए, गहणं झरणं दसदुवे य॥

बारह वर्षों में परिपूर्णरूप से गृहीत कालिक श्रुत का परावर्तन काल है एक वर्ष। दृष्टिवाद के ग्रहण में सोलह वर्ष लगते हैं और उसके परावर्तन में बारह वर्ष लगते हैं।

२२९४. झरए य कालियसुते, पुव्वगते य जइ एत्तिओ कालो।
आयारपकप्पनामे, कालच्छेदे उ कयरेसिं॥

प्रश्न होता है–कालिकश्रुत तथा पूर्वगतश्रुत के ग्रहण और परावर्तन में इतना समय लगता है तो आचारप्रकल्प–निशीथ के अध्ययन में जो कालच्छेद (ऋतुबद्ध काल में एक मास और वर्षाकाल में चार मास) यह किसके लिए है?

२२९५. सुत्तत्थतदुभएहिं, जे उ समत्ता महिड्ढिया थेरा।
एतेसिं तु पकप्पे, भणितो कालो नितियसुत्ते॥

आचारप्रकल्प नैत्यिक सूत्र का जो कालच्छेद कहा गया है वह सूत्र, अर्थ और तदुभय को सम्यग्रूप से प्राप्त करने वाले महर्द्धिक स्थविर मुनियों का है।

२२९६. थेरे निस्साणेणं, कारणजातेण एत्तिओ कालो।
अज्जाणं पणगं पुण, नवगग्गहणं तु सेसाणं॥

स्थविर आचार्य अनेक कारणों की निश्रा से एकत्रस्थान पर इतने उत्कृष्ट काल तक रह सकते हैं, वृद्धावास कर सकते हैं। वृद्धावास करने वाली आर्यिकाओं के क्षेत्रपंचक होता है–दो भाग बाहर, दो भाग अंतर् तथा पांचवां वर्षारात्रयोग्य क्षेत्रविभाग। एक-एक में दो-दो मास तथा वर्षारात्रयोग्य-क्षेत्र में चार मास। शेष साधुओं के कारणवश एकत्र रहने पर क्षेत्र के नौ विभाग होते हैं।

२२९७. जे गण्हिउं धारइउं च जोग्गा,
थेराण देंति सहायए तु।
गेण्हंति ते ठाणठिता सुहेणं,
किच्चं च थेराण करेंति सव्वं॥

स्थविरों को सहायकरूप में वे मुनि दिए जाते हैं जो सूत्रार्थ ग्रहण करने और धारण करने में योग्य हों। वे एकस्थानस्थित मुनि सुखपूर्वक सूत्रार्थ ग्रहण करते हैं तथा स्थविरों का सारा कृत्य करते हैं।

२२९८. आसज्ज खेत्त-काले, बहुपाउग्गा न संति खेत्ता वा।
निच्चं च विभत्ताणं, सच्छंदादी बहू दोसा॥

वृद्धावास करने के अन्य कारण–दूसरा क्षेत्र और काल उपयुक्त न हो, महान् गच्छ के प्रायोग्य क्षेत्र न हो, गण को विभक्त करने पर स्वच्छंदता आदि अनेक दोष नित्य–अवश्य होते हैं, यह सोचकर एक क्षेत्र में लंबे समय तक भी रहा जा सकता है।

२२९९. जध चेव उत्तमट्ठे, कतसंलेहम्मि ठंति तध चेव।
तरुणप्पडिकम्मं पुण, रोगविमुक्के बलविवड्ढी॥

जैसे उत्तमार्थ–अनशन स्वीकार कर एक स्थान पर रहा जा सकता है वैसे ही संलेखना में भी रहा जा सकता है। तरुणप्रतिकर्म अर्थात् रोगविमुक्त की बलवृद्धि के लिए लंबे समय तक एकत्रवास किया जा सकता है।

२३००. वुड्ढावासातीते, कालातीते न उग्गहो तिविधो।
आलंबणे विसुद्धे, उग्गह तक्कज्जवुच्छेदो॥

वृद्धावास पूर्ण होने पर तथा काल के बीत जाने पर अर्थात् ऋतुबद्धकाल, मासाधिककाल तथा चातुर्मासिक काल बीत जाने पर तीनों प्रकार का अवग्रह–सचित्त, अचित्त और मिश्र–नहीं होता। विशुद्ध आलंबन अर्थात् वृद्धावास के समाप्त हो जाने पर उसके कार्यभूत अवग्रह का भी व्यवच्छेद हो जाता है।

२३०१. आगास कुच्छिपूरो, उग्गह पडिसेधितम्मि जो कालो।
न हु होति उग्गहो सो, कालदुगे वा अणुण्णातो॥

२३०२. गिम्हाण चरिममासो,
जहिं कतो तत्थ जदि पुणो वासं।
ठायंति अन्नखेत्ताऽसतीय
दोसुं पि तो लाभो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे कोई भूख से पीड़ित व्यक्ति आकाश (वायु) से पेट भरता है वैसे ही प्रतिषिद्ध काल में उत्पादित अवग्रह अवग्रह नहीं होता क्योंकि वह प्रतिषिद्धकालाचीर्ण है। अथवा कालद्विक में अवग्रह अनुज्ञात है—ग्रीष्म ऋतु का चरम मास अर्थात् आषाढ़ मास में जहां रह चुके हों और अन्य क्षेत्र के अभाव में वहीं वर्षावास करते हैं तो दोनों कालों—ग्रीष्म के चरममास में और वर्षावास के पहले मास में अवग्रह अनुज्ञात है।

२३०३. एमेव व समतीते, वासे तिण्णि दसगा उ उक्कोसं।
वासनिमित्तठिताणं, उग्गह छम्मास उक्कोसा॥

इसी प्रकार वर्षाकाल अतीत हो जाने पर, यदि वर्षा होती रहती है तो उत्कृष्टतः तीन दशक दिनों तक वहां रहा जा सकता है। वर्षा के निमित्त रहने वालों का उत्कृष्ट अवग्रह छह मास का हो जाता है। (आषाढ़ से मृगशिर तक।)

चौथा उद्देशक समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पांचवां उद्देशक

२३०४. उद्देसम्मि चउत्थे, जा मेरा वण्णिता तु साहूणं।
सा चेव पंचमे संजतीण गणणाय नाणत्तं॥

चौथे उद्देशक में जो मर्यादा साधुओं के लिए वर्णित है, वही मर्यादा पांचवें उद्देशक में साध्वियों के लिए है। केवल गणना में नानात्व है।

२३०५. वुत्तमधवा बहुत्तं, पिंडगसुत्ते चउत्थचरमम्मि।
अबहुत्ते पडिसेहं, काउमणुण्णा बहूणं तु॥

अथवा चौथे उद्देशक के चरम पिंडसूत्र में बहुत्व की बात कही गई है। पांचवें उद्देशक में साध्वियों के लिए अबहुत्व का प्रतिषेध कर बहुतों की अनुज्ञा दी है।

२३०६. संघयणे वाउलणा, छट्ठे अंगम्मि गमणमसिवादी।
सागर जाते जतणा, उडुबद्धालोयणा भणिता॥

सूत्रकदम्बक की प्रवृत्ति के पांच कारण–प्रवर्तिनी आत्मतृतीय और गणावच्छेदिनी आत्मचतुर्था के गमन के पांच कारण–संहनन, गण में सूत्रार्थ पठन की व्याकुलना–व्याघात, छठे अंग ज्ञाताधर्मकथा के स्मरण–परावर्तन के लिए गमन, अशिव आदि स्थिति में गमन, अंग साहित्य सागरतुल्य है। अभिनवगृहीत होने के कारण पुनःपुनः परावर्तनीय है, इसलिए गमन–ये पांच कारण हैं। जात का अर्थ है कल्प। ऋतुबद्धकाल में साध्वियों का सप्तक और वर्षाकाल में नवक–यह समाप्तकल्प है। इससे न्यून असमाप्तकल्प है। प्रत्येक के दो–दो प्रकार हैं–जात और अजात (गीतार्थ, अगीतार्थ)। इसमें यतना। ऋतुबद्धकाल में निरंतर साध्वियों को भेजकर अवलोकना करनी चाहिए।

२३०७. जध भणित चउत्थे पंचमम्मि तहेव इमं तु नाणत्तं।
गमणित्थि मीस संबंधि, वज्जिते पूजिते लिंगे॥

जैसे चौथे उद्देशक में निर्ग्रन्थसूत्रों का व्याख्यान कहा गया है वैसे ही पांचवें उद्देशक में निर्ग्रन्थिनियों के सूत्रों की व्याख्या जाननी चाहिए। उसमें यह नानात्व है। प्रवर्तिनी के कालगत हो जाने पर आर्यिकाएं आचार्य के पास चली जाएं–स्त्रियों के साथ, अथवा मिश्र–स्त्री–पुरुषों के साथ, अथवा संबंधी पुरुषों के साथ, अथवा संबंधी वर्जित सज्जन पुरुषों के साथ, अथवा जहां जो पूजित लिंग हो वैसा लिंग बना कर जाएं।

२३०८. वीसुंभिताय सव्वासि, गमणमद्धद्ध जाव दोण्हेक्का।
संबंधि इत्थिसत्थे, भावितमविकारितेहिं वा॥

प्रवर्तिनी के कालगत हो जाने पर शेष सभी साध्वियां आचार्य के पास जाएं। यदि मार्ग अपायबहुल हो तो परिणतवय वाली साध्वियां जाएं। अथवा मंदरूप वाली तरुण साध्वियां तथा स्थविर साध्वियां जाएं। समुदाय का चौथा भाग जाए। अथवा दो या अंततः एक साध्वी अवश्य जाए। वे साध्वियां अपने संबंधी स्त्री-सार्थ के साथ, उनके अभाव में असंबंधी स्त्री-सार्थ के साथ, उसके अभाव में भावित पुरुषों के साथ, उनके अभाव में अविकारी पुरुषों के साथ जाएं। अंततः जिस देश में जो लिंग पूजित हो, उस लिंग को धारण कर उन-उन प्रदेशों से गमन करे।

२३०९. असिवादिएसु फिडिया,
कालगते वावि तम्मि आयरिए।
तिगथेराण य असती,
गिलाणओधाण सुत्ता उ॥

अशिव आदि कारणों से जो अपने आचार्य से विलग हो गई अथवा पूर्व आचार्य कालगत हो गए, कुल, गण और संघ–इन तीन प्रकार के स्थविरों के अभाव में साध्वी खिन्न हो गई अथवा वहां से निकल कर अन्य आचार्य के पास जाने की भावना प्रबल हो गई–ऐसी स्थिति में ग्लान और अवधावन के ये दो सूत्र निर्मित हुए।

२३१०. साहीणम्मि वि थेरे, पवत्तिणी चेव तं परिकधेति।
एसा पवत्तिणी मे, जोग्गा गच्छे बहुमता य॥

अथवा स्वाधीन स्थविर के परिज्ञान के लिए उसी को प्रवर्तनी कहते हुए बताते हैं–भगवन्! यह प्रवर्तिनी के योग्य है। यह गच्छ में बहुमान्य है।

२३११. अब्भुज्जयं विहारं, पडिवज्जिउकाम दुस्समुक्कट्ठं।
जह होती समणाणं, भत्तपरिण्णा तधा तासिं॥

अभ्युद्यत विहार स्वीकार करने वाले श्रमणों के लिए जो दुःसमुत्कृष्ट कहा था, वही भक्तपरिज्ञा स्वीकार करने वाली साध्वियों के लिए दुःसमुत्कृष्ट है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३१२. जइ वि य पुरिसादेसो,
पुव्वं तह वि य विवच्चओ जुत्तो।
जेण समणी उ पगता,
पमादबहुला य अथिरा य॥

यद्यपि पूर्व अर्थात् दो अध्ययनों में पुरुषादेश के आधार पर श्रमणों के विषय में कहा था, यहां जो विपर्यय है, वह भी युक्त है, क्योंकि प्रायः साध्वियां प्रमादबहुल और अस्थिर होती हैं।

२३१३. तेवरिसा होति नवा, अट्ठारसिया तु डहरिया होति।
तरुणी खलु जा जुवती, चउरा दसगा य पुव्वुत्ता॥

तीन वर्ष की व्रतपर्यायवाली श्रमणी नव (नई), जन्मपर्याय से अठारह वर्ष तक की श्रमणी डहरिका और जब तक युवति है तब तक वह तरुणी है। अथवा पूर्वोक्त (तीसरे उद्देशक में कथित) कथन के अनुसार चालीस वर्ष वाली तरुणी होती है।

२३१४. सा एय गुणोवेता, सुत्तत्थेहिं पकप्पमज्झयणं।
समधिज्जिता इतो यावि, आगता नवसु या अण्णा॥

जिस तरुणी श्रमणी ने प्रकल्प नामक अध्ययन को सूत्र और अर्थ से सम्यग् प्रकार से पढ़ लिया है, इस गुण से युक्त हो गई है, वह प्रवर्तनी के योग्य है—ऐसा आचार्य ने जान लिया। इधर अन्य गण से एक श्रमणी ने आकर कहा—

२३१५. अत्थेण मे पकप्पे, समाणितो न य जितो महं भंते।।
अमुगा मे संघाडं, ददंतु वुत्ता तु सा गणिणा॥

भंते! अर्थ से मैं आचारप्रकल्प समाप्त कर चुकी हूं। किंतु वह मेरे परिचित नहीं हुआ है। जो अमुक श्रमणी प्रवर्तनी के रूप में संभावित है उसे आप संघाट दें। यह कहने पर आचार्य ने कहा—आर्ये! आचारप्रकल्प का संघाट दो।

१३१६. सा दाउं आढत्ता, नवरि य णट्ठं न किंचि आगच्छे।
एमेव मुणमुणंती, चिट्ठति मुणिया य सा तीए॥

वह संघाट देने लगी, अर्थात् पुनरावर्तन और व्याख्या करने लगी। सारा अध्ययन विस्मृत हो गया था, कुछ भी स्मृतिपटल पर नहीं था। वह केवल अव्यक्त अक्षरों से मुनमुनाती रही। इसलिए जान लिया कि इसे कुछ भी याद नहीं है।

२३१७. पुणरवि साहति गणिणो,
सा नट्ठसुता दलाह मे अण्णं।
अब्भक्खाणं पि सिया,
वाहेउं होतिमा पुच्छा॥

वह पुनः आचार्य को कहती है—इसका श्रुत नष्ट हो गया है। आप मुझे अन्य सहायक दें। तब आचार्य सोचे—इसका श्रुत नष्ट हो गया है अथवा नहीं, कौन जाने। झूठा अभ्याख्यान भी हो सकता है। यह सोचकर आचार्य उसको बुलाकर इस प्रकार पृच्छा करते हैं—

२३१८. दंडग्गहनिक्खेवे आवसियाए निसीहियाऽकरणे।
गुरुणं च अप्पणामे, य भणसु आरोवणा का उ॥

तुम कहो, दंडक को बिना प्रमार्जन और प्रत्युपेक्षा किए लेने—रखने में, आवश्यिकी और नैषेधिकी न करने पर तथा गुरु को प्रणाम न करने पर क्या आरोपणा प्रायश्चित्त आता है।

२३१९. पुट्ठा अनिव्वहंती, किध नट्ठं ऽबाधतो पमादेणं।
साहेति पमादेणं, सो य पमादो इमो होति॥

पूछने पर यदि वह सम्यक् उत्तर नहीं देती है तो आचार्य पुनः पूछते हैं कि आचारप्रकल्पाध्ययन नष्ट कैसे हुआ? क्या आबाधा से अथवा प्रमाद से? वह यदि कहे—प्रमाद से। वह प्रमाद यह होता है—

२३२०. धम्मकहनिमित्तादी, तु पमादो तत्थ होति नायव्वो।
मलयवति-मगधसेणा, तरंगवइयाइ धम्मकहा॥

धर्मकथा में व्यापृत रहना तथा निमित्त आदि में संलग्न रहना—यह प्रमाद उस श्रमणी में होता है। धर्मकथा में मलयवती, मगधसेना, तरंगवती आदि को पढ़ते रहने के कारण प्रमादवश वह श्रुत नष्ट हो जाता है।

२३२१. गह-चरिय-विज्ज-मंता,
चुण्ण-निमित्तादिणा पमादेणं।
नट्ठम्मी संधयती,
असंधयंती व सा न लभे॥

ग्रहचरित—ज्योतिषशास्त्र, विद्या, मंत्र, चूर्ण, निमित्त आदि में व्यापृत होने के प्रमाद से यदि प्रकल्पाध्ययन पूर्ण विस्मृत हो जाता है और वह श्रमणी यदि उसका पुनः संधान करती है अथवा नहीं करती, फिर भी उसे यावज्जीवन गण प्राप्त नहीं होता, उसे प्रवर्तनी आदि पद नहीं मिलता।

२३२२. जावज्जीवं तु गणं, इमेहि नाएहि लोगसिद्धेहिं।
अइपाल-वेज्ज-जोधे, धणुगादी भग्गफलगेणं॥

यावज्जीवन गण प्राप्त नहीं होता—इसके लिए लोकसिद्ध उदाहरण ये हैं—अजापालक, वैद्य, योधा। योधा उदाहरण से संबंधित है—धनु आदि। भग्नफलक।

२३२३. खेलंतेण तु अइया, पणासिया जेण सो पुणो न लभे।
सूलादिरुजा नट्ठा, वि लभति एमेव उत्तरिए॥

एक अजापालक ने खेलने के प्रमाद से अजाओं को नष्ट कर डाला। उसे पुनः अजापालन का कार्य नहीं मिला। एक दूसरा अजापातक था। उसके शूल आदि का रोग हो गया। अजाएं नष्ट हो गईं। उसे पुनः उसी काम पर रख दिया। इसी प्रकार लोकोत्तर में भी जानना चाहिए। (इसी प्रकार जो श्रमणी प्रमादवश प्रकल्पाध्ययन को भूल जाती है, उसे गण नहीं मिलता। जो ग्लानत्व के कारण वैसा होता है तो उसे गण की पुनः प्राप्ति हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकती है।)

२३२४. जदि से सत्थं नट्ठं पेच्छह से सत्थकोसगं गंतुं।
हीरति कलंकितेसुं, भोगो जूतादिदप्पेणं॥

राजा ने अपने आदमियों से कहा—यदि इस वैद्य के शास्त्र नष्ट हो गए हों तो तुम उसके शास्त्रकोशक में जाकर देखो। वे गए और वहां उपलब्ध वैद्यक शास्त्र लाकर राजा को दे दिए। राजा ने उनको देखा। वे सारे शास्त्र कीड़ों द्वारा नष्ट कर दिए गए थे। राजा ने जान लिया कि वैद्य के द्यूत आदि दर्प के कारण ऐसा हुआ है। उसने वैद्य को निकाल दिया।[1]

२३२५. चुक्को जदि सरवेधी, तहा वि पुलएह से सरे गंतुं।
अकलंक कलंकं वा, भग्गमभग्गाणि य धणूणि॥

एक राजा के पास स्वरवेधी योधा था। युद्ध के समय उसको असफल देखकर राजा ने अपने पुरुषों से कहा—जाओ, उसके पास जो बाण हैं, उन्हें देखो कि क्या वे मूलरूप में हैं अथवा जंग लगे हुए हैं? उसके धनुष्य भग्न हैं अथवा अभग्न? वे गए। देखा, सारे बाण जंग लगे हुए हैं और धनुष्य टूटे हुए हैं। राजा ने जान लिया कि प्रमाद के कारण ऐसा हुआ है। उसको सेना से निकाल दिया।[2]

२३२६. फालहियस्स वि एवं,
जइ फलओ भग्गलुग्ग तो भोगो।
हीरति सव्वेसिं वि य,
न भोगहारो भवे कज्जे॥

एक साग-सब्जी उगाने की बाड़ी थी। एक माली उसकी देखभाल के लिए रखा गया। कालांतर में बाड़ी के स्वामी ने सोचा—यदि बाड़ी भग्न होगी अथवा लुग्न—सूखगई होगी तो रक्षक को निकाल देंगे। क्योंकि प्रयोजन के उपस्थित होने पर कुटुम्ब के लिए भोगाहार नहीं होगा। गवेषणा करने पर वाडी को नष्ट और सूखी देखकर रक्षक का वृत्तिच्छेद कर दिया।[3]

२३२७. एवं दप्पपणासित, न वि देंति गणं पकप्पमज्झयणे।
आबाहेणं नासिते, गेलण्णादीण दलयंति॥

इसी प्रकार जो दर्प—प्रमाद से प्रकल्पाध्ययन को विस्मृत कर देती है तो आचार्य उसे गण नहीं देते। यदि आबाधा—ग्लानत्व आदि के कारण विस्मृत हो गया हो और उसका पुनः अनुसंधान कर लिया हो तो उसे गण दिया जा सकता है।

२३२८. गेलण्णे असिवे वा, ओमोयरियाय रायदुट्ठे य।
एतेहि नासियम्मी, संधेमाणीय देंति गणं॥

ग्लान हो जाने अथवा ग्लान की परिचर्या करते रहने से, अशिव अथवा अवमौदर्य—दुर्भिक्ष के कारण, राजा के प्रद्वेष के कारण वहां से पलायन करने पर—इन कारणों से यदि प्रकल्पाध्ययन विस्मृत हो गया हो और वह श्रमणी उसका पुनः अनुसंधान कर रही हो तो उसे गण दिया जाता है।

२३२९. एमेव य साधूणं, वाकरणनिमित्तछंद कधमादी।
बितियं गिलाणओ मे, अद्धाणे चेव थूभे य॥

इसी प्रकार साधुओं के विषय में जानना चाहिए। यदि व्याकरण, निमित्त, छंदशास्त्र, कथा आदि के अध्ययन के कारण प्रमादवश वह प्रकल्पाध्ययन विस्मृत कर देता है तो उसे गण नहीं दिया जाता। जो द्वितीय आबाधा लक्षण यह है—ग्लान हो जाने, ग्लान की परिचर्या में संलग्न रहने, अवमौदर्य, अशिव आदि के कारण, मार्गगमन के कारण, स्तूप आदि के कारण—यदि प्रकल्पाध्ययन विस्मृत कर ले और पुनः उसका अनुसंधान करे तो उसे गण दिया जा सकता है।

२३३०. मधुरा खमगातावण, देवय आउट्ट आणवेज्ज त्ति।
किं मम असंजतीए, अप्पत्तिय होहिती कज्जं॥

२३३१. थूभविउव्वण भिक्खू, विवाद छम्मास संघ को सत्तो।
खमगुस्सग्गा कंपण, खिंसण सुक्का कयपडागा॥

मथुरा नगरी में एक तपस्वी था। वह आतापना लेता था। उसकी इस कठोर चर्या को देखकर एक देवता उसका सम्मान करते हुए वन्दना कर बोला—भगवन्! मुझे जो करना है उसके लिए आप आज्ञा दें।

तपस्वी ने कहा—क्या मेरा कार्य असंयती से होगा? यह सुनकर देवता के मन में तपस्वी के प्रति अप्रीति हो गई। फिर भी उसने कहा—मुझसे आपका कार्य सम्पन्न होगा। देवता ने एक सर्वरत्नमय स्तूप का निर्माण किया। वहां भगवे वस्त्रधारी भिक्षु आये और बोले—यह स्तूप हमारा है। इस स्तूप के कारण संघ का उनके साथ छह माह तक विवाद चला। संघ ने पूछा—इस संघर्ष को मिटाने के लिए कौन समर्थ है? एक व्यक्ति बोला—अमुक तपस्वी इसके लिए समर्थ है। तब संघ ने तपस्वी को बुलाकर कहा—तपस्विन्! आप आराधना कर देवता का आह्वान करें। तपस्वी ने आराधना की। देवता उपस्थित होकर बोला—आदेश दें, मैं आपके लिए क्या कर सकता हूं? तपस्वी ने कहा—वैसा कार्य करो जिसमें संघ की विजय हो। तब देवता ने क्षपक की भर्त्सना करते हुए कहा—'आज मेरे जैसे असंयती से कार्य कराने का प्रयोजन उपस्थित हो गया है। अब एक उपाय बताता हूं। आप राजा के पास जाकर कहें—यदि यह स्तूप इन भिक्षुओं का है तो कल इस स्तूप पर लाल पताका फहराएगी और यदि यह स्तूप हमारा होगा तो सफेद पताका दिखेगी। वे राजा के पास गए। सारी बात कही। राजा ने यह उक्ति स्वीकार कर ली। राजा ने दोनों पक्षों को बात बता दी और स्तूप की रक्षा के लिए अपने

१—२—३. पूरे कथानक के लिए देखें—व्यवहारभाष्य, कथा परिशिष्ट।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्वस्त व्यक्तियों को नियुक्त कर दिया। देवता ने रात ही रात स्तूप पर सफेद पताका फहरा दी। प्रभात में सभी ने स्तूप पर सफेद पताका लहराते देखी। संघ जीत गया।

२३३२. एवं ताव पणट्ठे, भिक्खुस्स गणो न दिज्जते सुत्ते।
नट्ठसुते मा हु गणं, हरेज्ज थेरे अतो सुत्तं॥

पूर्वोक्त प्रकार से प्रकल्पाध्ययन सूत्र प्रणष्ट–विस्मृत हो जाने पर भिक्षु को गण नहीं दिया जाता। यदि स्थविर आचार्य का यह सूत्र नष्ट हो जाता है–विस्मृत हो जाता है तो निश्चितरूप से उनसे गण का हरण कर लेना चाहिए। इसलिए प्रस्तुत सूत्र का प्रवर्तन हुआ है।

२३३३. सुत्ते अणिंत लहुगा, अत्थे अणिंत धरेति चउगुरुगा।
सुत्तेण वायणा अत्थे, सोही तो दो वऽणुण्णाया॥

उत्सर्गतः यदि प्रकल्पाध्ययन सूत्रतः स्मृत नहीं है और यदि वह गणको धारण करता है तो उसे चार लघुक का और अर्थतः विस्मृत है तो उसे चार गुरुक का प्रायश्चित्त आता है। जिसको सूत्र विस्मृत नहीं है वह वाचना दे सकता है और जिसको अर्थ विस्मृत नहीं है वह प्रायश्चित्त देकर दूसरों की शोधि कर सकता है। इसलिए सूत्रतः और अर्थतः प्रकल्पाध्ययन से संपन्न मुनि ही गण को धारण करने के लिए अनुज्ञात है।

२३३४. अवि य विणा सुत्तेणं, ववहारे तू अपच्चओ होति।
तेणं उभयधरो ऊ, गणधारी सो अणुण्णातो॥

बिना सूत्र का उच्चारण किए व्यवहार करने अर्थात् प्रायश्चित्त देने पर अप्रत्यय होता है। इसलिए जो उभयधर–सूत्रतः और अर्थतः संपन्न है, वही गणधारी के रूप में अनुज्ञात है।

२३३५. असती कडजोगी पुण, अत्थे एतम्मि कप्पति धरेउं।
जुण्णमहल्लो सुत्तं, न तरति पच्चुज्जयारेउं॥

उभयधर के अभाव में जो कृतयोगी (पहले उभयधर था, परंतु वर्तमान में नहीं है) हो, उसे यदि प्रकल्पाध्ययन के अर्थ की स्मृति है तो उसे गण धारण करना कल्पता है। जीर्ण और महान्–इसकी चतुर्भंगी यह है–यहां महान् का अर्थ है तरुण। (१) जीर्ण है, महान् नहीं (२) जीर्ण नहीं, महान् है (३) जीर्ण भी और महान् भी (४) न जीर्ण, न महान्। यह चौथा विकल्प शून्य है। शेष तीन विकल्पों में से कोई भी विस्मृत सूत्र का पुनः उज्ज्वालन नहीं कर सकता, उसका अनुसंधान नहीं कर सकता।[1]

२३३६. उभयधरम्मि उ सीसे, विज्जंते धारणा तु इच्छाए।
मा परिभवनयणं वा, गच्छे व अणिच्छमाणम्मि॥

उभयधर शिष्य की विद्यमानता में भी यदि आचार्य गण को धारण करता है यह उसकी अपनी इच्छा है। वह सोचता है यदि मैं शिष्य को गण दूंगा तो दूसरे शिष्य मेरा पराभव करेंगे अथवा मुझे छोड़कर गच्छ लेकर चले जायेंगे अथवा यह गण उस उभयधर मुनि को गणधर के रूप में नहीं चाहता। इस स्थिति में उसको गणधर पद देने पर वे परिभव करेंगे अथवा अन्यत्र गच्छ में चले जाएंगे–इसलिए गण को स्वयं धारण करता है।

२३३७. एमेव बितियसुत्तं, कारणियं सति बले न हावेति।
जं जत्थ उ कितिकम्मं, निहाणसम ओमराइणिए॥

पूर्वसूत्र की भांति यह सूत्र भी कारणिक है। जो मुनि प्रकल्पाध्ययन का पुनः उज्ज्वालन कर रहा है, वह अपने शक्ति के होते विनय का अपनयन न करे।

निधान के समान[2] सूत्र और अर्थ का उज्ज्वालन करता हुआ मुनि अवमरत्नाधिक (अथवा समरत्नाधिक) के प्रति जो कृतिकर्म करणीय होता है, उसका परिपालन करे, उसको छोड़े नहीं।

२३३८. सुत्तम्मि य चउलहुगा,
अत्थम्मि य चउगुरुं च गव्वेणं।
कितिकम्ममकुव्वंतो,
पावति थेरा सति बलम्मि॥

उज्ज्वालन करता हुआ स्थविर मुनि, शक्ति के होने पर भी यदि कृतिकर्म नहीं करता है तो सूत्रविषयक उसे चार लघुक और अर्थविषयक चार गुरुक का प्रायश्चित्त आता है।

२३३९. उवयारहीणमफलं, होति निहाणं करेति वाऽणत्थं।
इति निज्जराए लाभो, न होति विब्भंगकलहो वा॥

जैसे निधान का उपचारहीन खनन करने पर वह अफल अथवा अनर्थकारी होता है, उसी प्रकार कृतिकर्म न करने पर उसे निर्जरा का लाभ नहीं होता तथा प्रांतदेवता कुपित होकर उसके ज्ञान को अज्ञान–विभंग कर देता है, अथवा कलह का उद्भव होता है।

२३४०. दूरत्थो वा पुच्छति, अधव निसेज्जाय सन्निसण्णो उ।
अच्चासण्णनिविट्ठट्ठिते य चउभंग बोधव्वो॥
२३४१. अंजलिपणामऽकरणं, विप्पेक्खंते दिसऽहो उड्ढमुहं।
भासंत अणुवउत्ते, व हसंते पुच्छमाणो उ॥

---

१. प्रस्तुत में 'महान्' का अर्थ है–वह तरुण जो वृद्धत्व में परिणत हो गया है।

२. जैसे छोटे या बड़े निधान का उत्खनन करने वाला यदि उचित उपचार का पालन नहीं करता है तो उसे अनेक उपद्रवों (सांप, बिच्छु आदि के) का सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार जो समरत्नाधिक और अवमरत्नाधिक के प्रति यथायोग्य विनय नहीं करता, उसे निर्जरा का लाभ नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३४२. एतेसु य सव्वेसु वि, सुत्ते लहुओ उ अत्थे गुरुमासो।
नाभीतोवरि लहुगा, गुरुगमधो कायकंडुयणे॥

अविनय के प्रकार–दूरस्थित होकर पूछता है, अथवा निषद्या में बैठा-बैठा पूछता है, (सुनता है) अत्यासन्न बैठ कर सुनता है। निविष्ट-उत्थित की चतुर्भंगी यह है–

(१) निविष्ट निविष्ट को पूछता है। (२) निविष्ट उत्थित को पूछता है। (३) उत्थित निविष्ट को पूछता है। (४) उत्थित उत्थित को पूछता है। हाथ न जोड़ना, प्रणाम न करना, दिशाओं को देखते हुए पूछना, अधोमुख अथवा ऊर्ध्वमुख कर सुनना, दूसरों के साथ बातचीत करते हुए सुनना, अनुपयुक्त होकर सुनना, हंसते हुए पूछना–इन सब स्थितियों में सूत्र को सुनने से प्रायश्चित्त लघुमास और अर्थ को सुनने से गुरुमास। सूत्र को सुनते हुए नाभी के ऊपर वाले शरीर भाग में खुजली करने पर चार लघुक का प्रायश्चित्त और अर्थ को सुनते हुए कंडूयन करने पर चार गुरुक का प्रायश्चित्त आता है। सूत्रश्रवण के समय नाभी के निचले भाग में कंडूयन करने पर प्रायश्चित्त है चार गुरुक–वह चाहे तप से गुरु हो अथवा काल से गुरु हो।

२३४३. तम्हा वज्जंतेणं, ठाणाणेताणि पंजलुक्कुडुणा।
सोयव्व पयत्तेणं, कितिकम्मं वावि कायव्वं॥

इसलिए उपरोक्त अविनय के स्थानों का वर्जन करता हुआ हाथ जोड़कर उत्कटुक आसन में स्थित होकर प्रयत्नपूर्वक सूत्र-अर्थ को सुनना चाहिए तथा कृतिकर्म भी करना चाहिए।

२३४४. तेण वि धारेतव्वं, पच्छावि य उट्ठितेण मंडलिओ।
वेट्ठुट्ठनिसण्णस्स व, सारेतव्वं हवति भूओ॥

व्याख्यानमंडली अथवा सूत्रमंडली में जो सुना उसे मंडली के उठ जाने पर भी श्रोता को धारण करना चाहिए। वह धारण करता हुआ वहां बैठा है, खड़ा है अथवा लेटा है तो क्वचित् स्खलित होने पर वाचनाचार्य को चाहिए कि वे उसे पुनः स्मृति दिलाएं।

२३४५. अह से रोगो होज्जा, ताहे भासंत एगपासम्मि।
सन्निसण्णो तुयट्टो, व अच्छते णुग्गहपवत्तो॥

यदि स्थविर के कोई रोग न हो तो व्याख्यानमंडली में वाचना करने वाले के एक पार्श्व में सम्यग्रूप से निषण्ण अथवा विश्राम करने की मुद्रा में अनुग्रह से प्रवर्तित की भांति बैठता है।

२३४६. थेरस्स तस्स किं तू, एद्देहेणं किलेसकरणेण।
भण्णति एगत्तुवओगसद्धाजणणं च तरुणाणं॥

शिष्य पूछता है कि उस स्थविर को इतना क्लेश करने का प्रयोजन क्या है? आचार्य कहते हैं–जो सूत्रार्थ के साथ एकत्वोपयुक्त होता है उसको सूत्रार्थ का सम्यक् परिज्ञान होता है तथा तरुण मुनियों में उस स्थिति को देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती है।

२३४७. सो तु गणी अगणी वा,
अणुभासंतस्स सुणति पासम्मि।
न चएति जुण्णदेहो,
होउं बद्धासणो सुचिरं॥

वह गणी है अथवा अगणी–आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक, अग्रणी अथवा स्थाननियुक्त है, वह सूत्र मंडली में वाचना देने वाले के एक पार्श्व में सन्निषण्ण होकर सुनता है क्योंकि वह जीणदिह होने के कारण लंबे समय तक बद्धासन होकर नहीं सुन सकता।

२३४८. थेरो अरिहो आलोयणाय, आयारकप्पिओ जोग्गो।
सा य न होति विवक्खे, नेव सपक्खे अगीतेसु॥

स्थविर आलोचना देने के लिए अर्ह होता है। जो आचारप्रकल्पधारी होता है वही आलोचना के लिए योग्य होता है। वह आलोचना न विपक्ष के लिए होती है और न सपक्ष के लिए होती है, वह अगीतार्थ के लिए होती है। (श्रमणी श्रमण के लिए विपक्ष है और श्रमण श्रमणी के लिए विपक्ष है। श्रमणी श्रमणी के लिए सपक्ष और श्रमण श्रमण के लिए सपक्ष है।)

२३४९. संभोइग त्ति भणिते, संभोगो छव्विहो उ आदीए।
भेदप्पभेदतो वि य, णेगविधो होति नायव्वो॥

सांभोगिक (सांभोजिक) की बात जो सूत्र में कही है, उस संभोज के प्रथमतः छह प्रकार हैं। भेद–प्रभेद से उसे अनेक प्रकार का जानना चाहिए।

२३५०. ओह अभिग्गह दाणग्गहणे अणुपालणाय उववाते।
संवासम्मि य छट्ठो, संभोगविधी मुणेयव्वो॥

ओघसंभोग, अभिग्रहसंभोग, दानग्रहणसंभोग, अनुपालनासंभोग और उपपातसंभोग। छठा प्रकार है–संवास-संभोग।

२३५१. ओघो पुण बारसहा, उवधीमादी कमेण बोधव्वो।
कातव्व परूवणया, एतेसिं आणुपुव्वीए॥

ओघसंभोग के बारह प्रकार हैं। उपधि आदि के क्रम से उनको जानना चाहिए और उनकी क्रमशः प्ररूपणा करनी चाहिए।

२३५२. उवहि-सुत-भत्तपाणे, अंजलिपग्गहे त्ति य।
दावणा य निकाए य, अब्भुट्ठाणे त्ति यावरे॥
२३५३. कीकम्मस्स य करणे, वेयावच्चकरणे ति य।
समोसरण सन्निसेज्जा, कधाए य पबंधणा॥

ओघसंभोग के बारह प्रकार ये हैं–उपधि, श्रुत, भक्तपान, अंजलिप्रग्रह, दापना, निकाच, अभ्युत्थान, कृतिकर्मकरण, वैयावृत्यकरण, समवसरण, सन्निषद्या तथा कथाप्रबंधन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३५४. उवहिस्स य छब्भेदा, उग्गम-उप्पायणेसणासुद्धो।
परिकम्मण-परिहरणा, संजोगो छट्ठओ होति॥

उपधिसंभोग के छह प्रकार हैं—उद्गमशुद्ध, उत्पादनशुद्ध, एषणाशुद्ध, परिकर्मणासंभोग, परिहरणासंभोग तथा छठा है संयोगसंभोग।

२३५५. एवं जधा निसीधे पंचमउद्देसए समक्खातो।
संभोगविधी सव्वो, तधेव इह इं पि वत्तव्वो॥

इस प्रकार निशीथ सूत्र के पांचवें उद्देशक में समाख्यात सारी संभोगविधि यहां उसी प्रकार वक्तव्य है।

२३५६. अगडे भाउय तिल-तंदुले,
व सरक्खे य गोणि असिवे य।
अविणट्ठे संभोगे,
सव्वे संभोइया आसी॥

पूर्वकाल में संभोज की अविनष्ट स्थिति में सभी मुनि सांभोजिक थे। फिर कालदोष से सांभोजिक, असांभोजिक का विभाग हुआ। इसके छह दृष्टांत हैं—१. अवट (कूप) २. दो भाई ३. तिल ४. तंदुल ५. सरजस्क ६. गोवर्ग, अशिव।

२३५७. आगंतु तदुत्थेण व, दोसेण विणट्ठ कूवे तो पुच्छा।
कउ आणीयं उदगं, अविणट्ठे नासि सा पुच्छा॥

(एक गांव में मीठे पानी के अनेक कूप थे।) आगंतुक दोषों से अथवा उन कूपों के दोषों से वे कूप विनष्ट हो गए—उनका पानी पीने योग्य नहीं रहा। अब उस गांव में अन्यत्र से पानी लाते समय पूछा जाने लगा—पानी कहां से लाए हो? जब तक कूप अविनष्ट थे तब तक यह पृच्छा नहीं होती थी। (इस दृष्टांत का उपनय यह है—जब तक संभोज विनष्ट नहीं हुआ था तब सांभोजिक की परीक्षा नहीं होती थी। जब कुछ मुनि चारित्र से भ्रष्ट हो गए, शिथिल हो गए, तब यह परीक्षा होने लगी।)

२३५८. भोइकुल सेवि भाउग, दुस्सीलेगे तु जो ततो पुच्छा।
एमेव सेसएसु वि, होति विभासा तिलादीसु ॥

दो भाई भोजिककुल (राजकुल) में सेवक थे। राजकुल में उनका संचरण अबाधित था। एक भाई दुःशील हो गया। अब पूछा जाने लगा—कौन अंतःपुर में जाता है? इसी प्रकार तिल आदि के शेष दृष्टांतों को जानना चाहिए।

(क) नगर की दुकानों पर अच्छे तिल और अच्छे चावल मिलते थे। कालांतर में वणिक् के मन में कपट उत्पन्न हुआ। उसने खराब तिल और खराब चावल बेचने शुरू किए। अब पूछा जाने लगा, तिल कैसे हैं? चावल कैसे हैं?

(ख) एक नगर की एक दिशा में अनेक मंदिर थे। सबमें भिक्षु रहते थे। वे सब सुशील थे। लोग उनकी पूजा करते थे। कालांतर में कुछेक मंदिर के भिक्षु दुःशील हो गए। अब निमंत्रण की वेला में पूछा जाने लगा, कौन कैसा है?

(ग) एक गांव में बड़ा गोवर्ग था। वह बीमारी की चपेट में आ गया। अब कोई व्यक्ति गायें लाता तो पूछा जाता—ये गायें किस गांव से लाए हो? ये किस गोवर्ग की हैं?

(इसी प्रकार सांभोजविधि विनष्ट हो जाने पर संभोजिक की परीक्षा की जाने लगी।)

२३५९. साधम्मिय वइधम्मिय निघरिसभाणे तधेव कूवे य।
गावी पुक्खरिणीया, नीएल्लग सेवगागमणे॥

साधर्मिक और वैधर्मिक की परीक्षा कर तदनंतर संभोज स्थापित किया जाता है। जैसे स्वर्ण की परीक्षा कषोपल पर की जाती है वैसे ही अज्ञातशील मुनि की परीक्षा उसके भाजन (तथा उपकरण) से की जाती है। जिस प्रकार कूप, गोवर्ग, पुष्करिणी तथा दो सेवक सगे भाईयों के गमनागमन की परीक्षा की जाने लगी, वैसे ही मुनि की परीक्षा कर संभोज-विसंभोज किया जाता है।

२३६०. एतेसिं कतरेणं, संभोगेणं तु होंति संभोगी।
समणाणं समणीओ, भण्णति अणुपालणाए उ॥

इन उपरोक्त कथित संभोजों में से कितने संभोजों से श्रमणियां—श्रमणों के संभोजिनियां होती हैं? आचार्य कहते हैं—अनुपालना संभोज से वे संभोजिनियां होती हैं।

२३६१. आलोयणा सपक्खे, परपक्खे चउगुरुं च आणादी।
भिन्नकधादि विराधण, दट्ठूण व भावसंबंधो॥

आलोचना सपक्ष से होती है। निर्ग्रंथ निर्ग्रंथ से और निर्ग्रंथी निर्ग्रंथी से आलोचना ले। परपक्ष से आलोचना करने पर—निर्ग्रंथ निर्ग्रंथी से और निर्ग्रंथी निर्ग्रंथ से—चार गुरुक का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञा विराधाना आदि का दोष भी होता है। 'भिन्नकथा आदि'—चौथेव्रत के अतिचार की आलोचना करती हुई श्रमणी के 'भिन्नकथा' आदि का दोष होता है। इससे शील विराधना भी हो सकती है। श्रमण श्रमणी के और श्रमणी श्रमण के मुखविकार से भाव को जानकर उनमें परस्पर संबंध हो सकता है।

२३६२. मूलगुणेसु चउत्थे, विगडिज्जंते विराधणा होज्जा।
णिच्छक्क दिट्ठिमुहरागतो य भावं विजाणंति॥

मूलगुणों में चतुर्थ मूलगुण के अतिचार की आलोचना से शील की विराधना हो सकती है। श्रमणी निच्छक्क—धृष्ट होकर अब्रह्म की याचना कर सकती है अथवा दृष्टिराग और मुखराग से पर का अभिप्राय जान लेने पर संबंध घटित हो सकता है।

२३६३. अप्पच्चय निब्भयया, पेल्लणया जई पगासणे दोसा।
वतिणी वि होति गम्मा, नियए दोसे पगासेंती॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३६४. वंदत वा उट्ठे वा, गच्छो तध लहुसगत्त आणयणे।
विगडेंत पंजलिउडं, दट्ठूणुड्डाह कुवियं तू॥

विपक्ष से आलोचना लेने पर ये दोष भी होते हैं—अविश्वास, निर्भयता, प्रायश्चित्त की प्रेरणा—जैसे—यदि निर्ग्रंथी महत् प्रायश्चित्त देती है तो वह निर्ग्रंथ कहता है—इसका इतना प्रायश्चित्त नहीं आता, इतना मात्र आता है। ये दोष निर्ग्रंथ में निर्ग्रंथी से आलोचना लेने पर होते हैं। निर्ग्रंथी निर्ग्रंथ के पास अपने दोष प्रकाशित करती हुई गम्य हो जाती है—निर्ग्रंथ कहता है—तुम भी मेरे साथ यह दोष सेवन करो, फिर प्रायश्चित्त देंगे.....।

वंदना करते हुए, उठते हुए, जाते हुए, अपना तुच्छ दोष बतलाते हुए, आलोचना करते हुए, हाथ जोड़ते हुए साध्वियों को देखकर लोग उड्डाह करते हैं, ... ?

२३६५. तो जाव अज्जरक्खित, आगमववहारतो वियाणेत्ता।
न भविस्सति दोसो त्ती, तो वायंती उ छेदसुतं॥

आचार्य आर्यरक्षित तक आगमव्यवहारी थे। आगम-व्यवहार से यह जानकर कि श्रमणियों को छेदसूत्र की वाचना देने में कोई दोष नहीं है, वे छेदसूत्र की वाचना भी देते थे।

२३६६. आरेणागमरहिया, मा विद्दाहिंति तो न वाएंति।
तेण कधं कुव्वंतं, सोधिं तु अयाणमाणीओ॥

उसके पश्चात् आगमव्यवहारी नहीं रहे। उन्होंने सोचा—छेदसूत्र के अध्ययन से निर्ग्रंथीयां विनष्ट न हों, इसलिए उनको छेदसूत्र की वाचना नहीं दी जाती। यहां प्रश्न होता है कि श्रुत के अध्ययन के अभाव में, उसको नहीं जानती हुई श्रमणियां प्रायश्चित्त—शोधी कैसे करती हैं ?

२३६७. तो जाव अज्जरक्खिय,सड्ढाण पगासयंसु वतिणीओ।
असतीय विवक्खम्मि वि, एमेव य होंति समणा वि ॥

आचार्य आर्यरक्षित के समय तक श्रमणियां स्वस्थान—स्वपक्ष में आलोचना प्रकाशित करती थीं। स्वपक्ष के अभाव में विपक्ष अर्थात् श्रमणों के समक्ष आलोचना करती थीं। इसी प्रकार श्रमण भी स्वपक्ष में आलोचना करते थे। स्वपक्ष के अभाव में विपक्ष अर्थात् श्रमणियों से भी आलोचना ग्रहण करते थे।

२३६८. मेहुणवज्जं आरेण, केइ समणेसु ता पगासेंति।
तं तु न जुज्जति जम्हा, लहुसगदोसा सपक्खे वि॥

आचार्य आर्यरक्षित के पश्चात् श्रमणियां श्रमणों के पास मैथुनसंबंधी अतिचारों को छोड़कर शेष अतिचारों की आलोचना करती थीं। श्रमणियां मैथुनसंबंधी अतिचार की आलोचना श्रमणियों से ही करती थीं। यह कुछेक आचार्यों का अभिमत है। यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अपना तुच्छ दोष स्वपक्ष के समक्ष अभिव्यक्त करने पर स्वपक्ष उनका परिभव कर सकता है। (अतः श्रमणों के समक्ष ही आलोचना करनी चाहिए।)

२३६९. असती कडजोगी पुण, मोत्तूणं संकिताइं ठाणाइं।
आइण्णे धुवकम्मिय, तरुणी थेरस्स दिट्ठिपधे॥

आचार्य आर्यरक्षित के काल में भी श्रमणियां मूल-गुणापराध की आलोचना श्रमणियों के पास करती थीं। उनके अभाव में कृतयोगी—छेदग्रंथधर स्थविर के समक्ष शंकित स्थानों का वर्जन करती हुई उचित प्रदेश में श्रमणी आचीर्ण अपराध की आलोचना करती है। ध्रुवकर्मिक दृष्टिपथ में हो, दीख रहा हो तो (यवनिका से अंतरित होकर) तरुणी श्रमणी स्थविर के पास, (स्थविरा श्रमणी स्थविर के पास, स्थविरा तरुण के पास, तरुणी तरुण के पास) आलोचना कर सकती है।

२३७०. सुण्णघर देउलुज्जाण-रण्ण पच्छण्णुवस्सयस्संतो।
एय विवज्जे ठायंति, तिण्णि चउरोऽहवा पंच॥

शंकित स्थान ये हैं—शून्यगृह, देवकुल, उद्यान, अरण्य, प्रच्छन्नस्थान, उपाश्रय का अंतर। इन स्थानों को छोड़कर आलोचना के निमित्त तीन, चार अथवा पांच मुनि रहते हैं।

२३७१. थेरतरुणेसु भंगा, चउरो सव्वत्थ परिहरे दिट्ठिं।
दोण्हं पुण तरुणाणं, थेरे थेरी य पच्चुरसिं॥

स्थविर-तरुण संबंधी चार भंग पहले (६९ में) कहे जा चुके हैं। उन सब में यवनिका का अवकाश न हो तो दृष्टि का अवश्य परिहार करे। (श्रमणी भूमिगत दृष्टि रखकर आचोलना करे।) यदि दोनों तरुण हों तो स्थविर तथा स्थविरा ये दो प्रत्युरस अर्थात् प्रत्यासन्न सहायक दिए जाते है (इस प्रकार इस चौथे भंग में चार हो जाते हैं।)

२३७२. थेरो पुण असहायो, निग्गंथी थेरिया वि ससहाया।
सरिसवयं च विवज्जे, असती पंचम पडुं कुज्जा॥

तीसरे भंग में स्थविर असहायक हो किंतु तरुणी श्रमणी को सहायक के रूप में एक स्थविरा दी जाती है। दूसरे भंग में निर्ग्रंथी स्थविरा को भी ससहाया करनी चाहिए। आलोचनार्ह तरुण मुनि के पास सहायक हो या न हो, कोई दोष नहीं है। सदृश वयवालों को सहायक बनाने का वर्जन करे। यदि यह संभव न हो तो सदृशवय को भी सहायक बनाया जा सकता है। प्रथम और चौथे भंग में (पटु) क्षुल्लक अथवा क्षुल्लकी को पांचवें रूप में दें।

२३७३. ईसिं ओणा उद्धट्ठिया उ आलोयणा विवक्खम्मि।
सरिपक्खे उक्कुडुओ, पंजलिविट्ठो वणुण्णातो॥

विपक्ष में अर्थात् श्रमण के पास श्रमणी आलोचना करे तो वह खड़ी-खड़ी कुछ अवनत होकर आलोचना करे। सपक्ष में अर्थात् श्रमण श्रमण के पास आलोचना करे तो वह उत्कटुक आसन में हाथ जोड़कर आलोचना करे। यदि वह व्याधि से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीड़ित हो तो अनुज्ञा लेकर निषद्या में बैठकर आलोचना कर सकता है।

२३७४. दिट्ठीय होंति गुरुगा, सविकारा ओसर त्ति सा भणिता।
तस्स विवड्ढित रागे, तिगिच्छ जतणाय कातव्वा॥

यदि श्रमण-श्रमणी सविकार दृष्टि से देखते हैं तो चार गुरुक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। सुंदर श्रमणी को देखकर आलोचनाचार्य उसे कहे—चली जाओ और वह वहां से चली जाती है, फिर भी यदि आलोचनाचार्य का उसके प्रति रागभाव विवर्द्धित हो तो उसकी यतनापूर्वक चिकित्सा करती चाहिए।

२३७५. अण्णेहि पगारेहि, जाहे नियत्तेउ सो न तीरति उ।
घेत्तूणाभरणाई, तिगिच्छ जतणाय कातव्वा॥

यदि वह अन्य प्रकार से उस रागभाव को निवर्तित न कर सके तो उस श्रमणी के आभरण—वस्त्रों को लेकर यतनापूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए।

२३७६. जारिसिसिचएहि ठिया, तारिसएहिं तमस्सणी वरिया।
संभलि विणोयकेतण, विलेवणं चिहुरगंडेहिं॥

जिन वस्त्रों में वह श्रमणी प्रावृत थी, उन्हीं वस्त्रों में एक तरुण मुनि को प्रावृत करे और अंधेरी रात में एक निर्जन स्थान में बिठाकर एक संभली—दूती को भेजकर केतन—संकेत दिया जाता है। वह वाचनाचार्य वहां आता है और स्त्रीवेशधारिणी के गंडस्थल तथा केशों के साथ विलपन—क्रीडन करता हैं।

२३७७. अधवा वि सिद्धपुत्ति, पुव्वं गमिऊण तीय सिचएहिं।
आवरिय कालियाए, सुण्णागारादि संमेलो॥

अथवा सिद्धपुत्री से पहले मिलकर उस श्रमणी जैसे वस्त्र पहनाकर कालरात्रि में शून्यगृह आदि में उस मुनि के साथ संगम कराया जाता है।

२३७८. गीतत्था कयकरणा,पोढा परिणामिया य गंभीरा।
चिरदिक्खिया य वुड्ढा, जतीण आलोयणा जोग्गा॥

आलोचनार्ह कौन? जो गीतार्थ है, कृतकरण—अनेक बार आलोचना में सहायक बना हो, प्रौढ़ तथा पारिणामिक है, गंभीर है, चिरदीक्षित है, श्रुत और पर्याय से वृद्ध है—इस प्रकार के व्यक्ति मुनियों (तथा साध्वियों) को आलोचना देने के लिए योग्य होते हैं।

२३७९. आलोयणाय दोसा, वेयावच्चे वि होंति ते चेव।
नवरं पुण नाणत्तं, बितियपदे होति कायव्वं॥

विपक्ष से आलोचना करने में जो दोष हैं वे ही दोष वैयावृत्त्य करने में हैं। जो नानात्व है वह द्वितीयपद—अपवाद में करणीय होता है।

२३८०. उडुभयमाणसुहेहिं, देह सभावाणुलोमभुंजेहिं।
कढिणहिययाण वि मणं, वंकंतऽचिरेण कइतविया॥

प्रत्येक ऋतु में जिनका सेवन सुखदायी होता है और जिनके देह का स्वभाव अर्थात् स्वरूप अनुलोम है अर्थात् सभी इंद्रियां पूर्ण जागृत हैं, ऐसी संयतियां मुनि के वैयावृत्त्य में व्यापृत हैं तथा उनके द्वारा लाए गए आहार का श्रमण उपभोग करते हैं, उन कठोर हृदयवाले श्रमणों का भी मन शीघ्र ही बाधित हो जाता है। क्योंकि स्त्रियां कपटपटु होती हैं।

२३८१. जह चेव य बितियपदे, दलंति आलोयणं तु जतणाए।
एमेव य बितियपदे, वेयावच्चं तु अण्णोण्णे॥

जैसे द्वितीयपद—अपवाद पद में विपक्ष में भी यतना से श्रमणियां श्रमणों से आलोचना प्राप्त करती हैं, इसी प्रकार अपवाद पद में परस्पर वैयावृत्त्य भी कर सकती हैं।

२३८२. भिक्खू मयणच्छेवग, एतेहि गणो उ होज्ज आवण्णो।
वायपराइओ वा से, संखडिकरणं च वित्थिण्णं॥

कोई भिक्षूपासक (बौद्ध) विषमिश्रित आहार दे दे अथवा मदनकोद्रवक्रूर दे दे अथवा छेवग—मारि का प्रकोप हो जाए—इन कारणों से गण आपद्ग्रस्त हो जाता है। अथवा वाद में पराजित होकर कोई द्विष्ट हो जाता है। वह आकर कहता है—मैंने साधुओं के लिए अत्यधिक परमान्न का भोजन उपस्कृत किया। (व्याख्या आगे)

२३८३. कइतवधम्मकधाए, आउट्टो बेति भिक्खुगाणट्ठा।
परमण्णमुवक्खडियं, मा जातु असंजयमुहाइं॥

२३८४. तं कुणहऽणुग्गहं मे, साहूजोग्गेण एसणिज्जेण।
पडिलाभणाविसेणं, पडिता पडिती य सव्वेसिं॥

धर्मकथा को सुनकर कोइ प्रभावित होने का बहाना बनाकर कपटपूर्वक कहता है—भंते! मैंने (बौद्ध) भिक्षुओं के लिए प्रभूत परमान्न उपस्कृत करवाया है। वह भोजन असंयतों के मुख में न जाए, इसलिए आप मेरे पर अनुग्रह करें और साधुयोग्य एषणीय आहार ग्रहण करें। उसने वह विषमिश्रित भोजन साधुओं को दिया। साधुओं ने उसे खाया। सभी की पतिति—मृत्यु हो गई अर्थात् सभी रोगग्रस्त हो गए।

२३८५. आयंबिल खमगाऽसति, लद्धाण चरंतएण उ विसेण।
बितियपदे जतणाए, कुणमाणि इमा तु निद्दोसा॥

(ऐसी स्थित में वहां) आचाम्ल (आचाम्ल करने वाले?) अथवा क्षपक (तपस्वी) के अभाव में उस संचरिष्णु विष से ग्रस्त साधुओं की अपवाद पद में यतनापूर्वक वैयावृत्त्य करने वाली ये साध्वियां निर्दोष होती हैं—

२३८६. संबंधिणि गीतत्था, ववसायि थिरत्तेण य कतकरणा।
चिरपव्वइया य बहुस्सुता परीणामिया जाव॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३८७. गंभीरा मद्दविता, मितवादी अप्पकोउहल्ला य।
साधुं गिलाणगं खलु, पडिजग्गति एरिसी अज्जा॥

संबंधिनी, गीतार्था, व्यवसायिनी, स्थिर, कृतकरण, चिरप्रव्रजित, बहुश्रुत, पारिणामिक, गंभीर, मृदुतापेत, मितवादी, अल्पकुतूहल–इन गुणों से युक्त साध्वी ग्लान साधु की वैयावृत्त्य कर सकती है।

२३८८. ववसायी कायव्वे, थिरा उ जा संजमम्मि होति दढा।
कतकरण जीय बहुसो, वेयावच्चा कया कुसला॥

जो कर्त्तव्य के प्रति व्यवसायिनी है–तत्पर है, जो संयम में दृढ़ है वह स्थिर होती है तथा जो अनेक बार वैयावृत्त्य कर चुकी है, वह कृतकरण कुशल है।

२३८९. चिरपव्वइयसमाणं, तिण्हुवरि बहुस्सुया पकप्पधरी।
परिणामिय परिणामं, सा जाणति पोग्गलाणं तु॥

जो चिरप्रव्रजित अर्थात् जिसका संयम-पर्याय तीन वर्षों से अधिक है, जो बहुश्रुत अर्थात् प्रकल्प की धारक है तथा जो पारिणामिक है–पुद्गलों की विभिन्न परिणतियों से अवगत है।

२३९०. काउं न उत्तुणई, गंभीरा मद्दविया अविम्हइया।
कज्जे परिमियभासी, मियवादी होइ अज्जा उ॥

२३९१. कक्खंते गुज्झादी, न निरिक्खे अप्पकोउहल्ला य।
एरिसगुणसंपन्ना, साहूकरणे भवे जोग्गा॥

जो गंभीर है–वैयावृत्त्य कर गर्वबुद्धि से उसका प्रकाशन नहीं करती, जो मर्दविनी है–विस्मापित नहीं होती, जो प्रयोजन होने पर भी परिमितभाषिणी–मितवादिनी होती है, जो कक्षांतर, गुह्यप्रदेश आदि का अवलोकन नहीं करती अर्थात् अल्पकुतूहल होती है–इन गुणों से सम्पन्न साध्वी साधुओं का वैयावृत्त्य करने के लिए योग्य होती है।

२३९२. पडिपुच्छिऊण वेज्जे, दुल्लभदव्वम्मि होति जतणा उ।
विसघाई खलु कणगं, निधि जोणीपाहुडे सद्धे॥

वैद्य को पूछकर, यदि दुर्लभ द्रव्य का प्रयोजन हो तो उसकी प्राप्ति की यह यतना है। स्वर्ण विषघाती होता है। यदि स्वर्ण का प्रयोजन हो तो पहले उसे निधि के खनन से प्राप्त करे। यदि वह ज्ञान न हो तो योनिप्राभृत ग्रंथ में उक्त विधि से उसका उत्पादन करे। यदि वह भी न हो तो श्रावकों से याचना कर स्वर्ण प्राप्त करे।

२३९३. असतीए अण्णलिंगं, तं पि जतणाय होति कायव्वं।
गहणे पण्णवणे वा, आगाढे हंसमादी वि॥

स्वर्ण देने वाले श्रावकों के अभाव में साध्वी स्वयं ग्रहण करने अथवा प्रज्ञापना करने के लिए अन्य पूजित लिंग (वेश) को यतनापूर्वक धारण करे। उससे भी यदि स्वर्ण की प्राप्ति ने हो तो यंत्रमय हंस आदि का निर्माण कर उसकी प्राप्ति करे। (जैसे–वर्धकी कोक्कास ने यंत्रमय कापोतों से शालि का उत्पादन किया था, संग्रहण किया था।)

२३९४. पडिसिद्धमणुण्णातं, वेयावच्चं इमं खलु दुपक्खे।
सा चेव य समणुण्णा, इहं पि कप्पेसु नाणत्तं॥

पूर्वसूत्र में विपक्ष–वैयावृत्त्य का प्रतिषेध है। प्रस्तुत सूत्र में द्विपक्ष वैयावृत्त्य की अनुज्ञा है। उसी वैयावृत्त्य की समनुज्ञा है। केवल कल्प संबंधी नानात्व है।

२३९५. अत्थेण व आगाढं, भणितं इहमवि य होति आगाढं।
अहवा अतिप्पसत्तं, तेण निवारेति जिणकप्पे॥

पूर्वसूत्र के अर्थ में आगाढ़ की बात कही है। यहां भी आगाढ़ प्रयोजन में वैयावृत्त्यकरण की बात है। अथवा वैयावृत्त्यकरण अतिप्रसक्त है–परस्पर प्रीतिजनक है, इसलिए जिनकल्प में उसका निवारण है।

२३९६. सुत्तम्मि कड्ढियम्मी, वोच्चत्थ करेंत चउगुरू होंति।
आणादिणो य दोसा, विराधणा जा भणितपुव्वं॥

सूत्र का कर्षित–उच्चारण करने पर–यह संबंध है। श्रमण श्रमण की तथा श्रमणी श्रमणी की वैयावृत्त्य करे और यदि विपर्यास करते हैं तो उसका प्रायश्चित्त है चतुर्गुरुक तथा आज्ञा, अनवस्था आदि दोष तथा पूर्व वैयावृत्त्यसूत्र में कथित शील-विराधना, वह यहां भी द्रष्टव्य है।

२३९७. संबंधो दरिसिज्जति, उस्सुत्तो खलु न विज्जते अत्थो।
उच्चारित छिण्णपदे, विग्गहते चेव अत्थो उ॥

सूत्र का उच्चारण–यह अनंतर सूत्रों में संबंध प्रदर्शित करता है। संबंध अर्थ से होता है, वर्ण से नहीं। अर्थ सूत्ररहित नहीं होता। उच्चारित सूत्र का पदच्छेद करना चाहिए। जो पद विग्रहयोग्य हों उनका विग्रह करना चाहिए। विग्रह के पश्चात् सूत्र से अर्थ की व्याख्या करनी चाहिए।

२३९८. अक्खेवो पुण कीरति,
कत्थतिऽक्खेव विणा वि तस्सिद्धी।
जत्थ अवायनिदरिसण,
एसेव उ होति अक्खेवो॥

कहीं आक्षेप किया जाता है। कहीं आक्षेप के बिना भी उसकी सिद्धि हो जाती है। जहां अपाय का निदर्शन होता है, वहीं आक्षेप होता है। (क्योंकि वह आक्षेप का हेतु है।)

२३९९. किं कारणं न कप्पति, अक्खेवो दोसदरिसणं सिद्धी।
लोगे वेदे समए, विरुद्धसेवादयो णाता॥

क्या कारण है कि विपक्ष में वैयावृत्त्य नहीं कल्पता–यह आक्षेप है। विपक्ष में वैयावृत्त्य के दोषदर्शन की सिद्धि–प्रसिद्धि है। लौकिक, वैदिक और सैद्धांतिक–इनमें विरुद्ध सेवा के दोष ज्ञात हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४००. तम्हा सपक्खकरणे, परिहरिता पुव्ववण्णिता दोसा॥
कप्पे छट्ठुद्देसे, तह चेव इहं पि दट्ठव्वा॥

इसलिए सपक्ष वैयावृत्त्य करने में जो पूर्ववर्णित दोष हैं उनका कल्पाध्ययन के छठे उद्देशक में परिहार किया गया है। यहां भी वैसे ही जानना चाहिए।

२४०१. चोएती परकरणं, नेच्छामो दोसपरिहरणहेतुं।
किं पुण भेसज्जगणो, घेत्तव्व गिलाणरक्खट्ठा॥

शिष्य प्रश्न करता है—केवल दोषों का परिहार करने के निमित्त से परपक्ष का वैयावृत्त्य करना नहीं चाहते। तो फिर ग्लान की रक्षा के लिए औषधसमूह का ग्रहण क्यों?

२४०२. पुव्वं तु अगहितेहिं दूरातो ओसहाइ आणिंति।
तावत्तो उ गिलाणो, दिट्ठंतो दंडियादीहिं॥

पहले यदि औषधसमूह का ग्रहण नहीं किया जाता है तो आर्या जब तक दूर से औषध नहीं ले आती तब तक ग्लान के आगाढ़ आदि परितापना हो सकती है। यहां दंडिक आदि का दृष्टांत है—

२४०३. उवट्ठितम्मि संगामे, रण्णो बलसमागमो।
एगो वेज्जोत्थ वारेती, न तुब्भे जुद्धकोविया॥

२४०४. घेप्पंतु ओसधाइं, वणपट्टा मक्खणाणि विविहाणि।
सो बेतऽमंगलाइं, मा कुणह अणागतं चेव॥

संग्राम उपस्थित होने पर दोनों राजाओं की सेना का पड़ाव हुआ। एक ओर के राजा के पास वैद्य आए और सेना के साथ उन्हें ले जाने का आग्रह किया। राजा ने उनका निषेध करते हुए कहा—तुम युद्धकोविद—युद्धकला के अजानकार हो। वैद्य बोले—हम युद्धकोविद नहीं हैं किंतु हमारा उपयोग है। आप अपने साथ अनेक प्रकार के औषध लें। व्रणपट्ट तथा विविधप्रकार के म्रक्षण—मरहम आदि लें। ये सब घायल सैनिकों के काम में आएंगे। यह सुनकर राजा ने कहा—आप अनागत अमंगल की बात कहकर अमंगल न करें। आप चले जाएं।

२४०५. किं घेत्तव्वं रणे जोग्गं, पुच्छिता इतरेण ते।
भणंति वणतिल्लाइं, घतदव्वोसहाणि य॥

दूसरे राजा ने अपने वैद्यों से पूछा—संग्राम के योग्य हमें साथ में क्या-क्या लेना है? वैद्यों ने तब व्रणसंरोहण के लिए उपयोगी तैल, अतिजीर्ण घृत, द्रव्यौषध आदि के लिए कहा। राजा ने सारे पदार्थ ले लिए।

२४०६. भग्गसिव्वित संसित्ता, वणा वेज्जेहि जस्स उ।
सो पारगो उ संगामे, पडिवक्खो विवज्जते॥

जिस राजा के योद्धा प्रहार से पीड़ित हुए तथा जो बाणों आदि से व्रणित हुए, वैद्यों ने उनके घावों को सीकर तथा प्रहारों को औषधि से ठीक कर दिया। वे सभी योद्धा युद्ध के लिए पुनः सज्जित हो गए। वह राजा संग्राम का पार पा गया, जीत गया। प्रतिपक्षी सेना विपर्यस्त हो गई, हार गई।

२४०७. एमेवासणपेज्जाइं, खज्जलेज्झाणि जेसि उ।
भेसज्जाइं सहीणाइं, पारगा ते समाहिए॥

इसी प्रकार जिन आचार्यों के भैषज—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य स्वाधीन होते हैं वे गच्छ तथा स्व-समाधि के पारग होते हैं। (जो इनका संग्रह नहीं करते वे समाधि के अपारग होते हैं।)

२४०८. अधवा राया दुविधो आतभिसित्तो पराभिसित्तो य।
आतभिसित्तो भरहो, तस्स उ पुत्तो परेणं तु॥

अथवा राजा दो प्रकार होते हैं—आत्माभिषिक्त और पराभिषिक्त। राजा भरत आत्माभिषिक्त था और उसका पुत्र आदित्ययशा पराभिषिक्त।

२४०९. बलवाहणकोसा या, बुद्धी उप्पत्तियाइया।
साधगो उभयोवेतो, सेसा तिण्णि असाधगा॥

राजा विषयक चार भंग होते हैं—

१. एक राजा बल, वाहन और कोश से समग्र होता है, बुद्धि से नहीं।

२. एक राजा बल आदि से समग्र नहीं होता, बुद्धि से समग्र होता है।

३. एक राजा बल आदि से भी समग्र होता है और बुद्धि से भी समग्र होता है।

४. एक राजा न बल आदि से समग्र होता है और न बुद्धि से।

उपर्युक्त चार भंगों में तीसरा भंग अर्थात् जो राजा बल, वाहन और कोश आदि से समृद्ध और औत्पत्तिकी आदि बुद्धि से सम्पन्न होता है वह राज्य का साधक होता है। शेष तीन भंग वाले राजा राज्य के साधक नहीं होते।

२४१०. बलवाहणत्थहीणो, बुद्धीहीणो न रक्खते रज्जं।
इय सुत्तत्थविहीणो, ओसहहीणो उ गच्छं तु॥

जो राजा सेना, वाहन और कोष तथा बुद्धि से हीन होता है, वह राज्य की रक्षा नहीं कर पाता। इसी प्रकार जो आचार्य सूत्र और अर्थ से विहीन तथा औषधहीन होता है, वह गच्छ की रक्षा नहीं कर सकता।

२४११. आयपराभिसित्तेणं, तम्हा आयरिएण उ।
ओसधमादीणि चओ, कातव्वो चोदए सिस्सो॥

शिष्य कहता है—इसलिए आत्माभिषिक्त तथा पराभिषिक्त आचार्य को चाहिए कि वे औषध आदि का संग्रहण करे।

२४१२. सीसेणाभिहिते एवं, बेति आयरिओ ततो।
वदतो गुरुगा तुब्भं, आणादीया विराधणा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिष्य के इस प्रकार कहने पर आचार्य कहते हैं—इस प्रकार कहने पर तुमको चार गुरुक का प्रायश्चित्त तथा आज्ञादि दोष तथा सूत्र की विराधना का भागी होना पड़ता है।

२४१३. दिट्ठंतसरिस काउं, अप्पाण परं च केइ नासंति।
ओसधमादीनिचओ, कातव्व जधेव राईणं॥

कुछेक व्यक्ति दृष्टांत के सदृश स्वयं को तथा पर को बनाकर नष्ट हो जाते हैं। वे कहते हैं, राजा की भांति औषध आदि का संचय करना चाहिए।

२४१४. कोसकोट्ठारदाराणि, पदातिमादियं बलं।
एवं मणुयपालाणं, किण्णु तुज्झं पि रोयति॥

आचार्य कहते हैं—कोश, कोष्ठागार, अंतःपुर, पदाति आदि सेना—ये सारे प्रजापालक राजा के होते हैं। हे शिष्य! ये तुझे भी रुचिकर लगते हैं।

२४१५. जो वि ओसहमादीणं, निचओ सो वि अक्खमो।
न संचये सुहं अत्थि, इहलोए परत्थ य॥

जो औषध आदि का संचय है वह भी सुख देने में अक्षम होता है। इहलोक और परलोक में संचय से सुख नहीं होता।

२४१६. आदिसुतस्स विरोधो,समणचियत्ता गिहीण अणुकंपा।
पुव्वायरियऽन्नाणी, अणवत्था वंत मिच्छत्तं॥

आदि सूत्र (दशवैकालिक) से इस कथन का विरोध है। श्रमणत्यक्त हो जाते हैं। गृहस्थों की अनुकंपा। पूर्वाचार्य, अज्ञानी, अनवस्था, वांत का सेवन, मिथ्यात्व—(इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में।)

२४१७. जं वुत्तमसणपाणं, खाइमं साइमं तधा।
संचयं तु न कुव्वेज्जा, एयं दाणि विरोधितं॥

ऐसा कहा गया है कि अशन, पान, खादिम और स्वादिम का संचय नहीं करे—यह तुम्हारे कथन से विरुद्ध है।

२४१८. परिग्गहे निजुज्जंता, परिचत्ता तु संजता।
भारादिमादिया दोसा, पेहा पेहकतादि य॥

जो संयत परिग्रह में नियोजित होते हैं—वे परित्यक्त—श्रामण्य से परित्यक्त हो जाते हैं। वे भारवहन आदि दोषों से तथा प्रेक्षा, अप्रेक्षा आदि के भागी होते हैं।

२४१९. अधवा तप्पडिबंधा, अच्छंते नितियादओ।
अणुग्गहो गिहत्थाणं, सदा वि ताण होति उ॥

वे मुनि औषध-निचय से प्रतिबद्ध होकर वहीं रह जाते हैं, विहार नहीं करते। इस प्रकार वे नित्यवासी (स्थिरवासी) हो जाते हैं। गृहस्थों का सदा अनुग्रह (सदा औषधदान आदि रूप) उससे परित्यक्त जो जाता है, क्योंकि साधु उसका निचय करते हैं।

२४२०. पडिसिद्धा सन्निही जेहिं, पुव्वायरिएहि ते वि तु।
अण्णाणी उ कता एवं, अणवत्थापसंगतो॥

जिन पूर्वाचार्यों ने सन्निधि का प्रतिषेध किया है, उनको भी तुमने (अपने कथन से) अज्ञानी बना डाला। औषधिसंचय के अनवस्थाप्रसंग से अन्य मुनि अन्यान्य वस्तुओं की भी सन्निधि करने लगेंगे।

२४२१. वंतं निसेवितं होति, गेण्हंता संचयं पुणो।
मिच्छत्तं न जधावादी, तधाकारी भवंति उ॥

संचय की वृत्ति का पुनः संग्रहण करने पर वांत का निसेवन किए जैसा होता है तथा 'यथावादी तथाकारी' न होने पर मिथ्यात्व का प्रसंग आता है।

२४२२. एते अन्ने य जम्हा उ, दोसा होंति सवित्थरा।
तम्हा ओसधमादीणं, संचयं तु न कुव्वए॥

जिससे ये तथा अन्य विस्तृत दोष होते हैं, इसलिए मुनि औषध आदि का संचय न करे।

२४२३. जदि दोसा भवंतेते, किं खु घेत्तव्वयं ततो।
समाधिठावणट्ठाए, भण्णती सुण तो इतो॥

यदि संचय से ये सारे दोष होते हैं तो फिर समाधि की स्थापना के लिए उसका ग्रहण क्यों किया जाता है? आचार्य कहते हैं—यह मैं जो कहता हूं, उसको सुनो।

२४२४. नियमा विज्जागहणं, कायव्वं होति दुविधदव्वं तु।
संजोगदिट्ठपाढी, असती गिहि-अण्णतित्थीहिं॥

आचार्य को नियमतः अनेक प्रकार की विद्याओं का ग्रहण करना चाहिए। दो प्रकार के द्रव्यों को (सदा साथ में) रखना चाहिए। उसे संयोगदृष्टपाठी[1] होना चाहिए। ऐसा न होने पर गृहस्थों से अथवा अन्यतीर्थिकों से चिकित्सा करानी होती है।

२४२५. चित्तमचित्तपरित्तं, मणंत-संजोइमं च इतरं च।
थावर-जंगम-जलजं, थलजं चेमादि दुविधं तु॥

दो प्रकार के द्रव्य—सचित्त अचित्त। अथवा परीत अनंतकायिक। अथवा सांयोगिक असांयोगिक। अथवा स्थावर जंगम। अथवा जलज स्थलज।

२४२६. जध चेव दीहपट्ठे, विज्जामंता य दुविधदव्वा य।
एमेव सेसएसु वि, विज्जा दव्वा य रोगेसु॥

जिस प्रकार सर्पदंश के निवारण के लिए विद्या, मंत्र तथा द्विविध द्रव्यों का ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार अन्य रोगों के लिए भी विद्या, द्रव्य आदि ग्रहण करने चाहिए।

२४२७. संजोगदिट्ठपाढी, हीणधरंतम्मि छग्गुरू होंति।
आणादिणो य दोसा, विराधण इमेहि ठाणेहिं॥

आचार्य को संयोगदृष्टपाठी होना चाहिए। यदि वैसा नहीं

१. जिसने द्रव्यों के अनेक संयोगों को देख लिया है, जान लिया है तथा तद्गत पाठों को पढ़ लिया हो, वह संयोगदृष्टपाठी होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है तो चार गुरुमास का प्रायश्चित, आज्ञा आदि दोष तथा इन स्थानों--कथ्यमान स्थानों की विराधना होती है।

२४२८. उप्पण्णे गेलण्णे, जो गणधारी न जाणति तिगिच्छं।
दीसंततो विणासो, सुहदुक्खी तेण तू चत्ता॥

जो गणधारी उत्पन्न रोग की चिकित्सा नहीं जानता, उसके देखते-देखते ही रोगी का विनाश हो जाता है तथा सुख-दुःख के लिए उपसंपन्न शिष्य तथा प्रतिच्छक सभी उस गणधारी को छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं।

२४२९. आतुरत्तेण कायाणं, विसकुंभादि घातए।
डाहे छेज्जे य जे अण्णे, भवंति समुवद्दवा॥
२४३०. एते पावति दोसा, अणागतं अगहिताय विज्जाए।
असमाही सुयलंभं, केवललंभं तु उप्पाए॥

मुनि विषकुंभ आदि (लूता) रोग से व्याकुल होकर विषकुंभ की घात के लिए काय (पानी आदि) का समारंभ करता है। दाह, छेद (सर्पदंश के स्थान का छेदन करना) आदि अन्यान्य समुपद्रव उपस्थित होते हैं। उन उपद्रवों के उपशमन के लिए जिसने पहले ही अनेक विद्याओं का ग्रहण नहीं किया है उसके ये दोष उत्पन्न होते हैं। उससे असमाधिमरण हो सकता है। यदि वह चिरकाल तक जीवित रहता तो श्रुत का लाभ प्राप्त कर सकता था और केवलज्ञान भी उत्पन्न हो सकता था।

२४३१. इह लोगियाण परलोगियाण लद्धीण फेडितो होति।
इहलोगे मोसादी, परलोगेऽणुत्तरादीया॥

असमधिमरण से इहलौकिक और पारलौकिक लब्धियों से वह वंचित हो जाता है। इहलौकिक लब्धियां हैं--आमर्ष आदि और पारलौकिक लब्धियां हैं--अनुत्तर देवलोक- लवसत्तम की प्राप्ति।

२४३२. असमाधीमरणेणं, एवं सव्वासि फेडितो होति।
जह आउगपरिहीणा, देवा लवसत्तमा जाता॥
२४३३. सत्तलवा जदि आउं, पहुप्पमाणं ततो तु सिज्झंतो।
तत्तियमेत्त न भूतं, तो ते लवसत्तमा जाता॥

असमाधिमरण से सभी लब्धियों से विरहित होना पड़ता है। जैसे आयुष्क की परिहानि से देव लवसप्तम बने। यदि सात लव मात्र का आयुष्य अधिक होता तो वे देव न बनकर सिद्धिगति को प्राप्त हो जाते। किंतु उतना मात्र भी आयुष्य नहीं रहा अतः वे लवसप्तम देव बने।

२४३४. सव्वट्ठसिद्धिनामे, उक्कोसठितीय विजयमादीसु।
एगावसेसगब्भा, भवंति लवसत्तमा देवा॥

अनुत्तर विमान के विजय आदि सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्कृष्टस्थिति वाले तथा जिनका एक भव शेष रहा हो वे लवसप्तम देव होते हैं।

२४३५. तम्हा उ सपक्खेणं, कातव्व गिलाणगस्स तेगिच्छं।
विवक्खेण न कारेज्ज, एवं उदितम्मि चोदेति॥

विपक्ष से चिकित्सा कराने में दोष है, इसलिए ग्लान की चिकित्सा सपक्ष में होनी चाहिए, विपक्ष में नहीं करानी चाहिए--इस प्रकार आचार्य का कथन होने पर शिष्य कहता है--

२४३६. सुत्तम्मि अणुण्णातं, इह इं पुण अत्थतो निसेधेह।
कायव्व सपक्खेणं, चोदग सुत्तं तु कारणियं॥

सूत्र में विपक्ष से वैयावृत्त्य करवाना अनुज्ञात है, अब अर्थ से उसका निषेध किया जाता है। सूत्र में है--सपक्ष से चिकित्सा करवानी चाहिए, तब सूत्र और अर्थ में विरोध आता है। आचार्य कहते हैं--विरोध नहीं है। वत्स! यह सूत्र कारणिक है।

२४३७. वेज्जसपक्खाणऽसती,
गिहि-परतित्थी उ तिविधसंबंधी।
एमेव असंबंधी,
असोयवादेतरा सव्वे॥

सपक्ष वैद्य के अभाव में गृहस्थ, परतीर्थक अथवा तीन प्रकार के संबंधी--स्थविर, तरुण और मध्यम से भी चिकित्सा कराई जा सकती है। इसी प्रकार असंबंधी से भी चिकित्सा विहित है। ये सभी दो प्रकार के होते हैं--शौचवादी और अशौचवादी। पहले अशौचवादी से, उसके अभाव में शौचवादी से भी।

२४३८. एतेसिं असतीए,
गिहि-भगिणि परतित्थिगी तिविहभेदा।
एतेसिं असतीए,
समणी तिविधा करे जतणा॥

पूर्वगाथा में निर्दिष्ट व्यक्तियों के अभाव में गृहस्थ--माता, भगिनी आदि से उनके अभाव में पारतीर्थिकी--तीन प्रकार (स्थविर, मध्यम और तरुण) से चिकित्सा करवाए। इन सबके अभाव में तीन प्रकार की श्रमणियों (स्थविरा, मध्यमा और तरुणी) से यतनापूर्वक चिकित्सा कराए।

२४३९. दूती अद्धाए ता, वत्थे अंतेउरे य दब्भे वा।
वियणे य तालवंटे, चवेड ओमज्जणा जतणा॥

दूतविद्या, आदर्शविद्या, वस्त्रविद्या, आंतःपुरिकीविद्या, दर्भविद्या, व्यजनविद्या, तालवृंतविद्या, चापेटीविद्या--यह अपमार्जना यतना है।

२४४०. दूयस्सोमाइज्जइ, असती अद्धाग परिजवित्ताणं।
परिजवितं वत्थं वा, पाउज्जइ तेण वोमाए॥
२४४१. एवं दब्भादीसुं ओमाएऽसंफुसंत हत्थेणं।
चावेडीविज्जाए व, ओमाए चेडयं दिंतो॥

दूतविद्या--रोगी के पास आये दूत का अंग प्रमार्जन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदर्शविद्या–आदर्श (कांच) में संक्रांत रोगी के प्रतिबिंब पर जाप करना।

वस्त्रविद्या–वस्त्र को मंत्रित कर रोगी को उससे प्रावृत करना अथवा उससे रोगी का प्रमार्जन करना।

दर्भविद्या–हाथ से स्पर्श न करते हुए दर्भ आदि से प्रमार्जन करना।

चापेटी विद्या–दूसरे के चपेटा मारने से रोगी स्वस्थ हो जाता है।

(ये विद्याएं प्रायः पुरुषों में होती है इसलिए यह यतनागम निर्ग्रंथों का जानना चाहिए।)

आंतःपुरिकीविद्या–रोगी का नाम लेकर अपने अंग का प्रमार्जन करना।

व्यजनविद्या–पंखे को अभिमंत्रित कर उससे रोगी पर पवन करना, प्रमार्जन करना।

तालवृंतविद्या–ताड के पंखे को अभिमंत्रित कर उससे रोगी का प्रमार्जन करना।

२४४२. एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होति नायव्वो।
विज्जादी मोत्तूणं, अकुसलकुसले य करणं च॥

यही यतनागम नियमतः श्रमणियों के भी ज्ञातव्य है। निर्ग्रंथी को विद्या आदि नहीं देनी चाहिए। यदि पूर्वगृहीत हो तो उसे छोड़कर। निर्ग्रंथ यदि अकुशल हो और निर्ग्रंथी कुशल हो तो उससे चिकित्सा करानी चाहिए।

२४४३. मंतो हवेज्ज कोई, विज्जा उ ससाहणा न दायव्वा।
तुच्छा गारवकरणं, पुव्वाधीता य उ करेज्जा॥

कोई ससाधन मंत्र हो अथवा विद्या निर्ग्रंथी को नहीं देनी चाहिए। क्योंकि वे स्वभाव से तुच्छ तथा गौरवबहुल होती हैं। यदि मंत्र और विद्या पूर्व अधीत हो तो प्रागुक्तयतना के क्रम से उसका प्रयोग करे।

२४४४. अज्जाणं गेलण्णे, संथरमाणे सयं तु कायव्वं।
वोच्चत्थ मासचउरो, लहु-गुरुगा थेरए तरुणे॥

आर्यिका यदि ग्लान के प्रयोजन में स्वयं समर्थ हो तो वह स्वयं चिकित्सा करे। इसी प्रकार निर्ग्रंथ भी निर्ग्रंथ की चिकित्सा स्वयं करे। इसमें विपर्यास करने पर यदि स्थविर कारक हो तो प्रायश्चित्त स्वरूप चार लघुमास तथा तरुणकारक हो तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२४४५. जिणकप्पिए न कप्पति, दप्पेणं अजतणाय थेराणं।
कप्पति य कारणम्मि, जयणाम गच्छे स सावेक्खो॥

जिनकल्पिक को स्वपक्ष अथवा परपक्ष से वैयावृत्त्य कराना नहीं कल्पता। स्थविरकल्पिक को दर्प से अर्थात् निष्कारण अयतना से वैयावृत्त्य कराना नहीं कल्पता। कारण में यतनापूर्वक कराना कल्पता है क्योंकि गच्छ में वह सापेक्ष होता है।

२४४६. चिट्ठति परियाओ से, तेण च्छेदादिया न पावेंति।
परिहारं च न पावति, परिहार तवो त्ति एगट्ठं॥

वैयावृत्त्य कराने से उसकी पर्याय वैसे ही रहती है। उसे छेद आदि प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होते। उसे परिहार तप भी प्राप्त नहीं होता। परिहार और तप एकार्थक हैं।

पांचवां उद्देशक समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छठा उद्देशक

२४४७. छेदण-दाहनिमित्तं, मंडलिडक्के य दीहगेलण्णे।
पाउग्गोसधहेउं, णायविधी सुत्तसंबंधो।

सर्पदंशस्थान के छेदन अथवा दाह के निमित्त तथा मंडलिसर्प के काटने से दीर्घकालीन ग्लानत्व के निवारण के लिए प्रायोग्य औषध के कारण ज्ञातविधि का ज्ञान आवश्यक होता है। उसके प्रतिपादन के लिए यह शुभारंभ है—यही सूत्र संबंध है।

२४४८. गेलण्णमधिकतं वा, गिलाणहेउं इमो वि आरंभो।
आगाढं व तदुत्तं, सहणिज्जतरं इमं होति॥

अथवा ग्लानत्व अधिकृत है। ग्लान हेतु के लिए यह सूत्रारंभ है। यह भी प्रकारांतर से सूत्रसंबंध है। अनन्तर सूत्र में आगाढ़ ग्लानत्व उक्त है। प्रस्तुत में ज्ञातविधि में गमन करने के कारण यह सहनीयतर होता है।

२४४९. अम्मा-पितिसंबंधो, पुव्वं पच्छा व संथुता जे तु।
एसा खलु णायविधी, णेगा भेदा य एक्केक्के॥

माता और पिता के द्वारा होने वाले संबंध अथवा पूर्वसंस्तुत तथा पश्चात् संस्तुत से होने वाले संबंध—यह ज्ञातविधि है। प्रत्येक के अनेक भेद हैं।

२४५०. नायविधिगमण लहुगा, आणादिविराधण संजमायाए।
संजमविराधणा खलु, उग्गमदोसा तहिं होज्जा॥

यदि विधिपूर्वक भी ज्ञातविधि में निष्कारणगमन करता है तो प्रायश्चित्त स्वरूप चार लघुक प्राप्त होते हैं तथा आज्ञा आदि दोष, संयमविराधना और आत्मविराधना होती है। जहां संयम-विराधना होती है वहां निश्चितरूप से आधाकर्म आदि दोष होते हैं।

२४५१. दुल्लभलाभा समणा, नीया नेहेण आहकम्मादी।
चिरआगयस्स कुज्जा, उग्गमदोसं तु एगतरं॥

ज्ञातिजन सोचते हैं—श्रमणों का लाभ दुर्लभ होता है। ये हमारे स्नेह से यहां आए हैं। यह सोचकर स्वजन चिरकाल से समागत इनके लिए आधाकर्म, उद्गम आदि दोष में से किसी एक को करता है।

२४५२. इति संजमम्मि एसा, विराधणा होतिमा उ आयाए।
छगलग सेणावति कलुण, रयणथाले य एमादी॥

इस प्रकार यह संयमविराधना होती है। आत्मविराधना में छगल का दृष्टांत, सेनापति के मर जाने पर करुण रुदन, रत्नस्थाल में उपहृत एवं आदि (इसका विस्तार अगली कुछेक गाथाओं में।)

२४५३. जध रण्णो सूयस्सा, मंसं मज्जारएण अक्खित्तं।
सो अहण्णो मंसं, मग्गति इणमो य तत्थातो॥
२४५४. कडुहंड पोट्टलीए, गलबद्धाए उ छगलओ तत्थ।
सूवेण य सो वहितो, थक्के आतो त्ति नाऊणं॥

राजा के सूपकार के पास पकाने के लिए मांस पड़ा था। एक मार्जार ने उसका हरण कर दिया। सूपकार भय से आकुल-व्याकुल होकर मांस की गवेषणा करने लगा। इतने में ही वहां एक छगलक आ गया। उसके गले में उपस्कर की पोटली बंधी हुई थी। सूपकार ने उसे यह सोचकर मार डाला कि यह छगलक उचित अवसर पर आया है।

२४५५. एवं अहण्णाइं, ताइं मग्गंति तं समंतेणं।
सो य तहिं संपत्तो, ववरोवित संजमा तेहिं॥

इस प्रकार सूपकार की भांति आकुल-व्याकुल होकर उस श्रमण के स्वजन उस श्रमण की चारों ओर से मार्गणा करते हैं। उसको वहीं आया हुआ देखकर वे स्वजन उसे नाना प्रकार से गृहस्वामी बनने के लिए प्रलोभित करते हैं। वह संयम से व्यपरोपित हो जाता है, भ्रष्ट हो जाता है।

२४५६. सेणावती मतो ऊ, भाय-पिया वा वि तस्स जो आसी।
अण्णो य नत्थि अरिहो, नवरि इमो तत्थ संपत्तो॥
२४५७. तो कलुणं कंदंता, बेंति अणाहा वयं विणा तुमए।
मा य इमा सेणावति, लच्छी संकामओ अन्नं॥
२४५८. तं च कुलस्स पमाणं, बलविरिए तुज्झऽहीणमंतं च।
पच्छावि पुणो धम्मं, काहिसि दे! ता पसीयाहि॥

स्वजन कहते हैं—सेनापति (गृहनायक) की मृत्यु हो गई। उसके जो पिता और भाई थे, वे भी मर गए। अब उनके घर में कोई नायकत्व का वरण करने योग्य नहीं है। तुम ही उसके योग्य हो और अब तुम सहजरूप से यहां आ गए हो। वे करुण क्रंदन करते हुए कहते हैं—तुम्हारे बिना हम अनाथ हैं। नायकत्व की यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्मी अन्य पुरुष में संक्रांत न हो जाए। तुम इस कुल के प्रधान हो। यह बल–हस्ती, अश्व आदि तथा वीर्य–आंतरिक उत्साह तुम्हारे अधीन है। धर्म तो बाद में भी किया जा सकेगा। हम पद के लिए प्रार्थना करते हैं। तुम गृहनायक का पद लेकर हमें अनुगृहीत करो।

२४५९. एवं कारुण्णेणं इड्ढीय तु लोभितो तु सो तेहिं।
ववरोविज्जति ताधे, संजमजीवाउ सो तेहिं॥

इस प्रकार स्वजनों के कारुण्य और ऋद्धि से प्रलुब्ध होकर वह श्रमण संयमजीवन से व्यपरोपित हो जाता है, च्युत हो जाता है।

२४६०. अविभवअविरेगेणं, विणिग्गतो पच्छ इड्ढिमं जातं।
थाल वत्थूण पुण्णं, उवणेंति गेण्हिमेतं ति॥

कदाचित् वह श्रमण दरिद्रता के कारण श्रमण बना हो अथवा संपत्ति का बंटवारा न किए जाने पर घर से निकल कर प्रव्रजित हो गया हो। उसके श्रमण बन जाने पर स्वजन ऋद्धिमान हो गए हों। उस श्रमण को अपने मध्य देखकर स्वजन स्थाली को रत्नों से पूर्णरूप से भरकर उसके सामने उपहृत करते हैं और प्रार्थना करते हैं–यह उपहार स्वीकार करो।

२४६१. तस्स वि दट्ठूण तयं,अह लोभकली ततो उ समुदिण्णो।
वोरवितो संजमाउ, एते दोसा हवंति तहिं॥

उस रत्नथाल को देखकर साधु के मन में लोभ की कली समुदीर्ण होती है और वह संयम से व्यपरोपित–च्युत हो जाता है। ये दोष ज्ञातविधिगमन के कारण प्राप्त होते हैं।

२४६२. अधवा न होज्ज एते, अण्णे दोसा हवंति तत्थेमे।
जेहिं तु संजमातो, चालिज्जति सुट्ठितो ठियओ॥

अथवा उपरोक्त दोष न भी हों किंतु वहां ये दोष होते हैं। इन दोषों से सुस्थितस्थितिवाला मुनि भी संयम से चालित हो जाता है।

२४६३. अक्कंदठाणससुरे, उव्वरए पेल्लणाय उवसग्गे।
पंथे रोवण भतए, ओभावण अम्ह कम्मकरा॥

२४६४. छाघातो अणुलोमे, अभिजोग्ग विसे सयं च ससुरेणं।
पंतवण बंधरुंभण, तं वा ते वाऽतिवायाए॥

इन दोषों के ग्यारह द्वार हैं–१. आक्रंदनस्थान २. श्वसुर द्वारा अपवरक में डाल देना ३. प्रेरणा ४. उपसर्ग ५. मार्ग में भार्या द्वारा रुदन ६. तिरस्कार–यह हमारा कर्मकर था ७. छगलघात ८. अनुलोम उपसर्ग ९. अभियोग १०. विष ११. स्वयं श्वसुर द्वारा प्रांतापण, बंध, रोधन। वह श्वसुर को मार देता है अथवा श्वसुर आदि उसको मार देते हैं। (इन सबकी व्याख्या अगले श्लोकों में।)

२४६५. दीसंतो वि हु नीया, पव्वयहियय पि संपकप्पंति।
कलुणकिवणाणि किं पुण, कुणमाणा एगसेज्जाए॥

श्रमण के ज्ञातविधि में जाने पर दृश्यमान स्वजन भी उस पर्वतहृदय श्रमण को संयम से प्रकंपित कर देते हैं। एक ही वसति में वे स्वजन करुण-कृपण रोदन करते हुए श्रमण को संयमच्युत कर देते हैं।

२४६६. अक्कंदट्ठाणठितो, तेसिं सोच्चा तु नायगादीणं।
पुव्वावरत्त रोवण, जाय ! अणाहा वयं कोइ॥

उस आक्रंदनस्थान में स्थित साधु पूर्वरात्र और अपररात्र में ज्ञातक आदि का करुण-कृपण रुदन कि हम अनाथ हो जायेंगे, यह सुनकर कोई मुनि प्रव्रज्या को छोड़ देता है।

२४६७. महिलाए समं छोढुं, ससुरेणं ढक्किंतो तु उव्वरए।
नातविधिमागतं वा, पेल्ले उब्भामिगसगाए॥

साधु को आया जानकर श्वसुर अपनी पुत्री के साथ उस साधु को एक अपवरक में डालकर उसको ढंक देता है। इस प्रकार उपसर्गित होकर वह साधु संयम को छोड़ देता है। ज्ञातविधि से आयात साधु को देखकर स्वजन वर्ग उसकी उद्भ्रामिक भार्या से प्रव्रज्या त्याग की प्रेरणा दिलाते हैं।

२४६८. मोहुम्मायकराइं, उवसग्गाइं करेति से विरहे।
भज्जा जेहिं तरुविव, वातेणं भज्जते सज्जं॥

उस की विरह से व्यथित भार्या मोहोन्मादकारक (आलिंगन आदि) उपसर्ग करती है। उनसे वह मुनि हवा के झोंके से वृक्ष की भांति तत्काल टूट जाता है, संयम से त्यक्त हो जाता है।

२४६९. कइवेण सभावेण व, भयओ भोइं पहम्मि पंतावे।
हियय अमुंडितं मे, भयवं पंतावए कुवितो॥

पत्नी स्वभाव से अथवा कपट से अथवा भय से भृतक के साथ चली गई। मार्ग में मुनि बने अपने पति को देखकर रोती हुई बोली–भगवन्! मेरा हृदय अभी भी अमुंडित है। यह सुनकर वह पतिरूप मुनि कुपित होकर उस भृतक पर प्रहार कर सकता है।

२४७०. कम्महतो पव्वइतो, भयओ एयम्ह आसि मा वंद।
उब्भामकए वोहे, छाघातं तस्स सा देति॥

प्रव्रज्या से पूर्व यह हमारा कर्मकर था। कर्मभग्न होकर भय से यह प्रव्रजित हो गया। इसको वंदना न करें। उद्भ्रामक भिक्षाचार्य में गए उस मूर्ख भृतक साधु को देखकर उसकी भार्या उसे छाघात देती है अर्थात् छाग की भांति उसका घात करती है।

२४७१. मा छिज्जउ कुलतंतू, धणगोत्तारं तु जणय मेगसुतं।
वत्थऽन्नमादिएहिं, अभिजोग्गेतुं च तं नेति॥

अथवा उस श्रमण को ज्ञातिजन कहते हैं–कुल की संतान-परंपरा छिन्न न हो, इसलिए धन की रक्षा करने वाले एक पुत्र को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पैदा कर पुनः प्रव्रजित हो जाना। (यह सुनकर वह मुनि उत्प्रव्रजित हो जाता है।) वस्त्र, अन्न आदि से उस श्रमण को अभियोजित कर—वश में कर स्वजन उसको अपने साथ खींच लाते हैं।

२४७२. नेच्छंति देवरा मं, जीवंति इमम्मि इति विसं देज्जा।
अण्णेण व दावेज्जा, ससुरो वा से करेज्जा इमं॥

२४७३. पंतवण बंधरोहं, तस्स वि णीएल्लगा व खुब्भेज्जा।
अधवा कसाइतो ऊ, सो वऽतिवाएज्ज एक्कतरं॥

उस ज्ञातविधि से आए हुए श्रमण को देखकर उसकी भार्या सोचती है—इसके जीवित रहते देवर मुझे पत्नी के रूप में नहीं चाहते, इसलिए इसको मार डालूं। यह सोचकर वह उसे विष देकर अथवा दिलवाकर मार डालती है।

श्वसुर स्वयं कुपित होकर उस पर प्रहार करता है, उसे बंधन में डाल देता है अथवा घर और नगर से निकलने पर प्रतिबंध कर देता है। उस श्रमण के स्वजन उसकी यह दशा देखकर क्षुब्ध हो जाते हैं। अथवा वह श्रमण स्वयं कषायित होकर श्वसुर अथवा अन्य किसी को मार डालता है।

२४७४. एक्कम्मि दोसु तीसु व, मूलऽणवट्ठो तधेव पारंची।
अध सो अतिवाइज्जति, पावति पारंचियं ठाणं॥

श्रमण द्वारा एक का अतिपात होने पर मूल प्रायश्चित्त, दो और तीन का अतिपात होने पर क्रमशः अनवस्थाप्य और पारांची प्रायश्चित्त आता है। वह साधु यदि अतिपातित होकर ज्यों-त्यों जीवित रहता है तो वह पारांचित स्थान को प्राप्त होता है।

२४७५. अहवावि धम्मसद्धा, साधू तेसिं घरे न गेण्हंती।
उग्गमदोसादिभया, ताधे नीता भणंति इमं॥

अथवा धर्मश्रद्धान्वित साधु उन ज्ञातिजनों के घर से कुछ भी ग्रहण नहीं करते क्योंकि उन्हें उद्गम आदि दोषों का भय लगता है। तब स्वजन उन्हें कहते हैं—

२४७६. अम्हं अणिच्छमाणो, आगमणे लज्जणं कुणति एसो।
ओभावण हिंडंतो, अण्णे लोगो व णं भणति॥

२४७७. णीयल्लस्स वि भत्तं, न तरह दाउं ति तुब्भ किवणं ती।
गेहे भुंजसु वुत्ते, भणाति नो कप्पियं भुंजे॥

यह श्रमण हमारे घरों से कुछ भी लेना न चाहता हुआ अपने आगमन से हमारा अपयश ही कराता है। अन्य घरों में भिक्षा के लिए घूमता हुआ यह हमारी अपभ्राजना कराता है।अथवा लोग इस प्रकार कहते हैं—'देखो, ये स्वजन कितने कृपण हैं कि अपने ज्ञाती मुनि को भी भक्तपान दे नहीं सकते।' यह सुनकर स्वजन मुनि के पास आकर कहते हैं—मुनिवर्य! आप हमारे घर में ही भोजन करें। (भिक्षा के लिए न घूमें) यह सुनकर श्रमण कहता है—मैं तुम्हारे घर में भोजन नहीं करूंगा। मैं कल्पिक आहार का ही उपभोग करूंगा।

२४७८. किं तं ति खीरमादी, दामो दिन्ने य भाइभज्जाओ।
बेंति सुते जायंते, पडिता णे कर बहू पुत्ता॥

२४७९. दधि-घय-गुल-तेल्लकरा,
तक्ककरा चेव पाडिया अम्हं।
रायकर पेल्लिता णं,
समणकरा दुक्करा वोढुं॥

स्वजनों ने पूछा—वह कल्पिक क्या है? श्रमण ने कहा—जो यथाकृत है वह कल्पिक है। स्वजन बोले—हम आपको यथाकृत क्षीर आदि देंगे। श्रमण को क्षीर आदि देने के पश्चात् श्रमण की भोजाई क्षीर आदि मांगने वाले अपने पुत्रों से कहती है—हे पुत्रो! हमारे ऊपर अनेक कर लगे हुए हैं। जैसे—दधिकर, घृतकर, गुडकर, तैलकर, तक्रकर—ये कर तो हैं ही। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के राज्यकरों से हम प्रेरित हैं। इन सबमें श्रमणकर का वहन करना दुष्कर होता है।

२४८०. एते अण्णे य तहिं, नातविधीगमणे होंति दोसा उ।
तम्हा तु न गंतव्वं, कारणजाते भवे गमणं॥

ज्ञातविधिगमन में उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त अन्य दोष भी होते हैं। इसलिए ज्ञातविधि में नहीं जाना चाहिए—यह उत्सर्ग विधि है। अपवादस्वरूप कारण होने पर जाया जा सकता है।

२४८१. गेलण्णकारणेणं, पाउग्गाऽसति तहिं तु गंतव्वं।
जे तु समत्थुवसग्गे, सहिउं ते जंति जतणाए॥

ग्लानत्व के कारण प्रायोग्य औषध आदि की प्राप्ति के अभाव में ज्ञातविधि में जाया जा सकता है। परंतु वहां वे ही जाएं जो उपसर्गों को सहन करने में समर्थ हों। वे वहां यतनापूर्वक जा सकते हैं।

२४८२. बहिय अणापुच्छाए,लहुगा लहुगो य दोच्चऽणापुच्छा।
आयरियस्स वि लहुगा, अपरिच्छित पेसवेंतस्स॥

स्थविरों को पूछे बिना यदि श्रमण बाह्य ज्ञातविधि में जाता है तो उसे चार लघुक का प्रायश्चित्त तथा दूसरी बार बिना पूछे जाने पर एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। आचार्य भी यदि अपरीक्षित श्रमणों को भेजते हैं तो उन्हें भी चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२४८३. तम्हा परिच्छितव्वो, सज्झाए तह य भिक्खऽभावे य।
थिरमथिरजाणणट्ठा, सो उ उवाएहिमेहिं तु॥

इसलिए स्वाध्याय और भिक्षाभाव में परीक्षा करनी चाहिए। स्थिर है अथवा अस्थिर—इसको जानने के लिए इन उपायों से उसकी परीक्षा की जाए।

२४८४. चरणकरणस्स सारो, भिक्खायरिया तधेव रज्झाओ।
एत्थ परितम्ममाणं, तं जाणसु मंदसंविग्गं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरण-करण[1] का सार है—भिक्षाचर्या और स्वाध्याय। जो इनके आचरण में परितप्त होता है, क्लेश मानता है, उसको मंदसंविग्न जानना चाहिए।

२४८५. चरणकरणस्स सारो, भिक्खायरिया तधेव सज्झाओ।
एत्थ उ उज्जममाणं, तं जाणसु तिव्वसंविग्गं॥

चरण-करण का सार है—भिक्षाचार्य और स्वाध्याय। जो इनमें उद्यमशील है उसे तीव्रसंविग्न जानना चाहिए।

२४८६. कइएण सभावेण य, अण्णस्स य साहसे कहिज्जंते।
मात-पिति-भात-भगिणी, भज्जा-पुत्तादिएसुं तु॥

(यह उपसर्ग—सहिष्णु है या नहीं—यह परीक्षा करने के लिए) माता, पिता, भाई, भगिनी, भार्या, पुत्र आदि द्वारा किए जाने वाले रुदन आदि भयोत्पादक स्थितियों को अन्य व्यक्ति मायापूर्वक अथवा स्वाभाविक रूप से इस प्रकार कहता है—

२४८७. सिरकोट्टणकलुणाणि य, कुणमाणाइं तु पायपडिताइं।
अमुगेण न गणियाइं, जो जंपति निप्पिवासो त्ति॥

अमुक श्रमण के माता-पिता आदि द्वारा शिर:कुट्टन, करुण रोदन, करुण भाषण आदि किए जाने पर भी तथा पैरों में गिर जाने पर भी उसने उनकी परवाह नहीं की। इस प्रकार बताए जाने पर जो श्रमण ऐसे कहता है—वह श्रमण निष्पिपासित (कठोरहृदयवाला) होता है। (उसके साथ बात भी नहीं करनी चाहिए।)

२४८८. सो भावतो पडिबद्धो, अप्पडिबद्धो वएज्ज जो एवं।
सोइहिति केत्तिए तू, नीया जे आसि संसारे॥

जो ज्ञातिजनों से प्रतिषद्ध होता है, वह उपसर्गों को सहन नहीं कर सकता। जो अप्रतिबद्ध होता है वह इस प्रकार कहता है—(संसार के सभी जीव सभी के पुत्र आदि रूप में उत्पन्न हो चुके हैं।) संसार में अनंत निजक हैं—ज्ञातिजन हैं। वह किन-किन का शोक करेगा! (ऐसा अप्रतिबद्ध श्रमण ही उपसर्ग सहन करने में समर्थ होता है।)

२४८९. मुहरागमादिएहि य, तेसिं नाऊण राग-वेरग्गं।
नाऊण थिरं ताधे, ससहायं पेसवेंति ततो॥

जो श्रमण ज्ञातविध में जाना चाहते हैं, उनके मुखराग आदि के आधार पर राग और वैराग्य को जानकर, स्थिर और अस्थिर को जानकर आचार्य उनको ससहाय भेजते हैं अथवा जो स्थिर हैं उसको सहायक के रूप में भेजते हैं।

२४९०. अबहुस्सुतो अगीतो, बहिरसत्थेहि विरहितो इतरो।
तव्विवरीते गच्छे, तारिसगसहायसहितो व॥

जो अबहुश्रुत और अगीतार्थ हो, जो बाह्य शास्त्रों के ज्ञान से विरहित हो, वह ज्ञातविधि में न जाए। किंतु जो इनसे विपरीत हो अर्थात् बहुश्रुत और गीतार्थ हो, बाह्य शास्त्रों का ज्ञाता हो वह जा सकता है। अथवा ऐसे सहायक के साथ जा सकता है।

२४९१. धम्मकही-वादीहिं, तवस्सि-गीतेहि संपरिवुडो उ।
णेमित्तिएहि य तधा, गच्छति सो अप्पछट्ठो उ॥

धर्मकथी, वादी, तपस्वी, गीतार्थ तथा नैमित्तिक—इन पांचों से परिवृत होकर वह जाए। वे यदि अधिक न हों तो एक-एक को साथ ले, स्वयं छठे रूप में ज्ञातविधि में जाए।

२४९२. पत्ताण वेल पविसण, अध पुण पत्ता पगे हवेज्जाहि।
तं बाहिं ठावेउं, वसहिं गिण्हंति अन्नत्थ॥

२४९३. पडिवत्तीकुसलेहिं, सहितो ताधे उ वच्चए तहियं।
वास-पडिग्गहगमणं, नातिसिणेहासणग्गहणं॥

यदि भिक्षावेला में स्थान प्राप्त हो जाए तो सभी एक साथ प्रवेश करे। यदि प्रभात में स्थान प्राप्त हो तो जो साथ में स्वजन वाला श्रमण है, उसे बाहिर स्थापित कर अन्यत्र वसति ग्रहण करें। वसति ग्रहण करने के पश्चात् बहि:स्थित मुनि प्रतिपत्तिकुशल मुनियों के साथ उस वसति में चला जाए। वहां तब तक आवास करे जब तक भिक्षावेला न हो जाए। भिक्षावेला के समय पात्र लेकर वहां से गमन कर दे। स्वजनों के प्रति अतिस्नेह न दिखाए। वहां जाकर आसन ग्रहण करे।

२४९४. सयमेव उ धम्मकधा, सासग पंते य निम्मुहे कुणति।
अपडुप्पण्णे य तहिं, कहेति तल्लद्धिओ अण्णो॥

यदि वह स्वज्ञातिक मुनि प्रांत व्यक्तियों को निरुत्तर करने में समर्थ हो तो वह स्वयं ही धर्मकथा करे। यदि वह अप्रत्युपन्न हो तो अन्य मुनि जो धर्मकथा की लब्धि से संपन्न हो उसको धर्मकथा के लिए कहे।

२४९५. मलिया य पीढमद्दा, पव्वज्जाए य थिरनिमित्तं तु।
थावच्चापुत्तेणं, आहरणं तत्थ कायव्वं॥

मलिय (मर्दित) तथा पीठमर्द (मुंह पर प्रिय बोलने वाले)—इनको प्रव्रज्या में स्थिर करने के लिए धर्मकथा के प्रसंग में थावच्चापुत्र का उदाहरण कहना चाहिए।

२४९६. कहिए य अकहिए वा, जाणणहेउं अइंति भत्तघरं।
पुव्वाउत्तं तहियं, पच्छाउत्तं व जं तत्थ॥

धर्मकथा करने या न करने पर मुनि यह जानने के लिए भक्तगृह—रसोईघर में प्रवेश करते हैं कि जो भोजन उपस्कृत हो रहा है वह पूर्वायुक्त(पूर्वप्रवृत्त) है अथवा पश्चाद् आयुक्त (साधुओं

---

१. चरण—वयसमणधम्मसंजमवेयावच्चं च बंभगुत्तीतो।
नाणादितियं तवो कोहनिग्गहा इइ चरणमेयं॥
करण—पिंडविसोही समिति भावणपडिमा य इंदियनिरोहो।
पडिलेहणगुत्तीतो अभिग्गहा चेव करणं तु॥
(व्य.वृ.गाथा २४८४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आने के बाद) है—साधुओं के निमित्त किया जा रहा है।

२४९७. पुव्वाउत्तारुहिते, केसिंचि समीहितं तु जं जत्थ।
एते न होंति दोण्णि वि, पुव्वपवत्तं तु जं जत्थ॥

कुछ आचार्य मानते हैं कि पूर्वायुक्त वह है जो चूल्हे पर पकाने के लिए आरोपित है और कुछ यह मानते हैं कि जो पकाने के लिए इच्छित है, वह पूर्वायुक्त है। ये दोनों प्रमाण नहीं हो सकते। जो उपस्कार के लिए पूर्वप्रवृत्त है वह पूर्वायुक्त है।

२४९८. पुव्वारुहिते य समीहिते य किं छुब्भते न खलु अण्णं।
तम्हा खलु जं उचितं, तं तु पमाणं न इतरं तु॥

चूल्हे पर पूर्व आरोपित अथवा पाक के लिए समीहित सामग्री में क्या दूसरी सामग्री नहीं डाली जा सकती? इसलिए जो उचित परिभाषा है, वह प्रमाण है, दूसरी नहीं।

२४९९. बालगपुच्छादीहिं, नाउं आयरमणायरेहिं च।
जं जोग्गं तं गेण्हति, दव्वपमाणं च जाणेज्जा॥

बालकों की पृच्छा आदि से तथा आदर-अनादर से योग्य-अयोग्य को जानकर जो योग्य हो—श्रमण के लिए प्रायोग्य हो उसको ग्रहण करे। वहां के द्रव्य प्रमाण को भी अच्छी तरह से जान ले।[1]

२५००. दव्वप्पमाणगणणा, खारित-फोडिय तधेव अद्धा य।
संविग्ग एगठाणा, अणेगसाधूसु पन्नरस॥

द्रव्यप्रमाण अर्थात् द्रव्यगणना, क्षारित, स्फोटित तथा अद्धाकाल, संविग्न एकस्थान—एक संघाटात्मक, अनेक साधु, पंद्रह दोष। (इस गाथा की व्याख्या अगली गाथाओं में।)

२५०१. सत्तविधमोदणो खलु, साली-वीही य कोद्दव-जवे य।
गोधुम-रालग-आरण्ण, कूरखज्जा य णेगविधा॥

वह यह जाने कि यहां सात प्रकार का ओदन (कूर) होता है—शालि, ब्रीहि, कोद्रव, यव, गोधूम, रालक तथा आरण्य-ब्रीहिकूर। खाद्य के अनेक प्रकार हैं।

२५०२. सागविहाणा य तधा, खारियमादीणि वंजणाइं च।
खंडादिपाणगाणि य, नाउं तेसिं तु परिमाणं॥

शाकविधान, क्षारित आदि व्यंजन, खंड आदि पानक—इनके परिमाण को जानकर (मुनि भिक्षा ले।)

२५०३. परिमितभत्तगदाणे, दसुवक्खडियम्मि एगभत्तट्ठो।
अपरिमिते आरेण वि, गेण्हति एवं तु जं जोग्गं॥

कोई परिमित भक्तक दान देता है, इस प्रकार के निश्चय में दस व्यक्तियों के लिए उपस्कृत भक्त में से एक भक्तार्थ—एक के योग्य भक्तार्थ ग्राह्य होता है। अपरिमित भक्तक दान में (नौ, आठ, सात) के लिए उपस्कृत भक्त में से जो योग्य हो वह पर्याप्त ग्रहण करे।

२५०४. अद्धा य जाणियव्वा, इहरा ओसक्कणादयो दोसा।
संविग्गे संघाडो, एगो इतरेसु न विसंति॥

अद्धा अर्थात् भिक्षावेला भी ज्ञातव्य होती है अन्यथा अवष्वष्कण आदि दोष होते हैं। संविग्न मुनियों का एक संघाटक जहां प्रवेश करता है वहां जाए और जहां इतर अर्थात् अनेक संघाटक जाते हों, वहां न जाए।

२५०५. तहियं गिलाणगस्सा, अधागडाई हवंति सव्वाइं।
अब्भंगसिरावेधो, अपाणछेयावणेज्जाइं॥

(कोई वैद्य साधु के स्वजनग्लान की चिकित्सा कर रहा है) वहां यदि ग्लान मुनि को ज्ञातविधि में ले जाया जाता है वहां ग्लान का अभ्यंग, शिरोवेध, अपानकर्म, छेदापनीय अंगों को छेदना आदि सभी कर्म यथाकृत होते हैं अर्थात् पुरःकर्म, पश्चात्कर्म रहित होते हैं।

२५०६. जइ नीयाण गिलाणो,
नीओ वेज्जो व कुणति अण्णस्स।
तत्थ हु न पच्छकम्मं,
जायति अब्भंगमादीसु॥

२५०७. पुव्वं च मंगलट्ठा, तुप्पेउं जइ करेति गिहियाणं।
सिरवेध-वत्थिकम्मादिएसु न उ पच्छकम्मेयं॥

यदि वैद्य स्वजनों के संबंधी ग्लान की अथवा अन्य ग्लान की चिकित्सा करता है वहां अभ्यंग आदि में पश्चात्कर्म नहीं होता क्योंकि पहले यदि मंगल के लिए साधु का अभ्यंग कर फिर गृहस्थों का करता है तो यह पश्चात्कर्म नहीं है। इसी प्रकार शिरोवेध, वस्तिकर्म आदि क्रियाओं में भी जानना चाहिए।

२५०८. अत्तट्ठा उवणीया, ओसधमादी वि होंति ते चेव।
पत्थाहारो य तहिं, अधाकडो होति साधुस्सा॥

गृहस्थ अपने लिए जो औषधि आदि लाता है, वे सब साधु के भी काम आ सकती है। गृहस्थ के लिए आनीत पथ्याहार भी साधु के लिए यथाकृत ही होता है।

२५०९. अगिलाणे उ गिहिम्मी, पुव्वुत्ताए करेंति जतणाए।
अण्णत्थ पुण अलंभे, नायविधिं नेंति अतरंत॥

यदि कोई गृहस्थ ग्लान हो तो ग्लान मुनि की चिकित्सा पूर्वोक्त यतना से की जाती है। ग्लान के लिए अन्यत्र औषध लाभ न मिलने पर ज्ञातविधि में ग्लान को ले जाया जाता है।

२५१०. अधुणा तु लाभचिंता, तत्थ गयाणं इमा भवति तेसिं।
जदि सव्वेगायरियस्स, होंति तो मग्गणा नत्थि॥

ज्ञातविधि में गए हुए मुनियों की यह लाभचिंता है। यदि सभी मुनि एक आचार्य के हो तो उनमें लाभचिंता की मार्गणा नहीं होती।

---

१. कुटुम्ब कितना बड़ा है? अन्य भोजन करने वाले कितने हैं? कितना पकाया है? आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५११. संतासंतसतीए, अह अण्णगणा बितिज्जगा णीया।
तत्थ इमा मग्गणा उ, आभव्वे होति नायव्वा॥

सद्भाव अथवा असद्भाव[1] से अन्य गण के दूसरे साधुओं को भी साथ में लिया गया है तो आभाव्य विषयक यह मार्गणा होती है।

२५१२. जं सो उवसामेती, तन्निस्साए य आगता जे उ।
ते सव्वे आयरिओ, लभते पव्वावगो तस्स॥

ज्ञातविधि में आया हुआ मुनि जिसको उपशम भाव में ले जाता है अर्थात् प्रव्रज्यापरिणाम उत्पादित करता है, तथा जो मुनि उसकी निश्रा में आए हैं उन सबका जो लाभ है वह सारा ग्लान मुनि के प्रव्राजक आचार्य का होता है।

२५१३. जे पुण अधभावेणं, धम्मकही सुंदरो त्ति वा सोउं।
उवसामिया य तेहिं, तेसिं चिय ते हवंती उ॥

जो व्यक्ति स्वभावतः अथवा ये सुंदर प्रवचन करते हैं, ऐसा सोचकर धर्मकथा सुनने के लिए आते हैं वे धर्मकथा से उपशांत होकर प्रव्रज्या लेने के लिए तत्पर हो जाते हैं तो वे उस धर्मकथी के आभाव्य होते हैं।

२५१४. अण्णेहि कारणेहि व, गच्छंताणं तु जतण एसेव।
ववहारो सेहस्स य, ताइं च इमाइ कज्जाइं॥

अन्य कारणों से ज्ञातविधि में जाने वालों के लिए यह पूर्वोक्त यतना है। शैक्ष के लिए यही आभवन व्यवहार है। वे अन्य कार्य–कारण ये हैं–

२५१५. तवसोसिय अप्पायण, ओमेव असंथरेंत गच्छेज्जा।
रमणिज्जं वा खेत्तं, तिकालजोग्गं तु गच्छस्स॥

२५१६. वासे निच्चिक्खिल्लं, सीयलदव पउरमेव गिम्हासु।
सिसिरे य घणणिवाया, वसधी तह घट्ठमट्ठा य॥

२५१७. छिन्नमडंबं च तगं, सपक्खपरपक्खविरहितोमाणं।
पत्तेय उग्गहं ति य, काऊणं तत्थ गच्छेज्जा॥

तपः शोषित शरीरवाला मुनि अपने निर्वाह के लिए अथवा दुर्भिक्ष में वहां न रह सकने के कारण, गच्छ के लिए क्षेत्र रमणीय है, त्रिकालयोग्य है–वर्षाकाल में वहां चिक्खल्ल नहीं होता, ग्रीष्मऋतु में शीतल द्रव्य की प्रचुरता है, शिशिर ऋतु में अत्यंत निवात वसति प्राप्त होती है, वह भी घृष्ट-मृष्ट भलीभांति लीपि-पुति हुई होती है। अन्य क्षेत्र में जहां जाना है वह छिन्न- मंडप अर्थात् स्वजनवाला है, वह स्वपक्ष-परपक्ष द्वारा किए जाने वाले अपमान से विरहित है, वह क्षेत्र बाल, ग्लान आदि प्रत्येक के लिए उपष्टम्भ होता है–इन कारणों से वह श्रमण ज्ञातविधि में जाता है।

२५१८. उवदेसं काहामि य, धम्मं गाहिस्स पव्वयावेस्सं।
सड्ढाणि व वुग्गाहे, भिक्खुगमादी ततो गच्छे॥

मैं स्वजनों को धर्मोपदेश दूंगा, उनको श्रावक धर्म ग्रहण कराऊंगा, प्रव्रजित करूंगा, दानश्रद्धा के जो कुल हैं उनको भिक्षुक आदि व्युद्ग्राहित न कर दें–इन कारणों से वह ज्ञातविधि में जाता है।

२५१९. अतिसेसित दव्वट्ठा, नायविधिं वयति बहुसुतो संतो।
णेगा य अतिसया बहुसुतस्स एसो उ पस्सेसो॥

ग्लान के प्रायोग्य अतिशय द्रव्यों (शतपाक आदि तैल) के लिए बहुश्रुत मुनि ज्ञातविधि में जाता है। यह पूर्वसूत्र में प्रतिपादित है। प्रस्तुत सूत्र के बहुश्रुत के अनेक अतिशयों का उल्लेख है–यही पूर्वसूत्र से इसका प्रश्लेष–संबंध है।

२५२०. अण्णो वि अत्थि जोगो, असाधुदिट्ठीहि हीरमाणाणं।
वायादतिसयजुत्ता, तहियं गंतुं नियत्तेंति॥

पूर्वसूत्र के साथ प्रस्तुत का यह अन्य योग–संबंध भी है। जो स्वजन असाधुदृष्टियों–परतीर्थिक दृष्टियों से आहत हो रहे हों तो वादविद्या में अतिशय निपुण मुनि ज्ञातविधि में जाकर उनको कुदृष्टियों से निवर्तित करते हैं।

२५२१. पुणरवि भण्णति जोगो,नायविधिं गंतु पडिनियत्तस्स।
वसहिं विसतो सुत्तं, संसाहितुमागते वावि॥

पुनः सूत्र का योग संबंध बताया जाता है। ज्ञातविधि में जाकर परतीर्थिक अथवा वादी को जीतकर जो वसति में प्रवेश करता है–उससे संबंधित है प्रस्तुत सूत्र।

२५२२. बहि-अंतविवच्चासो, पणगं सागारि चिट्ठति मुहुत्तं।
बितियपदं विच्छिण्णे, निरुद्धवसहीय जतणाए॥

बहिः अंतः इनमें विपर्यास, पांच रात्रिदिन प्रायश्चित्त, गृहस्थ बाहर है, द्वितीयपद–अपवाद पद, विस्तृत वसति, निरुद्धवसति में यतनापूर्वक। (यह द्वार गाथा है। वर्णन आगे की गाथाओं में।)

२५२३. बाहिं अपमज्जंते, पणगं गणिणो उ सेसए मासो।
अप्पडिलेहदुपेहा, पुव्वुत्ता सत्तभंगा उ॥

आचार्य वसति के बाहर ही पैरों का प्रमार्जन करे। यदि न करे तो आचार्य को पांच दिन-रात का प्रायश्चित्त तथा शेष साधु यदि ऐसा नहीं करते हैं तो उनको एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। अप्रमार्जन तथा दुःप्रेक्षा से संबंधित पूर्वोक्त (कल्पाध्ययनोक्त) सातभंग होते हैं।

२५२४. बहि-अंतविवच्चासो, पणगं सागारिए असंतम्मि।
सागारियम्मि उ चले, अच्छंति मुहुत्तगं थेरा॥

सागारिक के अभाव में यदि प्रमार्जन विधि का विपर्यास होता है, बहिः की जाने वाली प्रमार्जना यदि अंतः में की जाती है तो आचार्य को पांच दिन-रात का प्रायश्चित्त आता है। यदि

१. सद्भावो नाम सन्तिसाधवः, परं न धर्मकथादिषु कुशलाः। असद्भावो मूलत एव न सन्तिसाधवः। (वृत्ति)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागारिक जो बाहर बैठा है वह चल है, मुहूर्त्तकाल में मात्र जाने वाला है, तो स्थविर मुहूर्त्तक (समतालमात्र अथवा समपदातिक्रमण) काल तक ठहरें।

२५२५. थिरवक्खित्ते सागारिए अणुवउत्ते पमज्जिउं पविसे।
निव्विक्खित्तुवउत्ते, अंतो तु पमज्जणा ताहे॥

जो सागारिक स्थित है, व्याक्षिप्त है तथा अनुपयुक्त है, उसके बाहर रहते आचार्य बाहर पैर प्रमार्जन कर वसति में प्रवेश करते हैं। जो सागारिक स्थिर है, अव्याक्षिप्त है तथा उपयुक्त है, उसके बाहर रहते आचार्य भीतर पैर का प्रमार्जन करते हैं। यह विहित है।

२५२६. आभिगहितस्स असती,
तस्सेव रयोहरणेणऽण्णतरे।
पाउंछणुण्णितेण व,
पुच्छंति अणण्णभुत्तेणं॥

किसी मुनि ने आचार्य के पादप्रोंछन का अभिग्रह ले रखा हो और प्रमार्जन की वेला में वह उपस्थित न हो तो कोई मुनि आचार्य के रजोहरण से अथवा और्णिक पादप्रोंछन, जो अन्य द्वारा काम में न लिया गया हो, उससे आचार्य का पाद-प्रमार्जन करे।

२५२७. विपुलाए अपरिभोगे, अप्पणोवासए व चिट्ठस्स।
एमेव य भिक्खुस्स वि, नवरिं बाहिं चिरतरं तु॥

यदि वसति विपुल हो, विस्तीर्ण हो तो आचार्य उस वसति के अपरिभोग वाले अवकाश में बैठकर पादों का प्रमार्जन करे। यदि वसति संकरी हो और वहां आचार्य के बिछौने का अवकाश हो तो वहां स्थित आचार्य के पादों का प्रमार्जन इस प्रकार करे जिससे धूली अन्य साधुओं पर न पड़े। भिक्षुओं के लिए भी यही विधि है। विशेष यह है कि यदि वसति के बाहर सागारिक बैठा हो तो चिरतर काल तक भी प्रतीक्षा करे। (यदि साधु वसति के बाहर पादप्रमार्जन कर भीतर प्रवेश करता है तो प्रायश्चित्त है मासलघु।)

२५२८. निग्गिज्झ पमज्जाही, अभणंतस्सेव मासियं गुरुणो।
पादरए खमगादी, चोदगकज्जे गते दोसा॥

वसति के भीतर स्वयं के पादप्रमार्जन करने के लिए तत्पर भिक्षु को आचार्य कहे–'आर्य! यतनापूर्वक पादप्रमार्जन करो।' यदि आचार्य ऐसा नहीं कहते तो मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। पादप्रमार्जन से क्षपक आदि धूली से भर सकते हैं। (शिष्य ने पूछा–आचार्य बाहर क्यों जाते हैं?) आचार्य कहते हैं–प्रयोजन होने पर बाहर न जाने से अनेक दोष होते हैं।

२५२९. तवसोसितो व खमगो,इड्ढिम-वुड्ढो व कोच्चिरो वावि।
मा भंडण खमगादी, इति सुत्त निगिज्झ जतणाए॥

तपस्या से शोषित शरीर वाला तपस्वी मुनि अथवा ऋद्धिमान् वृद्ध राजा आदि प्रव्रजित हो, अथवा कोई शैक्ष हो इनके ऊपर पादधूली गिरने पर ये रुष्ट होकर भंडन न करें इसलिए सूत्र में 'निगिज्झ जयणाए' ऐसा पाठ है, अर्थात् यतनापूर्वक प्रमार्जन करे।

२५३०.थाणे कुप्पति खमगो,किं चेव गुरुस्स निग्गमो भणितो।
भण्णति कुल-गणकज्जे, चेइयनमणं च पव्वेसु॥

स्थान पर क्षपक पादधूली के गिरने से कुपित हो सकता है। परंतु शिष्य पूछता है–किस कारण से गुरु का निर्गम कहा गया है? आचार्य उत्तर देते हैं–कुल, गण आदि का कार्य उपस्थित होने पर तथा पर्व दिनों में चैत्यगमन के प्रयोजन से गुरु का निर्गम होता है।

२५३१. जदि एवं निग्गमणे, भणाति तो बाहि चिट्ठए पुच्छे।
वुच्चति बहि अच्छंते चोदग गुरुणो इमे दोसा॥

शिष्य पूछता है–यदि इन प्रयोजनों से आचार्य का निर्गमन कहा गया है तो वे लौटकर वसति के बाहर ही रहकर पादस्फोटन करे (जिससे कि क्षपक आदि के दोष परित्यक्त हो जाते हैं।) आचार्य कहते हैं–वत्स! आचार्य का वसति के बाहर ठहरना अनेक दोषों का कारण बनता है।

२५३२. तण्हुण्हादि अभावित वुड्ढा वा अच्छमाण मुच्छादी।
विणए गिलाणमादी, साधू सण्णी पडिच्छंती॥

तृषा, गर्मी से आभावित, वृद्ध आदि प्रतीक्षा करते हुए मूर्च्छा आदि प्राप्त, विनय से प्रतीक्षा करते हुए ग्लानत्व आदि, साधु, श्रावक....(व्याख्या अगली गाथाओं में।)

२५३३. तिण्हुण्हभावियस्सा, पडिच्छमाणस्स मुच्छमादी च।
खद्धादियणगिलाणे, सुत्तत्थविराधणा चेव॥

आचार्य कुल आदि कार्य से बाहर जाकर वसति में पुनः लौट आने पर गर्मी से आभावित तथा तृषाभिभूत होकर बाहर यदि प्रतीक्षा करते हैं तो मूर्च्छा आदि से ग्रस्त हो सकते हैं। फिर यदि वे तृषा के कारण प्रचुर पानी ग्रहण करते हैं तो अजीर्ण के रोग से ग्लान हो जाते हैं। उससे सूत्रार्थ की परिहानि और आचार्य की विराधना भी हो सकती है, उनकी मृत्यु भी हो सकती है। अथवा सूत्रार्थ की परिहानि से साधुओं के ज्ञान आदि की विराधना हो सकती है।

२५३४. वुड्ढाऽसहु सेधादी, खमगो वा पारणम्मि भुक्खुत्तो।
अच्छति पडिच्छमाणो, न भुंजऽणालोइयमदिट्ठं॥

वृद्ध, असह, शैक्ष आदि मुनि आचार्य की प्रतीक्षा करते हैं, (वे तृषा आदि से पीड़ित होते हैं।) क्षपक बुभुक्षा से आर्त्त होकर पारणक के लिए प्रतीक्षा करता है। उसने अब भी कुछ नहीं खाया क्योंकि उसने न आलोचना की है और न गुरु के दर्शन किए हैं।

२५३५. परितावऽंतराया, दोसा होंति अभुंजणे।
भुंजणऽविणयादीया, दोसा तत्थ भवंति तु॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोजन न करने पर उस क्षपक को महान् उत्तापना होती है, अंतराय होता है। ये अभोजन के दोष हैं। भोजन करने पर अविनय आदि दोष होते हैं।

२५३६. गिलाणस्सोसधादी तु, न देंति गुरुणो विणा।
ऊणाहियं च देज्जाही, तस्स वेलाऽतिगच्छति ॥

गुरु के बिना साधु ग्लान को औषध आदि नहीं देते। अथवा वे न्यून या अधिक औषध दे देते हैं। ग्लान की औषध-वेला अतिक्रांत हो जाती है।

२५३७. पाहुणगा गंतुमणा, वंदिय जो तेसि उण्हसंतावो।
पाणगे पडिच्छंते, सिद्धे वा अंतरायं तु॥

जो प्राघूर्णक मुनि जाना चाहते हैं वे यदि आचार्य को वंदना किए बिना जाते हैं तो अविनय आदि दोष होते हैं। और आचार्य की प्रतीक्षा करते हैं तो विलंब से जाने पर उष्णसंताप से पीड़ित होते हैं। यह संताप भी आचार्य के कारण होता है। कुछेक श्रावक पर्व दिनों में उपवास आदि करते हैं। वंदना आदि के लिए आचार्य की प्रतीक्षा करने पर उनके पारणे में अंतराय आता है।

२५३८. जम्हा एते दोसा, तम्हा गुरुणा न चिट्ठियव्वं तु।
भिक्खूण चिट्ठियव्वं, तस्स न किं दोस होंतेते॥

जिन कारणों से ये दोष होते हैं उन कारणों को ध्यान में रखकर आचार्य को वसति के बाहर नहीं रहना चाहिए, भिक्षु चाहे लंबे समय तक भी बाहर रहे। शिष्य पूछता है--क्या भिक्षु के ये दोष नहीं होते ?

२५३९. अणेग बहुनिग्गमणे, अब्भुट्ठण भाविता य हिंडंता।
दसविधवेयावच्चे, सग्गाम बहिं च वायामो॥
२५४०. सीउण्हसहा भिक्खू, न य हाणी वायणादिया तेसिं।
गुरुणो पुण ते नत्थी, तेण पमज्जंति खेयण्णो॥

आचार्य कहते हैं--भिक्षु को अनेक कारणों से बहुतवार निर्गमन करना पड़ता है। उसे स्वग्राम अथवा परग्राम में दसविध वैयावृत्त्य करने जाना पड़ता है। आचार्य के लिए अभ्युत्थान आदि करने तथा भिक्षा के लिए घूमने से उसका शरीर भावित हो जाता है, शरीर व्यायामित हो जाता है। भिक्षु शीतोष्ण को सहने वाले होते हैं। उनके वाचना आदि की हानि नहीं होती। गुरु के बार-बार निर्गमन आदि नहीं होते। इसलिए वे वसति के अंदर जाकर खेदज्ञ--कुशल मुनि से पादप्रमार्जन करवाते हैं।

२५४१. धुवकम्मियं च नाउं, कज्जेणऽण्णेण वा अणतिवातिं।
अव्वक्खित्ताउत्तं, न उ दिक्खति बाहि भिक्खू वि॥

वसति के बाहर ध्रुवकर्मिक (लोहकार आदि) सागारिक अथवा अन्य कार्य में व्यापृत अन्य सागारिक को अनतिपाती--वहां से न जाते हुए जानकर तथा अव्याक्षिप्त और आयुक्त जानकर भिक्षु बाहर प्रतीक्षा न करे, वसति के भीतर जाकर यतनापूर्वक पादप्रमार्जन करे।

२५४२ बहिगमणे चउगुरुगा, आणादी वाणिए य मिच्छत्तं।
पडियरणमणाभोगे, खरिमुह मरुए तिरिक्खादी॥

आचार्य यदि विचारभूमी के लिए बाहर जाते हैं तो प्रायश्चित्त है चार गुरुमास का तथा आज्ञा आदि दोष होते हैं। वणिकों द्वारा मिथ्यात्वप्राप्ति, प्रतिचरण, अनाभोग, खटिकामुखी, मसक, तिर्यंच आदि--(इनकी व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

२५४३. सुतवं तम्मि परिवारवं चा वणियंतरावणुट्ठाणे।
उट्ठाण निग्गमम्मि य, हाणी य परं मुहावण्णा॥

विचारभूमी (संज्ञाभूमी) में जाते-आते आचार्य को देखकर कुछेक वणिक् अपनी दुकानों में अभ्युत्थान करते हुए सोचते हैं कि ये आचार्य श्रुतवान हैं, परिवारसंयुक्त हैं। दो बार संज्ञाभूमी में निर्गमन करने पर वे वणिक् अभ्युत्थान की हानि करते हैं। 'हमें उठना पड़ेगा'--यह सोचकर आचार्य को देखकर भी पराङ्मुख हो जाते है। अथवा अवर्णवाद बोलने लग जाते हैं।

२५४४. गुणवं तु जतो वणिया, पूजंतेऽण्णे वि सन्नता तम्मि।
पडितो त्ति अणुट्ठाणे, दुविधनियत्ती अभिमुहाणं॥

कुछेक लोग सोचते हैं--आचार्य गुणवान् हैं इसलिए वणिक् लोग इनकी पूजा करते हैं। यह सोचकर वे तथा अन्य व्यक्ति भी उनके प्रति नत हो जाते हैं। आचार्य द्वारा दो बार संज्ञाभूमी में जाने पर वणिकों का अनुत्थान देखकर वे सोचते हैं--ये आचार्य पतित हो गए हैं, इनकी श्रद्धा से गिर गए हैं। जो लोग आचार्य के अभिमुख हुए थे उनकी दो प्रकार की निवृत्ति हो जाती है--जो उनके पास श्रावकत्व ग्रहण करने वाले थे तथा जो प्रवज्या लेने के इच्छुक थे--वे इन दोनों से निवृत्त हो जाते हैं।

२५४५. आउट्टो त्ति व लोगे, पडियरितुच्छन्न मारए मरुगो।
खरियमुहसंढगं वा, लोभेउ तिरिक्खसंगहणं ॥

आचार्य के प्रति सभी लोग आवृत हो गए--प्रणत हो गए, यह देखकर एक ब्राह्मण मत्सरभाव से प्रेरित होकर आचार्य की सेवा (परिचर्या) करने लगा। जब आचार्य संज्ञाभूमी में गए तब प्रच्छन्न प्रदेश में आचार्य को मारकर वहीं गढे आदि में डाल दिया। अथवा खरमुखी--दासी या नपुसंक को प्रलोभन देकर आचार्य पर मैथुन सेवन का कलंक लगाकर उड्डाह करवा दिया। अथवा आचार्य एकांत स्थान में संज्ञा व्युत्सर्ग के लिए गए। वहां कुछेक प्रत्यनीक व्यक्ति तिर्यंची आदि पशु को प्रविष्ट करवाकर आचार्य पर मैथुन का कलंक लगवा दिया।

२५४६. आदिग्गहणा उब्भामिगा व तह अन्नतित्थिगा वावि।
अधवा वि अण्णदोसा, हवंतिमे वादिमादीया॥

(गाथा २५४२) में 'तिरिक्खादि' शब्द है। आदि से वहां उद्भ्रामिका--कुलटा तथा अन्यतीर्थिकी का ग्रहण किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा अन्य दोष भी होते हैं। वे हैं वादी आदि से संबंधित दोष।

२५४७. वादी दंडियमादी, सुत्तत्थाणं व गच्छपरिहाणी।
आवस्सगदिट्ठंतो, कुमार करंतेऽकरेंते य॥

(यह द्वार गाथा है) वादी, दंडिक आदि, सूत्रार्थों की तथा गच्छ की परिहानि, आवश्यक (उच्चारावश्यक) करते हुए या न करते हुए कुमार का दृष्टांत। (व्याख्या आगे)

२५४८. सन्नागतो त्ति सिट्ठे, भयातिसारो त्ति बेति परवादी।
मा होहिति रिसिवज्झा, वच्चामि अलं विवादेणं॥

एक प्रवादी ने वसति में आकर पूछा—आचार्य कहां हैं? शिष्य ने कहा—वे संज्ञाभूमी में गए हैं। परवादी कहता है—अच्छा, मेरे भय से अतिसार हो गया है। इनकी हत्या न हो जाए—ये मर न जाए, हो चुका वाद-विवाद, यह सोच वह चला गया।

२५४९. चंदगवेज्झसरिसगं, आगमणं राय इड्ढिमंताणं।
पव्वज्ज साव भद्दग, इच्चादिगुणाण परिहाणी॥

पुत्तलिका की आंख के चंद्रक को बींधने वाले के सदृश ऋद्धिवाले राजाओं का आचार्य के पास आगमन होता है। आचार्य को संज्ञाभूमी में गए जानकर वे लौट जाते हैं। यदि आचार्य स्थान पर होते तो प्रव्रज्या या श्रावकत्व ग्रहण कर सकते थे। अथवा वे भद्रक हो सकते थे। आचार्य के बाहर जाने पर इन गुणों की परिहानि होती है।

२५५०. सुत्तत्थे परिहाणी, वीयारं गंतु जा पुणो एति।
तत्थेव य वोसिरणे, सुत्तत्थेसुं न सीदंति॥

विचारभूमी में जाकर पुनः लौट आने तक सूत्रार्थ की परिहानि होती है। उपाश्रय में ही संज्ञा का व्युत्सर्जन करने पर सूत्रार्थ के लिए साधु विषादग्रस्त नहीं होते।

२५५१. तीरगते ववहारे, खीरादी होंति तदिह उट्ठाणे।
कोसस्स हाणि परचमुपेल्लण रज्जस्स अपसत्थे॥

न्यायाधिकारी यदि अपने स्थान से उठकर संज्ञा निवारणार्थ जाता है तो व्यवहार तीर पर आ गया था अथवा समाप्ति के निकट था, यह व्यवहार क्षीरगत हो जाता है अर्थात् जैसे दूध में पानी मिलता है उसी प्रकार वादी-प्रतिवादी समझौता कर लेते हैं। इससे कोश की हानि होती है। कोश की हानि जानकर शत्रुसेना द्वारा राज्य का संग्रहण कर लिया जाता है। यह अप्रशस्त दृष्टांत है।

२५५२. वेलं सुत्तत्थाणं, न भंजते दंडियादिकधणं वा।
पच्छण्णो भयकोसे, पुच्छा पुण साहणा विणए॥

यदि आचार्य संज्ञा व्युत्सर्जन उपाश्रय के अंदर ही करते हैं तो सूत्रार्थ की वेला का भंग नहीं होता तथा समागत दंडिक आदि के धर्मकथा में व्याघात भी नहीं होता। प्रस्रवण के निमित्त आचार्य को प्रच्छन्नरूप से मात्रक देते हैं, राजा द्वारा पृच्छक। आचार्य का कथन। विनयपूर्वक (इस श्लोकार्ध की व्याख्या आगे)।

२५५३. निद्धाहारो वि अहं, असइं उट्ठेमि णो स कधयंतो।
पासगतो मण्णे मत्तं वत्थंतरिय पणामेति॥

राजकुमार धर्मकथा सुनते-सुनते बीच में अनेक बार कायिकी करने के लिए उठता रहा। उसने सोचा—मेरा आहार स्निग्ध है, फिर भी मैं कायिकी व्युत्सर्जन के लिए बार-बार उठता हूं। कथा कहते हुए आचार्य नहीं उठते। संभव है पास में स्थित साधु आचार्य को वस्त्रान्तरित मात्रक समर्पित करता है। (यदि मैं यह बात पूछता हूं तो अविनय होगा, अतः कुछ उपाय से पूछूंगा।)

२५५४. विणओ उत्तरिओ त्ति य,बलिओ गंगा कतोमुही वहति।
पुव्वमुही अचलंतो, भणति निवं आगितिजुतो वि॥

राजा ने आचार्य से पूछा—लौकिक विनय बलवान् होता है अथवा लोकोत्तरिक विनय? आचार्य ने कहा—लोकोत्तरिक विनय। परीक्षा के लिए राजा ने अपने अत्यंत विश्वस्त आकृतिमान् व्यक्ति को भेजते हुए कहा—गंगा किस ओर बहती है, इसको जानकर बताओ। वह वहां से न जाकर—वहीं पर स्थित रहकर राजा को उसने कहा—गंगा पूर्वाभिमुखी बहती है।

२५५५. रण्णा पदंसितो एस, वयउ अविणीयदंसणो समणो।
पच्चागयउस्सग्गं, काउं आलोयए गुरुणो॥

आचार्य ने राजा से कहा—तुम मेरे शिष्य के सामने भी यही प्रश्न रखो और जिस शिष्य को तुम चाहो उसे इसकी जानकारी करने भेजो। तब राजा ने जो अविनीत दर्शन वाला श्रमण था उस ओर इशारा किया। आचार्य ने उसे आदेश देते हुए कहा—जाओ, यह देखकर आओ कि गंगा किस ओर बहती है। वह गया। लौटकर आकर उसने कायोत्सर्ग करके आलोचना की।

२५५६. आदिच्च दिसालोयण, तरंगतणमादिया य पुव्वमुही।
मा होज्ज दिसामोहो, पुट्ठो वि जणो तहेवाह॥

भंते! मैं गंगातट पर गया। आदित्य से दिग्विभाग का निर्धारण किया। तरंगों में गिरे हुए तृण पूर्वाभिमुखी बह रहे थे। मुझे दिशामोह न हो, इसलिए मैंने लोगों से पूछा। लोगों ने भी वही कहा। मैंने निश्चय कर डाला कि गंगा पूर्वाभिमुखी बहती है।

२५५७. वध-बंध--छेद-मारण,
निव्विसिय धणावहार लोगम्मि।
भवदंडो उत्तरिओ,
उच्छहमाणस्स तो बलिओ॥

राजा ने कहा—लोक में जो हमारी आज्ञा का भंग करता है, उसको वध, बंधन, छेदन, मारण, देश से निकाल देना, धनापहार आदि से दंडित किया जाता है। आचार्य ने कहा—ये दंड लोकोत्तरिक अपराध में नहीं हैं किंतु लोकोत्तर में भवदंड का भय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहता है। वे उत्साहपूर्वक उद्यम करते हैं। इसलिए लोकोत्तर विनय बलवान् होता है।

२५५८. बितियपयं असतीए, अण्णाए उवस्सए व सागारो।
न पवत्तति संते वी, जे य समत्था समं जाति॥

२५५९. कुपहादी निग्गमणं, नातिगभीरे अपच्चवायम्मि।
वोसिरिणम्मि य गुरुणा, निसिरंति महंतदंडधरा॥

अपवाद पद में आचार्य कुछेक कारणों से बाहर संज्ञाभूमी में जा सकते हैं। यदि उपाश्रय में संज्ञाभूमी न हो, जहां लोग नहीं जानते कि ये आचार्य हैं, उपाश्रय में श्रावक हो तो, उपाश्रय में संज्ञाभूमी होने पर भी वहां उत्सर्ग संज्ञा उत्पन्न न होने पर—इन कारणों से आचार्य बाहर संज्ञाभूमी में समर्थ साधुओं को साथ लेकर जाते हैं। बाहर जाते समय जो कुपथ—छोटी गलियां हैं उनसे निगर्मन करें। जो स्थान अतिविषम न हो तथा प्रत्यवाय रहित हो वहां आचार्य संज्ञा का व्युत्सर्ग करे। जब आचार्य संज्ञा से निवृत्त हो जाएं तब उनकी संरक्षा में सहयोगी महान् दंडधर लौट जाते हैं।

२५६०. जह राया तोसलिओ, मणिपडिमा रक्खते पयत्तेण।
तह होति रक्खियव्वो, सिरिघरसरिसो उ आयरिओ॥

जैसे राजा तौसलिक ने प्रयत्नपूर्वक मणिप्रतिमा की सुरक्षा की। उसी प्रकार आचार्य की सुरक्षा करनी चाहिए क्योंकि वे श्रीगृहसदृश होते हैं।

२५६१. पडिमुप्पत्ती वणिए, उदधीउप्पात उवायणं भीते।
रयणदुगे जिणपडिमा, करेमि जदि उत्तरेऽविग्घं॥

२५६२. उप्पा उवसम उत्तरणमविग्घं एक्कपडिमकरणं वा।
देवयछंदेण ततो, जाता बितिए वि पडिमा उ॥

प्रतिमा की उत्पत्ति—एक सामुद्रिक वणिक् समुद्र में प्रवहण से जा रहा था। एक उत्पात उपस्थित हुआ। वणिक् भयभीत हो गया। उसने यह मनौती की कि यदि मैं अविघ्न से यात्रा संपन्न कर लूंगा तो दो मणिरत्नों की दो जिनप्रतिमाएं बनवाऊंगा। उत्पात उपशांत हो गया और उसने अविघ्नरूप से यात्रा सम्पन्न कर ली। उसने एक मणिरत्न की एक प्रतिमा बनवा ली। देवता के कथन से दूसरे मणिरत्न से दूसरी प्रतिमा बनी।

२५६३. तो भत्तीए वणिओ, सुस्सूसति ता परेण जत्तेण।
ता दीवएण पडिमा, दीसंतिधरा उ रयणाइं॥

वह वणिक् भक्तिपूर्वक परमप्रयत्न से दोनों प्रतिमाओं की शुश्रुषा—पूजा, सेवा करने लगा। उन प्रतिमाओं का यह विशेष अतिशय था कि वे दीपक के प्रकाश में प्रतिमारूप दिखती थीं, अन्यथा केवल दो रत्न ही दृष्टिगोचर होते थे।

२५६४. सोऊण पाडिहेरं, राया घेत्तूण सिरिहरे छुभति।
मंगलभत्तीय ततो, पूएति परेण जत्तेण॥

राजा तौसलिक ने यह अतिशय सुनकर उन दोनों प्रतिमाओं को अपने श्रीगृह में रखवा लिया। वह मंगलबुद्धि और भक्तिपूर्वक परमप्रयत्न से उनकी पूजा करता। (इसी प्रकार आचार्य की रक्षा करनी चाहिए।)

२५६५. मंगलभत्ती अहिता, उप्पज्जति तारिसम्मि दव्वम्मि।
रयणग्गहणं तेणं, रयणब्भूतो तधायरिओ॥

मंगलबुद्धि और परमतीर्थकर भक्ति ऐसे द्रव्य में अत्यधिक उत्पन्न होती है, इसलिए रत्न का ग्रहण किया गया है। इसलिए आचार्य रत्नभूत होते हैं। (उनकी रक्षा और शुश्रूषा करनी चाहिए।)

२५६६. पूयंति य रक्खंति य, सीसा सव्वे गणिं सदा पयता।
इध परलोए य गुणा, हवंति तप्पूयणे जम्हा॥

सभी शिष्य सदा प्रयत्नपूर्वक गणी—आचार्य की पूजा करते है, रक्षा करते हैं। क्योंकि उनकी पूजा करने से इहलोक और परलोक में अनेक गुण होते हैं।

२५६७. जेणाहारो उ गणी, स बालवुड्ढस्स होति गच्छस्स।
तो अतिसेसपभुत्तं, इमेहि दारेहि तस्स भवे॥

गणी (आचार्य) जिस कारण से बाल और वृद्ध मुनियों से समाकुल गच्छ के आधारभूत होते हैं, वह है उनका अतिशेष प्रभुत्व। वक्ष्यमान इन द्वारों से वह ज्ञातव्य है।

२५६८. तित्थगरपवयणे निज्जरा य सावेक्ख भत्तवुच्छेदो।
ऐतेहि कारणेहिं, अतिसेसा होंति आयरिए॥

आचार्य तीर्थंकर के अनुकारी होते हैं। वे प्रवचन—सूत्रार्थ के प्रवाचक होते हैं। उनकी वैयावृत्त्य करने से महान् निर्जरा होती है। जो शिष्य सापेक्ष होते हैं उनको ज्ञान आदि का लाभ तथा महती निर्जरा होती है। आचार्य की भक्ति करने से तीर्थ का अव्यवच्छेद होता है—इन कारणों से आचार्य के अतिशेष होते हैं।

२५६९. देविंदचक्कवट्टी, मंडलिया ईसरा तलवरा य।
अभिगच्छंति जिणिंदे, तो गोयरियं न हिंडंति॥

जिनेंद्र के पास देवेंद्र, चक्रवर्ती मांडलिक राजा, ईश्वर, तलवर आदि आते हैं। इसलिए वे गोचरचर्या के लिए नहीं घूमते।

२५७०. संखादीया कोडी, सुराण णिच्चं जिणे उवासंति।
संसयवागरणाणि य, मणसा वयसा च पुच्छंति॥

संख्यातीत देवों की कोटियां—श्रेणियां सर्वकाल जिनेंद्र की उपासना में संलग्न रहती हैं। मन से तथा वचन से उनके द्वारा प्रस्तुत संशयों का निराकरण जिनेंद्र करते हैं। (इसलिए वे भिक्षाचर्या नहीं करते।)

२५७१. उप्पण्णणाणा जह णो अडंती,
चोत्तीसबुद्धातिसया जिणिंदा।
एवं गणी अट्ठगुणोववेतो,
सत्था व नो हिंडति इड्ढिमं तु॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर जिनेंद्र चौतीस सर्वज्ञातिशयों से युक्त होते हैं। वे भिक्षाचर्या के लिए नहीं घूमते। इसी प्रकार गणी—आचार्य आठ गुणों से सहित—अष्टगणिसंपदा से युक्त शास्ता—तीर्थंकर की भांति ऋद्धिमान होने के कारण भिक्षाचर्या के लिए नहीं घूमते।

२५७२. गुरुहिंडणम्मि गुरुगा, वसभे लहुगाऽनिवाययंतस्स।
गीताऽगीते गुरु-लहु, आणादीया बहू दोसा॥

भिक्षा के लिए घूमते हुए गुरु को यदि वृषभ मुनि निवारित नहीं करते हैं तो उनको चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है और यदि निवारित करने पर भी गुरु भिक्षाचर्या से विरत नहीं होते हैं तो स्वयं गुरु को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। गीतार्थ भिक्षु यदि गुरु को निवारित नहीं करता तो मासगुरु और अगीतार्थ के निवारित न करने पर भी यदि गुरु विरत नहीं होते तो उनको (गुरु को) चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२५७३. वाते पित्ते गणालोए, कायकिलेसे अचिंतया।
मेढी अकारगे वाले, गणचिंता वादि इड्ढिणो॥

भिक्षा के लिए घूमने पर वात और पित्त का प्रकोप होता है। गण का आलोक नहीं किया जाता। कायक्लेश होता है। सूत्रार्थ की चिंता नहीं रहती। आचार्य मेढ़ीभूत। अकारक द्रव्य। व्याल की पीड़ा। गणचिंता। वादी। ऋद्धि। (इस गाथा की व्याख्या गाथा २६०१ तक है।)

२५७४. भारेण वेयणाए, हिंडंते उच्चनीयसासो वा।
बाहु-कडिवायगहणं, विसमाकारेण सूलं वा॥

आहार से भरे हुए पात्रों के भार से वेदना होती है। ऊंचे—नीचे घरों में चढ़ने उतरने से श्वास का रोग हो सकता है। बाहु और कटिभाग वायु से ग्रस्त हो जाता है। विषमाकार में स्थित ग्राम में घूमने से शूल का रोग भी हो सकता है।

२५७५. अच्चुण्हताविए उ, खद्ध-दवादियाण छड्डणादीया।
अप्पियणे असमाधी, गेलण्णे सुत्तभंगादी॥

भिक्षाचार्य में अत्युष्णता से परितापित आचार्य प्रचुर पानी पीते हैं तो अजीर्ण हो जाने पर वमन आदि होने लग जाता है। पर्याप्त पानी न पीने पर असमाधि होती है। ग्लानत्व होने पर सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी का भंग होता है।

२५७६. बहिया य पित्तमुच्छा, पडणं उण्हेण वावि वसधीए।
आदियणे छड्डणादी, सो चेव य पोरिसीभंगो।

गर्मी से परितप्त होने पर (पित्त प्रकृति वाले) आचार्य पित्त की मूर्च्छा से वसति के बाहर गिर पड़ते हैं अथवा वसति में आकर गिर जाते हैं। भोजन के पश्चात् प्रचुर जलपान करने पर वमन आदि होने लग जाता है तथा सूत्रार्थ की पौरुषी का भंग होता है।

२५७७. आलोगो तिन्निवारे, गोणीण जधा तधेव गच्छे वि।
नट्ठं न नाहिति नियट्टदीह सोधी निसेज्जं च॥

ग्वाला जैसे गायों का तीन बार (तीनों वेलाओं में) आलोक—देखभाल करता है वैसे ही आचार्य को भी गच्छ की तीन बार देखभाल करनी चाहिए। (गणालोक न करने पर आचार्य को प्रत्येक बार के लिए मासलघु का प्रायश्चित्त है।) गणालोक न करने पर कौन साधु पलायन कर गया, यह नहीं जाना जा सकता। भिक्षाचर्या से कौन साधु लौट आया है और कौन नहीं, कौन दीर्घकाल तक भिक्षाचर्या करता है और कौन नहीं—यह गणालोक के बिना नहीं जाना जा सकता। आचार्य यदि भिक्षाचर्या में घूमते हैं तो अन्य मुनियों को कौन शोधि—आलोचना देगा। गणालोक के बिना कैसे जाना जा सकेगा कि कौन गृहनिषद्या करता है।

२५७८. मा आवस्सयहाणी, करेज्ज भिक्खालसा व अच्छेज्जा।
तेण तिसंझालोगं सिस्साण करेति अच्छंतो॥

आचार्य गोचरी में घूमते रहें तो किस मुनि ने आवश्यक योगों की हानि की यह नहीं जाना जा सकता। भिक्षाचर्या में आलसी होकर अन्य साधु वसति में ही बैठे रहेंगे। इसलिए आचार्य अपने स्थान पर स्थित रहकर ही तीनों संध्याओं (वेलाओं) में शिष्यों का आलोक करे, देखभाल करे।

२५७९. हिंडंतो उव्वातो, सुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी।
नासेहिति हिंडंतो, सुत्तं अत्थं च रेगेणं॥

गोचरचर्या में आचार्य घूमते हुए परिश्रांत हो जाते हैं। इससे गच्छ में सूत्रार्थ की परिहानि होती है तथा शिष्यों के गणांतर में संक्रमण करने पर गच्छ की हानि भी होती है। भिक्षाचर्या में घूमते हुए आचार्य को सूत्र और अर्थ के पुनश्चिंतन के लिए आत्यंतिक—एकांतस्थान न मिलने के कारण तथा आक्षेप होने के कारण स्वयं का सूत्रार्थ भी नष्ट हो जाता है।

२५८०. जा आससिउं भुंजति, भुत्तो खेयं व जाव पविणेती।
ताव गतो सो दिवसो, नट्ठसती दाहिती किं वा॥

भिक्षाचर्या से वसति में आकर क्षणमात्र आश्वस्त होकर भोजन करते हैं, भोजन कर लेने पर भी जब तक भिक्षाचर्या में घूमने का परिश्रम मिट नहीं जाता तब तक वह पूरा दिन व्यर्थ चला जाता है। सूत्रार्थ के अचिंतन से उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह क्या दे पायेगा?

२५८१. रेगो नत्थि दिवसतो, रत्तिं पि न जग्गते समुव्वातो।
न य अगुणेउं दिज्जति, जदि दिज्जति संकितो दुहतो॥

सूत्रार्थ का चिंतन करने के लिए दिन में भी एकांत अवसर नहीं मिलता। पूर्ण परिश्रांत होने के कारण रात्रि में भी नहीं जागा जा सकता। तथा सूत्रार्थ का परावर्तन किए बिना उसे नहीं दिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा सकता। यदि दिया जाता है तो द्विघात होता है–सूत्र और अर्थ से शंकित हो जाता है।

२५८२. मेढीभूते बाहिं, भुंजण आदेसमादि आगमणं।
विणए गिलाणमादी, अच्छंतो मेढिसंदेसो॥

आचार्य गच्छ के मेढ़ीभूत अर्थात् आधारभूत होते हैं। वे भिक्षा के लिए बाहर घूमते हैं तो साधु वसति के बाहिर जहां-तहां भोजन कर लेते हैं। मेहमान मुनियों का आगमन हो सकता है। उनका विनय कौन करे? ग्लान आदि (बाल, वृद्ध, असहाय) की चिंता कौन करे? आचार्य के बाहर रहने से कौन उनको संदेश दे। मेढिभूत के संदेश से सब सुस्थित हो जाता है।

२५८३. आलोय दावणं वा, कस्स करेहामो कं च छंदेमो।
आयरिए व अडंते, को अच्छिउमुच्छहे अन्नो।

शिष्य सोचते हैं–हम किसके पास आलोचना करेंगे? किसको भक्त-पान दिखायेंगे? किसको निमंत्रित करेंगे? आचार्य यदि गोचरचर्या में घूमते हैं तो दूसरा कौन वसति में रहने के लिए उत्साहित होगा?

२५८४. णीणिति अकारगम्मी, दव्वे पडिसेहणा हवति दुक्खं।
रायनिमंतणगहणे, खिंसणवावारणा दुक्खं॥

आचार्य भिक्षाचर्या कर रहे हैं। भिक्षा के लिए अकारकद्रव्य बाहर रखा हुआ है। उसका प्रतिषेध करना दुःखकारक होता है। राजा द्वारा भोजन के लिए निमंत्रित करने पर भी ग्रहण न करने से राजा उनकी खिंसना करता है। आचार्य को ग्लान आदि के प्रायोग्य आहार आदि न मिलने पर वे शिष्यों अथवा प्रतिच्छिकों को उसमें व्यापृत करते हैं तब वे आचार्य का परिभव करते हैं। अतः उनको व्यापृत करना भी दुःखकर होता है, कष्टकारक होता है।

२५८५. जेणेव कारणेणं, सीसमिणं मुंडियं भंदतेणं।
वयणघरवासिणी वि हु, न मुंडिया ते कहं जीहा?॥

गृहस्वामिनी कहती है–मुने! जिस कारण से भदंत–आचार्य ने तुम्हारा यह सिर मूंडा है, उसी कारण से, तुम्हारे वदनगृह में रहने वाली इस तुम्हारी जिह्वा को क्यों नहीं मूंड डाला। (क्योंकि तुम यह कर रहे हो कि यह द्रव्य अकारक है, दूसरा दो।)

२५८६. गतमागतम्मि लोए, सीसा वि तधेव तस्स गच्छंति।
सयमेव दुट्ठजिब्भो, सीसे विणइस्सती केणं॥

यह लोक गतागत स्वभाववाला है। आचार्य जैसा करते हैं, उनके शिष्य भी वैसा ही करते हैं। आचार्य स्वयं दुष्टजिह्वा वाले हैं, वे भला शिष्यों को कैसे शिक्षित कर सकेंगे?

२५८७. पडिसेहं तमजोग्गं, अण्णस्स वि दुल्लहं भवति भिक्खं।
सद्धाभंगऽचियत्तं, जिब्भादोसो अवण्णो य॥

अयोग्य–अकारक द्रव्य का प्रतिषेध करने पर दूसरे भिक्षु के लिए भी भिक्षा दुर्लभ हो जाती है। प्रतिषेध करने से श्रद्धा का भंग, अप्रीति, जिह्वादोष तथा अवर्णवाद होता है।

२५८८. पुव्विं अदत्तदाणा, अकोविया इह उ संकिलिस्संति।
काऊण अंतरायं, नेच्छंतिट्ठं पि दिज्जंतं॥

(राजा को जब पात्रगत अंतप्रांत आहर दिखाया तब राजा ने कहा) पूर्वजन्म में दान न देने के कारण आप यहां अकोविद–अतत्वज्ञ होकर क्लेश पा रहे हैं। 'राजपिंड अग्राह्य है' ऐसा कहकर अंतराय करते हैं तथा दीयमान इष्टवस्तु को भी लेना नहीं चाहते।

२५८९. गहण पडिसेध भुंजण, अभुंजणे चेव मासियं लहुयं।
अमणुण्ण अलंभे वा, खिंसेज्ज व सेहमादी य॥

आचार्य अकारक द्रव्य ग्रहण कर लेते हैं और शिष्यों द्वारा प्रतिषेध करने पर भी यदि खा लेते हैं तो रोगग्रस्त हो जाते हैं। उसको न खाने पर, परिष्ठापन के दोष के कारण एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। आचार्य को यदि अमनोज्ञ द्रव्य का लाभ होता है तथा मनोज्ञद्रव्य का लाभ नहीं होता तब शैक्ष मुनि आदि उनकी खिंसना करते हैं।

२५९०. वावारियगिलाणादियाण, गेण्हह जोग्गं ति ते तओ बेंति।
तुब्भे कीस न गेण्हह, हिंडंता ऊ सयं चेव॥

जब आचार्य शिष्यों अथवा प्रातिच्छिकों को ग्लान आदि के लिए प्रायोग्य द्रव्य लाने के लिए व्यापृत करते हैं तब वे कहते हैं–भंते! आप स्वयं गोचरचर्या में घूमते हुए ग्लान आदि के प्रायोग्य द्रव्य क्यों नहीं लाए?

२५९१. एवाणाए परिभवो, बेंति, दीसए य पाडिरूवं भे।
आणेह जाणमाणा, खिंसंती एवमादीहिं॥

इस प्रकार आज्ञा का परिभव करते हुए वे कहते हैं–आप अपने प्रातिहार्य–अतिशय आचार्यत्व को जानते हुए भी ग्लान प्रायोग्य द्रव्य क्यों नहीं लाए? इस प्रकार उच्चावच वचनों से आचार्य की हीलना करते हैं।

२५९२. वाले य साणमादी दिट्ठंतो तत्थ होति छत्तेणं।
लोभे य आभिओगे, विसे य इत्थीकए वावी॥

आचार्य गोचरचर्या में घूमते हैं। श्वान आदि व्याल उनके पीछे लग जाते हैं। यहां छत्र का दृष्टांत है। ऊपर रहा हुआ छत्र ही शोभित होता है, नीचे गिरा हुआ नहीं। (इसी प्रकार आचार्य भी अनेक व्यक्तियों से परिवृत होने पर ही शोभित होते हैं, अकेले नहीं, तथा श्वान आदि से परिवृत नहीं।) आचार्य प्रतिरूपवान् होते हैं इस लोभ से स्त्रियां अभियोग–वशीकरण करती हैं। कोई विष भी दे सकती है।

२५९३. मोएउं असमत्था, बुद्धं रुद्धं व नच्चणं कुसिया।
जुवतिकमणिज्जरूवो, सो पुण सव्वे वि तो सत्तो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे बंधे हुए, अवरुद्ध किए हुए नट-नायक को कोई मुक्त करने में समर्थ नहीं होता, किंतु वह युवतिकमनीयरूप वाला नट-नायक बंधे हुए सभी को मुक्त करने में समर्थ होता है। जैसे प्रयत्नपूर्वक उस नट-नायक की रक्षा की जाती है वैसे ही आचार्य भी रक्षणीय होते हैं।

२५९४. एमेवायरियस्स वि, दोसा पडिरूववं च सो होति।
दिज्ज विसं भिक्खुवासो,अभिजोग्ग वसीकरणमादी॥

इसी प्रकार आचार्य की भी रक्षा न करने पर कई दोष होते हैं। वे प्रतिरूपवान् होते हैं। कोई भिक्षु–उपासक विष भी दे सकता है। कोई रूपलुब्धास्त्री आभियोग्य करे अथवा वशीकरण आदि का प्रयोग कर दे।

२५९५. नच्चणहीणा व नडा, नायगहीणा व रूविणी वावि।
चक्कं च तुंबहीणं, न भवति एवं गणो गणिणा॥

जैसे नर्तनविहीन नट, नायकविहीन रूपवती स्त्री और तुंबविहीन चक्र नहीं होता, वैसे ही गणी के बिना गण भी नहीं होता है।

२५९६. लाभालाभद्धाणे, अकारगे बालवुड्ढमादेसे।
सेह खमए न नाहिति, अच्छंतो नाहिती सव्वे॥

आचार्य यदि स्वयं गोचरचर्या में घूमते हैं तो वे यह नहीं जान पाते कि किसको पर्याप्त मिला है और किसको नहीं। जो मार्ग में परिश्रांत होकर अतिथि मुनि आए हैं उनके लिए कौन सा द्रव्य कारक है और कौनसा अकारक तथा वृद्ध, प्राघूर्णक, शैक्ष तथा क्षपक मुनियों के लिए क्या करणीय है, यह भी नहीं जान पाते। यदि वे वसति में ही रहते हैं तो परिश्रम के अभाव में सभी बातें सम्यक्रूप से जान लेते हैं।

२५९७. सोऊण गतं खिंसति, पडिच्छ उव्वात वादि पेल्लेति।
अच्छंति सत्थचित्ते, न होंति दोसा तवादीया॥

कोई वादी वसति पर आया। उसने सुना कि आचार्य गोचरचर्या के लिए गए हैं। यह सुनकर वह मन ही मन उनकी हीलना करता है। वह उनकी प्रतीक्षा करता है। आचार्य परिश्रांत होकर आते है। वादी उनको प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रेरित करता है। वे उत्तर न देकर वैसे ही बैठ जाते हैं। (क्योंकि वे अभी स्वस्थचित्त नहीं हैं।) स्वस्थचित्त होने पर ताप आदि दोष नहीं होते।

२५९८. पागडियं माहप्पं, विण्णाणं चेव सुट्ठु मे गुरुणो।
जदि सो वि जाणमाणो, न वि तुब्भमणाढितो होंता॥

वह वादी शिष्यों को कहता है–तुम लोगों ने अपने गुरु का माहात्म्य तथा विज्ञान अच्छेरूप में प्रगट कर दिया! यदि आचार्य कुछ ज्ञाता होते तो तुम्हारे द्वारा इस प्रकार अनादृत नहीं होते।

२५९९. न वि उत्तराणि पासति,पासणियाणं पि होति परिभूतो।
सेहादि भद्दगा वि य, दट्ठुं अमुहं परिणमंति॥

गोचरचर्या से परिश्रांत होकर आए हुए आचार्य को उत्तर नहीं सूझते। जो प्राश्निक हैं उनसे भी वे पराभूत होते है। तथा जो शैक्षमुनि हैं और भद्रक आदि हैं, वे भी आचार्य को निरुत्तर देखकर विपरिणत हो जाते हैं।

२६००. सुत्तत्थाणं गुणण, विज्जा मंता निमित्तजोगाणं।
वीसत्थे पतिरिक्के, परिजिणति रहस्ससुत्ते य॥

आचार्य यदि भिक्षाटन नहीं करते तो वे विश्वस्त होकर एकांतस्थान में सूत्रार्थ का गुणन, विद्या, मंत्र, निमित्तशास्त्र, योगशास्त्र का परावर्तन कर सकते हैं। वे रहस्यसूत्रों का अत्यंत अभ्यास कर हस्तगत कर लेते हैं।

२६०१. रण्णा वि दुवक्खरओ, ठवितो सव्वस्स उत्तमो होति।
गच्छम्मि व आयरिओ, सव्वस्स वि उत्तमो होति॥

राजा भी जब अपने द्व्यक्षर–दास को संस्थापित कर देता है तो वह सभी में उत्तम हो जाता है। गच्छ में भी आचार्य सभी में उत्तम होते हैं।

२६०२. रायाऽमच्च पुरोहिय, सेट्ठी सेणापति-तलवरा य।
अभिगच्छंतायरिए, तहियं च इमं उदाहरणं॥

आचार्य के पास राजा, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी, सेनापति, तलवर आदि आते रहते हैं। वहां यह उदाहरण है।

२६०३. सोऊण य उवसंतो, अमच्च रण्णो तगं निवेदेति।
राया वि बितियदिवसे, ततिएऽमच्ची य देवी य॥

अमात्य आचार्य के पास धर्म सुनकर उपशांत हो गया। उसने आकर राजा को आचार्य के विषय में निवेदन किया। दूसरे दिन राजा अमात्य के साथ आचार्य के पास गया। तीसरे दिन अमात्यी (अमात्य की पत्नी) और देवी (राजा की रानी) आचार्य के पास धर्म सुनने आई।

२६०४. सोउं पडिच्छिऊणं, व गता अधवा पडिच्छणे खिंसा।
हिंडंत होंति दोसा, कारण पडिवत्तिकुसलेहिं॥

आचार्य गोचरचर्या में गए हैं–यह सुनकर कुछ समय प्रतीक्षा कर चली गईं। अथवा प्रतीक्षा करती हुई जब आचार्य के शरीर को प्रस्वेद से लथपथ देखकर हीलना करती हुई चली गईं। ये सारे गोचरचर्या में घूमने से होने वाले दोष हैं। विशेष कारण-वश जाते हैं तो प्रतिपत्तिकुशल मुनि राजा आदि के आने पर वाक्कौशल से उन्हें उत्तर देते हैं।

२६०५.कारण भिक्खस्स गते,वि कज्जं अन्नं निवस्स साहित्ता।
निज्जोग नयण पढमा, कमादि धुवणं मणुण्णादी॥

२६०६. कयकुरुकुय आसत्थो,पविसति पुव्वरइया निसेज्जाए।
पयता य होंति सीसा, जध चकितो होति राया वि॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोजनवश आचार्य यदि भिक्षाचर्या के लिए गए हों तो भी राजा के पूछने पर अन्य कार्य की बात कहनी चाहिए। आचार्य के लौट आने पर प्रथमालिका तथा नियोग–स्वच्छ वस्त्र आदि को लाकर, चरण प्रक्षालन कर, फिर प्रथमालिका करनी चाहिए। हाथ-पैर प्रक्षालन आदि सभी कार्यों से निवृत्त होकर आचार्य आश्वस्त होकर वसति में प्रवेश करते हैं और पूर्वरचित निषद्या पर बैठ जाते हैं। फिर शिष्य उनके चरणों के आसपास इस प्रकार बैठ जाते हैं कि राजा भी देखकर चकित हो जाता है।[1]

२६०७. सीसा य परिच्चत्ता, चोदगवयणं कुडुंबि झामणया।
दिट्ठंतो दंडिएण, सावेक्खे चेव निरवेक्खे॥

शिष्य परित्यक्त, चोदकवचन, कुटुंबी के घर का प्रदीपन, दृष्टांत, दंडिक, सापेक्ष तथा निरपेक्ष आचार्य। (यह द्वारगाथा है–व्याख्या आगे।)

२६०८. वातादीया दोसा, गुरुस्स इतरेसि किं न ते होंति?।
रक्खप्प सिस्सचाए हिंडणतुल्ले असमताया॥

गोचरचर्या में घूमने से वात आदि दोष गुरु के होते हैं तो क्या दूसरों के वे दोष नहीं होते? स्वयं की रक्षा की जाती है, शिष्यों की परवाह नहीं की जाती। दोनों का घूमना तुल्य है। क्या यह असमता नहीं है?

२६०९. दसविधवेयावच्चे, निच्चं अब्भुट्ठिया असढभावा।
सीसा य परिच्चत्ता, अणुज्जमंताण दंडो य॥

शिष्य दशविध वैयावृत्त्य में सदा असठभाव से अभ्युत्थित रहते हैं। उन शिष्यों को भिक्षाटन आदि के लिए भेजने पर वे वैयावृत्त्य से अनुद्यत हो जाते हैं। वे यदि वैयावृत्त्य में अनुद्यत रहते हैं तो दंड के भागी होते हैं।

२६१०. वड्ढी धन्नसुभरियं, कोट्ठारं डज्झए कुडुंबिस्स।
किं अम्ह मुहा देती, केई तहियं न अल्लीणा॥

एक कौटुम्बिक था। वह आवश्यकतावश दूसरे कृषकों को धान्य, कालांतर में उसकी वृद्धि कर लौटाने की शर्त पर उधार देता था। इसके आधार पर उसके कोष्ठागार सुभृत हो गए। एक बार उसके एक कोष्ठागार में आग लग गई। कुछ लोग उसको बुझाने यह कहते हुए नहीं आए कि क्या यह कौटुम्बिक हमें मुफ्त में धान्य देता है कि हम उसको बुझाने के लिए तत्पर हों।

२६११. एतस्स पभावेणं, जीवा अम्हे त्ति एव नाऊणं।
अण्णे उ समल्लीणा, विज्झविते तेसि सो तुट्ठो॥

कुछ कृषकों ने सोचा–इस कौटुम्बिक के प्रभाव से ही हम जीवित हैं–यह सोचकर वे आग बुझाने के लिए तत्पर हो गए। आग बुझ जाने पर वह कौटुंबिक उन पर तुष्ट हो गया।

२६१२. जे ऊ सहायगत्तं, करेसु तेसिं अवड्ढियं दिन्नं।
दड्ढं ति न दिण्णितरे, य कासगा दुक्खजीवी य॥

जिन्होंने आग बुझाने में सहयोग दिया उनको बिना वृद्धि की शर्त किए धान्य दिया। जिन्होंने सहयोग नहीं दिया, वे खेती किए बिना दुःखजीवी हो गए।

२६१३. आयरियकुडुंबी वा, सामाणियथाणिया भवे साधू।
वाबाधअगणितुल्ला, सुत्तत्था जाण धन्नं तु॥

कुटुम्बीतुल्य हैं आचार्य और सामान्य कृषक स्थानीय हैं साधु। आचार्य के भिक्षाटन में वात आदि की बाधा है अग्नितुल्य और सूत्रार्थ है धान्यतुल्य।

२६१४. एमेव विणीयाणं, करेंति सुत्तत्थसंगहं थेरा।
हावेंति उदासीणे, किलेसभागी य संसारे॥

कौटुंबिक दृष्टांत के अनुसार स्थविर–आचार्य विनीत शिष्यों को सूत्रार्थ देते हैं। जो आचार्य के प्रति उदासीन होते हैं, उनको सूत्रार्थ नहीं देते। उनके सूत्रार्थ की हानि होती है। वे संसार में क्लेश के भागी होते हैं।

२६१५. उप्पण्णकारणे पुण, जइ सयमेव सहसा गुरू हिंडे।
अप्पाण गच्छमुभयं, परिचयती तत्थिमं नायं॥

कारण उत्पन्न होने पर गुरु स्वयं ही सहसा भिक्षाचर्या के लिए घूमते हैं तो वे स्वयं तथा गच्छ–दोनों का परित्याग कर देते हैं–दोनों को हानि पहुंचाते हैं। इस प्रकरण में यह उदाहरण है–

२६१६. सोउं परबलमायं, सहसा एक्काणिओ उ जो राया।
निग्गच्छति सो चयती, अप्पाणं रज्जमुभयं च॥

एक राजा निरपेक्ष था। उसने शत्रु सेना के आगमन की बात सुनकर सहसा एकाकी शत्रुसेना का सामना करने चला जाता है तो वह स्वयं को और राज्य को–दोनों को गवां देता है।

१६१७. सावेक्खो पुण राया, कुमारमादीहि परबलं खविया।
अजिते सयं पि जुज्झति, उवमा एसेव गच्छे वि॥

---

१. इन दोनों गाथाओं का तात्पर्यार्थ इस प्रकार है–

आचार्य भिक्षा के लिए गए हों। राजा आदि दर्शनार्थ आकर आचार्य के विषय में पूछने पर प्रतिपत्तिकुशल मुनि भिक्षाचर्या की बात न कहें, अन्य प्रयोजन बताए। राजा यदि प्रतीक्षा करने के लिए वहीं ठहर जाएं तो वे कुशल मुनि मनोज्ञ प्रथमालिका तथा सुंदर चोलपट्ट, लेकर आचार्य के पास जाकर राजा की बात कहे। आचार्य हाथ-पैर धोकर, प्रथमालिका तथा पानक से निवृत्त होकर विशेष वस्त्र पहनकर, भिक्षापात्र अन्य मुनियों को संभलाकर, इस विशेष वेश में वसति में प्रवेश कराए कि राजा भी दूर से ही जान ले कि ये आचार्य हैं। आचार्य के वसति में प्रविष्ट हो जाने पर पादप्रोंछन लेकर मुनि तैयार खड़े रहें। आचार्य के पूर्वरचित निषद्या पर बैठ जाने पर। कुछ मुनि पाद- प्रक्षालन के लिए तत्पर रहते हैं। पादप्रक्षालन के पश्चात् सभी मुनि आगे–पीछे, आसपास में बद्धांजलि हो बैठ जाते हैं। राजा यह सारा दृश्य देखकर चकित रह जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो राजा सापेक्ष होता है वह पहले कुमार आदि को भेजकर शत्रुसेना का क्षय करता है। विजय प्राप्त न होने पर स्वयं जाकर युद्ध लड़ता है। यही उपमा गच्छ पर भी लागू होती है।

२६१८. अद्धाणकक्खडाऽसति, गेलण्णादेसमादिएसुं तु।
संथरमाणे भइतो, हिंडेज्ज असंथरंतम्मि॥

इन कारणों से आचार्य भिक्षार्थ जा सकते हैं–मार्ग में, कर्कश क्षेत्र में, सहयोगी के न होने पर, ग्लान, प्राघूर्णक, बाल, वृद्ध, असह–इनके लिए प्रायोग्य भोजन-पान लाने के लिए, अथवा इनके लिए लाया गया भोजन-पान पर्याप्त न होने पर। यदि पर्याप्त लाभ हो जाता है तो कभी गोचरचर्या में जाते हैं और कभी नहीं।

२६१९. पंच वि आयरियादी, अच्छंति जहन्नए वि संथरणे।
एवं पिऽसंथरंते, सयमेय गणी अडति गामे॥

(संस्तरण के तीन प्रकार हैं–जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट)। जघन्य संस्तरण में भी आचार्य आदि पांचों (आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणावच्छेदक) स्थित रहते हैं। असंस्तरण की स्थिति में गणी स्वयं ही गांव में भिक्षा के लिए जाते हैं।

२६२०. मंडलगतम्मि सूरे, उत्तिण्णा जाव पट्ठवणवेला।
ता एंति भुत्त सण्णागता च उक्कोससंथरणे॥

नभोमंडल के मध्य में गए हुए सूर्य के समय अर्थात् मध्यान्ह वेला में भिक्षा के लिए वसति से निकलते हैं और यावत् तीसरे प्रहर में स्वाध्याय की प्रस्थापनावेला में वसति में लौटते हैं–यह उत्कृष्ट संस्तरण है। अथवा जो खा-पीकर संज्ञाभूमी में चले गए हैं–उस समय तक का काल उत्कृष्ट संस्तरण है।

२६२१. सण्णाउ आगताणं, च पोरिसी मज्झिमं हवति एयं।
विसुयावितमत्थदिणे, समतिच्छंते जहण्णं तु॥

मध्यान्ह में गोचरचर्या के लिए वसति से निकले, घूमकर वसति पर आकर, भोजन से निवृत्त होकर, संज्ञाभूमी से लौटने पर यदि चतुर्थ प्रहर प्रारंभ हो जाता है तो वह मध्यम संस्तरण है। संज्ञाभूमी से आकर भी यदि विसूचिकादि के कारण सूर्यास्तवेला भी हो गई हो तो वह जघन्य संस्तरणकाल है।

२६२२. अद्धाणेऽसंथरणे, अकोवियाणं य विकरण पलंबे।
एमेव कक्खडम्मि वि, असति त्ति सहायगा नत्थि॥

आचार्य गच्छ को साथ ले सार्थ के साथ मार्ग में जा रहे हैं। असंस्तरण की स्थिति में अथवा अकोविद सहायकों में अथवा सार्थ में बिना टुकड़े किए हुए प्रलंब–वनस्पति विशेष की प्राप्ति की स्थिति में आचार्य स्वयं भिक्षा के लिए जाते हैं। इसी प्रकार कर्कश क्षेत्र में भी इन्हीं तीन कारणों से तथा सहायकों के न होने पर आचार्य स्वयं भिक्षा के लिए जाते हैं।

२६२३. बहुया तत्थऽतरंता,अहव गिलाणस्स सो परं लभति।
एमेव य आदेसे, सेसेसु विभासबुद्धीए॥

गच्छ में अनेक साधु ग्लान हैं। वे गोचरचर्या में नहीं जा सकते अथवा ग्लान के लिए प्रायोग्य द्रव्य आचार्य को ही प्राप्त हो सकता है तब आचार्य स्वयं गोचरी के लिए जाते हैं। इसी प्रकार प्राघूर्णकों के लिए तथा शेष मुनियों–बाल, वृद्ध, असहाय के लिए आचार्य कब–कैसे गोचरी के लिए घूमते हैं–इसकी विभाषा अपनी बुद्धि से करनी चाहिए।

२६२४. अब्भुज्जयपरिकम्मं, कुणमाणं जा गणं न वोसिरति।
ताव सयं सो हिंडति, इति भयणा संथरंतम्मि॥

आचार्य जब तक अभ्युद्यतविहार परिकर्म करते हुए गण का व्युत्सर्ग नहीं करते तब तक वे स्वयं गोचरी करते हैं। संस्तरण की स्थिति में इसकी भजना है–विकल्प है।

२६२५. अद्धाणादिसुवेहं, सुहसीलत्तेण जो करेज्जाही।
गुरुगा व जं च जत्थ व, सव्वपयत्तेण कायव्वं॥

मार्ग में जाते हुए अथवा कर्कश आदि क्षेत्रों में गोचरी जाने में आचार्य यदि सुखशीलत्व के कारण उपेक्षा करते हैं तो उनको प्रायश्चित्त आता है चार गुरुमास का। तथा परितापना आदि में जहां जो प्रायश्चित्त निर्दिष्ट है वह प्राप्त होता है। इसलिए सर्वप्रयत्न से आचार्य को गोचरी में तत्पर रहना चाहिए।

२६२६. असती पडिलोमं तू, सग्गामे गमण-दाणसड्ढेसु।
पेसेति बितियदिवसे, आवज्जति मासियं गुरुयं॥

संस्तरण के अभाव में प्रतिलोम विधि अर्थात् गोचरी गणावच्छेदक से प्रारंभ करे–(गणावच्छेदक, स्थविर, प्रवर्तक, उपाध्याय।) इतने पर भी यदि पर्याप्त प्राप्त न हो तो अपने ग्राम में आचार्य दानश्राद्ध कुलों में भिक्षाटन करे। किसी मुनि ने किसी घर में ग्लानप्रायोग्य द्रव्य की याचना की पर नहीं मिला। दूसरे दिन उसी घर में उसी साधु को वहां भेजते हैं तो गुरुमासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (इसलिए उसी घर में प्रतिलोम विधि से मुनियों को भेजना चाहिए।)

२६२७. गणावच्छेए पुव्वं, ठवणकुलेसुं च हिंडति सगामे।
एवं थेरपवत्ती, अभिसेए गुरुगपडिलोमं॥

पहले गणावच्छेदक अपने ग्राम में स्थापनाकुलों में जाए। फिर प्रतिलोम विधि से जाए। स्थविर, प्रवर्तक, अभिषेक–उपाध्याय और फिर गुरु–आचार्य।

२६२८. ओमासिय पडिसिद्धं, तं चेव न तत्थ पट्ठवेज्जा तु।
पडिलोमं गणिमादी, गोरव्वं जत्थ वा कुणति॥

किसी मुनि ने किसी द्रव्य की एक घर में याचना की। गृहस्वामी ने प्रतिषिद्ध कर दिया। दूसरे दिन उसी घर में उसी मुनि को न भेजा जाए। किंतु पूर्वोक्त गणावच्छेदक के प्रतिलोम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम से जाए। अथवा गृहस्वामी जिसका गौरव करे उसे भेजा जाए।

२६२९. तित्थगरे त्ति समत्तं, अधुणा पावयणनिज्जरा चेव।
वच्चंति दो वि समगं, दुवालसंगं पवयणं तु॥

तीर्थंकर द्वार यहां समाप्त हुआ। अब प्रवचन और निर्जरा—इन दोनों को एक साथ प्रस्तुत करते हुए पहले प्रवचन को कहते हैं। प्रवचन है—द्वादशांग गणिपिटक।

२६३०. तं तु अहिज्जंताणं, वेयावच्चे उ निज्जरा तेसिं।
कस्स भवे केरिसया, सुत्तत्थ जहोत्तरं बलिया॥

जो द्वादशांग का अध्ययन करते हैं उनका वैयावृत्त्य करने से निर्जरा होती है। शिष्य ने पूछा—किसकी कैसी निर्जरा होती है? आचार्य ने कहा—सूत्र और अर्थ में जो बलवान् होता है उसके आधार पर निर्जरा होती है।

२६३१. सुत्तावासगमादी, चोद्दसपुव्वीण तह जिणाणं च।
भावे सुद्धमसुद्धे, सुत्तत्थे मंडली चेव॥

आवश्यक आदि सूत्रों से लेकर चौदह पूर्वों तक के सूत्रों के धारक मुनियों के वैयावृत्त्य के यथोत्तर महान् निर्जरा होती है। यही तथ्य अर्थ-धारक मुनियों के विषय में है। इसी प्रकार अवधिजिन आदि जिनों के विषय में है। वैयावृत्त्य करने वाले की शुद्ध अथवा अशुद्ध भावना के अनुसार निर्जरा होती है। सूत्रार्थ के युगपत् चिंतन में मंडलीक सूत्रार्थ के आधार पर विचार करना चाहिए।[1]

२६३२. पावयणी खलु जम्हा, आयरिओ तेण तस्स कुणमाणो।
महतीय निज्जराए, वट्टति साधू दसविहम्मि॥

प्रवचन के कारण आचार्य प्रावचनिक होते हैं। इसलिए उनकी वैयावृत्त्य करने वाला साधु महान् निर्जरा में वर्तन करता है। इसी प्रकार दस प्रकार का वैयावृत्त्य महान् निर्जरा का हेतु है।

२६३३. जारिसगं जं वत्थुं, सुतं तिण्हं व ओहिमादीणं।
तारिसओ च्चिअ भावो, उप्पज्जति वत्थुतो तम्हा॥

जो वस्तु जैसी होती है, जिसका जितना श्रुत होता है, अवधिज्ञानी आदि तीन प्रकार के जिनों में जो विशेष है—उन वस्तु, श्रुत तथा विशेष के अनुसार भाव उत्पन्न होते हैं और तदनुसार निर्जरा होती है।

२६३४. गुणभूइट्ठे दव्वे, जेण य मत्ताहियत्तणं भावे।
इति वत्थूओ इच्छति, ववहारो निज्जरं विउलं॥

गुणभूयिष्ठ (अनेक गुणों से युक्त) द्रव्य में जिन कारणों से भावों की—परिणामों की मात्रा का आधिक्य होता है उसी आधार पर निर्जरा होती है। अतः वस्तु के आधार पर व्यवहारनय विपुल निर्जरा का विधान करता है।

२६३५. लक्खणजुत्ता पडिमा, पासादीया समत्तऽलंकारा।
पल्हायति जध वयणं, तह निज्जर मो वियाणाहि॥

जो जिनप्रतिमा लक्षणयुक्त, प्रासादीय—मन को प्रसन्न करने वाली तथा समस्त अलंकारों से अलंकृत होती है, वह आंखों को और मन को जितनी प्रह्लाद करने वाली होती है, उतनी ही निर्जरा होती है।

२६३६. सुतवं अतिसयजुत्तो सुहोचितो तध वि तवगुणुज्जुत्तो।
जो सो मणप्पसादो, जायति सो निज्जरं कुणति॥

यह श्रुतवान् है, यह अतिशययुक्त है, यह सुखोचित होने पर भी तपस्या में तथा ज्ञान आदि गुणों में उद्युक्त रहता है—इस प्रकार जिसके मन में जितनी मनःप्रसत्ति होती है, उतनी ही वह निर्जरा करता है।

२६३७. निच्छयतो पुण अप्पे, जस्स वि वत्थुम्मि जायते भावो।
तत्तो सो निज्जरगो, जिण-गोतम-सीहआहरणं॥

निश्चयनय के अनुसार जिस अल्पगुणवाली वस्तु में भी तीव्र शुभ भाव होता है वह भी महानिर्जरक होता है। यहां जिन-गौतम-सिंह का आहरण है—

२६३८. सीहो तिविट्ठ निहतो, भमिउं रायगिह कविलबडुग त्ति।
जिणवीरकहणमणुवसम, गोतमोवसम दिक्खा य॥

त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में भगवान् महावीर ने सिंह को मार डाला। सिंह के जीव में यह अधृति हो गई कि मैं मेरे से हीन शक्ति वाले से मारा गया। यह मेरा पराभव है। उस समय गौतम का जीव त्रिपृष्ठ वासुदेव का सारथि था। उसने सिंह को अनुशासित करते हुए कहा—अधृति मत करो। तुम पशुसिंह हो। नरसिंह से मारे जाने पर तुम्हारा कैसा पराभव!। इस प्रकार अनुशासित होता हुआ वह सिंह मर गया। वह संसार में भ्रमण करता हुआ, चरम तीर्थंकर महावीर के भव के समय राजगृह नगर में कपिल ब्राह्मण के घर में पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। एक बार भगवान् राजगृह में पधारे। वह भगवान् के दर्शनार्थ समवसरण में आया और 'धम्म-धम्म' करने लगा। उसको उपशांत करने के लिए भगवान् ने गौतम को भेजा। गौतम उसके पास गए और उपदेश दिया। उन्होंने कहा—ये महान् आत्मा तीर्थंकर हैं। इनके प्रति जो द्वेष रखता है, वह दुर्गति को प्राप्त होता है। वह उपशांत हो गया। गौतम ने उसको दीक्षित कर दिया। भगवान महावीर की अपेक्षा गौतम के प्रति कपिल-पुत्र का गुरु-परिणाम पैदा हुआ।

---

१. आवश्यक सूत्रधर की वैयावृत्त्य करने वाले से दसवैकालिक सूत्रधर की वैयावृत्त्य करने वाले के महान् निर्जरा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर सूत्रधरों के वैयावृत्त्य करने से महानिर्जरा होती है। त्रयोदश पूर्वधर के वैयावृत्त्य से चतुर्दश पूर्वधर का वैयावृत्त्य महान् निर्जरा दायक होता है। सूत्रधर के वैयावृत्त्य करने से अर्थधर का वैयावृत्त्य महान् निर्जरा का हेतु बनता है। निशीथ, कल्प तथा व्यवहार सूत्रार्थधरों के वैयावृत्त्य से कालिकश्रुतधर का वैयावृत्त्य महान् निर्जरा का हेतु है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके महान् निर्जरा हुई।

२६३९. सुत्ते अत्थे उभए, पुव्वं भणिता जहोत्तरं बलिया।
मंडलिए पुण भयणा, जदि जाणति तत्थ भूयत्थं॥

सूत्र, अर्थ और तदुभय–इन तीनों में निर्जरा यथोत्तर बलवती होती है, यह पहले कहा जा चुका है। मंडली में पुनः उसकी भजना है, विकल्पना है। यदि मंडली में भूतार्थ (सद्भूतार्थ) जाना जाता है तो महानिर्जरा होती है। (यदि वह वैयावृत्त्यकर जानता है कि यह अधस्तन सूत्रपाठक ज्ञान आदि गुणों में अधिकतर है तो उसका वैयावृत्त्य करना महान् निर्जरा का हेतु बनता है आदि।)

२६४०. अत्थो उ महिद्धीओ, कडकरणेणं घरस्स निप्फत्ती।
अब्भुट्ठाणे गुरुगा, रण्णो याणे य देवी य॥

केवल सूत्रधर से अथवा केवल अर्थधर से सूत्रार्थधर महर्द्धिक होता है क्योंकि वह कृतकरण होता है। इस विषय में दृष्टांत है–घर की निष्पत्ति। अभ्युत्थान में चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। राजा के निर्गमन, तथा देवी का दृष्टांत। (व्याख्या आगे)

२६४१. आराधितो णरवती, तीहि उ पुरिसेहि तेसि संदिसति।
अमुगपुरि सतसहस्सं, घरं च एतेसि दातव्वं॥
२६४२. पट्टग घेत्तूण गतो, उंडियबितिओ उ ततियओ उभयं।
निप्फलगा दोण्णि तहिं, मुद्दा पट्टो य सफलो उ॥

तीन व्यक्तियों ने एक राजा की आराधना की। राजा ने संतुष्ट होकर तीनों को अपने आयुक्त के नाम यह संदेश लिखकर दिया कि अमुकपुर में प्रत्येक को एक-एक सुंदर घर और एक-एक लाख दीनार देना है। एक व्यक्ति इस संदेश को पट्टक पर लिखाकर ले गया। दूसरा व्यक्ति राजमुद्रा ले गया। तीसरा व्यक्ति पट्ट पर लिखाकर तथा राजमुद्रांकित–दोनों से सन्नद्ध होकर गया। प्रथम दोनों असफल रहे और तीसरा जो पट्ट तथा मुद्रा–दोनों से युक्त था, वह सफल रहा। उसको सुंदर घर और एक लाख दीनार प्राप्त हो गए।

(आयुक्त के पास तीनों उपस्थित हुए। आयुक्त ने प्रथम से कहा, पट्ट पर संदेश लिखा है, पर मुद्रा नहीं है। कैसे दूं? दूसरे से कहा–राजमुद्रा है पर नहीं जानता कि क्या देना है। दोनों असफल रहे। तीसरा उभययुक्त था। वह सफल हो गया।)

२६४३. एवं पट्टगसरिसं, सुत्तं अत्थो य उंडियत्थाणे।
उस्सग्गऽववायत्थो, उभयसरिच्छो य तेण बली॥

इस प्रकार पट्टगसदृश होता है सूत्र और अर्थ होता है राजमुद्रा के स्थानीय–सदृश। सूत्रार्थ होता है उत्सर्गापवादस्थ। वह उभयतुल्य अर्थात् पट्टग और राजमुद्रा तुल्य होता है, इसलिए वह बलवान् होता है।

२६४४. सुत्तस्स मंडलीए, नियमा उट्ठेंति आयरियमादी।
मोत्तूण पवायंतं, न उ अत्थे दिक्खण गुरुं पि॥

सूत्रमंडली में वाचना देते हुए आचार्य, उपाध्याय आदि प्राघूर्णक आदि आने पर नियमतः उठते हैं, अभ्युत्थान करते हैं। अर्थमंडली में केवल प्रवाचक को छोड़कर किसी के आने पर नहीं उठते फिर चाहे वे दीक्षागुरु भी क्यों न हो?

२६४५. पतिलीलं करेमाणी, नोट्ठिता सालवाहणं।
पुढवी नाम सा देवी, सो य रुट्ठो तधिं निवो॥
२६४६. ततो णं आह सा देवी, अत्थाणीए तवारिहा।
दासा वि सामियं एंतं, नोट्ठंति अवि पत्थिवं॥
२६४७. तं वावि गुरुणो मोत्तुं, न वि उट्ठेसि कस्सति।
न ते लीला कया होंती, उट्ठेंती हं स तोसितो॥

सातवाहन की रानी का नाम था पृथिवी। एक बार राजा कहीं बाहर गया। रानी अन्य रानियों से परिवृत होकर आस्थानमंडप में राजा का वेश पहनकर बैठ गई और पतिलीला–राजा की तरह प्रवृत्ति करने लगी। अचानक राजा आ गया। रानी अपने आसन से नहीं उठीं। उसके न उठने पर अन्य रानियां भी नहीं उठीं। यह देखकर राजा रुष्ट हो गया। राजा ने रानी को इस विपरीत व्यवहार के लिए कहा। तब रानी ने कहा–देव! आपकी आस्थानिका में बैठे हुए दास भी नाथ होते हैं। वे अपने स्वामी राजा को देखकर भी नहीं उठते। यह आपके आस्थानिका का प्रभाव है। देव! आप भी जब आस्थानिका में उपविष्ट होते हैं तब गुरु को छोड़कर अन्य किसी व्यक्ति के आने पर नहीं उठते। राजन्! यदि मैं आपकी लीला नहीं करती तो मैं अवश्य उठती। राजा देवी के वचनों से संतुष्ट हो गया। (अर्थमंडली में उपविष्ट आचार्य तीर्थंकर तुल्य होते हैं। वे किसी के आने पर अभ्युत्थान नहीं करते।)

२६४८. कधेंतो गोयमो अत्थं, मोत्तुं तित्थगरं सयं।
न वि उट्ठेति अन्नस्स, तग्गतं चेव गम्मति॥

गौतम स्वामी जब अर्थ की वाचना देते तब तीर्थंकर भगवान महावीर को छोड़कर अन्य किसी के आने पर स्वयं नहीं उठते। वर्तमान में उनके द्वारा किए गए का हम अनुसरण कर रहे हैं।

२६४९. सोतव्वे उ विही इणमो, अवक्खेवादि होति नायव्वो।
वक्खेवम्मि य दोसा, आणादीया मुणेतव्वा॥

श्रवणविधि यह है कि उसमें कोई व्याक्षेप न हो। व्याक्षेपों को जानना चाहिए। व्याक्षेप होने पर आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्व आदि दोष होते हैं।

२६५०. काउस्सग्गे वक्खेवया य विकधा विसोत्तिया पयतो।
उवणय वाउलणादि य, अक्खेवो होति आहरणे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६५१. आरोवणा परूवण, उग्गह तह निज्जरा य वाउलणा।
एतेहि कारणेहिं, अब्भुट्ठाणं तु पडिकुट्ठं॥

कायोत्सर्ग में, व्याक्षेपता, विकथा, विस्रोतसिका, प्रयत, उपनय, व्याकुलता आदि, आक्षेप तथा आहरण।

आरोपणा, प्ररूपणा, अवग्रह तथा निर्जरा, व्याकुलता—इन कारणों से अभ्युत्थान का प्रतिषेध किया गया है। (दोनों गाथाओं की व्याख्या अगली गाथाओं में।)

२६५२. उच्चारियाए नंदीए, वक्खेवे गुरुओ भवे।
अप्पसत्थे पसत्थे य, दिट्ठंतो हत्थिलावगा॥

(अनुयोग का प्रारंभ करने के निमित्त कायोत्सर्ग करने में) नंदी के उच्चारण के पश्चात् जो अभ्युत्थान आदि के द्वारा व्याक्षेप प्रस्तुत करता है उसको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। अप्रशस्त और प्रशस्त व्याक्षेप के विषय में हस्ती और लावक (धान काटने वाले) का दृष्टांत है।

२६५३. जह सालिं लुणावेंतो, कोई अत्थारितेहिं तु।
सेयं हत्थिं तु दावेति धाविता ते य मग्गतो॥

२६५४. न लूओ अध साली उ, वक्खेवेण य तेण उ।
वक्खेवे रयाणं तु, पोरिसी एव भज्जति॥

एक कृषक आने शालिक्षेत्र में शालि काटने के लिए कुछ अस्तारिकाओं (मूल्य लेकर धान काटने वाले कर्मकरों) की नियुक्ति की। एक दिन वहां श्वेत हाथी आ गया। कृषक ने उन कर्मकरों को हाथी दिखाया। वे उसके पीछे दौड़े। उस व्याक्षेप से उन्होंने शालि की कटाई नहीं की। इसी प्रकार व्याक्षेप में रत मुनियों के पौरुषीभंग हो जाता है।

२६५५. विकधा चउव्विधा वुत्ता, इंदिएहिं विसोत्तिया।
अंजलीपग्गहो चेव, दिट्ठी बुद्धुवजुत्तया॥

(५०,५१वें श्लोक के संदर्भ में) विकथा के चार प्रकार कहे गए हैं—स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा। इंद्रियों की विस्रोतसिका, अंजलिप्रग्रह, गुरुमुख पर दृष्टि, बुद्ध्युपयुक्तता.....(इनकी व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

२६५६. नस्सए उवणेतो सो, अन्नहा वोवणिज्जति।
नातं वागरणं वा वि, पुच्छा अद्धा च भस्सति॥

अभ्युत्थान आदि से व्याकुलता होती है। उससे वक्ता द्वारा उपदर्शित उपनय अन्यथा गृहीत होता है और वह विस्मृत हो जाता है, नष्ट हो जाता है। कहा गया उदाहरण, की गई व्याख्या अथवा पृच्छा आदि से पौरुषीकाल भी बीत जाता है।

२६५७. भासओ सावगो वावि, तिव्वसंजायमाणसो।
लभंतो ओहिलंभादी, जधा मुडिंबगो मुणी॥

भाषक और श्रोता—दोनों विशिष्ट अर्थों का अवगाहन करते हुए उसी में तीव्रता से एकाग्र हो जाते हैं। उस स्थिति में यदि अभ्युत्थान आदि व्याक्षेप न होता तो अवधिज्ञान आदि विशिष्ट लब्धियां प्राप्त हो सकती थीं। जैसे मुडिम्बक मुनि को.....।

(मुनि मुडिम्बक और आचार्य सुहिडिम्बक शुभध्यान में लीन थे। वे अवधि आदि की प्राप्ति कर लेते, यदि पुष्यमित्र उनके ध्यान में व्याघात उपस्थित नहीं करता। सभी साधु-साध्वी अत्यंत व्याकुल हो गए थे अतः पुष्यमित्र ने ध्यान में व्याघात किया।)

२६५८. आरोवणमक्खेवं, व दाउकामो तहिं तु आयरिओ।
वाउलणाए फिट्टति, उग्गहिउमणो न ओगिण्हे॥

अर्थमंडली में आचार्य आरोपणा प्रायश्चित्त की प्ररूपणा करना चाहता हैं। अभ्युत्थान आदि की व्याकुलता से वह विस्मृत हो जाता है, छूट जाता है। जो प्रायश्चित्त लेना चाहता है, वह अभ्युत्थान आदि की व्याकुलता से उसको ग्रहण नहीं करता।

२६५९. एगग्गो उवगिण्हति, वक्खिप्पंतस्स वीसुइं जाति।
इंदपुरइंददत्ते अज्जुणतेणे य दिट्ठंतो॥

एकाग्रता में ही प्रायश्चित्त अवगृहीत होता है। व्याक्षिप्त व्यक्ति के वह विस्मृत हो जाता है। इसमें इंद्रपुर पत्तन के इंद्रदत्त के पुत्रों का दृष्टांत तथा अर्जुनचोर का दृष्टांत वक्तव्य है।[1]

२६६०. एते चेव य दोसा, अब्भुट्ठाणे वि होंति नातव्वा।
नवरं अब्भुट्ठाणं, इमेहि तिहि कारणेहिं तु॥

ये ही दोष अभ्युत्थान आदि में भी होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। इन तीन कारणों से अभ्युत्थान करना चाहिए—

२६६१. पगतसमत्ते काले, अज्झयणुद्देस अंगसुतखंधे।
एतेहि कारणेहिं, अब्भुट्ठाणं तु अणुओगो॥

प्रकृत—प्रकरण के समाप्त होने पर, काल के समाप्त होने पर, अध्ययन, उद्देशक, अंग, श्रुतस्कंध के समाप्त होने पर—इन सब कारणों से अभ्युत्थान अनुयोग होता है।

२६६२. कप्पम्मि दोन्नि पगता, पलंबसुत्तं च मासकप्पे य।
दो चेव य ववहारे, पढमे दसमे य जे भणिता॥

कल्पाध्ययन के दो प्रकृत हैं—प्रलंबसूत्र और मासकल्प-

---

१. (क) महाराज इंद्रदत्त के अनेक पुत्र थे। वे सभी कलाचार्य के पास कलाएं सीखने लगे। किंतु प्रमाद और अन्यान्य व्याक्षेपों के कारण वे बहुत अल्प मात्रा में सीख पाए और जो कुछ सीखा था वह भी भूल गए। वे राधावेध करने में सफल नहीं हुए।

(ख) अर्जुनक चोर था। अगडदत्त उसको जीत नहीं पा रहा था। अगडदत्त ने तब एक उपाय सोचा। उसने अपनी रूपवती भार्या को, विभूषित- अलंकृत कर रथ के अग्रभाग पर बिठा दिया। दोनों में युद्ध प्रारंभ हुआ। अर्जुनक चोर स्त्रीरूप में व्याक्षिप्त हो गया। वह युद्ध करना भूल गया और तब अगडदत्त ने उसे मार डाला।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र। व्यवहार के दो प्रकृत हैं—प्रथम और दशवें उद्देशक में जो कहे गए हैं। (प्रथम में आरोपणासूत्र तथा दसवें में पांच प्रकार का व्यवहारसूत्र।)

२६६३. पेढियाओ य सव्वाओ, चूलियाओ तधेव य।
निज्जुत्ती कप्पनामस्स, ववहारस्स तधेव य॥

प्रकल्प—कल्पादिगत सभी पीठिकाएं तथा सभी चूलिकांए तथा व्यवहारकल्प की तथा दशवैकालिक आदि की निर्युक्तियां—ये सब प्रकृत हैं।

२६६४. अण्णो वि य आएसो, जो राइणिओ य तत्थ सोतव्वे।
अणुयोगधम्मयाए, कितिकम्मं तस्स कायव्वं॥

अन्य आदेश—मतान्तर भी हैं। जहां श्रोतव्य में रत्नाधिक—अनुभाषक है, वहां अनुयोगधर्म के कारण उसका कृतिकर्म करना चाहिए।

२६६५. केवलिमादी चोद्दस-दस-नवपुव्वी य उट्ठणिज्जो उ।
जे तहि ऊणतरगा, समाण अगुरुं न उट्ठेंति ॥

कोई अर्थ की वाचना दे रहा है। वहां यदि केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी आ जाए तो उसे अभ्युत्थान करना चाहिए। जो चौदह, दस, नौ पूर्वधरों से न्यून हैं वे पूर्वधरों के आने पर उठे। अर्थकथक यदि आने वाले से न्यून है तो वह उठे। जैसे—नौपूर्वी दसपूर्वी आने पर, दशपूर्वी चतुर्दशपूर्वी आने पर उठे। यदि आनेवाला समान श्रुतवाला तथा गुरु नहीं है तो अभ्युत्थान करने की आवश्यकता नहीं होती।

२६६६. सावेक्खे निरवेक्खे, गच्छे दिट्ठंत गामसगडेणं।
राउलकज्जनिमित्तं, जध गामेणं कतं सगडं॥
२६६७. अस्सामिबुद्धियाए, पडितं सडितं व नावि रक्खंति।
रण्णाणत्ते दंडो, सयं व सीदंति कज्जेसु॥

सापेक्ष और निरपेक्ष गच्छ विषयक दृष्टांत है—ग्राम शकट। एक गांव में राजा ने राजकुलकार्य के लिए एक शकट बनवाया। उसमें राज्यकार्य के लिए अनाज आदि लाने-भेजने का कार्य किया जाता था। वह शकट अस्वामिक है, ऐसी विचारधारा से वह शकट पतित—शटित हो गया। यत्र-तत्र टूट गया। कोई उसकी रक्षा नहीं करता था, देखभाल नहीं करता था। कालांतर में वह संपूर्ण नष्ट हो गया। एक दिन राजा ने धान्य लाने का आदेश दिया। ग्रामीण धान्य नहीं ला सके। राजा ने उनको दंडित किया। गांव के लोग प्रयोजन उपस्थित होने पर स्वयं दुःख पाने लगे।

२६६८. एव न करेंति सीसा, काहिंति पडिच्छियं ति काऊणं।
ते वि य सीस त्ति ततो, हिंडणपेहादिसुं सिग्गो॥

इस दृष्टांत के अनुसार शिष्य आचार्य का कार्य यह सोच कर नहीं करते कि प्रातीच्छक कर देंगे और प्रातीच्छक यह सोचकर आचार्य का कार्य नहीं करते कि शिष्य कर देंगे। ऐसी स्थिति में आचार्य स्वयं भिक्षाटन करते हैं, उपकरणों की प्रेक्षा आदि करते हैं। ये कार्य करते हुए वे परिश्रांत हो जाते हैं। यह निरपेक्ष विषयक दृष्टांत है।

२६६९. बितिएहि तु सारवितं, सगडं रण्णा य उक्करा उ कता।
इय जे करेंति गुरुणो, निज्जरलाभे य कित्ती य॥

दूसरे गांव में राजकुल द्वारा एक शकट का निर्माण किया गया। वे उसकी पूरी सार-संभाल करते। राजा ने संतुष्ट होकर ग्रामीणों को करमुक्त कर दिया। गच्छ में इस प्रकार जो गुरु का कार्य करते हैं उनको निर्जरा का लाभ होता है, और उनकी कीर्ति होती है।

२६७०. दव्वे भावे भत्ती, दव्वे गणिगा उ दूति-जाराणं।
भावे उ सीसवग्गो, करेति भत्तिं सुतधरस्स॥

आचार्य की भक्ति करने से तीर्थ की अव्यवच्छित्ति होती है। भक्ति के दो प्रकार हैं—द्रव्यभक्ति और भावभक्ति। गणिका भुजंग (गणिकापति) की जो भक्ति करती है अथवा दूतियां जारों की जो भक्ति करती हैं, वह द्रव्य भक्ति है। शिष्यवर्ग श्रुतधर की जो भक्ति करते हैं वह है भावभक्ति।

२६७१. जइ वि य लोहसमाणो, गेण्हति खीणंतराइणो उंछं।
तह वि य गोतमसामी, पारणए गिण्हती गुरुणो॥

यद्यपि लोहसमान लोहार्य मुनि क्षीणांतराय भगवान् महावीर के लिए सदा उंछ—भक्तादिक लाते थे और भगवान् उसे ग्रहण करते थे।[1] फिर भी गौतमस्वामी अपने पारणक के साथ-साथ गुरु भगवान् महावीर के योग्य द्रव्य लाते थे।

२६७२. गुरुअणुकंपाए पुण, गच्छो अणुकंपितो महाभागो।
गच्छाणुकंपयाए, अव्वोच्छित्ती कता तित्थे॥

गुरु की अनुकंपा से गच्छ महाभाग अर्थात् अचिंत्यशक्ति से अनुकंपित होता है। गच्छानुकंपा से तीर्थ की अव्यवच्छित्ति होती है।

२६७३. किह तेण न होति कतं, वेयावच्चं तु दसविधं जेणं।
तस्स पउत्ता अणुकंपितो उ थेरो थिरसभावो॥

यह कैसे कहा जा सकता है कि आचार्य दसविध वैयावृत्त्य नहीं करते? क्योंकि उस वैयावृत्त्य के कारण ही उसके प्रयोक्ता स्थिरस्वभावी स्थविर—आचार्य अनुकंपित—अनुगृहीत होते हैं।

२६७४. अन्ने वि अत्थि भणितं, अतिसेसा पंच होंति आयरिए।
जो अन्नस्स न कीरति, न यातिचारो असति सेसो॥

आचार्य के पांच अतिशय (विशेष करणीय) भी कहे गए

---

१. कहा है—*धन्नो सो लोहज्जो खंतिखमाए वरलोहसरिसवन्नो।*
जस्स जिणो पत्तातो इच्छइ पाणीहिं भुत्तुं जे॥

धन्य है वह लोहसदृशवर्ण वाला लोहार्य, जिसके पात्र में आनीत भक्तपान भगवान् महावीर अपने पाणिपात्र में खाना चाहते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इस वचन के आधार पर अन्य अतिशय भी कहे गए हैं। इन पांचों में से कोई भी एक अनाचार्य में नहीं किया जाता। आचार्य में पांचों अतिशयों में से किसी एक अतिशय का न होना अर्थात् न करना अतिचार है।

२६७५. भत्ते पाणे धोव्वण, पसंसणा हत्थ-पायसोए य।
आयरिए अतिसेसा, अणातिसेसा अणायरिए॥

भक्त, पान, प्रक्षालन, प्रशंसन तथा हाथपैर की विशुद्धि—ये आचार्य के पांच अतिशय हैं। अनाचार्य में ये अनतिशय हैं।

२६७६. कालसभावाणुमतं, भत्तं पाणं च अच्चितं खेत्ते।
मलिणमलिणा य जाता, चोलादी तस्स धुव्वंति॥

आचार्य का पहला अतिशय है—कालानुमत और स्वभावानुमत भक्त की प्राप्ति तथा जिस क्षेत्र में जो पानी अर्चित है—यह दूसरा अतिशय है। चोलपट्ट आदि जिसके मलिन-मलिन हो गए हैं, उनका प्रक्षालन करना—यह तीसरा अतिशय है।

२६७७. परवादीण अगम्मो, नेव अवण्णं करेंति सुइसेहा।
जध अकधितो वि नज्जति, एस गणी उज्जपरिहीणो॥

(आचार्य के वस्त्र प्रक्षालन क्यों?) वे परवादी के लिए अगम्य हों, शुचिशैक्ष—शुचिता को विशेष मानने वाले शैक्ष उनकी अवज्ञा न करे तथा बिना कहे भी दूसरा जान जाए कि ये गणी हैं, आचार्य हैं। जो स्वाभाविक सौंदर्य से परिहीन हों, उन्हें वस्त्रप्रक्षालन से वैसा करना चाहिए।

२६७८. जध उवगरणं सुज्झति, परिहरमाणो अमुच्छितो साहू।
तह खलु विसुद्धभावो, विसुद्धवासाण परिभोगो॥

जैसे साधु अमूर्च्छा भाव से उपकरणों का उपभोग करता हुआ शुद्ध है, वैसे ही आचार्य भी विशुद्धभाव से विशुद्धवस्त्रों का परिभोग करता हुआ शुद्ध है।

२६७९. गंभीरो महवितो, अब्भुवगतवच्छलो सिवो सोमो।
विच्छिण्णकुलुप्पण्णो, दाया य कतण्णु तह सुतवं॥

२६८०. खंतादिगुणोवेओ, पहाणणाण-तव-संजमावसहो।
एमादि संतगुरुगुणविकत्थणं संसणातिसए॥

(प्रशंसनातिशय) गुरु गंभीर हैं, मृदुता से युक्त हैं, अभ्युपगत शिष्यों के लिए वत्सल हैं, शिव—अनुपद्रवकारी हैं, सौम्य हैं, विस्तीर्णकुलोत्पन्न हैं, दाता हैं, कृतज्ञ और श्रुतवान् हैं, क्षांति आदि गुणों से युक्त हैं, ज्ञानप्रधान तप और संयम के आवासस्थल हैं—आदि सद्गुरु के गुणों की श्लाघा करना, कथन करना प्रशंसनातिशय है।

२६८१. संतगुणुक्कित्तणया, अवण्णवादीण चेव पडिघातो।
अवि होज्ज संसईणं, पुच्छाभिगमे दुविधलंभो॥

सद्गुणों के कीर्तन से अवर्णवादियों का प्रतिघात होता है तथा जो संशयी अर्थात् जिज्ञासु होते हैं, वे आचार्य का गुणोत्कीर्तन सुनकर पृच्छा के लिए आते हैं। इससे दो लाभ होते हैं—धर्म सुनकर वे अगारधर्म अथवा अनगारधर्म स्वीकार करने के लिए तत्पर हो सकते हैं।

२६८२. कर-चरण-नयण-दसणाइ-
धोव्वणं पंचमो उ अतिसेसो।
आयरियस्स उ सययं,
कायव्वो होति नियमेणं॥

आचार्य का पांचवां अतिशय है—कर, चरण, नयन, दशन आदि का प्रक्षालन। आचार्य के ये सतत तथा नियमतः करने होते हैं।

२६८३. मुह-नयण-दंत पायादिधोव्वणे को गुणो त्ति ते बुद्धी।
अग्गि मति-वाणिपडुया, होति अणोत्तप्पया चेव॥

मुख, नयन दंत, पाद आदि धोने में क्या गुण है—यह प्रश्न होता है। आचार्य कहते हैं—इनके प्रक्षालन से अग्नि की पटुता, मति और वाक्पटुता होती है तथा नयन, पाद आदि के प्रक्षालन से अलज्जनीयशरीरता होती है।

२६८४. असढस्स जेण जोगाण, संधणं जध उ होति थेरस्स।
तं तह करेंति तस्स उ, जध से जोगा न हायंति॥

जैसे अशठभाव से प्रवर्तमान स्थविर के जिस प्रकार योगों का संधान हो वैसे किया जाता है। उसी प्रकार आचार्य के भी वैसा ही करते हैं जिससे उनके योगों की हानि न हो।

२६८५. एते पुण अतिसेसे, णोजीवे वावि को वि दढदेहो।
निदरिसणं एत्थ भवे, अज्जसमुद्दा य मंगू य॥

इन अतिशयों को कोई दृढ़शरीरी आचार्य नहीं जीता। यहां दो आचार्यों का निदर्शन है—आर्यसमुद्र तथा मंगू आचार्य।

२६८६. अज्जसमुद्दा दुब्बल, कितिकम्मा तिण्ण तस्स कीरंति।
सुत्तत्थपोरिसि समुट्ठियाण ततियं तु चरमाए॥

आर्यसमुद्र दुर्बलशरीरी थे। उनके तीन कृतिकर्म—विश्रामणारूप किए जाते थे। एक सूत्र पौरुषी की समाप्ति के बाद, दूसरा अर्थपौरुषी की समाप्ति के बाद तथा तीसरा चरमपौरुषी के समय।

२६८७. सड्ढकुलेसु य तेसिं, दोच्चंगादी उ वीसु घेप्पंति।
मंगुस्स य कितिकम्मं, न य वीसुं घेप्पते किंची॥

आचार्यों के लिए श्राद्धकुलों से अलग-अलग पात्रों में भक्त आदि लेते हैं। आर्य समुद्र के इसी प्रकार आता था। परंतु आर्य मंगु के न कोई कृतिकर्म था और न अलग पात्रों में कुछ भी लाया जाता था।

२६८८. बेंति ततो णं सड्ढा, तुज्झ वि वीसुं न घेप्पते कीस।
तो बेंति अज्जमंगू, तुब्भेच्चिय एत्थ दिट्ठंतो॥

एक बार आचार्यों के दो श्रावक—शाकटिक और वैकटिक,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य मंगू के पास आकर बोले—आर्य समुद्र की भांति आपका भक्तपान अलग-अलग पात्रों में क्यों नहीं लाया जाता? आर्य मंगू तब बोले—इस विषय में तुम दोनों ही दृष्टांतरूप हो।

२६८९. जा भंडी दुब्बला उ, तं तुब्भे बंधहा पयत्तेण।
न वि बंधह बलिया ऊ, दुब्बलबलिए व कुंडी वि॥

ओ शाकटिक! जो भंडी—शकट दुर्बल हो जाता है उसको तुम प्रयत्नपूर्वक बांधते हो। जो शकट मजबूत होता है, उसे नहीं बांधते। हे वैकटिक! तुम अपनी दुर्बल कुंडी—शकटी को बांधते हो और जो मजबूत कुंडी होती है, उसको कुछ नहीं करते।

२६९०. एवं अज्जसमुद्दा, दुब्बलभंडी व संठवणयाए।
धारंति सरीरं तू, बलि भंडीसरिसग वयं तु॥
२६९१. निप्पडिकम्मो वि अहं, जोगाण तरामि संधणं काउं।
नेच्छामि य बितियंगे, वीसुं इति बेंति ते मंगू॥
२६९२. न तरंती तेण विणा, अज्जसमुद्दा उ तेण वीसं तु।
इय अतिसेसायरिए, सेसा पंतेण लाढेंती॥

इसी प्रकार आर्य समुद्र दुर्बलभंडी की भांति अपने शरीर को संस्थापित करते हुए धारण करते हैं। हम तो बलिक भंडी के सदृश हैं। हम निष्प्रतिकर्म रहकर भी योगों का संधान करने में समर्थ हैं। हम दूसरे-दूसरे पात्रों में पृथक्-पृथक् आहार लाना पसंद नहीं करते। आर्य समुद्र पृथक्-पृथक् पात्रों में प्रायोग्य द्रव्य लाए जाने के बिना संधान करने में समर्थ नहीं होते। इन कारणों से शेष अतिशेष भी आचार्यों के होते हैं। शेष मुनि अंतप्रांत से जीवन यापन कर लेते हैं।

२६९३. अंतो बहिं च वीसुं, वसमाणो मासियं तु भिक्खुस्स।
संजमआतविराधण, सुण्णे असुभोदओ होज्जा॥

उपाश्रय के अंतर या बाहिर् अकेले रहने वाले भिक्षु को एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। शून्य स्थान में रहने से अशुभकर्मों का उदय होता है और उससे आत्मविराधना और संयमविराधना होती है।

२६९४. तब्भावुवजोगेणं, रहिते कम्मादिसंजमे भेदो।
मेरावलंबिता मे, वेहाणसमादि निव्वेगो॥

पुंवेदोदय के भाव में उपयुक्त होकर जो मुनि अकेला विजन में रहता है तो हस्तकर्म आदि में व्यापृत होकर संयम की विराधना करता है। वह सोचता है—मैंने ब्रह्मचर्य की मर्यादा का अवलंबन लिया था। मैं उसका अब पालन नहीं करता। इस प्रकार निर्वेद को प्राप्त वह भिक्षु फांसी आदि लगाकर आत्मघात कर सकता है।

२६९५. जइ वि य निग्गयभावो,
तह वि य रक्खिज्जते स अण्णेहिं।
वंसकडिल्ले छिण्णो,
वि वेलुओ पावए न महिं॥

यद्यपि उस भिक्षु के भाव संयम से निर्गत हो चुके हैं, फिर भी अन्य भिक्षु उसकी इन सब क्रियाओं से रक्षा करते हैं। जैसे—बांस के झुरमुट में कोई बांस छिन्न हो जाने पर भी जमीन को प्राप्त नहीं करता क्योंकि अन्य बांसों से वह बीच में ही रोक लिया जाता है।

२६९६. वीसु वसंते दप्पा, गणि आयरिए य होंति एमेव।
सुत्तं पुण कारणियं, भिक्खुस्स वि कारणेऽणुण्णा॥

दर्प से अर्थात् कारण के बिना गणी, आचार्य यदि अकेले एकांत में रहते हैं तो भिक्षु की भांति ही प्रायश्चित्त आता है तथा संयम और आत्मविराधना होती है। सूत्र कारणिक है अर्थात् कारण के आधार पर प्रवृत्त है। भिक्षु को भी कारण में एकांत में अकेले रहने की अनुज्ञा है।

२६९७. विज्जाणं परिवाडी, पव्वे पव्वे य देंति आयरिया।
मासद्धमासियाणं, पव्वं पुण होति मज्झं तु॥

आचार्य पर्व-पर्व में विद्या की परिपाटी देते हैं—अर्थात् विद्याओं का परावर्तन करते हैं। मास और अर्द्धमास के मध्य पर्व होता है।

२६९८. पक्खस्स अट्ठमी खलु, मासस्स य पक्खियं मुणेयव्वं।
अण्णं पि होति पव्वं, उवरागो चंदसूराणं॥

पक्ष का अर्थात् अर्द्धमास का मध्य है अष्टमी। वह पर्व है। मास का मध्य है पाक्षिक। वह है कृष्ण चतुर्दशी। वह पर्व है। अन्य भी पर्व दिन होते हैं। चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण—ये भी पर्व दिन होते हैं। (इन दिनों में विद्यासाधना की जाती है।)

२६९९. चाउद्दसीगहो होति, कोइ अधवावि सोलसिग्गहणं।
वत्तं तु अणज्जंते, होति दुरायं तिरायं वा॥

किसी विद्या का ग्रहण चतुर्दशी को होता है और किसी विद्या का ग्रहण सोलहवें अर्थात् शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को होता है। व्यक्तरूप से अज्ञात होने पर विद्याग्रहण के लिए दो रात अथवा तीन रात तक एकांत में अकेले रहना सम्मत है।

२७००. वा सद्देण चिरं पी, महपाणादीसु सो उ अच्छेज्जा।
ओयविए भरहम्मी, जह राया चक्कवट्टी वा॥

'वा' शब्द के द्वारा महाप्राणध्यान आदि के प्रसंग में चिरकाल तक भी अकेले रह सकते हैं। जैसे राजा चक्रवर्ती आदि भरतक्षेत्र प्रसाधित होने पर ही लौटते हैं, वैसे ही ध्यान में जब तक विशिष्ट उपलब्धि नहीं होती तब तक आचार्य उसी में संलग्न रहते हैं।

२७०१. बारसवासा भरधाधिवस्स, छच्चेव वासुदेवाणं।
तिण्णि य मंडलियस्सा, छम्मासा पागयजणस्स॥

भरताधिप चक्रवर्ती के महाप्राणध्यान बारह वर्ष का, वासुदेव के छह वर्ष का, मांडलिक राजा के तीन वर्ष का और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्य जनता के छह मास का होता है।

२७०२. जे जत्थ अधिगया खलु,
अस्सा दब्भक्खमादिया रण्णा।
तेसि भरणम्मि ऊणं,
भुंजति भोए अडंडादी॥

राजा ने जिन महाअश्वाधिपतियों आदि को अश्वों के भरण-पोषण के लिए अधिकृत किया, वे उनका यदि न्यून भरण पोषण भी करते हैं तो भी वे दंडरहित भोगों का उपभोग करते हैं। (यह दृष्टांत है। इसकी दार्ष्टान्तिकयोजना इस प्रकार है—)

२७०३. इय पुव्वगताधीते,
बाहु सनामेव तं मिणे पच्छा।
पियति त्ति व अत्थपदे,
मिणति त्ति व दो वि अविरुद्धा॥

भद्रबाहु ने पूर्वगत का अध्ययन कर लिया। अर्थात् उसे अपने नाम की भांति परिचित कर लिया। पश्चात् महाप्राणध्यान के बल से उसका परावर्तन कर लेते थे। वे अपनी इच्छा से उस ध्यान से निवर्तित नहीं हुए, बहुतकाल तक उसी में संलग्न रहे। फिर भी वे प्रायश्चित्तार्ह नहीं हुए। महापान शब्द की दो व्युत्तियां हैं पिबतीति वा मिनोतीति वा। दोनों अविरुद्ध हैं, एकार्थक हैं।[1]

२७०४. वा अंतो गणि व गणो, वक्खेवो मा हु होज्ज अग्गहणं।
वसभेहि परिक्खित्तो, उ अच्छते कारणे तेहिं॥

यदि आचार्य वसति के भीतर रहते हैं तो गण बाहर रहता है और यदि गण भीतर रहता है तो गणी बाहर रहते हैं। क्योंकि उनके विद्या आदि के परावर्तन में कोई व्याक्षेप न हो, अयोग्य शिष्य आचार्य के परावर्तन को सुनकर ग्रहण न कर ले—इन कारणों से आचार्य वसति के अंदर या बाहर मुनियों से विलग होकर अकेले रहते हैं।

२७०५. पंचेते अतिसेसा, आयरिए होंति दोण्णि उ गणिस्स।
भिक्खुस्स कारणम्मि उ, अतिसेसा पंच वी भणिया॥

आचार्य के पांच अतिशय होते हैं, तथा गणी—गणावच्छेदक के दो अतिशय होते हैं। कारण में भिक्षु के लिए भी पांचों अतिशय कहे गए हैं।

२७०६. जे सुत्ते अतिसेसा, आयरिए अत्थतो व जे भणिया।
ते कज्जे जतसेवी, भिक्खु वि न बाउसी होति॥

सूत्र में जो पांच अतिशेष आचार्य के लिए कहे गए हैं तथा जो पांच अर्थतः अतिशेष हैं—इन दसों अतिशयों का प्रयोजनवश जयसेवी—यतनापूर्वक उपभोग करने वाला भिक्षु बकुश नहीं होता।

२७०७. बालाऽसहुमतरंतं, सुइवादिं पप्प इड्ढिवुड्ढं वा।
दसवि भइयातिसेसा, भिक्खुस्स जहक्कमं कज्जे॥

बाल, असह, ग्लान, शुचिवादी, ऋद्धिवृद्ध (प्रव्रजित राजा आदि)—इन भिक्षुओं के प्रति प्रयोजन उत्पन्न होने पर यथाक्रम दशों अतिशयों का वैकल्पिक प्रयोग हो सकता है।

२७०८. कप्पति गणिणो वासो, बहिया एगस्स अतिपसंगेण।
मा अगडसुता वीसुं, वसेज्ज अह सुत्तसंबंधो॥

गणी—गणावच्छेक वसति के बाहर अकेले रह सकते हैं। यह सुनकर अकृतश्रुत मुनि अतिप्रसंग से अकेले न रह जायें—इसलिए यह सूत्र-रचना है। यही सूत्र का संबंध है।

२७०९. एगम्मि वी असंते, ण कप्पती कप्पती य संतम्मि।
उडुबद्धे वासासु य, गीयत्थे देसिए चेव॥

अकृतश्रुत (अगीतार्थ) मुनि अनेक हों परंतु एक भी गीतार्थ मुनि न हों तो वर्षावास और ऋतुबद्ध काल में रहना नहीं कल्पता। एक भी गीतार्थ हो तो रहना कल्पता है क्योंकि गीतार्थ देशक ही होता है।

२७१०. किध पुण होज्ज बहूणं, अगडसुताणं तु एगतो वासो।
होज्जाहि कक्खडम्मी, खेत्ते अरसादि चइयाणं॥

अश्रुतज्ञ अनेक मुनियों का एकत्रवास किस कारण से होता है? आचार्य कहते हैं—रस आदि का त्याग न करने वालों का कर्कश क्षेत्र में एकत्र वास होता है।

२७११. चइयाण य सामत्थं, संघयणजुयाण आउलाणं पि।
उडुवासे लहु-लहुगा, सुत्तमगीयाण आणादी॥

संहननयुक्त होने पर भी जो मुनि अरस-विरस आदि आहार से त्याजित अर्थात् आकुल-व्याकुल होकर सामत्थ—पर्यालोचन करते हैं कि हम इस प्रकार कितने समय तक रह पाएंगे। यह सोचकर यदि गणापक्रमण कर ऋतुबद्ध काल में रहते हैं तो लघुमास का प्रायश्चित्त तथा वर्षाकाल में रहते हैं तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अगीतार्थ विषयक यह सूत्र न केवल अधिकृत प्रायश्चित्त का ही कथन करता है किंतु आज्ञा आदि दोष भी प्राप्त होते हैं।

२७१२. मिच्छत्तसोहि सागारियाइ गेलण्ण अधवा कालगते।
अद्धाण-ओम-संभम, भए य रुद्धे य ओसरिए॥

मिथ्यात्व, शोधि, सागारिक, ग्लान अथवा कालगत, अध्वा में, अवमौदर्य, संभ्रम, भय, रुद्ध तथा अपसृत—इस द्वार गाथा की व्याख्या अगली गाथाओं में।

---

१. पिबति अर्थपदानि यत्रस्थितस्तत्पानं, महच्च तत्पानं च महापानमिति—जहां स्थित है, वहां अर्थपदों को पीना, यह पान है। वह पान महत् होने के कारण ध्यान 'महापान' कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७१३. मतिभेदा पुव्वोग्गह, संसग्गीए य अभिनिवेसेणं।
गोविंदे य जमाली, सावग तच्चण्णिए गोट्ठे॥

मिथ्यात्व के चार मुख्य कारण हैं—मतिभेद, पूर्वाग्रह, संसर्ग तथा अभिनिवेश। इस विषयक ये उदाहरण हैं—जमालि, गोविंद, श्रावकभिक्षु, गोष्ठामाहिल।

२७१४. मतिभेदेण जमाली, पुव्वग्गहितेण होति गोविंदो।
संसग्गि साव भिक्खू, गोट्ठामाहिलऽभिनिवेसेणं॥

मतिभेद से मिथ्यात्व जैसे जमालि, पूर्वाग्रह से मिथ्यात्व जैसे गोविंद, संसर्ग से मिथ्यात्व जैसे श्रावकभिक्षु तथा अभिनिवेश से मिथ्यात्व जैसे गोष्ठामाहिल।

२७१५. आवण्णमणावण्णे, सोहिं न विदंति ऊणमधियं वा।
जे य वसधीय दोसा, परिहरति न ते अयाणंता॥

२७१६. गेलण्णे वोच्चत्थं, करेंति न य मुयविधिं वि जाणंति।
अद्धाणमडंति सया, जयण ण याणेंति ओमे वि॥

अकृतश्रुत—अगीतार्थ मुनि प्राप्त अथवा अप्राप्त प्रायश्चित्त को न जानते हुए न्यून अथवा अधिक प्रायश्चित्त दे देते हैं। वे वसति के दोषों को नहीं जानते, इसलिए उनका परिहार नहीं कर सकते। वे ग्लान विषयक विपर्यास करते हैं। वे कालगत की विधि को नहीं जानते। वे अध्वा को न जानने के कारण सदा घूमते रहते हैं। वे अवमौदर्य की यतना को भी नहीं जानते।

२७१७. अगणादिसंभमेसु य, बोहिगमेच्छादिएसु य भएसु।
रायादुट्ठादीसु य, विराहगा जतणऽयाणंता॥

अग्न्यादिक का संभ्रम होने पर, बोधिक स्तेन और म्लेच्छ आदि का भय होने पर, राजद्विष्ट आदि में यतना नहीं जानते हुए वे संयम तथा आत्मविराधक होते हैं।

२७१८. संभमनदिरुद्धस्स वि, उन्निक्खंतस्स फिडितस्स।
ओसरियसहायस्स व, छड्डेइ बहिं उवहतो त्ति॥

संभ्रम से जो एकाकी हो गया हो, नदीनिरुद्ध हो गया हो, उन्निष्क्रांत हो गया हो अथवा सार्थ से अलग हो गया हो, जिसके सहायक अपसृत हो गए हों, उपधि उपहत हो गए हों, तब वह संयम को छोड़ देता है।

२७१९. एतेण कारणेणं, अगडसुयाणं बहूण वि न कप्पो।
बितियपद रायदुट्ठे, असिवोमगुरूण संदेसा॥

इन कारणों से अगीतार्थ मुनियों का एकत्र निवास नहीं कल्पता। किंतु अपवाद में उनका एकत्र निवास कुछ कारणों से हो सकता है। वे कारण हैं—राजा का प्रद्वेष हो जाने पर, अवमौदर्य के समय अथवा गुरु के संदेश से, आज्ञा से।

२७२०. तध नाणादीणट्ठा, एतेसिं गीतो दिज्ज एक्केक्को।
असती एगागी वा, फिडिता वा जाव न मिलंति॥

ज्ञान आदि के निमित्त (ज्ञान के निमित्त, दर्शन और चारित्र के निमित्त तथा वैयावृत्त्यकरण के निमित्त) उनको एक-एक गीतार्थ मुनि दिया जाता है। उनके अभाव में एकाकी अगीतार्थ भी जाते हैं। सार्थ से बिछुड़कर एकाकी हो गए हों तो जब तक न मिले तब तक अश्रुतधारी का एकत्र निवास अविरुद्ध है।

२७२१. एगाहिगमट्ठाणे, व अंतरा तत्थ होज्ज वाघाते।
तेणऽच्छेज्जा तत्थ उ, सेहस्स नियल्लगा बेंति॥

२७२२. तत्तो वि पलाविज्जति, गीतत्थबितिज्जगं तु दाऊणं।
असतीए संगारो, कीरति अमुगत्थ मिलियव्वं॥

एक दिन के गमन—आगमन वाले मार्ग में कहीं व्याघात हो जाने पर मुनि वहीं रह जाता है। वहां उसके ज्ञातिजन कहते हैं—हम इसको उत्प्रव्रजित करेंगे, घर ले जाएंगे। उसको दूसरे गीतार्थ के साथ पलायन करा दिया जाता है। गीतार्थ के अभाव में अगीतार्थ के साथ उसे भेजते हुए यह संकेत दिया जाता है कि अमुक प्रदेश में मिल जाना। (अगीतार्थ के अभाव में उसे एकाकी भी भेज दिया जाता है।)

२७२३. रायादुट्ठादीसु य, सव्वेसुं चेव होति संगारो।
ण्हाणादि समोसरणे, गीतत्थबितिज्जगं मग्गे॥

२७२४. असती एगाणीओ, निब्बंधे वा बहूणऽगीताणं।
सामायारीकहणं, मा बहिभावं निसंभित्ता॥

राजप्रद्विष्ट आदि सभी कार्यों में संकेत दिया जाता है कि अमुक स्थान में मिल जाना। तथा जिनप्रतिमा के स्नानादि के निमित्त तथा समवसरण में अनेक आचार्यों का आगमन होता है। वहां दूसरे गीतार्थ की याचना की जाती है। गीतार्थ के न मिलने पर यदि वह एकाकी जाने का आग्रह करता है तो उसे एकाकी भेजा जाता है अथवा अनेक अगीतार्थ मुनियों के साथ उसे भेजा जाता है। उनको सामाचारी की अवगति दी जाती है। यह इसलिए किया जाता है कि निरुद्ध्यमान होने पर उसका मन संयम से बाहर न चला जाए।

२७२५. अण्णे गामे वासं, नाऊण निवारितं अगीयाणं।
सग्गामे वा वीसुं, वसेज्ज अगडा अयं लेसो॥

अन्य ग्राम में अगीतार्थ मुनियों का वास निवारित है—ऐसा जानकर अकृतश्रुत मुनि अपने ग्राम में विष्वक्—अकेला वास न करे—यह लेशतः सूत्रसंबंध है।

२७२६. अगडसुता वाधिकता, समागमो एस होति दोण्हं पि।
सच्छंदऽणिस्सिया वा, निस्सियजतणा विही भणिया॥

पूर्वसूत्र में अकृतश्रुत मुनियों की बात थी। प्रस्तुत सूत्र में भी वही अधिकार है। दोनों सूत्रों का यह समागम है। पहले में स्वच्छंद अनिश्रित कहे गए हैं। इसमें गीतार्थ निश्रितों की यतना कही गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७२७. गामे उवस्सए वा, अभिनिव्वगडाय दोस ते चेव।
नवरं पुण नाणत्तं, तिहि दिवसे गीतसंवसणं॥

ग्राम अथवा उपाश्रय में जिनके पृथक् परिक्षेप हों वे ही दोष होते हैं। उसमें नानात्व यह है कि तीसरे दिन गीतार्थ के साथ संवास करे।

२७२८. एवं पि भवे दोसा, दोसुं दिवसेसु जे भणियपुव्विं।
कारणियं पुण वसही, असती भिक्खोभए जतणा॥

तीसरे दिन गीतार्थ के साथ संवास किया। परंतु पूर्व कथित दोष दो दिनों के होते हैं। यह सूत्र कारणिक है। यदि वसति न हो अथवा भिक्षा सबके लिए उपलब्ध न हो तो यतनापूर्वक पृथक्-पृथक् रहा जा सकता है।

२७२९. संकिट्ठा वसधीए, निवेसणस्संत अन्नवसधीए।
असतीय वाडगंतो, तस्सऽसती होज्ज दूरे वा॥

वसति संकडी हो तो एकनिवेशन से पृथक् अन्य वसति में रहा जाए। वह न हो तो वाटक से पृथक् अन्य वसति में रहे। उसके अभाव में निकट अथवा दूर वसति में भी रहा जा सकता है।

२७३०. वीसुं पि वसंताणं, दोण्णि वि आवासगा सह गुरूहिं।
दूरे पोरिसिभंगे, उग्घाडागंतु विगडेंति॥

अलग-अलग रहते हुए भी दोनों आवश्यक—प्राभातिक और वैकालिक प्रतिक्रमण गुरु के साथ करे। यदि दूर (अन्य गांव में) हों और पौरुषी का भंग होता है तो उद्घाट पौरुषी में आचार्य के पास आकर आलोचना, प्रत्याख्यान आदि करे।

२७३१. गीतसहाया उ गता, आलोयण तस्स अंतियं गुरुणं।
अगडा पुण पत्तेयं, आलोएंती गुरुसगासे॥

गीतार्थसहाय भिक्षु दूर जाने पर गीतार्थ के आगे आलोचना करे। वह गीतार्थ गुरु के समीप जाकर कहता है। कोई गीतार्थ सहायक न हो तो वे अकृतश्रुत मुनि गुरु के पास आकर अपनी-अपनी आलोचना करता है।

२७३२. एंताण य जंताण य, पोरिसिभंगो ततो गुरु वयंती।
थेरे अजंगमम्मि उ, मज्झण्हे वावि आलोए॥

वसति दूर है। आने-जाने में पौरुषी-भंग होता है तो गुरु स्वयं उनके पास आते हैं। आचार्य यदि स्थविरत्व और अजंगमत्व के कारण न आ सकने पर वे अकृतश्रुत मुनि मध्यान्ह में जाकर गुरु के समीप आलोचना करते हैं।

२७३३. एवं पि दुल्लभाए, पडिवसभठिया न एंति पतिदिवसं।
समणुण्णदढधिती य, अतरुणे बाहिं विसज्जेंति॥

इससे भी दुर्लभ वसति में प्रतिवृषभस्थित भिक्षु प्रतिदिन गुरु के पास नहीं आते। तब आचार्य समोज्ञ, दृढ़धृतिवाले, अतरुण—मध्यमवय से ऊपर वाले वृषभों को वहां भेजते हैं।

२७३४. दुल्लभभिक्खे जतिउं, सग्गामुब्भाम पल्लियासुं च।
अतिखेव पोरिसिवहे, न वावि ठायंति तो वीसुं॥

यदि दुर्लभ भिक्षावाले स्वग्राम में उद्भ्रामक भिक्षाचार-वाली पल्लियों में रहते हैं और अतिशय कालक्षेप से ज्यों-त्यों पर्याप्त भिक्षा प्राप्त करते हैं। इससे दूसरी और चौथी पौरुषी का हनन हो जाता हो तो गीतार्थ के अभाव में वे पृथक्-पृथक् अन्य क्षेत्रों में रहते हैं।

२७३५. उभयस्स अलंभम्मि वि,
गीताऽसति वीसु ठंति अगडसुता।
दुसु तीसु व ठाणेसुं,
पतिदिवसालोय आयरिओ॥

उभय अर्थात् वसति और भिक्षा की उपलब्धि के अभाव में गीतार्थ के न देने पर अगीतार्थ मुनि दो-तीन स्थानों में अलग-अलग रहते हैं। आचार्य प्रतिदिन उनके पास जाकर प्रतिपृच्छा आदि करें, उनकी सार संभाल करें।

२७३६. सइरी भवंति अणवेक्खणाय जइ भिन्नवायणा लोए।
पडिपुच्छ सोहि चोयण, तम्हा उ गुरू सया वयइ॥

अलग-अलग रहने वाले मुनियों की सार-संभाल किए बिना वे स्वच्छंदचारी हो जाते हैं और लोगों में वे भिन्न प्ररूपणा करने लग जाते हैं अथवा लोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें होने लग जाती हैं। इसलिए गुरु स्वयं वहां जाकर प्रतिपृच्छा करते हैं, प्रायश्चित्त देकर शोधि करते हैं तथा शिक्षा आदि देते हैं।

२७३७. तण्हाइयस्स पाणं, जोग्गाहारं च णेंति पव्वोणिं।
कितिकम्मं च करेंती, मा जुण्णरहोव्व सीदेज्जा॥

जब आचार्य स्वयं वहां जाते हैं तब वे मुनि तृषित आचार्य के योग्य पानी और योग्य आहर सम्मुख ले जाते हैं। वे उनका कृतिकर्म, विश्रामणा करते हैं, जिससे कि जीर्ण रथ की भांति दुःख न पाएं।

२७३८. असती निच्चसहाए, गेण्हति पारंपरेण अण्णोऽण्णे।
ते चिय अण्णेहि समं, तं मेलेउं नियत्तेंति॥

यदि आचार्य का कोई नित्य सहायक न हो तो वे आचार्य वहां आकर क्रमशः दूसरे-दूसरे सहायक को ग्रहण करें। एक सहायक उनको वहां तक ले जाता है जहां दूसरे मुनि हों। वहां से दूसरा सहायक आचार्य को तीसरे सहायक से मिलाकर लौट आता है।

२७३९. एगत्थ वसितो संतो, तेसिं दाऊण पोरिसिं।
मज्झण्हे बितियं गंतुं, भोत्तुं तत्थावरं वए॥

आचार्य एकत्र रहकर उनको पौरुषी देकर मध्यान्ह में दूसरे स्पर्धक मुनियों के पास जाकर आहार कर, उनको प्रायश्चित्त देकर तीसरे स्पर्धक के पास जाते हैं और आलोचना आदि देकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहीं रह जाते हैं।

२७४०. एवमेगेण दिवसेण, सोहिं कुणति तिण्ह वि।
पडिपुच्छणं तु बलवं, आह सुत्तमवत्थयं॥

इस प्रकार एक दिन में तीन स्थानों पर स्पर्धकों की शोधि करते हैं यदि वे आचार्य प्रतिपृच्छा करने में बलवान् हों, समर्थ हों तो। शिष्य प्रश्न करता है—तब तो सूत्र अवास्तविक है।

२७४१. सुत्तनिवातो थेरे, कलावकाउं तिहेण वा सोधिं।
बितियपयं च गिलाणे, कलाव काऊण आगमणं॥

अधिकृत सूत्र का निपात—अवकाश स्थविर विषयक है। आचार्य का प्रतिदिन आगमन न होने की स्थिति में तीन दिनों के अपराधों को पिंडित कर आचार्य के समीप शोधि करे। इसमें द्वितीय पद—अपवाद पद यह है कि ग्लानत्व के कारण आचार्य न आ सके तो अपराधों का कलाप कर अर्थात् उनको एकत्रित कर अन्य स्पर्धक वाले साधु आचार्य के पास जाकर आलोचना कर आ जाते हैं।

२७४२. एवं अगडसुताणं, वीसुठियाणं तु तीसु गामेसु।
लहुया असंथरंते, तेसि अणिंताण वा लहुओ॥

इस प्रकार अगीतार्थ मुनि तीन गांवों में पृथक्-पृथक् स्थित हैं। उन्हें पर्याप्त प्राप्ति भी नहीं हो रही है। यदि आचार्य प्रतिदिन सार संभाल नहीं करते तो उन्हें चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि वे साधु आचार्य के अनागमन पर उनकी गवेषणा नहीं करते, उन्हें मासलघु का प्रायश्चित्त आता है।

२७४३. एगदिणे एक्केक्के, तिट्ठाणत्थाण दुब्बलो वसधी।
अह सो अजंगमोच्चिय, ताधे इतरे तधिं एंति॥

आचार्य दुर्बल हैं। मुनि तीन स्थानों में स्थित हैं। तब वे एक दिन में एक-एक स्पर्धक मुनियों के पास रहते हैं। यदि वे सर्वथा अजंगम हैं तो दूसरे स्पर्धकद्वय के मुनि आचार्य के पास स्वयं जाते हैं।

२७४४. एति व पडिच्छते वा, मेधावि कलावकाउमवराधे।
अतिदूरे पुण पणए, पक्खे मासे परतरे वा॥

स्पर्धक मुनियों में जो मेधावी होता है, वह सभी साधुओं के अपराधों को एकत्रित कर आचार्य के पास आकर आलोचना करता है। आचार्य स्पर्धकों की प्रतीक्षा भी करते हैं। यदि आचार्य अतिदूर हैं तो पांचवे-पांचवे दिन अथवा पक्ष-पक्ष से अथवा मास-मास से अथवा डेढ़-डेढ़ मास से आकर आचार्य के समीप आलोचना ग्रहण करते हैं।

२७४५. अगडसुताण न कप्पति, वीसुं मा अतिपसंगतो सुतवं।
एगाणिओ वसेज्जा, निकायणं चेव परिमाणं॥

अनंतर सूत्र में अकृतश्रुत मुनियों को अकेला रहना नहीं कल्पता—इसके अतिप्रसंग से श्रुतवान् एकाकी रह सकता है, ऐसा न हो। पूर्व अर्थात् अकृतश्रुत मुनियों के नियम के लिए इस सूत्र का प्रणयन हुआ है।

२७४६. अंतो वा बाहिं वा, अभिनिव्वगडाय ठायमाणस्स।
गीतत्थे मासलहू गुरुगो मासो अगीत्थे॥

पृथक् परिक्षेप वाले वसति के अंतर् या बहिर् अन्य प्रतिश्रय में गीतार्थ भिक्षु रहता है तो उसको प्रायश्चित्त स्वरूप मासलघु और अगीतार्थ को गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२७४७. अंतो निवेसणस्सा, सोहीमादी व जाव सग्गामो।
घरवगडाए सुत्तं, एमेव य सेसवगडासु॥

२७४८. आणादिणो य दोसा, विराधणा होति संजमायाए।
लज्जा-भय-गोरव-धम्मसद्ध-रक्खा चउद्धा उ॥

गृह के अंतर् या बहिर् अभिनिर्वगडा—पृथक् परिक्षेप वाली वसति में रहने पर तथा यावत् स्वग्राम के अभिनिर्वगडा में रहने पर वही शोधि—प्रायश्चित्त है। गृहवगडा (गृहपरिक्षेप) विषयक जो सूत्र है वही शेष वगडाओं के विषय में जानना चाहिए। उक्त प्रायश्चित्त के साथ-साथ आज्ञा आदि दोष तथा संयमविराधना और आत्मविराधना—दोनों होती हैं। उनकी रक्षा के चार उपाय हैं—लज्जा, भय, गौरव तथा धर्मश्रद्धा।

२७४९. लज्जणिज्जो उ होहामि, लज्जए वा समायरं।
कुलागमतवस्सी वा, सपक्खपरपक्खतो॥

यदि मैं पापाचरण करूंगा तो लज्जनीय होऊंगा। वह पाप का आचरण करता हुआ अपने कुल, आगमज्ञानियों, तपस्वियों तथा स्वपक्ष-परपक्ष से लज्जित होता है, सोचता है, मैं इनको अपना मुंह कैसे दिखाउंगा, यह सोचकर वह पाप नहीं करता।

२७५०. असिलोगस्स वा वाया, जोऽतिसंकति कम्मसं।
तहावि साधु तं जम्हा, जसो वण्णो य संजमो॥

वह अवर्णवाद के प्रवाद से अशुभ कर्म करते हुए अत्यंत शंकित होता है। इस आशंका से भी वह यदि अशुभ कर्म नहीं करता तो भी अच्छा है। यश, वर्ण और सयंम—एकार्थक हैं।

२७५१. जसं समुवजीवंति, जे नरा वित्तमत्तणो।
अलेस्सा तत्थ सिज्झंति, सलेसा तु विभासिता॥

जो मनुष्य अपने शील की इच्छा करते हैं वे यश के उपजीवी होते हैं।[1] अलेश्यी (शैलेशी अवस्थाप्राप्त) सिद्ध हो जाते हैं और जो सलेश्यी हैं, वे विकल्पनीय हैं—कुछ सिद्ध होते हैं और कुछ नहीं। जो भव्य हैं वे सिद्ध हो सकते हैं। (मैं पाप का आचरण कर अभव्य हो जाऊंगा, इस भय से वह पापाचरण नहीं करता।)

२७५२. दाहिंति गुरुदंडं तो, जइ नाहिंति तत्ततो।
तं च वोढुं न चाएस्सं, घातमादी तु लोगतो॥

१. यह बात व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के राशियुग्म शतक में कही गई है। (वृत्ति)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि मेरे पापाचरण को गुरु तत्वतः जान लेंगे तो गुरुदंड देंगे। मैं उस दंड को वहन नहीं कर सकूंगा तथा लोगों द्वारा प्रदत्त घात आदि भी सहन नहीं सकूंगा—इस भय से पापाचरण नहीं करता।

२७५३. जोऽहं सइरकहासुं, चक्कामि गुरुसन्नही।
सोऽहं कहमुवासिस्सं, तमणायारदूसितो॥

अभी तो मैं गुरु की सन्निधि में स्वतंत्रतापूर्वक बातचीत कर सकता हूं, फिर मैं अनाचार से दूषित होकर गुरु की उपासना कैसे कर पाऊंगा?

२७५४. लोए लोउत्तरे चेव, गुरवो मज्झ सम्मता।
मा हु मज्झावराहेण, होज्ज तेसिं लहुत्तया॥

मेरे गुरु लोक में और लोकोत्तर में भी सम्मत हैं। मेरे अपराध के कारण उनकी लघुता न हो जाए।

२७५५. माणणिज्जो उ सव्वस्स, न मे कोई न पूयए।
तणाण लहुतरो होहं, इति वज्जेति पावगं॥

मैं सबके लिए माननीय हूं। ऐसा कोई नहीं जो मेरी पूजा न करता हो। मैं पाप का आचरण कर तृण से भी लघुतर हो जाऊंगा—यह सोचकर वह पाप का वर्जन करता है।

२७५६. आयसक्खियमेवेह, पावगं जो वि वज्जते।
अप्पेव दुट्ठसंकप्पं, रक्खा सा खलु धम्मतो॥

आत्मसाक्षी से ही पाप का परिवर्जन करे। आत्मा के दुष्टसंकल्प से रक्षा धर्म से ही होती है।

२७५७. निसग्गुस्सग्गकारी य, सव्वतो छिन्नबंधणो।
एगो वा परिसाए वा, अप्पाणं सोऽभिरक्खति॥

जो स्वभावतः उत्सर्गकारी है, सर्वत्र छिन्नबंधन—ममत्वरहित है, वह एकाकी हो अथवा परिषद् के बीच वह अपनी आत्मा की रक्षा करता है।

२७५८. मणपरिणामो वीई, सुभासुभे कंटएण दिट्ठंतो।
खिप्पकरणं जध लंखियव्वं तहियं इमं होति॥

मनःपरिणाम तरंगों की भांति चंचल होता है—कभी शुभ और कभी अशुभ होता है। यहां वृश्चिक के कंटक का दृष्टांत है। देखें—श्लोक २७६३। जैसे नर्तकी की क्रियाएं शीघ्रता से होती हैं। वैसे ही मनःपरिणाम भी बदलता रहता है। (देखें—श्लोक २७६४)

२७५९. परिणामाणवत्थाणं, सति मोहे उ देहिणं।
तस्सेव उ अभावेणं, जायते एगभावया॥

प्राणियों में मानसिक परिणामों की अनवस्थिति मोहकर्म के कारण होती है। मोह के अभाव में मनःपरिणामों की एकरूपता होती है।

२७६०. जधाऽवचिज्जते मोहो, सुद्धलेसस्स झाइणो।
तहेव परिणामो वि, विसुद्धो परिवड्ढते॥

जैसे शुद्धलेश्या में प्रवर्तमान ध्यानी के (अर्थात् धर्मध्यानी और शुक्लध्यानी के) मोह का अपचय होता है, वैसे-वैसे उसका विशुद्ध परिणाम बढ़ता है।

२७६१. जधा य कम्मिणो कम्मं, मोहणिज्जं उदिज्जति।
तधेव संकिलिट्ठो से, परिणामो विवड्ढती॥

जैसे कर्मी अर्थात् संक्लिष्ट लेश्या वाले प्राणी के मोहनीय कर्म की उदीरणा होती है, उसी प्रकार उसका संक्लिष्ट परिणाम बढ़ता है।

२७६२. जहा य अंबुनाहम्मि, अणुबद्धपरम्परा।
वीई उप्पज्जई एवं, परिणामो सुभासुभो॥

जैसे समुद्र में अनुबद्ध परंपरा से तरंग उत्पन्न होती है, वैसे ही प्राणी के शुभ-अशुभ परिणाम उत्पन्न होता है।

२७६३. कण्हगोमी जधा चित्ता, कंटयं वा विचित्तयं।
तधेव परिणामस्स, विचित्ता कालकंडया॥

जैसे कृष्णशृगाली काली रेखाओं से विचित्र होती है, जैसे बिच्छू का कंटक कृष्णादि रेखाओं से विचित्रवर्ण वाला होता है वैसे ही परिणामों की विचित्रता कालकंडक—कालभेद से असंख्येय स्थानात्मक होती है।

२७६४. लंखिया वा जधा खिप्पं उप्पतित्ता समोवए।
परिणामो तहा दुविधो, खिप्पं एति अवेति य॥

जैसे नर्तकी शीघ्र ही ऊंची छलांग भरकर शीघ्र ही नीचे आ जाती है वैसे ही परिणाम दो प्रकार का होता है—शुभ और अशुभ। वह शीघ्र आता है और चला जाता है—शुभ अशुभ में और अशुभ शुभ में चला जाता है।

२७६५. लेस्सट्ठाणेसु एक्केक्के, ठाणसंखमतिच्छिया।
किलिट्ठेणेतरेणं वा, जे तु भावेण खुंदती॥

प्रत्येक लेश्यास्थान में संख्यातीत परिणामस्थान होते हैं। संक्लिष्ट और असंक्लिष्ट भावों से वे उछलते रहते हैं।

२७६६. भवसंहणणं चेव, ठितिं वासज्ज देहिणं।
परिणामस्स जाणेज्जा, विवड्ढी जस्स जत्तिया॥

प्राणियों के भवसंहनन और स्थिति के आधार पर परिणामों की जिसकी जितनी विवृद्धि है उसको उतनी जाननी चाहिए।

२७६७. विसुज्झंतेण भावेण, मोहो समवचिज्जति।
मोहस्सावचए वावि, भावसुद्धी वियाहिया॥

जैसे-जैसे भाव विशुद्ध होते हैं वैसे-वैसे मोहकर्म का अपचय होता है। मोह के अपचय होने से भाव विशुद्धि होती है—ऐसा जानो।

२७६८. उक्कड्ढंतं जधा तोयं, सीतलेण झविज्जती।
गदो वा अगदेणं तु, वेरग्गेण तहोदओ॥

जैसे उबलते हुए पानी को शीतल पानी से ठंडा किया जाता है, रोग को औषध से शांत किया जाता है, उसी प्रकार मोहनीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म के उदय को वैराग्य से शांत किया जाता है।

२७६९. असुभोदयनिप्फण्णा, संभवंति बहूविधा।
दोसा एगाणियस्सेवं, इमे अन्ने वियाहिया॥

अशुभ कर्मोदय से निष्पन्न अनेक प्रकार के दोष एकाकी मुनि के होते हैं। उसके ये अन्य दोष भी होते हैं।

२७७०. मिच्छत्तसोधि सागारियादि गेलण्ण खद्धपडिणीए।
बहि पेल्लणित्थि वाले, रोगे तध सल्लमरणे य॥

मिथ्यात्व, शोधि, सागारिक आदि, ग्लानत्व, प्रचुर भोजन, प्रत्यनीक, बहिःप्रेरण–निष्काशन, स्त्री, व्याल,रोग तथा शल्यमरण–(इस द्वारगाथा की व्याख्या अगले श्लोकों में।)

२७७१. ओगाढं पसहायं तु, पण्णवेंति कुतित्थिया।
समावण्णो विसोधिं च, कस्स पासे करिस्सति॥

उस एकाकी अवगाढ रोगग्रस्त मुनि को असहाय देखकर कुतीर्थिक व्यक्ति उससे बातचीत करते हैं। वह मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। प्रायश्चित्त प्राप्त व्यक्ति किसके पास विशोधि करे?

२७७२. भया आमोसगादीणं, सेज्जं वयति सारियं।
असहायस्स गेलण्णे, को से किच्चं करिस्सति॥

कोई गृहस्थ चोर आदि के भय से उस एकाकी मुनि की शून्य वसति में चला जाता है। उस असहाय मुनि के ग्लान हो जाने पर कौन चिकित्सा करेगा?

२७७३. मंदग्गी भुंजते खद्धं, ऊसढं ति निरंकुसो।
एगो परुट्ठगम्मो य, पेल्ले उब्भामिया व णं॥

वह एकाकी है। वह मंदाग्नि से पीड़ित निरंकुश मुनि उत्कृष्ट द्रव्य को प्रचुर मात्रा में खा लेता है। ग्लानत्व आदि हो जाने पर वह असहाय मुनि प्रत्यनीक–विरोधी के लिए गम्य हो जाता है। उद्भ्रामक अर्थात् नगररक्षक उस एकाकी मुनि को चोर आदि समझकर नगर से निष्कासित कर देते हैं।

२७७४. वभिचारम्मि परिणते, णिंती दट्ठूण समणवसहीओ।
पंतावणादगारो उड्डाहपदोस एमादी॥

व्यभिचारी अर्थात् जार के साथ परिणत कोई एक स्त्री को श्रमण-वसति से निकलते हुए देखकर उसका पति श्रमणों को मारना–पीटना आदि कर सकता है। इससे प्रवचन का उड्डाह होता है, अर्हत् दर्शन के प्रति प्रद्वेष तथा भक्तपान का व्यवच्छेद भी हो सकता है।

२७७५. वालेण वावि डक्कस्स, से को कुणति भेसजं।
दीहरोगे विवद्धिं च, गतो किं सो करिस्सति॥

वसति में एकाकी मुनि को व्याल–सर्प आदि के डस लेने पर कौन चिकित्सा करता है? चिकित्सा के अभाव में दीर्घ रोग की विवृद्धि हो जाने पर वह क्या कर सकेगा?

२७७६. सल्लुद्धरणविसोही, मते य दोसा बहुस्सुते वावि।
सविसेसा अप्पसुते, रक्खंति परोप्परं दोवि॥

शल्योद्धरण से विशोधि होती है। एकाकी मुनि की, शल्योद्धरण के अभाव में, सशल्य मृत्यु होने पर दोष होता है। बहुश्रुत मुनि को भी एकाकी स्थिति में मृत्यु होने पर वह दोषयुक्त ही होती है। अल्पश्रुत की एकाकी स्थिति में मृत्यु होने पर विशेष दोष होते हैं। यदि बहुश्रुत और अल्पश्रुत साथ रहते हों तो वे परस्पर एक-दूसरे की रक्षा कर लेते हैं।

२७७७. अप्पेग जिणसिद्धेसु, आलोएंतो बहुस्सुतो।
अगीतो तमजाणंतो, ससल्लो जाति दुग्गतिं॥

'अप्पेव'–एकाकी बहुश्रुत अर्हत् और सिद्धों की मन में अवधारणा कर शल्यों की आलोचना कर लेता है। अगीतार्थ–अबहुश्रुत मुनि उस विधि को नहीं जानता अतः सशल्य मृत्यु को प्राप्त कर दुर्गति में जाता है।

२७७८. सीहो रक्खति तिणिसे,
तिणिसेहि वि रक्खितो तधा सीहो।
एवण्णमण्णसहिता,
बितियं अद्धाणमादीसुं॥

सिंह तिनिशवृक्ष निर्मित गुफा की रक्षा करता है और तिनिश गुफा भी सिंह की रक्षा करती है। इसी प्रकार यदि दो मुनि एक साथ रहते हैं तो वे एक दूसरे की सहायता करते हैं। इसमें अपवाद पद यह है–मार्ग में एकाकी श्रमण अन्यसांभोगिक अथवा पार्श्वस्थ आदि के स्थान में पृथक् अपवरक में अकेला रह सकता है।

२७७९. कारणतो वसमाणो, गीतोऽगीतो व होति निद्दोसो।
पुव्वं च वण्णिता खलु, कारणवासिस्स जतणा तु॥

कारणवश गीतार्थ अथवा अगीतार्थ एकाकी यतनापूर्वक रहते हैं तो वह निर्दोष है। पूर्व में कारणवश एकाकी रहने की यतना का वर्णन किया गया था।

२७८०. सुत्तेणेव उ सुत्तं, जोइज्जति कारणं तु आसज्ज।
संबंधघरुव्वरए, कप्पति वसिउं बहुसुतस्स॥

सूत्र से सूत्र की संयोजना होती है। यही सूत्र से संबंध है। किसी कारणवश बहुश्रुत गृह के अपवरक में अकेला रह सकता है।

२७८१. चरणं तु भिक्खुभावो, सामायारीय जा तदट्ठाए।
पडिजागरणं करणं, उभओ कालं महोरत्तं॥

भिक्षुभाव के चारित्र के लिए जो सामाचारी है उसका प्रतिजागरण अर्थात् निर्वहन उभयकाल–दिन और रात में करना चाहिए। (ऐसे भिक्षु की आचार्य भी रात-दिन पृच्छा करते हैं।)

२७८२. वक्खारे कारणम्मि, निक्कारण पुव्ववण्णिता दोसा।
किं पुण हुज्जा कारण, तद्दोसादी मुणेयव्वा॥

'वक्खार' अर्थात् एक वलभी में निर्मित पृथक् अपवरक में कारणवश अकेला रह सकता है। बिना कारण रहने पर पूर्ववर्णित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोष प्राप्त होते हैं। कारण क्या हो सकता है? त्वक्दोष आदि कारण हो सकते हैं।

२७८३. संदंतमसंदंतं, अस्संदण चित्त मंडलपसुत्ती।
किमिपूयं लसिगा वा, पस्संदति तत्थिमा जतणा॥

त्वक्दोष के दो प्रकार हैं—स्यन्दमान और अस्यन्दमान। अस्यन्दमान के दो प्रकार हैं—चित्रप्रसुप्ति और मंडलप्रसुप्ति। जो स्यन्दमान है वह कृमियों तथा मवाद को बाहर फेंकता है। उस त्वग्दोष संबंधी यह यतना है।

२७८४. संदंते वक्खारो, अंतो बाहिं च सारणा तिण्णि।
जत्थ विसीदेज्ज ततो, णाणादी उग्गमादी वा॥

यदि स्यन्दमान त्वक्दोष का रोगी हो तो एक वक्खार में भीतर या बाहर पृथक् अपवरक में उसे रखें। उसके अभाव में एक निवेशन में अन्य वसति में उसे रखे। उसकी तीन सारणाएं करे, जिससे वह विषादग्रस्त न हो। वे तीन सार कौन से हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र संबंधी अथवा उद्गम, उत्पादन, एषणा संबंधी।

२७८५. अहवा भत्ते पाणे, सामायारीय वा विसीदंतं।
एतेसु तीसु सारे, तिण्णि वि काले गुरू पुच्छे॥

अथवा तीन सार ये हैं—भक्त, पान और सामाचारी—इन तीन स्थानों में विषाद पाने वाले की आचार्य सार-संभाल करते हैं। अथवा तीन सार अर्थात् आचार्य तीनों कालों में उसकी पृच्छा करते हैं।

२७८६. गोसे केरिसियं ति य, कतमकतं वा किं ति आवासं।
भिक्खं लद्धमलद्धं किं दिज्जउ वा ते मज्झण्हे॥

२७८७. पेहितमपेहितं वा, वट्टति ते केरिसं च अवरण्हे।
निज्जूहणम्मि गुरूगा, अविधी परियट्टणे वावि॥

प्रातःकाल आचार्य पूछते हैं—तुम्हारा शरीर कैसा है? तुमने आवश्यक किया या नहीं? मध्यान्ह में पूछते हैं—भिक्षा मिली या नहीं? तुमको क्या देना है? अपरान्ह में पूछते हैं—उपकरणों की किसी ने या तुमने प्रेक्षा की या नहीं? तुम्हारा शरीर कैसा है? यदि आचार्य ये सार नहीं करते तो उनको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि अविधि से परिवर्तन—परिपालन कराते हैं तो भी चार गुरुमास का प्रायश्चित्त विहित है।

२७८८. आणादिणो य दोसा, विराहणा होतिमेहि ठाणेहिं।
पासवण-फास-लाला, पस्सेए मरुयदिट्ठंतो॥

इन स्थानों में केवल प्रायश्चित्त ही नहीं, आज्ञा आदि दोष तथा विराधना होती है। स्यन्दमान त्वक्दोष प्रस्रवण के स्पर्श से (गात्रस्पर्श तथा रोगी के पीठफलक का उपभोग करने से) यह व्याधि संक्रामित होती है। उसकी लाला और प्रस्वेद के स्पर्श से भी संक्रमण होता है। यहां मरुक का दृष्टांत है।

२७८९. पासवण अन्नअसती, भूतीए लक्खि मा हु दूसियं मोयं।
चलणतलेसु कमेज्जा, एमेव य निक्खमपवेसो॥

स्यन्दमान त्वक्दोष वाले के लिए पृथक् प्रस्रवण भूमी होनी चाहिए। उसके अभाव में राख से लक्षित कर प्रस्रवणभूमी का एक भाग उस रोगग्रस्त के लिए निर्धारित करना चाहिए जिससे कि उसके दूषित प्रस्रवण पर कोई पैर आदि न रखे। क्योंकि चरणतल में प्रस्रवण लगने से यह व्याधि संक्रामित हो जाती है। इसी प्रकार इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति का निष्क्रमण और प्रवेश भी राख आदि से चिह्नांकित कर देना चाहिए।

२७९०. णिंती वि सो काउ तली कमेसुं,
संथारओ दूर अदंसणे वि।
मा फासदोसेण कमेज्ज तेसिं,
तत्थेक्कवत्थादि व परिहरंति॥

स्यन्दमान त्वक्दोषी पैरों में जूते पहनकर बाहर जाता है अथवा वसति में प्रवेश करता है। उसका संस्तारक अदृष्टिगत हो उतना दूर किया जाता है। उसके स्पर्शदोष से व्याधि अन्य साधुओं में संक्रामित न हो इसलिए उस रोगी द्वारा स्पृष्ट वस्त्रों का भी अन्य साधु परिहार करते हैं।

२७९१. न य भुंजंतेगट्ठा, लालादोसेण संकमति वाही।
सेओ से वज्जिज्जति, जल्लपडलंतरकप्पो य॥

उस त्वक्रोगी के साथ एकपात्र में साधु भोजन नहीं करते क्योंकि यह व्याधि लालादोष से संक्रामित होती है। उस रोगी के प्रस्वेद का वर्जन किया जाता है तथा उसके शरीर का मेल तथा पात्र, पटल और आंतरकल्प—इन सबका परिहार किया जाता है।

२७९२. एतेहि कमति वाही, एत्थं खलु सेउएण दिट्ठंतो।
कुट्ठक्खय कच्छुयऽसिवं, नयणामयकामलादीया॥

जल्ल आदि के कारण व्याधि संक्रामित होती है। यहां सेतुक (सिद्धक) का दृष्टांत है। इसी प्रकार कुष्टरोग में, खुजली में, अशिव—शीतलिका रोग में, नयनदोष—कामल आदि में पूर्वोक्त यतना रखनी चाहिए।

२७९३. एस जतणा बहुस्सुत,ऽबहुस्सुय न कीरते तु वक्खारो।
ठावेंति एगपासे, अपरिभोगम्मि उ जतीणं व॥

यह कथित यतना बहुश्रुत मुनि के लिए है। अबहुश्रुत के लिए भी यही यतना है। उसे सम्बद्धगृह के अपवरक में रखा जाता है। भिन्न वक्खार—अपवरक नहीं किया जाता। संबद्धगृह का अपवरक न हो तो वसति के एक भाग में उसे रखा जाता है। वह भाग साधुओं के अपरिभोगवाला हो। (बीच में चटाई का पड़दा दे दिया जाता है।)

२७९४. विवज्जितो उट्ठविवज्जएहिं,
मा बाहिभावं अबहुस्सुतो उ।
कट्ठाए भूतीव तिरोकरेंति,
मा एक्कमेक्कं सहसा फुसेज्जा॥

मैं उष्ट्रविवर्जकों (ऊंचा मुंह कर चलने वाले मुनियों) द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवर्जित हूं, ऐसा सोचकर अबहुश्रुत मुनि संयमभाव से बाहर न जो जाए, इसलिए उसे पृथक् अपवरक में नहीं रखा जाता किंतु वसति के एक प्रदेश में काष्ठ आदि से अथवा भूति—राख आदि से अंतर कर दिया जाता है जिससे कि साधु एक दूसरे के त्वक्दोष से सहसा स्पृष्ट न हों।

२७९५. अगलंत न वक्खारो, लालासेयादिवज्जण तधेव।
उस्सास-भास-सयणासणादीहि होति संकंती॥

अस्यन्दमान त्वग्दोष में पृथक् वक्षस्कार—अपवरक नहीं किया जाता। लाला, स्वेद आदि के विषय में पूर्ववत् वर्जना है तथा उच्छ्वास, भाषा, शयनासन आदि से भी यह व्याधि संक्रांत होती है।

२७९६. अवणेतु जल्लपडलं, धरेंति भाणं स काइयादि गतो।
सीते व दाउ कप्पं, उवरिमधोतं परिहरंति॥

कायिकी व्युत्सर्ग के लिए गए हुए उस त्वक्रोगी के जल्लपटल को छोड़कर उसके भाजन को अन्य साधु धारण करते हैं। यदि वह त्वग्दोषी शीत से क्लांत हो रहा हो तो उसे प्रावरण के लिए कल्प—वस्त्र दिया जाता है। वह रोगी उस प्रावरणीय को अपने वस्त्रों के ऊपर ओढ़ता है। उस समर्पित वस्त्र को अधौतरूप में काम में ले लेता है। (यदि वे साधु उस वस्त्र को स्वयं काम में लेना चाहें तो उसका प्रक्षालन कर काम में लें।)

२७९७. असहुस्सुव्वत्तणादीणि, कुव्वतो छिक्क जत्तियं।
खेदमकुव्वंत धोवेज्ज, मट्टियादीहि तत्तियं॥

त्वक्दोषी असह है। उसका उद्वर्तन आदि करते हुए जितना उसके शरीर का स्पर्श किया है, खेद न करते हुए, मृत्तिका आदि से उतना भाग घर्षण कर धो डाले।

२७९८. असती मोयमहीए, कयकप्पऽगलंतमत्तए निसिरे।
तेणेव कते कप्पे, इतरे निसिरंति जतणाए॥

प्रस्रवणभूमी के अभाव में अस्रावी कृतकल्पमात्रक में वह रोगी प्रस्रवण करता है। उसी कृतकल्प मात्रक में दूसरे साधु भी यतनापूर्वक कायिकी का व्युत्सर्ग करें।

२७९९. एसा जतणा उ तहिं, कालगते पुण इमो विधी होति।
अंतरकप्पं जल्लपडलं च अगलंत उज्झंति॥

त्वक्दोषीमुनि विषयक यह यतना कही गई। अब उसके कालगत हो जाने पर यह विधि प्रयोक्तव्य है। अस्यन्दमान त्वक्रोगी का आंतरकल्प तथा जल्लपटल—उपरीतन वस्त्र—ये दोनों वस्त्र परिष्ठापनीय होते हैं।

२८००. धोतावि न निद्दोसा, तेण छुड्डंति ते दुवे।
सेसगं तु कते कप्पे, सव्वं से परिभुंजति॥

ये दोनों वस्त्र धोने पर भी निर्दोष नहीं होते अतः उनका परिष्ठापन कर दिया जाता है। शेष उसके द्वारा उपभुक्त सारे कल्पों का उपभोग किया जा सकता है, क्योंकि वे सब निर्दोष हैं।

२८०१. संदंतस्स वि किंचण, असतीए मोत्तु भायणुक्कोसं।
लेवमत्तमवणेत्ता, अण्णमयं धोविउं लिंपे॥

स्यन्दमान त्वक्रोगी के कालगत हो जाने पर उसका जो कुछ है वह सारा का सारा परिष्ठापित कर दिया जाता है, भाजन न हो तो। यदि भाजन उत्कृष्ट हो तो उसको रख दिया जाता है। उसके सारे लेप उतारकर, उष्णोदक से धो-धो कर, उसको अन्यमय की तरह बनाकर उस पर पुनः लेप कर उसका परिभोग किया जा सकता है।

२८०२. अगलंतमत्तसेवी, असतीए कप्प काउ भुंजंती।
एसा जतणा उ भवे, सव्वेसिं तेसि नायव्वा॥

कायिकीभूमी के अभाव में अस्यन्दमान त्वक्रोगी अन्य साधुओं के मात्रक में कायिकी का व्युत्सर्ग करता है तथा शेष मुनि भी उस कृतकल्पमात्रक में कायिकी का व्युत्सर्ग करते हैं। यदि अकृतकल्प में व्युत्सर्ग करते हैं तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। यह यतना स्यन्दान त्वक्दोषी मुनियों के तथा सभी क्षयव्याधि आदि से ग्रस्त मुनियों के विषय में जाननी चाहिए।

२८०३. एगाणियस्स दोसा, के त्ति भवे एस सुत्तसंबंधो।
कारणनिवासिणो वा, दुविधा सेविस्स पच्छित्तं॥

शिष्य का प्रश्न है कि एकाकी के कितने दोष होते हैं? यह सूत्र का संबंध है। कारणनिवासी के दो प्रकार हैं—सचित्तसेवी और अचित्तसेवी। उनका प्रायश्चित्त क्या है—इसका प्रतिपादन सूत्रद्वय में किया गया है।

२८०४. बाहिं वक्खारठिते, महिला आगम अवारणे गुरुगा।
वारण वासे पेल्लण, उदए पडिसेवणा भणिया॥

बाहर वक्षस्कार—अपवरक में त्वक्दोषी साधु स्थित है। वहां किसी महिला का आगमन होता है। उसका वारण न करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। जैसा वारण उल्लिखित है वैसे करना चाहिए। बाहर वर्षा गिर रही हो। स्त्री साधु को प्रेरित करती है। वेदोदय। प्रतिसेवना कथित है। (इन 'वारण' आदि की व्याख्या आगे।)

२८०५. पडिसेधो पुव्वुत्तो, उज्जु अणुज्जू मिहुणचउत्थम्मि।
निग्गममनिग्गमे वि य, जहिं च सुत्तस्स पारंभो॥

वारण—प्रतिषेध पहले कहा जा चुका है। कल्पाध्ययन के चौथे उद्देशक में मिथुन के दो प्रकार—ऋजु अथवा अनृजु कहे गए हैं। सस्त्रीक पुरुष का निर्गम अथवा अनिर्गम वहीं व्याख्यात है जहां सूत्र का प्रारंभ होता है।

२८०६. जुगछिद्द नालिगादिसु पढमगजामादिसेवणे सोधी।
मूलादी पुव्वत्ता, पंचमजामे भवे सुत्तं॥

युगछिद्र, नालिका आदि में प्रथम याम में हस्तकर्म करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर प्रायश्चित्त है मूल। कल्पाध्ययन में प्रायश्चित्त बताया गया है। (जैसे, प्रथम याम में मूल, दूसरे में छेद, तीसरे में छह गुरुमास, चौथे में चार गुरुमास।) यह सूत्र पंचम याम अर्थात् दिवस के प्रथम याम से संबंधित है।

२८०७. दुविधं वा पडिमेतर सन्निहितेतर अचित्तसच्चित्ते।
बाहिं व देउलादिसु, सोही तेसिं तु पुव्वुत्ता॥

अर्चा के दो प्रकार हैं—अचित्त और सचित्त। अचित्त के दो प्रकार हैं—प्रतिमा तथा इतर अर्थात् निर्जीव स्त्रीशरीर। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—सन्निहित, असन्निहित। ग्राम के बाहर देवकुल आदि में अचित्त प्रतिमा का सेवन अथवा करकर्म (हस्तकर्म) करने वाले की शोधि—प्रायश्चित्त पूर्वोक्त ही है।[1]

२८०८. संगारदिण्ण उ एस, साईयं वा तहिं अपेच्छंती।
पेलेज्ज व तं कुलडा पुत्तट्ठा देज्ज रूवं वा॥

साधु को प्रस्रवण के लिए बाहर जाते हुए देखकर कोई कुलटा सोचती है—जिसने मुझे संकेत दिया था वह आ गया है। अथवा संकेत देने वाले पुरुष को आया हुआ न देखकर वह कुलटा उस साधु को अधर्माचरण के लिए प्रेरित करती है। अथवा साधु के रमणीय रूप को देखकर, पुत्र प्राप्ति की कामना से साधु को ग्रहण कर लेती है, पकड़ लेती है।

२८०९. जइ सेव पढमजामे, मूलं सेसेसु गुरुग सव्वत्थ।
अधवा दिव्वादीयं, सच्चित्तं होति नायव्वं॥

यदि प्रेरणा के वशीभूत होकर रात्री के प्रथमयाम में उस स्त्री का सेवन करता है तो प्रायश्चित्त है मूल। दूसरे याम में छेद, तीसरे में छह गुरुमास, चौथे में चार गुरुमास और पांचवे में भी चार गुरुमास का प्रायश्चित्त है। अथवा सचित्त के तीन प्रकार ये हैं—दिव्य, तैर्यग्, मानुष।

२८१०. जं सासु तिधा तितयं, नादिव्वं पासवं च संगीतं।
जह वुत्तं उवहाणं, तं न पुण्णं इहावण्णं॥

जो सासु—सचित्त है वह तीन प्रकार का है—दिव्य, मानुष और पाशव। इन तीनों के तीन-तीन भेद व्याख्यात हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जो उपधान—प्रायश्चित्त का कहा गया है, वह यहां पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं है—ऐसा नहीं कहना चाहिए, किन्तु वह पूर्णतः प्राप्त है।

२८११. बितियपदे तेगिच्छं, निव्वीतियमादियं अतिक्कंते।
ताहे इमेण विधिणा, जतणाए तत्थ सेवेज्जा॥

निर्विकृतिक आदि से की जाने वाली चिकित्सा अतिक्रांत हो जाने पर तथा वेदोदय उपशांत न हो तो अपवादपद में इस विधि से यतनापूर्वक प्रतिसेवना करे।

२८१२. खलखिलमदिट्ठविसयं, विसत्त अव्वंगवंगणं काउं।
ताधे इमंसि लेसे, गीतत्थ जतो निलिज्जेज्जा॥

खलखिल अर्थात् निर्जीव का सेवन इस प्रकार करे—अदृष्टविषय अर्थात् जहां कोई न देखे अर्थात् रात्री में, निर्जन में तथा क्षत किया हुआ न हो तो क्षत करके—उस निर्जीव प्रतिमा के मूत्रविवर में शुक्र निसर्ग करे। गीतार्थ अरक्तद्विष्ट होकर शुक्रपुद्गलों का निष्कासन करे।

२८१३. अभिनिव्वगडादीसुं, समणीण पडिस्सगस्स दोसेण।
दोसबहुला गणातो, अवक्कमे कावि संबंधो॥

परिक्षेपरहित वसति वाले उपाश्रय के दोष से कोई दोषबहुला श्रमणी गण से अपक्रमण कर दे। उसकी विधि इस सूत्र में बताई गई है—यह सूत्रसंबंध है।

२८१४. इत्थी पण्हाति जहिं, व सेवए तेण सबलियायारो।
उज्जतविहारमण्णं, उवेज्ज बितिओ भवे जोगो॥

जहां स्त्री-पुरुष मैथुनकर्म प्रारंभ करते हैं वहां उसे देखकर श्रमणी शबलाचार वाली हो जाती है और अन्य उद्यतविहार का आश्रय ले लेती है। उसकी विधि इस सूत्र में बतायी गई है, इसका यह दूसरा सूत्रसंबंध है।

२८१५. जा होति परिभवंतीह, निग्गया सीयए कहं स त्ति।
संवासमादिएहिं, स छलिज्जति उज्जमंता वी॥

शिष्य प्रश्न करता है कि जो महिला प्रमादगण का परिभव करती हुई धर्मश्रद्धा से गृहवास से निर्गत होती है, वह क्यों विषादग्रस्त होकर क्षताचारवाली हो जाती है? आचार्य कहते हैं—वह अपनी शक्ति के अनुसार उद्यम करती हुई भी अकेली होने के कारण गृहस्थों के साथ संवास करती हुई छलना को प्राप्त हो जाती है।

२८१६. अद्धाणनिग्गयादी, कप्पट्ठी संभरंति जा बितिया।
आगमणदेसभंगे, चउत्थि पुण मग्गते सिक्खं॥

उसके एकाकिनी होने के चार कारण हैं—(१) मार्ग में अकेली रह जाना (२) कप्पट्ठि—पुत्री आदि की स्मृति कर अकेली हो जाना (३) शत्रुसेना के आगमन पर देशभंग हो जाने पर अकेली हो जाना (४) शिक्षा की कामना से अकेली हो जाना।

२८१७. गोउम्मुगमादीया, नाया पुव्वं मुदाहडा ओमे।
ओमे असिवे य दुट्ठे, सत्थे वा तेण अभिहुते॥

अवमौदर्य—दुर्भिक्ष में श्रमणियां एक साथ रह नहीं सकतीं। ऐसी स्थिति में 'गोज्ञात' अर्थात् गायों का उदाहरण जो पूर्वोक्त है उसका सहारा लेकर एकाकी हो जाती है अथवा अशिव—महामारी की स्थिति में उल्मुकज्ञात[2] का सहारा लेकर एकाकी हो जाती है।

---

१. पंचम याम में करकर्म करने वाले को गुरुमास तथा अचित्त प्रतिमा के सेवन में चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२. उल्मुक—अधजली लकड़ी अकेली नहीं जलती। अनेक साथ होने पर जलती है—उल्मुकानि बहूनि मिलितानि ज्वलन्ति, एकं द्वे वा न ज्वलतः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा के प्रद्वेष से, सार्थ से बिछुड़ जाने पर अथवा चोरों द्वारा अपहृत हो जाने पर एकाकी हो जाती है।

२८१८. अन्नत्थ दिक्खिया थेरी, तीसे धूता य अन्नहिं।
वारिज्जंती य सा एज्जा, धूयानेहेण तं गणं॥

स्थविरा मां अन्य गण में दीक्षित हुई और उसकी पुत्री अन्य गण में। वह मां अपनी बेटी से मिलने के लिए आचार्य आदि को पूछती है। उनके द्वारा प्रतिषेध करने पर वह पुत्री के स्नेह से एकाकी होकर उस गण में आती है।

२८१९. परचक्केण रट्ठम्मि, विद्दुते बोहिकादिणा।
जहो सिग्घे पणट्ठासु, एज्ज एगाऽसहायिका॥

शत्रु सेना अथवा बोधिक–म्लेच्छ विशेष–इनके द्वारा राष्ट्र अभिद्रुत हो जाने पर वहां से आर्यिकाएं शीघ्र पलायन कर जाती हैं। उनमें से कोई एक आर्यिका असहाय होकर एकाकी हो जाती है।

२८२०. सोऊण काइ धम्मं, उवसंता परिणया य पव्वज्जं।
निक्खंत मंदपुण्णा, सो चेव जहिं तु आरंभो॥

कोई स्त्री धर्म सुनकर उपशांत हुई और प्रव्रज्या लेने के भाव से परिणत होकर वहां से निष्क्रमण कर पार्श्वस्थ मुनियों के पास दीक्षित हो गई। उसने सोचा–मैं मंदपुण्या हूं। जिस असंयम से मैं डरती थी, वही आरंभ–असंयम मेरे पर आ गिरा है।

२८२१. आभीरी पण्णवेत्ताण, गता ते आयतट्ठिया।
अह तत्थेतरे पत्ता, निक्खमंति तमुज्जतिं॥

आयतार्थिक–संविग्न मुनि एक आभीरी को प्रज्ञापित कर–दीक्षा के लिए तैयार कर अन्यत्र चले गए। वहां पार्श्वस्थ आदि इतर मुनि आ गए। वे उस उद्यत आभीरी को प्रव्रजित कर देते हैं। वह पूर्ववत् असंयम से भीत होकर वहां समाधि को प्राप्त नहीं होती।

२८२२. दट्ठुं वा सोउं वा, मग्गती तओ पडिच्छिया विहिणा।
संविग्गसिक्ख मग्गति, पवत्तिणी आयरि-उवज्झं॥

तब वह मूलधर्मग्राहक आचार्य को खोजती हुई, उनको देखने या सुनने के लिए प्रयत्नशील रहती है। वह संविग्नशिक्षा ग्रहण करने की मार्गणा करती है। वह अन्य प्रवर्तिनी, आचार्य अथवा उपाध्याय की मार्गणा करती है। उसे विधिपूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिए।

२८२३. ण्हाणादिएसु मिलिया, पव्वावेंते भणंति ते तीसे।
होह व उज्जुयचरणा, इमं च वइणिं वयं णेमो॥

वे मूल आचार्य उसको जिनस्नान आदि समवसरण में मिल जाते हैं। वे उसके प्रव्राजक आचार्य को कहते हैं–या तो तुम उद्यतचरण वाले हो जाओ अन्यथा हम इस व्रतिनी को अपने साथ ले जाएंगे।

२८२४. भण्णति पवत्तिणी वा,
तेसऽसति विसज्ज वतिणिमेतं ति।
विसज्जिए य नयंती,
अविसज्जंतीय मासलहू॥

प्रव्राजक आचार्य, उपाध्याय के अभाव में वे प्रवर्तिनी को कहते हैं–इस व्रतिनी का विसर्जन कर दो। इतना कहने पर यदि वह प्रवर्तिनी उसका विसर्जन करती है तो उसे अपने साथ ले जाते हैं और यदि विसर्जन नहीं करती है तो प्रवर्तिनी को मासलघु प्रायश्चित्त आता है।

२८२५. वसभे य उवज्झाए, आयरियकुलेण वावि थेरेण।
गणथेरेण गणेण वा, संघथेरेण संघेण॥
२८२६. भणिया न विसज्जेंती, लहुगादी सोहि जाव मूलं तु।
तीसे हरिऊण ततो, अण्णीसे दिज्जते उ गणो॥

यदि संयती के कहने पर भी प्रवर्तिनी उसको विसर्जित नहीं करती है तो क्रमशः कोई वृषभ मुनि, उपाध्याय, आचार्य, कुलस्थविर, गणस्थविर और संघस्थविर जाकर समझाते हैं। इतने पर भी वह विसर्जित नहीं करती है तो क्रमशः उसको चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद और मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इतने पर भी यदि समस्या नहीं सुलझती है तो उस प्रवर्तिनी के पास से उसका हरण कर अन्य गण में उसको समर्पित कर दिया जाता है, अन्य प्रवर्तिनी की निश्रा में उसे दे दिया जाता है।

२८२७. एमेव उवज्झाए, अविसज्जंते हवंति लहुगा उ।
भण्णंते गुरुगादी, वसभा वा जाव नवमं तु॥
२८२८. एमेव य आयरिए, अविसज्जंते हवंति गुरुगा उ।
वसभादिएहि भणिए, छल्लहुगादी उ जा चरिमे॥

यदि उस प्रवर्तिनी का उपाध्याय उस व्रतिनी के विसर्जन के लिए नहीं कहता तो उसे चतुर्लघु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार वृषभ आदि के क्रम से गुरु प्रायश्चित्त से वृद्धिंगत होता हुआ यावत् नौवें अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त तक पहुंच जाता है। इसी प्रकार आचार्य यदि उस व्रतिनी का विसर्जन नहीं करा पाता तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है और वृषभ आदि के कहने पर भी यदि विसर्जन नहीं होता है तो षड्लघु से वृद्धिंगत होते-होते यावत् चरम प्रायश्चित्त–पारांचित प्राप्त होता है।

२८२९. साहत्थमुंडियं गच्छवासिणी बंधवे विमग्गंती।
अण्णस्स देति संघो, णाण-चरणरक्खणा जत्थ॥

पार्श्वस्थों द्वारा स्वहस्तमुंडित वह गच्छवासिनी श्रमणी बांधव अर्थात् उद्यतविहारी आचार्य की अन्वेषणा करती है, उसे संघ अन्य आचार्य अथवा प्रवर्तिनी को दे देता है–सौंप देता है जहां उसके ज्ञान, चरण की रक्षा होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८३०. नाणचरणस्स पव्वज्जकारणं नाणचरणतो सिद्धी।
जहि नाणचरणवुड्ढी, अज्जाठाणं तहिं वुत्तं॥

प्रव्रज्या का कारण (निमित्त) है—ज्ञान और चरित्र। ज्ञान और चरण से ही सिद्धि होती है। इसलिए जहां ज्ञान और चरण की वृद्धि होती है वहां आर्यिकाओं का अवस्थान कहा गया है।

२८३१. मोत्तूण इत्थ चरिमं, इत्तिरिओ होति ऊ दिसाबंधो।
ओसण्णदिक्खियाए, आवकहाए दिसाबंधो॥

चार कारणों (श्लोक २८१६) में अंतिम को छोड़कर तीनों के मध्य निर्गत का दिग्बंध इत्वरिक होता है। अवसन्नदीक्षित श्रमणी का दिग्बंध यावत्कथिक होता है।

२८३२. एसेव गमो नियमा, निग्गंथाणं पि होइ नायव्वो।
नवरं पुण नाणत्तं, अणवट्ठप्पो य पारंची॥

यही गम—प्रकार नियमतः निर्ग्रंथों के लिए जानना चाहिए। प्रायश्चित्त में नानात्व है। अनवस्थाप्य और पारांचित का भेद है।

२८३३. अद्धाणनिग्गतादी, कप्पट्ठगसंभरं ततो बितिओ।
आगमणदेसभंगे, चउत्थओ मग्गए सिक्खं॥

श्रमणियों की भांति ही श्रमणों के एकाकी होने के चार कारण हैं—१. मार्गनिर्गत २. अपने संतान की स्मृति ३. शत्रुसेना का आगमन होने पर देशभंग हो जाना ४. पार्श्वस्थ आदि के पास दीक्षित होकर शिक्षा की मार्गणा करना।

छठा उद्देशक समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातवां उद्देशक

२८३४. निग्गंथीणऽहिगारे, ओसण्णत्ते य समणुवत्तंते।
सत्तमए आरंभो, नवरं पुण दो वि निग्गंथी॥

निर्ग्रंथी के अधिकार सूत्र में छठे उद्देशक के अंतिम दो सूत्रों में अवसन्नत्व का अनुवर्तन है। एक सूत्र निर्ग्रंथी से तथा दूसरा निर्ग्रंथ से संबंधित है। सातवें उद्देशक में दो सूत्रों का आरंभ होता है। विशेष इतना ही है कि ये दोनों सूत्र निर्ग्रंथी से संबंधित हैं।

२८३५. सुत्तं धम्मकहनिमित्तमादि घेत्तूण निग्गया गच्छा।
पण्णवणचेइयाणं, पूयं काऊण आगमणं॥

किसी आचार्य की शिष्या निर्ग्रंथी सूत्रार्थ, धर्मकथा, निमित्त आदि का ग्रहण कर गच्छ से निर्गत हो गई। चैत्यायतन की प्रज्ञापना, महत्तरिका की पूजाकर गुरु के पास आगमन (विस्तार आगे)

२८३६. धम्मकहनिमित्तेहि य, विज्जामंतेहि चुण्णजोगेहिं।
इब्भादि जोसियाणं, संथवदाणे जिणायतणं॥

धर्मकथा से, निमित्तबल से, विद्या और मंत्रों से, चूर्ण तथा योग से इभ्य व्यक्तियों को प्रसन्न कर उस निर्ग्रंथी ने परिचय बढ़ाकर वहां जिनायतन का निर्माण कराया।

२८३७. संबोहणट्ठयाए, विहारवत्ती व जिणवरमहे वा।
महतरिया तत्थ गया, निज्जरणं भत्तवत्थाणं॥

उसको संबोध देने के लिए महत्तरिका विहारवृत्ति से अथवा जिनेश्वरदेव के उत्सव के बहाने वहां आई। उस निर्ग्रंथी ने इभ्यगृहों से महत्तरिका को भक्तपान तथा वस्त्रों का दान दिलाया।

२८३८. अणुसट्ठ उज्जमंती, विज्जंते चेइयाण सारवए।
पडिवज्जंति अविज्जंतए उ गुरुगा अभत्तीए॥

महत्तरिका द्वारा अनुशिष्ट होकर अथवा स्वयं संयम के प्रति उद्यम करने के लिए वह तत्पर हुई। चैत्य का सारापक—सार-संभाल करने वाला हो तो महत्तरिका उस निर्ग्रंथी को ले जाती है। सारापक के अभाव में उसको ले जाने से अभक्ति के कारण महत्तरिका को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२८३९. आगमणं सक्कारं, हिंडंति जहिं विरूवरूवेहिं।
लाभेण सन्नियट्टा, हिंडंति तो तहिं दिट्ठा॥

सत्कार को पाकर वे सभी गुरु के पास आईं। उन्हें जो वस्तुलाभ हुआ था, उन विविध प्रकार के वस्त्रों से प्रावृत होकर वे वहां भिक्षा के लिए घूम रही थीं। उन्हें इस प्रकार घूमते हुए वृषभों ने देखा।

२८४०. सक्कारिया य आया, हिंडंति तहिं विरूवरूवेहिं।
वत्थेहि पाउया ता, दिट्ठा य तहिं तु वसभेहिं॥

महत्तरिकाएं सत्कारित होकर गुरु के पास आईं। वे विविध प्रकार के वस्त्रों से प्रावृत होकर घूमने लगीं। वहां वृषभों ने उन्हें देख लिया।

२८४१. भिक्खा ओसरणम्मि व, अपुव्ववत्था उ ताउ दट्ठूणं।
गुरुकहण तासि पुच्छा, अम्हमदिन्ना ना वा दिट्ठा॥

भिक्षाचर्या में अथवा समवसरण में अपूर्व वस्त्रों से प्रावृत उनको देखकर वृषभों ने गुरु से कहा। गुरु ने वृषभों से कहा—उन्हें पूछो कि ये वस्त्र कहां से आए? न तो हमने ये वस्त्र दिए और न किसी को देते हुए देखा।

२८४२. निवेदणियं च वसभे, आयरिए दिट्ठ एत्थ किं जायं।
तुम्हे अम्ह निवेदह, किं तुब्भऽहियं नवरि दोण्णि॥
२८४३. लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुगगुरुगा य।
छेदो मूलं च तहा, गणं च हाउं विगिंचेज्जा॥

श्रमणियां जितना भी वस्त्र लाए, वह आचार्य को निवेदित करे। निवेदित न करने पर प्रायश्चित्त है लघुमास। वृषभ के पूछने पर न बताने पर चार लघुमास का, आचार्य के पूछने पर न बताने पर चार गुरुमास का, बिना निवेदन किए वस्त्र आदि पहन लेने पर चार लघुमास का, बिना निवेदन किए रख लेने पर चार गुरुमास का, यदि वे कहें—जो कहते हैं वह देख लिया है, तो प्रायश्चित्त छह लघुमास का, यदि कहें—यदि निवेदन नहीं किया तो क्या हुआ, तो छह गुरुमास का। यदि वे कहें—क्या आप हमें निवेदन करते हैं—तो प्रायश्चित्त है छेद। यदि वे कहें— हमारे से आपका क्या आधिक्य है? हम दोनों परस्पर भाई-बहन हैं। इस प्रकार कहने पर प्रायश्चित्त है मूल। उस प्रवर्तिनी के गण का हरण कर उसका त्याग कर देना चाहिए।

२८४४. अण्णस्सा देति गणं, अह नेच्छति तं ततो विगिंचेज्ज।
तं पि पुणरवि दिंतस्स, एवं तु कमेण सव्वासिं॥

दूसरी प्रवर्तिनी को गण देते हैं। उसके न चाहने पर उसका परित्याग कर दिया जाता है। क्रमशः यदि सभी की अनिच्छा हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो सभी का परित्याग कर देना चाहिए।

२८४५. पवत्तिणिममत्तेणं, गीतत्था उ गणं जई।
धारइत्ता ण इच्छंति, सव्वासिं पि विगिंचणा॥

यदि प्रवर्तिनी गीतार्थ होने पर भी ममत्व के कारण गण को धारण नहीं करना चाहती है तो सभी का परित्याग कर देना चाहिए।

२८४६. चोदग गुरुगो दंडो, पक्खेवग चरियसिद्धपुत्तीहिं।
विसयहरणट्ठया तेणियं च एयं न नाहिंति॥

शिष्य ने पूछा—प्रवर्तिनी को गुरुतर दंड क्यों दिया गया? आचार्य ने कहा—उन्होंने वस्त्र आदि के निमित्त को मिटाने के लिए उपचार से चरिका और सिद्धपुत्री को शिष्यारूप में स्वीकार किया है, जिससे यह ज्ञात न हो पाए कि वस्त्रों को चुराया है। (विस्तार आगे की गाथाओं में।)

२८४७. अवराहो गुरु तासिं, सच्छंदेणोवधिं तु जा घेत्तुं।
न कहंती भिन्ना वा, जं निट्ठुरमुत्तरं बेंति॥

उनका अपराध भी गुरुतर है। वे स्वच्छंदरूप से उपधि को ग्रहण कर कभी नहीं कहती, बताती। ज्ञात हो जाने पर, पूछने पर वे निष्ठुर उत्तर देती हैं।

२८४८. अचियत्ता निक्खंता, निरोहलावण्णऽलंकियं दिस्स।
विरहालंभे चरिया, आराहण दिक्खलक्खेण॥

एक स्त्री स्वयं को कुटुंब के लिए अप्रीतिकर मानती हुई प्रव्रजित हो गई। निर्ग्रंथी के रूप में वह स्वतंत्र नहीं थी। उसका आवागमन निरुद्ध था। वह अद्भुत लावण्य से अलंकृत थी। वह भिक्षाचरी के लिए गई। उसके पति ने उसे देखा। परंतु एक साध्वी साथ में थी। उसको अकेली न पाकर उसने एक चरिका (संन्यासिनी) की आराधना की—उसे दान, सम्मान दिया। वह चरिका दीक्षा के मिष से निर्ग्रंथी के पास गई।

२८४९. अहवावि अण्ण कोई, रूवगुणुम्मादिओ सुविहिताए।
चरियाए पक्खेवं, करेज्ज छिद्दं अविंदंतो॥

अथवा अन्य कोई व्यक्ति उस निर्ग्रंथी के रूप और गुणों से उन्मादित हो गया। उसको कोई छिद्र नहीं मिला तब वह चरिका का प्रक्षेप—उपचार करता है, उसका दान—सम्मान से आराधना करता है।

२८५०. सिद्धी वि कावि एवं, अधवा उक्कोसणंतगा भिन्ना।
होहं वीसंभेउं अगहियगहिए य लिंगम्मि॥

कहीं-कहीं सिद्धपुत्रिका की इस प्रकार आराधना कर उसका प्रयोग किया जाता है। अथवा वह सिद्धपुत्रिका उन निर्ग्रंथियों के उत्कृष्ट वस्त्रों को देखकर ललचा जाती है। मैं प्रव्रजित होऊंगी ऐसा विश्वास दिलाकर वह लिंग ग्रहण करे या न करे, फिर भी वह उन उत्कृष्ट वस्त्रों को चुरा लेती है।

२८५१. वीसज्जिय नासिहिती, विट्ठंतो तत्थ घंटलोहेणं।
तम्हा पवित्तिणीए, सारणजयणाय कायव्वा॥

शिष्य ने कहा—भंते! इस प्रकार उन श्रमणियों को विसर्जित करने पर वे नष्ट हो जाएंगी, इसलिए यह दंड आप न दें। गुरु बोले—यहां घंटालोह का दृष्टांत है। (जिस दिन जिस लोहे से घंटा बनाया, वह लोह उसी दिन नष्ट हो गया। इसी प्रकार श्रमणियां जिस दिन स्वच्छंद हुई उसी दिन नष्ट हो गई।) इसलिए प्रवर्तिनी को सारणा यतनापूर्वक करनी चाहिए।

२८५२. धम्मं जइ काउ समुट्ठियासि,
अज्जेव दुग्गं तु कमं सएहिं।
तं दाणि वच्चामु गुरूण पासं,
भव्वं अभव्वं च विदंति ते ऊ॥

वह सिद्धपुत्रिका (परिव्राजिका) प्रवर्तिनी के पास दीक्षा लेने के लिए उपस्थित हो तो प्रवर्तिनी उसे कहे—'यदि तुम धर्म करने के लिए समुपस्थित हुई हो और भारी कर्मों के कारण आज ही दीक्षित होना चाहती हो तो अभी हम गुरु के पास चलें। वे भव्य और अभव्य को जानते हैं। हम नहीं जानतीं।

२८५३. जो जेणऽभिप्पाएण, एती तं भो गुरू विजाणंति।
पारगमपारगं ति य, लक्खणतो दिस्स जाणंति॥

शिष्य! जो व्यक्ति जिस अभिप्राय से आता है, उसको गुरु जानते हैं। प्रव्रज्या लेने वाले को देखकर उसके लक्षणों से वे जान जाते हैं कि यह प्रव्रज्या का पारग होगा अथवा अपारग?

२८५४. पत्ता पोरिसिमादी, छाता उव्वाय वुत्थ साहंति।
चोदेति पुव्वदोसे रक्खंती नाउ से भावं॥

प्राप्ता पौरुषी आदि, बुभुक्षिता, परिश्रांता, उषिता—यह सारा गुरु को कहती है। गुरु पूर्वदोषों को कहते हैं। दीक्षिता के भाव को जानकर गुरु उसका संरक्षण करते हैं। यह द्वार गाथा है—व्याख्या आगे।

२८५५. जा जीय होति पत्ता, नयंति तं तीय पोरिसीए उ।
छाउव्वातनिमित्तं, बितिया ततियाए चरिमाए॥

जिस पौरुषी में जो श्रमणियों के पास आती है, उस पौरुषी में वे उसे गुरु के पास ले जाती हैं। यदि वह भूखी है, परिश्रांत है तो इन कारणों से दूसरी, तीसरी और चरम पौरुषी में उसे गुरु के पास ले जाती हैं।

२८५६. चरमाए जा दिज्जति, भत्तं विस्सामयंति णं जाव।
सा होति निसा दूरं व अंतरं तेण वुत्थं ति॥

यदि उस बुभुक्षित साध्वी को चरम पौरुषी में भक्तपान दिया जाता है तो वह साध्वी तदनंतर विश्राम करती है। तब तक निशा हो जाती है। गुरु का उपाश्रय दूर होता है, तब वह निर्ग्रंथी साध्वियों के उपाश्रय में ही रहकर प्रभात में गुरु के पास जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८५७. नाहिंति ममं ते तू, काई नासेज्ज अप्पसंकाए।
जा उ न नासेज्ज तहिं, तं तु गयं बेंति आयरिया॥
२८५८. न हु कप्पति दूती वा, चोरी वा अम्ह काइ इति वुत्ते।
गुरुणा नाया मि अहं, वएज्ज नाहं ति वा बूया॥

कोई साध्वी यह सोचकर कि आचार्य मुझको जान लेंगे, इस आत्मशंका से पलायन कर जाती है। जो पलायन नहीं करती उसे गुरु के पास ले जाकर सारी बात कहती है। आचार्य उसको कहते हैं—हमें दूती या चोरी करने वाली को दीक्षित करना नहीं कल्पता। गुरु के यह कहने पर वह समझ जाती है कि गुरु ने मुझे पहचान लिया है, यह सोचकर वह वहां से चली जाती है। यदि वह कहे—मैं वैसी नहीं हूं.....

२८५९. अतिसयरहिता थेरा, भावं इत्थीण नाउ दुन्नेयं।
रक्खेहेयं उप्पर, लक्खेह य से अभिप्पायं॥

अतिशयरहित स्थविर आचार्य भी स्त्रियों के दुर्विज्ञेय भावों को जानकर कहते हैं—इस निर्ग्रंथी की उप्पर—विशेष यतनापूर्वक रक्षा करना, इसके अभिप्राय को लक्षित कर लेना।

२८६०. उच्चारभिक्खे अदुवा विहारे,
थेरीहि जुत्तं गणिणी उ पेसे।
थेरीण असती अत्तव्वयाहि,
ठावेति एमेव उवस्सयम्मि॥

गणिनी—प्रवर्तिनी उसको उच्चारभूमी में जाते समय अथवा भिक्षाचर्या तथा विहार के समय अन्य स्थविरा साध्वियों के साथ भेजे। यदि स्थविरा साध्वियां न हों तो उस निर्ग्रंथी के विसदृशवय वाली साध्वियों के साथ उसे भेजे। इसी प्रकार उपाश्रय में विसदृशवय वाली साध्वियों के साथ उसे रखे।

२८६१. कइतविया उ पविट्ठा, अच्छति छिड्डं तहिं निलिच्छंती।
विरहालंभे अधवा, भणाइ इणमो तहिं सा तू॥

कोई कपटवेशधारिणी निर्ग्रंथी उपाश्रय में प्रविष्ट होकर छिद्र देखती हुई वहां रहती है। अथवा एकांत पाकर वह यह कहती है—

२८६२. अविहाडा हं अव्वो, मा मं पस्सेज्ज नीयवग्गो वा।
तं दाणि चेइयाइं, वंदह रक्खामहं वसधिं॥

आर्ये! मेरा ज्ञातिवर्ग मुझको प्रव्रजित न देख ले इसलिए मैं अप्रकट—गुप्त रहना चाहती हूं। इसलिए अब आप सब चैत्यवंदन के लिए जाएं। मैं वसति की रक्षा करूंगी।

२८६३. उव्वण्णो सो धणियं, तुज्झ धवो जो तदा सि नित्तण्हो।
वभिचारी वा अण्णो, इति णात विगिंचणा तीसे॥

सभी के चले जाने पर वह शैक्ष साध्वी तरुणी साध्वी से कहती है—तुम्हारा भर्त्ता जो पहले निस्तृष्ण हो गया था, अब वह तुम्हारे प्रति अत्यधिक उत्कंठित हो रहा है। अथवा अन्य कोई व्यभिचारी संयती की प्रार्थना करता है। इस प्रकार उसके भावों को जानकर वह उसका परित्याग कर देती है।

२८६४. पारावयादियाइं, दिट्ठा णं तासि णंतगाणि मए।
तुज्झ नत्थि महत्तिरिए, वुत्ता खुड्डीओ दंसेंति॥

तब वहां कोई सिद्धपुत्रिका अथवा अन्य स्त्री वस्त्र आदि के अपहरण की भावना से आकर कहती है—आर्ये! मैंने आज तक पारापत आदि वस्त्रों को नहीं देखा है। क्या तुम्हारी महत्तरिका के पास वे नहीं हैं? यह सुनकर वह क्षुल्लकी साध्वी उसे वे वस्त्र दिखाती है।

२८६५. कोट्टंब तामलित्तग, सेंधवए कसिणजुंगिए चेव।
बहुदेसिए य अन्ने, पेच्छसु अम्हं खमज्जाणं॥

वह उसे कोट्टम्ब—गौडदेशोत्पन्न, ताम्रलिप्त में निर्मित, सैंधव देश में उत्पन्न तथा अन्य बहुत से देशों के परिपूर्ण तथा टुकड़े किए हुए वस्त्रों को दिखाती हुई कहती है—देखो, ये हमारी क्षमार्या—प्रवर्तिनी के वस्त्र हैं।

२८६६. अच्छंद गेण्हमाणीण, होंति दोसा जतो तु इच्चादी।
इति पुच्छिउं पडिच्छा, न तासि सच्छंदता सेया॥

स्वच्छंदरूप से शिष्याओं अथवा उपधि को ग्रहण करने वाली साध्वियों के ये दोष होते हैं। इसलिए गुरु को पूछकर ही इनका ग्रहण करना चाहिए। श्रमणियों की स्वच्छंदता श्रेयस्कर नहीं होती।

२८६७. अत्थेण गंथतो वा, संबंधो सव्वधा अपडिसिद्धो।
सुत्तं अत्थमुवेक्खति, अत्थो वि न सुत्तमतियाति॥

अर्थ से तथा ग्रंथ (सूत्र) से संबंध सर्वथा अप्रतिषिद्ध है। सूत्र अर्थ की अपेक्षा रखता है तथा अर्थ भी सूत्र का अतिक्रमण नहीं करता।

२८६८. नदिसोय सरिसओ वा, अधिगारो एस होति दट्ठव्वो।
छट्ठाणंतरसुत्ता, समणीणमयं तु जा जोगो॥

यह अधिकार नदी के स्रोत के सदृश द्रष्टव्य है। छठे उद्देशक के चरमानंतर सूत्रद्वय से आरंभ होकर यह योग—संबंध तब तक है जब तक श्रमणियों का अधिकार है।

२८६९. संविग्गाणुवसंता, आभीरी दिक्खिया य इतरेहिं।
तत्थारंभं दट्ठुं, विपरिणमेतर व दिट्ठा उ॥
२८७०. तह चेव अब्भुवगता, जध छट्ठुद्देस वण्णिता पुव्विं।
अविसज्जंताणं पि य, दंडो तह चेव पुव्वुत्तो॥

एक आभीरी संविग्न मुनियों के पास धर्म सुनकर उपशांत—विरक्त हुई। वे संविग्न मुनि वहां से चले गए। दूसरे असंविग्न मुनियों ने उस आभीरी को दीक्षित कर दिया। उसने वहां आरंभ—रंधन आदि देखा। वह विपरिणत हो गई। वह उन्हीं संविग्न मुनियों को समवसरण आदि में देखा। वह उनके पास गई और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवर्तिनी की याचना की। इसका वर्णन छठे उद्देशक (गाथा २८२६ आदि) में पहले किया जा चुका हैं। उसके लिए व्यवस्था न करने वाले प्रवर्तिनी, उपाध्याय तथा आचार्य को पूर्वोक्त दंड–प्रायश्चित्त आता है। यहां भी वही ज्ञातव्य है।

२८७१. तं पुण संविग्गमणो, तत्थाणीतं तु जइ न इच्छेज्जा।
नियगा उ संजतीओ ममकारादीहि कज्जेहिं॥

उस संविग्नमानसवाली आभीरी श्रमणी को वहां ले जाने पर भी निजक अर्थात् स्वगण की श्रमणियां ममकार आदि कारणों से उसको लेना न चाहें।

२८७२. पासत्थिममत्तेणं, पगती वेसा अचक्खुकंता वा।
गुरुगणतण्णीयस्स तु, नेच्छंती पाडिसिद्धी या॥

२८७३. ओमाणं नो काहिति, संखलिबद्धा व ताउ सव्वाओ।
मा होहिति सागरियं, सीदंति च उज्जतं नेच्छे॥

(ममत्व के कारण ये हैं।) यह जहां से आई है वह पार्श्वस्था हमारे पर कुपित न हो, इस पार्श्वस्थों के ममत्व के कारण, यह प्रकृति से द्वेष्य है, प्रवर्तिनी के लिए अचक्षुकांता है अर्थात् प्रवर्तिनी उसको देखना भी नहीं चाहती, अथवा प्रवर्तिनी गुरु से कुपित है अथवा गुरु को गच्छ से ऊपर नहीं जानती अथवा उस निर्ग्रंथी के ज्ञातिजनों के साथ प्रवर्तिनी की प्रतिस्पर्धा है अथवा ये सभी साध्वियां शृंखलाबद्ध हैं, परस्पर स्वजन हैं अतः यह हमारा अपमान करेगी इसलिए इसको दीक्षित न करें। यह सागारिक ही रहे। वह खिन्न होती है फिर भी वे उस उद्यमशील साध्वी को अपने में नहीं मिलातीं।

२८७४. भणति वसभाभिसेए, आयरिकुलेण गणेण संघेण।
लहुगादि जाव मूलं, अण्णस्स गणो य दातव्वो॥

२८७५. एवं पुव्वगमेणं, विगिंचणं जाव होति सव्वासिं।
देंतण्ण मणुण्णाणं, अमणुण्ण चउण्हमेगतरं॥

वृषभ के कहने पर, अभिषेक अर्थात् उपाध्याय के कहने पर अथवा आचार्य, कुल और गण के कहने पर प्रवर्तिनी उसको स्वीकार नहीं करती है तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त से क्रमशः मूलपर्यंत प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। संघ के कहने पर भी प्रवर्तिनी उसको लेना नहीं चाहती तो प्रवर्तिनी से गण का अपहरण कर, अन्य प्रवर्तिनी को गण दे देना चाहिए। इसमें पूर्वगम–पूर्वविकल्प के अनुसार परित्याग तब तक करते रहना है जब तक सभी उस निर्ग्रंथिनी को लेने से इंकार नहीं कर देतीं। अन्य समनोज्ञ, अमनोज्ञ जो सर्वसंख्या में चार होते हैं, उनमें से किसी एक स्थान पर उसको देना चाहिए। जैसे पहला स्थान है–अपनी श्रमणियां, दूसरा है गच्छवर्ती श्रमणियां, तीसरा है अन्य सांभोगिक श्रमणियां और चौथा है असांभोगिक श्रमणियां।

२८७६. समणुण्णमणुण्णाणं, संजत तह संजतीण चउरो य।
पासत्थिममत्तादि व, अद्धाणादि व्व जे चउरो॥

अथवा 'चउण्हमेगयरं' इस प्रकार भी होता है–

१. समनोज्ञ संयतों का समुदाय
२. अमनोज्ञ संयतों का समुदाय
३. समनोज्ञ संयतियों का समुदाय
४. अमनोज्ञ संयतियों का समुदाय

इनमें से कोई एक।

पार्श्वस्थाममत्व, प्रकृति से सर्वजनद्वेष्या, प्रवर्तिनी के लिए अचक्षुःकांता और गुरु आदि के साथ प्रतिस्पर्धा–ये चार कारण हैं। इन चारों कारणों में से एक के आधार पर वह अन्य सांभोगिकी अथवा असंभोगिकी को दी जाती है। अथवा अध्वनिर्गता, पुत्री का स्मरण करती हुई, शत्रुसेना का आगमन अथवा देशभंग तथा शिक्षा की मार्गणा–इन चार कारणों में से किसी एक के आधार पर अन्य सांभोगिकी अथवा असांभोगिकी को दी जाती है।

२८७७. सेहि त्ति नियं ठाणं, एवं सुत्तम्मि जं तु भणियमिणं।
एवं कयप्पयत्ता, ताधि मुयंता उ ते सुद्धा॥

यदि असांभोगिकी प्रवर्तिनी भी उसे ग्रहण करना न चाहे तो सूत्र में जो कहा–'सेहित्ति नियंठाण'–इसका अर्थ हैं कि प्रयत्न करने पर भी यदि संयतियां लेना स्वीकार नहीं करती है तो उसे मुक्त करने में भी वे शुद्ध हैं, कोई दोष नहीं है।

२८७८. संभोइउं पडिक्कमाविया कप्पति अयं पि संभोगो।
सो उ विवक्खे वुत्तो, इमं तु सुत्तं सपक्खम्मि॥

अनंतर सूत्र में कहा है कि प्रतिक्रमण कराने के बाद संभोज कल्पता है। इस सूत्र के द्वारा भी संभोज कहा जा रहा है। पूर्वसूत्र में विपक्ष–संयती का संभोज बताया था। यह सूत्र सपक्ष अर्थात् संयत के संभोज का वाचक है।

२८७९. संभोगो पुव्वुत्तो, पत्तेयं पुण वयंति पडिएक्कं।
तप्पंते समणुण्णे, पडितप्पणमाणुतप्पं च॥

संभोज पूर्व उक्त है अर्थात् निशीथाध्ययन में उक्त है। उसका पुनः कथन किया जा रहा है। जो प्रत्येक का विसंभोज करता है वह तप्त होता है। समनोज्ञ तप्त होता है और दूसरा अनुतपन करता है अर्थात् उसके प्रति तपन करता है।

२८८०. सागारिए गिहा निग्गते य वडघरिय जंबुघरिए य।
धम्मिय गुलवाणियए, हरितोलित्ते य दीवे य॥

शय्यातर, गृह से निर्गत, वटगृहिक, जंबूगृहिक, धार्मिक, गुडवणिक्, हरितोपलिप्त, दीप–यह द्वारगाथा है। इसका विस्तार आगे।

२८८१. नवघरकवोतपविसण, दोण्हं नेमित्ति जुगव पुच्छा य।
अण्णोण्णस्स घराइं, पविसध नेमित्तिओ भणति॥

२८८२. आदेसागमपढमा, भोत्तुं लज्जाए गंतु गुरुकहणं।
सो जइ करेज्ज वीसुं, संभोगं एत्थ सुत्तं तु॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो नए घर निर्मित हुए। एक था जंबूगृह और दूसरा था वटगृह। दोनों में कपोतों का प्रवेश हो गया। दोनों गृहस्वामियों ने एक साथ नैमित्तिक से पूछा। नैमित्तिक ने कहा—इनके अशुभ निवारण का यही उपाय है कि तुम दोनों एक-दूसरे के घर में प्रवेश करो और कुछ समय तक वहां रहकर फिर अपने-अपने घर में आ जाना। एक दिन प्राघूर्णक मुनि आ गए। जंबूगृह के वास्तव्य मुनि वटगृह में प्रविष्ट स्वामी के घर से प्रातराश ले आए। उसका उपभोग कर लज्जावश गुरु को जाकर कहा। आचार्य यदि बिना चिंतन किए उनको विसंभोज करते हैं तो यहां सूत्र का विरोध होता है। (यदि दोनों वे गृह-परिवर्त इत्वरिक किया है तो जम्बूगृहिक अशय्यातर है और यदि परिवर्त यावत्कथिक है तो जम्बूगृहिक शय्यातर है।)

२८८३. धम्मिओ देउलं तस्स, पालेति जइ भद्दओ।
सो य संवड्ढितं तत्थ, लद्धुं देज्जा जतीण उ॥

शय्यातर का एक देवकुल है। एक धार्मिक उसकी देख-रेख करता है। वह यतियों का भद्रक है। वह शय्यातर के घर में बचा हुआ अग्रकूट स्वयं प्राप्त कर साधुओं को देता है।

२८८४. वाणियओ गुलं तत्थ, विक्किणंतो उ तं दए।
तत्थ मोव्वरिए हुज्जा, अडं कच्छउडेण वा॥

शय्यातर के घर में एक गुडवणिक् रहता था। वह गुड का विक्रय करता और साधुओं को भी गुड देता था। अथवा वह अपना गुडभांड शय्यातर के अपवरक में रखता था। वह कच्छपुट से गुड निकालकर यदा-कदा साधुओं को देता था।

२८८५. हरितोलित्ता कता सेज्जा, कारणे ते य संठिता।
पसज्झा वावि पालस्स, चेइयट्ठा गणे गते॥

२८८६. छिण्णाणि वावि हरिताणि, पविट्ठो दीवएण वा।
कतकज्जस्स पम्हुट्ठे, सो वि जाणे दिणे दिणे॥

एक गृहस्वामी ने वसति में से हरियाली को ऊखाड़ कर वसति को गोबर से लीप कर तैयार कर दिया। कुछ मुनि वहां आकर कारणवश उसी वसति में ठहर गए। अथवा पूर्वस्थित-मुनिगुण उस वसति से चैत्यवंदन के लिए चले गए। फिर गृहस्वामी आया और वसतिपाल मुनि के मनाही करने पर भी उसने वसति को उपलिप्त कर हरियाली को उखाड़ फेंका।

शय्यातर किसी प्रयोजन से उस वसति में दीपक के साथ प्रविष्ट हुआ और प्रयोजन पूरा होने पर दीपक को वहीं भूल कर चला गया। उस दिन सांभोगिक मुनि वहां आया और उसने सोचा कि वसति स्वामी प्रतिदिन यहां दीपक रखता है। (गुरु के पास शिकायत पहुंची और गुरु ने गहराई से न सोचकर वसति में रहने वाले मुनि को विसांभोगिक कर दिया।)

२८८७. दट्ठुं साहण लहुओ, वीसु करेंताण लहुग आणादी।
अद्धाणनिग्गतादी, दोण्हं गणभंडणं चेव॥

जो केवल देखकर कारणों को न जानता हुआ, गुरु से निवेदन करता है, उसे लघुमास का प्रायश्चित्त और जो बिना चिंतन किए विसांभोजिक करते हैं उन गुरु को चार लघुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञा आदि दोष का भाजन होना पड़ता है। अध्वादि निर्गत मुनिगण का तथा विसांभोजिक करने वाले आचार्य के गण का—दोनों गणों का भंडन होता है।

२८८८. तं सोउ मणसंतावो, संततीए तिउट्टति।
अण्णे वि ते विवज्जंती, वज्जिता अमुएहि तो॥

किसी ने अकल्पिक का सेवन कर दिया। उसको सुनकर मानसिक संताप होता है। वह संतति से टूट जाता है, पृथक् हो जाता है। दूसरे संभोजिक भी उसका विवर्जन करते हैं। वे अवसन्न हो गए, इसलिए अमुक आचार्य ने उनका विवर्जन कर डाला है—यह बात प्रचलित हो जाती है।

२८८९. ततो णं अन्नतो वावि, ते सोच्चा इह निग्गता।
वज्जेंता जं तु पावेंति, निज्जरंतो य हाविता॥

वे गण से विवर्जित मुनि अन्यत्र जाकर पुनः मूलस्थान पर आएं। वहां आने पर जिन मुनियों ने आचार्य के पास उनकी शिकायत की थी, उनसे तथा अन्य मुनियों से स्वयं को गण से विवर्जित करने की बात सुनकर, वे गण का वर्जन कर देते हैं। इससे आचार्य को अनालोच्य विसंभोज करने का प्रायश्चित्त आता है। गण से पृथक्कृत मुनियों का वैयावृत्त्य कर संघीय मुनि निर्जरा का लाभ प्राप्त कर सकते थे, उससे वे वंचित हो जाते हैं।

२८९०. तं कज्जतो अकज्जे, वा सेवितं जइ वि तमकज्जेण।
न हु कीरति पारोक्खं, सहसा इति भंडणं होज्जा॥

इसलिए कार्य से अर्थात् कारण से अथवा अकारण से अकल्पिक का सेवन किया है तो भी परोक्ष—सहसा उसे विसांभोजिक नहीं किया जाता क्योंकि ऐसा करने पर दोनों गणों का भंडन होता है।

२८९१. निस्संकियं व काउं, आसंक निवेदणा तहिं गमणं।
सुद्धेहि कारणमणाभोग जाणया दप्पतो दोण्हं॥

गुरु को निवेदन करने वालों को पहले निःशंकित हो जाना चाहिए। गुरु को निवेदन करने में आशंका व्यक्त करने पर गुरु को चाहिए कि वे इसकी प्रामाणिक जानकारी के लिए संघाटक मुनियों को भेजे। संघाटक वहां जाए और फिर सारी बात आचार्य को निवेदित करे। ऐसा न करते पर दोनों गणों में भंडन हो सकता है। विसांभोजिक मुनि कहते हैं—हम शुद्ध हैं। अथवा कारण से, अनाभोग से अथवा पहले दो परिषहों के उदीर्ण होने के कारण जानते हुए दर्प से अकल्प का सेवन किया, फिर भी विसांभोजिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना युक्त नहीं होता।

२८९२. कज्जेण वावि गहियं, सगार परियट्टतो व सो अम्हं।
कारणमजाणतो वा, गहियं किं वीसुकरणं तु॥

हमने कारण से अथवा अकारण से शय्यातरपिंड लिया। उसका कारण था आगारपरिवर्त। यदि हमने कारण की आजानकारी में शय्यातरपिंड लिया तो परोक्ष में विसंभोजकरण कैसे किया जाता है?

२८९३. जाणंतेहि व दप्पा, घेत्तुं आउट्टिउं कता सोही।
तुब्भेत्थ निरतियारा, पसियह भंते! कुसीलाणं॥

जानते हुए भी हमने दर्प से अकल्पिक ग्रहण किया। फिर हमने उसकी शोधि कर ली। भंते! आप निरतिचार हैं। आप हम कुशीलों पर प्रसन्न हों।

२८९४. पढमबितिओदएणं, जं सव्वं आउरेहिं तं गहियं।
दिट्ठा दाणि भवंतो, जं बितियपएसु नित्तण्हा॥

प्रथम तथा द्वितीय परीषह के उदीर्ण होने पर हमने जो कुछ प्राप्त किया था, आतुर मुनियों ने वह सब कुछ ले लिया। आपने वह देखा है। अब द्वितीयपद—अपवाद पद में आज निस्तृष्ण हो रहे हैं। (इस प्रकार परोक्ष में विसंभोज करने पर भंडन हो सकता है। अतः निर्ग्रंथ को प्रत्यक्ष में ही सांभोजिक से विसांभोजिक किया जा सकता है।)

२८९५. सत्तमए ववहारे, अवराहविभावितस्स साधुस्स।
आउट्टमणाउट्टे, पच्चक्खेणं विसंभोगे॥

व्यवहार के सातवें उद्देशक में अपराध से परिभावित साधु यदि पुनः आवृत्त होता है, प्रत्यावर्तन करता है, उसे विसांभोजिक नहीं किया जाता, प्रायश्चित्त दिया जाता है। जो आवर्तन नहीं करता उसे प्रत्यक्षतः विसांभोजिक किया जाता है।

२८९६. संभोगऽभिसंबंधेण, आगते केरिसेण सह णेओ।
केरिसएण विभागो, भण्णति सुणसू समासेणं॥

अभिसंबंध से संभोज आने पर कैसे व्यक्ति के साथ संभोज जानना चाहिए और कैसे व्यक्ति के साथ विसंभोज?—यह शिष्य ने पूछा। आचार्य ने कहा—मैं संक्षेप में बताता हूं, तुम सुनो।

२८९७. पडिसेधे पडिसेधो, असंविग्गे दाणमादि तिक्खुत्तो।
अविसुद्धे चउगुरुगा, दूरे साधारणं काउं॥

प्रतिषेध का अर्थ है—निवारण। असंविग्न पार्श्वस्थादि के साथ दान आदि का प्रतिषेध है। यदि कोई दान आदि करता है तो तीन बार उसका वारण किया जाता है। न मानने पर वह अविशुद्ध है, उसे विसांभोजिक कर दिया जाता है। उसका प्रायश्चित्त है चार गुरुमास। दूर देश में काई सांभोजिक है, ऐसा पूछने पर उसे साधारण बनाकर उत्तर देना चाहिए। (जैसे पहले थे, अब ज्ञात नहीं कि वे सांभोजिकत्व का पालन करते हैं या नहीं?)

२८९८. पासत्थादिकुसीले, पडिसिद्धे जा तु तेसि संसग्गी।
पडिसिज्झति एसो खलु, पडिसेधे होइ पडिसेधो॥

पार्श्वस्थ आदि कुशील मुनियों के प्रतिषेध में उनका संसर्ग प्रतिषिद्ध है। यह प्रतिषेध का प्रतिषेध है।

२८९९. सूयगडंगे एवं, धम्मज्झयणे निकाचितं भणियं।
अकुसीले सदा भिक्खू नो य संसग्गियं वए॥

सूत्रकृतांग के धर्माध्ययन में इस प्रकार निश्चयपूर्वक कहा गया है कि भिक्षु सदा अकुशील रहें। वह कुशीलों के साथ संसर्गिका न करे।

२९००. दाणादी संसग्गी, सइं कयाए पडिसिद्धे लहुगो।
आउट्टे सब्भाम त्ति, असुद्धगुरुता तु तेण परं॥

पार्श्वस्थ आदि कुशीलों के साथ एक बार संसर्ग करने पर आचार्य उसका प्रतिषेध करते हैं। उसके आवर्तित होने पर प्रायश्चित्त है लघुमास। दूसरी बार आवर्तित हो जाने पर मासलघु, तीसरी बार भी यही प्रायश्चित्त है। यदि उसके बाद अर्थात् चौथी बार संसर्ग करता है तो वह अशुद्ध है और उसका प्रायश्चित्त है गुरुमास।

२९०१. तिक्खुत्तो मासलहू, आउट्टे गुरुगो मास तेण परं।
अविसुद्धे तं वीसुं, करेति जो भुंजती गुरुगा॥

तीन बार के आवर्तन में मासलघु, उसके आगे गुरुमास तथा बार-बार संसर्ग करने पर अविशुद्ध होने के कारण उसे विसांभोजिक कर दिया जाता है। जो उसके साथ संभोज करता है उसको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२९०२. सइ दोण्णि तिन्नि वावी, होज्ज अमाई तु माइ तेण परं।
सुद्धस्स होति चरणं, मायासहिते चरणभेदो॥

एक, दो तीन बार यदि संसर्ग करता है तो वह अमायी हो सकता है। इसके बाद संसर्गकरण में वह मायी है। कहा भी है—जो शुद्ध होता है उसके चारित्र होता है। मायायुक्त व्यक्ति के चरण-भेद होता है, चारित्र का अभाव होता है।

२९०३. एवं तू पासत्थादिएसु संसग्गिवारिता एसा।
समणुण्णे वि ऽपरिच्छित, विदेसमादी गते एवं॥

इस प्रकार पार्श्वस्थ आदि के साथ यह संसर्गी निषिद्ध की है। इसी प्रकार विदेश आदि में गए हुए समनोज्ञ मुनियों के साथ भी परीक्षा किए बिना संसर्गी करना वर्जित है।

२९०४. समणुण्णेसु विदेसं, गतेसु पच्छण्ण होज्ज अवसन्ना।
ते वि तहिं गंतुमणा, आहत्थि तहिं मणुण्णा णो॥

किसी आचार्य के विदेश गए हुए समनोज्ञ मुनि भी पश्चात् अवसन्न हो जाते हैं। विदेश जाने के इच्छुक वे मुनि आचार्य से पूछते हैं—क्या वहां अपने मनोज्ञ मुनि हैं?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९०५. अत्थि त्ति होति लहुगो, कदाइ ओसन्न भुंजणे दोसा।
नत्थि वि लहुगो भंडण, न खेत्तकहणे व पाहुण्णं॥

ऐसा पूछने पर यदि आचार्य कहते हैं कि समनोज्ञ मुनि हैं तो उन्हें लघुमास का प्रायश्चित्त आता है क्योंकि कदाचित् वे अवसन्न हो गए हों। यहां से जाने वाले मुनि उनके साथ भोजन करते हैं तो उनको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि आचार्य कहे कि वहां मनोज्ञ साधु नहीं हैं तो भी लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। भंडन आदि दोष होते हैं। अतः वे मुनि मासप्रायोग्य अथवा वर्षाप्रायोग्य क्षेत्र नहीं बताते और न वे प्राघूर्णकत्व करते हैं।

२९०६. आसि तदा समणुण्णा, भुंजह दव्वादिएहि पेहित्ता।
एवं भंडणदोसा, न होंति अमणुण्णदोसा य॥

इस स्थिति में आचार्य को ऐसे कहना चाहिए—वे मुनि यहां से विदेश गए तब तक समनोज्ञ थे। अब हमें उनकी स्थिति ज्ञात नहीं है। तुम वहां द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से परीक्षा कर फिर उनके साथ भोजन करना। इससे न भंडनदोष होगा और न अमनोज्ञता के कारण होने वाले दोष होंगे।

२९०७. णातमणाते आलोयणा तु ऽणालोइए भवे गुरुगा।
गीतत्थे आलोयण, सुद्धमसुद्धं विगिंचंति॥

ज्ञात-अज्ञात सांभोज की आलोचना देनी चाहिए। तदनंतर भोजन व्यवहार करना चाहिए। बिना आलोचना किए भोजन व्यवहार करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। आलोचना गीतार्थ के पास करनी चाहिए। वे शुद्ध, अशुद्ध (उपधि) का पृथक्करण करते हैं। (तदनुरूप प्रायश्चित्त भी देते हैं।)

२९०८. अविणट्ठे संभोगे, अणातणाते य नासि पारिच्छा।
एत्थोवसंपयं खलु, सेहं वासज्ज आरे वी॥

जब तक संभोज अविनष्ट था तब तक ज्ञात-अज्ञात की परीक्षा नहीं थी।[1] पहले भी शैक्ष मुनियों की उपसंपदा के आधार पर सांभोजिकों की अज्ञातता होती थी।

२९०९. महल्लयाय गच्छस्स, कारणेहऽसिवादिहिं।
देसंतरगताऽणोण्णे, तत्थिमा जतणा भवे॥

महान् गच्छ का एक स्थान पर संस्तरण नहीं होता इसलिए तथा अशिवादी कारणों से मुनि देशांतर गए। इस प्रकार पृथक्-पृथक् स्थानों में स्थित हैं। पूर्वस्थित और पश्चादागत मुनियों का मेलापक होता है वहां वह यतना है।

२९१०. दोण्णि वि जदि गीतत्था, राइणिए तत्थ विगडणा पुव्विं।
पच्छा इतरो वि दए, समाणतो छत्तछायाओ॥

अगीतार्थ के पास आलोचना करे। यदि दोनों मुनि गीतार्थ हैं तो रत्नाधिक गीतार्थ के पास पहले आलोचना करे, फिर अवम रत्नाधिक के पास रत्नाधिक मुनि आलोचना करे। यदि दोनों समान छत्रछायाक हैं—समरत्नाधिक हैं तो जो आचार्य के पास से बाद में निर्गत हैं, उसके पास पहले आलोचना करे और फिर इतर के पास।

२९११. निक्कारणे असुद्धो उ, कारणे वाणुवायतो।
उज्झंति उवधिं दो वि, तस्स सोहिं करेंति य॥

बिना कारण अशुद्ध ग्रहण किया तथा कारणवश अयतना से ग्रहण किया—इन दोनों प्रकार की उपधि का परित्याग करते हैं और तत्प्रयायिक शोधि—प्रायश्चित्त प्राप्त करते हैं।

२९१२. एवं तु विदेसत्थे, अयमन्नो खलु भवे सदेसत्थे।
अभिणीवारीगादी, विणिग्गते गुरुसगासातो॥

यह विदेशस्थ मुनियों की यतना कही गई है। यतना का दूसरा प्रकार स्वदेशस्थ मुनियों का है। अभिनिवारिका आदि (भिक्षा के लिए गति-विशेष) के कारण वह मुनि गुरु के पास से विनर्गत होता है, पुनः वह गुरु के पास किस वेला में आए—इसका विवेक आगे की गाथा में।

२९१३. अभिणीवारी निग्गत, अहवा अन्नेण वावि कज्जेण।
विसणं समणुण्णेसुं, काले को यावि कालो उ॥

अभिनिवारिका के कारण अथवा अन्य कारण से निर्गमन करने पर समनोज्ञ अर्थात् आचार्य के पास उचित काल में प्रवेश करे। शिष्य ने पूछा—काल कौन सा? आचार्य कहते हैं—

२९१४. भत्तट्ठिय आवासग, सोधेत्तु मतित्ति पच्छ अवरण्हे।
अब्भुट्ठाणं दंडादियाण, गहणेगवयणेणं॥

भिक्षाचर्या के लिए गए हुए मुनि भिक्षाचर्या कर भोजन से निवृत्त होकर, आवश्यक उच्चार आदि की शुद्धि कर पश्चात् अपरान्ह में आते हैं तब वहां के वास्तव्य मुनि अभ्युत्थान करते हैं तथा एकवचन से—मैं दंड आदि का ग्रहण करता हूं, इस एक वचन से दंड आदि का ग्रहण करते हैं। (यह प्रवेश की कालवेला है।)

२९१५. खुड्डग विगिट्ठ गामे, उण्हं अवरण्ह तेण तु पगे वि।
पक्खित्तं मोत्तूणं, निक्खिव उक्खित्त मोहेणं॥

गांव छोटा है अथवा विकृष्ट है—दूर है तथा अपरान्ह में जाने पर बहुत ताप होता है तो मुनि प्रातःकाल में भी प्रवेश कर सकता है। वहां के वास्तव्य मुनि नैषेधिकी शब्द को सुनते ही जो कवल मुंह में प्रक्षिप्त है उसको छोड़कर (निगलकर), जो कवल उठाया है उसे पात्र में डाल दे। फिर ओघ आलोचना से आलोचना कर उनके साथ भोजन करे।

---

१. टीकाकार के अनुसार आर्यमहागिरी तक संभोज अविनष्ट था। तब ज्ञात-अज्ञात की परीक्षा नहीं होती थी। आर्यसुहस्ति के शिष्य ने द्रमकप्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद संभोज व्यवस्था विनष्ट हो गई। फिर परीक्षा होने लगी। (वृत्ति पत्र १४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९१६. जइ वि तव आवण्णो, जा भिन्नो अहव होज्ज नावन्नो।
तहियं ओहालोयण, तेण परेणं विभागो उ॥

प्राघूर्णक मुनि यदि तपोर्ह प्रायश्चित्त प्राप्त है परंतु अभी तक भिन्न–छेद आदि प्राप्त नहीं है अथवा तपोर्ह प्रायश्चित्त भी प्राप्त नहीं है तो ओघ आलोचना से आलोचना कर उनके साथ मंडली में भोजन किया जा सकता है। भोजनानंतर विभागालोचना से आलोचना कर प्रायश्चित्त स्वीकार करते हैं।

२९१७. अधवा भुत्तुव्वरितं, संखडि अन्नेहि वावि कज्जेहिं।
तं मुक्कं पत्तेयं, इमे य पत्ता तहिं होज्जा॥

अथवा वास्तव्य मुनियों द्वारा भोजन कर लेने के पश्चात् पर्याप्त भोजन बच गया है, अथवा उन वास्तव्य मुनियों को संखडि में निमंत्रित किया गया है, अथवा अन्य कारणों से भी मंडली में, प्रत्येक भोजन करे, उतना भोजन बचा हुआ है, तब उस वेला में प्राघूर्णक पहुंचते हैं तो वास्तव्य मुनि उठकर कहते हैं–

२९१८. भुंजह भुत्ता अम्हे, जो वा इच्छति य भुत्त सह भोज्जं।
सव्वं व तेसि दाउं, अन्नं गेण्हंति वत्थव्वा॥

हमने भोजन कर लिया, अब आप भोजन करें। जो प्राघूर्णक अभुक्त वास्तव्य मुनि के साथ भोजन करना चाहे वह उनके साथ भोजन करे। यदि प्राघूर्णक मुनियों के लिए वह भोजन पर्याप्त न हो तो वास्तव्य मुनि सारा भोजन उन्हें देकर अन्य भोजन लाएं।

२९१९. तिण्णि दिणे पाहुण्णं, सव्वेसिं असति बालवुड्ढाणं।
ते तरुणा सग्गामे, वत्थव्वा बाहि हिंडंति॥

आगत सभी मुनियों का तीन दिन तक प्राघूर्णकत्व करना चाहिए। यदि सभी का न कर सके तो बाल और वृद्ध मुनियों का अवश्य करे। जो प्राघूर्णक तरुण मुनि हों वे स्वग्राम में भिक्षा के लिए घूमते हैं और वास्तव्य तरुण मुनि गांव के बाहर भिक्षाचर्या के लिए घूमते हैं।

२९२०. संघाडगसंजोगे, आगंतुग भद्दएतरे बाहिं।
आगंतुगा व बाहिं, वत्थव्वग भद्दए हिंडे॥

ग्रामवासी लोग यदि आगंतुकभद्रक हों तो प्राघूर्णक एक-एक मुनि वास्तव्य मुनि के साथ संघाटक के रूप में भिक्षा के लिए घूमे। इतर बचे हुए वास्तव्य संघाटसंयोग गांव के बाहर उद्भ्रामक भिक्षाचर्या करे। यदि ग्रामवासी वास्तव्यभद्रक हों तो वास्तव्य का एक-एक मुनि प्राघूर्णक मुनि के साथ घूमे। जो प्राघूर्णक मुनियों के संघाटसंयोग बचे हैं वे उद्भ्रामक भिक्षाचर्या के लिए घूमे।

२९२१. मंडुगगतिसरिसो खलु, अहिगारो होइ बितियसुत्तस्स।
संपुडतो वा दोण्ह वि, होति विसेसोवलंभो वा॥

दूसरे सूत्र का अधिकार मंडूकगति सदृश[1] है। जैसे दो काष्ठफलकों को एकत्र करने पर फलक संपुट होता है। इसी प्रकार निर्ग्रंथसूत्र के पश्चात् दूसरा निर्ग्रंथीसूत्र संपुटसदृश होता है। जो शिष्य निर्ग्रंथसूत्र के अनंतर निर्ग्रंथीसूत्र पढ़ते हैं उन्हें विशेष उपलंभ होता है, प्राप्ति होती है। निर्ग्रंथीसूत्र यदि व्यवहृत हो तो उतनी प्राप्ति नहीं होती।

२९२२. एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होति नायव्वो।
जं एत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं॥

जो निर्ग्रंथसूत्र का व्याख्यागम कहा है, वही नियमतः निर्ग्रंथियों के जानना चाहिए। जो नानात्व है उसको मैं संक्षेप में कहूंगा।

२९२३. किं कारणं परोक्खं, संभोगो तासु कीरती वीसुं।
पाएण ता हि तुच्छा, पच्चक्खं भंडणं कुज्जा॥

किस कारण से निर्ग्रंथियों का संभोज उनके परोक्षतः पृथक् कर दिया जाता है? आचार्य कहते हैं–वे निर्ग्रंथियां प्रायः तुच्छ होती हैं। प्रत्यक्षतः विसंभोज करने पर वे भंडन करती हैं।

२९२४. दोण्णि वि ससंजतीया, गणिणो एक्कस्स वा दुवे वग्गा।
वीसुकरणम्मि ते च्चिय, कवोयमादी उदाहरणा॥

दो गणी हैं। दोनों ससंयतीक हैं–सतियों सहित हैं। वे परस्पर सांभोजिक हैं। अथवा एक गणी के दो वर्ग हैं–निर्ग्रंथवर्ग और निर्ग्रंथीवर्ग और एक के केवल एक वर्ग है–निर्ग्रंथवर्ग। वे जिस निर्ग्रंथी को विसांभोजिक करना चाहें, उसमें पूर्वोक्त कपोत आदि के उदाहरण है।

२९२५. पडिसेवितं तु नाउं, साहंती अप्पणो गुरूणं तु।
ते वि य वाहरिऊणं, पुच्छंती दो वि सब्भावं॥

किन्हीं साध्वियों ने अकल्पिक का प्रतिसेवन किया है, यह जानकर अपने गुरु को यह बात बताई। गुरु भी उनको बुलाकर दोनों संयतिवर्गों से सद्भाव की पृच्छा करते हैं।

२९२६. जइ ताउ एगमेगं, अहवा वि परं गुरुं व एज्जाही।
अहवा वी परगुरुओ, परवतिणी तीसु वी गुरुगा॥

यदि प्रतिसेवना करने वाली साध्वियां तथा गुरु को निवेदन करने वाली साध्वियां एक ही आचार्य की हों, अथवा आत्मीय साध्वियां भी किसी कारण से परगुरु के पास चली गई हों अथवा प्रवर्तिनी परगुरु से उपसंपदा स्वीकार कर ली हो–इन तीनों को यदि आचार्य सद्भाव पूछते हैं तो उनको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

---

१. जैसे मेंढक फुदक-फुदक कर चलता है वैसे ही निर्ग्रंथसूत्र से निर्ग्रंथीसूत्र सदृश है, वह मंडूकीगति सदृश है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९२७. भंडणदोसा होंती, वगडासुत्तम्मि जे भणितपुव्वं।
सयमवि य वीसुकरणे, गुरुगा चावल्लया कलहो॥

इन तीनों को स्वयं पूछने पर भंडन दोष होते हैं, जिनका कथन पहले कल्पाध्ययन के प्रथम उद्देशक में 'वगडासूत्र' में किया गया है। यदि वे संयतियां स्वयं ही विसांभोजिक करती हैं तो उनको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसका कारण है कि उनकी चपलता के द्वारा परस्पर कलह हो सकता है।

२९२८. पत्तेयं भूयत्थं, दोण्हं पि य गणहरा तुलेऊणं।
मिलिउं तग्गुणदोसे, परिक्खिउं सुत्तनिद्देसो॥

दोनों गणधर—आचार्य दोनों संयतिवर्ग के प्रत्येक के भूतार्थ को जानकर, उनको तोले तथा एकत्र मिलाकर दोनों वर्गों के गुण-दोषों की परीक्षा करे, फिर सूत्र निर्देश करे।

२९२९. संभोगम्मि पवत्ते, इमा वि संभुंजते उवट्ठविउं।
सीसायरियत्ते वा, पगते न दिक्खंति दिक्खे या॥

पूर्व सूत्रद्वय में संभोज प्रवृत्त था। प्रस्तुत सूत्र में उपस्थापना के पश्चात् संभोज प्रवृत्त है। अथवा शिष्यत्व—आचार्यत्व प्रकृत होने पर भी प्रस्तुत सूत्रद्वय से यह कहा गया है कि दूसरे के लिए निर्ग्रंथी को दीक्षित किया जाता है, स्वयं के लिए नहीं।

२९३०. अण्णट्ठमप्पणो वा, पव्वावण चउगुरुं च आणादी।
मिच्छत्त तेण संकट्ठ, मेहुणे गाहणे जं च॥

दूसरों के प्रयोजन से अथवा स्वयं के प्रयोजन के लिए निर्ग्रंथी को प्रव्राजित करने पर प्रायश्चित्त है चार गुरुमास का तथा आज्ञाभंग आदि दोष तथा मिथ्यात्व का प्रसंग। स्तैन्य की शंका से, मैथुन की शंका से तथा ग्रहण—कंचुक, संघाट ग्रहण की शंका से प्रव्रजित करता है, तो तद्-तद् विषयक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२९३१. तेणट्ठ मेहुणे वा, हरति अयं संकऽसंकिते सोधी।
कक्खादभिक्खदंसण णित्थक्कं वोभए दोसा॥

स्तैन्य की आशंका से अथवा अनाशंका से अथवा मैथुन की आशंका से अथवा अनाशंका से निर्ग्रंथी का हरण करता है, प्रव्रजित करता है तो उसको प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। तथा उसके कक्षा आदि के बार-बार अवलोकन करने से आत्मोभय दोष (स्व-परदोष) प्राप्त होते हैं।

२९३२. हरति त्ती संकाए, लहुगा गुरुगा य होंति नीसंके।
मेहुणसंके गुरुगा, निस्संकिय होति मूलं तु॥

कोई प्रव्रज्या के व्याज से निर्ग्रंथी का हरण करता है इस आशंका से उसे चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। आशंका के अभाव में निःशंक हरण करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। मैथुन की आशंका से हरण करने पर चार गुरुमास का और निःशंकित मैथुन के लिए हरण करने पर मूल प्रायश्चित्त आता है।

२९३३. अवि धूयगादिवासो, पडिसिद्धो तह य वास सइगाहिं।
वीसत्थादी दोसा, विजढा एवं तु पुव्वुत्ता॥

पुत्री आदि के साथ तथा स्वजनों के साथ वास करना भी प्रतिषिद्ध है। इससे विश्वस्तता त्यक्त हो जाती है तथा अनेक दोष उत्पन्न होते हैं—ऐसा पहले (सूत्रकृतांग में) कहा जा चुका है।

२९३४. पव्वावणा सपक्खे, परिपुच्छउ दोसवज्जिते दिक्खा।
एयं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवातो तु कारणिओ॥

प्रव्राजना सपक्ष में करनी चाहिए—पुरुषों को निर्ग्रंथ प्रव्रजित करे और स्त्रियों को साध्वियां प्रव्रजित करें। दीक्षा देनी हो तो उसको पूछकर तथा दोषवर्जित स्त्री-पुरुषों को देनी चाहिए। शिष्य ने पूछा—यदि यह तत्व है तो सूत्र अफल—निरर्थक हो जाएगा। आचार्य ने कहा—सूत्रनिपात कारणिक है, कारणवश सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

२९३५. कारणमेगमडंबे, खंतियमादीसु मेलणा होति।
पव्वज्जमब्भुवगते, अप्पाण चउव्विधा तुलणा॥

एक मुनि अशिव आदि कारण से एकाकी हो गया। वह 'एकमडंब'[1] में आया। वहां उसके माता, भगिनी आदि का मेलापन होता है। वे प्रव्रज्या के लिए तैयार होती हैं। उनके प्रव्रज्या के लिए तैयार होने पर साधु को चार प्रकार की तुला (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) से अपने आपको तोलना चाहिए।

२९३६. असिवादिकारणगतो, वोच्छिन्नमडंब संजतीरहिते।
कथिताकथितउवट्ठित, असंक इत्थी इमा जतणा॥

एक साधु अशिवादि कारणों से व्यवच्छिन्न और संयति रहित मडंब में गया। वहां धर्म कहने या न कहने पर भी माता आदि व्रतग्रहण करने के लिए अभ्युद्यत हो गए। उन अंशकनीय स्त्रियों के प्रति यह यतना है—

२९३७. आहारादुप्पायण, दव्वे समुइं च जाणती तीसे।
जदि तरति गंतु खेत्ते, आहारादीणि वद्धाणे॥

२९३८. गिम्हादिकालपाणग,
निसिगमणमादिसु वावि जइ सत्तो।
भावे कोधादिजओ,
गाहणणाणे य चरणे य॥

उस यतना के चार घटक हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य में अर्थात् आहार आदि के उत्पादन में वह समर्थ है। संमुइ अर्थात् वह प्रव्रजित होने वाली स्त्री का स्वभाव जानता है। क्षेत्रतः अर्थात् मार्ग में आहार आदि के उत्पादन के लिए वह जाने में

१. 'एकमडंब' ऐसा निवेशस्थान जिसके चारों दिशाओं में कोई अन्य ग्राम या नगर न हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्थ है। ग्रीष्म आदि काल में वह पानक लाने में समर्थ है, शीत और वर्षाकाल में प्रायोग्य द्रव्य के संपादन में शक्त है, तथा भावतः क्रोध आदि पर जय प्राप्त करने में समर्थ है तथा प्रव्रजित होने की इच्छुक को ज्ञान और चारित्र को प्राप्त कराने में समर्थ है—वह प्रव्राजित कर सकता है।

२९३९. अब्भुज्जतमेगतरं, पडिवज्जिउकाम जो उ पव्वावे।
गुरुगा अविज्जमाणे, अन्ने गणधारणसमत्थे॥

जो अभ्युद्यतविहार अथवा अभ्युद्यतमरण—इन दोनों में से एक को ग्रहण करने का इच्छुक मुनि यदि प्रव्रजित करता है और यदि अन्य व्यक्ति गणधारण करने में समर्थ नहीं है तो अभ्युद्यतविहार अथवा मरण स्वीकार करने वाले को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२९४०. जो वि य अलद्धिजुत्तो, पव्वावेंतस्स होंति गुरुगा उ।
तम्हा जो उ समत्थो, सो पव्वावेति ताओ वा॥

जो अलब्धियुक्त है और वह प्रव्रजित करता है तो उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। यह असमर्थता का प्रायश्चित्त है। जो समर्थ है वह उन माता आदि को प्रव्रजित कर सकता है।

२९४१. एव तुलेऊणऽप्पं, सा वि तुलिज्जति उ दव्वमादीहिं।
कायाण दायणं दिक्ख, सिक्ख इत्तरदिसा नयणं॥

इस प्रकार स्वयं को द्रव्य आदि से तोलकर तथा प्रव्राजित होने वाली स्त्री को भी द्रव्य आदि से तोलना चाहिए। फिर उसे षट्काय का दर्शन बताना चाहिए, पूरी जानकारी देनी चाहिए। तत्पश्चात् दीक्षा और शिक्षा देनी चाहिए। फिर उसे इत्वरिक् दिग्—अर्थात् कहना चाहिए कि जब तक आचार्य के पास न जाएं तब तक मैं ही तुम्हारा आचार्य हूं और मैं ही प्रवर्तिनी। फिर उसे विधिपूर्वक गुरु के पास ले जाना चाहिए।

२९४२. पेज्जादिपायरासा, सयणासण-वत्थ-पाउरणदव्वे।
दोसीण दुब्बलाणि य, सयणादि असक्कया एण्हिं॥

गृहस्थावस्था में प्रातराश, शयनासन, वस्त्र, प्रावरण आदि उन्नत और कालोचित प्राप्त थे। मुनि बनने के पश्चात् प्रातराश के लिए वासी भात, शयन आदि दुर्बल मिलते हैं, वस्त्र और प्रावरण ऐसे मिलते हैं जिनका उपयोग अशक्य होता है, यह द्रव्य विषयक पृच्छा है।

२९४३. पडिकारा य बहुविधा,
विसयसुहा आसि मे ण पुण एण्हिं।
वत्थाणि ण्हाण धूवण,
विलेवणं ओसधाइं च॥

गृहस्थावस्था में व्याधि आदि के प्रतीकार बहुविध थे। विषयसुख के साधन भी अनेक प्रकार के थे। जैसे—मनोज्ञ वस्त्र, स्नान, धूप, विलेपन आदि। व्याधि के प्रतीकार के लिए अनेक प्रकार की औषधियां थीं। आज मुनि जीवन में वे प्राप्त नहीं हैं।

२९४४. अद्धाण दुक्खसेज्जा, सरेणु तमसा य वसहिओ खेत्ते।
परपादेहि गताणं, वुत्थाण य उदुसुहघरेसुं॥

क्षेत्र विषयक पृच्छा—प्रव्रज्या से पूर्व तुम सदा दूसरे के चरणों से चलते थे। (अर्थात् वाहन आदि से जाते थे), प्रत्येक ऋतु में सुखकारी घरों में रहना होता था, परंतु अब मार्ग में स्वचरणों से गमन करना दुःखदायी है। वसति सरेणुका मिलती है और वह भी अंधकारमय।

२९४५. आहारा उवजोगो, जोग्गो जो जम्मि होति कालम्मि।
सो अन्नहा न य निसिं, कालेऽजोग्गो य हीणो य॥

गृहस्थावस्था में जिस काल में जो योग्य आहार आदि का उपयोग होता है, वह प्राप्त होता है। मुनि बनने के बाद वह आहार आदि का उपयोग अन्यथा हो जाता है। रात्री में वह उपयोग सर्वथा निषिद्ध होता है। आहार आदि का उपयोग काल में भी कभी अयोग्य होता है और वह भी हीन—परिपूर्ण नहीं होता। (यह कालविषयक पृच्छा है।)

२९४६. सव्वस्स पुच्छणिज्जा,
न य पडिकूलेण सइरि मुदितासि।
खुड्डी वि पुच्छणिज्जा,
चोदण फरुसा गिरा भावे॥

गृहस्थावस्था में तुम सबसे के लिए पृच्छनीय थी— सभी तुमको पूछते थे। वहां कोई प्रतिकूलता नहीं थी। तुम स्वेच्छा से सदा प्रसन्न रहती थी। व्रतग्रहण के पश्चात् छोटी से छोटी साध्वी को भी तुमको पूछना पड़ेगा। तुमको परुषभाषा से प्रेरणा दी जाएगी—यह भावविषयक पृच्छा है।

२९४७. जा जेण वयेण जधा, व लालिता तं तदन्नहा भणति।
सोयादि कसायाणं, जोगाण य निग्गहो समिती॥

जो प्रव्रजित होने वाली तरुणी जिस अवस्था में जिस प्रकार से लालित पालित हुई थी, उन वचनों से विपरीत वह कहता है—प्रव्रजित होने के पश्चात् श्रोत्र आदि इंद्रियों, कषायों तथा योगों का निग्रह करना होगा तथा समितियों का पालन करना पड़ेगा।

२९४८. आलिहण सिंच तावण, वीयण दंतधुवणादि कज्जेसु।
कायाण अणुवभोगो, फासुगभोगो परिमितो य॥

(उसे पृथिवी आदि कायों का विवेक दें।) पृथ्वी का आलेखन न करे, उदक से सिंचन, अग्नि से तापन, वायु से व्यजन तथा दांत प्रक्षालन आदि कार्यों में इन कायों का अनुपभोग हो। यदि प्रयोजन हो तो प्रासुक कायों का परिभोग करें और वह भी परिमित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९४९. अब्भुवगयाए लोओ, कप्पट्ठग लिंगकरण दावणया।
भिक्खग्गहणं कधेति, वदति वहंते दिसा तिण्णि॥

यदि वह इन सब तथ्यों को स्वीकार करती है तो उसका लुंचन करे। एक बालक को संयती के वस्त्र पहनाकर उसे वस्त्र पहनने की विधि सिखाए। फिर भिक्षाटन की सामाचारी का कथन करे और कहे कि जब तक मैं आचार्य के पास न जाऊं तब तक तुम्हारी तीनों दिशाएं मैं ही हूं–मैं ही तुम्हारा आचार्य हूं, मैं ही उपाध्याय हूं और मैं ही प्रवर्तिनी हूं।

२९५०. माऊय एक्कियाए, संबंधी इत्थि-पुरिससत्थे य।
एमेव संजतीण वि, लिंगकरण मोत्तु बितियपदं॥

किसी मुनि ने अपनी माता को प्रव्रजित किया। उसको नालबद्ध स्त्री संबंधियों के साथ, उसके अभाव में नालबद्ध पुरुषों के साथ अपने गुरु के पास ले जाए। इसी प्रकार किसी साध्वी ने किसी पुरुष को प्रव्राजित किया तो उनके लिए भी यही विधि है। अपवाद पद में उसका लिंगकरण करना विहित है।

२९५१. उट्ठेंत निवेसंते, सति करणादी य लज्जनासो य।
तम्हा उ सकडिपट्टं, गाहेति तयं दुविधसिक्खं॥

वह मुनि उठता है, बैठता है। लज्जानाश के लिए एक बार उसे कटिपट्टक धारण करना होता है। उस संयत को दोनों प्रकार की शिक्षाएं वे संयतियां देती हैं।

२९५२. आयरिय उवज्झाओ, ततिया य पवत्तिणी उ समणीणं।
अण्णेसिं अट्ठाए, त्ति होति एतेसि तिण्हं पि॥

श्रमणियों के लिए आचार्य, उपाध्याय और तीसरी प्रवर्तिनी होती है। श्रमणों के दो होते हैं–आचार्य और उपाध्याय। जो दोनों सूत्रों में 'अन्येषामर्थाय' कहा गया है, उसका अर्थ है–संयतियों के लिए यथायोग्य इन तीनों के लिए और श्रमणों के लिए दोनों के लिए।

२९५३. पव्वावियस्स नियमा, दैंति दिसिं दुविधमेव तिविधं वा।
सा पुण कस्स विगिट्ठा, उद्दिस्सति सन्निगिट्ठा वा॥

प्रव्राजित को नियमतः दो दिशाएं अथवा तीन दिशाएं देते हैं। वह दिक्निर्देश किसको विप्रकृष्ट अथवा किसको सन्निकृष्ट उद्दिष्ट किया जाए–यह सूत्रसंबंध है।

२९५४. अहवा वि सरिसपक्खस्स
अभावा दिक्खणा विपक्खे वि।
तत्थ वि कस्स विगिट्ठा,
उद्दिस्सति कस्स वा नेति॥

अथवा सदृशपक्ष के अभाव में विपक्ष को भी दीक्षा दी जाती है। उस स्थिति में किसी को विप्रकृष्ट दिक् उद्दिष्ट करते हैं और किसी को नहीं–यह सूत्रद्वय में कहा गया है।

२९५५. दुविधं पि य वितिगिट्ठं, निग्गंथीणुद्दिसंति चउगुरुगा।
आणादिणो य दोसा, दिट्ठंतो होति कोसलए॥

विकृष्ट दो प्रकार का होता है–क्षेत्रविकृष्ट और भावविकृष्ट। श्रमणियों को यदि ये दोनों प्रकार की दिक् उद्दिष्ट की जाती है तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष उत्पन्न होते हैं। इसमें कोशलक का दृष्टांत है।

२९५६. उवसामिता जतंतेण, कोसलेणं गते य सा तम्मि।
तं चेव ववदिसंती, निक्खंता अन्नगच्छम्मि॥
२९५७. वारिज्जंती वि गया, पडिवण्णा सा य तेण पावेणं।
जिणवयणबाहिरेणं, कोसलएणं अकुलएणं॥

कोशलदेशवासी अन्य देश में गया। वह सदनुष्ठानों में रत रहने लगा। उसने वहां एक श्राविका को उपशांत किया, विरक्त किया। उसके चले जाने पर वह श्राविका अन्य गच्छ में दीक्षित हो गई परंतु वह यही कहती–मेरे आचार्य कोशलदेशवासी ही हैं। दीक्षा के पश्चात् उसको निषिद्ध करने पर भी वह कोशलक के पास गई। जिनवचन से बाह्य, अकुलज उस पापी कोशलक ने उसे स्वीकार कर लिया।

२९५८. कोसलए किं कारण, गहणं बहुदोसलो उ कोसलओ।
तम्हा दोसुक्कडया, गहणं इह कोसले अवि य॥

प्रश्न होता है कि कोशलक का ग्रहण क्यों किया गया? आचार्य कहते हैं–कोशलक (देश के स्वभाव के कारण) बहुदोषल होता है, इसलिए यहां कोशलक का ग्रहण उसकी दोषोत्कटता के कारण किया गया है।

२९५९. अंधं अकूरमयय, अवि या मरहट्ठयं अवोकिल्लं।
कोसलयं च अपावं, सतेसु एक्कं न पेच्छामो॥

आंध्रदेशवासी अक्रूर, महाराष्ट्रदेशवासी अवाचाल और कोशलक अपापी–ऐसा सैंकड़ों में भी एक नहीं देखा जाता।

२९६०. कोसलए जे दोसा, उद्दिस्संतम्मि किन्न सेसाणं।
ते तेसि होज्ज व न वा, इमेहि पुण नोद्दिसे ते वि॥

दिशा उद्दिष्ट करते हुए कोशलक के जो दोष होते हैं, तो क्या दिक् उद्दिष्ट करने वाले दूसरों के नहीं होते? आचार्य कहते हैं–दूसरों में वे दोष हों या न हों, कोशलक के ये निश्चित होते हैं। तथा इन वक्ष्यमाण कारणों से उन शेषदेशोत्पन्न क्षेत्रविकृष्टों को भी उद्दिष्ट न करे।

२९६१. अन्नं उद्दिसिऊणं, निक्खंता वा सरागधम्मम्मि।
अण्णोण्णम्मि ममत्तं, न हु वग्गाणं पि संभवति॥

सरागधर्म में अन्य आचार्य को उद्दिष्ट कर निष्क्रमण किया परंतु परस्पर जो ममत्व है वह व्यग्रचित्तवालों के कभी नहीं होता। (किंतु वह एकचित्त वालों के ही होता है।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९६२. सुचिरं पि सारिया गच्छिहिती
ममता ण याति गच्छस्स।
सीदंतचोयणासु य,
परिभूया मि त्ति मन्नेज्जा॥

जो गच्छ यह मानता है कि चिरकाल तक शिक्षिता वह श्रमणी जाएगी तो उसके विषय में कोई ममत्व नहीं होता। वह श्रमणी संयम योगों में शिथिल होती है तथा शिक्षा, प्रेरणा देने पर स्वयं को पराजित मानती है। (उसका भी गच्छ पर ममत्व नहीं होता।)

२९६३. गमणुस्सुएण चित्तेण, सिक्खा दो वि न गेण्हती।
वारिज्जंती वि गच्छेज्जा, पंथदोसे इमे लभे॥

गमनोत्सुक व्यक्ति का चित्त शिक्षाओं को ग्रहण नहीं कर सकता है। प्रतिषेध करने पर भी वह अन्य आचार्य के पास जाती है। वह मार्गगत इन दोषों को प्राप्त होती है।

२९६४. मिच्छत्त-सोहि-सागारियादि पासंड तेण सच्छंदा।
खेत्तविगिट्ठे दोसा, अमंगलं भवविगिट्ठं पि॥

मिथ्यात्व, शोधि, सागारिकादि, पाषंड, स्तेन, स्वच्छंद–ये क्षेत्रविकृष्ट के दोष हैं। भावविकृष्ट में अमंगल दोष होता है। (यह द्वारगाथा है। विवरण आगे की गाथाओं में।)

२९६५. उवदेसो न सिं अत्थि, जेणेगागी उ हिंडती।
इति मिच्छं जणो गच्छे, कत्थ सोधिं च कुव्वउ॥

उन श्रमणियों के लिए ऐसा कोई उपदेश (आज्ञा) नहीं है कि वे एकाकी घूमें। उपदेश के अभाव में स्त्रीजन मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाती हैं। एकाकिनी कहां शोधि करे, कहीं नहीं।

२९६६. सागारमसागारे, एगीय उवस्सए भवे दोसा।
चरगादि विपरिणामण, सपक्ख-परपक्ख-निण्हादी॥

सागार–अगारसहित अथवा असागार-अगाररहित उपाश्रय में एकाकिनी श्रमणी के ये दोष होते हैं–सागार में दीप आदि का स्पर्श तथा असागार में कुलटा, जार आदि का प्रवेश। स्वपक्ष में निन्हवादि से विपरिणमन तथा परपक्ष में चरक आदि से विपरिणमन हो सकता है।

२९६७. तेणेहि वावि हिज्जति, सच्छंदुट्ठाण गमणमादीया।
दोसा भवंति एते, किं व न पावेज्ज सच्छंदा॥

स्तेन आदि अपहर्ताओं द्वारा उसका अपहरण कर लिया जाता है। स्वच्छंद उत्थान, गमन आदि ये दोष एकाकिनी के होते हैं। स्वच्छंद होकर वह क्या क्या प्राप्त नहीं करती?

२९६८. गोरव-भय-ममकारा, अवि दूरत्थे वि होंति जीवंते।
को दाणि समुग्घातस्स कुणति न य तेण जं किच्चं॥

दूरस्थ भी जीवित व्यक्ति के प्रति गौरव, भय और ममकार–ये होते हैं। कौन अब उस शरीर के प्रति गौरव, भय और ममकार करेगा, जिससे कोई प्रयोजन नहीं है?

२९६९. कोसलवज्जा ते च्चिय, दोसा सविसेस भवविगिट्ठे वि।
दुविधं पी वितिगिट्ठं, तम्का उ न उद्दिसेज्जाहिं॥

कोशलवर्ज्य जो दोष क्षेत्रविकृष्ट संबंधी कहे गए हैं, वे विशेषरूप से भावविकृष्ट में होते हैं। इसलिए दोनों प्रकार के विकृष्ट–क्षेत्रविकृष्ट और भावविकृष्ट–को उद्दिष्ट न करे।

२९७०. बितियं तिव्वऽणुरागा, संबंधी वा न ते य सीदंति।
इत्तरदिसा उ नयणं, अप्पाहं एव दूरम्मि॥

अपवादपद के आधार पर क्षेत्रविकृष्ट उद्दिष्ट करे। दीक्षित श्रमणी आचार्य के प्रति तीव्र अनुरागवाली है। आचार्य उसके संबंधी हैं। वे आचार्य संयमयोगों में अवसादग्रस्त नहीं हैं अर्थात् वे उद्यतविहारी हैं। उस श्रमणी को इत्वरदिशा की अनुबंधिनी कर आचार्य के पास ले जाएं। आचार्य दूर हों तो संदेश कहलाए कि आपकी धर्मशैक्षा हमारे पास दीक्षित है। आप उसे अपने साथ लें।

२९७१. भवविगिट्ठे वि एमेव, समुग्घातो त्ति वा न वा।
तत्थ आसंकिते बंधो, निस्संके तु न बज्झति॥
२९७२. अधवा तस्स सीसं तु, जदि सा उ समुद्दिसे।
विप्पकट्ठे तहिं खेत्ते, जतणा जा तु सा भवे॥

भावविकृष्ट में भी ऐसा ही अपवादपद है। क्या समुद्घात–जीवितव्य कालगत हो गया या नहीं, इस आशंका से उसको अनुबंधित किया जाता है। निःशंकित होने पर भावविकृष्ट में उसका अनुबंध नहीं होता अथवा वह उसके शिष्य को समुद्दिष्ट करती है, कहती है–मेरे वे ही आचार्य हैं। मैं तो उनके शिष्य के पास रहूंगी। तब भावविकृष्ट होने पर भी उसको अनुबंधित कर दिया जाता है। जो यतना विकृष्ट क्षेत्र संबंधी कही गई है, वही यहां ज्ञातव्य है।

२९७३. निग्गंथाण विगिट्ठे, दोसा ते चेव मोत्तु कोसलयं।
सुत्तनिवातोऽभिगते, संविग्गे सेस इत्तरिए॥

निर्ग्रंथियों के विकृष्ट संबंधी जो दोष कहे गए हैं वे सारे दोष विकृष्ट निर्ग्रंथों के लिए भी हैं। दोनों में कोशलक के दोष को छोड़ा गया है। शिष्य कहता है–यदि ऐसा है तो सूत्र अनर्थक है। आचार्य कहते हैं–सूत्रनिपात अभिगत और संविग्न संबंधी है। जो शेष है, उसे इत्वरिक दिग्बंध होता है।

२९७४. सड्ढो व पुराणो वा, जदि लिंगं घेत्तु वयति अन्नत्थ।
तस्स वितिगिट्ठबंधो, जा अच्छति ताव इत्तरिओ॥

श्राद्ध–श्रावक तथा पुराण–पश्चात्कृत यदि लिंग को ग्रहण कर अन्यत्र क्षेत्रविकृष्ट मूल आचार्य के पास जाता है तो उसके विकृष्टदिग्बंध होता है, जब तक वहीं रहता है तब तक इत्वरिक दिग्बंध होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९७५. मिच्छत्तादी दोसा, जे वुत्ता ते तु गच्छतो तस्स।
एगागिस्स वि न भवे, इति दूरगते वि उद्दिसणा॥

जो मिथ्यात्व आदि दोष कहे गए हैं वे उस एकाकी जाते हुए मुनि के नहीं होते (क्योंकि वह तत्व को जानने वाला है, संविग्न है।) इसलिए गुरु के दूर चले जाने पर भी उसका उद्देशन होता है।

२९७६. गीतपुराणोवट्ठं, धारंतो सततमुद्दिसंतं तु।
आसण्णं उद्दिस्सति, पुव्वदिसं वा सयं धरए॥

२९७७. चोदिज्जंतो जो पुण, उज्जमिहिति तं पि नाम बंधंति।
सेसेसु न उद्दिसणा, इति भयणा खेत्तवितिगिट्ठे॥

एक मुनि गीत है–सूत्रार्थनिष्पन्न है तथा पुराण है–पश्चात्कृत्श्रमणभाव है। उसके मूल आचार्य क्षेत्र से दूर हैं। वह निष्क्रमणभाव से अन्य आचार्य के पास उपस्थित हुआ। वह सतत अपने मूल आचार्य का अवधारण करता हुआ कहता है–मेरे वे ही आचार्य हैं। तब जिनके पास उपस्थित हुआ है वे उसको अन्य आसन्नस्थ संविग्न आचार्य का उद्देशन करते हुए कहते हैं–वे ही तुम्हारे आचार्य हैं। अथवा वह मुनि स्वयं पूर्वदिक्–मूल आचार्य की दिशा को धारण करे। उसको उद्दिष्ट करने की आवश्यकता नहीं होती।

यदि यह जान लिया जाता है कि इस प्रकार प्रेरित किए जाने पर संविग्न हो जाएगा, तो उसे उद्दिष्ट करते हैं–कहते हैं, वे तुम्हारे आचार्य हैं। शेष मुनियों को उद्देशना नहीं दी जाती। इस प्रकार क्षेत्रविकृष्ट संबंधी यह भजना है, विकल्प है।

२९७८. एमेव य कालगते, आसण्णं तं च उद्दिसति गीते।
पुव्वदिसि धारणं वा, अगीत मोत्तूण कालगतं॥

इसी प्रकार मूलाचार्य के कालगत हो जाने पर यदि वह गीतार्थ है तो जो आसन्न–निकटस्थ आचार्य हैं उनको दे दिया जाता है अथवा पूर्वदिशा–पूर्व आचार्य को धारण किया जाता है। यदि अगीतार्थ है तो कालगत को छोड़कर अन्य आचार्य को धारण करना होता है।

२९७९. वितिगिट्ठा समणाणं अव्वितिगिट्ठा य होति समणीणं।
मा पाहुडं पि एवं, भवेज्ज सुत्तस्स आरंभो॥

व्यतिकृष्ट श्रमणों के और अव्यतिकृष्ट श्रमणियों के दिग् होती है, यह दो सूत्रों में कही गई है। यह सुनकर प्राभृत–कलह न हो इसलिए सूत्र का आरंभ होता है। यह सूत्र- संबंध है।

२९८०. सेज्जासणातिरित्ते, हत्थादी घट्ट भाणभेदे य।
वंदंतमवंदंते, उप्पज्जति पाहुडं एवं॥

शय्या, वस्त्र आदि अतिरिक्त रखने से, हाथ-पैर आदि से संघट्टन होने पर क्षमापना न करने से, पात्र आदि के टूट जाने पर, अथवा पहले वंदमान को पीछे वंदना करने आदि से कलह उत्पन्न होता है।

२९८१. अधिकरणस्सुप्पत्ती, जा वुत्ता, पारिहारियकुलम्मि।
सम्ममणाउट्टंते, अधिकरण ततो समुप्पज्जे॥

प्रातिहारिककुल में कलह की उत्पत्ति के जो कारण बताए गए हैं, उनका सम्यग् अनावर्तन (परिवर्जन) न करने पर अधिकरण उत्पन्न होता है।

२९८२. अहिगरणे उप्पन्ने, अवितोसवियम्मि निग्गयं समणं।
जे सातिज्जति भुंजे, मासा चत्तारि भारीया॥

अधिकरण उत्पन्न होने पर, जिसके साथ अधिकरण हुआ है, उसको अतोषित कर (उपशांत किए बिना) जो श्रमण निर्गत होता है, उसको जो मुनि ग्रहण करता है, उसके साथ भोजन करता है उसको प्रायश्चित्त आता है चार गुरुमास का।

२९८३. सगणं परगणं वा वि, संकंतमवितोसिते।
छेदादि वण्णिया सोही, नाणत्तं तु इमं भवे॥

अधिकरण को उपशांत किए बिना जो मुनि स्वगण अथवा परगण में संक्रमण करता है, उसके लिए छेद आदि का प्रायश्चित्त कल्पाध्ययन में वर्णित है, उसमें नानात्व यह है।

२९८४. मा देह ठाणमेतस्स, पेसवे जई तू गुरू।
चउगुरू ततो तस्स, कहेति य चऊ लहू॥

अधिकरण कर जो साधु अन्यत्र गया है, उसके लिए यदि आचार्य संदेश देते हैं या भेजते हैं कि इसको कोई स्थान न दें, तो आचार्य को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। जिस गच्छ में वह मुनि गया है और वहां भी वह प्रेषित संदेशवाहक यदि यह बात कहता है तो आचार्य को चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२९८५. ओधाणं वावि वेहासं, पदोसा जं तु काहिती।
मूलं ओधावणे होति, वेहासे चरिमं भवे॥

वह मुनि प्रद्वेषवश अवधावन कर सकता है अथवा फांसी लगाकर मर सकता है, ऐसी स्थिति में अवधावन करने पर आचार्य को मूल प्रायश्चित्त तथा मर जाने पर चरम प्रायश्चित्त अर्थात् 'पारांचित' प्रायश्चित्त आता है।

२९८६. तत्थण्णत्थ व वासं, न देंति मे ण वि य नंदमाणेणं।
नंदंति ते खलु मए, इति कलुसप्पा करे पावं॥

वह मुनि सोचता है, अपने गण में अथवा अन्यत्र कोई मुझे वास–स्थान नहीं देता। मैं उनको चाहता हूं, पर वे मुझे नहीं चाहते (महा प्रद्वेषवश वे मेरा पीछा नहीं छोड़ते) यह सोचकर वह कलुषात्मा पाप–भयंकर पाप कर सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९८७. आलीवेज्ज व वसधिं, गुरुणो अन्नस्स घायमरणं वा।
कंडच्छारिउ सहितो, सयं व ओरस्स बलवं तु।।

वह 'कंडच्छारिय'[1] हत्यारों के साथ मिलकर अथवा अपने स्वयं के शारीरिक बल के आधार पर आकर गुरु की वसति को आग लगा दे अथवा गुरु अथवा अन्य का घात करे या मार डाले।

२९८८. जदि भासति गणमज्झे अवप्पयोगा य तत्थ गंतूण।
अवितोसविए एसागतो त्ति ते चेव ते दोसा।।

यदि अन्य प्रयोजन से वहां जाकर वह गण के बीच यह कहता है कि यह मुनि अधिकरण को उपशांत किए बिना यहां आया है तो ऐसा कथन करने वाले के भी वे ही प्रागुक्त दोष होते हैं।

२९८९. जम्हा एते दोसा, अविधीए पेसणे य कहणे य।
तम्हा इमेण विहिणा, पेसणकहणं तु कायव्वं।।

अविधि से संघाटक को प्रेषित करने या उस मुनि के विषय में कथन करने से ये दोष होते हैं, इसलिए इस विधि से प्रेषण और कथन करना चाहिए।

२९९०. गणिणो अत्थि निब्भेयं, रहिते किच्च पेसिते।
गमेति तं रहे चेव, नेच्छे सहामहं खु ते।।

अन्य प्रयोजन से भेजा हुआ मुनि वहां जाकर एकांत में गणी को उस मुनि के अधिकरण रहस्य को बताता है। तब उस गच्छ के आचार्य एकांत में गणी को उस मुनि को बुलाकर पूछते हैं। वह मुनि उसे स्वीकार न कर कहता है—जो ऐसी बात करता है मैं निश्चित उसके आमने-सामने होना चाहता हूं।

२९९१. गुरुसमक्खं गमितो, तहावि जदि नेच्छति।
ताहे णं गणमज्झम्मि, भासते नातिनिट्ठुरं।।

गुरु के समक्ष वह प्रेषक उस मुनि को कौशल से सारी बात कहता है, फिर भी वह उसे स्वीकार नहीं करता, तब गुरु गण के बीच उस मुनि को अतिनिष्ठुर वचनों से नहीं, सामान्य वाणी में सारी बात कहते हैं।

२९९२. गणस्स गणिणो चेव, तुमम्मि निग्गते तदा।
अद्धिती महती आसी, सो विपक्खो य तज्जितो।।

आचार्य कहते हैं—मुने! अधिकरण करके जब तुम गण से निर्गत हुए तब गण और गणी को महान् अधृति—दुःख हुआ। तुम्हारे विपक्ष मुनि अर्थात् जिसके साथ तुम्हारा अधिकरण हुआ, उसकी भी गण और गणी ने बहुत तर्जना की।

२९९३. गणेण गणिणा चेव, सारिज्जंतो स झंपिए।
ताहे अन्नावदेसेण, विवेगो से विहिज्जइ।।

इतना कहने के पश्चात् वहां के गण और गणी के समझाने-बुझाने पर भी वह मुनि उपशांत नहीं होता है तब अन्यापदेश से—अन्योक्ति से उसका परित्याग कर देना चाहिए।

२९९४. महाजणो इमो अम्हं खेत्तं पि न पहुप्पति।
वसधी सन्निरुद्धा वा, वत्थपत्ता वि नत्थि नो।।

उसे कहे—हमारा यह गण महाजन अर्थात् संख्याबहुल है। यह क्षेत्र भी हमारे लिए पर्याप्त नहीं है। अथवा यह वसति संकरी है। अथवा हमारे पास अभी वस्त्र-पात्र नहीं है, अतः तुम अन्यत्र कहीं चले जाओ।

२९९५. सगणिच्चपरगणिच्चेण, समणुण्णेतरेण वा।
रहस्सा वि व उप्पन्नं, जं जहिं तं तहिं खवे।।

यदि आचार्य के समझाने पर वह मुनि उपशांत होता है तो स्वगण के मुनियों के साथ, परगण के मुनियों के साथ, समनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ मुनियों के साथ, एकांत में अथवा जनमध्य में, जहां-जहां अधिकरण उत्पन्न हुआ हो वहां-वहां वह उसका उपशमन करे।

२९९६. एक्कको व दो व निग्गत,उप्पण्णं जत्थ तत्थ वोसमणं।
गामे गच्छे दुवे गच्छा, कुल-गण-संघे य बितियपदं।।

एक, दो अथवा तीन, चार आदि मुनि अधिकरण कर गच्छ से निर्गत हो गए तो जिस-जिस ग्राम में अधिकरण उत्पन्न हुआ था, वहां उन्हें ले जाया जाता है और अधिकरण का उपशमन—क्षमत-क्षामना कराया जाता है। वह अधिकरण एक गच्छ अथवा दो गच्छों में, कुल, गण, संघ में हो सकता है। यहां द्वितीयपद—अपवादपद से उसका भी उपशमन किया जाता है।

२९९७. तं जत्तिएहि दिट्ठं, तत्तियमेत्ताण मेलणं काउं।
गिहियाण व साधूण व, पुरतो च्चिय दो वि खामंति।।

उत्पन्न अधिकरण को जितने गृहस्थों और साधुओं ने देखा है, उन सबको एकत्रित कर उनके समक्ष दोनों पक्ष वाले क्षमत-क्षामना करें।

२९९८. नवणीयतुल्लहियया, साहू एवं गिहिणो तु नाहेंति।
न य दंडभया साहू, काहिंती तत्थ वोसमणं।।

गृहस्थ यह जान पाएंगे कि साधु नवनीत के समान कोमल हृदयवाले होते हैं। वे दंडभय से अधिकरण को उपशांत नहीं करते किंतु कर्मक्षय करने के लिए करते हैं।

२९९९. बितियपदे वितिगिट्ठे, वितोसवेज्जा उवट्ठिते बहुसो।
बितिओ जदि न उवसमे, गतो य सो अन्नदेसं तु।।

अपवादपद में विप्रकृष्ट कलहों का भी उपशमन करे। जिसके साथ अनेक बार अधिकरण किया, उसके उपस्थित होने पर उससे क्षमायाचना करे। यदि क्षमायाचना करने पर भी वह उपशांत नहीं होता और अनुपशांत दशा में अन्य देश में चला जाता है और.....

१. ग्राम, ग्रामपति, देश, देशपति, लुटेरा, लुटेरों का सहायक—इनके साथ मिलकर पाप करने वाला 'कंडच्छारिय' कहलाता है। (वृत्ति)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०००. कालेण व उवसंतो वज्जिज्जंतो व अन्नमन्नेहिं।
खीरादिसलद्धीण व, देवय गेलण्णपुट्ठो वा॥

कालांतर में वह मुनि उपशांत हो गया। वह स्वदेश आया। परस्पर मुनि उसका विवर्जन यह कह कर करते कि यह अधिकरणकारी है। वह क्षीराश्रवादि लब्धिमान् साधुओं के कथन से अथवा देवता के कथन से, अथवा ग्लानत्व से स्पृष्ट होने पर (वह सोचता है यदि मेरी मृत्यु साधिकरण में होगी तो मैं विराधक हो जाऊंगा।)

३००१. गंतुं खामेयव्वो, अधव न गच्छेज्जिमेहि दोसेहिं।
नीयल्लगउवसग्गो, तहियं गतस्स व होज्जा तु॥

जहां अधिकरण हुआ है वहीं जाकर उसका उपशमन करना चाहिए। अथवा इन वक्ष्यमाण दोषों के कारण वह वहां नहीं जाए। दोष जैसे उसके स्वजन वहां हैं। वे वहां जाने पर उपसर्ग करते हैं।

३००२. सो गामो उट्ठितो होज्जा, अंतरा वावि जणवतो।
निण्हवगणं गतो वा, तरति अधवावि पडिचरती॥

३००३. अब्भुज्जय पडिवज्जे, भिक्खादि अलंभ अंतर तहिं वा।
राया दुट्ठे ओमं, असिवं वा अंतर तहिं वा॥

३००४. सबरपुलिंदादिभयं, अंतर तहियं च अधव होज्जाहि।
एतेहिं कारणेहि, वच्चंतं कं पि अप्पाहे॥

वह गांव उजड़ गया हो अथवा बीच में कोई जनपद उत्थित हो गया हो, अथवा जिसके साथ अधिकरण हुआ हो वह निन्हव गण में प्रविष्ट हो गया हो, अथवा अन्यत्र चला गया हो अथवा स्वयं ग्लान हो जाने के कारण वहां जाना अशक्य हो अथवा वह किसी ग्लान की परिचर्या कर रहा हो अथवा वह स्वयं अभ्युद्यतविहार स्वीकार करना चाहता हो अथवा अधिकरणक्षेत्र में भिक्षा का अलाभ हो अथवा बीच में राजा द्विष्ट हो गया हो, अथवा अकाल या अशिव का प्रकोप हो अथवा बीच में शबरों, पुलिंद्रों आदि का भय हो—इन कारणों से वह वहां नहीं जा सकता। किंतु वहां जाने वाले किसी श्रावक आदि के साथ संदेश भेज देता है कि मैं अब उपशांत हूं। इन कारणों से आ नहीं सकता। मुझे क्षमा करें।

३००५. गंतूण सो वि तहियं सपक्खपरपक्खमेव मेलित्ता।
खामेति सो वि कज्जं, व दीवए नागतो जेण॥

जिसके साथ संदेश दिया है वह वहां जाकर, जिनको अधिकरण ज्ञात था—उन स्वपक्ष, परपक्ष को एकत्रित कर क्षमायाचना करता है और उसके न आने के कारणों को साक्षात् बताता है, कहता है।

३००६. अह नत्थि कोवि वच्चंतो, ताधे उवसमेती अप्पणा।
खामेती जत्थ णं, मिलती अदिट्ठे गुरुणंतियं॥

यदि वहां जाने वाला कोई न हो तो स्वयं उपशांत हो जाता है। अब वह जहां मिलता है वहां वहां क्षमायाचना करता है। यदि वह कहीं दृष्ट नहीं होता, नहीं मिलता तो गुरु के पास जाकर उस मुनि को मन में कर क्षमायाचना कर लेता है।

३००७. निग्गंथीणं पाहुड, वितोसवेयव्व होति वितिगिट्ठं।
किध पुण होज्जुप्पण्णं, चेइयघरवंदमाणीणं॥

३००८. चेइयथुतीण भणणे, उण्हे अण्णाउ बाहि अच्छंती।
परितावित्रा मु धणियं, कोइलसद्दाहि तुब्भाहिं॥

निर्ग्रंथियों का व्यतिकृष्ट (क्षेत्रविकृष्ट) कलह को उपशांत करना चाहिए। उनमें अधिकरण क्यों होता है? कारण है—कुछ आर्यिकाएं चैत्यगृह वंदन के लिए गईं। वे चैत्यस्तुति करने लगीं। कुछ अन्य आर्यिकाएं भी आईं। भीतर अवकाश के अभाव में वे बाहर आतप में खड़ी रहीं। उन्होंने परितप्त होते हुए कहा—तुम कोकिलकंठियों के शब्दों से हम अत्यंत परितापित हुई हैं।

३००९. नग्घंति णाडगाइं, कलं पि कलभाणिणीण तुब्भाणं।
विप्पगते भवतीणं, जायंत भयं नरवतीए॥

हथिनी जैसी मुखाकृति वाली तुम श्रमणियों के आगे तो नाटकों का भी कोई मूल्य नहीं है। तुम्हारा तिरस्कार करते हुए हमें राजा का भय लगता है।

३०१०. इति असहण उत्तुयया मज्झत्थातो समंति तत्थेव।
असुणाव सव्वगणभंडणे व गुरुसिट्ठिमा मेरा॥

इस प्रकार असहिष्णु आर्यिकाओं द्वारा उत्तेजित वे आर्यिकाएं कुपित हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में मध्यस्थ आर्यिकाएं वहीं उनका उपशमन कर दें। मध्यस्थ आर्यिकाओं के अभाव में समस्त गण का भंडन होता है। ऐसी स्थिति में अपने-अपने गुरु का अनुशासन मानना चाहिए। वहां यह मर्यादा है—

३०११. गणधर गणधरगमणं, एगायरियस्स दोन्नि वा वग्गा।
आसन्नागम दूरे, व पेसणं तं च बितियपदं॥

यदि समस्त गण का भंडन हो तो आर्यिकाएं अपने- अपने आचार्य के पास जाएं। यदि दोनों आर्यकाओं का वर्ग एक ही आचार्य का हो तो एक ही आचार्य के पास जाएं। आचार्य दोनों वर्गों में परस्पर क्षमायाचना कराएं। यदि एक वर्ग चला गया हो और वह निकट हो तो उसे बुला ले। यदि दूर चला गया हो तो वृषभों को भेजें। वे क्षमापना करें/करायें। अपवादपद में पूर्वोक्त विधि पालनीय है।

३०१२. चेइयघर णिइत्ता, जत्थुप्पन्नं च तत्थ विज्झवणं।
लज्जभया व असिट्ठे, दुवेगतर निग्गम इमं तु॥

अपने-अपने गुरु को निवेदन कर देने पर दोनों वर्गों की आर्यिकाओं के दोनों आचार्य उन दोनों वर्गों को चैत्यगृह में ले जाते हैं अथवा जहां अधिकरण हुआ है वहां ले जाकर उसको उपशांत करते हैं। लज्जा, भय आदि के कारण गुरु को न कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया हो और दो वर्गों के बीच एक वर्ग चला गया हो तो यह करना चाहिए–

३०१३. आसन्नमणावाए, आणंते व जहिं गणहरागम्म।
जणणात अभिक्खामण, आणाविज्जऽन्नहिं वावि॥

यदि निर्गत आर्यिका-वर्ग निकट हो, अनापाय हो–निर्भय हो, तो उन आर्यिकाओं को अपने गण के साथ बुला लिया जाता है। यदि सापाय हो तो उनके आचार्य आते हैं। उस वर्ग के आने पर अथवा उनके आचार्य के आने पर जहां जनज्ञात भंडन हुआ था, वहां उनको ले जाते हैं अथवा अन्यत्र ले जाकर परस्पर क्षमापना कराई जाती है।

३०१४. वितिगिट्ठं खलु पगतं, एगंतरिओ य होति उद्देसो।
अव्वितिगिट्ठविगिट्ठं, जध पाहुडमेव नो सुत्तं॥

यहां व्यतिकृष्ट का अनुवर्तन है। उद्देश एकांतरित होता है। अव्यतिकृष्ट विकृष्ट समय में भी प्राभृत आदि का स्वाध्याय किया जा सकता है, पूर्णसूत्र का नहीं।

३०१५. लहुगा य सपक्खम्मी, गुरुगा परपक्ख उद्दिसंतस्स।
अंगं सुतखंधं वा, अज्झयणुद्देस थुतिमादी॥

यदि विकृष्ट अर्थात् उद्घाटपौरुषी काल में सपक्ष सपक्ष को वाचना देता है तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त है, परपक्ष को वाचना देने पर प्रायश्चित्त है चार गुरुमास का। अंग, श्रुतस्कंध, अध्ययन, स्तुति आदि का उद्देश देने पर यह प्रायश्चित्त है।

३०१६. एक्क दुगे तिसिलोगा, थुतीसु अन्नेसि होति जा सत्त।
देविंदत्थयमादी, तेणं तु परं थया होंति॥

एक, दो, तीन, श्लोक पर्यंत स्तुति, चार आदि श्लोकवाला स्तव होता है। अन्य आचार्यों के मत में एक श्लोक से सात श्लोक पर्यंत स्तुति और उससे परे स्तव होता है, जैसे–देवेंद्रस्तव आदि।

३०१७. अट्ठहा नाणमायारो, तत्थ काले य आदिमो।
अकालझाइणा सो तु, नाणायारो विराधितो॥

ज्ञानाचार आठ प्रकार का है। उसमें 'काल' पहला है। अकालध्यायी ज्ञानाचार की विराधना करता है।

३०१८. कालादिउवयारेणं, विज्जा न सिज्झए विणा देति।
रंधे व अवद्धंसं, सा वा अण्णा व से तहिं॥

काल आदि के उपचार से विद्या सिद्ध होती है। उसके बिना छिद्र को प्राप्त कर उस विद्या की अधिष्ठात्री देवी अथवा अन्य क्षुद्रदेवता उस विद्या का अवध्वंस कर देता है।

३०१९. सलक्खणमिदं सुत्तं, जेण सव्वण्णुभासितं।
सव्वं च लक्खणोवेयं, समधिट्ठेंति देवया॥

यह सूत्र सलक्षण है क्योंकि यह सर्वज्ञभाषित है। सभी लक्षणोपेत वस्तुएं देवता समधिष्ठित होती हैं।

३०२०. जधा विज्जानरिंदस्स, जं किंचिदपि भासियं।
विज्जा भवति सा चेह, देसे काले य सिज्झति॥

जैसे विद्याचक्रवर्ती जो कुछ कहता है वह विद्या होती है। वह इस जगत् में देश अथवा काल में सिद्ध होती है।

३०२१. जहा य चक्किणो चक्कं, पत्थिवेहिं पि पुज्जति।
न यावि कित्तणं तस्स, जत्थ तत्थ व जुज्जती॥

जैसे चक्रवर्ती का चक्र राजाओं से भी पूजा जाता है फिर भी चक्र का कीर्तन यत्र-तत्र आवश्यक नहीं होता।

३०२२. तहेहट्ठगुणोवेता, जिणसुत्तीकता वई।
पुज्जते न य सव्वत्थ, तीसे झाओ तु जुज्जती॥

इसी प्रकार इस जगत् में आठ गुणों से युक्त जिनेश्वर देव की सूत्रीकृत वाणी पूजी जाती है किंतु सर्वत्र उसका आध्याता प्राप्त नहीं होता किंतु यथोक्त देश और काल में ही प्राप्त होता है।

३०२३. निद्दोसं सारवंतं च, हेतुजुत्तमलंकितं।
उवणीयं सोवयारं च, मितं मधुरमेव य॥

वाणी के आठ गुण ये हैं–निर्दोष, सारयुक्त, हेतुयुक्त, अलंकारयुक्त, उपनीत, सोपचार, मित और मधुर।

३०२४. पुव्वण्हे वावरण्हे य, अरहो जेण भासती।
एसा वि देसणा अंगे, जं च पुव्वुत्तकारणं॥

अर्हत् पूर्वाह्न और अपराह्न में बोलते हैं, यही देशना अंगों में निबद्ध है। इसलिए अकाल में इसका पठन-पाठन नहीं होना चाहिए। निशीथाध्ययन में इसका कारण पहले ही बताया जा चुका है।

३०२५. रत्तीदिणाण मज्झेसु, उभओ संज्झओ अवि।
चरंति गुज्झगा केई, तेण तासिं तु नो सुतं॥

रात और दिन के मध्य अर्थात् प्रातः और संध्या में तथा दोनों संध्याओं–अर्थात् मध्यान्हसंध्या, अर्धरात-संध्या–ये अकाल हैं। इन चारों संध्याओं में श्रुत का पठन-पाठन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन वेलाओं में गुह्यक देव घूमते हैं।

३०२६. जाव होमादिकज्जेसु, उभओ संज्झओ सुरा।
लोगेण भासिया तेण, संझावासगदेसणा॥

शिष्य ने प्रश्न किया कि फिर संध्या में आवश्यक कैसे किया जाता है? आचार्य कहते हैं–दोनों संध्याओं में गुह्यक देव होम आदि कार्यों में लोगों द्वारा आहूत होने के कारण वहां ठहर जाते हैं। इसलिए संध्या में आवश्यक की देशना की जाती है।

३०२७. एते उ सपक्खम्मी, दोसा आणादओ समक्खाया।
परपक्खम्मि विराधण, दुविधेण विसेण दिट्ठंतो॥

स्वपक्ष में इनके उद्देशन से आज्ञा आदि दोष कहे गए हैं। परपक्ष के उद्देशन से संयमविराधना होती है। वहां दो प्रकार के विष दृष्टांत है–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०२८. दव्वविसं खलु दुविधं, सहजं संजोइमं च तं बहुहा।
एमेव य भावविसं, सचेतणाऽचेतणं बहुधा॥

विष के दो प्रकार हैं—द्रव्यविष और भावविष। द्रव्यविष दो प्रकार का है—सहज और संयोगिम। संयोगिम अनेक प्रकार का होता है। इसी प्रकार भावविष के भी दो प्रकार हैं—सहज और संयोगिम। प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—सचेतन और अचेतन। इसके भी बहुत प्रकार हैं।

३०२९. सहजं सिंगियमादी, संजोइम-घत-महुं च समभागं।
दव्वविसं णेगविहं, एत्तो भावम्मि वोच्छामि॥

सहज द्रव्यविष है—शृंगिक। संयोगिम है—घृत और मधु का समभाग में मिश्रण। द्रव्यविष के अनेक प्रकार हैं। आगे मैं भावविष के विषय में कहूंगा।

३०३०. पुरिसस्स निसग्गविसं, इत्थी एवं पुमं पि इत्थीए।
संजोइमो सपक्खो, दोण्ह वि परपक्ख नेवत्थो॥

पुरुष के लिए स्त्री और स्त्री के लिए पुरुष निसर्गविष—सहजविष है। संयत और संयती—दोनों का संयोगिम विष है—स्वपक्ष का परपक्षनेपथ्य। जैसे—संयत के लिए स्त्रीनेपथ्य युक्त पुरुष तथा संयती के लिए पुरुषनेपथ्य युक्त स्त्री।

३०३१. घाण-रस-फासतो वा, दव्वविसं वा सइंऽतिवाएति।
सव्वविसयाणुसारी, भावविसं दुज्जयं असइं॥

घ्राणेंद्रिय, रसनेंद्रिय तथा स्पर्शनेंद्रिय से गृहीत द्रव्यविष प्राणी का एक बार अतिपात करता भी है और नहीं भी करता। उससे प्राणी मरता भी है और नहीं भी मरता। भावविष सर्वविषयानुसारी (पांचों इंद्रियविषयों का संप्रापक), दुर्जय तथा अनेक बार अतिपात करता है, अनेक बार मारता है।

३०३२. जम्हा एते दोसा, तम्हा उ सपक्खसमणसमणीहिं।
उद्देसो कायव्वो, किमत्थ पुण कीर उद्देसो॥

जिसके कारण ये दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिए श्रमण और श्रमणियों को स्वपक्ष में ही उद्देशन करना चाहिए। शिष्य ने पूछा—उद्देशन करने का कारण क्या है? अनुद्दिष्ट क्यों नहीं पढ़ा जाता?

३०३३. बहुमाणविणयआउत्तया य उद्देसतो गुणा होंति।
पढमोद्देसो सव्वो, एत्तो वोच्छं करणकालं॥

उद्दिष्ट करने पर श्रुत अथवा श्रुतधारक के प्रति बहुमान होता है विनय का प्रयोग होता है तथा आयुक्तता (कार्यसंलग्नता) होती है। उद्देशन के ये गुण हैं। यह सारा प्रथमोद्देश है—समस्त अंग आदि विषयक उद्देश है। अब आगे स्वाध्यायकरण काल कहूंगा।

३०३४. थवथुतिधम्मक्खाणं, पुव्वुद्दिट्ठं तु होति संज्झाए।
कालियकाले इतरं, पुव्वुद्दिट्ठं विगिट्ठे वि॥

स्तव, स्तुति और धर्माख्यान पूर्वोद्दिष्ट संध्या में भी किया जा सकता है। कालिकश्रुत प्रथम पौरुषी के उद्दिष्ट काल में अर्थात् प्रथम प्रहर और अंतिम प्रहर में पढ़ा जा सकता है। उत्कालिक श्रुत व्यतिकृष्ट काल—संध्या में भी पढ़ा जा सकता है।

३०३५. पत्ताण समुद्देसो, अंगसुतक्खंध पुव्वसूरम्मि।
इच्छा निसीहमादी, सेसा दिण पच्छिमादीसु॥

जब पठन या श्रवण के द्वारा उद्देशन प्राप्त हो जाता है तब उद्देश का समुद्देश होता है। अंग अथवा श्रुतस्कंध की अनुज्ञा पूर्वसूर्य (उद्घाट-पौरुषी) में दी जाती है। जो आगाढ़ योग है निशीथ आदि की इच्छा, उनकी अनुज्ञा प्रथम और चरम पौरुषी में होती है। शेष अध्ययन अथवा उद्देशक की अनुज्ञा दिन की पश्चिम पौरुषी में तथा रात्रि के प्रथम और चरम पौरुषी में होती है।

३०३६. दिवसस्स पच्छिमाए, निसिं तु पढमाय पच्छिमाए वा।
उद्देसज्झयऽणुण्णा, न य रत्ति निसीहमादीणं॥

उद्देशक और अध्ययनों की अनुज्ञा दिन के पश्चिम प्रहर में तथा रात्रि के प्रथम और अंतिम प्रहर में होती है। निशीथ-आदि आगाढ़ योगों की अनुज्ञा दिन के प्रथम और चरम प्रहर में दी जाती है, रात्री में नहीं।

३०३७. आदिग्गहणा दसकालिओत्तरज्झयण चुल्लसुतमादी।
ऐतेसि भइयऽणुण्णा, पुव्वण्हे वावि अवरण्हे॥

'आदि' शब्द से दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, क्षुल्लकल्प-श्रुत, औपपातिक का ग्रहण किया है। इनकी अनुज्ञा वैकल्पिक है—पूर्वाह्न में भी हो सकती है और अपराह्न में भी हो सकती है।

३०३८. नंदीभासणचुण्णे, उ विभासा होति अंगसुतखंधे।
मंगलसद्धाजणणं, अज्झयणाणं च वुच्छेदो॥

अंग तथा श्रुतस्कंध की अनुज्ञा के समय नंदीभाषण—ज्ञानपंचक का उच्चारण किया जाता है तथा चूर्ण—वासक्षेप किया जाता है अथवा वैकल्पिकरूप में केसर का क्षेप किया जाता है। शिष्य पूछता है—इस प्रकार अनुज्ञा क्यों की जाती है? आचार्य कहते हैं—नंदीभाषण और वासक्षेप से मंगल होता है, दूसरों में श्रद्धा पैदा होती है। अन्यथा अध्ययनों का व्यवच्छेद हो जाता है। (अनुज्ञात न होने पर दूसरों को नहीं दिया जाता, अतः व्यवच्छेद हो जाता है।)

३०३९. बितियपदं आयरिए, अंगसुतक्खंधउद्दिसंतम्मि।
मंगलसद्धा-भय-गोरवेण तध निट्ठिते चेव॥

स्वपक्ष में उद्देश कर्त्तव्य है, न परपक्ष में। यह है उत्सर्ग विधि। इसमें अपवादविधि यह है कि प्रवर्तिनी के पास वह श्रुत नहीं है तो आचार्य परपक्ष में—निर्ग्रंथियों को भी अंग, श्रुतस्कंध की उद्देशना देते हैं। आचार्य द्वारा उद्देशन दिए जाने पर उनमें मंगलबुद्धि, श्रद्धा, भय और गौरव का भाव उत्पन्न होता है। वे इन कारणों से अंग और श्रुतस्कंध को पूरा हस्तगत कर लेती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०४०. एमेव संजती वा, उद्दिसती संजताण बितियपदे।
असतीय संजताणं, अज्झयणाणं च वोच्छेदो॥

इसी प्रकार अपवादपद में संयतियां भी संयतों को उद्देश देती हैं। यदि वह श्रुत या अध्ययन संयतों को ज्ञात न हो और संयतियां उनको उद्देश न दे तो उसका व्यवच्छेद हो जाता है।

३०४१. एवं ता उद्देसो, अज्झाओ वी न कप्प वितिगिट्ठे।
दोण्हं पि होंति लहुगा, विराधणा चेव पुव्वुत्ता॥

जैसे कहा गया है कि व्यतिकृष्ट काल (अकाल) में उद्देश नहीं दिया जाता, वैसे ही अध्याय भी नहीं दिया जाता। दोनों में लघुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा पूर्वोक्त विराधना–आत्मविराधना तथा ज्ञानविराधना होती है।

३०४२. बितियविगिट्ठे सागारियाए कालगत असति वुच्छेदो।
एवं कप्पति तहियं, किं ते दोसा न संती उ॥

अपवाद पद में व्यतिकृष्ट काल में भी कुछेक कारणों से अध्याय आदि का पठन कल्पता है। जैसे–कारणवश साधु सागारिक वसति में स्थित हैं अथवा कोई मुनि कालगत हो गया है, उसके पास जागरण करना अत्यावश्यक है, अथवा श्रुतदाता कालगत हो गया और वह श्रुत विस्मृत न हो जाए, उसका व्यच्छेद न हो जाए–इन कारणों से श्रुत का परावर्तन कल्पता है। शिष्य पूछता है–ऐसा करने से क्या आज्ञाभंग आदि वे दोष नहीं होते?

३०४३. भण्णति जेण जिणेहिं, समणुण्णायाइ कारणे ताइं।
तो दोस न संजायति, जयणाइ तहिं करेंतस्स॥

आचार्य कहते हैं–जिनेश्वर ने जिन कारणों से अकाल में श्रुतपठन की अनुज्ञा दी है, यदि यतनापूर्वक उसे किया जाता है तो कोई दोष नहीं होता।

३०४४. कालगतं मोत्तूणं, इमा अणुप्पेहदुब्बले जतणा।
अन्नवसधिं अगीते, असती तत्थेवणुच्चेणं॥

कालगत को छोड़कर शेष कारणों में, जो मुनि अनुप्रेक्षा में दुर्बल है, उसके लिए यह यतना है। वह अन्य वसति में जाकर श्रुत का परावर्तन करे जिससे कि अगीतार्थ मुनि उस श्रुत का श्रवण न कर सके। अन्य वसति के अभाव में उसी वसति में मंदस्वर में श्रुत का परावर्तन करे। कालगत को छोड़कर दूसरी वसति में न जाएं, वहीं मंदस्वरों में परावर्तन करे।

३०४५. कप्पति जदि निस्साए, वितिगिट्ठे संजतीण सज्झाओ।
इति सुत्तेणुद्धारे, कतम्मि उ कमागतं भणति॥

निर्ग्रंथ की निश्रा में निर्ग्रंथी को व्यतिकृष्ट काल में स्वाध्याय करना कल्पता है–इस प्रकार सूत्र के द्वारा स्वीकृत करने पर शिष्य क्रमागत बात कहता है।

३०४६. पुव्वं वण्णेऊणं, संजोगविसं च जातरूवं च।
आरोवणं च गुरुयं, न हु लब्भं वायणं दाउं॥

इससे पूर्व संयोगविष, जातरूपविष–सहजविष तथा आरोपणा गुरुक प्रायश्चित्त का वर्णन कर अब वाचना देने की बात लभ्य ही नहीं होती।

३०४७. कारणियं खलु सुत्तं, असति पवायंतियाय वाएज्जा।
पाढेण विणा तासिं, हाणी चरणस्स होज्जाही॥

यह सूत्र कारणिक है। प्रवाचना देने वाली प्रवर्तिनी के अभाव में मुनि साध्वी को वाचना दे। वाचना के बिना उनके चारित्र की हानि होती है।

३०४८. जाओ पव्वइताओ, सग्गं मोक्खं च मग्गमाणीओ।
जदि नत्थि नाण-चरणं, दिक्खा हु निरत्थिगा तासिं॥

स्वर्ग और मोक्ष की कामना से जो प्रव्रजित हुई हैं, यदि ज्ञान और चारित्र न हो तो उनकी दीक्षा निरर्थक है।

३०४९. सव्वजगुज्जोतकरं, नाणं नाणेण नज्जते चरणं।
नाणम्मि असंतम्मी, अज्जा किह नाहिति विसोधिं॥

समस्त जगत् को उद्योत करने वाला है ज्ञान। ज्ञान से चारित्र की अवगति होती है। ज्ञान के अभाव में आर्यिकाएं विशोधि को कैसे जान पाएंगी?

३०५०. नाणम्मि असंतम्मी, चरित्तं पि न विज्जते।
चरित्तम्मि असंतम्मी, तित्थे नो सचरित्तया॥

ज्ञान के अभाव में चारित्र भी नहीं होता। तीर्थ में चारित्र के अभाव में आर्यिकाओं की स्वचरित्रता नहीं होती।

३०५१. अचरित्ताए तित्थस्स, निव्वाणं नाभिगच्छति।
निव्वाणस्स असती य, दिक्खा होति निरत्थिगा॥

तीर्थ की अचरित्रता से आर्यिका का निर्वाण-गमन नहीं होगा। निर्वाण के अभाव में दीक्षा निरर्थक होती है।

३०५२. तम्हा इच्छावेती, एतासिं नाण-दंसण-चरित्तं।
नाण चरणेण अज्जा, काहिति अंतं भवसयाणं॥

इसलिए आर्यिकाओं के ज्ञान, दर्शन, चारित्र की बलात् इच्छा कराई जाती है। वे ज्ञान और चारित्र की आराधना से सैकड़ों भवों को नाश कर देती हैं।

३०५३. नाणस्स दंसणस्स य, चारित्तस्स य महाणुभावस्स।
तिण्हं पि रक्खणट्ठा, दोसविमुक्को पवाएज्जा॥

महान् प्रभावक ज्ञान, दर्शन और चारित्र–इन तीनों की रक्षा के लिए मुनि दोषों से विप्रमुक्त होकर आर्यिकाओं को प्रवाचना दे।

३०५४. अप्पसत्थेण भावेण, वायतो दोससंभवे।
केरिसो अप्पसत्थो उ, इमो सो उ पवुच्चति॥

अप्रशस्त भाव से वाचना देने वाला दोषवान् होता है। अप्रशस्तभाव कैसा होता है–यह पूछे जाने पर आचार्य कहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं—वह अप्रशस्तभाव यह है—

३०५५. परिवारहेउमन्नट्ठयाय वभिचारकज्जहेउं वा।
आगारा वि बहुविधा, असंवुडादी उ दोसा उ॥

परिवार के हेतु से, अन्नपान के लिए तथा व्यभिचार के लिए, यह अनेक प्रकार के असंवृत गृह संपादित करेगी—इस हेतु से वाचना देना अप्रशस्तभाव है।

३०५६. गणिणी कालगयाए, बहिया न य विज्जते जया अण्णा।
संता वि मंदधम्मा, मज्जायाए पवाएज्जा॥

गणिनी के कालगत हो जाने पर बाहर कोई जब दूसरी प्रवाचिका न हो और यदि कोई हो और वह मंदधर्मा हो तो मुनि मर्यादापूर्वक प्रवाचना दे।

३०५७. आगाढजोगवाहीए, कप्पो वावि होज्ज असमत्तो।
सुत्ततो अत्थतो वावी, कालगया य पवत्तिणी॥

३०५८. अन्नागय सगच्छम्मी, जदि नत्थि पवाइगा।
अण्णगच्छा मणुण्णं तु, आणयंति ततो तहिं॥

३०५९. सा तत्थ निम्मवे एक्कं, तारिसीए असंभवे।
उग्गहधारणकुसलं, ताधे नयति अन्नत्थ॥

यदि कोई संयती आगाढ़योगवाहिनी है अथवा किसी संयती के प्रकल्पाध्ययन सूत्रतः और अर्थतः अभी समाप्त नहीं हुआ है, और इसी मध्य प्रवर्तिनी कालगत हो जाए और स्वगच्छ में दूसरी कोई प्रवाचिका न हो तो अन्य गच्छ से मनोज्ञ (सांभोजिक) आर्यिका को वहां से वसति में लाता है। वह वहां आकर एक आर्यिका का निर्माण करती है (उसे श्रुतसम्पन्न करती है)। वैसी यदि मनोज्ञ आर्यिका न मिले तो वहां से अवग्रह-धारणाकुशल आर्यिका को अन्यत्र (गणांतर में) ले जाते हैं।

३०६०. संविग्गमसंविग्गा, परिच्छियव्वा य दो वग्गा तु।
अपरिच्छणम्मि गुरुगा, पारिच्छ इमेहि ठाणेहिं॥

वहां उनको दोनों वर्गों—संयतवर्ग और संयतिवर्ग की परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा न करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। परीक्षा के ये स्थान हैं—

३०६१. वच्चंति तावि एंती, भत्तं गेण्हंति ताए व देंति।
कंदप्प-तरुण-बउसं, अकालऽभीता य सच्छंदा॥

मुनि साध्वियों के उपाश्रय में जाते हैं, साध्वियां मुनियों के स्थान में आती हैं। साधु-साध्वी परस्पर भक्तपान देते-लेते हैं, तरुण साधु-साध्वी परस्पर कंदर्पकथा करते हैं, बकुशभाव धारण करते हैं। दोनों वर्ग अकालचारी हैं। संयत आचार्य से नहीं डरते और संयती प्रवर्तिनी से। दोनों वर्ग स्वच्छंद हैं।

३०६२. अट्ठमी पक्खिए मोत्तुं, वायणाकालमेव य।
पुव्वुत्ते कारणे वावि, गमणं होति अकारणं॥

अष्टमी, पाक्षिक तथा वाचनाकाल और पूर्वोक्त कारणों को छोड़कर जो साधुओं के स्थान में साध्वियों का गमन होता है, वह सारा निष्कारण होता है।

३०६३. थेरा सामायारिं, अज्जा पुच्छंति ता परिकधेंति।
आलोयण सच्छंदं, वेंटल गेलण्ण पाहुणिया॥

स्थविर—आचार्य आर्यिका को सामाचारी के विषय में पूछते हैं। आर्यिका सामाचारी बताती है—साध्वियां आलोचना नहीं करतीं, वे स्वच्छंद हैं, वे वेंटल—जादू, टोना का प्रयोग करती हैं, ग्लान की सेवा नहीं करती और वे प्राघूर्णकों के प्रति वत्सलता नहीं दिखातीं।

३०६४. चित्तलए सविकारा, बहुसो उच्छोलणं च कप्पट्ठे।
थलि घोड वेससाला, जंत वए काहिए निसेज्जा॥

वे चित्रल वस्त्र, सविकार, बहुशः प्रक्षालन, कल्पस्थ, स्थली, घोटक, वेश्यावाटक, शाला, यंत्रशाला, व्रज—गोकुल, काथिक तथा गृहनिषद्या (इन दोनों ६३,६४ गाथाओं का विस्तार आगे की आथाओं में।)

३०६५. जा जत्थ गता सा ऊ, नालोए दिवसपक्खियं।
सच्छंदाओ वयणे, महतरियाए न ठायंति॥

जो जहां जाती हैं, लौटकर आलोचना नहीं करतीं। दैवसिक और पाक्षिक अतिचारों की आलोचना नहीं करतीं। सभी स्वच्छंद हैं। महत्तरिका—प्रवर्तिनी आदि के वचनों का पालन नहीं करतीं।

३०६६. विंटलाणि पउंजंति, गिलाणाए वि न पाडितप्पंति।
आगाढ वऽणागाढं, करेंति ऽणागाढ आगाढं॥

३०६७. अजतणाय व कुव्वंती, पाहुणगादि अवच्छला।
चित्तलाणि नियंसेंति, चित्ता रयहरणा तधा॥

ये विंटल (खिटिका, चप्पुटिका) का प्रयोग करती हैं। ये ग्लान की प्रतिचर्या नहीं करतीं। ये आगाढ़ को अनागाढ़ तथा अनागाढ़ को आगाढ़ करती हैं। यह सारा अयतनापूर्वक करती हैं। ये प्राघूर्णकों के प्रति अवत्सल हैं। ये चित्रल (विचित्र रेखाओं वाले) वस्त्र पहनती हैं। ये नाना प्रकार के रजोहरण रखती हैं।

३०६८. गइविब्भमादिएहिं, आगार-विगार तह पदंसेंति।
जध किढगाण वि मोहो, समुदीरति किं णु तरुणाणं॥

ये गतिविभ्रम आदि तथा आकार-विकारों का इस प्रकार प्रदर्शित करती हैं जिससे वृद्ध व्यक्तियों के मन में भी मोह की समुदीरणा हो जाती है, तरुणों की तो बात ही क्या?

३०६९. बहुसो उच्छोलेंती, मुह-नयणे-हत्थ-पाय-कक्खादी।
गेण्हण मंडण रामण, भोइंति व ताउ कप्पट्ठे॥

ये मुख, नयन, हाथ, पैर कक्षा आदि का अनेक बार प्रक्षालन करती हैं। ये गृहस्थों के बालकों को ग्रहण करती हैं—उन्हें उठाती हैं, उनका मंडन करती है, उनको खेलाती हैं अथवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोजन कराती हैं।

३०७०. थलि घोडादिट्ठाणे, वयंति ते यावि तत्थ समुवेंति।
वेसित्थी संसग्गी, उवस्सओ वा समीवम्मि॥

वे साध्वियां स्थली अर्थात् देवद्रोणी (जहां से देवमूर्ति का जुलूस निकाला जाता है) तथा घोट–नीच जाति के लोगों का एकत्रित होने के स्थान पर भिक्षा के लिए जाती हैं और यदा-कदा वे धूर्त लोग भी साध्वियों के उपाश्रय के पास एकत्रित हो जाते हैं। वेश्यागृहों के निकटवर्ती उपाश्रयों में रहने के कारण उन आर्यिकाओं का वेश्यास्त्रियों से संसर्ग रहता है।

३०७१. तह चेव हत्थिसाला, घोडगसालाण चेव आसन्ने।
जंति तह जंतसाला, काहीयत्तं च कुव्वंती॥

वे आर्यिकाएं हस्तिशाला तथा घोटकशाला के पास घूमती हैं अथवा उनके निकटस्थ उपाश्रय में रहती हैं। वे यंत्रशालाओं में जाती हैं और काथिकत्व (नाना प्रकार की कथाएं) करती हैं।

३०७२. थलि घोडादिनिरुद्धा, पसज्झगहणं करेज्ज तरुणीणं।
संकाइ होति तहियं, गोयर किमु पाडिवेसेहिं॥

स्थली, घोट आदि स्थानों में निरुद्ध–एकत्रित लोग तरुण स्त्रियों का बलात् ग्रहण कर लेते हैं। वहां गोचरचर्या के लिए साध्वियों को जाना भी शंका पैदा करती है तो भलां उनका पड़ोसी होना, उनके पड़ोस में रहना सदा शंकास्पद बना रहता है।

३०७३. सज्झायमुक्कजोगा, धम्मकधा विकह पेल्लणगिहीणं।
गिहीनिसेज्जं च बाहंति संथवं व करेंती उ॥

वे साध्वियां स्वाध्याययोग से मुक्त रहती हैं। धर्मकथा, विकथा तथा गृहस्थों को नानारूप में प्रेरणा देती रहती हैं। ये गृहनिषद्या करती हैं तथा गृहस्थों के साथ संस्तव तथा परिचय करती हैं।

३०७४. एवं तु ताहि सिट्ठे, निक्खिवितव्वा उ ताउ कहियं तु।
दोसु वि संविग्गेसुं, निक्खिवितव्वा भवे ताउ॥

इस प्रकार आर्यिका द्वारा अपने साध्वीसंघ की सामाचारी कहने पर प्रश्न होता है कि अवग्रह-धारणा कुशल संयतियों को कहां रखना चाहिए? आचार्य कहते हैं–उनको उस गच्छ में रखना चाहिए जहां दोनों वर्ग–साधु-साध्वी वर्ग संविग्न हों।[1]

३०७५. संजत-संजतिवग्गे, संविग्गेक्केक्क अहव दोहिं तु।
निक्खिवण होंति गुरुगा, अध पुण सुद्धे दिमे दोसा॥

संयतवर्ग में अथवा संयतिवर्ग में कोई एक वर्ग असंविग्न है (जैसे दूसरे और तीसरे विकल्प में) अथवा दोनों असंविग्न हैं। (जैसे पहले विकल्प में) इन तीनों भंगों में निक्षेपणा करने से प्रायश्चित्त है चार गुरुमास का। चतुर्थ भंग शुद्ध होने पर भी ये दोष होते हैं।

३०७६. तरुणा सिद्धपुत्तादि, पविसंति नियल्लगाण नीसाए।
महयरिय न वारेती, जे वि य पडिसेवते तहिं किं च॥

तरुण, सिद्धपुत्र आदि आत्मीय आर्यिकाओं की निश्रा में वंदन करने के मिष से उपाश्रय में प्रवेश कर लेते हैं। महत्तरिका यदि उनका निवारण नहीं करती है तो वे सिद्धपुत्र किसी आर्यिका की पर्युपासना करते हुए चिरकाल तक वहां रह जाते हैं।

३०७७. निक्खिवण तत्थ गुरुगा,
अह पुण होज्जा हु सा समुज्जुत्ता।
चरणगुणेसुं नियतं,
वियक्खणा सीलसंपन्ना॥

वहां निक्षेपण करने पर भी चार गुरुमास का प्रायश्चित्त है अथवा वह महत्तरिका चरणगुणों में नियत है, विचक्षण है, शीलसम्पन्न और सयंम में समुद्यत है, वह समस्त अयुक्त का वारण करती है, जैसे–

३०७८. समा सीस पडिच्छण्णे, चोदणासु अणालसा।
गणिणी गुणसंपन्ना, पसज्झा पुरिसाणुगा॥
३०७९. संविग्गा भीयपरिसा, उग्गदंडा य कारणे।
सज्झायझाणजुत्ता य, संगहे य विसारया॥
३०८०. विगहा विसोत्तियादिहिं, वज्जिता जा य निच्चसो।
एयग्गुणोववेयाए, तीए पासम्मि निक्खिवे॥

वह शिष्यों तथा प्रातिच्छिकों के प्रति सम व्यवहार करती है। उनको प्रेरणा या शिक्षा देने में अनलस है। वह गणिनी गुणसंपन्न, अप्रसह्य–अप्रधृष्य तथा पुरुषानुगा–पुरुष के सदृश है। जो संविग्न है, भीतपरिषद् वाली है, कारण अर्थात् समय पर उग्रदंड देने वाली है, स्वाध्याय और ध्यान में युक्त है तथा संग्रह में विशारद है, जो नित्यशः–सर्वकाल में विकथा तथा विस्रोतसेकाओं का वर्जन करने वाली है–इन गुणों से युक्त जो महत्तरिका हो, उसके पास निक्षेपण करना चाहिए।

३०८१. एयारिसाय असती, वाएज्जाहि ततो सयं।
वाएंते य इमा तत्थ, विधी उ परिकित्तिया॥

इस प्रकार की गणिनी के अभाव में स्वयं उस साध्वी को वाचना दे। वाचना देते समय की यह विधि कही गई है।

---

१. संयत-संयतीवर्ग संविग्न-असंविग्न के भेद से चार विकल्प होते हैं–
१. संयत अवसन्न होते हैं, संयती भी अवसन्न होती हैं।
२. संयत अवसन्न होते हैं, संयतियां नहीं।
३. संयत अवसन्न नहीं होते, संयतियां अवसन्न होती हैं।
४. न संयत अवसन्न होते हैं और न संयतियां अवसन्न होती हैं।
इस चतुर्थ भंग में दोनों वर्ग संविग्न हैं। यह भंग निक्षेपण के लिए स्वीकृत है। शेष भंग प्रतिषिद्ध हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०८२. माता भगिणी धूता, मेधावी उज्जुया य आणत्ती।
एतासिं असतीए, सेसा वाएज्जिमा मोत्तुं॥

माता, भगिनी, पुत्री जो मेधावी, प्रज्ञावती तथा अकुटिल हों तथा आज्ञा के अनुसार कार्य करने वाली हों, उनको वाचना दे। उन स्वजनों के अभाव में अस्वजनों को भी वाचना दे किंतु निम्नोक्त का वर्जन करे।

३०८३. तरुणिं पुराण भोइय, मेहुणियं पुव्वहसिय वभिचरियं।
एतासु होंति दोसा, तम्हा उ न वायए ते ऊ॥

तरुणी स्त्री, पौराणिकी—जिसने पुनः दीक्षा ग्रहण की है, भोज्या—वेश्या, भार्या, जिसके साथ हास्यालाप किया हो ऐसी स्त्री तथा जो व्यभिचारिणी हो—इनको वाचना देने से पूर्वाभ्यास से आत्म-परसमुत्थ दोनों प्रकार के दोष होते हैं, इसलिए इनको वाचना नहीं देनी चाहिए।

३०८४. वज्जकुड्डसमं चित्तं, जदि होज्जाहि दोण्ह वी।
तहा वि संकितो होति, एयाओ वाययंत उ॥

यद्यपि दोनों (वाच्य-वाचक) का चित्त वज्रकुड्य के समान होता है, फिर भी वाचना देने वाले के प्रति शंका होती है, इसलिए इनका वर्जन किया है।

३०८५. पुव्वं तु किढी असतीय, मज्झिमा दोसरहित वाएती।
गणधर अण्णतरो वावि, परिणतो तस्स असतीए॥

पहले वृद्धा को वाचना देनी चाहिए। उसके अभाव में दोषरहित गणधर मध्यम वय वाली साध्वियों को वाचना दे। यदि गणधर अन्य प्रयोजन में व्यापृत हों तो उनके अभाव में कोई परिणत मुनि वाचना दे।

३०८६. तरुणेसु सयं वाए, दोसन्नतरेण वावि जुत्तेसु।
विधिणा तु इमेणं तू, दव्वादीएण उ जतंतो॥

परिणत मुनि न हो तथा तरुण आदि मुनि किसी न किसी दोष से युक्त हों तो गणधर स्वयं द्रव्य आदि से यतना करता हुआ इस विधि से वाचना दे।

३०८७. दव्वे खेत्ते काले, मंडलि दिट्ठी तधा पसंगो य।
एतेसु जतणं वुच्छं, आणुपुव्विं समासतो॥

यतना के छह स्थान हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, मंडली, दृष्टि तथा प्रसंग। मैं इन स्थानों की यतना को क्रमशः संक्षेप में कहूंगा।

३०८८. जं खलु पुलागदव्वं, तव्विवरीतं दुवे वि भुंजंति।
पुव्वुत्ता खलु दोसा, तत्थ निरोधे निसग्गे य॥

द्रव्ययतना—वाच्या और वाचयिता—दोनों पुलाकद्रव्य के विपरीत द्रव्य का भोजन करें। अन्यथा मूत्र आदि का निरोध तथा निसर्ग आदि पूर्वोक्त दोष उत्पन्न होते हैं।

३०८९. सुन्नघरे पच्छन्ने, उज्जाणे देउले सभारामे।
उभयवसधिं च मोत्तुं, वाएज्ज असंकणिज्जेसु॥

क्षेत्रयतना—शून्यगृह, प्रच्छन्न—एकांत प्रदेश, उद्यान, देवकुल, सभा, आराम, संयतवसति तथा संयतिवसति—इन स्थानों को छोड़कर अशंकनीय स्थानों में वाचना दे।

३०९०. उभयनिए वतिणीय व,
सण्णि अधाभद्द तह य धुवकम्मी।
आसण्णेऽसति
अज्जाणुवस्सए अप्पणो वावि॥

उभय अर्थात् सयंति के तथा संयत के निज स्थान पर अथवा व्रतिनी के निज स्थान पर, अथवा श्रावक अथवा भद्रक अथवा ध्रुवकर्मी—लोहकार आदि प्रत्यासन्न हों तो वाचना दी जा सकती है। अन्य स्थान न होने पर आर्याओं के उपाश्रय में अथवा स्वयं के उपाश्रय में (शय्यातर की निश्रा में) वाचना दी जा सकती है।

३०९१. जइ अत्थि वायणं दिंतो, अदाउं ताधि गच्छति।
अध नत्थि ताहे दाऊणं, सुत्तइत्ताण पोरिसी॥

यदि साधुओं में वाचना देने वाला हो तो आचार्य साधुओं में वाचना दिए बिना साध्वियों को वचना देने के लिए जाते हैं। यदि साधुओं में अर्थपौरुषी देने वाला तो है परंतु सूत्रपौरुषी दाता नहीं है तो आचार्य सूत्रपौरुषी देकर फिर साध्वियों को वाचना देने जाएं।

३०९२. अह अत्थइत्ता होज्जाहि, तो जाति पढमाए तू।
असती दोण्ह वी दाणे, इमा उ जतणा तहिं॥

साधुओं में अर्थदाता कोई नहीं है। साधु अर्थार्थी हैं। ऐसी स्थिति में आचार्य प्रथम पौरुषी में साध्वियों में साध्वियों को वाचना देने जाते हैं फिर दूसरी प्रहर में उपाश्रय में आकर साधुओं को अर्थ की वाचना देते हैं। यदि साधुओं में सूत्रदाता न हो तो साधु-साध्वियों—दोनों को आचार्य अपने उपाश्रय में वाचना दें। दोनों को वाचना देने की यह यतना है।

३०९३. कडणंतरितो वाए, दीसंति जणेण दो वि जह वग्गा।
बंधंति मंडलिं ते उ, एक्कतो यावि एक्कतो॥

मंडलीयतना—एक ओर संयत मंडली बांधकर बैठ जाते हैं और एक ओर संयतियां मंडली बांधकर बैठ जाती हैं। दोनों के मध्य कट का पड़दा बांध दिया जाता है। दोनों वर्ग लोगों को दृष्टिगोचर हो सकें इस प्रकार बैठ कर कटांतरित रहकर वाचना दे।

३०९४. लोगे वि पच्चओ खलु, वंदणमादीसु होंति वीसत्था।
दुग्गूढादी दोसा, विगारदोसा य नो एवं॥

इस प्रकार करने से लोगों में विश्वास होता है तथा वंदना करने आदि के लिए आने वाले लोग दोनों वर्गों को इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपविष्ट देखकर विश्वस्त होते हैं। इस प्रकार दुर्ग, गूढ–प्रच्छन्नप्रदेश में होने वाले विकारदोष नहीं होते।

३०९५. चिलिमिलि छेदे ठायति, जह पासति दोण्ह वी पवाएंतो।
दिट्ठी संबंधादी, इमे य तहियं न वाएज्जा॥

वाचना देते हुए आचार्य चिलिमिली के छेद–अंत में बैठे जिससे वह दोनों वर्गों को देख सके। जो संयत साध्वियों की दृष्टि से अपनी दृष्टि बांधते हैं (मिलाते हैं) उनको तथा इन निम्नोक्त व्यक्तियों को वाचना नहीं देनी चाहिए।

३०९६. संगार मेहुणादी य, जे यावि धितिदुब्बला।
अण्णेण वायते ते तु, निसिं वा पडिपुच्छणं॥

जो आर्यिकाएं सविकार हैं, जिनका मैथुनिक भर्त्ता आदि है, जो धृति से दुर्बल है–इनको स्वयं वाचना न दें। अन्य अर्थात् उपाध्याय आदि से वाचना दिलानी चाहिए। रात्री में संदिग्ध स्थानों की प्रतिपृच्छा।

३०९७. असंतऽण्णे पवायंते, पढंति सव्वे तहिं अदोसिल्ला।
अणिसण्णथेरिसहिया, थेरसहायो पवाएंतो॥

अन्य उपाध्याय आदि प्रवाचक न हो तो सभी आचार्य के पास पढ़ते हैं और वे सब अदोषी हैं। संयतियां स्थविरा साध्वियों के साथ खड़े-खड़े प्रवाचक स्थविर से वाचना लेती हैं। स्थविर भी अपने सहायकयुक्त होता है। वह सबको ध्यानपूर्वक देखता है।

३०९८. जा दुब्बला होज्ज चिरं व झाओ,
ताधे निसण्णा न य उच्चसद्दा।
पलंबसंघाडि न उज्जला य,
अणुण्णता वास तिरंजली य॥

जो संयती दुर्बल है और स्वाध्याय चिरकालिक है तो वह बैठकर पढ़ती है किंतु आलापक को उच्चस्वरों में न बोले। उसकी संघाटी प्रलंब हो, उज्जल–छोटी न हो। वह ऊर्ध्वमुखी न हो तथा वस्त्रांत से अंजलि को तिरोहित रखे।

३०९९. एतविहिविप्पमुक्को, संजतिवग्गं तु जो पवाएज्जा।
मज्जायातिक्कंतं, तमणायारं वियाणाहि॥

इस विधि से विप्रमुक्त होकर जो मुनि संयतिवर्ग को प्रवाचना देता है, उसे मर्यादातिक्रांत–मर्यादाविहीन और आचाररहित जानना चाहिए।

३१००. सज्झाओ खलु पगतो,
वितिगिट्ठे नो य कप्पति जधा उ।
एमेव असज्झाए,
तप्पडिवक्खे तु सज्झाओ॥

स्वाध्याय प्रकृत है। व्यतिकृष्ट काल में वह नहीं कल्पता। उसी प्रकार अस्वाध्यायिक काल में भी उसका निषेध है। उसके प्रतिपक्ष अर्थात् स्वाध्यायिक काल में स्वध्याय कल्पता है।

३१०१. असज्झायं च दुविधं, आतसमुत्थं च परसमुत्थं च।
जं तत्थ परसमुत्थं, तं पंचविहं तु नायव्वं॥

अस्वाध्यायिक के दो प्रकार हैं–आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ। जो परसमुत्थ हैं उसको पांच प्रकार का जानना चाहिए।

३१०२. संजमघाउप्पाते, सादिव्वे वुग्गहे य सारीरे।
एतेसु करेमाणे, आणादि इमो तु दिट्ठंतो॥

वे पांच प्रकार ये हैं–संयमोपघातिक, औत्पातिक, दिव्य, व्युद्ग्राहिक तथा शारीरिक। इनमें स्वाध्याय करने वाले के आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। यहां यह दृष्टांत है।

३१०३. मेच्छभयघोसणनिवे,
दुग्गाणि अतीह मा विणिस्सिहिहा।
फिडिता जे उ अतिगता,
इतरे हियसेस निवदंडो॥

एक राजा ने म्लेच्छों के भय से राज्य में यह घोषणा कराई कि सारी जनता दुर्ग में आ जाए। म्लेच्छों के हाथों वे विनाश को प्राप्त न हों। जो दुर्ग में आ गए वे म्लेच्छों के भय से शून्य हो गए और जो नहीं आए वे मारे गए तथा जो शेष बचे उनको राजा ने आज्ञाभंग के अपराध में दंडित किया।

३१०४. राया इव तित्थगरो, जाणवया साधु घोसणं सुत्तं।
मेच्छो य असज्झाओ, रतणधणाइं च नाणादी॥

राजा स्थानीय हैं तीर्थंकर, जानपद हैं साधु, घोषणा है सूत्र। म्लेच्छ की भांति है अस्वाध्यायिक, तथा रत्नधन की भांति है ज्ञान आदि।

३१०५. थोवावसेसपोरिसि, अज्झयणं वावि जो कुणइ सोउं।
नाणादिसारहीणस्स, तस्स छलणा तु संसारे॥

स्वाध्याय करते हुए मुनि के यदि उद्देशक अथवा अध्ययन का कुछ भाग अवशिष्ट रह गया हो और प्रहरकाल बीत चुका हो फिर भी मुनि अस्वाध्यायिककाल सुनकर भी स्वाध्याय करता रहता है, तो उसके ज्ञान आदि तीनों सारहीन हो जाते हैं, वह देवताओं द्वारा ठगा जाता है तथा दीर्घकाल तक संसार में भ्रमण करता रहता है।

३१०६. अहवा दिट्ठंतऽवरो, जध रण्णो केइ पंच पुरिसा उ।
दुग्गादि परितोसितो, तेहि य राया अध कयाई॥
३१०७. तो देति तस्स राया, नगरम्मी इच्छियं पयारं तू।
गहिते य देति मोल्लं, जणस्स आहारवत्थादी॥
३१०८. एगेण तोसिततरो, गिहमगिहे तस्स सव्वहिं वियरे।
रत्यादीसु चउण्हं, एविध ऽसज्झाइए उवमा॥

अथवा दूसरा दृष्टांत यह है–एक राजा था। एक बार वह दुर्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि में फंस गया। पांच व्यक्तियों ने राजा को बचाया। इन पांचों में से एक ने अतिसाहस का परिचय दिया था। राजा ने प्रसन्न होकर, इस एक के अतिरिक्त, चारों से कहा—तुम नगर में जहां चाहो घूमो। दुकानों, अन्यान्य मार्गों, त्रिक-चतुष्क आदि स्थानों से जो चाहो वह आहार आदि की सामग्री तथा वस्त्र आदि लो। उनका मूल्य राज्य से चुकाया जाएगा। वे चारों प्रसन्न हो गए। जो अतिसाहसिक था, जिस पर राजा विशेष संतुष्ट हुआ था, उससे कहा—तुम नगर में गृह या अगृह—कहीं से भी जो चाहो ले सकते हो, राज्य से उसका मूल्य दिया जाएगा। चारों को गृह आदि के प्रवेश की आज्ञा नहीं दी थी, केवल इसको ही वह प्राप्त हुई थी।

यह अस्वाध्यायिक के प्रसंग में उपमा दृष्टांत है।

३१०९. पढमम्मि सव्वचेट्ठा, सज्झाओ वा निवारतो नियमा।
सेसेसु असज्झाओ, चेट्ठा न निवारिया अण्णा॥

प्रथम अस्वाध्यायिक संयमोपघाती में सारी कायिकी और वाचिकी चेष्टा तथा स्वाध्याय का नियमतः निवारण किया जाता है।[1] शेष चार प्रकार की अस्वाध्यायिकों में केवल स्वाध्याय में अस्वाध्याय का निवारण किया गया है, अन्य चेष्टाओं का निवारण नहीं किया गया है।[2]

३११०. महिया य भिन्नवासे, सच्चित्तरए य संजमे तिविधे।
दव्वे खेत्ते काले, जहियं वा जच्चिरं सव्वं॥

संयमे अर्थात् संयमोपघातिनी अस्वाध्यायिक के तीन प्रकार हैं—महिका, भिन्नवर्षा तथा सचित्तरज। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से इनका वर्जन करना चाहिए। द्रव्यतः—यही त्रिविध अस्वाध्यायिक क्षेत्रतः जितने क्षेत्र में गिरती हैं, कालतः जितने समय तक ये गिरती हैं, भावतः समस्त कायिकी आदि चेष्टाओं का वर्जन।

३१११. महिया तु गब्भमासे, वासे पुण होंति तिन्नि उ पगारा।
बुब्बुय तव्वज्ज फुसी, सच्चित्तरजो य आतंबो॥

महिका गर्भमास (कार्तिक से माघ) में गिरती है। वर्षा के तीन प्रकार होते हैं—बुद्बुद, बुद्बुदवर्ज्य, स्पर्शिका (फुआरों वाली वर्षा)। सचित्तरज आताम्र-ताम्रवर्ण वाली होती है।

३११२. दव्वे तं चिय दव्वं, खेत्ते जहियं तु जच्चिरं काले।
ठाणादिभासभावे, मोत्तुं उस्सासउम्मेसं॥

द्रव्य में महिका आदि तीनों प्रकार का वर्जन किया जाता है। क्षेत्रतः जिस क्षेत्र में गिरते हैं और कालतः जितने समय तक ये गिरते हैं—उतने क्षेत्र और काल का वर्जन किया जाता है। इनमें उच्छ्वास-निःश्वास की क्रिया के अतिरिक्त गमनागमन आदि कायिकी चेष्टा तथा भाषा का वर्जन किया जाता है।

३११३. वासत्ताणावरिता, णिक्कारण ठंति कज्जे जतणाए।
हत्थच्छिंगुलिसण्णा, पोत्तावरिता व भासंति॥

ऐसी स्थिति में मुनि निष्कारण कोई चेष्टा नहीं करते। वर्षात्राण से आवृत्त होकर स्थित रहते हैं। प्रयोजन होने पर यतनापूर्वक हाथ या अंगुलियों के इशारे से व्यवहार करते हैं तथा मुंह पर कपड़ा लगाकर बोलते हैं।

३११४. पंसू य मंसरुधिरे, केस-सिलावुट्ठि तह रउग्घाते।
मंसरुधिरऽहोरत्तं, अवसेसे जच्चिरं सुत्तं॥

औत्पातिक अस्वाध्यायिक—पांशुवृष्टि, मांसवृष्टि, रुधिर-वृष्टि, केशवृष्टि तथा शिलावृष्टि और रजोद्घात। मांसवृष्टि और रुधिरवृष्टि में अहोरात्र तक सूत्र नहीं पढ़ा जाता। शेष में तब तक सूत्र नहीं पढ़ा जाता जब तक पांशु आदि का पात होता है।

३११५. पंसू अच्चित्तरजो, रयस्सलाओ दिसा रउग्घातो।
तत्थ सवाते निव्वातए य सुत्तं परिहरंति॥

पांशु का अर्थ है—पांडुरवर्णवाली अचित्तरज। रजोद्घात अर्थात् जिसमें दिशाएं रजस्वला हो जाती है, अंधकार व्याप्त हो जाता है। पांशुवृष्टि और रजोद्घात के समय रजें वायु के साथ अथवा ऐसे ही गिरती हों तो सूत्र का परिहार उनके पतनकाल तक किया जाता है।

३११६. साभाविय तिण्णि दिणा,
सुगिम्हए निक्खिवंति जइ जोगं।
तो तम्मि पडंतम्मी,
कुणंति संवच्छरज्झायं॥

यदि सुग्रीष्म में (उष्णकाल के प्रारंभ में अर्थात् चैत्र शुक्ल पक्ष में) कोई निरंतर तीन दिनों के योग का निक्षेप करता है (चैत्र शुक्ला एकादशी से त्रयोदशी तक अथवा त्रयोदशी से पूर्णिमा तक) और इसमें स्वाभाविकरूप से पांशुवृष्टि और रजोद्घात होता है तो संवत्सर पर्यंत (सर्वकाल पर्यंत) स्वाध्याय करते हैं।

३११७. गंधव्वदिसाविज्जुक्क, गज्जिते जूव जक्खलित्ते य।
एक्केक्कपोरिसी गज्जितं तु दो पोरिसी हणति॥

गंधर्वनगर, दिग्दाह, विद्युत्, उल्का, गर्जित, यूपक, यक्षालिप्त—ये अस्वाध्यायिक हैं। गंधर्वनगर आदि में एक-एक पौरुषी का तथा गर्जित में दो पौरुषी का अस्वाध्यायिक होता है।

३११८. गंधव्वनगरनियमा, सादिव्वं, सेसगाणि भजिताणि।
जेण न नज्जंति फुडं, तेण य तेसिं तु परिहारो॥

गंधर्वनगर नियमतः सदैव ही होता है, शेष वैकल्पिक होते हैं—कदाचित् सदैव और कदाचित् स्वाभाविक होते हैं। स्वाभाविक में स्वाध्याय का परिहार नहीं होता किंतु यह स्पष्टरूप

१. यह उस परम साहसिक पुरुषस्थानीय है। जैसे उसका प्रचार नगर में सर्वत्र है, वैसे ही मुनि की समस्त संयम व्यापारों में प्रवृत्ति होती है।

२. चार अस्वाध्यायिकों की उपमा चार उन पुरुषों के सदृश है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से ज्ञात नहीं हो पाता कि यह स्वाभाविक है या देवकृत, इसलिए सर्वसामान्यरूप से इनका परिहार किया है।

३११९. दिसिदाह छिन्नमूलो, उक्कसरेहा पगासजुत्ता वा।
संझाछेदावरणो, उ जूवओ सुक्क दिण तिन्नि॥

दिग्दाह अर्थात् दिशाओं में छिन्नमूल वाला प्रज्वलन, उल्का–रेखा सहित अथवा प्रकाशयुक्त विद्युत्, यूपक अर्थात् संध्याच्छेदावरण। शुक्ल पक्ष के तीन दिन (द्वितीया, तृतीया तथा चतुर्थी)–इनमें चंद्र संध्यागत होता है। संध्या नहीं जानी जाती। संध्या का छेद अर्थात् विभाग। उसको आवृत करता है चंद्र। इसलिए यह संध्याच्छेदावरण कहलाता है।

३१२०. केसिंचि होंतऽमोहा, उ जूवओ ते य होंति आइण्णा।
जेसिं तु अणाइण्णा, तेसिं खलु पोरिसी दोण्णि॥

कुछेक आचार्य शुक्लपक्ष के इन तीन दिनों में शुभाशुभ-सूचक अमोघा मानते हैं। वही यूपक है। वे इसको आचीर्ण मानते हैं अर्थात् इसमें स्वाध्याय का परिहार नहीं किया जाता। जो आचार्य अनाचीर्ण मानते हैं उनके अनुसार यूपक पौरुषी का हनन करता है अर्थात् दो पौरुषी तक स्वाध्याय नहीं किया जाता।

३१२१. चंदिमसूरुवरागे, निग्घाते गुंजिते अहोरत्तं।
चंदो जहण्णेणट्ठ उ, उक्कोसं पोरिसी बि छक्कं॥

३१२२. सूरो जहण्ण बारस, उक्कोसं पोरिस उ सोलस उ।
सग्गह निव्वुड एवं, सूरादी जेणऽहोरत्ता॥

चंद्रग्रहण, सूर्यग्रहण, निर्घात (व्यंतरकृत महाध्वनि), गुंजित (गर्जन की महाध्वनि)–इनमें प्रत्येक के लिए एक-एक अहोरात्र तक स्वाध्याय का परिहार किया जाता है। चंद्रग्रहण जघन्यतः आठ प्रहर और उत्कृष्टतः बारह प्रहर के स्वाध्याय का हनन करता है। सूर्यग्रहण जघन्यतः बारह प्रहर और उत्कृष्टतः सोलह प्रहर के स्वाध्याय का हनन करता है।[1] सग्रह अस्तमित होने पर सूर्योदय काल से अहोरात्र तक तथा दूसरा अहोरात्र भी स्वाध्याय के लिए परिहरतव्य है।

३१२३. आइन्नं दिणमुक्के, सो चिय दिवसो य राती य।
निग्घात गुंजितेसुं, सा चिय वेला उ जा पत्ता॥

पूर्व श्लोक में जो कहा है–सूर्यादि अहोरात्र–इसका तात्पर्य यह है–सूर्य दिन में ग्रस्त हुआ और दिन में ही मुक्त हो गया तो वह दिवस और वह रात्री अस्वाध्यायिक रूप में मानी जाती है। इसी प्रकार चंद्रमा रात्री में ग्रस्त हुआ और उसी रात्री में मुक्त हो गया और जब तक दूसरा चंद्रमा उदित नहीं होता तब तक अस्वाध्याय रहता है अर्थात् वह रात्री और अपर दिन–इस प्रकार अहोरात्र का अस्वाध्याय रहता है।[2]

३१२४. चउसंझासु न कीरति, पाडिवएसुं तधेव चउसुं पि।
जो तत्थ पुज्जती तू, सव्वहिं सुगिम्हओ नियमा॥

चारों संध्याओं (सूर्यास्त के समय, अर्धरात्री में तथा प्रभात और दिन के मध्य में) तथा चारों प्रतिपदाओं (आषाढ़ी पौर्णमासी की प्रतिपदा, इंद्रमहप्रतिपदा, कार्तिक पौर्णमासी प्रतिपदा और चैत्र पौर्णमासी प्रतिपदा)–इनमें स्वाध्याय का प्रतिषेध है। (इन चार प्रतिपदाओं से चार मह–उत्सव सूचित हैं।) जिस देश में जिस दिन से उत्सव प्रारंभ होता है और जितने काल तक पूजित होता है उतने काल तक उस देश में स्वाध्याय का वर्जन है। सुग्रीष्मक अर्थात् चैत्रमास में होने वाला महामह। चैत्र शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से चैत्रपूर्णमासी प्रतिपदा पर्यंत नियमतः अनागाढ़योग का निक्षेपण किया जाता है।

३१२५. वुग्गहदंडियमादी, संखोभे दंडिए य कालगते।
अणरायए य सभए, जच्चिर निद्दोच्चऽहोरत्तं॥

व्युद्ग्राहिक अस्वाध्यायिक–दंडिक आदि का परस्पर व्युद्ग्रह होने पर तथा एक दंडिक के कालगत हो जाने पर जब तक दूसरा राज्याभिषिक्त नहीं हो जाता तब तक जनता में संक्षोभ होता है। जब तक संक्षोभ रहता है तब तक स्वाध्याय नहीं कल्पता। व्युद्ग्रह आदि में जब तक वातावरण अस्वस्थ रहता है तब तक अस्वाध्यायकाल है। तथा जब म्लेच्छों आदि का भय रहता है तब भी स्वाध्याय वर्जित है। वातावरण स्वस्थ हो जाने पर भी एक अहोरात्र तक स्वाध्याय का वर्जन करना चाहिए।

३१२६. सेणाहिवई भोइय, महयर पुंसित्थिमल्लजुद्धे य।
लोट्टादिभंडणे वा, गुज्झग उड्डाहमचियत्तं॥

दो सेनापतितियों में, भोजिकों–ग्रामस्वामियों में, महत्तरों–ग्रामप्रधानों में अथवा महत्वपूर्ण पुरुषों अथवा स्त्रियों में, मल्लयुद्ध में, अथवा परस्पर पत्थरों से लड़ने वालों में जब तक कलह शांत नहीं हो जाता तब तक अस्वाध्याय काल है। क्योंकि

१. चंद्रमा राहु द्वारा ग्रस्त हुआ। उस रात्री के चार प्रहर, दूसरे दिन के चार प्रहर–इस प्रकार आठ प्रहर। प्रभातकाल में चंद्र सग्रह अस्त हुआ। उस दिन के चार प्रहर, रात्री के चार प्रहर तथा दूसरे दिन के चार प्रहर–इस प्रकार बारह प्रहर हुए।

सूर्य सग्रह अस्त हुआ। रात्रि के चार प्रहर, दिन के चार प्रहर और रात्री के चार प्रहर–इस प्रकार बारह प्रहर। सूर्य उदित होते ही राहु से ग्रस्त हुआ। पूरा दिन सग्रह में स्थित रहकर सग्रह में ही अस्त हुआ–इस प्रकार दिन के चार प्रहर, रात्री के चार प्रहर, अपर दिन के चार प्रहर और रात्री के चार प्रहर–इस प्रकार सोलह प्रहर हुए।

२. कुछ आचार्य मानते हैं–सूर्य दिन में ग्रस्त हुआ और दिन में ही मुक्त हो गया तो दिन का शेषभाग तथा रात्री–इसमें स्वाध्याय का परिहार है। इसी प्रकार चंद्र रात्री में ग्रस्त हुआ है और रात्री में ही मुक्त हो गया तो रात्री के शेष भाग तक स्वाध्याय का परिहार करना चाहिए। निर्घात और गुंजित–दिन की जिस वेला में ये होते हैं, दूसरे दिन उसी वेला तक अस्वाध्याय रहता है। यह उनके अहोरात्र का प्रमाण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यंतरदेव छल सकते हैं। जनता अप्रीति से उड्डाह कर सकती है।

३१२७. दंडियकालगयम्मी, जा संखोभो न कीरते ताव।
तद्दिवस भोइ महयर, वाडगपति सेज्जतरमादी॥

दंडिक–राजा के कालगत होने पर जब तक संक्षोभ रहता है तब तक स्वाध्याय नहीं किया जाता। भोजिक–ग्रामस्वामी, महत्तर–ग्रामप्रधान, वाटकपति, शय्यातर आदि के कालगत होने पर वह दिन अस्वाध्याय का होता है–अर्थात् एक अहोरात्र अस्वाध्यायिक काल है।

३१२८. पगतबहुपक्खिए वा, सत्तघरंतरमते व तद्दिवसं।
निहुक्खत्ति य गरहा, न पढंति सणीयगं वावि॥

इसी प्रकार ग्राम में प्रकृत–अधिकृत व्यक्ति अथवा बहुपाक्षिक व्यक्ति अथवा सप्तगृहाभ्यंतर में कोई व्यक्ति के कालगत हो जाने पर उस दिन अर्थात् एक अहोरात्र तक स्वाध्याय वर्जित है। स्वाध्याय करते देखकर लोगों में यह गर्हा होती है कि इन्हें कोई दुःख नहीं होता। मंद स्वरों में भी नहीं पढ़ते।

३१२९. हत्थसयमणाहम्मी, जइ सारियमादि तू विगिंचेज्जा।
तो सुद्धं अविवित्ते, अन्नं वसहिं विमग्गंति॥

कोई अनाथ व्यक्ति सौ हाथ के भीतर मर जाता है और यदि शय्यातर आदि उसको वहां से हटा देते हैं तो शुद्ध है, स्वाध्याय किया जा सकता है। यदि कोई उस मृत व्यक्ति को वहां से नहीं हटाता है तो मुनि अन्य वसति की मार्गणा करे।

३१३०. अण्णवसहीय असती, ताधे रत्ति वसभा विगिंचंति।
विक्खिण्णे व समंता, जं दिट्ठमसढेतरे सुद्धा॥

अन्य वसति के अभाव में रात्री के समय वृषभ मुनि उस शव को अन्यत्र फेंक देते हैं। उस कलेवर को कुत्ते आदि विकीर्ण कर देते हैं, बिखेर देते है। चारों ओर देखकर वे वृषभ मुनि जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, उस सबको बाहर फेंक देते हैं। यदि कलेवर के कुछ अवयव आदि रह जाते हैं तो भी वे स्वाध्याय करते हुए शुद्ध हैं, क्योंकि उनका प्रयत्न अशठभाव से किया गया था।

३१३१. सारीरं पि य दुविधं, माणुसतेरिच्छिगं समासेणं।
तेरिच्छं तत्थ तिहा, जल-थल-खहजं पुणो चउहा॥

शारीरिक अस्वाध्यायिक–

शरीर में होनेवाला शारीर कहलाता है। संक्षेप में वह दो प्रकार का है–मानुषिक और तैरश्चिक। तैरश्चिक के तीन प्रकार हैं–जलज, स्थलज तथा खज (आकाश संबंधी)। ये तीनों चार-चार प्रकार के हैं।

३१३२. चम्मरुधिरं च मंसं, अट्ठिं पि य होति चउविगप्पं तु।
अहवा दव्वादीयं, चउव्विहं होति नायव्वं॥

चर्म, रुधिर, मांस और अस्थि–इस प्रकार जलज आदि के चार-चार विकल्प होते हैं। अथवा द्रव्य आदि के भेद से चार प्रकार का ज्ञातव्य है।

३१३३. पंचिंदियाण दव्वे, खेत्ते सट्ठिहत्थ पोग्गलाइण्णं।
तिकुरत्थ महंतेगा, नगरे बाहिं तु गामस्स॥

द्रव्यतः पंचेन्द्रिय जलज प्राणियों के चर्म आदि चारों का अस्वाध्यायिक होता है, विकलेन्द्रियों का नहीं। क्षेत्रतः साठहाथ तक। यदि वह तिर्यंचों के मांस से आकीर्ण है, और यदि वह ग्राम है और तीन छोटी गलियों से परे मांस विकीर्ण हो तो भी स्वाध्याय किया जा सकता है। यदि वह नगर हो तो एक महान् (राजपथ) के अंतरित मांस विकीर्ण हो तो भी स्वाध्याय का परिहार नहीं होता। यदि वह गांव सारा मांस से व्याप्त हो तो गांव के बाहर स्वाध्याय किया जा सकता है।

३१३४. काले तिपोरिसऽट्ठ व, भावे सुत्तं तु नंदिमादीयं।
बहि धोय-रद्ध-पक्के, वूढे वा होति सुद्धं तु॥

सामान्यतः प्रत्येक जलज आदि का चर्म आदि तीन पौरुषी अथवा आठ पौरुषी (महाकाय का हनन होने पर) काल तक स्वाध्याय का विघात करता है। भावतः नंदी सूत्र आदि नहीं पढ़ा जाता। यदि मांस साठ हाथ से परे से धोकर लाया गया हो, रांधा गया हो, पकाया गया हो और वह लाया गया हो तो शुद्ध अर्थात् उससे अस्वाध्यायिक नहीं होती।

३१३५. अंतो पुण सट्ठीणं, धोतम्मी अवयवा तहिं होंति।
तो तिण्णि पोरिसीओ, परिहरितव्वा तहिं होंति॥

यदि साठ हाथ के भीतर मांस को धोया जाता है तो अवयव नीचे गिरते ही हैं। ततः तीन पौरुषी तक स्वाध्याय का परिहार करना चाहिए।

३१३६. महकाएऽहोरत्तं, मज्जारादीण मूसगादिहते।
अविभिन्ने भिन्ने वा, पढंति एगे जइ पलाति॥

महाकाय मूशक आदि मार्जार से मारे जाने पर एक अहोरात्र–आठ प्रहर का अस्वाध्यायिक रहता है। कुछ मानते हैं कि मार्जार यदि मूषक को छिन्न नहीं करता, मार कर ले जाता है अथवा निगल जाता है और उस स्थान से पलायन कर जाता है तो साधु सूत्र पढ़ सकते हैं।

३१३७. अंतो बहिं च भिन्नं, अंडगबिंदू तधा विजाताए।
रायपह वूढ सुद्धे, परवयणे साणमादीणि॥

उपाश्रय में अथवा बाहर (साठ हाथ के भीतर) कोई अंडा फूट गया और उसका कललबिंदु भूमी पर गिरा हो, तैरश्ची की प्रसूति पर, राजपथ पर, प्रवाहित हो जाने पर, शुद्ध, परवचन श्वान आदि। (इस गाथा की व्याख्या अगली गाथाओं में।)

३१३८. अंडमुज्झितकप्पे, न य भूमि खणंति इहरहा तिण्णि।
असज्झाइयपमाणं, मच्छियपादा जहिं खुप्पे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंडा गिरा। अभिन्न रहा। उसको फेंक दिया। स्वाध्याय कल्पता है। यदि अंडा फूट गया तो स्वाध्याय नहीं कल्पता। भूमी का खनन भी नहीं किया जाता। अन्यथा भूमी खनन से अस्वाध्यायिक का अपनयन हो जाता है, फिर भी तीन प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है। अंडक बिंदु अस्वाध्यायिक का प्रमाण है। जितने मात्र में मक्षिका के पैर डूब जाते हैं, उतने मात्र अंडककलल का भूमी पर पड़ने से अस्वाध्यायिक होता है।

३१३९. अजरायु तिण्णि पोरिसि,
जराउगाणं जरे पडिय तिण्णि।
निज्जंतुवस्स पुरतो,
गलितं जदि निग्गलं होज्जा॥

अजरायु प्रसूति होने पर तीन पौरुषी और जरायुज की प्रसूति पर जब जरायु नीचे गिर जाती है, उसके पश्चात् तीन प्रहर तक अस्वाध्यायिक रहता है। यदि उस प्रसूता को उपाश्रय के आगे से ले जाया जाता है और जरा गलित हो जाए तो तीन प्रहर तक अस्वाध्याय होता है। निर्गलित होने पर स्वाध्याय किया जा सकता है।

३१४०. रायपहे न गणिज्जति,
अध पुण अण्णत्थ पोरिसी तिण्णि।
अध पुण वूढं होज्जा,
वासोदेणं ततो सुद्धं॥

राजपथ पर अस्वाध्याय करने वाले बिंदु नहीं गिने जाते। अन्यत्र तैरश्च अस्वाध्यायिक तीन प्रहर के स्वाध्याय का विघात करता है। यदि वर्षा के पानी से वे बिंदु बह गए हों तो स्थान शुद्ध है, स्वाध्याय किया जा सकता है।

३१४१. चोदेति समुद्दिसिउं, साणो जदि पोग्गलं तु एज्जाही।
उदरगतेणं चिट्ठिति, जा ता चउहा असज्झाओ॥

जिज्ञासु पूछता है—यदि कुत्ता बाहर से मांस मुंह में लेकर वहां आता है और जब तक वहां ठहरता है तो उसके उदरगत मांस से अस्वाध्याय क्यों नहीं होता?

३१४२. भण्णति जदि ते एवं, सज्झाओ एव तो उ नत्थि तुहं।
असज्झाइयस्स जेण, पुण्णो सि तुमं सदाकालं॥

आचार्य कहते हैं—यदि तुम्हारा यह विचार है तब तो तुम्हारे कभी स्वाध्याय होगा ही नहीं क्योंकि तुम सदाकाल अस्वाध्यायिक से पूर्ण हो, तुम्हारा शरीर रुधिर आदि चतुष्टय से भरा हुआ है।

३१४३. जदि फुसति तहिं तुंडं, जदि वा लेच्छारितेण संचिट्ठे।
इधरा न होति चोदग, वंतं वा परिणतं जम्हा॥

यदि कुत्ता आदि रक्त खरंटित मुख से उपाश्रय में आते हैं और अपना मुंह साफ करते हैं अथवा खरंटित मुंह लिए वहां बैठते हैं तब अस्वाध्याय होता है, अन्यथा नहीं। हे शिष्य! यदि वे वहां आकर वमन भी करते हैं तो अस्वाध्यायिक नहीं होता, क्योंकि वह परिणत हो चुका होता है।

३१४४. माणुस्सगं चउद्धा, अट्ठिं मोत्तूण सयमहोरत्तं।
परियावण्णविवण्णे, सेसे तिग सत्त अट्ठेव॥

मानुष अस्वाध्यायिक चार प्रकार की है—चर्म, रुधिर, मांस और अस्थि। अस्थि को छोड़कर शेष तीन यदि क्षेत्रतः सौ हाथ के भीतर हो तो स्वाध्याय वर्जित है। कालतः अहोरात्र तक अस्वाध्याय रहता है। मनुष्य और तिर्यंच का रुधिर स्वाभाविक वर्ण से विवर्ण हो गया हो तो अस्वाध्यायिक नहीं होती, शेष में अस्वाध्याय होता है। रजस्वला स्त्री हो तो तीन दिन, पुत्र की उत्पत्ति पर सात दिन और पुत्री की उत्पत्ति पर आठ दिन तक का अस्वाध्याय काल है।

३१४५. रत्तुक्कडया इत्थी, अट्ठ दिणा तेण सत्त सुक्कऽधिए।
तिण्ह दिणाण परेणं, अणोउगं तं महारत्तं॥

निषेककाल में रक्तोत्कटता होने पर पुत्री (स्त्री) होती है, उसके लिए आठ दिन और शुक्र की अधिकता से पुत्र होता है, इसके लिए सात दिन तक अस्वाध्याय काल है। स्त्रियों के तीन दिनों के बाद महारक्त अनार्तव होता है, इसलिए उसकी गणना नहीं की जाती।

३१४६. दंते दिट्ठ विगिंचण, सेसट्ठिग बारसेव वरिसाइं।
झामित वूढे सीताण, पाणमादीण रुद्दघरे॥

यदि वसति में दांत गिरे हुए दीख पड़े तो उसका परिष्ठापन सौ हाथ से आगे कर दे। दांतों के अतिरिक्त यदि अन्य अंगोपांग संबंधी अस्थियां हों तो बारह वर्षों तक स्वाध्याय नहीं कल्पता। यदि वह स्थान अग्नि से जल गया हो, पानी के प्रवाह से प्रवाहित हो चुका है तो स्वाध्याय कल्पता है, अन्यथा नहीं। श्मशान, पाणजाति का यक्षायतन, रुद्रधर। (इन तीनों की व्याख्या आगे।)

३१४७. सीताणे जं दड्ढं, न तं तु मोत्तूणऽणाह निहताइं।
आडंबरे य रुद्दे, माइसु हेट्ठट्ठिया वारा॥

श्मशान में जो अस्थियां दग्ध हो चुकी हैं उनको छोड़कर शेष जो दग्ध नहीं हुई हैं अथवा जो अनाथ शव जलाया नहीं गया है अथवा खोद कर गाड़ा गया है—ये बारह वर्ष के स्वाध्याय का घात करते हैं। आडंबर—डोम लोगों के यक्षायतन, रुद्रदेव के यक्षायतन तथा मातृगृहों के नीचे मनुष्यों की अस्थियां रखी जाती हैं।[1] अतः बारह वर्ष तक अस्वाध्याय होता है।

---

१. पाण—डोम लोगों के आडंबर नाम के यक्ष (अपरनाम—हिरनिक्त) उसका आयतन। उसके नीचे मनुष्य की अस्थियां रखी जाती हैं। मातृगृह—चामुंडायतन तथा रुद्रगृह के नीचे मनुष्य का कपाल रखा जाता है। (टीका)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१४८. असिवोमाघतणेसुं, बारस अविसोधितम्मि न करेंति।
झामित-वूढे कीरति, आवासियसोधिते चेव॥

अशिव, अवमौदर्य तथा आघात स्थानों में अनेक लोग कालगत होते हैं। उन स्थानों का विशोधन किए बिना वहां बारह वर्ष का अस्वाध्यायिक होता है। वहां स्वाध्याय नहीं किया जाता। वे स्थान यदि अग्नि से जल गए हों, अथवा पानी से प्लावित हो गए हों तो वहां स्वाध्याय किया जा सकता है। श्मशान यदि लोगों द्वारा आवासित हो गया हो, उसका शोधन कर लिया हो तो वहां स्वाध्याय किया जा सकता है।

३१४९. डहरग्गाममयम्मी, न करेंती जा न नीणितं होति।
पुरगामे व महंते, वाडगसाहिं परिहरंति॥

छोटे गांव में कोई मर गया है और जब तक शव को बाहर निष्कासित नहीं किया जाता तब तक स्वाध्याय वर्जित है। पुर अथवा बड़े गांव के वाटक तथा गली में कोई मरा हो तो उस वाटक या गली में स्वाध्याय का परिहार है।

३१५०. जदि तु उवस्सयपुरतो, नीणिज्जइ तं मएल्लयं ताधे।
हत्थसयं तो जाव उ, ताव उ न करेंति सज्झायं॥

यदि मृत कलेवर उपाश्रय के आगे से ले जाया जाता हो तो सौ हाथ के भीतर उसकी स्थिति में स्वाध्याय नहीं करते।

३१५१. को वी तत्थ भणेज्जा, पुप्फादी जा उ तत्थ परिसाडी।
जा दीसंती ताव उ, न कीरए तत्थ सज्झाओ॥

कोई यह कहता है जब कलेवर ले जाया जाता है तब फूल तथा जीर्णवस्त्र परिशाटित–बिखेरे जाते हैं। वे सौ हाथ के भीतर यदि दिखाई पड़ते हों तो स्वाध्याय नहीं किया जाता।

३१५२. भण्णति मययं तु तहिं, निज्जंतं मोत्तु होतऽसज्झायं।
जम्हा चउप्पगारं, सारीरमओ न वज्जेंति॥

आचार्य कहते हैं–ले जाए जाते हुए मृतक को छोड़कर पुष्प आदि अस्वाध्यायिक नहीं होते। शरीर अस्वाध्यायिक रुधिर आदि के आधार पर चार प्रकार का है। इनके अतिरिक्त और किसी द्रव्य का अस्वाध्यायिक नहीं होता, उनका वर्जन नहीं किया जाता।

३१५३. एसो उ असज्झाओ,
तव्वज्जिय झाओ तत्थिमा जतणा।
सज्झाइए वि कालं,
कुणति अपेहित्तु चउलहुगा॥

यह सारा अस्वाध्याय के विषय में कहा गया है। तद्व्यतिरिक्त स्वाध्याय होता है। उसमें यह यतना है। स्वाध्यायिक में भी काल में स्वाध्याय करे। जो काल की प्रत्युपेक्षा किए बिना स्वाध्याय करता है, उसे चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

३१५४. जइ नत्थि असज्झायं, किं व निमित्तं तु घेप्पए कालो।
तस्सेव जाणणट्ठा, भण्णति किं अत्थि नत्थि त्ति॥

शिष्य पूछता है–यदि अस्वाध्यायिक नहीं है तो फिर काल को किस कारण से ग्रहण किया जाता है? आचार्य कहते हैं–अस्वाध्यायिक को जानने के लिए ही काल का ग्रहण किया जाता है कि अस्वाध्यायिक है या नहीं।

३१५५. पंचविधमसज्झायस्स, जाणणट्ठाय पेहए कालं।
काए विहीय पेहे, सामायारी इमा तत्थ॥

पांच प्रकार के अस्वाध्याय को जानने के लिए ही काल की प्रेक्षा की जाती है। शिष्य ने पूछा–काल-प्रेक्षा की विधि क्या है? आचार्य कहते हैं–काल-प्रेक्षा की यह सामाचारी है।

३१५६. चउभागऽवसेसाए, चरिमाए पोरिसीए उ।
तओ तओ तु पेहेज्जा, उच्चारादीण भूमीओ॥

दिन की चरम पौरुषी का चतुर्भाग शेष रहने पर उच्चार-प्रस्रवण आदि की तीन-तीन भूमियों की प्रत्युपेक्षा करे।

३१५७. अहियासियाय अंतो, आसन्ने चेव मज्झ दूरे य।
तिण्णेव अणहियासी, अंतो छच्छच्च बाहिरओ॥

३१५८. एमेव य पासवणे, बारस चउवीसतिं तु पेहित्ता।
कालस्स य तिन्नि भवे, अह सूरो अत्थमुवयाति॥

उपाश्रय की सीमा में तीन भूमियां–निकट, दूर और मध्य–अध्यासनीय हैं, प्रत्युपेक्षणीय हैं तथा तीन भूमियां (निकट, दूर और मध्य) अनध्यासनीय हैं, अप्रत्युपेक्षणीय हैं। इस प्रकार छह भूमियां भीतर और छह भूमियां बाहर–कुल बारह भूमियां हुईं। ये शौचभूमियां हैं। इसी प्रकार बारह भूमियां प्रस्रवण की। सभी चौबीस भूमियों की प्रत्युपेक्षा करे। काल की तीन भूमियां–आसन्न, दूर और मध्य की प्रत्युपेक्षा करे। (ये जघन्यतः एक हाथ के अंतरित हों।) इसके बाद सूर्य अस्त हो जाता है।

३१५९. जदि पुण निव्वाघातं, आवस्सं तो करेंति सव्वे वि।
सड्ढादिकहणवाघातयाय पच्छा गुरू ठंति॥

यदि सूर्यास्त के समय निर्व्याघात हो तो सभी आवश्यक करें, प्रतिक्रमण करें। श्राद्ध आदि को धर्मकथा करने का व्याघात होने पर आचार्य स्वयं धर्मकथा करते हैं, पश्चात् निषद्याधर सहित आवश्यक में बैठते हैं।

३१६०. सेसा उ जधासत्ती, आपुच्छित्ताण ठंति सट्ठाणे।
सुत्तत्थझरणहेउं, आयरियठितम्मि देवसियं॥

गुरु जब धर्मकथा करते हैं तब शेष साधु गुरु को पूछकर सूत्रार्थ के स्मरण के लिए अपने-अपने स्थान पर यथाशक्ति कायोत्सर्ग में स्थित हो जाते हैं। आचार्य के कायोत्सर्ग में स्थित हो जाने पर मुनि दैवसिक अतिचारों का चिंतन करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१६१. जो होज्ज उ असमत्थो, बालो वुड्ढो व रोगिओ वावि।
सो आवस्सगजुत्तो, अच्छेज्जा निज्जरापेही॥

जो असमर्थ, बाल, वृद्ध अथवा रोगग्रस्त होने के कारण कायोत्सर्ग में स्थित होने में असमर्थ हों, वे निर्जरापेक्षी मुनि आवश्यक युक्त होकर बैठें।

३१६२. आवस्सय काऊणं, जिणोवदिट्ठं गुरूवदेसेणं।
तिन्नि थुती पडिलेहा, कालस्स इमो विधी तत्थ॥

जिनोपदिष्ट आवश्यक को गुरु के उपदेश से करके अंत में तीन स्तुतियां बोले। (पहली एक श्लोकात्मिका, दूसरी दो श्लोकात्मिका और तीसरी तीन श्लोकात्मिका।) तदनंतर काल की प्रत्युपेक्षा करे। काल-प्रत्युपेक्षा की यह विधि है–

३१६३. दुविधो य होति कालो, वाघातिम एतरो य नायव्वो।
वाघातो घंघसालाय, घट्टणं धम्मकहणं वा॥

काल के दो प्रकार जानने चाहिए–व्याघातिम और इतर अर्थात् निर्व्याघात। घंघशाला (वह स्थान जहां अनेक कार्पटिक रहते हैं।) में आने-जाने वालों के घट्टन से व्याघात होता है तथा धर्मकथा स्थान में वेलातिक्रम से व्याघात होता है।

३१६४. वाघाते ततिओ सिं, दिज्जति तस्सेव तु निवेदंति।
इहरा पुच्छंति दुवे, जोगं कालस्स काहामो॥

व्याघात की स्थिति में उन दो कालप्रत्युपेक्षकों को तीसरा अर्थात् उपाध्याय आदि दिया जाता है। वे उसी के आगे सारा निवेदन करते हैं। इतरथा–व्याघात के अभाव में वे दोनों कालप्रत्युपेक्षक गुरु को पूछते हैं कि हम यथायोग काल को ग्रहण करेंगे, उसके व्यापार में व्यापृत होंगे।

३१६५. कितिकम्मे आपुच्छण,
आवासिय खलिय पडिय वाघाए।
इंदिय दिसा य तारा,
वासमसज्झाइयं चेव॥

निर्व्याघात की स्थिति में गुरु या आचार्य को कृतिकर्म–वंदना करनी चाहिए। फिर कालग्रहण की पृच्छा–आज्ञा लेनी चाहिए। यदि आवश्यक नहीं करता, स्खलित हो जाता है, गिर जाता है–यह काल का व्याघात है। इंद्रिय विषय अथवा दिशाएं विपरीत हों, तारा गिर रहे हों, अकाल में वर्षा हो रही हो अथवा अस्वाध्यायिक हो तो वह कालवध है।

३१६६. कितिकम्मं कुणमाणो, आवत्तगमादियं तहिं वितहं।
कुणति गुरूण व वितधं, पडिच्छती तत्थ कालवधो॥

कृतिकर्म करता हुआ यदि आवर्त्त आदि वितथ– विपरीत करता है अथवा गुरु वंदनक को विपरीतरूप में देता है, तब कालवध होता है।

३१६७. एवं आवासा सेज्जमादि वितहं खलिते य पडिते य।
णिंताण छीय जोती, व होज्ज ताधे नियत्तेंति॥

इस प्रकार आवश्यिकी, अशय्या आदि से संबंधित वितथ क्रिया करते हुए, स्खलित अथवा गिर पड़ते हुए, निर्गमन करते समय छींक आ जाए, प्रदीप की ज्योति का स्पर्श हो जाए तो व्याघात होता है, यह सोचकर वे दोनों काल-प्रत्युपेक्षक निवर्तित हो जाते हैं।

३१६८. अह पुण निव्वाघातं, ताहे वच्चंति कालभूमिं तु।
जदि तत्थ गोणमादी, संसप्पादीव तो एंति॥

यदि निर्व्याघात हो तो वे कालभूमी में जाते हैं। वहां कालभूमी में यदि गाय आदि अथवा संसर्प–कीटक आदि आते हैं तो काल ग्रहण नहीं करते।

३१६९. एमादिदोसरहिते, संडासादी पमज्जिउ निविट्ठो।
अच्छंति निलिच्छंतो, दो दो तु दिसा दुयग्गा वि॥

इन सभी दोषों से रहित कालग्रहणयोग्य प्रदेश में संडास आदि (स्थान-विशेष) का प्रमार्जन कर, कालग्रहणवेला की प्रतीक्षा करता हुआ काल-प्रत्युपेक्षक बैठ जाता है। दूसरा भी बैठ जाता है। दोनों दो-दो दिशाओं का निरीक्षण करते हुए बैठे रहते हैं।

३१७०. सज्झायमचिंतेंता,कविहसिते विज्जु गज्जि उक्का वा।
कणगम्मि य कालवधो, दिट्ठेऽदिट्ठे इमा मेरा॥

वे काल-प्रत्युपेक्षक स्वाध्याय का चिंतन न करते हुए यदि कपिहसित सुनते हैं, विद्युत् देखते हैं, गर्जना सुनते हैं, उल्का का निरीक्षण करते हैं अथवा कनक का निपतन देखते हैं तो कालवध होता है। दृष्ट-अदृष्ट की यह मर्यादा है।

३१७१. कालो संझा य तधा, दो वि समप्पेंति जध समं चेव।
तध तं तुलेंति कालं, चरमदिसं वा असज्झायं॥

संध्या रहते काल-ग्रहण प्रारंभ किया। कालग्रहण और संध्या दोनों एक साथ समाप्त होते हों तो कालवेला की तुलना करे। अथवा उत्तर आदि तीनों दिशाओं की संध्या देखे। चरमदिशा यदि असंध्याक हो गई हो तो भी उसका ग्रहण सदोष नहीं होता।

३१७२. नाऊण कालवेलं, ताधे उट्ठेउ दंडधारी उ।
गंतूण निवेदेती, बहुवेला अप्पसद्दं ति॥

कालवेला का जानकार तदनंतर दंडधारी उठता है और प्रतिश्रय में जाकर निवेदन करता है कि काल की बहुत वेला है इसलिए सभी अल्पशब्द अर्थात् मौनवत् हो जाएं।

३१७३. ताधे उवउत्तेहिं, उ अप्पसद्देहि तत्थ होयव्वं।
जदि न सुयत्थ केहिं वि, दिट्ठंतो गंडएण तहिं॥

तब सभी उपयुक्त साधु अल्पशब्द वाले हो जाएं। यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दंडधारी की बात किसी ने न सुनी हो तो यहां गंडक[1] का दृष्टांत जानना चाहिए।

३१७४. जध गंडगमुग्घुट्ठे, बहूहि असुतम्मि गंडए दंडो।
अह थोवेहिं न सुतं, निवयति तेसिं ततो दंडो॥

जैसे गंडक उद्घोषणा करता है और यदि बहुत सारे लोग उसको सुन नहीं पाते तो दंड का भागी गंडक होता है। और यदि थोड़े लोग उसको नहीं सुन पाते तो न सुनने वालों पर दंड का निपात होता है, वे दंड के भागी होते हैं।

३१७५. एविध वी दट्ठव्वं, दंडधरो होति दंडो तेसिं च।
आवेदेउं गच्छति, तमेव ठाणं तु दंडधरो॥

इसी प्रकार काल-प्रत्युपेक्षक दंडधर की बात यदि बहुत साधुओं ने नहीं सुनी है तो दंडधर दंड का भागी होता है और यदि थोड़े साधुओं ने नहीं सुनी है तो वे न सुनने वाले साधु दंड के भागी होते हैं। दंडधर आवेदन कर अपने उसी स्थान पर चला जाता है।

३१७६. ताहे कालग्गाही, उट्ठेति गुणेहिमेहि जुत्तो तु।
पियधम्मो दढधम्मो, संविग्गो वज्जभीरू य॥
३१७७. खेयण्णो य अभीरू, एरिसओ सो उ कालगाही तु।
उट्ठेति गुरुसगासं, ताधे विणएण सो एति॥

दंडधर जब अपने स्थान पर आ जाता है तब कालग्राही काल-ग्रहण के लिए उठता है। वह इन गुणों से युक्त होता है—प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविग्न, वज्रभीरू—पापभीरू, खेदज्ञ—कालविधि का सम्यक् ज्ञाता, अभीरू। ऐसा होता है कालग्राही। वहां से उठकर वह गुरु के साथ स्थापनागुरु के पास विनयपूर्वक आता है।

३१७८. तिण्णि य निसीहियाओ, नमणुस्सग्गो य पंचमंगलए।
कितिकम्मं तह चेव य, काउं कालं तु पडियरती॥

आता हुआ वह कालग्राही तीन नैषेधिकियां (आसन्न, दूर और मध्य) करता है, निकट आकर 'नमः क्षमाश्रमणेभ्यः' कहता हुआ नमस्कार करता है, फिर कायोत्सर्ग कर, पांच मंगलिक से उसे संपन्न करता है। फिर कृतिकर्म करता है। तदनंतर प्रादोषिक काल का प्रतिचरण करता है—कहता है, आप आदेश दें, हम प्रादोषिक काल का ग्रहण करें।

३१७९. थोवावसेसियाए, संझाए ठाति उत्तराहुत्तो।
दंडधरो पुव्वमुहो, ठायति दंडंतरा काउं॥

जब संध्या कुछ अवशिष्ट रहती है, थोड़ी रह जाती है तब कालग्राहक उत्तराभिमुख होकर बैठता है। दंडधर पूर्वाभिमुख होकर बैठता है। अपने दंड को अपांतराल में रख देता है।

३१८०. गहणनिमित्तुस्सग्गं, अट्ठुस्सासे य चिंतितुस्सारे।
चउवीसग दुमपुप्फिय, पुव्विग एक्केक्क य दिसाए॥

कालग्रहण के निमित्त कायोत्सर्ग किया जाता है। फिर आठ श्वासोच्छ्वास तक मन से नमस्कार का चिंतन कर कायोत्सर्ग को संपन्न कर दिया जाता है। फिर चतुर्विंशतिस्तव, द्रुमपुष्पिका, श्रामण्यपूर्विका तथा क्षुल्लिकाचार कथा का पहला श्लोक—इनका मन से स्मरण करे। यह एक दिशा की बात हुई। इसी प्रकार प्रत्येक दिशा में करे।

३१८१. बिंदू य छीयऽपरिणय, भय-रोमंचेव होति कालवधो।
भासंत मूढ संकिय, इंदियविसए य अमणुण्णो॥

बिंदु, छींक, अपरिणत, भय, रोमांच, वाणी से अन्य अध्ययन का कथन, मूढ़, शंकित, अमनोज्ञ, इंद्रियविषय—(इस गाथा की व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

३१८२. गिण्हंतस्स उ कालं, जदि बिंदू तत्थ कोइ निवडेज्जा।
छीयं व परिणतो वा, भावो होज्जा सि अन्नत्तो॥
३१८३. भीतो बिभीसियाए भासंतो वावि गेण्ह न विसुज्झे।
मूढो व दिसज्झयणे, संकितं वावि उवघातो॥
३१८४. अन्नं व दिसज्झयणं, संकंतो होज्जऽणिट्ठविसए वा।
इट्ठेसु वा विरागं, जदि वच्चति तो हतो कालो॥

काल ग्रहण करते हुए दंडधर के ऊपर उदक बिंदु गिर जाए, कोई छींक दे, भाव अन्यथा परिणत हो जाए, विभीषिका को देखकर भयभीत हो जाए, रोमांचित हो जाए, वाणी से अध्ययन को बोलने लगे—इन स्थितियों में काल-ग्रहण शुद्ध नहीं होता। दिशा के अध्ययन में मूढ़ हो जाना, अथवा शंकित हो जाना—यह काल का उपघात है। दिशाध्ययन अन्यत्र संक्रांत हो गया, इंद्रिय-विषय अनिष्ट हो गया तथा यदि इष्टविषयों में विराग हो गया हो तो जानना चाहिए कि कालवध हो गया है।

३१८५. जदि उत्तरं अपेहिय, गिण्हत सेसा उ ता हतो कालो।
तीसु अदीसंतीसु वि, तारासु भवे जहण्णेणं॥

यदि उत्तर दिशा को देखे बिना अर्थात् पहले उत्तराभिमुख हुए बिना शेष दिशाओं को पहले ग्रहण करता है तो कालहत हो जाता है। जघन्यतः तीन ताराओं के न दिखने पर काल ग्रहण करता है तब भी काल हत हो जाता है।

३१८६. वासं च निवडति जई,
अहव असज्झाइयं व निवडेज्जा।
एमादीहि न सुज्झे,
तव्विरहम्मी भवे सुद्धा॥

यदि वर्षा गिर रही हो अथवा अस्वाध्यायिक गिर रही हो, आदि-आदि कारणों से काल शुद्ध नहीं होता। इनके विपरीत अर्थात् इन दोषों के अभाव में काल शुद्ध होता है।

---

१. गंडक—ग्रामादेश की सार्वजनिक घोषणा करने वाला।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१८७. गहितम्मी कालम्मी, दंडधरो अच्छती तहिं चेव।
इयरो पुण आगच्छति, जतणाए पुव्वभणिताए॥

काल-ग्रहण करने के पश्चात् दंडधर वहीं (कालभूमी में) बैठ जाता है। दूसरा कालग्राही पूर्वकथित यतनापूर्वक वहां आता है।

३१८८. जो गच्छंतम्मि विही, आगच्छंतम्मि होति सच्चेव।
जं एत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं॥

जो विधि जाने की कही गई है वही विधि आते समय की है। जो उसमें नानात्व है वह मैं संक्षेप में कहूंगा।

३१८९. अकरण निसीहियादी, आवडणादी य होति जोतिक्खे।
अपमज्जिते य भीते, छीते छिन्ने य कालवधो॥

नैषेधिकी आदि न करने, प्रस्खलित हो जाने, दीपक का स्पर्श हो जाने, भूमी का प्रमार्जन न करने, भयभीत हो जाने, छींक आ जाने अथवा मार्जार आदि द्वारा मार्ग को काट देने—ये सारे कालवध के कारण हैं।

३१९०. इरियावहिया हत्थंतरे वि, मंगलनिवेदणा समयं।
सव्वेहि वि पट्ठविते, पच्छाकरणं अकरणं वा॥

एक हाथ की दूरी से आने पर भी ईर्यापथिकी से प्रतिक्रमण करना चाहिए। फिर गुरु को शुद्धकाल का मंगल निवेदन करना चाहिए। उसके पश्चात् सभी एक साथ स्वाध्याय की प्रस्थापना करे, पश्चात् जो प्रस्थापनावेला में उपस्थित हो गए, उनके लिए कालदानकरण किया जाता है और जो उपस्थित नहीं थे, उन्हें कालदान का अकरण होता है।

३१९१. सन्निहिताण वडारो, पट्ठविते पमादिणो दए कालं।
बाहि ठिते पडियरए, पविसति ताधे य दंडधरो॥

जो समवाय में सम्मिलित नहीं होता, उसे वडार— भाग नहीं दिया जाता। इसी प्रकार स्वाध्याय की प्रस्थापनवेला में जो प्रमादी मुनि सम्मिलित नहीं होते, उन्हें काल नहीं देना चाहिए। प्रस्थापना के पश्चात् कालग्राही बाहर काल की प्रतिचर्या करता है, ग्राह्य-अग्राह्य का ध्यान रखता है और तब दंडधर स्वाध्याय की प्रस्थापना के लिए भीतर प्रवेश करता है।

३१९२. पट्ठवित वंदिते वा, ताहे पुच्छंति किं सुतं भंते।
ते वि य कधेंति सव्वं, जं जेण सुतं दिट्ठं वा॥

दंडधर प्रवेश कर स्वाध्याय की प्रस्थापना करता है, गुरु को वंदना करता है फिर साधुओं को पूछता है—भंते! किसने क्या सुना? तब सभी साधु जिसने जो सुना या देखा, वह सारा कहते है। (यदि सभी कहें कि कुछ भी न सुना और न देखा तो काल शुद्ध है।)

३१९३. एगस्स दोण्ह वा संकितम्मि कीरति न कीरते तिण्हं।
सगणम्मि संकिते परगणं तु गंतुं न पुच्छंति॥

स्वाध्याय-अस्वाध्याय संबंधी एक, दो मुनियों की शंका हो तो स्वाध्याय किया जाता है। तीन को शंका होने पर स्वाध्याय नहीं किया जाता। स्वगण में शंकित होने पर परगण में जाकर नहीं पूछा जाता। क्योंकि जहां अस्वाध्यायिक होता है वहां आशंका होती है। स्थानांतरवर्ती परगण में वह न भी हो।

३१९४. पादोसितो अभिहितो, इदाणि सामन्नतो तु वोच्छामि।
कालचउक्कस्स वि तू, उवघायविधी उ जो जस्स॥

इस प्रकार प्रादोषिक काल का कथन किया गया है। अब सामान्यतः कालचतुष्क की उपघातविधि, जिसकी जो है, वह कहूंगा।

३१९५. इंदियमाउत्ताणं, हणंति कणगा उ सत्त उक्कोसं।
वासासु य तिन्नि दिसा, उडुबद्धे तारगा तिन्नि॥

जो मुनि सभी इंद्रियों से उपयुक्त हैं, उनके उत्कर्षतः सात कनक काल का हनन करते हैं। वर्षाकाल में यदि तीनों दिशाएं प्रकाशयुक्त हों तो प्राभातिक कालशुद्धि होती है। ऋतुबद्ध काल में तीन तारों के दीखने पर ही कालग्रहण किया जाता है।

३१९६. कणगा हणंति कालं, ति पंच सत्तेव घिं-सिसिरवासे।
उक्का उ सरेहागा, रेहारहितो भवे कणगो॥

३१९७. वासासु पाभातिए, तिण्णि दिसा जइ पगासजुत्ता उ।
सेसेसु तिसु वि चउरो, उडुम्मि चउरो चउदिसिं पि॥

३१९८. तिसु तिन्नि तारगाओ, उडुम्मि पाभातिए अदिट्ठे वि।
वासासु अतारगा उ, चउरो छण्णे निविट्ठो वि॥

ग्रीष्मकाल में तीन, शिशिर में पांच तथा वर्षाकाल में सात कनक काल का घात करते हैं। उल्का रेखा सहित और कनक रेखा रहित होता है। वर्षा ऋतु में यदि तीन दिशाएं प्रकाशयुक्त हों तो प्राभातिक काल शुद्ध होता है। शेष तीन कालों (अर्धरात्रिक, वैरात्रिक तथा प्राभातिक) में चारों दिशाएं प्रकाशयुक्त हों। ऋतुबद्ध काल में चारों दिशाएं प्रकाशयुक्त हों तो चारों काल शुद्ध हैं। यदि ऋतुबद्ध काल में तीन तारक दृश्य होते हैं तो प्रथम तीन काल ग्रहण किए जा सकते है। तारक दृश्य न होने पर भी प्राभातिक काल ग्रहण किया जाता है। वर्षा ऋतु में चारों काल तारों के अदृश्य होने पर भी गृहीत होते हैं। वर्षाऋतु में आकाश अभ्राच्छन्न होने पर भी चारों काल उपविष्ट अवस्था में गृहीत होते हैं।

३१९९. ठाणाऽसति बिंदूसु वि,गेण्हति विट्ठो वि पच्छिमं कालं।
पडियरति बहिं एक्को, एक्को अंतट्ठितो गेण्हे॥

स्थान के अभाव में बिंदुओं के गिरने से उपविष्ट अवस्था में भी पश्चिमकाल अर्थात् प्राभातिक काल-ग्रहण किया जाता है। एक कालग्राही बाहर रहकर काल-ग्रहण करता है और दूसरा कालग्राही अंतःस्थित होकर काल-ग्रहण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२००. पादोसियऽड्ढरत्ते, उत्तरदिसि पुव्व पेहए कालं।
वेरत्तियम्मि भयणा, पुव्वदिसा पच्छिमे काले॥

प्रादोषिक तथा अर्द्धरात्रिक कालग्रहण पूर्वदिशा में स्थित होकर ही किया जाता है। वैरात्रिक कालग्रहण की भजना है—पूर्व में अथवा उत्तर में। पश्चिम प्राभातिककाल नियमतः पूर्वाभिमुख स्थित होकर ही किया जाता है।

३२०१. कालचउक्कं उक्कोसेण जहण्णेण तिगं तु बोधव्वं।
बितियपदम्मि दुगं त, माइट्ठाणा विमुक्काणं॥

माया से विप्रमुक्त साधुओं को उत्कृष्टः चारों काल ग्रहण करने चाहिए तथा जघन्यतः तीन काल ग्राह्य जानना चाहिए। द्वितीयपद अर्थात् अपवादपद में दो काल तथा एक काल भी ग्राह्य जानना चाहिए।

३२०२. पादोसिएण सव्वे, पढमं पोरिसि करेंति सज्झायं।
ताधे उ सुत्तइत्ता, सुवंति जग्गंति वसभा उ॥

प्रादोषिक काल में सभी साधु प्रथम पौरुषी तक स्वाध्याय करते हैं। रात्रि के द्वितीय प्रहर में सूत्रवान् साधु सो जाते है, वृषभ साधु जागते हैं। (वे तब प्रज्ञापना आदि सूत्र का परावर्तन करते हैं।)

३२०३. फिडितम्मि अद्धरत्ते, कालं घेत्तुं सुवंति जागरिता।
ताहे गुरू गुणंती, चउत्थ सव्वे गुरू सुवति॥

अर्धरात्री बीतने पर काल ग्रहण कर आचार्य को जागृत करते हैं और जो जागते थे वे अब सो जाते हैं। गुरु प्रज्ञापना आदि का गुणन—प्रत्यावर्तन करते हैं। चतुर्थ पौरुषी में सभी कालिकश्रुत का परावर्तन करते हैं और गुरु सो जाते हैं।

३२०४. एवं तु होंति चउरो,
कह पुंण होज्जाहि तिण्णि काला तु।
पादोसियम्मि पढिते,
गहितम्मी अड्ढरत्ते य॥

३२०५. जदि वेरत्ति न सुज्झे, ताधे तेणेव अड्ढरत्तीणं।
पढिउं पाभाईयं, गिण्हंती होंति तिण्णेते॥

इस प्रकार चार काल होते हैं। तीन काल कैसे होते हैं? प्रादोषिक काल को ग्रहण कर पढ़ने के पश्चात् अर्धरात्रिक काल ग्रहण करने पर यदि वैरात्रिक काल शुद्ध होता है तो उसी अर्धरात्रिक काल में पढ़कर, प्राभौतिक काल ग्रहण करते हैं। इस प्रकार तीन काल ही होते हैं।

३२०६. अहवा पढमे सुद्धे बिबियअसुद्धम्मि होंति तिण्णेवं।
पादोसिय वेरत्तिय, अतिउवयोगा भवे दोन्नि॥

अथवा प्रथम अर्थात् प्रादोषिक काल शुद्ध है, द्वितीय अर्थात् अर्धरात्रिक काल अशुद्ध है तो तीन काल ही होते हैं। अति उपयोग वाले मुनियों के अपवाद स्वरूप दो काल होते हैं—प्रादोषिक और वैरात्रिक।

३२०७. अधवा वि अद्धरत्ते, गहिए वेरत्तिए असुद्धम्मि।
तेणेव य पढितम्मी, पाभातियऽसुद्ध दोण्णेव॥

अथवा (प्रादोषिककाल में पढ़ा) अर्धरात्रिक काल ग्रहण किया, उसमें पढ़ा, वैरात्रिक अशुद्ध हो गया, प्राभातिक भी अशुद्ध हो गया—इस प्रकार दो ही काल हुए। (दो काल के ये विकल्प भी हैं—प्रादोषिक प्राभातिक, अर्धरात्रिक वैरात्रिक, अर्धरात्रिक प्राभातिक अथवा वैरात्रिक प्रभातिक।) इनमें से किसी एक के शुद्ध होने पर एक काल का ग्रहण होता है।

३२०८. नवकालवेलसेसे, उवग्गहित अट्ठया पडिक्कमते।
न पडिक्कमते वेगो, नववारहते असज्झाओ॥

नौ कालवेलावाला प्राभातिक काल। प्राभातिक काल शेष मुनियों अर्थात् बाल, वृद्ध आदि के लिए औपग्रहिक—उपष्टम्भकारी होता है। शेष साधु वैरात्रिक काल का प्रतिक्रमण कर प्राभातिक काल का ग्रहण करते हैं। एक प्रतिक्रमण नहीं करता। वह प्राभातिक काल का ग्रहण करता है। जब प्राभातिक काल नौ बार हत हो जाता है तो निश्चित अस्वाध्याय है।

३२०९. एक्केक्क तिन्नि वारे, छीयादि हतम्मि गेण्हती कालं।
गेण्हऽसती एक्को वि हु, नववारे गेण्हती ताधे॥

क्षुत् आदि से आहत होने पर एक साधु तीन बार काल का ग्रहण करता है। दूसरी बार आहत होने पर फिर तीन बार और दूसरा कालग्राही न होने पर एक ही साधु नौ बार काल का ग्रहण करता है। (उसमें भी यदि काल उपहत होता है तो पौरुषी का हनन अर्थात् निश्चित अस्वाध्याय होता है।)

३२१०. पाभातियम्मि काले, संचिक्खे तिण्णि छीतरुण्णेसु।
चोदेतऽणिट्ठ सद्दे, जदि होती कालघातो तु॥

३२११. एवं बारसवरिसे खरसद्देणं तु हम्मती कालो।
भण्णति माणुसऽणिट्ठे, तिरियाणं तू पहारम्मि॥

प्राभातिक काल ग्रहण करते समय तीन पुरुष क्षुत्, रुदित आदि का कथन करते हैं। यह अस्वाध्यायिक सूचित करता है। शिष्य पूछता है—यदि अनिष्ट रुदित शब्द से कालघात होता है तो खरशब्द (गर्दभशब्द) से बारह वर्ष का काल-हनन हो जाता है, क्योंकि वह अत्यंत निष्ठुर होता है। आचार्य कहते हैं—मनुष्य के अनिष्ट शब्द से कालघात होता है। तिर्यंच पर प्रहार पड़ने पर विस्वर में चिल्लाते हैं। वह स्वाभाविक नहीं होता।

३२१२. पावासि जाइया ऊ, जदि रोविज्जाहि कालवेलम्मि।
ताधे घेप्पयऽणागत, अध पुण रोवे पगे चेव॥

३२१३. ताधे पण्णविज्जति, अध अन्न ठिया जया न वा एक्का।
ताधे उग्घाडेज्जति, अध पुण बालं रुवेज्जासि॥

३२१४. वीसरसरं रुवंते, अव्वत्तगडिंभगम्मि मा गिण्हे।
अप्पेण वि विरसेणं, महल्लचेडं तु उवहणती॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि प्रवासी पति की भार्या कालवेला में प्रतिदिन रोए तो जब तक वह रोना प्रारंभ न करे, तब तक अनागत में ही काल का ग्रहण किया जाता है। यदि प्रातःकाल में ही रोने लगे तो दिन में जाकर उसे कहा जा सकता है। यदि वह न माने और रोने वाली अनेक स्त्रियां हों तो उनको न कहकर 'उद्घाट कायोत्सर्ग' किया जाता है।

और यदि कोई बालक रोने लगे और वह अव्यक्त बालक विस्वर स्वरों में अर्थात् अति आयास से रोने लगे तो प्राभातिक काल का ग्रहण नहीं करना चाहिए। अन्य विस्वर स्वर से भी काल का उपहनन होता है तो फिर महान् रुदन तो काल का उपहनन करता ही है।

३२१५. गोसे य पट्ठवेंते, छीते छीते तु तिन्नि वारा उ।
आइण्ण पिसिय महियादि पहेणट्ठा दिसा पेहे॥

प्रभात में स्वाध्याय की प्रस्थापना करते समय तीन बार छींक आने पर तथा बिखरे हुए मांस के टुकड़े, महिका आदि अस्वाध्यायिक के निरीक्षण के लिए दिशाएं देखी जाती हैं।

३२१६. सेज्जातर-सेज्जादिसु, छारादिट्ठाय विसिउ पेहेंति।
तिण्ह परेणऽण्णत्थ उ, तत्थ जई तिण्णिवारा उ॥

३२१७. ताधे पुणो वि अण्णत्थ, गंतुं तत्थ वि य तिन्नि वारा तु।
एवं नववारहते, ताधे पढमाए न पढंति॥

दिशाएं ही नहीं, मुनि शय्यातर के तथा अन्य वसति में क्षार आदि के निमित्त प्रवेश कर वहां पिशित आदि अस्वाध्यायिक देखते हैं। तीन बार में यदि कुछ नहीं देखा जाता तो स्वाध्याय की प्रस्थापना की जाती है। यदि वहां भी तीन बार स्वाध्याय उपहत होता है तो अन्यत्र जाकर स्वाध्याय की प्रस्थापना करे। यदि वहां भी तीन बार काल का उपघात होता है तो इस प्रकार नौ बार स्वाध्याय का हनन होने पर प्रथम पौरुषी में नहीं पढ़ते।

३२१८. पट्ठवितम्मि सिलोगे, घाणालोगा य वज्जणिज्जा उ।
सोणियय चिरिक्काणं, मुत्तपुरीसाण तह चेव॥

स्वाध्याय की प्रस्थापना कर देने पर तथा श्लोकों का उच्चारण कर देने पर स्वाध्याय करने वालों को रक्त के स्तबकों तथा मूत्र और मल आदि का अवलोकन तथा गंध का वर्जन करना चाहिए।

३२१९. आलोगम्मि चिलिमिणी, गंधे अन्नत्थ गंतु पगरेंति।
एसो तू सज्झाओ, तव्विवरीतो असज्झाओ॥

यदि रक्त आदि दीखते हों तो बीच में चिलमिली बांध दे। गंध आती हो तो अन्यत्र जाकर स्वाध्याय करे। यह काल में होने वाला स्वाध्याय है। इसके विपरीत अस्वाध्याय है।

३२२०. एतेसामण्णतरे, असज्झाए जो करेति सज्झायं।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे॥

इन निरूपित अस्वाध्यायिकों में से किसी भी अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय किया जाता है तो उससे आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व तथा विराधना होती है।

३२२१. बितियागाढे सागारियादि कालगत असति वुच्छेदे।
एतेहि कारणेहिं, जतणाए कप्पती काउं॥

अपवादपद में इन कारणों से अस्वाध्यायिक में भी यतनापूर्वक स्वाध्याय करना कल्पता है—

१. आगाढ़योग के वहन करते समय।

२. सागारिक आदि अर्थात् गृहस्थ के घर में प्रतिचारणा आदि के अनिष्ट शब्द सुनाई न दे इसलिए।

कारणवश यथाच्छंद के उपाश्रय में रहते समय उनकी कल्पनाकल्पित सामाचारी सुनाई न दे, इसलिए।

३. मुनि के कालगत हो जाने पर जागरण के निमित्त।

४. अभी-अभी जो श्रुत जिसके पास ग्रहण किया है उसके मर जाने पर उस श्रुत का व्युच्छेद न हो जाए इसलिए।

३२२२. अच्चाउलाण निच्चोउलाण
मा होज्ज निच्चऽसज्झाओ।
अरिसा भगंदलादिसु,
इति वायण सुत्तसंबंधो॥

अर्श, भगंदर आदि रोगों से अत्याकुल मुनियों अथवा नित्य ऋतुमती साध्वियों के नित्य अस्वाध्याय न हो—यह वाचना सूत्र का संबंध है।

३२२३. आतसमुत्थमसज्झाइयं तु एगविध होति दुविधं वा।
एगविहं समणाणं, दुविधं पुण होति समणीणं॥

आत्मसमुत्थ अस्वाध्यायिक एक प्रकार का होता है अथवा दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का श्रमणों के और दो प्रकार का श्रमणियों के।[1]

३२२४. धोतम्मि य निप्पगले, बंधा तिण्णेव होंति उक्कोसा।
परिगलमाणे जतणा, दुविहम्मि य होति कायव्वा॥

व्रण को धोकर निष्प्रगलित कर दिया, फिर भी यदि वह झरता है तो उस पर उत्कृष्टतः तीन बंध दिए जाते हैं। दोनों प्रकार में अर्थात् व्रण और आर्त्तव (मासिक ऋतु) में वक्ष्यमाण यतना करनी चाहिए।

३२२५. समणो तु वणे व भगंदले व बंधेक्कगा उ वाएति।
तह वि गलंते छारं, छोढुं दो तिण्णि बंधा उ॥

श्रमण व्रण अथवा भगंदर, जो बहता हो, उस पर एक बंधन बांधकर वाचना दे सकता है। फिर भी उसमें से रक्त बहता हो तो

१. श्रमणों के भगंदर आदि विषयक। श्रमणियों के भगंदर आदि समुत्थ तथा ऋतुसंभव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षार निक्षिप्त कर दूसरा बंध बांधकर, वाचना दे सकता है। इसी प्रकर तीसरा बंधन बांधकर वाचना दे सकता है।

३२२६. जाधे तिन्नि विभिन्ना, ताधे हत्थसय बाहिरा धोउं।
बंधितु पुणो वि वाए, गंतुं अण्णत्थ व पढंति॥

यदि तीनों बंधनों को छेदकर रक्त बाहर आता हो तो सौ हाथ दूर जाकर रक्त प्रवाह को धोकर, पुनः उस पर कपड़ा बांधकर पुनः वाचना दे सकता है अथवा अन्यत्र जाकर पढ़ते हैं।

३२२७. एमेव य समणीणं, वणम्मि इतरम्मि सत्तबंधा उ।
तध वि य अठायमाणे, धोऊणं अहव अन्नत्थ॥

इसी प्रकार श्रमणियों के भी व्रण विषयक यतना है। उनके आर्त्तव के विषय में सात बंधन पूर्ववत् करने चाहिए। इतने पर भी यदि रक्त प्रवाह न रुके तो धोकर, बंधन देकर वाचना दे सकती हैं अथवा अन्यत्र जाकर पढ़ सकती हैं।

३२२८. एतेसामण्णतरे, असज्झाए अप्पणो उ सज्झायं।
जो कुणति अजयणाए, सो पावति आणमादीणि॥

पूर्वोक्त आत्मसमुत्थ अस्वाध्यायिकों में से कोई भी अस्वाध्यायिक में अयतनापूर्वक स्वाध्याय करता है वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३२२९. सुतनाणम्मि अभत्ती, लोगविरुद्धं पमत्तछलणा य।
विज्जासाहण वइगुण्णधम्मयाए य मा कुणसु॥

अस्वाध्याय काल में आगम का स्वाध्याय करने से श्रुतज्ञान की अभक्ति—विराधना होती है तथा यह पद्धति लोक-विरुद्ध भी है। प्रांतदेवता उस प्रमत्त स्वाध्यायी को छल सकता है। जैसे साधनों की विपरीतता से साध्यमान विद्या सिद्ध नहीं होती वैसे ही श्रुतज्ञान भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए तुम ऐसा मत करो।

३२३०. चोदेती जदि एवं, सोणियमादीहि होतऽसज्झाओ।
तो भरितो च्चिय देहो, एतेसिं किह णु कायव्वं॥

जिज्ञासु प्रश्न करता है कि इस प्रकार यदि शोणित आदि से अस्वाध्यायिक होता है तो सारा शरीर ही इन रक्त आदि पदार्थों से भरा पड़ा है तो फिर स्वाध्याय कैसे किया जा सकता है?

३२३१. कामं भरितो तेसिं, दंतादी अवजुया तध विवज्जा।
अणवजुता उ अवज्जा, लोए तह उत्तरे चेव॥

मैं मानता हूं कि शरीर इनसे भरा हुआ है फिर भी जो दांत आदि शरीर से वियुक्त हो गए हैं तो स्वाध्याय वर्ज्य है और यदि वे अवियुत हैं तो लोक और लोकोत्तर में भी अवर्ज्य है।

३२३२. अब्भिंतरमललित्तो, वि कुणति देवाण अच्चणं लोए।
बाहिरमललित्तो पुण, ण कुणति अवणेति च ततो णं॥

लोक में अभ्यंतर मलावलिप्त शरीर वाला पुरुष भी देवता की अर्चना—पूजा करता है। बाहर से मलावलिप्त व्यक्ति देवार्चना नहीं करता। परंतु शरीर से मल का अपनयन कर फिर पूजा करता है।

३२३३. आउट्टियावराहं, सन्निहिता न खमए जधा पडिमा।
इय परलोगे दंडो, पमत्तछलणा इह सिया उ॥

जानबूझकर जो प्रतिमा का अपराध करता है तो सन्निहित (देवता अधिष्ठित) प्रतिमा उसको क्षमा नहीं करती। इसी प्रकार श्रुतज्ञान भी अपराध को क्षम्य नहीं करता। उससे इहलोक और परलोक में दंडित होना पड़ता है। परलोक का दंड है—दुर्गति की प्राप्ति और इहलोक का दंड है—प्रमत्त देवता द्वारा छला जाना।

३२३४. रागा दोसा मोहा, असज्झाए जो करेति सज्झायं।
आसायणा व का से, को वा भणितो अणायारो॥

जो राग, द्वेष अथवा मोहवश अस्वाध्याय में स्वाध्याय करता है उसके कैसी आशातना और कैसा अनाचार कहा गया है।

३२३५. गणिसद्दमादिमहितो, रागे दोसम्मि न सहते सद्दं।
सव्वमसज्झायमयं, एमादी होति मोहो तु॥

गणी, उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि पूजित शब्द हैं। वे यदि अस्वाध्याय में स्वाध्याय करते हैं तो वह रागवश होता है। जो दूसरों के लिए प्रयुक्त गणी आदि शब्द को सहन नहीं करता और यदि अस्वाध्याय में स्वाध्याय करता है तो वह द्वेषवश होता है। जो यह मानकर अस्वाध्याय में स्वाध्याय करता है कि सबकुछ अस्वाध्यायमय है तो यह मोहवश होता है।

३२३६. उम्मायं च लभेज्जा, रोगातंकं च पाउणे दीहं।
तित्थगरभासिताओ, भस्सति सो संजमातो वा॥
३२३७. इहलोए फलमेयं, परलोए फलं न देंति विज्जाओ।
आसायणा सुतस्स उ, कुव्वति दीहं च संसारं॥

अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने से श्रुतज्ञान की आशातना होती है। उसका इहलौकिक फल है—उन्माद की प्राप्ति, रोग और आंतक की दीर्घकाल तक प्राप्ति, तीर्थंकर के वचनों से अथवा संयम से भ्रष्ट हो जाना। उसका पारलौकिक फल यह है कि श्रुतज्ञान की विद्याओं अर्थात् अंग, श्रुतस्कंध आदि के स्वाध्याय का फल है—मोक्ष की प्राप्ति। वह प्राप्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, श्रुत की आशातना संसार को दीर्घ कर देती है।

३२३८. नाणायार विराहितो, दंसणायार तहा चरित्तं च।
चरणविराधणताए, मोक्खाभावो मुणेयव्वो॥

अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने वाला ज्ञानाचार, दर्शनाचार और चारित्राचार की विराधना करता है। चरण की विराधना से मोक्ष का अभाव जानना चाहिए।

३२३९. बितियागाढे सागारियादि कालगत असति वुच्छेदे।
एतेहि कारणेहिं, जतणाए कप्पती काउं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपवादपद में इन कारणों से यतनापूर्वक अस्वाध्याय में स्वाध्याय करना कल्पता है।

१. आगाढयोग को वहन करते समय।

२. सागारिक आदि अर्थात् गृहस्थ के घर में प्रतिचारणा आदि के अनिष्ट शब्द सुनाई न दें, इसलिए।

तथा 'आदि' शब्द से कारणवश यथाच्छंद के उपाश्रय में रहते समय उनकी कल्पनाकल्पित सामाचारी सुनाई न दे, इसलिए।

३. मुनि के कालगत हो जाने पर जागरण के निमित्त।

४. जिस मुनि से अभी-अभी जो श्रुत जिसके पास ग्रहण किया है उसके मर जाने पर उस श्रुत का व्युच्छेद न हो जाए इसलिए।

३२४०. संगहमादीणट्ठाय, वायणं देति अन्नमन्नस्स।
अयमवि य संगहो च्चिय, दुविधदिसा सुत्तसंबंधो॥

संग्रह आदि के लिए श्रमण-श्रमणी एक दूसरे को वाचना देते हैं। यह भी दो प्रकार की दिशा—आचार्यदिशा और उपाध्यायदिशा संग्रह ही है। यह प्रस्तुत सूत्र के साथ संबंध है।

३२४१. ततियम्मि उ उद्देसे, दिसासु जो गणधरो समक्खातो।
सो चेव य होति इहं, परियाओ वण्णितो नवरं॥

तीसरे उद्देशक में दिशाओं (आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर तथा गणावच्छेदक) में जो गणधर—आचार्य अथवा उपाध्याय आख्यात है, वही यहां भी ज्ञातव्य है। यहां विशेषरूप से पर्याय वर्णित है।

३२४२. तेवरिस तीसियाए, जम्मण चत्ताय कप्पति उवज्झो।
बितियाय सट्ठि सतरी, य जम्म पणवास आयरिओ॥

जन्मना चालीस वर्ष वाली श्रमणी, जिसका संयम-पर्याय तीस वर्ष का है, उसको तीन वर्ष की संयम-पर्याय वाला श्रमण उपाध्याय के रूप में वाचना दे सकता है। तथा जन्मना सत्तर वर्ष वाली श्रमणी, जिसका संयम-पर्याय साठ वर्ष का है, उसको पांच वर्ष की संयम-पर्याय वाला श्रमण आचार्य के रूप में वाचना दे सकता है।

३२४३. गीताऽगीता वुड्ढा, अवुड्ढा व जाव तीसपरियागा।
अरिहति तिसंगहं सा, दुसंगहं वा भयपरेणं॥

साध्वी गीतार्थ हो अथवा अगीतार्थ, वृद्ध हो अथवा अवृद्ध तीस वर्ष के संयम-पर्याय तक वह त्रिसंग्राहिका—आचार्य, उपाध्याय तथा प्रवर्तिनी होती हैं। तीस वर्ष के पर्याय के आगे त्रिसंग्रह की भजना है—दो संग्रह हो सकते हैं—उपाध्याय अथवा प्रवर्तिनी के अतिरिक्त।

३२४४. वयपरिणता य गीता, बहुपरिवारा य निव्वियारा य।
होज्जउ अणुवज्झाया, अपवत्तिणि यावि जा सट्ठी॥

जो साध्वी वय से परिणत हैं, गीतार्थ है, बहुत परिवारा है, निर्विकार है, वह साठ वर्ष तक उपाध्याय अथवा प्रवर्तिनी के बिना रह सकती है। इस प्रकार वह द्विसंग्राहिका होती है।

३२४५. एमेव अणायरिया, थेरी गणिणी व होज्ज इतरा य।
कालगतो सण्णाय व, दिसाए धारेंति पुव्वदिसं॥

साठ वर्ष के बाद इसी प्रकार गणिनी-प्रवर्तिनी अथवा अप्रवर्तिनी स्थविरा साध्वी आचार्य की निश्रा के बिना रह सकती हैं। आचार्य के कालगत अथवा अवसन्न हो जाने पर वह आर्यिका पूर्वदिशा अर्थात् आचार्यत्व को ही धारण करती है।

३२४६. बहुपच्चवाय अज्जा, नियमा पुणऽसंगहे य परिभूता।
संगहिता पुण अज्जा थिरथावरसंजमा होति॥

आर्यिकाएं प्रत्यवाय (अपाय) बहुल होती हैं। असंग्रह होने पर नियमतः वे पराभव को प्राप्त होती हैं। जो आर्या संगृहीत होती है वह स्थिरस्थावर संयमवाली होती है।

३२४७. पेसी अइयादीया, जे पुव्वमुदाहडा अवाया उ।
ते सव्वे वत्तव्वा, दुसंगहं वण्णियंतेणं॥

पहले कल्पाध्ययन में द्विसंग्रह के वर्णन में पेशी, आर्यिका आदि शब्दों से उदाहृत जो अपाय हैं, वे सारे यहां भी वक्तव्य हैं।

३२४८. अजायविउलखंधा, लता वातेण कंपते।
जले वाऽबंधणा णावा, उवमा एसऽसंगहे॥

जिस लता का स्कंध परिपूर्ण नहीं हो जाता वह लता वायु से प्रकंपित होती है अथवा जल में बंधनरहित नौका कंपित होती है—यह आर्यिका के असंग्रह में उपमा है।

३२४९. दिट्ठंतो गुव्विणीए, कप्पट्ठगबोधिएहि कायव्वो।
गब्भत्थे रक्खंती, सामत्थं खुड्डए अगडे॥

यहां लौकिक दृष्टांत है गुर्विणी का और लोकोत्तर दृष्टांत है—कल्पस्थ तथा बोधिक (क्षुल्लक तथा चोर)। गर्भस्थ की रक्षा करते हैं। सामर्थ्य क्षुल्लक अवट। (व्याख्या अगले श्लोकों में)

३२५०. सगोत्तरायमादीसु, गब्भत्थो वि धणं सुतो।
रक्खते मायरं चेव, किमुतो जाय वड्ढितो॥

गर्भस्थ पुत्र भी स्वगोत्रीय जनों से तथा राजा आदि से धन की रक्षा करता है, जन्म लेने के बाद बड़ा होकर वह माता की रक्षा करता है।

३२५१. वणिय मए रायसिट्ठे, गब्भिणि धणमत्थि तो पसूताए।
सव्वं सुतस्स दाहं, धूयाए भत्त वीवाहं॥

एक वणिक् की भार्या गर्भवती थी। वह मर गया। किसी ने जाकर राजा से कहा—पतिविहीन गर्भिणी के पास धन है। (उसका हरण कर लेना चाहिए।) राजा ने कहा—यदि वह लड़के का प्रसव करेगी तो सारा धन लड़के को दे देंगे और यदि लड़की का प्रसव करेगी तो उसके भरण-पोषण तथा विवाह के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक धनराशि देंगे। (शेष का हरण कर देंगे।)

३२५२. लोउत्तरिए अज्जा, खुड्डगबोहिहरणीं पसरणीयं।
चोरोतरणं कूवे, सामत्थण वारणा लेड्डू॥

लोकोत्तरिक उदाहरण। एक गांव में बोधिक–मनुष्यों का अपहरण करने वाले चोर आए। उन्होंने एक आर्यिका और एक क्षुल्लक मुनि का अपहरण कर लिया। वे दोनों को एक दूसरे चोर को समर्पित कर स्वयं अन्य का अपहरण करने चले गए। वह चोर प्यास के कारण एक कुएं में पानी पीने उतरा। क्षुल्लक मुनि ने पर्यालोचन कर आर्यिकाओं से कहा–हम इस पर पत्थर फेंकें। उन्होंने इसे नहीं माना। तब क्षुल्लक मुनि ने एक बड़ा पत्थर चोर पर लुढ़काया। फिर आर्यिकाओं ने भी पत्थर बरसाकर चोर को पत्थरों से ढंक दिया। छोटे मुनि ने सबका रक्षण कर दिया।

३२५३. अतिरेगट्ठ उवट्ठा, सट्ठीपरियाय सत्तरी जम्मं।
जरपागं माणुस्सं, पडणं एक्कस्स संबंधो॥

पूर्वसूत्र में आचार्य और उपाध्याय के अतिरेक की उपस्थापना की। साठ वर्ष की व्रतपर्यायवाला तथा जन्मना सत्तर वर्ष का मनुष्य जरापाक होता है। एक का पतन–मरण हो जाना–यही सूत्रसंबंध है।

३२५४. तं चेव पुव्वभणितं, सुत्तनिवातो उ पंथ गामे वा।
गामे एगमणेगा, बहू व एमेव पंथे वि॥

जो पहले अर्थात् कल्पाध्ययन के चौथे उद्देशक में मृत संबंधी विधान किया गया, वही यहां भी जानना चाहिए। सूत्रनिपात की विशेष बात यह है कि ग्राम अथवा पंथ में, गांव में मुनि एक अथवा अनेक–दो आदि सात तक, बहुत अर्थात् सात से आगे हो सकते हैं। इसी प्रकार पंथ अर्थात् मार्ग में भी हो सकते हैं।

३२५५. एगो एगो चेव तु, दप्पभिति अणेग सत्त बहुगा वा।
कालगत गाम पंथे, वा जाणग उज्झणविधीए॥

एक–एक ही होता है। द्विप्रभृति अर्थात् सात तक अनेक होते हैं। उससे आगे बहुत होते हैं। इनमें कोई एक मुनि गांव में अथवा मार्ग में कालगत हो जाने पर मृत-परिष्ठापनविधि के ज्ञाता उक्त विधि से शव का परिष्ठापन करते हैं।

३२५६. चउरो वहंति एगो, कुसादि रक्खति उवस्सयं एगो।
एगो य समुग्घातो, इति सत्तण्हं अधाकप्पो॥

चार मुनि शव का वहन करते हैं। पांचवां कुश आदि लेकर आगे चलता है। एक उपाश्रय में रहता है और एक समुद्घात अर्थात् मर गया होता है। इस प्रकार सात मुनियों का यथाकल्प–विधिकल्प होता है।

३२५७. सत्तण्हं हेट्ठेणं, अविधी तु न कप्पती विहरिउं जे।
एगाणियस्स अविहि, उ अच्छिउं गच्छिउं वावि॥

सात मुनियों से कम से विहरण करना नहीं कल्पता, यह अविधि है। एकाकी का रहना या विहरण करना अविधि है।

३२५८. णेगाण विधिं वोच्छं, नातमनाते व पुव्वखेत्तम्मि।
दिसि थंडिल झामित बिंबमादि तीसुं पदेसेसुं॥

अनेक मुनियों की विधि कहूंगा। ज्ञात अथवा अज्ञात पूर्वक्षेत्र में दिशा का अवलोकन करना चाहिए। तीन प्रदेशों में स्थंडिल को ज्ञात करना चाहिए १. शिलातल आदि रूपवाली स्वाभाविक २. अग्नि से दग्ध भूमी अथवा बिम्ब आदि (वृक्ष)।

३२५९. णाते तु पुव्वदिट्ठं, तं चेव य थंडिलं हवति तत्थ।
अण्णातवेलपत्ता सन्नादिगता तु पेहेंति॥

ज्ञात क्षेत्र में जो पूर्वदृष्ट है वही स्थंडिल होती है। अज्ञात क्षेत्र में यदि उचित वेला में वहां पहुंचे हैं तो संज्ञा आदि के लिए जाते समय स्थंडिल की प्रेक्षा कर लेते हैं।

३२६०. अध पुण विकालपत्ताए, ता चेव उ करेंति उवओगं।
अकरण हवंति लहुगा, वेलं पत्ताण चउगुरुगा॥

यदि विकालवेला में उस क्षेत्र में पहुंचे हैं तो स्थंडिल विषयक उपयोग करते हैं, सोचते हैं। यदि उपयोग नहीं करते तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है और जो क्षेत्र में उचित वेला में पहुंचे हैं फिर भी यदि स्थंडिल विषयक उपयोग नहीं करते तो उनको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

३२६१. आणादिणो य दोसा, कालगते संभमादिसुं होज्जा।
अच्छंतमणच्छंता, विणासगरिहं च पावेंति॥

(केवल प्रायश्चित्त ही नहीं) आज्ञाभंग आदि दोष भी प्राप्त होते हैं। रात को कोई मुनि कालगत हो गया। संभ्रम आदि पैदा हो गए। उस स्थिति में यदि मुनि शव के पास बैठे रहते हैं तो अग्निसंभ्रम आदि से विनाश होता है और यदि शव को छोड़कर पलायन कर जाते हैं तो लोगों में गर्हा होती है, पलायन करने वाले मुनि गर्हा को प्राप्त होते हैं।

३२६२. तेणग्गिसभमादिसु, तप्पडिबंधेण दाह हरणं वा।
मइलेहि व छड्डेंती, गरहा य अथंडिले वावि॥

संभ्रम तीन प्रकार के हैं–स्तेनसंभ्रम, अग्निसंभ्रम तथा शत्रुसेना का संभ्रम। कालगत मुनि के प्रतिबंध से अन्य मुनि वहां ठहरते हैं तो अग्निसंभ्रम से दाह हो सकता है, स्तेनसंभ्रम से अपहरण हो सकता है। शव को मलिन वस्त्रों सहित यदि परिष्ठापित करते हैं तो गर्हा होती है। यदि इस भय से शव को अस्थंडिल में परिष्ठापित करते हैं तो अस्थंडिल के दोष प्राप्त होते हैं।

३२६३. एते दोस अपेहित, अह पुण पुव्वं तु पेहितं होंति।
ता ताहे च्चिय णिंता एते दोसा न होंता य॥

ये सारे पूर्वकथित दोष स्थंडिल की प्रत्युपेक्षा न करने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण होते हैं। यदि स्थंडिल पहले ही प्रत्युपेक्षित होती तो रात्री में मृत मुनि के शव को रात्री में ही परिष्ठापित कर देते और तब ये सारे दोष नहीं होते।

३२६४. अह पेहिते वि पुव्वं, दिया व रातो व होज्ज वाघातो।
सावय-तेण भया वा, ढक्किय ताधे य अच्छाते॥

यदि पूर्वप्रेक्षित स्थंडिल में भी श्वापद अथवा चोर के भय से व्याघात उत्पन्न हो जाए अथवा रात्री में वसति के द्वार ढंके हुए हो तो शव को वहीं आस्थापित रखते हैं, परिष्ठापन नहीं करते।

३२६५. असती सुक्किल्लाणं, दिणकालगतं निसिं विवेचंति।
परिहारितं च पच्छाकडादि कोडी दुगेणं वा॥

मुनि दिन में कालगत हुआ। सफेद वस्त्र नहीं हैं तो शव का परिष्ठापन रात्री में करते हैं। रात्री में यदि शुक्ल वस्त्र प्राप्त नहीं हों तो पश्चात्कृत (पच्छाकड) से पाडिहारिय रूप में वस्त्र की याचना करे। यदि प्राप्त न हो तो कोटिद्विक से उसका उत्पादन करे, प्राप्त करे।

३२६६. असती नीणेतु निसिं, ठवेत्तु सागारिथंडिलं पेहे।
थंडिलवाघातम्मि वि, जतणा एसेव कातव्वा॥

यदि कोटिद्विक (विशोधिकोटि तथा अविशोधिकोटि) से भी शुक्ल वस्त्र प्राप्त न हो तो रात्री में ही शव का परिष्ठापन कर दे। शय्यातर को शव के पास स्थापित कर स्वयं साधु स्थंडिल की प्रत्युपेक्षा करे। यदि स्थंडिल का व्याघात हो तो पूर्वोक्त यतना करणीय होती है।

३२६७. महल्लपुरगामे वा, दिसा वाडग साहिओ।
इहरा दुव्विभागा तु, कुग्गामे सुविभाविया॥

बड़े नगर अथवा बड़े गांव में दिशाओं का विभाग कठिन होता है। उपाश्रय, वाटक अथवा गली से निर्धारण करना चाहिए। अन्यथा दुर्विभाग हो जाएंगे। छोटे ग्राम में दिशाओं का विभाजन सुखपूर्वक होता है।

३२६८. दिसा अवर दक्खिणा य,
अवरा य पच्छिम दक्खिणा पुव्वं।
अवरुत्तरा य पुव्वा,
उत्तरपुव्वुत्तरा चेव॥

सबसे पहले पश्चिम-दक्षिण दिशा का कोण नैऋती दिशा का निरीक्षण करे। उसके अभाव में दक्षिण दिशा और उसके अभाव में पश्चिम दिशा का निरीक्षण करे। उसके अभाव में दक्षिण-पूर्व अर्थात् आग्नेयी, उसके अभाव में पश्चिम-उत्तर अर्थात् वायव्यी, उसके अभाव में पूर्व, उसके अभाव में उत्तर और उसके अभाव में उत्तर-पूर्व का निरीक्षण करे।

३२६९. समाधी अभत्तपाणे, उवगरणे झायमेव कलहो य।
भेदो गेलण्णं वा, चरिमा पुण कड्ढते अण्णं॥

३२७०. पउरण्णपाण पढमा, बितियाए भत्तपाण न लभंति।
ततियाए उवधिमादी, नत्थि चउत्थीय सज्झाओ॥

३२७१. पंचमियाय असंखड, छट्ठीय गणस्स भेदणं नियमा।
सत्तमिया गेलण्णं, मरणं पुण अट्ठमी बेंति॥

इन आठ दिग्विभागों में शव के परिष्ठापन से होने वाले हानि-लाभ–

१. पश्चिम-दक्षिण में परिष्ठापन से प्रचुर भक्तपान की समाधि–प्राप्ति।

२. दक्षिण दिशा में परिष्ठापन से भक्तपान का अभाव।

३. पश्चिम दिशा में परिष्ठापन से उपकरणों का अभाव।

४. दक्षिण-पूर्व दिशा में परिष्ठापन से स्वाध्याय का अभाव।

५. पश्चिम-उत्तर में परिष्ठापन से कलह होता है।

६. पूर्व दिशा में परिष्ठापन से निश्चित गच्छभेद।

७. उत्तर दिशा में परिष्ठापन से ग्लानत्व।

८. पूर्व-उत्तर दिशा में परिष्ठापन से अन्य मुनि के मरण का हेतु।

३२७२. रत्ति दिसा थंडिल्ले, सिल बिंबा झामिते य उस्सण्णे।
छेत्त विभत्ती सीमा, सीताणे चेव ववहारो॥

यह द्वारगाथा है। इसमें छह द्वारों का उल्लेख है–

१. रात्रीद्वार २. दिग्द्वार ३. स्थंडिलद्वार इसके तीन भेद हैं–शिलारूप, बिम्ब आदि तथा ध्यामित (दग्धभूमी) ४. उच्छन्नद्वार ५. क्षेत्रविभक्ति की सीमा ६. श्मशान। इनमें व्यवहार वक्तव्य है। (इसकी व्याख्या अगली गाथाओं में।)

३२७३. लभमाणे वा पढमाए, असतीए वाघाते वा।
ताहे अन्नाए वि, दिसाए पेहेज्ज जयणाए॥

दिग्द्वार–प्रथम दिशा यदि लभ्यमान हो तो उसमें स्थंडिल की प्रत्युपेक्षा करे। उसके अभाव में अथवा व्याघात हो जाने पर अन्य दूसरी दिशा में यतनापूर्वक स्थंडिल की प्रत्युपेक्षा करे।

३२७४. सिलायलं पसत्थं तु, रुक्खवुत्थादि फासुयं।
झामं थंडिलमादी व, बिंबादीण समीव वा॥

स्थंडिलद्वार–शिलातल प्रशस्त होता है। अथवा वृक्षों के पास जहां महान् सार्थ विश्राम करता है। अथवा दग्ध प्रदेश अथवा करीषादि प्रदेश रूप स्थंडिल में अथवा बिम्ब–वृक्षों के समीप में परिष्ठापन करे।

३२७५. उस्सण्णा तिन्नि कप्पा उ, होंति खेत्तेसु केसुई।
अथंडिला दिसासुं वा, ते वि जाणेज्ज पण्णवं॥

कई क्षेत्रों में बहुलता से आचीर्ण तीन कल्प होते हैं–अर्थात् तीनों दिशाओं में परिष्ठापन के कल्प होते हैं। प्रज्ञावान् मुनि उन स्थंडिलों तथा दिशाओं में अस्थंडिलों को जाने।

३२७६. खेत्त विभत्ते गामे, रायभए वा अदेंत सीमाए।
भोइयमादी पुच्छा, रायपधे सीममज्झे वा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी ग्राम में सभी क्षेत्र भूमियां विभक्त हो गई हों तो उनकी सीमा में शव परिष्ठापन करने की अनुमति नहीं मिलती। अनुमति न मिलने पर राजभय से उस गांव के भोजिक–प्रधान से अनुमति मांगी जाती है। उसके इंकार करने पर आयुक्त को पूछा जाता है। अनुमति न मिलने पर राजपथ पर अथवा दो गांवों की सीमा के मध्य में शव का परिष्ठापन किया जाता है।

३२७७. असतीए सीयाणे, रुंभण अन्नत्थ अपरिभोगम्मि।
असती अणुसट्ठादी, णंतग अंताइ इतरे वा॥

कोई भी स्थान न मिलने पर श्मशान में शव का परिष्ठापन कर दे। वहां यदि श्मशानपालक रोकता है तो अन्यत्र जो अनाथमृतकों का स्थान होता है वहां परिष्ठापन कर दिया जाता है। वैसे स्थान के अभाव में श्मशानपालक को अनुशिष्टि, धर्मकथा से प्रभावित करना चाहिए। फिर भी यदि वह नहीं मानता है तो मृतक के जो कपड़े हैं वे उसे देकर अनुमति लेते हैं। उन अंत-प्रांत कपड़ों से वह संतुष्ट नहीं होता है तो दूसरे नए कपड़े उसे देते हैं।

३२७८. अदसाइ अणिच्छंते, साधारणवयण दार मोत्तूणं।
सति लंभमुवारुहणं, सव्वे व विगिंचणा लंभे॥

यदि श्मशानपालक किनारी रहित कपड़े लेना न चाहे तो उसे साधारण वचनों में कहे–गांव में जाकर हम याचना करेंगे, प्राप्त होने पर तुम्हें देंगे। यह कहकर मृत कलेवर को श्मशानद्वार पर उतारकर मुनि गांव में जाते हैं। यदि किनारी वाले वस्त्र प्राप्त हो जाते हैं तो लाकर दे देते हैं। यदि प्राप्त न हों तो राजकुल में जाकर शिकायत करते हैं और राजपुरुष को साथ लेकर श्मशान में शव का प्रतिष्ठापन कर देते हैं। राजकुल में यदि समाधान न मिले तो पूर्वोक्त रूप से शव का परिष्ठापन कर दे।

३२७९. सीताणस्स वि असती, अलंभमाणे वि उवरि कायाणं।
निसिरंता जतणाए, धम्मादि पदेसनिस्साए॥

श्मशान के अभाव में तथा स्थान न मिलने पर पृथ्वीकायिक आदि कायगत स्थान में यतनापूर्वक 'धर्मास्तिकायादि-प्रदेश पर हम इस शव का परिष्ठापन करते हैं', यह मन में कल्पना कर शव को परिष्ठापित करना शुद्ध है।

३२८०. एस सत्तण्ह मज्जाया, ततो वा जे परेण तु।
हेट्ठा सत्तण्ह थोवा उ, तेसिं वोच्छामि जो विधी॥

यह मर्यादा सात मुनियों की है। उनसे आगे जो आठ आदि मुनि हों, उनकी भी यही विधि है। सात मुनियों से कम मुनियों की जो विधि है, वह मैं कहूंगा।

३२८१. पंचण्ह दोन्नि हारा, भयणा आरेण पालहारेसु।
ते चेव य कुसपडिमा, नयंति हारावहारो वा॥

यदि मुनि पांच होते हैं, एक कालगत हो जाता है तो दो मुनि उसको वहन करते हैं। (तीसरा कुश आदि ले जाता है, चौथा वसतिपाल होता है।) पांच से कम चार आदि में वसतिपाल और शववहन करने वालों का विकल्प होता है। वे ही कुश प्रतिमा को ले जाते हैं और वे ही शववहन करने वाले होते हैं।

३२८२. एक्को व दो व उवधिं, रत्तिं वेहास दिय असुण्णम्मि।
एक्कस्स वि तह चेवा, छड्डण गुरुगा य आणादी॥

यदि तीन मुनि हों और एक कालगत हो जाए तो दो मुनि रात्री में उपधि को ऊपर रखकर, एक अथवा दो मुनि उस मृतक को वहन करे। दिन में परिष्ठापन करना हो तो उपाश्रय को अशून्यकर अथवा एक मुनि वहां रहे और एक उसको वहन करे। एक के परिष्ठापन की भी यही विधि है। यदि शव का विधिपूर्वक परिष्ठापन किए बिना, ऐसे ही छोड़कर मुनि चले जाते हैं तो उन्हें चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

३२८३. गिहि-गोण-मल्ल-राउल,निवेदणा पाण कड्ढणुड्डाहो।
छक्कायाण विराधण, झामण सुक्खे य वावन्ने॥

साधुओं के अभाव में साधु के शव का गृहस्थ परिष्ठापन करते हैं। अथवा गृहस्थ बैलों से खींचकर ले जाते है। अथवा मल्लों के द्वारा शव का परिष्ठापन कराया जाता है। अथवा गृहस्थ राजकुल में निवेदन करते हैं। शव का चांडालों के द्वारा आकर्षण होने पर प्रवचन की निंदा होती है। ये प्रवचन विराधना के दोष हैं। असंयतों के द्वारा शव ले जाए जाने पर छहकाय की विराधना होती है। गृहस्थ उस शव का वहन करते हैं, तब भी छहकाय की विराधना होती है। शव के सूख जाने पर अथवा कुथित हो जाने पर द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की विराधना होती है।

३२८४. तम्हा उ विहि तं चेव, वोढुं जे जइ पच्चला।
नयंति दो वि निद्दोच्चे, सद्दोच्चे ठावए निसिं॥

यदि दो मुनि हों, रात्री में कोई भय न हो और वे दोनों उपधि और कलेवर को वहन करने में समर्थ हों तो कलेवर ले जाकर उसकी परिष्ठापना कर देते हैं। यदि रात में भय हो तो कलेवर को रातभर वहीं रखें (और दिन में विधिपूर्वक उसकी परिष्ठापना करे।)

३२८५. अह गंतुमणा चेव, तो नयंति ततो च्चिय।
ओलोयणमकुव्वंतो, असढो तत्थ सुज्झइ॥

यदि मुनियों की दूसरे गांव जाने की इच्छा हो तो वे उपकरणों को साथ ले शव का परिष्ठापन कर वहीं से अन्य ग्राम चले जाएं। अशठभाव होने के कारण आलोचना न करने पर भी वे शुद्ध हैं, दोषभाक् नहीं हैं।

३२८६. छड्डेउं जइ जंती, नायमनाता य नाए परलिंगं।
जदि कुव्वंती गुरुगा, आणादी भिक्खु दिट्ठंतो॥

यदि कालगत को वहीं छोड़कर चले जाते हैं तो सोचा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है कि वे मुनि ज्ञात हैं अथवा अज्ञात, उस ग्राम के परिचित थे अथवा अपरिचित। ग्राम का परिचय होने पर वे यदि कालगत का परलिंग[1] करते हैं तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञाभंग आदि दोष भी प्राप्त होते हैं। यहां भिक्षु का दृष्टांत है।

३२८७. अचियत्तमादि वोच्छेयमादि दोसा उ होंति परलिंगे।
अण्णात ओहि काले, अकते गुरुगा य मिच्छत्तं॥

ज्ञात होने पर यदि कलेवर का परलिंग किया जाता है तो अप्रीति आदि तथा व्युच्छेद आदि दोष उत्पन्न होते हैं। अज्ञात होने पर यदि कलेवर का परलिंग किया जाता है तो वह मृत मुनि स्वर्ग में अवधिज्ञान का प्रयोग कर यह सोच सकता है कि मैं इस लिंग से देव बना हूं—वह मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है। यदि 'काले अकृते'—समय पर कलेवर का परिष्ठापन न कर चले जाते हैं तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३२८८. एगाणिओ उ जाधे, तरेज्ज विविंचिउं तयं सो उ।
ताधे य विमग्गेज्जा, इमेण विधिणा सहाए तु॥

दो मुनियों में एक कालगत हो गया और अब वह एकाकी उस मृत कलेवर को परिष्ठापन करने में समर्थ नहीं है तब वह इस विधि से सहायकों की मार्गणा करे।

३२८९. संविग्गमसंविग्गे, सारूविय सिद्धपुत्त सण्णी य।
सग्गामम्मि य पुव्वं, सग्गामे असति परगामे॥
३२९०. अप्पाहेति सयं वा, वि गच्छती तत्थ ठाविया अण्णं।
असती निरच्चए वा, काउं ताहे व वच्चेज्जा॥
३२९१. संविग्गादी ते च्चिय, असतीए ताधे इत्थिवग्गेणं।
सिद्धी साविग संजति,किढि मज्झिमकाय तुल्ला वा॥

पहले वह अपने ग्राम में इस क्रम से मार्गणा करे—संविग्न, असंविग्न, सारूपिकसिद्धपुत्र और फिर संज्ञी अर्थात् श्रावक। स्वग्राम में इनका अभाव हो तो परग्राम में मार्गणा करनी चाहिए। परग्राम में कोई जाता हो तो उसके साथ संदेश भेजना चाहिए। उसके अभाव में कालगत के पास अन्य व्यक्ति को बिठाकर स्वयं अन्य ग्राम में जाए। यदि अन्य कोई कालगत के पास बैठने योग्य न हो तो कालगत के कलेवर को निरव्यय—सुरक्षित स्थान में रखकर स्वयं अन्य ग्राम में जाए। वहां संविग्न आदि की मार्गणा करे। यदि श्रावक पर्यंत कोई प्राप्त न हो तो स्त्रीवर्ग की मार्गणा करे। इसका क्रम यह है—सारूपिका, सिद्धपुत्री, श्राविका, वृद्धा आर्या, मध्यवयवाली आर्या अथवा तुल्यवयवाली आर्या—इनके सहयोग से मृतमुनि के कलेवर का परिष्ठापन करे।

३२९२. गण भोइए वि जुंगित, संबरमादी मुधा अणिच्छंते।
अणुसट्ठिं अदसाइं, तेहि समं तो विगिंचेइ॥

यदि तुल्यवयवाली संयतियों का अभाव हो तो गण अर्थात् मल्लगण, हस्तिपालगण, कुंभकारगण का सहयोग मांगे। न मिलने पर भोजिक—ग्राम महत्तर, जुंगिक—हीनजाति वालों, संबर आदि अर्थात् कचरा निकालनेवाले, नाखून काटने वाले, स्नानकारक, प्रक्षालक आदि इन सबसे शव परिष्ठापन के लिए सहयोग मांगे। यदि ये बिना मूल्य दिए काम करना न चाहें तो जो अन्यजुंगिक हैं, उनसे कहें। वे भी यदि बिना मूल्य के परिष्ठापन करना न चाहें तो बिना किनारी के वस्त्र देने की बात करे। उससे भी उनकी इच्छा न हो तो किनारी वाले वस्त्रों को देकर उनके सहयोग से मृत कलेवर का परिष्ठापन करे।

३२९३. अह रुंभेज्ज दारट्ठो, मुल्लं दाऊण णीणह।
अणुसट्ठादि तहिं पि, अण्णो वा भणती जदि॥

यदि नगर द्वारपाल शव को नगरद्वार से ले जाने की आज्ञा न दे और कहे कि मूल्य देकर शव को ले जाओ तब अनुशिष्टि—समझाए और धर्मकथा कहे। फिर भी यदि वह न माने और कोई धर्मकथा को सुनकर कहे—

३२९४. मुंच दाहामहं मुल्लं, उवेहं तत्थ कुव्वती।
अदसादीणि वा देती, सती साधारणं वदे॥
३२९५. जदि लब्भामु आणेमो, अलद्धे तं वियाणओ।
सो वि लोगरवाभीतो, मुंचते दारपालओ॥

छोड़ दे। मैं तुम्हारा मूल्य दे दूंगा। मुनि यह सुनकर कहने वालों की उपेक्षा करे, उसे निषेध न करे। यदि ऐसा कहने वाला वहां दूसरा न हो तो मुनि उस द्वारपाल को बिना किनारी वाला अथवा किनारी वाला कपड़ा दे। वह न चाहे तो उससे साधारण बात कहे—यदि हमें मिलेगा तो हम ले आएंगे। न मिलने पर तुम इस कलेवर के विज्ञायक हो—जिम्मेदार हो। यह सुनकर वह द्वारपाल लोगों के आक्रोश से भयभीत होकर शव को ले जाने की अनुमति दे देता है।

३२९६. अण्णाए वावि परलिंगं, जतणाए काउं वच्चती।
उवयोगट्ठा नाऊणं, एस विधी असहायए॥

अज्ञात—अपरिचित होने पर कालगत का यतनापूर्वक परलिंग कर चला जाता है। वह यतना है—इतने समय तक कालगत का उपयोगलक्षण चेतना थी। यह जानकर परलिंग नहीं किया। अब परलिंग करने में कोई दोष नहीं है।

३२९७. एतेण सुत्त न गयं, सुत्तनिवातो उ पंथ गामे वा।
एगो व अणेगो वा, हवेज्ज वीसुंभिता भिक्खू॥

प्रस्तुत सूत्र के आधार पर यह व्याख्या नहीं है। यह तो सामाचारी के प्रकाशन के लिए की गई है। सूत्रनिपात मात्र इतना ही है कि मार्ग में अथवा गांव में एक अथवा अनेक कालगत भिक्षु

१. परलिंगकरणं इति तस्य उपधिग्रहणम्। गृहीते चोपकरणे परलिंगमेव भवति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की विधि क्या है?

३२९८. एगाणियं तु गामे, दट्ठुं सोउं विगिंचण तधेव।
जा दाररुंभणं तू, एसो गामे विधी वुत्तो॥

एकाकी मुनि गांव में एक मुनि को कालगत देखकर अथवा सुनकर पूर्वोक्त विधि से उसकी परिष्ठापना करे। द्वारपाल द्वारावरोध तक की विधि को जाने। यह ग्राम विषयक विधि कही गई है।

३२९९. एमेव य पंथम्मि वि, एगमणेगे विगिंचणा विधिणा।
एत्थं जो उ विसेसो, तमहं वोच्छं समासेणं॥

इसी प्रकार मार्ग में भी एक तथा अनेक की विधिपूर्वक परिष्ठापना जाननी चाहिए। इसमें जो कुछ विशेष है वह मैं संक्षेप में कहूंगा।

३३००. एगो एगं पासति, एगो णेगे अणेग एगं वा।
णेगाऽणेगे ते पुण, संविग्गितरेव जे दिट्ठा॥

चार विकल्प हैं--

१. एक-एक को देखता है।
२. एक अनेक को देखता है।
३. अनेक एक को देखते हैं।
४. अनेक अनेक को देखते हैं।

इनमें जो दृष्ट हैं वे संविग्न हों या असंविग्न उनकी विधिपूर्वक परिष्ठापना करनी चाहिए।

३३०१. वीतिक्कंते भिन्ने, नियट्ट सोऊण पंच वि पयाइं।
मिच्छत्त अन्नपंथेण, कड्ढणा झामणा जं च॥

व्यतिक्रांत अर्थात् मृत तथा भिन्न--कुत्तों आदि द्वारा खाया गया मुनि-कलेवर के विषय में जानकर, सुनकर मुनि लौट आए और विधिपूर्वक उसकी परिष्ठापना करे। यदि सुनने के पश्चात् मुनि लौटकर नहीं आता और एक पैर भी आगे बढ़ाता है तो उसके मिथ्यात्व आदि पांचों पद प्राप्त होते हैं--मिथ्यात्व--अयथार्थवादकारित्व २. दूसरे मार्ग से गमन करने पर तन्निमित्तक प्रायश्चित्त ३. कलेवर को गृहस्थ आदि द्वारा ले जाने पर तन्निमित्तक प्रायश्चित्त ४. अग्निकाय से दहन करने पर तद्धेतुक तथा ५. सम्मूर्च्छनज प्राणियों की विराधना निमित्तक--ये पांचों प्रायश्चित्त उसे प्राप्त होते हैं।

३३०२. तं जीवातिक्कंतं, भिन्नं कुहितेयरं व सोऊणं।
एगपयं पि नियत्ते, गुरुगा उम्मग्गमादी वा॥

मुनि को जीवातिक्रांत--मृत तथा कलेवर को भिन्न, कुथित अथवा अकुथित सुनकर जो मुनि एक पैर भी आगे बढ़ाता है, लौटकर नहीं आता उसको चार गुरुमास का और उन्मार्ग आदि का प्रायश्चित्त आता है।

३३०३. आणादी पंचपदे, नियत्तणे पावए इमे वन्ने।
मिच्छत्तादी व पदे, कमविक्खेवा व जे पंच॥

मुनि को कालगत सुनकर भी जो मुनि निवर्तित नहीं होता और मृत कलेवर को छोड़कर चला जाता है उसे आज्ञा आदि पांच पद प्राप्त होते हैं--आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व, आत्म-विराधना तथा संयमविराधना। ये ही नहीं अन्य मिथ्यात्व आदि पांच पद (देखें ३३०१) भी प्राप्त होते हैं। ये ही मिथ्यात्व आदि पद द्वारगाथा (३३०१) में पदविक्षेप और क्रमविक्षेप से कहे गए हैं।

३३०४. गोणादि जत्तियाओ व, पाणजाती उ तत्थ मुच्छंति।
आगंतुगा व पाणा, जं पावंते तयं पावे॥

बैलों आदि द्वारा उस कलेवर को खींचा जाता है अथवा उस कलेवर में जितने जीवों का संम्मूर्च्छन होता है अथवा जितने आंगतुक प्राणी उसे प्राप्त करते हैं, उन सबका प्रायश्चित्त उस अनिवर्तमान मुनि को प्राप्त होता है।

३३०५. दट्ठुं वा सोउं वा, अव्वावण्णं विविंचए विधिणा।
वावण्णे परलिंगे, उवधी णातो अणातो वा॥

मुनि को कालगत देखकर या सुनकर, कलेवर यदि 'अव्यापन्न--अभिन्न हो तो उसका विधिपूर्वक परिष्ठापन कर दे। यदि कलेवर व्यापन्न--भिन्न हो तो परलिंग करके चला जाए। उसकी उपधि ज्ञात अर्थात् सांभोगिक साधु की है अथवा अज्ञात--असांभोगिक साधु की है--उसकी उपधि ले जाए।

३३०६. मा णं पेच्छंतु बहू, इति नाते वी करेति परलिंगं।
गहितम्मि व उवगरणे, परलिंगं चेव तं होति॥

इसको बहुत लोग न देखें, यह सोचकर, ज्ञात होने पर भी उस कालगत मुनि का परलिंग किया जाता है। उसके सारे उपकरण ले लेने पर पर वह परलिंग ही हो जाता है।

३३०७. सागारकडे एक्को, मणुण्ण दिण्णोग्गहो भवे बितिओ।
अमणुण्णे अप्पिणती, न गेण्हती दिज्जमाणं पि॥

उपधि संबंधी तीन अवग्रह हैं--

१. सागारकृत--मैं नहीं जानता यह उपधि कैसे साधु की है, आचार्य ही उसके ज्ञाता है। यह पहला अवग्रह है।

२. मनोज्ञ मुनि--उसकी उपधि वह आचार्य को सौंपता है। आचार्य वह उपधि उसी लाने वाले को दे देते हैं--यह दूसरा अवग्रह है।

३. अमनोज्ञ मुनि--उसकी उपधि आचार्य को समर्पित करता है और आचार्य द्वारा दी जाने पर भी वह उसे ग्रहण नहीं करता। यह तीसरा अवग्रह है।

३३०८. इतरेसिं घेत्तूणं, एगंत परिट्ठवेज्ज विधिणा उ।
अण्णाते संविग्गो, विधिम्मि कुज्जा उ घोसणयं॥

इतर अर्थात् असांभोगिक मुनियों के उपकरण लेकर एकांत में उनका विधिपूर्वक परिष्ठापन कर देना चाहिए। संविग्न की उपधि ज्ञात न होने पर विधिपूर्वक घोषणा करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३०९. उग्गह एव अधिकितो, इमेसु सुत्ता उ उग्गहे चेव।
साधम्मिय सागारिय, नाणत्तमिणं दुवेण्हं पि॥

पूर्वसूत्र में अवग्रह अधिकृत था। प्रस्तुत दो सूत्रों में भी अवग्रह का ही विषय है। पूर्वसूत्र में साधर्मिक उक्त है और प्रस्तुत में शय्यातर का विषय है। यही दोनों में नानात्व है।

३३१०. वक्कइय सालठाणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाता।
दिय रातो असियावण, भिक्खगते भुंजण गिलाणे॥

वाक्रयिकशाला के स्थान पर यदि साधु ठहरते हैं तो अनुद्घात चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। वहां से स्वामी दिन में या रात में निकाल सकता है। रात में निष्कासित करने पर अशिवापन–विनाश की प्राप्ति हो सकती है। भिक्षा के लिए गए हुए समय में अथवा भोजन के लिए स्थित उस समय अथवा ग्लान अवस्था में वहां से निष्कासित कर दिया जाता है। (व्याख्या आगे)

३३११. उव्वरियगिहं वावि, वक्कएण पउंजते।
पउत्ते तत्थ वाघातो, विणास-गरहा धुवा॥

शय्यातर अपद्वारिका गृह को भाटक पर देता है। भाटक पर दिए गृह में रहने पर व्याघात, विनाश तथा निश्चित गर्हा होती है।

३३१२. एगदेसम्मि वा दिन्ने, तन्निसा होज्ज तेणगा।
रसालदव्वगिद्धा वा, सेहमादी उ जं करे॥

शय्यातर अपने घर का एक भाग साधुओं को रहने के लिए देता है। संयतों के निश्रित उस भाग में, जब संयत वहां न हों तब, चोर वहां घुसकर विशिष्ट द्रव्यों को चुरा ले जाते हैं अथवा शैक्ष मुनि रसालद्रव्यों में गृद्ध होकर कुछ अन्यथा कर सकते हैं।

३३१३. पेहा वियार-झायादी, जे उ दोसा उदाहिता।
अच्छंते ते भवे तत्थ, वयए भिण्णकप्पता॥

जो दोष प्रेक्षा में, विचारभूमी में तथा स्वाध्याय में कहे गए हैं वे ही दोष शाला आदि के एक देश में रहने से होते हैं। यदि वहां से जाते हैं तो भिन्नकल्पता का दोष प्राप्त होता है–मासकल्प अथवा वर्षाकल्प परिपूर्ण होने से पूर्व निर्गमन करने के कारण होने वाला दोष।

३३१४. भिक्खं गतेसु वा तेसु, वक्कई बेति णीहमे।
णीणिते वावि पाले णं, उवधिस्सासियावणा॥

मुनियों के भिक्षा के लिए चले जाने पर वह वक्रयी– किराए पर शाला को लेने वाला कहता है–मेरी शाला (गृह) से निकलो। इससे भिक्षाटन तथा सूत्रार्थ का व्याघात तथा गर्हा होती है। अथवा सभी साधु भिक्षाटन के लिए गए हैं और एक साधु वसतिपाल वहां है। वह वक्रयी उसका निष्कासन करता है। इससे उपधि का अशिवापादन–विनाश हो जाता है।

३३१५. अधवा भरियभाणा उ, आगते जदि निच्छुभे।
भत्तपाणविणासो उ, भुंजएसागए इमे॥

अथवा भिक्षाटन से आए हुए भरितपात्र वाले साधुओं का निष्कासन करता है तो भक्तपान का विनाश होता है और यदि वे साधु भोजन करने के लिए बैठ गए और वह वक्रयी आता है तो ये दोष पैदा होता हैं–

३३१६. जिता अट्ठिसरक्खा वि, लोगो सव्वो वि बोट्टितो।
पगासिते य अन्नेसिं, हीला होति पवयणे॥

साधुओं को एक मंडली में भोजन करते हुए देखकर वह वक्रयी कहता है–अरे! इन्होंने तो अस्थिसरजस्क– कापालिकों को भी जीत लिया है अर्थात् उनसे भी हीन आचार वाले हैं। इन्होंने समूचे लोक को उच्छिष्ट कर डाला है, अपवित्र कर डाला है। वह दूसरे लोगों के सामने भी यही बात प्रकाशित करता है। इससे प्रवचन की हीलना होती है।

३३१७. सीतवाताभितावेहि, गिलाणो जं तु पावती।
अमंगलं भउक्खित्ते, ठाणमन्नो वि नो दए॥

ग्लान का निष्कासन करने पर वह शीत, वात और अभिताप से परितप्त होता है। उसका प्रायश्चित्त आचार्य अथवा स्पर्धकपति को आता है। ग्लान के उत्क्षिप्त होने पर अमंगल तथा भय के कारण अन्य स्थान कोई भी नहीं देता।

३३१८. गहिउत्थाणरोगेणं, उच्छंते नीणितम्मि वा।
वोसरितम्मि उड्डाहो, धरणे वातविराधणा॥

यदि ग्लान उत्थाणरोग–अतिसार रोग से गृहीत है, रोग के रहते यदि स्थान से निष्कासित होना है, उसके विसर्जन करने पर उड्डाह होता है तथा वेग को धारण करने पर आत्मविराधना होती है।

३३१९. एते दोसा जम्हा, तहियं होंति उ ठायमाणाणं।
तम्हा न ठाइयव्वं, वक्कयसालाए समणेहिं॥

वक्रयशाला में रहनेवालों के ये दोष होते हैं। इसलिए श्रमणों को वक्रयशाला में नहीं रहना चाहिए।

३३२०. एयं सुत्तं अफलं सुत्तनिवातो उ असति वसधीए।
बहिया वि य असिवादी, तु कारणे तो न वच्चंती॥

शिष्य पूछता है–यदि वक्रयशाला में नहीं रहना है तो सूत्र अफल–निरर्थक हो जाएगा। आचार्य कहते हैं–अन्य सूत्र का निपात–अवकाश है कि अन्य वसति के अभाव में तथा बाहर अशिव आदि का कारण हो तो वक्रयशाला से न जाए, वहीं ठहरे।

३३२१. एतेहि कारणेहिं, ठायंताणं इमो विधी तत्थ।
छिंदंति तत्थ कालं, उडुबद्धे वासवासे वा॥

इन कारणों से वक्रयशाला आदि में रहने वालों की यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधि है—साधु वक्रयशाला के स्वामी के समक्ष काल का छेदन करते हैं—काल की इयत्ता निश्चित करते हैं कि हम ऋतुबद्धकाल में एक मास और वर्षावास में चार मास रहेंगे। (यदि यह स्वीकार हो तो हम यहां रहेंगे, अन्यथा नहीं)

३३२२. मासचउमासियं वा, न निच्छोढेव्व उ अम्ह नियमेण।
एवं छिन्नठिताणं, वक्कइओ आगतो होज्जा॥

एक मास अथवा चार मास तक नियमतः हमें तुम निष्कासित नहीं कर सकोगे। इस प्रकार काल की इयत्ता को शय्यातर ने स्वीकार कर लिया। साधु वहां रह गए, इतने में ही वक्रयिक वहां आ गया।

३३२३. दिन्ना वा चुणएणं, अहवा लोभा सयं पि देज्जाहि।
अणुलोमिज्जति ताधे, अदेंति अणुलोमवक्कइयं॥

जहां साधु ठहरे हैं, शय्यातर का वह गृह भूभाग, शय्यातर के पुत्रों द्वारा पहले ही किराए पर वक्रयिक को दे दिया गया होता है अथवा शय्यातर लोभवश स्वयं उसे किराए पर दे देता है। वक्रयिक यदि साधुओं को वहां से निकालता है तो वहां न रहे, अन्य वसति में चले जाएं। यदि अन्य स्थान प्राप्त न हो तो उस वक्रयिक को अनुकूल करना चाहिए। फिर भी यदि वह नहीं देता है तो वक्रयिक को इस प्रकार अनुकूल करे।

३३२४. तम्मि वि अदेंत ताधे, छिन्नमछिन्ने व नेंति उडुबद्धे।
वासासुं ववहारो, उडुबद्धे कारणज्जाते॥

इतना करने पर भी यदि वह स्थान नहीं देता है तो ऋतुबद्धकाल परिपूर्ण हुआ हो अथवा अपूर्ण रहा हो तो भी साधु वहां से चले जाएं। वर्षाकाल में राजकुल में व्यवहार—न्याय के लिए मांग—करना चाहिए। ऋतुबद्ध काल में कारण हो तो व्यवहार किया जा सकता है।

३३२५. किं पुण कारणजातं, असिवोमादी उ बाहि होज्जाहि।
एतेहि कारणेहिं, अणुलोमऽणुसट्ठिपुव्वं तु॥

कारणजात क्या है? बाह्य कारण होते हैं—अशिव, अवमौदर्य आदि। इन कारणों से पहले अनुशिष्टि के द्वारा स्थान-स्वामी को अनुकूल करना चाहिए।

३३२६. सइं जंपंति रायाणो, सइं जंपंति धम्मिया।
सइं जंपंति देवावि, तं पि ताव सइं वदे॥

राजा एक ही बार वचन कहते हैं। धार्मिक भी एक ही बार वचन कहते हैं। देवता भी एक ही बार वचन कहते हैं। तुम भी एक ही बार वचन कहने वाले बनो। (वचनबद्ध होकर तुम अब हमको क्यों निकाल रहे हो?)

३३२७. अणुलोमिए समाणे, तं वा अन्नं वसहि उ देज्जाहि।
अण्णो वणुकंपाए, देज्जाही वक्कयं तस्स॥

इस प्रकार उसको अनुकूल करने पर वह वही स्थान अथवा अन्य वसति दे सकता है अथवा अन्य कोई व्यक्ति अनुकंपा से प्रेरित होकर उसका वक्रय—किराया दे देता है।

३३२८. अन्नं व देज्ज वसधिं सुद्धमसुद्धं च तत्थ ठायंति।
असती फरुसाविज्जति, न नीमु दाऊण को तंसि॥

अथवा कोई व्यक्ति शुद्ध अथवा अशुद्ध वसति दे तो वहां मुनि ठहर जाएं। अथवा अन्य वसति के न मिलने पर मूल स्थान-मालिक को कठोर वचनों में कहे—हम यहां से नहीं निकलेंगे। अपनी वसति को देकर अब तुम कौन होते हो हमें निकालने वाले?

३३२९. रायकुले ववहारो, चाउम्मासं तु दाउ निच्छुभती।
पच्छाकडो य तहियं, दाऊणमणीसरो होति॥
३३३०. पच्छाकडो भणेज्जा, अच्छउ भंडं इहं निवायम्मि।
अहयं करेमि अण्णं, तुब्भं अहवा वि तेसिं तु॥

वह यदि नहीं मानता है तो राजकुल में जाकर व्यवहार—शिकायत करे कि हमको चार मास तक स्थान देकर यह अब हमें मध्य में ही निष्कासित कर रहा है। राजपुरुष उस स्थानदाता को कहते हैं—'दान देने के बाद वह उसका मालिक नहीं होता।'

पश्चात्कृत तब भिक्षुओं से कहता है—अभी तुम जहां हो वहां निवात—एक पार्श्व में इसके भांड आदि पड़े रहे। अथवा मैं तुम्हारे लिए अन्य वसति का प्रबंध करता हूं अथवा इस स्थानस्वामी के योग्य स्थान की गवेषणा करता हूं।

३३३१. असती अण्णाते ऊ, ताधे उवेहा न पच्चणीयत्तं।
ठायंति तत्थ जंपति, चोदग कम्मादि तहिं दोसा॥

अन्य वसति के अभाव में उपेक्षा करे, (आग्रहवश) उसमें प्रत्यनीकत्व पैदा न करे, शत्रुभाव उत्पन्न न करे। शिष्य कहता है—जहां साधु रह रहे होते हैं वहां आधाकर्म आदि दोष होते हैं।

३३३२. भण्णति णिंताण तहिं, बहिया दोसा तु बहुतरा होंति।
वासासु हरित पाणा, संजमआताय कंटादी॥

आचार्य कहते हैं—ऋतुबद्धकाल में अथवा वर्षावास में बाहर निर्गमन करने पर बहुतर दोष होते हैं। वर्षावास में बाहर निर्गमन करने पर हरियाली का मर्दन तथा अन्य प्राणियों का हनन होता है, यह संयमविराधना है। कंटक आदि से आत्म-विराधना भी होती है।

३३३३. सो चेव य होइ तरो, तेसिं ठाणं तु मोत्तु जदि दिन्नं।
अह पुण सव्वं दिन्नं, तो णीणह वक्कती उ तरो॥

एक व्यक्ति को शालगृह का कुछ भाग वक्रयिक को देकर शेष भाग साधुओं को रहने के लिए देता है तो वह गृहस्वामी ही शय्यातर होता है। यदि सारा शालगृह वक्रयिक को दे देता है और वहां यदि साधु रहते हैं तो वक्रयिक शय्यातर होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३३४. अह पुण एगपदेसे, भणेज्ज अच्छह तहिं न मायंति।
वक्कइय बेति इत्थं, अच्छह नो खित्त भंडेणं॥

यदि गृहस्वामी साधुओं को कहे—आप इतने भूभाग में रह जाएं और यदि सारे साधु उतने से स्थान में न समाएं, यह देखकर यदि वक्रयिक आकर कहे—तुम यहां रहो, इस स्थान का उपयोग करो। हमारे भांडों को यहां रखने का कोई प्रयोजन नहीं है।

३३३५. तहियं दो वि तरा तू, अहवा गेण्हेज्जऽणागतं कोई।
दुल्लभ अच्चग्घतरं, नातु तहिं संकमति तस्स॥

इसमें दोनों—गृहस्वामी और वक्रयिक—शय्यातर होते हैं। अथवा कोई व्यकित भविष्य की विचारणा कर उस दुर्लभ और अत्यर्घतर (बहुत महंगी) शाला को किराए पर ले लेता है। उस स्थिति में शय्यातरपन उस वक्रयिक में संक्रांत हो जाता है।

३३३६. जाव नागच्छते भंडं, ताव अच्छह साहुणो।
एवं वक्कइतो साधू, भणंतो होति सारिओ॥

साधु उस शाला में रहने के लिए वक्रयिक से आज्ञा मांगते हैं। वह कहता है—जब तक भांड न आ जाए तब तक आप साधु यहां रह सकते हैं। साधुओं को इस प्रकार कहने वाला वक्रयिक शय्यातर होता है।

३३३७. देसं दाऊण गते, गलमाणं जदि छएज्ज वक्कइओ।
अण्णो वणुकंपाए, ताधे सागारिओ सो सिं॥

गृहस्वामी गृह का एक भाग मुनियों को देकर अन्यत्र चला गया। वह भाग चूने लगा तब वक्रयिक अथवा अन्य व्यक्ति अनुकंपावश उस चूने वाले भाग को आच्छादित करता है तो वह उन साधुओं का शय्यातर होता है।

३३३८. मोत्तूणं साधूणं, गहितो पुण वक्कओ पउत्थम्मि।
हेट्ठा उवरिम्मि ठिते, मीसम्मि पडालि ववहारो॥

साधुओं के लिए स्थान छोड़कर शेष स्थान वक्रय ने किराए पर लेकर देशांतर में प्रस्थान कर लिया। नीचे वाले भाग में वक्रयिक के भांड हैं और ऊपर वाले भाग में साधु स्थित हैं अथवा नीचे वाले भाग में साधु हैं और ऊपरवाले भाग में वक्रयिक के भांड हैं—यह मिश्र है। पडाली—कच्ची छत के विषय में व्यवहार होता है, विवाद होता है।

३३३९. हेट्ठाकतं वक्कइएण भंडं,
तस्सोवरिं वावि वसंति साधू।
भंडं ण मे उल्लइ मालबद्धे,
नो तं छयंतम्मि भवे विवाओ॥

वक्रयिक ने शाला में नीचे वाले भाग में भांड स्थापित किए और ऊपरवाले माले में साधु हैं। वक्रयिक सोचता है कि मेरे भांड मालबद्ध होने के कारण आर्द्र नहीं होते। यह सोचकर उस पडाली—कच्ची छत को आच्छादित नहीं करता तब व्यवहार—विवाद होता है।

३३४०. वक्कइय छएयव्वे, ववहारकतम्मि वक्कयं बेंति।
अकतम्मि उ साधीणं, बेति तरं दाइयं वावि॥

यदि प्रारंभ में वक्रयकाल में यह वागंतिक व्यवहार होता कि पडाली का आच्छादन वक्रयिक को कराना होगा तो वक्रयिक को कहा जा सकता था। ऐसा वागंतिक व्यवहार न होने पर स्वाधीन शय्यातर को कहा जाता है, अथवा उसके दायाद को कहा जाता है।

३३४१. अच्छयंते व दाऊणं, सयं सेज्जातरे घरं।
अणुसट्ठादि ऽणिच्छंतं, ववहारेण छावए॥

यदि कोई अन्य आच्छादन नहीं करता है तो स्वयं शय्यातर को घर देकर अर्थात् वहां जाकर अनुशासन करना चाहिए। उसे समझाना चाहिए। फिर भी यदि वह आच्छादन करना नहीं चाहता तब व्यवहार—राजकुल में विवाद को ले जाकर आच्छादन कराना चाहिए।

३३४२. एसेव कमो नियमा, कइयम्मि वि होति आणुपुव्वीए।
नवरं पुण नाणत्तं, उच्चत्ता गेण्हती सो उ॥

जो क्रम वक्रयिक वही क्रम नियमतः क्रायिक के लिए भी क्रमशः होता है। वक्रयिक से क्रयिक का यही नानात्व है कि वक्रयिक अमुक काल तक के लिए मूल्य देकर स्थान ग्रहण करता है और क्रयिक उस स्थान को उच्चत्व से अर्थात् यावज्जीवन के लिए स्वाधीन कर लेता है।

३३४३. सागारिय अहिगारे, अणुवत्तंतम्मि कोइ सो होति।
संदिट्ठो व पभू वा, विधवा सुत्तस्स संबंधो॥

सागारिक अर्थात् शय्यातर का अधिकार अनुवर्तित है। उसमें कौन शय्यातर होता है, कौन संदिष्ट अथवा प्रभु होता है—यही इस विधवा सूत्र के साथ संबंध है।

३३४४. विगयधवा खलु विधवा, धवं तु भत्तारमाहु नेरुत्ता।
धारयति धीयते वा, दधाति वा तेण तु धवो त्ति॥

विगतधवा 'विधवा' जिसका पति मर गया है वह है विधवा। निरुक्तकार धव का अर्थ भर्त्ता करते हैं। धव की व्युत्पत्ति—जो उस स्त्री को धारण करता है, जो स्त्री जिस पुरुष के द्वारा संभाली जाती है अथवा जिसके द्वारा स्त्री सर्वात्मना पुष्ट होती है, इसलिए उसे धव कहा जाता है।

३३४५. विधवा वणुण्णविज्जति,
किं पुण पिय-मात-भात-पुत्तादी।
सो पुण पभु वऽपभू वा,
अपभू पुण तत्थिमे होंति॥

विधवा की भी अनुज्ञा ली जाती है तो फिर माता, पिता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्राता, पुत्र आदि की अनुज्ञा तो ली ही जाती है। पुत्र, भ्राता आदि दो-दो प्रकार के हैं—प्रभु और अप्रभु। अप्रभु ये होते हैं—

३३४६. आदेस-दास-भइए, विरिक्क जामातिए या दिण्णा उ।
अस्सामि मास लहुओ, सेस पभूऽणुग्गहेणं वा॥

आदेश—प्राघूर्णक, दास, भृतक, विरिक्त—धन का हिस्सा लेने वाले पुत्र, भाई या अन्य, जामाता, दत्तकन्या—ये अस्वामी अर्थात् अप्रभु होते हैं। इनकी अनुज्ञा लेने से मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। शेष प्रभु होते हैं। अथवा प्रभु के द्वारा अनुगृहीत पुरुष भी प्रभु होते हैं।

३३४७. दिय रातो निच्छुभणा, अप्पभुदोसा अदिण्णदाणं च।
तम्हा उ अणुन्नवए, पभुं च पभुणा व संदिट्ठं॥

अप्रभु की अनुज्ञापना के ये दोष हैं—दिन में अथवा रात्री में वे उस स्थान से निष्कासन कर सकते हैं, अदत्तादान का दोष आता है। इसलिए प्रभु अथवा प्रभु द्वारा संदिष्ट व्यक्ति से अनुज्ञा ले।

३३४८. गहपति गिहवतिणी वा,
अविभत्तसुतो आदिन्नकण्णा वा।
पभवति निसिट्ठविहवा,
आदिट्ठे वा सयं दाउं॥

गृहपति, गृहपत्नी, अविभक्तपुत्र, अदत्तकन्या, विधवा पुत्री जो निसृष्ट—घर में ही रहती है तथा जो प्रभु द्वारा स्वयं आदिष्ट है—ये सारे प्रभु हैं। इनकी अनुज्ञा ली जा सकती है।

३३४९. उग्गहपभुम्मि दिट्ठे, कहितं पुण सो अणुण्णवेतव्वो।
अद्धाणादीएसु वि, संभावण सुत्तसंबंधो॥

अवग्रह—स्थान के स्वामी को देख लेने पर उसकी अनुज्ञा कहां लेनी चाहिए? मार्ग आदि में भी अनुज्ञा ली जा सकती है। यह संभावना सूत्रसंबंध है।

३३५०. अद्धाण पुव्वभणितं, सागारियमग्गणा इहं सुत्ते।
एगेण परिग्गहिते, सागारिय सेसए भयणा॥

मार्ग विषयक सारा वक्तव्य पूर्व किया जा चुका है। प्रस्तुत सूत्र में मार्ग में शय्यातर की मार्गणा की जाती है। किसी एक व्यक्ति ने वृक्ष आदि को परिगृहीत कर लिया है—अपना बना लिया है वह शय्यातर है, शेष की भजना है।

३३५१. दिणे दिणे जस्स उवल्लियंती,
भंडी वहंते व पडालियं वा।
सागारिए होति स एग एव,
रीढागतेसुं तु जहिं वसंति॥

दिन-दिन में जिस सार्थवाह की चलती हुई गंत्री का आश्रय लेते हैं अथवा पडालिका[1] में रहते हैं तो वह एक ही शय्यातर होता है। अवज्ञा से यत्र-तत्र गए हुए साधु जहां रात्रीवास करते हैं, उस दिन वह शय्यातर होता है।

३३५२. वीसमंता वि छायाए, जं तहिं पढमं ठिया।
चिट्ठंति पुच्छिउं ते वि, पंथिए किं जहिं वसे॥

छाया में विश्राम करने से इच्छुक साधु वहां पहले से बैठे हुए पथिकों में से पूछकर बैठे। तो फिर जहां निवास करना हो वहां तो अनुज्ञा अत्यावश्यक है।

३३५३. वसंति व जहिं रत्तिं, एगाऽणेगपरिग्गहे।
तत्तिए तु तरे कुज्जा, ठावंतेगमसंथरे॥

जो वृक्ष एक के अधीन हो अथवा अनेक पथिकों के अधीन हो, वहां यदि साधु रात्रीवास करना चाहे तो सभी को शय्यातर करे अथवा संस्तरण न हो सके तो उन पथिकों के मध्यम किसी एक को शय्यातर करे अथवा संस्तरण न हो सके तो उन पथिकों के मध्य किसी एक को शय्यातर स्थापित करे।

३३५४. सागारिय साधम्मिय, उग्गहगहणेऽणुवत्तमाणम्मि।
सत्तम अंतिमसुत्तं, ठवंति राउग्गहे थेरा॥

सागारिक अवग्रह के अनुवर्तन में साधर्मिक के अवग्रह के ग्रहण का अनुवर्तन हैं। सातवें उद्देशक के अंतिम सूत्रद्वय में स्थविर मुनि राजावग्रह स्थापित करते हैं।

३३५५. संथड मो अविलुत्तं, पडिवक्खो वा न विज्जते तस्स।
अणहिट्ठियमन्नेण व, अव्वोगड दाइ सामन्नं॥

३३५६. अव्वोगडं अविगडं संदिट्ठं वा वि जं हवेज्जाहि।
अव्वोच्छिन्न परंपरमागया तस्सेव वंसस्स॥

जो संस्तृत अर्थात् राज्य अविलुप्त है, जिसका कोई प्रतिपक्ष नहीं है, अन्य किसी ने जिस पर अधिकार नहीं किया है, जो अव्याकृत अर्थात् जो विभक्त नहीं हुआ है, जो अविकृत है, जो पूर्वराजा के द्वारा संदिष्ट है कि अमुक को राजा बनाना है अथवा अव्यवच्छिन्न है अर्थात् जो उसी वंश परंपरा से प्राप्त है—इन सबमें पूर्व अनुज्ञा का अनुवर्तन होता है।

३३५७. पुव्वाणुण्णा जा पुव्वएहि राईहि इह अणुण्णाता।
लंदो तु होति कालो, चिट्ठति जावुग्गहो तेसिं॥

पूर्वानुज्ञात का तात्पर्य है पूर्व राजाओं द्वारा अनुज्ञात। लंद का अर्थ है—काल। जितने काल तक उस वंश का अनुवर्तन होता है, उतने काल तक उनका अवग्रह रहता है। वही अवग्रह पूर्वानुज्ञात है।

३३५८. जं पुण असंथडं वा, गडं व तह वोगडं व वोच्छिण्णं।
नंदमुरियाण व जधा, वोच्छिन्नो जत्थ वंसो उ॥

३३५९. तत्थ उ अणुण्णविज्जति, भिक्खुब्भावट्ठमुग्गहो नियतं।
दिक्खादि भिक्खुभावो, अधवा ततियव्वयादी तु॥

जो राज्य असंस्तृत है अर्थात् शकट की तरह जीर्णशीर्ण है,

१. पडालिका—सार्थवाह मध्यान्ह में जहां रहते हैं, वह स्थान। अथवा निवास के लिए सामियाना बांधते हैं, वह स्थान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो व्याकृत है अर्थात् दायादों तथा अन्य वंशजों से विभाजित है, जो व्यवच्छिन्न है अर्थात् मौर्यवंशजों ने नंदवंश का व्युच्छेद कर डाला था, वैसा है—ऐसी स्थिति में अवश्यरूप से भिक्षुभाव के संपादन के लिए अनुज्ञा ली जाती है। दीक्षा आदि तथा तृतीयव्रत आदि को भिक्षुभाव कहा जाता है।

३३६०. रण्णो कालगतम्मी, अत्थिरगुरुगा अणुण्णवेंतम्मि।
आणादिणो य दोसा, विराधण इमेसु ठाणेसु॥

राजा के कालगत हो जाने पर राज्य का जो स्थिर दायाद है उसकी अनुज्ञा लेनी चाहिए। अस्थिर की अनुज्ञा लेने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष तथा आत्मविराधना और संयमविराधना के साथ-साथ इन स्थानों में विराधना होती है—

३३६१. धुवमण्णे तस्स मज्झे व, तह एक्केव मुक्कसन्नाहो।
दोण्हेगतरपदोसे, अणणुण्णवणे थिरे गुरुगा॥

अन्य वंशज अथवा उसी राजा के दायादों में से किसी एक अस्थिर व्यक्ति की अनुज्ञा लेता है तो वह यह सोचता है कि निश्चित ही मैं राजा होऊंगा, यह सोचकर वह मुक्तसन्नाह—पूर्ण निश्चिंत हो जाता है। तब दो प्रतिद्वंद्वियों में किसी एक के मन में प्रद्वेष होता है। (इससे देश से निष्कासन अथवा जीव और चारित्र से च्युत भी किया जा सकता है।) अतः जो स्थिर है उसकी अनुज्ञा लेनी चाहिए। उसकी अनुज्ञा न लेने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

३३६२. अणुण्णविते दोसा, पच्छा वा अप्पितो अवण्णा वा।
पत्ते पुव्वममंगल, निच्छुभण पदोसं पत्थारो॥

स्थिर की अनुज्ञा न लेने के ये दोष हैं—(अनुज्ञा कब—पहले, पश्चात् या मध्य में?) यदि अन्य पाषण्डियों के अनुज्ञा लेने के बाद वह अनुज्ञा लेता है तो वह राजवंशी सोचता है—मैं इनके लिए अप्रिय हूं अथवा ये मेरी अवज्ञा कर रहे हैं। यदि प्राप्त राज्य वाले व्यक्ति से पहले अनुज्ञा लेते हैं तो वह अमंगल मानकर उनका निष्कासन कर देता है अथवा प्रद्वेष से प्रस्तार अर्थात् मरवा डालता है। (इसलिए मध्य में अनुज्ञापित करना चाहिए।)

३३६३. ओधादी आभोगण, निमित्तविसएण वावि नाऊणं।
भद्दगपुव्वमणुण्णा, पंतमणाते व मज्झम्मि॥

(कैसे जाना जाए कि यह स्थिर है? भद्रक है? अथवा पूर्व में अनुज्ञापित होने पर मंगल मानने वाला है?) आचार्य कहते हैं—अवधि आदि ज्ञान से, श्रुतातिशय से अथवा निमित्तविशेष से जानकर भद्रक को पूर्व अनुज्ञापित करे, प्रांत तथा अज्ञात को मध्य में अनुज्ञापित करे।

३३६४. एतेणं विधिणा ऊ, सोऽणुण्णवितो जया वदेज्जाहि।
राया किं देमि त्ति य, जं दिण्णं अण्णराईहिं॥

इस विधि से अनुज्ञापित वह राजा यदि कहे—मैं तुम्हें क्या दूं? तब उसे कहे—जो अन्य राजाओं ने दिया वही मुझे दें।

३३६५. जाणंतो अणुजाणति, अजाणओ भणति तेहि किं दिण्णं।
पाउग्गं ति य भणिए, किं पाउग्गं इमं सुणसु॥

इस प्रकार कहने पर यदि राजा जानता है तो वह उसकी बात स्वीकार कर लेता है। यदि राजा अज्ञायक है तो कहता है—अन्य राजाओं ने क्या दिया? तब कहना चाहिए—जो निर्ग्रंथों के प्रायोग्य था वह दिया। तब राजा पुनः पूछता है— प्रायोग्य क्या है? तब कहना चाहिए प्रायोग्य यह होता है, सुनो।

३३६६. आहार-उवधि-सेज्जा,
ठाण-निसीदण-तुयट्ट-गमणादी।
थीपुरिसाण य दिक्खा,
दिण्णा णो पुव्वराईहिं॥

आहार, उपधि, शय्या—वसति, स्थान—कायोत्सर्ग भूमी, निषीदन, शयन, गमन आदि तथा स्त्री-पुरुषों की दीक्षा—ये सारी बातें अनुज्ञा द्वारा पूर्व राजाओं ने दी है। यही प्रायोग्य है।

३३६७. भद्दो सव्वं वियरति, पंतो पुण दिक्ख वज्जमितराणि।
अणुसट्ठादिमकाउं, णिंते गुरुगा य आणादी॥

यह सुनकर जो राजा भद्रक होता है वह इन सब का वितरण करता है, जो प्रांत होता है वह दीक्षा का वर्जन कर अन्य सबका वितरण करता है। उस राजा का अनुशासन माने बिना जो वहां से निर्गमन करते हैं, उनको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होता है।

३३६८. चेइय सावग पव्वइउकामअतरंत बालवुड्ढा य।
चत्ता अजंगमा वि य, अभत्ति तित्थस्स परिहाणी॥

वहां से निर्गमन करने वाले मुनियों ने चैत्यों का, प्रव्रज्या लेने के इच्छुक श्रावकों का, ग्लान, बाल, वृद्ध, तथा अजंगम—इन सबका परित्याग किया है। इससे तीर्थ की अभक्ति और परिहानि होती है।

३३६९. अच्छंताण वि गुरुगा,
अभत्ति तित्थस्स हाणि-जा वुत्ता।
भणमाण भणावेंता,
अच्छंति अणिच्छ वच्चंति॥

वहां रहने वालों को भी चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। तीर्थ की अभक्ति और परिहानि जो कही है, तो क्या करना चाहिए। वे मुनि वहां रहते हुए स्वयं स्वाध्याय या अध्ययन करते हुए दूसरों को भी कराए। फिर भी यदि राजा न चाहे तो वहां से विहार कर दे।

३३७०. अह पुण हवेज्ज दोन्नी, रज्जाइं तस्स नरवरिंदस्स।
तहियं अणुजाणंते, दोसु वि रज्जेसु अप्पबहुं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस राजा के दो राज्य हों और उसमें रहने की अनुमति देते हुए वह कहे कि दोनों में से एक में जहां आप चाहें वहां रहें। यह कहने पर मुनि लाभ विषयक अल्प-बहुत्व की मीमांसा कर जहां लाभ अधिक होता हो, वहां रहे।

३३७१. एक्कहि विदिण्णरज्जे, ऽणुण्णा एगत्थ होइ अविदिण्णं।
एगत्थ इत्थियातो, पुरिसज्जाता य एगत्थ॥

किसी एक राज्य में वितीर्ण—स्त्री, पुरुष दोनों अनुज्ञात होते हैं, किसी राज्य में अवतीर्ण—स्त्री या पुरुष अनुज्ञात होते हैं। किसी राज्य में केवल स्त्रियां अनुज्ञात होती हैं और किसी राज्य में केवल पुरुष अनुज्ञात होते हैं।

३३७२. थेरा तरुणा य तधा, दुग्गतया अड्ढया य कुलपुत्ता।
जाणवया नागरया, अब्भंतरया कुमारा य॥

इसी प्रकार कहीं स्थविर, कहीं तरुण, कहीं निर्धन, कहीं धनाढ्य, कहीं कुलपुत्र, कहीं जानपद, कहीं नागरजन, कहीं अभ्यंतरक—जो राजा के अति सन्निकट हों और कहीं कुमार—अनुज्ञात होते हैं।

३३७३. ओहीमादी णाउं, जे बहुतरया उ पव्वयंति तहिं।
ते बेंति समणुजाणसु, असती पुरिसेव जे बहुगा॥

अवधिज्ञान आदि से यह जानकर कि वहां बहुत सारे व्यक्ति प्रव्रजित होंगे तो उस राज्य की अनुज्ञा लें। अवधिज्ञान आदि के अभाव में जो बहुत पुरुष हों उनको अनुज्ञापित करे, शेष को नहीं।

३३७४. एताणि वितरति तहिं,
कम्मघणो पुण भणेज्ज तत्थ इमं।
दिट्ठा उ अमंगल्ला,
मा वा दिक्खेज्ज अच्छंता॥

प्रांत राजा भी इन सबका वितरण करता है, अनुमति दे देता है। जो कर्मघन—अर्थात् सघन कर्मवाला है वह अनुज्ञापना के अवसर पर यह कहता है—देख लिया आप संतों को, तुम सब अमंगल हो। वहां रहते हुए भी तुम किसी को दीक्षित मत करना।

३३७५. मा वा दच्छामि पुणो,
अभिक्खणं बेंति कुणति निव्विसए।
पभवंतो भणति ततो,
भरहाहिवती न सि तुमं ति॥

अथवा वह कहे, मैं पुनः देखना नहीं चाहता। तब वे मुनि बार-बार उसे स्वयं या दूसरों से निवेदन कराते हैं। यह देखकर मुनियों को देश से निष्कासित कर देता है। तब जो समर्थ होता है वह कहता है—देश से हमें निष्कासित करने वाले कौन होते हो? तुम भरताधिपति नहीं हो।

३३७६. केवइयं वा एतं, गोप्पदमेत्तं इमं तुहं रज्जं।
जं पेल्लिउं व नासिय, गम्मति य मुहुत्तमेत्तेणं॥

तुम्हारा राज्य है ही कितना! वह तो गोष्पदमात्र जितना है। उसको मुहूर्तमात्र में आक्रांत कर, नष्ट किया जा सकता हैं।

३३७७. जं होऊ तं होऊ, पभवामि अहं तु अप्पणो रज्जे।
सो भणति नीह मज्झं, रज्जातो किं बहूणा उ॥

राजा कहता है—मेरा राज्य जो है, जितना है, वह है। मैं अपने राज्य में सबकुछ करने में समर्थ हूं। तुम मेरे राज्य से निर्गमन करो। अधिक बात से क्या!

३३७८. अणुसट्ठी धम्मकहा, विज्जनिमित्तादिएहि आउट्टे।
अठिते पभुस्स करणं, जधाकतं विण्हुणा पुव्वं॥

तब मुनि राजा को अनुशासन से, धर्मकथा से, विद्या, निमित्त आदि से अनुकूल बनाए। यदि वह न माने तो दूसरे को प्रभु—राजा बनादे, जैसे पहले विष्णुकुमार ने किया था।

३३७९. वेउव्वियलद्धी वादी, सत्थे विज्ज-ओरस-बली वा।
तवलद्धिपुलागो वा, पेल्लिती तम्मितरे गुरुगा॥

जो वैक्रियलब्धिसंपन्न है, जो वादिशास्त्रों में अपराजेय है, जो विद्याबल से युक्त है, जो औरसबली है, जो तपोलब्धि अर्थात् पुलाकलब्धि से संपन्न है—ऐसा मुनि अन्य प्रभु (दूसरे को राजा) करने में समर्थ होता है। जो शक्तिसंपन्न होने पर भी अन्य प्रभु नहीं करता उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

३३८०. तं घेत्तु बंधिऊणं, पुत्तं रज्जे ठवेति तु समत्थो।
असती अणुवसमंते, निग्गंतव्वं ततो ताधे॥

जो समर्थ होता है वह उस राजा का निग्रह कर, बांधकर, पुत्र को राजा के रूप में स्थापित कर देता है। सामर्थ्य न होने पर तथा अनुशासन से उपशांत न होने पर, उस देश से निर्गमन कर देना चाहिए।

३३८१. भत्तादिफासुएणं, अलब्भमाणे य पणगहाणीए।
अद्धाणे कातव्वा, जयणा तू जा जहिं भणिया॥

मार्ग में यदि प्रासुक भक्त आदि का लाभ न हो तो पंचकहानि से यतना करनी चाहिए, जिसका जहां कथन कल्पाध्ययन में (ग्राम, नगर, अरण्य आदि के संदर्भ में) किया गया है।

सातवां उद्देशक समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठवां उद्देशक

३३८२. तध चेव उग्गहम्मी, अणुयत्तंतम्मि रायमादीणं।
साधम्मि उग्गहम्मी, सुत्तमिणं अट्ठमे पढमं॥

पूर्वोक्त प्रकार से ही राजा आदि के अवग्रह का अनुवर्तन होने के कारण प्रस्तुत सूत्र साधर्मिक अवग्रह से संबंधित यह आठवें उद्देशक का प्रथम सूत्र है। यही पूर्वसूत्र का प्रस्तुत सूत्र से संबंध है।

३३८३. गाहा घरे गिहे या, एगट्ठा होंति उग्गहे तिविधो।
उडुबद्धे वासासु य, वुड्ढावासे य नाणत्तं॥

गाहा, घर और गिह–ये तीनों एकार्थ हैं। इनके आधार पर अवग्रह भी तीन प्रकार का होता है– ऋतुबद्धसाधर्मिक अवग्रह, वर्षावाससाधर्मिक अवग्रह तथा वृद्धावास अवग्रह।

३३८४. चाउस्सालादि गिहं, तत्थ पदेसो उ अंतो बाहिं वा।
ओवासंतर मो पुण, अमुगाणं दोण्ह मज्झम्मि॥

चतुःशाल आदि गृह कहलाता है। उसके प्रदेश ये होते हैं–अंतर्, बहिर्, आसन्न, दूर, अवकाशांतर–अमुक दो के मध्य का भाग आदि।

३३८५. खेत्तस्स उ संकमणे, कारण अन्नत्थ पट्ठविज्जंतो।
पुव्वुद्दिट्ठे तम्मि उ, उडुवासे सुत्तनिद्देसो॥

किसी कारणवश आचार्य ऋतुबद्धकाल में क्षेत्र का संक्रमण–परिवर्तन करने की इच्छा से किसी को अन्यत्र प्रस्थापित करते हैं। वह साधु पूर्वोद्दिष्ट स्थान विषयक विज्ञापना करता है। यही प्रस्तुत सूत्र का कथन है।

३३८६. दीवेउं तं कज्जं, गुरुं व अन्नं व सो उ अप्पाहे।
ते वि य तं भूयत्थं, नाउं असढस्स वियरंति॥

अपने प्रयोजन का प्रकाशन करते हुए वह गुरु अथवा अन्य–उपाध्याय आदि को संदेश कहलाता है। गुरु अथवा अन्य उस तथ्य को यथार्थ जानकर उस असठ मुनि को वह शय्या और संस्तारक भूमी की आज्ञा दे देते हैं।

३३८७. अह पुण कंदप्पादीहि, मग्गती तो तु तस्स न दलंति।
एयं तु पिंडसुत्ते, पत्तेय इहं तु वोच्छामि॥

यदि वह कंदर्प आदि के निमित्त कुछ मार्गणा करता है तो उसको वह नहीं देते। यह पिंडसूत्र की व्याख्या है। अब प्रत्येक सूत्र की व्याख्या करूंगा।

३३८८. सो पुण उडुम्मि घेप्पति, संथारो वास वुड्ढवासे वा।
ठाणं फलगादी वा, उडुम्मि वासासु य दुवे वि॥

वह मुनि ऋतुबद्ध अथवा वर्षाकाल अथवा वृद्धावास के प्रायोग्य संस्तारक तथा स्थान ग्रहण करता है। ऋतुबद्धकाल में खुला स्थान तथा वर्षावास और वृद्धावास में निवातस्थान भी ग्रहण करता है। ऋतुबद्धकाल में ऊर्णादिमय संस्तारक और ग्लान आदि के लिए फलक आदि तथा वर्षावास में दोनों प्रकार के संस्तारक ग्रहण करता है।

३३८९. उडुबद्ध दुविहगहणा, लहुगो लहुगा य दोस आणादी।
झामित हिय वक्खेवे, संघट्टणमादि पलिमंथो॥

ऋतुबद्धकाल में द्विविध संस्तारक ग्रहण करे। इस संबंध में एक लघुमास तथा चार लघुमास का प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष, जल जाने पर, व्याक्षेपण–चोरों द्वारा अपहृत हो जाने पर, संघट्टन आदि पलिमंथु....। (इसकी व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

३३९०. परिसाडि अपरिसाडी, दुविधो संथारओ समासेण।
परिसाडी झुसिरेतर, एत्तो वोच्छं अपरिसाडिं॥

संस्तारक के संक्षेप में दो प्रकार हैं–परिशाटी तथा अपरिशाटी। परिशाटी के दो भेद हैं–झुषिर तथा अझुषिर। अब मैं अपरिशाटी के विषय में बताऊंगा।

३३९१. एगंगि अणेगंगी, संघातिमएतरो य एगंगी।
अझुसिरगहणे लहुगो, चउरो लहुगा य सेसेसु॥

अपरिशाटी दो प्रकार का है–एकांगिक और अनेकांगिक। एकांगिक दो प्रकार है–संघातिम तथा असंघातिम। अझुषिर संस्तारक के ग्रहण में प्रायश्चित्त है लघुमास। शेष सभी के प्रत्येक के चार-चार लघुमास का प्रायश्चित्त है।

३३९२. लहुगा य झामियम्मि य,
हरिते वि य होंति अपरिसाडिम्मि।
परिसाडिम्मि य लहुगो,
आणादिविराधणा चेव॥

अपरिशाटी संस्तारक जलने पर अथवा अपहृत हो जाने पर प्रत्येक के चार लघुमास का प्रायश्चित्त है तथा परिशाटी के जल जाने पर अथवा अपहृत हो जाने पर प्रत्येक का एक लघुमास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा आज्ञाभंग आदि दोष तथा विराधना होती है।

३३९३. विक्खेवो सुत्तादिसु, आगंतु तदुब्भवाण घट्टादी।
पलिमंथो पुव्वुत्तो, मंथिज्जति संजमो जेण॥

संस्तारक की मार्गणा में सूत्र आदि का विक्षेप–व्याघात होता है। संस्तारक में आगंतुक प्राणी (कुंथु आदि) तथा तद् उद्भव (मत्कुण आदि) का संघट्टन होता है। (तन्निमित्तक प्रायश्चित्त आता है।) पलिमंथ के विषय में पहले कहा जा चुका है। जिससे संयम मथित होता है वह है पलिमंथ।

३३९४. तम्हा उ न घेत्तव्वो, उडुम्मि दुविधो वि एस संथारो।
एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवातो उ कारणिओ॥

इसलिए ऋतुबद्ध काल में दोनों प्रकार का यह संस्तार (परिशाटी और अपरिशाटी) ग्रहण नहीं करना चाहिए। शिष्य तब कहता है–इस प्रकार कहने से तो सूत्र अफल–निरर्थक हो जाएगा। आचार्य कहते हैं–सूत्रनिपात कारणिक है अर्थात् कारणवश उसका प्रवर्तन है।

३३९५. सुत्तनिवातो तणेसु,
देस गिलाणे य उत्तमट्ठे य।
चिक्खल्ल-पाण-हरिते,
फलगाणि वि कारणज्जाते॥

सूत्रनिपात (सूत्र अवकाश) तृण, देश, ग्लान, उत्तमार्थ, चिक्खल, प्राणी, हरित, फलक भी कारणजात में। (इसकी व्याख्या आगे)

३३९६. असिवादिकारणगता,
उवधी कुत्थण अजीरगभया वा।
अझुसिरमसंधिऽबीए,
एक्कमुहे भंगसोलसगं॥

अशिवादि कारण से साधु ऐसे प्रदेश में गए जहां भूमी पर उपधि रखने से वह कुथित हो जाती है, उसके भय से अथवा अजीर्ण आदि रोग के भय से तृण लेते हैं। वे तृण अझुषिर हों, असंधी वाले हों तथा अबीजयुक्त हों, तथा एकमुख वाले हों। इन चार पदों (अझुषिर, असंधि, अबीज और एकमुख) के सोलह भंग–विकल्प होते हैं।

३३९७. कुसमादि अझुसिराइं,असंधि बीयाइ एक्कतो मुहाइं।
देसी पोरपमाणा, पडिलेहा तिन्नि वेहासं॥

कुश आदि तृण अझुषिर, असंधि और अबीज होते हैं। वे एकमुख वाले होते हैं। देशी अर्थात् अंगुष्ठ के पर्व प्रमाणवाले तृण होते हैं। उनकी प्रत्युपेक्षा तीन बार करनी होती है–प्रभात, मध्यान्ह और अपरान्ह। वसति से बाहर जाते समय उनको ऊपर टांग दिया जाता है।

३३९८. अंगुट्ठपोरमेत्ता, जिणाण थेराण होंति संडासो।
भूमीय विरल्लेउं, अवणेत्तु पमज्जते भूमि॥

जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिकों के तृण अंगुष्ठपर्वमात्र होते हैं। उनको भूमी पर बिछाने से वे यावत् संडास[1] (तक होते हैं।)[2] भूमी का प्रमार्जन करते समय उनको उठाकर फिर भूमी का प्रमार्जन किया जाता है।

३३९९. गेलण्ण उत्तिमट्ठे, उस्सग्गेणं तु वत्थसंथारो।
उभयट्ठि उट्ठिते तू, चंकमणे वेज्जकज्जे वा॥

ग्लान और उत्तमार्थ अर्थात् अनशन को प्रतिपन्न– इन दोनों के लिए उत्सर्गरूप में वस्त्र का संस्तारक करना चाहिए। उसके अभाव में अझुषिर तृण का संस्तारक मान्य है। यदि वे कठोर हों अथवा अझुषिर तृण प्राप्त न होते हों तो झुषिर तृण (शालि आदि का पलाल) का संस्तारक भी किया जा सकता है।

३४००. तद्दिवसं मलियाइं, अपरिमित सइं तुयट्ट जतणाए।
उभयट्ठि उट्ठिते तू, चंकमणे वेज्जकज्जे वा॥

३४०१. अन्नो निसिज्जति तहिं, पाणदयट्ठाय तत्थ हत्थो वा।
निक्कारणमगिलाणे, दोसा ते चेव य विकप्पो॥

तद्दिवस अर्थात् प्रतिदिन काम में लिए जाने पर वे तृण मलित हो जाते हैं, म्लान हो जाते हैं तब दूसरे अपरिमलित तृण लाए जाते हैं। एक बार उनको प्रस्तारित कर यनतापूर्वक उन पर बैठा जाता है। उभयार्थ अर्थात् उच्चार, प्रस्रवण के लिए उठने पर तथा चंक्रमण के लिए अथवा वैद्य के प्रयोजन से उठने पर अन्य उस तृण-संस्तारक पर प्राणियों की दया के लिए बैठ जाता है अथवा उस पर अपना हाथ रखे रहता है। निष्कारण अग्लान के लिए तृणमय संस्तारक ग्रहण से पूर्वोक्त दोष तथा विकल्पदोष–कल्प तथा प्रकल्प में सूचित दोष भी प्राप्त होते हैं

३४०२. अत्थरणवज्जितो तू, कप्पो उ होति पट्टदुगं ति।
तिप्पभिइं तु विकप्पो, अकारणेणं तणाभोगो॥

आस्तरणवर्जित कल्प, पट्टद्विक (संस्तारक तथा उत्तरपट्ट) प्रकल्प तथा तीन आदि संस्तारक विकल्प कहलाता है। जो अकारण तृणों का उपभोग होता है, वह भी विकल्प है।

३४०३. अधवा अझुसिरगहणे,कप्पपकप्पो समावडिय कज्जे।
झुसिरे व अझुसिरे वा, होति विकप्पो अकज्जम्मि॥

अथवा कारण में (जिनकल्पी और स्थविरकल्पी को) अझुषिर तृण लेना कल्प है, प्रयोजनवश (स्थविरकल्पी को)

---

१. अंगुष्ठ के पर्व पर तर्जनी (प्रदेशिनी) अंगुली का अग्रभाग रखने पर जो आकार बनता है वह संडास है।

२. निशीथ भाष्य १२२७ में यही गाथा है। चूर्णिकार के अनुसार प्रथम दो चरणों का अर्थ है–जिनकल्पिक के लिए तृण का परिमाण है अंगुष्ठ-पर्वमात्र और स्थविरकल्पिक के लिए है संडासप्रमाणमात्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

झुषिर तृण लेना प्रकल्प है। बिना प्रयोजन झुषिर या अझुषिर तृण लेना विकल्प है।

३४०४. जध कारणे तणाइं, उडुबद्धम्मि उ हवंति गहिताइं।
तध फलगाणि वि गेण्हे, चिक्खल्लादीहि कज्जेहिं॥

जैसे कारणवश ऋतुबद्धकाल में तृण ग्रहण किए जाते हैं वैसे ही चिक्खल आदि कारणों से फलक आदि भी लिए जाते हैं।

३४०५. अझुसिरमविद्धमफुडिय,
अगुरुय-अणिसट्ठ-वीणगहणेणं।
आयासंजम गुरुगा,
सेसाणं संजमे दोसा॥

फलकग्रहण में यतना—वह अझुषिर, अविद्ध, अस्फुटित, अगुरु—गुरुभाररहित, अनिसृष्ट—प्रातिहारिक होना चाहिए। वह वीणा की भांति लघु होना चाहिए। वह गुरु—भारी होने पर आत्मविराधना और संयमविराधना होती है। उसका चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त है। शेष प्रकार के फलकों में संयमदोष—संयम की विराधना होती है। (और उसमें प्रत्येक के लिए चार-चार लघुमास का प्रायश्चित्त है।)

३४०६. अझुसिरमादीएहिं, जा अणिसट्ठं तु पंचिगा भयणा।
अध संथड पासुद्धे, वोच्चत्थे होंति चउलहुगा॥

अझुषिर आदि पदों में अनिसृष्ट पद पांचवां है। इनमें विकल्पना इस प्रकार है। वसति में जो यथासंस्तृत संस्तारक है, उसे ग्रहण करे। उसके अभाव में पार्श्वकृत को ग्रहण करे। इसमें विपर्यास करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

३४०७. अंतोवस्सय बाहिं, निवेसणा वाडसाहिए गामे।
खेत्तंतो अन्नगामा, खेत्तबहिं वा अवोच्चत्थं॥

यदि उपाश्रय में फलक का संस्तारक प्राप्त न हो तो, बाहर से, निवेशन से, वाटक, गली से, गांव से, क्षेत्र से, अन्य ग्राम से, क्षेत्र के बाहर से लाना चाहिए। अविपर्यस्त आनयन करना चाहिए।

३४०८. सुत्तं व अत्थं च दुवे वि काउं,
भिक्खं अडंतो तु दुवे वि एसे।
लाभे सहू एति दुवे वि घेत्तुं,
लाभासती एग दुवे व हावे॥

सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी—दोनों कर, भिक्षाचरी में घूमते हुए दोनों—भिक्षा और संस्तारक—की गवेषणा करे। दोनों की प्राप्ति होने पर यदि वह समर्थ हो तो दोनों को लेकर आए। संस्तारक की गवेषणा में सूत्र अथवा सूत्र और अर्थ—दोनों को गंवा देता है।

३४०९. दुल्लभे सेज्जसंथारे, उडुबद्धम्मि कारणे।
मग्गणम्मि विधी एसो, भणितो खेत्तकालतो॥

ऋतुबद्धकाल में प्रयोजन होने पर शय्या, संस्तारक की प्राप्ति दुर्लभ होती है। क्षेत्र और काल के आधार पर उसकी यह मार्गणाविधि बताई गई है।

३४१०. उडुबद्धे कारणम्मि, अगेण्हणे लहुग गुरुग वासासु।
उडुबद्धे जं भणियं, तं चेव य सेसयं वोच्छं॥

ऋतुबद्धकाल में यदि कारण में भी संस्तारक नहीं लिया जाता है तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त और वर्षावास में संस्तारक ग्रहण न करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। ऋतुबद्धकाल में जो यतना कथित है, वही वर्षावास में होती है। शेष मैं आगे कहूंगा।

३४११. वासासु अपरिसाडी, संथारो सो अवस्स घेत्तव्वो।
मणिकुट्टिमभूमीए, तमगिण्हण चउगुरू आणा॥

वर्षाकाल में अपरिशाटी फलकस्वरूप संस्तारक अवश्य ग्रहण करना चाहिए। वसति का फर्श मणिकुट्टिम भले हो, यदि संस्तारक ग्रहण नहीं किया जाता है तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

३४१२. पाणा सीतल कुंथू, उप्पायग दीह गोम्हि सिसुणागे।
पणए य उवधि कुत्थण, मल उदकवधो अजीरादी॥

काल की शीतलता से भूमी में कुंथु आदि प्राणी सम्मूर्च्छित होते हैं, तथा उत्पादक प्राणी—भूमी फोड़कर बाहर निकलते हैं सांप, कर्णश्रृगाली, शिशुनाथ आदि दृग्गोचर होते हैं। पनक का उद्भव होता है। उपधि कुथित हो जाती है, मलिन हो जाती है। वर्षा में घूमने से अटकाय का वध होता है। उपधि के मलिन होने पर निद्रा के अभाव में अजीर्ण आदि रोग हो सकते हैं।

३४१३. तम्हा खलु घेत्तव्वो, तत्थ इमे पंच वण्णिता भेदा।
गहणे य अणुण्णवणा, एगंगिय अकुय पाउग्गे॥

इसलिए फलकरूप संस्तारक अवश्य लेना चाहिए। उसके ये पांच भेद वर्णित हैं—ग्रहण, अनुज्ञापना, एकांगिक, अकुच और प्रायोग्य।

३४१४. गहणं च जाणएणं, सेज्जाकप्पो उ जेण समधीतो।
उस्सग्गववातेहिं, सो गहणे कप्पिओ होति॥

जिसने सम्यग्रूप से पढ़ लिया है शय्याकल्प को वह शय्याग्रहणविधि को जानने वाला मुनि संस्तार का ग्रहण कर सकता है। जो उत्सर्ग और अपवाद के आधार पर ग्रहण करता है, वह कल्पिक होता है।

३४१५. अणुण्णवणाय जतणा, गहिते जतणा य होति कायव्वा।
अणुण्णवणाए लद्धे, बेंती पडिहारियं एयं॥

अनुज्ञापना में यतना तथा गृहीत में यतना होती है, वह करनी चाहिए। अनुज्ञा में संस्तारक प्राप्त होने पर कहे—यह हम प्रातिहारिक ग्रहण कर रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४१६. कालं च ठवेति तहिं, बेति य परिसाडि वज्जमप्पेहं।
अणुण्णवण जयणेसा, गहिते जतणा इमा होति॥

संस्तारक प्राप्त होने पर काल की स्थापना की जाती है (इतने समय तक हम इसको रखेंगे।) उसे कहते हैं—यह संस्तारक जीर्ण है। जो परिशटित हो जाएगा उसको छोड़कर हम इसे अर्पित कर देंगे। यह अनुज्ञापना में यतना है। ग्रहण विषयक यतना यह होती है।

३४१७. कास पुणऽप्पेयव्वो, बेति ममं जाधे तं भवे सुण्णो।
अमुगस्स सो वि सुन्नो, ताधे घरम्मि ठवेज्जाहि॥

३४१८. कहि एत्थ चेव ठाणे, पासे उवरिं च तस्स पुंजस्स।
अधवा तत्थेवच्छउ, ते वि हु नीयल्लगा अम्हं॥

यह संस्तारक हम किसको समर्पित करें? यह पूछने पर वह कहे—मुझे ही दें। फिर पूछे—यदि तुम न मिल तो? वह कहे—अमुक को तुम दे देना। फिर पूछे—यदि वह भी न मिले तो? वह कहे—मेरे घर में स्थापित कर देना। फिर पूछे—घर में कहां रखें? तब वह कहे—जहां से लिया है वहीं रख दें, यहीं रख दें, पास में रख दें, जिस पुंज के ऊपर से लिया है वहीं रख दें, अथवा तुम जहां हो वहीं उसे रख दें। उस वसति के स्वामी हमारे स्वजन हैं।

३४१९. एसा गहिते जतणा, एत्तो गेण्हंतए उ वोच्छामि।
एगो च्चिय गच्छे पुण, संघाडो गेण्हऽभिग्गहितो॥

यह ग्रहण करने की यतना है। ग्रहण करने के पश्चात् की यतना के विषय में कहूंगा। गच्छ में एक ही आभिग्रहिक संघाट संस्तारक ग्रहण करता है, दूसरा नहीं।

३४२०. आभिग्गहियस्सऽसती, वीसुं गहणे पडिच्छिउं सव्वे।
दाऊण तिन्नि गुरुणो, गेण्हंतऽण्णे जहा वुह्वं॥

आभिग्रहिक के अभाव में प्रत्येक संघाटक पृथक्-पृथक् संस्तारक ग्रहण करते हैं। उन सबको एकत्रित कर, तीन संस्तारकों को गुरु को दे दे तथा शेष संस्तारकों को रत्नाधिक के क्रम से विभाजित कर दे।

३४२१. णेगाण तु णाणत्तं, सगणेतरऽभिग्गहीण वन्नगणे।
दिट्ठोभासण लद्धे, सण्णातुद्धे पभू चेव॥

स्वगण तथा इतर अनेक आभिग्रहिकों का अन्य गणवाले मुनियों के साथ जो नानात्व है उसके छह द्वार हैं—दृष्ट, अवभाषण, लब्ध, संज्ञा, ऊर्ध्व तथा प्रभु।

३४२२. दिट्ठादिएसु एत्थं, एक्केक्के होंतिमे उ छब्भेदा।
दट्ठूण अधाभावेण, वावि सोउं च तस्सेव॥

३४२३. विप्परिणामणकधणा, वोच्छिन्ने चेव विपडिसिद्धे य।
एतेसिं तु विसेसं, वोच्छामि अधाणुपुव्वीए॥

यहां दृष्ट आदि प्रत्येक के छह-छह भेद होते हैं— दृष्टा, यथाभाव, सुन करके, विपरिणामकथन, व्यवच्छिन्न तथा विप्रतिषिद्ध। इन द्वारों की क्रमशः विशेष बात बताऊंगा।

३४२४. संथारो देहंतं, असहीण पभुं तु पासिउं पढमो।
ताधे पडिसरिऊणं, ओभासिय लद्धुमाणेति॥

एक मुनि ने देहांत—देह प्रमाण फलकस्वरूप संस्तारक को देखा। परंतु उसका स्वामी नहीं मिला। तब वह देखकर वसति में लौट आया। फिर कभी उस फलक के स्वामी से याचना कर वसति में ही आता है।

३४२५. संथारो दिट्ठो न य, तस्स पभू लहुग अकहणे गुरुणं।
कधिते व अकधिते वा, अण्णेण वि आणितो तस्स॥

मुनि वसति में आकर गुरु को यदि यह नहीं कहता है कि मैंने संस्तारक देखा है, परंतु उसका स्वामी उपलब्ध नहीं हुआ, तो उस मुनि को लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। गुरु को कहने पर अथवा न कहने पर दूसरा मुनि यदि उसे ले आता है तो भी वह संस्तारक, जिसने पहले देखा था उसी का आभाव्य है।

३४२६. बितिओ उ अन्नदिट्ठं, अहभावेणं तु लद्धुमाणेती।
पुरिमस्सेवं, सो खलु, केई साधारणं बेंति॥

पूर्वस्थिति का अजानकार दूसरा कोई मुनि अन्यदृष्ट उस संस्तारक को स्वामी की आज्ञा से प्राप्त कर यथाभाव से उसे ले आता है। फिर भी वह संस्तारक प्रथमदृष्ट मुनि का ही आभाव्य होगा। कोई उसे साधारण कहते हैं अर्थात् वह संस्तारक दोनों मुनियों का आभाव्य होगा।

३४२७. ततिओ तु गुरुसगासे, विगडिज्जंतं सुणेत्तु संथारं।
अमुगत्थ मए दिट्ठो, हिंडंतो वण्णसीसंतं॥

३४२८. गंतूण तहिं जायति, लद्धम्मी बेति अम्ह एस विधी।
अन्नदिट्ठो न कप्पति, दिट्ठो एसो उ अमुगेणं॥

३४२९. मा देज्जसि तस्सेयं, पडिसिद्धे तम्मि एस मज्झं तु।
अण्णा धम्मकधाए, आउट्टेऊण तं पुव्वं॥

३४३०. संथारगदाण फलादिलाभिणं बेति देहि संथारं।
अमुगं तु तिन्निवारा, पडिसेधेऊण तं मज्झं॥

प्रथम मुनि को गुरु के समक्ष संस्तारक विषयक आलोचना करते हुए सुनकर अथवा प्रथम मुनि को गोचरी जाते हुए अन्य मुनि से यह कहते सुनकर कि मैंने अमुक स्थान पर फलक संस्तारक देखा है, वह तीसरा मुनि उस स्थान पर जाकर संस्तारक के स्वामी से संस्तारक की याचना कर उसे प्राप्त कर फलक-स्वामी को विपरिणत करने के लिए कहता है—हमारी यह विधि (आचार) है कि अन्य द्वारा दृष्ट वस्तु दूसरे को नहीं कल्पती। अमुक मुनि ने इस संस्तारक को देखा है। तुम उसको मत देना। यदि तुम प्रतिषेध करोगे तो यह मेरा हो जाएगा। (दाता को विपरिणत करने का दूसरा प्रकार यह है) दूसरा मुनि उस संस्तारक के स्वामी को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले धर्मकथा के द्वारा अनुकूल बनाकर, उसको संस्तारक दान से होने वाले फल के लोभ का वर्णन कर उसे कहता है–देखो, तुम संस्तारक की याचना करने वाले उस मुनि को तीन बार प्रतिषेध कर फिर मुझे वह संस्तारक दे देना।

३४३१. एवं विपरिणामितेण,लभति लहुगा य होंति सगणिच्चे।
अन्नगणिच्चे गुरुगा, मायनिमित्तं भवे गुरुगो॥

यदि स्वगण का साधु इस प्रकार विपरिणामित स्वामी से संस्तरक प्राप्त करता है तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है और यदि अन्य गण का साधु ऐसा करता है तो उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि पूछने पर विपरिणमन का अपलाप करता है तो उसे मायाप्रत्ययिक एक गुरुमास का अधिक प्रायश्चित्त आता है।

३४३२. अह पुण जेणं दिट्ठो, अन्नो लद्धो तु तेण संथारो।
छिन्नो तदुवरि भावो, ताधे जो लभति तस्सेव॥

जिसने संस्तारक देखा उससे दूसरे को वह संस्तारक मिल गया। पूर्वदृष्ट मुनि को उपरिभाव अर्थात् व्यवसाय छिन्न हो गया। अतः पश्चात् जिसको प्राप्त हुआ वह संस्तारक उसकी का आभाव्य है।

३४३३. अहवा वि तिन्नि वारा,उ मग्गितो न वि य तेण लद्धो उ।
भावे छिन्नमछिन्ने, अन्नो जो लभति तस्सेव॥

अथवा जिसने देखा और स्वामी से उसकी तीन बार याचना करने पर भी तीनों बार उसे प्राप्त नहीं हुआ और यदि उस संस्तारक से उसका भाव व्यवच्छिन्न हुआ या नहीं हुआ, फिर भी जो दूसरा उसको प्राप्त करता है, उसी का वह आभाव्य है।

३४३४. एवं ता दिट्ठम्मी ओभासंते वि होंति छच्चेव।
सोउं अहभावेण व, विप्परिणामे य धम्मकधा॥
३४३५. वोच्छिन्नम्मि व भावे, अन्नो वन्नस्स जस्स देज्जाहि।
एते खलु छब्भेदा, ओभासण होंति बोधव्वा॥

जिस प्रकार दृष्टद्वार के छह भेद हैं, उसी प्रकार अवभाषित द्वार के भी छह प्रकार ज्ञातव्य हैं–१. सुनकरके २. यथाभाव से ३. विपरिणाम ४. धर्मकथा ५. व्यवच्छिन्न तथा ६. अन्य उसका।

३४३६. ओभासिते अलद्धे, अव्वोच्छिन्ने य तस्स भावे तु।
सोउं अण्णोभासति, लद्धाणीतो पुरिल्लस्स॥

याचना करने पर संस्तारक प्राप्त नहीं हुआ तथा संस्तारक का भाव भी व्यवच्छिन्न नहीं हुआ, उस स्थिति में गुरु के समक्ष उस विषयक की जाने वाली उसकी आलोचना सुनकर दूसरा व्यक्ति याचना करता है और प्राप्त कर उसको ले आता है। आचार्य कहते हैं–वह संस्तारक पूर्व मुनि का आभाव्य है।

३४३७. सेसाणि जधादिट्ठे, अह भावादीणि जाव वोच्छिन्ने।
दाराइं जोएज्जा, छट्ठ विसेसं तु वोच्छामि॥

शेष चारों द्वार यथाभाव से लेकर व्यवच्छिन्न तक जैसे दृष्ट द्वार में पूर्व भावित थे वैसे ही उनकी योजना करनी चाहिए। छट्ठे द्वार–अन्य अथवा अन्य का–में जो विशेष है वह कहूंगा।

३४३८. अच्छिन्ने अन्नोन्नं, सो वा अन्नं तु जदि स देज्जाही।
कप्पति जो तु पणइतो, तेण व अन्नेण व न कप्पे॥

प्रथमदृष्ट मुनि का संस्तारक विषयक भाव अव्यवच्छिन्न होने पर यदि कोई दूसरा मुनि जाकर पूछे और अन्य मनुष्य अन्य संस्तारक यदि दे अथवा वही संस्तारक स्वामी अन्य संस्तारक दे तब वह उसको कल्पता है। जो संस्तारक प्रणयित–याचित था वह उस स्वामी के द्वारा अथवा अन्य मनुष्य द्वारा दिए जाने पर भी नहीं कल्पता।

३४३९. लद्धद्दारे चेवं, जोए जहसंभवं तु दाराइं।
जत्तियमेत्त विसेसो, तं वोच्छामी समासेणं॥

लब्धद्वार में भी पूर्ववत् श्रुत्वा आदि द्वारों की यथासंभव योजना करे। जितनामात्र विशेष है, वह मैं संक्षेप में कहूंगा।

३४४०. ओभासितम्मि लद्धे, भणंति न तरामु एण्हि नेउं जे।
अच्छउ णेहामो पुण, कल्ले वा घेच्छिहामो त्ति॥

एक मुनि ने संस्तारक देखा, याचना की और प्राप्त कर लिया। उसने साथी मुनियों से उसे वसति में ले जाने के लिए कहा तब वे साथी मुनि बोले–अभी हम भिक्षा के लिए घूमते हुए उस संस्तारक को नहीं ले जा सकते। इसको यहीं रहने दें। पश्चात् आकर ले जाएंगे अथवा कल इसे ले जाएंगे।

३४४१. नवरि य अन्नो आगत, तेण वि सो चेव पणइतो तत्थ।
दिन्नो अन्नस्स ततो, विप्परिणामेति तह चेव॥

अन्य मुनि वहां आया। उसने भी उसी संस्तारक की याचना की। संस्तारक-स्वामी ने कहा–मैंने इसे दूसरे साधु को दे दिया है। तब वह मुनि उस संस्तारक-स्वामी को पूर्ववत् विपरिणत करता है।

३४४२. अहभावालोयण धम्मकधण वोच्छिन्नमन्नदाराणि।
णेयाइं तह चेव उ, जधेव ऊ छट्ठदारम्मि॥

यथाभावद्वार, आलोचना अर्थात् श्रुत्वाद्वार, धर्मकथन-द्वार, व्यवच्छिन्नद्वार तथा अन्यद्वार–इन पांचों द्वारों का विवरण जैसे अवभाषितद्वार में कहा गया है वैसे ही जानना चाहिए। छठा विपरिणाम द्वार कहा जा चुका है।

३४४३. सण्णातिए वि तेच्चिय, दारा नवरं इमं तु नाणत्तं।
आयरिएणाभिहितो, गेण्हउ संथारयं अज्जो॥
३४४४. सुद्धदसमीठिताणं, बेती घेच्छामि तद्दिणं चेव।
नातगिहे पडिणत्तो, मए उ संथारओ भंते!॥

संज्ञातिक द्वार में भी छह द्वार पूर्ववत् जानने चाहिए। उनमें नानात्व यह है। आचार्य ने कहा–आर्य! संस्तारक ग्रहण करो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्तारक लाओ। (मुनि गया। संज्ञातिकों—ज्ञातिगृहों में संस्तारक मिल गया।)

शुक्ला दशमी के दिन आचार्य वहां स्थित थे। उनके पास आकर बोला—भंते! मैंने ज्ञातिगृह में संस्तारक प्रतिज्ञप्त—देखा है। जिस दिन आप सोना चाहेंगे उसी दिन मैं उसे ले आऊंगा।

३४४५. विपरिणामे तहच्चिय, अन्नो गंतूण तत्थ नायगिहं।
आसन्नतरो गिण्हति, मित्तो अन्नो विमं वोत्तुं॥

३४४६. अन्ने वि तस्स नियगा, देहिह अन्नं य तस्स मम दाउं।
दुल्लभलाभममणाउं, ठियम्मि दाणं हवति सुद्धं॥

३४४७. सण्णाइगिहे अन्नो, न गेण्हते तेण असमणुण्णातो।
सति विभवे असतीए,सो वि हु न वि तेण निव्विसति॥

(पूर्व श्लोक गत मुनि के कथन को सुनकर) आसान्नतर अथवा मित्ररूप दूसरा मुनि उस ज्ञातिगृह में जाकर उस संस्तारक-स्वामी को पूर्ववत् विपरिणित करता है। वह कहता है—उस मुनि के दूसरे भी ज्ञातिजन हैं। वे उसको संस्तारक दे देंगे। अथवा यह संस्तारक मुझे दे दो और उसको दूसरा दे देना। जो अज्ञातोंछवृत्ति से जीवन यापन करने वालों को दुर्लभ लाभ वाला दान दिया जाता है वह शुद्ध होता है। (क्योंकि वह इहलोक-परलोक की आशंसा से विप्रमुक्त होता है।) तथा स्वज्ञातिगृह में अन्य मुनि अर्थात् अज्ञाति मुनि संस्तारकस्वामी द्वारा असमनुज्ञात होकर संस्तारक का ग्रहण नहीं कर सकता। मैं सज्ञाति हूं, एक बार अनुज्ञात संस्तारक का ग्रहण कर सकता हूं। विभव होने पर अथवा न होने पर भी उस आत्मीय सज्ञाति के बिना संस्तारक आदि का उपभोग नहीं कर सकता। इसलिए मुझे संस्तारक दो—इस प्रकार संस्तारकस्वामी को विपरिणत कर वह संस्तारक ले आता है। (परंतु वह संस्तारक पूर्व मुनि का होता है, जो लाया है उसका नहीं होता।)

३४४८. सेसाणि य दाराणी, तह वि य बुद्धीय भासणीयाइं।
उद्धद्दारे वि तधा, नवरं उद्धम्मि नाणत्तं॥

शेष द्वारों का भी पूर्वोक्त प्रकार से ही अपनी बुद्धि से कथन करना चाहिए। ऊर्ध्वद्वार में पूर्वोक्त प्रकार से छह भेद हैं उनमें जो नानात्व है वह यह है।

३४४९. आणेऊण न तिण्णे, वासस्स य आगमं तु नाऊणं।
मा उल्लेज्ज हु छण्णे, ठवेति मा वण्ण मग्गेज्जा॥

एक साधु ने फलक—संस्तारक प्राप्त कर लिया किंतु वर्षा आने वाली है यह जानकर उसे ला नहीं सका। उसने सोचा, यह वर्षा से भीग न जाए तथा दूसरा कोई मुनि इसकी मार्गणा न करे, इसलिए उसे एक आच्छन्न स्थान में रख दिया। (दूसरा यदि उसे ले आता है तो वह संस्तारक उसका आभाव्य नहीं होता, पूर्व मुनि का ही होता है।)

३४५०. पुच्छाए नाणत्तं, केणुद्धकतं तु पुच्छियमसिद्धे।
अन्नासढमाणीतं, पि पुरिल्ले केइ साधारं॥

यथाभावद्वार में पृच्छा विषयक नानात्व है। अन्य मुनि ने फलक—संस्तारक को भींत के सहारे खड़ा किया हुआ देखा। उसने पूछा—इसको खड़ा किसने किया है—गृहस्थ ने अथवा मुनि ने? गृहस्थ ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब असठभाव से उस संस्तारक की याचना कर वह उसे ले आया। फिर भी वह पूर्व मुनि का आभाव्य होगा, उसका नहीं। कुछ मानते हैं कि वह साधारण अथवा दोनों का आभाव्य है।

३४५१. छन्ने उद्धोवकतो, संथारो जइ वि सो अधाभावो।
तत्थ वि सामायारी, पुच्छिज्जति इतरधा लहुगो॥

यद्यपि संस्तारक यथाभाव से गृहस्थ द्वारा ऊर्ध्वकृत है फिर भी सामाचारी यह है कि गृहस्थ को पूछना चाहिए। न पूछने पर प्रायश्चित्तस्वरूप एक लघुमास आता है।

३४५२. सेसाइं तह चेव य, विप्परिणामादियाइ दाराइं।
बुद्धीय विभासेज्जा, एत्तो वुच्छं पभुद्दारं॥

शेष विपरिणाम आदि द्वार पूर्ववत् ही हैं। बुद्धि से उनका प्रतिपादन करना चाहिए। अब आगे प्रभुद्वार का वर्णन करूंगा।

३४५३. पभुदारे वी एवं, नवरं पुण तत्थ होति अहभावे।
एगेण पुत्त जाइय, बितिएण पिता तु तस्सेव॥

प्रभुद्वार में भी वे ही छह द्वार है। यथाभाव में नानात्व है। एक मुनि ने यथाभाव से संस्तारकस्वामी के पुत्र से संस्तारक की याचना की और दूसरे मुनि ने उसी के पिता से संस्तारक की याचना की।

३४५४. जो पभुतरओ तेसिं, अधवा दोहिं पि जस्स दिन्नं तु।
अपभुम्मि लहू आणा, एगतरपदोसतो जं च॥

पिता-पुत्र में जो प्रभुतर है उसने जिसको संस्तारक दिया, वह उसका होगा। अथवा पिता-पुत्र दोनों प्रभु हैं और दोनों ने मिलकर जिसको दिया है, वह उसका होगा। अप्रभु से ग्रहण करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष तथा पिता-पुत्र में से किसी एक के प्रद्विष्ट हो जाने पर उसका प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।

३४५५. अहवा दोन्नि वि पहुणो, ताधे साधारणं तु दोण्हं पि।
विप्पणामादीणि तु, सेसाणि तधेव भावेज्जा॥

अथवा पिता और पुत्र दोनों प्रभु हैं और दोनों ने पृथक्-पृथक् रूप से दो मुनियों को दिया है तो वह दोनों मुनियों का साधारण है, दोनों का है। विपरिणाम आदि शेष द्वार पूर्ववत् कथनीय हैं।

३४५६. एस विधी तू भणितो, जहियं संघाडएहि मग्गंति।
संघाडेहऽलभंता, ताहे वंदेण मग्गंति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक साधु जहां संस्तारक की मार्गणा करता है, लाता है, वहां यह आभवन विधि कथित है। यदि प्रत्येक मुनि को संस्तारक प्राप्त नहीं होता तब साधुओं का समुदाय उसकी मार्गणा करता है।

३४५७. वंदेणं तह चेव य, गहणुण्णवणाइ तो विधी एसो।
नवरं पुण नाणत्तं, अप्पिणणे होति नातव्वं॥

साधु समुदाय के लिए भी संस्तारक की मार्गणा, ग्रहण तथा अनुज्ञापना आदि के विषय में वही पूर्वोक्त विधि है। उसके अर्पण में नानात्व ज्ञातव्य है।

३४५८. सव्वे वि दिट्ठरूवे करेहि पुण्णम्मि अम्ह एगतरो।
अण्णो वा वाघातो, अप्पेहिति जं भणसि तस्स॥

संस्तारकस्वामी को कहते हैं—तुम हम सभी साधुओं को भली प्रकार से देख लो, जान लो। वर्षाकाल पूर्ण होने पर हमारे में से कोई एक साधु संस्तारक तुमको अर्पित कर देगा। यदि कोई व्याघात होगा तो दूसरा मुनि तुम जिसको संदिष्ट करोगे उसको समर्पित कर देगा।

३४५९. एवं ता सग्गामे, असती आणेज्ज अण्णगामातो।
सुत्तत्थे काऊणं, मग्गति भिक्खं तु अडमाणो॥

इस प्रकार अपने ग्राम में संस्तारक आनयन की विधि बतलाई गई है। स्वग्राम में संस्तारक के अभाव में अन्य ग्राम से भी वह लाया जा सकता है। सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी संपन्न कर मुनि भिक्षा के लिए घूमता हुआ संस्तारक की मार्गणा करता है।

३४६०. अद्दिट्ठे सामिम्मि उ, वसिउं आणेति बितियदिवसम्मि।
खेत्तम्मी उ असंते, आणयणं खेत्तबहिया उ॥

यदि संस्तारकस्वामी वहां दिखाई न दे तो उसी ग्राम में रहकर दूसरे दिन संस्तारक की अनुज्ञा लेकर उसे ले आए। यदि स्वक्षेत्र में संस्तारक प्राप्त न हो तो अपने क्षेत्र से बाह्य अन्य क्षेत्र से भी लाया जाए।

३४६१. सव्वेहि आगतेहिं, दाउं गुरुणो उ सेस जहवुड्ढं।
संथारे घेत्तूणं, आवासे होतऽणुण्णवणा॥

सभी मुनि संस्तारकों को लेकर आ जाने पर पहले गुरु को तीन संस्तारक दे, फिर यथावृद्ध—यथा रत्नाधिक के क्रम से संस्तारक वितरित करे। संस्तारकों को लेकर फिर अवकाश—स्थान की अनुज्ञापना होती है।

३४६२. जो पुव्व अणुण्णवितो, पेसिज्जंते ण होंति ओगासे।
हेट्ठिल्ले सुत्तम्मि, तस्सावसरो इहं पत्तो॥

जो पहले अधस्तनसूत्र अर्थात् प्रथम पिंडसूत्र में प्रेष्यमाण के लिए अवकाश अनुज्ञापित नहीं हुआ है उसका अब अवसर प्राप्त है।

३४६३. नाऊण सुद्धभावं, थेरा वितरंति तं तु ओगासं।
सेसाण वि जो जस्स उ, पाउग्गो तस्स तं देंति॥

स्थविर अर्थात् आचार्य प्रेष्यमाण के शुद्धभाव को जानकर उसको अवकाश वितरित करते हैं। शेष मुनियों को भी जिसके लिए जो अवकाश प्रायोग्य है, वह उसको देते हैं।

३४६४. खेल निवात पवाते, काल गिलाणे य सेह पडियरए।
समविसमे पडिपुच्छा, आसंखडिए अणुण्णवणा॥

जिसके स्थान-विशेष के कारण श्लेष्मा बढ़ता है, उसे आचार्य अवकाशांतर की अनुज्ञा देते हैं। निवात वाले को प्रवात की और प्रवात वाले को निवात की अनुज्ञा, कालग्रही के द्वारमूल, ग्लान और शैक्ष के लिए प्रतिचारक, सम-विषम भूमी वाले को समतल भूमी, जो बार-बार जिसको प्रतिपृच्छा करता है, उसको उसके पास, आसंखडिक को अपने-अपने गुरु के पास बैठने की अनुज्ञापना करते हैं।

३४६५. एवमणुण्णवणाए, एतं दारं इहं परिसमत्तं।
एगंगियादि दारा, एत्तो उड्ढं पवक्खामि॥

इस प्रकार अनुज्ञापना द्वार यहां परिसमाप्त हुआ। इससे आगे एकांगिक आदि द्वारों की प्ररूपणा करूंगा।

३४६६. असंघतिमेव फलगं, घेत्तव्वं तस्स असति संघाइं।
दोमादि तस्स असती, गेण्हेज्ज अधाकडा कंबी॥

असंघातिम फलक ही ग्रहण करना चाहिए। उसके अभाव में संघातिम फलक लिया जा सकता है। वह द्व्यादि फलक वाला हो अर्थात् दो, तीन, चार फलकात्मक भी ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार के फलक संघातात्मक संस्तारक के अभाव में यथाकृत कंबी ( ) से संस्तारक बना ले।

३४६७. दोमादि संतराणि उ, करेति मा तत्थ तू णमंतेहिं।
संथरए अण्णोण्णे, पाणादिविराधणा हुज्जा॥

द्वि आदि नमनशील फलकों को सांतर कर संस्तारक बनाता है। वह इसलिए कि नमनशील फलकों के अन्योन्य संस्तारक से प्राण आदि की विराधना न हो।

३४६८. कुयबंधणम्मि लहुगा, विराधणा होति संजमाताए।
सिढिलिज्जंतम्मि जधा, विराधणा होति पाणाणं॥

३४६९. पवडेज्ज व दुब्बद्धे, विराधणा तत्थ होति आयाए।
जम्हा एते दोसा, तम्हा उ कुयं न बंधेज्जा॥

कुच बंधन वाले अर्थात् हिलने-डुलने वाले, शिथिल बंधन वाले संस्तारक को ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त है चार लघुमास का तथा इससे संयमविराधना और आत्मविराधना दोनों होती हैं। शिथिलबंधन के कारण प्राणियों की विराधना होती है—यह संयमविराधना है। दुर्बद्ध होने पर सोने वाला गिर सकता है—यह आत्मविराधना है। ये दोष होते हैं, इसलिए कुच अर्थात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिथिलबंधन से न बांधे, गाढ़ बंधन से बांधे।

३४७०. तद्दिवसं पडिलेहा, ईसी उक्खेउ हेट्ठ उवरिं च।
रयहरणेणं भंडं, अंके भूमीय वा काउं॥

उस संस्तारक आदि भांड को गोद में अथवा भूमी पर कुछ ऊपर उठा कर ऊपर और नीचे से रजोहरण के द्वारा उसकी तद्दिवस अर्थात् प्रतिदिन प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए।

३४७१. एवं तु दोन्नि वारा, पडिलेहा तस्स होति कायव्वा।
सव्वे बंधे मोत्तुं, पडिलेहा होति पक्खस्स॥

इस प्रकार दिन में दो बार उसकी प्रत्युपेक्षा करनी होती है। एक पक्ष में उस संस्तारक के सारे बंधन खोलकर प्रत्युपेक्षा करनी होती है।

३४७२. उग्गममादी सुद्धो, गहणादी जो व वण्णितो एस।
एसो खलु पाउग्गो, हेट्ठिमसुत्ते व जो भणितो॥

जो उद्गम आदि दोषों से विशुद्ध अथवा ग्रहणादि में जो उपवर्णित है, अथवा अधस्तन सूत्र में जो वर्णित है, वह प्रायोग्य है।

३४७३. कज्जम्मि समत्तम्मी, अप्पेयव्वो अणप्पिणे लहुगा।
आणादीया दोसा, बितियं उट्ठाण हित दट्ठो॥

कार्य समाप्त हो जाने पर संस्तारक को अर्पित कर देना चाहिए। अर्पित न करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। अपवादपद में यदि रोग का उत्थान हो जाए, चोर अपहृत कर ले अथवा जल जाए तो अर्पित नहीं किया जा सकता है।

३४७४. वुड्ढावासे चेवं, गहणादि पदा उ होंति नायव्वा।
नाणत्त खेत्त-काले, अप्पडिहारी य सो नियमा॥

वृद्धावास में भी ग्रहण आदि पद पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञातव्य होते हैं। यहां नानात्व यह है—क्षेत्र और काल के अनुसार तथा नियमतः अप्रतिहारी संस्तारक ग्रहण करना चाहिए।

३४७५. काले जा पंचाहं, परेण वा खेत्त जाव बत्तीसा।
अप्पडिहारी असती, मंगलमादी तु पुव्वुत्ता॥

वृद्धावास में काल की अपेक्षा से उत्कर्षतः पांच दिन के भीतर संस्तारक लाना चाहिए। क्षेत्र की अपेक्षा से बत्तीस योजन से अप्रातिहारिक संस्तारक लाया जाए। उसके अभाव में पूर्वोक्त मंगल आदि का प्रयोग करना चाहिए।

३४७६. वुड्ढो खलु समधिकितो, अजंगमो सो य जंगमविसेसो।
अविरहितो वा वुत्तो, सहायरहिते इमा जतणा॥

पूर्वसूत्र में अजंगम—जंघाबलपरिहीन वृद्ध समधिकृत था। प्रस्तुत सूत्र में सहायरहित वृद्ध अधिकृत है। उसकी यह यतना है।

३४७७. दंड विदंडे लट्ठी, विलट्ठि चम्मो य चम्मकोसे य।
चम्मस्स य जे छेदा, थेरा वि य जे जराजुण्णा॥

जो स्थविर हैं तथा जराजीर्ण हैं, उनको ये कल्पते हैं—दंड, विदंड, यष्टि, वियष्टि, चर्म, चर्मकोश तथा चर्मपरिच्छेदनक।

३४७८. आयवताणनिमित्तं, छत्तं दंडस्स कारणं वुत्तं।
कीस ठवेती पुच्छा, स दिग्घ थूरो व दुग्गट्ठा॥

वे आतप के त्राण के लिए छत्र धारण करते हैं। विदंड रखने का कारण पहले निशीथ में बताया जा चुका है। पृच्छा है कि वे दंड क्यों रखते हैं? दंड दीर्घ और स्थिर होता है। दुर्ग में व्याघ्र आदि के निवारण के निमित्त उसको रखा जाता है।

३४७९. भंडं पडिग्गहं खलु, उच्चारादी य मत्तगा तिन्नि।
अहवा भंडगगहणे, णेगविधं भंडगं जोग्गं॥

भंड का अर्थ है—पात्र। वह तीन प्रकार का है—उच्चारपात्र, प्रस्रवणपात्र तथा श्लेष्मपात्र। अथवा भांडक के ग्रहण से अनेक प्रकार के योग्य भांडकों का ग्रहण किया गया है।

३४८०. चेलग्गहणे कप्पा, तस-थावर जीवदेहनिप्फण्णा।
दोरेतरा व चिलिमिणि, चम्मं तलिगा व कत्तिव्वा॥

चेल ग्रहण से त्रस-स्थावर जीवों के शरीर से निष्पन्न कल्प गृहीत हैं। चिलिमिलि अर्थात् यवनिका। वह दवरकमयी अथवा बिना दवरक की भी हो सकती है। चर्ममयतलिका अर्थात् पादत्राण अथवा कृत्ति—चर्म—यह औपग्रहिक उपकरण है।

३४८१. अंगुट्ठ अवर पण्हिं, नह कोसग छेदणं तु जे वज्झा।
तें छिन्नसंधणट्ठा, दुखंड संधाणहेउं वा॥

अंगुष्ठ तथा दोनों एड़ियों तथा उसके उपरी भाग की रक्षा के लिए चर्ममय कोश रखा जाता है। चर्मछेदनक तथा वध्रा (वध्री)—चर्ममयरस्सी छिन्न का संधान करने के लिए तथा दो खंडों को जोड़ने के लिए रखी जाती है।

३४८२. जदि उ ठवेति असुण्णे, न य बेती देज्जहेत्थ ओधाणं।
लहुगो सुण्णे लहुगा, हितम्मि जं जत्थ पावति तु॥

जो अपने उपकरणों को अशून्य अर्थात् एकांतरहित में रखता है और किसी को यह नहीं कहता कि इनका उपयोग रखना, सावधानी रखना तो उसको लघुमास का प्रायश्चित्त तथा शून्य में रखने पर चार लघुमास का तथा अपहृत होने पर जिन उपकरणों का जो प्रायश्चित्त है वह प्राप्त होता है।

३४८३. एयं सुत्तं अफलं, जं भणितं कप्पति त्ति थेरस्स।
भण्णति सुत्तनिवातो, अतीमहल्लस्स थेरस्स॥

शिष्य ने कहा—सूत्र अफल—निरर्थक हो जाएगा क्योंकि कहा है कि स्थविर को अशून्य स्थान में उपकरण रखना कल्पता है। आचार्य कहते हैं—इस सूत्र का निपात अतिमहान् स्थविर के लिए है।

३४८४. गच्छाणुकंपणिज्जो, जेहि ठवेऊण कारणेहिं तु।
हिंडति जुण्णमहल्लो, तं सुण वोच्छं समासेणं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह महान् स्थविर गच्छ के लिए अनुकंपनीय होता है। वह जीर्ण महान् स्थविर जिस कारण से उपकरण रखकर भिक्षा के लिए जाता है, उसको मैं संक्षेप में कहूंगा, तुम सुनो।

३४८५. सो पुण गच्छेण समं, गंतूण अजंगमो न चाएति।
गच्छाणुकंपणिज्जो, हिंडति थेरो पयत्तेणं॥

वह अजंगम वृद्ध गच्छ के साथ जाने में असमर्थ होता है। वह गच्छ के लिए अनुकंपनीय स्थविर प्रयत्नपूर्वक भिक्षा के लिए घूमता है।

३४८६. अतक्किय उवधिणा ऊ,
भणिता थेरा अलोभणिज्जम्मि।
संकमणे पट्ठवणं,
पुरतो समगं च जतणाए॥

क्षेत्र संक्रमण करते हुए जो स्थविर अतर्कणीय तथा आलोचनीय (अत्यंत सामान्य) उपधि को प्रस्थापित कर चलता है उसे आचार्य ने महान् स्थविर कहा है। उसे आचार्य आगे साधुओं के साथ अथवा अपने साथ यतनापूर्वक प्रस्थापित करते हैं, ले जाते हैं।

३४८७. संघाडग एगेण व, समगं गेण्हंति सभय ते उवधिं।
कितिकम्मदवं पढमा, करेंति तेसिं असति एगो॥

यदि वह साधु संघाटक के साथ अथवा एक साधु के साथ जाता है तो उसके उपकरण वे साधु वहन करते हैं। यदि भयसहित स्थान हो तो भी सारे उपकरण लेकर स्थविर को यथाजात कर आगे चलाते हैं। फिर साथवाले साधु कृतिकर्म करते हैं, फिर उसे पानी पिलाते हैं, फिर प्रथमालिका– प्रातराश कराते हैं। दो साधुओं के अभाव में अकेला साधु भी ये सारी क्रियाएं करता है।

३४८८. जइ गच्छेज्जाहि गणो, पुरतो पंथे य सो फिडिज्जाहि।
तत्थ उ ठवेज्ज एगं, रिक्कं पडिपंथगप्पाहे॥

यदि गण जा रहा है तो अकेले स्थविर को आगे प्रस्थान करा देना चाहिए। स्थविर आगे चलते-चलते मार्ग से भटक सकता है। तब गण के एक साधु को बिना उपकरण के उस स्थान पर स्थापित कर प्रतिनिवर्तमान किसी व्यक्ति के साथ यह संदेश कहलाना चाहिए–'गच्छ आगे जा रहा है, तुम त्वरित आ जाओ।'

३४८९. सारिक्खकड्ढणीए, अधवा वातेण होज्ज पुट्ठो उ।
एवं फिडितो होज्जा, अधवा वी परिरएणं तू॥

३४९०. कालगते व सहाए, फिडितो अधवावि संभमो होज्जा।
पढमबितिओदएण व, गामपविट्ठो व जो हुज्जा॥

भटकाव कैसे ?

सादृश्यकर्षिनी–आगे जाते हुए साधुओं को देखकर सदृश साधुओं की अनुभूति से कुपथ पर बढ़ जाना अथवा शरीर वायु से स्पृष्ट हो जाए, वायु से जकड़ जाए, इस प्रकार वह भटक जाता है अथवा वह नदी, पर्वत आदि के परिरय–घुमाव से भटक जाता है अथवा सहायक मुनि के कालगत हो जाने पर एकाकी होने के कारण अथवा कोई संभ्रम हो जाने पर अथवा प्रथम-द्वितीय परीषह अर्थात् भूख और प्यास से पीड़ित होने पर वह स्थविर गांव में प्रविष्ट हुआ और गण सार्थ के साथ त्वरित गति से चला गया तो वह स्थविर पीछे रह जाता है, भटक जाता है।

३४९१. एतेहि कारणेहिं, फिडितो जो अट्ठमं तु काऊणं।
अणहिंडंतो मग्गति, इतरे वि य तं विमग्गंति॥

जो स्थविर इन कारणों से गच्छ से बिछुड़ गया है, वह अष्टम (तेले की तपस्या) करके भिक्षा के लिए न घूमता हुआ गच्छ की मार्गणा करता है और गच्छ के दूसरे मुनि भी उस स्थविर की विमार्गणा करते हैं।

३४९२. अध पुण न संथरेज्जा, तो गहितेणेव हिंडती भिक्खं।
जइ न तरेज्जाहि ततो, ठवेज्ज ताधे असुन्नम्मि॥

यदि इस प्रकार वह गच्छ की गवेषणा नहीं कर सकता तो उपकरणों को साथ में ले भिक्षा के लिए घूमता है। यदि वह उपकरणों को साथ में रखने में समर्थ न हो तो उपकरणों को अशून्य प्रदेश में स्थापित कर दे।

३४९३. अध पुण ठवेज्जिमेहिं,
तु सुन्नऽग्गिकम्मि कुच्छिएसुं वा।
नाणुण्णवेज्ज दीहं,
बहुभुंज पडिच्छते पत्तं॥

३४९४. तिसु लहुग दोसु लहुगो, खद्धाइयणे य चउलहू होंति।
चउगुरुग संखडीए, अप्पत्तपडिच्छमाणस्स॥

यदि इन स्थानों में उपकरण रखता है तो प्रायश्चित्त आता है। शून्य स्थान में रखने से, अग्निकर्मिक–लुहार आदि स्थानों में रखने से तथा जुगुप्सित स्थानों में रखने से प्रायश्चित्त है चार लघुमास का। जहां उपकरण रखे वहां अनुज्ञापित न करने पर, दीर्घ भीक्षाचर्या करने पर, लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। अत्यधिक खाने पर चार लघुमास का, अप्राप्त संखडी की प्रतीक्षा करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त है।

३४९५. असतीयऽमणुण्णाणं, सव्वोवधिणा व भद्दएसुं वा।
देसकसिणेव घेत्तुं, हिंडति सति लंभ आलोए॥

समनोज्ञ मुनियों के वहां उपकरण रखे। उनके अभाव में अमनोज्ञों के वहां रखे। यदि सारे उपकरण लेकर घूमने में समर्थ हो तो वैसा करे। यदि असमर्थ हो तो यथाभद्रक के घरों में रखे। समस्त उपकरणों में से देशभूत कृत्स्न–परिपूर्ण वस्त्रों को लेकर भिक्षा के लिए घूमता है। अशक्त होने पर उन्हें भी रख दे। वह भिक्षा का लाभ होने वाले उन घरों में घूमता है जहां से वह उपकरणों को देख सकता हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४९६. असतीए अविरहितम्मि, णंतिक्कादीण अंतियं ठवए।
देज्जह ओधाणं ति य, जाव उ भिक्खं परिभमामि॥

अविरहित प्रदेश के अभाव में नैत्यिक–लोहकार, मणिकार, शंखकार आदि के पास रखे और उन्हें कहे–इन उपकरणों का आप ध्यान रखें। मैं भिक्षा के लिए घूम आता हूं।

३४९७. ठवेति गणयंतो वा, समक्खं तेसि बंधिउं।
आगतो रक्खिता भो त्ति, तेण तुब्भेच्चिया इमे॥

वह नैत्यिकों के समक्ष उपकरणों को गिनकर तथा बांधकर रखे। वापस आकर दूसरी बार भी अनुज्ञा ले। वह कहे– आपने इन उपकरणों की रक्षा की है। इसलिए ये आपके हैं। मुझे आप इन्हें ग्रहण करने की अनुज्ञा दें।

३४९८. दट्ठूण वन्नधा गंठिं, केण मुक्को त्ति पुच्छती।
रहितं किं घरं आसी, कोऽपरो व इधागतो॥

लौटकर आकर जब वह उपकरणों की गांठ को अन्यथा देखता है तब पूछता है–इस गांठ को किसने खोला है? क्या इस घर में कोई नहीं था? अथवा कोई दूसरा व्यक्ति यहां आया था?

३४९९. नत्थि वत्थुं सुगंभीरं, तं मे दावेह मा चिरा।
न दिट्ठो वा कधं एंतो, तेण तो उभयो इधं॥

मेरे उपकरणों में जो सुगंभीर–अत्यंत सुंदर वस्तु थी, वह नहीं है। वह मुझे दिखाओ, दो। उसे छुपाओ मत, अपने पास मत रखो। स्थानमालिक कहता है–यहां किसी चोर को आते हुए मैंने नहीं देखा। तब मुनि सोचना है–या तो इसने चोर को देखा है अथवा स्वयं ने ही उसे ग्रहण कर लिया है।

३५००. धम्मो कधेज्ज तेसिं, धम्मट्ठा एव दिण्णमण्णेहिं।
तुब्भारिसेहि एयं, तुब्भेसु य पच्चओ अम्हं॥
३५०१. तो ठवितं णो एत्थं, तं दिज्जउ सावया इमं अम्हं।
जदि देती रमणिज्जं, अदेंत ताधे इमं भणती॥
३५०२. थेरो त्ति काउं कुरु मा अवण्णं,
संती सहाया बहवे ममन्ने।
जे उग्गमेहिंति ममे य मोसं,
खेत्तादि नाउं इति बेंतऽदेंते॥

वह उन ध्रुवकर्मिकों को धर्मकथा कहे और उन्हें बताए–ये उपकरण तुम जैसे अन्य व्यक्तियों ने हमें दिए हैं। तुम लोगों पर हमारा पूरा विश्वास है। तुम हमारे श्रावक हो। इसलिए हमने यहां जो स्थापित किया है वह हमारा हमें लौटा दें। यह कहने पर यदि वे लौटा देते हैं तो बहुत सुंदर और यदि न दे तो उन्हें यह कहें–मैं स्थविर हूं, यह सोचकर मेरी अवज्ञा मत करो। मेरे अन्य अनेक सहायक हैं जो क्षेत्र आदि को जानकर मेरी इस चोरी का निष्कर्ष निकालेंगे–यह बात उपकरण न लौटाने पर उनसे कहे।

३५०३. उवधीपडिबंधेणं, सो एवं अच्छती तहिं थेरो।
आयरियपायमूला, संघाडेगो व अहपत्तो॥

उपधि की प्रतिबद्धता से वह स्थविर इस प्रकार तब तक वहीं रहता है जब तक आचार्य के पास से साधुओं का संघाटक अथवा एक साधु वहां न आ जाए।

३५०४. ते विय मग्गंति ततो, अदेंत साधेंति भोइयादीणं।
एवं तु उत्तरुत्तर, जा राया अधव जा दिन्नं॥

वे मुनि वहां आकर ध्रुवकर्मिकों से उपकरण की याचना करते हैं। यदि वे नहीं देते हैं तो भोजिक–नगरप्रधान आदि को कहते हैं। इस प्रकार उपकरण प्राप्त न होने तक उत्तरोत्तर अन्यान्य व्यक्तियों को कहते-कहते राजा तक शिकायत ले जाते हैं अथवा उपकरण दे देते हों तो उन्हें कहे–

३५०५. अध पुण अक्खुय चिट्ठे, ताधे दोच्चोग्गहं अणुण्णवए।
तुब्भेच्चयं इमं ति य, जेणं मे रक्खियं तुमए॥

यदि वह उपकरण काम में लिया हुआ न हो, मूल का हो तो दूसरी बार अवग्रह की अनुज्ञापना इस प्रकार ली जाती है–यह सारा उपकरण तुम्हारा है, क्योंकि इसकी रक्षा तुमने की है। अतः अब मुझे इसे ग्रहण करने की अनुज्ञा दें।

३५०६. घेत्तूवहिं सुन्नघरम्मि भुंजे,
खिन्नो व तत्थेव उ छन्नदेसे।
छन्नाऽसती भुंजति कच्चगे तू,
सव्वो वि तुब्भाण करेत्तु कप्पं॥

उपधि को लेकर शून्यघर में जाकर भोजन करे। यदि भिक्षाटन से खिन्न हो गया हो तो वहीं आच्छन्न प्रदेश में बैठकर भोजन करे। यदि आच्छन्न प्रदेश न हो तो सभी पात्रों से कच्चग–पात्र विशेष में भोजन निकालकर, कल्प करके भोजन करे।

३५०७. मज्झे दवं पिबंतो, भुत्ते वा तेहि चेव दावेति।
नेच्छे वामोयत्तण, एमेव य कच्चए डहरे॥

यदि वह भोजन के मध्य अथवा पूरा भोजन कर लेने पर पानी पीना चाहे तो उन्हीं गृहस्थों से पानी उंडलवाकर अंजली से पीता है। यदि गृहस्थों से वैसा करना नहीं चाहता तो वामहस्त से स्वयं पानी उंडेल कर दांये हाथ की अंजलि बनाकर पानी पीए। इसी प्रकार क्षुल्लक पात्र के विषय में जानना चाहिए।

३५०८. अप्पडिबज्झंतगमो, इतरे वि गवेसए पयत्तेणं।
एमेव अवुड्ढस्स वि, नवरं गहितेण अडणं तु॥

अप्रतिबंधित मुनि का गमन व्रजिका आदि में होता है। गच्छ के इतर साधु भी उस स्थविर की गवेषणा करते हैं। इसी प्रकार जो अवृद्ध है और एकाकी हो गया है तो उसकी भी इसी प्रकार यतना करनी चाहिए। उसको भिक्षाचार्य में उपकरण ग्रहण कर घूमना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५०९. संथारएसु पगतेसु, अंतरा छत्त-दंड-कत्तिल्ले।
जंगमथेरे जतणा, अणुकंपऽरिहे समक्खाता॥
३५१०. दोच्चं व अणुण्णवणा,
भणिया इमिगा वि दोच्चऽणुण्णवणा।
नियउग्गहम्मि पढमं,
बितियं तु परोग्गहे सुत्तं॥

पूर्वसूत्र में संस्तारक अधिकृत थे। मध्य में छत्र, दंड, तीन कृत्तियां, अनुकंपार्ह जंगम स्थविर की यतना समाख्यात है। द्वितीय अवग्रह की अनुज्ञापना पूर्वसूत्र में कथित है। प्रस्तुत सूत्र में भी द्वितीय अवग्रह की अनुज्ञापना है। प्रथम सूत्र में आत्मीय उपकरणों के अवग्रह की अनुज्ञापना थी। प्रस्तुत द्वितीय सूत्र में परकीय के उपकरण के अवग्रह की अनुज्ञापना है।

३५११. परिसाडिमपरिसाडी, पुव्वं भणिता इमं तु नाणत्तं।
पडिहारियसागारिय, तं चेवं ते बहिं नेति॥

परिशाटी और अपरिशाटी के विषय में पूर्व (आठवें उद्देशक) में कहा जा चुका है। उसमें यह विशेष है। सागारिक का प्रातिहारिक संस्तारक बाहर ले जाया जा सकता है।

३५१२. परिसाडी पडिसेधो, पुणरुद्धारो य वण्णितो पुव्वं।
अप्परिसाडिग्गहणं, वासासु य वण्णियं नियमा॥

परिशाटी संस्तारक के ग्रहण का पहले निषेध किया था। उसका पुनः उद्धार—अपवाद भी पूर्व में वर्णित कर दिया था कि ऋतुबद्धकाल में निष्कारण संस्तारक का ग्रहण नहीं कल्पता तथा वर्षाकाल में नियमतः अपरिशाटी संस्तारक का ग्रहण करना चाहिए।

३५१३. पुण्णम्मि अंत मासे, वासावासे विमं भवति सुत्तं।
तत्थेवण्ण गविस्से, असती तं चेयऽणुण्णवए॥

ग्राम या नगर में मास या वर्षावास पूर्ण हो जाने पर वहां से संस्तारक बहिर्ग्राम में नहीं ले जाया जा सकता, इस आशय का यह सूत्र है। बहिर् प्रदेश में ही संस्तारक की गवेषणा करे। यदि वहां प्राप्त न हो तो उसी सागारिकसत्क संस्तारक की अनुज्ञा लेकर बाहर ले जाए।

३५१४. अहवा अवस्सघेत्तव्वयम्मि दव्वम्मि किं भवे पढमं।
नयणं समणुण्णा वा, विवच्चतो वा जधुत्ताओ॥

अवश्य ले जाने योग्य द्रव्य के विषय में पहले क्या हो—नयन—द्रव्य को ले जाना अथवा समनुज्ञा? आचार्य कहते हैं—पहले नयन, फिर अनुज्ञा अथवा पहले अनुज्ञा फिर नयन। अथवा यथोक्त विपर्यय न करे—नयन से पहले भी अनुज्ञा न ले तथा नयन के बाद भी अनुज्ञा न ले। शुद्ध भंग यह है—पहले अनुज्ञापन पश्चाद् नयन।[1]

३५१५. एमेव अपुण्णम्मि वि, वसधीवाघाय अन्नसंकमणे।
गंतव्वुवासयाऽसति, संथारो सुत्तनिद्देसो॥

इस प्रकार मासकल्प पूर्ण न होने पर, वसति का व्याघात उपस्थित होने पर अवश्य गंतव्य होता है। क्षेत्र के संक्रमण में संस्तारक का लाभ न होने पर पूर्वविधि से संस्तारक ले जाया जा सकता है—यह सूत्र का निर्देश है।

३५१६. नीहरिउं संथारं, पासवणुच्चारभूमिक्खादी।
गच्छेऽधवा वि झायं, करेतिमा तत्थ आरुवणा॥

अनुज्ञापना के बिना संस्तारक को बाहर ले जाकर स्थापित कर प्रस्रवणभूमी, उच्चारभूमी अथवा भिक्षा आदि के लिए जाता है, स्वाध्याय करता है तो यह वक्ष्यमाण आरोपणा प्रायश्चित्त आता है।

३५१७. एतेसुं चउसुं पी, तणेसु लहुगो य लहुगफलगेसु।
राया दुट्ठग्गहणे, चउगुरुगा होंति नातव्वा॥

इस प्रस्रवण आदि चार भूमियों में अननुज्ञाप्य प्रवृत्ति के कारण तथा तृण-संस्तारक के विषय में प्रायश्चित्त है लघुमास। फलक के विषय में चार लघुमास तथा राजद्विष्ट—राजप्रतिषिद्ध फलक आदि के अनुज्ञा के बिना ग्रहण में चार लघुमास का प्रायश्चित्त विहित है।

३५१८. उग्गहसमणुण्णासुं, सेज्जासंथारएसु य तधेव।
अणुवत्तंतेसु भवे, पंते अणुलोमवइ सुत्तं॥

अवग्रह और संस्तारक स्वामी की अनुज्ञापूर्वक ग्रहण करने चाहिए—यह सामान्य उपदेश है। अवग्रह और शय्या-संस्तारक जो समनुज्ञात है, उनका अनुवर्तन प्रस्तुत सूत्र में भी है। यह सूत्र उसी विषय का है। अनुज्ञा बिना ग्रहण करने पर संस्तारक स्वामी प्रांत—रुष्ट हो सकता है। उसे तब अनुलोमवाक् वक्तव्य है। यही सूत्रसंबंध है।

३५१९. सेज्जासंथारदुगं, ऽणणुण्णवेऊण ठायमाणस्स।
लहुगो लहुगो लहुगा, आणादी निच्छुभण पंतो॥

शय्या-संस्तारक दो प्रकार के हैं—परिशाटी और अपरिशाटी। अनुज्ञा के बिना वहां रहने वाले के प्रायश्चित्त आता है। शाला आदि में अनुज्ञा रहित रहने वाले के तथा परिशाटी संस्तारक के ग्रहण करने पर लघुमास, अपरिशाटी संस्तारक के ग्रहण में चार

---

१. बाह्य प्रदेश में संस्तारक नहीं है तो अंतःप्रदेश से संस्तारक स्वामी की अनुज्ञा से वह संस्तारक बाहर ले जाया जा सकता है।
विहार का मुहूर्त्त अत्यंत निकट हो, बाहर संस्तारक प्राप्ति की संभावना न हो तो पहले संस्तारक ले जाए, फिर अनुज्ञा ले ले।
कारणवश बाहर जाना पड़े, बाहर संस्तारक प्राप्त न हों, संस्तारक की अनिवार्यता हो, संस्तारक स्वामी की अनुज्ञा—प्राप्ति की संभावना न हो तो न पहले अनुज्ञापन करे और न ले जाने के बाद अनुज्ञापन करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लघुमास तथा आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं। कोई रुष्ट होकर वहां से निकाल भी देता है।

३५२०. एवमदिण्ण वियारे, दिण्णवियारे वि सभ-पवादीसु।
तण-फलगाणुण्णाता, कप्पडियादीण जत्थ भवे॥
३५२१. ताणि वि तु न कप्पंती,
अणणुण्णवितम्मि लहुगमासो उ।
इत्तरियं पि न कप्पति,
जम्हा तु अजाइतोग्गहणं॥

इसी प्रकार अदत्त–अनुज्ञात विचार–स्थान के विषय में जानना चाहिए। जो दत्तविचार अर्थात् सभा, प्रथा, मंडप आदि सर्वसाधारण स्थान हैं, जहां कार्पटिकों के लिए तृण, फलक आदि अनुज्ञात हैं, फिर भी उनके स्वामी की अनुज्ञा लिए बिना उनका ग्रहण नहीं कल्पता। फिर भी यदि कोई अनुज्ञा के बिना उनको ग्रहण कर लेता है तो लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। कहा है–अयाचित अवग्रह इत्वरिक–क्षणमात्र के लिए भी नहीं कल्पता।[1]

३५२२. जावंतिय दोसा वा, अदत्तनिच्छुभण दिवस-रातो वा।
एते दोसे पावति, दिन्नवियारे वि ठायंते॥

दत्त विचार अर्थात् सार्वजनिक स्थान में भी अनुज्ञा के बिना ठहरने पर यावन्तिकदोष (अस्वामित्व का दोष), अदत्तग्रहण का दोष तथा सार्वजनिक स्थान आदि का स्वामी रुष्ट होकर रात्री में अथवा दिन में वहां ठहरे हुए साधुओं का निष्कासन कर सकता है।

३५२३. किन्नु अदिन्नवियारे, कोट्ठारादीसु जत्थ तणफलगा।
रक्खिज्जंते तहियं, अणणुण्णाए न ठायंति॥

अदत्तविचार अर्थात् कोष्ठागार आदि[2] जहां तृण, फलक आदि की रक्षा की जाती है, उनमें भी अनुज्ञा के बिना साधु नहीं रहते।

३५२४. दोसाण रक्खणट्ठा, चोदेति निरत्थयं ततो सुत्तं।
भण्णति कारणियं खलु, इमे य ते कारणा होंति॥

इन स्थानों में रहने का कारण है स्वयं को दोषों अर्थात् प्रायश्चित्त के प्रसंगों से बचाना, रक्षा करना। प्रश्न होता है–इस स्थिति में सूत्र निरर्थक हो जाएगा। आचार्य कहते हैं–यह सूत्र कारिणक है। ये वे कारण होते हैं।

३५२५. अद्धाणे अद्धाहिय, ओमऽसिवे गामऽणुगामवियाले।
तेणा सावयमसगा, सीतं वासं दुरहियासं॥

साधु मार्गगत हैं अथवा अष्टांह्निक उत्सव देखने आए हैं अथवा अवमौदर्य, अशिव आदि की संभावना से अन्य देश के लिए प्रस्थित हैं, अथवा ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए विकालवेला में जाना, अन्य वसति में चौरभय, श्वापदभय है, मशकों का उपद्रव हो अथवा शीत और वर्षा को सहन करना कष्टप्रद हो–इन कारणों से अधिकृत स्वामी की अनुज्ञा के बिना भी उस वसति में रहा जा सकता है।

३५२६. एतेहि कारणेहिं, पुव्वं पेहित्तु दिट्ठऽणुण्णाते।
ताधे अयंति दिट्ठे, इमा तु जतणा तहिं होती॥

उन कारणों से पहले उच्चार आदि भूमियों की प्रत्युपेक्षा कर दृष्ट परिजन की अनुज्ञा ले ले। वे उस वसति में रहें। दृष्ट परिजन की यह यतना है।

३५२७. पेहेत्तुच्चारभूमादी, ठायंति वोत्तु परिजणं।
अच्छामो जाव सो एती, जाईहामो तमागतं॥

उच्चारभूमी आदि की प्रत्युपेक्षा कर परिजन को बताकर वहां रह जाए। उनसे कहे–हम गृहस्वामी के आने तक यहां रहेंगे। उसके आने पर हम उसकी अनुज्ञा ले लेंगे।

३५२८. वयं वण्णं च नाऊणं, वयंति वग्गुवादिणो।
सभंडावेतरे सेज्जं, अप्फंदंति निरंतरं॥

गृहस्वामी का वय और वर्ण को जानकर प्रिय और सुंदर बोलने वाला मुनि उससे बात करे और शेष मुनि अपने उपकरणों के साथ निरंतर वसति को व्याप्त कर ले, इधर-उधर घूमते रहे।

३५२९. अब्भासत्थं गंतूण, पुच्छए दूरए तिमा जतणा।
तद्दिसमेंत पडिच्छण, पत्तेय कधेंति सब्भावं॥

यदि गृहस्वामी निकटवर्ती हो तो वहां जाकर उससे पूछ लें। यदि दूर है तो यह यतना है। जिस दिशा से वह आता हो उस दिशा में प्रतीक्षा करे। उसके आने पर सद्भाव–यथार्थ बात बताए।

३५३०. बिले न वसिउं नागो, पातो गच्छामु सज्जणा।
निरत्थाणं बहिं दोसा, जाते मा होज्ज तुज्झ वी॥

गृहस्वामी से वह मुनि कहे–बिल में सर्प की भांति तुम्हारे इस आश्रय में रातभर रहकर प्रातः चले जाएंगे। वह न माने तो स्वजनों से कहलवाए। न मानने पर कहे–हम निष्कासित होने पर जो दोष होंगे, उन सबके भागी तुम न हो जाओ।

३५३१. जदि देति सुंदरं तू, अध उ वदिज्जाहि नीह मज्झ गिहा।
अन्नत्थ वसधि मग्गह, तहियं अणुसट्ठिमादीणि॥

यदि गृहस्वामी अनुज्ञा दे तो अच्छा है। यदि वह कहे–मेरे घर से निकल जाओ। अन्यत्र जाकर वसति की मार्गणा करो। तब अनुशिष्टि आदि करे, धर्मकथा आदि का प्रयोग करे।

३५३२. अणुलोमणं सजाती, सजातिमेवेति तह वि उ अठंते।
अभियोगनिमित्तं वा, बंधण गोसे य ववहारो॥

१. इत्तिरियंपि न कप्पइ अविदिन्नं खलु परोग्गहादीसु।
चिट्ठित्तु निसीयतु वं तइयव्वय रक्खणट्ठाए॥

२. आदि शब्द से चतुःशाला, देवकुल, गोष्ठिक आदि के घर जहां गोष्ठिक एकत्रित होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुलोम वचनों से उसे अनुकूल करे। 'सजाति सजाति को अनुकूल करता है'—इस न्याय से स्वजातिवालों से उसे अनुकूल करे। इतने पर भी वह नहीं मानता है तो अभियोग—मंत्र आदि का अथवा निमित्त का प्रयोग करना चाहिए। अथवा बंधन का प्रयोग कर प्रभात होने पर व्यवहार—राजकुल में उसे ले जाना चाहिए।

३५३३. मा णे छिवसु भाणाइं, मा भिंदिस्ससि णेऽजत!।
दुहतो मा य वालेंति, थेरा वारेंति संजए॥

यदि गृहस्वामी साधुओं के भांडों को बाहर निकालने का प्रयत्न करता है तो उसे कहे—हे अयत! तुम हमारे पात्रों को मत छुओ। उन्हें तुम फोड़ मत देना। यदि मुनि उसे कठोर वचन कहे तब स्थविर—आचार्य उनका निवारण करते हुए कहते हैं—तुम दोनों ओर से उसे मूर्ख मत बनाओ। तुम उससे वसति भी लेते हो और परुष वचन भी कहते हो, ऐसा मत करो।

३५३४. अहवा बेंति अम्हे ते, सहामो एस ते बली।
न सेहेज्जावराधं ते, तेण होज्ज न ते खमं॥

अथवा उसे कहे—हम तुम्हारे अपराध सहन करते हैं। परंतु यह बलवान् है। यह तुम्हारा अपराध सहन नहीं करेगा। उस अवस्था में वह जो करेगा तुम उसको सहन नहीं कर पाओगे।

३५३५. सो य रुट्ठो व उट्ठेत्ता, खंभं कुड्डं व कंपते।
पुव्वं व णातिमित्तेहिं, तं गमेंति पहूण वा॥

(इतना कहने पर भी यदि गृहस्वामी अन्यथा करने का प्रयत्न करता है) तो पहले वह गृहस्वामी के ज्ञाति-मित्रों को कहकर उसे अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है और यदि वह नहीं मानता है तो वह बलवान् मुनि रुष्ट हुए व्यक्ति की भांति उठता है और खंभे को अथवा भींत को मुष्टि प्रहार कर उसे प्रकंपित करते हुए धमकी देता है।

३५३६. गहितऽन्नरक्खणट्ठा, वइसुत्तमिणं समासतो भणियं।
उवधी सुत्ता उ इमे, साधम्मिय तेण रक्खट्ठा॥

अन्य अर्थात् कार्पटिक आदि से रक्षा करने के लिए गृहीत अवग्रह विषयक वाक्सूत्र है, जो संक्षेप में कहा गया है। ये उपधि संबंधी सूत्र साधर्मिक, स्तेन से रक्षा के निमित्त उपन्यस्त हैं। यह सूत्रसंबंध है।

३५३७. दुविधो य अधालहुसो,
जघण्णतो मज्झिमो य उवधी तु।
अन्नतरग्गहणेणं,
घेप्पति तिविधो तु उवधी तु॥

यथालघुस्वक (एकांतलघुक) उपधि के दो प्रकार हैं—जघन्य और मध्यम। अन्यतरग्रहण करने से तीन प्रकार के उपधि का परिग्रहण किया जाता है।

३५३८. अंतो परिठावंते, बहिया य वियारमादीसु लहुगो।
अन्नतरं उवगरणं, दिट्ठं संका ण घेच्छंति॥

३५३९. किं होज्ज परिट्ठवितं, पम्हुट्ठं वावि तो न गेण्हंती।
किं एयस्सऽन्नस्स व, संकिज्जति गेण्हमाणो वि॥

गांव में अथवा विचारभूमी में कोई उपधि भूल जाए तो प्रायश्चित्त है लघुमास। अन्यतरत् जघन्य आदि उपकरण देखकर शंका हुई और शंका होने पर उसका ग्रहण नहीं किया। शंका ऐसे हुई कि क्या किसी ने इसका परिष्ठापन किया है अथवा विस्मृत हुआ है। वे उस उपकरण को ग्रहण नहीं करते। उनके मन में शंका होती कि यह वस्तु इसकी है अथवा अन्य की। यदि अपनी गिरी हुई वस्तु को ग्रहण कर रहा है अथवा परकीय वस्तु को। इस प्रकार शंका संभव है। इसका प्रायश्चित्त है चार लघुमास। यदि वह परकीय है, निःशंकित है, उसे उठाता है तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

३५४०. थिग्गल धुत्तापोत्ते, बालगचीरादिएहि अधिगरणं।
बहुदोसतमा कप्पा, परिहाणी जा विणा तं च॥

(विस्मृत वस्त्र को ग्रहण न करने से दोष)

गृहस्थ उस कपड़े को कारी आदि लगाने से काम में ले सकते हैं। उसे धोकर पट्टि आदि के रूप में अथवा बालकों के योग्य वस्त्र बना देते हैं—इस प्रकार के अधिकरण होते हैं। 'कल्प' विस्मृत हो जाने पर उनको ग्रहण न करने पर बहुत दोष लगते हैं। उस उपकरण के बिना दूसरे कल्प की मार्गणा से सूत्रार्थ की हानि होती है।

३५४१. एते अण्णे य बहू, जम्हा दोसा तहिं पसज्जंती।
आसन्ने अंतो वा, तम्हा उवहिं न वोसिरए॥

ये कथित दोष तथा अन्य बहुत दोष उससे उत्पन्न होते हैं। इसलिए ग्राम के बाहर आसन्न प्रदेश में अथवा गांव में उपधि का विस्मृति के कारण व्युत्सर्जन न करे।

३५४२. निस्संकितं तु नाउं, विच्चुयमेयं ति ताधे घेत्तव्वं।
संकादिदोसविजढा, नाउं वप्पेंति जस्स वयं॥

जब यह निःशंकित रूप से ज्ञात हो जाए कि यह विच्युत—विस्मृति से गिरा हुआ उपकरण है तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। ग्रहण कर शंका आदि के दोष से रहित होकर वह उपकरण जिसका है उसको जानकर उसे समर्पित कर दे।

३५४३. समणुण्णेतराणं वा, संजती संजताण वा।
इतरे उ अणुवदेसो, गहितं पुण घेप्पए तेहिं॥

यह उपकरण सांभोजिक अथवा असांभोजिक संयतों का है अथवा संयतियों का है, उसको लेकर वह जिसका है उसे दे देना चाहिए। इतर अर्थात् जो पार्श्वस्थ आदि हैं उनका यह उपदेश है कि जिसका वह उपकरण गिरा है, उसी को वह देना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५४४. बितियपदे न गेण्हेज्ज, विविंचिय दुगुंछिते असंविग्गे।
तुच्छमपयोयणं वा, अगेण्हता होतऽपच्छित्ती॥

अपवाद पद का कथन है कि जो गिरा हुआ है उसे ग्रहण न करे। यह माने कि यह परिष्ठापित है, जुगुप्सित है, अथवा यह असंविग्नों का है, तुच्छ है, अप्रयोजनीय है—ऐसे उपकरण को न ग्रहण करता हुआ मुनि अप्रायश्चित्ती होता है।

३५४५. अंतो विसगलजुण्णं, विविंचितं तं च दट्ठुं नो गिण्हे।
असुइट्ठाणे वि चुतं, बहुधा वालादि छिन्नं वा॥

ग्राम आदि में परिपूर्ण जीर्ण वस्त्र को पड़ा देखकर वह माने कि वह परिष्ठापित है। उसे देखकर ग्रहण न करे। इसी प्रकार अशुचि स्थानों में पड़ा हुआ तथा बहुधा व्याल आदि से छिन्न वस्त्र भी ग्रहण न करे।

३५४६. हीणाहियप्पमाणं, सिव्वणि चित्तल विरंग भंगी वा।
एतेहि असंविग्गोवहि त्ति दट्ठुं विवज्जंती॥

हीन या अधिक प्रमाण वाला, सीवनी से विचित्र प्रकार से सीआ हुआ तथा विविध रंगों से रेखांकित किए हुए वस्त्र को गिरा देखकर इन कारणों से यह जाने कि यह असंविग्न की उपधि है, उसे न उठाए, उसका विवर्जन करे।

३५४७. एमेव य बितियपदे, अंतो मुवरि ठवेज्जउ इमेहिं।
तुच्छो अतिजुण्णो वा, सुण्णे वावी विविंचेज्जा॥

इसी प्रकार गांव आदि में गिरे हुए वस्त्र को अपवाद पद में भी इन कारणों से ग्रहण न करे। वह उपकरण तुच्छ है, अतिजीर्ण है, शून्य में परिष्ठापित है, ऐसा सोचकर उसे ग्रहण न करे।

३५४८. एमेव य बहिया वी, वियारभूमीय होज्ज पडियं तु।
तस्स वि एसेव गमो, होति य नेओ निरवसेसो॥

इसी प्रकार गांव आदि के बाहर, विचारभूमी में वैसा वस्त्र पड़ा हो तो उसके लिए भी यही प्रकार संपूर्णरूप से ज्ञातव्य है।

३५४९. गामो खलु पुव्वुत्तो, दूइज्जंते तु दोन्नि उ विहाणा।
अन्नतरग्गहणेणं, दुविधो तिविधो व उवधी तु॥

ग्राम पूर्वोक्त है। ग्रामानुग्राम—यहां ग्राम-अनुग्राम यह दो का विधान ऋतुबद्ध काल से संबंधित है। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए मुनि के दो अथवा तीन प्रकार की उपधि में से कोई भी उपधि गिर पड़े तो (उसे यतनापूर्वक ग्रहण कर ले अथवा पूर्वविधि से उसका परिष्ठापन कर दे।)

३५५०. पंथे उवस्सए वा, पासवणुच्चारमाइयंते वा।
पम्हुसती एतेहिं, तम्हा मोत्तूणिमे ठाणा॥

वह उपकरण मार्ग में, उपाश्रय में अथवा प्रस्रवण, उच्चार करते समय, आचमन के समय—इन स्थानों में विस्मृति के कारण गिर गया है। इसलिए इन स्थानों का वर्जन करे।

३५५१. पंथे वीसमणनिवेसणादि सो मासो होति लहुगो उ।
आगंतारट्ठाणे, लहुगा आणादिणो दोसा॥

मार्ग में विश्राम करता है, निवास आदि करता है (खड़ा रहता है, बैठता है, सोता है, उच्चार-प्रस्रवण का व्युत्सर्ग करता है) तो उस समाचारी से निष्पन्न प्रायश्चित्त है एक लघुमास का। सार्वजनिकविश्राम स्थलों में विश्राम आदि करता है तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष उत्पन्न होता है।

३५५२. मिच्छत्तअन्नपंथे, धूली उक्खणण उवधिणो विणासो।
ते चेव य सविसेसा, संकादि विविंचमाणे वी॥

मिथ्यात्व, अन्यपथ, धूली उत्खनन, उपधि का विनाश, वे ही, सविशेष, शंकादि दोष, विविंचना भी (विस्तार से आगे की गाथाओं में।)

३५५३. पंथे न ठाइयव्वं, बहवे दोसा तहिं पसज्जंति।
अब्भुट्ठिता ति गुरुगा, जं वा आवज्जती जत्तो॥

मार्ग में नहीं रहना चाहिए। उससे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। मार्ग में बैठा हुआ मुनि यदि दूसरों को देखकर अभ्युत्थान करता है तो देखने वाले मानते हैं कि श्रमण ने इनको बहुमान दिया है। इसका प्रायश्चित्त है चार गुरुमास। इसे देखकर अनेक व्यक्ति मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकते हैं।

३५५४. जाणंति अप्पणो सारं, एते समणवादिणो।
सारमेतेसि लोगो यं, अप्पणो न वियाणती॥

ये श्रमणवादी साधु इस परमार्थ को जानते हैं (कि हमारे से ये ब्राह्मण महान् हैं।) किन्तु उनके अनुयायी इस सारतत्त्व—यथार्थता को नहीं जानते।

३५५५. अण्णपधेण वयंते, काया सो चेव वा भवे पंथो।
अचियत्तऽसंखडादी, भाणादिविराधणा चेव॥

साधु को मार्ग में बैठे हुए देखकर पथिक अन्य पथ से जाते हैं। उसमें हरितकाय आदि की विराधना होती है, क्योंकि वही पथ हो तो महान् प्रवर्तनदोष होता है। किसी पथिक को अप्रीति हो सकती है, परस्पर कलह आदि हो सकता है, भाजन आदि की विराधना हो सकती है। आदि शब्द से भावतः शरीर की विराधना हो सकती है।

३५५६. सरक्खधूलिचेयण्णे, पत्थिवाणं विणासणा।
अचित्तरेणुमइलम्मि, दोसा धोव्वणऽधोव्वणे॥

सरजस्क धूली की चेतना से पृथ्वीकायिक जीवों का विनाश होता है। यदि वह अचित्त रेणु हो तो उससे उपधि मलिन होती है। उसको धोने में भी दोष है और न धोने में भी दोष है।

३५५७. वेगाविद्धा तुरंगादी, सहसा दुक्खनिग्गहा।
परम्मुहं मुहं किच्चा, पंथा ठाणं पणोल्लए॥

वेग से आते हुए घोड़ों आदि का निग्रह करना कष्टप्रद होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। कुछेक प्रांत व्यक्ति घोड़ों आदि को पराङ्मुख कर पथ में स्थित मुनि को उठने के लिए प्रेरित करते हैं।

३५५८. पम्हुट्ठमवि अन्नत्थ जइच्छा कोवि पेच्छती।
पंथे उवरि पम्हुट्ठं, खिप्पं गेण्हंति अद्धगा॥

अन्यत्र कहीं विस्मृत उपकरण की यदृच्छा से कोई व्यक्ति मार्ग में देखता है, गवेषणा करता है, मार्ग में पतित वस्तु को पथिक शीघ्रता से ग्रहण कर लेते हैं इसलिए मार्ग में विश्राम नहीं करना चाहिए।

३५५९. एवं ठितोवविट्ठ, सविसेसतरा भवंति उ निवण्णे।
दोसा निद्दपमादं, गते य उवधिं हरंतऽण्णे॥

इस प्रकार मार्ग में स्थित, अथवा उपविष्ट होने पर अनेक दोष उत्पन्न होते हैं तथा मार्ग में सोने पर विशेषतर दोष होते हैं। मुनि के निद्रा-प्रमाद में चले जाने पर उनकी उपधि का अपहरण हो सकता है।

३५६०. उच्चारं पासवणं अणुपंथे चेव आयरंतस्स।
लहुगो य होति मासो, चाउम्मासो सवित्थारो॥

उच्चार, प्रस्रवण का व्युत्सर्ग अनुपंथा—पथिकों के अनुकुल मार्ग पर करने से लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उनको व्युत्सर्ग करते देखकर कुछ पथिक मार्ग बदलने पर मुनियों को सविस्तार[1] चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

३५६१. छड्डावणमन्नपहो, दवासती दुब्भिगंध कलुसप्पे।
तेणो त्ति व संकेज्जा, आदियणे चेव उड्डाहो॥

मार्ग में उच्चार का व्युत्सर्ग करते देखकर कोई व्यक्ति कुपित होकर मुनि को उच्चार को उठाने के लिए बाध्य कर सकता है। अथवा वहां से उठाकर अन्य पथ पर व्युत्सर्ग करने के लिए कह सकता है। मार्ग में शौच आदि के लिए द्रव—पानी का अभाव होने पर दुरभिगंध फैल सकती है। कोई कलुषित आत्मा वाला व्यक्ति यह शंका कर सकता है कि यह कोई चोर, हेरिक अथवा अभिचारक हो सकता है। उसका निग्रह होने पर प्रवचन का उड्डाह होता है। (इसलिए मार्ग में विश्राम आदि नहीं करना चाहिए।)

३५६२. अच्चातव दूरपहे असहू भारेण खेदियप्पा वा।
छन्ने वा मोत्तु पहं, गामसमीवे य छन्ने वा॥

(मार्ग में विश्राम करने का अपवाद मार्ग) अत्यंत आतप हो, वृक्ष मार्ग से दूर हों, निकटतम वृक्ष तक जाने में असमर्थ हो, भार से परिश्रांत हो, यदि मार्ग दोनों ओर से वृक्षों से आच्छादित हो और निर्भय हो तो पथ को छोड़कर और भय हो तो मार्ग में ही, गांव के समीप वृक्ष से आच्छन्न मार्ग में—इन स्थितियों में मार्ग में विश्राम करने का अपवाद है।

३५६३. पंथे ठितो न पेच्छति, परिहरिया पुव्ववण्णिया दोसा।
बितियपदे असतीए, जयणाए चिट्ठणादीणि॥

मार्ग में जाता हुआ पथिक मार्गस्थित साधु को न देख सके वैसे बैठना चाहिए। इस प्रकार पूर्ववर्णित दोष परिहृत हो जाते हैं। द्वितीय पद—अपवादपद में उद्वर्तन का अभाव होने पर यतनापूर्वक बैठना-उठना आदि कर सकता है।

३५६४. संकट्ठ हरितछाया, असती गहितोवही ठितो उट्ठे।
उट्ठेति व अप्पत्ते, सहसा पत्ते ततो पट्ठिं॥

संकट—वह मार्ग जो अहाते में हो, वहां तथा चारों ओर हरियाली ही हरियाली हो तो उद्वर्तन करना असंभव होता है, ऐसी स्थिति में मुनि अपने उपकरणों सहित वहां मार्ग में स्थित हो जाए। अन्य पथिकों को आते देखकर तत्काल उठ जाए अथवा वे पथिक उस प्रदेश तक न पहुंचे, उससे पहले ही उठ जाए। यदि पथिक सहसा आ जाए तो उनकी ओर पीठ कर उठ जाए।

३५६५. भुंजणपियणुच्चारे, जतणं तत्थ कुव्वती।
उदाहडा य जे दोसा, पुव्वं तेसु जतो भवे॥

मार्गस्थित मुनि को भोजन, पान और उच्चार विषयक यतना करनी होती है। पहले जो दोष बताए गए हैं उनके विषय में यतनावान् हो।

३५६६. गंतव्व पलोएउं, अकरणे लहुगो य दोस आणादी।
पम्हुट्ठो वोसट्ठे लहुगो आणादिणो चेव॥

मार्ग में विश्राम कर उठकर जाने लगे तो पीछे अवश्य देखे। यदि अवलोकन नहीं करता है तो प्रायश्चित्त है लघुमास का तथा आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं। यदि कुछ उपकरण आदि गिर गया हो औरउसकी विस्मृति हो गई हो तो स्मृति होने पर उसे लेने जाए। यदि उस वस्तु का व्युत्सर्ग कर देता है (यह सोचकर कि उससे क्या?) तो उसका प्रायश्चित्त है लघुमास आज्ञाभंग आदि दोष।

३५६७. पम्हुट्ठे गंतव्वं, अगमणे लहुगो य दोस आणादी।
निक्कारणम्मि तिन्नी, उ पोरिसीकारणे सुद्धो॥

विस्मृत वस्तु के लिए अवश्य गमन होता है। न जाने पर लघुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। अपाय आदि कारण न हो तो अवश्य जाकर लाना चाहिए। प्रथम पौरुषी में कोई वस्तु गिरी और विस्मृत हो गई। चतुर्थ पौरुषी में उसकी स्मृति हुई तब प्रथम तीन पौरुषियों को छोड़कर चौथे प्रहर में जाकर उस वस्तु को ले आए। प्रत्यवाय का कारण हो तो अनिवर्तमान भी शुद्ध होता है।

३५६८. चरमाए वि नियत्तति, जदि वासो अत्थि अंतरा वसिमे।
तिण्णि वि जामे वसिउं, नियत्तति निरच्चए चरिमे॥

१. सविस्तार का तात्पर्यार्थ है—स्त्री आदि के साथ होने वाले संघट्टन आदि से निष्पन्न प्रायश्चित्त के साथ। (वृत्ति)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो प्रथम प्रहर में गिरी हुई वस्तु को लाने के लिए गया, वह चरम प्रहर में भी निवर्तन कर सकता है, यदि सीमा के बीच में रहने का स्थान हो तो। यदि दिन के चरम प्रहर में वस्तु गिरी हो तो रात्री के तीन प्रहर ठहरकर चरम प्रहर में प्रत्यवाय के अभाव में निवर्तन करे।

३५६९. दूरं सो वि य तुच्छो, सावय तेणा नदी व वासं वा।
इच्चादिकारणेहिं, करेंति उस्सग्ग मो तस्स॥

कोई उपधि गिर गई और दूर जाने पर उसकी स्मृति आई, वह उपधि तुच्छ थी, उसको लाने के लिए जाने में श्वापद, स्तेन का भय, बीच में नदी, वर्षा आदि के कारणों से उस उपधि का व्युत्सर्ग कर देता है (तीन बार, वोसिरामि कह देता है।)

३५७०. एवं ता पम्हुट्ठो, जेसिं तेसिं विधी भवे एसो।
जे पुण अन्ने पेच्छे, तेसिं तु इमो विधी होति॥

इस प्रकार जिनकी उपधि विस्मृत हो गई उनके लिए यह कथित विधि है। जो अन्य साधर्मिक देखते हैं, उनके लिए यह विधि होती है।

३५७१. दुट्ठुवगहणे लहुगो, दुविधो उवही उ नायमण्णातो।
दुविधा णायमणाया, संविग्ग तधा असंविग्गा॥

देख लेने पर यदि उपधि का ग्रहण नहीं किया जाता है तो लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। उपधि के दो प्रकार हैं—औधिक और औपग्रहिक। उपधि दो प्रकार की है—ज्ञात और अज्ञात। (यह अमुक की है यह ज्ञात उपधि है और इसके विपरीत अज्ञात) इनके दो-दो प्रकार हैं—संविग्न और असंविग्न।

३५७२. मोत्तूण असंविग्गे संविग्गाणं तु नयणजतणाए।
दोवग्गा संविग्गे छब्भंगा णायमण्णाए॥

असंविग्नों की उपधि को छोड़कर संविग्न की उपधि को यतनापूर्वक ले जाए। संविग्न के दो वर्ग हैं—संयत और संयतियां। संविग्न के प्रत्येक वर्ग के छह भंग ज्ञात के होते है। अज्ञात की यह विधि है।

३५७३. सयमेव अन्नपेसे, अप्पाहे वावि एव सग्गामे।
परगामे वि य एवं, संजतिवग्गे वि छब्भंगा॥

यदि वह उपकरण संविग्न का है तो स्वयं ले जाकर दे अथवा दूसरों के हाथों उसे भेजे अथवा संदेश भेजें कि यह उपधि मुझे प्राप्त हुई है। स्वग्राम के तीन भंग तथा परग्राम के तीन भंग—इस प्रकार संयत और संयतीवर्ग के भी छह भंग होते हैं।

३५७४. ण्हाणादऽणाय घोसण, सोउं गमणं च पेसणप्पाहे।
पम्हुट्ठे वोसट्ठे, अप्पबहु असंथरंतम्मि॥

प्राप्त उपधि किस की है, यह ज्ञात न होने पर स्नान आदि समवसरण में घोषणा कराई जाती है। उसको सुनकर किसी के कहने पर स्वयं जाकर दे, दूसरे के साथ भेजे अथवा यह संदेश कहलवाए। जिस उपधि की विस्मृति हो गई, जिसका व्युत्सर्ग कर दिया, उसको जो लाया है, उसके उस उपधि के बिना यदि संस्तरण न हो तो अल्प-बहुत्व का विमर्श कर उसका परिभोग अनुज्ञात है।

३५७५. कामं पम्हुट्ठं ण्हे, चत्तं पुण भावतो इमम्हेहिं।
इति बेंते समणुण्णे, इच्छाकज्जेसु सेसेसु॥

कोई गिरी हुई उपधि को लाकर दे और कहे—यह तुम्हारी वस्तु है। मैं लाया हूं। इसे लें। हमने इसका भावतः व्युत्सर्ग किया है। यदि सांभोगिक हों तो वे उसका परिष्ठापन कर देते हैं। जो शेष अर्थात् असांभोगिक हैं, उनके द्वारा लेने से प्रतिषेध किए जाने पर लाने वाला उसका उपभोग कर सकता है।

३५७६. पक्खिगापक्खिगा चेव, भवंति इतरे दुहा।
संविग्गपक्खिगे णेति, इतरेसिं न गेण्हती॥

असंविग्न दो प्रकार के हैं—संविग्नपाक्षिक और असंविग्नपाक्षिक। संविग्नपाक्षिक की पतित उपधि स्वयं लाता है, दूसरे के साथ प्रेषित करता है आदि। इतर अर्थात् असंविग्नपाक्षिक की पतित उपधि ग्रहण नहीं करते।

३५७७. इतरे वि होज्ज गहणं आसंकाए अणज्जमाणम्मि।
किह पुण होज्जा संका, इमेहिं तु कारणेहिं ति॥

इतर अर्थात् असंविग्नपाक्षिक उपधि का अज्ञात स्थिति में आशंका से ग्रहण होता है। शंका इन कारणों से हो सकती है—

३५७८. ण्हाणादोसरणे वा, अधव समावत्तितो गताणेगा।
संविग्गमसंविग्गा, इति संका गेण्हते पडितं॥

जिनप्रतिमा के स्नान आदि समवसरण में अथवा अनेक साधु आकस्मिक कारणों से इधर-उधर गए हों, वे संविग्न या असंविग्न हो सकते हैं। उनके पतित उपधि को शंका से ग्रहण किया जाता है।

३५७९. संविग्गपुराणोवहि, अधवा विधि सिव्वणा समावत्ती।
होज्ज व असीवितो च्चिय, इति आसंकाए गहणं तु॥

पुराणसंविग्न उपधि—अर्थात् जो पहले संविग्न था, फिर असंविग्न हो गया, उसकी उपधि गिर जाने पर अथवा असंविग्नों के द्वारा आकस्मिक स्थिति में विधिपूर्वक सीया हुआ है अथवा असीवित है, उस उपधि को देखकर आशंका होती है और उस आशंका से उसे ग्रहण किया जाता है।

३५८०. ते पुण परदेसगते, नाउं भुंजंति अहव उज्झंति।
अन्ने तु परिट्ठवणा, कारणभोगो व गीतेसुं॥

जिनकी पतित उपधि भी, वे परदेश चले गए, यह जानकर उसका उपभोग किया जाता है अथवा उसका परिष्ठापन कर दिया जाता है। असांभोगिक की उपधि हो तो उसका परिष्ठापन कर दिया जाता है। यदि वह गीतार्थ का हो तो कारण में उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपभोग किया जा सकता है।

३५८१. बितियपदे न गेण्हेज्ज, संविग्गाणं पिमेहि कज्जेहिं।
आसंकाए नज्जति, संविग्गाणं व इतरेसिं॥

अपवादपद में संविग्नों की पतित उपधि भी इन कारणों से ग्रहण न करे। यह पतित उपधि संविग्नों की है अथवा असंविग्नों की, इस आशंका से उसको न उठाए।

३५८२. असिवगहितो व सोउं,
ते वा उभयं व होज्ज जदि गहियं।
ओमेण अन्नदेसं,
व गंतुकामा न गेण्हेज्जा॥

१. यह सुनकर की उपधि का स्वामी अशिवगृहीत है, देखने वाला नहीं।

२. देखनेवाला अशिवगृहीत है, मूलस्वामी नहीं।

३. दोनों अशिवगृहीत हैं।

४. दोनों अशिवगृहीत नहीं हैं।

प्रथम, द्वितीय भंग में उपधि का अग्रहण है क्योंकि अशिवोपहत हैं। तृतीय भंग में अशिव दोनों में समान है अतः कारण में उपधि का ग्रहण हैं। अथवा अवमौदर्य के कारण देशांतर जाने की कामना होने के कारण ग्रहण नहीं किया जाता।

३५८३. अध पुण गहितं पुव्वं, न य दिट्ठो जस्स विच्चुयं तं तु।
पधावितअण्णदेसं, इमेण विधिणा विगिंचेज्जा॥

अथ पहले उपकरण ग्रहण कर लिया और जिसका वह उपकरण गिरा था उसको नहीं देखा, और वह अन्य देश में चला गया। उस उपधि का इस विधि से परिष्ठापन करे।

३५८४. दुविहा जातमजाता, जाता अभियोग तह असुद्धा य।
अभियोगादी छेत्तुं, इतरं पुण अक्खुतं चेव॥

परिष्ठापनिका दो प्रकार की होती है—जात और अजात। जात का अर्थ है अभियोगकृत (वशीकृत) अथवा अशुद्ध। जो जात है, अभियोगकृत है उसका छेदन-भेदन कर परिष्ठापन किया जाता है। इतर अर्थात् जो उपकरण अभियोग आदि दोष रहित है वह अक्षतरूप में परिष्ठापनीय है।

३५८५. पहनिग्गयादियाणं, विजाणणट्ठाय तत्थ चोदेति।
सुद्धासुद्धनिमित्तं, कीरतु चिंधं इमं तु तहिं॥

पथनिर्गत मुनियों द्वारा शुद्धाशुद्ध निमित्त से यह परिष्ठापित है, इसके विज्ञान के निमित्त वक्ष्यमाण यह चिन्ह किया जाता है।

३५८६. एगा दो तिन्नि वली, वत्थे कीरंति पाय-चीराणि।
छुब्भंतु चोदगेणं, इति उदिते बेति आयरिओ॥

वस्त्र पर एक, दो, तीन चक्रों का चिन्ह किया जाता है और पात्र पर एक, दो, तीन चीवरखंड तथा इसी प्रकार एक, दो, तीन पत्थर रखे जाते हैं। शिष्य के द्वारा इस प्रकार कहने पर आचार्य कहते हैं—

३५८७. सुद्धमसुद्धं एवं, होति असुद्धं च सुद्ध वातवसा।
तेण ति दुगेग गंथी, वत्थे पादम्मि रेहा ऊ॥

वायु के वश से शुद्ध अशुद्ध हो जाता है और अशुद्ध शुद्ध। (वायु के कारण चीवर इधर-उधर हो सकते हैं।) इसलिए मूलोत्तरगुण शुद्ध वस्त्र पर तीन ग्रंथियां, पात्र पर तीन रेखाएं तथा उत्तरगुण से अशुद्ध वस्त्र पर दो ग्रंथियां तथा पात्र पर दो रेखाएं तथा मूलगुण से अशुद्ध वस्त्र पर एक ग्रंथी तथा पात्र पर एक रेखा करनी चाहिए।

३५८८. अद्धाणनिग्गतादी, उवएसाणयण पेसणं वावि।
अविकोवित अप्पणगं, दड्ढे भिन्ने विवित्ते य॥

मार्ग में निर्गत आदि, उपदेश, आनयन, प्रेषण, अकोविद, आत्मीय, दग्ध, भिन्न, विविक्त—व्याख्या आगे के श्लोकों में।

३५८९. अद्धाणनिग्गतादी, नाउ परित्तोवधी विवित्ते वा।
संपंडुगभंडधारि, पेसंती ते विजाणंते॥

मार्ग में निर्गत तथा अशिव आदि कारणों से निर्गत मुनि जो परिमित्त उपधि वाले हैं अथवा विविक्त उपधि अर्थात् विस्मृति के कारण जिनकी उपधि गिर गई है, उनको जानकर वहां के वास्तव्य मुनि जो संपांडुगभांडधारी हैं अर्थात् जो जितने उपकरण आवश्यक हैं, उतने मात्र रखते हैं, शेष का परिष्ठापन कर देते हैं, वे उन आगंतुक साधुओं को कहे—हमारे पास अतिरिक्त उपकरण आदि नहीं है। हमने अमुक प्रदेश में उनका परिष्ठापन कर दिया है। आप जाकर उन्हें ग्रहण कर लें। तब प्राघूर्णक मुनि विज्ञ गीतार्थ मुनियों को भेजते हैं।

३५९०. गड्ढा-गिरि-तरुमादीणि, काउ चिंधाणि तत्थ पेसंति।
अवियावडा सयं वा, आणंतऽन्नं व मग्गंति॥

वे वास्तव्य मुनि प्राघूर्णक मुनियों को गर्ता, गिरी, तरु आदि के चिन्ह बताकर वहां भेजते हैं। यदि वे अन्य कार्य में व्यापृत न हों तो स्वयं जाकर वे उपकरण ले आते हैं अथवा अन्य उपकरण की मार्गणा करते हैं।

३५९१. नीतम्मि वि उवगरणे, उवहतमेतं न इच्छती कोई।
अविकोवित अप्पणगं, अणिच्छमाणो विविंचंति॥

उपकरण ले आने पर भी कोई अकोविद मुनि उसे उपहत मानकर उसको लेने की इच्छा न करे तो उसे अपना आत्मीय वस्त्र आदि दे। उसे भी वह लेना न चाहे तो जो आनीत वस्त्र है उसका पुनः व्युत्सर्जन कर दे।

३५९२. असतीय अप्पणो वि य,
झामित-हित-वूढ-पडियमादीसु।
सुज्झति कयप्पयत्ते,
तमेव गेण्हं असढभावो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनसे पहले वस्त्र परिष्ठापित कर दिए और पश्चात् उसकी उपधि जल गई, अपहृत हो गई, पानी से प्रवाहित हो गई, विस्मृति से छूट गई तो वह दूसरे उपकरणों की याचना करे। उनके लिए प्रयत्न करने पर भी न मिलने पर, अशठभाव से उन परिष्ठापित उपकरणों को स्वयं ग्रहण करता है तो भी वह शुद्ध है।

३५९३. उवधी दूरद्धाणे, साहम्मियतेण्णरक्खणा चेव।
अणुवत्तंते उ इमं, अतिरेगपडिग्गहे सुत्तं॥

पूर्वसूत्र में यह कहा गया था कि पतित उपधि दूर के मार्ग से भी लाकर देना चाहिए अन्यथा साधर्मिक चौरिका होती है। साधर्मिक स्तैन्यरक्षण का अनुवर्तन है। प्रस्तुत सूत्र में भी अतिरेकपात्रविषयक है। यही सूत्रसंबंध है।

३५९४. साधम्मिय उद्देसो, निद्देसो होती इत्थि-पुरिसाणं।
गणिवायग उद्देसो, अमुगगणी वायए इतरो॥

साधर्मिक यह उद्देश्य है। स्त्री-पुरुषों का अभिधान निर्देश है अथवा गणी, वाचक यह उद्देश है। अमुक गणी, अमुक वाचक—यह इतर निर्देश है।

३५९५. ऊणातिरित्तधरणे, चउरो मासा हवंति उग्घाता।
आणादिणो य दोसा, संघट्टणमादि पलिमंथो॥

प्रमाण से न्यून अथवा अतिरिक्त उपकरणों को धारण करने पर चार मास उद्घात अर्थात् लघु चारमास का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञाभंग आदि दोष और संघट्टन आदि का अतिरिक्त प्रायश्चित्त और परिमंथ—सूत्रार्थ का व्याघात होता है।

३५९६. दो पायाणुण्णाया, अतिरेगं ततियपत्त माणातो।
धारंत पाणघट्टण, भारे पडिलेह पलिमंथो॥

दो पात्र अनुज्ञात हैं—एक पात्र और एक मात्रक। तीसरा पात्र रखने पर गणना से अतिरेक होता है। पात्र का जो प्रमाण है उससे बृहद् पात्र ग्रहण करने से वह प्रमाण से अतिरेक होता है। जो गणना और प्रमाण से अतिरेक पात्र रखता है, वह प्राणियों का परितापन और अपद्रावन करता है। उसको वहन करने में भार की अनुभूति होती है तथा उनका प्रतिलेखन करने से सूत्रार्थ का परिमंथ होता है।

३५९७. चोदेती अतिरेगे, जदि दोसा तो धरेतु ओमं तु।
एक्कं बहूण कप्पति हिंडंतु य चक्कवालेण॥

शिष्य कहता है—यदि अतिरेक पात्र धारण करने में दोष है तो गणना से कम पात्र धारण करना चाहिए। एक-एक पात्र बहुत मुनियों को कल्पता है। वे चक्रवाल पद्धति से गोचरचर्या आदि में घूमें। (जैसे एक दिन में एक, दूसरे दिन में दूसरा आदि।)

३५९८. पंचण्हमेगपायं, दसमेणं एक्कमेक्क पारेउ।
संघट्टणादि एवं, न होंति दुविधं च सिं ओमं॥

पांच मुनियों के पास एक पात्र हो। वे दशम अर्थात् चोले की तपस्या करते हैं। पारणक के दिन एक मुनि एक पात्र लेकर घूमे। इस प्रकार एक-एक व्यक्ति पारणक करे। इस प्रकार संघट्टन आदि दोष भी नहीं होते। उनके दोनों प्रकार का अवमौदर्य होता है—द्रव्य अवमौदर्य तथा भाव अवमौदर्य। (एक पात्र होने से द्रव्य अवमौदर्य तथा दशम-दशम के क्रम से पारणा करने के कारण भाव अवमौदर्य होता है।)

३५९९. आहारे उवगरणे, दुविधं ओमं च होति तेसिं तु।
सुत्ताभिहियं च कतं, वेहारियलक्खणं चेव॥

उनके दो प्रकार का अवम होता है—आहारविषयक (भाव अवम) तथा उपकरणविषयक (द्रव्य अवम)। सूत्राभिहित वैहारिक लक्षण (अल्पोपधिता तथा अल्पाहारता) का आचरण होता है।

३६००. वेहारुगाण मन्ने, जध सिं जल्लेण मइलियं अंगं।
मइला य चोलपट्टा, एगं पादं च सव्वेसिं॥

मैं मानता हूं कि इन वैहारिकों का शरीर जल्ल और मल से युक्त होता है। उनके चोलपट्टे (वस्त्र) मलिन होते हैं। सबके एक ही पात्र होता है।

३६०१. जेसिं एसुवदेसो, तित्थयराणं तु कोविया आणा।
चउरो य अणुग्घाता, णेगे दोसा इमे होंती॥

आचार्य कहते हैं—जिनका ऐसा उपदेश है उन्होंने तीर्थंकरों की आज्ञा को कुपित कर डाला, उसका भंग कर दिया। उनको चार अनुद्घात मास (गुरुमास) का प्रायश्चित्त आता है तथा ये अनेक दोष होते हैं।

३६०२. अद्धाणे गेलण्णे, अप्प पर चता य भिन्नमायरिए।
आदेस-बाल-वुड्ढा, सेहा खमगा य परिचत्ता॥

पात्र एक ही है। यदि अध्वनिर्गत अथवा ग्लान को वह पात्र दे देता है तो स्वयं त्यक्त हो जाता है। पात्र के अभाव में भिक्षाटन कैसे? यदि नहीं देता है तो अध्वनिर्गत और ग्लान त्यक्त हो जाते हैं। एक पात्र के कारण व्रत भी त्यक्त हो जाते हैं। उसके टूट जाने पर दूसरा पात्र प्राप्त करने तक परिमंथ होता है तथा एक पात्र होने पर आचार्य, प्राघूर्णक, बाल, वृद्ध, शैक्ष, तपस्वी—ये सारे परित्यक्त हो जाते हैं क्योंकि एक पात्र में उतना ही लाया जा सकता है जितना एक साधु के लिए पर्याप्त होता है।

३६०३. दिंते तेसिं अप्पा, जढो उद्धाण ते जढा जं च।
कुज्जा कुलालगहणं, वया जढा पाणगहणम्मी॥

पात्र देने पर स्वयं परित्यक्त होता है और न देने पर वे अर्थात् अध्वनिर्गत, ग्लान आदि परित्यक्त होते हैं। पात्र देकर स्वयं कुलाल से मिट्टी का भांड ग्रहण करता है। उसके भी अनेक दोष होते हैं। संसक्त अन्नपान ग्रहण करने से व्रत भी परित्यक्त हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६०४. जदि होंति दोस एवं, तम्हा एक्केक्क धारए एक्कं।
सुत्ते य एगमणियं, मत्तग उवदेसणा वेण्हिं॥

३६०५. दिन्नज्जरक्खितेहिं, दसपुरनगरम्मि उच्छुघरनामे।
वासावासठितेहिं, गुणनिप्फत्तिं बहुं नाउं॥

यदि 'बहुतों के एक पात्र'—इससे दोष होते हैं तो प्रत्येक मुनि एक-एक पात्र धारण करे। सूत्र में भी एक ही पात्र अनुज्ञात है। आचार्य आर्यरक्षित दशपुरनगर में इक्षुगृह नामक उद्यान में वर्षावास में स्थित थे। उन्होंने उस समय अत्यधिक गुणनिष्पत्ति जानकार मात्रक की अनुज्ञा दी।

३६०६. दूरे चिक्खल्लो वुड्ढिकाय सज्झायझाणपलिमंथो।
तो तेहि एस दिन्नो, एव भणंतस्स चउगुरुगा॥

जो ऐसा कहते हैं कि आर्यरक्षित नगर से दूर उद्यान में स्थित थे। मार्ग कीचड़-बहुल था। वर्षा हो रही थी। जाने-आने में अप्काय और हरितकाय की विराधना होती थी। स्वाध्याय और ध्यान का परिमंथ—व्याघात होता था। इसलिए उन्होंने मात्रक का उपदेश दिया। ऐसा कहने वालों को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

३६०७. पाणदयखमणकरणे, संघाडासति विकप्पपरिहारी।
खमणासहु एगागी गेण्हेति तु मत्तए भत्तं॥

३६०८. थेराणं सविदिण्णो, ओहोवधि मत्तगो जिणवरेहिं।
आयरियादीणट्ठा, तस्सुवभोगो न इधरा उ॥

मात्रक रखने के कारण—प्राणदया, क्षपणकरण— तपस्या करने, संघाटक के अभाव में, विकल्प का परिहरण करने, क्षपण करने में असमर्थ मुनि एकाकी भिक्षाचर्या के लिए घूमता हुआ पात्र में पानक और मात्रक में भक्त ग्रहण कर सकता है। इसलिए स्थविरों के लिए ओघ उपधि के रूप में मात्रक को जिनवरों ने वितीर्ण अर्थात् अनुज्ञात किया है। मात्रक का उपभोग आचार्य आदि (ग्लान, प्राघूर्णक, बाल, वृद्ध) के प्रायोग्य ग्रहण करने के लिए अनुज्ञात है। अन्य कारण से उसका उपभोग अनुज्ञात नहीं है।

३६०९. गुणनिप्फत्ती बहुगी, दगमासे होहिति त्ति वितरंति।
लोभे पसज्जमाणे, वारेंति ततो पुणो मत्तं॥

आचार्य आर्यरक्षित ने सोचा कि दकमास—वर्षावास में मात्रक के उपभोग से बहुत गुणनिष्पत्ति होती है इसलिए उन्होंने इसकी अनुज्ञा दी। ऋतुबद्धकाल में आचार्य आदि के प्रायोग्य द्रव्य ग्रहण करने के लिए मात्रक का उपभोग किया जा सकता है। अन्य कारणों में उसका उपभोग केवल लोभ के प्रसंग से होता है। इसलिए मात्रक का वारण किया जाता है।[1]

३६१०. एवं सिद्धग्गहणं आयरियादीण कारणे भोगो।
पाणदयट्ठुवभोगो, बितिओ पुण रक्खियज्जाओ॥

इस प्रकार मात्रक का ग्रहण सिद्ध होता है। आचार्य आदि के लिए मात्रक का भोग अनुज्ञात है। दूसरा कारण उसके उपभोग के कारण का है—प्राण दया के लिए। यह कारण आर्यरक्षित से प्रारंभ हुआ।

३६११. जत्तियमित्ता वारा, दिणेण आणेति तत्तिया लहुगा।
अट्ठहि दिणेहि सपदं, निक्कारण मत्तपरिभोगो॥

निष्कारण मात्रक का परिभोग दिन में जितनी बार किया जाता हैं उतने ही लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। आठ दिनों में स्वपद अर्थात् पुनः व्रतों का आरोपण (मूल नामक आठवां प्रायश्चित्त)—यह प्रायश्चित्त आता है।

३६१२. जे बेंति न घेत्तव्वो, उ मत्तओ जे य तं न धारेंति।
चउगुरुगा तेसि भवे, आणादिविराधणा चेव॥

जो यह कहते हैं कि मात्रक ग्रहण नहीं करना चाहिए और जो मात्रक को धारण नहीं करते, उन प्रत्येक को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष और संयम-विराधना भी होती है।

३६१३. लोए होति दुगुंछा, वियारे पडिग्गहेण उड्डाहो।
आयरियादी चत्ता, वारत्तथलीय दिट्ठंतो॥

जिस पात्र में भिक्षा होती है, उसी पात्र को विचार भूमी में शौच के लिए ले जाने से लोगों में जुगुप्सा होती है तथा प्रवचन का उड्डाह होता है। मात्रक के अपरिभोग से आचार्य आदि परित्यक्त हो जाते हैं। यहां वारतस्थली (?) का दृष्टांत है।

३६१४. तम्हा उ धरेतव्वो, मत्तो य पडिग्गहो य दोण्णेते।
गणणाय पमाणेण य, एवं दोसा न होंतेते॥

इसलिए मात्रक और पतद्ग्रह (पात्र) दोनों को धारण करना चाहिए। गणना और प्रमाण के द्वारा ग्रहण करने से पूर्वोक्त दोष नहीं होंगे।

३६१५. जइ दोण्ह चेव गहणं, अतिरेगपडिग्गहो न संभवति।
अह देति तत्थ एगं, हाणी उड्डाहमादीया॥

प्रश्न होता है कि यदि दो—एक पात्र और एक मात्रक—का ही ग्रहण अनुज्ञात है तो फिर अतिरिक्त पात्र-ग्रहण की संभावना नहीं रहती। इस स्थिति में यदि अध्वनिर्गत आदि को एक पात्र देता है तो उसके एक पात्र की हानि हो जाएगी। फिर एक ही पात्र से भिक्षा और शौच क्रिया करने से जुगुप्सा और प्रवचन का उड्डाह आदि होगा।

---

१. निशीथ भाष्य गाथा ४५३८ की चूर्णी के अनुसार आर्यरक्षित ने अपने उपभोग के लिए मात्रक की आज्ञा दी। ऋतुबद्धकाल में स्वयं के लिए ही उसका वर्जन किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६१६. अतिरेगदुविधकारण, अभिणवगहणे पुराणगहणे य।
अभिणवगहणे दुविहे, वावारिय अप्पछंदे य॥

दो कारणों से अतिरिक्त पात्र का ग्रहण संभव है—अभिनव का ग्रहण तथा पुरातन का ग्रहण। अभिनवग्रहण दो प्रकार का होता है—व्यापारित तथा आत्मछंद (स्वच्छंद)।

३६१७. भिन्ने व झामिए वा, पडिणीए तेण साणमादि हिते।
सेहोवसंपयासु य, अभिणवगहणं तु पायस्स॥

अभिनवपात्र का ग्रहण इन कारणों से हो सकता है—पुराना पात्र टूट गया हो, अग्नि से जल गया हो, प्रत्यनीक, चोर अथवा कुत्ते ने उसका अपहरण कर लिया हो, उपसंपन्न शैक्ष के लिए आवश्यक हो।

३६१८. देसे सव्वुवहिम्मी, अभिग्गही तत्थ होंति सच्छंदा।
तेसऽसति निजोएज्जा, जे जोग्गा दुविधउवधिम्मि॥

गण में कुछ मुनि गच्छ के उपयुक्त उपकरणों से उत्पादन में स्वच्छंद अर्थात् आत्मच्छंद होते हैं—बिना नियुक्त ही उपकरणों का उत्पादन करने के लिए साभिग्रह होते हैं। उनके दो प्रकार हैं—देश उपधि के उत्पादक तथा सर्व उपधि के उत्पादक। इनके अभाव में जो उपधि के उत्पादन में योग्य होते हैं आचार्य उनको उस कार्य में नियोजित करते हैं।

१६१९. दुविधा छिन्नमछिन्ना, भणंति लहुगो य पडिसुणंते य।
गुरुवयण दूरे तत्थ उ, गहिते गहणे य जं वुत्तं॥

वे नियुक्त मुनि दो प्रकार के होते हैं—छिन्न और अछिन्न। पात्र लाने के लिए मुनि को तथा लाने की स्वीकृति देने वाले को लघुमास का प्रायश्चित्त, गुरुवचन, दूर गए हुए को, गृहीत करने पर, ग्रहण करने पर जो सूत्र में कहा है—यह द्वार गाथा है। (इसकी व्याख्या आगे के श्लोकों में।)

३६२०. गेण्हह वीसं पाए, तिन्नि पगारा उ तत्थ अतिरेगो।
तत्थेव भणति एगो, मज्झ वि गेण्हेज्ज जध अज्जो॥

आचार्य ने पात्र लाने वाले मुनि से कहा—बीस पात्र ग्रहण कर लेना, ले आना। यहां अतिरेक (अतिरिक्त पात्र मंगाने वाले मुनि) तीन प्रकार के होते हैं। एक मुनि वहीं (आचार्य के समक्ष) कहता है—आर्य! मेरे लिए भी पात्र ले आना। (यह अतिरेक का एक प्रकार है।)

३६२१. आयरिए भणाहि तुमं,लज्जालुस्स य भणंति आयरिए।
नाऊण व सढभावं, नेच्छंतिधरा भवे लहुगो॥

जो लज्जावश आचार्य को विज्ञापित नहीं कर सकता वह दूसरे को कहता है—तुम आचार्य को कहो कि मेरे भी पात्र की आवश्यकता है। वे मुनि उसके शठभाव को जानकर आचार्य को कहना नहीं चाहते। और यदि शठभाव को जानते हुए भी आचार्य को कहते हैं तो उनको लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३६२२. जइ पुण आयरिएहिं, सयमेव पडिस्सुतं भवति तस्स।
लक्खणमलक्खणजुतं, अतिरेगं जं तु तं तस्स॥

यदि आचार्य ने स्वयं ही उस लज्जालु के लिए अतिरिक्त पांच ग्रहण की बात स्वीकार कर ली हो तो लक्षणयुक्त अथवा अलक्षणयुक्त अतिरिक्त पात्र जो प्राप्त होता है, वह उसको देना चाहिए।

३६२३. बितिओ पंथे भणती, आसन्नागंतु विण्णवेंति गुरुं।
तं चेव पेसवंती, दूरगयाणं इमा मेरा॥

दूसरे प्रकार के मुनि वे होते हैं जो पात्र लाने वाले को मार्ग में देखकर कहते हैं—मेरे योग्य भी पात्र ले आना। ऐसा कहने पर यदि निकट हों तो वह पात्रग्राही मुनि गुरु को आकर उस मुनि की बात निवेदित करते हैं। अथवा पात्र मांगने वाले मुनि को ही गुरु के पास भेज देते हैं। दूर गए हुए मुनियों के लिए यह मर्यादा है, सामाचारी है।

३६२४. गेण्हामो अतिरेगं, तत्थ पुण विजाणगा गुरू अम्हं।
देहिंति तगं वण्णं, साधारणमेव ठावेंति॥

दूर गए हुए पात्रग्राही मुनि से कोई पात्र लाने के लिए कहे तो वह प्रत्युत्तर में कहे—हम अतिरिक्त पात्र लाएंगे। हमारे गुरु ही इसके विज्ञायक हैं। वे ही अतिरिक्त पात्र तुम्हें देंगे अथवा दूसरा, कौन जानता है। वे स्वयं उस सुंदर पात्र को रखलें अथवा जिसे देना चाहें, उसे दे दे। इस प्रकार साधारण बात उसे कहनी चाहिए।

३६२५. ततिओ लक्खणजुत्तं, अहियं वीसाए ते सयं गेण्हे।
एते तिन्नि विगप्पा, होंतऽतिरेगस्स नातव्वा॥

तीसरे प्रकार के मुनि वे होते हैं तो बीस से अधिक लक्षणयुक्त पात्रों को स्वयं ग्रहण कर लते हैं। ये तीन विकल्प अतिरिक्त पात्र के विषय में ज्ञातव्य हैं।

३६२६. सच्छंद पडिण्णवणा, गहिते गहणे य जारिसं भणियं।
अल थिर धुव धारणियं, सो वा अन्नो य णं धरए॥

स्वच्छंद आभिग्रहिक मुनि प्रतिज्ञापना करे अर्थात् विधिपूर्वक पात्र की मार्गणा करे। पात्र के गृहीत और ग्रहण के विषय में जैसे-जैसे कहा है (कल्पाध्ययन की पीठिका में) वैसे करे। आचार्य ने जितने पात्रों के लिए कहा उतने गृहीत कर लिए। फिर 'समर्थ तथा चिरकालस्थायी पात्र को धारण कर लेना चाहिए' इस न्यास से वह यह सोचकर ले लेता है कि आचार्य की अनुज्ञा से मैं इसे ग्रहण कर लूंगा अथवा आचार्य स्वयं इसे धारण कर लेंगे अथवा अन्य साधु इसे ग्रहण कर लेगा। इस प्रकार अतिरिक्त पात्र संभव है।

३६२७. ओमंथपाणमादी, गहणे तु विधिं तहिं पउंजंति।
गहिए य पगासमुहे, करेंति पडिलेह दो काले॥

पात्र-ग्रहण करने में इस विधि का प्रयोग करना चाहिए कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पात्र को अधोमुख कर प्राण आदि को झटक कर यतनापूर्वक भूमी पर डाल देना चाहिए। पात्र को ग्रहण करने के पश्चात् उनको प्रकाशमुख वाले करना चाहिए तथा दोनों कालों—प्रातः और सायं उनका प्रतिलेखन करना चाहिए।

३६२८. आणीतेसु तु गुरुणा, दोसुं गहितेसु तो जधावुड्ढं।
गेण्हंति उग्गहे खलु, ओमादी मत्त सेसेवं॥

लाए हुए पात्रों में से आचार्य दो—एक पात्र, एक मात्रक—अपने लिए रख ले। शेष बचे पात्रों को जितने मुनियों को देना है उतने विभाग करे और यथावृद्ध—यथारात्निक के क्रम से पात्र ग्रहण करे। फिर अवम रत्नाधिक तथा शेष साधु मात्रक को ग्रहण करे।

३६२९. एमेव अछिन्नेसु वि, गहिते गहणे य मोत्तु अतिरेगं।
एत्तो पुराणगहणं, वोच्छामि इमेहि तु पदेहिं॥

इसी प्रकार अच्छिन्न गृहीत और ग्रहण के विषय में ज्ञातव्य है, अतिरिक्त पात्र को छोड़कर अर्थात् वहां अतिरिक्त पात्र संभव नहीं होता। अब इन पदों से पुरातन ग्रहण के विषय में कहूंगा।

३६३०. आगमगम कालगते, दुल्लभ तहि कारणेहि एतेहिं।
दुविधा एगमणेगा, अणेगनिद्दिट्ठ निद्दिट्ठा॥

आगम, गम, कालगत तथा दुर्लभ—इन कारणों से पुराणग्रहण संभव है। जो पात्र देते हैं, वे दो प्रकार के हैं—एक अथवा अनेक। अनेक दो प्रकार हैं—निर्दिष्ट अथवा अनिर्दिष्ट।

३६३१. भायणदेसा एंतो, पाए घेत्तूण एति दाहंति।
दाऊणऽवरो गच्छति, भायणदेसं तहिं घेच्छं॥

पात्र निर्माण वाले देश से कोई व्यक्ति साधुओं को पात्र दूंगा, इस बुद्धि से पात्र लेकर आता है। (यह आगम द्वार है।) कोई दूसरा साधु पात्र-प्राप्ति वाले देश में इस बुद्धि से जाता है कि मैं वहां भाजन ले लूंगा। (यह गम द्वार है।)

३६३२. कालगयम्मि सहाए, भग्गे वण्णस्स होति अतिरेगं।
पत्ते लंबऽतिरेगे, दुल्लभपाए विमे पंच॥

किसी साधु का सहायक साधु कालगत हो गया अथवा उससे टूट गया, तब उसका पात्र अतिरिक्त हो गया। इस प्रकार दूसरे साधु का अतिरिक्त पुराण पात्र होता है। (यह कालगत द्वार है।) जिस देश में पात्र-प्राप्ति दुर्लभ होती है, वहां ये पांच पात्र धारण किए जा सकते हैं—

३६३३. नंदि-पडिग्गह-विपडिग्गहे य तह कमढगं विमत्तो य।
पासवणमत्तओ वि य, तक्कज्ज परूवणा चेव॥

पांच पात्र ये हैं—नंदी पतद्ग्रह, विपतद्ग्रह, कमढक, विमात्रक तथा प्रस्रवणमात्रक। उन पात्रों के कार्यों की यह प्ररूपणा है।[1]

३६३४. एगो निद्दिस एगं, एगो णेगो अणेग एगं वा।
णेगो णेगे ते पुण, गणि वसभे भिक्खु खुड्डे य॥

(जो पात्र देते हैं वे दो प्रकार के हैं—एक और अनेक। जिनको पात्र दिया जाता है वे भी दो प्रकार के हैं—एक अथवा अनेक) एक नियमतः निर्दिष्ट होता है और अनेक विकल्पतः निर्दिष्ट होते हैं। चतुर्भंगी इस प्रकार है—

१. एक दाता एक का निर्देश—अर्थात् अमुक को देना है।
२. एक अनेक को निर्दिष्ट करता है।
३. अनेक एक को निर्दिष्ट करते हैं।
४. अनेक-अनेक को निर्दिष्ट करते हैं।

ये निर्देश्य होते हैं—गणी (आचार्य तथा उपाध्याय) वृषभ, भिक्षु तथा क्षुल्लक।

३६३५. एमेव इत्थिवग्गे, पंचगमा अधव निद्दिसति मीसे।
दाउं वच्चति पेसे, वावी णिंते पुण विसेसा॥

इसी प्रकार स्त्रीवर्ग में भी पांच गम होते हैं (प्रवर्तिनी, अभिसेच्या, भिक्षुकी, स्थविरा और क्षुल्लकी)। अथवा जहां अनेक का निर्देश होता है, वहां मिश्र होते हैं—संयत और संयती दोनों होते हैं। वह वहां पात्र देकर जाता है तथा दूसरों के साथ भेजता है। स्वयं ले जाता है तो उसमें यह विशेष है। वह नीत भाजनों को समानवर्ग में अथवा असमान वर्ग में निर्दिष्ट करता है। संयत का समानवर्ग है संयतवर्ग और असमानवर्ग है संयतीवर्ग।

३६३६. सच्छंदमणिद्दिट्ठे, पावण निद्दिट्ठमंतरा देति।
चउलहु आदेसो वा, लहुगा य इमेसि अद्दाणे॥

अनिर्दिष्ट होने पर देने में स्वच्छंदता होती है। निर्दिष्ट होने पर उनको देना यह निर्दिष्ट प्रापण है। निर्दिष्ट व्यक्ति यदि अंतरा—दूसरों को देता है तो उसे चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसमें आदेश अर्थात् मतनांतर भी है। इनके अनुसार दूसरों को देने पर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त आता है। अध्वाननिर्गत आदि को न देने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। (देखें आगे का श्लोक)

३६३७. अद्धाण बालवुड्ढे, गेलन्ने जुंगिते सरीरेण।
पायच्छि-नास-कर-कन्न, संजतीणं पि एमेव॥

अध्वनिर्गत, बाल, वृद्ध, ग्लान, शरीर से जुंगित (हीनांग)—जैसे पाद, आंख, नासिका, हाथ, कान आदि से हीन तथा इसी प्रकार संयतियों को न देने से प्रायश्चित्त (चार लघुमास

१. नंदी—यह बहुत बड़ा पात्र होता है। अवमौदर्य आदि में यह कार्यकर होता है।
विपतद्ग्रह—मूल पात्र से कुछ छोटा पात्र। मूलपात्र के टूट जाने पर इसका उपयोग होता है।
कमढक—सागारिक की जुगुप्सा से रक्षा करने के लिए पात्र विशेष।
विमात्रक—मात्रक से कुछ न्यून अथवा अधिक।
प्रस्रवणमात्रक—विशेषरूप से प्रस्रवण के काम आने वाला, ग्लान अथवा आचर्य के लिए प्रयोजनीय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का) आता है।

३६३८. अद्धाण ओम असिवे, उद्दूढाण वि न देति जं पावे।
बालस्सऽज्झोवाते, थेरस्सऽऽसतीय जं कुज्जा॥

जो अध्वनिर्गत, अवमौदर्यनिर्गत, अशिवनिर्गत, पानी से प्लावित हैं उनको पात्र नहीं देने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। सुंदर पात्र को देखकर बालक उसके प्रति अत्यधिक आसक्त हो जाता है। वृद्ध को पात्र न देने पर उसमें अधृति होती है। इन सबसे निष्पन्न प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।

३६३९. अतरंतस्स अदेंते, तप्पडियरगस्स दावि जा हाणी।
जुंगित पुव्वनिसिद्धो, जाति विदेसेतरो पच्छा॥

ग्लान और परिचारक को पात्र न देने पर चारलघुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा पात्र के बिना होने वाली हानि के निमित्त का प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है। जुंगित का पहले ही निषेध किया जा चुका है। जो जाति से जुंगित है उसे विदेश में (अज्ञातरूप में) प्रव्रजित किया गया है अथवा जो प्रव्रजित होने के पश्चात् शरीर से जुंगित हुआ है।

३६४०. जातीय जुंगितो पुण,
जत्थ न नज्जति तहिं तु सो अच्छे।
अमुगनिमित्तं विगलो,
इतरो जहि नज्जति तहिं तु॥

जो जाति से जुंगित है और वह जहां नहीं पहचाना जाता, वह तथा जो अमुक निमित्त से शरीर जुंगित हुआ है, ऐसा जाना जाता है, वह वहीं रहे। (अन्यत्र जाने से लोगों में अपवाद होता है।)

३६४१. जे हिंडंता काए, वधिंति जे वि य करेंति उड्डाहं।
किन्नु हु गिहि सामन्ने, वियंगिता लोगसंका उ॥

जो शरीर से जुंगित हैं वे इधर-उधर घूमते हुए पृथ्वीकाय आदि की हिंसा करते हैं। जो नाक आदि कटे हुए जुंगित हैं वे प्रवचन का उड्डाह करते हैं। उन्हें देखकर लोगों में यह शंका होती है कि निश्चित ही ये गृहसामान्य में व्यंगता को प्राप्त थे। अर्थात् गृहस्थावस्था में भी शरीरावयव से विकल थे।

३६४२. पायच्छि-नास-कर-कण्ण, जुंगिते जातिजुंगिते चेव।
वोच्चत्थे चउलहुगा, सरिसे पुव्वं तु समणीणं॥

शरीर से जुंगित पांच हैं—छिन्नपाद, अक्षिकाण, छिन्ननासा, छिन्नकर, छिन्नकर्ण तथा छठा है जाति जुंगित। यदि पर्याप्त पात्र हों तो सबको देने चाहिए। पर्याप्त न हों तो उपन्यस्तक्रम से पांच दातव्य हैं। विपर्यास करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त है। समान जुंगितत्व हो तो पहले श्रमणियों को पात्र दातव्य है और फिर श्रमणों को।

३६४३. अह एते तु न हुज्जा, ताधे निद्दिट्ठ पादमूलं तु।
गंतूण इच्छकारं, काउं तो तं निवेदेति॥

यदि प्रागुक्त अध्वनिर्गत आदि न हों तो जिसके लिए पात्र निर्दिष्ट है उसके पादमूल (पास) में जाकर, इच्छाकारपूर्वक वह पात्र उसे समर्पित कर दे। (यह कहे—यह पात्र तुम्हारे लिए लाया हूं, इच्छाकार से तुम इसे ग्रहण करो।)

३६४४. अदिट्ठे पुण तहियं, पेसे अधवा वि तस्स अप्पाहे।
अध उ न नज्जति ताहे, ओसरणेसुं तिसु वि मग्गे॥

३६४५. एगे वि महंतम्मि उ, उग्घोसेऊण नाउ नेति तहिं।
अह नत्थि पवत्ती से, ताधे इच्छाविवेगो वा॥

जिसके लिए पात्र निर्दिष्ट है और वह नहीं दिखाई दे तो दूसरे के हाथों उसे उसके पास भेजे अथवा उसे संदेश कहलाए। यदि उसका अता-पता ज्ञात न हो तो समवसरण में जाकर उस साधु की मार्गणा करे। न मिलने पर किसी एक बड़े समवसरण में उस मुनि के लिए उद्घोषणा कराए। मिल जाने पर वह पात्र उसे दे दे अथवा जहां वह मुनि है वहां उस पात्र को स्वयं ले जाए अथवा दूसरों के हाथ से उसे उस मुनि के पास पहुंचा दें। यदि उसका कोई वृत्तांत न मिले तो इच्छा हो तो उस पात्र को स्वयं धारण करे अथवा दूसरे को दे अथवा उसका परिष्ठापन कर दे।

३६४६. एगे उ पुव्वभणिते, कारण निक्कारणे दुविधभेदो।
आहिंडग ओधाणे, दुविधा ते होंति एक्केक्का॥

एकाकी के दो प्रकार पूर्व कथित हैं—कारणवश तथा निष्कारण। आहिंडक तथा अवधान—इनमें प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं।

३६४७. असिवादी कारणिया, निक्कारणिया य चक्कथूभादी।
उवदेस-अणुवएसे, दुविधा आहिंडगा होंति॥

जो अशिव आदि के कारण एकाकी हुए हैं वे कारणिक हैं और जो चक्र, स्तूप आदि की वंदना करने के लिए एकाकी हुए हैं वे निष्कारणिक हैं। अहिंडक दो प्रकार के हैं—उपदेश से तथा अनुपदेश से।[1]

३६४८. ओहावंता दुविधा, लिंग विहारे य होंति नातव्वा।
एगागी छप्पेते, विहार तहिं दोसु समणुण्णा॥

अवधावी दो प्रकार के ज्ञातव्य हैं—लिंग से तथा विहार से। निम्नोक्त छहों विहारी एकाकी होते हैं—कारणिक, निष्कारणिक, औपदेशिक, अनौपदेशिक, लिंग से अवधावी, विहार से अवधावी। (ये छहों यद्यपि मुनिवृंद के साथ घूमते हैं, परंतु गच्छ से निर्गत होने के कारण एकाकी कहे जाते हैं।) इन छहों में दो समनोज्ञ

१. उपदेश से आहिंडक-१२ वर्ष तक सूत्र ग्रहण, १२ वर्ष तक अर्थग्रहण फिर १२ वर्ष तक देशदर्शन के लिए गमन।
अनुपदेश से आहिंडक—अमुक अवधि तक चैत्यवंदन के लिए देश गमन करने वाले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं–अशिवादिकारणिक तथा औपदेशिक हिंडक।[1]

३६४९. निक्कारणिएऽणुवदेसिए य आपुच्छिऊण वच्चंते।
अणुसासंति उ ताधे, वसभा उ तहिं इमेहिं तु॥

यदि निष्कारणिक तथा अनौपदेशिक आचार्य को पूछकर जाते हैं तो वृषभ इन वचनों से उन पर अनुशासन करते हैं–

३६५०. एसेव चेइयाणं, भत्तिगतो जो तवम्मि उज्जमती।
इति अणुसिट्ठे अठिते, असंभोगायारभंडं तु॥

वही चैत्यों की भक्ति के लिए उपनत है (भक्तिगत है) जो तपस्या में उद्यम करता है। यदि इस प्रकार अनुशासित होने पर वह नहीं रुकता है तो उससे सांभोगिक उपकरण लेकर उसको असंभोगिक आचार भांड समर्पित किया जाता है।

३६५१. खग्गूडेणोवहतं, अमणुण्णे सागयस्स वा जं तु।
असंभोगिय उवकरणं, इहरा गच्छे तगं नत्थि॥

जो उपकरण खग्गूड–स्वच्छंद व्यक्ति द्वारा उपहत है, अमनोज्ञ मुनियों से आया हुआ है, वह असांभोगिक उपकरण (आचारभांड) है। इतरथा–प्रकारद्वय से व्यतिरिक्त दूसरा आसांभोगिक उपकरण गच्छ में नहीं है।

३६५२. तिट्ठाणे संवेगे, सावेक्खो निवत्त तद्दिवसपुच्छा।
मासो वुच्छ विवेचण, तं चेवऽणुसट्ठिमादीणि॥

गच्छनिर्गत व्यक्ति को तीन स्थानों (ज्ञान, दर्शन और चारित्र) से संवेग प्राप्त हो सकता है और वह सापेक्ष होकर प्रतिनिवर्तन करता है। यदि उसी दिन लौट आता है तो वह शुद्ध है। यदि मास तक बाहर रहकर आता है तो उसके उपकरणों का परिष्ठापन, प्रायश्चित्तदान तथा अनुशिष्टि आदि दी जाती है।

३६५३. अज्जेव पाडिपुच्छं, को दाहिति संकियस्स मे उभए।
दंसणे कं उववूहे, किं थिरकरे कस्स वच्छल्लं॥
३६५४. सारेहिति सीदंतं, चरणे सोहिं च काहिती को मे।
एव नियत्तऽणुलोमं काउं, उवहिं च तं देंती॥

आज ही सूत्र और अर्थ–दोनों के विषय में मेरी शंका का कौन प्रतिपृच्छा–समाधान करेगा–यह ज्ञान विषयक चिंतना है।

दर्शन में मैं किसका उपबृंहण, स्थिरीकरण और वात्सल्य करूंगा। चारित्र में शिथिल हुए मुझको कौन दृढ़ करेगा? कौन प्रायश्चित्त स्थान को प्राप्त मेरी शोधि करेगा? इस प्रकार सोचकर वह गच्छ में प्रतिनिवर्तन करता है। उसको अनुलोम वचन कहकर उसको वही उपधि देते है।

३६५५. दुविधोधावियं वसभा, सारेंति भयाणि व से साहिंती।
अट्ठारसठाणाइं, हयरस्सिगयंकुसनिभाइं॥

दोनों प्रकार के अवधावियों को वृषभ शिक्षा देते हैं, होने वाले भयों की अवगति देते हैं। उन्हें अश्व के लिए लगाम और हाथी के लिए अंकुश सदृश अठारह स्थानों की बात बताते हैं।

३६५६. संविग्गमसंविग्गे, सारूविय-सिद्धपुत्तमणुसिट्ठे।
आगमणं आणयणं, तं वा घेत्तुं न इच्छंति॥

संविग्न, असंविग्न, सारूपिक, सिद्धपुत्र आदि उनको अनुशासन देते हैं। यदि वे आ जाते हैं अथवा संविग्न आदि उन्हें लेकर आते हैं अथवा वे आना नहीं चाहते तो उनकी विधि यह है।

३६५७. संविग्गाण सगासे, वुत्थो तहिं अणुसासिय नियत्तो।
लहुगो नोवहम्मती, इतरे लहुगा उवहतो य॥

संविग्नों के पास रहकर, उनके अनुशासन को मानकर वह निवर्तन करता है तो उसका प्रायश्चित्त है लघुमास। उसके उपधि का उपहनन नहीं होता। जो असंविग्न आदि के समीप रहकर उनके अनुशासन को मानकर निवर्तन करता है उसके चार लघुमास का प्रायश्चित्त तथा उपकरणों का उपहनन होता है।

३६५८. संविग्गादणुसिट्ठो, तद्दिवसनियत्तो जइ वि न मिलेज्जा।
न य सज्जति वइयादिसु, चिरेण वि हु तो न उवहम्मे॥

यदि संविग्नों के द्वारा अनुशिष्ट है और उसी दिन प्रतिनिवृत्त हो गया है किंतु उसी दिन (गच्छ में) नहीं मिला है, व्रजिका आदि में नहीं गया है और वह चिरकाल के बाद भी आता है तो उसके उपकरणों का उपहनन नहीं होता।

३६५९. एगाणियस्स सुवणे, मासो उवहम्मते य सो उवधी।
तेण परं चउलहुगा, आवज्जति जं च तं सव्वं॥

यदि वह एकाकी आता है, रात को सोता है तो उसे एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा उसके उपधि का उपहनन होता है। यदि दस दिन के पश्चात् अन्य दिन लगते हैं तो प्रायश्चित्त है चार लघुमास का और वह यदि व्रजिका आदि में जाता है तो उसके निमित्त से निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।

३६६०. संविग्गेहणुसिट्ठो, भणेज्ज जइ हं इहेव अच्छामि।
भण्णति ते आपुच्छसु, अणिच्छ तेसिं निवेदेंति॥
३६६१. सो पुण पडिच्छओ वा, सीसे वा तस्स निग्गतो जत्तो।
सीसं समणुण्णातं, गेण्हंतितरम्मि भयणा उ॥

संविग्नों से अनुशासित होकर यदि वह कहता है कि मैं आपके पास रहूंगा। तब उसे कहे–तुम अपने आचार्य को पूछो। यदि वह पूछना नहीं चाहता तो वे स्वयं आचार्य को निवेदन करते हैं। वह निर्गत मुनि उन आचार्यों का शिष्य अथवा प्रातीच्छक हो सकता है। यदि शिष्य हो और आचार्य उन संविग्नों के निवेदन का अनुमोदन करते हैं तब उस मुनि को वे स्वीकार कर लेते हैं अन्यथा नहीं। और यदि वह निर्गत मुनि उन आचार्यों का प्रातीच्छक हो तो उसके विषय में भजना है।

१. इन दो के द्वारा आनीत पात्र लिए जा सकते हैं। शेष की भजना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६६२. उद्दिट्ठमणुद्दिट्ठे उद्दिट्ठ समाणयम्मि पेसंति।
वायंति वणुण्णायं, कडं पडिच्छंति उ पडिच्छं॥

प्रातीच्छिक को पूछा जाता है—श्रुतस्कंधादि उद्दिष्ट हैं अथवा अनुदिष्ट। यदि उद्दिष्ट हैं फिर भी वह आता है, तो उसे उन्हीं आचार्य के पास भेज देते हैं। यदि वे आचार्य यह कहें कि तुम ही इसको वाचना दो तो उनके द्वारा अनुज्ञात होकर वे वाचना देते हैं। श्रुतस्कंध आदि समाप्त करने पर उस प्रातीच्छक को स्वीकार कर लेते हैं।

३६६३. एवं ताव विहारे, लिंगोधावी वि होति एमेव।
सो पुण संकिमसंकी, संकिविहारे य एगगमो॥

इस प्रकार विहारावधावी का कथन किया है। लिंगावधावी भी इसी प्रकार होता है। वह दो प्रकार का है—शंकी, अशंकी। शंकी लिंगावधावी तथा विहारावधावी—इन दोनों का एक ही गम है अर्थात् जो विहारावधावी के लिए कहा है वही शंकी लिंगावधावी के लिए वक्तव्य है।

३६६४. संविग्गमसंविग्गे, संकमसंकाए परिणतविवेगो।
पडिलेहण निक्खिवणं, अप्पणो अट्ठाय अन्नेसिं॥

यदि शंकी अथवा अशंकी संविग्न अथवा असंविग्न के रूप में परिणत हो जाता है तो उसके उपकरणों का परिष्ठापन कर देना चाहिए। वह सोचता है—ये उपकरण मेरे लिए अथवा दूसरों के लिए होंगे, यह सोचकर वह उन उपकरणों का यतनापूर्वक प्रतिलेखन तथा निक्षेपण करता है।

३६६५. घेत्तूणऽगारलिंगं, वती व अवती व जो उ ओधावी।
तस्स कडिपट्टदाणं, वत्थुं वासज्ज जं जोग्गं॥

लिंगावधावी दो प्रकार का होता है—अगारलिंग से अवधावी तथा स्वलिंगसहित अवधावी। जो आगारलिंग से अवधावन करता है वह व्रती अथवा अव्रती हो सकता है। उसको कटिपट्टक देना चाहिए तथा जो वस्तु उसके योग्य हो, वह देनी चाहिए।

३६६६. जइ जीविहिंति जइ वा वि,
तं धणं धरति जइ व वोच्छंति।
लिंगं मोच्छिति संका,
पविट्ठ वुच्छेव उवहम्मे॥

स्वलिंग सहित अवधावन करने वाले दो प्रकार के होते हैं—शंकी तथा अशंकी। अशंकी यह सोचता है—यदि मेरे स्वजन जीवित होंगे, यदि धन धारण करते हैं अथवा यदि धन है और यदि वे मुझे लिंग को छोड़ने के लिए कहेंगे तब मैं उन्निष्क्रमण करूंगा, इस प्रकार की शंकावाला मुनि किसी के द्वारा अनुशासित होकर संविग्न अथवा असंविग्न मुनियों के उपाश्रय में प्रवेश करता है तो उसके उपकरणों का उपहनन किया जाता है।

३६६७. समुदाण चरिगाण व, भीतो गिहिपंत तक्करणं वा।
णीउवधिं सो तेणो, पविट्ठ वुत्थे वि न विहम्मे॥

जो समुदान (भैक्ष) के भय से तथा चारिका के भय से तथा गृहस्थप्रांत तथा तस्करों के भय से उपधि को लेकर उपधि सहित संविग्न अथवा असंविग्न के उपाश्रय में प्रवेश करता है, वहां रहता है तो भी उसके उपकरणों का उपहनन नहीं होता। (क्योंकि वह उस उपधि से समन्वित भावतः गृहस्थ ही है।)

३६६८. नीसंको वणुसिट्ठो, नीहुवहिमयं अहं खु ओहामी।
संविग्गाण य गहणं, इतरेहि विजाणगा गेण्हे॥

अथवा निःशंक रूप से जाता हुआ संविग्न या असंविग्न से अनुशिष्ट होने पर वह कहता है—यह उपधि उनके पास ले जाओ मैं निश्चित ही आवधावन करूंगा। वह यदि संविग्नों के हाथ से उपधि भेजता है तो उसका ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि इतर अर्थात् अगीतार्थ के हाथों उपधि भेजता है और सब गीतार्थ हों तो उसे ग्रहण कर लेते हैं।

३६६९. नीसंकितो वि गंतूण, दोहि वि वग्गेहि चोदितो एती।
तक्खण णिंत हम्मे, तहिं परिणतस्स उवहम्मे॥

निःशंकित भी दोनों वर्गों—संविग्न अथवा असंविग्न के द्वारा अनुशासन प्राप्त कर उनके उपाश्रय में जाकर तत्काल वहां से निर्गमन कर देता है तो उसके उपकरण का उपहनन नहीं किया जाता। यदि वहां रहने का उसका परिणाम हो जाता है तब भी उसके उपधि का उपहनन हो जाता है।

३६७०. अत्तट्ठ परट्ठा वा, पडिलेहिय रक्खितो वि उ न हम्मे।
एवं तस्स उ नवरिं, पवेस वइयादिसू भयणा॥

वह उपकरणों का स्वयं के लिए अथवा दूसरों के लिए यतनापूर्वक प्रतिलेखन करता है, उनका संरक्षण करता है तो उसके उन उपकरणों का उपहनन नहीं होता। विशेष यह है कि लौटते हुए वह व्रजिका आदि में प्रवेश करता है तो उपकरणों के उपहनन की भजना है।

३६७१. अध पुण तेणुवजीवति, सारूविय-सिद्धपुत्तलिंगीणं।
केइ भणंतुवहम्मति, चरणाभावा तु तन्न भवे॥

यदि वह प्रतिनिवृत्त नहीं होता किंतु उसी लिंग से जीवन—भिक्षा आदि चलाता है अर्थात् सारूपिकत्व अथवा सिद्धपुत्रत्व रूप से स्थित होता है तो क्या उस स्थिति में उत्पादित उपकरणों का उपहनन होता है या नहीं? कुछ कहते हैं—चारित्र के अभाव में उपधि का उपहनन अथवा अनुपहनन का प्रसंग ही नहीं आता।

३६७२. सो पुण पच्चुट्ठित्तो, जदि तं से उवहतं तु उवगरणं।
असतीय व तो अन्नं, उग्गोवेंति त्ति गीतत्थो॥

वह पुनः संयम के लिए उत्थित हो गया और यदि उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपकरण उपहत हो गए अथवा नहीं हैं तो गीतार्थ मुनि अन्य उपधि का उत्पादन करते हैं।

३६७३. संजतभावित खेत्ते, तस्सऽसतीए उ चक्खुवेंटिहतं।
तस्सऽसतिवेंटलहते, उप्पाएंतो उ सो एती॥

वे उपधि का उत्पादन संयतभावित क्षेत्र (उस क्षेत्र से जहां पहले संयत रूप में रहे थे) से करते हैं। उसके अभाव में चक्षुवेंटिहत—दृष्टि से परिचित क्षेत्र से करते हैं। इसके अभाव में वेंटलहत अर्थात् वह क्षेत्र जहां पहले विंटल (जादू आदि) के प्रयोग से आहार और उपधि का उत्पादन किया था, उस क्षेत्र से उपधि का उत्पादन कर वे गीतार्थ मुनि आते हैं।

३६७४. जाणंति एसणं वा, सावगदिट्ठी उ पुव्वझुसिता वा।
विंटलभाविय णेण्हिं, किं धम्मो न होति गेण्हेज्जा॥

दृष्टि से पूर्व परिचित श्रावक एषणा आदि दोषों को जानते हैं। वे दोष विशुद्ध उपकरण देते हैं। गीतार्थ यदि वेंटल भावित क्षेत्र से उपधि का उत्पादन करते हैं तो वहां के लोग कहते हैं—तुमको बिना किसी प्रतिफल की आशा से देना क्या धर्म नहीं होगा? उनसे उपकरण ग्रहण करते हैं।

३६७५. एवं उप्पाएउं, इतरं च विगिंचिऊण तो एती।
असती य जधा लाभं, विविंचमाणे इमा जतणा॥

इस प्रकार उत्पादन कर, इतर का परिष्ठापन कर वह आता है। यदि प्राप्ति नहीं होती तो परिष्ठापन की यह यतना है।

३६७६. उवहतउग्गहलंभे, उग्गहण विगिंच मत्तए भत्तं।
अप्पत्ते तत्थ दवं, उग्गहभत्तं गिहिदवेणं॥

३६७७. अपहुव्वंते काले, दुल्लभदवऽभाविते य खेत्तम्मि।
मत्तगदवेण धोव्वति, मत्तगलंभे वि एमेव॥

उपहत उग्गह—अर्थात् अशुद्ध पतद्ग्रह होने पर जब शुद्ध पात्र का लाभ होता हो तो उस अशुद्ध का परिष्ठापन कर देना चाहिए। उसकी विगिंचना हो जाने पर पतद्ग्रह विशुद्ध और मात्रक अविशुद्ध होता है। मात्रक में भक्त लेना चाहिए और उस पतद्ग्रह में पानी। इस पानी से फिर मात्रक का कल्प करे। यदि मात्रक में गृहीत भक्त अपर्याप्त होता हो तो मात्रक में द्रव—पानी तथा पतद्ग्रह में भक्त ले। आहार करने के पश्चात् गृहस्थ के भाजन से पानी लाकर भक्त के पात्र को साफ करे, मात्रक के पानी से साफ न करे। यदि गृहस्थ के भाजन में पानी लाने तक का काल पर्याप्त न होने पर अथवा वह क्षेत्र अभावित है। द्रव—पानी मिलना दुर्लभ है तब मात्रक के पानी से पतद्ग्रह धो डाले। इसी प्रकार विशुद्ध मात्रक के लाभ में भी यही सारी विधि ज्ञातव्य है।

३६७८. चोदेति सुद्धऽसुद्धे, संफासेणं तु तं तु उवहम्मे।
भण्णति संफासेणं, जेसुवहम्मे न सिं सोधी॥

जिज्ञासु कहता है, शुद्ध भक्त-पान भी अशुद्ध के संस्पर्श से उपहत हो जाता है। आचार्य कहते हैं—संस्पर्श से जिनका उपहनन हो जाता है, उनकी शोधि नहीं होती।

३६७९. लेवाडहत्थछिक्के, सहस अणाभेगतो व पक्खित्ते।
अविसुद्धग्गहणम्मि व, असुज्झ सुज्झेज्ज वा इतरं॥

असांभोगिक पात्र में गृहीत भक्तपान से लिप्त हाथों से सहसा अथवा अनाभोग से—एकांत विस्मृति से असांभोगिक से सांभोगिक पात्र में क्षिप्त होने पर वह भी असांभोगिक हो जाता है। अविशुद्ध आहार आदि के ग्रहण से वह भाजन भी अशुद्ध हो जाता है। तो इसी प्रकार अशुद्ध शुद्ध के संस्पर्श से शुद्ध हो जाएगा। ऐसा नहीं होता।

३६८०. लक्खणमतिप्पसत्तं, अतिरेगे वि खलु कप्पती उवधी।
इति आहारेमाणं, अतिप्पमाणे बहू दोसा॥

अतिरेक उपधि कल्पती है—इस लक्षण की अतिप्रसक्ति से आहार भी अतिप्रमाण में ग्रहण न करे। अतिप्रमाण में आहार करने से बहुत दोष हैं।

३६८१. अधवावि पडिग्गहगे, भत्तं गेण्हंति तस्स किं माणं।
जं जं उवग्गहे वा, चरणस्स तगं तगं भणती॥

अथवा पूर्वसूत्र में पतद्ग्रह के विषय में बताया है। उसमें भक्त लिया जाता है। उसका प्रमाण कितना होना चाहिए, यह इस सूत्र में बताया गया है। चारित्र के लिए वह कितना उपग्रहकारक है, वह सूत्रकार बताते हैं।

३६८२. नियआहारस्स सया, बत्तीसइमो उ जो भवे भागो।
तं कुक्कुडिप्पमाणं, नातव्वं बुद्धिमंतेहिं॥

सदा अपने आहार की मात्रा का जो बत्तीसवां भाग है वह बुद्धिमान् मनुष्यों को कुक्कुटि के अंडे के प्रमाण का मानना चाहिए।

३६८३. कुच्छियकुडी तु कुक्कुडि, सरीरगं अंडगं मुहं तीए।
जायति देहस्स जतो, पुव्वं वयणं ततो सेसं॥

कुत्सित कुटी कुक्कुटी अर्थात् शरीर। शरीर रूपी कुक्कुटी का अंडक—मुख महान् होता है, मुख्य होता है। क्योंकि चित्र में, गर्भ में अथवा उत्पात में पहले शरीर का मुख होता है, शेष उसके पश्चात् (प्रथम होने के कारण मुख अंडक कहलाता है।)

३६८४. थलकुक्कुडिप्पमाणं, जं वाणायासिते मुहे खिवति।
अयमन्नो तु विगप्पो, कुक्कुडिअंडोवमे कवले॥

स्थलकुक्कुटि (अंडक) प्रमाण-स्थल का अर्थ है खुले मुंह का आकाश। उतने प्रमाण वाला कवल जो अनायासित—खुले मुंह में प्रक्षिप्त किया जा सके। इसका दूसरा विकल्प अर्थात् अर्थ है—कुक्कुटि अंडक की उपमा से उपमित कवल।

३६८५. अट्ठ त्ति भाणिऊणं, छम्मासा हावते तु बत्तीसा।
नामं चोदगवयणं, पासाए होति दिट्ठंतो॥

सूत्र में जो आठ कवल की बात कही है, वह जघन्य अवमौदर्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, अल्पाहार है। छह मास तक पारणक में एक-एक सिक्थ कम करते हुए यावत् बत्तीस कवल। जिज्ञासु का वचन। यहां प्रासाद का दृष्टांत होता है। (इसकी व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

३६८६. छम्मासखवणंतम्मि, सित्थादण्हातु लंबणं।
तत्तो लंबणवड्ढीए, जावेक्कतीस संथरे॥

छह महीने की तपस्या के पारणक में एक सिक्थ से प्रारंभ कर एक लंबन–कवल तक ले जाए। फिर कवल की वृद्धि करते हुए इकतीस कवलों से अपना निर्वाह करे।

३६८७. एक्कमेक्कं तु हावेत्ता, दिणं पुव्वेक्कमेव उ।
दिणे दिणे उ सित्थादी, जावेक्कतीस संथरे॥

इसी प्रकार पूर्वक्रम से एक-एक कवल की हानि करते हुए, फिर एक-एक सिक्थ की कमी करते हुए इकतीस कवलों की हानि कर अपना निर्वाह करे।

३६८८. पगामं होति बत्तीसा, निकामं जं तु निच्चसो।
दुप्पविजहया तेसु, गेही भवति वज्जिया॥

बत्तीस कवल का आहार प्रकाम माना जाता है। उतना प्रतिदिन खाना निकाम कहलाता है। जो इन दोनों का त्याग करता है, उसकी गृद्धि वर्जित होती है।

३६८९. अप्पावड्ढदुभागोम, देसणं नाममेत्तगं नामं।
पतिदिणमेक्कत्तीसं, आहारेह त्ति जं भणह॥

यदि यह कहा जाता है कि प्रतिदिन इकतीस कवल आहार करना चाहिए तो फिर अल्प, अपार्ध, द्विभाग, अवमौदर्य आदि का उपदेश नाममात्र होगा। यह जिज्ञासु का प्रश्न था।

३६९०. भण्णति अप्पाहारादओ समत्थस्सऽभिग्गहविसेसा।
चंदायणादओ विव, सुत्तनिवातो पगामम्मि॥

आचार्य कहते हैं–अल्पाहार आदि का कथन समर्थ के लिए तथा अभिग्रहविशेष चंद्रायण आदि से संबंधित है। यह सूत्रनिपात है। अंतिम है–प्रकाम, निकाम भोजन का निषेध करने वाला।

३६९१. अप्पाहारग्गहणं, जेण य आवस्सयाण परिहाणी।
न वि जायति तम्मत्तं, आहारेयव्वयं नियमा॥

अल्पाहार का ग्रहण इसलिए है कि मुनि को उतना मात्र आहार नियमतः ग्रहण करना चाहिए जितने मात्र से आवश्यक योगों की हानि न हो।

३६९२. दिट्ठंतोऽमच्चेणं, पासादेणं तु रायसंदिट्ठे।
दव्वे खेत्ते काले, भावेण य संकिलेसेति॥

प्रासाद का दृष्टांत है। एक राजा ने अमात्य को प्रासाद बनाने के लिए आदेश दिया। अमात्य द्रव्यलोभी था। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से कर्मकरों को क्लेश देता था।

३६९३. अलोणाऽसक्कयं सुक्खं, नो पगामं व दव्वतो।
तं खेत्ताणुचियं उण्हे, काले उस्सूरभोयणं॥

३६९४. भावे न देति विस्सामं, निट्ठुरेहिं च खिंसति।
जियं भतिं च नो देति, नट्ठा अकयदंडणा॥

द्रव्य से उन कर्मकरों को अलवणयुक्त, असंस्कारित तथा शुष्क चनक आदि का भोजन भी अपर्याप्त मात्रा में देता था। क्षेत्र से–जो उस क्षेत्र में अनुचित भक्तपान होता, वह देता था। काल से–गर्मी के काल में काम करवाता और उत्सूर ( ) में भोजन देता था। भावतः वह कर्मकरों को विश्राम के लिए अवकाश नहीं देता था। वह निष्ठुर वचनों से उनका तिरस्कार करता था। वह उन कर्मकरों को उनकी वृत्ति भी नहीं चुकाता था। इन सबसे पीड़ित होकर वे सारे कर्मकर प्रासाद का निर्माण संपन्न किए बिना पलायन कर गए। राजा ने फिर अमात्य को दंडित किया, उसे अमात्यपद से हटा दिया।

३६९५. अकरणे पासायस्स उ,
जह सोऽमच्चो तु दंडितो रण्णा।
एमेव य आयरिए,
उवणयणं होति कातव्वं॥

प्रासाद के निर्माण को पूर्ण न करने पर राजा ने उस अमात्य को दंडित किया। इसी प्रकार आचार्य पर इस कथन का उपनयन करना चाहिए।

(राजा स्थानीय हैं तीर्थंकर। अमात्य स्थानीय हैं आचार्य। सिद्धि रूपी प्रासाद की साधना के लिए उनको आदेश दिया गया है। वे कर्मकर स्थानीय साधुओं के साथ इस प्रकार का व्यवहार करते हैं कि वे सब पलायन कर जाएं।)

३६९६. कज्जम्मि वि नो विगतिं,ददाति अंतं न तं च पज्जत्तं।
खेत्ते खलु खेत्तादी, कुवसहिउब्भामगे चेव॥

३६९७. ततियाए देति काले, ओमे वुस्सग्ग वादिओ निच्चं।
संगहउवग्गहे वि य, न कुणति भावे पयंडो य॥

आचार्य प्रयोजन होने पर भी साधुओं को विकृति (घी आदि) लेने की आज्ञा नहीं देते। आहार भी अंत-प्रांत और वह भी अपर्याप्त रूप में देते हैं। क्षेत्रतः साधुओं को ऐसे क्षेत्र में भेजते हैं जो केवल नाममात्र के क्षेत्र हैं, कुवसति में अथवा उद्भ्रामक ग्राम में भेजते हैं। कालतः तीसरे प्रहर में भोजन देते हैं। भावतः वे दुर्भिक्ष अथवा व्युत्सर्ग में अथवा वादकाल में, सदा ज्ञान आदि के संग्रहण में तथा वस्त्र, पात्र आदि से उपग्रह–उपकार नहीं करते तथा वे प्रचंड कोपनशील हैं।

३६९८. लोए लोउत्तरे चेव, दो वि एते असाहगा।
विवरीयवत्तिणो सिद्धी, अन्ने दो वि य साहगा॥

प्रस्तुत दोनों (अमात्य और आचार्य) लोक और लोकोत्तर के असाधक होते हैं। इनसे विपरीतवर्ती अन्य दोनों द्रव्यतः और भावतः साधक होते हैं। आचार्य को सिद्धि और अन्य को प्रासाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के निर्माण की सिद्धि होती है।

३६९९. सिद्धीपासायवडेंसगस्स करणं चउव्विधं होति।
दव्वे खेत्ते काले, भावे य न संकिलेसेंति॥

सिद्धिरूपी महान् रमणीय प्रासाद का निर्माण चार प्रकार का होता है–द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः। गीतार्थ आचार्य साधुओं को क्लेश नहीं पहुंचाता।

३७००. एवं तु निम्मवेंती, ते वी अचिरेण सिद्धिपासादं।
तेसिं पि इमो उ विधी, अहारेयव्वए होति॥

इस प्रकार संक्लेश न देने के कारण वे साधु शीघ्र ही सिद्धिरूप प्रासाद का निर्माण कर लेते हैं। उनकी भोजन विधि इस प्रकार है–

३७०१. अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भाए।
वायपवियारणट्ठा, छब्भागं ऊणयं कुज्जा॥

भोजन के समय उदर का आधाभाग व्यंजनसहित आहार के लिए रखे तथा दो भाग द्रव के लिए रखे। वायु के विचरण के लिए छठा भाग रखे, आहार कम करे। (तात्पर्यार्थ यह है–उदर के छह भाग करें–तीन भाग अशन के लिए, दो भाग पानी के लिए और छठा भाग वायु के विचरण के लिए–यह साधारण नियम है। वर्षावास–चार भाग सव्यंजन अशन के लिए, पांचवां भाग पानी के लिए छठा भाग वायु के विचरण के लिए। ग्रीष्मकाल में–दो भाग अशन के लिए, तीन भाग पानी के लिए तथा छठा भाग वायु के लिए।)

३७०२. एसो आहारविधी, जध भणितो सव्वभावदंसीहिं।
धम्माऽवस्सगजोगा, जेण न हायंति तं कुज्जा॥

सर्वभावदर्शी तीर्थंकरों ने यह आहार विधि कही है। धर्म के निमित्त जो आवश्यक योग करने होते हैं, वे न्यून न हों, उस प्रकार आहार करें।

आठवां उद्देशक समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नौवां उद्देशक

३७०३. आहारो खलु पगतो, घेत्तव्वो सो कहिं न वा कधितं।
सागारियपिंडस्सा, इति नवमे सुत्तसंबंधो॥

आहार का अधिकार है। उस (शय्यातरपिंड को) कहां लेना चाहिए और कहां नहीं लेना चाहिए, वह प्रस्तुत सूत्र में प्रतिपादित है। यह नौवें उद्देशक के सागारिकपिंड (शय्यातर) का प्रतिपादक पहला सूत्र है। यही पूर्वसूत्र से संबंध है।

३७०४. आयासकरो आएसितो उ आवेसणं व आविसति।
सो नायगो सुही वा, पभू व परतित्थिओ वावि॥

आयासकर अर्थात् आयास–श्रम कराने वाला अथवा आदिशित अर्थात् सत्कारपूर्वक बुलाया जाने वाला–आदेश कहलाता है। अथवा जिस स्थान पर प्रविष्ट होकर आयास पैदा करता है वह आदेश अथवा आवेश कहलाता है। वह ज्ञातिक, सुहृद्, प्रभु अथवा परतीर्थिक हो सकता है।

३७०५. आएस-दास-भइए, अट्ठहि सुत्तेहि मग्गणा जत्थ।
सागारियदोसेहि य, पसंगदोसेहि आगज्झो॥

आदेश, दास और भृतक–इनकी आठ सूत्रों से मार्गणा की गई है। सागारिक दोषों तथा प्रसंग दोषों से पिंड अग्राह्य होता है।

३७०६. तत्थादिमाइ चउरो, आदेसे सुत्तमाहिया।
दोच्चेव पाडिहारी, अपाडिहारी भवे दोण्णि॥

आठ सूत्रों का विभाग–प्रथम चार सूत्र आदेश के विषय में हैं। उनमें भी दो सूत्र (पहला तथा तीसरा सूत्र) प्रातिहारिणी तथा दो सूत्र (दूसरा और चौथा सूत्र) अप्रातिहारिणी से संबंधित हैं।

३७०७. अंतो बहिं वावि निवेसणस्स,
आदेसएणं व ठिते सगारे।
भत्तं न एयस्स विसेसजुत्तं,
तम्मी दलंते खलु सुत्तबंधो॥

घर के अंदर अथवा बहिर् शय्यातर आदेश (प्राघूर्णक) के साथ स्थित हो और भक्त शय्यातर के लिए विशेषरूप से बनाया गया हो, वह यदि प्राघूर्णक मुनि को देता है–यह सूत्रबंध–सूत्र का प्रतिपाद्य है।

३७०८. सागारियस्स दोसा, दोसुं दोसुं पसंगतो दोसा।
भद्दगपंतादीया, होंति इमे ऊ मुणेयव्वा॥

दो अर्थात् पहले और तीसरे सूत्र में सागारिक के दोष के कारण अर्थात् शय्यातरपिंड होने के कारण वह नहीं कल्पता तथा दो अर्थात् दूसरे और चौथे सूत्र में प्रसंगदोष–भद्रक-प्रांत आदि दोषों से युक्त होता है। वे दोष ये हैं–

३७०९. एतेण उवाएणं, गिण्हंती भद्दउग्गमेगतरं।
पंतो दुदिट्ठधम्मा, विणास गरहा दिय निसिं वा॥

भद्रक सोचता है–इस उपाय से मेरा पिंड साधु ग्रहण करेंगे–ऐसा सोचकर वह उद्गम आदि दोषों में कोई एक दोष लगाकर पिंड निष्पन्न करता है। प्रांत दुर्दृष्टधर्मा होता है, वह रात-दिन उस पिंड के ग्रहण का विनाश अथवा गर्हा करता है।

३७१०. सुत्तम्मि कप्पति त्ति य, वुत्ते किं अत्थतो निसेधेह।
एगतरदोस कालिय, सुत्तनिवातो इमेहिं तु॥

जिज्ञासु ने कहा–सूत्र में 'कल्पता है'–ऐसा कहा गया है, फिर भी आप अर्थ के आधार पर उसका निषेध क्यों करते हैं? आचार्य कहते हैं–भद्रकदोषप्रसंग अथवा प्रांतदोषप्रसंग–इनमें से कोई एक का आपादन होता है, इसलिए निषेध किया गया है। सूत्र में 'कल्पता है'–ऐसा क्यों कहा गया? इन कारणों से कालिकसूत्र का निपात होता है।

३७११. जं जह सुत्ते भणियं, तधेव तं जइ वियालणा नत्थि।
किं कालियाणुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं॥

यदि कालिकसूत्र में जो कहा गया है उसे वैसे ही स्वीकार करना है, उसके विषय में कोई विचारणा नहीं होती, तो फिर दृष्टिप्रधान अर्थात् युगप्रधान आचार्यों ने कालिकानुयोग क्यों कहा?

३७१२. अदिट्ठस्स उ गहणं, अधवा सागारियं तु वज्जेत्ता।
अन्नो पेच्छउ मा वा, पेच्छंते वावि वच्चंता॥

कालिकसूत्रनिपात के कारण–

अदृष्ट का ग्रहण (दिया जाता हुआ न दिखे, उसका ग्रहण), अथवा शय्यातर को छोड़कर दूसरा कोई व्यक्ति दीयमान को देखे या न देखे अथवा शय्यातर के देखे जाने पर भी जाते हुए नहीं ठहरते, केवल दानवेला में उसकी दृष्टि का परिहार करते हैं। इसीलिए सूत्र में 'कल्पता है' ऐसा कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३७१३. दास-भयगाण दिज्जति, उक्खित्तं जत्थ भत्तयं नियतं।
तम्मि वि सो चेव गमो, अंतो बाहिं व देंतम्मि॥

दास, भृतक आदि से संबंधित चार सूत्रों में पहले और तीसरे सूत्र के अनुसार जो दिया जाता है वह सागारिकपिंड होने के कारण नहीं कल्पता और दूसरे तथा चौथे सूत्र के अनुसार उन्हें उत्क्षिप्त–हस्तोत्पाटित नियत भक्त दिया जाता है, वे उसे अपने घर ले जाते हैं, वे घर के अंतर् या बहिर् देते हैं तो वही गम है, विकल्प है अर्थात् वह कल्पता है।

३७१४. नियया नियय विसेसो, आदेसो होति दास-भयगाणं।
अच्चियमणच्चिए वा, विसेसकरणं पयत्तो य॥

आदेश (अतिथि) दास और भृतक नियत-अनियत से विशेषित होते हैं। आदेश अनियत होते हैं। दास और भृतक नियत होते हैं। आदेश अर्चित होते हैं, दास और भृतक अनर्चित होते हैं। आदेश के भोजन के लिए विशेष प्रयत्न करना होता है, दास और भृतक के लिए वैसा प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

३७१५. नीसट्ठ अपडिहारी, समणुण्णातो त्ति मा अतिपसंगा।
एगपदे परपिंडं, गेण्हे परसुत्तसंबंधो॥

दिया हुआ अप्रतिहारी पिंड समनुज्ञात है–ऐसा सोचकर अतिप्रसंग से एक की तुलना में शय्यातर से व्यतिरिक्त पिंड ग्रहण न कर ले इसीलिए आगे के आठ सूत्रों का प्रतिपादन है। यही सूत्रसंबंध है।

३७१६. पुरपच्छसंथुतो वावि, नायओ उभयसंथुतो वावि।
एगवगडा घरं तू पया उ चुल्ली समक्खाता॥

ज्ञातक अर्थात् स्वजन के तीन प्रकार हैं–पूर्वसंस्तुत, पश्चात्संस्तुत, उभयसंस्तुत। एकवगडा का अर्थ है–एक गृह और प्रजा का अर्थ है–चुल्ली।

३७१७. एगपए अभिणिपए, अट्ठहि सुत्तेहि मग्गणा जत्थ।
सागारियदोसेहिं, पसंगदोसेहि य अगेज्झं॥

एक चुल्ली तथा अभिनिप्रजा–पृथक् चुल्ली के अधिकार से पिंड की मार्गणा आठ सूत्रों से होती है। पहले, तीसरे, पांचवे तथा सांतवे सूत्र में सागारिक दोषों के कारण तथा दूसरे, चौथे, छठे और आठवें सूत्र में प्रसंगदोष के कारण भक्तपान अग्राह्य होता है।

३७१८. आइल्ला चउरो सुत्ता, चउस्सालादवेक्खतो।
पिहघरेसु चत्तारि, सुत्ता एक्कनिवेसणे॥

प्रथम चार सूत्र चतुःशाला की अपेक्षा से हैं–दो कुटुंबों का वहीं अवस्थान होने के कारण। अंतिम चार सूत्र एक ही निवेशन–परिक्षेप में पृथग् गृहों से संबंधित है।

३७१९. सागारियस्स दोसा, चउसु सुत्तेसु पसंगदोसा य।
भद्दगपंतादीया, चउसुं पि कमेण णातव्वा॥

चार सूत्र–पहला, तीसरा, पांचवां, सातवां– शय्यातर के दोषों से संबंधित तथा चार सूत्र–दूसरा, चौथा, छठा और आठवां क्रमशः भद्रक-प्रांत दोषों से संबंधित हैं।

३७२०. दारुग-लोणे गोरस-सूवोदग-अंबिले य सागफले।
उवजीवति सागरियं, एगपए वावि अभिणिपए॥

लकड़ी, लवण, गोरस, सूप, आम्लपानी, शाकफल–ये शय्यातर के हों और पिंड एक चुल्ली अथवा पृथक् चुल्ली से पकता हो तो शय्यातरदोषों का प्रसंग आता है।

३७२१. भीताइ करभयस्सा, अंतो बाहिं व होज्ज एगपया।
अभिणिपए न वि कप्पति, पक्खेवगमादिणे दोसा॥

लोग चुल्ली के कर (टेक्स) के भय से घर से बाहर और भीतर एक ही चुल्ली रखते हैं। वैसे शय्यातर के यहां से भक्तपान लेना शय्यातरदोषों से ग्रस्त होना है। अभिनिप्रजा–पृथक् चुल्ली से भी पिंड लेना नहीं कल्पता, क्योंकि इसमें प्रक्षेप आदि दोष होते हैं।

३७२२. जं देसी तं देमो, एते घेत्तुं न इच्छते अम्हं।
अधवा वि अकुलज त्ति य, गेण्हंति अदिट्ठमादीयं॥

भद्रक प्रांत से कहता है–तुम साधुओं को जो दोगे, हम तुम्हें दे देंगे। ये साधु हमारे घर से लेना नहीं चाहते। यह भद्रककृत प्रक्षेप आदि दोष हैं। अथवा प्रांत कहता है–ये साधु अकुलीन हैं। ये अदृष्ट आदि ग्रहण करते हैं।

३७२३. बितियपदऽदिट्ठगहणं, असती तव्वज्जितेण दिट्ठस्स।
दिट्ठे वि पत्थियाण, गहणं अंतो व बाहिं वा॥

अपवादपद में यदि अदृष्टग्रहण का अभाव हो तब शय्यातर को वर्जित कर दृष्ट का ग्रहण किया जा सकता है तथा प्रस्थित व्यक्तियों के पिंड का ग्रहण शय्यातर के देखे जाने पर भी अंतर अथवा बाहिर् लिया जा सकता है।

३७२४. साधारणमेगपय त्ति, किच्चं तहियं निवारियं गहणं।
इदमवि सामण्णं वि य, साधारणसालसु य जोगो॥

पूर्वसूत्र में एक चुल्ली पर पकने वाले पिंड को साधारण मानकर उसके ग्रहण का निषेध किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में भी साधारण शाला (शय्यातर के साथ अन्य व्यक्तियों की तैलविक्रय शाला) में सामान्य मानकर निषेध किया जाता है। यह पूर्वसूत्र से प्रस्तुत सूत्र का संबंध है।

३७२५. तेल्लिय-गोलिय-लोणिय-दोसिय
सुत्तिय य बोधिकप्पासो।
गंधिय सोंडियसाला,
जा अन्ना एवमादी उ॥

तैलिक, गोलिक, लावणिक, दौषिक, सौत्रिक, बोधिक, कार्पासिक, गंधिक–ये शालाएं तथा शौंडिकशाला और इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार की अन्य शालाएं होती हैं।

३७२६. ववहारे उद्देसम्मि, नवमए जत्तिया भवे साला।
तासि परिपिंडिताणं, साधारणवज्जिते गहणं॥

व्यवहार सूत्र के नौंवे उद्देशक में जितनी शालाओं का वर्णन हैं उनका परिपिंडितरूप में तात्पर्यार्थ यह है कि इनमें शय्यातर के साथ अविभक्त व्यापार है, वहां से ग्रहण करने का प्रतिषेध है। साधारणवर्जित अर्थात् विभक्त व्यापार में ग्रहण किया जा सकता है।

३७२७. साहारण सामन्नं, अविभत्तमछिन्नसंथडेगट्ठं।
साल त्ति आवणं ति य, पणियगिहं चेव एगट्ठं॥

साधारण, सामान्य, अविभक्त, अच्छिन्न तथा असंस्तृत–ये एकार्थक हैं। शाला, आपण, पणित तथा गृह–ये एकार्थक हैं।

३७२८. साहारणा उ साला, दव्व मीसम्मि आवणे भंडे।
साहरणऽवक्कजुत्ते, छिन्नं वोच्छं अछिन्नं वा॥

शाला सामान्य है। वहां बिकने वाला जो द्रव्य है वह मिश्रित है अर्थात् अनेक व्यक्तियों का है। अथवा साधारण अवक्रय (भाड़े पर दिए गए) आपण अथवा भांड युक्त वह साधारण शाला है। अब मैं छिन्न-अच्छिन्न की व्याख्या करूंगा।

३७२९. पीलेंति एक्कतो वा, विक्केंति व एक्कतो करिय तेल्लं।
अधवा वि वक्कएणं, साधारणवक्कयं जाणे॥

अन्यान्य व्यक्तियों के तिलों को एकत्रित कर उनको पीला जाता है अथवा पृथक्-पृथक् तिलों को पीलकर तैल को एकत्र बेचा जाता है। अथवा वक्रय–भाड़े से साधारण शाला व्यापार के लिए ली गई है। वहां जो भांड प्राप्त होता है, वह शय्यातर तथा अन्य से संबंधित होता है। यह साधारण अवक्रयप्रयुक्त माना जाता है।

३७३०. पीलितविरेडितम्मी, पुव्वगमेणं तु गहणमादिट्ठे।
एगत्थ विक्कयम्मी, अमेलियादिट्ठ अन्नत्थ ॥

अनेक लोगों के तिलों को एकत्रित कर, उनको एक साथ पीलकर तैल निकाला गया और फिर तैल का विभाग कर दिया तो पूर्व प्रकार से शय्यातर के न देखे जाने पर उस तैल का ग्रहण होता है। वह तैल यदि एकत्र बेचा जाता है और जब तक प्राप्त मूल्य का विभक्तीकरण नहीं होता तब तक वह तैल नहीं कल्पता। मूल्य का विभक्तीकरण हो जाने पर वह कल्पता है। यदि वह व्यक्ति तैल को अपने आप अन्यत्र ले जाता है तो वह कल्पता है।

३७३१. जो उ लाभगभागेण, पउत्तो होति आवणो।
सो उ साहारणो होति, तत्थ घेत्तुं न कप्पति॥

जो आपण शय्यातर के साथ लाभ के विभाग से प्रयुक्त होता है, वह साधारण आपण होता है। वहां कुछ भी लेना नहीं कल्पता।

३७३२. छेदे वा लाभे वा, सागारिया जत्थ होति आभागी।
तं तु साधारणं जाणे, सेसमसाधारणं होति॥

विक्रेय भांड के जितने विभाग अथवा लाभ के जितने विभाग में शय्यातर सहभागी होता है, वह साधारण होता है, वह नहीं कल्पता। शेष असाधारण होता है।

३७३३. सच्चित्तअच्चित्तमीसेण, कयएण पउंजए साला।
तद्दव्वमन्नदव्वेण, होति साहारणं तं तु॥

शाला में सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य है। शाला में जो द्रव्य है वह तद्द्रव्य है। उसके अतिरिक्त द्रव्य अन्य द्रव्य है। वह साधारण अच्छिन्न द्रव्य है। वह भी उस शाला से ग्रहण करना नहीं कल्पता।

३७३४. तद्दव्वमन्नदव्वेण, वावि छिन्ने वि गहणमद्दिट्ठ।
मा खलु पसंगदोसा, संछोभ भतिं व मुंचेज्जा॥

शालागत द्रव्य से वह अन्य द्रव्य यदि छिन्न है, विभक्त है, उसे शय्यातर द्वारा अदृष्ट होने पर ग्रहण करना कल्पता है। क्योंकि देखे जाने पर प्रसंगदोष हो सकता है, संक्षोभ अर्थात् प्रक्षेपदोष अथवा भृति–मूल्य आदि दिए जाने का प्रसंग हो सकता है।

३७३५. जं पि य न एति गहणं, फलकप्पासो सुरादि वा लोणं।
फासुम्मि उ सामन्नं, न कप्पते जं तहिं पडितं॥

यद्यपि शाला की इन वस्तुओं का ग्रहण नहीं होता–फल, कार्पास, सुरा, लवण आदि। प्रासुक वस्त्र आदि जो शाला में है उनका भी शय्यातर के साथ सामान्य होने के कारण ग्रहण नहीं कल्पता।

३७३६. अंडज-बोंडज-वालज, वागज तह कीडजाण वत्थाणं।
नाणादिसागताणं, साधारणवज्जिते गहणं॥

वस्त्रों के प्रकार–अंडज-वसरिसूत्र से निष्पन्न, बोंडज–कार्पासिक सूत्र से निष्पन्न, बालज–बालों से निष्पन्न, वागज–वल्कल अथवा शण से निष्पन्न, कीटज–कीड़ों से निष्पन्न–ये वस्त्र नाना दिशाओं से प्राप्त होते हैं। ये यदि शाला में साधारण-वर्जित हों, शय्यातर से विभक्त हों, तो इनका ग्रहण किया जा सकता है।

३७३७. सागारियम्मि पगते, साधारणए य समणुवत्तंते।
ओसहिफलसुत्ताणं, वंजणनाणत्तओ जोगो॥

सागारिक अर्थात् शय्यातर के अधिकार में साधारण के समनुवर्तन के आधार पर औषधि, फल सूत्रों का उपनिपात किया गया है। इसका कारण है व्यंजनों का नानात्व। यही पूर्वसूत्र के साथ प्रस्तुत सूत्र का योग है, संबंध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३७३८. गोरस-गुल-तेल्ल-घतादि,
ओसहीओ व होंति जा आण्णा।
सूयस्स कट्ठलेण तु,
ता संथडऽसंथडा होंति॥

सूपकार के काष्ठगृह (इन्धनगृह) में गोरस, गुड, तैल, घृत आदि तथा अन्य औषधियां होती हैं। वे दो प्रकार की है—संस्कृत और असंस्कृत।

३७३९. धुव आवाह विवाहे, जण्णे सड्ढे य करडुयछणे य।
विविहाओ ओसहीतो, उवणीया भत्त सूयस्स॥
३७४०. जो जं दड्ढ विदड्ढं जो वा तहि भत्तसेसमुव्वारे।
लभति जदि सूवकारो, अविरिक्कं तं पि हु न लभइ॥

सूपकार ने आवाह (वरपक्ष का भोज), विवाह (वधूपक्ष का भोज), यज्ञ, श्राद्ध आदि, करडुक—मृतभोज, उत्सव—आदि से विविध प्रकार की औषधियां प्रस्तुत की। उसके द्वारा आनीत भक्त में जो दग्ध (थोड़ा जला हुआ), विदग्ध (प्रभूतरूप में दग्ध) अथवा शेष बचा हुआ भोजन, यदि सूपकार को प्राप्त होता है तो वह लेना कल्पता है। दग्ध, विदग्ध आदि यदि विभाजित नहीं हुए हों, उसे प्राप्त नहीं हुए हों तो उससे वह लेना नहीं कल्पता।

३७४१. अविरिक्को खलु पिंडो, सो चेव विरेइतो अपिंडो उ।
भद्दगपंतादीया, धुवा उ दोसा विरक्के वी॥

अविरिक्त—अविभक्त भक्तपान सागारिकपिंड ही है। वह विभाजित हो जाने पर अपिंड हो जाता है अर्थात् शय्यातर का पिंड नहीं रहता। इस विभाजित पिंड में भी ध्रुव (भद्रक, प्रांत) आदि दोष होते हैं।

३७४२. जा ऊ संथडियाओ सागारियसंतिया न खलु कप्पे।
जा उ असंथडियाओ, सूवस्स य ताउ कप्पंति॥

जो शय्यातर की वस्तुएं अशय्यातर की वस्तुओं के साथ संस्कारित हैं, उन वस्तुओं को लेना नहीं कल्पता। परंतु जो सूपकार के अधिकार में असंस्कृत वस्तुएं हैं उनको लेना कल्पता है।

३७४३. वल्ली वा रुक्खो वा, सागारियसंतिओ भएज्ज परं।
तेसि परिभोगकाले, समणाण तहिं कहं भणियं॥

वल्ली अथवा वृक्ष जो शय्यातर के अवग्रह में हैं, उनके फलपरिभोगकाल में श्रमणों के लिए क्यों कहा गया कि उनका ग्रहण कल्पता है अथवा नहीं?

३७४४. फणसं च चिंच तल-नालिएरिमादी हवंति फलरुक्खा।
लोमसिय-तउसि-मुद्दिय, तंबोलादी य वल्लीओ॥

फलवृक्ष ये हैं—पनस, इमली, ताल, नालिकेर आदि। वल्ली ये हैं—ककड़ी, खीरे की बेल, ताम्बूलिका।

३७४५. परोग्गहं तु सालेणं, अक्कमेज्ज महीरुहो।
छिंदामि त्ति य तेणुत्ते, ववहारो तहिं भवे॥

शय्यातर के अवग्रह के वृक्ष की शाखाएं दूसरे व्यक्ति के अवग्रह में प्रसूत हो जाती हैं। यदि वह कहे कि मैं शाखा को काटूंगा तो उस विषय का व्यवहार—विग्रह होता है।

३७४६. सागारियस्स तहियं, केवतिओ उग्गहो मुणेतव्वो।
ववहार तिहा छिन्नो, पासायऽगडे बिती तिरियं॥

शय्यातर का कितना अवग्रह ज्ञातव्य होता है—इस प्रश्न के चिंतन में व्यवहारकारी (न्यायकारी) ने सोचा और अवग्रह को तीन भागों में विभक्त कर दिया—ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्। प्रासाद जितना बड़ा होता है उतना ऊर्ध्व अवग्रह, कूप जितना ऊंडा होता है उतना अधः अवग्रह तथा तिर्यग्वृत्ति अवग्रह यह है—जितना घर का घेरा होता है।

३७४७. उड्ढं अधे य तिरियं, परिमाणं तु वत्थुणं।
खायमूसियमीसं वा, तं वत्थूणं तिधोदितं॥

वास्तु—गृह, प्रासाद आदि का परिमाण तीन प्रकार से होता है—ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग्। अथवा वास्तु के तीन प्रकार हैं—खात, उच्छ्रित तथा खातोच्छ्रित।

३७४८. अट्ठसतं चक्कीणं, चोवट्ठी चेव वासुदेवाणं।
बत्तीसं मंडलिए, सोलसहत्था उ पागतिए॥

चक्रवर्ती का प्रासाद १०८ हाथ ऊंचा, वासुदेव का ६४ हाथ, मांडलिक राजाओं का ३२ हाथ तथा सामन्य जनता का १६ हाथ ऊंचा होता है।

३७४९. भवणुज्जाणादीणं, एसुस्सेहो उ वत्थुविज्जाए।
भणितो सिप्पिनिधिम्मि उ, चक्कीमादीण सव्वेसिं॥

शिल्पनिधि तथा वास्तुविद्या में सभी चक्रवर्ती आदि के भवन तथा उद्यान आदि का यही उत्सेध कहा गया है।

३७५०. एवं छिन्ने तु ववहारे, परो भणति सारियं।
कप्पेमि हं ते सालादी, ततो णं आह सारिओ॥
३७५१. मा मे कप्पेहि सालादि, दाहिंति फलनिक्कयं।
तत्थ छिन्ने अछिन्ने वा, सुत्तसाफल्लमाहितं॥

न्यायिक द्वारा इस प्रकार विग्रह का निबटारा करने पर प्रतिवादी शय्यातर को कहता है—मैं तुम्हारे वृक्ष की शाखाओं को काटता हूं। यह सुनकर शय्यातर कहता है—मेरे वृक्ष की शाखाओं को मत काटो। मैं तुम्हें फल बिना मूल्य दे दूंगा। 'इतने फल देने होंगे' इस वादे के साथ वह व्यवहार छिन्न हो गया। सामान्य रूप से यदि कहा जाता—'फल दातव्य हैं'—तो वह अच्छिन्न होता। यथायोग दो सूत्रों का साफल्य बताया गया है।

३७५२. साधूणं वा न कप्पंति, सुत्तमाहु निरत्थयं।
गेलण्णऽद्धाणओमेसु, गहणं तेसि देसियं॥

जिज्ञासु ने कहा—साधुओं को सचित्त फल लेना नहीं कल्पता, अतः दोनों सूत्र निरर्थक हैं। आचार्य कहते हैं—ग्लान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवस्था में, मार्ग में, अवमौदर्य में उनका ग्रहण कथित है। अतः सूत्र निरर्थक नहीं है।

३७५३. अविरिक्कसारिपिंडो,
विरिक्का वि सारि दिट्ठ न वि कप्पे।
अदिट्ठसारिएणं,
कप्पंति तहिं व घेत्तुं जे॥

अविभक्त होने पर (वे फल) सागारिक–शय्यातरपिंड हैं अतः नहीं कल्पते। विभक्त होने पर भी यदि शय्यातर द्वारा दृष्ट हैं तो उनका ग्रहण नहीं कल्पता। शय्यातर द्वारा अदृष्ट ही ग्रहण किए जा सकते हैं।

३७५४. एवं अत्तट्ठाए, सयं परूढाण वावि भणियमिणं।
इणमन्नो आरंभो, समणट्ठा वाविए तम्मि॥

इस प्रकार आत्मार्थ आरोपित अथवा स्वयं द्वारा प्ररूढ़ वृक्ष संबंधी यह कथन है। अब श्रमण के लिए बोए गए वृक्ष संबंधी यह अन्य आरंभ है।

३७५५. वल्लिं वा रुक्खं वा, कोई रोवेज्ज संजयट्ठाए।
तेसि परिभोगकाले, समणाण तहिं कहं भणियं॥

कोई व्यक्ति श्रमण के लिए वल्ली अथवा वृक्ष को बो देता है। उनके फलपरिभोगमकाल में श्रमणों को वह कल्पता है अथवा नहीं?

३७५६. तस्स कडनिट्ठियादी, चउरो भंगे विभावइत्ताण।
विसमेसु जाण विसमं, नियमा तु समो समग्गहणे॥

इस विषयक चतुर्भंगी यह है–

१. संयत के लिए बोया और संयत के लिए ही अचित्त किया।

२. संयत के लिए बोया और दूसरे के लिए अचित्त किया।

३. दूसरे के लिए बोया और संयत के लिए अचित्त किया।

४. दूसरे के लिए बोया दूसरे के लिए अचित्त किया।

इन चारों भंगों को जानकर विषम भंग (पहला तथा तीसरा) में ग्रहण करना संयम को विषम करना है और समभंग (दूसरा तथा चौथा) में ग्रहण करना संयम को सम करना है–यह जानो।

३७५७. कामं सो समणट्ठा, वुत्तो तह वि य न होति सो कम्मं।
जं कम्मलक्खणं खलु, इह इं वुत्तं न पस्सामि॥

अनुमान कर लें कि वह वृक्ष श्रमण के लिए बोया गया है। फिर भी वह कर्म (आधाकर्म) नहीं होता, क्योंकि तीर्थंकरों ने जो कर्म का लक्षण बताया है, वह यहां नहीं दिखाई देता।

३७५८. सच्चित्तभावविकलीकयम्मि दव्वम्मि मग्गणा होति।
कम्मगहणा उ दव्वे, सचेयणे फासुभोईणं॥

सचित्तभाव से विकलीकृत–अर्थात् अचित्त किए हुए द्रव्य की मार्गणा होती है। प्रासुकभोजी श्रमण के लिए सचेतन द्रव्य विषयक आधाकर्म आदि की मार्गणा नहीं होती, क्योंकि उसका सर्वथा अग्रहण है।

३७५९. संजयहेउं छिन्नं, अत्तट्ठोवक्खडं तु तं कप्पे।
अत्तट्ठा छिन्नं पि हु, समणट्ठा निट्ठियमकप्पं॥

यहां भी चतुर्भंगी इस प्रकार है–

१. संयत के लिए छिन्न, संयत के लिए निष्ठित।

२. संयत के लिए छिन्न, अन्य के लिए निष्ठित।

३. अन्य के लिए छिन्न, संयत के लिए निष्ठित।

४. अन्य के लिए छिन्न, अन्य के लिए निष्ठित।

संयत के लिए छिन्न तथा आत्मार्थ उपस्कृत–यह दूसरा भंग है। यह कल्पता है। जो आत्मार्थ छिन्न है परंतु श्रमण के लिए निष्ठित है–यह तीसरा भंग अकल्प्य है। चौथा भंग सर्वथा शुद्ध है।

३७६०. बीयाणि च वावेज्जा, अगडं व खणेज्ज संजयट्ठाए।
तेसि परिभोगकाले, समणाण तहिं कहं भणियं॥

कोई व्यक्ति श्रमण के लिए बीज बोए, कुआ खुदवाए–उनके परिभोगकाल में श्रमणों का कल्प-अकल्प क्या है?

३७६१. दुच्छडणियं च उदयं, जइ हेउं निट्ठितं च अत्तट्ठा।
तं कप्पति अत्तट्ठा, कयं तु जइ निट्ठितमकप्पं॥

(यहां भी पूर्ववत् चतुर्भंगी है। प्रथम भंग एकांत अशुद्ध तथा चतुर्थभंग एकांत शुद्ध है।) दूसरे भंग के अनुसार किसी व्यक्ति ने श्रमणों के लिए तंदुल के दो-दो टुकड़े किए तथा श्रमणों के लिए कुए से पानी मंगवाया, परंतु स्वयं के लिए दोनों को अचित्त किया। यह कल्पता है। तीसरे भंग के अनुसार तंदुलों के दो-दो टुकड़े किए, कुएं से पानी मंगवाया–दोनों श्रमणों के लिए अचित्त किया, अतः यह अकल्प्य है।

३७६२. समणाण संजतीण व, दाहामी जो किणेज्ज अट्ठाए।
गावी-महिसीमादी, समणाण तहिं कहं भणियं॥

श्रमण, श्रमणियों को दूध आदि दूंगा, यह सोचकर कोई व्यक्ति उनके लिए गाय, भैंस आदि खरीदता है तो वहां श्रमण-श्रमणियों के कल्प्य-अकल्प्य की क्या मीमांसा है?

३७६३. संजयहेउं दूढा, ण कप्पते कप्पते य सयमट्ठा।
पामिच्चिय-कीया वा, जदि वि य समणट्ठया धेणू॥

श्रमणों के लिए गाय अथवा भैंस उधार लाई हो अथवा खरीदी हो और संयतों के लिए उनको दूहा हो तो वह दूध श्रमण-श्रमणियों को लेना नहीं कल्पता।

३७६४. चेइयदव्वं विभज्ज, करेज्ज कोति नरो सयट्ठाए।
समणं वा सोवहियं, विक्केज्जा संजयट्ठाए॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३७६५. एयारिसम्मि दव्वे, समणाणं किन्नु कप्पते घेत्तुं।
चेइयदव्वेण कयं, मुल्लेण व जं सुविहिताणं॥
३७६६. तेण पडिच्छा लोए, वि गरहिता उत्तरे किमंग पुण।
चेइय जइ पडिणीए, जो गेण्हति सो वि हु तधेव॥

कुछ व्यक्तियों ने चैत्यद्रव्य की चोरी कर, परस्पर उसको बांट दिया। एक व्यक्ति अपने भाग में आए हुए चैत्यद्रव्य से अथवा उसके मूल्य से अपने लिए मोदक आदि बनाकर उसमें से कुछ मोदक श्रमणों को देता है। अथवा चैत्यद्रव्य को बेचकर कोई व्यक्ति श्रमणों के लिए प्रासुक वस्त्र आदि खरीदकर उपधि रखने वाले श्रमणों को देता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होता है कि चैत्यद्रव्य से गृहस्थ स्वयं के लिए जो करता है, उसे श्रमण क्यों नहीं ले सकते? आचार्य कहते हैं—चैत्यद्रव्य से अथवा उसके मूल्य से गृहस्थ ने जो कुछ अपने लिए किया वह भी सुविहित साधुओं के लिए वर्ज्य है, क्योंकि चोरी से गृहीत उस चैत्यद्रव्य का प्रतिग्रहण भी होता है। लौकिकदृष्टि से भी उसकी गर्हा होती है तो लोकोत्तरदृष्टि की तो बात ही क्या? चैत्यप्रत्यनीक और यतिप्रत्यनीक के हाथों से जो व्यक्ति कुछ भी लेता है, वह भी वैसा ही है, अर्थात् वह भी चैत्यप्रत्यनीक और यतिप्रत्यनीक है।

३७६७. हरियाहडिया सा खलु, ससत्तितो उग्गमेधरा गुरुगा॥
एवं तु कया भत्ती, न वि हाणी जा विणा तेण॥

श्रमण अपनी शक्ति से उस स्तेनाहृत चैत्यद्रव्य की पुनः प्राप्ति करे। अन्यथा चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। इस प्रकार करने पर प्रवचन की भक्ति होती है, बिना उसके जो हानि होती है वह भी नहीं होती।

३७६८. जा तित्थगराण कता, वंदणया वरिसणादि पाहुडिया।
भत्तीहि सुरवरेहिं, समणाण तधिं कहं भणियं॥

देवताओं ने भक्तिपूर्वक तीर्थंकरों की जो वंदना, आवर्षण आदि प्राभृतिका की वहां श्रमणों के लिए क्या कहा? क्या वहां रहना कल्पता है अथवा नहीं?

३७६९. जइ समणाण न कप्पति, एवं एगाणिया जिणवरिंदा।
गणहरमादी समणा, अकप्पिए नेव चिट्ठंति॥

यदि श्रमणों को वहां रहना नहीं कल्पता तो जिनवरेंद्र एकाकी हो जाएंगे क्योंकि गणधर आदि श्रमण अकल्पिक स्थान में नहीं रहते।

३७७०. तम्हा कप्पति ठाउं, जह सिद्धयणम्मि होति अविरुद्धं।
जम्हा उ न साहम्मी, सत्था अम्हं ततो कप्पे॥

इसलिए श्रमणों को वहां रहना कल्पता है। जैसे सिद्धायतन में मुनियों को अवस्थान अविरुद्ध है। शास्ता—तीर्थंकर हमारे साधर्मिक नहीं होते, क्योंकि वे प्रवचन से अतीत हैं। इसलिए वहां अवस्थान करना कल्पता है।

३७७१. साहम्मियाण अट्ठो, चउव्विधो लिंगतो जह कुडुंबी।
मंगलसासयभत्तीय, जं कतं तत्थ आदेसो॥

साधर्मिक के निमित्त किया हुआ नहीं कल्पता। साधर्मिक के चार प्रकार हैं—जैसे कुटुम्बी लिंग से साधर्मिक नहीं होता वैसे ही तीर्थंकर भी लिंगतः साधर्मिक नहीं हैं। अतः उनके निमित्त किया हुआ कल्पता है। भगवान् के मंगल निमित्त अथवा शाश्वत मोक्ष के निमत्त अथवा भक्ति से जो किया जाता है (समवसरण, आयतन आदि) उसमें अवस्थान की अनुज्ञा है।

३७७२. जइ वि य नाधाकम्मं, भत्तिकयं तध वि वज्जियंतेहिं।
भत्ती खलु होति कया, जिणाण लोगे वि दिट्ठं तु॥

यद्यपि भक्ति से निष्पन्न कोई भी पदार्थ आधाकर्म नहीं होता, फिर भी उसका वर्जन करना जिनेश्वरदेव की भक्ति करने के तुल्य है। यह लोक में भी देखा जाता है।

३७७३. बंधित्ता कासवओ, वयणं अट्ठपुडसुद्धपोत्तीए।
पत्थिवमुवासते खलु, वित्तिनिमित्तं भया चेव॥

जैसे काश्यप अर्थात् कौटुंबिक अपनी आजीविका के निमित्त अथवा भय से आठ पुट वाले शुद्धवस्त्र से अपना मुंह बांधकर पार्थिव की उपासना करता है (वैसे ही तीर्थंकर की प्रतिमा की भक्ति के निमित्त मुंह बांधकर आयतन में प्रवेश करने में क्या दोष है?)

३७७४. दुब्भिगंधपरिस्सावी, तणुपस्सेय ण्हाणिया।
दुहा वायु वधो चेव, तेण ठंति न चेइए॥
३७७५. तिण्णि वा कड्ढते जाव, थुतीओ तिसिलोइया।
ताव तत्थ अणुण्णातं, कारणेण परेण वि॥

यह शरीर स्नान कर लेने पर भी दुरभिगंध, परिस्रावी—नौ स्थानों से झरने वाला, प्रस्वेदयुक्त तथा दो प्रकार की वायु—अधोवायु और श्वासप्रश्वास की वायु के निर्गमवाला होता है, इसलिए चैत्य में साधु नहीं ठहरते। अथवा श्रुतस्तव के अनंतर जब तक त्रिश्लोकात्मिका तीन श्रुतियां बोलता है तब तक चैत्य में अवस्थान अनुज्ञात है। कारणवश इससे अधिक भी रहा जा सकता है।

३७७६. सागारियअग्गहणे, अन्नाउंछं फुडं समक्खातं।
सो होतिऽभिग्गहो खलु, पडिमा य अभिग्गहो चेव॥

शय्यातर के पिंड से अग्रहण का कथन पूर्वसूत्र में हो चुका है। इससे अज्ञातोंछ के ग्रहण का आख्यान स्पष्ट हो जाता है। वह अभिग्रह होता है। प्रतिमा भी अभिग्रह है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र का कथन है। यही सूत्रसंबंध है।

३७७७. अन्नाउंछविसुद्धं, घेत्तव्वं तस्स किं परीमाणं।
कालम्मि य भिक्खासु य, इति पडिमा सुत्तसंबंधो॥

विशुद्ध अज्ञातोंछ ग्रहण करना चाहिए। उसका भिक्षाकाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में क्या परिणाम है—इस प्रश्न के अवकाश में प्रतिमासूत्र का उपन्यास किया गया है। यह प्रतिमासूत्र से संबंध है।

३७७८. अधसुत्त सुत्तदेसा, कप्पो उ विहीय मग्गनाणादी।
तच्चं तु भवे तत्थं, सम्मं जं अपरितंतेणं॥

३७७९. फासियजोगतिएणं, पालियमविराधि सोहिते चेव।
तीरितमंतं पाविय, किट्टिय गुरुकधण जिणमाणा॥

इन श्लोकों में प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या—

यथासूत्र—सूत्र के आदेश के अनुसार।

यथाकल्प—विधि के अनुसार।

यथामार्ग—ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अविराधनापूर्वक।

यथातथ्य—एकांततः सूत्र के अनुसार।

यथासम्यग्—सम्यक्करण, तीनों योगों की अपरिताम्यता।

स्पर्शित—सेवित।

अविराधित—विराधना रहित।

शोधित—अतिचार के लेश से भी अकलंकित।

तीरित—परिपूर्णरूप से पालित।

कीर्तित—आचार्य को निवेदित करना कि मैंने प्रतिमा संपन्न कर ली है।

आज्ञा—जिनेश्वर की आज्ञा से पालित।

३७८०. पडिमा उ, पुव्वभणिता,
पडिवज्जति को तिसंघयणमादी।
नवरं पुण नाणत्तं,
कालच्छेदे य भिक्खासु॥

प्रतिमाओं का कथन पहले हो चुका है। इनको कौन स्वीकार करता है, इसके उत्तर में कहा गया कि प्रथम तीन संहननवाले[1] इसे स्वीकार करते हैं। इसमें नानात्व यही है कि भिक्षा में कालच्छेद होता है।

३७८१. एगूणपण्णे चउसट्ठिगासीती सयं च बोधव्वं।
सव्वासिं पडिमाणं, कालो एसो त्ति तो होति॥

चार सूत्रों में वर्णित सभी प्रतिमाओं का इतना ही काल होता है—

सप्तसप्तमिका प्रतिमा का कालमान—४९ रातदिन।

अष्टाअष्टकिका प्रतिमा का कालमान—६४ रातदिन।

नवनवकिका प्रतिमा का कालमान —८१ रातदिन।

दसदसकिका प्रतिमा का कालमान—१०० रातदिन।

३७८२. पढमा सत्तिगासत्त, पढमे तत्थ सत्तए।
एक्केक्कं गेण्हती भिक्खं, बितिए दोण्णि दोण्णि उ॥

३७८३. एवमेक्केक्किकयं भिक्खं, छुब्भेज्जेक्केक्क सत्तगे।
गिण्हती अंतिमे जाव, सत्त सत्त दिणे दिणे॥

प्रथम प्रतिमा सप्तसप्तमिका के प्रथम सप्तक में प्रतिदिन एक-एक भिक्षा का ग्रहण होता है। दूसरे सप्तक में प्रतिदिन दो-दो भिक्षाओं का ग्रहण होता है। इस प्रकार प्रतिसप्तक में एक-एक भिक्षा का अधिक प्रक्षेप कर अंतिम सप्तक में प्रतिदिन सात-सात भिक्षाओं का ग्रहण होता है।

३७८४. अहवेक्केक्किकयं दत्ती, जा सत्तेक्केक्कसत्तए।
आदेसो अत्थि एसो वि, सीहविक्कमसन्निभो॥

अथवा प्रतिसप्तक में प्रत्येक दिन एक-एक भिक्षा (दत्ति) की वृद्धि कर सातवें दिन सात भिक्षाएं ग्रहण करे। प्रत्येक सप्तक की यही विधि है। यह दूसरा आदेश (मंतव्य) सिंह- विक्रमसंनिभ कहलाता है। (जैसे सिंह चलते-चलते बार-बार मुड़ कर देखता है, इसी प्रकार इसमें भी प्रतिसप्तक मूल का परावर्तन होता है। यह कालच्छेद संपन्न हुआ।)

३७८५. छण्णउयं भिक्खसतं, अट्ठासीता य दो सया होंति।
पंचुत्तरा य चउरो, अद्धच्छट्ठा सया चेव॥

सप्तसप्तमिका में भिक्षा परिमाण है १९६, अष्ट-अष्टकिका में २८८, नवनवकिका में ४०५ तथा दशदशकिका में ५५०।

३७८६. उद्दिट्ठवग्गदिवसा, य मूलदिणसंजुया दुहा छिन्ना।
मूलेणं संगुणिया, माणं दत्तीण पडिमासु॥

उद्दिष्ट वर्ग के दिनों को मूल दिनों से संयुत कर, द्विधा छिन्न अर्थात् आधाकर, मूल दिनों से गुणन करे। गुणनफल उस प्रतिमा के दत्तियों का परिमाण होगा।[2]

३७८७. पदगयसु वेयसुत्तरसमाहयं दलियमादिणा सहियं।
गच्छगुणं पडिमाणं, भिक्खामाणं मुणेयव्वं॥

वृत्तिकार ने इसकी कोई व्याख्या नहीं की है। उन्होंने दोनों गाथाओं (३७८६ तथा ३७८७) के लिए इतना मात्र लिखा है—भिक्षा परिमाणस्यानयनाय करणमाह—

३७८८. गच्छुत्तरसंवग्गे, उत्तरहीणम्मि पक्खिवे आदिं।
अंतिमधणमादिजुयं, गच्छद्धगुणं तु सव्वधणं॥

प्रकारांतर—गच्छ को उत्तर से गुणित करे, फिर उसको उत्तर से हीनकर आदि का प्रक्षेप करे। उससे अंतिमधन आता है। उसको आदियुत करे। फिर गच्छार्द्ध से गुणन करने पर सर्वधन

---

१. तीसरा संहनन आर्यरक्षित तक अनुवृत्त था। फिर उसका व्यवच्छेद हो गया।

२. जैसे—उद्दिष्टवर्ग सप्तसप्तमिका। इसके दिन हुए ७×७= ४९। उसमें मूल दिन संयुत करने पर हुई ५६। उनका आधा है २८। मूल दिनों अर्थात् ७ से गुणन करने पर १९६ संख्या आई। यही इसकी दत्तियों का परिमाण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्राप्ति होती है।[1]

३७८९. पडिमाहिगारपगते, हवंति मोयपडिमा इमा दोण्णि।
ता पुण गणम्मि वुत्ता, इमा उ बाहिं पुरादीणं॥

प्रतिमा का अधिकार प्रकृत है। ये दो मोक प्रतिमाएं हैं—इनका भी यहां न्यास किया गया है। पूर्व प्रतिमाएं गण में स्थित कही गई हैं तथा ये दो प्रतिमाएं पुर आदि के बहिर् स्थित मुनियों की है।

३७९०. सव्वाओ पडिमाओ, साधुं मोयंति पावकम्मेहिं।
एतेण मोयपडिमा, अधिगारो इह तु मोएणं॥

पापकर्मों से साधु को मुक्त करती है इसलिए सभी प्रतिमाएं मोक प्रतिमाएं कही जाती हैं। प्रस्तुत में मोक—कायिकी का विशेष अधिकार है।

३७९१. एगदुमो होति वणं, एगाजातीय जे जहिं रुक्खा।
विवरीयं तु विदुग्गं, एसेव य पव्वए वि गमो॥

एक द्रुम वाला अर्थात् एक जातीय वृक्षों वाला वन होता है तथा इससे विपरीत अर्थात् नानाजातीय वृक्षों वाला विदुर्ग कहलाता है। यही व्याख्या पर्वत के लिए है। नाना रूप पर्वत 'पर्वतविदुर्ग' कहलाता है।

३७९२. निसज्जं चोलपट्टं, कप्पं घेत्तूण मत्तगं चेव।
एगंते पडिवज्जति, काऊण दिसाण वालोयं॥

मोक प्रतिमा के लिए जाने वाले की विधि—

वह निषद्या, चोलपट्टक, कल्प तथा प्रस्रवण-मात्रक लेकर गांव के बाहर एकांत में प्रतिमा स्वीकार करता है। वह दिशा का अवलोकन कर कायिकी का व्युत्सर्ग करता है, पीता है।

३७९३. पाउणति तं पवाए, तत्थ निरोहेण जिज्जते दोसा।
सण्हादि परित्ताणं, व कुणति अच्चुण्हवाते वा॥

प्रवात—अत्यधिक पवन के चलने पर वह उस कल्प को ओढ़ता है। वायु के निरोध से दोष जीर्ण हो जाते हैं। अथवा वह कल्प श्लक्ष्ण सचित्तरजों से परित्राण करता है अथवा अत्युष्ण वायु के चलने वह साधक उससे प्रावृत होता है।

३७९४. साभावियं च मोयं, जाणति जं वावि होति विवरीयं।
पाण-बीयससणिद्धं, सरक्खाधिराय न पिएज्जा॥

प्रतिमा प्रतिपन्न साधक जान जाता है कि कौन सा मोक—प्रस्रवण स्वाभाविक है और कौन सा उससे विपरीत। वह स्वाभाविक प्रस्रवण को पीता है और जो प्रस्रवण प्राणियों से संसक्त, बीज—शुक्र पुद्गलों से मिश्र सस्निग्ध है तथा सरजस्काधिराज अर्थात् प्रमेहकणिका से कलित होता है, उसे नहीं पीता।

३७९५. किमिकुट्ठे सिया पाणा, ते य उण्हाभितावित्रा।
मोएण सद्धि एज्जण्हु, निसिरेते तु छाहिए॥

कृमिसंकुल उदर में प्राणी होते है। वे गर्मी से अभितप्त होकर प्रस्रवण के साथ आते है, अतः उन्हें छाया में परिष्ठापित करे।

३७९६. बीयं तु पोग्गला सुक्का, ससणिद्धा तु चिक्कणा।
पडंति सिथिले देहे, खमणुण्हाभितावित्रा॥

बीज का अर्थ है—शुक्र के पुद्गल। वे दो प्रकार के हैं—चिक्कण और अचिक्कण। चिक्कण पुद्गल सस्निग्ध कहलाते हैं। शिथिल देह में तपस्या की उष्णता से तप्त होकर मूत्र के माध्यम से गिर जाते हैं, प्रस्रवित हो जाते हैं।

३७९७. पमेहकणियाओ य, सरक्खं पाहु सूरयो।
सो उ दोसकरो वुत्तो, तं च कज्जं न साधए॥

आचार्यों ने प्रमेहकणिका को सरजस्काधिकराज कहा है। वह दोषकर होता है। वह कार्य का साधक नहीं होता, अर्थात् वह रोगमुक्ति का कारण नहीं बनता।

३७९८. बहुगी होति मत्ताओ, आइल्लेसु दिणेसु तु।
कमेण हायमाणी तु, अंतिमे होति वा न वा॥

प्रारंभिक दिनों मे कायिकी की मात्रा बहुत होती है। वह क्रमशः कम होती हुई अंतिम दिन में होती भी है अथवा नहीं।

३७९९. पडिणीयऽणुकंपा वा, मोयं वद्धंति गुज्झगा केई।
बीजादिजुतं जं वा, विवरीयं उज्झए सव्वं॥

प्रत्यनीकता से अथवा अनुकंपा से कुछेक गुह्यक देव प्रस्रवण की मात्रा बढ़ा देते हैं अथवा वे उसको बीज आदि से युक्त कर देते हैं। यह सारा विपरीत होता है, अतः सारा त्यजनीय है।

३८००. दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य होति सा चउविगप्पा।
दव्वे तु होति मोयं, खेत्ते गामाइयाण बहिं॥

३८०१. काले दिया व राती, भावे साभावियं व इतरं वा।
सिद्धाए पडिमाए, कम्मविमुक्को हवति सिद्धो॥

३८०२. देवो महिड्ढिओ वावि, रोगातोऽहव मुच्चती।
जायती कणगवण्णो उ, आगते य इमो विही॥

क्षुल्लिका मोकप्रतिमा चार के आश्रित होती है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य है मोक। क्षेत्र—गांव आदि के बाहर। काल—दिन में अथवा रात में। भाव— स्वाभाविक अथवा इतर। इस प्रतिमा के सिद्ध होने पर साधक कर्मविमुक्त होकर सिद्ध हो जाता है अथवा महर्द्धिक देव अथवा रोग से मुक्त हो जाता है। वह शरीर से कनकवर्णवाला हो जाता है। प्रतिमा को पूर्ण कर

१. सप्तसप्ततिका में ७ आदि, ७ उत्तर और ७ गच्छ है। गच्छ को उत्तर से गुणन करने पर ७×७=४९ हुए। उसको उत्तर अर्थात् ७ से हीनकर आदि ७ को संयुत करने पर ४९ हुए। यह अंतिमधन है। इसको आदि सप्तक से युत करने पर ५६ हुए। इसको गच्छार्द्ध से गुणन करना है। यह विषम है। अतः गुण्यराशि जो ५६ है उसको आधाकर, सप्तक गच्छ से गुणन करने पर १९६ होते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र ज्ञातव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाश्रय में आगत की यह विधि है–

३८०३. उण्होदगे य थोवे, तिभागमद्धे तिभागथोवे य।
महुरगभिन्ना महुरग, एक्केक्कं सत्तदिवसाइं॥

३८०४. ओदणं उसिणोदेणं, दिणे सत्त उ भुंजिउ।
जूसमंडेण वा अन्ने, दिणे जावेति सत्त उ॥

३८०५. मधुरोल्लेण थोवेण, मीसे तइय सत्तए।
तिभागद्धजुतं चेव, तिभागो थोवमीसियं॥

३८०६. मधुरेणं य सत्तन्ने, भावेत्ता उल्लणादिणा।
दधिगादीण भावेत्ता, ताहे वा सत्त सत्तए॥

(ये गाथाएं तथा टीका में इनकी व्याख्या अस्त-व्यस्त है। इनकी व्याख्या इस प्रकार है–)

प्रथम सप्ताह गर्म पानी के साथ चावल खाए।

दूसरे सप्ताह में दाल के पानी अथवा मांड के साथ।

तीसरे सप्ताह में तीन भाग गर्म पानी तथा थोड़े मधुर दही के साथ चावल।

चौथे सप्ताह में दो भाग गर्म पानी तथा दो भाग मधुर दही के साथ चावल।

पांचवे सप्ताह में अर्द्ध गर्म पानी और अर्द्ध भाग मधुर दही के साथ चावल।

छठे सप्ताह में तीन भाग गर्म पानी और दो भाग मधुर दही के साथ चावल।

सातवें सप्ताह में मधुर दही में थोड़ा गर्म पानी मिलाकर उसके साथ चावल।

३८०७. एवमेसा तु खुड्डीया, पडिमा होति समाणिया।
भोच्चारुभंते चोद्देणं, अभोच्चा सोलसेण तु॥

इस प्रकार यह क्षुल्लिका मोकप्रतिमा को स्वीकार करने वाला साधक यदि भोजन करता हुआ आरोहण करता है तो उसकी समाप्ति चतुर्दशक (सात उपवास) से होती है और अभुक्त अवस्था वाले साधक को षोडशक (आठ उपवास) से उसकी समाप्ति होती है।

३८०८. एमेव महल्ली वी, अट्ठारसमेण नवरि निट्ठाती।
परिहारो अट्ठदिवसा, न हु रोगि बलिस्स वा एसा॥

इसी प्रकार महल्लिका मोकप्रतिमा अष्टादशक (नौ उपवास) से समाप्त होती है। परिहारतप आठ दिन का होता है। साधक प्रतिमा के प्रभाव से रोगग्रस्त नहीं होता। अथवा बलवान् व्यक्ति ही इसे धारण कर सकता है।

३८०९. पडिवत्ती पुण तासिं, चरिमनिदाघे व पढमसरए वा।
संघयणधितीजुत्तो, फासयती दो वि एयाओ॥

इन दोनों प्रतिमाओं की प्रतिपत्ति चरमग्रीष्मकाल में अथवा शरद् ऋतु के प्रारंभ में की जाती है। इन प्रतिमाओं को धारण करने वाला प्रथम तीन संहननों में से किसी एक संहननवाला हो, धृतिसंपन्न हो।

३८१०. स साहियपतिण्णो उ, नीरोगो दुहतो बली।
मितं गेण्हति सुद्धुञ्छं, सुत्तस्सेस समुप्पदा॥

मोकप्रतिमासाधक अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध कर लेता है। वह नीरोग, धृति और संहनन–दोनों से बली, दत्तिसंख्या से परिमित शुद्ध उंछ ग्रहण करता है। दत्ति के परिमाण के प्रतिपादन के लिए सूत्र का समुत्पाद–प्रवृत्ति हुई है। यही सूत्रसंबंध है।

३८११. हत्थेण व मत्तेण व, भिक्खा होति समुज्जता।
दत्तिओ जत्तिए वारे, खिवंति होंति तत्तिया॥

हाथ या पात्र में जो समुद्यत–उत्पादित होती है वह है भिक्षा। वही भिक्षा जितनी बार टुकड़े-टुकड़े में (विच्छिन्नरूप में) दी जाती है, वे उतनी ही दत्तियां होती हैं।

३८१२. अव्वोच्छिन्ननिवाताओ, दत्ती होति उ वेतरा।
एगाणेगासु चत्तारि, विभागा भिक्खदत्तिसु॥

अव्यवच्छिन्न निपात अर्थात् जिसका निपात व्यवच्छिन्न नहीं होता, मध्य में टूटता नहीं, वह होती है दत्ती। इससे इतर होती है भिक्षा। भिक्षा तथा दत्तियों के एक-अनेक विषय में चार विकल्प होते हैं–

१. एक भिक्षा एक दत्ती।

२. एक भिक्षा अनेक दत्तियां।

३. अनेक भिक्षा एक दत्ती।

४. अनेक भिक्षा, अनेक दत्तियां

३८१३. एगा भिक्खा एगा, दत्ति एग भिक्खऽणेग दत्ती उ।
णेगातो वि य एगा, णेगाओ चेव णेगाओ॥

इसी प्रकार एक-अनेक दायक तथा एक-अनेक भिक्षा–इनसे संबंधित भी चतुर्भंगी होती है–

१. एक दायक एक दत्ती (भिक्षा)।

२. एक दायक अनेक दत्तियां।

३. अनेक दायक एक दत्ती।

४.अनेक दायक अनेक दत्तियां।

ये चारों विकल्प करभोजी तथा पात्रभोजी में होते हैं।

३८१४. एमेव एगऽणेगे, दायगभिक्खासु होइ चउभंगी।
एगो एगं दत्ती, एगो णेगाउ णेग एगा उ॥
णेगा य अणेगाओ, पाणीसु पडिग्गहधरेसु॥

३८१५. एगो एगं एक्कसि, एगो एक्कं बहुसो ऊ वारे।
एगो णेगा एक्कसि,- एगो णेगा य बहुसो य॥

एक दायक तथा एक-अनेक भिक्षा में दत्तियां संबंधी चतुर्भंगी–

१. एक दायक एक भिक्षा को एक बार देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. एक दायक एक भिक्षा अनेक बार विच्छिन्नरूप में देता है।

३. एक दायक अनेक भिक्षा को अविच्छिन्नरूप से एकबार देता है।

४. एक दायक अनेक भिक्षा को अनेक बार विच्छिन्न-विच्छिन्नरूप में देता है।

३८१६. णेगा एवं एक्कसि, णेगा एगं च णेगसो वारे।
णेगा णेगा एक्कसि, णेगा णेगा य बहुवारे॥

अनेक दायक तथा एक अनेक भिक्षा में दत्तियां संबंधी चतुर्भंगी–

१. अनेक दायक एक भिक्षा को एक बार अव्यवच्छेद से देते हैं।

२. अनेक दायक एक भिक्षा को अनेक बार व्यवच्छेद पूर्वक देते है।

३. अनेक दायक अनेक भिक्षा को एकत्रित कर एक बार देते हैं।

४. अनेक दायक अनेक भिक्षा को व्यवच्छेदपूर्वक बहुत बार देते हैं।

३८१७. पाणिपडिग्गहियस्स वि, एसेव कमो भवे निरवसेसो।
गणवासे निरवेक्खो, सो पुण सपडिग्गहो भइतो॥

करपात्री मुनि के भी यही क्रम निरवशेषरूप में ज्ञातव्य है। वह गणवास से निरपेक्ष होता है। उसका पाणिपतद्ग्रह वैकल्पिक होता है।

३८१८. दोण्हेगतरे पाए, गेण्हति उ अभिग्गही तिहोवहडं।
दुविधं एगविधं वा, अभिहडसुत्तस्स संबंधो॥

करपात्री (जिनकल्पिक) और पतद्ग्रहधारी (स्थविर-कल्पी) इन दोनों में से एक पात्र में भिक्षा ग्रहण करता है। उपहृत[1] तीन प्रकार का, दो प्रकार का अथवा एक प्रकार का होता है। यह अभिहृत सूत्र के साथ संबंध है।

३८१९. सुद्धे संसट्ठे या, फलितोवहडे य तिविधमेक्केक्के।
तिन्नेग दुगं तिन्नि उ, तिगसंजोगो भवे एक्को॥

तीन प्रकार का उपहृत–शुद्ध उपहृत, संसृष्ट उपहृत, फलित उपहृत। प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं–ग्रहण, संहरण तथा (बर्तन के) मुंह में प्रक्षेप। एक के संयोग में तीन भंग–

१. शुद्धोपहृत का ग्रहण २. फलितोपहृत का ग्रहण ३. संसृष्टोपहृत का ग्रहण। द्विक् संयोग में तीन विकल्प– ४. शुद्धोपहृत फलितोपहृत ५. शुद्धोपहृत संसृष्टोपहृत ६. फलितोपहृत संसृष्टोपहृत। त्रिक् संयोग में एक विकल्प होता है– ७. शुद्धोपहृत, फलितोपहृत संसृष्टोपहृत ग्रहण करता है। सर्वसंख्या से ये सात विकल्प हुए। अभिग्रही इनमें से किसी एक को ग्रहण करता है।

३८२०. सुद्धं तु अलेवकडं, अहवण सुद्धोदणो भवे सुद्धं।
संसट्ठं आयत्तं, लेवाडमलेवडं चेव॥

३८२१. फलितं पहेणगादी, वंजणभक्खेहि वा विरइयं तु।
भोत्तुमणस्सोवहियं, पंचम पिंडेसणा एसा॥

अलेपकृत शुद्ध होता है अथवा शुद्धोदन (व्यंजनरहित) शुद्ध होता है। गृहीत भोजन में से साधु को दान देने के लिए हाथ डाला। वह लेपकृत अथवा अलेपकृत संसृष्ट कहलाता है। फलित का अर्थ है–वह भोजन जो नाना प्रकार के व्यंजनों तथा भक्ष्यों से निष्पन्न है। प्रहेणक–जो अनेक प्रसंगों पर उपहाररूप में दिया जाता है। उपहृत शब्द का अर्थ है–पास में लेना। यह पांचवीं पिंडैषणा है।

२८२२. सुद्धग्गहणेणं पुण, होति चउत्थी वि एसणागहिता।
संसट्ठे उ विभासा, फलियं नियमा तु लेवकडं॥

शुद्ध के ग्रहण से चौथी अल्पलेपा ऐषणा भी गृहीत हो जाती है। संसृष्ट में विकल्प है–कदाचित् लेपकृत और कदाचित् अलेपकृत। फलित नियमतः अलेपकृत ही होती है।

३८२३. पगया अभिग्गहा खलु,सुद्धयरा ते य जोगवड्ढीए।
इति उवहडसुत्तातो, तिविहं दुविहं च पग्गहियं॥

पूर्वसूत्र में शुद्धोपहृत में अभिग्रह का अधिकार है। अभिग्रह शुद्धतर होते हैं क्योंकि वे योगवृद्धिकर होते हैं। इसलिए उपहृत सूत्र के अनंतर त्रिविध अथवा द्विविध प्रगृहीत (अवगृहीत) का कथन है।

३८२४. पग्गहितं साहरियं, पक्खिप्पंतं च आसए तह य।
तिविधं तं दुविधं पुण, पग्गहियं चेव साहरियं॥

अवगृहीत के तीन अथवा दो प्रकार हैं। तीन प्रकार– प्रगृहीत, संहृत (परोसना) तथा मुंह में प्रक्षिप्त। दो प्रकार हैं–प्रगृहीत तथा संहृत।

३८२५. बहुसुतमाइण्णं न उ, बाहियऽण्णेहि जुगप्पहाणेहिं।
आदेसो सो उ भवे, अधवावि नयंतरविगप्पो॥

आदेश (मतांतर) का लक्षण–

जो बहुश्रुतों के द्वारा आचीर्ण है, जो युगप्रधान आचार्यों द्वारा बाधित नहीं है, वह अथवा नयान्तरों से व्याख्यापित होता है वह आदेश कहलाता है।

३८२६. साहीरमाणगहियं, दिज्जंतं जं च होति पाउग्गं।
पक्खेवए दुगुंछा, आदेसो कुडमुहादीसु॥

गृहीत का अर्थ है–जो दीयमान है, प्रायोग्य है। संहृत का अर्थ है–जिसका संहरण किया जा रहा है, जिसको निकाला जा

१. वृत्तिकार मलयगिरी ने 'उवहड' शब्द का संस्कृत रूपांतरण उपहूत (उपहृतः ?) कर उसका अर्थ खाने की इच्छा किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहा है, परोसा जा रहा है। प्रक्षिप्त का अर्थ है—मुंह में प्रक्षेपण। इससे जुगुप्सा पैदा होती है। (उच्छिष्ट होने के कारण)। इस विषयक आदेश—मतांतर यह है—मुख का अर्थ है घटमुख आदि।

('आसगंसि पक्खिवति' का मतांतर से अर्थ है—पिठर (बर्तन) के मुख आदि में प्रक्षिप्त करना।)

३८२७. ओग्गहियम्मि विसेसो, पंचमपिंडेसणाउ छट्ठीए।
तं पि य हु अलेवकडं, नियमा पुव्वुद्धडं चेव॥

उपहृत सूत्र में पांचवीं पिंडैषणा का कथन किया गया था। अवगृहीत सूत्र में पिंडैषणा से आगे जो षष्ठी पिंडैषणा है, उसका कथन है। वह भी अलेपकृत है तथा नियमतः पूर्वों से उद्धृत है।

३८२८. भुंजमाणस्स उक्खित्तं, पडिसिद्धं च तेण तु।
जहण्णोवहडं तं तु, हत्थस्स परियत्तणे॥

भोजन करने वाले की थाली में डालने के लिए व्यक्ति ने पात्र से चावल उठाए। भोजन करने वाले व्यक्ति ने प्रतिषेध किया। इतने में साधु आ गए। उसने चावल साधुओं को दे दिए। यह हाथ मात्र का परिवर्तन है। यह जघन्य उपहृत है।

३८२९. अह साहीरमाणं तु, वट्टेउं जो उ दावए।
दलेज्जऽचलितो तत्तो, छट्ठा एसा वि एसणा॥

जो भोजन ले जा रहा है (संहियमाण) उसे वर्तित कर उससे भोजन साधु को दिलाता है और वह वहां से एक कदम भी न चलता हुआ साधु को देता है—यह संहियमाण कहलाता है। यह भी छठी एषणा है।

३८३०. भुत्तसेसं तु जं भूयो छुभंती पिठरे दए।
संवड्ढंतीव अन्नस्स, आसगम्मि पगासए॥

भोजन करने के पश्चात् जो बचा है उसे पुनः पिठर (बर्तन) में डाला जाता है। अथवा साधु को दिया जाता है। अथवा अन्य प्रकाशमुखवाले (चौड़े मुखवाले) भाजन में उस भुक्तशेष भोजन को संवर्धित करता है, रख देता है। यह 'आसंगसि पक्खिवई' की व्याख्या है।

नौवां उद्देशक समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दसवां उद्देशक

३८३१. पगता अभिग्गहा खलु, एस उ दसमस्स होति संबंधो।
संखा य समणुवत्तइ, आहारे वावि अधिगारो॥

पूर्व सूत्रों में अभिग्रह प्रकृत थे। प्रस्तुत दसवें उद्देशक में भी उनका ही अधिकार है। यह सूत्र का संबंध है। अथवा पूर्वसूत्र में आहार विषयक संख्या का निर्देश था। प्रस्तुत में भी उसी का अनुवर्तन है। अतः आहारविषयक संख्या से संबंधित दसवें उद्देशक का अधिकार है–प्रवृत्ति है।

३८३२. जवमज्झ वइरमज्झा, वोसट्ठ चियत्त तिविह तीहिं तु।
दुविधे वि सहति सम्मं, अण्णउंछे य निक्खेवो॥

यवमध्य, वज्रमध्य, व्युत्सृष्ट, त्यक्त, त्रिविध तीनों, द्विविध, सहन करता है सम्यक्, अज्ञातोंछ का निक्षेप। (विस्तृत व्याख्या अगले श्लोकों में।)

३८३३. उवमा जवेण चंदेण, वावि जवमज्झ चंदपडिमाए।
एमेव य बितियाए, वइरं वज्जं ति एगट्ठं॥

यव और चंद्र से उपमित तथा यव की तरह मध्य वाली चंद्राकार प्रतिमा यवमध्यचंद्रप्रतिमा कहलाती है। इसी प्रकार वज्रमध्य चंद्राकार प्रतिमा वज्रमध्यचंद्रप्रतिमा कहलाती है। 'वइर' और वज्र–एकार्थक हैं।

३८३४. पण्णरसे व उ काउं, भागे ससिणं तु सुक्कपक्खस्स।
जा वड्ढयते दत्ती, हावति ता चेव कालेण॥

शुक्लपक्ष के पन्द्रह भाग करने पर चंद्रमा की प्रतिदिन एक-एक कला बढ़ती है। इसी प्रकार जो दत्तियां बढ़ती हैं, वे काल अर्थात् कृष्णपक्ष में क्रमशः घटती जाती हैं।

३८३५. भत्तट्ठितो व खमओ, इयरदिणे तासि होति पट्ठवओ।
चरिमे असद्धवं पुण, होति अभत्तट्ठमुज्जवणं॥

यवमध्य और वज्रमध्य प्रतिमा–इन दोनों का प्रस्थापक मुनि आरंभदिवस तथा अंतिमदिन भक्तार्थी अथवा क्षपक होता है। चरमदिवस में वह भक्तविषय में श्रद्धा भी नहीं करता। दोनों प्रकार की प्रतिमाओं का उद्यापन अभक्तार्थ होता है।

३८३६. संघयणे परियाए, सुत्ते अत्थे य जो भवे बलिओ।
सो पडिमं पडिवज्जति, जवमज्झं वइरमज्झं च॥

इन प्रतिमाओं को स्वीकार करने वाले साधकों का संहनन–प्रथम तीन संहननों में से कोई एक।

पर्याय–जन्मपर्याय–जघन्यतः २९ वर्ष और उत्कृष्टतः देशोनपूर्वकोटि। प्रव्रज्यापर्याय–जघन्यतः २० वर्ष और उत्कृष्टतः देशोनपूर्वकोटि। सूत्रार्थ–जघन्यतः नौवें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु तथा उत्कृष्टतः किंचिद् न्यून दशपूर्व।

इस प्रकार जो बलवान् होता है, वह यवमध्य और वज्रमध्य प्रतिमा को स्वीकार करता है।

३८३७. निच्चं दिया व रातो, पडिमाकालो य जत्तिओ भणितो।
दव्वम्मि य भावम्मि य, वोसट्ठं तत्थिमं दव्वे॥

प्रतिमा साधक सदा दिन और रात अथवा जितना प्रतिमाकाल कहा गया है, उतने काल तक द्रव्य और भाव से वह व्युत्सृष्टकाय होता है। द्रव्यतः व्युत्सृष्टकाय यह है–

३८३८. असिणाण भूमिसयणा,अविभूसा कुलवधू पउत्थधवा।
रक्खति पतिस्स सेज्जं, अणिकामा दव्ववोसट्ठो॥

प्रोषितपति–परदेश गए हुए पति वाली कुलवधू स्नान नहीं करती, भूमीशयन करती है, विभूषा नहीं करती, वह अनिकाम होकर पति की शय्या की रक्षा करती है–यह द्रव्यतः व्युत्सृष्ट है।

३८३९. वातिय-पित्तिय-सिंभियरोगातंकेहि तत्थ पुट्ठो वि।
न कुणति परिकम्मं सो, किंचि वि वोसट्ठदेहो उ॥

इसी प्रकार जो प्रतिमासाधक वातिक, पैतिक, श्लेष्मिक रोग तथा आतंक से स्पृष्ट होने पर भी कुछ भी परिकर्म नहीं करता वह भावतः व्युत्सृष्टकाय है।

३८४०. जुद्धपराजिय अट्टण, फलही मल्ले निरुत्त परिकम्मे।
गूहण मच्छियमल्ले, ततियदिणे दव्वतो चत्तो॥

अट्टन मल्ल मल्लयुद्ध में पराजित हो गया। फलिह मल्ल को उसने तैयार किया। उसने मात्सिकमल्ल के साथ त्रिदिवसीय मल्लयुद्ध आयोजित किया। प्रत्येक दिन के मल्लयुद्ध के पश्चात् फलिहमल्ल अपने शरीर का निरुक्त– निरवशेष परिकर्म करता था और मात्सिकमल्ल गर्व के कारण शारीरिक पीड़ा को छुपाता हुआ कोई परिकर्म नहीं करता था। तीसरे दिन वह हार गया, मर गया। यह द्रव्यतः त्यक्त का उदाहरण है।

३८४१. बंधेज्ज व रुंभेज्ज व, कोई व हणेज्ज अधव मारेज्ज।
वारेति न सो भगवं, चियत्तदेहो अपडिबद्धो॥

प्रतिमा प्रतिपन्न भगवान् मुनि देह के प्रति अप्रतिबद्ध होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उसको कोई बांधे, रुंधे, हनन करे अथवा मारे तो भी उसका निवारण न करना, उसे न रोकना—यह भावतः त्यक्तदेह है।

३८४२. दिव्वादि तिन्नि चउहा, बारस एवं तु होंतुवस्सग्गा।
वोसट्ठग्गहणेणं, आयासंचेतणग्गहणं॥

दिव्य आदि उपसर्ग तीन प्रकार के हैं—दिव्य, मानुष और तैर्यग्। इन प्रत्येक के चार-चार प्रकार हैं। इस प्रकार उपसर्गों की सर्वसंख्या ४×३=१२ होती है। आत्मसंचेतनीय उपसर्ग चार प्रकार के हैं। यह व्युत्सृष्ट के ग्रहण से गृहीत है।

३८४३. हास पदोस वीमंस, पुढो विमाया य दिव्विया चउरो।
हास-पदोस-वीमंसा, कुसीला नरगता चउहा॥

दिव्य उपसर्ग चार प्रकार से होते हैं—हास अर्थात् क्रीडा से, प्रद्वेष से, विमर्श से—यह अपनी प्रतिज्ञा से चलित होता है या नहीं, पृथग् विमात्रा से अर्थात् पूर्वोक्त तीनो में से किंचित्-किंचित्। मनुष्य संबंधी चार उपसर्ग—हास्य से, प्रद्वेष से, विमर्श से तथा कुशील प्रतिसेवना से।

३८४४. भयतो पदोस आहारहेतु तहऽवच्चलेणरक्खट्ठा।
तिरिया होंति चउद्धा, एते तिविधा वि उवसग्गा॥

तैरश्च उपसर्गों के चार प्रकार—भय से, प्रद्वेष से, आहार के लिए, संतान और स्थान की रक्षा के लिए। ये दिव्य आदि तीन प्रकार के उपसर्ग कहे गए हैं।

३८४५. घट्टण पवडण थंभण, लेसण चउधा उ आयसंचेया।
ते पुण सन्निवयंती, वोसट्ठदारे न इहं तू॥

आत्मसंचेत्य उपसर्गों के चार प्रकार—घट्टन से, पड़ने से, स्तंभन से—पांव आदि का अकड़जाना, श्लेष्म के कारण—अचानक शरीर में श्लेष्म के प्रकोप से शरीरावयव में वात का प्रकोप हो जाने से। ये आत्मसंचेत्य उपसर्ग व्युत्सृष्ट द्वार में समाविष्ट होते हैं, यहां नहीं।

३८४६. मण-वयणकायजोगेहिं, तिहिं उ दिव्वमादिए तिन्नि।
सम्मं अधियासेती, तत्थं सुण्हाय दिट्ठंतो॥

दिव्य आदि तीनों उपसर्गों को, उनके भेद सहित, मन, वचन और काय—इन तीनों योगों से सम्यक्रूप से सहन करना होता है। सहन के दो प्रकार हैं—द्रव्यतः सहन और भावतः सहन। द्रव्यसहन में स्नुषा का दृष्टांत है।

३८४७. सासू-ससुरुक्कोसा, देवर-भत्तारमादि मज्झिमगा।
दासादी य जहण्णा, जह सुण्हा सहइ उवसग्गा॥

सासु-ससुर द्वारा कृत उपसर्ग उत्कृष्ट, देवर और भर्त्ता द्वारा कृत मध्यम तथा दास-दासी द्वारा कृत उपसर्ग जघन्य होते हैं। इन उपसर्गों को स्नुषा ने सहन किया।[1]

३८४८. सासु-ससुरोवमा खलु, दिव्वा दियरोवमा य माणुस्सा।
दासत्थाणी तिरिया, तह सम्मं सोऽधियासेति॥

सासु-ससुर की उपमा से उपमित होते हैं—दिव्य उपसर्ग, देवर की उपमा से उपमित होते हैं—मानुष उपसर्ग और दास स्थानीय हैं तैरश्च उपसर्ग। साधु इन तीनों प्रकारों के उपसर्गों को सम्यक् सहन करता है।

३८४९. दुधावेते समासेणं, सव्वे सामण्णकंटगा।
विसयाणुलोमिया चेव, तधेव पडिलोमिया॥

ये सभी श्रामण्यकंटक—(श्रामण्य के लिए कांटों के समान) उपसर्ग संक्षेप में दो प्रकार के हैं—विषयानुलोमिक तथा प्रतिलोमिक।

३८५०. वंदण सक्कारादी, अणुलोमा बंध-वहण पडिलोमा।
तेच्चिय खमती सव्वे, एत्थं रुक्खेण दिट्ठंतो॥

वंदन, सत्कार आदि अनुलोम उपसर्ग हैं तथा बंधन, वध आदि प्रतिलोम उपसर्ग हैं। साधु इन सबको सहन करता है। यहां वृक्ष का दृष्टांत है।

३८५१. वासीचंदणकप्पो, जह रुक्खो इय सुहदुक्खसमो उ।
रागद्दोसविमुक्को, सहती अणुलोमपडिलोमे॥

जैसे वृक्ष वासी-चंदन तुल्य होता है, अर्थात् बर्छी से काटे जाने पर अथवा चंदन से अनुलिप्त होने पर सम रहता है, वैसे ही सुख-दुःख में सम तथा राग-द्वेष से विमुक्त मुनि अनुलोम तथा प्रतिलोम उपसर्गों को सहन करता है।

३८५२. अण्णाउंछं दुविहं, दव्वे भावे य होति नातव्वं।
दव्वुंछंण्णेगविधं, लोगारिसीणं मुणेयव्वं॥

अज्ञातोंछ दो प्रकार का ज्ञातव्य है—द्रव्य अज्ञातोंछ और भाव अज्ञातोंछ। द्रव्योंछ अनेक प्रकार का है। यह लौकिक ऋषियों के होता है, यह जानना चाहिए।

३८५३. उक्खल-खलए दव्वी, दंडे संडासए य पोत्तीया।
आमे पक्के य तधा, दव्वोंछं होति निक्खेवो॥

तापस उंछवृत्ति वाले होते हैं। उनके द्रव्योंछ के ये प्रकार हैं—ऊखल में कूटे जाने पर जो शालि, तंदुल आदि बाहर बिखरते हैं, उनको चुनकर रांधना, खलिहान से धान्य को उठा लेने पर बिखरे दानों को चुनना, दर्वी—धान्यराशि में से एक दर्वी जितना धान्य उठाना, दंड—धान्यराशि में से प्रतिदिन एक यष्टि से उठाया जाने वाला धान्य, संडासक—अंगुष्ठ और प्रदेशिनी अंगुली से

१. सासु-ससुर ने स्नुषा को अपराध करने पर डांटा। उसे बहुत लज्जा आई। यद्यपि उन्होंने बहुत कटुक वचन कहे। फिर भी उसने सहन किया। देवरों ने उसके साथ उद्दंड वर्ताव किया, उल्लंठ वचन कहे। वह लज्जित न होकर उनको सहन किया। दास-दासी ने कुछ विपरीत शब्द कहे तो उसने सोचा—इनके वचनों का क्या मूल्य है? इस प्रकार उनके वचनों की अवगणना कर, प्रत्युत्तर नहीं दिया। सब कुछ सहन कर लिया। यह द्रव्य— सहन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जितना ग्रहण होता है उतना धान्य प्रतिगृह से लेना, पोत्ति–स्वामी की अनुज्ञा प्राप्त कर धान्यराशि पर कपड़ा फेंका जाता है, उस पर जो धान्यकण संलग्न होते हैं, ग्रहण करना। अथवा चरक आदि तापस कच्चे या पके हुए की याचना करते हैं–यह सारा द्रव्योंछ का निक्षेप है।

३८५४. पडिमापडिवण्ण एस, भगवं अज्ज किर एत्तिया दत्ती।
आदियति त्ति न नज्जति, अण्णाउंछं तवो भणितो॥

जिस प्रतिमा-प्रतिपन्न भगवान् (मुनि) के विषय में यह ज्ञात नहीं होता कि ये आज कितनी दत्तियां ग्रहण करेंगे, यह उनका अज्ञातोंछ तप है।

३८५५. दव्वादभिग्गहो खलु, दव्वे सुद्धुंछ मे त्ति या दत्ती।
एलुगमेत्तं खेत्ते, गेण्हति ततियाए कालम्मि॥

अभिग्रह के चार प्रकार हैं–द्रव्याभिग्रह, क्षेत्राभिग्रह, कालाभिग्रह और भावाभिग्रह। द्रव्यादि अभिग्रह द्रव्यअभिग्रह अर्थात् शुद्ध उंछ ग्रहण करना। अथवा इतनी दत्तियां लेनी हैं–यह भी द्रव्याभिग्रह है। एलुकमात्र क्षेत्र को उल्लंघ कर भिक्षा लेना–यह क्षेत्राभिग्रह है। तीसरे प्रहर में भिक्षा के लिए जाना कालाभिग्रह है।

३८५६. अण्णाउंछं एगोवणीय निज्जूहिऊण समणादी।
अगुव्विणिं अबालं ती, एलुगविक्खंभणे दोसा॥

प्रतिमा-प्रतिपन्न मुनि एक के द्वारा उपनीत अज्ञातोंछ को ग्रहण करता है परंतु श्रमण आदि को लांघकर भिक्षा के लिए नहीं घूमता। वह उस स्त्री से भिक्षा ग्रहण करता है जो गर्भवती न हो तथा जिसका शिशु स्तनपायी न हो। देहली को लांघकर भिक्षा लेने के ये दोष हैं।

३८५७. अण्णाउंछं च सुद्धं, पंच काऊण अग्गहं।
दिणे दिणे अभिगेण्हे, तासिमन्नतरी य तु॥

प्रथम पांच पिंडैषणाओं का अग्रहण कर अंतिम दो में से किसी एक का ग्रहण कर प्रतिदिन अज्ञातोंछ तथा शुद्ध ग्रहण करता है।

३८५८. एगस्स भुंजमाणस्स, उवणीयं तु गेण्हती।
न गेण्हे दुगमादीणं, अचियत्तं तु मा भवे॥

प्रतिमा-प्रतिपन्न मुनि भोजन करने वाले एक मुनि के लिए उपनीत भक्तपान ग्रहण करता है, दो आदि के लिए उपनीत का ग्रहण नहीं करता। उनके मन में अप्रीति न हो यह इसका हेतु है।

३८५९. अडंते भिक्खकालम्मि, घासत्थी वसभादओ।
वज्जेति होज्ज मा तेसिं, आउरत्तेण अप्पियं॥

वृषभ (सांड) आदि भिक्षाकाल में ग्रासार्थी होकर घूमते हैं। दाता में आतुरता के कारण अप्रीति न हो इसलिए उनका वर्जन करता है।

३८६०. दुपय-चउप्पय-पक्खी,
किमणातिथि-समण-साणमादीया।
निज्जूहिऊण सव्वे,
अडती भिक्खं तु सो ताधे॥

द्विपद, चतुष्पद, पक्षी, कृपण, अतिथि, श्रमण तथा श्वा आदि भिक्षा के लिए घूमते हैं। उन सबके चले जाने पर प्रतिमा-साधक भिक्षा के लिए जाता है।

३८६१. पुव्वं व चरति तेसिं, नियट्टचारेसु वा अडति पच्छा।
जत्थ भवे दोण्णि काला, चरती तत्थ अतिच्छिते॥

वह साधक या तो उन सबसे पहले भिक्षा के लिए जाता है अथवा उनके भिक्षा से निवृत्त हो जाने पर जाता है। जहां भिक्षाकाल दो होते हैं वहां श्रमण आदि भिक्षा से अतिक्रांत हो जाने पर वह घूमता है।

३८६२. अणारद्धे उ अण्णेसु, मज्झे चरति संजओ।
गेण्हंत देंतयाणं तु, वज्जयंतो अपत्तियं॥

६२. जब अन्य श्रमण आदि भिक्षाकाल में भिक्षाचर्या प्रारंभ नहीं करते तब वह साधक बीच में भिक्षा के लिए जाता है और भिक्षाचर्या में देने-लेने वाले की अप्रीति का वर्जन करता है।

३८६३. नवमासगुव्विणीं खलु, गच्छे वज्जति इतरो सव्वा उ।
खीराहारं गच्छो, वज्जेतितरो तु सव्वं पि॥

गच्छवासी मुनि नौ मास की गर्भवती के हाथ से भिक्षा ग्रहण करने का वर्जन करता है, इतर अर्थात् गच्छनिर्गत मुनि गर्भवतीमात्र का वर्जन करते हैं। गच्छवासी स्तनपायी बालक वाली स्त्री का और गच्छनिर्गत मुनि सभी वय वाले शिशुओं वाली स्त्री का वर्जन करते हैं।

३८६४. गच्छगयनिग्गते वा, लहुगा गुरुगा य एलुगा परतो।
आणादिणो य दोसा, दुविधा य विराधणा इणमो॥

देहली का उल्लंघन करने वाले गच्छवासी को चार लघुमास का तथा गच्छनिर्गत को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। तथा आज्ञाभंग आदि दोष और दो प्रकार की ये विराधनाएं होती हैं–आत्मविराधना तथा संयमविराधना।

३८६५. संकग्गहणे इच्छा, दुन्निविट्ठा अवाउडा।
णिहणुक्खणणविरेगे, तेणे अविदिन्न पाहुडए॥
३८६६. बंध-वहे उद्दवणे, व खिंसणा आसियावणा चेव।
उव्वेवग कुरुंडिए, दीणे अविदिन्न वज्जणया॥

शंका, ग्रहण, इच्छा, दुर्निविष्ट, अप्रावृत, निधि, उत्खनन, विरेचन, अदत्तादान, प्राभृत–कलह, बंधन, वध, उद्रवण, खिंसना, आसीयावणा, उद्वेजक, कुरुंडित, दीन, अवितीर्ण भूमी-प्रवेश की वर्जना–यह द्वार गाथा है। (इसकी व्याख्या अगली अनेक गाथाओं में।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३८६७. पच्छित्ते आदेसा, संकियनिस्संकिए च गहणादी।
तेण्णु चउत्थे संकिय, गुरुगा निस्संकिए मूलं॥

देहली के आगे प्रवेश करने पर स्तैन्य विषयक तथा चतुर्थ व्रत विषयक शंका होती है। उसमें शंकित और निःशंकित होने पर प्रायश्चित्त के दो आदेश–प्रकार हैं। शंकित होने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा निःशंकित होने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा शंका में ग्रहण आदि दोष होते हैं, जैसे–

३८६८. गेण्हण कड्ढण ववहार, पच्छकड्डुड्डाह तह य निव्विसए।
किण्णु हु इमस्स इच्छा, अब्भिंतरअतिगते जीए॥

उसका ग्रहण होता है, लोक उसको पकड़ लेते हैं, पश्चात् राजकुल में ले जाते हैं। वहां व्यवहार–न्यायाधीश के समक्ष उसको उपस्थित किया जाता है। पश्चात् कृतकरण अर्थात् उसको साधुव्रत से मुक्त कर दिया जाता है। उसे फिर देश से निकाल दिया जाता है। यह गृहांतर में चला गया। इसकी कोई न कोई इच्छा थी।

३८६९. दुन्निविट्ठा व होज्जाही, अवाउडा वऽगारी उ।
लज्जिया सा वि होज्जाही, संका वा से समुब्भवे॥

घर के भीतर गृहिणी अस्त-व्यस्त बैठी हो अथवा अप्रावृत–नग्न हो। वह साधु को सहसा प्रविष्ट देखकर लज्जित होती है। उसके मन में शंका उत्पन्न हो सकती है।

३८७०. किं मन्ने घेत्तुकामो, एस ममं जेण तत्तिए दूरं।
अन्नो वा संकेज्जा, गुरुगा मूलं तु निस्संके॥

३८७१. आउत्थपरा वावी, उभयसमुत्था व होज्ज दोसा उ।
उक्खणनिहणविरेगं, तत्थ व किंची करेज्जाही॥

३८७२. दिट्ठं एतेण इमं, साहेज्जा मा तु एस अन्नेसिं।
तेणो त्ति व एसो ऊ, संका गहणादि कुज्जाही॥

वह सोचती है–क्या यह मुझे ग्रहण करने के लिए घर के भीतर इतनी दूर आया है। दूसरे व्यक्ति में भी ऐसी शंका हो सकती है। ऐसी शंका होने पर मुनि को चार गुरुमास का तथा निःशंकित होने पर मूल प्रायश्चित्त आता है। तथा आत्मोत्थ, परोत्थ अथवा उभय समुत्थ दोष होते हैं। गृहमध्य में गृहपति स्वर्ण आदि निधान का उत्खनन कर रहा हो अथवा निधान का परस्पर विरेचन (बंटवारा) कर रहा हो तो साधु को देखकर वह सोचता है–इस साधु ने मुझे उत्खनन करते हुए देख लिया है। यह दूसरों को यह बात न कह दे। अथवा यह चोर हो, इस शंका से वह उसे पकड़ता है, वध-बंधन आदि करता है।

३८७३. तित्थगरगिहत्थेहिं, दोहि वि अतिभूमिपविसणमदिण्णं।
कीसे दूरमतिगतो, य संखडं बंध-वहमादी॥

तीर्थंकर तथा गृहस्थ (गृहस्वामी)–दोनों ने मुनि का अतिभूमी में प्रवेश निषिद्ध किया है। इसलिए मुनि अतिभूमी में प्रवेश न करे। यह मुनि किसलिए इतनी दूर आया है, यह सोचकर गृहस्वामी कलह कर सकता है, बंधन, वध आदि कर सकता है।

३८७४. खिंसेज्ज व जह एते, अलभंत वराग अंतो पविसंती।
गलए घेत्तूण वणम्मि, निच्छुभेज्जाहि बाहिरओ॥

गृहस्वामी उस साधु की अवहेलना करता हुआ सोचता है–इन बेचारों को कुछ प्राप्त नहीं होता। अतः ये घर में घुस आते हैं। वह गृहस्वामी उस मुनि को गले से पकड़कर बाहर ढकेल देता है।

३८७५. ताओ य अगारीओ, वीरल्लेणं व तासिता सउणी।
उव्वेगं गच्छेज्जा, कुरुंडिओ नाम उवचरओ॥

जैसे बाज से त्रस्त पक्षी उद्विग्न हो जाता है, वैसे ही साधु को सहसा घर में प्रविष्ट हुआ देखकर घर की स्त्रियां उद्विग्न हो जाती हैं।

कुरंटित का अर्थ है–उपचारक। उपचारक अर्थात् कामचारक की आशंका से गृहस्थ उस साधु का वध-बंधन करते हैं।

३८७६. अधवा भणेज्जा एते, गिहिवासम्मि वि अदिट्ठकल्लाणा।
दीणा अदिण्णदाणा, दोसे ते णाउ नो पविसे॥

अथवा यह कहते हैं कि ये साधु गृहवास में भी अदृष्ट-कल्याण, दीन और अदत्तादान–चोर थे। ये सारे दोष होते हैं, यह जानकर मुनि गृहमध्य में प्रवेश न करे।

३८७७. उंबरविक्खंभे विज्जति, दोसा अतिगयम्मि सविसेसा।
तध वि अफलं न सुत्तं, सुत्तनिवातो इमो जम्हा॥

यद्यपि देहली के उल्लंघन में दोष हैं, फिर भी घर के अतिगत अर्थात् मध्य में प्रवेश करने पर सविशेष दोष होते हैं। फिर भी सूत्र अफल नहीं होता। इसीलिए यह सूत्रनिपात है।

३८७८. उज्जाण घडा सत्थे, सेणा संवट्ट वय पवादी वा।
बहिनिग्गमणे जण्णे, भुंजति य जहिं पहियवग्गो॥

औद्यानिका, घटाभोज्य (महत्तर-अनुमहत्तर आदि द्वारा नगर के बाहर की जाने वाली गोठ), सार्थ (वणिक् सार्थ) सेना–स्कंधावार, संवर्त–भय से एकत्रित हुए लोगों का समूह, व्रजिका–गोकुल, प्रपा, बहिर्निर्गमन कर यज्ञपाट आदि में जहां पथिक वर्ग भोजन करते हैं–इन स्थानों में प्रतिमा-प्रतिपन्न साधक भिक्षा के लिए घूमता है।

३८७९. पासट्ठितो एलुगमेत्तमेव पासति न वेतरे दोसा।
निक्खमण-पवेसणे चिय, अचियत्तादी जढा एवं॥

साधक वहां जाकर एक पार्श्व में इस प्रकार खड़ा रहता है कि केवल देहली मात्र दिखती है। इससे इतर दोष नहीं होते। निष्क्रमण और प्रवेश स्थान पर खड़े न रहने से अप्रीति आदि दोष भी इस प्रकार त्यक्त हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३८८०. असतीय पमुह कोट्ठग, सालाए मंडवे रसवतीए।
पासट्ठितो अगंभीरे, एलुगविक्खंभमेत्तम्मि॥

औद्यानिकी आदि के अभाव में साधक शाला के प्रमुख कोष्ठक, मंडप अथवा अगंभीर–अतिप्रकाश वाली रसवती के निष्क्रमण–प्रवेश के स्थान को छोड़कर देहलीमात्र का उल्लंघन कर एकपार्श्व में स्थित होकर भिक्षा ले।

३८८१. बहुआगमितो पडिमं,
पडिवज्जति आगमो इमो वि खलु।
सव्वं व पवयणं पवयणी
य ववहारविसयत्थं॥

३८८२. खलियस्स व पडिमाए,
ववहारो को त्ति सो इमं सुत्तं।
ववहारविहिण्णू वा,
पडिवज्जति सुत्तसंबंधो॥

प्रतिमा को स्वीकार करने वाला बहु आगमिक होता है। यह पांच प्रकार का व्यवहार भी आगम है। सारा प्रवचन तथा प्रावचनिक व्यवहार के विषय में आता है। जो प्रतिमा में स्खलित होता है उसके प्रति क्या व्यवहार होता है–इसका प्रतिपादक है यह सूत्र। अथवा व्यवहारविधि का ज्ञाता ही प्रतिमा स्वीकार करता है। यही सूत्रसंबंध है।

३८८३. सो पुण पंचविगप्पो,आगम-सुत-आण-धारणा-जीते।
संतम्मि ववहरंते, उप्परिवाडी भवे गुरुगा॥

व्यवहार पांच प्रकार का है–आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। जो उत्क्रम से व्यवहार करता है उसको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। जैसे–(आगम के रहते श्रुत से व्यवहार करना उत्क्रमण है। इसी प्रकार श्रुत के रहते आज्ञा से, आज्ञा के रहते धारणा से और धारणा के रहते जीत से व्यवहार करना उत्क्रमण है।)

३८८४. आगमववहारी आगमेण ववहरति सो न अन्नेणं।
न हि सूरस्स पगासं, दीवपगासो विसेसेति॥

आगमव्यवहारी आगम के अनुसार व्यवहार करता है, अन्य अर्थात् श्रुत आदि से नहीं। सूर्य के प्रकाश को दीपक का प्रकाश विशेषित नहीं करता।

३८८५. सुत्तमणागयविसयं, खेत्तं कालं च पप्प ववहारो।
होहिंति न आइल्ला, जा तित्थं ताव जीतो तु॥

(जिस काल में 'ववहारे पंचविहे पण्णत्ते'–इस सूत्र की रचना हुई तब आगम था। फिर आज्ञा आदि का सूत्र में निपात क्यों हुआ?) कहा जाता है–सूत्र अनागत विषय हो जाएगा तब शेष व्यवहारों से व्यवहार करना होगा। व्यवहार भी क्षेत्र और काल के आधार पर होता है। प्रथम चार व्यवहार तीर्थ की अवस्थिति तक नहीं होंगे, परंतु जीत व्यवहार तीर्थकाल तक प्रवृत्त होगा।

३८८६. दव्वे भावे आणा, भावाणा खलु सुयं जिणवराणं।
सम्मं ववहरमाणो, उ तीय आराहओ होति॥

आज्ञा दो प्रकार की होती है–द्रव्य आज्ञा और भाव आज्ञा। द्रव्य आज्ञा है–राजा आदि की। भाव आज्ञा है–जिनेश्वर देव का श्रुत। जो सम्यग् व्यवहार करता है वह आज्ञा का आराधक होता है।

३८८७. आराहणा उ तिविधा, उक्कोसा मज्झिमा जहण्णा उ।
एक दुग तिग जहन्नं, दु तिगट्ठभवा उ उक्कोसा॥

आराधना के तीन प्रकार हैं–उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। उत्कृष्ट आराधना का फल है–एक भव, मध्यम आराधना का फल है दो भव और जघन्य आराधना का फल है तीन भव। अथवा उत्कृष्ट आराधना का जघन्य फल है दो भव, मध्यम आराधना का तीन भव और जघन्य आराधना का आठ भव।

३८८८. जेण य ववहरति मुणी,
जं पि य ववहरति सो वि ववहारो।
ववहारो तहिं ठप्पो,
ववहरियव्वं तु वोच्छामि॥

मुनि जिससे व्यवहार करता है और जिस व्यवहर्तव्य का प्रयोग करता है, वह भी व्यवहार है। व्यवहार को यहां संस्थापित करता हूं, आगे उसकी व्याख्या करूंगा। अब व्यवहरितव्य के विषय में कहूंगा।

३८८९. आभवंते य पच्छित्ते, ववहरियव्वं समासतो दुविहं।
दोसु वि पणगं पणगं, आभवणाए अधीगारो॥

व्यवहरितव्य संक्षेप में दो प्रकार का है–आभवत् और प्रायश्चित्त। दोनों के पांच-पांच प्रकार हैं। यहां आभवत् का अधिकार है।

३८९०. खेत्ते सुत-सुह-दुक्खे, मग्गे विणए य पंचहा होइ।
सच्चित्ते अच्चित्ते, खेत्ते काले य भावे य॥

आभवत् के पांच प्रकार हैं–क्षेत्र, श्रुत, सुख-दुःख, मार्ग और विनय। प्रायश्चित्त के पांच प्रकार–सचित्त, अचित्त, क्षेत्र, काल और भाव।

३८९१. वासासु निग्गताणं, अट्ठसु मासेसु मग्गणा खेत्ते।
आयरियकहण साहण, नयणे गुरुगा य सच्चित्ते॥

आठ महीनों तक ऋतुबद्धकाल में विहरण करने के पश्चात् वर्षावास क्षेत्र की मार्गणा करने के लिए कुछेक मुनि जाते हैं। वे लौटकर आचार्य को क्षेत्रविषयक जानकारी देते हैं। उसे कोई अन्यत्र से समागत मुनि सुनकर अपने आचार्य को वह बात कहता है और उनको उस क्षेत्र में ले जाता है और वहां जाकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सचित्त का ग्रहण करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

३८९२. उडुबद्धे विहरंता, वासाजोग्गं तु पेहए खेत्तं।
वत्थव्वा य गता वा, उव्वेक्खित्ता नियत्ता वा॥

ऋतुबद्धकाल में विहरण करते हुए वर्षायोग्य क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा करते हैं। वास्तव्य साधु क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा करने जाते हैं और प्रत्युपेक्षा कर निवृत्त हो जाते हैं।

३८९३. आलोएंतो सोउं, साहंते गंतु अप्पणो गुरुणो।
कहणम्मि होति मासो, गताण तेसिं न तं खेत्तं॥

वे आकर आचार्य के पास आलोचना करते हैं। क्षेत्र के गुण-दोष बताते हैं। वहां समागत अन्य मुनि यह सुनकर अपने आचार्य को कहते हैं। कथन करने पर एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। वहां जाने पर वह उनका आभवत् क्षेत्र नहीं होता।

३८९४. सामत्थण निज्जविते, पदभेदे चेव पंथ पत्ते य।
पणुवीसादी गुरुगा, गणिणोऽगहणेण वा जस्स॥

यह सुनकर आचार्य यदि वहां जाने के लिए सामत्थण—संप्रधारण करते हैं तो प्रायश्चित्त है २५ दिन का। यदि निर्याचित—वहां जाने का दृढ़ निश्चय कर लेते हैं तो एक लघुमास का, पदभेद—चल पड़ते हैं तो एक गुरुमास का, पथ में चलने पर चार लघुमास का तथा क्षेत्र को प्राप्त हो जाने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त आचार्य को अथवा उसको जिसके आग्रह से वे जाते हैं।

३८९५. एसा अविधी भणिता, तम्हा एवं न तत्थ गंतव्वं।
गंतव्वं विधीए तु, पडिलेहेऊण खेत्तं॥

जो पूर्व में कही गई वह अविधि है। इसलिए उस विधि से वहां नहीं जाना चाहिए। विधिपूर्वक क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा कर वहां जाना चाहिए।

३८९६. खेत्तपडिलेहणविधी, पढमुद्देसम्मि वण्णिता कप्पे।
स च्चेव इहुद्देसे, खेत्तविहाणम्मि नाणत्तं॥

कल्पाध्ययन के प्रथम उद्देशक में क्षेत्रप्रत्युपेक्षण की विधि कही गई है। प्रस्तुत दसवें उद्देशक में भी वही विधि ज्ञातव्य है। विशेष इतना ही है कि क्षेत्रविधान अर्थात् क्षेत्र के भेदकथन में नानात्व है।

३८९७. चतुग्गुणोववेयं तु, खेत्तं होति जहन्नगं।
तेरसगुणमुक्कोसं, दोण्हं मज्झम्मि मज्झिमं॥

चार गुणों से युक्त क्षेत्र जघन्य, तेरह गुणों से युक्त क्षेत्र उत्कृष्ट तथा इन दोनों के मध्यवर्ती गुणों से युक्त क्षेत्र मध्यम होता है।

३८९८. महती विहारभूमि, वियारभूमि य सुलभवित्ती य।
सुलभा वसधी य जहिं, जहण्णगं वासखेत्तं तु॥

जहां विहारभूमी—भिक्षापरिभ्रमणभूमी तथा विचारभूमी—शौचार्थभूमी बड़ी हो, जहां भिक्षा सुलभ हो, जहां वसति सुलभ हो वह जघन्य वर्षाक्षेत्र है।

३८९९. चिक्खल्ल पाण थंडिल,
वसधी गोरस जणाउले वेज्जे।
ओसधनिययाधिपती,
पासंडा भिक्ख-सज्झाए॥

उत्कृष्ट वर्षाक्षेत्र वह है जिसमें ये तेरह गुण हों—

१. प्रायः कर्दमरहित २. सम्मूर्च्छिम प्राणियों से रहित ३. उपयुक्त स्थंडिल की प्राप्ति ४. वसति की प्राप्ति ५. गोरस की उपलब्धि ६. जनाकुल ७. वैद्यों की प्राप्ति ८. औषधि प्राप्ति की सुलभता। ९. कुटुंबियों के प्रचुर धान्यनिचय। १०. राजा की अनुकूलता। ११. पाषंडों की सहृदयता। १२. भिक्षा की सुलभता १३. स्वाध्याय की अनुकूलता।

३९००. खेत्तपडिलेहणविधी, खेत्तगुणा चेव वण्णिता एते।
पेहेयव्वं खेत्तं, वासाजोग्गं तु जं कालं॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षण विधि तथा क्षेत्रगुणों का वर्णन किया गया है। किस काल में वर्षायोग्य क्षेत्र का प्रत्युपेक्षण करना चाहिए, उसका निरूपण यह है—

३९०१. खेत्ताण अणुण्णवणा, जेट्ठामूलस्स सुद्धपाडिवए।
अधिगरणोमाणो मो, मणसंतावो महा होति॥

क्षेत्रों की अनुज्ञापना ज्येष्ठामूल मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को होती है क्योंकि वहां कोई आए हुए हों (आने वाले हों) तो उनके साथ कलह हो सकता है, अपमान और मनःसंताप हो सकता है।

३९०२. एतेहि कारणेहिं, अणागयं चेव होतऽणुण्णवणा।
निग्गम पवेसणम्मि य, पेसंताणं विधिं वोच्छं॥

इन सब कारणों से अनागत में ही अनुज्ञापना होती है। जो क्षेत्र की प्रत्युपेक्षणा करने वाले हैं उनके निष्क्रमण और प्रवेश की विधि के विषय में कहूंगा।

३९०३. केई पुव्वं पच्छा, व निग्गता पुव्वमतिगता खेत्तं।
समसीमं तू पत्ताण, मग्गणा तत्थिमा होति॥

कुछेक मुनि क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा के लिए पहले निर्गत हैं और कुछेक मुनि पश्चात् निर्गत हैं, निकले हैं। कुछ क्षेत्र को पहले प्राप्त हो गए हैं और कुछ साथ-साथ सीमा को प्राप्त हुए हैं। उस स्थिति में यह मार्गणा होती है।

३९०४. पुव्वं विणिग्गतो पुव्वमतिगतो पुव्वनिग्गतो पच्छा।
पच्छा निग्गत पुव्वं तु अतिगतो दो वि पच्छा वा॥

इस गाथा में प्रतिपादित चतुर्भंगी—

१. पूर्व विनिर्गत और पूर्व ही साथ-साथ प्राप्त।
२. पूर्व निर्गत, पश्चात् प्राप्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. पश्चात् निर्गत, पूर्व प्राप्त।
४. पश्चात् निर्गत, पश्चात् प्राप्त।

३९०५. पढमगमंगे इणमो, तु मग्गणा पुव्वऽणुण्णवे जदि तु।
तो तेसि होति खेत्तं, अह पुण अच्छंति दप्पेण॥

इन चारों भंगों में प्रथम भंग की मार्गणा यह है। यदि दोनों साथ निर्गत हैं और साथ ही क्षेत्र को प्राप्त हैं और यदि समक अनुज्ञापन है तो दोनों का वह साधारण क्षेत्र है। यदि कोई दर्प से–निष्कारण वहां रहता है तो जिसके पहले अनुज्ञापित किया है वह उसका क्षेत्र होता है।

३९०६. खेत्तमतिगया मो त्ति, वीसत्थ जदि अच्छहे।
पच्छा गतऽणुण्णवए, तेसिं खेत्तं वियाहितं॥

हम क्षेत्र को पहले प्राप्त हो गए हैं, ऐसा सोचकर विश्वस्त हो जाते हैं और अनुज्ञापना के लिए प्रयत्न नहीं करते, तब यदि पश्चाद् आगत पहले अनुज्ञापना कर लेते हैं तो क्षेत्र उनका होता है, ऐसा कहा है।

३९०७. गेलण्णवाउलाणं तु, खेत्तमन्नस्स नो भवे।
निसिद्धो खमओ चेव, तेण तस्स न लब्भते॥

ग्लान और आकुल का होता है क्षेत्र, दूसरे का नहीं, चाहे फिर समक प्राप्त है अथवा पहले अनुज्ञापित है। क्षपक को क्षेत्र प्रत्युपेक्षण के लिए भेजना निषिद्ध है। उसके द्वारा अनुज्ञापित क्षेत्र उनको प्राप्त नहीं होता।

३९०८. पुव्वविणिग्गता पच्छा, पविट्ठा पच्छ निग्गता।
पुव्वं कयरेसि खेत्तं, तत्थ इमा मग्गणा होति॥

पूर्व निर्गत परंतु पश्चात् क्षेत्र में प्रविष्ट, पश्चात् निर्गत परंतु पूर्व क्षेत्र में प्रविष्ट, तो क्षेत्र किसका होगा? इस विषय में मार्गणा यह है–

३९०९. गेलन्नादिकज्जेहि, पच्छा इंताण होति खेत्तं तु।
निक्कारणं ठिता ऊ पच्छा इंता न उ लभंति॥

यदि पूर्व निर्गत हैं किंतु ग्लानत्व आदि कारणों से पश्चात् क्षेत्र में पहुंचे हैं, तो क्षेत्र उनका होता है। जो निष्कारण यहां-वहां रहकर पश्चात् आते हैं, उन्हें क्षेत्र प्राप्त नहीं होता।

३९१०. पच्छा विणिग्गतो वि हु, दूरासन्ना समा व अद्धाणे।
सिग्घगती तु सभावा, पुव्वं पत्तो लभति खेत्तं॥

पश्चात् विनिर्गत है, चाहे दूर, चाहे नजदीक और चाहे समान मार्ग हो, वे अपनी स्वाभाविक शीघ्रगति से क्षेत्र को पहले प्राप्त कर लेते हैं तो क्षेत्र का लाभ उनको होता है।

३९११. अह पुण असुद्धभावो, गतिभेदं काउ वच्चती पुरतो।
मा एते गच्छंती, पुरतो ताहे य न लभंती॥

जो अशुद्धभावपूर्वक गतिभेद कर (गमन की गति को बढ़ाकर) यह सोचता है कि वे आगे न चले जाएं, वह स्वयं पहले पहुंच जाता है, फिर भी उसे क्षेत्र का लाभ नहीं होता।

३९१२. समयं पि पत्थियाणं, सभावसिग्घगतिणो भवे खेत्तं।
एमेव य आसन्ने, दूरद्धाणीण जो एती॥

साथ-साथ प्रस्थित होने पर भी जो स्वाभाविक शीघ्रगति से क्षेत्र को प्राप्त कर लेता है, वह क्षेत्र उसका होता है तथा जो निकट मार्ग से अथवा दूर मार्ग से पहले वहां पहुंचते हैं, वह क्षेत्र उनका होता है।

३९१३. अहवा समयं पत्ता, समयं चेवं अणुण्णवित दोहिं।
साधारणं तु तेसिं, दोण्ह वि वग्गाण तं होति॥

अथवा दोनों वर्ग साथ-साथ आए हैं, दोनों ने साथ- साथ क्षेत्र की अनुज्ञापना की है तो उन दोनों वर्गों का वह क्षेत्र सामान्य होता है।

३९१४. अधवा समयं दोन्नि वि, सीमं पत्ता तु तत्थ जे पुव्विं।
अणुजाणाहे तेसिं, न जे उ दप्पेण अच्छंति॥

अथवा दोनों वर्ग एक साथ सीमा को प्राप्त होते हैं, उनमें जो पहले अनुज्ञापना करता है, वह क्षेत्र उसका होता है। जो दर्प–निष्कारण वहां रहते हैं, उनका वह क्षेत्र नहीं होता।

३९१५. उज्जाणगामदारे, वसधिं पत्ताण मग्गणा एवं।
समयमणुण्णे साधारणं तु न लभंति जे पच्छा॥

उद्यान, ग्रामद्वार अथवा वसति को जो साथ-साथ प्राप्त करते हैं उनके लिए मार्गणा इस प्रकार है। यदि वे साथ-साथ अनुज्ञापना करते हैं तो वह क्षेत्र उनका सामान्य होता है। जो पश्चाद् अनुज्ञापना करते हैं उनका वह क्षेत्र नहीं होता।

३९१६. ते पुण दोण्णी वग्गा,गणि-आयरियाण होज्ज दोण्हं तु।
गणिणं व होज्ज दोण्हं, आयरियाणं व दोण्हं तु॥

वे दो वर्ग गणी (वृषभ) तथा आचार्य के हो सकते हैं अथवा दोनों वर्ग गणी के अथवा दोनों वर्ग आचार्य के हो सकते हैं।

३९१७. अच्छंति संथरे सव्वे, गणी णीति असंथरे।
जत्थ तुल्ला भवे दो वी, तत्थिमा होति मग्गणा॥

यदि वह क्षेत्र सबके लिए संस्तरण योग्य हो तो सभी वहां रहते हैं। यदि सब का संस्तरण न हो सके तो गणी (वृषभ) वहां से चले जाते हैं। यदि दोनों वर्ग समान हों अर्थात् दोनों गणी के वर्ग हों या दोनों आचार्य के वर्ग हों तो यह मार्गणा है–

३९१८.निप्फण्ण तरुण सेहे,जुंगित पादच्छि-नास-कर-कन्ना।
एमेव संजतीणं, नवरं वुड्ढीसु नाणत्तं॥

यदि एक का शिष्य परिवार निष्पन्न हो और एक का अनिष्पन्न हो तो निष्पन्न वाला वहां से चला जाए। दोनों के परिवार निष्पन्न हों, एक का तरुण परिवार हो और एक का वृद्ध हो तो तरुण परिवार वाला चला जाए। एक में शैक्ष और एक में चिरप्रव्रजित तो चिरप्रव्रजित जाए। एक में जुंगित शरीरावयवों–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पैर, आंख, नाक, हाथ, कान आदि से विकल हों और एक में अंजुगित तो अंजुगित जाए। दोनों में जुंगित हों तो जिसमें पाद जुंगित हों वे ठहरे और शेष जाएं। इसी प्रकार श्रमणियों के लिए यही विधि है। अंतर इतना ही है कि तरुणी और वृद्ध साध्वियों में तरुण साध्वियां रहे और वृद्ध साध्वियां गमन करें।

३९१९. समणाण संजतीण य, समणी अच्छंति नेंति समणा उ।
संजोगे विय बहुसो, अप्पाबहुयं असंथरणे॥

श्रमण और श्रमणियों का एकत्र स्थान में संस्तरण न होता हो तो श्रमण वहां से चले जाएं। दोनों की संयुक्तता में बहुत अधिक हो जाने पर, असंस्तरण की स्थिति में अल्प-बहुत्व के आधार पर निर्गमन का निर्णय करे। (इसी प्रकार यदि श्रमण जुंगित हों और श्रमणियां वृद्ध हों तो जुंगित वहां रहे और श्रमणियां निर्गमन करे।)

३९२०. एमेव भत्तसंतुट्ठा, तस्सालंभम्मि अप्पभू णिंति।
जुंगितमादीएसु य, वयंति खेत्तीण जं तेसिं॥

क्षेत्रिक और अक्षेत्रिक—इन दोनों का यदि संस्तरण होता हो तो दोनों रहें। अक्षेत्रिक यदि भक्तसंतुष्ट हों तो वे रहें और यदि भक्त की प्राप्ति न होती हो तो अप्रभु—अक्षेत्रिक वहां से निगर्मन कर दें। यदि अक्षेत्रिक जुंगित आदि हों तो क्षेत्रिक वहां से निर्गत हो जाएं। जुंगित जिसके संबंधी हों उनका वह क्षेत्र आभाव्य नहीं होता।

३९२१. पत्ताण अणुण्णवणा, सारूविय-सिद्धपुत्त-सण्णी य।
भोइय मयहर ण्हाविय, निवेयण दुगाउयाइं च॥
३९२२. सग्गाम सण्णि असती, पडिवसभे पल्लिए व गंतूणं।
अम्हं रुइयं खेत्तं, नायं खु करेह अन्नेसिं॥

वर्षारात्र के क्षेत्र को प्राप्त कर इन व्यक्तियों को अनुज्ञापना करनी चाहिए—सारूपिक, सिद्धपुत्र, संज्ञी, भोजिक, महत्तर, नापित—कि हम यहां वर्षारात्र बिताने आए हैं। यदि स्वग्राम में संज्ञी—श्रावक आदि न हो तो दो गव्यूति की दूरी तक जाकर प्रति-वृषभ को अथवा पल्ली में जाकर श्रावक को यह निवेदन करे कि हमें यह क्षेत्र रुचित—पसंद है। तुम यह बात दूसरों को ज्ञात कराओ।

३९२३. जतणाए समणाणं, अणुण्णवेत्ता वसंति खेत्तबहिं।
वासावासट्ठाणं, आसाढे सुद्धदसमीए॥

सारूपिक आदि को अनुज्ञापित कर यतनापूर्वक वर्षारात्र के क्षेत्र के बहिर्भाग में रहते हैं। आषाढ़ शुक्ला दसमी के दिन वर्षावास स्थान में प्रवेश करते हैं।

३९२४. सारूवियादि जतणा, अन्नेसिं वावि साहए बाहिं।
बाहिं वावि ठिया संता, पायोग्गं तत्थ गेण्हंति॥

सारूपिक आदि तथा अन्यों को अनुज्ञापित कर गांव के बाहर रहते हुए जो यतना करनी है वह यह है—बाहर रहते हुए भी वे मुनि वर्षा प्रायोग्य उपधि ग्रहण करते हैं।

३९२५. दोण्ह जतो एगस्सा, निप्फज्जति तत्तियं बहिंठिता तु।
दुगुणपमाणवासुवहि, संथरि पल्लिं च वज्जेंती॥

संयोगवश एक ही मुनि को दो मुनियों के लिए पर्याप्त उपधि निष्पन्न हो जाती है, उसकी अपेक्षा से बहिस्थित मुनि वर्षायोग्य द्विगुण जितनी उपधि का उत्पादन करे तथा वह पर्याप्त हो तो पल्ली आदि में न जाए।

३९२६. उच्चारमत्तगादी, छारादी चेव वासपाउग्गं।
संथार-फलगसेज्जा, तत्थ ठिता चेवऽणुण्णवणा॥

गांव के बाहर स्थित ही मुनि वर्षाप्रायोग्य उच्चार-मात्रक आदि, क्षार आदि तथा संस्तारक ,फलक, शय्या आदि की अनुज्ञापना करते हैं।

३९२७. पुन्नो य तेसिं तहि मासकप्पे,
अन्नं च दूरे खलु वासजोग्गं।
ठायंति तो अंतरपल्लियाए जं,
एसकाले य न भुंजिहिंती॥

गावं के बाहर रहते हुए मासकल्प पूरा हो गया और वर्षायोग्य क्षेत्र में जाने का दिन दूर है तो वे उस अंतरपल्ली में रहते हैं जहां के आहार-पानी का वे भविष्य में उपयोग नहीं करेंगे।

३९२८. संविग्गबहुलकाले, एसा मेरा पुरा तु आसी य।
इयरबहुले उ संपति, पविसंति अणागतं चेव॥

पहले संविग्नबहुलकाल में यह मेरा—मर्यादा थी। वर्तमान में इतरबहुल अर्थात् पार्श्वस्थादि बहुलकाल में अनागत ही (बिना अनुज्ञापना किए) प्रवेश कर जाते हैं।

३९२९. पेहिते न हु अन्नेहिं, पविसंताऽऽयतट्ठिया।
इतरे कालमासज्ज, पेल्लेज्ज परिवड्ढिता॥

दूसरों द्वारा प्रत्युपेक्षित क्षेत्र में मोक्षार्थी मुनि प्रवेश नहीं करते। इतर अर्थात् पार्श्वस्थ मुनि समय पाकर परिवर्द्धित होकर अपर प्रत्युपेक्षित क्षेत्र में जाने की प्रेरणा देते हैं।

३९३०. रुण्णं तगराहारं, वएहि कुसुमंसुए मुयंतेहिं।
उज्जाणपडिसवत्तीहि, वत्थूलाहिं ठएंतीहिं॥

(उपरोक्त श्लोक के भावार्थ को स्पष्ट करने वाला यह कल्पित उदाहरण है।) तगराहार नगरी में आम्र का उद्यान था। उसमें बबूल के वृक्ष भी थे। उनको काटकर उद्यान के चारों ओर उसकी बाड़ कर दी। धीरे-धीरे बबूल के वृक्ष बड़े हुए और उन्होंने सारे आम्रोद्यान को ढंक दिया। आम्रोद्यान की शत्रुभूत बबूल की वृत्ति को देखकर फूलों के मिष से आम्र अश्रुविमोचन करते हुए रुदन करने लगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३९३१. एवं पासत्थमादी तु, कालेण परिवड्ढिया।
पेल्लेज्जा माइठाणेहिं, सोच्चादी ते इमे पुणो॥

इसी प्रकार काल से परिवर्धित होकर पार्श्वस्थ आदि उन संविग्न मुनियों को मायास्थान से प्रेरित करते हैं। (उन्हें ढंक देते हैं।) वे पार्श्वस्थ आदि कैसे हैं—श्रुत्वा उपेत्य आदि।

३९३२. सोच्चाऽउट्ठी अणापुच्छा, मायापुच्छाऽजतट्ठिए।
अजयट्ठिय भंडंते, ततिए समणुण्णया दोण्हं॥

श्रुत्वा उपेत्य, अनापृच्छा, मायापृच्छा, यतस्थित, अयतस्थित, भंडन करते हुए, तृतीय समनुज्ञता, दोनों की.....। (व्याख्या आगे)

३९३३. गुरुणो सुंदरक्खेत्तं, साहंतं सोच्च पाहुणो।
नएज्ज अप्पणो गच्छं, एस आउट्टिया ठितो॥

क्षेत्र प्रत्युपेक्षक आकर अपने गुरु को कहते हैं कि अमुक क्षेत्र सुंदर है। यह सुनकर प्राघूर्णक मुनि अपने गच्छ को वहां ले जाता है। यह 'श्रुत्वा उपेत्य स्थित'—सुनकर वहां जाकर स्थित होना कहलाता है।

३९३४. पेहितमपेहितं वा, ठायति अन्नो अपुच्छिउं खेत्तं।
गोवालवच्छवाले, पुच्छति अन्नो वि दुप्पुच्छी॥

अन्य कोई 'यह क्षेत्र प्रत्युपेक्षित है अथवा अप्रत्युपेक्षित'—यह पूछे बिना ही वहां रह जाता है अथवा कोई दुःपृच्छी—अर्थात् गोपाल, वत्सपाल आदि जो क्षेत्र के विषय मे कुछ भी नहीं जानते, उन्हें पूछता है कि यह क्षेत्र प्रत्युक्षेपित है अथवा नहीं।

३९३५.अविधिट्ठिता तु दोवी,ते ततिओ पुच्छिउ विहीय ठितो।
सारूवियमादि काउ, बेंतऽण्णेहिं न पेहियं॥

३९३६. तं तु वीसरियं तेसिं, पउत्था वावि ते भवे।
खेत्तिओ य तहिं पत्तो, तत्थिमा होति मग्गणा॥

ये दोनों (श्रुत्वा उपेत्य स्थित तथा अनापृच्छा और मायापूर्वक पृच्छा से स्थित) अविधि से स्थित हैं। तीसरा सारूपिक आदि को पूछकर स्थित है। जो यथार्थ को नहीं जानते वे कहते हैं—दूसरों ने इस क्षेत्र का प्रत्युपेक्षण नहीं किया। अथवा जिन्होंने अनुज्ञापित किया था, उसकी विस्मृति हो गई अथवा अनुज्ञापित करने वाले देशांतर चले गए—इस स्थिति में जिसने पहले क्षेत्र की प्रत्युपेक्षणा की वह क्षेत्रिक सूत्रप्राप्त है और उसकी मार्गणा यह है।

३९३७. आउट्टितो ठितो जो उ, तस्स नामं पि नेच्छिमो।
अणापुच्छिय दुप्पुच्छी भंडंते खेत्तकारणा॥

वे कहते हैं—जो उपेत्य स्थित हैं हम उनका नाम लेना भी नहीं चाहते। जो अनापृच्छी और दुःपृच्छी हैं वे दोनों क्षेत्र के लिए कलह करते हैं।

३९३८. अहवा दो वि भंडंते, जयणाए ठितेण ते।
खेत्तिओ दो वि जेत्तूण, भत्तं देति न उग्गहं॥

अथवा ये दोनों यतनापूर्वक स्थित मुनि के साथ कलह करते हैं। क्षेत्रिक मुनि दोनों को सूत्रोक्त विधि से जीतकर उनको भक्त देता है, अवग्रह नहीं।

३९३९. ततियाण सयं सोच्चा सड्ढादीए व पुच्छिउं।
होति साधारणं खेत्तं, दिट्ठंतो खमएण तू॥

तीसरे प्रकार के मुनि जो यतनापूर्वक स्थित हैं, उनके विषय में क्षेत्रिक स्वयं सुनकर अथवा श्रावकों आदि को पूछकर, उनके स्वरूप को जान जाता है तो वह क्षेत्र साधारण अर्थात् दोनों का होता है। यहां क्षपक का दृष्टांत है।

३९४०. सुद्धं गवेसमाणो, पायसखमगो जधा भवे सुद्धो।
तह पुच्छिउ ठायंता, सुद्धा उ भवे असढभावा॥

जैसे शुद्ध पायस (क्षीरान्न) की गवेषणा करने वाला पायसक्षपक शुद्ध होता है वैसे ही पृच्छा कर स्थित होने वाले श्रमण असठभाव के कारण शुद्ध होते हैं।

३९४१. अतिसंथरणे तेसिं, उवसंपन्ना उ खेत्ततो इतरे।
अविधिट्ठिया उ दो वी, अहव इमा मग्गणा अन्ना॥

अतिसंस्तरण होने पर क्षेत्रिकों से इतर अर्थात् यतनापूर्वक स्थित तथा अविधिपूर्वक स्थित—दोनों प्रकार के मुनि—अथवा इनकी अन्य मार्गणा यह है—

३९४२. पेहेऊणं खेत्तं, केई ण्हाणादि गंतु ओसरणं।
पुच्छंताण कधेंती, अमुगत्थ वयं तु गच्छामो॥

कुछेक मुनि वर्षारात्रयोग्य क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा कर स्नान आदि समवसरण में जाकर पूछने वालों को कहते हैं कि हम अमुक क्षेत्र में वर्षावास के लिए जा रहे हैं।

३९४३.घोसणय सोच्च सण्णिस्स,
पेच्छणा पुव्वमतिगते पच्छा।
पुव्वट्ठिते परिणते,
पच्छ भणंते ण से इच्छा॥

घोषणा को सुनकर, संज्ञीवर्ग का प्रेक्षण, पूर्व अतिगत से पृच्छा, पूर्वस्थित में परिणत, अत्र उसकी इच्छा नहीं..... (व्याख्या अगली गाथाओं में।)

३९४४. बाहुल्ला संजताणं तु, उवग्गो यावि पाउसे।
ठिया मो अमुगे खेत्ते, घोसणऽण्णोण्णसाहणं॥

संयतों की बहुलता है। प्रावृट्काल उपाग्र— अतिनिकट है। स्नान आदि समवसरण में घोषणा करते हैं, परस्पर एक दूसरे को कहते हैं कि हम अमुक क्षेत्र में स्थित होंगे।

३९४५. विभज्जंती च ते पत्ता ण्हाणादीसु समागमो।
पहुप्पंते य नो कालाऽऽसन्ना घोसणयं ततो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्नान आदि समवसरण में साधुओं का समागम होता है। आने वाले मुनि अपने-अपने विवक्षित क्षेत्र की अनुज्ञापना कर वहां प्राप्त होते हैं। वे सबको अपनी बात कहे उतना समय नहीं रहता। अतः सबको एकत्रित कर घोषणा करते हैं कि हमने अमुक क्षेत्र को वर्षावास के लिए अनुज्ञापित किया है।

३९४६. दाणादिसङ्कलियं सोऊणं तत्थ कोइ गच्छेज्जा।
रमणिज्जं खेत्तं ति य, धम्मकधालद्धिसंपन्नो॥
३९४७. संथवकहाहि आउट्टिऊण अत्तीकरेति ते सड्ढे।
ते वि य तेसु परिणया, इतरे वि तहिं अणुप्पत्ता॥
३९४८. नीह त्ति तेहि भणिते, सड्ढे पुच्छंति ते वि य भणंति।
अच्छह भंते दोण्ह वि, न तेसि इच्छाए सच्चित्तं॥

इस घोषणा को सुनकर कोई धर्मकथालब्धिसंपन्न मुनिवर्ग उस दानादि देने वाले श्राद्धों से परिपूर्ण उस रमणीय क्षेत्र में जाता है और परिचय तथा धर्मकथा से उन श्राद्धों को आकर्षित कर अपना बना लेता है। वे श्रावक भी उन साधुओं के प्रति परिणत हो जाते हैं। दूसरे क्षेत्रिक मुनि पूर्व आगत मुनियों के पश्चात् वहां पहुंचते हैं। वे क्षेत्रिक मुनि उन्हें कहते हैं—यहां से निर्गमन करो। यह कहने पर वे श्रावकों को पूछते हैं। तब से श्रावक कहते हैं—भंते! आप दोनों वर्ग यहां रहें। इस स्थिति में पूर्वागत मुनियों की इच्छा से सचित्त आदि उनका आभाव्य नहीं होता। वह क्षेत्रिक मुनियों का होता है।

३९४९. असंथरणेऽणिंताण, कुल-गण-संघे य होति ववहारो।
केवतियं पुण खेत्तं, होति पमाणेण बोधव्वं॥

सभी मुनियों के असंस्तरण की स्थिति में वहां से निर्गमन न करने पर कुल, गण तथा संघ में व्यवहार—विवाद पहुंचता है कि कितना क्षेत्रप्रमाण से बोद्धव्य है, अर्थात् उनका कितना क्षेत्र आभाव्य होता है।

३९५०. एत्थ सकोसमकोसं, मूलनिबद्धं च गामऽणुमुयंतेण।
सच्चित्ते अच्चित्ते, मीसे य विदिण्णकालम्मि

यहां क्षेत्र की मार्गणा में क्षेत्र सक्रोश अथवा अक्रोश होता है। सक्रोश अर्थात् वह क्षेत्र जिसके चारों ओर गांव हों और अक्रोश अर्थात् जिसकी चारों दिशाओं में गमन और भिक्षाचर्या संभव न हो। मूलनिबद्ध गांव अक्रोश हो और वह अनुज्ञात हो, तो उस अनुज्ञात काल तक सचित्त, अचित्त और मिश्र में उनका अवग्रह होता है। उसको न छोड़ने पर भी वह उनका साधारण आभाव्य क्षेत्र होता है।

३९५१. अत्थि हु वसहग्गामा, कुदेस-नगरोवमा सुहविहारो।
बहुगच्छुवग्गहकरा, सीमच्छेदेण वसियव्वं॥

विवक्षित क्षेत्र के चारों ओर कुदेशनगरोपम, सुखपूर्वक विहरण करने योग्य, बहुत गच्छों के लिए उपग्रहकारी वृषभग्राम हैं। वहां सीमा का निर्धारण कर रहना चाहिए।

३९५२. जहियं व तिन्नि गच्छा, पण्णरसुभया जणा परिवसंति।
एयं वसभक्खेत्तं, तव्विवरीयं भवे इतरं॥

(वृषभक्षेत्र के दो प्रकार हैं—ऋतुबद्धकाल का तथा वर्षाकाल का। प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट) एक गच्छ में पांच मुनि जैसे—एक आचार्य तथा उनके साथ एक मुनि तथा एक गणावच्छेदी तथा उनके साथ दो मुनि होते हैं। इस प्रकार के तीन गच्छ अर्थात् पंद्रह मुनि रहते हैं। यह ऋतुबद्धकाल का जघन्य वृषभक्षेत्र है।[1] इससे विपरीत अन्य क्षेत्र होता है, वृषभक्षेत्र नहीं।

३९५३. तुब्भंतो मम बाहिं, तुज्झ सचित्तं ममेतरं वावि।
आगंतुगवत्थव्वा, थी-पुरिसकुलेसु व विरेगो॥

सीमा का निर्धारण—मूल गांव के मध्य जो सचित्त आदि का लाभ हो वह तुम्हारा और बाहर जो लाभ हो वह हमारा। सचित्त का लाभ तुम्हारा और अन्य लाभ हमारा। आगंतुक तुम्हारे और वास्तव्य हमारे। स्त्रियों का लाभ (दीक्षित हों तो) तुम्हारा और पुरुषों का लाभ हमारा अथवा अमुक कुलों में जो लाभ हो वह तुम्हारा और इन कुलों में जो लाभ हो, वह हमारा।

३९५४. एवं सीमच्छेदं, करेंति साधारणम्मि खेत्तम्मि।
पुव्वट्ठितेसु जे पुण, पच्छा एज्जाहि अन्ने उ॥

इस प्रकार साधारण क्षेत्र में सीमा का निर्धारण करते हैं। जो दूसरे मुनि पश्चात् आते हैं वे पूर्वस्थित मुनियों के साथ यह निर्धारण करते हैं।

३९५५. खेत्ते उवसंपन्ना, ते सव्वे नियमसो उ नातव्वा।
आभव्व तत्थ तेसिं, सच्चित्तादीण किं न भवे॥

वे सभी नियमतः क्षेत्र से उपसंपन्न है, ऐसा जानना चाहिए। उस क्षेत्र में उनके सचित्त आदि का आभाव्य होता है या नहीं?

३९५६. नाल पुर-पच्छसंथुय, मित्ता य वयंसया य सच्चित्ते।
आहारमत्तगतिगं, संथारग वसधिमच्चित्ते॥
३९५७. उग्गहम्मि परे एयं, लभते उ अखेत्तिओ।
वत्थमादी वि दिन्नं तु, कारणम्मि वि सो लभे॥

नालबद्धपुरुष, पूर्वसंस्तुत-पश्चात्संस्तुत, मित्र तथा वयस्य—ये सचित्त परकीय अवग्रह में अक्षेत्रिक को प्राप्त होते हैं तथा अचित्त आहार, मात्रकत्रिक (उच्चारमात्रक, प्रस्रवण मात्रक तथा खेलमात्रक), संस्तारक तथा वसति और दिया हुआ वस्त्र तथा कारण में अदत्त वस्त्र का भी लाभ उसी को होता है।

३९५८. दुविहा सुतोवसंपय, अभिधारेंते तहा पढंते य।
एक्केक्का वि य दुविधा, अणंतर परंपरा चेव॥

१. उत्कृष्ट वृषभ क्षेत्र—जहां ३२ हजार साधुओं का संस्तरण होता है, जैसे ऋषभ के शासन में।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतसम्पद् के दो प्रकार हैं—अभिधारण करना तथा पढ़ना। प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—अनन्तर और परंपर।

३९५९. एत्थं सुयं अहीहामि, सुतवं सो वि अन्नहिं।
वच्चंतो सोऽभिधारंतो, सो वि अन्नत्थमेव व॥

३९६०. दोण्हं अणंतरा होति, तिगमादी परंपरा।
सद्धाणं पुणरेंतस्स, केवलं तु निवेयणा॥

मैं इनके पास श्रुताध्ययन करूंगा, यह अभिधारण कर जाता है, वह श्रुतवान् अन्य का अभिधारण कर जाता है। इस प्रकार दो में अनंतर श्रुतोपसंपद् होती है और तीन आदि में परंपर श्रुतोपसंपद् होती है। स्वस्थान पर पुनः आगमन होने पर केवल अभिधारित की निवेदना होती है।

३९६१. अच्छिन्नुवसंपयाए, गमणं सद्धाण जत्थ वा छिन्नं।
मग्गणकहणपरंपर, छम्मीसं चेव वल्लिदुगं॥

अच्छिन्नोपसंपद् वाले को जो अभिधारण करता है उसका जो लाभ है वह स्वस्थान में चला जाता है। यदि उपसंपद् छिन्न है तो लाभ सबको प्राप्त होता है। जिसको पहले अभिधारित किया था उसको परंपरक ने कहा—तुमको अभिधारण करने वाले को सचित्त का लाभ हुआ है। यह सुनकर वह उससे सचित्त की मांग करता है। सचित्त में उसे छह नालबद्ध निर्मिश्र उसे प्राप्त होते हैं तथा निर्मिश्र-मिश्र लक्षण वाली वल्लिद्विक उसे प्राप्त होते हैं।

३९६२. अभिधारेंत पढंते वा, छिन्नाए ठाति अंतए।
मंडलीए उ सद्धाणं, लभते णो उ मज्झिमे॥

छिन्न उपसंपदा में जो अभिधारण करता है अथवा पढ़ता है वह लाभ पर्यंत में रहता है अर्थात् सबको होता है। मंडली में जो लाभ प्राप्त होता है वह स्वस्थान अर्थात् व्याख्याता का होता है, मध्य में अर्थात् मंडली के मध्यवर्ती का नहीं होता है।

३९६३. जो उ मज्झिल्लए जाति, नियमा सो उ अंतिमं।
पावते निन्नभूमी तु, पाणियं व पलोट्टियं॥

जो लाभ मंडली के मध्यवर्ती का होता है वह नियमतः अंतिम अर्थात् व्याख्याता का होता है। भूमी पर गिरा हुआ पानी निम्न भूमी की ओर जाता है।

३९६४. माता पिता य भाया, भगिणी पुत्तो तधेव धूता य।
एसा अणंतरा खलु, निम्मीसा होति वल्ली उ॥

माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्र, पुत्री—ये छह निर्मिश्र अंतरावल्ली है।

३९६५. सेसाण उ वल्लीणं परलाभो होति दोन्नि चउरो व।
एवं परंपराए, विभास ततो वि य जा परतो॥

शेष वल्लियों का जो लाभ प्राप्त होता है—पुत्र, पुत्री ये दो अथवा माता, पिता, भाई, भगिनी—ये चार—यह समस्त लाभ धारित को होता है। परंपरवल्ली में भी यही व्याख्या है। उससे 'पर' जो लाभ होता है वह परलाभ है।

३९६६. माउम्माय पिया भाया, भगिणी एव पिउणो वि चत्तारि।
पुत्तो धूया य तधा, भाउगमादी चउण्हं पि॥

३९६७. अट्ठे व पज्जयाइं, चउवीसं भाउ-भगिणिसहियाइं।
एवं एच्चिय माउलसुतादओ परतरा वल्ली॥

मिश्रवल्ली के सदस्य—

माता की माता, पिता, भाई, भगिनी। पिता की माता, पिता, भाई, भगिनी। भाता आदि चार (भ्राता, भगिनी, पुत्र और पुत्री) के पुत्र और पुत्री। तथा भातृ-भगिनी सहित आठ प्रार्यिकाएं[1]—सारी संख्या २४ होती है। इतनी ही मिश्रवल्ली है। मामा के पुत्र आदि परतरवल्ली में आते हैं।

३९६८. दुविधो अभिधारंतो, दिट्ठमदिट्ठो य होति नायव्वो।
अभिधारेज्जंतगसंतएहिऽदिट्ठो य अन्नेहिं॥

अभिधारक दो प्रकार का होता है—दृष्ट और अदृष्ट। दृष्ट वह है जो अभिधार्यमाण के साधुओं द्वारा अथवा अन्य किसी द्वारा दृष्ट है। अदृष्ट वह है जो किसी के द्वारा देखा नहीं गया है।

३९६९. सच्चित्ते अंतरा लद्धे, जो उ गच्छति अन्नहिं।
जो तं पेसे सयं वावि, नेति तत्थ अदोसवं॥

मार्ग में सचित्त की प्राप्ति हुई। उसे लेकर वह अन्यत्र जाता है। जो सचित्त का लाभ हुआ है उसे वह अभिधारित के पास भेज दे अथवा स्वयं उसे ले जाकर दे। वह अदोषी है।

३९७०. जो उ लद्धुं वए अन्नं, सगणं पेसवेति वा।
दिट्ठा व संतऽदिट्ठा वा, मायी ते होंति दोण्णि वी॥

जो सचित्त प्राप्त हुआ है उसे लेकर वह अदृष्ट अथवा दृष्ट होता हुआ अन्य आचार्य के पास जाता है अथवा उस सचित्त को अपने गण में भेज देता है। दृष्ट अथवा अदृष्ट—दोनों रूप मायावी होते हैं।

३९७१. ण्हाणादिएसु तं दिस्सा, पुच्छा सिद्धे हरेति से।
गुरुगा चेव सच्चित्ते, अच्चित्त तिविधं पुण॥

अभिधार्यमाण को जब सचित्त प्राप्ति की बात ज्ञात हो जाती है तब उसे खोजता हुआ वह स्नान आदि समवसरण में जाता है। वहां उसे देखकर पूछता है। जब वह यथार्थ बता देता है तब उसके पास से उस सचित्त को ले लेता है। यदि वह अन्यथा कहता है तो उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। अचित्त तीन प्रकार का है—जघन्यउपधिनिष्पन्न, मध्यमउपधिनिष्पन्न तथा उत्कृष्टउपधिनिष्पन्न।

३९७१/१ दुविहो अभिधारंतो, दिट्ठमदिट्ठो य होति नातव्वो।
अभिधारेज्जंतगसंतएहिऽदिट्ठो य अन्नेहिं॥

१. मातामही (नानी) के माता, पिता, भ्राता, भगिनी। पितामह (दादा) के माता, पिता, भ्राता, भगिनी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३९७१/२. दिट्ठो मायि अमाई, एवमदिट्ठो वि होति दुविहो उ।
अमायी तु अप्पिणिती, माई उ न अप्पिणे जो उ॥

अभिधारक दो प्रकार का होता है—दृष्ट और अदृष्ट। दृष्ट वह है जो अभिधार्यमाण के साधुओं द्वारा अथवा अन्य किसी द्वारा दृष्ट है। अदृष्ट वह है जो किसी के द्वारा दृष्ट नहीं है।

दृष्ट दो प्रकार का होता है—मायी और अमायी। इसी प्रकार अदृष्ट भी दो प्रकार का है। अमायी जो कुछ प्राप्त हुआ है उसे अर्पित कर देता है, मायी अर्पित नहीं करता।

३९७२. एवं ता जीवंते, अभिधारेंतो उ एइ जो साधू।
कालगते एतम्मि उ, इणमन्नो होति ववहारो॥

इस प्रकार जीवित अभिधार्यमाण का अभिधारण करता हुआ मुनि जो आता है, उसका यह व्यवहार है, विधि है। अभिधार्यमाण यदि कालगत हो गया है तो यह भिन्न व्यवहार होता है।

३९७३. अप्पत्ते कालगते, सुद्धमसुद्धे अदिंतदिंते य।
पुव्विं पच्छा निग्गत, संतमसंते सुते बलिया॥

प्रस्तुत गाथा की व्याख्या इस प्रकार है—किसी आचार्य की अभिधारणा कर मुनि प्रस्थित होता है। उसके पहुंचने के पूर्व ही आचार्य कालगत हो जाते हैं। मार्गगत उसको जो सचित्त आदि का लाभ होता है, वह कालगत आचार्य के शिष्यों का आभाव्य होता है। यदि वह अभिधारक उनको दे देता है तो वह शुद्ध है—अप्रायश्चित्ती है और यदि नहीं देता है तो वह अशुद्ध है—प्रायश्चित्तभाक् है। तीन विकल्प हैं—१. जब वह अभिधारण कर प्रस्थित हुआ तभी आचार्य कालगत हो गए २. पहले वह अभिधारणा कर चला, पश्चात् आचार्य कालगत हो गए। ३. पहले आचार्य कालगत हो गए, फिर वह अभिधारणा कर निर्गत हुआ। पूर्व दोनों प्रकारों में सचित्त आदि का लाभ कालगत आचार्य के शिष्यों का आभाव्य होता है। तीसरे प्रकार में यदि कालगत आचार्य के शिष्य आगत मुनि को श्रुत देते हैं तो शिष्यों को सचित्त आदि का लाभ होता है और यदि श्रुत नहीं है अथवा नहीं देते हैं तो उनको सचित्त आदि का लाभ नहीं होता। प्रश्न होता है कि तीसरे प्रकार में भी कालगत आचार्य के शिष्यों को सचित्त आदि का लाभ होता है। ऐसा क्यों कहा गया? उत्तर दिया गया कि श्रुताज्ञा बलवती होती है।

३९७४. लद्धे उवरता थेरा, तस्स सिस्साण सो भवे।
मते वि लभते सीसो, जइ से अत्थि देति वा॥

सचित्तादिक लब्ध या अलब्ध होने पर भी यदि आचार्य उपरत—कालगत हो जाते हैं तो वह लाभ उनके शिष्यों को प्राप्त होता है। अभिधारित आचार्य की मृत्यु हो जाने पर भी शिष्य को वह लाभ होता है, फिर चाहे उसके पास श्रुत हो, अथवा उसे देता हो अथवा श्रुत न हो और न देता हो।

३९७५. एवं नाणे तह दंसणे य सुत्तत्थ-तदुभए चेव।
वत्तण संधण गहणे, णव णव भेदा य एक्केक्के॥

इस प्रकार ज्ञान के निमित्त अभिधार्यमाण के आभाव्य का कथन किया गया। इसी प्रकार दर्शन के निमित्त, सूत्र और अर्थ के निमित्त तथा तदुभय के निमित्त, अभिधार्यमाण की आभाव्यता जाननी चाहिए। जो ज्ञान, दर्शन के लिए अभिधारित होता है, वही सूत्र, अर्थ और तदुभय के लिए होता है। इनके तीन-तीन प्रकार हैं—वर्तना—गृहीत का प्रत्यावर्तन करना, संधना—विस्मृति के कारण त्रुटित श्रुत का संधान करना, ग्रहण— अपूर्व का ग्रहण करना। इस प्रकार ज्ञान और दर्शन—प्रत्येक के नौ-नौ भेद होते हैं।

३९७६. पासत्थमगीतत्था, उवसंपज्जंति जे उ चरणट्ठा।
सुत्तोवसंपयाए, जो लाभो सो उ तेसिं तु॥

पार्श्वस्थ और अगीतार्थ चारित्र के लिए उपसंपदा स्वीकार करते हैं। वे इसके निमित्त जिसकी अभिधारणा कर निर्गमन करते हैं तथा श्रुतोपसंपदा के बीच जो लाभ होता है, वह अभिधार्यमाण का होता है। नालबद्धवल्लीद्विक का लाभ उनका होता है।

३९७७. गीतत्था ससहाया, असमत्ता जं तु लभति सुह-दुक्खी।
सुत्तत्थअतक्कंते, समत्तकप्पी उ दलयंति॥

जो गीतार्थ ससहाय हैं अर्थात् पार्श्वस्थ आदि को साथ लेकर सूत्रार्थ की अतर्कणा करते हुए आ रहे हैं, उनको जो सचित्त अथवा अचित्त का लाभ होता है अथवा जो असमाप्त कल्प वाले गीतार्थ हैं अथवा जो सुख-दुःखी अर्थात् सुख-दुःखोपसंपद्धारक हैं—एकाकी हैं अथवा जो समाप्तकल्पी हैं, उन्हें जो लाभ प्राप्त होता है, वह उनका ही है। वे अभिधार्यमाण को नहीं देते।

३९७८. अभिधरिज्जंतऽपत्ते, एस वुत्तो गमो खलु।
पढंतेसु विधिं वोच्छं, सो उ पाढो इमो भवे॥

पूर्वोक्त प्रकार अप्राप्त अभिधार्यमाण विषयक कहा है। आगे प्राप्त होने पर पढ़ने की विधि कहूंगा। वह वक्ष्यमाण पाठ यह है।

३९७९. धम्मकहा सुत्ते या, कालिय तह दिट्ठिवाय अत्थे य।
उवसंपयसंजोगे, दुगमादि जहुत्तरं बलिया॥

धर्मकथा में, सूत्र में, कालिक में, दृष्टिवाद में, अर्थ में—इनके पाठार्थ उपसंपदा होती है। द्विकसंयोगी उपसंपदा में यथोत्तर बलवान् होता है। (जैसे—सूत्र में परंपरसूत्र पढ़ानेवाला, अर्थ में परंपरअर्थ की व्याख्या करने वाला, सूत्रार्थ का पाठ देने वाले में अर्थ प्रदाता बलीयान् होता है।)

३९८०. आवलिय मंडलिकमो, पुव्वुत्तो छिन्नऽछिन्नभेदेणं।
एसा सुतोवसंपय, एत्तो सुहदुक्खयं वोच्छं॥

जो श्रुतोपसंपत् परंपरा से प्राप्त होती है, वह आवलिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और जो अनंतर से प्राप्त होती है वह मंडली। आवलिका और मंडलिकाक्रम के दो प्रकार छिन्न और अछिन्न पूर्व कहे जा चुके हैं। यह श्रुतोपसंपद् है। आगे सुख-दुःख उपसंपदा के विषय में कहूंगा।

३९८१. अभिधारे उवसंपण्णो,
दुविधो सुह-दुक्खितो मुणेयव्वो।
तस्स उ किं आभवती,
सच्चित्ताऽच्चित्तलाभस्स॥

अभिधारण करता हुआ जो सुखदुःखसंपत् को प्राप्त होता है उसके सचित्त और अचित्त—दोनों प्रकार के लाभ के मध्य उसका आभाव्य क्या है वह वक्तव्य है।

३९८२. सहायगो तस्स उ नत्थि कोई,
सुत्तं च तक्केइ न सो परत्तो।
एगाणिए दोसगणं विदित्ता,
सो गच्छमब्भेति समत्तकप्पं॥

जिसका कोई सहायक नहीं है, अकेला है जो दूसरे से सूत्र की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि स्वयं सूत्रार्थ से परिपूर्ण है, जो एकाकी होने, रहने के दोषगणों को जानकर समाप्तकल्प वाले गच्छ को प्राप्त करता है—यह सुखदुःखोपसंपदा है।

३९८३. खेत्ते सुहदुक्खी तू, अभिधारेंताइं दोण्णि वी लभति।
पुर-पुच्छसंथुयाइं, हेट्ठिल्लाणं च जो लाभो॥

जो सुख-दुःख उपसंपदा से उपसंपन्न है वह परक्षेत्र में भी दोनों अर्थात् पूर्वसंस्तुत और पश्चादसंस्तुत का अभिधारण करता है। उसके द्वारा दीक्षित, जो उससे अधस्तन हैं, उनका लाभ भी उसी को प्राप्त होता है।

३९८४. परखेत्तम्मि वि लभती, सो दो वी तेण गहण खेत्तस्स।
जस्स वि उवसंपन्नो, सो वि से न गिण्हते ताइं॥

यहां क्षेत्र का ग्रहण इसलिए किया गया है कि परक्षेत्र में भी पूर्वसंस्तुत तथा पश्चात्संस्तुत यदि उसके पास व्रतग्रहण करने के लिए उसे अभिधारण करते हैं, आते हैं तो उसे परक्षेत्र में भी लाभ होता है। जिसके पास भी वह उपसंपन्न होता है वह भी उसको (उसके लाभ को) ग्रहण नहीं करता।

३९८५. परखेत्ते वसमाणे वतिक्कमंतो व न लभतेऽसण्णी।
छंदेण पुव्वसण्णी, गाहित सम्मादि सो लभते॥

परक्षेत्र में रहते हुए उस (सुखदुःखोपसंपन्न) के पास कोई असंज्ञी अर्थात् अपरिचित व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करने आता है तो वह लाभ क्षेत्रिक का होता है, उसका नहीं। जो पूर्वसंज्ञी—पूर्वपरिचित होता है, उसे उसके अभिप्राय से प्राप्त कर लेता है। जिस किसी को इसने सम्यक्त्व प्राप्त कराई है और आज वह दीक्षित होना चाहता है तो वह उसी का लाभ है, उसे ही वह प्राप्त होता है।

३९८६. सुह-दुक्खितेण जदि उ, परखेत्तुवसामितो तहिं कोई।
बेति अभिनिक्खमामी, सो तू खेत्तिस्स आभवति॥

सुखदुःखित ने यदि परक्षेत्र में किसी को उपशमित किया है—सम्यक्त्व प्राप्त कराई है और वह कहता है कि मैं अभिनिष्क्रमण करता हूं, प्रव्रज्या स्वीकार करता हूं तो वह क्षेत्रिक का आभाव्य होगा, उसका नहीं।

३९८७. अध पुण गाहित दंसण, ताधे सो होति उवसमंतस्स।
कम्हा जम्हा सावय, तिण्णी वरिसाणि पुव्वदिसा॥

यदि सुखदुःखी ने किसी को पहले सम्यक्त्व प्राप्त कराई थी तो वह सम्यक्त्वग्राही का आभाव्य होता है। प्रश्न होता है—ऐसा क्यों? क्योंकि श्रावक के तीन वर्ष तक पूर्वदिग्—पूर्वापन्नता होती है।

३९८८. एतेण कारणेणं, सम्मद्दिट्ठिं तु न लभते खेत्ती।
एसो उवसंपन्नो, अभिधारेंतो इमो होति॥

इसीलिए क्षेत्रिक पूर्वग्राहित सम्यक्दृष्टि को प्राप्त नहीं कर सकता। यह सुखदुःख उपसंपदा को प्राप्त का कथन है। अभिधारयन् यह होता है—

३९८९. मग्गणकहणपरंपर, अभिधारेंतेण मंडलीऽछिन्ना।
एवं खलु सुह-दुक्खे, सच्चित्तादी तु मग्गणया॥

सुखदुःख उपसंपदा वाला अन्य गच्छ की मार्गणा करता है। किसी का कथन होता है कि अमुक स्थान में गच्छ है। उसकी अभिधारणा करता है तो उसके परंपर आवलिका छिन्न हो जाती है। अनन्तर मंडली अच्छिन्न होती है। इस प्रकार सुखदुःख उपसंपदा वाले की सचित्तादि विषयक मार्गणा की है।

३९९०. जइ से अत्थि सहाया,
जदि वावि करेंति तस्स तं किच्चं।
तो लभते इहरा पुण,
तेसि मणुण्णाण साधारं॥

यदि सुखदुःख उपसंपन्न व्यक्ति के सहायक हैं और वह जिनके पास उपसंपन्न हुआ है उनका वैयावृत्त्य आदि कार्य वे करते हैं तो जो प्रव्रज्या ग्रहण करने आता है वह उन्हें प्राप्त होता है। अन्यथा समनोज्ञ मुनियों का वह साधारण आभाव्य होता है।

३९९१. अपुण्णा कप्पिया जे तू, अन्नोन्नमभिधारए।
अन्नोन्नस्स य लाभो उ, तेसिं साधारणो भवे॥

जो अकल्पिक होते हैं वे अन्योन्य का अभिधारण करते हैं। अन्योन्य का लाभ परस्पर साधारण होता है।

३९९२. जाव एक्केक्कगो पुन्नो, ताव तं सारवेंति तु।
कुलादिथेरगाणं वा, देंति जो वावि सम्मतो॥

जब तक उन प्रत्येक का गच्छ पूर्ण नहीं हो जाता तब तक स्वीकृत गच्छ में से कोई एक उनकी सारणा करता है। यदि वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे क्लेश पाते हैं तो कुलस्थविर, गणस्थविर तथा संघस्थविर को उन्हें अर्पित कर दिया जाता है।

३९९३. सुह-दुक्खे उवसंपद, एसा खलु वण्णिया समासेणं।
अह एत्तो उवसंपय, मग्गोग्गह वज्जिते वुच्छं॥

संक्षेप में सुखदुःख उपसंपदा का वर्णन कर दिया गया है। आगे मार्गावग्रहवर्जित अर्थात् मार्गोपसंपद् कहूंगा।

३९९४. मग्गोवसंपयाए, गीतत्थेणं परिग्गहीतस्स।
अग्गीतस्स वि लाभो, का पुण उवसंपया मग्गे॥

मार्गोपसंपदा में गीतार्थ द्वारा परिगृहीत लाभ अगीतार्थ के भी होता है। मार्ग की उपसंपदा क्या है?

३९९५. जह कोई मग्गण्णू, अन्नं देसं तु वच्चती साधू।
उवसंपज्जति उ तगं, तत्थऽण्णो गंतुकामो उ॥

कोई मार्गज्ञ साधु अन्य देश को जा रहा है। उस देश को जाने वाला अन्य व्यक्ति उस साधु के पास उपसंपन्न होता है।

३९९६. अव्वत्तो अविहाडो, अदिट्ठदेसी अभासिओ वावि।
एगमणेगे उवसंपयाय, चउभंग जा पंथो॥

वह उपसंपन्न होने वाला मुनि अव्यक्त है, अप्रगल्भ है, अदृष्टदेशी–जिसने देशांतर न देखा हो, अभाषिक–देशभाषा के ज्ञान से विकल है। इसमें एक-अनेक की चतुर्भंगी होती है–

१. एक एक को उपसंपन्न २. एक अनेक को उपसंपन्न
३. अनेक एक को उपसंपन्न ४. अनेक एक को उपसंपन्न

यह उपसंपदा जब तक मार्ग है तब तक की होती है।

३९९७. गतागत गतनियत्ते, फिडिय गविट्ठे तधेव अगविट्ठे।
उब्भामग सन्नायग, नियट्ठऽदिट्ठे अभासी य॥

गतागत मार्गोपसंपद्–जिनके साथ जाना उन्हीं के साथ लौट आना। २. गतनिवृत्त मार्गोपसंपद्–साथ जाना परंतु कारणवश उनके साथ न लौट पाना। ३. स्फिटित गवेषित तथा स्फिटित अगवेषित–किसी देशांतर में गए और वहां उद्भ्रामक भिक्षाचार्य के लिए जाना पड़ा। मार्ग की अजानकारी के कारण भटक गया। ज्ञातिजनों ने गवेषणा की। यह स्फिटित गवेषित मार्गोपसंपद् है। अपरिचित देश में अर्थात् अदृष्ट देश में यत्र-तत्र भटक जाना। अभाषी–प्रादेशिक भाषा की अजानकारी के कारण स्थान पर न आ पाना, भटक जाना। इनकी गवेषणा करने पर भी न मिल पाना। यह स्फिटित अगवेषित मार्गोपसंपद् है।

३९९८. उवणट्ठ अन्नपंथेण, वा गतं अगविसंत न लभंति।
अगविट्ठो त्ति परिणते, गवेसमाणा खलु लभंती॥

जो उपनष्ट हो गया है–अपने ज्ञातिजनों के साथ चला गया है, जो किसी दूसरे मार्ग पर चला गया है। यदि मार्गोपदेशक उनकी गवेषणा नहीं करते हैं तो उसका लाभ उन्हें नहीं मिलता। यदि उनके मन में यह भाव परिणत होता है कि हमने गवेषणा नहीं की और उसकी गवेषणा प्रारंभ करते हैं तो उनको वह लाभ प्राप्त होता है।

३९९९. अम्मा-पितिसंबद्धा, मित्ता य वयंसगा य जे तस्स।
दिट्ठा भट्ठा य तहा, मग्गुवसंपन्नओ लभति॥

उपसंपद्यमान जाते-आते माता-पिता से संबद्ध अथवा मित्र और वयंसकों से संबद्ध तथा जो दृष्ट और भाषित हैं, उनका जो सचित्त आदि का लाभ होता है, वह सारा मार्गोपदेशक नेता का होता है।

४०००. विणओवसंपयाए, पुच्छण साहण अपुच्छ गहणे य।
नायमनाए दोन्नि वि, नमंति पक्किल्लसाली व॥

विनयोपसंपद् वक्तव्यता। प्रच्छना, कथन, अपृच्छा से ग्रहण, ज्ञात-अज्ञात, दोनों का नमना, पक्वशालि का कथन। (इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में।)

४००१. कारणमकारणे वा, अदिट्ठदेसं गया विहरमाणा।
पुच्छा विहारखेत्ते, अपुच्छ लहुगो य जं वावि॥

कारण अथवा अकारण ही विहार करते हुए मुनि अदृष्ट प्रदेश में पहुंच गए। वहां उनके सांभोगिक मुनि हों तो उनको विहारक्षेत्र के विषय में पूछे। यदि वे पृच्छा नहीं करते अथवा पूछने पर वे नहीं बताते तो दोनों को लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

४००२. सच्चित्तम्मि उ लद्धे, अण्णोण्णस्स अनिवेदणे लहुगो।
ववहारेण व हाउं, पुणरवि दाउं नवरि मासो॥

यदि वहां सचित्त का लाभ होता है तो परस्पर निवेदन करना चाहिए। निवेदन न करने पर लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। इस स्थिति में उस असमाचारी का प्रतिषेध करने के लिए आगम प्रसिद्ध व्यवहार से उससे उस लाभ का हरण कर पुनः उसे मासलघु के प्रायश्चित्तपूर्वक दिया जा सकता है।

४००३. नाए व अनाए वा, होति परिच्छाविधी जहा हेट्ठा।
अपरिच्छणम्मि गुरुगा, जो उ परिच्छाय अविसुद्धो॥

ज्ञात, अज्ञात होने पर निम्न कथित परीक्षाविधि करनी चाहिए। बिना परीक्षा किए उपसंपन्न करने पर अथवा परीक्षा करने पर अविशुद्ध को उपसंपन्न करने पर, प्रत्येक में चार-चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४००४. केई भणंति ओमो, नियमा निवेयइ इच्छ इतरस्स।
तं तु न जुज्जति जम्हा, पक्किल्लगसालिदिट्ठंतो॥

कुछ कहते हैं–यदि रत्नाधिक की इच्छा हो तो अवमरात्निक मुनि निवेदन करता है, अन्यथा नहीं। यह कथन उचित नहीं है। इसीलिए पक्वशालि का दृष्टांत उपन्यस्त है।

४००५. वंदणालोयणा चेव, तहेव य निवेयणा।
सेहेण उवउत्तम्मि, इतरो पच्छ कुव्वती॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शैक्ष मुनि द्वारा वंदना, आलोचना तथा सचित्त आदि का निवेदन करने के पश्चात् रत्नाधिक मुनि भी वंदना आदि करता है।

४००६. सुत-सुह-दुक्खे खेत्ते, मग्गे विणओवसंपयाए य।
बावीसपुव्वसंथुय, वयंसदिट्ठे य भट्ठे य॥

श्रुतोपसंपद् में उपसंपन्न होने वाले के ये बावीस आभाव्य हैं—(छह अमिश्र वल्ली के—माता, पिता, भाई, भगिनी, पुत्र और पुत्री। सोलह मिश्र वल्ली के—माता और पिता की माता, पिता, भाई और भगिनी तथा इन चारों के पुत्र और पुत्री।) सुख-दुःख उपसंपद् में उपसंपन्न होने वाले के पूर्वसंस्तुत आभाव्य होते हैं। क्षेत्र उपसंपद् में वयस्य आदि आभाव्य होते हैं। मार्ग उपसंपद् में दृष्ट और आभाषित अर्थात् वल्लीद्विक तथा मित्र आभाव्य होते हैं और विनयोपसंपद् में सभी आभाव्य होते हैं।

४००७. खेत्ते मित्तादीया, सुतोवसंपन्नतो उ छल्लभते।
अम्मापिउसंबद्धो, सुह-दुक्खी एतरो दिट्ठो॥

क्षेत्रोपसंपद् में मित्र आदि का, श्रुतोपसंपन्न वाला माता-पिता आदि छह का, सुख-दुःख उपसंपद् में माता-पिता से संबद्ध का लाभ तथा मार्गोपसंपद् में दृष्ट तथा आभाषित का लाभ होता है।

४००८. इच्चेयं पंचविधं, जिणाण आणाए कुणति सद्दाणे।
पावति धुवमाराहं, तव्विवरीए विवच्चासं॥

जो इस पांच प्रकार के आभवद् व्यवहार (श्रुत, क्षेत्र आदि) का प्रयोग जिनाज्ञा के अनुसार स्व-स्व स्थान में करता है वह निश्चितरूप में अंत में आराधक पद को प्राप्त होता है। आभवद् व्यवहार में विपरीत आचरण करने वाला विपर्यास को प्राप्त होता है अर्थात् वह आराधक नहीं होता।

४००९. इच्चेसो पंचविहो, ववहारो आभवंतिओ नाम।
पच्छित्ते ववहारं, सुण वच्छ ! समासतो वुच्छं॥

यह पांच प्रकार का 'आभवतिक'(आभाव्य) व्यवहार है। वत्स! अब आगे मैं प्रायश्चित्त व्यवहार का संक्षेप में कथन करूंगा, उसे तुम सुनो।

४०१०. सो पुण चउव्विहो दव्व-खेत्त-काले य होति भावे य।
सच्चित्ते अच्चित्ते, दुविधो पुण होति दव्वम्मि॥

प्रायश्चित्त व्यवहार के चार प्रकार हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से संबंधित। द्रव्यतः वह दो प्रकार है—सचित्त और अचित्त।

४०११. पुढवि-दग-अगणि-मारुय-वणस्सति
तसेसु होति सच्चित्ते।
अचित्ते पिंड उवधी,
दस पन्नरसेव सोलसगं॥

४०१२. संघट्टण परितावण-उद्दवणा वज्जणा य सद्दाणं।
दाणं तु चउत्थादी, तत्तियमित्ता व कल्लाणे॥

सचित्त ये हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस। अचित्त हैं—पिंड, उपधि। अचित्त से संबंधित दस एषणा के दोष, पंद्रह उद्गम के दोष[1], सोलह उत्पादन के दोष युक्त ग्रहण करने से प्रायश्चित्त आता है।

पृथ्वी आदि के संघट्टन, परितापन और उद्रवण तथा वर्जना में यथापत्ति प्रायश्चित्त को स्वस्थान कहा जाता है। प्रस्तुत में दान प्रायश्चित्त का कथन है। पृथ्वी आदि स्थावर जीव-निकाय के अपद्रावण में अभक्तार्थ प्रायश्चित्त आता है। द्वीन्द्रिय के अपद्रावण में बेला, त्रीन्द्रिय में तेला, चतुरिन्द्रिय में चोला और पंचेन्द्रिय में पंचोला—यह प्रायश्चित्त है। जिस प्राणी के जितनी इंद्रिया हैं, उस प्राणी के संघट्टन, परितापन से उतने ही कल्याणकों का प्रायश्चित्त आता है।

४०१३. अधवा अट्ठारसगं, पुरिसे इत्थीसु वज्जिया वीसा।
दसगं च नपुंसेसुं, आरोवण वण्णिया तत्थ॥

वर्जना का अर्थ है प्रव्राजना के लिए निषेध। अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियां और दस प्रकार के नपुंसक—इनको प्रव्रजित करने का निषेध है। अथवा कल्पाध्ययन में आरोपणा प्रायश्चित्त का कथन किया गया है। वहां से उसे जान लेना चाहिए।

४०१४. जणवयऽद्धाणरोधए, मग्गादीए य होति खेत्तम्मि।
दुब्भिक्खे य सुभिक्खे, दिया व रातो व कालम्मि॥

जनपद, मार्ग, रोधक (सेना का घेरा) तथा मार्गातीत—इन विषयों में जो प्रायश्चित्त आता है, वह क्षेत्रविषयक प्रायश्चित्त है तथा दुर्भिक्ष, सुभिक्ष, दिन और रात संबंधी प्रायश्चित्त काल विषयक प्रायश्चित्त है।

४०१५. वसिमे वि अविहिकरणं, संथरमाणम्मि खेत्तपच्छित्तं।
उद्धाणे उ अजयणं, पवण्णे चेव दप्पेणं॥
४०१६. कालम्मि उ संथरणे, पडिसेवति अजयणा व ओमंसि।
दिय-निसिमेराऽकरणं, ऊणधियं वावि कालेण॥

वसिम—जनपद जहां संस्तरण होता है वहां भी अविधि करना, यह क्षेत्र प्रायश्चित्त है। मार्ग में अयतनापूर्वक अथवा दर्प से प्रव्रजन करना मार्गगत प्रायश्चित्त है। सुभिक्षकाल में संस्तरण होने पर भी दुर्भिक्षकल्प का समाचरण करना अथवा दुर्भिक्षकाल में अयतना करना, दिन और रात की मर्यादा का अकरण अर्थात् दिन के कल्प का रात्री में और रात्री के कल्प का दिन में समाचरण करना अथवा दिन और रात्री के कल्प में न्यून या अधिक करना कालविषयक प्रायश्चित्त है।

१. अध्यवपूरक का मिश्र में समावेश हो जाता है इसलिए पंद्रह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४०१७. जोगतिए करणतिए दप्प-पमायपुरिसे य भावम्मि।
एतेसिं तु विभागं, वुच्छामि अहासमासेणं॥

जो प्रायश्चित्त योगत्रिक, करणत्रिक, दर्प–निष्कारण, अकल्प का प्रतिसेवन, प्रमाद, पुरुष–गुरु आदि विषयक होता है वह भाव विषयक प्रायश्चित्त है। अब मैं इनका विभाग यथानुपूर्वी कहूंगा।

४०१८. जोगतिए करणतिए, सुभासुभे तिविधकालभेएणं।
सत्तावीसं भंगा, दुगुणा वा बहुतरा वावि॥

योगत्रिक तथा करणत्रिक दो-दो प्रकार के होते हैं–शुभ तथा अशुभ। इनके त्रिविधकालभेद से सताइस विकल्प होते हैं। (मन से, वचन से, काया से करना, कराना, अनुमोदन करना–३×३=९ हुए।) इनको अतीत, अनागत और वर्तमान–कालत्रिक से गुणन करने पर ९×३=२७ हुए। इनको शुभ-अशुभ द्विगुणित करने पर ५४ विकल्प तथा द्विक, त्रिक संयोग करने पर बहुतर हो जाते हैं।

४०१९. वावे मिहमंबवणं, मणसाकरणं तु होतऽवुत्ते वि।
अणुजाणसु जा वुप्पउ, मण कारावण अवारेंते॥

किसी संयत ने सोचा–मैं यहां आम्रवन का वपन करूं। उसने आम्रवन का वपन नहीं किया फिर भी वह मनसाकरण है। किसी गृहस्थ ने पूछा–तुम्हारा अनुमोदन हो तो मैं यहां आम्रवन का वपन करूं। तुम मुझे आज्ञा दो। इस प्रकार कहने पर भी यदि संयत उसका निषेध नहीं करता तो वह करवाने जैसा ही है।

४०२०. मागहा इंगितेणं तु, पेहिएण य कोसला।
अद्धुत्तेण उ पंचाला, नाणुत्तं दक्खिणावहा॥

४०२१. एवं तु अणुत्ते वी, मणसा कारावणं तु बोधव्वं।
मणसाऽणुण्णा साधू, चूयवणं वुत्त वुप्पति वा॥

मागध–मगधदेशवासी इंगित से, कौशल देशवासी दृष्टि से, पांचालदेशवासी आधी बात को सुनकर पूरा अभिप्राय जान लेते हैं। दक्षिणापथ के लोग बिना कहे नहीं जान पाते। इस प्रकार वचन से न कहने पर भी, निवारणा के अभाव में उसे मन से कारापण ही समझना चाहिए। मनसा अनुज्ञा अथवा अनुमोदन यह है–अच्छा है यहां आम्रवन उप्त है अथवा आम्रवन का वपन किया जा रहा है।

४०२२. एवं वइ कायम्मी, तिविधं करणं विभासबुद्धीए।
हत्थादि सण्ण छोडिय, इय काये कारणमणुण्णा॥

इस प्रकार वचन और काया से करणत्रिक को अपनी बुद्धि से व्याख्यायित करे। वचन से करना, कराना तथा अनुमोदन करना यह सुप्रतीत है। काया से करना भी ज्ञात है। हाथ आदि से नाखून आदि काटने के साधन की ओर संकेत करना, काया से कराना और अनुमोदन करना है।

४०२३. एवं नवभेदेणं, पाणइवायादिगे उ अइयारे।
निरवेक्खाण मणेण वि, पच्छित्तितरेसि उभएणं॥

इस प्रकार नौ प्रकारों से प्राणातिपात आदि विषयक अतिचार का जो प्रायश्चित्त है, वह भावविषयक है जो निरपेक्ष अर्थात् प्रतिमा में स्थित हैं उनको मानसिक अतिचार सेवन का भी प्रायश्चित्त प्राप्त होता है और जो इतर अर्थात् गच्छस्थित हैं उनको दोनों–मानसिक तथा कायिक अतिचार का प्रायश्चित्त आता है।

४०२४. वायाम-वग्गणादी, धावण-डेवण य होति दप्पेणं।
पंचविधपमायम्मी, जं जहि आवज्जती तं तु॥

निष्कारण व्यायाम, वल्गन आदि करता है, धावन–दौड़ लगाना, डेपन–पत्थर आदि फेंकना–ये क्रियाएं करता है, उसको तत् तत् विषयक प्रायश्चित्त आता है। जो पांच प्रकार के प्रमाद में से जिस प्रमाद का सेवन करता है उसका प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४०२५. गुरुमादीया पुरिसा, तुल्लवराहे वि तेसि नाणत्तं।
परिणामागादिया वा, इड्ढिमनिक्खंत असहू वा॥

४०२६. पुमं बाला थिरा चेव, कयजोग्गा य सेतरा।
अधवा दुविहा पुरिसा, होंति दारुण-भद्दगा॥

गुरु आदि पुरुषों, परिणामक-अपरिणामक तथा अति-परिणामक व्यक्तियों अथवा ऋद्धिमान् निष्क्रमण अथवा अऋद्धि-मान् निष्क्रमण, असहायक अथवा सहायक, पुरुष, स्त्री नपुंसक अथवा बाल और तरुण अथवा स्थिर और अस्थिर, कृतयोग तथा अकृतयोग, अथवा स्वभावतः दारुण और भद्र–इन सबके समान अपराध में भी प्रायश्चित्त का नानात्व है।

४०२७. पायच्छित्ताऽऽभवंते य, ववहारो सो समासतो भणितो।
जेणं तु ववहरिज्जति, इयाणि तं तू एवक्खामि॥

पूर्वोक्त प्रायश्चित्तों में आभवत् व्यवहार का संक्षेप में वर्णन किया गया है। अब मैं जिस व्यवहार से व्यवहार किया जाता है, उसको कहूंगा।

४०२८. पंचविहो ववहारो, दुग्गतिभयचूरगेहि पण्णत्तो।
आगम-सुत-आणा धारणा य जीते य पंचमए॥

दुर्गतिभय के चूरक महापुरुषों ने पांच प्रकार का व्यवहार प्रज्ञप्त किया है–आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत पांचवां है।

४०२९. आगमतो ववहारो, सुणह जहा धीरपुरिसपण्णत्तो।
पच्चक्खो य परोक्खो, सो वि य दुविहो मुणेयव्वो॥

४०३०. पच्चक्खो वि य दुविहो, इंदियजो चेव नो व इंदियजो।
इंदियपच्चक्खो वि, पंचसु विसएसु नेयव्वो॥

४०३१. नोइंदियपच्चक्खो, ववहारो सो समासतो तिविहो।
ओहि-मणपज्जवे या, केवलनाणे य पच्चक्खे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धीरपुरुषों ने जैसे आगम व्यवहार की प्ररूपणा की है, वह सुनो। आगम व्यवहार दो प्रकार का ज्ञातव्य है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है—इंद्रियज और नोइंद्रियज। इंद्रियजप्रत्यक्ष पांच इंद्रिय विषयों में ज्ञातव्य है। नोइंद्रियप्रत्यक्ष व्यवहार संक्षेप में तीन प्रकार का है—अवधिप्रत्यक्ष, मनःपर्यव-प्रत्यक्ष तथा केवलज्ञानप्रत्यक्ष।

४०३२. ओधीगुण-पच्चइए, जे वट्टंते सुयंगवी धीरा।
ओहिविसयनाणत्थे, जाणसु ववहारसोधिकरे॥

(अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है—भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक। संयमी के गुणप्रत्ययिक अवधिज्ञान ही होता है।)

जो गुणप्रत्ययिक अवधिज्ञान में वर्तमान श्रुतांगविद् धीरपुरुष हैं, उन अवधिविषयज्ञान में स्थित पुरुषों को व्यवहार शोधिकर—शुद्धव्यवहार करने वाले जानो।

४०३३. उज्जुमती विउलमती, जे वट्टंती सुयंगवी धीरा।
मणपज्जवनाणत्थे, जाणसु ववहारसोहिकरे॥

जो धीर श्रुतांगविद् ऋजुमति अथवा विपुलमति मनःपर्यवज्ञान में वर्तमान हैं, उन मनःपर्यवज्ञानस्थ मुनियों को व्यवहार शोधिकर जानो।

४०३४. आदिगरा धम्माणं चरित्तवर-नाण-दंसण-समग्गा।
सव्वत्तगनाणेणं, ववहारं ववहरंति जिणा॥

जो धर्म के आदिकर हैं, जो चारित्रवरज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हैं, जिन-अर्हत् हैं, वे सर्वत्रगज्ञान—सर्वज्ञता से व्यवहार का व्यवहरण करते हैं।

४०३५. पच्चक्खागमसरिसो,
होति परोक्खो वि आगमो जस्स।
चंदमुही विव सो वि हु,
आगमववहारवं होति॥

जिनका आगम (चतुर्दशपूर्व आदि का ज्ञान) परोक्ष होने पर भी प्रत्यक्ष आगम के सदृश है, वह भी आगम- व्यवहारवान् होता है, जैसे चंद्र सदृश मुखवाली कन्या को चंद्रमुखी कहा जाता है। (यद्यपि पूर्वों का श्रुत आगमतुल्य नहीं है, फिर भी उनके आधार पर व्यवहार करने वाला आगम-व्यवहारवान् कहलाता है।)

४०३६. नातं आगमियं ति य, एगट्ठं जस्स सो परायत्तो।
सो पारोक्खो वुच्चति, तस्स पदेसा इमे होंति॥

ज्ञान और आगम एकार्थक हैं। जिनके वह आगम परायत्त—पराधीन होता है उसे परोक्ष कहा जाता है। उस परोक्ष आगम (चौदह पूर्व आदि से समुत्थ) के ये प्रदेश—प्रतिभाग हैं।

४०३७. पारोक्खं ववहारं, आगमतो सुतधरा ववहरंति।
चोद्दस-दसुपव्वधरा, नवपुव्वियगंधहत्थी य॥

जो श्रुतधर चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वधर, नौपूर्वी अथवा गंध-हस्ती के समान हैं वे आगमतः परोक्ष व्यवहार से व्यवहार करते हैं।

४०३८. किह आगमववहारी, जम्हा जीवादयो पयत्था उ।
उवलद्धा तेहिं तू, सव्वेहिं नयविगप्पेहिं॥

श्रुतज्ञान से व्यवहार करने वाले आगमव्यवहारी कैसे? आचार्य कहते हैं—उन चतुर्दशपूर्वधर आदि श्रुतधरों ने सभी नयविकल्पों से जीव आदि पदार्थों को उपलब्ध अर्थात् ज्ञात कर लिया है, इसलिए उन्हें आगमव्यवहारी कहा जाता है।

४०३९. जह केवली वि जाणति, दव्वं खेत्तं च काल-भावं च।
तह चउलक्खणमेतं, सुयनाणी वी विजाणाति॥

जैसे केवली केवलज्ञान से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को समग्रता से जानता है, वैसे ही श्रुतज्ञानी भी चतुर्लक्षण (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) को श्रुतज्ञान से जानता है।

४०४०. पणगं मासविवड्ढी, मासिगहाणी य पणगहाणी य।
एगाहे पंचाहं, पंचाहे चेव एगाहं॥

४०४१. रागद्दोसविवड्ढिं, हाणिं वा णाउ देंति पच्चक्खी।
चोद्दसपुव्वादी वि हु, तह नाउं देंति हीणऽहियं॥

प्रत्यक्षज्ञानी राग-द्वेष की वृद्धि और हानि को जानकर प्रायश्चित्त देते हैं और चतुर्दशपूर्वी आदि परोक्षज्ञानी राग-द्वेष की वृद्धि-हानि को जानकर न्यून या अधिक प्रायश्चित्त देते हैं।

अपराध की समानता में भी किसी को पंचक का प्रायश्चित्त देते हैं और राग-द्वेष की वृद्धि को उपलक्षित कर दूसरे को मास की विवृद्धि से प्रायश्चित्त देते हैं। राग-द्वेष की हानि के आधार पर मास की हानि कर तप का प्रायश्चित्त देते हैं। किसी के मास प्रतिसेवना में राग-द्वेष की अल्प हानि को उपलक्षित कर पंचक हानि (पचीस दिन) का प्रायश्चित्त देते हैं। तथा एकाहं-अभक्तार्थ जितनी प्रतिसेवना पर पंचाहं जितना प्रायश्चित्त तथा पंचाहं जितने प्रतिसेवना पर एकाहं जितना प्रायश्चित्त देते हैं।

प्रत्यक्षज्ञानी और परोक्षज्ञानी—दोनों राग-द्वेष की हानि-वृद्धि को जानकर प्रायश्चित्त देते हैं।

४०४२. चोदगपुच्छा पच्चक्खनाणिणो थोव कह बहुं देंति।
दिट्ठंतो वाणियए, जिणचोद्दसपुव्विए धमए॥

जिज्ञासु की पृच्छा है कि प्रत्यक्षज्ञानी थोड़े अपराध में बहुत और अधिक अपराध में थोड़ा प्रायश्चित्त कैसे देते हैं? यहां वणिक् का दृष्टांत है।

४०४३. जं जह मोल्लं रयणं, तं जाणति रयणवाणिओनिउणो।
थोवं तु महल्लस्स वि, कासति अप्पस्स वि बहुं तु॥

निपुण रत्नवणिक् जिस रत्न का जो मूल्य है, उसको जानता है। जानकर भी वह महद् रत्न का थोड़ा मूल्य और किसी छोटे रत्न का भी बहुत मूल्य देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४०४४. अधवा कायमणिस्स,
सुमहल्लस्स वि उ कागिणीमोल्लं।
वइरस्स उ अप्पस्स वि,
मोल्लं होती सयसहस्सं॥

अथवा रत्नवणिक् बहुत बड़े काचमणि का भी काकिनी का मूल्य करता है और छोटे से भी वज्रमणि का शतसहस्र—लाख का मूल्य करता है।

४०४५. इय मासाण बहूण वि, रागद्दोसऽप्पयाय थोवं तु।
रागद्दसोवचया, पणगे वि जिणा बहुं देंति॥

इसी प्रकार अनेक मासों के योग्य अपराध में भी राग-द्वेष की अल्पता के कारण स्तोक प्रायश्चित्त देते हैं तथा राग-द्वेष के उपचय से पंचक योग्य अपराध में भी 'जिन' बहुत प्रायश्चित्त देते हैं।

४०४६. पच्चक्खी पच्चक्खं, पासति पडिसेवगस्स सो भावं।
किह जाणति पारोक्खी, नातमिणं तत्थ धमएणं॥

प्रत्यक्षी—प्रत्यक्षज्ञानी प्रतिसेवक के भाव को प्रत्यक्षरूप से जान लेता है। परोक्षी—चौदहपूर्वी आदि उसको कैसे जान पाते हैं? आचार्य कहते हैं—इस विषय में धमक (शंख बजाने वाले) का दृष्टांत है।

४०४७. नालीधमएण जिणा, उवसंहारं करेंति पारोक्खे।
जह सो कालं जाणति, सुतेण सोहिं तहा सोउं॥

तीर्थंकर नालीधमक के उदाहरण से परोक्षज्ञानियों के जानने का उपसंहार करते हैं। जैसे नाली (नाड़ी) से गिरते हुए पानी के परिमाण के आधार पर कालज्ञान किया जाता है वैसे ही दूसरों को कालज्ञान कराने के लिए शंख बजाया जाता है। दूसरा व्यक्ति शंख के शब्द को सुनकर काल का ज्ञान कर लेता है। वैसे ही परोक्षज्ञानी भी आलोचना सुनकर व्यक्ति के यथावस्थित भाव जान लेते हैं।

४०४८. जेसिं जीवाजीवा, उवलद्धा सव्वभावपरिणामा।
सव्वाहि नयविधीहिं, केण कतं आगमेण कयं॥

जो अपने श्रुतबल से जीव-अजीव पदार्थ जान लिए हैं तथा जो सभी भावों—पदार्थों के श्रुतज्ञान विषयक परिणाम—पर्याय जान लिए हैं, जिन्होंने सभी नयविकल्पों से पदार्थों का ज्ञान कर लिया है वे प्रत्यक्ष ज्ञानियों की भांति दूसरे की शोधि को जानते हैं। प्रश्न पूछा जाता है—किससे किया यह श्रुतज्ञान? उत्तर है—आगम—अर्थात् केवलज्ञान से किया है।

४०४९. तं पुण कतं तू, सुतनाणं जेण जीवमादीया।
नज्जंति सव्वभावा, केवलनाणीण तं तु कतं॥

श्रुतज्ञान को किसने किया, जिससे कि श्रुतज्ञानी जीव आदि सभी भाव जान लेते हैं? श्रुतज्ञान को करने वाले हैं केवलज्ञानी।

४०५०. आगमतो ववहारं, पर सोच्चा संकियम्मि उ चरित्ते।
आलोइयम्मि आराहणा अणालोइए भयणा॥

आगमतः दूसरे को सुनकर व्यवहार करते हैं। चारित्र में शंकित होने पर आलोचना करने पर आराधना होती है। आलोचना न करने पर आराधना की भजना है। (पूरी व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

४०५१. आगमववहारी छव्विहो वि आलोयणं निसामेत्ता।
देति ततो पच्छित्तं, पडिवज्जति सारितो जइ य॥

छहों प्रकार के आगमव्यवहारी आलोचना को सुनकर फिर प्रायश्चित्त देते हैं। आलोचना करते समय वह आलोचक किसी अपराध को कहना भूल जाता है तो वे उसकी स्मृति कराते हैं। यदि वह उसे सम्यक् रूप से स्वीकार कर लेता है तो उसे आलोचना देते हैं, अन्यथा नहीं।

४०५२. आलोइयपडिकंतस्स, होति आराधणा तु नियमेण।
अणालोयम्मि भयणा, किह पुण भयणा भवति तस्स॥

जो अपराध की आलोचना कर लेता है तथा उससे प्रतिक्रांत हो जाता है—पुनः न करने से प्रतिनिवृत्त हो जाता है, उसके नियमतः आराधना होती है। अनालोचित अवस्था में आराधना की भजना है—होती भी है और नहीं भी होती। प्रश्न है—उसके भजना कैसे होती है?

४०५३. कालं कुव्वेज्ज सयं, अमुहो वा होज्ज अहव आयरिओ।
अप्पत्ते पत्ते वा, आराधण तह वि भयणेवं॥

मुनि आलोचना के परिणाम में परिणत है परंतु आलोचना करने से पूर्व ही स्वयं कालगत हो जाता है अथवा आलोचनार्ह के समीप जाकर भी अमुख—आलोचना नहीं कर पाता अथवा आलोचक के पहुंचने से पूर्व ही आलोचनार्ह आचार्य कालगत हो जाता है, आलोचनार्ह आचार्य को प्राप्त करके भी आलोचना नहीं कर पाता—ऐसा आलोचक यदि आलोचना से पूर्व काल कर जाता है तब भी वह आराधक है। जो आलोचना परिणाम में अपरिणत है, वह अनाराधक होता है। इस प्रकार आलोचना करने या न करने पर आराधना की भजना कही गई है।

४०५४. अवराहं वियाणंति, तस्स सोधिं च जद्दपि।
तधेवालोयणा वुत्ता, आलोएंते बहू गुणा॥

यद्यपि आगमव्यवहारी आलोचक के अपराध को तथा शोधि—प्रायश्चित्त को भी जानते हैं, फिर भी उनके समक्ष आलोचना करने की बात तीर्थंकरों ने कही है। आलोचना करने वाले में बहुत गुण निष्पन्न होते हैं।

४०५५. दव्वेहि पज्जवेहिं, कम-खेत्ते काल-भावपरिसुद्धं।
आलोयणं सुणेत्ता, तो ववहारं पउंजंति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य–सचित्तादि और उनकी पर्याय–अवस्था विशेष तथा क्रमशः क्षेत्र, काल और भाव से परिशुद्ध आलोचना को सुनकर फिर आगमव्यवहारी व्यवहार का प्रयोग करते हैं, प्रायश्चित्त देते हैं।

४०५६. सहसा अण्णाणेण व, भीतेण व पेल्लितेण व परेण।
वसणेण पमादेण व, मूढेण व रागदोसेहिं॥

यदि प्रतिसेवक सहसा, अज्ञानवश, भीत होकर, दूसरे के द्वारा प्रेरित होकर, व्यसन–द्यूत आदि से, प्रमाद से, मूढ़ता से अथवा राग-द्वेष से–इन कारणों से प्रतिसेवना कर प्रायश्चित्त लेने के लिए उसी प्रकार से आलोचना करता है तो प्रायश्चित्त देते हैं, अन्यथा नहीं।

४०५७. पुव्वं अपासिऊणं, छूढे पादम्मि जं पुणो पासे।
न य तरति नियत्तेउं, पायं सहसा-करणमेयं॥

पहले भूमी-प्रदेश को नहीं देखा। आगे पैर रखने के लिए उसे उठाया। तब देखा कि उस प्रदेश में जीव है, किंतु पैर को नीचे रखने से रोक नहीं सकता। उससे जो जीव का व्यापादन होता है, यह सहसाकरण है।

४०५८. अन्नतरपमादेण, असंपउत्तस्स णोवउत्तस्स।
इरियादिसु भूतत्थे, अवट्टतो एतदण्णाणं॥

पांच प्रकार के प्रमादों में से किसी एक से भी जो असंप्रयुक्त है, उसमें उपयुक्त नहीं है तथा ईर्या आदि समितियों में तत्त्वतः अवर्तमान है–यह है अज्ञान।

४०५९. भीतो पलायमाणो, अभियोगभएण वावि जं कुज्जा।
पडितो व अपडितो वा, पेलिज्जउ पेल्लिओ पाणे॥

अभियोग के भय से भीत होकर पलायमान व्यक्ति जीव हिंसा करता है। दूसरे के द्वारा प्रेरित होकर कोई गिरता है अथवा नहीं गिरता, वह अन्य जीवों को प्रेरित करता है–पीड़ा आदि पहुंचाता है।

४०६०. जूतादि होति वसणं, पंचविधो खलु भवे पमादो उ।
मिच्छत्तभावणाओ, मोहो तह रागदोसा य॥

द्यूत आदि व्यसन हैं। प्रमाद पांच प्रकार का होता है। मिथ्यात्व भावना है मोह। राग-द्वेष ज्ञात हैं।

४०६१. एतेसिं ठाणाणं, अन्नतरे कारणे समुप्पन्ने।
तो आगमवीमंसं, करेंति अत्ता तदुभएणं॥

इन स्थानों में से किसी भी स्थान का कारण उत्पन्न होने पर आप्त पुरुष जो आलोचना देते हैं उसकी सूत्र और अर्थ– दोनों से आगमविमर्शना करते हैं।

४०६२. जदि आगमो य आलोयणा य
दोण्णि वि समं तु निवयंतो।
एसा खलु वीमंसा,
जो वऽसहू जेण वा सुज्झे॥

यदि आगम और आलोचना–दोनों समान अर्थात् परस्पर अविसंवादिरूप में प्रस्तुत होते हों तो यह है आगमविमर्श। अथवा यह आलोचक प्रायश्चित्तसह है अथवा नहीं तथा इसकी शोधि किस प्रायश्चित्त से हो सकती है–यह विमर्श आगमविमर्श है।

४०६३. नाणमादीणि अत्ताणि, जेण अत्तो उ सो भवे।
रागद्दोसपहीणो वा, जे व इट्ठा विसोधिए॥

आप्त वह है जिसने ज्ञान, दर्शन चारित्र को प्राप्त कर लिया है अथवा जो राग-द्वेष से प्रहीण है अथवा जो शोधि– प्रायश्चित्त के लिए इष्ट है–अपेक्षित है वह आप्त है।

४०६४. सुत्तं अत्थे उभयं, आलोयण आगमो वि इति उभयं।
जं तदुभयं ति वुत्तं, तत्थ इमा होति परिभासा॥

सूत्र और अर्थ–यह उभय है अथवा आलोचना और आगम–यह उभय है। जो तदुभय कहा गया, उसकी यह परिभाषा होती है।

४०६५. पडिसेवणातियारे, जदि नाउट्टति जहक्कमं सव्वे।
न हु देंती पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स॥
४०६५/१. पडिसेवणातियारे, जदि आउट्टति जहक्कमं सव्वे।
देंति ततो पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स॥

यदि आलोचक प्रतिसेवना के सभी अतिचारों की यथाक्रम से आलोचना नहीं करता तो आगमव्यवहारी उसे प्रायश्चित्त नहीं देते। यदि आलोचक प्रतिसेवना के सभी अतिचारों की यथाक्रम से आलोचना कर लेता है तब आगमव्यवहारी उसे प्रायश्चित्त देते हैं।

४०६६. कधेहि सव्वं जो वुत्तो, जाणमाणो वि गूहति।
न तस्स देंति पच्छित्तं, बेंति अन्नत्थ सोधय॥

आलोचक को कहते हैं–सभी कह दो। इतना कहने पर भी जो जानता हुआ भी अतिचारों को छुपाता है तो उसे आगम-व्यवहारी प्रायश्चित्त नहीं देते किंतु कहते हैं–तुम अन्यत्र शोधि– प्रायश्चित्त लो।

४०६७. न संभरति जो दोसे, सब्भावा न य मायया।
पच्चक्खी साहते ते उ, माइणो उ न साधए॥

जिसे माया से नहीं किंतु सद्भाव से ही दोषों की स्मृति नहीं है, उसे प्रत्यक्षज्ञानी स्मृति कराते हैं। मायावी को वे स्मृति नहीं कराते।

४०६८. जदि आगमो य आलोयणा य दो वि विसमं निवडियाइं।
न हु देंती पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स॥

यदि आगम और आलोचना–दोनों विषम–विसंवादी होते हैं अर्थात् आलोचक ने जैसे आलोचना की आगमज्ञानी ने उसके अतिचारों को वैसा नहीं देखा, न्यून या अधिक देखा है तो आगमव्यवहारी उसे प्रायश्चित्त नहीं देते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४०६९.जदि आगमो य आलोयणा य दोन्नि वि समं निवडियाइं।
देंति ततो पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स॥

यदि आगम और आलोचना–दोनों समान होती हैं तो आगमव्यवहारी उसे प्रायश्चित्त देते हैं।

४०७०. अट्ठारसेहिं ठाणेहिं, जो होति अपरिणिट्ठितो।
नलमत्थो तारिसो होति, ववहार ववहरित्तए॥
४०७१. अट्ठारसेहिं ठाणेहिं, जो होति परिणिट्ठितो।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥
४०७२. अट्ठारसेहिं ठाणेहिं, जो होति अपतिट्ठितो।
नलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥
४०७३. अट्ठारसेहिं ठाणेहिं, जो होति सुपतिट्ठितो।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥

जो मुनि वक्ष्यमाण अठारह स्थानों में अपरिनिष्ठित–अज्ञाता तथा अप्रतिष्ठित–अवर्तमान होता है, वह व्यवहारों का व्यवहार करने के लिए अयोग्य है। जो परिनिष्ठित (सम्यग् ज्ञाता) और प्रतिष्ठित (सम्यग् वर्तमान) होता है, वह इन व्यवहारों का व्यवहार करने के लिए योग्य है।

४०७४.वयछक्ककायछक्कं,अकप्प-गिहिभायणे य पलियंको।
गोयरनिसेज्जण्हाणे, भूसा अट्ठारसट्ठाणे॥

वे अठारह स्थान ये हैं–व्रतषट्क, कायषट्क, अकल्प, गृहिभाजन, पर्यंक, गोचरनिषद्या,स्नान और विभूषा।

४०७५. परिनिट्ठित परिण्णाय पतिट्ठिओ जो ठितो उ तेसु भवे।
अविदु सोहिं न याणति, अठितो पुण अन्नहा कुज्जा॥

परिनिष्ठित अर्थात् सम्यग् परिज्ञात, प्रतिष्ठित अर्थात् अठारह स्थानों के प्रति सम्यग् स्थित–ऐसा व्यक्ति ही आलोचना देने योग्य है। अन्यथा जो अपरिनिष्ठित है, वह अविद्वान् शोधि को नहीं जान पाता तथा जो अप्रतिष्ठित है, वह अन्यथा प्रायश्चित्त देता है।

४०७६. बत्तीसाए ठाणेसु, जो होति अपरिनिट्ठितो।
नलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥
४०७७. बत्तीसाए ठाणेसु, जो होति परिनिट्ठितो।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥
४०७८. बत्तीसाए ठाणेसु, जो होति अपतिट्ठितो।
नलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥
४०७९. बत्तीसाए ठाणेसु, जो होति सुपतिट्ठितो।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥

जो आलोचनार्ह बत्तीस स्थानों में अपरिनिष्ठित और अप्रतिष्ठित होता है, वह व्यवहार का व्यवहरण करने में पर्याप्त नहीं है–योग्य नहीं है। जो इन बत्तीस स्थानों में परिनिष्ठित और प्रतिष्ठित है वह व्यवहार का व्यवहरण करने में पर्याप्त है–योग्य है।

४०८०. अट्ठविहा गणिसंपय, एक्केक्क चउव्विधा उ बोधव्वा।
एसा खलु बत्तीसा, ते पुण ठाणा इमे होंति॥

आचार्य के आठ प्रकार की संपदा (गणिसंपदा) होती है। प्रत्येक चार-चार प्रकार की ज्ञातव्य है। ये बत्तीस स्थान होते हैं। आठ गणिसंपदाएं ये हैं–

४०८१. आयार-सुत-सरीरे, वयणे वायण मती पओगमती।
एतेसु संपया खलु, अट्ठमिगा संगहपरिण्णा॥

आचारसंपदा, श्रुतसंपदा, शरीरसंपदा, वचनसंपदा, वाचनासंपदा, मतिसंपदा, मतिप्रयोगसंपदा तथा आठवी है संग्रहसंपदा।

४०८२. एसा अट्ठविधा खलु, एक्केक्कीए चउव्विधो भेदो।
इणमो उ समासेणं, वुच्छामि अधाणुपुव्वीए॥

यह आठ प्रकार की गणिसंपदा है। एक-एक संपदा के चार-चार ये भेद हैं। इनको मैं यथानुपूर्वी संक्षेप में कहूंगा।

४०८३. आयारसंपयाए, संजमधुवजोगजुत्तया पढमा।
बितिय असंपग्गहिता, अणिययवित्ती भवे तइया॥
४०८४. तत्तो य वुड्ढसीले, आयारे संपया चउब्भेया।
चरणं तु संजमो तू, तहियं निच्चं तु उवउत्तो॥

आचारसंपदा के चार भेद ये होते हैं–पहला है–संयमध्रुवयोगयुक्तता, दूसरा है–असंप्रग्रहीता, तीसरा है–अनियतवृत्ति और चौथा है वृद्धशीलता। संयम का अर्थ है–चरण। उसके ध्रुवयोग में उपयुक्तता का होना संयमध्रुवयोग-युक्तता है।

४०८५. आयरिओ उ बहुस्सुतु,तवस्सि जच्चादिगेहि व मदेहिं।
जो होति अणुस्सित्तो, ऽसंपग्गहितो भवे सो उ॥

जो मुनि मैं आचार्य हूं, बहुश्रुत हूं, तपस्वी हूं तथा जाति आदि के मदों से अनुत्सिक्त है–अनासक्त है, वह असंप्रग्रहीत होता है।

४०८६. अणिययचारि अणिययवित्ती
अगिहितो वि होति अणिकेतो।
निहुयसभाव अचंचल,
नातव्वो वुड्ढसील त्ति॥

जो अनियतवृत्ति अर्थात् अनियतचारी है अथवा जो अगृहिक–अनिकेत होता है वह अनियतवृत्ति होता है। जो निभृत-स्वभाववाला अर्थात् अचंचल होता है वह वृद्धशील होता है।

४०८७. बहुसुत परिचियसुत्ते, विचित्तसुत्ते य होति बोधव्वे।
घोसविसुद्धिकरे वा, चउहा सुयसंपदा होति॥

श्रुतसंपदा चार प्रकार की होती है–बहुश्रुत, परिचितसूत्र, विचित्रसूत्र तथा घोषविशुद्धिकर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४०८८. बहुसुतजुगप्पहाणे, अब्भिंभतर-बाहिरं सुतं बहुहा।
होति च सद्दग्गहणा, चारित्तं पी सुबहुयं पि॥

जिसके अभ्यंतर और बाह्यश्रुत अर्थात् अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत बहुधा–बहुत प्रकार से ज्ञात होता है तथा 'होति' शब्द के ग्रहण से जिसका चारित्र सुबहुक होता है, वह युगप्रधान बहुश्रुत होता है।

४०८९. सगनामं व परिचितं, उक्कमकमतो बहूहि विगमेहिं।
ससमय-परसमएहिं, उस्सग्गऽववायतो चित्तं॥

जिसको श्रुत उत्क्रम से क्रम अथवा क्रम से उत्क्रम के रूप में तथा अनेक प्रकार के विकल्पों से स्वनाम की भांति परिचित हो, वह परिचितसूत्र होता है। जिसका श्रुत स्वसमय और परसमय की वक्तव्यता से उत्सर्ग और अपवादानुविद्ध है, वह विचित्रसूत्र होता है।

४०९०. घोसा उदत्तमादी, तेहि विसुद्धिं तु घोसपरिसुद्धं।
एसा सुतोवसंपय, सरीरसंपयमतो वोच्छं॥

उदात्त आदि घोषों से जिसका घोषविशुद्ध है वह घोषविशुद्ध है। जो इसको कराता है वह घोषविशुद्धिकर होता है। यह चार प्रकार की श्रुतसंपदा है। आगे मैं शरीरसंपदा कहूंगा।

४०९१. आरोह परीणाहो, तह य अणोत्तप्पया सरीरम्मि।
पडिपुण्णइंदिएहि य, थिरसंघयणो य बोधव्वो॥

शरीरसंपदा के चार भेद ये हैं–आरोह-परिणाह, अनुत्त्रप्यना, प्रतिपूर्णइंद्रिय, स्थिरसंहनन।

४०९२. आरोहो दिग्घत्तं, विक्खंभो वि जइ तत्तिओ चेव।
आरोह परीणाहे, य संपया एस नातव्वा॥

आरोह का अर्थ है दीर्घता और परिणाह का अर्थ है–विष्कंभ–विशालता। यदि जितना आरोह होता है उतना ही परिणाह होता है तब यह आरोह-परिणाह संपदा ज्ञातव्य होती है।

४०९३. तवु लज्जाए धातू, अलज्जणीओ अहीणसव्वंगो।
होति अणोत्तप्पे सो, अविगलइंदी तु पडिपुण्णे॥

त्रपु धातु लज्जा के अर्थ मे है। अहीन सर्वांग व्यक्ति अलज्जनीय होता है। वह होता है अनुत्त्रप्य। जो अविकलेन्द्रिय होता है, वह परिपूर्णेन्द्रिय होता है।

४०९४. पढमगसंघयणथिरो, बलियसरीरो य होति नातव्वो।
एसा सरीरसंपय, एत्तो वयणम्मि वोच्छामि॥

जिसका संहनन स्थिर और शरीर शक्तिशाली होता है–वह स्थिरसंहनन है। यह शरीरसंपदा है। अब मैं वचनसंपदा के विषय में कहूंगा।

४०९५. आदेज्जमधुरवयणो, अणिस्सियवयण तधा असंदिद्धो।
आदेज्जगज्झवक्को, अत्थवगाढं भवे मधुरं॥

४०९६. अहवा अफरुसवयणो, खीरासवमादिलद्धिजुत्तो वा।
निस्सियकोधादीहिं, अहवा वी रागदोसेहिं॥

वचनसंपदा के चार भेद ये हैं–आदेयवचन, मधुरवचन, अनिश्रितवचन और असंदिग्धवचन। आदेय- गर्भितवाक्य ग्राह्यवाक्य होता है। अर्थावगाढ़ वाक्य मधुर होता है। अथवा अपरुषवचन अथवा क्षीराश्रवादिलब्धिसम्पन्न व्यक्ति का वचन मधुर होता है। क्रोध आदि अथवा राग-द्वेष की निश्रा से उपगत वचन निश्रित वचन कहलाता है। जो निश्रित नहीं होता वह अनिश्रितवचन कहलाता है।

४०९७. अव्वत्तं अफुडत्थं, अत्थबहुत्ता व होति संदिद्धं।
विवरीयमसंदिद्धं, वयणेसा संपया चउहा॥

जो वचन अव्यक्त, अस्फुट तथा अर्थबहुत्व वाला होता है वह संदिग्ध वचन कहलाता है। इसके विपरीत जो व्यक्त, स्फुट और अर्थवान् होता है वह असंदिग्ध वचन है। यह है वचनसंपदा चार प्रकार की।

४०९८. वायणभेदा चउरो, विजिओद्देसण समुद्दिसणया तु।
परिनिव्वविया वाए, निज्जवणा चेव अत्थस्स॥

वाचनासंपदा के चार भेद हैं–विचिन्त्य उद्देशना, विचिन्त्य समुद्देशना, परिनिर्वाप्य वाचना, अर्थ-निर्यापना।

४०९९. तेणेव गुणेणं तू, वाएयव्वा परिक्खिउं सीसा।
उद्दिसति वियाणेउं, जं जस्स तु जोग्ग तं तस्स॥

'यह इस वाचना के योग्य है, यह अयोग्य है'–इस वाचनाविषयक गुणों से परीक्षा कर, जो जिसके योग्य हो उसको उसकी वाचना देनी चाहिए।

४१००. अपरीणामगमादी, वियाणितु अभायणे न वाएति।
जह आममट्टियघडे, अंबेव न छुब्भती खीरं॥

४१०१. जदि छुब्भती विणस्सति, नस्सति वा एवमपरिणामादी।
नोद्दिस्से छेदसुतं, समुद्दिसे वावि तं चेव॥

अपरिणामी, अतिपरिणामी को छेदसूत्रों का अभाजन जानकर उनको वाचना नहीं देनी चाहिए। जैसे अपक्व मिट्टी के घड़े में अथवा पके हुए अम्ल घड़े में दूध नहीं डाला जाता। यदि अम्ल घट में दूध डाला जाता है तो दूध नष्ट हो जाता है अथवा अपक्व मिट्टी के घड़े के भग्न होने पर दूध भी नष्ट हो जाता है।

४१०२. परिणिव्वविया वाए, जत्तियमेत्तं तु तरति उग्गहिउं।
जाहगदिट्ठंतेणं परिचिते ताव तमुद्दिसति॥

'परिनिर्वाप्य वाचयति' का तात्पर्य है कि वाचनाप्रदाता शिष्य को उतनी ही वाचना देता है जितनी वह ग्रहण कर सकता है। जितनी वह परिचित कर सकता है उसको उतनी ही वाचना देते हैं। यहां जाहक–बड़े बिलाव का दृष्टांत ज्ञातव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४१०३. निज्जवगो अत्थस्सा, जो उ वियाणाति अत्थ सुत्तस्स।
अत्थेण व निव्वहती, अत्थं पि कहेति जं भणितं॥

'अर्थ का निर्यापक'—यह जो कहा गया है उसका अर्थ है—जो कथ्यमान सूत्रार्थ को जानता है अथवा जो अर्थ का निर्वहन करता है—अर्थबल से सूत्र का अवधारण करता है, उसको अर्थ की भी वाचना देते हैं।

४१०४. मइसंपय चउभेदा, उग्गह ईहा अवाय धरणा य।
उग्गहमति छब्भेदा, तत्थ इमा होति णातव्वा॥

४१०५. खिप्पं बहु बहुविधं व,
धुवऽणिस्सिय तह य होतऽसंदिद्धं।
ओगेण्हति एवीहा,
अवायमवि धारणा चेव॥

मतिसंपदा के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अवग्रहमति के ये छह भेद ज्ञातव्य हैं—क्षिप्र, बहु, बहुविध, ध्रुव, निश्रित तथा असंदिग्ध ग्रहण करना। इसी प्रकार ईहा, अवाय और धारणा के भी छह-छह भेद हैं।

४१०६. सीसेण कुतित्थीण व, उच्चारितमेत्तमेव ओगिण्हे।
तं खिप्पं बहुगं पुण, पंच व छस्सत्तगंथसया॥

शिष्य अथवा कुतीर्थी द्वारा उच्चारितमात्र का तत्काल अवग्रहण कर लेना क्षिप्र अवग्रह है। इसी प्रकार पांच, छह, सातसौ ग्रंथों का अवग्रहण बहुअवग्रह है।

४१०७. बहुविह णेगपयारं, जह लिहतिऽवधारए गणेति वि य।
अक्खाणगं कहेती, सद्दसमूहं व णेगविहं॥

अनेक प्रकार का अवग्रहण बहुविध अवग्रह है। जैसे—स्वयं लिख रहा है। उस समय दूसरे के बोले हुए वचन का अवधारण भी करता है, वस्तुओं की गणना भी करता है, आख्यानक कहता है, अनेक प्रकार के शब्द-समूहों को सुनता भी है—इन सबको साथ-साथ ग्रहण करना बहुविध अवग्रह है।

४१०८. न वि विस्सरति धुवं तू,
अणिस्सितं जन्न पोत्थए लिहियं।
अणभासियं च गेण्हति,
निस्संकित होतऽसंदिद्धं॥

जिसकी विस्मृति नहीं होती, वह ध्रुव अवग्रह है। जो पुस्तकों में अलिखित है तथा जो अभाषित है उसको ग्रहण करता है, वह अनिश्रित अवग्रह है। जो असंदिग्ध है वह निःशंकित अवग्रह है। ये अवग्रहण के छह भेद हैं।

४१०९. उग्गहियस्स उ ईहा, ईहित पच्छा अणंतरमवाओ।
अवगते पच्छ धारण, तीय विसेसो इमो नवरं॥

अवगृहीतार्थ के प्रति ईहा होती है। ईहित करने के पश्चात् अवाय होता है। अवगत होने पर धारणा होती है। धारणा के विषय में यह विशेष है।

४११०. बहु बहुविधं पुराणं, दुद्धरऽणिस्सिय तहेवऽसंदिद्धं।
पोराण पुरा वायित, दुद्धरनयभंगगुविलत्ता॥

धारणा के ये छह भेद हैं—बहु, बहुविध, पौराण, दुर्धर, अनिश्रित तथा असंदिग्ध। बहु, बहुविध, अनिश्रित तथा असंदिग्ध—ये पूर्ववत् हैं। पौराण का अर्थ है—जो पूर्व अर्थात् चिरकाल पूर्व वाचित है। दुर्द्धर—नय और भंगों के द्वारा गहन होने के कारण जिसको धारण करना कष्टप्रद है।

४१११. एत्तो उ पओगमती, चउव्विहा होति आणुपुव्वीए।
आय पुरिसं व खेत्तं, वत्थु विय पउंजए वायं॥

अब आगे प्रयोगमति के चार भेद आनुपूर्वी से कहे जा रहे हैं—आत्मा (स्वयं), पुरुष, क्षेत्र और वस्तु—इनको जानकर वाद का समारंभ करना चाहिए।

४११२. जाणति पओगभिसजो, जेण आतुरस्स छिज्जती वाही।
इय वादो य कहा वा, नियसत्ति नाउ कायव्वा॥

जैसे प्रायोगिक वैद्य यह जानता है कि रोगी की व्याधि किस औषधि के प्रयोग से मिट सकती है। इस प्रकार अपनी शक्ति को जानकर वाद अथवा धर्मकथा करनी चाहिए।

४११३. पुरिसं उवासगादी, अहवा वी जाणिगा इयं परिसं।
पुव्वं तु गमेऊणं, तहे वादो पओत्तव्वो॥

पुरुष—प्रतिवादी उपासक है अथवा यह पर्षद् ज्ञापिका है, इन सबको पहले जानकर पश्चात् वाद प्रयोक्तव्य होता है।

४११४. खेत्तं मालवमादी, अहवा वी साधुभावितं जं तु।
नाऊण तहा विधिणा, वादो य तहिं पओत्तव्वो॥

क्षेत्र मालव आदि है अथवा साधुभावित है। यह यथार्थरूप से जानकर विधिपूर्वक वाद का समारंभ करना चाहिए।

४११५. वत्थुं परवादी ऊ बहुआगमितो न वावि णाऊणं।
राया व रायऽमच्चो, दारुणभद्दस्सभावो त्ति॥

वस्तु अर्थात् परवादी बहुत आगमों का जानकार है अथवा नहीं तथा राजा और अमात्य दारुण स्वभाव वाले हैं अथवा भद्र स्वभाव वाले हैं, यह ज्ञातकर फिर वाद करना चाहिए। ये प्रयोगमति के चार प्रकार कहे गए हैं।

४११६. बहुजणजोग्गं खेत्तं, पेहे तह फलग-पीढमाइण्णो।
वासासु एय दोन्नि वि, काले य समाणए कालं॥

४११७. पूए अहागुरुं पी, चउहा एसा उ संगहपरिण्णा।
एतेसिं तु विभागं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

संग्रह संपदा के चार प्रकार ये हैं—

१. वर्षा ऋतु में बहुजनयोग्य क्षेत्र की प्रेक्षा करना।

२. पीढ और फलक का आनयन करना चाहिए क्योंकि ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों वर्षा ऋतु में आचीर्ण हैं।

३. काल का यथासमय समानयन करना (उपयुक्त काल में उपयुक्त क्रिया करना।)

४. रत्नाधिक की पूजा करना।

यह चार प्रकार की संग्रहपरिज्ञा है। इनके विभागों की व्याख्या यथानुपूर्वी कहूंगा।

४११८. वासे बहुजणजोग्गं, वित्थिण्णं जं तु गच्छपायोग्गं।
अहवावि बाल-दुब्बल-गिलाण-आदेसमादीणं॥

वर्षाऋतु में बहुजनयोग्य क्षेत्र का तात्पर्य है कि वह क्षेत्र विस्तीर्ण हो जो समस्त गच्छ के प्रायोग्य हो अथवा बाल, दुर्बल, ग्लान तथा आदेश—प्राघूर्णक के प्रायोग्य हो।

४११९. खेत्तऽसति असंगहिया, ताधे वच्चंति ते उ अन्नत्थ।
न उ मइलेंति निसेज्जा, पीढगफलगाण गहणम्मि॥

ऐसे क्षेत्र के अभाव में साधु असंगृहीत हो जाते हैं, वे अन्यत्र चले जाते हैं। पीढ, फलग आदि के ग्रहण से निषद्याएं मलिन नहीं होतीं।

४१२०. वितरे न तु वासासुं, अन्ने काले उ गम्मतेऽण्णत्थ।
पाणा सीतल-कुंथादिया य तो गहण वासासुं॥

वर्षा ऋतु में श्रावक संस्तारक आदि नहीं देते। ऋतुबद्धकाल में अन्यत्र जाया जा सकता है। तथा वर्षाकाल में भूमी की शीतलता से कुंथु आदि प्राणी संमूर्च्छित होते हैं, इसलिए वर्षा ऋतु में पीढ-फलक का ग्रहण अनुमत है।

४१२१. जं जम्मि होति काले, कायव्वं तं समाणए तम्मि।
सज्झायपेहउवधी, उप्पायण भिक्खमादी य॥

जिस काल में जो क्रिया करणीय है उसका उसी काल में समानयन करना चाहिए। वे क्रियाएं ये हैं—स्वाध्याय, उपकरणों का प्रत्युपेक्षण, उपधि का उत्पादन, भिक्षाचर्या आदि।

४१२२. अधागुरू जेण पव्वावितो उ जस्स व अधीत पासम्मि।
अधवा अधागुरू खलु, हवंति रातीणियतरा उ॥

४१२३. तेसिं अब्भुट्ठाणं, दंडग्गह तह न होति आहारे।
उवधीवहणं विस्सामणं च संपूयणा एसा॥

जिसके पास प्रव्रजित हुआ है, पढ़ा है, वे यथागुरु होते हैं। वे भी यथागुरु हैं जो उससे रत्नाधिकतर हैं। इनकी पूजा यह है—अभ्युत्थान करना, दंड ग्रहण करना, प्रायोग्य आहार का संपादन करना, उनकी उपधि को वहन करना तथा उनकी वैयावृत्त्य करना।

४१२४. एसा खलु बत्तीसा एयं जाणाति जो ठितो वेत्थ।
ववहारे अलमत्थो, अधवा वि भवे इमेहिं तु॥

जो पूर्वोक्त (४०८०) बत्तीस स्थानों को जानता है अथवा जो उसमें स्थित है, वही व्यवहार देने में समर्थ है, योग्य है। अथवा जो इन छत्तीस स्थानों का ज्ञाता है, इनमें स्थित है, वह व्यवहार समर्थ होता है।

४१२५. छत्तीसाए ठाणेहि, जो होति अपरिणिट्ठितो।
नलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥

४१२६. छत्तीसाए ठाणेहिं, जो होति सुपरिणिट्ठितो।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥

४१२७. छत्तीसाए ठाणेहिं, जो होति अपतिट्ठितो।
नलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥

४१२८. छत्तीसाए ठाणेहिं, जो होति सुपतिट्ठितो।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥

जो आलोचनार्ह इन छत्तीस स्थानों में अपरिनिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित होता है, वैसा वह मुनि व्यवहारों का व्यवहार करने में अयोग्य है, समर्थ नहीं है। जो इन छत्तीस स्थानों में परिनिष्ठित और प्रतिष्ठित होता है वैसा वह मुनि व्यवहारों का व्यवहार करने में समर्थ है, योग्य है। (४०७०-४०७३)

४१२९. जा भणिया बत्तीसा, तीए छोढूण विणयपडिवत्तिं।
चउभेदं तो होही, छत्तीसाए य ठाणाणं॥

जो पहले बत्तीस स्थानों का कथन किया गया था, उनमें विनयप्रतिपत्ति के चार भेद मिलाने पर ये छत्तीस स्थान होते हैं।

४१३०. बत्तीसं वण्णिय च्चिय, वोच्छं चउभेदविणयपडिवत्तिं।
आयरियंतेवासिं, जह विणयित्ता भवे णिरिणो॥

बत्तीस स्थानों का वर्णन किया जा चुका है। अब विनयप्रतिपत्ति के चार भेद कहूंगा, जिनसे आचार्य अपने शिष्यों को विनीत बनाकर उऋण हो जाता है।

४१३१. आयारे सुत विणए, विक्खिवणे चेव होति बोधव्वे।
दोसस्स य निग्घाते, विणए चउहेस पडिवत्ती॥

विनय की चार प्रतिपत्तियां ये हैं—आचारविनय, श्रुतविनय, विक्षेपणाविनय तथा दोषनिर्घातविनय।

४१३२. आयारे विणओ खलु चउव्विधो होति आणुपुव्वीए।
संजमसामायारी, तवे य गणविहरणा चेव॥

४१३३. एगल्लविहारे या, सामायारी उ एस चउभेया।
एयासिं तु विभागं वुच्छामि अधाणुपुव्वीए॥

आचारविनय आनुपूर्वी से चार प्रकार का होता है—संयम-सामाचारी, तपःसामाचारी, गणविहरणसामाचारी तथा एकल-विहारसमाचारी। मैं इनके विभाग यथानुपूर्वी कहूंगा।

४१३४. संजममायरति सयं, परं व गाहेति संजमं नियमा।
सीदंत थिरीकरणं, उज्जयचरणं च उववूहे॥

जो स्वयं संयम का आचरण करता है, दूसरे को नियमतः संयम का ग्रहण करवाता है, संयम में विषाद पाने वाले को संयम में स्थिर करता है तथा उद्यतचरण अर्थात् संयम का उपबृंहण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४१३५. सो सत्तरसो पुढवादियाण घट्ट परिताव उद्दवणं।
परिहरियव्वं नियमा, संजमगो एस बोधव्वो॥

विस्तार से संयम के सतरह प्रकार हैं। संक्षेपतः पृथ्वी आदि छह कायों का घट्टन, परितापन तथा उद्रवण का नियमतः परिहार करना संयम जानना चाहिए।

४१३६. पक्खियपोसहिएसुं, कारयति तवं सयं करोती य।
भिक्खायरियाय तधा, निजुंजति परं सयं वावि॥
४१३७. सव्वम्मि बारसविहे, निउंजति परं सयं च उज्जुत्तो।
गणसामायारीए गणं विसीयंत चोदेति॥
४१३८. पडिलेहण पप्फोडण, बाल-गिलाणादि वेयवच्चेय।
सीदंतं गाहेती, सयं च उज्जुत्त एतेसुं॥

जो पाक्षिक तथा पौषधिक दिनों में तपस्या करवाता है तथा स्वयं तप करता है, भिक्षाचर्या में दूसरों को नियोजित करता है तथा स्वयं भी प्रयोजनवश भिक्षाचर्या में जाता है तथा तपस्या के सभी बारह प्रकारों में दूसरों की भांति स्वयं को भी नियोजित करता है–यह तपःसमाचारी है। गण सामाचारी यह है कि विषादग्रस्त गण को प्रेरणा देता है। प्रत्युपेक्षण, प्रस्फोटन आदि में तथा बाल और ग्लान के वैयावृत्त्य में विषादग्रस्त मुनियों की ये सारी क्रियाएं दूसरे मुनियों से करवाता है तथा स्वयं इन स्थानों में सदा उद्युत रहता है। यह गणसामाचारी है।

४१३९. एगल्लविहारादी, पडिमा पडिवज्जती सयऽण्णं वा।
पडिवज्जावे एवं, अप्पाण परं च विणएति॥

एकलविहार आदि प्रतिमा को स्वयं स्वीकार करता है तथा दूसरों को भी स्वीकार करवाता है। इसी प्रकार आचारविनय का स्वयं और पर को ग्रहण करवाता है। यह आचारविनय है।

४१४०. सुत्तं अत्थं च तहा, हित-निस्सेसं तधा पवाएति।
एसो चउव्विधो खलु, सुतविणयो होति नातव्वो॥

सूत्र और अर्थ की वाचना देना, जिसके लिए जो उचित है उसको वह वाचना देना तथा निःशेषश्रुत की वाचना देना–यह चार प्रकार का श्रुतविनय है, ऐसा जानना चाहिए।

४१४१. सुत्तं गाहेति उज्जुत्तो, अत्थं च सुणावए पयत्तेणं।
जं जस्स होति जोग्गं, परिणामगमादिणं तु हियं॥
४१४२. निस्सेसमपरिसेसं, जाव समत्तं तु ताव वाएति।
एसो सुतविणओ खलु, वोच्छं विक्खेवणाविणयं॥

स्वयं उद्युक्त होकर शिष्य को सूत्र ग्रहण करवाता है यह सूत्रग्राहणविनय है तथा प्रयत्नपूर्वक शिष्य को अर्थ सुनाता है, यह अर्थश्रावणविनय है। परिणामक आदि शिष्यों के जिसके लिए जो योग्य होता है, हित होता है उसको वह देता है, यह है हितप्रदानविनय। जो निःशेष अर्थात् अपरिशेष जब तक समाप्त होता है तब तक सूत्र और अर्थ की वाचना देता है, वह है निःशेष वाचनाविनय। यह चार प्रकार का श्रुतविनय है। आगे विक्षेपणाविनय के विषय में कहूंगा।

४१४३. अदिट्ठं दिट्ठं खलु, दिट्ठं साहम्मियत्तविणएणं।
चुतधम्म ठावे धम्मे, तस्सेव हितट्ठमब्भुट्ठे॥

विक्षेपणाविनय के चार प्रकार हैं–

१. अदृष्टधर्मा व्यक्ति को दृष्ट की भांति धर्म ग्रहण करवाना।

२. दृष्टधर्मा श्रावक को साधर्मिकत्वविनय से प्रव्रजित करना।

३. च्युतधर्मा को पुनः धर्म में स्थापित करना।

४. उसी के चारित्रधर्म की वृद्धि के लिए प्रयत्न करना।

४१४४. विण्णाणाभावम्मी, खिव पेरण विक्खिवित्तु परसमया।
ससमयंतेणऽभिछुभे, अदिट्ठधम्मं तु दिट्ठं वा॥

'वि' शब्द नानाभाव के अर्थ में प्रयुक्त है तथा क्षिप् प्रेरणे धातु है उससे विक्षेपणा बनता है। अदृष्टधर्मा अथवा दृष्टधर्मा को परसमय से विनिक्षिप्त कर स्वसमयांत अर्थात् स्वसमय के अभिमुख कर देना यह प्रथम भेद की व्याख्या है।

४१४५. धम्मसभावो सम्मद्दंसणयं जेण पुव्वि न तु लद्धं।
सो होतऽदिट्ठपुव्वो, तं गाहिति पुव्वदिट्ठम्मि॥

धर्मस्वभाव का अर्थ है–दर्शन। दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन को जिसने पहले प्राप्त नहीं किया है वह होता है अदृष्टपूर्वधर्मा। उसको पूर्वदृष्ट की भांति धर्म ग्रहण करवाना।

४१४६. जह मायरं व पियरं, मिच्छादिट्ठिं पि गाहि सम्मत्तं।
दिट्ठप्पुव्वो सावग, साधम्मि करेति पव्वावे॥

जैसे मिथ्यादृष्टि माता-पिता तथा भाई को सम्यक्त्व प्राप्त कराना–यह अदृष्ट को दृष्ट की भांति धर्म प्राप्त कराना है। जो दृष्टपूर्वधर्मा है, उस श्रावक को साधर्मिकत्व विनय से साधर्मिक करता है अर्थात् प्रव्रजित करता है।

४१४७. चुयधम्म-भट्ठधम्मो, चरित्तधम्माउ दंसणातो वा।
तं ठावेति तहिं चिय, पुणो वि धम्मे जहुद्दिट्ठे॥

जो चारित्र धर्म से अथवा दर्शनधर्म से च्युतधर्मा हो गया है, उसको पुनः यथोद्दिष्ट धर्म में अर्थात् चारित्र धर्म में अथवा दर्शन धर्म में स्थापित करता है।

४१४८. तस्स त्ती तस्सेव उ, चरित्तधम्मस्स वुड्ढिहेतुं तु।
वारेयऽणेसणादी, न य गेण्ह सयं हितट्ठाए॥

उसी के चारित्रधर्म की वृद्धि के लिए अनेषणा आदि का वारण किया जाता है। स्वयं भी हित के लिए अनेषणा आदि ग्रहण न करे।

४१४९. जं इह-परलोगे यं, हितं सुहं तं खमं मुणेयव्वं।
निस्सेयस मोक्खाय उ, अणुगामऽणुगच्छते जं तु॥

जो इहलोक में हितकारी है वह हित है, जो परलोक में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखकारी है वह सुख है। ऐहिक और पारत्रिक प्रयोजन सिद्धकारी है, वह है क्षेम। जो कल्याणकारी है, वह है निःश्रेयस। आनुगमिक वह है जो मोक्ष के लिए अनुगमन करता है।

४१५०. दोसा कसायमादी, बंधो अधवावि अट्ठपगडीओ।
निययं व णिच्छितं वा, घात विणासो य एगट्ठा॥

दोष है कषाय आदि। बंध है आठ कर्मों का बंध अथवा पूर्वबद्ध आठ कर्म प्रकृतियां। इनका विनाश है—दोषनिघातविनय। नियत, निश्चित, व्याघात और विनाश एकार्थक हैं।

४१५१. कुद्धस्स कोधविणयण, दुट्ठस्स य दोसविणयणं जं तु।
कंखिय कंखाछेदो, आयप्पणिधाणचउहेसो॥

दोषनिर्घातविनय के चार प्रकार हैं—क्रुद्ध का क्रोधविनयन, दुष्ट का दोषविनयन, कांक्षित का कांक्षाच्छेद तथा आत्म-प्रणिधान।

४१५२. सीतघरं पिव दाहं, वंजुलरुक्खो व जह उ उरगविसं।
कुद्धस्स तधा कोहं, पविणेती उवसमेति त्ती॥

जैसे शीतगृह—जलयंत्रगृह दाह का अपनयन कर देता है, जैसे वंजुलवृक्ष सर्पविष को दूर कर देता है, वैसे ही क्रुद्ध व्यक्ति के क्रोध का प्रविनयन, उपशमन करना।

४१५३. दुट्ठो कसायविसएहि, माण-मायासभाव दुट्ठो वा।
तस्स पविणेति दोसं, नासयते धंसते व त्ति॥

जो कषाय, विषय, मान और माया से दुष्ट है अथवा जो स्वभावतः दुष्ट है, उसके दोष का प्रविनयन करना, ध्वंस करना, नाश करना।

४१५४. कंखा उ भत्तपाणे, परसमए अहवा संखडीमादी।
तस्स पविणेति कंखं, संखडि अन्नावदेसेणं॥

जिसके भक्तपान की, परसमय की अथवा संखडि आदि की कांक्षा होती है, उस कांक्षा का अपनयन करना, उच्छेद करना। संखडिकांक्षा को अन्यापदेश—अन्योक्ति से अपनयन करना।

४१५५. जो एतेसु न वट्टति कोधे दोसे तधेव कंखाए।
सो होति सुप्पणिहितो, सोभणपणिधाणजुत्तो वा॥

जो इन क्रोध, दोष तथा कांक्षा में प्रवर्तन नहीं करता वह सुप्रणिहित, शोभनप्रणिधानयुक्त होता है अर्थात् आत्मप्रणिधानवान् होता है।

४१५६. छत्तीसेताणि ठाणाणि, भणिताणऽणुपुव्वसो।
जो कुसलो य एतेहिं ववहारी सो समक्खातो॥

ये छत्तीस स्थान क्रमशः कहे गए हैं। जो इनमें कुशल है वह आगमव्यवहारी कहा गया है।

४१५७. अट्ठहि अट्ठारसहिं, दसहि य ठाणेहि जे अपारोक्खा।
आलोयणदोसेहिं, छहिं अपारोक्खविण्णाणा॥

४१५८. आलोयणागुणेहिं, छहिं य ठाणेहि जे अपारोक्खा।
पंचहि य नियंठेहिं, पंचहि य चरित्तमंतेहिं॥

आगमव्यवहारी कौन होता है—जो आचारवान् आदि आठ स्थानों में, व्रतषट्क आदि अठारह स्थानों में तथा दस प्रायश्चित्त स्थानों में प्रत्यक्षज्ञानी है तथा जो दश आलोचना के दोषों तथा छह काय अथवा व्रत आदि स्थानों में प्रत्यक्षज्ञानी है तथा जो आलोचना के दस गुणों तथा षट्स्थानपतित स्थानों में पांच प्रकार के निर्ग्रंथों तथा पांच प्रकार के चारित्रों में जो प्रत्यक्षज्ञानी है वह होता है आगमव्यवहारी।

४१५९. अट्ठायार व मादी, वयछक्कादी हवंति अट्ठरसा।
दसविधपायच्छित्ते, आलोयण दोसदसहिं वा॥

४१६०. छहि काएहि वतेहि व, गुणेहि आलोयणाय दसहिं च।
छट्ठाणवडितेहिं, छहि चेव तु जे अपारोक्खा॥

आलोचनार्ह के आचारवान् आदि आठ स्थान (गाथा ५२०), व्रतषट्क आदि अठारह स्थान दस प्रकार के प्रायश्चित्त (४१८०), आलोचना के दश दोष (५२३) व्रतषट्क तथा कायषट्क और आलोचना के दस गुणों (५२१, ५२२) तथा षट्स्थान पतित के छहों स्थानों—इन सबके जो प्रत्यक्षज्ञानी हैं, वे आगमव्यवहारी हैं।

४१६१. संखादीया ठाणा, छहि ठाणेहि पडियाण ठाणाणं।
जे संजया सरागा, सेसा एक्कम्मि ठाणम्मि॥

षट्स्थानपतित के ये छह स्थान हैं—१. अनंतभागवृद्धि २. असंख्यातभागवृद्धि ३. संख्यातभागवृद्धि ४. संख्यातगुणवृद्धि ५. असंख्यातगुणवृद्धि ६. अनंतगुणवृद्धि।

संयम के ये स्थान सराग संयतों में प्राप्त होते हैं। वीतराग संयत में एक ही स्थान पाया जाता है। वह है—परमप्रकर्षप्राप्त संयम-स्थान।[1] जो इन स्थानों के प्रत्यक्षज्ञाता हैं वे आगम-व्यवहारी हैं।

४१६२. एयागमववहारी, पण्णत्ता रागदोसणीहूया।
आणाय जिणिंदाणं, जे ववहारं ववहरंति॥

जो जिनेश्वरदेव की आज्ञा से व्यवहार का व्यवहरण करते हैं, वे राग-द्वेष से रहित होते हैं। वे आगमव्यवहारी प्रज्ञप्त हैं।

४१६३. एवं भणिते भणती, ते वोच्छिन्ना व संपय इहइं।
तेसु य वोच्छिन्नेसुं, नत्थि विसुद्धी चरित्तस्स॥

---

१. सरागसंयत ही षट्स्थानपतित संयमस्थानों में वर्तमान होते हैं। उनमें संख्यातीत संयमस्थान होते हैं। सरागसंयत में किसी का संयम-स्थान बढ़ता है, किसी का घटता है और किसी का बढ़ता-घटता है। वीतराग का चारित्र—संयमस्थान न बढ़ता है न घटता है, वह सदा अवस्थित रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४१६४. देंता वि न दीसंती, न वि य करेंता तु संपयं केई।
तित्थं च नाण-दंसण, निज्जवगा चेव वोच्छिन्ना॥

यह कहने पर जिज्ञासु कहता है—आगमव्यवहारी भरत क्षेत्र में वर्तमान में व्यवच्छिन्न हैं। उनके व्यवच्छेद से चारित्र की विशुद्धि नहीं है, उसका भी व्यवच्छेद हो गया। वर्तमान में कोई भी वैसा प्रायश्चित्त देने वाला या तथाविध प्रायश्चित्त करने वाला भी नहीं दीखता। वर्तमान में तीर्थ है—ज्ञान-दर्शनात्मक। चारित्र के निर्यापक—प्रायश्चित्त देकर विशोधि कराने वालों का ही व्यवच्छेद हो गया है।

४१६५. चोद्दसपुव्वधराणं, वोच्छेदो केवलीण वुच्छेदे।
केसिंची आदेसो, पायच्छित्तं पि वोच्छिन्नं॥

केवलज्ञानी का व्यवच्छेद होने पर (कुछ काल के पश्चात्) चौदहपूर्वधरों का भी व्यवच्छेद हो जाता है। (अतः शोधि कराने वालों के अभाव में चारित्र की शुद्धि नहीं होती।) किन्हीं आचार्यों का यह आदेश—मत है कि प्रायश्चित्त भी व्यवच्छिन्न हो गया है।

४१६६. जं जत्तिएण सुज्झति, पावं तस्स तध देंति पच्छित्तं।
जिणचोद्दसपुव्वधरा, तव्विवरीता जहिच्छाए॥

जिन तथा चतुर्दशपूर्वधर जो पाप जितने प्रायश्चित्त से शुद्ध होता है, वे उतना ही प्रायश्चित्त देते हैं। उनसे विपरीत अर्थात् जो आगमव्यवहारी नहीं हैं वे अपनी इच्छानुसार प्रायश्चित्त देते हैं।

४१६७. पारगमपारगं वा, जाणंते जस्स जं च करणिज्जं।
देति तहा पच्चक्खी, घुणक्खरसमो उ पारोक्खी॥

प्रत्यक्षज्ञानी—आगमव्यवहारी यह जानता है कि यह मुनि प्रायश्चित्त का पारगामी होगा और यह अपारगामी। जो जितना कर सकता है, यह जानकर वे उसको उतना ही देते हैं। (वे उसे पारगामी होने का उपाय भी बता देते हैं।) जो परोक्षज्ञानी हैं वह इच्छा से प्रायश्चित्त देता है। घुणाक्षर की भांति उससे पाप-विशुद्धि नहीं भी होती।

४१६८. जा य ऊणाहिए दाणे, वुत्ता मग्गविराधणा।
न सुज्झति वि देंतो उ, असुद्धो कं च सोधए॥

न्यून अथवा अधिक प्रायश्चित्त देने से मार्ग— मोक्षमार्ग की विराधना कही गई है। इससे दाता की शुद्धि नहीं होती। जो स्वयं अशुद्ध है वह दूसरे को कैसे शुद्ध कर सकता है?

४१६९. अत्थं पडुच्च सुत्तं, अणागतं तं तु किंचि आमुसति।
अत्थो वि कोइ सुत्तं, अणागयं चेव आमुसति॥

अर्थ की अपेक्षा से कुछ सूत्र अनागत होते हैं अर्थात् उन सूत्रों में वह अर्थ ज्ञातव्य नहीं होता। कुछ सूत्र अर्थ का पूरा स्पर्श करते हैं। कुछ अर्थ भी अनागत सूत्र का स्पर्श करते हैं। (इसके पूर्ण ज्ञाता होते हैं चतुर्दश पूर्वधर।)

४१७०. देंता वि न दीसंती, मास-चउम्मासिया उ सोधी उ।
कुणमाणे य विसोधिं, न पासिमो संपई केई॥

वर्तमान में मासिक, चातुर्मासिक प्रायश्चित्त देने वाले भी नहीं देखे जाते और न इस प्रकार विशोधि करने वाले कोई देखे जाते हैं।

४१७१. सोहिए य अभावे देंताण करेंतगाण य अभावे।
वट्टति संपति काले, तित्थं सम्मत्तनाणेहिं॥

प्रायश्चित्त के अभाव में प्रायश्चित्त देने वाले और करने वाले (लेने वाले) का भी अभाव है। इसलिए वर्तमान में तीर्थ सम्यक्त्व (दर्शन) और ज्ञान वाला है।

४१७२. एवं तु चोइयम्मी, आयरिओ भणति न हु तुमे नायं।
पच्छित्तं कहियं तू किं धरती किं व वोच्छिन्नं॥

इस प्रकार प्रश्न करने पर आचार्य कहते हैं—वत्स! तुम नहीं जानते कि प्रायश्चित्त कहां (किस ग्रंथ में) कहा गया है, वर्तमान में वह कितना है और कितना व्युच्छिन्न हो गया है?

४१७३. सव्वं पि य पच्छित्तं, पच्चक्खाणस्स ततियवत्थुम्मि।
तत्तो च्चिय निज्जूढं, पकप्पकप्पो य ववहारो॥

सारे प्रायश्चित्त नौवें प्रत्याख्यानपूर्व की तृतीय वस्तु में निबद्ध हैं। वहां से निर्यूहण कर उन प्रायश्चित्तों का प्रकल्प—निशीथ, कल्प तथा व्यवहार में प्रतिपादन किया है।

४१७४. सपदपरूवण अणुसज्जणा य दस चोद्दसट्ठ दुप्पसभे।
अत्थं न दीसइ धणिएण विणा तित्थं च निज्जवए॥

स्वपदप्ररूपणा, अनुषजना, दसप्रायश्चित्त चौदहपूर्वीतक, आठ प्रायश्चित्त दुःप्रसभ आचार्य तक, प्रायश्चित्त हैं, देने वाले नहीं देखे जाते, धनिक का दृष्टांत, तीर्थ निर्यापक है। (इस गाथा का विस्तृतार्थ अगली अनेक गाथाओं में।)

४१७५. पण्णवगस्स उ सपदं, पच्छित्तं चोदगस्स तमणिट्ठं।
तं संपयं पि विज्जति जधा तधा मे निसामेहि॥

प्रज्ञापक का स्वपद है प्रायश्चित्त जो पहले कहा जा चुका है। प्रश्नकर्ता को यह इष्ट नहीं है। वर्तमान में भी वह यथावद् विद्यमान है। तुम मुझे सुनो।

४१७६. पासायस्स उ निम्मं, लिहाविहं चित्तकारगेहिं जहा।
लीलविहूणं नवर, आगारो होति सो चेव॥

राजा ने अपने चित्रकारों से चक्रवर्ती के प्रासाद की अनुकृति फलक पर लिखाई, चित्रित कराई। वर्धकी ने तदनुरूप प्रासाद का निर्माण किया। आकार-प्रकार में चक्रवर्ती के प्रासाद जैसा होने पर भी वह लीलाविहीन था।

४१७७. भुंजति चक्की भोए, पासाए सिप्पिरयणनिम्मविते।
किंच न कारेति तधा, पासाए पागयजणो वि॥

चक्रवर्ती शिल्पीरत्न द्वारा निर्मित प्रासाद में भोग भोगता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। क्या प्राकृतजन–सामान्य राजा भी वैसे प्रासाद (महल) नहीं बनवाते ? (बनवाते ही हैं, चाहे वे उतने सुंदर न हों।)

४१७८. जह रूवादिविसेसा, परिहीणा होंति पागयजणस्स।
ण य ते ण होंति गेहा, एमेव इमं पि पासामो॥

यद्यपि प्राकृतजन के प्रासाद रूप आदि से विशेष नहीं होते (चक्रवर्ती के प्रासाद जैसे सुंदर और विशाल नहीं होते) फिर भी क्या वे गृह नहीं होते ? इसी प्रकार हम प्रायश्चित्त को भी उसी दृष्टि से देखते हैं।

४१७९. एमेव य पारोक्खी, तयाणुरूवं तु सो वि ववहरति।
किं पुण ववहरियव्वं, पायच्छित्तं इमं दसहा॥

इसी प्रकार वह परोक्षज्ञानी भी तदनुरूप अर्थात् प्रत्यक्षागमव्यवहारानुरूप व्यवहार का प्रयोग करता है। क्या व्यवहर्तव्य है इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया–यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त व्यवहर्त्तव्य है।

४१८०. आलोयण पडिकमणे, मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे।
तव-छेद-मूल अणवट्ठया य पारंचिए चेव॥

दश प्रकार का प्रायश्चित्त–आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र-आलोचना-प्रतिक्रमण दोनों, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य तथा पारांचित।

४१८१. दस ता अणुसज्जंती, जा चोद्दसपुव्वि पढमसंघयणं।
तेण परेणऽट्ठविधं, जा तित्थं ताव बोधव्वं॥

जब तक प्रथम संहनन और चतुर्दशपूर्वधरों का अस्तित्व है तब तक दशों प्रायश्चित्तों का अनुवर्तन होता है। उसके बाद जब तक तीर्थ का अस्तित्व रहता है तब तक आठ प्रायश्चित्तों (अनवस्थाप्य और पारांचित को छोड़कर) का अनुवर्तन ज्ञातव्य है।

४१८२. दोसु तु वोच्छिन्नेसुं, अट्ठविधं देंतया करेंता य।
न वि केई दीसंती, वदमाणे भारिया चउरो॥

दो प्रकार के प्रायश्चित्तों का व्यवच्छेद हो जाने पर आठ प्रकार के प्रायश्चित्तों को देने वाले और करने वाले (लेने वाले) कोई दिखाई नहीं देते। इस प्रकार कहने वाले को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

४१८३. दोसु वि वोच्छिन्नेसुं, अट्ठविधं देंतया करेंता य।
पच्चक्खं दीसंते, जधा तधा मे निसामेहि॥

आचार्य कहते हैं–अंतिम दोनों प्रायश्चित्तों का व्यवच्छेद हो जाने पर आठ प्रकार के प्रायश्चित्तदाता और ग्रहीता–दोनों देखे जाते हैं। मैं जैसे कहता हूं, वैसे तुम सुनो।

४१८४. पंचेव नियंठा खलु, पुलाग-बकुसा कुसीलनिग्गंथा।
तह य सिणाया तेसिं, पच्छित्त जधक्कमं वोच्छ॥

पांच प्रकार के निर्ग्रंथ हैं–पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक। इनके प्रायश्चित्तों का यथाक्रम निरूपण करूंगा।

४१८५. आलोयण पडिकमणे, मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे।
तत्तो तवे य छट्ठे, पच्छित्त पुलाग छप्पेते॥

पुलाक निर्ग्रंथ के छह प्रायश्चित्त ज्ञातव्य हैं–आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, तप और व्युत्सर्ग।

४१८६. बकुसपडिसेवगाणं, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि।
थेराण भवे कप्पे, जिणकप्पे अट्ठहा होति॥

बकुश और प्रतिसेवना कुशील–दोनों के सभी दस प्रायश्चित्त होते हैं। उनके स्थविर, जो जिनकल्प और यथालंदकल्प में स्थित हैं, उनके आठ (अंतिम दो रहित) प्रायश्चित्त होते हैं।

४१८७. आलोयणा विवेगो य, नियंठस्स दुवे भवे।
विवेगो य सिणातस्स, एमेया पडिवत्तिओ॥

निर्ग्रंथ के दो प्रायश्चित्त हैं–आलोलना और विवेक। स्नातकनिर्ग्रंथ के केवल एक ही प्रायश्चित्त है–विवेक। ये पुलाक आदि की प्रतिपत्तियां हैं।

४१८८. पंचेव संजता खलु, नातसुतेणं कधिय जिणवरेणं।
तेसिं पायच्छित्तं, अहक्कमं कित्तइस्सामि॥

ज्ञातपुत्र जिनवर ने पांच प्रकार के ही संयत बताए हैं। उनके प्रायश्चित्तों का निरूपण यथाक्रम करूंगा।

४१८९. सामाइसंजताणं, पच्छित्ता छेदमूलरहितऽट्ठा
थेराण जिणाणं पुण, तवमंतं छव्विधं होति॥

स्थविरकल्पी सामायिकसंयतों के छेद और मूल रहित आठ प्रायश्चित्त तथा जिनकल्पिकों, सामायिकसंयतों के तप पर्यंत छह प्रायश्चित्त होते हैं।

४१९०. छेदोवट्ठावणिए, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि।
थेराण जिणाणं पुण, मूलंतं अट्ठहा होति॥

छेदोपस्थापनीय स्थविरकल्पी मुनियों के सभी प्रायश्चित्त होते हैं। छेदोपस्थापनीय जिनकल्पिक के मूल प्रायश्चित्त पर्यंत आठ प्रायश्चित्त होते हैं।

४१९१. परिहारविसुद्धीए, मूलंता अट्ठ होंति पच्छित्ता।
थेराण जिणाणं पुण, छव्विध छेदादिवज्जं वा॥

परिहारविशुद्धि संयम में प्रवर्तमान स्थविरों के मूलांत आठ प्रायश्चित्त तथा जिनकल्पिकों के छेद आदि वर्ज्य छह प्रकार का प्रायश्चित्त है।

४१९२. आलोयणा विवेगे य, तइयं तु न विज्जती।
सुहुमे य संपराए अधक्खाए तधेव य॥

सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र में आलोचना और विवेक–ये दो ही प्रायश्चित्त होते हैं। तीसरा कोई प्रायश्चित्त नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४१९३. बउसपडिसेवगा खलु इत्तरि छेदा य संजता दोन्नि।
जा तित्थऽणुसज्जंती, अत्थि हु तेणं तु पच्छित्तं॥

बकुश और प्रतिसेवना कुशील तथा सामायिकचारित्री और छेदोपस्थाप्यचारित्री—ये तीर्थपर्यंत वर्तमान रहते हैं। इसलिए वर्तमान में भी प्रायश्चित्त है ही।

४१९४. जदि अत्थि न दीसंती, केइ करेंतत्थ धणियदिट्ठंतो।
संतमसंते विहिणा, मोयंता दो वि मुच्चंति॥

जिज्ञासु पूछता है—यदि प्रायश्चित्त है तो उसे करने वाले कोई नहीं दिखाई देते। यह क्यों? आचार्य कहते हैं—वे उपायों से उसका निर्वहन करते हैं, इसलिए दिखाई नहीं देते। यहां वणिक् (धनिक) का दृष्टांत ज्ञातव्य है। विभवसहित और विभवरहित—ये दोनों विधिपूर्वक मुक्त किए जाने पर ऋण से मुक्त हो सकते हैं।

४१९५. संतविभवो तु जाधे, मग्गति ताहे य देति तं सव्वं।
जो पुण असंतविभवो, तत्थ विसेसो इमो होति॥

धनिक के पास दो प्रकार के व्यक्ति ऋण लेते हैं। सद्विभव वणिक् वह होता है जो जब मांगा जाता है तब सारा ऋण चुका देता है। जो असद्विभव वाला वणिक् होता है, उसके लिए यह विशेष विधि है।

४१९६. निरवेक्खो तिण्णि चयति,
अप्पाण धणागमं च धारणगं।
सावेक्खो पुण रक्खति,
अप्पाण धणं च धारणगं॥

धनिक दो प्रकार के होते हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष। जो सापेक्ष होता है वह असद्विभव वाले से ऋण का धन उपाय से लेता है। वह तीनों का रक्षण करता है—स्वयं का, धन का और धारणक का। निरपेक्ष तीनों को गंवा देता है—स्वयं को, धन को और धारणक को।

४१९७. जो तु असंते विभवे, पाए घेत्तूण पडति पाडेणं।
सो अप्पाण धणं पि य, धारणगं चेव नासेति॥

निरपेक्ष धनिक है वह असद्विभव वाले के पैरों को पकड़कर नीचे गिर पड़ता है इससे वह स्वयं का, धन का और धारणक का—तीनों का नाश कर डालता है।

४१९८. जो पुण सहती कालं, सो अत्थं लभति रक्खती तं च।
न किलिस्सति य संय पी, एव उवाओ उ सव्वत्थ॥

जो धनिक ऋणधारक से ऋणप्राप्ति के काल को सहन करता है, वह ऋणधन को प्राप्त कर लेता है तथा धारणक की भी रक्षा करता है तथा स्वयं को भी क्लेश में नहीं डालता। इसलिए सर्वत्र उपाय करना चाहिए।

४१९९. जो उ धारेज्ज वद्धंतं, असंतविभवो सयं।
कुणमाणो य कम्मं तु, निवेसे करिसावणं॥

४२००. अणमप्पेण कालेण, सो तगं तु विमोयए।
दिट्ठंतेसो भणितो, अत्योवणओ इमो तस्स॥

जिस असद्विभव वाले व्यक्ति ने धनिक से सौ रूप्यक एक कार्षापण के ब्याज से ऊधार लिए हैं, वह धनिक के घर में गृहकार्य कर धनिक के कार्षापण का निवेश कर देता है। वह कुछ ही समय में ऋण से मुक्त हो जाता है। यह दृष्टांत कहा है और यह उसका अर्थोपनय है।

४२०१. संतविभवेहि तुल्ला, धितिसंघयणेहि जे उ संपन्ना।
ते आवन्ना सव्वं, वहंति निरणुग्गहं धीरा॥

जो मुनि धृति और संहनन से संपन्न हैं वे सद्विभव वणिक् के तुल्य होते हैं। वे धीर पुरुष प्राप्त सारे प्रायश्चित्त को अनुग्रहरहित होकर वहन करते हैं।

४२०२. संघयण-धितीहीणा, असंतविभवेहि होंति तुल्ला तु।
निरवेक्खो जदि तेसिं, देति ततो ते विणस्संति।

जो मुनि धृति और संहनन से हीन होते हैं वे असद्विभव वणिक् के तुल्य होते हैं। कोई निरपेक्ष होकर उनको प्रायश्चित्त देता है तो वे विनाश को प्राप्त हो जाते हैं।

४२०३. ते तेण परिच्चत्ता, लिंगविवेगं तु काउ वच्चंति।
तित्थुच्छेदो अप्पा, एगाणिय तेण चत्तो य॥

अथवा वे प्रायश्चित्त से भग्न होकर साधुवेश को छोड़कर चले जाते हैं। इस प्रकार वे प्रायश्चित्तदाता से परित्यक्त हो जाते हैं। एक-एक के त्याग से तीर्थ का उच्छेद हो जाता है। वह प्रायश्चित्तदाता स्वयं को एकाकी कर देता है और शनैः शनैः गच्छ भी परित्यक्त हो जाता है।

४२०४. सावेक्खो पवयणम्मि, अणवत्थपसंगवारणाकुसलो।
चारित्तरक्खणट्ठं, अव्वोच्छित्तीय तु विसुज्झो॥

जो आचार्य प्रवचन—तीर्थ के प्रति सापेक्ष होता है, अनवस्था के प्रसंग के निवारण में कुशल होता है, वह चारित्र की रक्षा करने में समर्थ होता है तथा तीर्थ की अविच्छित्ति के उपायों को साध लेता है।

४२०५. कल्लाणगमावन्ने, अतरंत जहक्कमेण काउं जो।
दस कारेंति चउत्थे, तब्बिगुणायंबिलतवे व॥
४२०६. एक्कासणपुरिमड्ढा, निव्विगती चेव बिगुणबिगुणा य।
पत्तेयाऽसहु दाउं, कारेंति व सन्निगासं तु॥

जिनके प्रायश्चित्त स्वरूप पंच कल्याणक (पांच उपवास, पांच आचाम्ल, पांच एकाशन, पांच पूर्वार्ध तथा पांच निर्विकृतिक) आए हैं और वे यदि इनकी क्रमशः अनुपालना नहीं कर सकते तो उनको इनके बदले दस उपवास कराते हैं। यह भी करने में असमर्थ हों तो द्विगुणित आचाम्ल अर्थात् बीस आचाम्ल कराते हैं। इसी प्रकार दुगुने एकाशन (४० एकाशन),

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे दुगुने पूर्वार्ध (८० पूर्वार्ध), इससे दुगुने निर्विकृतिक (१६० निर्विकृतिक) कराते हैं। जो प्रायश्चित्त प्राप्त व्यक्ति पंच कल्याणक को अव्यवच्छित्ति से करने में समर्थ न हो तो, उसके प्रायश्चित्त के सन्निकाश–सदृश कोई दूसरा कराते हैं। (इसका तात्पर्य है कि किसी को पंचकल्याणक का प्रायश्चित्त प्राप्त है। वह पहले, दूसरे, तीसरे कल्याण के किसी एक के आगे के कल्याणकों को क्रमशः करता है फिर शेष को आचाम्ल की विधि के अनुसार पूरा करता है।)

४२०७. चउ-तिग-दुगकल्लाणं, एगं कल्लाणगं च कारेती।
जं जो उ तरति तं तस्स, देंत असहुस्स भासेंती॥

जो पंचकल्याणक को यथाक्रम करने में समर्थ न हो तो उससे चार, तीन, दो अथवा एक कल्याणक ही कराते हैं। जो मुनि जिस कल्याणक को करने में समर्थ होता है उसे वह देते हैं। जो एक कल्याणक करने में भी समर्थ न हो तो उसको कहकर सारा प्रायश्चित्त क्षमा कर देते हैं। (अथवा एक उपवास, एक आचाम्ल अथवा एक एकाशन आदि देते हैं।)

४२०८. एवं सदयं दिज्जति, जेणं सो संजमे थिरो होति।
न य सव्वहा न दिज्जति, अणवत्थपसंगदोसाओ॥

इस प्रकार प्रायश्चित्तदाता सानुकंप होकर उसे प्रायश्चित्त देते हैं, जिससे वह संयम में स्थिर रह सके। यह नहीं होता कि सर्वथा प्रायश्चित्त नहीं देते। इससे अनवस्थादोष का प्रसंग प्राप्त होता है।

४२०९. दिट्ठंतो तेणएण, पसंगदोसेण जध वहं पत्तो।
पावंति अणंताइं, मरणाइ अवारियपसंगा॥

अनवस्थादोष के प्रसंग में चोर बालक का दृष्टांत है। उस बालक का वध कर डाला। इसी प्रकार प्रसंग का निवारण न करने वाले अनेक मरणों को प्राप्त होते हैं।

४२१०. निब्भच्छणाति बितियाय,वारितो जीवियाण आभागी।
नेव य थणछेदादी,पत्ता जणणी य अवराहं॥

४२११. इय अणिवारितदोसा, संसारे दुक्खसागरमुवेंती।
विणियत्तपसंगा खलु, करेंति संसारवोच्छेदं॥

दूसरे बालक की निर्भर्त्सना कर उसे चोरी करने से निवारित किया। वह जीवित रहकर सुखों का उपभोक्ता बना तथा जननी भी स्तनच्छेद आदि अपराध को प्राप्त नहीं हुई। दोषों का वर्जन न करने पर जीव संसार में दुःखसागर में गिरते हैं और दोषों के प्रसंग का वर्जन करने पर जीव संसार का व्यवच्छेद कर डालते हैं।

४२१२. एवं धरती सोही, देंत करेंता वि एव दीसंति।
जं पि य दंसणनाणेहि, जाति तित्थं ति तं सुणसु॥

इस प्रकार शोधि–प्रायश्चित्त भी है और उसको देने वाले और करने वाले भी ऐसे देखे जाते हैं। यह जो कहा गया कि तीर्थ ज्ञान-दर्शनयुक्त ही है, इस विषय में सुनो।

४२१३. एवं तु भणंतेणं, सेणियमादी वि थाविया समणा।
समणस्स य जुत्तस्स य, नत्थी नरएसु उववाओ॥

इस प्रकार कहने वाले तुमने श्रेणिक आदि को भी श्रमण व्यवस्थापित कर दिया। श्रमणगुणों से युक्त श्रमण का नरक आदि में उपपात नहीं होता।

४२१४. जं पि य हु एक्कवीसं, वाससहस्साणि होहितो तित्थं।
ते मिच्छासिद्धी वी, सव्वगतीसुं व होज्जाहि॥

सूत्रों में कहा गया है कि तीर्थ का अनुवर्तन इक्कीस हजार वर्षों तक होगा। यह कथन भी मिथ्या हो जाएगा। 'ज्ञान-दर्शनयुक्त तीर्थ है'–यह कहने पर सभी गतियों में सम्यग्ज्ञान-दर्शनयुक्त जीवों का अस्तित्व रहता है।

४२१५. पायच्छित्ते असंतम्मि, चरित्तं पि न वट्टति।
चरित्तम्मि असंतम्मि, तित्थे नो सचरित्तया॥

प्रायश्चित्त के अभाव में चारित्र भी नहीं रहता। चारित्र के अभाव में तीर्थ की सच्चरित्रता नहीं होती।

४२१६. अचरित्ताय तित्थस्स, निव्वाणम्मि न गच्छति।
निव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वा दिक्खा निरत्थया॥

तीर्थ की अचरित्रता से साधु निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। निर्वाण के अभाव में सारी दीक्षा निरर्थक हो जाती है।

४२१७. न विणा तित्थं नियंठेहिं, नियंठा व अतित्थगा।
छक्कायसंजमो जाव, तावऽणुसज्जणा दोण्हं॥

निर्ग्रंथों के बिना तीर्थ नहीं होता। तीर्थ के बिना निर्ग्रंथ भी अतीर्थिक हो जाते हैं। जब तक षट्कायसंयम है तब तक दोनों–संयम और निर्ग्रंथ की अनुवर्तना है।

४२१८. सव्वण्णूहि परूविय, छक्काय-महव्वया य समितीओ।
सच्चेव य पण्णवणा, संपयकाले वि साधूणं॥

४२१९. तं णो वच्चति तित्थं, दंसण-नाणेहि एव सिद्धं तु।
निज्जवगा वोच्छिन्ना, जं पि य भणियं तु तं न तधा॥

सर्वज्ञों ने छहकाय की रक्षा के लिए महाव्रतों तथा समितियों की प्ररूपणा की। वर्तमान काल में भी साधुओं की वही प्ररूपणा है। तब यह सिद्ध नहीं होता कि ज्ञान-दर्शन से तीर्थ चलता है। यह जो कहा जाता है कि निर्यापक व्यवच्छिन्न हो गए हैं, वह भी वैसे नहीं है।

४२२०. सुण जध निज्जवगऽत्थी,
दीसंति जहां य निज्जविज्जंता।
इह दुविधा निज्जवगा,
अत्ताण परे य बोधव्वा॥

जहां निर्यापक देखे जाते हैं वहां निर्याप्यमान भी होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्यापक दो प्रकार के हैं—आत्मनिर्यापक तथा परनिर्यापक।

४२२१. पादोवगमे इंगिणि, दुविधा खलु होंति आयनिज्जवगा।
निज्जवणा य परेण व, भत्तपरिण्णाय बोधव्वा॥

आत्मनिर्यापक दो प्रकार के होते हैं—प्रायोगमन तथा इंगिनी अनशन करने वाले। परनिर्यापक भक्तपरिज्ञा अनशन में होते हैं।

४२२२. पादोवगमे इंगिणी, दोन्नि व चिट्ठंतु ताव मरणाइं।
भत्तपरिण्णाय विधिं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

प्रायोपगमन और इंगिनी—ये दोनों भावमरण हैं। अब मैं पहले भक्तपरिज्ञा के विषय में यथानुपूर्वीरूप में कहूंगा।

४२२३. पव्वज्जादी काउं, नेयव्वं ताव जाव ऽवोच्छित्ती।
पंच तुलेऊणऽप्पा, भत्तपरिण्णं परिणतो उ॥

प्रव्रज्या से लेकर जीवन की अव्यवच्छित्ति— मरणकाल तक साधना ले जाए।[1] अंत समय में अपनी आत्मा को पांच तुलाओं से तोलकर भक्तपरिज्ञा अनशन के प्रति परिणत हो।

४२२४. सपरक्कमे य अपरक्कमे य वाघाय आणुपुव्वीए।
सुत्तत्थजाणएणं, समाहिमरणं तु कायव्वं॥

भक्तपरिज्ञामरण के दो प्रकार हैं—सपराक्रम और अपराक्रम। सपराक्रम के दो प्रकार हैं—व्याघातिम और निर्व्याघातिम। व्याघात उपस्थित होने पर अथवा न होने पर सूत्रार्थ के ज्ञाता मुनि को अनुपूर्वी से (देखें ४२२८-३०) समाधिमरण का वरण करना चाहिए।

४२२५. भिक्ख-वियारसमत्थो, जो अन्नगणं च गंतु वाएति।
एस सपरक्कमो खलु, तव्विवरीतो भवे इतरो॥

जो भिक्षाचर्या करने में तथा विचारभूमी में जाने में समर्थ हो तथा जो अन्य गण में जाकर वाचना देता हो, उसका सपराक्रम भक्तप्रत्याख्यान अनशन होता है। इससे विपरीत जो भिक्षा आदि में असमर्थ होता है, वह अपराक्रम भक्तप्रत्याख्यान अनशन कहलाता है।

४२२६. एक्केक्कं तं दुविधं, निव्वाघातं तधेव वाघातं।
वाघातो वि य दुविहो, कालऽतियारो य इतरो वा॥

प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—निर्व्याघात और व्याघात। व्याघात के भी दो प्रकार हैं—कालातिचार तथा काल अनतिचार। (कालातिचार अर्थात् जो काल का अतिक्रमण कर देता है, काल को सहता है। काल अनतिचार अर्थात् जो कालसह नहीं होता, तत्काल मरण की वांछा करता है।)

४२२७. तं पुण अणुगंतव्वं, दारेहि इमेहि आणुपुव्वीए।
गणनिसरणादिएहिं, तेसि विभागं तु वुच्छामि॥

उनका गणनिःसरण आदि द्वारों से क्रमशः अनुगमन करना चाहिए। उनके विभाग मैं कहूंगा।

४२२८. गणनिसरणे परगणे, सिति संलेहो अगीतऽसंविग्गे।
एगाभोगण अन्ने, अणपुच्छ-परिच्छ आलोए॥

४२२९. ठाण-वसधीपसत्थे, निज्जवगा दव्वदावणं चरिमे।
हाणऽपरितंत निज्जर, संथारुव्वत्तणादीणि॥

४२३०. सारेऊण य कवयं, निव्वाघातेण चिंधकरणं व।
अंतोबहिवाघातो, भत्तपरिण्णाय कायव्वो॥

गणनिःसरण, परगणगमन, सिति—निःश्रेणी, संलेखना, अगीतार्थ, असंविग्न, एक निर्यापक, आभोजन, अन्य, अनापृच्छा, परीक्षा, आलोचना, स्थान, वसति, निर्यापक, द्रव्यदर्शन, चरमकाल, हानि, अपरिश्रांत, निर्जरा, संस्तारक, उद्वर्तना आदि, स्मारणा, कवच, निर्व्याघात, चिन्हकरण, अंतर्-बहि व्याघात, भक्तपरिज्ञा उपाय करना चाहिए। (इन तीनों गाथाओं का विवरण आगे की गाथाओं में।)

४२३१. गणनिसरणम्मि उ विधी,
जो कप्पे वण्णितो उ सत्तविहो।
सो चेव निरवसेसो,
भत्तपरिण्णाय दसमम्मि॥

गणनिःसरण की (सात प्रकार की) जो विधि कल्पाध्ययन में संक्षेप में वर्णित है, वही व्यवहार के दसवें उद्देशक में निरवशेषरूप में ज्ञातव्य है।

४२३२. किं कारणऽवक्कमणं, थेराण इहं तवो किलंताणं।
अब्भुज्जयम्मि मरणे, कालुणिया झाणवाघातो॥

४२३३. सगणे आणाहाणी, अप्पत्तिय होति एवमादीयं।
परगणे गुरुकुलवासो, अप्पत्तियवज्जितो होति॥

परगण के आचार्य ने पूछा—आप स्थविर हैं। आप संलेखनातप आदि से क्लांत तथा अपने गण में अभ्युद्यतमरण—भक्तपरिज्ञा को स्वीकार कर चुके हैं। फिर इस गण में आने का क्या कारण है? आचार्य ने कहा—(मेरे अनशन स्वीकार कर लेने के कारण शिष्यों का रुदन और अश्रुपात देखकर) मेरे मन में शिष्यों के प्रति करुणा उत्पन्न होती है। इससे ध्यान में व्याघात होता है। इसलिए परगणगमन किया है तथा अपने गण में आचार्य की आज्ञा की हानि (भंग) तथा मुनियों में अप्रीति आदि को देखकर, उसे ध्यान का व्याघात समझकर गणापक्रमण किया है। परगण के गुरुकुलवास से अप्रीति का परिहार हो जाता है। (परगण का गुरुकुलवास अप्रीतिवर्जित होता है।)

४२३४. उवगरणगणनिमित्तं, तु वुग्गहं दिस्स वावि गणभेदं।
बालादी थेराणं व, उचियाकरणम्मि वाघातो॥

१. प्रव्रज्या के पश्चात् ग्रहण-आसेवन शिक्षा, पश्चात् पांच महाव्रतों की साधना, सूत्र और अर्थ का ग्रहण, नियतवास, गच्छ की निष्पत्ति—इतना करने के पश्चात् अनशनपूर्वक मृत्यु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपकरण तथा गण (पक्ष) के निमित्त व्युद्ग्रह–कलह तथा गणभेद को देखकर तथा बाल आदि और स्थविरों की उचित वैयावृत्त्य की उपेक्षा देखकर अप्रीति होती है और उससे ध्यान का व्याघात होता हैं।

४२३५. सिणेहो पेलवी होति, निग्गते उभयस्स वि।
आहच्च वावि वाघाते, णो सेहादि विउब्भमो॥

स्वगण से निर्गत हो जाने पर आचार्य और गण– दोनों का परस्पर स्नेह पेलव–कम हो जाता है। भक्तपरिज्ञा में व्याघात देखकर शैक्ष मुनियों का व्युद्गम अथवा विपरिणाम भी हो सकता है।

४२३६. दव्वसिती भावसिती, अणुयोगधराण जेसिमुवलद्धा।
न हु उड्ढगमणकज्जे, हेट्ठिल्लपदं पसंसंति॥

४२३७. संजमठाणाणं कंडगाण लेसाठितीविसेसाणं।
उवरिल्लपरक्कमणं, भावसिती केवलं जाव॥

निःश्रेणी के दो प्रकार हैं–द्रव्यनिःश्रेणी तथा भावनिःश्रेणी। द्रव्यनिःश्रेणी मकान आदि के ऊपर-नीचे चढ़ने-उतरने के लिए होती है। भावनिःश्रेणी भावों के उतार-चढ़ाव की द्योतक है। जिन अनुयोगधर आचार्यों को यह निःश्रेणी उपलब्ध है, वे ऊर्ध्वगमन के कार्य में अधस्तन की प्रशंसा करते। वे संयमस्थानों, संयमकंडकों, जो लेश्या के परिणाम विशेष हैं, उनमें ऊपर से ऊपर क्रमण करते हुए यावत् केवलज्ञान तक पहुंच जाते हैं। यह भावशीति अर्थात् भावनिःश्रेणी है।

४२३८. उक्कोसा य जहन्ना, दुविहा संलेहणा समासेण।
छम्मासा उ जहन्ना, उक्कोसा बारससमा उ॥

संलेखना के दो भेद हैं–जघन्य और उत्कृष्ट। जघन्य संलेखना का कालमान है छहमास और उत्कृष्ट संलेखना का कालमान है–बारह वर्ष।

४२३९. चिट्ठतु जहण्ण मज्झा, उक्कोसं तत्थ ताव वोच्छामि।
जं संलिहिऊण मुणी, साहेंती अत्तणो अत्थं॥

जघन्य और उत्कृष्ट के मध्य में उत्कृष्ट का कथन करूंगा जिससे मुनि आत्मा का संलेखन कर आत्मा का अर्थ–प्रयोजन को सिद्ध करते हैं।

४२४०. चत्तारि विचित्ताइं, विगतीनिज्जूहिताणि चत्तारि।
एगंतरमायामे, णाति विगिट्ठे विगिट्ठे य॥

मुनि चार वर्षों तक विचित्र तप (कभी उपवास, कभी बेला, कभी तेला, चोला, पंचोला आदि) करता है। फिर चार वर्ष विचित्र तप करता हुआ पारणक में विकृति ग्रहण नहीं करता। इसके पश्चात् दो वर्षों तक एकांतर तप करता है तथा आचाम्ल से पारण करता है। ग्यारहवें वर्ष में अतिविकृष्ट तप नहीं करता, उपवास बेला आदि कर आचाम्ल करता है, उसमें परिमित खाता है। फिर बारहवें वर्ष में विकृष्ट तप कर पारणक के आचाम्ल में भरपेट खाता है।

४२४१. संवच्छराणि चउरो, होति विचित्तं चउत्थमादीयं।
काऊण सव्वगुणितं, पारेती उग्गमविसुद्धं॥

संलेखना करने वाला पहले चार वर्षों में उपवास आदि विचित्र तप करता है और उद्गम विशुद्ध सर्वगुणित शुद्ध आहार से पारणा करता है।

४२४२. पुणरवि चउरण्णे तू, विचित्त काऊण विगतिवज्जं तु।
पारेति सो महप्पा, णिद्धं पणियं च वज्जेती॥

पुनः चार वर्षों तक वह महात्मा मुनि विचित्र तप करता है और पारणक में विकृति नहीं लेता। उसमें भी स्निग्ध और प्रणीत आहार का वर्जन करता है।

४२४३. अण्णा दोन्नि समाओ, चउत्थ काऊण पारि आयामं।
कंजीएणं तु ततो, अण्णेक्कसमं इमं कुणति॥

आगे दो वर्ष उपवास करता है और आचाम्ल से पारणा करता है। फिर अन्य एक वर्ष उपवास का पारणक काञ्जी के आचाम्ल से करता है।

४२४४. तत्थेक्कं छम्मासं, चउत्थ छट्ठं व काउ पारेति।
आयंबिलेण नियमा, बितिए छम्मासिय विगिट्ठं॥

४२४५. अट्ठम-दसम-दुवालस, काऊणायंबिलेण पारेति।
अन्नेक्कहायणं तू, कोडीसहियं तु काऊण॥

४२४६. आयंबिल उसिणोदेण, पारे हावेंत आणुपुव्वीए।
जह दीवे तेल्लवत्ति, खओ समं तह सरीरायुं॥

ग्यारहवें वर्ष के पहले छह महीनों तक उपवास अथवा बेला कर नियमतः आचाम्ल से पारणा करता है। दूसरे छह महीनों में विकृष्ट तप–तेला अथवा चोला अथवा पंचोला कर आचाम्ल से पारणा करता है। अन्य एक वर्ष– बारहवें वर्ष में कोटिसहित तप कर आचाम्ल अथवा उष्णोदक से पारणा करता है तथा क्रमशः एक-एक कवल कम करता है। जैसे दीपक में तेल और बाती–दोनों एकसाथ क्षीण हो जाते हैं वैसे ही शरीर और आयुष्य एक साथ क्षीण हो जाते हैं।

४२४७. पच्छिल्लहायणे तू, चउरो धारेंतु तेल्लगंडूसं।
निसिरे खेल्लमल्लम्मि किं कारणं गल्लधरणं तु॥

४२४८. लुक्खत्ता मुहजंतं, मा हु खुभेज्ज तेण धारेति।
मा हु नमोक्कारस्स, अपच्चलो सो हविज्जाहि॥

पश्चिम–अंतिम अर्थात् बारहवें वर्ष के अंतिम चार महीनों में प्रत्येक पारणक में एक चुल्लूभर तेल मुंह में धारण करे। फिर उसको खेलमल्लक (श्लेष्मपात्र) में विसर्जित कर दे। प्रश्न होता है कि गले में तेल धारणा करने का प्रयोजन क्या है? उत्तर है–रूक्ष होने के कारण मुखयंत्र क्षुब्ध न हो जाए, सिकुड़ न जाए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा वह नमस्कार मंत्र का उच्चारण करने में असमर्थ न हो जाए, इसलिए मुंह में तेल धारण किया जाता है।

४२४९. उक्कोसिगा उ एसा, संलेहा मज्झिमा जहन्ना य।
संवच्छर छम्मासा, एमेव य मासपक्खेहिं॥

यह उत्कृष्ट संलेखना का कथन है। मध्यम संलेखना संवत्सरप्रमाण की होती है। उसकी विधि पूर्वोक्त ही है। जघन्य संलेखना छह मास की अर्थात् बारहपक्षों की होती है। मध्यम और जघन्य संलेखना में वर्षों के स्थान में मास और पक्षों की स्थापना कर तपोविधि पूर्ववत् करनी चाहिए।

४२५०. एत्तो एगतरेणं, संलेहणं तु खवेत्तु अप्पाणं।
कुज्जा भत्तपरिण्णं, इंगिणि पाओवगमणं वा॥

उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य—इन तीन प्रकार की संलेखनाओं में से किसी एक प्रकार की संलेखना से अपने आपको क्षीण कर भक्तपरिज्ञा अथवा इंगिनी अथवा प्रायोपगमन मरण का उपक्रम करे।

४२५१. अग्गीतसगासम्मी, भत्तपरिण्णं तु जो करेज्जाही।
चउगुरुगा तस्स भवे, किं कारणं जेणिमे दोसा॥

जो मुनि अगीतार्थ के पास भक्तपरिज्ञा ग्रहण करता है, उसको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसका कारण यह है कि उससे ये दोष उत्पन्न होते हैं।

४२५२. नासेति अगीयत्थो, चउरंगं सव्वलोगसारंगं।
नट्ठम्मि य चउरंगे, न हु सुलभं होति चउरंगं॥

अगीतार्थ सर्वलोक का सारभूत अंग—चतुरंग का नाश कर देता है। चतुरंग के नष्ट हो जाने पर पुनः उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं होती।

४२५३. किं पुण तं चउरंगं, जं नट्ठं दुल्लभं पुणो होति ?।
माणुस्सं धम्मसुती, सद्धा तव संजमे विरियं॥

वे चार अंग कौन से हैं जिनके नष्ट हो जाने पर पुनः उनकी प्राप्ति दुर्लभ होती है? वे चार अंग हैं, वह चतुरंग है—मानुषत्व, धर्मश्रुति, श्रद्धा तथा तप और संयम में वीर्य— पराक्रम।

४२५४. किह नासेति अगीतो, पढमबितियएहि अद्दितो सो उ।
ओभासे कालियाए, तो निद्धम्मो त्ति छड्डेज्जा॥

अगीतार्थ चतुरंग का नाश कैसे करता है? आचार्य कहते हैं—वह भक्तप्रत्याख्याता प्रथम-द्वितीय परीषह से पीड़ित होकर कदाचित् कालिका—रात्री में भक्तपान की याचना करे। यह सुनकर अगीतार्थ उसे निर्धर्मा (असंयतभूत) समझकर छोड़ दे, चला जाए।

४२५५. अंतो वा बाहिं वा, दिवा य रातो या सो विवित्तो उ।
अट्ट-दुहट्ट-वसट्टो, पडिगमणादीणि कुज्जाहि॥

उस अगीतार्थ के द्वारा उपाश्रय के भीतर अथवा बाहर, रात में अथवा दिन में वह भक्तप्रत्याख्याता त्यक्त हो जाता है तो संभवतः वह आर्त्त, दुःखार्त्त और वशार्त्त होकर प्रतिगमन कर—व्रत का भंग कर, चला जाए।

४२५६. मरिऊण-अट्टझाणो, गच्छे तिरिएसु वणयरेसुं वा।
संभरिऊण य रुट्ठो, पडिणीयत्तं करेज्जाहि॥

वह आर्त्तध्यान में मरकर तिर्यंचयोनि में अथवा वनचर—वानमंतर देवों में उत्पन्न होता है। वह जातिस्मृति से पूर्वभव का स्मरण कर, रुष्ट होकर अनेक प्रकार से शत्रुता का पोषण करता है, प्रतिशोध लेता है।

४२५७. अधवावि सव्वरीए, मायं दिज्जाहि जायमाणस्स।
सो दंडियादि होज्जा, रुट्ठो सो निवादीणं॥

४२५८. कुज्ज कुलादिपत्थारं, सो वा रुट्ठो तु गच्छे मिच्छत्तं।
तप्पच्चयं च दीहं, भमेज्ज संसारकंतारं॥

भक्तप्रत्याख्याता रात्री में पानी मांगता है तो अगीतार्थ उसे प्रस्रवण देता है। वह अनशनी दंडिक आदि हो तो रुष्ट होकर राजा आदि को निवेदन कर देता है। राजा भी रुष्ट होकर कुल आदि का नाश कर देता है। वह अनशनी मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है और मिथ्यात्वप्रत्ययिक (मिथ्यात्व के फलस्वरूप) संसार रूपी अटवी में वह दीर्घकाल तक भ्रमण करता है।

४२५९. सो उ विविंचिय दिट्ठो, संविग्गेहिं तु अन्नसाधूहिं।
आसासियमणुसिट्ठो, मरण जढ पुणो वि पडिवन्नं॥

अगीतार्थ मुनि उस प्रत्याख्याता मुनि का परित्याग कर देता है। अन्य संविग्न अर्थात् गीतार्थ मुनियों ने उसे देखा, आश्वासन दिया और शिक्षा देकर उसके उत्साह को बढ़ाया। उसने पुनः अभ्युद्यतमरण स्वीकार कर लिया।

४२६०. एते अन्ने य तहिं, बहवे दोसा य पच्चवाया य।
एतेहि कारणेहिं, अगीते न कप्पति परिण्णा॥

अगीतार्थ के पास भक्तप्रत्याख्यान करने पर ये तथा अन्य दोष तथा प्रत्यवाय[1] उत्पन्न होते हैं। इन कारणों से अगीतार्थ के पास भक्तपरिज्ञा ग्रहण करना नहीं कल्पता।

४२६१. पंच व छस्सत्तसते, अधवा एत्तो वि सातिरेगतरे।
गीतत्थपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो॥

अतः पांच सौ, छह सौ, सात सौ अथवा इनसे भी अधिक योजनों तक अपरिश्रांत होकर गीतार्थ की सन्निधि प्राप्त करने के लिए उसकी मार्गणा करे, खोज करे।

४२६२. एक्कं व दो व तिन्नि व, उक्कोसं बारसेव वासाणि।
गीतत्थपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो॥

मुनि एक, दो, तीन अथवा उत्कृष्टतः बारह वर्षों तक

१. असमाधिमरण, तिर्यंचयोनि तथा वानव्यंतर में उत्पत्ति—ये सारे प्रत्यवाय हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिश्रांत होता हुआ गीतार्थ की सन्निधि प्राप्त करने की चेष्टा करे।

४२६३. गीतत्थदुल्लभं खलु कालं तु पडुच्च मग्गणा एसा।
ते खलु गवेसमाणा, खेत्ते काले य परिमाणं॥

गीतार्थ की दुर्लभता के काल की अपेक्षा से यह (क्षेत्रतः कालतः) मार्गणा कही गई है। गीतार्थ की गवेषणा के ये क्षेत्र-विषयक तथा कालविषयक उत्कृष्ट परिमाण हैं।

४२६४. तम्हा गीतत्थेणं, पवयणगहियत्थसव्वसारेणं।
निज्जवगेण समाधी, कायव्वा उत्तिमट्ठम्मि॥

इसलिए प्रवचन का सर्वसारग्राही गीतार्थ मुनि निर्यापक अवस्था में उत्तमार्थ–भक्तप्रत्याख्याता को समाधि दे।

४२६५. असंविग्गसमीवे वि, पडिवज्जंतस्स होंति गुरुगा उ।
किं कारणं तु जहियं, जम्हा दोसा हवंति इमे॥

असंविग्न के समीप भक्तपरिज्ञा ग्रहण करने वाले के चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसका कारण क्या है? आचार्य कहते हैं–उसमें ये दोष होते हैं–

४२६६. नासेति असंविग्गो, चउरंगं सव्वलोयसारंगं।
नट्ठम्मि उ चउरंगे, न हु सुलभं होति चउरंगं॥

असंविग्न मुनि सर्वलोक का सारभूत अंग–चतुरंग का नाश कर देता है। चतुरंग के नष्ट हो जाने पर पुनः उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं होती।

४२६७. आहाकम्मिय पाणग, पुप्फा सेया य बहुजणे णातं।
सेज्जा-संथारो वि य, उवधी वि य होति अविसुद्धो॥

असंविग्न निर्यापक बहुत लोगों को ज्ञात कर देता है और प्रत्याख्याता के लिए आधाकर्मिक पानक, पुष्प, आदि ले आता है तथा शरीर पर चंदन आदि का सेचन करता है। तथा उसके द्वारा लाए गए शय्या, संस्तारक, उपधि आदि भी अविशुद्ध होते हैं।

४२६८. एते अन्ने य तहिं, बहवे दोसा य पच्चवाया य।
एतेण कारणेणं, असंविग्गे न कप्पति परिण्णा॥

असंविग्न के पास भक्तप्रत्याख्यान ग्रहण करने पर ये तथा अन्य दोष और प्रत्यवाय उत्पन्न होते हैं। इन कारणों से असंविग्न के पास भक्तपरिज्ञा ग्रहण करना नहीं कल्पता।

४२६९. पंच व छस्सत्तसया, अहवा एत्तो वि सातिरेगतरे।
संविग्गपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो॥

अतः पांच सौ, छह सौ, सात सौ तथा इनसे भी अधिक योजनों तक अपरिश्रांत होकर संविग्न की सन्निधि प्राप्त करने के लिए उसकी मार्गणा करनी चाहिए।

४२७०. एक्कं व दो व तिण्णि व, उक्कोसं बारसेव वासाणि।
संविग्गपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो॥

मुनि एक, दो, तीन अथवा उत्कृष्टतः बारह वर्षों तक अपरिश्रांत होता हुआ संविग्न की सन्निधि प्राप्त करने के लिए उसकी मार्गणा करे।

४२७१. संविग्गदुल्लभं खलु, कालं तु पडुच्च मग्गणा एसा।
ते खलु गवेसमाणा, खेत्ते काले य परिमाणं॥

संविग्न की दुर्लभता के काल की अपेक्षा से यह मार्गणा कही गई है। संविग्न की गवेषणा के ये क्षेत्रविषयक तथा कालविषयक उत्कृष्ट परिमाण हैं।

४२७२. तम्हा संविग्गेणं, पवयणगहितत्थसव्वसारेणं।
निज्जवगेण समाही, कायव्वा उत्तमट्ठम्मि॥

इसलिए प्रवचन का सर्वसारग्राही संविग्न मुनि निर्यापक अवस्था में उत्तमार्थ–भक्तप्रत्याख्याता को समाधि उत्पन्न करे।

४२७३. एक्कम्मि उ निज्जवगे, विराहणा होति कज्जहाणी य।
सो सेहा वि य चत्ता, पावयणं चेव उड्डाहो॥

एक ही निर्यापक होने से विराधना तथा कार्यहानि होती है। (वह निर्यापक मृत्युवेला में कार्यवश कहीं गया हो तो) वह अनशनी त्यक्त हो जाता है तथा शैक्ष भी त्यक्त हो जाते हैं और प्रवचन का उड्डाह होता है।

४२७४. तस्सट्ठगतोभासण, सेहादि अदाण सो परिच्चत्तो।
दातुं व अदाउं वा, भवंति सेहा वि निद्धम्मा॥

निर्यापक भक्तप्रत्याख्याता के लिए पानक आदि लाने गया। अनशनी के पास एक अव्यक्त शैक्ष बैठा है। अनशनी ने उससे भक्त की याचना की। न देने पर असमाधि से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वह परित्यक्त हो गया। शैक्ष उसको भक्तपान दे अथवा न दे, फिर भी वे निर्धर्मा हो जाते हैं–उनके मन में प्रत्याख्यान के प्रति विचिकित्सा पैदा हो जाती है।

४२७५. कूयति अदिज्जमाणे, मारेंति बल त्ति पवयणं चत्तं।
सेहा य जे पडिगया, जणे अवण्णं पगासेंति॥

भक्त न देने पर वह अनशनी चिल्लाते हुए कहता है–'ये मुझे बलपूर्वक मार रहे हैं।' इस प्रकार प्रवचन त्यक्त हो जाता है, उसकी अवहेलना होती है। शैक्षों के प्रतिगत–प्रतिभग्न हो जाने पर वे जनता में अवज्ञा फैलाते हैं।

४२७६. परतो सयं व णच्चा, पारगमिच्छंतिऽपारगे गुरुगा।
असती खेमसुभिक्खे, निव्वाघातेण पडिवत्ती॥

कोई मुनि भक्तप्रत्याख्यान करने आता है तो आचार्य को चाहिए कि वे स्वयं के आभोग–अतिशय ज्ञान से अथवा दूसरे नैमित्तिक आदि से यह अतिशय जानकारी करें कि क्या यह प्रत्याख्यान का पारगामी होगा अथवा नहीं? यदि वे जान जाएं कि यह पारगामी होगा तो उसकी इच्छा करें–उसे प्रत्याख्यान कराएं। यदि वे अपारगामी को प्रत्याख्यान कराते हैं तो उन्हें चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि स्व और पर में आभोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अतिशय) नहीं है और क्षेम है, सुभिक्ष हो तो निर्व्याघातरूप में प्रतिपत्ति–उसे भक्तप्रत्याख्यान स्वीकार कराना चाहिए।

४२७७. सयं चेव चिरं वासो, वासावासे तवस्सिणं।
तेण तस्स विसेसेण, वासासु पडिवज्जणा॥

वर्षावास में तपस्वी मुनियों का स्वयं चिरकाल तक एकत्रवास होता है। इसलिए प्रत्याख्याता मुनि को विशेष रूप से भक्तप्रत्याख्यान कराना चाहिए।

४२७८. कंचणपुर गुरुसण्णा, देवयरुवणा य पुच्छ कधणा य।
पारणगखीररुधिरं, आमंतण संघनासणया?॥

कलिंग जनपद में कांचनपुर नाम का नगर था। वहां बहुश्रुत आचार्य विहरण करते थे। आचार्य विचारभूमी में गए। उन्होंने देखा और जाना कि एक देवता स्त्री वृक्ष के नीचे रो रही है। दूसरे, तीसरे दिन भी यही देखा। आचार्य ने पूछा–तुम क्यों रो रही हो? उसने कहा–मैं इस नगर की अधिष्ठात्री देवी हूं। यह नगर शीघ्र ही जल से आप्लावित होकर विनष्ट हो जाएगा। यहां अनेक स्वाध्यायशील मुनि रहते हैं। उनके अनिष्ट को सोचकर रुदन कर रही हूं। आचार्य ने पूछा–इस कथन का प्रमाण क्या है? उसने कहा–कल अमुक तपस्वी मुनि के पारणक में लाया हुआ दूध रक्त बन जाएगा। जिस क्षेत्र में जाने से वह दूध पुनः स्वाभाविक रूप में आएगा, वहां सुभिक्ष होगा।

दूसरे दिन तपस्वी मुनि के पारणक में लाया हुआ दूध रक्त में बदल गया। आचार्य ने प्रधान मुनियों को आमंत्रित कर विचार विमर्श किया और समस्त संघ के मुनियों ने अनशन स्वीकार कर लिया।

४२७९. असिवादीहि वहंता, तं उवगरणं च संजता चत्ता।
उवधिं विणा य छड्डण, चत्तो सो पवयणं चेव॥

अशिव आदि के कारणों से मुनि उस भक्तप्रत्याख्याता तथा उसकी उपधि को वहन कर ले जाते हैं, परंतु कारणवश दोनों को छोड़कर चले जाते हैं। इस प्रकार भक्तप्रत्याख्याता परित्यक्त हो जाता है। इससे प्रवचन की हीलना होती है अतः प्रवचन भी त्यक्त हो जाता है।

४२८०. एगो संथारगतो, बितिओ संलेह ततिय पडिसेधो।
अपहुव्वंतऽसमाही, तस्स व तेसिं च असतीए॥

एक मुनि संस्तारगत–भक्तप्रत्याख्याता है, दूसरा मुनि संलेखना कर रहा है, तीसरे का प्रतिषेध करना चाहिए, क्योंकि तीनों के लिए निर्यापक नहीं मिलते। तब उस तीसरे को अथवा प्रथम दोनों को अथवा निर्यापकों को असमाधि हो सकती है।

४२८१. भवेज्ज जदि वाघातो, बितियं तत्थ ठावते।
चिलिमिणि अंतरे चेव, बहिं वंदावए जणं॥

यदि भक्तप्रत्याख्याता के कोई व्याघात हो तो दूसरा संलेखना कर रहा है उसको वहां स्थापित कर बीच में चिलिमिली करनी चाहिए तथा जो लोग वंदना करने के लिए आएं, उन्हें बाहर से ही वंदना करने के लिए कहें। इस प्रकार बहिःस्थित जनता से वंदना करवाए।

४२८२. अणपुच्छाए गच्छस्स, पडिच्छती व जती गुरू गुरुगा।
चत्तारि वि विण्णेया, गच्छमणिच्छंत जं पावे॥

यदि गच्छ को बिना पूछे ही गुरु भक्तप्रत्याख्यान करने के इच्छुक मुनि को स्वीकार कर लेता है तो उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। गच्छ की अनिच्छा के कारण उस मुनि को जो असमाधि आदि होती है, उसका प्रायश्चित्त भी गुरु को आता है।

४२८३. पाणगादीणि जोग्गाणि, जाणि तस्स समाहिते।
अलंभे तस्स जा हाणी, परिक्केसो य जायणे॥
४२८४. असंथरं अजोग्गा वा, जोगवाही व ते भवे।
एसणाए परिक्केसो, जा य तस्स विराधणा॥

उस भक्त प्रत्याख्याता मुनि की समाधि के लिए योग्य पानक आदि का लाभ न होने पर यदि उसकी समाधि की हानि होती है, योग्य पानक आदि की याचना में मुनियों को परिक्लेश होता है, संस्तरण के अभाव में अथवा अयोग्य निर्यापकों के कारण अथवा योगवाही मुनियों के लिए समाधि-कारक द्रव्यों की गवेषणा में परिक्लेश होता है–ये सारे उस भक्तप्रत्याख्याता मुनि की विराधना के निमित्त बनते हैं। अतः गच्छ से पृच्छा करनी चाहिए।

४२८५. अपरिच्छणम्मि गुरुगा,
दोण्ह वि अण्णोण्णगं जधाकमसो।
होति विराधण दुविधा,
एक्को एक्को व जं पावे॥

भक्तप्रत्याख्यान करने वाले मुनि को तथा गच्छ के साधुओं को एक दूसरे की यथाक्रम परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा न करने पर दो प्रकार की विराधनाएं–आत्मविराधना और संयमविराधना होती है। अकेला गच्छ जो अनर्थ प्राप्त करता है अथवा एकाकी वह भक्तप्रत्याख्याता जो अनर्थ प्राप्त करता है– उसके निमित्त भी जो प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, वह भी उनका होता है।

४२८६. तम्हा परिच्छणं तू, दव्वे भावे य होति दोण्हं पि।
संलेह पुच्छ दायण, दिट्ठंतोऽमच्च कोंकणए॥

इसलिए गच्छ और भक्तप्रत्याख्यान करने वाला– दोनों द्रव्य और भाव से परीक्षा करे। यदि कोई मुनि आचार्य को कहे–मैं भक्तप्रत्याख्याता के साथ रहूंगा। तब आचार्य को उसकी संलेखना के विषय में पूछना चाहिए। पूछने पर कुपित होकर अंगुलीभंग कर दिखाने पर यहां अमात्य कोंकण का दृष्टांत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वक्तव्य होता है। (देखें गाथा ४२९२, ४२९३)

४२८७. कलमोदण-पयकढियादि,
दव्वे आणेह मे त्ति इति उदिते।
भावे कसाइज्जंति,
तेसि सगासे न पडिवज्जे॥

भक्तप्रत्याख्याता गण के साधुओं को 'कलमशालिकूर, दूध क्वथित आदि द्रव्य लाओ'—यह कहने पर यदि वे भावतः कषाय करते हैं, उनके पास भक्तपरिज्ञा स्वीकार न करे।

४२८८. अह पुण विरूवरूवे, आणीत दुगुंछिते भणंतऽण्णं।
आणेमो त्ति ववसिते, पडिवज्जति तेसि तो पासे॥

यदि वे मुनि अनेक प्रकार का विरूपरूप आहार लाकर जुगुप्सा करते हुए कहते हैं—हम दूसरा आहार ले आएं और वे आहार लाने के लिए तत्पर हो जाते हैं तो उनके पास भक्तपरिज्ञा स्वीकार करे।

४२८९. कलमोदणो य पयसा, अन्नं च सभावअणुमतं तस्स।
उवणीतं जो कुच्छति, तं तु अलुद्धं पडिच्छंति॥

कलमोदन दूध के साथ लाकर तथा स्वभावतः उसको जो अन्य द्रव्य अनुमत था, वह लाकर उसके समक्ष रखने पर यदि वह भक्तप्रत्याख्यान करने का इच्छुक मुनि उस भोजन सामग्री की निंदा करता है तो उसको आहार के प्रति अलुब्ध जानकर उसे स्वीकार कर लेते हैं। (जो प्रशंसा करता है, उसे लोलुप जानकर स्वीकार नहीं करते।)

४२९०. अज्जो संलेहो ते, किं कतो न कतो त्ति एवमुदियम्मि।
भंतुं अंगुलि दावे, पेच्छह किं वा कतो न कतो॥

आर्य! तुमने संलेखना की अथवा नहीं, यह कहने पर जो मुनि अंगुली तोड़कर दिखाते हुए कहता है—देख लो, मैंने संलेखना की है अथवा नहीं?

४२९१. न हु ते दव्वसंलेहं, पुच्छे पासामि ते किसं।
कीस ते अंगुली भग्गा ? भावं संलिहमाउर !॥

आचार्य बोले—वत्स! मैं तुम्हारी द्रव्यसंलेखना के विषय में नहीं पूछता। देखता हूं कि तुम्हारा शरीर कृश हो गया है। तुमने अंगुली को क्यों तोड़ा? मैं भावसंलेखना के विषय में पूछता हूं। क्रोध के वशीभूत होकर आतुर मत बनो।

४२९२. रण्णा कोंकणगाऽमच्चा, दो वि निव्विसया कता।
दोह्हिए कंजियं छोढुं, कोंकणो तक्खणा गतो॥
४२९३. भंडी बइल्लए काए, अमच्चो जा भरेति तु।
ताव पुन्नं तु पंचाहं, नलिए निधणं गतो॥

राजा ने कोंकणक और अमात्य—दोनों को देश से निष्कासित करते हुए आज्ञा दी कि तुम दोनों पांच दिन के भीतर-भीतर देश को छोड़कर चले जाओ, अन्यथा तुम्हारा वध कर दिया जाएगा। कोंकणक अपने तुम्बे और कांजी को वहीं छोड़कर तत्काल वहां से चला गया। अमात्य शकट, बैल, कापोती आदि की तैयारी में लगा। इतने में पांच दिन बीत गए। राजा ने उसे शूली पर चढ़ाकर मार डाला।

४२९४. इंदियाणि कसाए य, गारवे य किसे कुरु।
न चेयं ते पसंसामी, किसं साधुसरीरगं॥

वत्स! तुम इंद्रियों को, कषायों तथा गौरवों को कृश करो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो हे साधो! हम तुम्हारे कृश शरीर की प्रशंसा नहीं करेंगे।

४२९५. आयरियपादमूलं, गंतूणं सति परक्कमे ताधे।
सव्वेण अत्तसोधी, कायव्वा एस उवदेसो॥

संलेखना के अनंतर भक्तपरिज्ञा करने वाला मुनि यदि सामर्थ्य हो तो स्वयं सबकुछ जानते हुए भी आचार्य के चरणों में जाकर आलोचना कर स्वयं की शोधि करे। यही तीर्थंकरों का उपदेश है।

४२९६. जह सुकुसलो वि वेज्जो, अन्नस्स कधेति अप्पणो वाहिं।
वेज्जस्स य सो सोउं, तो पडिकम्मं समारभते॥
४२९७. जाणंतेण वि एवं, पायच्छित्तविहिमप्पणो निउणं।
तह वि य पागडतरयं, आलोएयव्वयं होति॥

जैसे कुशल वैद्य भी अन्य वैद्य को अपनी व्याधि का कथन करता है। वैद्य का व्याधि विवरण सुनकर वह वैद्य रोग प्रतिकर्म—निवारण का उपाय करता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त विधि को स्वयं अच्छे प्रकार से जानते हुए भी दूसरे आचार्य के पास स्पष्टरूप से आलोचना करनी होती है।

४२९८. छत्तीसगुणसमन्नागतेण, तेण वि अवस्स कायव्वा।
परपक्खिगा विसोधी सुट्ठु वि ववहारकुसलेणं॥

छत्तीस गुणों से सम्पन्न तथा भलीभांति व्यवहारकुशल आचार्य को भी परपक्ष (अन्य आचार्य के पास) में जाकर विशोधि अवश्य करनी चाहिए।

४२९९. जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणति।
तं तह आलोएज्जा, माया-मदविप्पमुक्को उ॥

जैसे बालक बोलता हुआ अपने कार्य या अकार्य का कथन ऋजुता से करता है, उसी प्रकार आलोचना करने वाले को माया और मद से विप्रमुक्त होकर गुरु के समक्ष आलोचना करनी चाहिए।

४३००. उप्पन्ना उप्पन्ना, मायामणुमग्गतो निहंतव्वा।
आलोयण-निंदण-गरहणादि न पुणो य बितियं ति॥

उत्पन्न होनेवाली माया को, बार-बार उत्पन्न होने वाली माया को उसके पीछे लगकर आलोचना, निंदा और गर्हा से नाश कर देना चाहिए। इस संकल्प के साथ कि मैं दूसरी बार ऐसा नहीं करूंगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४३०१. आयारविणयगुणकप्पदीवणा अत्तसोहि उजुभावो।
अज्जव-मद्दव-लाघव-तुट्ठी-पल्हायजणणं च॥

आलोचना के गुण–१. पांच प्रकार के आचार का सम्यक् पालन होता है २. विनयगुण का प्रवर्तन होता है। ३. आलोचना करने के कल्प–परिपाटी का उपदर्शन होता है ४. आत्मा की विशोधि–निःशल्यता होती है ५. ऋजुभाव–संयम का पालन होता है ६. आर्जव, मार्दव और लाघव–अलोभत्व की वृद्धि होती है ७. मैं निःशल्प हो गया हूं, ऐसी तुष्टि होती है। ८. मैंने आलोचना नहीं की, इस परितप्ति का नाश होता है, प्रह्लाद पैदा होता है।

४३०२. पव्वज्जादी आलोयणा उ तिण्हं चउक्कग विसोधी।
जह अप्पणो तह परे, कातव्वा उत्तमट्ठम्मि॥

प्रव्रज्या-ग्रहण से प्रारंभ कर उत्तमार्थ–भक्तप्रत्याख्यान को स्वीकार करने पर्यंत तीनों में–ज्ञान, दर्शन और चारित्र में लगे अतिचारों की चतुष्क विशोधि अर्थात् द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः विशोधि से जैसे स्वयं की आलोचना करे वैसे ही पर की भी आलोचना करे।

४३०३. नाणनिमित्तं आसेवियं तु, वितहं परूवियं वावि।
चेतणमचेतणं वा, दव्वं सेसेसु इमगं तु॥

ज्ञान के निमित्त अकल्पनीय द्रव्य का सेवन करने, चेतन-अचेतन विषयक मिथ्या प्ररूपणा करने के विषय में आलोचना करना–यह द्रव्यतः अतिचारालोचना है। क्षेत्र आदि शेष की आलोचना इस प्रकार है–

४३०४. नाणनिमित्तं अद्धाणमेति ओमे य अच्छति तदट्ठा।
नाणं व आगमेस्सं, ति कुणति परिकम्मणं देहे॥
४३०५. पडिसेवति विगतीओ, मेज्झं दव्वं व एसती पिबती।
वायंतस्स व किरिया, कता तु पणगादिहाणीए॥

ज्ञान के निमित्त विहार करते हुए, दुर्भिक्ष में ज्ञान के लिए वहीं रहने, ज्ञान को ग्रहण करने के लिए शरीर का परिकर्म करने, विगय का प्रतिदिन सेवन करने, मेधा को बढ़ाने वाले मेध्य द्रव्यों की एषणा करने, उनका पान करने तथा वाचना देते हुए वाचनाचार्य की पंचकहानि[1] से क्रिया करने–इन सबमें हुए अतिचारों, अकल्पों, अयतना आदि की आलोचना करना ज्ञाननिमित्त द्रव्य आदि अतिचारालोचना है।

४३०६. एमेव दंसणम्मि वि, सद्दहणा णवरि तत्थ णाणत्तं।
एसणा इत्थी दोसे, वतं ति चरणे सिया सेवा॥

इसी प्रकार दर्शन के निमित्त द्रव्यातिचारालोचना होती है। उसमें नानात्व यही है–दर्शन का तात्पर्य है श्रद्धान। चारित्र के विषय में भी एषणा, स्त्रीदोषयुक्त वसति तथा व्रतों के संबंधित अतिचारों की आसेवना होती है–यह दर्शननिमित्त तथा चारित्र के निमित्त होने वाली द्रव्यातिचारालोचना है।

४३०७. अधवा तिगसालंबेण दव्वमादी चउक्कमाहच्च।
आसेवितं निरालंबओ व आलोयए तं तु॥

अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र–इस त्रिक के आलंबन से कदाचित् द्रव्य आदि चतुष्क लक्षण अकल्पनीय आदि का आसेवन होता है अथवा निरालंबन से भी इनका आसेवन होता है। मुनि इन सबकी आलोचना करे।

४३०८. पडिसेवणाऽतियारे, जह वीसरिया कहिंचि होज्जाहि।
तेसु कह वट्टितव्वं, सल्लुद्धरणम्मि समणेणं॥

यदि प्रतिसेवना के अतिचार किसी भी प्रकार से विस्मृत हो जाएं तो उनका शल्योद्धरण करने के लिए श्रमण को कैसे वर्तन करना चाहिए? आचार्य कहते हैं–

४३०९. जे मे जाणंति जिणा, अवराधा जेसु जेसु ठाणेसु।
ते हं आलोएउं, उवट्ठितो सव्वभावेणं॥
४३१०. एवं आलोएंतो, विसुद्धभावपरिणामसंजुत्तो।
आराहओ तह वि सो, गारवपलिकुंचणा रहितो॥

जिन-जिन स्थानों में मेरे द्वारा अपराध हुए हैं, उन सबको जिनेश्वर देव जानते हैं। मैं उन सबकी आलोचना करने के लिए सर्वभाव से–सर्वात्मना उपस्थित हुआ हूं। (मुझे उनकी स्मृति नहीं है अतः वचन से बता नहीं सकता। आप ही इसके प्रमाण हैं।) यद्यपि यह आलोचना यथार्थ नहीं है फिर भी वह गौरव तथा परिकुंचना–माया से रहित होकर, विशुद्ध भावपरिणाम से युक्त आलोचना करता है तो वह आराधक है।

४३११. ठाणं पुण केरिसगं, होति पसत्थं तु तस्स जं जोग्गं।
भण्णति जत्थ न होज्जा, झाणस्स उ तस्स वाघातो॥

प्रश्न किया कि भक्तप्रख्याख्याता के लिए प्रशस्त और योग्यस्थान कैसा होना चाहिए? आचार्य ने कहा–जहां उसके ध्यान का व्याघात न होता हो वह स्थान प्रशस्त है।

४३१२. गंधव्व-नट्ट जड्डऽस्स, चक्क-जंतऽग्गिकम्मपुरुसे य।
णंतिक्क-रयग-देवड, डोंबे पाडहिग रायपधे॥
४३१३. चारग कोट्टग कलाल,
करकय पुप्फ-फल दगसमीवम्मि।
आरामे अहवियडे,
नागघरे पुव्वभणिए य॥

ध्यान के व्याघात स्थल–गंधर्वशाला, नाट्यशाला, हस्तिशाला, अश्वशाला, चक्रशाला–तिलपीडनशाला, इक्षुयंत्र-

१. शुद्ध आहार-पानी का लाभ न होने पर पांच दिनों के प्रायश्चित्तस्थान का आसेवन कर उनकी प्राप्ति करना। यदि इतने पर भी लाभ न हो तो दस दिन का यावत् चार गुरुमास के प्रायश्चित्त स्थान का आसेवन कर उनकी उपलब्धि करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शाला, अग्निकर्मशाला—लोहकारकर्मशाला, पुरुष— कुंभकार-शाला, नंतिक—छिंपा—रंगरेजशाला, रजक—धोबीशाला, देवड-शाला, डोंबशाला—नटों की शाला अथवा चांडालजाति के विशेष गायकों की गानशाला, पाडहिकशाला—वादित्रशाला, राजपथ, चारकगृह—जेल, कौष्ट्रकशाला—गानशाला, कलालशाला—मद्य-पानशाला—मद्यशाला, क्रकचशाला—काठ चीरने का स्थान, पुष्पवाटिका, फलवाटिका उदक अर्थात् सरोवर, तालाब आदि—इनके समीप, उद्यान अथवा यथा-विकट—असंगुप्त द्वार वाला स्थान, तथा नागगृह तथा पूर्व कथित अर्थात् कल्पनाध्ययन में उक्त स्थान भक्तप्रत्याख्याता के लिए उपयुक्त नहीं होते।

३४१४. पढमबितिएसु कप्पे, उद्देसेसुं उवस्सया जे तु।
विहिसुत्ते य निसिद्धा, तव्विवरीते गवेसेज्जा॥

कल्पाध्ययन के प्रथम और द्वितीय उद्देशक में तथा विधिसूत्र अर्थात् आचारचूला में जिन उपाश्रयों का निषेध किया है, उनमें न रहे। उनसे विपरीत स्थान की गवेषणा करे।

४३१५. उज्जाणरुक्खमूले, सुण्णघरऽणिसट्ठ हरियमग्गे य।
एवंविधे न ठायति, होज्ज समाधीय वाघातो॥

भक्तप्रत्याख्याता उद्यान में, वृक्षमूल में, शून्यगृह में, अननुज्ञात और हरियाली से व्याप्त स्थान में, मार्ग में और इसी प्रकार के अन्य स्थानों में नहीं रहता क्योंकि वहां समाधि का व्याघात होता है।

४३१६. इंदियपडिसंचारो, मणसंखोभकरणं जहिं नत्थि।
चाउस्सालादि दुवे, अणुण्णवेऊण ठायंति॥

जहां इंद्रिय प्रतिसंचार (इष्ट-अनिष्ट शब्द, रूप, गंध आदि) नहीं होता तथा मानसिक क्षोभ पैदा करने वाली स्थिति नहीं होती, वहां चतुःशाला आदि दो वसतियों की अनुज्ञापना कर, एक ओर भक्तप्रत्याख्याता और दूसरी ओर गच्छ के अन्य साधु रहते हैं।

४३१७. पाणगजोग्गहारे, ठवेंति से तत्थ जत्थ न उवेंति।
अप्परिणया व सो वा, अप्पच्चयगेहिरक्खट्ठा॥

वृषभ मुनि उस प्रदेश में पानक और योग्य आहार स्थापित करते हैं जहां अपरिणत मुनि तथा वह भक्तप्रत्याख्याता न जाए। अपरिणत मुनियों के वहां जाने पर उनके मन में अप्रत्यय—अविश्वास तथा भक्तप्रत्याख्याता के जाने पर उसके मन में गृद्धि न हो, अप्रत्यय और गृद्धि की रक्षा के लिए उनका वहां जाना निषिद्ध है।

४३१८. भुत्तभोगी पुरा जो तु, गीतत्थो वि य भावितो।
संतेमाहारधम्मेसु, सो वि खिप्पं तु खुब्भते॥

जो पहले भुक्तभोगी भी है, गीतार्थ भी है, भावित भी है, वह आहारधर्मा (आहारग्रहणधर्मा) होने के कारण आहार को देखकर शीघ्र ही क्षुब्ध हो जाता है।

४३१९. पडिलोमाणुलोमा वा, विसया जत्थ दूरतो।
ठावेत्ता तत्थ से निच्चं, कहणा जणगस्स वि॥

जहां प्रतिलोम और अनुलोम विषय दूर न हों वहां उस भक्तप्रत्याख्याता को स्थापित करना चाहिए। वह सब कुछ जानता है, फिर भी उसको भक्तविषयक नित्य कथन करना चाहिए।

४३२०. पासत्थोसन्नकुसीलठाणपरिवज्जिया तु निज्जवगा।
पियधम्मऽवज्जभीरू, गुणसंपन्ना अपरितंता॥

पार्श्वस्थ, अवसन्न तथा कुशील स्थानों से परिवर्जित, प्रियधर्मा, पापभीरू, गुणसंपन्न तथा अपरिश्रांत होने वाले निर्यापक होते हैं।

४३२१. उव्वत्त दार संथारे, कहग वादी य अग्गदारम्मि।
भत्ते पाण वियारे, कधग दिसा जे समत्था य॥

निर्यापकों के बारह चतुष्क तथा उनका कार्य—

एक चतुष्क भक्तप्रत्याख्यानी को उद्वर्तन-परावर्तन कराने के लिए, दूसरा अभ्यंतर मूल में स्थित रहनेवाला, तीसरा संस्तारकारक, चौथा धर्मकथाकारक, पांचवां वादी, छठा अग्रद्वार पर स्थित, सातवां योग्य भक्त लाने वाला, आठवां योग्य पानक लाने वाला, नौवां उच्चारपरिष्ठापक, दसवां प्रस्रवण-परिष्ठापक, ग्यारहवां आगंतुक लोगों को धर्मकथा कहने वाला, बारहवां चारों दिशाओं में स्थित चार समर्थ पुरुषों का चतुष्क।

इस प्रकार निर्यापकों की संख्या ४×१२=४८ हो जाती है।

४३२२. जो जारिसिओ कालो, भरहेरवएसु होति वासेसु।
ते तारिसया ततिया, अडयालीसं तु निज्जवगा॥

भरत और ऐरावत क्षेत्र में जब जैसा काल होता है, वैसे उस कालानुसारी अड़चालीस निर्यापक होते हैं।

४३२३. एवं खलु उक्कोसा, परिहायंता हवंति तिण्णेव।
दो गीयत्था ततिए, असुन्नकरणं जहन्नेणं॥

यह उत्कृष्ट निर्यापकों की संख्या है। ये कम होते होते जघन्यतः तीन होते हैं—दो गीतार्थ मुनि और एक स्वयं भक्त-प्रत्याख्याता। एक गीतार्थ भक्तपान लेने के लिए जाता है और एक भक्तप्रत्याख्याता को अशून्य करने के लिए वहीं बैठा रहता है। यह जघन्यतः संख्या है।

४३२४. तस्स य चरिमाहारो, इट्ठो दायव्व तण्हछेदट्ठा।
सव्वस्स चरिमकाले, अतीवतण्हा समुप्पज्जे॥

भक्तप्रत्याख्यान करने वाले सभी के चरमकाल में अतीव तृष्णा—आहार की आकांक्षा समुत्पन्न होती है। अतः भक्तप्रत्याख्यान करने वाले को तृष्णा—आहार की आकांक्षा का व्यवच्छेद करने के लिए इष्ट चरमाहार देना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४३२५. नवविगतिसत्तओदण, अट्ठारसवंजणुच्चपाणं च।
अणुपुव्विविहारीणं, समाहिकामाण उवहरिउं॥

नौ प्रकार की विकृतियां, सात प्रकार का ओदन, अठारह प्रकार का व्यंजन, प्रशस्य पानक–इन सबको अनुपूर्वीविहारी–अर्थात् धीरे-धीरे छोड़कर भक्तप्रत्याख्यान स्वीकार करने वाले समाधिप्राप्त करने के इच्छुक मुनियों के समक्ष ये सारी वस्तुएं उपहृत करें, उन्हें दे। ऐसा करने पर उनकी तृष्णा का व्यवच्छेद हो जाता है।

४३२६. कालसभावाणुमतो, पुव्वं झुसितो सुतो व दिट्ठो वा।
झोसिज्जति सो वि तहा, जयणाय चउव्विहाहारो॥

इस भक्तप्रत्याख्याता ने पूर्व में कालानुमत तथा स्वभावानुमत अमुक प्रकार के आहार का सेवन किया है–यह किसी से सुनकर अथवा कदाचित् देखकर जान लिया गया हो तो उसको वैसा चतुर्विध आहार यतनापूर्वक लाकर दे।

४३२७. तण्हाछेदम्मि कते, न तस्स तहियं पवत्तते भावो।
चरमं च एस भुंजति, सद्धाजणणं दुपक्खे वि॥

उसकी तृष्णा–आहार की आकांक्षा का उच्छेद हो जाने पर पुनः वैसा भाव उसमें प्रवर्तित नहीं होता। जो चरम आहार वह लेता है उससे दोनों पक्षों–भक्तप्रत्याख्याता तथा निर्यापक–में श्रद्धा पैदा होती है।

४३२८. किं च तन्नोवभुत्तं मे, परिणामासुइं सुइं।
दिट्ठसारो सुहं झाति, चोदणे सेव सीदते॥

भक्तप्रत्याख्याता सोचता है–ऐसी कौन सी वस्तु है संसार में जिसका मैंने उपभोग नहीं किया है! शुचि पदार्थ भी परिणाम-स्वरूप अशुचि हो जाते हैं। वह दृष्टसार–तत्वज्ञ मुनि सुखपूर्वक धर्मध्यान में लीन रहता है। यदि वह आहार से प्रसन्न होता है तब उसे अवसाद ही भोगना होता है। यही प्रस्तुत श्लोक की चोदना–प्रेरणा है।

४३२९. तिविधं तु वोसिरेहिति, ताहे उक्कोसगाइ दव्वाइं।
मग्गित्ता जयणाए, चरिमाहारं पदंसेंति॥

जो त्रिविध–मन, वचन और काया से भक्तप्रत्याख्यान करने के इच्छुक हैं, उनके लिए उत्कृष्ट द्रव्यों की याचना कर चरम आहार उसको दिखाते हैं।

४३३०. पासित्तु ताणि कोई, तीरप्पत्तस्स किं ममेतेहिं।
वेरग्गमणुप्पत्तो, संवेगपरायणो होति॥

उसको देखकर कोई तीरप्राप्त (संसार का पारगामी) मुनि सोचता है–इनसे मुझे क्या! इस प्रकार वैराग्य को प्राप्त होकर वह संवेगपरायण हो जाता है।

४३३१. सव्वं भोच्चा कोई, मणुण्णरसपरिणतो भवेज्जाही।
तं चेवऽणुबंधंतो, देसं सव्वं च गेहीए॥

कोई सबकुछ उत्कृष्ट खा लेने पर भी मनोज्ञरस में परिणत–गृद्ध हो जाता है। वह उस गृद्धि से देशतः या सर्वतः उसी मनोज्ञ आहार में प्रतिबद्ध होकर रहता है।

४३३२. विगतीकयाणुबंधे, आहारणुबंधणाइ वुच्छेदो।
परिहायमाणदव्वे, गुणवुड्ढि समाधिअणुकंपा॥

जो विकृतियों में अनुबंधित है तथा आहर में अनुबंधित है उसका व्यवच्छेद (श्लोक ४३२८ के अनुसार) करना चाहिए। चरम आहार में द्रव्यतः और परिमाणतः न्यूनता करनी चाहिए। प्रश्न होता है कि आहार के प्रति अनुबंध करने वाले को आहार क्यों दिया जाता है? इसके तीन कारण हैं– गुणवृद्धि अर्थात् कर्मनिर्जरा के लिए, समाधि के लिए तथा अनुकंपा के लिए।

४३३३. दवियपरिणामतो वा, हावेंति दिणे दिणे व जा तिन्नि।
बिंति न लब्भति दुलभे, सुलभम्मि य होतिमा जतणा॥

चरमाहार में द्रव्यतः और परिणामतः प्रतिदिन तीन दिनों तक न्यूनता करनी चाहिए। परिमाण से द्रव्य प्रतिदिन घटाने चाहिए तथा द्रव्यतः भी हानि करनी चाहिए, जैसे पहले दिन खीर लाए तो दूसरे दिन दही और तीसरे दिन दूध। दुर्लभ द्रव्य के विषय में उसे कहना चाहिए–मुने! यह प्राप्त नहीं होता तथा सुलभ द्रव्य विषयक यह यतना पालनीय है।

४३३४. आहारे ताव छिंदाही, गेधिं तो णं चइस्ससि।
जं वा भुत्तं न पुव्वं ते, तीरं पत्तो तमिच्छसि॥

मुने! तुम आहारविषयक गृद्धि का व्यवच्छेद करो तभी शरीर छूटेगा। जो तुमने पहले नहीं खाया था अब तीरप्राप्त तुम उसकी इच्छा कर रहे हो!

४३३५. वट्टंति अपरितंता, दिया व रातो व सव्वपडिकम्मं।
पडियरगा गुणरयणा, कम्मरयं निज्जरेमाणा॥

प्रतिचरक (निर्यापक) गुणरत्न अर्थात् गुणों में श्रेष्ठ होते हैं। वे कर्मरजों की निर्जरा करने वाले होते हैं। वे भक्तप्रत्याख्याता के समस्त प्रतिकर्म में दिन-रात अपरिश्रांत होकर लगे रहते हैं।

४३३६. जो जत्थ होति कुसलो,
सो तु न हावेति तं सति बलम्मि।
उज्जुत्ता सनियोगे,
तस्स वि दीवेंति तं सद्धं॥

जो मुनि जिस प्रतिकर्म में कुशल होता है, वह शक्ति होते हुए उस प्रतिकर्म को नहीं छोड़ता। सभी प्रतिचरक अपनी-अपनी सेवा-प्रवृत्ति से उद्युक्त रहते हैं और भक्तप्रत्याख्याता व्यक्ति की श्रद्धा का उद्दीपन करते हैं।

४३३७. देहवियोगो खिप्पं, व होज्ज अहवा वि कालहरणेणं।
दोण्हं पि निज्जरा वद्धमाण गच्छो उ एतट्ठा॥

देह का वियोग शीघ्र हो अथवा कालहरण–विलंब से हो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी भक्तप्रत्याख्याता तथा परिचारक–दोनों के प्रवर्धमान निर्जरा होती है। गच्छ का यही अर्थ है कि परस्पर उपकार से दोनों के निर्जरा हो।

४३३८. कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
अन्नतरगम्मि जोगे, सज्झायम्मी विसेसेण॥

किसी भी संयमयोग में लगा हुआ मुनि प्रतिसमय अर्थात् क्षण-क्षण में असंख्यभवोपार्जित कर्म का क्षय करता है। स्वाध्याय में लगा हुआ मुनि विशेषरूप से कर्मक्षय करता है।

४३३९. कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
अन्नतरगम्मि जोगे, काउस्सग्गे विसेसेण॥

किसी भी संयमयोग में लगा हुआ मुनि क्षण-क्षण में असंख्यभवोपार्जित कर्मों का क्षय करता है। कायोत्सर्ग में लगा हुआ वह मुनि विशेषरूप से कर्मक्षय करता है।

४३४०. कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
अन्नतरगम्मि जोगे, वेयावच्चे विसेसेण॥

किसी भी संयमयोग में प्रवृत्त मुनि क्षण-क्षण में असंख्य-भवोपार्जित कर्मों का क्षय करता है। वैयावृत्त्य में विशेष कर्मक्षय करता है।

४३४१. कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
अन्नतरगम्मि जोगे, विसेसतो उत्तिमट्ठम्मि॥

किसी भी संयमयोग में प्रवृत्त मुनि क्षण-क्षण में असंख्यभवोपार्जित कर्मों का क्षय करता है। उत्तमार्थ में प्रवृत्त मुनि विशेष कर्मक्षय करता है।

४३४२. संथारो उत्तिमट्ठे, भूमिसिलाफलगमादिं नातव्वे।
संथारपट्टमादी, दुगचीरा तू बहू वावि॥

उत्तमार्थ में व्यापृत मुनि का संस्तारक भूमी, शिला, फलक आदि ज्ञातव्य हैं। फलक का संस्तारक एकांगिक हो। उसके अभाव में दो फलकात्मक अथवा तीन फलकात्मक हो सकता है। संस्तारक का उत्तरपट्ट एक, दो अथवा अनेक भी हो सकते हैं।

४३४३. तह वि य संथरमाणे, कुसमादी णिंतु अझुसिरतणाइं।
तेसऽसति असंथरणे, झुसिरतणाई ततो पच्छो॥

फिर भी यदि उसे असमाधि हो तो अशुषिर कुश आदि तृणों का संस्तारक करे। उनके अभाव में यदि असमाधि हो तो पश्चात् शुषिरतृणों का संस्तारक करे।

४३४४. कोयवं पावारग नवय, तूलि आलिंगिणी य भूमीए।
एमेव अणहियासे, संथारगमादि पल्लंके॥

यदि तृण-संस्तारक से समाधि न रहे तो कोयव–रूई से भरे वस्त्र का, प्रावरण का, नवत–रूई के आस्तरण का संस्तारक करे। दोनों पार्श्व में तूली आलिंगनी (छोटा गाल का तकिया?) रखे। यह सारा भूमी पर करे। इससे भी यदि समाधि न हो तो संस्तारक आदि पूर्वक्रम से पल्यंक पर बिछाए।

४३४५. पडिलेहण संथारं, पाणगउव्वत्तणादि निग्गमणं।
सयमेव करेति सहू, असहुस्स करेंति अन्ने उ॥

यदि भक्तप्रत्याख्याता समर्थ हो तो वह स्वयं अपने उपकरणों का प्रत्युपेक्षण करता है, संस्तारक बिछाता है, पानक पीता है, उद्वर्तन आदि तथा गमन-निर्गमन कर लेता है। यदि वह असमर्थ हो तो दूसरे मुनि ये सारी क्रियाएं कराते हैं।

४३४६. कायोवचितो बलवं, निक्खमणपवेसणं च से कुणति।
तह वि य अविसहमाणं, संथारगतं तु संचारे॥

जो निर्यापक शरीर से उपचित तथा बलवान् है वह उस भक्तप्रत्याख्याता को निष्क्रमण और प्रवेशन कराता है। यदि वह इसे सहन नहीं कर पाता तो उसे संस्तारगत ही संचरण करवाता है।

४३४७. संथारो मउओ तस्स, समाधिहेउं तु होति कातव्वो।
तह वि य अविसहमाणे, समाहिहेउं उदाहरणं॥

भक्तप्रत्याख्याता की समाधि के लिए उसका संस्तारक मृदु करना चाहिए उसको भी सहन न करने पर, उसकी समाधि के लिए यह उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए।

४३४८. धीरपुरिसपण्णत्ते, सप्पुरिसनिसेविते परमरम्मे।
धण्णा सिलातलगता, निरावयक्खा निवज्जंति॥

मुने! देखो, धीरपुरुषों द्वारा प्रज्ञप्त, सत्पुरुषों द्वारा निसेवित अभ्युद्यतमरण को स्वीकार कर परमरम्य शिलातल पर स्थित हैं और वे निरपेक्ष होकर उस मरण की साधना कर रहे हैं, वे धन्य हैं।

४३४९. जदि ताव सावयाकुल,गिरि-कंदर विसमकडगदुग्गेसु।
सार्धेति उत्तिमट्ठं, धितिधणियसहायगा धीरा॥
४३५०. किं पुण अणगारसहायगेण अण्णोण्णसंगहबलेणं।
परलोइए न सक्का, साहेउं उत्तमो अट्ठो॥

धृति जिनकी अत्यंत सहायक है वे धृतिधनिक–सहायक धीर मुनि श्वापदाकुल गिरिकंदराओं में विषमकटकों तथा दुर्गों में उत्तमार्थ की साधना करते हैं। तो फिर क्या अनगारों की सहायता से परलोकार्थी मुनि अन्योन्यसंग्रहबल से उत्तमार्थ की साधना नहीं कर सकता?

४३५१. जिणवयणमप्पमेयं, मधुरं कण्णाहुतिं सुणेताणं।
सक्का हु साहुमज्झे, संसारमहोदधिं तरिउं॥

अप्रमेय मधुर जिनवचनों को कर्णाहुति की भांति सुनकर साधुओं के मध्य स्थित मुनि संसार समुद्र को तैरने के लिए समर्थ होते हैं।

४३५२. सव्वे सव्वद्धाए, सव्वण्णू सव्वकम्मभूमीसु।
सव्वगुरु सव्वमहिता, सव्वे मेरुम्मि अभिसित्ता॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४३५३. सव्वाहि वि लद्धीहिं, सव्वे वि परीसहे पराइत्ता।
सव्वे वि य तित्थगरा, पादोवगया तु सिद्धिगया॥

सभी कालों में, सभी कर्मभूमियों में होने वाले सभी सर्वज्ञ, सर्वगुरु, सर्वमहित—सर्वपूजित, सभी मेरु पर्वत पर अभिषिक्त, सभी प्रकार की लब्धियों से संपन्न तथा सभी परीषह को पराजित कर वे सभी तीर्थंकर प्रायोपगमन अनशन स्वीकार कर सिद्धि को प्राप्त हुए।

४३५४. अवसेसा अणगारा, तीत-पडुप्पण्णऽणागता सव्वे।
केई पादोवगया, पच्चक्खाणिंगिणिं केई॥

अतीत, अनागत और वर्तमान के अवशिष्ट सभी अनगारों में कुछेक ने प्रायोपगमन, कुछेक ने प्रत्याख्यान—भक्तपरिज्ञा तथा कुछेक ने इंगिनी को प्राप्त किया है।

४३५५. सव्वाओ अज्जाओ, सव्वे वि य पढमसंघयणवज्जा।
सव्वे य देसविरता पच्चक्खाणेण तु मरंति॥

सभी आर्यिकाएं, सभी प्रथमसंहनन से रहित मुनि, सभी देशविरत भक्तपरिज्ञा को स्वीकार कर मृत्यु को प्राप्त हो सकते हैं।

४३५६. सव्वसुहप्पभवाओ, जीवियसाराउ सव्वजणगाओ।
आहाराओ रतणं, न विज्जति हु उत्तमं लोए॥

आहार समस्त सुखों का उत्पादक, जीवितसार तथा सभी का जनक है। ऐसे आहार से अन्य कोई उत्तम रत्न लोक में दूसरा नहीं है।

४३४७. विग्गहगते य सिद्धे य मोत्तु लोगम्मि जत्तिया जीवा।
सव्वे सव्वावत्थं, आहारे होंति उवउत्ता॥

विग्रहगति को प्राप्त जीवों तथा सिद्धों को छोड़कर लोक में जितने जीव हैं, वे सभी अवस्थाओं में आहार में उपयुक्त होते हैं।

४३५८. तं तारिसगं रयणं, सारं जं सव्वलोगरयणाणं।
सव्वं परिच्चइत्ता, पादोवगता पविहरंति॥

समस्तलोक के रत्नों में सारभूत वैसे (आहारतुल्य) रत्न का सर्वथा परित्याग कर प्रायोपगमन अनशन में विहरण करने वाले धन्य हैं।

४३५९. एयं पादोवगमं, निप्पडिकम्मं जिणेहि पण्णत्तं।
जं सोऊणं खमओ, ववसायपरक्कमं कुणति॥

जिनेश्वर देव ने इस प्रायोपगमन अनशन को निष्प्रतिकर्म प्रज्ञप्त किया है। इसको सुनकर क्षपक उसमें व्यापृत रहने के लिए पराक्रम करता है।

४३६०. कोई पीरसहेहिं, वाउलिओ वेयणद्दिओ वावि।
ओभासेज्ज कयाई, पढमं बितियं च आसज्ज॥
४३६१. गीतत्थमगीतत्थं, सारेउ मतिविबोहणं काउं।
तो पडिबोहिय छट्ठे, पढमे पगयं सिया बितियं॥

कोई अनशनी परीषहों से व्याकुलित होकर अथवा वेदना से पीड़ित होकर कदाचित् अशन और पानक के रूप में कुछ याचना करे तब उसे 'तुम गीतार्थ हो अथवा अगीतार्थ' आदि की स्मृति कराते हैं और यथार्थ मति-विबोधन कराकर, उसे छठे व्रत रात्रीभोजन संबंधी प्रतिबोध देकर पहला अशन प्रस्तुत करे फिर दूसरा पानक उसे लाकर दे।

४३६२. हंदी परीसहचमू, जोहेतव्वा मणेण काएणं।
तो मरणदेसकाले, कवयब्भूतो उ आहारो॥

अनशनी को आहार-पानी कैसे दिया जा सकता है—इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं—हे वत्स! उस भक्तप्रत्याख्याता योद्धा को परीषह सेना के साथ मन, वचन और काया से युद्ध करना होता है। अतः मृत्यु के समय यह कवचतुल्य आहार उसे दिया जाता है।

४३६३. संगामदुगं महसिलरधमुसल चेव परूवणा तस्स।
असुरसुरिंदावरणं, चेडग एगो गह सरस्स॥

दो संग्राम हुए—महाशिलाकंटक तथा रथमुशल। इनकी प्ररूपणा व्याख्याप्रज्ञप्ति में है। असुरेंद्र ने कोणिक को वज्रमय प्रतिरूपक से ढंक दिया। चेटक के सारथी ने बाणों के एक गृह का निर्माण किया।

४३६४. महसिल कंटे तहियं, वट्टंते कूणिओ उ रधिएणं।
रुक्खग्गविलग्गेणं, पिट्ठे पहतो उ कणगेणं॥
४३६५. उप्फिडितुं सो कणगो, कवयावरणम्मि तो ततो पडितो।
तो तस्स कूणिएणं, छिन्नं सीसं खुरप्पेणं॥

महाशिलाकंटक संग्राम हो रहा था। तब चेटक के रथिक ने निरंतर बाण वर्षा से कोणिक को आच्छादित कर दिया। परंतु वे सारे बाण उसके वज्रमय शरीर से टकराकर नीचे गिर गए। चेटक वृक्ष पर चढ़ गया और वहीं से कनक—प्रहरण-विशेष से कोणिक की पीठ पर प्रहार किया। वह कनक भी कोणिक के व्रजयम कवचावरण से टकरा कर नीचे गिर पड़ा। तब कोणिक ने क्षुरप्र से चेटक का शिरच्छेद कर डाला।

४३६६. दिट्ठंतस्सोवणओ, कवयत्थाणी इधं तहाहारो।
सत्तू परीसहा खलु, आराहण रज्जथाणीया॥

प्रस्तुत दृष्टांत का यह उपनय है—कवचस्थानीय है तथारूप आहार, शत्रु हैं परीषह और राज्यस्थानीय है आराधना।

४३६७. जह वाऽऽउंटिय पादे, पायं काऊण हत्थिणो पुरिसो।
आरुभति तह परिण्णी, आहारेणं तु झाणवरं॥

जैसे हाथी पर चढ़ने वाला पुरुष हाथी के पैरों को आकुंचित कराकर, उन पर अपना पैर रखकर हाथी पर चढ़ता है, वैसे ही परिज्ञी—भक्तपरिज्ञा को स्वीकार करने वाला आहार के द्वारा उत्तम ध्यान में आरूढ़ होता है।

४३६८. उवगरणेहि विहूणो, जध वा पुरिसो न साधए कज्जं।
एवाहारपरिण्णी दिट्ठंता तत्थिमे होंति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे उपकरणविहीन पुरुष कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता वैसे ही परिज्ञी–भक्तप्रत्याख्याता आहार के बिना परीषहों आदि को पराजित नहीं कर सकता। यहां ये दृष्टांत हैं–

४३६९. लावए पवए जोधे, संगामे पंथिगे ति य।
आउरे सिक्खए चेव, दिट्ठंतो कवए ति या॥

४३७०. दत्तेणं नावाए, आउह-पहुवाहणोसहेहिं च।
उवगरणेहिं च विणा, जहसंखमसाधगा सव्वे॥

जैसे लावक–फसल को काटने वाला दात्र के बिना, प्लावक–नदी पार कराने वाला नावा के बिना, संग्राम में योद्धा आयुधों के बिना, पथिक उपानत् (जूतों) के बिना, रोगी औषधि के बिना तथा शिष्यक (वादित्र कला आदि सीखनेवाला) उपकरणों के बिना–ये सारे यथोक्त साधनों के बिना कार्य के असाधक होते हैं।

४३७१. एवाहारेण विणा, समाधिकामो न साहए समाधिं।
तम्हा समाधिहेऊ, दातव्वो तस्स आहारो॥

इसी प्रकार समाधि का इच्छुक मुनि आहार के बिना समाधि को नहीं साध सकता। अतः समाधि के लिए उस परिज्ञी को आहार देना चाहिए।

४३७२. सरीमुज्झियं जेण, को संगो तस्स भोयणे।
समाधिसंधणाहेउं, दिज्जए सो उ अंतिए॥

जिसने शरीर को छोड़ दिया, उसके मन में भोजन के प्रति कैसा लगाव! आचार्य कहते हैं–समाधि के संधान के लिए अर्थात् उसकी समाधि का व्याघात न हो, इसलिए अंत समय में उसे आहार दिया जाता है।

४३७३. सुद्धं एसित्तु ठावेंति, हाणीए वा दिणे दिणे।
पुव्वुत्ताए उ जयणाए, तं तु गोवेंति अन्नहिं॥

शुद्ध आहार-पानक की गवेषणा कर उसको स्थापित करते हैं। वैसे आहार की अप्राप्ति होने पर प्रतिदिन पूर्वोक्त यतना से गवेषणा कर अन्यत्र गुप्तरूप में उसको स्थापित करते हैं।

४३७४. निव्वाघाएणेवं, कालगयविगिंचणा उ विधिपुव्वं।
कातव्व चिंधकरणं, अचिंधकरणे भवे गुरुगा॥

निर्व्याघातरूप से परिज्ञी के कालगत हो जाने पर उसका विधिपूर्वक परिष्ठापन करना चाहिए तथा उस पर चिन्ह करना चाहिए।[1] चिन्ह न करने पर चारगुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

४३७५. सरीर-उवगरणम्मि य,
अचिंधकरणम्मि सो उ रातिणिओ।
मग्गणगवेसणाए,
गामाणं घातणं कुणति॥

कालगत मुनि रत्नाधिक–वृद्ध हो सकता है। उसके शरीर पर तथा उपकरण पर चिन्ह न करने पर, शव को देखकर, इस गृहस्थ को किसी ने मारा है, यह सोचकर कोई दंडिक को शिकायत करता है। दंडिक मार्गणा-गवेषणा करने के लिए आसपास के गांवों के लोगों को दंडित कर सकता है।

४३७६. न पगासेज्ज लहुत्तं, परीसहुदएण होज्ज वाघातो।
उप्पण्णे वाघाते, जो गीतत्थाण उ उवाओ॥

'यह भक्तप्रत्याख्याता है'–यह बात प्रकाशित न करे क्योंकि परीषहों के उदय से प्रत्याख्यान का व्याघात–विलोप हो सकता है। व्याघात उत्पन्न होने पर गीतार्थों का उपाय प्रयुक्त करना चाहिए।

४३७७. को गीताण उवाओ, संलेहगतो ठविज्जते अन्नो।
उच्छहते जो अन्नो, इतरो उ गिलाणपडिकम्मं॥

४३७८. वसभो वा ठाविज्जति,
अण्णस्सऽसतीय तम्मि संथारे।
कालगतो त्ति य काउं,
संझाकालम्मि णीणेंति॥

गीतार्थों का उपाय क्या है? आचार्य कहते हैं–ऐसी स्थिति में जो संलेखनागत अन्य मुनि है उसको अथवा अन्य कोई मुनि को जो उपाय के अनुसार करने में उत्साहित है तो उसे उस परिज्ञी के संस्तारक पर सुला दिया जाता है और उस भक्त-प्रत्याख्याता का निर्जनस्थान में ग्लानपरिकर्म किया जाता है। यदि यह संभव न हो तो वृषभ मुनि को उस संस्तारक पर स्थापित करना चाहिए। फिर रात्री में वह भक्तप्रत्याख्याता मुनि कालगत हो गया–ऐसा प्रकाशित कर, रात्री के चरम प्रहर के संध्याकाल में उसे बाहर भेज दिया जाता है।

४३७९. एवं तू णायम्मी, दंडिगमादीहि होति जयणा उ।
सय गमणपेसणं वा, खिंसण चउरो अणुग्घाता॥

यदि दंडिक आदि को यह ज्ञात हो जाए तो यह यतना ज्ञातव्य है। सभी साधु वहां से विहार कर जाएं अथवा किसी सहायक के साथ उसे अन्यत्र प्रेषित कर दे। जो परिज्ञा का लोप करने वाले की खिंसना करता है उसे चार अनुद्घात गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

४३८०. सपरक्कमे जो उ गमो, नियमा अपरक्कमम्मि चेव।
नवरं पुण नाणत्तं, खीणे जंघाबले गच्छे॥

सपराक्रम भक्तप्रत्याख्यान के विषय में जो विकल्प है वही अपराक्रम भक्तप्रत्याख्यान में नियमतः ज्ञातव्य है। केवल यह नानात्व है कि अपराक्रम जंघाबल के क्षीण हो जाने के कारण

---

१. चिन्हकरण दो प्रकार से होता है–शरीर पर, उपकरण पर। शरीर पर–उसका लोच करना चाहिए। उपकरण पर–उसके पास रजोहरण, चोलपट्टक तथा मुख पर मुखवस्त्रिका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गच्छ में रहता है।

४३८१. एमेव आणुपुव्वी, रोगायंकेहि नवरि अभिभूतो।
बालमरणं पि सिया हु, मरिज्ज व इमेहि हेतूहिं॥

इसी प्रकार क्रम से व्याघातिम भक्तप्रत्याख्यान के विषय में जानना चाहिए। अंतर केवल इतना ही है कि मुनि रोग और आतंकों से अभिभूत होकर उसे स्वीकार करता है। यदि वह निम्नलिखित इन हेतुओं से मरता है तो वह व्याघातिम भक्तप्रत्याख्यान मरण बालमरण भी हो सकता है।

४३८२. वालच्छ-भल्ल विस विसूइकए
आयंक सन्निकोसलए।
ऊसासगद्ध रज्जू,
ओमऽसिवऽभिधायसंबद्धो॥

व्याल, अच्छभल्ल, विष, विसूचिका, आतंक, संज्ञी कोशलक–श्रावक कोशलदेशवासी, उच्छ्वास, गृध्रपृष्ठ, फांसी, दुर्भिक्ष, अशिव, घात, संबद्ध–जकड़न। (व्याख्या आगे के श्लोकों में।)

४३८३. वालेण गोणसादी, खदितो हुज्जाहि सडिउमारद्धो।
कण्णोट्ठणासिगादी, विभंगिया अच्छभल्लेणं॥
४३८४. विसेण लद्धो होज्जा, विसूइगा वा से उट्ठिता होज्जा।
आयंको वा कोई, खयमादी उट्ठिओ होज्जा॥
४३८५. तिण्णि तु वारा किरिया,
तस्स कय हवेज्ज नो य उवसंतो।
जध वोमे कोसलेण,
सण्णीणं पंच उ सयाइं॥
४३८६. साहूणं रुद्धाइं, अहयं भत्तं तु तुज्झ दाहामो।
लाभंतरं च नाउं, लुद्धेणं धण्णविक्कीयं॥
४३८७. तो णाउ वित्तिछेदं, ऊसासनिरोधमादिणि कयाइ।
अणधीयासे तेहिं, वेदण साधूहि ओमम्मि॥

व्याल, गोनस–सांप आदि के काटने पर क्षीण होता हुआ, अथवा अच्छभल्ल (भालू) के द्वारा कान, ओष्ठ, नाक आदि काट देने पर अथवा विष से व्याप्त हो जाए, उसके विसूचिका हो जाए, क्षय आदि आतंक उत्थित हो जाए, तीन बार उसकी चिकित्सा करा लेने पर भी वह शांत नहीं हुआ तब बालमरण का उपक्रम करता है तथा एक बार दुर्भिक्ष के समय में कोशल श्रावक ने अन्यत्र विहार कर जाते हुए पांच सौ साधुओं को यह कहकर रोक लिया है कि मैं तुमको भक्त दिलाऊंगा। उस लोभी श्रावक ने लाभ विशेष को जानकर धान्य बेच डाला। मुनियों ने वृत्तिच्छेद को जानकर, वेदना को सहन न कर सकने के कारण उच्छ्वासनिरोध आदि कर उस दुर्भिक्ष में बाल मरण से मर गए। (कुछ गृध्रपृष्ठमरण से और कुछ फांसी लेकर मर गए।)

४३८८. अभिघातो वा विज्जू,
गिरिभित्ती कोणगादि वा हुज्जा।
संबद्धहत्थपादादओ,
व वातेण होज्जाहि॥

विद्युत् के अभिघात से अथवा गिरिभित्ति के गिरने से होने वाला अभिघात अथवा गिरिकोण से गिरते समय होने वाला अभिघात–इनसे बालमरण होता है।

४३८९. एतेहि कारणेहिं, पंडितमरणं तु काउ असमत्थो।
ऊसासगद्धपट्ठं, रज्जुग्गहणं व कुज्जाही॥

इन कारणों से (व्यालभक्षण आदि) पंडितमरण करने में असमर्थ मुनि उच्छ्वासनिरोध, गृध्रपृष्ठ, रज्जुग्रहण (फांसी) आदि से मरते हैं।

४३९०. अणुपुव्वविहारीणं, उस्सग्गनिवाइयाण जा सोधी।
विहरंतए न सोधी, भणिता आहारलोवेण॥

अनुपूर्वविहारी–अर्थात् ऋतुबद्धकाल में मासकल्प से तथा वर्षावास में चारमास के कल्प से विहरण करने वालों तथा उत्सर्ग से संयम पालन करने वालों की जो शोधि होती है, वह शोधि व्याल आदि व्याघात से विहरण करने वालों की नहीं होती, क्योंकि आहार के लोप के कारण वे उत्तरगुणों की वृद्धि नहीं कर पाते। (अतः वे बालमरण स्वीकार कर लेते हैं।)

४३९१. पव्वज्जादी काउं, नेतव्वं जाव होतऽवोच्छित्ती।
पंच तुलेऊण य तो, इंगिणिमरणं परिणतो य॥

प्रव्रज्या लेकर तीर्थ की व्यवच्छित्ति होने तक उसका पालन करना चाहिए। फिर मुनि पांच तुलाओं (तपः, सूत्र, सत्व, एकत्व और बल) से स्वयं को तोलकर इंगिनीमरण में परिणत हो, उसे स्वीकार करे।

४३९२. आयप्परपडिकम्मं, भत्तपरिण्णाय दो अणुण्णाता।
परिवज्जिया य इंगिणि, चउव्विधाहारविरती य॥

भक्तपरिज्ञा में दो अनुज्ञात हैं–स्वपरिकर्म और परपरिकर्म। इंगिनी में परपरिकर्म वर्जित है। भक्तपरिज्ञा में चतुर्विध अथवा त्रिविध आहार की विरति होती है, इंगिनी में नियमतः चतुर्विध आहार की विरति होती है।

४३९३. ठाण-निसीय तुयट्टण, इत्तरियाइं जधासमाधीए।
सयमेव य सो कुणती, उवसग्गपरीसहऽहियासे॥
४३९४. संघयणधितीजुत्तो, नवदसपुव्व सुतेण अंगा वा।
इंगिणि पादोवगमं, नीहारी वा अनीहारी॥

उठना, बैठना, सोना–ये इत्वरिक कार्य वह अपनी समाधि के अनुसार स्वयं करता है। वह उपसर्ग और परीषहों को सम्यक्तया सहन करता है। वह प्रथम तीन संहननों में से किसी एक तथा धृति से युक्त तथा श्रुत से दश-नौ पूर्व अथवा अंगों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञाता होता है, वह इंगिनीमरण को स्वीकार कर सकता है। प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करने वाले के दो प्रकार हैं—निर्हारी और अनिर्हारी।

४३९५. पादोवगमं भणियं, समविसमे पादवो जहा पडितो।
नवरं परप्पओगा, कंपेज्ज जधा चलतरुव्व॥

इसे पादपोपगम (प्रायोपगमन) इसलिए कहा है कि जैसे पादप विषम अथवा समरूप से गिरा हो, वह वैसे ही स्थित रहता है, वैसे ही अनशनी भी यावज्जीवं उसी प्रकार पड़ा रहता है जैसे वह सम या विषमरूप से पड़ा है। विशेष यह है कि जैसे वृक्ष पर-प्रयोग से कंपित होता है, वैसे ही वह भी पर-प्रयोग से चल होता है।

४३९६. तसपाणबीयरहिते, विच्छिन्नवियारथंडिलविसुद्धे।
निद्दोसा निद्दोसे, उवेंति अब्भुज्जयं मरणं॥

विशुद्ध स्थंडिल भूमी जो त्रसप्राण तथा बीज रहित हो, निर्दोष हो, विस्तीर्ण हो वहां निर्दोष मुनि अभ्युद्यतमरण स्वीकार करते हैं।

४३९७. पुव्वभवियवेरेणं, देवो साहरति कोवि पाताले।
मा सो चरमसरीरो, न वेदणं किंचि पाविहिति॥

पूर्वजन्म के वैर के कारण कोई देव उस प्रायोपगमन अनशनी का संहरण कर पाताल में ले जाता है और वह चरमशरीरी होने के कारण किंचित् वेदना प्राप्त नहीं करता हुआ उस उपसर्ग को सहन करता है।

४३९८. उप्पन्ने उवसग्गे, दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य।
सव्वे पराइणित्ता, पाओवगता पविहरंति॥

सभी उत्पन्न दिव्य, मानुष तथा तैरश्च उपसर्गों को पराजित कर प्रायोपगमन अनशनी विचरण करते हैं।

४३९९. जह नाम असी कोसे,
अण्णो कोसे असी वि खलु अण्णे।
इय मे अन्नो देहो,
अन्नो जीवो त्ति मण्णंति॥

जैसे तलवार कोशगत है, परंतु कोश अन्य है तथा तलवार अन्य है, वैसे ही मेरा यह शरीर अन्य है तथा आत्मा अन्य है—इस प्रकार वह मानता है।

४४००. पुव्वावरदाहिणउत्तरेहिं, वातेहि आवयंतेहिं।
जह न वि कंपति मेरू, तध ते झाणाउ न चलंति॥

जैसे मेरुपर्वत पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर—इन दिशाओं से आकर टकराने वाली वायुओं से प्रकंपित नहीं होता, वैसे ही प्रायोपगमन में स्थित मुनि ध्यान से चलित नहीं होता।

४४०१. पढमम्मि य संघयणे, वट्टंता सेलकुड्डसमाणा।
तेसिं पि य वुच्छेदो, चोद्दसपुव्वीण वोच्छेदे॥

प्रथम संहनन (वज्रऋषभनाराच) में वर्तमान मुनि शैल-कुड्य के समान होते हैं। वे प्रायोपगमनमरण स्वीकार करते हैं। उनके व्यवच्छेद से चौदहपूर्वियों का भी व्यवच्छेद हो जाता है।

४४०२. दिव्वमणुया उ दुग तिग,
अस्से पक्खेवगं सिया कुज्जा।
वोसट्ठचत्तदेहो,
अधाउयं कोइ पालेज्जा॥

देवता अथवा मनुष्य द्रव्यों का द्विक अथवा त्रिक अनशनी के मुंह में प्रक्षेप कर दे। फिर भी वह व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह मुनि यथायुः—यथावस्थित आयु तक प्रतिज्ञा का पालन करता है।

४४०३. अणुलोमा पडिलोमा, दुगं तु उभयसहिता तिगं होति।
अधवा चित्तमचित्तं, दुगं तिगं मीसगसमग्गं॥

द्रव्यों का द्विक तथा त्रिक—अनुलोम द्रव्य, प्रतिलोमद्रव्य—यह द्विक तथा उभयसहित त्रिक, अथवा सचित्त, अचित्त द्रव्य—यह द्विक तथा वही मिश्रसमग्र त्रिक है।

४४०४. पुढवि-दग-अगणि-मारुय-
वणस्सति तसेसु कोवि साहरति।
वोसट्ठचत्तदेहो,
अधाउयं कोवि पालेज्जा॥

कोई प्रायोपगमन अनशनी मुनि का पृथ्वीकाय में, अप्काय में, अग्निकाय में, वायुकाय में अथवा वनस्पति काय में संहरण कर ले। वह संहृत व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह मुनि यथायुः प्रतिज्ञा का पालन करता है।

४४०५. एगंतनिज्जरा से, दुविधा आराधणा धुवा तस्स।
अंतकिरियं व साधू करेज्ज देवोववत्तिं वा॥

उसके एकांत निर्जरा होती है तथा दो प्रकार की आराधना—सिद्धिगमनयोग्य अथवा कल्पोपपत्तियोग्य निश्चित होती है। या तो वह साधु अन्तक्रिया करता है अथवा देवों में उपपन्न होता है।

४४०६. मज्जणगंधं पुप्फोवयारपरिचारणं सिया कुज्जा।
वोसट्ठचत्तदेहो, अधाउयं को वि पालेज्जा॥

कदाचित् प्रायोपगमन में स्थित मुनि को कोई स्नान करा दे, शरीर पर गंधद्रव्य लगा दे, पुष्पोपचार कर दे, परिचारणा—गले लगाना, चुम्बन आदि करना—ये सारी क्रियाएं करे, फिर भी वह व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह मुनि यथायुः प्रतिज्ञा का पालन करता है।

४४०७. पुव्वभवियपेम्मेणं, देवो देवकुरु-उत्तरकुरासु।
कोई तु साहरेज्जा, सव्वसुहा जत्थ अणुभावा॥

कोई देव पूर्वभविक प्रेम के कारण अनशन में स्थित उस मुनि का संहरण कर देवकुरु अथवा उत्तरकुरु में ले जाता है, जहां सभी अनुभाव शुभ होते हैं। (फिर भी मुनि यथायुः प्रतिज्ञा का पालन करता है।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४४०८. पुव्वभवियपेम्मेणं, देवो साहरति नागभवणम्मि।
जहियं इट्ठ कंता, सव्वसुहा होंति अणुभावा॥

कोई देव पूर्वभविक प्रेम के कारण अनशन में स्थित उस मुनि का संहरण कर नाग भवन में ले जाता है जहां सभी अनुभाव इष्ट, कांत और शुभ होते हैं। (फिर भी वह मुनि यथायुः प्रतिज्ञा का पालन करता है।)

४४०९. बत्तीसलक्खणधरो, पाओवगतो य पागडसरीरो।
पुरिसव्वेसिणि कण्णा, राइविदिण्णा तु गेण्हेज्जा॥

४४१०. मज्जणगंधं पुप्फोवयारपरियारणं सिया कुज्जा।
वोसट्ठचत्तदेहो, अहाउयं कोवि पालेज्जा॥

कोई बत्तीस लक्षणों से युक्त, सुंदर शरीरवाला मुनि प्रायोपगमन अनशन में स्थित है। उसको कोई पुरुषद्वेषिणी राजकन्या राजा की आज्ञा से ग्रहण कर लेती है और उसे स्नान कराती है, गंध द्रव्य का लेप करती है, पुष्पोपचार कर परिचारणा करती है फिर भी वह व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह मुनि यथायुः प्रतिज्ञा का पालन करता है।

४४११. नवंगसुत्तप्पडिबोहयाए, अट्ठारसरतिविसेसकुसलाए।
बावत्तरिकलापंडियाए, चोसट्ठिमहिलागुणेहिं च॥

उस राजकन्या ने अपने सुप्त नौ अंगों को जागृत कर लिया था अर्थात् सभी अंग अपने गुणों से प्रतिबद्ध हो गए थे, वह यौवन को पूर्णरूपेण प्राप्त थी। वह अठारह देशीभाषाओं तथा कामरतिविशेष में कुशल, बहत्तर कलाओं की पंडित तथा चौसठ महिलागुणों में प्रवीण थी।

४४१२. दो सोय नेत्तमादी, नवंगसोया हवंति एते तु।
देसी भासऽट्ठारस, रतीविसेसा उ इगवीसं॥

४४१३. कोसल्लमेक्कवीसइविधं तु एमादिएहि तु गुणेहिं।
जुत्ताए रूव-जोव्वण-विलासलावण्णकलियाए॥

४४१४. चउकण्णंसि रहस्से,
रागेणं रायदिण्णपसराए।
तिमि-मगरेहि व उदधीं,
न खोभितो जो मणो मुणिणो॥

४४१५. जाधे पराजिता सा, न समत्था सीलखंडणं काउं।
नेऊण सेलसिहरं, तो से सिल मुंचए उवरिं॥

ये नौ अंग—दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नाशापुट, जिह्वा, स्पर्शन और मन—यौवन से पूर्व सुप्त रहते हैं। देशीभाषाएं अठारह हैं। रतिविशेष इक्कीस हैं। कौशल इक्कीस प्रकार का है। इन सभी गुणों से युक्त तथा रूप, यौवन, विलास और लावण्य से कलित वह राजकन्या जो चतुःकर्ण रहस्य से युक्त तथा रागवश राजा द्वारा प्रदत्त आवश्यक वेग वाली थी, वह मुनि को अनेक प्रकार से क्षुब्ध करने लगी। फिर भी मुनि का मन उससे क्षुब्ध नहीं हुआ जैसे समुद्र बड़ी मछलियों और मगरमच्छों से क्षुब्ध नहीं होता। जब वह मुनि के शील का खंडन करने में समर्थ नहीं हुई तब पराजित होकर वह मुनि को शैल-शिखर पर ले गई और नीचे गिरा कर उस पर शिला फेंकी।

४४१६. एगंतनिज्जरा से, दुविधा आराहणा धुवा तस्स।
अंतकिरियं व साधू, करेज्ज देवोववत्तिं वा॥

समभाव में रमण करने वाले मुनि के एकांत निर्जरा होती है तथा दो प्रकार की आराधना—सिद्धिगमनयोग्य अथवा कल्पोपपत्तियोग्य—निश्चित होती है। या तो वह मुनि अंतक्रिया करता है या देवों में उपपन्न होता है।

४४१७. मुणिसुव्वयंतवासी, खंदगदाहे य कुंभकारकडे।
देवी पुरंदरजसा, दंडगि पालक्क मरुगे य॥

४४१८. पंचसता जंतेणं, रुट्ठेण पुरोहिएण मलिताइं।
रागद्दोसतुलग्गं, समकरणं चिंतयंतेहिं॥

कुंभकारकृत नगर में दंडकी नाम का राजा था। उसकी पटरानी का नाम पुरंदरयशा तथा ब्राह्मण पुरोहित का नाम पालक था। एक बार भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी के शिष्य स्कंदक अपने पांच सौ शिष्यों के साथ वहां आए। रुष्ट होकर पुरोहित पालक ने पांच सौ मुनियों को कोल्हू में पीलकर मार डाला। वे सभी मुनि राग-द्वेष के तुलाग्र को सम करते हुए, समभाव का चिंतन करने लगे। उनके तनिक भी ध्यान-विक्षेप नहीं हुआ।

स्कंदक भी यंत्र में पीला गया। वह आर्त्तध्यान में मरकर अग्निकुमार देवों में उत्पन्न हुआ। पूर्व भव की स्मृति कर उसने देश का दाह कर दिया—उसे जला डाला।

४४१९. जंतेण करकतेण व, सत्थेण व सावएहि विविधेहिं।
देहे विद्धंसंते, न य ते झाणाउ फिट्टंति॥

यंत्र के द्वारा, करवत और शस्त्र के द्वारा खड्ग के द्वारा विविध श्वापदों—हिंस्र पशुओं के द्वारा शरीर का विध्वंस होने पर भी प्रायोपगत मुनि का ध्यान भंग नहीं होता।

४४२०. पडिणीययाए कोई, अग्गिं से सव्वतो पदेज्जाहि।
पादोवगते संते, जह चाणक्कस्स व करीसे॥

कोई शत्रुता से प्रेरित होकर प्रायोपगमन में स्थित मुनि के चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर दे, जैसे—कंडों के मध्य स्थित चाणक्य के चारों ओर (सुबंधु अमात्य ने) अग्नि जला डाली फिर भी मुनि ध्यान से विचलित नहीं हुए।

४४२१. पडिणीययाए केई, चम्मं से खीलएहि विहुणित्ता।
महुघतमक्खियदेहं, पिवीलियाणं तु देज्जाहि॥

कोई शत्रुता से प्रेरित होकर प्रायोपगमन में स्थित मुनि के चर्म (शरीर) को कीलों से ऊधेड़ कर फिर मधु और घृत से शरीर को चुपड़ कर पिपीलिकाओं—चींटियों को दे देता है। (फिर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी वे मुनि उस कष्ट को समभाव से सहते हैं।)

४४२२. जह सो चिलायपुत्तो, वोसट्ठ-निसट्ठ चत्तदेहो उ।
सोणियगंधेण पिवीलियाहि जह चालणिव्व कतो॥

जैसे निःसृष्ट—व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह उस चिलातीपुत्र के रक्त की गंध से पिपीलिकाओं ने शरीर को चालनी कर डाला, फिर भी वह धीरपुरुष ध्यान से विचलित नहीं हुआ।

४४२३. जध सो कालायसवेसिओ,
वि मोग्गल्लसेलसिहरम्मि।
खइतो विउव्विऊणं
देवेण सियालरूवेणं॥

जैसे मोद्गलशैलशिखर पर प्रायोपगमन में स्थित कालादवैश्य मुनि को देवता श्रृगालरूप की विक्रिया कर खा डाला।

४४२४. जह सो वंसिपदेसी, वोसट्ठ-निसट्ठे चत्तदेहो उ।
वंसीपत्तेहि विणिग्गतेहि आगासमुक्खित्तो॥

जैसे व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह प्रायोपगमन अनशन में स्थित एक मुनि को किसी शत्रु ने बांस के प्रदेश में (झुरमुट) में फेंक दिया। जब नीचे से बांस के पत्ते अंकुररूप में बढ़े तब वह मुनि उनके द्वारा आकाश में उछाल दिया गया। उसने समभाव से वेदना को सहा।

४४२५. जधऽवंतीसुकुमालो, वोसट्ठ-निसट्ठे-चत्तदेहो ऊ।
धीरो सपेल्लियाए, सिवाय खइओ तिरत्तेणं॥

जैसे व्युत्सृष्ट-निःसृष्ट-त्यक्तदेह और धीर अवंतिसुकुमाल मुनि प्रायोपगमन में स्थित था तब पुत्र परिवार से वेष्टित एक श्रृगाली ने उसका तीन रात तक भक्षण किया।

४४२६. जध ते गोट्ठट्ठाणे, वोसट्ठ-निसट्ठ-चत्तदेहागा।
उदगेण वुज्झमाणा, वियरम्मि उ संकरे लग्गा॥

जैसे व्युत्सृष्ट-निःसृष्ट-त्यक्तदेह कुछ मुनि गोष्ठस्थान—प्रदेशविशेष में प्रायोपगमन अनशन में स्थित थे। वर्षा के पानी के प्रवाह में वे बहते हुए वितरक—नदी के स्रोत-पथ में अटक गए। वे वेदना को सहते हुए कालगत हो गए।

४४२७. बावीसमाणुपुव्वी, तिरिक्ख मणुया व भंसणत्थाए।
विसयाणुकंपरक्खण, करेज्ज देवा व मणुया वा॥

कोई मनुष्य अथवा तिर्यंच प्रायोपगमन अनशन में स्थित मुनि को चारित्र से भष्ट करने के लिए बावीस परीषहों की आनुपूर्वी (पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी अथवा अनानुपूर्वी) से उदीरणा करता है अथवा कोई देवता या मनुष्य शत्रुभाव से प्रेरित होकर अनिष्ट इन्द्रिय-विषयों की अथवा अनुकंपा से प्रेरित होकर इष्ट इन्द्रिय-विषयों की उदीरणा करते हैं अथवा उस मुनि का संरक्षण करते हैं, इस अवस्था में मुनि अरक्त-द्विष्ट रहकर सबको सहन करे।

४४२८. जह सा बत्तीसघडा, वोसट्ठ-निसट्ठ-चत्तदेहा उ।
धीरा घाएण उ दीविएण डिलयम्मि ओलइया॥

एक बार बत्तीस गोष्ठीपुरुष एक साथ प्रायोपगमन अनशन स्वीकार कर एकत्र स्थित थे। वे व्युत्सृष्ट-निःसृष्ट-त्यक्तदेह थे। द्विपांतरवासी एक तृप म्लेच्छ ने उन्हें देखा। (कल मेरे लिए ये भक्ष्य होंगे, ऐसा सोचकर) उसने सबको बांधकर एक वृक्ष की शाखा पर लटका दिया। (वे वेदना को समभाव से सहन करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुए।)

४४२९. एवं पादोवगमं, निप्पडिकम्मं तु वण्णितं सुत्ते।
तित्थगरा-गणहरेहि य, साहूहि य सेवियमुदारं॥

इस प्रकार प्रायोपगमन अनशन निष्प्रतिकर्म होता है, ऐसा आगमों में वर्णित है। तीर्थंकरों ने, गणधरों ने तथा साधुओं ने मन की प्रसन्नता से इसका आसेवन किया है।

४४३०. एसाऽऽगमववहारो, जधोवएसं जधक्कमं कथितो।
एत्तो सुतववहारं, सुण वच्छ ! जधाणुपुव्वीए॥

इस आगमव्यवहार का यथोपदिष्ट तथा यथाक्रम से कथन किया गया है। अब आगे वत्स! तुम यथानुपूर्वी श्रुतव्यवहार की बात सुनो।

४४३१. निज्जूढं चोद्दसपुव्विएण जं भद्दबाहुणा सुत्तं।
पंचविधे ववहारो, दुवालसंगस्स णवणीतं॥

चौदहपूर्वी भद्रबाहु ने पांच प्रकार के व्यवहार का निर्यूहण किया। यह द्वादशांग का नवनीत है—सारभूत है। वह सूत्र श्रुत कहलाता है। (उससे व्यवहार करना श्रुतव्यवहार है)

४४३२. जो सुतमहिज्जति बहुं, सुत्तत्थं च निउणं न याणेति।
कप्पे ववहारम्मि य, सो न पमाणं सुतधराणं॥

४४३३. जो सुतमहिज्जति बहुं, सुत्तत्थं च निउणं वियाणाति।
कप्पे ववहारम्मि य, सो उ पमाणं सुतधराणं॥

जिसने सूत्र—कल्प, व्यवहार—ये बहुत पढ़ लिए किंतु जो सूत्रार्थ को निपुणरूप से नहीं जानता, वह श्रुतधरों के लिए कल्प और व्यवहार में प्रमाणभूत नहीं होता।

जो इन सूत्रों को बहुत पढ़ता है और इनके अर्थ को भी निपुणता से जानता है, वह श्रुतधरों के लिए कल्प और व्यवहार में प्रमाणभूत होता है।

४४३४. कप्पस्स य निज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमनिउणस्स।
जो अत्थतो न जाणति, ववहारी सो णऽणुण्णातो॥

४४३५. कप्पस्स य निज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमनिउणस्स।
जो अत्थतो विजाणति, ववहारी सो अणुण्णातो॥

जो परमनिपुण कल्पाध्ययन की तथा व्यवहार की निर्युक्ति को अर्थतः नहीं जानता वह व्यवहारी के रूप में अनुज्ञात नहीं होता। जो परमनिपुण कल्पाध्ययन की तथा व्यवहार की निर्युक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को अर्थतः जानता है वह व्यवहारी के रूप में अनुज्ञात होता है।

४४३६. तं चेवऽणुमज्जंते, ववहारविधिं पउंजति जहुत्तं।
एसो सुतववहारी, पण्णत्तो धीरपुरिसेहिं॥

धीर पुरुषों ने उसको श्रुतव्यवहारी कहा है जो कल्प और व्यवहार सूत्र में निमज्जन कर यथोक्त व्यवहारविधि का प्रयोग करता है।

४४३७. एसो सुतववहारो, जहोवएसं जहक्कमं कहितो।
आणाए ववहारं, सुण वच्छ ! जहक्कमं वोच्छं॥

यह श्रुतव्यवहार यथोपदेश, यथाक्रम कहा गया है। वत्स! मैं आज्ञाव्यवहार का यथाक्रम निरूपण करूंगा। तुम सुनो।

४४३८. समणस्स उत्तिमट्ठे, सल्लुद्धरणकरणे अभिमुहस्स।
दूरत्था जत्थ भवे, छत्तीसगुणा उ आयरिया॥

कोई श्रमण उत्तमार्थ–भक्तप्रत्याख्यान करने के लिए तत्पर होकर अपने शल्यों का उद्धरण करने के अभिमुख है परंतु छत्तीसगुणों के धारक प्रायश्चित्त व्यवहारी आचार्य जहां दूरस्थ हों वहां आज्ञाव्यवहार का प्रवर्तन होता है।

४४३९. अपरक्कमो मि जातो, गंतुं जे कारणं तु उप्पण्णं।
अद्धारसमन्नतरे, वसणगते इच्छिमो आणं॥

वह आलोचना करने का इच्छुक मुनि सोचता है– अभी मैं अपराक्रम–अशक्त हो गया हूं। वहां जा नहीं सकता। उनके पास जाने का कारण प्रस्तुत हो गया। अठारह व्रतषट्क आदि स्थानों में से किसी एक स्थान में मेरे द्वारा अतिचार का सेवन हुआ है। मैं व्यसनगत अर्थात् उस अतिचार में पड़ा हूं। अतः आज्ञाव्यवहार की इच्छा करता हूं।

४४४०. अपरक्कमो तवस्सी, गंतुं सो सोधिकारगसमीवं।
आगंतु न चाएती, सो सोहिकरो वि देसातो॥

आलोचना का इच्छुक तपस्वी मुनि शोधिकारक आचार्य के समीप जाने में अशक्त है। वह शोधिकारक आचार्य भी दूरदेश से आ नहीं सकता।

४४४१. अध पट्ठवेति सीसं, देसंतरगमणनट्ठचेट्ठागो।
इच्छामऽज्जो काउं, सोहिं तुब्भं सगासम्मि॥

देशांतर गमन की चेष्टा–शक्ति नष्ट हो जाने पर वह शिष्य को भेजता है। यह कहलाता है–'आर्य! मैं आपके पास शोधि करना चाहता हूं।'

४४४२. सो वि अपरक्कमगती, सीसं पेसेति धारणाकुसलं।
एयस्स दाणि पुरतो, करेति सोहिं जहावत्तं॥

वह आलोचनाचार्य गति करने में असमर्थ होने के कारण अपने धारणाकुशल शिष्य को उसके पास भेजता है और जो मुनि आलोचना करने के इच्छुक मुनि के पास से आया है उसे यह संदेश देते हैं कि अभी इस शिष्य के सामने यथावृत्त शोधि करो।

४४४३. अपरक्कमो य सीसं, आणापरिणामगं परिच्छेज्जा।
रुक्खे य बीजकाए, सुत्ते वाऽमोहणाधारि॥

अशक्त आलोचनाचार्य भेजे जाने वाले शिष्य की परीक्षा कर यह जाने कि वह आज्ञापरिणामक[1] है या नहीं। उसकी यह परीक्षा वृक्ष और बीजकाय के आधार पर करनी चाहिए। (देखें आगे के दो श्लोक)। (फिर यह जाने कि वह अवग्रहकुशल है अथवा धारणाकुशल।) तत्पश्चात् यह परीक्षा करे कि वह सूत्र और अर्थ को मोहरहित होकर धारण कर सकता है या नहीं।

४४४४. दट्ठु महंत महीरुह, गणिओ रुक्खे विलग्गउं डेव।
अपरिणय बेति तहिं न, वट्टति रुक्खे तु अरोढुं॥
४४४५. किं वा मारेतव्वो, अहयं तो बेह डेव रुक्खातो।
अतिपरिणामो भणती, इय होऊ अम्ह वेसिच्छा॥

एक विशाल वृक्ष को देखकर आचार्य शिष्य को कहते हैं–'वत्स! इस वृक्ष पर चढ़ो, फिर कूद जाओ।' यह सुनकर अपरिणामक शिष्य कहता है–'वृक्ष पर चढ़ना साधु को नहीं कल्पता। क्या आप मुझे मारना चाहते हैं? इसलिए कहते हैं कि वृक्ष पर चढ़कर नीचे गिरो।' अतिपरिणामक शिष्य कहता है–ऐसा ही हो। मेरी भी यही इच्छा है। (इस प्रकार आत्मघात करने की।)

४४४६. बेति गुरू अह तं तू, अपरिच्छियत्थे पभाससे एवं।
किं व मए तं भणितो, आरुभ रुक्खे तु सच्चित्ते ?॥

यह उत्तर सुनकर गुरु अतिपरिणामक शिष्य को कहते हैं–'तुम मेरे कथन के तात्पर्य का परीक्षण (मीमांसा) किए बिना ही कह रहे हो कि मेरी भी यही इच्छा है।' फिर अपरिणामक शिष्य को कहते हैं–क्या मैंने तुमको यह कहा था कि सचित्त वृक्ष पर चढ़ो?

४४४७. तव-नियम-नाणरुक्खं, आरुभिउं भवमहण्णवावण्णं।
संसारगड्डकूलं, डेवेहि त्ती मए भणितो॥

आचार्य ने कहा–मैंने तो यह कहा था कि भवार्णव में प्राप्त तप-नियम-ज्ञानमय वृक्ष पर चढ़कर संसाररूपी गर्ता के कूल का उल्लंघन कर दो।

४४४८. जो पुण परिणामो खलु,
आरुह भणिते तु सो वि चिंतेती।
नेच्छंति पावमेते,
जीवाणं थावराणं पि॥
४४४९. किं पुण पंचेंदीणं, तं भवियव्वेत्थ कारणेणं तु।
आरुभण ववसियं तू, वारेति गुरूऽववट्ठंभे॥

१. आज्ञापरिणामक वह होता है जो गुरु द्वारा दी गई आज्ञा के कारण की पृच्छा नहीं करता कि ऐसी आज्ञा क्यों? किन्तु आज्ञा ही कर्त्तव्यता है, यही उसकी श्रद्धा होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणामक शिष्य को 'वृक्ष पर आरोह करो' यह कहने पर वह सोचता है—मेरे गुरु स्थावर जीवों की भी पाप— हिंसा करना नहीं चाहते तो फिर पंचेन्द्रिय प्राणी की हिंसा करने की बात ही क्या? गुरु के कथन में कोई कारण—रहस्य होना चाहिए। यह सोचकर वह शिष्य वृक्ष पर आरोहण करने के लिए तत्पर होता है तब गुरु उस आरोहण करने में व्यापृत शिष्य को रोकते हैं, निवारण करते हैं।

४४५०. एवाऽऽणह बीयाइं, भणिते पडिसेध अपरिणामो तु।
अतिपरिणामो पोट्टल, बंधूणं आगतो तत्थ॥

इसी प्रकार गुरु ने कहा—बीज लाओ। अपरिणामक प्रतिषेध करते हुए कहता है—बीज नहीं कल्पते। अतिपरिणामक बीजों की पोटली बांधकर गुरु के पास आ गया।

४४५१. ते वि भणिया गुरूणं,
मए भणियाऽऽणेह अंबिलीबीए।
न विरोधसमत्थाइं,
सच्चित्ताइं व भणिताइं॥

गुरु ने अपरिणामक से कहा—मैंने सचित्त अम्लिकाबीज लाने के लिए नहीं कहा था। मैंने कहा था—अम्लिकाबीज लाना है जो पुनः उगने में समर्थ न हों, जिनकी योनि विनष्ट हो गई हो।

४४५२. तत्थ वि परिणामो तू, भणती आणेमि केरिसाइं तू।
कित्तियमित्ताइं वा, विरोहमविरोहजोग्गाइं॥

आचार्य द्वारा बीज जाने के लिए कहने पर परिणामक शिष्य कहता है—किस प्रकार के बीच लाऊं—जो उगने में समर्थ हों अथवा उगने में असमर्थ हों और यह भी बताएं कि कितनी मात्रा में लाऊं?

४४५३. सो वि गुरूहिं भणितो, न ताव कज्जं पुणो भणीहामि।
हसितो व मए ता वि, वीमंसत्थं व भणितो सि॥

गुरु ने उसको भी कहा—'आर्य! अभी बीजों का कोई प्रयोजन नहीं है, प्रयोजन होने पर मैं कहूंगा। मैंने तो हंसी-हंसी में ही बीज लाने के लिए कहा था अथवा तुम्हारा विमर्श—परीक्षण करने के लिए कहा था।'

४४५४. पदमक्खरमुद्देसं, संधी-सुत्तत्थ-तदुभयं चेव।
अक्खरवंजणसुद्धं जह भणितं सो परिकहेति॥

पद, अक्षर, उद्देश, संधि, सूत्र, अर्थ तथा तदुभय— इनको अक्षर-व्यंजन शुद्ध रूप में आचार्य उसको अवग्रहण कराते हैं। यदि वह इन सबका यथावग्रहण कर पुनः कह देता है तो वह अवग्रह और धारणा में कुशल माना जाता है।

४४५५. एवं परिच्छिऊणं, जोग्गं णाऊण पेसवे तं तु।
वच्चाहि तस्सगासं, सोहिं सोऊणमागच्छ॥

इस प्रकार शिष्य की परीक्षा कर योग्य जानकर उसको भेजे और यह कहे कि तुम उस आलोचना करने के इच्छुक मुनि के पास जाओ और शोधि—आलोचना को सुनकर लौट आओ।

४४५६. अध सो गतो उ तहियं,
तस्स सगासम्मि सो करे सोधिं।
दुग-तिग-चऊविसुद्धं,
तिविधे काले विगडभावो॥

आलोचनाचार्य द्वारा भेजा गया वह शिष्य आलोचना करने वाले मुनि के पास जाए। वह मुनि उसके पास शोधि—आलोचना करे। आलोचना के ये बिंदु होते हैं—

द्विक अर्थात् (ज्ञानाचारसहित) तथा चारित्राचार तथा चारित्राचार के अंतर्गत मूलगुणातिचार तथा उत्तरगुणातिचार की आलोचना करे। त्रिक अर्थात् आहार, उपधि और शय्या विषयक अतिचारों की आलोचना करे। चतुर्विशुद्धा अर्थात् प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव विषयक, त्रिविध काल—अतीत, वर्तमान और प्रत्युत्पन्नकाल संबंधी अतिचारों के विकटभाव से—स्पष्टरूप से कुछ भी न छुपाता हुआ आलोचना करे।

४४५७. दुविहं तु दप्प-कप्पे, तिविहं नाणादिणं तु अट्ठाए।
दव्वे खेत्ते काले, भावे य चउव्विधं एयं॥
४४५८. तिविधं अतीतकाले, पच्चुप्पण्णे व सेवितं जं तु।
सेविस्सं वा एस्से, पागडभावो विगडभावो॥

वह दो प्रकार की शोधि करे—दर्पविषयक तथा कल्प-विषयक। ज्ञान आदि तीनों की अतिचार विशुद्धि के लिए शोधि करे। प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—यह चार प्रकार का विशोधन करे तथा त्रिविध काल—अतीत तथा प्रत्युत्पन्नकाल में जो अतिचार का सेवन किया और अनागत काल में अतिचार सेवन करने का अध्यवसाय किया—इन सबका प्रकटभाव से आलोचना करे।

४४५९. किं पुण आलोएती, अतियारं सो इमो य अतियारो।
वयछक्कादीओ खलु, नातव्वो आणुपुव्वीए॥

वह क्या आलोचना करे—यह पूछने पर आचार्य कहते हैं—अतिचार की आलोचना करे। वह अतिचार यह है—व्रतषट्क आदि विषयक। उसे क्रमशः जानना चाहिए।

४४६०. वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंक-निसेज्जा य, सिणाणं सोभवज्जणं॥

व्रतषट्क आदि ये १८ स्थान हैं—प्राणातिपातविरति आदि पांचमहाव्रत तथा छठा रात्रीभोजन विरमण—ये छह व्रत, छह काय, अकल्पपिंड, गृहिभाजन, पल्यंक पर बैठना, गोचरी में गृहस्थ के घर में निषीदन, स्नान तथा विभूषा का वर्जन—इन अठारह स्थानों में विधेयतया तथा प्रतिषेधतया यथोक्तरूप से पालन न किया हो तो आलोचना करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४४६१. तं पुण होज्जाऽऽसेविय, दप्पेणं अहव होज्ज कप्पेणं।
दप्पेण दसविधं तू, इणमो वोच्छं समासेणं॥

इनका दर्प से अथवा कल्प से आसेवन किया हो, उसकी आलोचना करे। दर्प से दस प्रकार के आसेवन का कथन संक्षेप में कहूंगा।

४४६२. दप्प अकप्प निरालंब, चियत्ते अप्पसत्थ वीसत्थे।
अपरिच्छ अकडजोगी, अणाणुतावी य णिस्संको॥

१. दर्प अर्थात् निष्कारण धावन आदि करना २. अकल्प का उपभोग ३. निरालंब प्रतिसेवना ४. चियत्त–बिना प्रयोजन अकृत्य की प्रतिसेवना ५. अप्रशस्त–बल, वर्ण आदि के निमित्त प्रतिसेवना ६. विश्वस्त–निर्भय होकर प्राणातिपातादि सेवी ७. अपरीक्षी–युक्तायुक्त के विवेक से विकल ८. अकृतयोगी–अगीतार्थ ९. अननुतापी १०. निःशंक–निर्दय इहलोक, परलोक की शंका से रहित।

४४६३. एयं दप्पेण भवे, इणमन्नं कप्पियं मुणेयव्वं।
चउवीसतीविहाणं, तमहं वोच्छं समासेणं॥

पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिसेवना करना दर्प प्रतिसेवना है। दूसरी कल्पिका प्रतिसेवना के २४ विधान, मैं संक्षेप में कहूंगा।

४४६४. दंसण-नाण-चरित्ते,
तव-पवयण-समिति-गुत्तिहेउं वा।
साहम्मियवच्छल्लेण
वावि कुलतो गणस्सेव॥

४४६५.संघस्सायरियस्स य,असहुस्स गिलाण-बालवुड्ढस्स।
उदययग्गि-चोर-सावय, भय-कंतारावती वसणे॥

१. दर्शन, २. ज्ञान ३. चारित्र ४. तप ५. प्रवचन ६. समिति ७. गुप्ति ८. साधर्मिकवात्सल्य ९. कुल १०. गण ११. संघ १२. आचार्य १३. असह–असमर्थ १४. ग्लान १५. बाल १६. वृद्ध १७. उदक प्लावन १८. अग्नि–दवाग्नि आदि १९. चोर २०. श्वापद २१. भय २२. कांतार २३. आपदा में और २४. मद्यपान आदि के व्यसन–इनके लिए की जाने वाली प्रतिसेवना कल्पिका प्रतिसेवना है।

४४६६. एयऽन्नतरागाढे, सदंसणे नाण-चरण-सालंबो।
पडिसेविउं, कयाई, होति समत्थो पसत्थेसु॥

इनमें से किसी विषयक प्रयोजन होने पर आगाढ़ ज्ञान, दर्शन, चारित्र का सालंब प्रतिसेवी कल्पप्रतिसेवना कर कदाचित् प्रशस्त प्रयोजन सम्पन्न करने में समर्थ हो सकता है। यह कल्पिका प्रतिसेवना है।

४४६७. ठावेउ दप्पकप्पे, हेट्ठा दप्पस्स दसपदे ठावे।
कप्पाधो चउवीसति, तेसिमहऽट्ठारसपदा उ॥

दर्प और कल्पप्रतिसेवना को स्थापित कर दर्पप्रतिसेवना के दस पद तथा कल्पप्रतिसेवना के २४ पदों को यथास्थान उन-उन विभागों के नीचे स्थापित करे। तत्पश्चात् उन दस और २४ पदों के नीचे अठारह पदों (व्रतषट्क आदि) की स्थापना करे।

४४६८. पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवितं होज्जा।
पढमे छक्के अब्भिंतरं तु पढमं भवे ठाणं॥

४४६९. पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवितं होज्जा।
पढमे छक्के अब्भिंतरं तु बीयं भवे ठाणं॥

४४७०. पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवितं होज्जा।
पढमे छक्के अब्भिंतरं तु सेसेसु वि पएसु॥

प्रथम कार्य अर्थात् निष्कारण, प्रथम पद अर्थात् दर्प से, प्रथम षट्क (व्रतषट्क) के अंतर्गत प्रथम स्थान अर्थात् प्राणातिपात का आसेवन किया, इसी प्रकार दूसरे स्थान से यावत् छठे पर्यंत सभी स्थानों का आसेवन किया, उसकी आलोचना करे।

४४७१. पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवियं होज्जा।
बितिए छक्के अब्भिंतरं तु पढमं भवे ठाणं॥

४४७२. पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवियं होज्जा।
बितिए छक्के अब्भिंतरं तु सेसेसु वि पएसु॥

४४७३. पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवियं होज्जा।
ततिए छक्के अब्भिंतरं तु पढमं भवे ठाणं॥

४४७४.पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवियं होज्जा।
ततिए छक्के अब्भिंतरं तु सेसेसु वि पदेसु॥

इसी प्रकार द्वितीय षट्क (कायषट्क) तथा तृतीय षट्क (अकल्प, गृहिभाजन, पल्यंक, निषद्या, स्नान और विभूषा) इनमें दर्पलक्षण वाले प्रथम कार्य को, प्रथम पद–दर्प से यथाक्रम प्रतिसेवना की आलोचना पूर्ववत् करे।

(इनमें विकल्पों की सर्वसंख्या १८×१०=१८० होती है। यह प्रथम पद 'दर्परूप' की विशोधि है।)

४४७५. बितियस्स य कज्जस्सा,
पढमेण पदेण सेवियं होज्जा।
पढमे छक्के अब्भिंतरं तु
पढमं भवे ठाणं॥

४४७६. बितियस्स य कज्जस्सा,
पढमेण पदेण सेवियं होज्जा।
पढमे छक्के अब्भिंतरं तु
सेसेसु वि पएसु॥

४४७७. बितियस्स य कज्जस्सा,पढमेण पदेण सेवियं होज्जा।
बितिए छक्के अब्भिंतरं तु पढमं भवे ठाणं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४४७८. बितियस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवियं होज्जा।
बितिए छक्के अब्भिंतरं तु सेसेसु वि पएसु॥
४४७९. बितियस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवियं होज्जा।
ततिए छक्के अब्भिंतरं तु पढमं भवे ठाणं।
४४८०. बितियस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवियं होज्जा।
ततिए छक्के अब्भिंतरं तु सेसेसु वि पएसु॥

द्वितीय कार्य अर्थात् अकल्प का प्रथम पद—दर्प से प्रथम षट्क, द्वितीय षट्क तथा तृतीय षट्क की प्रतिसेवना की, उसकी यथाक्रम आलोचना करे।

(इसी प्रकार द्वितीय कार्य अकल्पलक्षणवाले के साथ प्रथम पद दर्शन आदि पदों की अठारह पदों के साथ संयोजना करने पर सर्वसंख्या ४३२ (१८×२४) आती है।)

४४८१. पढमं कज्जं नामं, निक्कारणदप्पतो पढमं पदं।
पढमे छक्के पढमं, पाणइवाओ मुणेयव्वो॥

(पूर्व श्लोकों ४४६८ आदि में प्रयुक्त शब्दों में से कुछेक की व्याख्या।)

प्रथम कार्य का अर्थ है—निष्कारण। प्रथम पद का अर्थ है—दर्प। इसी प्रकार प्रथम षट्क प्राणातिपात आदि में प्रथम स्थान प्राणातिपात को जानना चाहिए।

४४८२. एवं तु मुसावाओ, अदिन्न-मेहुण-परिग्गहे चेव।
बिति छक्के पुढवादी, तति छक्के होयऽकप्पादी॥

इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रीभोजन—ये प्रथम षट्क के दूसरे आदि छह स्थान हैं। द्वितीय षट्क में छह कायों का और तृतीय षट्क में अकल्प आदि का समावेश होता है।

४४८३. निक्कारणदप्पेणं, अट्ठारसचारियाइ एताइं।
एवमकप्पादीसु वि, एक्केक्के होंति अट्ठरस॥

निष्कारण दर्प लक्षणवाले कार्य के साथ 'दर्प' से इन अठारह पदों का योग किया गया है। इसी प्रकार अकल्प आदि प्रत्येक के साथ ये अठारह पद होते हैं।

४४८४. बितियं कज्जं कारण, पढमपदं तत्थ दंसणनिमित्तं।
पढमं छक्क वयाइं, तत्थ वि पढमं तु पाणवहो॥

दूसरा कार्य अर्थात् करण—कल्प है। प्रथम पद है दर्शन। प्रथम षट्क में हैं—व्रत। उनमें प्रथम है प्राणवध।

४४८५. दंसणमणुमुयंतेण, पुव्वकमेणं तु चारणीयाइं।
अट्ठारसठाणाइं, एवं नाणादि एक्केक्के॥

दर्शनपद को न छोड़ते हुए पूर्वक्रम के अनुसार अठारह स्थानों को संचारित करना चाहिए। इसी प्रकार ज्ञान आदि प्रत्येक पद के साथ इन अठारह स्थानों का संचरण होता है।

४४८६. चउवीसऽट्ठारसगा, एवं एते हवंति कप्पम्मि।
दस होंति अकप्पम्मी, सव्वसमासेण मुण संखं॥

कल्प के २४ विधानों के साथ इन अठारह पदों का संचरण करने पर २४×१८=४३२विकल्प होते हैं। अकल्प अर्थात् दर्प आदि के दस भागों में अठारह पदों का संचरण करने १०×१८=१८० विकल्प होते हैं। इस प्रकार सर्वसमास से यह संख्या होती है।

४४८७. सोऊण तस्स पडिसेवणं तु आलोयणं कमविधिं व।
आगमपुरिसज्जातं, परियागबलं च खेत्तं च॥

वह आगंतुक मुनि उस आलोचनाकामी की प्रतिसेवनाओं तथा आलोचना की क्रमविधि को सुनकर, उसका अवधारण कर, उसका आगमज्ञान कितना है, उसका पुरुषजात अर्थात् वह अष्टम आदि तप से भावित है या नहीं, उसका व्रतपर्याय और गृहीपर्याय कितना है, उसका बल कैसा है, वह क्षेत्र कैसा है—इन सबकी अवधारणा कर वह स्वदेश की ओर प्रस्थित हो जाता है।

४४८८. आराहेउं सव्वं, सो गंतूणं पुणो गुरुसगासं।
तेसि निवेदेति तधा, जधाणुपुव्विं गतं सव्वं॥

वह मुनि सभी बातों की अवधारणा कर अपने गुरु के पास आकर जिस क्रम से धारण किया है, उसी परिपाटी से सुना देता है।

४४८९. सो ववहारविहिण्णू, अणुमज्जित्ता सुतोवदेसेणं।
सीसस्स देति आणं, तस्स इमं देहि पच्छित्तं॥

वह व्यवहारविधिज्ञ आलोचनाचार्य पौर्वापर्य आलोचना से अनुमान कर श्रुतोपदेश के अनुसार प्रायश्चित्त का निर्धारण कर पूर्व प्रेषित शिष्य को आज्ञा देते हैं कि वत्स! तुम जाओ और उनको यह प्रायश्चित्त दो।

४४९०. पढमस्स य कज्जस्सा, दसविहमालोयणं निसामेत्ता।
नक्खत्ते भे पीला, सुक्के मासं तवं कुणसु॥

प्रथम दर्पलक्षण वाले कार्य संबंधी दशविध आलोचना को सुनकर निर्धारण करते हैं कि यह आलोचना नक्षत्र अर्थात् मास प्रायश्चित्त विषय वाली है। तीनों षट्कों की पीड़ा संबंधी प्रायश्चित्त है शुक्ल अर्थात् उद्घात मास की तपस्या करना।

४४९१. पढमस्स य कज्जस्सा, दसविहमालोयणं निसामेत्ता।
नक्खत्ते भे पीला, चउमासतवं कुणसु सुक्के॥
४४९२. पढमस्स य कज्जस्सा, दसविहमालोयणं निसामेत्ता।
नक्खत्ते भे पीला, छम्मासतवं कुणसु सुक्के॥

प्रथम कार्य की दशविध आलोचना को सुनकर प्रायश्चित्त स्वरूप कहे—तुम्हें नक्खत्त अर्थात् मास का प्रायश्चित्त है। तीनों षट्कों में पीड़ा हुई हो तो शुक्ल अर्थात् चार मास का तप, अथवा छह मास का तप करे।

४४९३. एवं ता उग्घाए, अणुघाते तणि चेव किण्हम्मि।
मासे चउमास-छमासियाणि छेदं अतो वुच्छं॥

इस प्रकार उद्घात और अनुद्घात प्रायश्चित्त जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकमास, चारमास अथवा छहमास का हो वह 'कृत्स्न' (संपूर्ण) शब्द मय हो। आगे छेद प्रायश्चित्त के विषय में कहूंगा।

४४९४. पढमस्स य कज्जस्सा,
दसविहमालोयणं निसामेत्ता।
नक्खत्ते मे पीला,
कण्हे मासं तवं कुज्जा॥

४४९५. पढमस्स य कज्जस्सा,दसविहमालोयणं निसामेत्ता।
नक्खत्ते मे पीला, चउमासतवं कुणसु किण्हे॥

४४९६. पढमस्स य कज्जस्सा,दसविहमलोयणं निसामेत्ता।
नक्खत्ते मे पीला, छम्मासतवं कुणसु किण्हे॥

प्रथम कार्य की दसविध आलोचना को सुनकर नक्षत्र एक मास प्रायश्चित्त तथा षट्क त्रिक में पीड़ा की जाने पर एक मास कृत्स्न (संपूर्ण) तप करना, चारमास कृत्स्न तप करना अथवा छह मास कृत्स्न तप करना—यह प्रायश्चित्त है।

४४९७. छिंदंतु व तं भाणं, गच्छंतु य तस्स साधुणो मूलं।
अव्वावडा व गच्छे, अब्बितिया वा पविहरंतु॥

छेद प्रायश्चित्त प्राप्त हो तो कहे—भाजन का छेद कर दो। यदि मूल प्रायश्चित्त प्राप्त हो तो कहे—साधु अथवा गच्छाधिपति दूर विहरण कर रहे हों तो उनके पास जाकर प्रायश्चित्त लो। यदि अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त हो तो कहे—गच्छ में अव्यापृत होकर रहो। पारांचित प्रायश्चित प्राप्त हो तो कहे—अद्वितीय अर्थात् एकाकी होकर विहरण करो।

४४९८. छब्भागंगुलपणगे, दसराय तिभागअद्धपण्णरसे।
वीसाय तिभागूणं, छब्भागूणं तु पणुवीसे॥

४४९९. मास-चउमास छक्के,
अंगुल चउरो तहेव छच्चेव।
एते छेदविगप्पा,
नायव्व जहक्कमेणं तु॥

छेद प्रायश्चित्त के यथाक्रम ये संदेश हैं—

पांच रात-दिन का छेद आने पर कहे—अंगुल का छठाभाग भाजन का छेद करे।

दस रात-दिन का छेद आने पर कहे—अंगुल का तीसरा भाग भाजन का छेद करे।

पंद्रह रात-दिन का छेद आने पर कहे—अंगुल का आधा भाग भाजन का छेद करे।

बीस रात-दिन का छेद आने पर कहे—तीन भाग न्यून अंगुल भाजन का छेद करे।

पच्चीस रात-दिन का छेद आने पर कहे—छह भाग न्यून अंगुल भाजन का छेद करे।

एक मास का छेद—पूर्ण अंगुल भाजन का छेद करे।

चार मास का छेद—चार अंगुल भाजन का छेद करे।

छह मास का छेद—छह अंगुल भाजन का छेद करे।

ये सारे छेद प्रायश्चित्त के विकल्पों के सांकेतिक शब्द हैं।

४५००. बितियस्स य कज्जस्सा,
तहियं चउवीसतिं निसामेत्ता।
नवकारेणाउत्ता,
भवंतु एवं भणेज्जासी॥

दूसरे कार्य अर्थात् कल्पिका से संबंधित— चतुर्विंशति की आलोचना सुनकर आलोचनाचार्य सांकेतिक शब्दों में कहते हैं—तुम उनको कहना कि आप नमस्कार में आयुक्त हों।

४५०१. एवं गंतूण तहिं, जधोवदेसेण देति पच्छित्तं।
आणाय एस भणितो, ववहारो धीरपुरिसेहिं॥

वह आचार्य के वचनों को धारण कर वहां जाकर आचोलना करने के इच्छुक मुनि/आचार्य को यथोपदिष्ट रूप में प्रायश्चित्त देता है। धीरपुरुषों ने इसे आज्ञाव्यवहार कहा है।

४५०२. एसाऽऽणाववहारो, जहोवएसं जहक्कमं भणितो।
धारणववहारं पुण, सुण वच्छ! जहक्कमं वोच्छं॥

आज्ञाव्यवहार का यह यथोपदिष्ट यथाक्रम निरूपण है। वत्स! अब मैं धारणाव्यवहार के विषय में क्रमशः कहूंगा। तुम सुनो।

४५०३. उद्धारण विधारण, संधारण संपधारणा चेव।
नाऊण धीरपुरिसा, धारणववहार तं बेंति॥

धारणा शब्द के चार एकार्थ हैं—उद्धारणा, विधारणा, संधारणा, संप्रधारणा। जो छेदसूत्रों के सम्यक् अर्थावधारणा से व्यवहार होता है, धीर पुरुष उसे धारणाव्यवहार कहते हैं।

४५०४. पाबल्लेण उवेच्च व, उद्धियपयधारणा उ उद्धारा।
विविहेहि पगारेहिं, धारेयऽत्थं विधारो उ॥

४५०५. सं एगीभावम्मी, धी धरणे ताणि एक्कभावेणं।
धारेयऽत्थपयाणि तु, तम्हा संधारणा होति॥

४५०६. जम्हा संपहारेउं, ववहारं पउंजती।
तम्हा कारणा तेण, नातव्वा संपधारणा॥

प्रबलता से अथवा अर्थ के निकट पहुंचकर छेद सूत्रों में उद्धृत अर्थपदों को धारण करना उद्धारा—उद्धारणा है। विविध प्रकार से अर्थपदों को धारण करना—विधारणा है। 'सं' एकीभाव के अर्थ में है। 'धृं धरणे' धातु है। उन अर्थपदों को आत्मा के साथ एकीभाव से धारण करना संधारणा है। सम्यक् प्रकार से अवधारणा कर व्यवहार का प्रयोग करना संप्रधारणा है।

४५०७. धारणववहारेसो, पउंजियव्वो उ केरिसे पुरिसे?।
भण्णति गुणसंपन्ने, जारिसए तं सुणेह त्ति॥

धारणाव्यवहार का प्रयोग कैसे पुरुष के प्रति किया जाए?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य कहते हैं—जैसे गुणसंपन्न व्यक्ति के प्रति वह प्रयोक्तव्य है, उसे सुनो।

४५०८. पवयणजससि पुरिसे, अणुग्गहविसारए तवस्सिम्मि।
सुस्सुयबहुस्सुयम्मि य, वि वक्कपरियागसुद्धम्मि॥

जो पुरुष प्रवचनयशस्वी, अनुग्रहविशारद, तपस्वी, श्रुतबहुश्रुत—जो बहुत श्रुत को भी विस्मृत नहीं करता, तथा जिसकी वाणी विनय आदि गुणों के परिपाक से विशुद्ध है—ऐसे गुणान्वित व्यक्ति के प्रति धारणाव्यवहार का प्रयोग किया जा सकता है।

४५०९. एतेसु धीरपुरिसा, पुरिसज्जातेसु किंचि खलितेसु।
रहिते वि धारइत्ता, जहारिहं देंति पच्छित्तं॥

इस प्रकार के गुणान्वित व्यक्ति यदि स्खलित हो जाते हैं तो उनको धीरपुरुष प्रथम तीन व्यवहारों के अभाव में व्यवहार आदि सूत्रों के अर्थपदों को धारण करते हुए यथार्ह प्रायश्चित्त देते हैं।

४५१०. रहिते नाम असंते, आइल्लम्मि ववहारतियगम्मि।
ताहे वि धारइत्ता, वीसंसेऊण जं भणियं॥
४५११. पुरिसस्स उ अइयारं, विधारइत्ताण जस्स जं अरिहं।
तं देंति उ पच्छित्तं, केणं देंती उ तं सुणह॥

व्यवहारत्रिक के न रहने पर भी आलोचनाप्रदाता धारकर अर्थात् देश-काल की अपेक्षा से विमर्श कर, पुरुष के अतिचारों पर सभी अपेक्षाओं से विचार कर, जिसके लिए जो योग्य है वह प्रायश्चित्त उसे देते हैं। शिष्य! तुम सुनो, किस आधार पर वे प्रायश्चित्त देते हैं।

४५१२. जो धारितो सुतत्थो, अणुयोगविधीय धीरपुरिसेहिं।
आलीणपलीणेहिं, जतणाजुत्तेहि दंतेहिं॥

जिस आचार्य या मुनि ने आलीन-प्रलीन, यतनाशील और दांत धीरपुरुषों से अनुयोगविधि अर्थात् व्याख्यान वेला में सूत्रार्थ को धारण किया है, वह यह प्रायश्चित्त देता है।

४५१३. अल्लीणा णाणदिसु,
पइ पइ लीणा उ होंति पल्लीणा।
कोधादी वा पलयं,
जेसि गता ते पलीणा उ॥
४५१४. जतणजुओ पयत्तव, दंतो जो उवरतो तु पावेहिं।
अहवा दंतो इंदियदमेण नोइंदिएणं च॥

आलीन वह है जो ज्ञान आदि में लीन रहता है। प्रलीन का अर्थ है—प्रत्येक पद में लीन हो जाना, उसका पूर्ण अवगाहन करना अथवा प्रलीन वह होता है जिसके क्रोध आदि का प्रलय हो गया है। यतनायुक्त अर्थात् सूत्र के अनुसार प्रयत्न करनेवाला। दांत वह होता है जो पापों से उपरत होता है अथवा जो इंद्रियदमन तथा नो-इंद्रियदमन (मन) से दान्त है।

४५१५. अहवा जेणऽण्णइया, दिट्ठा सोधी परस्स कीरंति।
तारिसयं चेव पुणो, उप्पन्नं कारणं तस्स॥
४५१६. सो तम्मि चेव दव्वे, खेत्ते काले य कारणे पुरिसे।
तारिसयं अकरेंतो, न हु सो आराहओ होति॥
४५१७. सो तम्मि चेव, दव्वे, खेत्ते काले य कारणे पुरिसे।
तारिसयं चिय भूतो, कुव्वं आराहगो होति॥

कभी किसी ने दूसरों को प्रायश्चित्त देते हुए देखा और यह धारणा कर ली कि ऐसे अतिचार में यह प्रायश्चित्त दिया है। पुनः उसी पुरुष के अथवा अन्य किसी के वैसा ही कारण उपस्थित हुआ, वैसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में वैसा ही प्रायश्चित्त नहीं देता है तो वह आराधक नहीं होता। और जो उसी प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में उस दोषी मुनि को वैसा ही प्रायश्चित्त देता है तो वह आराधक होता है।

४५१८. वेयावच्चकरो वा, सीसो वा देसहिंडगो वावि।
दुम्मेहत्ता न तरति, उवधारेउं बहुं जो तु॥
४५१९. तस्स उ उद्धरिऊणं, अत्थपयाइं तु देंति आयरिया।
जेहिं करेति कज्जं, आधारेंतो तु सो देसो॥

जो शिष्य आचार्य का वैयावृत्त्य करने वाला है, आचार्य द्वारा सम्मत है, आचार्य के साथ-साथ देशांतरों में घूमने वाला है वह अपनी मेधा की दुर्बलता के कारण बहु अर्थात् समस्त छेदसूत्रार्थ को धारण नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में आचार्य कुछेक अर्थपदों को उद्धृत कर उसे देते हैं, यथार्थ ज्ञान देते हैं। वह छेदसूत्रों के देश—अंश को धारण कर व्यवहार का संपादन करता है। यह धारणाव्यवहार है।

४५२०. धारणववहारो सो, अधक्कमं वण्णितो समासेणं।
जीतेणं ववहारं, सुण वच्छ! जधक्कमं वुच्छं॥

यह धारणाव्यवहार यथाक्रम संक्षेप में वर्णित है। वत्स! अब तुम जीतव्यवहार को सुनो। मैं क्रमशः उसको कहता हूं।

४५२१. वत्तणुवत्तपवत्तो, बहुसो अणुवत्तिओ महाणेणं।
एसो उ जीयकप्पो, पंचमओ होति ववहारो॥

जो व्यवहार आचार्य अथवा बहुश्रुत द्वारा वृत्त, अनुवृत्त तथा प्रवृत्त तथा बहुत बार अनुवर्तित होता है, वह पांचवां जीतकल्प नामक व्यवहार है।

४५२२. वत्तो णामं एक्कसि, अणुवत्तो जो पुणो बितियवरे।
ततियव्वार पवत्तो, परिग्गहीओ महाणेणं॥

जो एक बार होता है वह है वृत्त। जो दूसरी बार होता है वह है अनुवृत्त और जो तीसरी बार होता है वह है प्रवृत्त। इसको आचार्य आदि परिगृहीत कर लेते हैं।

४५२३. चोदेती वोच्छिन्ने, सिद्धिपहे ततियगम्मि पुरिसजुगे।
वोच्छिन्ने तिविहे संजमम्मि जीतेण ववहारो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४५२४. संघयणं संठाणं, च पढमगं जो य पुव्वउवओगो।
ववहारे चउक्कं पि, चोद्दसपुव्वम्मि वोच्छिन्नं॥

कोई कहता है—तीसरे पुरुषयुग अर्थात् जंबूस्वामी के साथ सिद्धिपथ का व्यवच्छेद हो गया। तीनों चारित्र—परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय तथा यथाख्यात—इनका भी व्यवच्छेद हो गया। अब जीतकल्प से ही व्यवहार होता है। प्रथम संहनन, प्रथम संस्थान तथा पूर्वों का उपयोग अर्थात् एक अंतमुहूर्त में उनकी अनुप्रेक्षा, आगमव्यवहार आदि चारों प्रकार के व्यवहार—इन सबका व्यवच्छेद चतुर्दशपूर्वी के व्यवच्छेद के साथ-साथ हो गया।

४५२५. आहायरिओ एवं, ववहारचउक्क जे उ वोच्छिन्नं।
चउदसपुव्वधरम्मी, घोसंती तेसऽणुग्घाता॥

आचार्य कहते हैं—जो यह घोषणा करते हैं कि चौदह पूर्वी के साथ-साथ चारों प्रकार के व्यवहारों का व्यवच्छेद हो गया उन्हें अनुद्घात (गुरु) चार मास का प्रायश्चित्त आता है।

४५२६. जे भावा जहियं पुण, चोद्दसपुव्विम्मि जंबुनामे य।
वोच्छिन्ना ते इणमो, सुणसु समासेण सीसंते॥

जो भाव चतुर्दशपूर्वी के साथ-साथ तथा जंबूस्वामी के साथ-साथ व्युच्छिन्न हुए हैं इनको मैं कह रहा हूं। इन्हें तुम सुनो।

४५२७. मणपरमोहिपुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।
संजम तिय केवलिसिज्झणा य जंबुम्मि वोच्छिन्ना॥

जंबूस्वामी के बाद ये व्युच्छिन्न हो गए—मनःपर्यवज्ञानी, परमअवधिज्ञानी, पुलाकलब्धिधारक, आहारकशरीरलब्धि-धारी, क्षपक तथा उपशमश्रेणी, जिनकल्प, चारित्रत्रिक—परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात, केवलज्ञानी तथा सिद्धिगमन।

४५२८. संघयणं संठाणं, च पढमगं जो य पुव्वउवओगो।
एते तिन्नि वि अत्था, चोद्दसपुव्विम्मि वोच्छिन्ना॥

प्रथम संहनन, प्रथम संस्थान तथा पूर्व-उपयोग—अंतमुहूर्त में समस्त पूर्वों की अनुप्रेक्षणशक्ति—ये तीनों अर्थ (यथार्थताएं) अंतिम चतुर्दशपूर्वी (भद्रबाहु) के साथ व्युच्छिन्न हो गईं।

४५२९. केवल-मणपज्जवनाणिणो य
तत्तो य ओहिनाणजिणा।
चोद्दस-दस-नवपुव्वी,
आगमववहारिणो धीरा॥

४५३०. सुत्तेण ववहरंते, कप्पव्ववहारधारिणा धीरा।
अत्थधरववहरंते, आणाए धारणाए य॥

४५३१. ववहारचउक्कस्सा, चोद्दसपुव्विम्मि छेदो जं भणियं।
तं ते मिच्छा जम्हा, सुत्तं अत्थो य धरए उ॥

ये छह धीरपुरुष आगमव्यवहारी होते हैं—केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानीजिन, चौदहपूर्वी, दशपूर्वी तथा नौपूर्वी। जो कल्पव्यवहारी धीरपुरुष हैं वे कल्प— व्यवहारसूत्र से व्यवहार करते हैं। जो छेदसूत्र के अर्थधर हैं वे आज्ञाव्यवहार और धारणाव्यवहार से व्यवहार करते हैं। यह जो कहा कि चौदहपूर्वी के व्यवच्छेद हो जाने पर व्यवहारचतुष्क का व्यवच्छेद हो गया—यह मिथ्या है। क्योंकि छेदसूत्रों के सूत्रधर और अर्थधर आज भी विद्यमान हैं।

४५३२. तित्थोगाली एत्थं, वत्तव्वा होति आणुपुव्वीए।
जो जस्स उ अंगस्सा वुच्छेदो जहि विणिद्दिट्ठो॥

जिस अंग का व्यवच्छेद जहां निर्दिष्ट है, उसको जानने के लिए 'तित्थोगाली' ग्रंथ क्रमशः वक्तव्य है।

४५३३. जो आगमे य सुत्ते य सुन्नतो आणधारणाए य।
सो ववहारं जीएण, कुणति वुत्ताणुवत्तेण॥

जो श्रमण आगम, सूत्र, आज्ञा तथा धारणा से शून्य होता है, वह वृत्त, अनुवृत्त रूप में जीतव्यवहार से व्यवहार करता है।

४५३४. अमुगो अमुगत्थ कतो, अमुयस्स अमुएण ववहारो।
अमुगस्स वि य तह कतो, अमुगो अमुगेण ववहारो॥

४५३५. तं चेवऽणुमज्जंते, ववहारविधिं पउंजति जहुत्तं।
जीतेण एस भणितो, ववहारो धीरपुरिसेहिं॥

अमुक व्यक्ति के अमुक प्रायश्चित्तार्ह कार्य होने पर अमुक आचार्य ने अमुक व्यवहार का प्रयोग किया—यह वृत्त है तथा अमुक व्यक्ति के वैसा ही कार्य समुपस्थित होने पर अमुक आचार्य ने वही व्यवहार किया—यह अनुवृत्त है। इस वृत्तानुवृत्त जीतव्यवहार का अनुमज्जन—आश्रय लेता हुआ जो यथोक्त व्यवहारविधि का प्रयोग करता है—इसी को धीरपुरुषों ने जीतव्यवहार कहा है। यह है जीतविधि से व्यवहार करना।

४५३६. धीरपुरिसपण्णत्तो, पंचमगो आगमो विदुपसत्थो।
पियधम्मऽवज्जभीरू, पुरिसज्जायाऽणुचिण्णो य॥

धीरपुरुषों द्वारा प्रज्ञप्त तथा श्रुतज्ञानियों द्वारा प्रशंसित यह पांच प्रकार का व्यवहार है—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। जीतव्यवहार पांचवां है। प्रियधर्मा और पापभीरु पुरुषों द्वारा यह आचीर्ण है।

४५३७. सो जह कालादीणं, अप्पडिकंतस्स निव्विगइयं तु।
मुहणंत फिडिय पाणग, ऽसंवरणे एवमादीसु॥

वह जीत व्यवहार है जैसे काल आदि का अप्रतिक्रांत करने, मुख पर पोतिका स्फिटित हो जाने—न रखने तथा पानक का प्रत्याख्यान न करने पर निर्विकृत का प्रायश्चित्त है।

४५३८. एगिंदिऽणंत वज्जे, घट्टण तावेऽणगाढ य गाढ उद्दवणे।
निव्विगितियमादीयं, जा आयामं तु उद्दवणे॥

अनंतकायवर्जित एकेंद्रिय प्राणियों के घट्टन, अनागाढ—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगाढ़ तापन में निर्विकृतिक आदि प्रायश्चित्त है। तात्पर्य यह है कि उनके घट्टन में निर्विकृतिक, उनके अनागाढ़ तापन में पुरिम, आगाढ़ तापन में एकाशन तथा उद्रावण–मार देने पर आचाम्ल का प्रायश्चित्त है।

४५३९. विगलिंदऽणंत घट्टण, तावऽणगाढे य गाढ उद्दवणे।
पुरिमड्ढादिकमेणं, नातव्वं जाव खमणं तु॥

४५४०. पंचिंदि घट्ट-तावणऽणगाढ गाढे तधेव उद्दवणे।
एक्कासण-आयाम, खमणं तह पंचकल्लाणं॥

विकलेन्द्रिय जीवों के घट्टन, अनागाढ़–आगाढ़ तापन तथा उद्रावण में क्रमशः ये प्रायश्चित्त हैं–पुरिमड्ढ, एकाशन, आचाम्ल तथा उपवास। पंचेंद्रिय जीवों के घट्टन, अनागाढ़–आगाढ़ परितापन तथा उद्रावण में क्रमशः ये प्रायश्चित्त हैं–एकाशन, आचाम्ल, उपवास तथा पंचकल्याणक।

४५४१. एमादीओ एसो, नातव्वो होति जीतववहारो।
आयरियपरंपरएण, आगतो जाव जस्स भवे॥

यह सारा जीतव्यवहार है ऐसा ज्ञातव्य है। जो जिस आचार्य परंपरा से आया है, उसके लिए वह जीतव्यवहार है।

४५४२. बहुसो बहुस्सुतेहिं, जो वत्तो न य निवारितो होति।
वत्तऽणुवत्तपमाणं, जीतेण कयं भवति एयं॥

जो व्यवहार बहुश्रुतों के द्वारा अनेक बार वृत्त–प्रवर्तित हो चुका है और किसी द्वारा वह निवारित नहीं हुआ है तो वह वृत्तानुवृत्त जीत से प्रमाणित हो जाता है। वह जीतव्यवहार प्रमाणीकृत है।

४५४३. जं जीतं सावज्जं, न तेण जीतेण होति ववहारो।
जं जीतमसावज्जं, तेण उ जीतेण ववहारो॥

४५४४. छार हडि हड्डमाला, पोट्टेण य रंगणं तु सावज्जं।
दसविहपायच्छित्तं, होति असावज्जजीतं तु॥

जीतव्यवहार के दो प्रकार हैं–सावद्य और असावद्य। जो जीत सावद्य है, उस जीत से व्यवहार नहीं होता। जो जीत असावद्य है, उस जीत से व्यवहार होता है।

लोक में अपराध की विशोधि के लिए अपराधी के शरीर पर राख लगाना, कारागृह में बंदी बनाना, हड्डियों की माला पहनाना, उदर से रेंगने का दंड देना आदि–यह सावद्य जीत है। दस प्रकार का (आलोचना आदि) प्रायश्चित्त असावद्य जीत है।

४५४५. उस्सण्णबहू दोसे, निद्धंधस पवयणे य निरवेक्खो।
एयारिसम्मि पुरिसे, दिज्जति सावज्जजीयं पि॥

(कभी-कभी लोकोत्तर क्षेत्र में अनवस्थादोष के निवारण के लिए) ऐसे पुरुषों को, जो उत्सन्न–प्रायः दोषों का सेवन करते हैं, सर्वथा निर्दयी और प्रवचन से निरपेक्ष होते हैं, उनको सावद्य जीत भी दिया जाता है।

४५४६. संविग्गे पियधम्मे, य अप्पमत्ते अवज्जभीरुम्मि।
कम्हिइ पमायखलिए, देयमसावज्जजीतं तु॥

जो संविग्न है, प्रियधर्मा है, अप्रमत्त और पापभीरु है, वह कहीं प्रमाद से स्खलित हो जाए तो उसे असावद्य जीत देना चाहिए।

४५४७. जं जीतमसोहिकरं, न तेण जीएण होति ववहारो।
जं जीतं सोहिकरं, तेण उ जीएण ववहारो॥

जो जीत अशोधिकर होता है, उस जीत से व्यवहार नहीं होता। जो जीत शोधिकर होता है, उस जीत से व्यवहार होना चाहिए।

४५४८. जं जीतमसोहिकरं, पासत्थ-पमत्त-संजयाचिण्णं।
जइ वि महाणाइण्णं, न तेण जीतेण ववहारो॥

४५४९. जं जीतं सोहिकरं, संवेगपरायणेण दंतेणं।
एगेण वि आइण्णं, तेण उ जीएण ववहारो॥

जो जीत पार्श्वस्थ तथा असंयतों द्वारा आचीर्ण है तथा अनेक व्यक्तियों ने उसका आचरण किया है फिर भी उस जीत से व्यवहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह अशोधिकर होता है।

जिस जीत का संवेगपरायण तथा दांत एक भी आचार्य/मुनि ने आचरण किया है, उस जीत से व्यवहार करना चाहिए क्योंकि वह शोधिकर होता है।

४५५०. एवं जहोवदिट्ठस्स, धीरविदुदेसितप्पसत्थस्स।
नीसंदो ववहारस्स, को वि कहितो समासेणं॥

इस प्रकार जो धीर और श्रुतधरों द्वारा दर्शित और प्रशंसित है उस यथोपदिष्ट पांच प्रकार के व्यवहार का यह निस्यंद–सार मैंने संक्षेप में कहा है।

४५५१. को वित्थरेण वोत्तूण, समत्थो निरवसेसिते अत्थे।
ववहारो जस्स मुहे, हवेज्ज जिब्भासतसहस्सं॥

४५५२. किं पुण गुणोवदेसो, ववहारस्स तु विदुप्पसत्थस्स।
एसो भे परिकहितो, दुवालसंगस्स णवणीतं॥

जिसके मुख में लाख जिह्वाएं हैं, वह भी व्यवहारसूत्र के निरवशेष (संपूर्ण) अर्थ को विस्तार से बताने में समर्थ नहीं होता। किंतु विद्वानों द्वारा प्रशंसित इस व्यवहारसूत्र का गुणोत्पादन के निमित्त यह उपदेश आपको कहा है। यह द्वादशांगी का नवनीत है।

४५५३. ववहारकोविदप्पा, तदट्ठे य नो पमायए जोगे।
मा हु य तहुज्जमंतो, कुणमाणं एस संबंधो॥

पांच प्रकार के व्यवहारों में निपुण व्यक्ति व्यवहार के लिए योगों (मनोवाक्काय) का प्रमाद न करे। व्यवहार में उद्यम करते हुए अहंकार न करे। यह पुरुषजातसूत्रों से संबंध है।

४५५४. वुत्ता व पुरिसज्जाता, अत्थतो न वि गंथतो।
तेसिं परूवणट्ठाए, तदिदं सुत्तमागतं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वोक्त पुरुषजात अर्थतः बताए गए थे, ग्रंथतः नहीं। उनकी प्ररूपणा के लिए यह पुरुषजातसूत्र प्राप्त है।

४५५५. पुरिसज्जाया चउरो, विभासितव्वा उ आणुपुव्वीए।
अट्ठकरे माणकरे, उभयकरे नोभयकरे य॥

अर्थकर, मानकर, उभयकर तथा नो-उभयकर—इन चारों पुरुषों की अनुक्रम से व्याख्या करनी चाहिए।

४५५६. पढमत्ततिया एत्थं, तू सफला निप्फला दुवे इतरे।
दिट्ठंतो सगतेणा, सेवंता अण्णरायाणं॥

इन चारों में प्रथम और तृतीय सफल होते है तथा द्वितीय और चतुर्थ निष्फल होते हैं। यहां दृष्टांत है—अन्य राजा की सेवा करने वाले शकजाति के चोरों का।

४५५७. उज्जेणी सगरायाऽऽणीया गव्वा न सुट्ठु सेवंति।
वित्तिअदाणं चोज्जं, निव्विसया अण्णनिवसेवा॥

४५५८. धावति पुरतो तह मग्गतो य सेवति य आसणं नीयं।
भूमीए वि निसीयति, इंगियकारी य पढमो उ॥

४५५९. चिक्खल्ले-अन्नया पुरतो, गतो से एगो नवरि सेवंतो।
तुट्ठेण तस्स रण्णा, वित्ती उ सुपुक्खला दिन्ना॥

उज्जयिनी में शक राजा था। कालकाचार्य शकों को लाए। राजा की सेवा में चारों शक थे। उन्होंने सोचा—यह राजा तो हमारी जाति का ही है। इस गर्व से वे राजा की उचित सेवा नहीं करते थे। राजा ने तब उनको वृत्ति—जीविका देना बंद कर दिया। अब वे चोरी करने लगे। राजा ने उनको देश से निकाल दिया। वे अन्यत्र जाकर अन्य राजा की सेवा करने लगे। प्रथम पुरुष (अर्थकर) इंगित और आकार को जानने वाला था। वह राजा के गमन-आगमन पर आगे जाकर सम्मान करता था। दोनों पार्श्वों में भी वह सेवा करता था। वह नीचे आसन पर बैठता और कभी भूमी पर भी बैठ जाता था। एक बार राजा कीचड़मय मार्ग से चला। शेष सारे लोग उस पंकिल मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग से गए। केवल वह अकेला शक-सेवक राजा की सेवा में उसी पंकिल मार्ग से आगे-आगे चलता रहा। राजा ने संतुष्ट होकर उसे अत्यधिक वृत्ति दी।

४५६०. बितिओ न करेतऽट्ठं, माणं च करेति जातिकुलमाणी।
न निवेसति भूमीए, न य धावति तस्स पुरतो उ॥

दूसरा सेवक राजा का अर्थकर—प्रयोजनसिद्ध करने वाला नहीं था। वह मानी था। उसमें जाति और कुल का अभिमान था। वह न भूमी पर बैठता था और न राजा के आगे-आगे चलता था।

४५६१. सेवति ठितो विदिण्णे,
वि आसणे पेसितो कुणति अट्ठं।
इति उभयकरो ततिओ,
जुज्झति य रणे समाभट्ठो॥

तीसरा व्यक्ति आसन दिए जाने पर भी राजा की सेवा खड़ा-खड़ा करता था। राजा द्वारा भेजे जाने पर वह प्रयोजन सिद्ध करता था, अन्यथा नहीं। वह उभयकर था। 'यह राजपुत्र है' यह कहे जाने पर रण में युद्ध करने जाता था।

४५६२. उभयनिसेध चउत्थे,
बितिय-चउत्थेहि तत्थ न तु लद्धा।
वित्ती इतरेहि लद्धा,
दिट्ठंतस्स उवणओ उ॥

चौथा पुरुष न अर्थकर था और न मानकर। दूसरे और चौथे पुरुष को आजीविका का लाभ नहीं हुआ। पहले और तीसरे को यह लाभ मिला। इस दृष्टांत का यह उपनय है—

४५६३. एमेवायरियस्स वि, कोई अट्ठं करेति न य माणं।
अट्ठो उ वुच्चमाणो, वेयावच्चं दसविधं तु॥

४५६४. अधवा अब्भुट्ठाणं, आसण किति मत्तए य संथारे।
उववाया य बहुविधा, इच्चादि हवंति अट्ठा उ॥

आचार्य का कोई शिष्य अर्थकर होता है, मानकर नहीं। आचार्य का अर्थ अर्थात् प्रयोजन यह है—दस प्रकार का वैयावृत्त्य। अथवा आचार्य के आने पर उठना, आचार्य को आसन देना, कृतिकर्म करना, मात्रक प्रस्तुत करना, संस्तारक बिछाना, अनेक प्रकार के उपपात—समीप होने के लक्षण वाले को क्रियान्वित करना इत्यादि अर्थ होते हैं।

४५६५. बितिओ माणकरो तू,
को पुण माणो हवेज्ज तस्स इमो।
अब्भुट्ठाणऽब्भत्थण,
होति पसंसा य एमादी॥

दूसरा है मानकर। उसके क्या मान होता है? मेरे आने पर वह उठा नहीं। उसने मुझसे अभ्यर्थना नहीं की। उसने मेरी प्रशंसा नहीं की, इत्यादि—ये सारे उसके मान के विषय है।

४५६६. ततिओभय नोभयतो,
चउत्थओ तत्थ दोन्नि निप्फलगा।
सुत्तत्थोभयनिज्जरलाभो
दोण्हं भवे तत्थ॥

तीसरा उभयकर है—अर्थकर और मानकर दोनों हैं। चौथा उभयकर नहीं है—न अर्थकर है और न मानकर। दो निष्फल हैं—उन्हें निर्जरा का लाभ भी नहीं होता और सूत्रार्थ का लाभ भी नहीं होता। प्रथम और तृतीय—इन दोनों को सूत्रार्थ तथा उभय निर्जरा लाभ होता है। दोनों अर्थकर होते हैं।

४५६७. एमेव होंति भंगा, चत्तारि गणट्ठकारिणो जतिणो।
रण्णो सारूविय देवचिंतगा तत्थ आहरणं॥

इसी प्रकार गणार्थकारी यतियों के चार भंग होते हैं—१. गणार्थकर मानकर नहीं। २. मानकर गणार्थकर नहीं। ३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणार्थकर भी मानकर भी। ४. न गणार्थकर और न मानकर। इनमें जो सारूपिक[1] तथा देवचिंतक[2] होते हैं, उनका यहां दृष्टांत है।

४५६८. पुट्ठापुट्ठो पढमो, उ साहती न उ करेति माणं तु।
बितिओ माणं करेति, पुट्ठो वि न साहती किंचि॥
४५६९. ततिओ पुट्ठो साहति, नोऽपुट्ठ चउत्थमेव सेवति तु।
दो सफला दो अफला, एवं गच्छे वि नातव्वा॥

पहला पुरुष राजा को पूछने-अपूछने पर शुभाशुभ कहता है, मान नहीं करता। दूसरा पुरुष मान के वशीभूत होकर पूछने पर भी कुछ नहीं कहता। तीसरा पुरुष पूछने पर कहता है, बिना पूछे नहीं। चौथा राजा की केवल सेवा करता है। इनमें दो—पहला और तीसरा सफल है तथा दो—दूसरा और चौथा असफल है। इसी प्रकार गच्छ में भी सफल-असफल ज्ञातव्य है।

४५७०. आहारोवहि-सयणाइएहि गच्छस्सुवग्गहं कुणती।
बितिओ माणं उभयं, व ततियओ नोभय-चउत्थो॥

प्रथम व्यक्ति आहार, उपधि, शयन आदि से गच्छ का उपग्रह करता है। दूसरा मान के कारण कुछ नहीं करता। तीसरा गच्छ का उपग्रह और मान करता है। चौथा दोनों नहीं करता।

५४७१. सो पुण गणस्स अट्ठो, संगहकर तत्थ संगहो दुविधो।
दव्वे भावे तियगा, उ दोन्नि आहारनाणादी॥

प्रस्तुत सूत्र में गण का अर्थ संग्रह विषयक है। संग्रह के दो प्रकार हैं—द्रव्यसंग्रह और भावसंग्रह। द्रव्यसंग्रह आहार आदि का और भावसंग्रह ज्ञान आदि का।

५४७२. आहारोवहिसेज्जादिएहि दव्वम्मि संगहं कुणति।
सीस-पडिच्छे वाए, भावे न तरंति जाधि गुरू॥

आहार, उपधि, शय्या आदि का द्रव्य संग्रह करता है तथा जब गुरु वाचना देने में असमर्थ होते हैं तब वह वाचना देता है। यह प्रथम पुरुष है।[3]

४५७३. एवं गणसोभम्मि वि, चउरो पुरिसा हवंति नातव्वा।
सोभावेंति गणं खलु, इमेहि ते कारणेहिं तु॥

इसी प्रकार चार पुरुष गणशोभाकर ज्ञातव्य हैं। वे गण को इन कारणों से शोभा प्राप्त कराते हैं।

४५७४. गणसोभी खलु वादी, उद्देसे सो उ पढमए भणितो।
धम्मकहि निमित्ती वा, विज्जातिसएण वा जुत्तो॥

वादी गणशोभी होता है। इस विषयक चर्चा प्रथम उद्देशक में की जा चुकी है। इसी प्रकार धर्मकथी, नैमित्ती तथा विद्यातिशय से युक्त व्यक्ति भी संघ की शोभा को बढ़ाते हैं।

४५७५. एवं गणसोधिकरे, चउरो पुरिसा हवंति विण्णेया।
किह पुण गणस्स सोधिं, करेज्ज सो कारणेमेहिं॥

इसी प्रकार गणशोधिकर पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं। प्रश्न है—गण की शोधि कैसे करते हैं। आचार्य कहते हैं—गण की शोधि इन कारणों से की जाती है।

४५७६. एगं दव्वेगघरे, णेगा आलोयणाय संका तु।
ओयस्सि सम्मतो संथुतो य तं दुप्पवेसं च॥

मुनियों के कुछ संघाटक एक ही घर से एक ही प्रकार का द्रव्य लेकर आए। गुरु के समक्ष आलोचना के समय सभी को शंका हुई। उस घर में प्रवेश निषिद्ध हो गया। ऐसी स्थिति में जो मुनि ओजस्वी है, उस गृह के पारिवारिकजनों से संस्तुत है, उस घर में आने-जाने में सम्मत है, वह उस दुःप्रवेश वाले घर में जाता है और सबको निःशंकित कर देता है। यह प्रथम पुरुष है। पूर्ववत् चतुर्भंगी विवेचनीय है।

४५७७. हेट्ठाणंतरसुत्ते, गणसोधी एस सुत्तसंबंधो।
सोहि त्ति व धम्मो त्ति व, एगट्ठं सो दुहा होति॥

पूर्वसूत्र में गणशोधि का कथन किया गया। यह प्रस्तुत सूत्र से सूत्रसंबंध है। शोधि तथा धर्म एकार्थक हैं। धर्म दो प्रकार का होता है।

४५७८. रूवं होति सलिंगं, धम्मो नाणादियं तिगं होति।
रूवेण य धम्मेण य, जढमजढे भंगचत्तारि॥

रूप का अर्थ है—स्वलिंग और धर्म का अर्थ है—ज्ञान आदि त्रिपदी। रूप और धर्म के व्यक्त-अव्यक्त के आधार पर चार अंग होते हैं—

४५७९. रूवजढमण्णलिंगे, धम्मजढे खलु तधा सलिंगम्मि।
उभयजढो गिहिलिंगे, दुहओ सहितो सलिंगेणं॥

१. एक ने रूप—स्वलिंग को छोड़ा है, प्रयोजनवश अन्यलिंग में स्थित है परंतु धर्म को नहीं छोड़ा २. दूसरे ने धर्म को छोड़ा है, स्वलिंग को नहीं। ३. उभयत्यक्त होता है गृहिलिंग ४. उभयसहित होता है—स्वलिंग सहित तथा ज्ञानादिक धर्म सहित।

४५८०. तस्स पंडियमाणस्स, बुद्धिलस्स दुरप्पणो।
मुद्धं पाएण अक्कम्म, वादी वायुरिवागतो॥

एक राजा नास्तिक था। वह पंडितमानी और बुद्धिल था अर्थात् दूसरों की बुद्धि पर जीवन चलाता था। वह दूसरों से वाद की आयोजना कर, उनकी अवहेलना करता था। एक बार वह निर्ग्रंथ मुनियों को वाद के लिए ललकारा और उनको उपद्रुत

---

१. सारूपिक—मुनि के समानरूपधारी, मुंडितशिरवाले तथा भिक्षाटनशील।
२. देवचिंतक—जो राजा को शुभाशुभ बताते हैं।
३. चार प्रकार के पुरुष—
१. गणसंग्रहकर होता है, मानकर नहीं।
२. मानकर होता है, गणसंग्रहकर नहीं।
३. दोनों होता है।
४. दोनों नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने लगा। एक मुनि ने यह देखा। वह मुनि वादलब्धिसंपन्न तथा आकाशगामिनी विद्या का ज्ञाता था। उसने राजा द्वारा की जाने वाली प्रवचन की अवहेलना से बचने के लिए गृहलिंग अथवा अन्यलिंग का वेश बनाया और वह राजा के समक्ष वाद करने के लिए उपस्थित हुआ। दोनों--राजा और मुनि में वाद प्रारंभ हुआ। राजा अपने पक्ष का भी निर्वाह नहीं कर सका, परंतु राज्यत्व के मद से मुनि की अवहेलना करने लगा। तब मुनि उस दुरात्मा राजा के शिर पर पाद-प्रहार कर, उसे पैरों से रौंदकर वायु की भांति आकाश-मार्ग से पलायन कर अपने स्थान पर आ गया। यह प्रथम भंगवर्ती पुरुष का उदाहरण है।

४५८१. गणसंठिति धम्मे या, चउरो भंगा हवंति नातव्वा।
गणसंठिति अस्सिस्से महकप्पसुतं न दातव्वं॥

गणसंस्थिति और धर्म के आधार पर पुरुषों के चार विकल्प होते है। गणसंस्थिति अर्थात् गण की मर्यादा यह है कि अशिष्य--अयोग्य शिष्य को महाकल्पश्रुत की वाचना नहीं देनी चाहिए। ये चार विकल्प इस प्रकार हैं--

४५८२. सातिसयं इतरं वा, अन्नगणिच्च ण देयमज्झयणं।
इति गणसंठितीए उ, करेंति सच्छंदतो केई ॥

४५८३. पत्ते देंतो पढमो, बितिओ भंगो न कस्सइ वि देंतो।
जो पुण अपत्तदायी, ततिओ भंगो उ तं पप्प॥

४५८४. सयमेव दिसाबंधं, काऊण पडिच्छगस्स जो देति।
उभयमवलंबमाणं, कामं तु तगं पि पुज्जामो॥

कोई आचार्य स्वच्छंदता से इस प्रकार की गणसंस्थिति करते हैं कि सातिशय अध्ययन--महाकल्पश्रुत अथवा अन्य कोई अध्ययन (देवेंद्रोपपातिक आदि) अन्य गण के शिष्य आदि को नहीं देना चाहिए। इस स्थिति में जो अन्य गण के पात्र को देता है, वह प्रथम पुरुष तुल्य है। जो गणसंस्थिति के आधार पर किसी को भी नहीं देता, वह द्वितीय पुरुष तुल्य है। जो अपात्र को देता है, वह तृतीय पुरुष तुल्य है। जो स्वयं दिग्बंध कर (आचार्यत्व आदि का प्रतिनिधित्व कर) उभय अर्थात् गणसंस्थिति और धर्म का अवलंबन लेकर प्रतीच्छक को उन अध्ययनों की वाचना देता है, हम उसकी पूजा करते है। वह चौथे पुरुष तुल्य है।

४५८५. धम्मो य न जहियव्वो,
गणसंठितिमेत्थ णो पसंसामो।
जस्स पिओ सो धम्मो,
सो न जहति तस्सिमो जोगो॥

धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। इस प्रसंग के गणसंस्थिति की प्रशंसा नहीं करते। जिसको धर्म प्रिय है, वह उसको नहीं छोड़ता। यहां उस प्रियधर्मासूत्र का योग है।

(पुरुषों के चार विकल्प हैं--१. प्रियधर्मा होते हैं, दृढ़धर्मा नहीं। २. दृढ़धर्मा होते हैं, प्रियधर्मा नहीं ३. प्रियधर्मा भी और दृढ़धर्मा भी ४. न दृढ़धर्मा और न प्रियधर्मा।)

४५८६. वेयावच्चेण मुणी, उवचिट्ठति संगहेण पियधम्मो।
उवचिट्ठति दढधम्मो, सव्वेसिं निरतियारो य॥

प्रियधर्मा मुनि वैयावृत्त्य और गणसंग्रहण में लगा रहता है। दृढ़धर्मा मुनि सभी के वैयावृत्त्य में लगा रहता है। वह सर्वत्र निरतिचार होता है।

४५८७. दसविधवेयावच्चे अन्नयरे खिप्पमुज्जमं कुणति।
अच्चंतमणिव्वाही, धिति-विरियकिसे पढमभंगो॥

जो दसप्रकार के वैयावृत्त्य में से किसी एक में शीघ्र उद्यम करता है किंतु धृति और वीर्य की कृशता--कमी के कारण उसका अंत तक निर्वाह नहीं करता वह है प्रथम भंगवर्ती पुरुष अर्थात् प्रियधर्मा है, पर दृढ़धर्मा नहीं।

४५८८. दुक्खेण उ गहिज्जति,
बितिओ गहितं तु नेति जा तीरं।
उभयत्तो कल्लाणो,
ततिओ चरिमो य पडिकुट्ठो॥

दूसरा पुरुष वैयावृत्त्य का महान् कष्ट से पार पाता है (वह प्रियधर्मा नहीं, दृढ़धर्मा है।) तीसरा पुरुष जो प्रतिज्ञा ग्रहण करता है उसको तीर तक ले जाता है। उसका उभयतः कल्याण है। (वह प्रियधर्मा भी है और दृढ़धर्मा भी)। चौथा पुरुष प्रतिकुष्ट--हीलनीय होता है। (वह न प्रियधर्मा है और न दृढ़धर्मा।)

४५८९. अदढप्पियधम्माणं, तं वि य धम्मो करेंति आयरिए।
तेसि विहाणम्मि इमं, कमेण सुत्तं समुद्दियं तु॥

अदृढ़धर्मा और अप्रियधर्मा व्यक्तियों को आचार्य अपने अनुशासन के द्वारा दृढ़धर्मा और प्रियधर्मा करते हैं। उन आचार्यों के विधान के इस क्रम में प्रस्तुत सूत्र समुद्दिष्ट है।

४५९०. पव्वावणुवट्ठावण, उभओ तह नोभयं-चउत्थो उ।
अत्तट्ठ-परट्ठा वा, पव्वावण केवलं पढमे॥

४५९१. एमेव य बितिओ वी, केवलमेत्तं उवट्ठवे सो उ।
ततिओ पुण उभयं पी, अत्तट्ठ-परट्ठ वा कुणति॥

४५९२. जो पुण नोभयकारी,
सो कम्हा भवति आयरीओ उ।
भण्णति धम्मायरिओ,
सो पुण गिहिओ व समणो वा॥

आचार्य के चार प्रकार हैं--प्रव्राजनाचार्य, उपस्थापनाचार्य, प्रव्राजन तथा उपस्थापन--दोनों, तथा जो उभयकारी नहीं। प्रथम है प्रव्राजनाचार्य, जो आत्मनिमित्त और परिनिमित्त से प्रेरित होकर केवल प्रव्रजित करता है। उपस्थापनाचार्य केवल उप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थापना देता है। यह दूसरा है। तीसरा है—आत्मार्थ तथा परार्थ प्रव्राजना और उपस्थापना दोनों करता है। जो उभयकारी नहीं होता वह चौथा है। प्रश्न है फिर वह किसलिए आचार्य होता है? आचार्य कहते हैं—वह धर्मोपदेश देने के कारण धर्माचार्य है। वह गृही अथवा श्रमण भी हो सकता है।

४५९३. धम्मायरि पव्वावण, तह य उवट्ठावणा गुरू ततिओ।
कोई तिहिं संपन्नो, दोहि वि एक्केक्कएणं वा॥

धर्माचार्य वह है जो धर्मग्रहण करवाता है। प्रव्राजनाचार्य वह है जो प्रव्रजित करता है। उपस्थापनाचार्य वह है जो महाव्रतों में उपस्थापित करता है। कोई-कोई आचार्य तीनों गुणों से संपन्न होता है, कोई दो से और कोई एक-एक से संपन्न होता है।

४५९४. एगो उद्दिसति सुतं, एगो वाएति तेण उद्दिट्ठं।
उद्दिसती वाएति य, धम्मायरिओ चउत्थो य॥

चार प्रकार के आचार्य हैं—एक आचार्य श्रुत की उद्देशना देता है, वाचना नहीं। दूसरा आचार्य द्वारा उद्दिष्ट श्रुत की वाचना देता है। तीसरा आचार्य श्रुत की उद्देशना भी देता है और वाचना भी। चौथा धर्माचार्य होता है।

४५९५. पडुच्चायरियं होति, अंतेवासी उ मेलणा।
अंतमब्भासमासन्नं, समीवं चेव आहितं॥

आचार्य के साथ अंतेवासी की युति है। यह पूर्वसूत्र से प्रस्तुत सूत्र की मेलना—संबंध है। 'अंत' शब्द के ये पर्यायवाची शब्द कहे गए हैं—अंतिक, अध्यास, आसन्न और समीप।

४५९६. जह चेव उ आयरिया, अंतेवासी वि होंति एमेव।
अंते य वसति जम्हा, अंतेवासी ततो होति॥

उद्देशन आदि के आधार पर जैसे आचार्य के चार प्रकार हैं, वैसे ही अंतेवासी के चार प्रकार हैं। आचार्य के 'अंत' अर्थात् निकट रहते हैं इसलिए वे अंतेवासी हैं।

४५९७. थेराणमंतिए वासो, सो य थेरो इमो तिहा।
भूमिं ति य ठाणं ति य, एगट्ठा होंति कालो य॥

स्थविरों (आचार्यों) के अंतिक अर्थात् समीप वास करने के कारण वह स्थविर कहलाता है। उसके तीन प्रकार ये हैं—जातिस्थविर, श्रुतस्थविर और पर्यायस्थविर। उनकी तीन भूमियां हैं। भूमी, स्थान और अवस्थारूपकाल—ये तीनों एकार्थक हैं। (स्थविरभूमी, स्थविरस्थान तथा स्थविरकाल।)

४५९८. तिविधम्मि व थेरम्मी, परूवणा जा जधिं सए ठाणे।
अणुकंपसुते पूया, परियाए वंदणादीणि॥

तीनों प्रकार के स्थविरों की प्ररूपणा अपने-अपने स्थान पर होगी। (साठ वर्ष की अवस्था वाला जातिस्थविर, ठाणं और समयवायधर श्रुतस्थविर तथा बीस वर्ष की संयम-पर्याय वाला पर्यायस्थविर) जातिस्थविर पर अनुकंपा, श्रुतस्थविर की पूजा तथा पर्यायस्थविर को वंदना आदि करनी चाहिए।

४५९९. आहारोवहि-सेज्जा य, संथारे खेत्तसंकमे।
कितिछंदाणुवत्तीहिं, अणुवत्तंति थेरगं॥

४६००. उट्ठाणासण-दाणादी, जोग्गाहारपसंसणं।
नीयसेज्जाय निद्देसवत्तितो पूजए सुत्तं॥

४६०१. उट्ठाणं वंदणं चेव, गहणं दंडगस्स य।
परियायथेरगस्सा, करेंति अगुरोरवि॥

जातिस्थविर के प्रति ये कार्य करणीय हैं—आहार, उपधि, शय्या—वसति, संस्तारक तथा क्षेत्र के संक्रमण करते समय उसके उपधि आदि का वहन करना।

श्रुतस्थविर के प्रति—कृतिकर्म, छंदानुवर्तिता, अभ्युत्थान, आसनदान आदि, योग्य आहार लाकर देना, प्रशंसा—गुणोत्कीर्तन, उसके आसन से नीची शय्या करना—बैठना, निर्देशवर्तिता—इस प्रकार श्रुतस्थविर की पूजा करे।

पर्यायस्थविर के प्रति—पर्यायस्थविर अगुरु—आचार्य न होने पर भी ये कार्य करणीय हैं—अभ्युत्थान, वंदना, दंड का ग्रहण आदि।

४६०२. तुल्ला उ भूमिसंखा, ठिता च ठावेंति ते इमे होंति।
पडिवक्खतो व सुत्तं, परियाए दीह-हस्से य॥

स्थविरों की और शैक्षों की भूमी संख्या तुल्य है, तीन-तीन है। स्थविर स्वयं स्थित होकर दूसरों को धर्म में स्थापित करते हैं। शैक्ष स्थाप्यमान होते हैं। अतः इस सूत्र का उपक्रम है अथवा स्थविर के प्रतिपक्ष हैं शैक्ष अथवा स्थविरों की दीर्घ पर्याय होती है और शैक्षों की छोटी पर्याय। यह सूत्रसंबंध है।

४६०३. सेहस्स ति भूमीओ, दुविधा परिणामगा दुवे जड्डा।
पत्त जहंते संभुज्जणा य भूमित्तिग विवेगो॥

शैक्ष की तीन भूमियां। दो प्रकार के परिणामक। दो प्रकार के जड़। पात्र को छोड़ना। संभोजना तथा भूमीत्रिक का विवेक—परित्याग। (यह द्वार गाथा है। व्याख्या आगे।)

४६०४. सेहस्स तिन्नि भूमी,
जहण्ण तह मज्झिमा य उक्कोसा।
राइंदिव सत्त चउमासिया
छम्मासिया चेव॥

शैक्ष की तीन भूमियां हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य का कालमान है—सात दिन-रात, मध्यम का कालमान है—चातुर्मास और उत्कृष्ट का कालमान है, छह मास।

४६०५. पुव्वोवट्ठपुराणे, करणजयट्ठा जहण्णिया भूमी।
उक्कोसा दुम्मेहं, पडुच्च अस्सद्दहाणं च॥

जो पूर्वोपस्थपुराण अर्थात् पहले प्रव्रजित था, फिर उत्प्रव्रजित होकर पुनः प्रव्रज्या लेता है, उसको करणजय (पूर्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्मृत सामाचारीकरण) जघन्य भूमी अर्थात् सातवें दिन उसे उपस्थापना दे देनी चाहिए। दुर्मेधा वाले तथा अश्रद्धावान् (अभावित) के लिए उत्कृष्टभूमी का विधान है।

४६०६. एमेव य मज्झमिया, अणहिज्जंते असद्दहंते य।
भावियमेहाविस्स वि, करणजयट्ठाय मज्झमिया॥

इसी प्रकार मध्यमभूमी भी जो मंद बुद्धि हैं, पढ़ने में असमर्थ हैं, तथा श्रद्धावान् अर्थात् भावित नहीं है, उनके लिए हैं। अथवा भावित तथा मेधावी के भी करणजय के लिए मध्यमभूमी का निर्देश है।

४६०७. आणा दिट्ठंतेण य, दुविधो परिणामगो समासेणं।
आणा परिणामो खलु, तत्थ इमो होति नायव्वो॥

परिणामक दो प्रकार के हैं—आज्ञापरिणामक और दृष्टांतपरिणामक। संक्षेप में आज्ञापरिणामक वह होता है, जो—

४६०८. तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं।
आणाए एस अक्खातो, जिणेहिं परिणामगो॥

वही सत्य है जिसका जिनेश्वर ने प्रवेदन किया है—जो निःशंकरूप से इस पर श्रद्धा करता है, उसे जिनेश्वर ने आज्ञापरिणामक कहा है।

४६०९. परोक्खं हेउगं अत्थं, पच्चक्खेण उ साहयं।
जिणेहिं एस अक्खातो, दिट्ठंतपरिणामगो॥

जो परोक्षहेतुगम्य अर्थ को प्रत्यक्ष (दृष्टांत) से सिद्ध करता है, उसे जिनेश्वर ने दृष्टांतपरिणामक कहा है।

४६१०. तिस्सिंदियाणि पुव्वं, सीसंते जइ उ ताणि सद्दहति।
तो से नाणावरणं, सीसइ ताधे दसविहं तु॥

दृष्टांतपरिणामक को पहले इंद्रियों का बोध कराया जाता है। यदि इंद्रियों पर उसकी श्रद्धा है तो उसे दस प्रकार के ज्ञानावरण का बोध कराया जाता है।

४६११. इंदियावरणे चेव, नाणावरणे इय।
तो नाणावरणं चेव, आहितं तु दु पंचधा॥

इंद्रियावरण और ज्ञानावरण ये दो हैं। इंद्रियावरण अर्थात् इंद्रियविषयों के सामान्योपयोगावरण। ज्ञानावरण अर्थात् इंद्रियविषयों के विशेषोपयोगावरण। इस प्रकार ज्ञानावरण द्विपंचधा अर्थात् दस प्रकार का कहा है। जैसे—

४६१२. सोइंदियआवरणे, नाणावरणं च होति तस्सेव।
एवं दुयभेदेणं, णेयव्वं जाव फासो त्ति॥

श्रोत्रावरण और उसी श्रोत्र का ज्ञानावरण—इस प्रकार दो भेद हो गए। ऐसे स्पर्शनिन्द्रिय तक ज्ञातव्य है।

४६१३. बहिरस्स उ विण्णाणं, आवरियं न पुण सोतमावरियं।
अपडुप्पण्णो बालो, अतिवुड्ढो तध असण्णी वा॥

४६१४. विण्णाणावरियं तेसिं, कम्हा जम्हा उ ते सुणेंता वि।
न वि जाणंते किमयं , सद्दो संखस्स पडहस्स॥

बधिर का विज्ञान अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय विज्ञान आवृत है किंतु श्रोत्र आवृत नहीं है। इसी प्रकार अपटुप्रज्ञ बालक, अतिवृद्ध मनुष्य, असन्नी पंचेन्द्रिय प्राणी—इनका विज्ञान आवृत है क्योंकि ये सुनते हुए भी नहीं जानते कि अमुक शब्द शंख का है अथवा पटह का।

४६१५. किं ते जीवअजीवा, जीवं ति य एव तेण उदियम्मि।
भण्णति एव विजाणसु, जीवा चउरिंदिया बेंति॥

प्रश्न है, क्या बधिर आदि जीव हैं अथवा अजीव। 'वे जीव ही हैं'—ऐसा उसके कहने पर कहा जाता है कि चतुरिन्द्रिय जीवों को जीव जानो।

४६१६. एवं चक्खिंदिय-घाण, जिब्भ-फासिंदिउवघातेहिं।
एक्केक्कगहाणीए, जाव उ एगिंदिया नेया॥

इस प्रकार एक-एक इंद्रिय की परिहानि से चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय के उपघात से त्रीन्द्रिय से एकेन्द्रिय पर्यंत जानना चाहिए। जैसे चक्षुरिन्द्रिय के उपघात से त्रीन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय के उपघात से द्वीन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय के उपघात से एकेन्द्रिय होते हैं।

४६१७. सण्णिस्सिंदियंघाते वि, तन्नाणं नावरिज्जति।
विण्णाणं नऽत्थऽसण्णीयं, विज्जमाणे वि इंदिए॥

संज्ञी जीवों के इन्द्रियघात होने पर भी उपहत इंद्रिय का ज्ञान आवृत नहीं होता। असंज्ञी जीवों के इंद्रिय होने पर भी विज्ञान नहीं होता।

४६१८. जो जाणति य जच्चंधो, वण्णे रूवे विकप्पसो।
नेत्ते वावरिते तस्स, विण्णाणं तं तु चिट्ठति॥

४६१९. पासंता वि न जाणंति, विसेसं वण्णमादिणं।
बाला आसण्णिणो चेव, विण्णाणावरियम्मि उ॥

जन्मांध व्यक्ति स्पष्टरूप से वर्ण और रूप को विकल्पतः अर्थात् अनेक प्रकार से जानता है, यद्यपि उसके नेत्र आवृत है परंतु उसका विज्ञान आवृत नहीं है। (इन्द्रियोपघात होने पर भी विज्ञानोपघात नहीं भी होता और विज्ञानोपघात होने पर भी इन्द्रियोपघात नहीं भी होता।) बालक और असंज्ञी प्राणी देखते हुए भी वर्ण आदि को विशेषरूप से नहीं जान पाते क्योंकि उनका विज्ञान आवृत है।

४६२०. इंदियउवघातेणं, कमसो एगिंदि एव संवुत्तो।
अणुवहते उवकरणे, विसुज्झती ओसधादीहिं॥

४६२१. अवचिज्जते य उवचिज्जते य
जह इंदिएहि सो पुरिसो।
एस उवमा पसत्था,
संसारीणिंदियविभागे॥

कोई पुरुष इंद्रियों के क्रमशः उपघात से एकेन्द्रिय हो गया। यदि उपकरण इन्द्रिय अनुपहत है तो वह औषध आदि के प्रयोगों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से विशुद्ध हो जाता है—सर्वस्पष्टेन्द्रिय हो जाता है। जैसे वह पुरुष इंद्रियों से अपचित और उपचित होता है—यह उपमा संसारी प्राणियों के इंद्रियविभाग में प्रशस्त है। (संसारी प्राणी पंचेन्द्रिय होकर क्रमश एकेन्द्रिय भी हो जाते हैं। द्वीन्द्रिय आदि प्राणी त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय भी हो जाते हैं।)

४६२२. परिणामो जं भणियं, जिणेहि अह कारणं न जाणाति।
दिट्ठंतपरिणामेण, परिवाडी उक्कमकमाणं॥

जिनेश्वर देव ने जो यह कहा कि इंन्द्रियों का विभाग परिणामतः होता है। परंतु उसका कारण नहीं जाना जाता। उसके इस प्रकार कहने पर दृष्टांत से परिणाम को ग्रहण कर उत्क्रम परिपाटी से कहना चाहिए।

४६२३. चरितेण कप्पितेण व, दिट्ठंतेण व तधा तयं अत्थं।
उवणेति जधा णु परो, पत्तियति अजोग्गरूवं पि॥

चरित अथवा कल्पित दृष्टांत से उस अर्थ का उपनय इस प्रकार करना चाहिए कि दूसरा व्यक्ति अयोग्य रूप (अयथार्थ) के प्रति भी विश्वास कर ले।

४६२४. दिट्ठंतो परिणामे, कधिज्जते उक्कमेण व कयाइ।
जह तू एगिंदीणं, वणस्सती कत्थई पुव्वं॥

जो दृष्टांतपरिणामक (दृष्टांत से समझने वाला) होता है उसे कदाचित् उत्क्रम से भी कहा जाता है। जैसे आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में एकेन्द्रिय जीवों के जीवत्व संसाधन करते हुए (क्रम का उल्लंघन कर) पहले वनस्पति का कथन करते हैं।

४६२५. पत्तंति पुप्फंति फलं ददंती,
कालं वियाणंति तधिंदियत्थे।
जाती य वुड्ढी य जरा य जेसि,
कहं न जीवा हि भवंति ते उ॥

जो पत्रित (पत्रयुक्त) होते हैं, पुष्पित होते है, फल देते हैं, (पत्रित-पुष्पित और फलित होने के) काल को जानते हैं तथा इंद्रियों के विषयों को जानते हैं, जिनका जन्म होता है, जो बढ़ते हैं, जो जराग्रस्त होते हैं—वे जीव क्यों नहीं होते?

४६२६. जाधे ते सद्दहिता, ताधि कहिज्जंति पुढविकाईया।
जध उ पवाल-लोणा, उवलगिरीणं च परिवुड्ढी॥

जब वे 'वनस्पति जीव है' ऐसी श्रद्धा कर लेते हैं तब उन्हें पृथ्वीकायिक जीव हैं—ऐसा कहा जाता है। जैसे प्रवाल, लवण, उपल और गिरि की परिवृद्धि होती है। ये पृथ्वीजीव है।

४६२७. कललंडरसादीया, जह जीवा तधेव आउजीवा वि।
जोतिंगण जरिए वा, जहुण्ह तह तेउजीवा वि॥

जैसे कलल—अंडरस जीव है वैसे अप्कायजीव हैं। जैसे ज्योतिरिंगण अर्थात् खद्योत तथा ज्वर की उष्मा जीव है वैसे ही तेजस्काय जीव है।

४६२८. जाहे सद्दहति तेउ, वाऊ जीवा सि ताहे सीसंति।
सत्थपरिण्णाए वि य, उक्कमकरणं तु एयट्ठा॥

जब वह तेजस्कायिक जीवों पर श्रद्धा कर लेता है तब उसे वायुकायिक जीवों के विषय में बताना चाहिए। शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में भी इसी प्रयोजन से उत्क्रमण किया गया है।

४६२९. एस परिणामगो ऊ,
भणितो अधुणा उ जड्ड वोच्छामि।
सो दुविधो नायव्वो,
भासाए सरीरजड्डो उ॥

इस प्रकार दो परिणामक के विषय में कहा गया है। अब जड़ के विषय में कहूंगा। वह दो प्रकार का होता है—भाषाजड़ और शरीरजड़।

४६३०. जलमूग-एलमूगो मम्मणमूगो य भासजड्डो य।
दुविधो सरीरजड्डो, तुल्लो करणे अणिउणो य॥

भाषाजड़ के तीन प्रकार हैं—जड़मूक, एड़कमूक तथा मन्मनमूक। शरीरजड़ के दो प्रकार हैं—शरीर से जड़ तथा क्रियाजड़—क्रिया में अनिपुण।

४६३१. पढमस्स नत्थि सद्दो, जलमज्झे व भासओ।
बीयओ एलगो चेव, अव्वत्तं बुब्बुयायइ॥

प्रथम अर्थात् जड़मूक का कोई शब्द नहीं होता। जलमध्य के बीच बोलने वाले का शब्द नहीं होता। दूसरा है एड़कमूक। वह एड़क की भांति अव्यक्तरूप में 'बु बु' करता है 'बुच्छुयायते'।

४६३२. मम्मणो पुण भासंतो, खलए अंतरंतरा।
चिरेण णीति से वाया, अविसुद्धा व भासते॥

मम्मणमूक वह होता है जो बोलता हुआ बार-बार बीच-बीच में स्खलित होता है अथवा बोलते हुए उसके वायु चिरकाल से बाहर निकलती है अथवा विशुद्ध नहीं बोलता।

४६३३. दुविधेहि जड्डदोसेहिं, विसुद्धं जो उ उज्झती।
काया चत्ता भवे तेणं, मासा चत्तारि गुरुगा य॥

दोनों प्रकार के जड़दोष से जो विशुद्ध है उसका जो परित्याग करता है, उसके द्वारा छहों काय त्यक्त हो जाते हैं। उसको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

४६३४. कधिते सद्दहिते चेव, ओयवेंति पडिग्गहे।
मंडलीए उवट्ठंतु, इमे दोसा य अंतरा॥

षट्जीवनिकायों के विषय में कहने पर, तथा सुनकर श्रद्धा हो जाने पर उसको पतद्ग्रह—पात्र दिया जाता है तथा मंडली में उसे भोजन कराया जाता है। अन्यथा ये दोष उत्पन्न होते हैं—

४६३५. पायस्स वा विराधण,
अतिधी दट्ठूण उड्ढवमणं वा।
सेहस्स वा दुगुंछा,
सव्वे दुद्दिट्ठधम्मो त्ति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पात्र की विराधना हो सकती है। अतिथियों को देखकर वह वमन करने लगता है। शैक्ष के प्रति जुगुप्सा होती है। वे कहते हैं—सभी दुर्दृष्टधर्मा अर्थात् दुष्टधर्मा हैं।

४६३६. जलमूग-एलमूगो, सरीरजड्डो य जो य अतिथुल्लो।
जं वुत्तं तु विवेगो, भूमितियं ते न दिक्खेज्जा॥

जो पहले कहा गया है कि 'भूमीत्रिक का विवेक'— इसका तात्पर्य है कि जड़मूक, एड़मूक, और शरीरजड़—ये अतिस्थूल हों तो इन्हें दीक्षित नहीं करना चाहिए।

४६३७. दुम्मेहमणतिसेसी,
न जाणती जो य करणतो जड्डो।
ते दोन्नि वि तेण उ सो,
दिक्खेति सिया उ अतिसेसी॥

जो दुर्मेधा है, करणजड़ है उसको अनतिशायी ज्ञान वाला नहीं जानता। इन दोनों को वह दीक्षित कर सकता है। यदि वह अतिशायी ज्ञान वाला है तो इन्हें दीक्षित न करे।

४६३८. अहव न भासाजड्डो, जहाति ति परंपरागतं छउमो।
इतरं पि देसहिंडग, असतीए वा विगिंचेज्जा॥

छद्मस्थ परंपरागत भाषाजड़ का परित्याग नहीं करता। देशहिंडक न होने पर करणजड़ को दीक्षित करे। अन्य साधु होने पर उसका परिष्ठापन कर दे—छोड़ दे।

४६३९. मासतुसानातेणं, दुम्मेहं तं पि केइ इच्छंति।
तं न भवति पलिमंथो, न यावि चरणं विणा णाणं॥

कुछेक आचार्य/मुनि दुर्मेधा शिष्य जो केवल माष-तुष को जानता है उसको दीक्षित करना चाहते हैं। यह नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसे दुर्मेधा वाले व्यक्ति को दीक्षित करने से सूत्रार्थ का पलिमंथ होता है तथा ज्ञान के बिना चरण भी नहीं होता।

४६४०. नातिथुल्लं न उज्झंति मेहावी जो य बोब्बडो।
जलमूग-एलमूगं, परिट्ठावेज्ज दोन्नि वि॥

अतिस्थूल का परित्याग कर देना चाहिए। जो मेधावी है, भाषाजड़ है,उसको नहीं छोड़ना चाहिए। जड़मूल (जलमूक) तथा एड़कमूक—इन दोनों का परिष्ठापन—त्याग कर देना चाहिए।

४६४१. मोत्तूण करणजड्डं, परियट्टंति जाव सेस छम्मासा।
एक्केक्कं छम्मासा, जस्स य दट्ठुं विविंचणया॥

करणजड़ के अतिरिक्त जो दुर्मेधा तथा भाषाजड़ हैं उनका आचार्य छह मास तक अनुवर्तन करे। फिर दूसरा, तीसरा आचार्य—प्रत्येक छह-छह मास तक उनका अनुवर्तन करे। जिसको देखकर वह शिक्षा लेता है उसी आचार्य को उसका विवेचन—दान कर देना चाहिए।

४६४२. तिण्हं आयरियाणं, जो णं गाहेति सीस तस्सेव।
जदि एत्तिएणं गाहितो न परिट्ठावए ताहे॥

तीन आचार्यों में जो शिक्षा ग्रहण करवाता है उसी का वह शिष्य होता है। यदि तीनों आचार्यों ने मिलकर उसे शिक्षित किया है तब उसे परिस्थापित (उपसंपन्न) नहीं करते।

४६४३. देति अजंगमथेराण, वावि य जह दट्ठु णं जो उ।
भणति मज्झं कज्जं, दज्जिति तस्सेव सो ताधे॥

उसे अजंगम स्थविर को देते हैं अथवा जो उसको देखकर कहता है—इससे मेरा प्रयोजन है, तो उसी को वह दिया जाता है।

४६४४. जो पुण करणे जड्डो, उक्कोसं तस्स होति छम्मासा।
कुल-गण-संघनिवेदण, एयं तु विहिं तहिं कुज्जा॥

जो करणजड़ होता है, उसकी उत्कृष्ट परिपालना छह मास तक होती है। उसके पश्चात् कुल, गण और संघ को निवेदन करने पर वे जो कहते हैं उसी विधि का पालन करे।

४६४५. पव्वज्जापरियाओ, वुत्तो सेहो ठविज्जए जत्थ।
जम्मणपरियागस्स उ, विजाणणट्ठा इमं सुत्तं॥

पूर्वसूत्र में शैक्ष को स्थापित करने का प्रव्रज्यापर्याय कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र उसी के जन्मपर्याय को जानने के लिए है।

४६४६. ऊणऽट्ठए चरित्तं, न चिट्ठए चालणीय उदगं वा।
बालस्स य जे दोसा, भणिता आरोवणा जा य॥

चालनी में जैसे पानी नहीं ठहरता वैसे ही आठ वर्ष के (आठ वर्ष से न्यून) बालक में चारित्र नहीं ठहरता। बालक विषयक जो दोष कहे गए हैं उनका तथा आरोपणा दोषों का प्रसंग आता है।

४६४७. काय-वइ-मणोजोगो,
हवंति तस्स अणवट्ठिया जम्हा।
संबंधि अणाभोगे,
ओमे सहसाऽववादेणं॥

बालक के काय-वाङ्-मनोयोग अनवस्थित होते हैं। वह यदि संबंधी हो, जन्मपर्याय ज्ञात न होने पर, दुर्भिक्ष काल में, सहसाकार—अचानक तथा अपवाद रूप से आठ वर्ष से न्यून बालक की भी उपस्थापना की जा सकती है।

४६४८. भुंजिस्से स मया सद्धिं नीओ नेच्छति संपयं।
सो व नेहेण संबंधो, कहं चिट्ठेज्ज तं विणा॥

'यह बालक मेरे साथ भोजन करेगा' यह कहकर आचार्य उसे मंडली में ले जाते हैं। अभी वह उस आचार्य के बिना भोजन करना नहीं चाहता। आचार्य का उसके साथ स्नेहसंबंध है, अतः वह उसके बिना कैसे रह सकता है?

४६४९. अणुवट्ठवितो एसो, संभुंजति मा बुवेज्ज अपरिणतो।
ताहे उवट्ठाविज्जति, तो णं संभुंजणं ताहे॥

अपरिणत शिष्य ऐसा न कह दे कि उपस्थापना के बिना भी यह साथ भोजन करता है। अतः आचार्य उसे उपस्थापना दे देते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। तब मंडली में संभोजन किया जाता है।

४६५०. अधव अणाभोगेणं, सहसक्कारेण व होज्ज संभुत्तो।
ओमम्मि व मा हु ततो, विप्परिणामं तु गच्छेज्जा॥

अथवा अनाभोग–अज्ञात अवस्था में, सहसाकार से मंडली में उसका संभोजन होता है। दुर्भिक्ष के समय वह विपरिणत होकर संयम छोड़कर चला न जाए इसलिए उसके साथ भोजन होता है।

४६५१. अदिक्खायंति वोमे मं, इमे पच्छन्नभोजिणो।
परोऽहमिति भावेज्जा, तेणावि सह भुंजते॥

ये मुनि प्रच्छन्नभोजी हैं। दुर्भिक्षकाल में ये मुझे अदीक्षित करना अर्थात् दीक्षा से बाहर कर देना चाहते हैं। मैं इनके लिए दूसरा हूं–यह भावना उसके मन में आ सकती है, इसलिए उसको (उपस्थापित कर) उसके साथ भोजन करते हैं।

४६५२. लेहऽट्ठमवरिसे उवट्ठामो पसंगतो।
उद्दिसे सेससुत्तं पि, सुत्तस्सेस उवक्कमो॥

रेखास्थ अष्टम वर्ष अर्थात् परिपूर्ण अष्टम वर्ष वाले बालक को उपस्थापित किया जाता है। इस प्रसंग से शेष सूत्रों का भी उसे उद्देश न दे दिया जाए–यह प्रस्तुत सूत्र का उपक्रम है, संबंध है।

४६५३. अहियऽट्ठमवरिसस्स वि,
आयारे वि पढितेण तु पकप्पं।
देंति अवंजणजातस्स,
वंजणाणं परूवणा॥

४६५४. जधा चरित्त धारेउं, ऊणट्ठो तु अपच्चलो।
तहाविऽपक्कबुद्धी उ, अववायस्स नो सहू॥

जो आठ वर्ष से अधिक वय वाला है, जिसने आचारांग पढ़ लिया है फिर भी यदि वह अव्यंजनजात है अर्थात् जिसके व्यंजन–उपस्थरोम नहीं उगे हैं, तो उसे आचार्य आचारप्रकल्प की वाचना नहीं देते। व्यंजनों की प्ररूपणा सूत्र की व्याख्या में की जा चुकी है। जैसे–चारित्र को धारण करने में ऊनाष्टवर्षीय बालक असमर्थ होता है वैसे ही अपरिपक्वबुद्धि वाला मुनि अपवादपदों को धारण करने में असमर्थ होता है, उनको सहन नहीं कर सकता।

४६५५. चउवासे सूतगडं, कप्पव्ववहार पंचवासस्स।
विगट्ठठाण समवाओ, दसवरिस वियाहपण्णत्ती॥

चार वर्ष के संयम-पर्याय वाले को सूत्रकृत, पांच वर्ष वाले को कल्प और व्यवहार, विकृष्ट अर्थात् छह वर्ष से नौ वर्ष वाले को ठाणं और समवाय, दस वर्ष वाले को विवाहप्रज्ञप्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति) की वाचना दी जा सकती है।

४६५६. चउवासो गाढमती, न कुसमएहिं तु हीरते सो उ।
पंचवरिसो उ जोग्गो, अववायस्स त्ति तो देंति॥

४६५७. पंचण्हुवरि विगट्ठो, सुतथेरा जेण तेण उ विगट्ठो।
ठाणं महिड्ढियं ति य, तेण दसवासपरियाए॥

चार वर्ष की संयमपर्याय वाला मुनि धर्म में गाढ़मतिवाला होता है। अतः वह कुसमय–कुतीर्थिकों के सिद्धांतों से अपहृत नहीं होता। पांच वर्ष की संयम पर्यायवाला मुनि अपवादों को धारण करने योग्य होता है इसलिए उसे दशा-कल्प और व्यवहार की वाचना दी जाती है। पांच वर्षों से ऊपर का संयम-पर्याय विकृष्ट कहलाता है। स्थानांग और समवायांग के अध्ययन के बिना कोई श्रुतस्थविर नहीं होता। इस विकृष्ट पर्याय (छह से नौ) के बिना उनका अध्ययन नहीं होता। अतः उसका यहां निर्देश है तथा स्थानांग और समवायांग महर्धिक है, इसलिए इनसे परिकर्मित मतिवाले को दस वर्ष की संयमपर्याय में व्याख्याप्रज्ञप्ति की वाचना दी जा सकती है।

४६५८. एक्कारसवासस्सा, खुड्डि-महल्ली-विमाणपविभत्ती।
कप्पति य अंगुवंगे, वीयाहे चेव चूलीओ॥

४६५९. अंगाणमंगचूली, महकप्पसुतस्स वग्गचूलीओ।
वीयाहचूलिया पुण, पण्णत्तीए मुणेयव्वा॥

ग्यारह वर्ष की संयमपर्याय वाले मुनि को क्षुल्लिका और महती विमानप्रविभक्ति (जिनमें कल्पस्थित विमानों का संक्षिप्त और विस्तृत वर्णन है) तथा अंग और वर्ग चूलिकाओं की वाचना दी जा सकती है।

(अंगों की चूलिका अंगचूली–अर्थात् पांच अंग उपासक-दशा आदि की चूलिका (निरयावलिका) तथा महाकल्पश्रुत की चूलिका–वर्गचूलिका तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति की व्याख्या चूलिका जाननी चाहिए।

४६६०. बारसवासे अरुणोववाय वरुणो य गरुलवेलंधरो।
वेसमणुववाए य तधा, एते कप्पंति उद्दिसिउं॥

बारह वर्ष की संयम-पर्याय वाले मुनि को इनकी उद्देशना देना कल्पता है–अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, वेलंधरोपपात तथा वैश्रमणोपपात।

४६६१. तेसिं सरिनामा खलु, परियट्टंती य एंति देवा उ।
अंजलिमउलियहत्था, उज्जोवेंता दसदिसा उ॥

४६६२. नामा वरुणा वासं, अरुणा गरुला सुवण्णगं देंति।
आगंतूण य बेंती, संदिसह उ किं करेमो त्ति॥

जब इन ग्रंथों का (तद्-तद् देवताओं का मन में प्रणिधान कर) परावर्तन करते हैं तब अध्ययनों के सदृश नामवाले देवता अंजलि को मुकुलित किए हुए अर्थात् हाथ जोड़े हुए दशों दिशाओं को उद्योतित करते हुए वहां आते हैं। वरुण देवता गंधोदक की वर्षा करते है। अरुण और गरुड़ देवता सुवर्ण देते हैं। वे निकट आकर कहते हैं–आप आज्ञा करें कि हम क्या करें?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४६६३. तेरसवासे कप्पति, उट्ठाणसुते तधा समुट्ठाणे।
देविंदपरियावणिय, नागाण तधेव परियाणी॥

तेरह वर्ष की संयम-पर्याय वाले मुनि को उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, देवेंद्रपरियापनिका तथा नागपरियाणी (परियापनिका) का उद्देशन कल्पता है।

४६६४. परियट्टिज्जति जहियं, उट्ठाणसुतं तु तत्थ उद्देति।
कूल-गाम-देसमादी, समुट्ठाणसुते निविस्संति॥

४६६५. देविंदा नागा विय, परियाणीएसु एंति ते दो वी।
चोद्दसवासुद्दिसती, महासुमिणभावणज्झयणं॥

जहां उत्थानश्रुत का परावर्तन होता है वहां कुल, ग्राम और देश उद्वसित हो जाते हैं, उजड़ जाते हैं और जब समुत्थान श्रुत का परावर्तन होता है तब कुल, ग्राम और देश पुनः आबाद हो जाते हैं।

देवेंद्रपरियापनिका का परावर्तन करने पर देवेंद्र तथा नाग-परियापनिका का परावर्तन करने पर नाग देवता—ये दोनों आते हैं।

चौदह वर्ष की संयमपर्याय वाले मुनि को महास्वप्न-भावनाध्ययन की वाचना दी जा सकती है।

४६६६. एत्थं तिंसइ सुमिणा, बायाला चेव होंति महसुमिणा।
बावत्तरिसव्वसुमिणा, वण्णिज्जंते फलं तेसिं॥

इस महास्वप्नभावनाध्ययन में तीस सामान्य स्वप्न तथा बयालीस महास्वप्नों का वर्णन है तथा उनके फलों का भी कथन है।

४६६७. पण्णरसे चारणभावणं ती उद्दिसते तु अज्झयणं।
चारणलद्धी तहियं, उप्पज्जती तु अधीतम्मि॥

पंद्रह वर्ष की संयम-पर्याय वाले श्रमण निर्ग्रंथ को चारणभावना नामक अध्ययन उद्दिष्ट किया जा सकता है। उसके अध्ययन से चारणलब्धि उत्पन्न होती है।

४६६८. तेयनिसग्गा सोलस, आसीविसभावणं च सत्तरसे।
दिट्ठीविसमट्ठारस, उगुणवीस दिट्ठिवाओ तु॥

सोलह वर्ष की संयम-पर्याय वाले को तेजोनिसर्ग नामक अध्ययन, सतरह वर्ष की संयम-पर्याय वाले को आसीविष-भावना, अठारह वर्ष की संयम-पर्याय वाले को दृष्टिविषभावना तथा उन्नीस वर्ष की संयम-पर्याय वाले को दृष्टिवाद की उद्देशना की जा सकती है।

४६६९. तेयस्स निसरणं खलु, आसिविसत्तं तहेव दिट्ठिविसं।
लद्धीओ समुप्पज्जे, समधीतेसुं तु एतेसुं॥

तेजोनिसर्ग आदि के अध्ययन से तेज का निस्सरण, आसीविषत्व, दृष्टिविष आदि लब्धियां समुत्पन्न होती हैं।

४६७०. दिट्ठीवाए पुण होति, सव्वभावणा रूवणं नियमा।
सव्वसुत्ताणुवादी, वीसतिवासे उ बोधव्वो॥

दृष्टिवाद में सर्वभावों का निरूपण है। नियमतः बीस वर्ष में मुनि सर्वश्रुतानुपाती होता है, यह जानना चाहिए।

४६७१. चउद्दससहस्साइं, पइण्णगाणं तु वद्धमाणस्स।
सेसाण जतिया खलु, सीसा पत्तेयबुद्धा उ॥

भगवान् वर्द्धमान के चौदह हजार प्रकीर्णककर्त्ता निर्ग्रंथ थे। शेष तीर्थंकरों के जितने शिष्य थे उतने ही प्रकीर्णककर्त्ता तथा उतने ही प्रत्येकबुद्ध थे।

४६७२. पत्तस्स पत्तकाले, एतेणं जो उ उद्दिसे तस्स।
निज्जरलाभो विपुलो, किध पुण तं मे निसामेह॥

जो पात्र को प्राप्तकाल—निर्दिष्टकाल में प्रकीर्णकों को उद्दिष्ट करता है, उसको विपुल निर्जरालाभ होता है। उस विपुल निर्जरालाभ को मैं कहता हूं, तुम सुनो।

४६७३. कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
अन्नयरगम्मि जोगे, सज्झायम्मी विसेसेण॥

संयमयोगों में से किसी संयमयोग में आयुक्त मुनि प्रतिसमय असंख्येयभवोपार्जित कर्मों का क्षय करता है। स्वाध्याय में आयुक्त मुनि विशेष करता है।

४६७४. आयारमादियाण, अंगाणं जाव दिट्ठिवाओ तु।
एस विही विण्णेओ, सव्वेसिं आणुपुव्वीए॥

आचारांग से दृष्टिवाद पर्यंत सभी अंगों का आनुपूर्वी से वाचना देने की इस विधि को भलीभांति जान लेना चाहिए।

४६७५. दसविहवेयावच्चं, इमं समासेण होति विण्णेयं।
आयरियउवज्झाए, थेरे य तवस्सि सेहे य॥

४६७६. अतरंत कुलगणे या, संघे साधम्मिवेयवच्चे य।
एतेसिं तु दसण्हं, कातव्वं तेरसपदेहिं॥

यह दस प्रकार का वैयावृत्त्य संक्षेप में इस प्रकार है—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, शैक्ष, अतर अर्थात् ग्लान, कुल, गण, संघ और साधर्मिक—इन दसों का वैयावृत्त्य करना दस प्रकार का वैयावृत्त्य कहलाता है। इस वैयावृत्त्य को तेरह पदों (स्थानों) से करना चाहिए।

४६७७. भत्ते पाणे सयणासणे य पडिलेहण पायमच्छिमद्धाणे।
राया तेणं दंडग्गहे य गेलण्णमत्ते य॥

तेरह पद ये हैं—

१. भक्त २. पान ३. शयन ४. आसन ५. प्रतिलेखन ६. पादप्रमार्जन ७. अक्षिरोगी को औषध ८. अध्वाप्रपन्न को सहयोग ९. राजाद्विष्ट का निस्तारण (राजा के विपरीत होने पर उसका समाधान करना) १०. चोरों से संरक्षण ११. रत्नाधिकों का दंडग्रहण १२. ग्लान की सेवा १३. मात्रत्रिक की प्रस्तुति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४६७८. जा जस्स होति लद्धी,
तं तु न हावेति संत विरियम्मि।
एयाणुत्तत्थाणि तु,
पायं किंचित्थ वुच्छामि॥

जिसमें जिस विषय की लब्धि हो वह शक्ति होते हुए उसका गोपन न करे। उपरोक्त तेरह पद सुप्रतीत हैं, फिर भी कुछेक पदों के विषय में कहूंगा।

४६७९. पादपरिकम्म पादे, ओसह-भेसज्ज देति अच्छीणं।
अद्धाणे उवगेण्हति, राया दुट्ठे य नित्थारे॥
४६८०. सरीरोवहितेणेहि,सा रक्खति सति बलम्मि संतम्मि।
दंडग्गहणं कुणती, गेलण्णे यावि जं जोग्गं॥
४६८१. उच्चारे पासवणे, खेले मत्तयतिगं तिविधमेयं।
सव्वेसिं कायव्वं, साहम्मिय तत्थिमो विसेसो॥

'पाद' का अर्थ है पाद परिकर्म करता है, आवश्यकतावश औषध पिलाता है, अक्षी—चक्षु के रोग में भेषज देता है, अध्वा—मार्गगत मुनियों के उपधि स्वयं ढोकर उन्हें सहयोग देना है। राजा द्विष्ट हो जाने पर मुनियों के निस्तारण का उपाय करता है। शरीरस्तेन तथा उपधिस्तेनों से अपनी शक्ति विद्यमान होने पर उनका संरक्षण करता है। मुनियों का दंडग्रहण करता है। ग्लान की यथायोग्य सेवा करता है।

उच्चार, प्रस्रवण और श्लेष्म—इन तीनों के लिए तीन मात्रक हैं। इनको यथा समय उपहृत करता है। यह त्रयोदश-पदात्मक वैयावृत्त्य आचार्य आदि सभी का त्रिविध—मन, वचन, काया से करना चाहिए। साधर्मिक के लिए विशेष ज्ञातव्य है।

४६८२. होज्ज गिलाणो निण्हव,
न य तत्थ विसेस जाणति जणो तु।
तुब्भेत्थं पव्वतितो,
न तरती किण्णु कुणह तस्स॥
४६८३. ताहे मा उड्डाहो, होउ त्ती तस्स फासुएणं ति।
पडुयारेण करोती, चोदेती एत्थ अह सीसो॥

एक गांव में एक निन्हव ग्लान है। वहां के लोग विशेष रूप से नहीं जानते कि निन्हव कौन होता है। वे सुविहित साधुओं को कहते हैं—आपका एक प्रव्रजित मुनि ग्लान है। वह कुछ नहीं कर सकता। क्या आप उसका वैयावृत्त्य नहीं कर सकते? तब वे सुविहित मुनि सोचते हैं—प्रवचन का उड्डाह न हो, इसलिए वे उसकी प्रासुक प्रत्यवतार—भक्त, पान आदि से वैयावृत्त्य करते हैं। शिष्य प्रश्न करता है—

४६८४. तित्थगरवेयवच्चं, किं भणियमेत्थ तु किं न कायव्वं।
किं वा न होति निज्जर, तहियं अह बेति आयरिओ॥

इन दस प्रकार के वैयावृत्त्यों में तीर्थंकर के वैयावृत्त्य का उल्लेख क्यों नहीं किया? क्या तीर्थंकर का वैयावृत्त्य नहीं करना चाहिए? क्या उसमें निर्जरा नहीं होती? ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं—

४६८५. आयरियग्गहणेणं, तित्थयरो तत्थ होति गहितो तु।
किं व न होयायरिओ, आयारं उवदिसंतो उ॥
४६८६. निदरिसण जध मेत्थ खंदएण पुट्ठो उ गोतमो भयवं।
केण तु तुब्भं सिट्ठं, धम्मायरिएण पच्चाह॥

आचार्य के ग्रहण से तीर्थंकर स्वयं गृहीत हो जाते हैं—क्या आचार का उपदेश देने वाला आचार्य नहीं होता? (तीर्थंकर धर्माचार्य होते हैं वे आचार का उपदेश देते हैं।) यहां यह निदर्शन है। स्कंदक ने भगवान् गौतम से पूछा—तुमको यह किसने कहा? गौतम ने उत्तर दिया—धर्माचार्य भगवान् महावीर ने।)

(भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—'गौतम! आज तुम अपने पूर्व मित्र को देखोगे।'

इतने में ही स्कंदक संन्यासी को निकट आते हुए देखकर गौतम सामने गए और कहा—स्कंदक! तुम पिंगल के प्रश्न का समाधान पाने यहां आए हो? स्कंदक ने गौतम से पूछा—मेरे मन की बात तुमको किसने बतलाई? गौतम ने तक कहा—भगवान् महावीर मेरे धर्माचार्य और धर्मोपदेशक हैं। उन्होंने मुझे यह रहस्य बताया है।) तीर्थंकर धर्माचार्य होते ही हैं।

४६८७. तम्हा सिद्धं एयं, आयरिगहणेण गहिय तित्थगरो।
आयरियादी दस वी, तेरस गुण होंति कायव्व॥
४६८८. तीसुत्तरसयमेगं, ठाणाणं वण्णितं तु सुत्तम्मि।
वेयावच्चसुविहितं, नेम्मं निव्वाणमग्गस्स॥

अतः यह सिद्ध है कि आचार्य के ग्रहण से तीर्थंकर गृहीत हो जाते हैं। आचार्य आदि दसों को तेरह पदों से गुणित करना चाहिए। इस प्रकार सूत्र में वैयावृत्त्य विषयक एक सौ तीस (१०×१३)स्थान वर्णित हैं। सुविहित मुनियों के लिए यह निर्वाणप्राप्ति का मार्ग है।

४६८९. ववहारे दसमए उ, दसविह साहुस्स जुत्तजोगस्स।
एगंतनिज्जरा से, न हु नवरि कयम्मि सज्झाए॥

व्यवहार सूत्र के दशवें उद्देशक में दस प्रकार का वैयावृत्त्य प्ररूपित है। उसमें जो युक्तयोगवाला साधु है—जो इस वैयावृत्त्य में अपने योगों को संयुक्त करता है, उस साधु के एकांत निर्जरा होती है। केवल स्वाध्याय करने वाले के एकांत निर्जरा नहीं होती।

४६९०. एसोऽणुगमो भणितो,
अहुणा नयो सो य होति दुविधो उ।
नाणनओ चरणणओ,
तेसि समासं तु वुच्छामि॥

यह अनुगम कहा गया है। अब नय की वक्तव्यता है। नय के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो प्रकार हैं—ज्ञाननय और चरणनय (क्रियानय)। मैं इनको संक्षेप में कहूंगा।

४६९१. नायम्मि गिण्हियव्वे, अगिण्हितव्वम्मि चेव अत्थम्मि।
जइयव्वमेव इति जो, उवदेसो सो नयो नामं॥

अर्थ को भलीभांति जान लेने पर उपादेय के ग्रहण और हेय के अग्रहण में प्रयत्न करना चाहिए—यह जो उपदेश है वह नय है।

४६९२. सव्वेसिं पि नयाणं, बहुविहवत्तव्वयं निसामेत्ता।
तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठितो साधू॥

सभी नयों की बहुविध वक्तव्यता को सुनकर जो सर्वनय-विशुद्ध—सर्वनयसम्मत वचन है, वह चरणगुणस्थित अर्थात् चारित्र (क्रिया) और ज्ञान में स्थित होने के कारण प्रशस्त है।

४६९३. कप्पव्ववहाराणं, भासं मोत्तूण वित्थरं सव्वं।
पुव्वायरिएहि कयं, सीसाण हितोवदेसत्थं॥

कल्प और व्यवहार के महाभाष्य को छोड़कर, पूर्वाचार्यों ने इसका सारा विस्तार शिष्यों के हितोपदेश के लिए किया है।

४६९४. भवसयसहस्समहणं, एयं णाहिंति जे उ काहिंति।
कम्मरयविप्पमुक्का, मोक्खमविग्घेण गच्छंति॥

जो इस व्यवहारसूत्र/भाष्य को जानेंगे वे भवशतसहस्र के पापों को नष्ट कर, कर्मरजों से विप्रमुक्त होकर निर्विघ्नरूप से मोक्ष को प्राप्त कर लेंगे।

दसवां उद्देशक समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथानुक्रम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथानुक्रम

अइयातो रक्खंतो १६१२
अउणासीतठवणाण ३९६
अंगाणमंगचूली ४६५९
अंगुट्ठ अवर पण्हि ३४८१
अंगुट्ठ पोरमेत्ता ३३९८
अंजलि पणामऽकरणं २३४१
अंडगमुज्झित कप्पे ३१३८
अंडज बोंडज वालज ३७३६
अंतो उवस्सए छड्डणा ९०९
अंतो निवेसणस्सा २७४७
अंतो परिठावंते ३५३८
अंतो पुण सट्ठीणं ३१३५
अंतो बहिं च भिन्नं ३१३७
अंतो बहिं च वीसुं २६९३
अंतो बहिं वावि ३७०७
अंतो मुहुत्तकालं २२५७
अंतोवस्सयबाहिं ३४०७
वा वाहि वा २७४६,४२५५
अंतरे विसगलजुण्णं ३५४५
अंधं अकूरमययं २९५९
अकतकरणा वि १६०,६०५
अकत परिकम्ममसहं ७७४
अकयकरणा तु १६८,६११
अकरण निसीहियादी ३१८९
अकरणे पासायस्स ३६९५
अकिरिय जीए पिट्ठण ६९५
अक्कंदट्ठाणठितो २४६६
अक्कंदठाण ससुरे २४६३
अक्खयदेहनियत्तं ८२९
अक्खेत्ते जस्सुवट्ठति १८३६
अक्खेवो पुण कीरति २३९८
अगडसुताण न कप्पति २७४५
अगडसुता वाधिकता २७२६
अगडे पलाय मग्गण १०९९
अगडे भाउय तिले तंदुले २३५६
अगणादि संभमेसु य २७१७
अगलंत न वक्खारो २७९५
अगलंतमत्तसेवी २८०२
अगारिए दिट्ठंतो ४४६
अगिलाणे उ गिहिम्मी २५०९
अगिलाय तवोकम्मं १७७७
अगीतसमणा संजति २२२१
अग्गघातो हणे मूलं ४६६
अग्गिहिभूतो कीरति १२१०
अग्गीतसगासम्मी ४२५१
अग्गीतेणं सद्धिं २७
अचरित्ताए ३०५१,४२१६
अचवलथिरस्स भावो १४८३
अचियत्तमादि वोच्छेय ३२८७
अचियत्ता निक्खंता २८४८
अच्चाउलाण निच्चोउलाण ३२२२
अच्चाताव दूरपहे ३५६२
अच्चाबाध अचायंते १४५५
अच्चाबाहो बाधं १४५६
अच्चित्तं च जहरिहं १३२७
अच्चित्ता एसणिज्जा य १९३
अच्चुण्हताविए उ २५७५
अच्छउ ता उट्ठवणा २०३३
अच्छउ महाणुभागो १२१८
अच्छंताण वि गुरुगा ३३६९
अच्छंति संथरे सव्वे ३९१७
अच्छति अवलोएति य ८२४
अच्छयंते व दाऊणं ३३४१
अच्छिन्नुवसंपयाए ३९६१
अच्छिन्ने अन्नोन्नं ३४३८
अजतणाय व कुव्वंती ३०६७
अजरायु तिण्णि पोरिसि ३१३९
अजायविउलखंदा ३२४८
अज्जसमुद्दा दुब्बल २६८६
अज्जाणं गेलण्णे २४४४
अज्जेण भव्वेण ७१२
अज्जेण पाडिपुच्छं ३६५३
अज्जो संलेहो ते ४२९०
अज्झयणाणं तितयं ११६
अझुसिरमविद्धमफुडिय ३४०५
अझुसिरमादीएहिं ३४०६
अट्ठे चउव्विधे खलु २०६७
अट्ठं वा हेउं वा ११६९
अट्ठट्ठ उ अवणेत्ता ४८९
अट्ठ त्ति भाणिऊणं ३६८५
अट्ठम दसम दुवालस ४२४५
अट्ठमी पक्खिए मोत्तुं ३०६२
अट्ठविहा गणिसंपय ४०८०
अट्ठसतं चक्कीणं ३७४८
अट्ठस्स कारणेणं १२०५
अट्ठहा नाणमायारो ३०१७
अट्ठहि अट्ठारसहिं ४१५७
अट्ठाण सद्द हत्थे १६१०
उट्ठायार व मादी ४१५९
अट्ठरसेहिं ठाणेहिं ४०७०-४०७३
अट्ठविते व पुव्वं तु २००६
अट्ठावीसं जहण्णेण २२७३
अट्ठिगमादी वसभा १२४६
अट्ठे व पज्जयाइं ३९६७
अडंते भिक्खकालम्मि ३८५९
अणणुण्णमणुण्णाते २८९
अणणुण्णाते लहुगा २९२
अणधिगतपुण्णपावं २०४१
अणपुच्छाए गच्छस्स ४२८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणमप्पेण कालेणं ४२००
अणवट्ठप्पो पारंची १०७३
अणवट्ठो पारंचिय १२०६
अणवस्स वि डहरग १५७८
अणारद्धे उ अण्णेसु ३८६२
अणालदंसणित्थीसु १२७०
अणाहोऽधावणसच्छंद १५८२
अणिययचारि ४०८६
अणुकंपा जणगरिहा ७४३
अणुकंपिता च चत्ता ५५६
अणुकरणं सिव्वण १५१४
अणुघातियमासाणं ४०५
अणणुण्णविते दोसा ३३६२
अणुण्णवणाय जतणा ३४१५
अणुपुव्वविहारीणं ४३९०
अणुमाणेउं रायं ७१४
अणुमाणेउं संघं १६६९
अणुलोमणं सजाती ३५३२
अणुलोमा पडिलोमा ४४०३
अणुलोमिए समाणे ३३२७
अणुवट्टविता एसा ४६४८
अणुवसंते च सव्वेसिं १८४२
अणुवसमंते निग्गम ८९७
अणुवहितं जं तस्स उ १५१९
अणुवाति त्ती णज्जति ८६६
अणुसट्ठ उज्जमंती २८३८
अणुसट्ठिं उच्चरती ११७९
अणुसट्ठी धम्मकहा ३३७८
अणुसट्ठीय सुभद्दा ५६१
अणुसास्स कहण ठवितं ११८२
अणुसासण भेसणया ११६५
अणुसासियम्मि अठिते ११५८
अणूवदेसम्मि वियारभूमी १८१७
अणेग बहुनिग्गमणे २५३९
अण्णं गविसह खेत्तं २१०५
अण्णकाले वि आयाता २१६१
अण्णट्ठमप्पणत्त वा २९३०
अण्णत्थ तत्थ विपरिणते २०९२
अण्णपडिच्छण लहुगा २९५
अण्णपधेण वयंते ३५५५
अण्णवसहीय असती ३१३०
अण्णस्सा देंति गणं २८४४
अण्णाउंछं एगोवणीय ३८५६
अण्णाउंछं च सुद्धं ३८५७
अण्णाउंछं दुविहं ३८५२
अण्णाए वावि परलिंगं ३२९६
अण्णागते कहंतो २२२४
अण्णाते परियाए १८७५
अण्णा दोन्नि समाओ ४२४३
अण्णे गामे वासं २७२५
अण्णेहि कारणेहि व २५१४
अण्णेहि पगारेहिं २३७५
अण्णो इमो पगारो २१४७
अण्णो जस्स न जायति २२७०
अण्णो देहाओऽहं ७८२
अण्णोण्णनिस्सिताणं २२०७
अण्णोण्णेसु गणेसुं १२३४
अण्णो वा थिरहत्थो २०३६
अण्णो वि अत्थि जोगो २५२०
अण्णो वि य आएसो २६६४
अतक्किय उवधिणा ऊ ३४८६
अतरंत कुलगणे या ४६७६
अतरंत बालवुड्ढा १७७४
अतरंतस्स अडेंते ३६३९
अतिक्कमे वतिक्कमे ४३२
अतिगमणे चउगुरुगा १०५८
अतिबहुयं पच्छित्तं ६५८
अतियारुवओगे वा १०७
अतियारे खलु नियमेण ९१४
अतिरेगट्ठ उवट्ठा ३२५३
अतिरेग दुविधकारण ३६१६
अतिवेढिज्जति भंते! ६५९
अतिसंघट्टे हत्थादि ६४७
अतिसंधरणे तेसिं ३९४१
अतिसयमरिट्ठतो वा १९९१
अतिसयरहिता थेरा २८५९
अतिसेसित दव्वट्ठा २५१९
अतोसविते पाहुडे २१२४
अत्तट्ठ परट्ठा वा ३६७०
अत्तट्ठा उवणीया २५०८
अत्तीकरेज्जा खलु जो २१८४
अत्थं पडुच्च सुत्तं ४१६९
अत्थरणवज्जितो तू ३४०२
अत्थवतिणा निवतिणा ७१५
अत्थि त्ति होति लहुगो २९०५
अत्थि पुण काइ चेट्ठा ७१
अत्थि य से सावसेसं ८५९
अत्थि हु वसहग्गामा ३९५१
अत्थी पच्चत्थीणं ५
अत्थुप्पन्नी असरिस ३२२
अत्थेण गंथतो वा २८६७
अत्थेण जस्स कज्जं ११७३
अत्थेण मे पकप्पो २३१५
अत्थेण व आगाढं २३९५
अत्थो उ महिड्ढीओ २६४०
अत्थो वि अत्थि एवं २०६६
अदढप्पियधम्माणं ४५८९
अदसाइ अणिच्छंते ३२७८
अदिक्खायंति वोमे मं ४६५१
अदिट्ठ आभट्टासुं १२७१
अदिट्ठं दिट्ठं खलु ४१४३
अदिट्ठस्स उ गहणं ३७१२
अदिट्ठे पुण तहियं ३६४४
अदिट्ठे सामिम्मि उ ३४६०
अद्धमसणस्स सव्वं ३७०१
अद्धाण ओम असिवे ३६३८
अद्धाण कक्खडाऽसति २६१८
अद्धाण दुक्खसेज्जा २९४४
अद्धाणनिग्गतादि २८३३,३५८८
अद्धाणनिग्गयादी २८१६,३५८९
अद्धाण पुव्वभणितं ३३५०
अद्धाणम्मि जोगीणं २१४०
अद्धाणवायणाए ९१
अद्धाणादिसु एवं १३८१
अद्धाणादिसु नट्ठा २२४४
अद्धाणादिसुवेहं २६२५
अद्धाणे अट्ठाहिय ३५२५
अद्धाणे गेलण्णे ३६०२
अद्धाणे बालवुड्ढे ३६३७
अद्धाणेऽसंथरणे २६२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अद्धा य जाणियव्वा २५०४
अध न कतो तो पच्छा १८७८
अध निक्खिवती गीते १८५९
अध पट्ठवेति सीसं ४४४१
अध पुण अक्खुय चिट्ठे ३५०५
अध पुण अच्छिण्णसुते २२४२
अध पुण गहितं पुव्वं ३५८३
अध पुण गाहित दंसण ३९८७
अध पुण ठवेज्जिमेहिं ३४९३
अध पुण तेणुवजीवति ३६७१
अध पुण न संथरेज्जा ३४९२
अध पुण विकालपत्ताए ३२६०
अध पुव्वठिते पच्छा १८५६
अधव अणाभोगेणं ४६५०
अधव जइ वीसु वीसुं १८२०
अधव पडिवत्तिकुसला २०२७
अधवा अक्खित्तगणाइएसु १६३३
अधवा अझुसिरगहणे ३४०३
अधवा अट्ठारसगं ४०१३
अधवा अण्णऽण्णकुला १८७७
अधवा अफरुसवयणो ४०९६
अधवा अब्भुट्ठाणं ४५६४
अधवा आहारुवधी २२६८
अधवा इमे अणरिहा १४५९
अधवा उच्चारगतो १२४१
अधवा एगतरम्मि उ १८९१
अधवा एगस्स विधी ९७८
अधवा एसणासुद्धं १९१
अधवा कायमणिस्स उ ४०४४
अधवा गहणे निसिरण १४८९
अधवाऽणुसट्ठवालंभु ५६७
अधवा तप्पडिबंधा २४१९
अधवा तस्स सीसं तु २९७२
अधवा तिगसालंबेण ४३०७
अधवा न होज्ज एते २४६२
अधवा बितियादेसो २०२२
अधवा भणेज्ज एते ३८७६
अधवा भरियभाणा उ ३३१५
अधवा भुत्तुव्वरितं २९१७
अधवा महानिहिम्मी ४५८
अधवा राया दुविधो २४०८
अधवा वि अण्णदेसं १८१०
अधवा वि अद्धरत्ते ३२०७
अधवा वि कोल्लुयस्सा ५८७/२
अधवा वि पडिग्गहगे ३६८१
अधवा वि पुव्वसंथुत १२७२
अधवा वि सव्वरीए ४२५७
अधवा वि सिद्धपुत्तिं २३७७
अधवा सइ दो वावी १५९८
अधवा समयं दोन्नि वि ३९१४
अधवा हेट्ठाणंतर ९१५
अध सव्वेसिं तेसिं १९१८
अध सुत्त सुत्तदेसा ३७७८
अध सो गतो उ तहियं ४४५६
अधागुरु जेण पव्वाविंतो ४१२२
अधिकरणम्मि कतम्मि ११६६
अधिकरण-विगतिजोगे २४९
अधिकरणस्सुप्पत्ती २९८१
अधुणा तु लाभचिंता २५१०
अधुणुव्वासिय सकवाड १९६८
अन्नं उद्दिसिऊणं २९६१
अन्नं च छाउमत्थो ५८
अन्नं च दिसज्झयणं ३१८४
अन्नं व देज्ज वसधिं ३३२८
अन्नतर उवज्झायादिणा १९९२
अन्नतरं तु आकिच्चं ९१६
अन्नतरतिगिच्छाए १३१०
अन्नतरपमादेणं ४०५८
अन्नत्थ दिक्खिया थेरी २८१८
अन्नाउंछविसुद्धं ३७७७
अन्नागय सगच्छम्मी ३०५८
अन्ना वि हु पडिसेवा २२५
अन्नेण पडिच्छावे ३००
अन्ने वि अत्थि भणिता २६७४
अन्ने वि तस्स नियगा ३४४६
अन्नो निसिज्जति तहिं ३४०१
अपरक्कमो तवस्सी ४४४०
अपरक्कमो मि जातो ४४३९
अपरक्कमो य सीसं ४४४३
अपरिग्गहगणियाए ११७५
अपरिच्छणम्मि गुरुगा ४२८५
अपरिणतो सो जम्हा ७३६
अपरिण्णाकालादिसु ११
अपरीणामगमादी ४१००
अपरीमाणे पिहब्भावे १९८४
अपरीयाए वि गणो १५९५
अपलिउंचिय ५८२
अपवदितं तु निरुद्धे १५६१
अपव्वावित सच्छंदा १८६९
अपहुच्चंते काले ३६७७
अपुण्णकप्पो व दुवे १८२२
अपुण्णा कप्पिया जे तु ३९९१
अप्पच्चय निब्भयया २३६३
अप्पडिबज्झंतगमो ३५०८
अप्पडिलेहियदोसा ६४०
अप्पत्ते अकहित्ता २०३८
अप्पत्ते कालगते ३९७३
अप्पत्ते तु सुतेणं २०३९
अप्पबितियप्पततिया १७९६
अप्पमलो होति सुची ५०६
अप्परिहारी गच्छति ७०२
अप्पसत्थेण भावेण ३०५४
अप्पसुतो त्ति व काउं १००८
अप्पा मूलगुणेसुं २३८
अप्पावद्ध दुभागोम ३६८९
अप्पाहारग्गहणं ३६९१
अप्पाहेति सयं वा ३२९०
अप्पेव जिणसिद्धेसु २७७७
अप्फालिया जह रणे ७५२
अफरुस-अणवल १४८२
अबंभचारी एसो ७१०
अबहुस्सुते अगीतत्थे १४१९
अबहुस्सुतेऽगीतत्थे १४१८
अबहुस्सुते न देती २१८८
अबहुस्सुते व ओमे १६४४
अबहुस्सुतो अगीतो २४९०
अबहुस्सुतो पकप्पो १६४५
अब्भत्थितो व रण्णा १२२८
अब्भासकरणधम्मुब्भुयाण १४८४
अब्भासत्थं गंतूण ३५२९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब्भासवत्ति छंदाणुवत्तिया ७८
अब्भिंतरमललित्तो ३२३२
अब्भुज्जतमचएंतो २२६१
अब्भुज्जतमगतरं १४५७,१५५३, २०१४,२९३९
अब्भुज्जतेसु ठाणं १९२४
अब्भुज्जयं विहारं २३११
अब्भुज्जय निच्छिओऽप्प १६४६
अब्भुज्जय पडिवज्जे ३००३
अब्भुज्जयपरिकम्मं २६२४
अब्भुट्ठाणं अंजलि ६७
अब्भुट्ठाणं गुरुमादी १४८३
अब्भुट्ठाणे आसण १४८१
अब्भुट्ठियस्स पासम्मि ९७७
अब्भुदए वसणे वा १४३७
अब्भुवगतं च रण्णा १५०५
अब्भुवगतस्स सम्मं २१५६
अब्भुवगते तु गुरुणा २०८५
अब्भुवगयाए लोओ २९४९
अभिघातो वा विज्जू ४३८८
अभिणीवारी निग्गते २९१३
अभिधाणहेतुकुसलो १२१९
अभिधारिज्जंतऽपत्ते ३९७८
अभिधारे उववण्णो ३९८१
अभिधारेंत पढंते वा ३९६२
अभिधारेंत वच्चति २२४८
अभिनिव्वगडादीसु २८१३
अभिभवमाणो समणं ११६३
अभिवड्ढितकरणं पुण २०१
अभिसित्तो सट्ठाणं १९४१
अभिसेज्ज अभिनिसीहिय ६७९
अमणुण्णधन्नरासी ३०७
अमितं अदेसकाले ७५
अमिलाय मल्लदामा १२७८
अमुगं कीरउ आमं ति ८७
अमुगनिस्साऽगीतो २०७२
अमुगो अमुगत्थ कतो ४५३४
अम्मा-पितिसंबंधी २४४९
अम्मा-पितिसंबद्धा ३९९९
अम्मापितीहि जणियस्स ९४९
अम्हं अणिच्छमाणो २४७६
अम्हं एत्थ पिसाओ १०९५
अरिहं व अनिम्माउं १३२८
अरिहाऽणरिहपरिच्छं १४३१
अरिहो वऽणरिहो होति २०१०
अलं मज्झं गणेणं ति २००५
अलसं भणंति बाहिं २७९
अलोणाऽसक्कयं सुक्खं ३६९६
अल्लीणा णाणादिसु ४५१३
अवंकि अकुडिले यावि २०
अवचिज्जते य उवचिज्जते ४६२१
अवणेतु जल्लपडलं २७९६
अवधीरितो व गणिणा १०८७
अवराहअतिक्कमणे ९८
अवराहं वियाणंति ४०५४
अवराहविहारपगासणाय २१९८
अवराहो गुरु तासिं २८४७
अवरो परस्स निस्सं २०९३
अवलक्खणा अणरिहा १६४७
अवसेसा अणगारा ४३५४
अवसो व रायदंडो ५५५
अविकिट्ठ किलम्मंतं २९४
अविणट्ठे संभोगे २९०८
अविधिट्ठिता तु दोवी ३९३५
अविधूयगादि वासो २९३३
अविभवअविरेगेणं २४६०
अवि य विणा सुत्तेणं २३३४
अवि य हु विसोधितो ते ५६३
अवि य हु सुत्ते भणियं ३२८
अविरिक्कसारिपिंडो ३७५३
अविरिक्को खलु पिंडो ३७४१
अवि सिं धरति सिणेहो १२८०
अविसिट्ठा आवत्ती ५४३
अविसेसियं च कप्पे १५४
अविहाडा हं अव्वो २८६२
अविहिंस बंभचारी १९०
अव्वत्तं अफुडत्थं ४०९७
अव्वत्ते ससहाये २२४९
अव्वत्तो अविहाडो ३९९६
अव्विवरीतो नामं २२८१
अव्वोगडं अविगडं ३३५६
अव्वोच्छिन्ननिवाताओ ३८१२
असंथतिमेव फलगं ३४६६
असंतऽण्णे पवायंते ३०९७
असंथरं अजोग्गा वा ४२८४
असंथरण णिंतऽणिंते २२४३
असंथरणेऽणिंताण ३९४९
असंविग्गसमीवे वि ४२६५
असज्झाइए असंते ६७०
असज्झाइयपाहुणए ६४५
असज्झायं च दुविधं ३१०१
असढस्स जेण जोगाण २६८४
असती अच्चियलिंगे २०२६
असती अण्णाते ऊ ३३३१
असतीए अण्णलिंगं २३९३
असती एगाणीओ २७२४
असतीए वायगस्स १९१७
असतीए विण्णवेंति ११९५
असतीए सीयाणे ३२७७
असती कडजोगी २३३५, २३६९
असती तव्विधसीसे १८५८
असती निच्चसहाए २७३८
असती नीणेतु निसिं ३२६६
असती पडिलोमं तू २६२६
असती मोयमहीए २७९८
असतीय अप्पणो वि य ३५९२
आतीय अविरहितम्मि ३४९६
असतीय पमुह कोट्ठग ३८८०
असतीयऽमणुण्णाणं ३४९५
आसतीय लिंगकरणं ९७०
असती व अन्नसीसं २०१२
असती सुक्किल्लाणं ३२६५
असमाधीमरणेणं २४३२
असमहियमरणं ते २००८
असमाहीठाणा खलु ४०१
असरिसपक्खिगठविते १३३४
असहंते पच्चत्तरणम्मी ७२९
असहुस्सुव्वत्तणादीणि २७९६
असिणाण भूमिसयणा ३८३८
असिलोगस्स वा वाया २७५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असिवगहितो व सोउं ३५८२
असिवादिएसु फिडिया २३०९
असिवादिकारणगता ३३९६
असिवादिकारणगतो २९३६
असिवादिकारणेणं १७३८
असिवादिकारणेहिं ८९४, १७६४
असिवादी कारणिया ३६४७
असिवादीहि वहंता ४२७९
असिवे ओमोयरिए १०२५
असिवोमाघतणेसुं ३१४८
असिहो ससिहगिहत्थो १८६२
असुभोदयनिप्फण्णा २७६९
असुहपरिणामजुत्तेण ३४०
अस्सामिबुद्धियाए २६६७
अह अत्थइत्ता होज्जाहि ३०९२
अह एते तु न हुज्जा ३६४३
अहगं च सावराधी २३१
अह गंतुमणा चेव ३२८५
अह चिट्ठति तत्थेगो १७५८
अहछंदस्स परूवण ८६३
अह नत्थि कों वि वच्चंतो ३००६
अह पुण असुद्धभावो ३९११
अह पुण एगपदेसे ३३३४
अह पुण कंदप्पादीहि ३३८७
अह पुण जेणं दिट्ठो ३४३२
अह पुण निव्वाघातं ३१६८
अह पुण भुंजेज्जाही १२६७
अह पुण रूसेज्जाही ९०४
अह पुण विरूवरूवे ४२८८
अह पुण हवेज्ज दोन्नी ३३७०
अह पेहिते वि पुव्वं ३२६४
अह बेती वायंतो २२२९
अह भावालोयणं धम्म ३४४२
अहमवि एहामो ता २०८८
अहयं अतीमहल्लो १९३७
अहरत्त सत्तवीसं २०६
अह रुंभेज्ज दारट्ठो ३२९३
अहव न भासाजड्डो ४६३८
अहव पुरसंथुतेतर १२७४
अहवा अत्तीभूतो २०६८
अहवा अवस्सघेत्तव्वयम्मि ३५१४
अहवा आयरिओ वी २२५१
अहवा आहारादी १६
अहवा एगाहिगारो १६३५
अहवा कज्जाकज्जे २३,१७३
अहवा गणस्स अपत्तियं १३३५
अहवा गाहग सीसो १७११
अहवा जत पडिसेवि ५७९
अहवा जात समत्तो १७४४
अहवा जेणऽण्णइया ४५१५
अहवा जो आगाढं १६४८
अहवा तदुभयहेयं २०७५
अहवा दिट्ठंतऽवरो ३१०६
अहवा दीवगमेतं १६३६
अहवा दोण्णि व तिण्णि व १८२१
अहवा दोण्ह वि होज्जा २०९६
अहवा दोन्नि वि पहुणो ३४५५
अहवा दो वि भंडंते ३९३८
अहवा न लभति उवरिं १४७०
अहवा पढमे सुद्धे ३२०६
अहवा पणगादीयं ९१७
अहवा बेंति अगीता १२९३
अहवा बेंति अम्हे ते ३५३४
अहवा भत्ते पाणे २७८५
अहवा भयसोगजुतो ११४१
अहवा वणिमरूएण य ४५६
अहवा वि अण्ण कोई २८४९
अहवा वि तिन्नि वारा ३४३३
अहवा वि तीसतिगुणे २०३
अहवा वि धम्मसद्धा २४७५
अहवा वि सरिसपक्खस्स २९५४
अहवा समयं पत्ता ३९१३
अहवा सावेक्खितरे १६१,६०६
अहवुप्पण्णे सच्चित्तादी २१५२
अहवेक्केक्कियं दत्ती ३७८४
अह साहीरमाणं तु ३८२९
अह से रोगो होज्जा २३४५
अहिगरणे उप्पन्ने २९८२
अहिज्जमाणे उ सचित्तं २१५०
अहियं पुच्छति ओगिण्हते १४२५
अहिऽट्ठमवरिसस्स वि ४६५३
अहियासियाय अंतो ३१५७

आ

आइण्णमणाइण्णं ८५७
आइन्नं दिणमुक्के ३१२३
आइल्ला चउरो सुत्ता ३७१८
आउट्टितो ठितो जो उ ३९३७
आउट्टियावराहं ३२३३
आउट्टो त्ति व लोगे २५४५
आउत्थ परा वावी ३८७१
आउयवाघातं वा ९१९
आएस-दास-भइए ३७०५
आकंपयित्ता अणुमाणयित्ता ५२३
आकिण्णो सो गच्छो २०८७
आगंतुं अन्नगणे १६२५
आगंतुगो वि एवं १८६०
आगंतु तदुत्थेण व २३५७
आगंतु भद्दगम्मी २२३२
आगतमणागताणं २१०१
आगम गम कालगते ३६३०
आगमणं सक्कारं २८३९
आगमणे सक्कारं ८११
आगमतो ववहारं ४०५०
आगमतो ववहारो ४०२९
आगमववहारी आगमेण ३८८४
आगमववहारी छव्विहो वि ४०५१
आगमसुतववहारी ३१८
आगमसुताउ सुत्तेण ९
आगम्म एवं बहुमाणितो १४०४
आगाढं पसहायं तु २७७१
आगाढजोगवाहीए ३०५७
आगाढमुसावादी १७२७
आगाढम्मि उ जोगे २१४१
आगाढो वि जहन्नो २१२१
आगारेहि सरेहि य ३२३
आगासकुच्छिपूरो २३०१
आणा दिट्ठंतेण य ४६०७
आणादिणो य १३०४, २७४८, २७८८, ३२६१
आणादी पंचपदे ३३०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आणीतेसु तु गुरुणा ३६२८
आणेऊण न तिण्णो ३४४९
आनतरमादियाणं ४९७
आतपरोभयदोसेहि २११२
आतसमुत्थमसज्झाइयं ३२२३
आतुरत्तेण कायाणं २४२९
आदाणाऽवसाणेसु १३५१
आदिगरा धम्माणं ४०३४
आदिग्गहणा उब्भामिगा २५४६
आदिग्गहणा दसकालिओ ३०३७
आदिच्चदिसालोयण २५५६
आदिट्ठ सड्ढकहणं ११३८
आदिमसुत्ते दोण्णि वि १७२९
आदियणे कंदप्पे १९७६
आदिसुतस्स विरोधो २४१६
आदेज्जमधुरवयणो ४०९५
आदेस-दास-भइए ३३४६
आदेसमविस्सामण ६३५
आदेसागमपढमा २८८२
आधाकम्मनिमंतण ४३
आधाकम्मुद्देसिय १५२०
आभवंताधिगारे उ २१६५
आभवंते य पच्छित्ते ३८८९
आभिगहितस्स असती २५२६
आभिग्गहियस्साऽसती ३४२०
आभीरी पण्णवेत्ताण २८२१
आमं ति वोत्तु गीतत्था २००९
आमंतेऊण गणं ८०३
आयंबिलं न कुव्वति २१२६
आयंबिल उसिणोदेण ४२४६
आयंबिल-खमगाऽसति २३८५
आयंबिलस्साऽलंभे २१३७
आयतर-परतरे या ४८०
आयपराभिसित्तेणं २४११
आयप्परपडिकम्मं ४३९२
आयरिए अभिसेगे ७२०
आयरिए आलोयण ९६५
आयरिए कह सोधी ५८६
आयरिए कालगते १५८१
आयरिए जतमाणे १९५४
आयरिए भणाहि तुमं ३६२१
आयरिओ उ बहुस्सुत ४०८५
आयरिओ केरिसओ ५६८
आयरिय अणादेसा १७१५
आयरिय अपेसंते २०९५
आयरिय उवज्झाए २१७
आयरिय उवज्झाओ २९५२
आयरिय उवज्झायम्मि १८९०
आयरिय उवज्झाया १५९२, १७३५, १९३२
आयरिसकुडुंबी वा २६१३
आयरिय गणिणि वसभे ७२६
आयरियग्गहणेणं ४६८५
आयरियत्ते पगते १९९०
आयरियपादमूलं ४२९५
आयरियपिवासाए १५८५
आयरियमादियाणं १६३२
आयरियवसभसंघाडए ८१५
आयरियाणं सीसो १५७६
आयरियादी तिविधो १६९, ६१२
आयरियादेसऽवधारितेण १७१४
आयवताणनिमित्तं ३४७८
आयसक्खियमेवेहं २७५६
आयसमुत्थं लाभं २२३८
आयारकुसल एसो १४८८
आयारकुसल संजम १४८०
आयारपकप्पे ऊ १५२८
आयारमादियाणं ४६७४
आयारव आधारव ५२०
आयारविणयगुणकप्प ४३०१
आयारसंपयाए ४०८३
आयारसुतसरीरे ४०८१
आयारस्स उ उवरिं १५३३
आयारे वट्टंतो १६७४
आयारे विणओ खलु ४१३२
आयारे सुत विणए ४१३१
आयासकरो आएसितो ३७०४
आरब्भसुत्ता सरमाणगा तू २२५२
आराधितो नरवती २६४१
आराहणा उ तिविधा ३८८७
आराहेउं सव्वं ४४८८
आरिय-देसारियलिंग ८९९
आरियसंकमणे परिहरेंति ८९८
आरेणागमरहिया २३६६
आरोवण उद्दिट्ठा ३६२
आरोवण निप्फण्णं १४२
आरोवणमक्खेवं २६५८
आरोवणा जहन्ना ३५९
आरोवणा परूवण २६५१
आरोह परिणाहो ४०९१,४०९३
आरोहो दिग्घत्तं ४०९२
आलवणादी उ पया ५५८
आलावण पडिपुच्छण ५५०
आलिहण सिंच तावण २९४८
आलीढ-पच्चलीढे २१८
आलीवेज्ज व वसधिं २९८७
आलोइय-पडिकंतस्स ४०५२
आलोइयम्मि गुरुणा १६००
आलोइयम्मि निउणे १२४४
आलोइयम्मि सेसं ८५८/३
आलोइयम्मि सेहेण २१८१
आलोएंतो सोउं ३८९३
आलोगम्मि चिलिमिणी ३२१९
आलोगो तिन्निवारे २५७७
आलोयंतो एत्तो ५२१
आलोयणं गवेसण १२११
आलोयण तह चेव ३०२
आलोयण त्ति का पुण ५४
आलोयण त्ति य पुणो ५८५
आलोयण पडिकमणे ५३, ४१८०, ४१८५
आलोयणागुणेहिं ४१५८
आलोयणापरिणतो २३३
आलोयणाय दोसा २३७९
आलोयणारिहालोयओ ५१८
आलोयणारिहो खलु ५१९
आलोयणा विवेगे य ४१९२
आलोयणा विवेगो य ४१८७
आलोयणाविहाणं ५२४
आलोयणा सपक्खे २३६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलोय दावणं वा २५८३
आलोयमणालोयण ६६६
आवकही इत्तरिए २९३
आवण्णमणावण्णे २७१५
आवण्णो इंदिएहि ४९९
आवरिया वि रणमुहे ६२७
आवलिय मंडलिकमो ३९८०
आवलिया मंडलिया १८२४
आवस्सगं अकाउं ६८६
आवस्सगं अणियतं ८८४
आवस्सगं तु काउं ६८२
आवस्सग-पडिलेहण २६६
आवस्सग-सज्झाए ८८३
आवस्सग-सुत्तत्थे २०१७
आवस्सय काऊणं ३१६२
आवरसयाइ काउं ९२९
आवस्सिया-पमज्जण २५४
आसंकमवहितम्मि य ५९
असज्ज खेत्त काले २२९८
आसण्णखेत्त भावित १९८८
आसण्णट्ठितेसु उज्जएसु १९५५
आसण्णेसुं गेण्हति १७९१
आसन्नातरा जे तत्थ २२२०
आसन्नमणावाए ३०१३
आसन्नतो लहुगो ८२७
आसस्स पट्ठिदाणं १८९६
आसासो वीसासो १६८१
आसि तदा समणुण्णा २९०६
आसीता दिवससया ३६६
आसुक्कारोवरते १८९९
आहच्च कारणम्मि य २१
आहरति भत्तपाणं १२१३
आहाकम्मिय पाणग ४२६७
आहायरिओ एवं ४५२५
आहार-उवधि-सेज्जा ९७२,
१००६, ११०४, १५७३, ३३६६
आहारवत्थादिसु लद्धिजुत्ते १३९९
आहारा उवजोगो २९४५
आहारादीणट्ठा ९९६
आहारदुप्पायण २९३७
आहारे उवगरणे ३५९९
आहारे जतणा वुत्ता २२७६
आहारे ताव छिंदाही ४३३४
आहारो खलु पगतो ३७०३
आहारोवधिसेज्जा १९७३
आहारोवहि-झाओ ७०५
आहारोवहि-सयणाइएहि ४५७०
आहारोवहिसेज्जादिएहि ४५७२
आहारोवहि-सेज्जा य ४५९९

इ

इंगालदाह खोडी १४४५
इंगितागारदक्खेहिं २००३
इंदकील मणोग्गाह १८०५
इंदियअव्वागडिया १०२
इंदियउवघातेणं ४६२०
इंदिय-कसायनिग्गह १४९०
इंदियपडिसंचारो ४३१६
इंदियमाउत्ताणं ३१९५
इंदियरागद्दोसा १०१
इंदियाणि कसाए य ४२९४
इंदियावरणे चेव ४६११
इच्चेयं पंचविधं ४००८
इच्चेसो पंचविहो ४००९
इच्छित-पडिच्छितेणं २२०८
इतरे भणंति बीयं १८८७
इतरे वि होज्ज गहणं ३५७७
इतरेसिं घेत्तूणं ३३०८
इति असहण उत्तुयया ३०१०
इति आउर पडिसेवंत १०४४
इति एस असम्माणो ११२४
इति कारणेसु गहिते ९०५
इति खलु आणा बलिया २०७४
इति दव्व खेत्त-काले १२६५
इति पत्तेया सुत्ता १७९३
इति संजमम्मि एसा २४५२
इति सुद्ध सुत्तमंडलि १४२९
इति होउ त्ति य भणिउं १९०३
इत्तरियसामाइय छेद ४६८
इत्थीओ बलवं जत्थ ९३६, ९३७
इत्थी नपुंसगा वि य ६३७
इत्थी पण्हाति जहिं २८१४
इय अणिवारितदोसा ४२११
इय चंदणरयणनिभा १४४६
इय पंचकपरिहीणे ९६४
इय पवयणभत्तिगतो १९४८
इय पुव्वगताधीते २७०३
इय मासाण बहूण वि ४०४५
इय होउ अब्भुवगते १९०६
इरियावहिया हत्थंतरे ३१९०
इस्सरसरिसो उ गुरू ५८४
इह-परलोगसंसविमुक्कं ८१
इहरह वि ताव नोदग ८४५
इहलोए फलमेयं ३२३७
इहलोए य अकित्ती १७०३
इहलोगम्मि य कित्ती १७०७
इहलोगियाण परलोगियाण २४३१

ई

ईसिं ओणा उद्धट्ठिया २३७३
ईसिं अवणय अंतो २०५२

उ

उउबद्धपीढफलगं ८८६
उंवरविक्खंभे विज्जति ३८७७
उक्कड्ढंतं जधा तोयं २७६८
उक्कत्तितोवत्तियाइं ७८१
उक्कोसबहुविधीयं ११३७
उक्कोसा उ पयाओ ४८८
उक्कोसा य जहन्ना ४२३८
उक्कोसारुवणाणं ३८१
उक्कोसिगा उ एसा ४२४९
उक्खल खलए दव्वी ३८५३
उक्खेवेणं दो तिन्नि १४६३
उग्गममादी सुद्धो ३४७२
उग्गह एव अधिकितो ३३०९
उग्गह पभुम्मि दिट्ठे ३३४९
उग्गहम्मि परे एवं ३९५७
उग्गहसमणुण्णासुं ३५१८
उग्गहियस्स उ ईहा ४१०९
उग्घातमणुग्घातं ६०१
उग्घातमणुग्घाते ३४६
उग्घातियमासाणं ४८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्चफलो अह खुड्डो १४२३
उच्चारं पासवणं ३५६०
उच्चारभिक्खे अदुवा २८६०
उच्चारमत्तगादी ३९२६
उच्चारादि अथंडिल २०४३
उच्चारियाए नंदीए २६५२
उच्चारे पासवणे ४६८१
उच्छेव बिलट्ठगणे १७५४
उज्जाण गाम दारे ३९१५
उज्जाण घडा सत्थे ३८७८
उज्जाणरुक्खमूले ४३१५
उज्जुमती विउलमती ४०३३
उज्जेणी सगराया ४५५७
उट्ठाणं वंदणं चेव ४६०१
उट्ठाणासणदाणादी ४६००
उट्ठेंत निवेसंते २९५१
उट्ठेज्ज निसीएज्जा ५५४
उडुबद्ध दुविह गहणा ३३८९
उडुबद्धसमत्ताणं १७९५
उडुबद्धे अविरहितं १७४६
उडुबद्धे कारणम्मि ३४१०
उडुबद्धे विहरंता ३८९२
उडुभयमाणसुहेहिं २३८०
उडुमासे तीसदिणा २०७
उडुवासे लहु लहुगा १७३२
उड्ढं अधे य तिरियं ३७४७
उण्होदगे य थोवे ३८०३
उत्तदिणसेसकाले ३१४
उत्तरगुणातियारा ४६४
उत्तरतो हिमवंतो ११२९
उत्ता वितिण्णगमणा ८३३
उदउल्लादि परिच्छा २०४२
उदगभएण पलायति ८२२
उद्दिट्ठमणुद्दिट्ठे ३६६२
उद्दिट्ठवग्गदिवसा ३७८६
उद्देसम्मि चउत्थे २३०४
सद्देस-समुद्देसे ११४
उद्धारणा विधारण ४५०३
उद्धावणा पधावण ९६२
उद्धितदंडो साहू ३४२
उद्धियदंडगिहत्थो ३४३
उप्पण्णकारणे पुण २६१५
उप्पण्णणाणा जह णो २५७१
उप्पण्णे उप्पण्णे २१४८
उप्पण्णे गेलण्णे २४२८
उप्पत्ती रोगाणं ४३९
उप्पन्नगारवे एवं २००४
उप्पन्ना उप्पन्ना ४३००
उप्पन्ने उवसग्गे ४३९८
उप्पा उवसम उत्तरण २५६२
उप्पियण भीत संदिसण १९९९
उप्फिडितुं सो कणगो ४३६५
उब्भामिय पुव्वुत्ता १८८६
उब्भावणा पवयणे ८०९
उभओ किसो किसदढो ७८७
उभओ जोणीसुद्धो ९२७
उभतो गेलण्णे वा ७०६
उभयं पि दाऊण १२१४
उभयधरम्मि उ सीसे २३३६
उभयनिगे वतिणीय व ३०९०
उभयनिसेध चउत्थे ४५६२
उभयबलं परियागं १०३७
उभयम्मि वि आगाढे २१३१
उभयस्स अलंभम्मि वि २७३५
उम्मग्गदेसणाए १६९१,१७१७
उम्मत्तो व पलवते १६१८
उम्माओ खलु दुविधो ११४७
उम्मायं च लभेज्जा ३२३६
उल्ले लहुग गिलाणादिगा १७६२
उवगरणनिमित्तं तू ४२३४
उवगरण बालवुड्ढा १९४३
उवगरणेहि विहूणो ४३६८
उवट्ठितम्मि संगामे २४०३
उवणट्ठ अन्नपंथेण ३९९८
उवदेसं काहामि य २५१८
उवदेसो उ अगीते ३३
उवदेसो न सिं अत्थि २९६५
उवधी दूरट्ठाणं ३५९३
उवधी पडिबंधेणं ३५०३
उवमा जवेण चंदेण ३८३३
उवयारहीणमफलं २३३९
उवयोगवतो सहसा १०५
उवरिं तु पंचभइए ४२५
उवरिमगुणकारेहिं ५३२
उववातो निद्देसो २०८१
उवसंपज्जण अरिहे १९१६
उवसंपज्जते जत्थ २१५९
उवसंपज्जमाणेण २०७७
उवसंपाविय पव्वाविता १९१३
उवसग्गे सोढव्वे १४३९
उवसामिता जतंतेण २९५६
उवसामिते परेण व ९१०
उवहतउग्गहलंभे ३६७६
उवहि सुत भत्तपाणे २३५२
उवहिस्स य छब्भेदा २३५४
उव्वण्णो सो धणियं २८६३
उव्वत्तणा य पाणग ७५५
उव्वत्त दार संथार ४३२१
उव्वरगस्स उ असती १०९७
उव्वरिया गिहं वावि ३३११
उस्सग्गस्सऽववादो १५४२
उस्सण्ण तिन्नि कप्पा ३२७५
उस्सण्ण बहू दोसे ४५४५
उस्सव कदाइ गहणे ८४१
उस्सुत्तं ववहरंतो १६९३
उस्सुत्तमणुवदिट्ठं ८६१
उस्सुत्तमायरंतो ८६०

ऊ

ऊणट्ठए चरित्तं ४६४६
ऊणतिरित्तधरणे ३५९५
ऊसववज्ज कदाई ८३७
ऊसववज्ज न गेण्हति ८४२

ए

एंताण य जंताण २७३२
एक्कं व व दो तिन्नि ४२६२,४२७०
एक्कत्तीसं च दिणा २०८
एक्कमेक्कंतु ह्रावेत्ता ३६८७
एक्कम्मि उ निज्जवगे ४२७३
एक्कम्मि दोसु तीसु व २४७४
एक्कहि विदिण्णरज्जे ३३७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक्कादियातु दिवसा ३७९
एक्कारसंगसुत्तत्थ १४७८
एक्कारसवासस्सा ४६५८
एक्कासण-पुरिमड्ढा ४२०६
एक्केक्क एगजाती १३८५
एक्केक्कं तं दुविधं ४२२६
एक्केक्कं पि य तिविहं ९८३
एक्केक्के आणादी २१२८
एक्केक्को तिन्नि वारे ३२०९
एक्केणेक्को छिज्जति ४४०
एक्को व दो व उवधिं ३२८२
एक्को व दो व निग्गत २९९६
एक्कोसहेण छिज्जंति ४४१
एगंगि अणेगंगी ३३९१
एगंतनिज्जरा से ४४०५,४४१६
एगंतरनिव्विगती २५२
एगं दव्वेगधरे ४५७६
एगं व दो व दिवसे १९२०
एगग्गया य झाणे ९५५
एगग्गो उवगिण्हति २६५९
एगट्ठिया अभिहिया ८
एगतरलिंगविजढे ९०६
एगत्तं उउबद्धे १९८५
एगत्तं दोसाणं ४५२/१
एगत्त-बहुत्ताणं १६३७
एगत्तियसुत्तेसुं १६३८
एगत्थ वसितो संतो २७३९
एगदिणे एक्केक्के २७४३
एग-दुगपिंडिता वि हु १७९९
एग दुगे तिसिलोगा ३०१६
एगदुमो होति वणं ३७९१
एगदेसम्मि वा दिन्ने ३३१२
एगपए अभिणिपए ३७१७
एगमणेगा दिवसेसु २४५
एगम्मि णेगदाणे ३५३
एगम्मि वी असंते २७०९
एगल्लविहारादी ४१३९
एगल्लविहारे या ४१३३
एगस्स उ परीवारो २१८२
एगस्स खमणभाणस्स १०२७
एगस्स दोण्ह वा ३१९३
एगस्स भुंजमाणस्स ३८५८
एगस्स सलिंगादी १०१४
एगागिस्स उ दोसा १८०१
एगागिस्स न लब्भा २७८
एगाणिओ उ जाधे ३२८८
एगाणियं तु गामे ३२९८
एगाणियं तु मोत्तुं २५८
एगाणियस्स दोसा २८०३
एगाणियस्स सुवणे ३६५९
एगाणिया अपुरिसा १५९१
एगा दो तिन्नि वली ३५८६
एगाधिगारिगाण वि १३७
एगा भिक्खा एगा ३८१३
एगावराहदंडे ४४९
एगाह तिहे पंचाहए १२८८
एगाहिगमट्ठाणे २७२१
एगिंदिऽणंत वज्जे ४५३८
एगुत्तरिया घडछक्कएण ५०५,५११
एगूणतीसवीसा ७९०
एगूणपण्णे चउसट्ठिगा ३७८१
एगूणवीसति ६०३/१
एगे अपरिणए वा २५७
एगे उ पुव्वभणिते ३६४६
एगे गिलाण पाहुड २६२
एगेण तोसिततरो ३१०८
एगे वि महंतम्मि उ ३६४५
एगो उद्दिसति सुतं ४५९४
एगो एगं एक्कसि ३८१५
एगो एगं पासति ३३००
एगो एगो चेव तु ३२५५
एगो चिट्ठति पासे १४०७
एगो निद्दिस एगं ३६३४
एगो य तस्स भाया १०८२
एगो रक्खति वसधिं १७६५
एगो संथारगतो ४२८०
एण्हिं पुण जीवाणं १८६४
एतगुणसंजुयस्स उ ५४१
एतगुणसंपउत्तो १३७२
एतग्गुणोववेया १४७९
एतद्दोसविमुक्कं २६४
एतद्दोसविमुक्को १७२८
एतविहि विप्पमुक्को ३०९९
एतस्स पभावेणं २६११
एतस्स भागहरणं २०२
एतस्सेगदुगादी १३२२
एताणि य अन्नाणि य ११३०
एताणि वितरति तहिं ३३७४
एतारिसं विसज्ज २६१
एति व पडिच्छते वा २७४४
एते अकज्जकारी १७०२
एते अण्णे य तहिं २४८०, ४२६०, ४२६८
एते अण्णे य बहू ३५४१
एते अन्ने य जम्हा उ २४२२
एते अहं च तुब्भं १९०९
एते उ कज्जकारी १७०६
एते उ सपक्खम्मी ३०२७
एते गुणा भवती १५५६
एते चेव य गुरुगा १९६०
एते चेव य ठाणे १००९
एते चेव य दोसा २६६०
एतेण अणरिहेहिं १४४७
एतेण उवाएणं ३७०९
एतेणं विधिणा ऊ ३३६४
एतेण कारणेणं २७१९,३९८८
एतेण जितो मि अहं १०९०
एतेण सत्त न गतं ८१०,३२९७
एते दो आदेसा २०६१
एते दोस अपेहित ३२६३
एते दोसविमुक्का १४५४
एते दोसा जम्हा ३३१९
एते पावंति दोसा २४३०
एते पुण अतिसेसे २६८५
एते य उदाहरणा १३८७
एते सव्वे दोसा १००१
एतेसामण्णतरे ३२२०,३२२८
एतेसिं अण्णतरं १२७
एतेसिं असतीए ११९७,२४३८
एतेसिं कतरेणं २३६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एतेसिं ठाणाणं ४०६१
एतेसिं तु पदाणं १२७६
एतेसिं रिद्धीओ १२५४
एतेसुं चउसुं पी ३५१७
एतेसुं ठाणेसुं १९४४, १९३१,
एतेसुं सव्वेसुं १४९२
एतेसु तिठाणेसु १३४
एतेसु धीरपुरिसा ४५०९
एतेसु य सव्वेसु वि २३४२
एतेसुप्पण्णेसुं ७९४
एतेसु वड्ढमाणे ६५७
एतेहि कमति वाही २७९२
एतेहि कारणेहिं १७४७,३३२१
३४९१,३५२६,३९०२,४३८९
एत्तो उ पओगमती ४१११
एत्तो एगतरेणं ४२५०
एत्तो तिविधकुसीलं ८७७
एत्तो निकायणा मासियाण ५१७
एत्तो समारुभेज्जा ५७४
एत्थं तिंसइ सुमिणा ४६६६
एत्थं सुयं अहीहामि ३९५९
एत्थं पडिसेवणाओ ३४७, ५२८
एत्थ सकोसमकोसं ३९५०
एमादि उत्तरोत्तर १८८९
एमादिदोसरहिते ३१६९
एमादीओ एसो ४५४१
एमादी सीदंते १९५१
एमेव अछिन्नेसु वि ३६२९
एमेव अणत्तस्स वि ११९८
एमेव अणायरिया ३२४५
एमेव अधाछंदे १९७८
एमेव अपुण्णम्मि वि ३५१५
एमेव अप्पबितिओ २२०४
एमेव आणुपुव्वी ४३८१
एमेव इत्थिवग्गे ३६३५
एमेव उवज्झाए २८२७
एमेव एगणेगे ३८१४
एमेव गणायरिए ८०७, १६११
एमेव गणावच्छे १८५०,२२११
एमेव जंबुगो वी १३८६
एमेव ततियसुत्ते १०३२
एमेव दंसणम्मि वि ४३०६
एमेव दंसणे वी २९०
एमेव देसियम्मि वि १८६६
एमेव निच्छिऊणं १८७४
एमेव बहूणं पी १८५४,२२१५
एमेव बितियसुत्ते १०४८,
१६१६,२३३७
एमेव भत्तसंतुट्ठा ३९२०
एमेव मंडलीय वि १८३०
एमेव महल्ली वी ३८०८
एमेव मीसगम्मि वि १८२६
एमेव य अनिदाणं ८२
एमेव य अवराहे ३०३
एमेव य असहायस्स २१६९
एमेव य आयरिए २८२८
एमेव य कालगते २९७८
एमेव य गणवच्छे १७९१/१
एमेव य तुल्लम्मि वि १७६
एमेव य देहबलं ७८३
एमेव य पंथम्मि वि ३२९९
एमेव य पडिसिद्धे ६७७
एमेव य पारोक्खी ४१७९
एमेव य पासवणे ३१५८
एमेव य बहिया वी ३५४८
एमेव य बितिओ वी ४५९१
एमेव य बितियपदे ३५४७
एमेव य मज्झमिया ४६०६
एमेव य लिंगेणं ९९६
एमेव व वासासुं १९८३
एमेव य संविग्गे ७०४
एमेव य संसत्ते ६७२
एमेव य समणीणं ३२२७
एमेव य समतीते २३०३
एमेव य सव्वं पि हु ७६६
एमेव य साधूणं २३२९
एमेव वणे सीही ७७२
एमेव विणीयाणं २६१४
एमेव संजती वा ३०४०
एमेव सेसए वी १०४
एमेव सेसएसु वि १८५,२१९१
एमेव सेसगेसु वि ११३
एमेव होति ठवणा १३६३
एमेव होति भंगा ४५६७
एमेवायरियस्स वि २५९४,४५६३
एमेवासणपेज्जाइं २४०७
एयं पादोवगमं ४३५९
एयं सुत्तं अफलं ३३२०,३४८३
एसगुणसंपउत्ता १७४१
एयगुणसंपउत्तो १७२६
एयऽन्नतरागाढे ४४६६
एयागमववहारी ४१६२
एयारिसम्मि दव्वे ३७६५
एयारिसाय असती ३०८१
एवइयाणं भत्तं १३४९
एवं अगडसुताणं २७४२
एवं अज्जसमुद्दा २६९०
एवं अत्तट्ठाए ३७५४
एवं अद्दण्णाइं २४५५
एवं असुभगिलाणे ९२१
एवं आयरियादी १५३९
एवं आलोएंतो ४३१०
एवं आवासा सेज्जमादि ३१६७
एवं इमो वि साधू १२०२
एवं उत्तरयम्मि वि १००२
एवं उप्पाएउं ३६७५
एवं उभयतरस्सा ४८२
एवं उवट्ठियस्सा ८४३
एवं एता गमिता ३८५,३९०,३९५
एवं कारुण्णेणं २४५९
एवं कालगते ठविते १९१५
एवं खलु आवण्णे १०३०
एवं खलु उक्कोसा ४३२३
एवं खलु गमिताणं ४००
एवं खलु ठवणातो ४२८
एवं खलु संविग्गे १८७३
एवं गंतूण तहिं ४५०१
एवं गणसोधिकरे ४५७५
एवं गणसोभम्मि वि ४५७३
एवं चक्खिंदियघाण ४६१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं चरणतलागं १२८६
एवं चेव य सुत्तं १६६१
एवं छिन्ने तु ववहारे ३७५०
एवं जधा निसीहे २३५५
एवं जहोवदिट्ठस्स ४५५०
एवं जुत्तपरिच्छा १४४१
एवं ठिताण पालो १७८६
एवं ठितोवविट्ठे ३५५९
एवं ठिनो ठवेती १९४५
एवं ता उग्घाए ४४९३
एवं ता उडुबद्धे २२३९
एवं ता उद्देसो ३०४१
एवं ता जीवंते ३९७२
एवं ता दिट्ठम्मी ३४३४
एवं ता पम्हुट्ठो ३५७०
एवं ताव पणट्ठे २३३२
एवं ताव बहूसुं १६६२
एवं ताव विहारे ३६६३
एवं ताव समत्ते १८३३
एवं ता सग्गामे ३४५९
एवं ता सावेक्खे २२१९
एवं तु अणुत्ते वी ४०२१
एवं तु अहिज्जंते २१५७
एवं तु चोइयम्मी ४१७२
एवं तु णायम्मी ४३७९
एवं तु ताहि सिट्ठे ३०७४
एवं तु दोन्नि वारा ३४७१
एवं तु निम्मवेंती ३७००
एवं तु पासत्थादिएसु २९०३
एवं तु भणंतेणं ४२१३
एवं तुमं पि चोदग ३३९
एवं तु मुसावाओ ४४८२
एवं तु विदेसत्थे २९१२
एवं तु समासेणं ४३०
एवं तु होंति चउरो ३२०४
एवं तू परिहारी ६२९
एवं दप्पपणासित २३२७
एवं दप्पेण भवे ४४६३
एवं दब्भादीसुं २४४१
एवं दोण्णि वि अम्हे १३३३
एवं धरती सोही ४२१२
एवं न ऊ दुरुस्से १९६७
एवं नवभेदेणं ४०२३
एवं नाणे तह दंसणे ३९७५
एवं पट्टगसरिसं २६४३
एवं परिक्खितम्मी १४४३
एवं परिच्छिऊणं ४४५५
एवं पादोवगमं ४४२९
एवं पासत्थमादी ३९३१
एवं पि अठायंते १६०२
एवं पि कीरमाणे ५७१
एवं पि दुल्लभाए २७३३
एवं पि भवे दोसा २७२८
एवं पि विमग्गंतो ९६८
एवं पुव्वगमेणं २८७५
एवं बारसमासा ४९३
एवं बारसवरिसे ३२११
एवं भणिते भणती ४१६३
एवं भणितो संतो १२८१
एवं मग्गति सिस्सं १४५८
एवं वइ कायम्मी ४०२२
एवं विपरिणामितेण ३४३१
एवं सदयं दिज्जति ४२०८
एवं सारणवतितो ८५८/२
एवं सिद्धग्गहणं ३६१०
एवं सिद्धे अत्थे २०७०
एवं सिरिघरिए वी १६१४
एवं सीमच्छेदं ३९५४
एवं सुत्तविरोहो १७३३
एवं सुद्धे निग्गम १९१९
एवं सुभपरिणामं ८३२
एवं सो पासत्थो ८४६
एवं होति विरोधी ९२२
एव तुलेऊणप्पं २९४१
एव न करेंति सीसा २६६८
एवमणुण्णवप्पाए ३४६५
एवमदिण्णवियारे ३५२०
एवमेक्केक्कियं भिक्खं ३७८३
एवमेगेण दिवसेण २७४०
एवमेसा तु खुड्डीया ३८०७
एवाऽऽणह बीयाइं ४४५०
एवाणाए परिभवो २५९१
एवाहारेण विणा ४३७१
एविध वी दट्ठव्वं ३१७५
एस अगीते जयणा २८१
एस जतणा बहुस्सुते २७९३
एस तवं पडिवज्जति ५४९
एस परिणामगो ऊ ४६२९
एस विधी तू भणितो ३४५६
एस सत्तण्ह मज्जाया ३२८०
एसा अट्ठविधा खलु ४०८२
एसा अविधी भणिता ३८९५
एसा खलु बत्तीसा ४१२४
एसाऽऽगमववहारो ४४३०
एसा गहिते जतणा ३४१९
एसा गीते मेरा १४६५
एसा जयणा उ तहिं २७९९
एसाऽऽणाववहारो ४५०२
एसादेसो पढमो २०६०
एसा वूढे मेरा १३४३
एसेव कमो नियमा ३३४२
एसेव गमो नियमा ६२२, ६२३, ११२३,२४४२,२८३२,२९२२
एसेव चेइयाणं ३६५०
एसेव य दिट्ठंतो १७७ ४४३,८३०
एसो आहारविधी ३७०२
एसो उ असज्झाओ ३१५३
एसो उ होति ओघे ८३९
एसोऽणुगमो भणितो ४६९०
एसो पढमो भंगो १९२१
एसो सुतववहारो ४४३७

ओ

ओगाली फलगं पुण २२८७
ओग्गहियम्मि विसेसो ३८२७
ओघो पुण बारसहा २३५१
ओदणं उसिणोदेणं ३८०४
ओधाणं वावि वेहासं २९८५
ओधादी आभोगण ३३६३
ओधीगुण पच्चइए ४०३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओभामितो न कुव्वति १२०८
ओभासितम्मि लद्धे ३४४०
ओभासिते अलद्धे ३४३६
ओभासियपडिसिद्धं २६२८
ओमंथ पाणमादी ३६२७
ओमाणं नो काहिति २८७३
ओमादी तवसा वा २२९०
ओमेऽसिवमतरंते १९११
ओलोयणं गवेसण १०७४
ओवइयं समिद्धं ८२१
ओसण्णाण बहूण वि २२१८
ओसध वेज्जे देमो ११०३
ओसन्न-खुतायारो १५२२
ओसन्नचरणकरणे १६७१
ओह अभिग्गह दाणग्गहणे २३५०
ओहावंता दुविधा ३६४८
ओहविय भग्गवते २०३१
ओहासण पडिसिद्धा १२३०
ओहीमादी णाउं ३३७३
ओहेणेगदिवसिया २३६

क

कइएण सभावेण य २४८६
कइतवधम्मकधाए २३८३
कइतविया उ पविट्ठा २८६१
कइवेण सभावेण व २४६९
कंकडुओ विव मासो १६९६
कंखा उ भत्तपाणे ४१५४
कंचणपुर गुरुसण्णा ४२७८
कंटकपायग्गहणे ८२५
कंटकमादिपविट्ठे ६६२
कंटकमादी दव्वे २११
कंदप्पा परलिंगे ८९२
कंदप्प लिंगदुगं ८९२/१
कक्खंतं गुज्झादी २३९१
कज्जम्मि वि नो विगतिं ३६९६
कज्जम्मि समत्तम्मी ३४७३
कज्जाकज्ज जताऽजत १७१,६१४
कज्जेण वावि गहियं २८९२
कज्जे भत्तपरिण्णा २९९
कडजोगिणा उ गहियं १०८
कडणंतरितो वाए ३०९३
कडुहंड पोट्टलीए २४५४
कणगा हणंति कालं ३१९६
कण्णम्मि एस सीहो १०८८
कण्हगोमी जधा चित्ता २७६३
कतकरणा इतरे वा १५९
कतमकतं न विजाणति १४१०
कतसज्झाया एते २१०६
कत्थ गतो अणपुच्छा १६२८
कत्थ त्ति निग्गतो सो १४१५
कधणाऽऽउट्टण आगमण १२२५
कधिते सद्दहिते चेव ४६३४
कधेंतो गोयमो अत्थं २६४८
कधेहि सव्वं जो वुत्तो ४०६६
कप्पट्ठग संथारे १७६०
कप्पट्ठितो अहं ते ५४८
कप्पति उ कारणेहिं ६४४
कप्पति गणिणो वासो २७०८
कप्पति जदि निस्साए ३०४५
कप्पति य विदिण्णम्मी १३४८
कप्पपकप्पी तु सुते ३२०
कप्पम्मि अकप्पम्मि १७४
कप्पम्मि कप्पिया खलु १५३
कप्पम्मि दोन्नि पगता २६६२
कप्पम्मि वि पच्छित्तं १५१
कप्पव्वबह्मारणं ४६९३
कप्पसमत्ते विहरति १९५७
कप्पस्स य ४४३४,४४३५
कम्ममसंखेज्जभवं ४३३८,४३४१,
४६७३
कम्महतो पव्वइतो २४७०
कम्माण निज्जरट्ठा १४०१
कयकरणा इतरे या ६०४
कयकरणिज्जा थेरा १७४०
कयकुरुकुय आसत्थो २६०६
कर-चरण-नयण दसणाई २६८२
करणं एत्थ उ इणमो ५२९
करणिज्जेसु उ जोगेसु ५६
कलमोदणपयकढियादि ४२८७
कलमोदणो य पयसा ४२८९
कललंडरसादीया ४६२७
कलासु सव्वासु ८९६
कल्लाणगमावन्ने ४२०५
कसिणा आरुवणाए ४२९
कसिणाऽकसिणा एता ४३१
कसिणारुवणा पढमे ३४४
कस्स पुण उग्गहो त्ती २२१७
कह दिज्जति तस्स गणो १५५४
कहमरिहो वि अणरिहो १९९८
कहि एत्थ चेव ठाणे ३४१८
कहिए य अकहिए वा २४९६
काउं देसदरिसणं १४७२
काउं न उत्तुणई २३९०
काउं निसीहियं अट्ठ ११८९
काउस्सग्गं काउं ६८७
काउस्सग्गमकाउं ६८५
काउस्सग्गे वक्खेवया २६५०
कामं अप्पच्छंदो ७६०
कामं आसवदारेसु ११०८
कामं तु रसच्चागो १७७६
कामं पम्हुट्ठं ण्हे ३५७५
कामं भरितो तेसिं ३२३१
कामं ममेदकज्जं ३३४
कामं विसमा वत्थू ३२९
कामं सो समणट्ठा ३७५७
कायचेट्ठं निरुंभित्ता १२२
काय-वइ-मणोजोगो ४६४७
कायव्वमपरितंतो १४३८
कायोवचितो बलवं ४३४६
कारणतो वसमाणो २७७९
कारण भिक्खस्स गते २६०५
कारणमकारणं वा १७०,६१३
कारणमकारणे वा ४००१
कारणमेगमडंबे २९३५
कारणसंविग्गाणं ८४८
कारणिगा मेलीणा १३३७
कारणियं खलु सुत्तं ३०४७
कारणिय दोन्नि थेरो १३५३
कारणे असिवादिम्मि २११०
कालं कुव्वेज्ज सयं ४०५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालं च ठवेंति तहिं ३४१६
कालगतं मोत्तूणं ३०४४
कालगते व सहाए ३४९०
कालगतो से सहाओ १०५५
कालगयम्मि सहाए ३६३२
कालचउक्कं उक्कोसएण ३२०१
कालम्मि उ संथरणे ४०१६
कालसभावाणुमतं २६७३
कालसभावाणुमता ८०
कालसभावाणुमतो ४३२६
कालस्स निद्धयाए १४६
कालादिउवचारेणं ३०१८
काले जा पंचाहं ३४७५
कालेण व उवसंतो ३०००
काले निपोरिसऽट्ठ व ३१३४
काले दिया व रातो ३८०१
काले विणए बहुमाणे ६३
कालो संझा य तधा ३१७१
कास पुणऽप्पेयव्वो ३४१७
काहं अछित्तिं अदुवा १८३
किं अम्ह लक्खणेहिं १५६३
किं उग्गहो त्ति भणिए २२१६
किं कारणं न कप्पति २३९९
किं कारणं न दिज्जति १४१
किं कारणं परोक्खं २९२३
किं कारणऽवक्कमणं ४२३२
किं घेत्तव्वं रणे जोग्गं २४०५
किं च तन्नोवभुत्तं मे ४३२८
किं च भयं गोरव्वं १५५८
किंचि तधा तह दीसति १२४८
किं तं ति खीरमादी २४७८
किं ते जीवअजीवा ४६१५
किं नियमेति निज्जर १३६९
किं पुण अणगारसहायगेण ४३५०
किं पुण आलोएंती ४४५९
किं पुण कारणजातं ३३२५
किं पुण गुणोवदेसो ४५५२
किं पुण तं चउरंगं ४२५३
किं पुण पंचिदीणं ४४४९
किं मन्ने घेत्तुकामो ३८७०
किं वा अकप्पिएणं ८६९
किं पर तस्स न दिज्जति १२०९
किं वा मारेतव्वो ४४४५
किं होज्ज परिट्ठवितं ३५३९
कितिकम्मं कुणमाणो ३१६६
कितिकम्मं च पडिच्छति ५५३
कितिकम्मे आपुच्छण ३१६५
कित्तेहि पूसमित्तं १७०५
किध पुण एवं सोधी १५३८
किध पुण साधेयव्वा १८०७
किध पुण होज्ज बहूणं २७१०
किध भिक्खू जयमाणो २२२
किन्नु आदिन्नवियारे ३५२३
किमिकुट्ठे सिया पाणा ३७९५
किह आगमववहारी ४०३८
किह तस्स दाउ किज्जति १३४४
किह तेण न होति कतं २६७३
किह नासेति अगीतो ४२५४
किह पुण एज्जाहि पुणो ८५८/१
किह पुण कज्जमकज्जं १६५०
किह पुण तस्स निरुद्धो १५४८
किह सुपरिच्छियकारी १६७९
कीकम्मस्स य करणे २३५३
कीस गणो मे गुरुणो २०६३
कुंचिय जोहे मालागारे ३२४
कुच्छियकुडी तु कुक्कुडि ३६८३
कुज्जा कुलादिपत्थारं ४२५८
कुड्डेण चिलिमिणीए २२२६
कुणमाणी वि य चेट्ठा १११९
कुद्धस्स कोधविणयण ४१५१
कुपहादी निग्गमणं २५५९
कुयबंधणम्मि लहुगा ३४६८
कुल-गण-संघप्पत्तं १६४०
कुलथेरादी आगम १९५६
कुलपुत्ते मासादी १२६२
कुसमादि अझुसिराइं ३३९७
कुसलविभागसरिसओ ३३१
कूयति आदिज्जमाणे ४२७५
केई पुव्वं पच्छा ३९०३
केई पुव्वनिसिद्धा २६७
केई भणंति ओमो ४००४
केण पुण कारणेणं ३४९
केरिसओ ववहारी १७०८
केवइयं वा एतं३ ३७६
केवतिकालं उग्गह २२५५
केवल-मण ४०३, ४५२९
केवलमेव अगुत्तो ६१
केवलिमादी चोद्दस २६६५
केसिंचि होंतऽमोहा ३१२०
कोई परीसहेहिं ४३६०
कोउगभूतीकम्मे ८७९
को गीताण उवाओ ४३७७
कोट्टंब तामलित्तग २८६५
कोट्ठिमघरे वसंतो २२८४
कोडिग्गसो हिरण्णं ९५०
कोडिसयं सत्तऽहियं ५३४/१
को णु उ हवेज्ज अन्नो १६५४
को भंते ! परियाओ ५३६
कोयव पावारग नवय ४३४४
कोरंटगं जधा भावितट्ठमं ९७५
को वित्थरेण वोत्तूण ४५५१
को वी तत्थ भणेज्जा ३१५१
कोसकोट्ठारदाराणि २४१४
कोसलए किं कारण २९५८
कोसलए जे दोसा २९६०
कोसलवज्जा ते च्चिय २९६९
कोसल्लमेक्कवीसइविहं ४४१३
कोही व निरुवगारी १४२६

ख

खंतादिगुणोवेओ २६८०
खंते दंते अमायी ५२२
खंधे दुवार संजति ८९३
खग्गूडे अणुसासंतं २००२
खग्गूडेणोवहतं ३६५१
खरंटणभीतो रुट्ठो ५८१
खरमउएहिऽणुवत्तति १४२८
खलखिलमदिट्ठविसयं २८१२
खलियस्स व पडिमाए ३८८२
खल्लाडगम्मि खडुगा ३३८
खिंसेज्ज व जह एते ३८७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खित्तादी आउरे भीते २१७५
खिप्पं बहु बहुविहं व ४१०५
खुड्डग विगिट्ठगामे २९१५
खुड्डिय थेरी भिक्खुणि ७४१,७४६
खुड्डे थेरे भिक्खु ७३९,७४४
खेत्तं गतो उ अडवि ८७१
खेत्तं मालवमादी ४११४
खेत्ततो दुवि मग्गेज्जा ९६७
खेत्तनिमित्तं सुहदुक्खतो १७९७
खेत्तपडिलेहणविधी ३८९६,३९००
खेत्तमतिगया मो त्ति ३९०६
खेत्तविभत्ते गामे ३२७६
खेत्तऽसति असंगहिया ४११९
खेत्तस्स उ संकमणे ३३८५
खेत्ताणं च अलंभे २२६३
खेत्ताण अणुण्णवणा ३९०१
खेत्तिओ जइ इच्छेज्जा १८५७
खेत्ते उवसंपन्ना ३९५५
खेत्तेण अद्धगाउय २२६९
खेत्तेण अद्धजोयण २२६५
खेत्ते निवपधनगरे १२५७
खेत्ते मित्तादीया ४००७
खेत्ते समाणदेसी ९८८
खेत्ते सुत-सुहदुक्खे ३८९०
खेत्ते सुहदुक्खी तू ३९८३
खेमं सिवं सुभिक्खं १५६६
खेयण्णो य अभीरू ३१७७
खेलंतेण तु अइया २३२३
खेल निवात पवाते ३४६४
खोडादिभंगऽणुग्गह २१२

ग

गइविब्भमादिएहिं ३०६८
गंतव्व-गणावच्छे ६५०
गंतव्व पलोएउं ३५६६
गंतुं खामेयव्वो ३००१
गंतूण अन्नदेसं १६२१
गंतूणं जदि बेती १८७०
गंतूणं सो तत्थ य ७०९
गंतूण तहिं जायति ३४२८
गंतूण तेहि कथितं १२९२
गंतूण पुच्छिऊणं १०५९
गंतूण सो वि तहियं ३००५
गंधव्वदिसाविज्जुक्क ३११७
गंधव्वनगरनियमा ३११८
गंधव्व नट्ट जड्डऽस्स ४३१२
गंभीरा मद्दविता २३८७
गंभीरो मद्दवितो ९३०, २६७९
गच्छगय निग्गते वा ३८६४
गच्छम्मि केइ पुरिसा ८३५,१२५२
गच्छणुकंपणिज्जो ३४८४
गच्छुत्तरसंवग्गे ३६४, ३७८८
गच्छो गणी य सीदति १९५३
गड्डा-गिरि तरुमादीणि ३५९०
गणधर-गणधरगमणं ३०११
गणधरपाउग्गाऽसति १३०२
गणधारिस्साहारो १४०२
गणनिसरणा परगणे ४२२८
गणनिसिरणम्मि उ विधि ४२३१
गण भोइए वि जुंगति ३२९२
गणसंठिती धम्मे य ४५८१
गणसोभी खलु वादी ४५७४
गणस्स गणिणो चेव २९९२
गणहरगुणेहि जुत्तो ७७५
गणावच्छेए पुव्वं २६२७
गणि आयरिया उ सहू ७३०
गणि आयरियाणं तो १८३४
गणिणी कालगयाए ३०५६
गणिणो अत्थि निब्भेयं २९९०
गणिसद्दमादि महितो ३२३५
गणी अगणी व गीतो १४५३
गणेण गणिणा चेव २९९३
गतमागतम्मि लोए २५८६
गतागत गतनियत्ते ३९९७
गमणागमण-वियारे ११०
गमणुस्सुतेण चित्तेण २९६३
गगेसऊ मा व कतव्वया य २२४६
गविसिए पुव्वदिसा २२४७
गह चरिय विज्जमंता २३२१
गहणं च जाणएणं ३४१४
गहणनिमित्तुस्सग्गं ३१८०
गहणपडिसेध भुंजण २५८८
गहपति गिहवतिणी वा ३३४८
गहिउत्थाणंरोगेण ३३१८
गहितऽन्न रक्खणट्ठा ३५३६
गहितम्मी कालम्मी ३१८७
गहितागहिते भंगा १०५७
गामे उवस्सए वा २७२७
गामेणाऽरण्ण व ११६२
गामो खलु पुव्वुत्तो ३५४९
गारवरहितेण तहिं १७१८
गावीओ रक्खंतो १३९०
गावी पीता वासी ४४८
गाहग आयरिओ ऊ १७१०
गाहा घरे गिहे या ३३८३
गिण्हंतस्स उ कालं ३१८२
गिम्हाणं आवण्णो १३३८
गिम्हाण चरिममासो २३०२
गिम्हादिकाल पाणग २९३८
गिम्हेसु मोक्खितेसुं १०३९
गिलाणस्सोसधादी तु २५३६
गिहत्थपरतित्थीहिं २००१
गिहि-गोण-मल्ल १०१७,३२८३
गिहिभूते त्ति य वुत्ते १२३५
गिहिमत्तेणुड्डाहो ८६८/२
गिहिलिंगं पडिवज्जति १८६३
गिहिसंघातं जहितुं १६८७
गिहिसंजय अधिगरणे २५०
गिहि सामन्ने य तहा ५३९
गीतत्थउज्जुयाणं १३६७
गीतत्थदुल्लभं खलु ४२६३
गीतत्थमगीतत्थं ४३६१
गीतत्थमगीतत्थे १४६६
गीतत्था कयकरणा २३७८
गीतत्थागत गुरुगा २२२२
गीतत्थाणं असती ११७०
गीतत्थाणं तिण्हं १०११
गीतत्था ससहाया ३९७७
गीतत्थो उ विहारो ९९७
गीतत्थो जातकप्पो १७४३
गीतत्थो य वयत्थो य २००७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गीतपुराणोवट्टं २९७६
गीतमगीता वहवो १३२३
गीतमगीतो गीतो ५३८
गीतसहाया उ गता २७३१
गीताऽगीता मिस्सा १९९७
गीताऽगीता वुड्ढा ३२४३
गीतो य ऽणाइयंतो ३०
गीतो विकोविदो खलु ४६१
गुंठाहि एवमदीहि १७०१
गुज्झंगम्मि उ वियडं ११५१
गुणनिप्फत्ती बहुगी ३६०९
गुणभूइट्ठे दव्वम्मि २६३४
गुणवं तु जतो वणिया २५४४
गुत्तीसु य समितीसु य ६०
गुरवो जं पभासंति ८९
गुरुअणुकंपाए पुण २६७२
गुरु आपुच्छ पलायण १६१९
गुरुकरणे पडियारी ६४९
गुरुगं च अट्ठम १०६९,११२१
गुरुगो गुरुयतरागो १०६५,१११७
गुरुगो य होति १०६७,१११९
गुरुणो जावज्जीवं २०३०
गुरुणो य लाभकंखी ७९
गुरुणो सुंदरखेत्तं ३९३३
गुरुमादीया पुरिसा ४०२५
गुरुवसभगीतऽगीते १९५२
गुरुसमक्खं गमितो २९९१
गुरुहिंडणम्मि २५७२
गेण्हण कड्ढण ववहार ३८६८
गेण्हति पडिलेहेउं १४९१
गेण्हति लहुओ लहुया ८४०
गेण्हह वीसं पाए ३६२०
गेण्हामो अतिरेगं ३६२४
गेलण्णउत्तिमट्ठे ३३९९
गेलण्णकारणेणं २४८१
गेलण्णतुल्ल २९७
गेलण्णमणागाढे २१३४
गेलण्णमधिकतं वा २४४८
गेलण्णमरणसल्ला १७६३
गेलण्णम्मि अधिकते २०१८
गेलण्णवाउलाणं ३९०७
गेलण्णवासमहिया ६८९
गेलण्णसुण्णकरणे १०१६
गेलण्णादिकज्जेहि ३९०९
गेलण्णे असिवे वा २३२८
गेलण्णे एगस्स उ १३३२
गेलण्णे चउभंगो २०९४
गेलण्णेण व पुट्ठो १२१५
गेलण्णे न काहिती १९६४
गेलण्णे वोच्चत्थं २७१६
गोउम्मुगमादीया २८१७
गोण निवे साणेसु य १०१८
गोणादि जत्तियाओ व ३३०४
गोणादीय पविट्ठे १७५२
गोणीणं संगिल्लं १८७९,१८८५
गोणे साणे छगले १७५१
गोभत्तालंदो विव ८८८
गोयरअचित्तीभोयण २०३४
गोरव-भय-ममकारा २९६८
गोरस-गुल-तेल्ल ३७३८
गोवालगदिट्ठंतं १३३१
गोसे केरिसियं ति य २७८६
गोसे य पट्ठवेंते ३२१५

घ

घट्टण पवडण थंभण ३८४५
घयकुडगो उ जिणस्सा ४३८
घरसउणि सीह पव्वइय ७७०
घाण-रस-फासतो वा ३०३१
घुट्ठम्मि संघकज्जे १६५५
घेत्तूणऽगारलिंगं ३६६५
घेत्तूवहिं सुन्नघरम्मि भुंजे ३५०६
घेप्पंति च सद्देणं ४०४
घेप्पंतु ओसधाइं २४०४
घोरम्मि तवे दिन्ने १०७६
घोसणय सोच्च ३९४३
घोसा उदत्तमादी ४०९०

च

चइयाण य सामत्थं २७११
चउकण्णंसि रहस्से ४४१४
चउगुरुगं मासो या ५९५
चउगुरु चउलहु सुद्धो ५९२
चउछट्ठऽट्ठमकरणे १३३
चउ-छम्मासे वरिसे ८३८
चउ-तिग-दुग-कल्लाणं ४२०७
चउत्थछट्ठादि तवो कतो उ २२६०
चउद्दससहस्साइं ४६७१
चउधा वा पडिरूवो ८६
चउभंगो अजणाउल १७७९
चउभत्तेहिं तिहिं उ ७७८
चउभागतिभागद्धे २२७२
चउभागऽवसेसाए ३१५६
चउरो य पंचदिवसा २०६२
चउरो य होंति भंगा ११०६
चउरो वहंति एगो ३२५६
चउलहुगाणं ५००
चउवासऽट्ठारसगा ४४८६
चउवासे गाढमती ४६५६
चउवासे सूतगडं ४६५५
चउसंझासु न कीरति ३१२४
चंकमणादुट्ठाणे २५३
चंदगवेज्झसरिसगं २५४९
चंदिमसूरुवरागे ३१२१
चतुग्गुणोववेयं तु ३८९७
चत्ताए वीस पणतीस ४१२
चत्तारि विचित्ताइं ४२४०
चत्तारि सत्तगा तिण्णि २२७४
चम्मरुधिरं च मंसं ३१३२
चरगादि पण्णवेउं ११३९
चरणं तु भिक्खुभावो २७८१
चरणकरणस्स २४८४, २४८५
चरमाए जा दिज्जति २८५६
चरमाए वि नियत्तति ३५६८
चरितेण कप्पितेण व ४६२३
चरिया पुच्छण पेसण १२४३
चाउद्दसीगहो होति २६९९
चाउम्मासुक्कोसे १३२
चाउस्सालादि गिहं ३३८४
चारग कोट्टग कलाल ४३१३
चारियसुत्ते भिक्खू २१७७
चारे वेरज्जे या ८६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिक्खल्ल-पाण- १७६८,३८९९
चिक्खल्ले अन्नया पुरतो ४५५९
चिट्ठति परियाओ से २४४६
चिट्ठतु जहण्ण मज्झा ४२३९
चित्तमचित्तं एक्केक्कगस्स ९८१
चित्तमचित्तपरित्तं २४२५
चित्तलए सविकारा ३०६४
चिरपव्वइयसमाणं २३८९
चिलिमिलि छेदे ठायति ३०९५
चुक्को जदि सरवेधी २३२५
चुयधम्म-भट्ठधम्मो ४१४७
चेइयघरं णिइत्ता ३०१२
चेइयथुतीण भणणे ३००८
चेइयदव्वं विभज्ज ३७६४
चेइय साधू वसधी १८११
चेइय सावग पव्वइउ ३३६८
चेतणमचेतणं वा १११३
चेयणमचित्तदव्वे ३१६
चेलग्गहणे कप्पा ३४८०
चोएइ किं उत्तरगुणा ५१
चोएति कहं तुब्भे ६९८
चोएति भाणिऊणं १४३०
चोदग अप्पभु असती १३९४
चोएती परकरणं २४०१
चोदगगुरुगो दंडो २८४६
चोदग छक्कायाणं ४६७
चोदग पुच्छा पच्चक्ख ४०४२
चोदग पुरिसा दुविधा ४५३
चोदग बहुउप्पत्ती ६२६
चोदग मा गद्दभ त्ति ३२७
चोदति से परिवारं १५७४
चोदयंते परं थेरा ८८
चोदिज्जंतो जो पुण २९७७
चोदेइ अगीयत्थे ९९९
चोदेति तिवासादी १५४३
चोदेति न पिंडेति य १३९३
चोदेति राग-दोसे ४९४
चोदेति वत्थपादा १८४८
चोदेति समुद्दिसिउं ३१४१
चोदेति सुद्धउसुद्धे ३६७८
चोदेती अतिरेगे ३५९७
चोदेती कप्पम्मी २१७२
चोदेती कुलपुत्ते १२५५
चोदेती जदि एवं ३२३०
चोदेती वोच्छिन्ने ४५२३
चोद्दसपुव्वधराणं ४१६५
चोयग किं वा कारण ९२३
चोयति से परिवारं ९७३
चोरिस्सामि त्ति मतिं ९१३

छ

छंदाणुवत्ति तुब्भं ९३३
छक्काय चउसु लहुगा १३५
छक्कायाण विराधण १०९२
छच्चसता चोयाला ४०७
छट्ठ अपच्छिमसुत्ते १८६
छट्ठं च चउत्थं वा १०७०,११२२
छट्ठट्ठमादिएहिं १६२,६०७
छड्डावणमन्नपहो ३५६१
छड्डेउं जइ जंती ३२८६
छड्डेऊण गतम्मी १६१३
छण्णउयं भिक्खसतं ३७८५
छत्तीसगुणसमन्नागतेण ४२९८
छत्तीसाए ठाणेहिं ४१२५-४१२८
छत्तीसेताणि ठाणाणि ४१५६
छन्ने उद्धोवकतो ३४५१
छब्भागंगुलपणगे ४४९८
छम्मासखवणंतम्मि ३६८६
छम्मासतवो छेदादियाण ४७८
छम्मासा छम्मासा २०२९
छम्मासादि वहंते ६०२
छम्मासे आयरिओ २०२१
छम्मासे पडियरिउं ११००
छहि काएहि वतेहि व ४१६०
छति दिवसेहि गतेहिं ४९२
छाघातो अणुलोमे २४६४
छार हडि हड्डमाला ४५४४
छिंदंतु व तं भाणं ४४९७
छिण्णम्मि उ परियाए १८७१
छिण्णाछिण्णविसेसो १८३१
छिण्णाणि वावि हरिताणि २८८६
छिन्नमडंबं च तगं २५१७
छेदणदाहनिमित्तं २४४७
छेदसुतविज्जमंता ६४६
छेदादी आवण्णा ४७३
छेदे वा लाभे वा ३७३२
छेदोवट्ठावणिए ४१९०
छोभग दिण्णो दाउं १२४९

ज

जइ अत्थि वायणं दिंतो ३०९१
जइ इच्छसि नाऊणं ४२९/१
जइ उस्सग्गे न कुणति १३१
जइ एस समाचारी १३५४
जइ गच्छेज्जाहि गणो ३४८८
जइ जीविहिंति जइ वा ३६६६
जइ ताउ एगमेगं २९२६
जइ दोण्ह चेव गहणं ३६१५
जइ नत्थि असज्झायं ३१५४
जइ नीयाण गिलाणो २५०६
जइ पुण आयरिएहिं ३६२२
जइ पुण किं वावण्णो २०८०
जइ भंडण पडिणीए २५६
जइ मि भवे आरोवण ४१९
जइया णेणं चत्तं १६७२
जइ वा दुरूवहीणे ३८०
जइ वि तवं आवण्णो २९१६
जइ वि य नाधाकम्मं ३७७२
जइ वि य निग्गयभावो २६९५
जइ वि य पुरिसादेसो २३१२
जइ वि य लोहसमाणो २६७१
जइ वि सि तेहुववेओ ७९१
जइ वि हु दुविधा सिक्खा ७७६
जइ समणाण न कप्पति ३७६९
जइ से अत्थि सहाया ३९९०
जइ सेव पढमजामे २८०९
जं इह परलोगे य ४१४९
जं काहिंति अकज्जं १६५६
जं खलु पुलागदव्वं ३०८८
जंघाबले च खीणे २२६२
जं जत्तिएण सुज्झति ४१६६
जं जम्मि होति काले ४१२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जं जस्स अच्चितं तस्स ८९५
जं जस्स च पच्छित्तं १२
जं जह मोल्लं रयणं ४०४३
जं जह सुत्ते भणियं ३७११
जं जाणह आयरियं १८४३
जं जीतं सावज्जं ४५४३
जं जीतं सोहिकरं ४५४९
जं जीतमसोहिकरं ४५४७
जं जीयमसोहिकरं ४५४८
जंतेण करकतेण व ४४१९
जं देसी तं देमो ३७२२
जं पि न चिण्णं तं तेण १०४५
जं पि य न एति गहणं ३७३५
जं पि य हु एक्कवीसं ४२१४
जं पुण असंथडं वा ३३५८
जंबुग कूवे चंदे १३८२
जं मायति तं छुब्भति ५४२
जं वा दोसमयाणंतो १७५
जं वुत्तमसणपाणं २४१७
जं संगहम्मि कीरति ३१२
जं सासु तिधा तिययं २८१०
जं से अणुपरिहारी १०४७/१, १०५०
जं सो उवसामेती २५१२
जं होऊ तं होऊ ३३७७
जं होति नालबद्धं २१५८
जक्खऽतिवातियसेसा १८९७
जध मन्ने एगमासियं ५०३/१
जधमन्ने दसमं सेविऊण ५०९
जच्चिय सुत्तविभासा ५३५
जड्डादी तेरिच्छे १०८६
जतणाए समणाणं ३९२३
जतणाजुओ पयत्तव ४५१४
जतमा तत्थुडुबद्धे १८५३
जतमाण परिहवंते २७२
जति मि भवे आरुवणा ४२०
जतिहि गुणे आरोवण ४२२
जत्तियमित्ता वारा ३६११
जत्तियमेत्तेणं जो ३७०
जत्तियमेत्ते दिवसे २१३२
जत्तो व भणाति गुरू ९२
जत्थ उ दुरूवहीणा ४२४
जत्थ उ परिवारेणं १७२१
जत्थ गणी न वि णज्जति ६७४
जत्थ पविट्ठो जदि तेसु १९४९
जत्थ पुण देति सुद्धं ३७२
जत्थ य दुरूवहीणं ३७८
जत्थ वि य ते वयंती ६३८
जदि अत्थि न दीसंती ४१९४
जदि आगमो य आलोयणा ४०६२, ४०६८, ४०६९
जदि इच्छसि सासेरी १११२
जदि उ ठवेति असुण्णे ३४८२
जदि उत्तरं अपेहिय ३१८५
जदि एरिसाणि पावंति १०२०
जदि एवं निग्गमणे २५३१
जदि छुब्भती विणस्सति ४१०१
जदि जीविहिति भज्जाइ १२५१
जदि ढक्किंतोच्छेवा १७५५
जदि तह वी न उवसमे १६१७
जदि ताव सावयाकुल ४३४९
जदि तु उवस्सयपुरतो ३१५०
जदि देति सुंदरं तू ३५३१
जदि दोसा भवंतेते २४२३
जदि निक्खिप्पति २१३३,२१३८
जदि निक्खिविऊण गणं २२२८
जदि पुण निव्वाघातं ३१५९
जदि पुण नेच्छेज्ज तवं १२००
जदि पुण समत्तकप्पो १८००
जदि पुण होज्ज गिलाणो ११६०
जदि फुसति तहिं तुंडं ३१४३
जदि बेंती लब्भते वि १६६६
जदि भासति गणमज्झे २९८८
जदि लब्भामो आणेमो ३२९५
जदि वा न निव्वहेज्जा ११७१
जदि वायगो समत्ते २२३७
जदि वेरत्ति न सुज्झे ३२०५
जदि संघाडो तिण्ह वि १७९०
जदि से सत्थं नट्ठं २३२४
जदि होंति दोस एवं ३६०४
जध उवगरणं सुज्झति २६७८
जध कन्ना एयातो १९०५
जध कारणे तणाइं ३४०४
जध कारणे निगमणं १९७९
जध चेव उत्तमट्ठे २२९९
जध चेव दीहपट्ठे २४२६
जध चेव य पडिलोमा १२९६
जध ते गोट्ठट्ठाणे ४४२६
जध पंचकपरिहीणं ९६३
जध भणित चउत्थे २३०७
जध मन्ने एगमासियं ५०३
जध मन्ने बहुसो ३४८, ५१०
जध रक्खह मज्झ सुता १९०४
जध रण्णो सूयस्सा २४५३
जध वा महातलागं १२८५
जध सो कालायसवेसिओ ४४२३
जधा चरित्त धारेउं ४६५४
जधा य कम्मिणो कम्मं २७६१
जधाऽवचिज्जते मोहो २७६०
जधा विज्जानरिंदस्स ३०२०
अधियं पुण छम्मासा ८७५
जधि लहुगो तधि लहुगा ८७४
जधुत्तं गुरुनिद्देसं ९०
जम्हा आयरियादी ६९३
जम्हा एते दोसा १०२३,१३२१, २५३८,२९८९,३०२२
जम्हा तु होति सोधी १८२९
जम्हा संपहारेउं ४५०५
जयवणऽद्धाणरोधए ४०१४
जलमूग-एलमूगो ४६३०,४६३६
जवमज्झ-वइरमज्झा ३८३२
जसं समुवजीवंति २७५१
जस्स तु सरीरजवणा १७७८
जस्स महिलाय जायति १८८२
जह आरोग्गे पगतं ७०१
जह आलित्ते गेहे १३७४
जह उट्ठितेण वि तुमे १५०४
जह उ बइल्लो बलवं ८८५
जह कारणे असुद्धं २१४६
जह केवली वि जाणति ४०३९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जह कोई मग्गण्णू ३९९५
जह कोई वणिगो तू १९०१
जह गंडगमुग्घुट्ठे ३१७४
जह गयकुलसंभूतो १९४७
जह चेव उ आयरिया ४५९६
जह चेव य बितियपदे २३८१
जह जह वावारयते १४१२
जहण्णेण तिण्णि दिवसा २११८
जह ते रायकुमारा १५६७
जह नाम असी कोसे ४३९९
जह पुण ते चेव तिला ८४७
जह बालो जंपंतो ४२९९
जह भायरं व पियरं ४१४६
जह मन्ने बहुसो मासियाणि ३४८
जह मासओ उ लद्धो ४८१
जह राया तोसलिओ २५६०
जह राया व कुमारं १९३६
जह रूवादिविसेसा ४१७८
जहऽवंतीसुकुमालो ४४२५
जह वाऽऽउंटिय पादे ४३६७
जह सरणमुवगयाणं ५७०
जह सा बत्तीसघडा ४४२८
जह सालिं लुणावेंतो २६५३
जह सीहो तह साधू ७७९
जह सुकुसलो वि वेज्जो ४२९६
जह सो चिलायपुत्तो ४४२२
जह सो वंसिपदेसी ४४२४
जह होति पत्थणिज्जा १८५१
जहा य अंबुनाधम्मि २७६२
जहा य चक्किणो चक्कं ३०२१
जहियं व तिन्नि गच्छा ३९५२
जा आससिउं भुंजति २५८०
जा ऊ संथडियाओ ३७४२
जा एगदेसे अदढा १८०, ६१८
जाओ पव्वइताओ ३०४८
जा जत्थ गता सा ऊ ३०६५
जा जस्स होति लद्धी ४६७८
जा जीय होति पत्ता २८५४
जा जेण वयेण जधा २९४७
जा ठवणा उद्दिट्ठा ३६१
जाणंता माहप्पं ६९७,१२१७
जाणंति अप्पणो सारं ३५५४
जाणंति एसणं वा ३६७४
जाणंति व णं वसभा ६७८
जाणंतेण वि एवं ४२९७
जाणंतेहि व दप्पा २८९३
जाणंतो अणुजाणति ३३६५
जाणति पओगभिसजो ४११२
जातं पिय रक्खंती १५९०
जाता पितिवसा नारी १५८९/१
जा तित्थगराण कता ३७६८
जा तिन्नि अठायंते १६१५
जाती कुले गणे या ८८०
जातीय जुंगितो पुण ३६४०
जा तुब्भे पेहेहा २२४०
जातो य अजातो वा १७४२
जा दुब्बला होज्ज चिरं ३०९८
जाधे तिन्नि विभिन्ना ३२२६
जाधे ते सद्दहिता ४६२६
जाधे पराजिता सा ४४१५
जाधे सद्दहति तेउ ४६२८
जा भंडी दुब्बला उ २६८९
जा भणिया बत्तीसा ४१२९
जा य ऊणाहिए दाणे ४१६८
जा याणुण्णवणा दुव्वं २०७८
जायामो अणाहो त्ति १५८३
जारिसगआयरक्खा १२२२
जारिसगं जं वत्थुं २६३३
जारिससिचएहि ठिया २३७६
जाव एक्केक्कगो पुन्नो ३९९२
जावंतिय दोसा वा ३५२२
जावज्जीवं तु गणं २३२२
जाव नागच्छते भंडं ३३३६
जाव होमादिकज्जेसु ३०२६
जा सा तु अभिनिसीधिय ६८०
जाहे य पहरमेत्तं १५०३
जाहे सुमरति ताहे २०५८
जा होति परिभवंतीह २८१५
जिणकप्पिते न कप्पति २४४५
जिणकप्पितो गीयत्थो ९९८
जिण चोद्दसजातीए ४३७
जिण निल्लेवण ५०४,५१२
जिणपण्णत्ते भावे ५१६
जिणवयणमप्पमेयं ४३५१
जिणवयणसव्वसारं ८७२
जितसत्तुनरवतिस्स उ १०८१
जिता अट्ठि सरक्खा वि ३३१६
जीवाजीवं बंधं १५००
जीहाए विलिहंतो ५६९
जुगछिद्दे नालिगादिसु २८०६
जुद्धपराजिय अट्टण ३८४०
जुवरायम्मि उ ठविते १८९३
जूतादि होति वसणं ४०६०
जे उ अहाकप्पेणं १४७६
जे ऊ सहायगत्तं २६१२
जे गेण्हिउं धारइउं च २२९७
जे जत्थ अधिगया खलु २७०२
जेट्ठगभाउगमहिला ११४४
जेट्ठज्ज पडिच्छाही ८२३
जेट्ठज्जेण अकज्जं १२४०
जेण तु पेदण गुणिता ४२१
जेण य ववहरति मुणी ३८८८
जेण वि पडिच्छिओ सो १९३४
जेणाहारो उ गणी २५६७
जेणेव कारणेणं २५८५
जे त्ति व से त्ति व के १८७
जे पुण अधभावेणं २५१३
जे बेंति न घेत्तव्वो ३६१२
जो भावो जहियं पुण ४५२६
जे भिक्खु बहुसो मासियाणि ३४५
जे मे जाणंति जिणा ४३०९
जे यावि वत्थपातादी २१६३
जेसिं एसुवदेसो ३६०१
जेसिं जीवाजीवा ४०४८
जे सुत्ते अतिसेसा २७०६
जे हिंडंता काए ३६४१
जो अणुमतो बहूणं २०१३
जो अवितहववहारी १५२
जो आगमे य सुत्ते ४५३३
जो उ असंते विभवे ४१९७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो उ उवेहं कुज्जा १०७५,१२१२
जो उ धारेज्ज वद्धंतं ४१९९
जो उ मज्झिल्लए जाति ३९६३
जो उ लद्धुं वए अन्नं ३९७०
जो उ लाभगभागेणं ३७३१
जो एगदेसे अदढो उ १८१,६१९
जो एतेसु न वट्टति ४१५५
जो गच्छंतम्मि विही ३१८८
जोगतिए करणतिए ४०१७,४०१८
जो गाउयं समत्थो २२६६
जोगे गेलण्णम्मि य २१३०
जोच्चिय भंसिज्जंते ७५६
जो जं इच्छति अत्थं १३६२
जो जं काउ समत्थो ५५७
जो जं दट्ठ विदट्ठं ३७४०
जो जति मासे काहिति ८०१
जो जत्तिएण रोगो ३२६
जो जत्तिएण सुज्झति ६६१
जो जत्थ उ करणिज्जो ९७
जो जत्थ होति कुसलो ४३३६
जो जया पत्थिवो १४३,१४८/१
जो जह व तह व लद्धं १०८५
जो जाए लद्धीए १४११
जो जाणति य जच्चंधो ४६१८
जो जारिसिओ कालो ४३२२
जो जेण अभिप्पाएण २८५३
जो णेण कतो धम्मो ११९९
जो तत्थऽमूढलक्खा १५५२
जो तुम्हं पडितप्पति ८४४
जो धारितो सुतत्थो ४५१२
जो पभुतरओ तेसिं ३४५४
जो पुण अतिसयनाणी ७११
जो पुण करणे जड्डो ४६४४
जो पुण गिहत्थमुंडो १८६८
जो पुण चोइज्जंते २६९
जो पुण नोभयकारी ४५९२
जो पुण परिणामो खलु ४४४८
जो पुण सहती कालं ४१९८
जो पुव्वअणुण्णवितो ३४६२
जो पेल्लितो परेणं ११११५
जो वि ओसहमादीणं २४१५
जो वि य अलद्धिजुत्तो २९४०
जो सुतमहिज्जति ४४३२,४४३३
जो सो उ पुव्वभणितो १४१७
जो सो चउत्थभंगो १४२१
जो सो विसुद्धभावो १२८४
जो हं सइरकहासुं २७५३
जो होज्ज उ असमत्थो ३१६१

झ

झरए य कालियसुते २२९४
झाणेऽपसत्थ एवं १४९४

ठ

ठवणरूवणाण तिण्हं ३६७
ठवणादिवसे माणा ३७१
ठवणामेत्तं आरोवण ३५५
ठवणारोवण दिवसे ३६९
ठवणारोवणमासे ४२३
ठवणारोवण वि जुया ३८६/१
ठवणारोवणसहिता ३७४
ठवणा वीसिग पक्खिग ३५६
ठवणा संचय रासी ३५१
ठवणा होति जहन्ना ३५८
ठवेति गणयंतो वा ३४९७
ठाणं निसीहिय त्ति य ६३०
ठाणं पुण केरिसगं ४३११
ठाण निसीय तुयट्टण २१५,४३९३
ठाण वसधी पसत्थे ४२२९
ठाणाऽसति बिंदूसु वि ३१९९
ठावेउ दप्पकप्पे ४४६७
ठिय निसिय तुयट्टे वा १९७७

ड

डहरग्गाममयम्मी ३१४९

ण

णाण-चरण संघातं १६८९
णाणदीसुं तीसु वि ९८३/४
णाणे णोणाणे या ९८३/२
णातमणाते आलोयणा २९०७
णाते तु पुव्वदिट्ठं ३२५९
णाते व जस्स भावो १८७६
णिंती वि सो काउतली २७९०
णितियादीए अधच्छंद १९५९
णीणिति अकारगम्मी २५८४
णीयल्लस्स वि भत्तं २४७७
णीसज्ज वियडणाए ४४७
णेगा एगं एक्कसि ३८१६
णेगाण तु णाणत्तं ३४२१
णेगासुं चोरियासु ४५०
णोणाणे वि य दिट्ठी ९८३/३
ण्हाणऽणुयाण अद्धाण १८०४
ण्हाणादणाय घोसण ३५७४
ण्हाणादिएसु तं दिस्सा ३९७१
ण्हाणादिएसु मिलिया २८२३
ण्हाणादिसु इहरा वा २१५४
ण्हाएणादीणि कताइं १२८२
ण्हाणादोसरणे वा ३५७८

त

तं एगं न वि देती १४६२
तं कज्जतो अकज्जे २८९०
तं कुणहऽणुग्गहं मे २३८४
तं घेत्तुं वंधिऊणं ३३८०
तं च कुलस्स पमाणं २४५८
तं चेवऽणुमज्जंते ४४३५,४५३६
तं चेव पुव्वभणितं २०८९,३२५४
तं चेव पुव्वभणियं ५०१
तं जत्तिएहि दिट्ठं २९९७
तं जीवातिक्कंतं ३३०२
तं णो वच्चति तित्थं ४२१९
तं तारिसगं रयणं ४३५८
तं तु अहिज्जंताणं २६३०
तं तु वीसरियं तेसिं ३९३६
तं दिज्जउ पच्छित्तं ६६०
तं न खमं खु पमादो २२९
तं पि य अफरुस मउयं ७३
तं पि य हु दव्वसंगह १३९८
तं पुण अणुगंतव्वं ४२२७
तं पुण अणुच्चसद्दं ७२
तं पुण ओहविभागे २३५
तं पुण केण कतं तू ४०४९
तं पुण डविरहे भासति ७४
तं पुण संविग्गमणो २८७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तं पुण होज्जाऽऽसेविय ४४६१
तं पूयइत्ताण सुहासणत्थं १२२१
तं वावि गुरुणो मोत्तुं २६४७
तं सेविऊणऽकिच्चं ९१८
तं सोउ मणसंतावो २८८८
तगराए नगरीए १६९४
तणुगं पि नेच्छ दुक्खं २१६८
तणुयम्मि वि अवराधं १०४६
तण्हाइयस्स पाणं २७३७
तण्हाछेदम्मि कते ४३२७
तण्हुण्हादि अभावित २५३२
ततिए पतिट्ठियादी २४१
ततिओ तु गुरुसगासे ३४२७
ततिओ पुट्ठो साहति ४५६९
ततिओभय नोभयतो ४५६६
ततिओ रक्खति कोसं १९४०
ततिओ लक्खणजुत्तं ३६२५
ततियम्मि उ उद्देसे ३२४१
ततियाए देति काले ३६९७
ततियाण सयं सोच्चा ३९३९
ततो णं आह सा देवी २६४६
ततो णं अन्नतो वावि २८८९
तत्तो य पडिनियत्ते १२७७
तत्तो य वुडढसीले ४०८४
तत्तो वि पलाविज्जति २७२२
तत्थ अणाढिज्जंतो ११८१
तत्थ उ अणुण्णविज्जति ३३५९
तत्थ उ पसत्थगहणं ९६
गत्थ गतो वि य संतो ७५९
तत्थ गिलाणो एगो २६०
तत्थऽण्णत्थ व वासं २९८६
तत्थ तिगिच्छाय विही १६०९
तत्थ न कप्पति वासो ९२४,९५३
तत्थ भवे न तु सुत्ते ४३३
तत्थ वि काउस्सग्गं २१२२
तत्थ वि परिणामो तू ४४५२
तत्थ वि मायामोसो २८०
तत्थ वि य अच्छमाणे २१२५
तत्थ वि य अन्नसाधुं २०६५
तत्थादिमाइ चउरो ३७०६
तत्थेक्कं छम्मासं ४२४४
तद्दव्वमन्नदव्वेण ३७३४
तद्दव्वस्स दुगुंछण ११३६
तद्दिवसं पडिलेहा ३४७०
तद्दिवसं मलियाइं ३४००
तध चेव उग्गहम्मी ३३८२
तध नाणादीणट्ठा २७२०
तप्पडिवक्खे खेत्ते ३१३
तप्पत्तीयं तेसिं १६४३
तब्भावुवजोगेणं २६९४
तमेव सच्चं नीसंकं ४६०८
तम्मागते वताइं १२४२
तम्मि गणे अभिसित्ते १९१४
तम्मि वि अदेंत ताधे ३३२४
तम्हा अपरायत्ते १२०४
तम्हा इच्छावेती ३०५२
तम्हा उ कप्पट्ठितं ५५९
तम्हा उ धरेतव्वो ३६१४
तम्हा उ घेत्तव्वो ३३९४
तम्हा उ विहि तं चेव ३२८४
तम्हा उ संघसद्दे १६५७
तम्हा उ सपक्खेणं २४३५
तम्हा कप्पट्ठितं से १०५६
तम्हा कप्पति ठाउं ३७७०
तम्हा खलु घेत्तव्वो ३४१३
तम्हा गीतत्थेप्पं ४२६४
तम्हा न पगासेज्जा १५८७
तम्हा परिच्छणं तू ४२८६
तम्हा परिच्छितव्वो २४८३
तम्हा पालेति गुरू १७८९
तम्हा वज्जंतेणं २३४३
तम्हा संविग्गेणं ४२७२
तम्हा सपक्खकरणे २४००
तम्हा सिद्धं एयं ४६८७
तरुणा सिद्धपुत्तादि ३०७६
तरुणिं पुराण भोइय ३०८३
तरुणी निप्फन्नपरिवारा ७२५, ७३२, ७३८, ७४२, ७४७
तरुणे निप्फन्नपरिवारे ७२१,७२८, ७३५, ७४०, ७४५
तरुणे निप्फन्ने या ७२३
तरुणे बहुपरिवारे ७२२
तरुणे वसधीपाले १७८७
तरुणेसु सयं वाए ३०८६
तवतिग छेदतिगं वा ४७६
तवऽतीतमसद्दहिए ५०२
तव-नियम-नाणरुक्खं ४४४७
तव-नियम-विणयगुणनिहि ९५८
तव-नियमसंजमाणं १९२५,१९२७
तवबलितो सो जम्हा ४८४
तवसोसितो व खमगो २५२९
तवसोसिय अप्पायण २५१५
तवसोसियस्स मज्झो १३४५
तवसोसियस्स वातो १०५१
तवु लज्जाए धातू ४०९३
तवेण सत्तेण सुत्तेण ७७७
तव्वरिसे कासिंची ८०२
तस-पाण-बीयरहिते ४३९६
तस्स उ उद्धरिऊणं ४५१९
तस्स कड निट्ठियादी ३७५६
तस्सट्ठ गतोभासण ४२७४
तस्स त्ती तस्सेव उ ४१४८
तस्स पंडियमाणस्स ४५८०
तस्स य चरिमाहारो ४३२४
तस्स य भूततिगिच्छा ११४६
तस्स वि जं अवसेसं २०४
तस्स वि दट्ठूण तयं २४६१
तस्सऽसति सिद्धपुत्ते ९६९
तस्सिंदियाणि पुव्वं ४६१०
तह चेव अब्भुवगता २८७०
तह चेव हत्थिसाला ३०७१
तह वि अठंते ठवितं ११८४
तह वि न लभे असुद्धं २०२४
तह वि य अठायमाणे १०९१
तह वि य संथरमाणे ४३४३
तह समण-सुविहियाणं २२४
तहियं गिलाणगस्सा २५०५
तहियं दो वि तरा तू ३३३५
तहेहट्ठगुणोवेता ३०२२
ताइं पीतिकराइं १५४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ताइं बहूहिं पडिलेहयंतो १३९२
ताओ य अगारीओ ३८७५
ताणि वि तु न कप्पंती ३५२१
ताधे उवउत्तेहिं ३१७३
ताधे तु पण्णविज्जति ३२१३
ताधे पुणो वि अण्णत्थ ३२१७
ताधे हराहि भागं २००
ता लाभो उद्दिसणा- २१२०
तालुग्घाडिणी-ओसावणादि १५२९
ताहे कालग्गाही ३१७६
ताहे मा उड्डाहो ४६८३
तिक्खम्मि उदगवेगे २२३
तिक्खुत्तो मासलहू २९०१
तिक्खेसु तिक्खकज्जं ६९९
तिट्ठाणे संवेगे ३६५२
तिण्णि तिगेगंतरिते २१३५
तिण्णि तु वारा किरिया ४३८५
तिण्णि दिणे पाहुण्णं २९१९
तिण्णि य निसीहियाओ ३१७८
तिण्णि वा कड्ढते जाव ३७७५
तिण्णी जस्स य पुण्णा १५६२
तिण्हं आयरियाणं ४६४२
तिण्हं समाण पुरतो १६२९
तिण्ह समत्तो कप्पो १०१२
तिण्हुण्हभावियस्सा २५३३
तित्थगरगिहत्थेहिं ३८७३
तित्थगरत्थाणं खलु १८२८
तित्थगरपवयणे निज्जरा २५६८
तित्थगरवेयवच्चं ४६८४
तित्थगरा रायाणो ३३५
तित्थगरे ति समत्तं २६२९
तित्थयरे भगवंते १६७५,१६७६
तित्थोगाली एत्थं ४५३२
तिन्नि उ वारा जह ३२१
तिन्नि य गुरुकामा से ४४
तिमि-मगरेहि न खुब्भति १३७०
तिरियमुब्भाम नियोग ८०८
तिवरिसएगट्ठाणं १५४०
तिविधं अतीतकाले ४४५८
तिविधं तु वोसिरेहिति ४३२९
तिविधम्मि व थेरम्मी ४५९८
तिविधा जतणाहारे २२८२
तिविधे तेगिच्छम्मी ६१६
तिविधो संगेल्लम्मी १०००
तिविहं च होति बहुगं ३५०
तिविहे तेगिच्छम्मी १७८
तिविहे य उवस्सग्गे ११५४
तिविहो य पकप्पधरो १५२३
तिसु तिन्नि तारगाओ ३१९८
तिसु लहुग दोसु लहुगो ३४९४
तीरगते ववहारे २५५१
तीरित अकते उ गते २१२३
तीसं ठवणा ठाणा ३६३
तीसा तेत्तीसा वि य ३६८
तीसा य पण्णवीसा १०६८,११२०
तीसुत्तर पणवीसा ४१७
तीसुत्तर सयमेगं ४६८८
तुब्भं अहेसि दारं १९६५
तुब्भंतो मम बाहिं ३९५३
तुमए चेव कतमिणं ५६४
तुल्ला उ भूमिसंखा ४६०२
तुल्ले वि इंदियत्थे १०२८
तुल्लेसु जो सलद्धी २९१
तुवट्ट नयणे दहणे १७६१
तेणं कुडुंबितेणं १८८३
तेणग्गिसंभमादिसु ३२६२
तेणट्ठ मेहुणे वा २९३१
तेण न बहुस्सुतो वी १७०४
तेण पडिच्छालोए ३७६६
तेण परं सरितादी ५०७
तेण परिच्छा कीरति १४३३
तेण य सुतं जहेसो १६५८
तेण वि धारेतव्वं २३४४
तेणादेस गिलाणे ६३३
तेणा सावय वाला ६८३
तेणेव गुणेणं तू ४०९९
तेणेव सेवितेणं १०४७
तेणेहि वावि हिज्जति २९६७
ते तस्स सोधितस्स य १०६३
तेत्तीसं ठवणपदा ३८६
ते तेण परिच्चत्ता ४२०३
ते नाऊण पदुट्ठे १२३१
ते पुण एगमणेगा २७४
ते पुण दोण्णी वग्गा ३९१६
ते पुण परदेसगते ३५८०
तेयनिसग्गा सोलस ४६६८
तेयस्स निसरणं खलु ४६६९
तेरससत अट्ठट्ठा ४०८
तेरसवासे कप्पति ४६६३
तलोक्कदेवमहिता १०८३
तेल्लिय-गोलिय लोणिय ३७२५
तेवरिस तीसियाए ३२४२
तेवरिसा होति नवा २३१३
तेवरिसो होति नवो १५७७
ते वि भणिया गुरूणं ४४५१
ते वि य मग्गंति ततो ३५०४
तेसिं अब्भुट्ठाणं ४१२३
तेसिं कारणियाणं १३५८
तेसिं गीतत्थाणं २२००
तेसिं चिय दोण्हं पी १३५७
तेसिं जयणा इणमो १७४५
तेसिं तु दामगाइं १३९१
तेसिं पायच्छित्तं ८३६
तेसिं पि य असतीए ९७४/१
तेसिं सरिनामा खलु ४६६१
तेहि निवेदिए गुरुणो १६२७
तो अन्नं उप्पायंते १२९१
तो उट्ठितो गणिवरो १५०२
तो कलूणं कंदंता २४५७
तो छिंदिउं पवत्तो १६५३
तो जाव २३६५,२३६७
तो ठवितं णो एत्थं ३५०१
तो णाउ वित्तिछेदं ४३८७
तो तेसि होति खेत्तं १८१९
तो देंति तस्स राया ३१०७
तो भणति कलहमित्ता २०२८
तो भत्तीए वणिओ २५६३
तो विण्णवेंति धीरा ७८९

थ

थंडिल्लसमायारिं २७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थलकुक्कुडिप्पमाणं ३६८४
थलि घोडादिट्ठाणे ३०७०
थलि घोडादिनिरुद्धा ३०७२
थवथुतिधम्मक्खाणं ३०३४
थाणे कुप्पति खमगो २५३०
थिग्गल धुत्तापोत्ते ३५४०
थिरकरणा पुण थेरो ९६१
थिर-परिचियपुव्वसुतो १५४७
थिरपरिवाडीएहिं १७२५
थिरमउयस्स उ असती २२८५
थिरवक्खित्ते सागारिए २५२५
थीविग्गह-किलिबं वा १२७५
थुतिमंगलं च काउं ६८८
थुतिमंगल-कितिकम्मे ६८४
थूभमह सड्ढि समणी ११६१
थूभ विउव्वण भिक्खू २३३१
थेरतरुणेसु भंगा २३७१
थेर-पवत्ती गीता ६५२
थेरमतीवमहल्लं २५९
थेरस्स तस्स किं तू २३४६
थेरा उ अतिमहल्ला १४६१
थेराणं स विदिण्णो ३६०८
थेराणमंतिए वासो ४५९७
थेरा तरुणा य तधा ३३७२
थेरा सामायारिं ३०६३
थेरे अणरिहे सीसे १४६०
थेरे अपलिच्छन्ने १३५९
थेरेण अणुण्णाते २०४७
थेरे निस्साणेणं २२९६
थेरो अरिहो आलोयणाय २३४८
थेरोत्ति काउं कुरु मा ३५०२
थेरो पुण असहायो २३७२
थोवं पि धरेमाणो ११९१
थोवं भिन्नमासादिगाउ ८५१
थोवावसेसपोरिसि ३१०५
थोवावसेसियाए ३१७९

द

दंडग्गहनिक्खेवे १२५,२३१८
दंडतिगं तु पुरतिगे ३३३
दंड विदंडे लट्ठी ३४७७
दंडसुलभम्मि लोए ५६२
दंडित सो उ नियत्ते १२६६
दंडिय कालगयम्मी ३१२७
दंडेण उ अणुसट्ठा १९००
दंतच्छिन्नमलित्तं ८६५
दंते दिट्ठ विगिंचण ३१४६
दंसण-नाण-चरित्ते ८५३,८५४, १४१३, ४४६४
दंसण-नाणे चरणे ९८९
दंसणनाणे सुत्तत्थ २८६
दंसणमणुमुयंतेण ४४८५
दगमुद्देसियं चेव १९२
दट्ठुं बा सोउं वा २८२२,३३०५
दट्ठुं साहण लहुओ २८८७
दट्ठु महंत महीरुह ४४४४
दट्ठुवगहणे लहुगो ३५७१
दट्ठु विसज्जण जोगे २१२९
दट्ठूण नडिं कोई ११४९
दट्ठूण वन्नधा गंठिं ३४९८
दत्तेणं नावाए ४३७०
दद्दुरमादिसु कल्लाणगं १०
दधि-घय-गुल-तेल्लकरा २४७९
दप्प अकप्प निरालंब ४४६२
दप्पेण पमादेण व २०५३
दमगे वइया खीर घडि १३८८
दविणस्स जीवियस्स व ९२५
दविय परिणामतो वा ४३३३
दव्वदुए दुपएणं ९८५
दव्वप्पमाणं तु विदित्तु पुव्वं १३५०
दव्वप्पमाणगणणा २५००
दव्वम्मि लोइया खलु १३
दव्वविसं खलु दुविधं ३०२८
दव्वसिती भावसिती ४२३६
दव्वस्स य खेत्तस्स य १२५९
दव्वादभिग्गहो खलु ३८५५
दव्वादि चतुरभिग्गह ३०५
दव्वादि पसत्थवया २०४५
दव्वादी जं जत्थ उ १४४०
दव्वावदिमादीसुं ८३
दव्वे खेत्ते काले १४९,१२५३ ३०८७, ३८००
दव्वेण य भावेण य ५६५
दव्वे तं चिय दव्वं ३११२
दव्वे भविओ निव्वत्तिओ १९७
दव्वे भाव पलिच्छद १४०८
दव्वे भावे असुई १६४१,१६४२
दव्वे भावे आणा ३८८६
दव्वे भावे भत्ती २६७०
दव्वे भावे संगह १५०६
दव्वे य भाव भेदग १९४
दव्वेहि पुज्जवेहिं ४०५५
दस चेव य पणयाला ५३३
दस ता अणुसज्जंती ४१८१
दसदिवसे चउगुरुगा २०५६
दसविधवेयावच्चे १९९५,२६०९, ४५८७,४६७५
दसहि गुणेउं रूवं ५३०
दसुदेसे पच्चंते १००५
दस्सुत्तरसतियाए ४१६
दहिकुड अमच्च आणत्ति १९९४
दाण दवावण कारावणेसु १५१६
दाणादि सड्ढकलियं ३९४६
दाणादी संसग्गी २९००
दारुग-लोण गोरस ३७२०
दास-भयगाण दिज्जति ३७१३
दाहिंति गुरुदंडं तो २७५२
दिंते तेसिं अप्पा ३६०३
दिक्खेउं पि न कप्पति १४५१
दिज्जति सुहं च वीसुं १३४२
दिट्ठं एतेण इमं ३८७२
दिट्ठं कारणगमणं ६४८
दिट्ठंतसरिस काउं २४१३
दिट्ठंतस्सोवणओ ४३६६
दिट्ठंतो गुव्विणीए ३२४९
दिट्ठंतो जध राया १३०१
दिट्ठंतो तेणएणं ४२०९
दिट्ठंतो परिणामे ४६२४
दिट्ठंतोऽमच्चेणं ३६९२
दिट्ठं लोए आलोगभंगि ८२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिट्ठा खलु पडिसेवा २२७
दिट्ठादिएसु एत्थं ३४२२
दिट्ठिवाए पुण होति ४६७०
दिट्ठीय होंति गुरुगा २३७४
दिट्ठो मायि अमाई ३९७१/२
दिट्ठो व समोसरणे १४४४
दिणे दिणे जस्स ३३५१
दिण्णमदिण्णो दंडो ३४१
दिन्नज्जरक्खितेहिं ३६०५
दिन्ना वा चुणएणं ३३२३
दिय-रातो निच्छुभणा ३३४७
दिव-रातो उवसंपय २४६
दिवसस्स पच्छिमाए ३०३६
दिवसा पंचहि भइता ३७३,३७७
दिवसेण पोरिसीय व ११३५
दिवसे-दिवसे वेउट्टिया २०८४
दिवसेहि जइहि मासो ३७५
दिव्वमणुया उ दुग तिग ४४०२
दिव्वादि तिन्नि चउहा ३८४२
दिसा अवर दक्खिणा य ३२६८
दिसिदाह छिन्नमूलो ३११९
दीणा जुंगित चउरो १४४८
दीवेउं तं कज्जं ३३८६
दीवेह गुरूण इमं ६७६
दीसंतो वि हु नीया २४६५
दीसति धम्मस्स फलं १२५६
दुक्खं हितेसु वसधी १७५३
दुक्खत्ते अणुकंपा १५११
दुक्खेण उ गाहिज्जति ४५८८
दुक्खेण लभति बोधिं १६९०
दुगुंछिता वा अदुगुंछिता ६४२
दुच्छडणियं च उदयं ३७६१
दुट्ठो कसायविसएहि ४१५३
दुण्णि वि दाऊण दुवे २२६४
दुण्हेगतरे खमणे २९६
दुधावेते समासेणं ३८४९
दुन्निविट्ठा व होज्जाही ३८६९
दुपय-चउप्पय पक्खी ३८६०
दुब्भासिय हासितादी २४२
दुब्भिगंध परिस्सावी ३७७४
दुम्मेहमणतिसेसी ४६३७
दुल्लभदव्वं पडुच्च १३५५
दुल्लभदव्वे देसे ११३४
दुल्लभभिक्खे जतिउं २७३४
दुल्लभलाभा समणा २४५१
दुल्लभे सेज्जसंथारे ३४०९
दुविधं पि य वितिगिट्ठं २९५५
दुविधं वा पडिमेतर २८०७
दुविधतिगिच्छं काऊण १३०६
दुविधा छिन्नमछिन्ना ३६१९
दुविधाऽवहार सोधी ६३४
दुविधाऽसतीय तेसिं ९७४,१५७५
दुविधेण संगहेणं १९४२
दुविधेहि जड्डदोसेहिं ४६३३
दुविधो अभिधारंतो ३९६८
दुविधो खलु ओसण्णे ८८२
दुविधोधाविय वसभा ३६५५
दुविधो य अधालहुसो ३५३७
दुविधो य होति कालो २१६३
दुविधो साविक्खितरो १५९६
दुविहं तु दप्प-कप्पे ४४५७
दुविहम्मि वि ववहारे २८
दुविहा जातमजाता ३५८४
दुविहा पट्ठवणा खलु ५९८
दुविहा सुतोवसंपय ३९५८
दुविहो अभिधारंतो ३९७१/१
दुविहो खलु पासत्थो ८५२
दुविहो य एगपक्खी १२९९
दुसमुक्कट्ठं निक्खिव २०१६
दुहओ भिन्नपलंबे १८४
दुहओ वि पलिच्छन्ने १४७१
दूती अद्धाए ता २४३९
दूयस्सोमाइज्जति २४४०
दूरं सो विय तुच्छो ३५६९
दूरगतेण तु सरिए २११५
दूरत्थम्मि वि कीरति १५८८
दूरत्थो वा पुच्छति २३४०
दूरे चिक्खल्लो वुड्ढि ३६०६
दूरे ता पडिमाओ ८१३
देंता वि न दीसंती ४१६४,४१७०
देंति अजंगमथेराण ४६४३
देति सयं दावेति य १५१८
देविंदचक्कवट्टी २५६९
देविंदा नागा वि य ४६६५
देवो महिड्ढिओ वावि ३८०२
देसं दाऊण गते ३३३७
देसं वावि वहेज्जा ७६४
देसेण अवक्कंता ८९१
देसे देसे ठवणा १६६८
देसे सव्वुवहिम्मी ३६१८
देसो सुत्तमधीतं १५६९
देहवियोगो खिप्पं ४३३७
दोच्चं व अणुण्णवणा ३५१०
दोण्णि व असंजतीया २९२४
दोण्णि वि जदि गीतत्था २९१०
दोण्हं अणंतरा होति ३९६०
दोण्हं चउकण्णरहं १८५२
दोण्हं तु संजताणं १८३२
दोण्हं पि अणुमतेणं १२४५
दोण्हं विहरंताणं १०१३
दोण्ह जतो एगस्सा ३९२५
दोण्ह वि वाहिरभावो १३०९
दोण्ह वि विणिग्गतेसुं २२३५
दोण्हेगतरे पाए ३८१८
दो थेर खुड्ड थेरे २०४८
दो पायाणुण्णाया ३५९६
दो पुत्त पिता-पुत्ता २०४९
दो भाउगा विरिक्का १४०९
दो भिक्खूऽगीतत्था २१९४
दोमादि ठिता साधारणम्मि १८०२
दोमादि संतराणि उ ३४६७
दोमादी गीतत्थे १९९६
दो रासी ठावेज्जा ३६५
दो संघाडा भिक्खं २२७५
दोसविभवाणुरूवो १७२,६१५
दोसा उ ततियभंगे १९८२
दोसा कसायमादी ४१५०
दोसाण रक्खणट्ठा ३५२४
दो साहम्मिय छव्वारसेव ९७९
दोसु अगीतत्थेसुं २१९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोसु तु वोच्छिन्नेसुं ४१८२
दोसु वि वोच्छिन्नेसुं ४१८३
दो सोय नेत्तमादी ४४१२
दोहिं तु हिते भागे २०५
दोहि तिहि वा दिणेहिं ३०१
दोहि वि अपलिच्छन्ने १३७६
दोहि वि गिलायमाणे १०३८
दोहि वि गुरुगा ५८९,५९१, ५९३
दोहि हरिऊण भागं ५३१

ध

धम्मं जई काउ समुट्ठियासि २८५२
धम्मकधा इड्ढिमतो २०५६
धम्मकह निमित्तादी २३२०
धम्मकहनिमित्तेहि य २८३६
धम्मकहा सुत्ते या ३९७९
धम्मकहि महिड्ढीए १७३६
धम्मकही-वादीहिं २४९१
धम्ममिच्छामि सोउं जे १८४०
धम्मसभावो सम्मद्दंसणयं ४१४५
धम्मायरि पव्वावण ४५९३
धम्मिओ देउलं तस्स २८८३
धम्मो कहेज्ज तेसिं ३५००
धम्मो य न जहियव्वो ४५८५
धरमाणच्चिय सूरे ६८१
धारणववहारेसो ४५०७,४५२०
धारिय-गुणिय-समीहिय १४९६
धावति पुरतो तह मग्गतो ४५५८
धित्तेसिं गामनगराणं ९३५
धीरपुरिसपण्णत्ते ४३४८
धीरपुरिसपण्णत्तो ४५३६
धीरा कालच्छेदं २२८०
धुव आवाह विवाहे ३७३९
धुवकम्मियं च नाउं २५४१
धुवणे वि होंति दोसा १७७१
धुवमण्णे तस्स मज्झे ३३६१
धोतम्मि य निप्पलगे ३२२४
धोतावि न निद्दोसा २८००

न

नउतीए पक्ख तीसा ४१५
नंदि-पडिग्गह-विपडिग्गहे ३६३३
नंदीभासणचुण्णे ३०३८
नंदे भोइय खण्णा ७१६
न करेंताऽऽवासं वा ६५५
न करेति भुंजिऊणं २१२७
न किलम्मति दीघेण वि ७८५
नक्खत्ते चंदे या १९८
नग्घंति नाडगाइं ३००९
नच्चणहीणा व नडा २५९५
नणु भणिय रसच्चाओ १७७५
नणु सो चेव विसेसो १११४
न तरंती तेण विणा २६९२
न तरति सो संधेउं १३०७
नत्थि इहं पडियरगा ३०४
नत्थि वत्थुं सुगंभीरं ३४९९
नत्थी संकियसंघाड २७६
नत्थेयं में जमिच्छसि २७७
नदिसोय सरिसओ वा २८६८
न पगासेज्ज लहुत्तं ४३७६
न य छड्डिता न भुत्ता १९१२
न य जाणति वेणइयं १३९६
न य बंधहेतुविगलत्तणेण ११०९
नयभंगाउलयाए १४९७
न य भुंजंतेगट्ठा २७९१
न लूओ अध साली उ २६५४
नवंगसुत्तप्पडिबोहयाए ४४११
नवकालवेलसेसे ३२०८
नवघरकवोतपविसण २८८१
नवडहरगतरुणगस्स १५८०
नवणीयतुल्लहियया २९९८
नवतरुणो मेहुण्णं १५९४
नवमं तु अमच्चीए १६०६
नवमस्स ततियवत्थू ५४०
नवमासगुव्विणीं खलु ३८६३
नवयसता य सहस्सं ४०९
नवरि य अन्ने आगत ३४४१
नववज्जियावदेहो २५१
नवविगतिसत्तओदण ४३२५
न वि उत्तराणि पासति २५९९
न विणा तित्थं नियंठेहिं ४२१७
न वि देमि त्ति य भणिते १२८९
न वि य समत्थो वन्नो ६९६
न विरुज्झंति उस्सग्गे १२३
न वि विस्सरति धुवं तू ४१०८
न विसुज्झामो अम्हे १२३६
न संति साधू तहियं १८१४
न संभरति जो दोसे ४०६७
नस्सए उवणेतो सो २६५६
न हु कप्पति दूती वा २८५८
न हु गारवेण सक्का १७२३
न हु ते दव्वसंलेहं ४२९१
न हु सुज्झती ससल्लो २३०
न हु होति सोइयव्वो १०८४
नाऊण कालवेलं ३१७२
नाऊण परिभवेणं १६८०
नाऊण य निग्गमणं २०९०
नाऊण सुद्धभावं ३४६३
नाएण छिन्न ववहार १६५२
नाए व अनाए वा ४००३
नाणं नाणी णेयं ३
नाण-चरण १६८८,१६८९
नाणचरणस्स पव्वज्ज २८३०
नाण-चरणे निउत्ता १९३३
नाण-तवाण विवड्ढी १७८३
नाणत्तं दिस्सए अत्थे १५५
नाणनिमित्तं अद्धाण ४३०४
नाणनिमित्तं आसेवियं ४३०३
नाणमादीणि अत्ताणि ४०६३
नाणम्मि असंतम्मी ३०५०
नाणस्स दंसणस्स य ३०५३
नाणायार विराहितो ३२३८
नाणी न विणा नाणं ४०
नाणे नाणायारं ८७८
नातं आगमियं ति य ४०३६
नातिथुल्लं न उज्झंति ४६४०
नामं ठवणा दविए १९६, २१०, २१३, ९९५,९८०,९८९
नामं ठवणा भिक्खू १८८
नामम्मि सरिसनामो ९८७
नामादिगणो चउहा १३६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामा वरुणा वासं ४६६२
नामेण य गोत्तेण व १०४३
नामेण वि गोत्तेण य ७५१
नायम्मि गिण्हियव्वे ४६९१
नायविधिगमण लहुगा २४५०
नाल पुर पच्छ संथुय ३९५६
नालबद्धा उ लब्भंते २१६०
नालबद्धे अनाले वा २१७६
नालबद्धे उ लब्भंते २१६४
नालीधमएण जिणा ४०४७
नालीय परूवणया ४४४
नासेति अगीयत्थो १७२४,४२५२
नासेति असंविग्गो ४२६६
नाहं विदेस आहरणमादि ११९२
नाहिंति मम ते तू २८५७
निउणमतिनिज्जामगो ७५४
निक्कारणदप्पेणं ४४८३
निक्कारणपडिसेवी २४
निक्कारणम्मि गुरुगा ६३२
निक्कारणिएऽणुवदेसिए ३६४९
निक्कारणे असुद्धो उ २९११
निक्कारणे न कप्पंति २१४२
निक्खित्तगणाणं वा २२२५
निक्खित्तनियत्ताणं २२५०
निक्खित्तम्मि उ लिंगे १२९८
निक्खिवणे तत्थ गुरुगा ३०७७
निक्खिव न निक्खिवामी ७६५
निग्गंतूण न तीरति २२४१
निग्गंथाण विगिट्ठे २९७३
निग्गंथीणं पाहुड ३००७
निग्गंथीणऽहिगारे २८३४
निग्गमणं तु अधिकितं ७६८
निग्गमणमवक्कमणं ९०७
निग्गमणे चउभंगो २२३०
निग्गमणे परिसुद्धे २७५
निग्गमऽसुद्धमुवाएण २८२
निग्गयवट्टंता वि य ४७२
निग्गिज्झ पमज्जाही २५२८
निच्चं दिया व रातो ३८३७
निच्छयतो पुण अप्पे २६३७
निज्जवगो अत्थस्सा ४१०३
निज्जूढं चोद्दसपुव्विएण ४४३१
निज्जूढो मि नरीसर १२२४
निज्जूहगतं दट्ठुं ६६८
निज्जूहादि पलोयण ६६७
निट्ठिति महल्लो भिक्खे २१०८
नितियादी उवहि भत्ते १९७०
नित्थिण्णो तुज्झ घरे ११८३
निदारेसण जध मेत्थ ४६८६
निद्दोसं सारवंतं च ३०२३
निद्ध-महुरं च भत्तं १०९८
निद्धमहुरं निवातं १६६०
निद्धाहारो वि अहं २५५३
निद्धूमगं च डमरं १५६५
निप्पडिकम्मो वि अहं २६९१
निप्पत्तकंटइल्ले ३०८
निप्फण्णतरुण सेहे ३९१८
निब्भच्छणाय बितियाय ४२१०
निब्भयओरस्सबली १४३५
निम्माऊणं एगं २०१५
नियमा विज्जागहणं २४२४
नियमा होति असुण्णा १७४८
निययं च तहावस्सं २०८३
नियया नियय विसेसो ३७१४
निययाहारस्स सया ३६८२
निरवेक्खे कालगते १८९५
निरवेक्खो तिण्णि चयति ४१९६
निरुवस्सग्गनिमित्तं ५४७, ७९८
निवमरणमूलदेवो ४५२
निववेट्ठिं च कुणंतो १०५३
निवेदणियं च वसभे २८४२
निव्वघाएणेवं ४३७४
निव्वितिए पुरिमड्ढे १६३, ६२०
निव्विति ओम तव वेए १६०१
निसज्जं चोलपट्टं ३७९२
निसीध नवमा पुव्वा ४३५
निसेज्जऽसति पडिहारिय ३१५
निस्संकितं तु नाउं ३५४२
निस्संकियं व काउं २८९१
निस्संकिय निक्कंखिय ६४
निस्सग्गुस्सग्गकारी य २७५७
निस्सेसमपरिसेसं ४१४२
नीतम्मि य उवगरणे ३५९१
नीता वि फासुभोजी १५५१
नीयल्लएहि उवसग्गो २१११
नीयल्लगाण तस्स व ११८५
नीयल्लगाण व भया १८०९
नीलीराग खसदुम १३८३
नीसंकितो वि गंतूण ३६६९
नीसंको वणुसिट्ठो ३६६८
नीसट्ठ अपडिहारी ३७१५
नीसिरण कुच्छणागार १७७०
नीह त्ति तेहि भणिते ३९४८
नीहरिउं संथारं ३५१६
नेगाण विधिं वोच्छं ३२५८
नेच्छंति देवरा मं २४७२
नेवइया पुण धन्नं १७८१
नोइंदिइंदियाणि य १५४१
नोइंदियपच्चक्खो ४०३१
नोकारो खलु देसं १३६०

प

पउरणणपाणगमणं १९८६
पउरण्ण-पाणगामे १०९
पउरण्णपाणपढमा ३२७०
पउरण्णपाणियाइं १९४६
पंचण्हं परिवुड्ढी ३६०
पंचण्ह दोन्नि हारा ३२८१
पंचण्हुवरि विगट्ठो ४६५७
पंचण्हेगं पायं ३५९८
पंचम निक्खित्तगणो १६३१
पंचमहव्वयधारी ८७०
पंचमियाय असंखड ३२७१
पंच य महव्वयाइं १९२९
पंच व छस्सत्तसते ४२६१
पंच व छस्सत्तसया ४२६९
पंचवि आयरियादी २६१९
पंचविधं उवसंपय १६९२
पंचविधमसज्झायस्स ३१५५
पंचविधे कामगुणे ९२८
पंचविहो ववहारो ४०२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचसता चुलसीता ४०६
पंचसता जंतेणं ४४१८
पंचादी आरोवण १४०
पंचासवप्पवत्तो ८९०
पंचाहग्गहणं पुण २०७६
पंचिंदि धट्ठ तावण ४५४०
पंचिंदियाण दव्वे ३१३३
पंचेने अतिसेसा २७०५
पंचेव नियंठा खलु ४१८४
पंचेव संजता खलु ४१८८
पंतवण बंधरोहं २४७३
पंतावणमीसाणं ७३३
पंथम्मि य कालगता १४६४
पंथे उवस्सए वा ३५५०
पंथे ठितो न पेच्छति ३५६३
पंथे न ठाइयव्वं ३५५३
पंथे वीसमण निवेसणादि ३५५१
पंसू अच्चित्तरजो ३११५
पंसू य मंसरुधिरे ३११४
पक्कुल्लोव्व भया वा १६९८
पक्खस्स अट्ठमी खलु २६९८
एक्खिगापक्खिगा चेव ३५७६
पक्खिय चउ संवच्छर २३४
पक्खियपोसहिएसुं ४१३६
पगत बहुपक्खिए वा ३१२८
पगतसमत्ते काले २६६१
पगता अभिग्गहा खलु ३८३१
पगतीए मिउसहावं १३११
पगया अभिग्गहा खलु ३८२३
पगामं होति बत्तीसा ३६८८
पग्गह लोइय इयरे २१६
पग्गहितं साहरियं ३८२४
पग्गहियमलेवकडं ८०४
पच्चंत सावयादी २०९१
पच्चंते खुब्भंते ९४८
पच्चक्खागमसरिसो ४०३५
पच्चक्खी पच्चक्खं ४०४६
पच्चक्खो वि य दुविहो ४०३०
पच्चागता य सोउं ११७७
पच्छन्न राय तेणे १८९४
पच्छा इतरे एगं २२०३
पच्छाकडो भणेज्जा ३३३०
पच्छाविणिग्गतो वि हु ३९१०
पच्छा वि होंति विकला १४५२
पच्छासंथुतइत्थी १२७३
पच्छित्तं इत्तरिओ ११६८
पच्छित्तं खलु पगतं १०७१
पच्छित्तऽणुपुव्वीए ५७७
पच्छित्तस्स उ अरिहा ४७९
पच्छित्ते आदेसा ३८६७
पच्छिल्लहायणे तू ४२४७
पज्जोयमवंतिवति ७८४
पट्टग घत्तूण गतो २६४२
पट्टवितम्मि सिलोगे ३२१८
पट्टवित वंदिते वा ३१९२
पट्टविता ठविता य ५९९
पट्टविता य वहंते ६००
पडिकारा य बहुविधा २९४३
पडिकुट्ठेल्लगदिक्से ३०९
पडिणीय अकिंचकरा १५६०
पडिणीयऽणुकंपा वा ३७९९
पडिणीय-मंदधम्मो १७१३
पडिणीयम्मि उ भयणा २८३
पडिणीययाए केई ४४२१
पडिणीययाए कोई ४४२०
पडिपुच्छिऊण वेज्जे २३९२
पडिबोहग देसिय सिरिघरे १३७३
पडिभग्गेसु मतेसु व १७९८
पडिमा उ पुव्वभणिता ३७८०
पडिमापडिवण्ण एस ३८५४
पडिमाहिगारपगते ३७८९
पडिमुप्पत्ती वणिए २५६१
पडियरति गिलाणं वा २२८९
पडियरते व गिलाणं २२१०
पडिलेहण पप्फोडण ४१३८
पडिलेहण मुहपोत्तिय ८६४
पडिलेहण संथारं ४३४५
पडिलेहणऽसज्झाए २७०,६५३, ६५४
पडिलेह दिय तुयट्टण १९५०
पडिलोमाणुलोमा वा ४३१९
पडिवण्णे उत्तमट्ठे २२९१
पडिवत्तीकुसलेहिं २४९३
पडिवत्ती पुण तासिं ३८०९
पडिरूवग्गहणेणं ६२
पडिरूवो खलु विणओ ६६
पडिसिद्धमणुण्णातं २३९४
पडिसिद्धा सन्निही जेहिं २४२०
पडिसेधे पडिसेधो २८९७
पडिसेधो पुव्वुत्तो २८०५
पडिसेधो मासकप्पे ८६८/३
पडिसेवओ य पडिसेवणा ३७
पडिसेवओ सेवंतो ३८
पडिसेवणं विणा खलु १३६
पडिसेवणा उ कम्मोदएण २२६
पडिसेवणातिचारा ४३०८
पडिसेवणातियारे ४०६५, ४०६५/१
पडिसेवणा तु भावो ३९
पडिसेवणा य संचय ५७२
पडिसेवणा य संजोयणा ३६
पडिसेवति विगतीओ ४३०५
पडिसेवि अपडिसेवी १२९४
पडिसेविए दप्पेणं २२८
पडिसेवितं तु नाउं २९२५
पडिसेवितम्मि सोधिं २२
पडिसेविते उवेक्खति ६६५
पडिसेवियम्मि दिज्जति ५२
पडिसेविय रायाणो ९३४
पडिसेहं तमजोग्गं २५८७
पडिसेहियगमणम्मी १२८७
पडिहारुव्वी भण रायरूविं १२२०
पडिहारियगहणेणं ६९१
पडुच्चायरियं होति ४५९५
पढमं कज्जं नामं ४४८१
पढमगभंगे इणमो ३९०५
पढमगसंघयणथिरो ४०९४
पढमचरमाण एसो २११६
पढमचरिमेसऽणुण्णा २११३
पढम-ततिएसु पूया ५८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पढमत्ततिया एत्थं ४५५६
पढमदिणनियत्तंते १२५८
पढमदिणमविप्फाले २४८
पढमदिणम्मि न पुच्छे २९८
पढमबितिएसु कप्पे ४३१४
पढमबितिएहि न तरति १०५२
पढमबितिओदएणं २८९४
पढम-बितियादलाभे ७९३
पढमम्मि य संघयणे ४४०१
पढमम्मि सव्वचेट्ठा ३१०९
पढमस्स नत्थि सद्दो ४६३१
पढमस्स य कज्जस्सा ४४६८-
४४७४,४४९०-४४९२,४४९४-
४४९६
पढमस्स होति मूलं १६५, ६०९
पढमा उवस्सयम्मी ७८०
पढमा ठवणा एक्को ३९७-३९९
पढमा ठवणा पंच य ३९२-३९४
पढमा ठवणा पक्खो ३८७-३८९
पढमा ठवणा वीसा ३८२-३८४
पढमाऽसति बितियम्मि १९७४
पढमा सत्तिगासत्त ३७८२
पढमो त्ति इंद-इंदो १५६
पढमोऽनिक्खित्तगणो १६३०
पणगं पणगं मासे १३३९
पणगं मासविवड्ढी ४०४०
पणगादिसंगहो होति २७३
पणगादी जा गुरुगा २०२५
पणगादी जा मासो १२६०
पणगेणऽहिओ मासो ५२५
पणगो व सत्तगो वा १७३१
पणतीसं ठवणपदा ३९१
पणपण्णिगादि किट्ठिसु १६२२
पणिधाणजोगजुत्तो ६५
पण्णत्तीकुसलो खलु १५०१
पण्णरसे चारणभावणं ती ४६६७
पण्णरसे व उ काउं ३८३४
पण्णवगस्स उ सपदं ४१७५
पण्णविता य विरूवा ११५०
पण्णाए पण्णट्ठी ४१३
पण्णे य थंते किमिणे य ८५०
पतिलीलं करेमाणी २६४५
पत्तं ति पुप्फं ति फलं ४६२५
पत्तस्स पत्तकाले ४६७२
पत्ताण अणुण्णवणा ३९२१
पत्ताण-वेल पविसण २४९२
पत्ताण समुद्देसो ३०३५
पत्ता पोरिसिमादी २८५४
पत्तिय पडिवक्खो वा १२३८
पत्ते देंतो पढमो ४५८३
पत्तेयं पत्तेयं ४३६, ५१३
पत्तेयं भूयत्थं २९२८
पत्तेयबुद्धनिण्हव ९९४
पत्थगा जे पुरा आसी १४८
पत्थर छुहए रत्ती ८१६
पत्थरमणसंकप्पे ८१७
पदगयसु वेयसुत्तर ३७८७
पदमक्खरमुद्देसं ४४५४
पभुदारे वी एवं ३४५३
पमेहकणियाओ य ३७९६
पम्हुट्ठमवि अन्नत्थ ३५५८
पम्हुट्ठे गंतव्वं ३५६७
पम्हुट्ठे पडिसारण ३१९
पयत्तेणोसधं से २०२३
परं ति परिणते भावे २०७९
परखेत्तम्मि वि लभती ३९८४
परखेत्ते वसमाणे ३९८५
परचक्केण रट्ठम्मि २८१९
परतो सयं व णच्चा ४२७६
परपच्चएण सोही १९
परबलपहारचइया १०४२
परबलपेल्लिउ नासति १९३९
परमन्न भुंज सुणगा १९३८
परलिंग निण्हवे वा १८६५
परलिंगेण परम्मि उ १६०८
परवादी उवसग्गे १४३६
परवादीण अगम्मो २६७७
परवादीहि न खुब्भति १३७१
परिकम्मं कुणमाणे १३०५
परिकम्मणाय खवगो ७९५
परिकम्मितो वि वुच्चति ७९२
परिकम्मेहि य अत्था १८२७
परिग्गहे निजुज्जंता २४१८
परिचियसुओ उ मग्गसिर ८००
परिजितकालामंतण ७९९
परिजुण्णो उ दरिद्दो २०६९
परिणामाणवत्थाणं २७५९
परिणामियबुद्धीए १६७८
परिणामो जं भणियं ४६२२
परिणाय गिलाणस्स य ७४८
परिणिट्ठित परिण्णाय ४०७५
परिणिव्वविया वाए ४१०२
परिताव अंतराया २५३५
परिभाइयसंसट्ठे १३४७
परिभूयमति एतस्स ७१३
परिमित असती अण्णो १३४६
परिमितभत्तगदाणे २५०३
परियट्टिज्जति जहियं ४६६४
परिवार इड्ढि-धम्मकहि १७१९
परिवारहेउमन्नट्ठयाय ३०५५
परिसाडि अपरिसाडी ३३९०
परिसाडिमपरिसाडी ३५११
परिसाडी पडिसेधो ३५१२
परिसा ववहारी या १६७०
परिहरति असण-पाणं १५२१
परिहरति उग्गमादी ९००
परिहारऽणुपरिहारी ५६६
परिहारविसुद्धीए ४१९१
परिहारिओ उ गच्छे ६९४
परिहारि कारणम्मि १०५४
परिहारियाण उ विणा ६२५
परिहारियाधिकारे १०३६
परिहारो खलु पगतो ६९०
परिहारो व भणितो १३३६
परोक्खं हेउगं अत्थं ४६०९
परोग्गहं तु सालेणं ३७४५
पलिउंचण चउभंगो ५८०
पवडेज्ज व दुब्बद्धे ३४६९
पवत्तिणि अभिसेगपत्त ७२४
पवयणकज्जे खमगो १७२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पवयणजसंसि पुरिसे ४५०८
पवित्तिणिममत्तेणं २८४५
पवज्ज अप्पपंचम १५४९
पव्वज्जादी आलोयणा ४३०२
पव्वज्जादी काउं ४२२३,४३९१
पव्वज्जापरियाओ ४६४५
पव्वज्जाय कुलस्स य १३०३
पव्वज्जा सिक्खावय ७७४/१, ७७४/२
पव्वावइत्ताण बहू य १३८९
पव्वावणा सपक्खे २९३४
पव्वावणुवट्टावण ४५९०
पव्वाविओऽगीतेहि २०६४
पव्वावियस्स नियमा २९५३
पव्वावेउं तहियं २१५३
पहगाऽचित्त चित्तं २२१२
पहनिग्गामयादियाणं ३५८५
पाउणति तं पवाए ३७९३
पाओवगमे इंगिणि ४२२२
पागडियं माहप्पं २५९८
पाणगजोग्गाहारे ४३१७
पाणगादीणि जोग्गाणि ४२८३
पाणदयखमणकरणे ३६०७
पाणवह-मुसावादे ११९
पाणसुणगा व भुंजति २५५
पाणा थंडिल वसधी १७६९
पाणा सीतल कुंथू ३४१२
पाणिपडिग्गहियस्स वि ३८१७
पाणिवह-मुसावाए ४५
पादपरिकम्म पादे ४६७९
पादोवगमं भणियं ४३९५
पादोवगमे इंगिणी ४२२१
पादोसिएण सव्वे ३२०२
पादोसितो अभिहितो ३१९४
पादोसियड्ढरत्ते ३२००
पाबल्लेण उवेच्च व ४५०४
पाभातियम्मि काले ३२१०
पायं न रीयति जणो १९८९
पायच्छित्तनिरुत्तं ३४
पायच्छित्ताऽऽभवंते य ४०२७
पायच्छित्ते असंतम्मि ४२१५
पायच्छित्ते दिन्ने ११६७
पायच्छि-नास-कर-कण्ण ३६४२
पायसमा ऊसासा १२१
पायस्स वा विराधण ४६३५
पारंचि सतमसीतं ५७३
पारंगमपारगं वा ४१६६
पारायणे समत्ते १७१२, १७३०
पारावयादियाइं २८६४
पारिच्छनिमित्तं वा २१०४
पारिच्छहाणि असती १९२२
पारेहि तं पि भंते ७९६
पारोक्खं ववहारं ४०३६
पावं छिंदति जम्हा ३५
पावयणी खलु जम्हा २६३२
पावस्स उवचियस्स वि ८४९
पावासि जाइया ऊ ३२१२
पास उवरिव्व गहितं १३५६
पासंड भावितेसुं १७८२
पासंडे व सहाए ११९६
पासंता वि न जाणंति ४६१९
पासंतो वि य काये १११६
पासट्ठितो एलुगमेत्तमेव ३८७९
पासत्थ अधाछंदा ८३४,८८९
पासत्थगिहत्थादी १५८४
पासत्थमगीतत्था ३९७६
पासत्थादि कुसीले २८९८
पासत्थादिविरहितो १९२३
पासत्थिममत्तेणं २८७२
पासत्थे अरोवण ८७६
पासत्थे ओसण्णे १९२८
पासत्थोसन्न-कुसील ४३२०
पासवण अन्न असती २७८९
पासायस्स उ निम्मं ४१७६
पासित्तु ताणि कोई ४३३०
पासो त्ति बंधणं ति य ८५५
पाहुड विज्जातिसया १७३९
पाहुणगा गंतुमणा २५३७
पिंडस्स जा विसोधी ४७०
पिच्चा मरिउं पि सुहं १०४०
पियधम्मा दढधम्मा १४
पियधम्मे दढधम्मे १५,३१
पियधम्मो जाव सुयं २६
पिय-पुत्त खुड्ड थेरे २०४६
पियरो व तावसादी १५५०
पीलित विरेडितम्मी ३७३०
पीलेंति एक्कतो वा ३७२९
पुंडरियमादियं खलु ११३३
पुक्खरिणी आयारे १५२५
पुक्खरिणीओ पुव्विं १५२७
पुच्छाए नाणत्तं ३४५०
पुच्छाहि तीहि दिवसं १८०३, २२२७
पुट्ठा अनिव्वहंती २३१९
पुट्ठापुट्ठो पढमो ४५६८
पुट्ठा व अपुट्ठा वा ११८७
पुट्ठो वासु मरिस्सति १४२४
पुढवि-दग-अगणि- १४८८/१, ४०११, ४४०४
पुणरवि चउरण्णे तू ४२४२
पुणरवि चोएति ततो १४५
पुणरवि जे अवसेसा ४९१
पुणरवि भण्णति जोगो २५२१
पुणरवि य संजतित्ता १८८४
पुणरवि साहति गणिणो २३१७
पुणो वि कध मिच्छंते १८४१
पुण्णम्मि अंत मासे ३५१३
पुण्णे व अपुण्णे वा २१०३
पुत्तादीणं किरियं ११०२
पुन्नो य तेसिं तहिं मासकप्पे ३९२७
पुप्फावकिण्ण मंडलिया १८०६
पुमं बाला थिरा चेव ४०२६
पुरपच्छसंथुतेहिं ७८६
पुरपच्छसंथुतो वा ३७१६
पुरिसं उवासगादी ४११३
पुरिसज्जाया चउरो ४५५५
पुरिसस्स उ अइयारं ४५११
पुरिस्स निसग्गविसं ३०३०
पुरिसे उ नालबद्धे १२६९
पुव्वं अपासिऊणं ४०५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुव्वं आयतिबंधं १८९८
पुव्वं गुरूणि पडिसेविऊण ५७८
पुव्वं च मंगलट्ठा २५०७
पुव्वं ठावेति गणे १९९३
पुव्वं तु अगहितेहिं २४०२
पुव्वं तु किढी असतीय ३०८५
पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं १३१४,१३१५, १३१७, १३१९,१३२०
पुव्वं पट्ठवणा खलु ११५
पुव्वं बुद्धीए पासित्ता ७६
पुव्वं व चरति तेसिं ३८६१
पुव्वं वण्णेऊणं १५२४,३०४६
पुव्वं वतेसु ठविते १२३७
पुव्वं विणिग्गता पच्छा ३९०८
पुव्वं विणिग्गतो पुव्व... ३९०४
पुव्वंसि अप्पमत्तो ६२५
पुव्वं सो सरिऊणं ७६३
पुव्वण्हे यावरण्हे य ३०२४
पुव्वभणिता तु जतणा २२७९
पुव्वभवियपेम्मेणं ४४०७,४४०८
पुव्वभवियवेरेणं ११४२,४३९७
पुव्वम्मि अप्पिणंती २२८८
पुव्वाउत्तासुहिते २४९७
पुव्वाणुण्णा जा पुव्वएहि ३३५७
पुव्वाणुपुव्वि दुविधा ५७५
पुव्वाणुपुव्वि पढमो ५७६
पुव्वारुहिते य समीहिते २४९८
पुव्वावर दाहिण उत्तरेहि ४४००
पुव्वावरबंधेणं १४९८
पुव्विं अदत्तदाणा २५८८
पुव्विं कोडीबद्धा १५३५
पुव्विं चउदसपुव्वी १५३०
पुव्विं छम्मासेहिं १५३७
पुव्विं सत्थपरिण्णा १५३१
पुव्वुद्दिट्ठं तस्सा १३१३,१३१६, १३१८
पुव्वदिट्ठो य विधी ११०५
पुव्वोवट्ठपुराणे ४६०५
पूए अहागुरुं पि ४११७
पूएऊण विसज्जण १९०८
पूयं जहाणुरूवं १४८५
पूयंति य रक्खंति य २५६६
पूयणमहागुरूणं १५१२
पूयत्थं णाम गणो १४००
पूया उ दट्ठुं जगबंधवाणं १८१३
पेज्जादि पायरासा २९४२
पेढियाओ य सव्वाओ २६६३
पेसवेति उ अन्नत्थ २१७०
पेसी अइयादीया ३२४७
पेसेति उवज्झायं १२१६
पेसेति गंतुं व सयं व पुच्छ १३३०
पेसेति गिलाणस्स व २१७१
पेहाभिक्ख कितीओ २१८३
पेहाभिक्खग्गहणे १०४९
पेहा-वियार-झायादी ३३१३
पेहितमपेहितं वा २७८७,३९३४
पेहिते न हु अन्नेहिं ३९२९
पेहेऊणं खेत्तं ३९४२
पेहेत्तुच्चारभूमादी ३५२७
पोग्गलअसुभसमुदओ ११४०
पोसगसंवर-नड-लंख १४४९

फ

फणसं च चिंच तल नालि ३७४४
फलमिव पक्कं पडए १६९७
फलितं पहेणगादी ३८२१
फालहियस्स वि एवं २३२६
फासिय जोगतिएणं ३७७९
फासुय आहारो से २०३७
फासुयपडोयारेण १६२४
फासेऊण अगम्मं १८
फिडितम्मि अद्धरत्ते ३२०३

ब

बउसपडिसेवगा खलु ४१९३
बंध-वहे उद्दवणे ३८६६
बंधाणुलोमयाए ७१९
बंधित्ता कासवओ ३७७३
बंधेज्ज व रुंभेज्ज व ३८४१
बंधे य घाते य पमारणेसु १५९९
बकुसपडिसेवगाणं ४१८६
बत्तीसं वण्णिय च्चिय ४१३०
बत्तीसलक्खणधरो ४४०९
बत्तीसाए ठाणेसु ४०७६-४०७९
बलवंतो सव्वं वा १६६५
बलवाहणकोसा या २४०९
बलवाहणत्थहीणो २४१०
बलि धम्मकधा किड्डा १७८८
बहि अंत विवच्चासो २५२२, २५२४
बहिगमणे चउगुरुगा २५४२
बहिगाम घरे सण्णी १९६२
बहिय अणापुच्छाए २४८२
बहिय य अणापुच्छा २१४९
बहिया य पित्तमुच्छा २५७६
बहिया व अणापुच्छा २१५१
बहिरस्स उ विण्णाणं ४६१३
बहुआगमितो पडिमं ३८८१
बहुएसु एगदाणे ३२५, ३५४
बहुएहि जलकुडेहिं ५०८
बहुएहि वि मासेहिं ३३६
बहुगी होति मत्ताओ ३७९८
बहुजणजोग्गं खेत्तं ४११६
बहुपच्चवाय अज्जा ३२४६
बहुपडिसेवी सो वि य ३५२
बहुपरिवारमहिड्ढी १७२०
बहुपाउग्गउवस्सय १०६२
बहुपुत्तओ नरवती १५६४
बहु-पुत्तत्थी आगम ८२०
बहुपुत्ति पुरिस मेहे ८१९
बहु बहुविधं पुराणं ४११०
बहुमाणविणय आउत्तयाय ३०३३
बहुया तत्थऽतरंता २६२३
बहुविधणेगपयारं ४१०७
बहुसुतजुगप्पहाणे ४०८८
बहुसुत-परिचियसुत्ते ४०८७
बहुसुत बहुपरिवारो १६५१
बहुसुतमाइण्णं न उ ३८२५
बहुसुत्ते गीतत्थे १४४२
बहुसो उच्छोलेंती ३०६९
बहुसो बहुस्सुतेहि ४५४२
बायाला अट्ठेव य ४७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बारस अट्ठग छक्कग ४०२
बारस दस नव चेव य ४९०
बारसवासा भरधाधिवस्स २७०१
बारसवासे अरुणोववाय ४६६०
बारसवासे गहिते २२९६
बारसविधे तवे तू १९२६
बारसविहम्मि वि तवे २९४/१
बालगपुच्छादीहिं २४९९
बालादीणं तेसिं १५१७
बालाऽसहुमतरंतं २७०७
बालासहुवुड्ढेसुं १५१५
बावीसमाणुपुव्वी ४४२७
बाहिं अपमज्जंते २५२३
बाहिं वक्खारठिते २८०४
बाहुल्ला संजताणं तु ३९४४
बिंति य मिच्छादिट्ठी १०१९
बिंदू य छीयऽपरिणय ३१८१
बितिए नत्थि वियडणा ५५
बितिए निव्विस एगो १०३१
बितिएहि तु सारवितं २६६९
बितिओ उ अन्नदिट्ठं ३४२६
बितिओ न करेतऽट्ठं ४५६०
बितिओ पंथे भणती ३६२३
बितिओ माणकरो तू ४५६५
बितिओ सयमुद्धरति ६६३
बितियं कज्जं कारण ४४८४
बितियं तिव्वऽणुरागा २९७०
बितियं पुण खलियादिसु ११८
बितियं संचइयं खलु ४७७
बितियपदं आयरिए ३०३९
बितियपदे तेगिच्छं २८११
बितियपदेऽदिट्ठगहण ३७२३
बितियपदे न गेण्हेज्ज ३५४४, ३५८१
बितियपदे वितिगिट्ठे २९९९
बितियपदे सा थेरी १५९३
बितियपयं असतीए २५५८
बितियपयं आयरिए ६७३
बितियपयं तु गिलाणो ९०३
बितियमुवएस अवंकादियाण ३२
बितियम्मि बंभचेरे १५३२
बितियविगिट्ठे सागारियाए ३०४२
बितियस्स य कज्जस्सा ४४७५, ४४८०,४५००
बितियागाढे सागारियादि ३२२१, ३२३९
बियभंगे पडिसेहो १३९७
बिले व वसिउं नागा ३५३०
बीयं तु पोग्गला सुक्का ३७९६
बीयाणि च वावेज्जा ३७६०
बुद्धीबलपरिहीणो १३७८
बेंति ततो णं सड्ढा २६८८
बेंतितरे अम्हं तू १८८१
बेति गुरू अह तं तू ४४४६
बेति य लज्जाए अहं १६२६
बोधियतेणेहि हिते १२०३
बोहेति अपडिबुद्धे १३७५

भ

भंडं पडिग्गहं खलु ३४७९
भंडणदोसा होंती २९२७
भंडी बइल्लए काए ४२९३
भंभीय मासुरुक्खे ९५२
भग्गघरे कुड्डेसु य ३०६
भग्गसिव्वित संसित्ता २४०६
भणति वसभाभिसेए २८७४
भणिया न विसज्जेंती २८२६
भण्णति अप्पाहारा ३६९०
भण्णति अविगीतस्स हु १३९५
भण्णति जदि ते एवं ३१४२
भण्णति जेण जिणेहिं ३०४३
भण्णति णिंताण तहिं ३३३२
भण्णति तेहि कयाइं १५४४
भण्णति पवत्तिणी वा २८२४
भण्णति पुव्वुत्ताओ २१७३
भण्णति ममयं तु तहिं ३१५२
भतिया कुडुंबिएणं ११४५
भत्तट्ठितो व खमओ ३८३५
भत्तट्ठिय आवासग २९१४
भत्तादिफासुएणं ३३८१
भत्ते पाणे धोव्वण २६७५
भत्ते पाणे सयणासणे १११, ४६७७
भद्दो सव्वं वियरति ३३६७
भमो वा पित्तमुच्छा वा २२७१
भयतो पदोस आहारहेतु ३८४४
भयतो सोमिलबडुओ १०७९
भया आमोसगादीणं २७७२
भरुयच्छे नहवाहण १४१४
भवणुज्जाणादीणं ३७४९
भवविगिट्ठे वि एमेव २९७१
भवसंहणणं चेव २७६६
भवसयसहस्सलद्धं १६७३
भवेज्ज जदि वाघातो ४२८१
भागे भागे मासं २२७८
भायणदेसा एंतो ३६३१
भारेण वेयणाए २५७४
भावगणेणऽहिगारो १३६८
भावपलिच्छायस्स उ १४७७
भावितमभावितानं ७९७
भावे अपसत्थ-पसत्थगं ९८३/१
भावेति पिंडवातित्तणेण ९०२
भावे न देति विस्सामं ३६९४
भावे पसत्थमपसत्थिया १३६४
भावे पसत्थमियरं ९८२
भासओ सावगो वावि २६५७
भिंदंतो यावि खुधं १९५
भिक्खं गतेसु वा तेसु ३३१४
भिक्खणसीलो भिक्खू १८९
भिक्ख-वियार विहारे ५७
भिक्ख-वियारसमत्थो ४२२५
भिक्खा ओसरणम्मि व २८४१
भिक्खादिनिग्गएसुं २३९
भिक्खुणि खुड्डी थेरी ७३१, ७३७
भिक्खुस्स मासियं खलु २१९३
भिक्खुस्सेगस्स गतं २१९९
भिक्खू इच्छा गणधारए १३६१
भिक्खू कुमार विरए १३७७
भिक्खू खुड्डग थेरे ७२७
भिक्खू खुड्डे थेरे ७३४
भिक्खूभावो सारण २०८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिक्खू मयणच्छेवग २३८२
भिन्ने व झामिए वा ३६१७
भीताइ करभयस्सा ३७२१
भीतो पलायमाणो ४०५९
भीतो बिभीसियाए ३१८३
भुंजण पियणुच्चारे ३५६५
भुंजति चक्की भोए ४१७७
भुंजमाणस्स उक्खित्तं ३८२८
भुंजह भुत्ता अम्हे २९१८
भुंजिस्से समया सद्धिं ४६४८
भुत्तभोगी पुरा जो तु ४३१८
भुत्तसेसं तु जं भूयो ३८३०
भूतीकम्मे लहुओ ८८१
भूमीकम्मादीसु उ १७५६
भोइकुल सेवि भाउग २३५८

म

मइसंपय चउभेदा ४१०४
मंगलभत्ती अहिता २५६५
मंडलगतम्मि सूरे २६२०
मंडुगगतिसरिसो खलु २९२१
मंतो हवेज्ज कोई २४४३
मंदग्गी भुंजते खद्धं २७७३
मग्गं सद्दव रीयति १००४
मग्गण कहण परंपर ३९८९
मग्गे सेहविहारे १००३
मग्गोवसंपयाए ३९९४
मज्जण-गंधं ४४०६,४४१०
मज्जण-गंध परियारणादी १२९५
मज्झत्थोऽकंदप्पी ६५१
मज्झे दवं पिबंतो ३५०७
मणपरमोधिजिणाणं ५१४
मणपरमोहिपुलाए ४५२७
मणपरिणामो वीई २७५८
मण-वयण-कायजोगेहिं ३८४६
मणसा उवेति विसए १०२९
मणसा वि अणुग्घाया ८०६
मणसो एगग्गत्तं १२४
मतिभेदा पुव्वोग्गह २७१३
मतिभेदेण जमाली २७१४
मत्तंगादी तरुवर १५३४
मधुरा खमगातावण २३३०
मधुरेण य सत्तन्ने ३८०६
मधुरोल्लेण थोवेण ३८०५
मम्मणो पुण भासंतो ४६३२
मरहट्ठलाडपुच्छा १७००
मरिउं ससल्लमरणं १०२२
मरिऊण अट्टझाणो ४२५६
मरुगसमाणो उ गुरू ४५७
मलिया य पीढमद्दा २४९५
महकाएऽहोरत्तं ३१३६
महज्झयण भत्त खीरे ११३२
महती वियारभूमी १७६७
महती विहारभूमी ३८९८
महसिल कंटे तहियं ४३६४
महल्लपुरगामे वा ३२६७
महल्लयाए गच्छस्स २९०९
महव्वयाइं झाएज्जा १२०
महाजणो इमो अम्हं २९९४
महिड्ढिए उट्ठनिवेसणा १०९४
महिया तू गब्भमासे ३१११
महिया य भिन्नवासे ३११०
महिलाए समं छोढुं २४६७
महुरा दंडाऽऽणत्ती ११२६
मा आवस्सयहाणी २५७८
माउम्माय पिया भाया ३९६६
माऊय एक्कियाए २९५०
मा कित्ते कंकडुकं १६९५
मागहा इंगितेणं तु ४०२०
मा छिज्जउ कुलतंतू २४७१
मा णं पेच्छंतु बहू ३३०६
माणणिज्जो उ सव्वस्स २७५५
माणिसिओ पुण विणओ ७७
माणिता वा गुरूणं १५८६
माणुस्सगं चउद्धा ३१४४
मा णे छिवसु भाणाई ३५३३
मा देज्जसि तस्सेयं ३४२९
माता पिता य भाया ३९६४
माता भगिणी धूता ३०८२
मा देह ठाणमेतस्स २९८४
मा मे कप्पेहि सालादि ३७५१
मायी कुणति अकज्जं १६४९
मारितममारितेहि य ७७३
मा वद एवं एक्कसि ३३७
मा वद सुत्त निरत्थं १०२४
मा वा दच्छामि पुणो ३३७५
मासगुरू चउलहुया १२६४
मास-चउमास छक्के ४४९९
मास-चउमासिएहिं ४४५
मास-चउमासियं वा ३३२२
मासतुसानातेणं ४६३९
मासस्स गोण्णणामं १३४१
मासादि असंचइए ४७५
मासादी आवण्णे ४७४
मासादी पट्ठविते ५९७
मासो दोन्नि उ सुद्धो ५८८
मासो लहुगो गुरुगो १६४,८१८
मासो लहुगो गुरुगो ६२१
मिउबंधेहि तहा णं १०९६
मिगारमाणो साधू १०४१
मिच्छत्त अन्नपंथे ३५५२
मिच्छत्त बडुग चारण १०१५
मिच्छत्त सोहि २७१२,२७७०, २९६४
मिच्छत्तादी दोसा २९७५
मिणु गोणसंगुलेहिं ९५
मितगमणं चेट्ठणतो २०८२
मीसाओ ओदइयं २२०
मीसाण एग गीतो २२०५
मीसो उभयगणावच्छेए २२५४
मिहोकहा झड्डरविड्ढरेहिं १५८९
मुंह दाहामहं मुल्लं ३२९४
मुंडं व धरेमाणे १५७२
मुच्छातिरित्तपंचम २४३
मुणिसुव्वयंतवासी ४४१७
मुह-नयण-दंत-पायादि २६८३
मुहरागमादिएहि य २४८९
मूइंगविच्छुगादिसु १७७२
मूलं खलु- १४१६
मूलगुण उत्तरगुणे ४१,६२८, ९११,१००७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलगुणदतिय-सगडे ४६९
मूलगुण पढमकाया २४०
मूलगुणेसु चउत्थे २३६२
मूलऽतिचारे चेतं ४६२
मूलव्वयातियारा ४६३
मूलादिवेदगो खलु २०९
मूलायरिए वज्जित्तु १४६९
मूलायरि राइणिओ १३२४
मूलुत्तरपडिसेवण २२१
मेच्छभयघोसणनिवे ३१०३
मेढीभूते बाहिं २५८२
मेहुणवज्जं आरेण २३६८
मोएउं असमत्था २५९३
मोणेण जं य गहियं ९०१
मोत्तूण असंविग्गे १८०८,३५७२
मोत्तूण इत्थ चरिमं २८३१
मोत्तूण साधूणं ३३३८
मोत्तूण करणजड्डं ४६४१
मोत्तूण भिक्खवेलं ७०८
मोहुम्मायकराइं २४६८
मोहेण पित्ततो वा ११५३
मोहेण पुव्वभणितं २०२०
मोहेण व रोगेण व २०१९

र

रज्जुमादिअछिन्न २१९
रण्णा कोंकणगाऽमच्चा ४२९२
रण्णा जुवरण्णा वा ९२६
रण्णा पदंसितो एस २५५५
रण्णा वि दुवक्खरओ २६०१
रण्णो आधाकम्मे १३९
रण्णो कालगतम्मी ३३६०
रण्णो धूयातो खलु १८८८
रण्णो निवेदितम्मि ११०१
रत्ति दिसा थंडिल्ले ३२७२
रत्तीदिणाण मज्झेसु ३०२५
रत्तुक्कडया इत्थी ३१४५
रहिते नाम असंते ४५१०
राइणिया गीतत्था १३२५
राइणिया थेरोऽसति १८४४
रागद्दोसविवड्ढिं ४०४१
रागद्दोसाणुगता १११०
रागम्मि रायखुड्डो १०८०
रागा दोसा मोहा ३२३४
रागेण व दोसेण व १६६३,१६६४
रागेण वा भएण व १०७८
रायं इत्थिं तह अस्समादि ६५६
रायकुले ववहारो ३३२९
रायणिए गीतत्थे २१९६
रायणिय परिच्छन्ने २१८६
रायणियवायएणं १२३९
रायणियस्स उ एगं १८४५
रायणियस्स उ गणो २०७३
रायपहे न गणिज्जति ३१४०
राया इव तित्थगरो ३१०४
राया इव तित्थयरा ६६९
रायाणं तद्दिवसं १२६३
रायादुट्ठादीसु य २७२३
राया पुरोहितो वा ९३२
रायाऽमच्च पुरोहिय २६०२
राया रायाणो वा २०५०
रिक्खादी मासाणं १९९
रुण्णं तगराहारं ३९३०
रुवणाए जइ मासा ३७६
रूवंगिं दट्ठूणं ११४८
रूवं होति सलिंगं ४५७८
रूवजढमण्णलिंगे ४५७९
रेगो नत्थि दिवसतो २५८१
रोमंथयते कज्जं १६९९

ल

लंखिया वा जधा खिप्पं २७६४
लक्खणजुत्ता पडिमा २६३५
लक्खणजुत्तो जइ वि हु १५६८
लक्खणमतिप्पसत्तं ३६८०
लग्गादी च तुरंते २०३५
लज्जणिज्जो उ होहामि २७४९
लद्धहारे चेवं ३४३९
लद्धुं अविप्परिणते २०९८
लद्धे उवरता थेरा ३९७४
लभमाणे वा पढमाए ३२७३
लहुगा य झामियम्मि य ३३९२
लहुगा य दोसु ८२६,१२६८
लहुगा य सपक्खम्मी ३०१५
लहुगा लहुगो सुद्धो ५९०
लहु-गुरु लहुगा गुरुगा १०३५
लहुगो लहुगा गुरुगा २८४३
लहुयल्हादी जणणं ३१७
लहुसो लहुसतरागो १०६६, १११८
लाभमदेण व मत्तो ११२५
लाभालाभऽद्धाणे २५९६
लावए पवए जोधे ४३६९
लिंगकरणं निसेज्जा ९७१
लिंगम्मि उ चउभंगो १६०४
लिंगेण उ साहम्मी ९९१
लुक्खत्ता मुहजंतं ४२४८
लेवाडहत्थ छिक्के ३६७९
लेस्सट्ठाणेसु एक्केक्के २७६५
लेहट्ठट्ठमवरिसे ४६५२
लोइयधम्मनिमित्तं १४०५
लोइय-लोउत्तरिओ १०७७
लोउत्तरिए अज्जा ३२५२
लोए चोरादीया १७
लोए लोउत्तरे चेव २७५४,३६९८
लोए होति दुगुंछा ३६१३
लोगम्मि सतमवज्झं १६३९
लोगे य उत्तरम्मी १८९२
लोगे वि पच्चओ खलु ३०९४
लोगे वेदे समए १४९९
लोगोवयारविणओ ८५

व

वइया अजोगि जोगी २१३६
वइयादीए दोसे १९५८
वंजणेण य नाणत्तं १५७
वंतं निसेवितं होति २४२१
वंदण पुच्छा कहणं १८१२
वंदण सक्कारादी ३८५०
वंदणालोयणा चेव ४००५
वंदत वा उट्ठे वा २३६४
वंदेणं तह चेव य ३४५७
वक्कइय छएयव्वे ३३४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वक्कइय सालठाणे ३३१०
वक्खारे कारणम्मि २७८२
वच्चंति तावि एंती ३०६१
वज्जकुड्डसमं चित्तं ३०८४
वट्टंतस्स अकप्पे १५८
वट्टंति अपरितंता ४३३५
वट्टंति हायति उभयं ११०७
वट्टी धन्नसुभरियं २६१०
वणकिरियाए जो होति ७००
वणदव-सत्तसमागम १३८०
वणिमरुगनिही य पुणो ४५४
वणिय मए रायसिट्ठे ३२५१
वत्तणा संधणा चेव २८५
वत्तणुवत्तपवत्तो ४५२१
वत्तो णामं एक्कसि ४५२२
वत्थव्व णेंति न उ जे २२३१
वत्थव्व भद्दगम्मी २२३३
वत्थव्वा वारंवारएण ६७१
वत्थाणाऽऽभरणाणि य १२०१
वत्थाहारादीभि य १४२७
वत्थुं परवादी ऊ ४११५
वध-बंध-छेद-मारण २५५७
वभिचारम्मि परिणते २७७४
वमण-विरेयणमादी ५४४
वय अतिचारे पगते १६३४
वयं वण्णं च नाऊणं ३५२८
वयछक्क -कायछक्क ४०७४, ४४६०
वयणे तु अभिग्गहियस्स १५०९
वयपरिणता य गीता ३२४४
वरनेवत्थं एगे १२०७
वल्लिं वा रुक्खं वा ३७५५
वल्ली वा रुक्खो वा ३७४३
ववणं ति रोवणं ति य ४
ववसायी कायव्वे २३८८
ववहारकोविदप्पा ४५५३
ववहारचउक्कस्सा ४५३१
ववहारनयस्सायारा ४९
ववहारम्मि चउक्कं ६
ववहारी खलु कत्ता २
ववहारे उद्देसम्मि ३७२६
ववहारेण य अहयं ११८६
ववहारे दसमए उ ४६८९
ववहारो आलोयण १०६४
ववहारो ववहारी १
वसंति व जहिं रत्ति ३३५३
वसधि निवेसण साही २२८६
वसधीय संकुड़ाए १७७३
वसधी समणुण्णाऽसति १९६३
वसभे जोहे य तहा ७५०
वसभे य उवज्झाए २८२५
वसभे वा ठाविज्जति ४३७८
वसहीए निग्गमणं ८०५
वसहीय असज्झाए ६७५
वसिमे वि अविहिकरणं ४०१५
वहमाण अवहमाण ७०७
वा अंतो गणि व गणो २७०४
वाउलणे सा भणिता १७३७
वा खलु मज्झिमथेरे १५७९
वाघाते ततिओ सिं ३१६४
वाणियओ गुलं तत्थ २८८४
वातादीया दोसा २६०८
वातिय-पित्तिय-सिंभिय ३८३९
वाते अब्भंग-सिणेह ११५२
वाते पित्ते गणालोए २५७३
वादी दंडियमादी २५४७
वादे जेण समाधी ७५७
वायंतगनिप्फायग २०११
वायंतस्स उ पणगं १७८४
वायणभेदा चउरो ४०९८
वायपरायणकुवितो १२२६
वायादी सट्ठाणं ९३
वाया पुग्गल लहुया ७५८
वायामवग्गणादिसु २०५४
वायाम-वग्गणादी ४०२४
वारंवारेण से देंति २१८५
वारग जग्गणदोसा १९८७
वारिज्जंती वि गया २९५७
वालच्छ भल्ल विसविसूइ ४३८२
वालेण गोण्सादी ४३८३
वालेण वावि डक्कस्स २७७५
वालेण विप्परद्धे १०२१
वाले य साणमादी २५९२
वाविरियगिलाणादी २५९०
वावे मिहमंबवणं ४०१९
वासं खंधार नदी १९८१
वासं च निवडति जई ३१८६
वासगगतं तु पोसति ७७१
वासत्ताणावरिता ३११३
वा सद्देण चिरं पी २७००
वासाण दोण्ह लहुगा १७४९
वासासुं अमणुण्णा १८१८
वासासु अपरिसाडी ३४११
वासासु निग्गताणं ३८९१
वासासु पाभातिए ३१९७
वासासु समत्ताणं १८३५
वासासू बहुपाणा १३४०
वासी चंदणकप्पो ३८५१
वासे निच्चिक्खिल्लं २५१६
वासे बहुजणजोग्गं ४११९
वाहत्थाणी साहू ६६४
वाहिविरूढं भुंजति ६९
विउसग्गो जाणणट्ठा ५४६
विंटलाणि पउंजंति ३०६६
विकधा चउव्विधा वुत्ता २६५५
विक्खेवो सुत्तादिसु ३३९३
विगतीकए ण जोगं २१४३,२१४४
विगतीकयाणुबंधे ४३३२
विगयधवा खलु विधवा ३३४४
विगलिंदऽणंत घट्टण ४५३८
विगहा विसोत्तियादीहिं ३०८०
विग्गहगते य सिद्धे ४३५७
विज्जाए मंतेण व ११५५
विज्जा कया चारिय २२५८
विज्जाणं परिवाडी २६९७
विज्जादभिजोगो पुण ११५७
विज्जादी सरभेदण ११९४
विज्जा निमित्त उत्तर ७६२
विज्जा मंते चुण्णे ११५६
विणओ उत्तरिओ त्ति य २५५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विणओवसंपयाए ४०००
विणिउत्तभंडभंडण ३३०
विण्णाणाभावम्मी ४१४४
विण्णाणावरियं तेसिं ४६१४
वितरे न तु वासासु ४१२०
वितिगिट्ठं खलु पगतं ३०१४
वितिगिट्ठा समणाणं २९७९
विद्दवितं केणं ति य ११३१
विद्धंसामो अम्हे १२३३
विधवा वणुण्णविज्जति ३३४५
विपरिणामे तहच्चिय ३४४५
विपुलाए अपरिभोगे २५२७
विप्परिणतम्मि भावे २१००
विप्परिणयम्मि भावे २१६२
विप्परिणामणकधणा ३४२३
विब्भंगीव जिणा खलु ४४२
विभज्जंती च ते पत्ता ३९४५
विभागओ अप्पसत्थे २३७
वियणऽभिधारण वाते २०४४
विवज्जिनो उट्ठविवज्जएहिं २७९४
विसमा आरुवणाओ ४२७
विसयोदएण अधिगरणतो ९०८
विसस्स विसमेवेह ११५९
विसुज्झंतेण भावेण २७६७
विसेण लद्धो होज्जा ४३८४
विहरण वायण खमणे १६२०
वीतिक्कंते भिन्ने ३३०१
वीयार तेण आरक्खि ६३९
वीसं वीसं भंडी ४५५
वीसज्जिय नासिहिती २८५१
वीसऽट्ठारस लहु-गुरु ४८५
वीसमंता वि छायाए ३३५२
वीसमण असति काले ११२
वीसरसरं रुवंते ३२१४
वीसाए अद्धमासं ३५७
वीसाए तू वीसा ४११
वीसामण उवगरणे २२६७
वीसालसयं पणयालीसा ५३४
वीसुं दिण्णे पुच्छा ३३२
वीसुं पि वसंताणं २७३०
वीसुंभिताय सव्वासि २३०८
वीसु वसंते दप्पा २६९६
वुग्गह दंडियमादी ३१२५
वुड्ढस्स उ जो वासो २२५६
वुड्ढावासातीते २३००
वुड्ढावासे चेवं ३४७४
वुड्ढावासे जतणा २२७७
वुड्ढाऽसहु सेधादी २५३४
वुड्ढो खलु समधिकितो ३४७६
वुत्तं हि उत्तमट्ठे ११७२
वुत्तमधवा बहुत्तं २३०५
वुत्ता व पुरिसज्जाता ४५५४
वेउव्वियलद्धी वादी ३३७९
वेंटियगहनिक्खेवे १२६
वेगाविद्धा तुरंगादी ३५५७
वेज्ज सपक्खाणऽसती २४३७
वेज्जस्स ओसहस्स १७८०
वेज्जा तहिं नत्थि तहोसहाइं १८१६
वेणइए मिच्छत्तं ४८
वेयावच्चकराणं ७६७
वेयावच्चकरो वा ४५१७
वेयावच्चुज्जमणे ६९२
वेयावच्चेण मुणी ४५८६
वेयावच्चे तिविधे ५६०
वेरज्जे चरंतस्स ८६६/४
वेलं सुत्तत्थाणं २५५२
वेसकरणं पमाणं १२८३
वेहारुगाण मन्ने ३६००
वोच्छिन्न घरस्सऽसती १०६०
वोच्छिन्नम्मि व भावे ३४३५
वोच्छिन्ने उ उवरते २२५३

स

सइं जंपंति रायाणो ३३२६
सइ दोण्णि तिन्नि वावी २९०२
सइरी भवंति अणवेक्खणाय २७३६
सं एगीभावम्मी ४५०५
संकंतो य वहंतो २११९
संकग्गहणे इच्छा ३८६५
संकट्ठ हरितछाया ३५६४
संकप्पादी तितयं ५०
संकप्पो संरंभो ४६
संकिए सहसक्कारे ९९
संकिट्ठा वसधीए २७२९
संखऽहिगारा तुल्ला २१९०
संखादीया कोडी २५७०
संखादीया ठाणा ४१६१
संगहमादीणट्ठाय ३२४०
संगहुवग्गह निज्जर १७८५
संगामदुगं महसिल ४३६३
संगामे निवपडिमं ८१२
संगारदिण्ण उ एस २८०८
संगारदिन्ना व उवेंति तत्थ ६४३
संगारमेधुणादी य ३०९६
संघट्टण परितावण ४०१२
संघयणं जध सगडं ४५१
संघयणं संठाणं ४५२४, ४५२८
संघयणधितीजुत्तो ४३९४
संघयणाधितीहीणा ४२०२
संघयणे परियाए ३८३६
संघयणे वाउलणा १७३४,२३०६
संघस्साऽऽयरियस्स य ४४६५
संघाडग एगेण व ३४८७
संघाडगसंजोगे २९२०
संघाडगा उ जाव उ ५५१, ५५२
संघो गुणसंघातो १६७७
संघो न लभति कज्जं १२२७
संघो महाणुभागो १६६७
संजइइत्त भणंती १८८०
संजतभावितखेत्ते ३६७३
संजतसंजति वग्गे ३०७५
संजतिमादी गहणे १५५९
संजमघाउप्पाते ३१०२
संजमजीवितभेदे ११६४
संजमठाणाणं कंडगाण ४२३७
संजम-तव-नियमेसुं ९५९
संजममायरति सयं ४१३४
संजयहेउं छिन्नं ३७५९
संजयहेउं दूढा ३७६३
संजोगदिट्ठपाढी २४२७
संजोगा उ च सद्देण २२०२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संज्झंतियंतवासिणो २१८०
संझागतं रविगतं ३१०
संझागतम्मि कलहो ३११
संतगुणुक्कित्तणया २६८१
संतम्मि उ केवइओ १४०६
संतम्मि वि बलविरिए २४४
संतविभवेहि तुल्ला ४२०१
संतविभवो तु जाधे ४१९५
संतसंतसतीए २५११
संति हि आयरिय.... १४३२
संथड मो अविलुत्तं ३३५५
संथरमाणाण विधी ७६९
संथरे दो वि न णिंति २२३६
संथव कहाहि आउट्टिऊण ३९४७
संथारएसु पगतेसुं ३५०९
संथारगदाण फलादि ३४३०
संथारो उत्तिमट्ठे ४३४२
संथारो दिट्ठो न य ३४२५
संथारो देहंतं ३४२४
संथारो मउओ तस्स ४३४७
संदंतमसंदंतं २७८३
संदंतस्स वि किंचण २८०१
संदंते वक्खारो २७८४
संदेहियमारोग्गं १८२
संबंधिणि गीतत्था २३८६
संबंधो दरिसिज्जति २३९७
संबोहणट्ठयाए २८३७
संभमनदिरुद्धस्स वि २७१८
संभममहंतसत्थे २२४५
संभरण उवट्ठावण २०३२
संभुंजण संभोगे १५०८
संभुंजण संभोगेण १५१३
संभोइउं पडिक्कमाविया २८७८
संभोइग त्ति भणिते २३४९
संभोइयाण दोण्हं २१९२
संभोगऽभिसंबंधेण २८९६
संभोगम्मि पवत्ते २९२९
संभोगो पुव्वुत्तो २८७९
संवच्छरं च झरए २२९२
संवच्छरं तु पढमे १४४
संवच्छराणि चउरो ४२४१
संवच्छरेणावि न तेसि आसी १४७
संविग्गजणो जड्डो ८५८
संविग्गदुल्लभं खलु ४२७१
संविग्गपुराणोवहि ३५७९
संविग्गबहुलकाले ३९२८
संविग्गमणुण्णजुतो ७०३
संविग्गमसंविग्गा ३०६०
संविग्गमसंविग्गे १५७०, ३२८९, ३६५६, ३६६४
संविग्गमुद्दिसंते १८७२
संविग्गाण विधी एसो २१७४
संविग्गाण सगासे ३६५७
संविग्गाणुवसंता २८६९
संविग्गादणुसिट्ठो ३६५८
संविग्गादी ते च्चिय ३२९१
संविग्गा भीयपुरिसा ३०७९
संविग्गेगंतरिया १९६१
संविग्गे गीयत्थे ९६६
संविग्गे पियधम्मे ४५४६
संविग्गेहणुसिट्ठो ३६६०
संविग्गो मद्दवितो ९६०
संवेगसमावन्नो १२९०
सकुडुंबो निक्खंतो ११८०
सकुलिव्वय पव्वज्जा १३००
सक्कमहादीएसु व २१३९
सक्कमहादीया पुण ८७३
सक्कारिया य आया २८४०
सगणं परगणं वावि २९८३
सगणम्मि नत्थि पुच्छा ५३७
सगणिच्चपरगणिच्चेण २९९५
सगणे आणाहाणी ४२३३
सगणे गिलायमाणं १०७२
सगणे थेरा ण संति १४७५
सगणे व परगणे वा १५७१
सगणो य पदुट्ठो सो १२२९
समनामं व परिचितं ४०८९
सगोत्तरायमादीसु ३२५०
सग्गाम सण्णि असती ३९२२
सचिवे पण्णरसादी १२६१
सच्चं भण गोदावरि ! ११२८
सच्चित्त-अच्चित्तमीसेण ३७३३
सच्चित्तभावविकलीकयम्मि ३७५८
सच्चित्तम्मि उ लद्धे ४००२
सच्चित्तादिसमूहो १३६६
सच्चित्तादी दव्वे २१४
सच्चित्तादुप्पन्ने २९
सच्चित्ते अंतरा लद्धे ३९६९
सच्चित्ते अच्चित्तं १५०
सच्छंद गेण्हमाणिं २८६६
सच्छंदपडिण्णवणा ३६२६
सच्छंदमणिद्दिट्ठे ३६३६
सच्छंदमतिविगप्पिय ८६२
सच्छंदो सो गच्छा ८१४
सजणवयं च पुरवरं ९३१
सज्झाओ खलु पगतो ३१००
सज्झायं काऊणं ६३१
सज्झायभूमि वोलंते २११७
सज्झायमचिंतेंता ३१७०
सज्झायमकुक्कजोगा ३०७३
सज्झायस्स अकरणे १२९
सट्ठाण-परट्ठाणे ९८४
सट्ठाणाणुग केई ५८७
सट्ठकुलेसे य तेसिं २६८७
सट्ठो व पुराणो वा २९७४
सणसत्तरमादीणं ९५१
सण्णाइगिहे अन्नो ३४४७
सण्णाउ आगताणं २६२१
सण्णातिए वि तेच्चिय ३४४३
सण्णिस्सिंदियघाते ४६१७
सण्णी व सावगो वा ११९०
सत्त उ मासा उग्घातियाण ४९८
सत्तचउक्क उग्घातियाण ४८७,४९५
सत्तण्हं हेट्ठेणं ३२५७
सत्तमए ववहारे २८९५
सत्तरत्तं तवो होति १४२०
सत्तलवा जदि आउं २४३३
सत्तविधमोदणो खलु २५०१
सत्तारस पण्णारस ४९६
सत्थऽग्गिं थंभेउं १०८९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्थपरिण्णा छक्काय १५२६
सत्थेणं सालंबं २१०२
सदेससिस्सिणि सज्झंतिया १६०३
सदेससिस्सिणीए १६०७
सद्दा मुता बहुविहा १०३
सन्नागतो त्ति सिट्ठे २५४८
सन्निसेज्जागतं दिस्स २०००
सन्निहिताण वडारो ३१९१
सपडिग्गहे परपडिग्गहे १३५२
सपदपरूवण अणुसज्जणा ४१७४
सपया अंतो मूलं १६२३
सपरक्कमे जो उ गमो ४३८०
सपरक्कमे य अपरक्कमे ४२२४
सबरपुलिंदादिभयं ३००४
समगं तु अणेगेसुं २०५१
समगं भिक्खग्गहणं १०२६
समगीतागीता वा २२१३
समतीतम्मि तु कज्जे ७१७
समणस्स उत्तिमट्ठे ४४३८
समणाणं पडिरूवी १२२३
समणाण संजतीण य ३९१९
समणाण संजतीण व ३७६२
समणुण्णदुगनिमित्तं २४७
समणुण्णमणुण्णाणं २८७६
समणुण्णेतराणं वा ३५४३
समणुण्णेसु विदेसं २९०४
समणुण्णेसु वि वासो १९८०
समणो तु वणे व भगंदले ३२२५
समपत्तकारणेणं २२१४
समयं पि पत्थियाणं ३९१२
समयपत्ताण साधारणं २२०९
समाधी अभत्तपाणे ३२६९
समा सीस पडिच्छण्णे ३०७८
समुदाणं चरिगाण व ३६६७
सम्मं आहितभावो १४८७
सम्मत्तम्मि सुते तम्मि २१०९
सयं चेव चिरं वासो ४२७७
सयकरणमकरणे वा ६३६
सयमेव अन्नपेसे ३५७३
सयमेव उ धम्मकधा २४९४
सयमेव दिसाबंधं १४७४, ४५८३
सयरीए पणपण्णा ४१४
सरक्खधूलिचेयण्णे ३५५६
सरभेद वण्णभेदं ११७८
सरमाणे उभए वी २११४
सरमाणे पंच दिणा २०५७
सरमाणो जो उ गमो ७६१
सरिसेसु असरिसेसु व १०३३
सरीर-उवगरणम्मि य ४३७५
सरीरमुज्झियं जेण ४३७२
सरीरोवहितेणेहि ४६८०
सलक्खणमिदं सुत्तं ३०१९
सलिंगेण सलिंगे १६०५
सल्लुद्धरणविसोहि २७७६
सविकारातो दट्ठुं १९०७
सव्वं करिस्सासु २१०७
सव्वं पि य पच्छित्तं ४१७३
सव्वं भोच्चा कोई ४३३१
सव्वजगुज्जोतकरं ३०४८
सव्वट्ठसिद्धिनामे २४३४
सव्वण्णूहि परूविय ४२१८
सव्वत्थ वि सट्ठाणं ५९४
सव्वत्थऽविसमत्तेण १५४६
सव्वत्थ वि समासणे ५९६
सव्वम्मि बारसविहे ४१३७
सव्वसुहप्पभवाओ ४३५६
सव्वस्स पुच्छणिज्जा २९४६
सव्वाओ अज्जाओ ४३५५
सव्वाओ पडिमाओ ३७९०
सव्वाहि वि लद्धीहिं ४३५३
सव्वे उद्दिसियव्वा १८३८
सव्वे वप्पाहारा १७९२
सव्वे वा गीयत्था १०३४
सव्वे वि दिट्ठरूवे ३४५८
सव्वे वि य पच्छित्ता ४३४
सव्वे वि होंति सुद्धा ४७
सव्वे सव्वद्धाए ४३५२
सव्वेसिं अविसिट्ठा १६६, ६०८
सव्वेसिं ठवणाणं ४१०, ४१८
सव्वेसिं पि नयाणं ४६९२
सव्वेसु खलियादिसु ११७
सव्वे सुतत्था बहुस्सुता य १८३९
सव्वेहि आगतेहिं ३४६१
ससणिद्धबीयघट्टे ५२६
ससणिद्धमादि अहियं ५२७
स साहियपतिण्णो उ ३८१०
सस्सगिहादीण डहे १०९३
सहजं सिंगियमादी ३०२९
सहसक्कार अतिक्कम १०६
सहसा अण्णाणेण व ४०५६
सहायगो तस्स उ नत्थि ३९८२
सहिते वा अंतो बहि १९६९
सा एय गुणोवेता २३१४
साकुलगा कुलथेरे १८४६
सागविहाणा य तधा २५०२
सागारकडे एक्को ३३०७
सागारमसागारे २९६६
सागारिए गिहा निग्गते २८८०
सागारि-तेणा-हिम १९७२
सागारियअग्गहणे ३७७६
सागारियअचियत्ते १०६१
सागारिय अहिगारे ३३४३
सागारियपिंडे को दोसो ८६८/१
सागारियम्मि पगते ३७३७
सागारिय-साधम्मिय ३३५४
सागारियस्स तहियं ३७४६
सागारियस्स दोसा ३७०८, ३७१९
सागारियादि पलियंक ८६७
साडगबद्धा गोणी २१८९
सा तत्थ निम्मवे एक्कं ३०५९
सातिसयं इतरं वा ४५८२
सा दाउं आढत्ता २३१६
साधम्मि पडिच्छन्ने २१७९
साधम्मिय उद्देसो ३५९४
साधम्मिय वइधम्मिय २३५९
साधारणं तु पढमे १३१२
साधारणं व काउं १८४७
साधारणट्ठिताणं १८२३,१८३७, १८५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधारणमेगपयत्ति ३७२४
साधारणो अभिहितो १८४९, १८६१
साधूणं अणुभासति १५१०
साधूणं वा न कप्पंति ३७५२
साधू तु लिंग पवयण ९९२
साधू विसीयमाणे १५५५
सा पुण अइक्कम वइक्कमे ४२
सा पुण जहन्न उक्कोस ६०३
साभावियं च मोयं ३७९४
साभाविय तिण्णि दिणा ३११६
सामाइयसंजताणं ४१८९
सामत्थण निज्जविते ३८९४
सामायारिपरूवण ८४
सामायारी वितहं ८८७
सामायारी सीदंत ७०
सारिक्खकड्ढणीए ३४८९
सारिक्खतेण जंपसि ११९३
सारीरं पि य दुविधं ३१३१
सा रूविणि त्ति काउं ११७६
सारूवियादि जतणा ३९२४
सारूवी जज्जीवं १८६७
सारेऊण य कवयं ४२३०
सारेयव्वो नियमा २८८
सारेहिति सीदंतं ३६५४
सालंबो विगति जो उ २१४५
सावेक्खे निरवेक्खे २६६६
सावेक्खो उ उदिण्णो १५९७
सावेक्खो उ गिलाणो ७४९
सावेक्खो त्ति च काउं १६७,६१०
सावेक्खो पवयणम्मि ४२०४
सावेक्खो पुण पुव्वं १९१०
सावेक्खो पुण राया २६१७
सावेक्खो सीसगणं १९३५
सासु-ससुरोवमा खलु ३८४८
सासू-ससुरुक्कोसा ३८४७
साहत्थ मुंडियं २८२९
साहम्मिएहि कहितेहि ९९०
साहम्मियत्तणं वा २१७८
साहम्मियाण अट्ठो ३७७१
साहस्सती मल्ला खलु १५३६
साहारण-सामन्नं ३७२७
साहारणा उ साला ३७२८
साहिल्ल वयण वायण १५०७
साहीण भोगचाई १२९७
साहीणम्मि वि थेरे २३१०
साहीरमाणगहियं ३८२६
साहुसगासे वसिउं १९६६
साहूणं अज्जाण य १५५७
साहूणं रुद्धाइं ४३८६
सिग्घुज्जुगती आसो २३२
सिणेहो पेलवी होति ४२३५
सिद्धी पासायवडेंसगस्स ३६९९
सिद्धी वि कावि एवं २८५०
सिरकोट्टण-कलुणाणि य २४८७
सिलायलं पसत्थं तु ३२७४
सिव्वण तुण्णण सज्झाय २०५५
सीउण्हसहा भिक्खू २५४०
सीतघरं पिव दाहं ४१५२
सीतवाताभितावेहि ३३१७
सीताणस्स वि असती ३२७९
सीताणे जं दड्ढं ३१४७
सीस-पडिच्छे पाहुड २६३
सीस-पडिच्छे होउं १४६७
सीस य परिच्चत्ता २६०७
सीसेण कुतित्थीण व ४१०६
सीसे कुलव्विए व १६८६
सीसेणाभिहिते एवं २४१२
सीसे य पहुव्वंतं १३२६
सीसो पडिच्छओ वा १६८२-१६८५
सीसो सीसो सीसो १४६८
सीहाणुगस्स गुरुगो ५८७/१
सीहो तिविट्ठ निहतो २६३८
सीहो रक्खति तिण्णिसे २७७८
सुचिरं पि सारिया २९६२
सुण जध निज्जवगत्थी ४२२०
सुण्णं मोत्तुं वसहिं १७५०
सुण्णघरदेउलुज्जाण २३७०
सुण्णाइ गेहाइ उवेंति तेणा ६४१
सुण्णाए वसधीए ८६७/५
सुण्णे सगारि दट्ठुं १७५९
सुतजम्म महुरपाडण ११२७
सुततो अणेगपक्खिं १३०८
सुतनाणम्मि अभत्ती ३२२९
सुतवं अतिसयजुत्तो २६३६
सुतवं तम्मि परिवारवं २५४३
सुत-सुह-दुक्खे खेत्ते ४००६
सुत्तं अत्थं च तहा ४१४०
सुत्तं अत्थे उभयं ४०६४
सुत्तं गाहेति उज्जुत्तो ४१४१
सुत्तं च अत्थं च दुवे वि ३४०८
सुत्तं धम्मकहनिमित्तमादि २८३५
सुत्तत्थ अणुववेतो १३७९
सुत्तत्थं अकहित्ता २०४०
सुत्तत्थं जदि गिण्हति २१८७
सुत्तत्थझरियसारा ७८८
सुत्तत्थतदुभएहिं ९५४, २२९५
सुत्तत्थतदुभयविऊ ९५६
सुत्तत्थपाडिपुच्छं ७१८
सुत्तत्थपोरिसीणं १३०
सुत्तत्थहेउकारण १४९५
सुत्तत्थाणं गुणणं २६००
सुत्तत्थे परिहाणी २५५०
सुत्तत्थेसु थिरत्तं ९५७
सुत्तनिवातो तणेसु ३३९५
सुत्तनिवातो थेरे २७४१
सुत्तमणागयविसयं ३८८५
सुत्तमिणं कारणियं ९२०
सुत्तम्मि अणुण्णातं २४३६
सुत्तम्मि कड्ढियम्मी २३९६
सुत्तम्मि कप्पति त्ति य ३७१०
सुत्तम्मि य चउलहुगा २३३८
सुत्तस्स मंडलीए २६४४
सुत्तागम बारसमा २२५९
सुत्तावासगमादी २६३१
सुत्ते अणिंत लहुगा २३३३
सुत्ते अत्थे उभए २६३९
सुत्ते अत्थे जीते ७
सुत्ते जहुत्तरं खलु १८२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुत्तेण अत्थेण य उत्तमो उ १४०३
सुत्तेण ववहरंते ४५३०
सुत्तेणेव उ सुत्तं २७८०
सुत्तेणेवुद्धारो १७६६
सुद्धं एसित्तु ठावेंति ४३७३
सुद्धं गवेसमाणो ३९४०
सुद्धं तु अलेवकडं ३८२०
सुद्धं पडिच्छिऊणं २६५
सुद्धग्गहणेणं पुण ३८२२
सुद्धतवो अज्जाणं ५४५
सुद्धदसमी ठिताणं ३४४४
सुद्धऽपडिच्छण लहुगा २८७
सुद्धमसुद्धं एवं ३५८७
सुद्धस्स य पारिच्छा १४२२
सुद्धालंभि अगीते १७९, ६१७
सुद्धे संसट्ठे या ३८१९
सुनिउणनिज्जामगविरहियस्स ७५३
सुन्नघरे पच्छन्ने ३०८९
सुबहूहिं वि मासेहिं ४५९,४६०
सुह-दुक्खितेण जदि उ ३९८६
सहु-दुक्खितो समत्ते २२३४
सुह-दुक्खिया गविट्ठा २०९९
सुह-दुक्खे उवसंपद ३९९३
सुहसीलऽणुकंपातट्ठिते २१६६
सुहसीलताय पेसेति २१६७
सुहुमा य कारणा खलु १२७९
सूयगडंगे एवं २८९९
सूयग तहाणुसूयग ९३८,९४०, ९४२,९४४, ९४६
सूयपारायणं पढमं १७०९
सूयिग तहाणुसूयिग ९३९,९४१, ९४३, ९४५, ९४७
सूरे वीरे सत्तिय १४३४
सूरो जहण्ण बारस ३१२२
सेज्जं सोहे उवधिं १९७५
सेज्जातर सेज्जादिसु ३२१६
सेज्जा न संती १८१५
सेज्जायर कुल निस्सित ८५६
सेज्जायर पिंडे या १३८
सेज्जासंथारदुगं ३५१९
सेज्जासणातिरित्ते २९८०
सेज्जुवधि-भत्तसुद्धे १९७१
सेट्ठिस्स तस्स धूता १९०२
सेट्ठिस्स दोन्नि महिला ११५३
सेणावती मतो ऊ २४५६
सेणाहिवई भोइय ३१२६
सेतवपू मे कागो ९४
सेलिय काणिट्ठघरे २२८३
सेवउ मा व वयाणं ९१२
सेवगपुरिसे ओमे ११७४
सेवति ठितो विदिण्णे ४५६१
सेसं सकोसजोयण २२२३
सेसम्मि चरित्तस्सा ८३१
सेसाइं तह चेव य ३४५२
सेसा उ जधासत्ती ३१६०
सेसाण उ वल्लीणं ३९६५
सेसाणि जधादिट्ठे ३४३७
सेसाणि य दाराणी ३४४८
सेसा तू भण्णंती २२०१
सेहतरगे वि पुव्वं २१९७
सेहस्स तिन्नि भूमी ४६०४
सेहस्स तिभूमीओ ४६०३
सेहादी कज्जेसु व १३८४
सेहि त्ति नियं ठाणं २८७७
सेहो त्ति मं भाससि १२४७
सो अभिमुहेति लुद्धो १७१६
सो आगतो उ संतो १६५९
सोइंदियआवरणे ४६११
सोउं पडिच्छिऊणं २६०४
सोउं परबलमायं २६१६
सोउ गिहिलिंगकरणं १२३२
सो उ विविंचिय दिट्ठो ४२५९
सोऊण अट्ठजातं ११८८
सोऊण काइ धम्मं २८२०
सोऊण गतं खिंसति २५९७
सोऊण तस्स पडिसेवणं ४४८७
सोऊण पाडिहेरं २५६४
सोऊण य उवसंतो २६०३
सो कालगते तम्मि उ १४७३
सो गामो उट्ठितो होज्जा ३००२
सो चेव य होइ तरो ३३३३
सोच्चाऽऽउट्टी अणापुच्छा ३९३२
सोच्चागत त्ति लहुगा १७५७
सो जध कालादीणं ४५३७
सो तत्थ गतोऽधिज्जति २०७१
सो तम्मि चेव ४५१६,४५१७
सोतव्वे उ विही इणमो २६४९
सोतिंदियाइयाणं १४९३
सो तु गणी अगणी वा २३४७
सो तु पसंगऽणवत्था २१५५
सोधीकरणा दिट्ठा ९७६
सो निम्मविय ठवितो १३२९
सो पुण उडुम्मि घेप्पति ३३८८
सो पुण उवसंपज्जे २८४
सो पुण गच्छेण समं ३४८५
सो पुण गणस्स अट्ठो ४५७१
सो पुण चउव्विहो दव्व ४०१०
सो पुण जई वहमाणो ४८३
सो पुण पंचविगप्पे ३८८३
सो पुण पच्चुट्टित्तो ३६७२
सो पुण पडिच्छओ वा ३६६१
सो पुण लिंगेण समं १२५०
सो पुण होती दुविधो १०१०
सोभणसिक्खसुसिक्खा १९३०
सो भावतो पडिबद्धो २४८८
सो य रुट्ठो व उट्ठेत्ता ३५३५
सो ववहारविहिण्णू ४४८९
सो वि अपरक्कमगती ४४४१
सो वि गुरूहिं भणितो ४४५२
सो वि य जदि न वि इतरे २२०६
सो वि हु ववहरियव्वो २५
सो सत्तरसो पुढवादियाण ४१३५
सोहीए य अभावे ४१७१

ह

हंदी पीरसहचमू ४३६२
हट्ठेणं न गविट्ठा २०९७
हत्थसयमणाहम्मी ३१२९
हत्थेण व मत्तेण व ३८११
हत्थे पादे कण्णे १४५०
हरति त्ती संकाए २९३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिताले हिंगुलुए १२८
हरितोलित्ता कता सेज्जा २८८५
हरियाहडिया सा खलु ३७६७
हा दुट्ठु कतं हा दुट्ठु ५१५
हास पदोस वीमंसा ३८४३
हिंडंतो उव्वातो २५७९
हित-मित-अफरुसभासी ६८
हित्थो व ण हित्थो मे १००
हीणाधियविवरीए २६८
हीणाहियप्पमाणं ३५४६
हेट्ठाकतं वक्कइएण भंडं ३३३९
हेट्ठाणंतरसुत्ते ४५७७
हेट्ठा दोण्ह विहारो १७९४
होज्ज गिलाणो निण्हव ४६८२
होति समे समगहणं ४२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org